पशु-आयुर्विज्ञान

अनुवादक
डॉ० देवनारायण पाण्डेय
एम० वी० एस-सी०

वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली आयोग, शिक्षा एवं युवक सेवा
मंत्रालय, भारत सरकार की मानक ग्रंथ
योजना के अंतर्गत प्रकाशित
1970

प्रस्तावना

हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं को शिक्षा के माध्यम के रूप में अपनाने के लिए यह आवश्यक है कि इसमें उच्च कोटि के प्रामाणिक ग्रंथ अधिक से अधिक संख्या में तैयार किए जाएँ। भारत सरकार ने यह कार्य वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग के हाथ में सौंपा है और उसने इसे बड़े पैमाने पर करने की योजना बनाई है। इस योजना के अन्तर्गत अंग्रेजी और अन्य भाषाओं के प्रामाणिक ग्रंथों का अनुवाद किया जा रहा है तथा मौलिक ग्रंथ भी लिखाए जा रहे हैं। यह काम अधिकतर राज्य सरकारों, विश्वविद्यालयों तथा प्रकाशकों की सहायता से प्रारंभ किया गया है। कुछ अनुवाद और प्रकाशन-कार्य आयोग स्वयं अपने अधीन भी करा रहा है। प्रसिद्ध विद्वान् और अध्यापक हमें इस योजना में सहयोग दे रहे हैं। अनूदित और नए साहित्य में भारत सरकार द्वारा स्वीकृत शब्दावली का ही प्रयोग किया जा रहा है ताकि भारत की सभी शिक्षा संस्थाओं में एक ही पारिभाषिक शब्दावली के आधार पर शिक्षा का आयोजन किया जा सके।

'पशु-आयुर्विज्ञान' नामक पुस्तक हिन्दी प्रकाशन समिति, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा प्रस्तुत की जा रही है। इसके मूल लेखक डॉ० डी० एच० उडाल, अनुवादक डॉ० देवनारायण पाण्डेय तथा पुनरीक्षक डॉ० निरंजन नाथ पंडित हैं। आशा है कि भारत सरकार द्वारा मानक ग्रंथों के प्रकाशन संबंधी इस प्रयास का सभी क्षेत्रों में स्वागत किया जाएगा।

शिक्षा एवं युवक सेवा मंत्रालय,
भारत सरकार,
नई दिल्ली, 1970

बाबूराम सक्सेना
अध्यक्ष
वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग

छठे संस्करण की भूमिका

पिछले कुछ वर्षों में पशु रोग नियंत्रण में जो प्रगति हुई है वह पशु-आयुर्विज्ञान इतिहास में अद्वितीय है। इसका मुख्य कारण जीव रसायन (Biochemistry) के ज्ञान में वृद्धि तथा सन् 1928 में वैज्ञानिक फ्लेमिंग द्वारा पैनिसिलिन की खोज है। संयुक्त राज्य में सन् 1951 तक, प्रतिजैविक पदार्थों का उत्पादन वहाँ के भेषजिक उद्योग का प्रमुख धन्धा था। संभवतः पशु आयुर्विज्ञान में इसका मुख्य प्रभाव विभिन्न विशिष्ट अथवा अविशिष्ट संक्रमणों जैसे न्युमोनिया, बछड़ों के सफेद बदबूदार दस्त, नवजात बछड़ों के रोग, थनैला तथा कुछ अन्य अनैदानिक ज्वरयुक्त रोगों से संबंधित है जिनका बैक्टीरियल कारण अज्ञात अथवा संदेहयुक्त या विवादपूर्ण है। अनेक ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जिनमें नवीन औषधि के चमत्कारी प्रभाव ने रोग के बैक्टीरियल कारण, रोग विज्ञान तथा निदान की जानकारी करने की आवश्यकता का भी महत्व कम कर दिया है। मनुष्यों में इसका प्रयोग जीवन बढ़ाने वाला कहा जाता है। प्रतिजैविक पदार्थों के उत्पादन से प्राप्त उपजात युवा पशुओं के लिए अनुपम खाद्य बनकर उनकी वृद्धि, विकास एवं शरीर रक्षा में भी सहायक सिद्ध हुए हैं। इन उत्पादों में बढ़ती हुई रुचि का कृषि प्रपत्रों पर भी प्रभाव पड़ा है जिनमें पशुओं की स्वास्थ्य संबंधी चर्चा के लिए पहले कभी इतना महत्व न दिया गया था। पशु-उद्योग की समस्या अब धीरे-धीरे न्यूनतम से अधिकतम की ओर बढ़ती जा रही है और इसका तात्कालिक भविष्य अति उज्जवल है। घोड़ों का महत्व कम हो जाने के कारण पशुओं के विभिन्न रोगों के महत्व एवं रुचि में परिवर्तन होने तथा क्षय रोग जैसे कुछ विशिष्ट रोगों के नियत्रण के कारण पशु औषधशास्त्र में महत्वपूर्ण संशोधन करने की शीघ्र आवश्यकता है। पुरानी सामग्री को कहाँ से हटाया जाए तथा नई को कहाँ पर जोड़ा जाए, यह अनुमान करना काफी कठिन है। इस संदर्भ में लेखक ने किसी प्राचीन तथ्य को न हटाकर तथा नए को संयोजित करने के प्रयास के बीच की परिस्थिति में अपने को रखा है। लैप्टोस्पाइराक्रमणता (leptospirosis), सूकरों में अपक्षयिक नासार्ति (atrophic rhinitis), खाखुरण (scrapie), नीली जिह्वा (blue tongue), नवजात सुअरों में संचरणशील आन्त्रशोथ, चतुर्थ आमाशय का विस्थापन, मोलिबिडनम विपाक्तता, सोयाबीन खाद्य विपाक्तता, कीटनाशी तथा रक्त के नार्मल कोशीय एवं रासायनिक अवयवों की तालिका आदि नए शीर्षकों को इसमें सम्मिलित कर दिया गया है।

प्रत्येक नवीन संस्करण के साथ, जीवाणुओं के नाम में होने वाले परिवर्तन कभी-कभी काफी भ्रम उत्पन्न कर देते हैं। इस संबंध में स्थायी नामों के प्रयोग पर ही अधिक ध्यान दिया गया है। बिना किन्हीं स्पष्ट कारणों के बैक्टीरियम के पुराने नाम को बदल देना, उदाहरणार्थ बैक्टीरियम कोलाइ को एशेरिकिया कोलाइ कहना, यह अनुमान कराता है कि विषय की शब्दावली नियंत्रण के बाहर है।

सहयोग तथा कुछ आवश्यक सुझावों के लिए मैं न्यूयार्क स्टेट पशु-चिकित्सा विज्ञान महाविद्यालय के अध्यापक सहयोगियों को हृदय से धन्यवाद देता हूँ। लेप्टोस्पाइरोसिस के लिए डा० जेम्स बेकर; अनेक विषयों पर आवश्यक सामग्री प्रदान करने तथा विशेषकर चिकित्सा के ढगों के लिए, फिचर, फाक्स, राबर्ट्स और जॉन्सन, रक्त के अवयवों की तालिका तैयार करने के लिए डा० जान वैन्टिक स्मिथ; कीटोमयता (ketosis) पर योगदान के लिए आर० एच० उडाल; खनिज विषाक्तता पर अपनी रिपोर्ट का प्रयोग करने की अनुमति के लिए प्रो० डी० एल० टी० स्मिथ; तथा अंतिम शोध्य पत्र में अनेक त्रुटियों को इंगित करने के लिए श्रीमती बेट्टी रीचर्ट एवं फ्लावर पुस्तकालय के कार्यकर्त्ताओं का मैं विशेष आभारी हूँ।

इथाका, न्यूयार्क
मई, 1954.

डी० एच० उडाल

विषय सूची

श्वसन-तंत्र के रोग

पाचन-तंत्र के रोग

चर्म रोग

उपापचयन के विकार

संक्रामक रोग

उग्र बैक्टीरियल रोग

वाइरस रोग

दीर्घकालिक संक्रामक रोग

प्रोटोजोअन रोग

मेटाजोअन संक्रमण

ऐलर्जी के रोग

विषाक्तता

विविध रोग

अभ्युदर सतह पर उदरीय अंगों की उपरिस्थ स्थिति
उ० उ०, उर उपास्थि

हृ, हृदय; य, फेफड़ा; रेटि, रेटिकुलम; ८, प्लीहा

पि०. पित्ताशय; तृ० आ० तृतीय आमाशय

श्वसन-तंत्र के रोग

(DISEASES OF THE RESPIRATORY SYSTEM)

नकसीर

(Epistaxis)

(नासारक्तश्रवण)

कारण—आमाशय नलिका (stomach tube) प्रवेश करते समय नाक में चोट लगना, खुरेंच लगना, दब जाना, चेहरे की हड्डियों का टूट जाना, नासा मार्ग में लकड़ी के टुकड़े, टहनी आदि जैसी अवांछित वस्तुओं का मौजूद होना अथवा नाक के अन्दर किसी रसौली आदि का विकास होना, जुकाम तथा कुछ पुराने घावों में रक्त-नलिकाओं का फट जाना आदि इसके अनेक स्थानीय कारण हैं। खोपड़ी की हड्डियाँ टूटने पर भी कभी-कभी दोनों नथुनों व कानों से पक्षाघात के साथ रक्तस्राव हो सकता है। भेड़ों और सुअरों में तीव्र छुतैली नासार्ति (rhinitis) तथा भेड़ों में ईस्ट्रस ओविस के भीषण संदूषण के कारण भी यह रोग होते देखा गया है। छींकना तथा नाक से खून बहने का एक प्रकोप चेहरे की खराबी से ग्रसित सुअरों के एक झुंड में योर्क[1] (York) द्वारा वर्णन किया गया है। इन सुअरों में यह रक्तस्राव छुतैली अपक्षयिक नासार्ति (atrophic rhinitis) के कारण था। ऐसे ही रक्तस्राव से पीड़ित एक गाय जिसके कि दोनों नथुनों से खून बहा करता था, उसकी फेरिंक्स की दीवालों में एक रसौली पायी गयी। कुछ छुतैली बीमारियाँ, नशीली वस्तुओं का सेवन तथा विषपान आदि इसके सामान्य कारण हैं। इनमें से ऐंथ्रक्स, लंगड़ी, सेप्टिक गर्भाशय शोथ, घोड़ों की छुतैली रक्त-स्वाल्पता, तिपतिया घास (स्वीट क्लोवर) रोग, पारा-विषाक्तता, फर्न-विषाक्तता तथा दीर्घकालिक ताम्र विषाक्तता प्रमुख हैं। कभी-कभी यह रोग लू लगने पर भी होता देखा जाता है तथा गलत तरीके से लगे हुए मुहेड़ा द्वारा जुगुलर शिरा पर दबाव पड़ने के परिणामस्वरूप भी हो जाता है। वर्थ[2] (Wirth) की रिपोर्ट के अनुसार इस रोग से पीड़ित 22 घोड़ों में से 6 को यह रोग आघात के कारण, 7 को पैतृक तथा 7 को आन्तरिक कारणों से हुआ। हृदय के दीर्घकालिक प्रसार में नाक से रक्त-स्राव होना एक सामान्य लक्षण है।

लक्षण—चूँकि नथुनों में रक्त श्वसन-तंत्र के किसी भी भाग से आ सकता है, अतः केवल इसकी उपस्थिति से ही स्रोत का बोध नहीं होता। दौड़ में भाग लेने वाले घोड़ों में मैदान से लौटने पर उनके नथुनों से एक दो बूँद रक्त निकलना अधिक थकान के कारण हुआ करता है। इसी प्रकार का रक्तस्राव पेट के दर्द, चेहरे अथवा नाक की श्लेष्मल झिल्ली पर लगी हुई चोटों के परिणामस्वरूप भी हो सकता है। रसौली अथवा दीर्घकालिक सूजन से भी छोटी-छोटी रक्त नलिकाओं के फट जाने के कारण ऐसा हल्का रक्तस्राव संभव है। दोनों नथुनों से खुलकर खून का बहना किसी बड़ी रक्त-नलिका का फटना प्रदर्शित करता है जैसा कि गलग्रंथिल-रोग (strangles) तथा कंठगर्त (guttural

pouch) में फोड़ा होने पर देखा जाता है। व्यायाम कराते समय लंगड़ाने तथा निर्बलता के लक्षणों के साथ घोड़े की नाक से खून गिरना हृदय की दीर्घकालिक बीमारी का सूचक है। ऐसे समय घोड़े का दिल जोर से धड़कता तथा नाड़ी गति तेज व निर्बल प्रतीत होती है। रक्त विषाक्तता (दूषित गर्भाशय शोथ, ऐंथ्रक्स) से पीड़ित पशुओं, विशेषकर गायों में, कभी कभी उनके नथुनों से गहरे लाल रंग का सीरम भी टपकता देखा गया है। घोड़े के नथुनों से कुछ-कुछ साफ अथवा भूसे के रंग का स्राव गिरना घोड़े की छूतैली रक्त-स्वाल्पता का सूचक है। नाक से खून बहने के साथ निगलने वाली गति करना फेरिंक्स से रक्तस्राव होने का द्योतक है। झाग मिला हुआ रक्त फेफड़ों से आता है किन्तु यदि रोगी आराम करता है तो फेफड़ों के रक्तस्राव में भी झाग नहीं दिखाई पड़ती। पारा विषाक्तता से नकसीर तथा फेफड़ा का रक्तस्राव दोनों ही हुआ करते हैं। गायों की नाक से अधिक मात्रा में अथवा झागयुक्त खून का गिरना फेफड़ों का रक्तस्राव प्रकट करता है और इसका कारण प्रायः फुफ्फुस फोड़ा हुआ करता है। रक्त मिश्रित द्रव तथा झाग मुँह तथा नथुनों दोनों से ही आ सकती हैं। खाँसना तथा कफ करना भी फेफड़ों का रक्तस्राव प्रदर्शित करता है। एक ही नथुने से खून निकलना प्रायः नाक से ही शुरू होता है किन्तु दोनों नथुनों से रक्तस्राव होना यह प्रदर्शित करता है कि रक्त नाक से न निकल कर उसके किसी पिछले भाग से निकल रहा है। सुअरों तथा शाकाहारी पशुओं में आमाशयिक रक्त स्राव यदा-कदा ही सम्भव है।

चिकित्सा—किसी स्थानीय चोट के कारण यदि रक्त प्रवाह अधिक तीव्र हो तो ऐड्रीनलिन द्वारा उसे कंट्रोल किया जा सकता है। किन्तु, नथुनों में रुई घुसेड़ने से पूर्व श्वास-नली छेदक नलिका (tracheotomy tube) का प्रयोग करना आवश्यक है। टिंचर फेरीपरक्लोराइड अथवा टैनिक एसिड जैसे स्तम्भक पदार्थों का प्रयोग अधिक गुणकारी नहीं है। छोटी रक्तनलिका से खून का बहना क्रियोलिन के गर्म घोल से धार कर कंट्रोल किया जा सकता है। यदि रक्तस्राव अधिक थकान के कारण है तो पशु को आराम देने पर वह शीघ्र ही रुक जाता है। वैसे तो यह रोग बहुत ही कम घातक सिद्ध हुआ है किन्तु फेफड़े अथवा वक्षगर्त में किसी बड़ी रक्त नलिका के फट जाने से पशु की तुरन्त ही मृत्यु हो सकती है। यदि लगातार होने वाले रक्तस्राव के स्थान का पता न लग रहा हो तो ऐड्रीनलिन, रक्तसीरम, रक्त चढ़ाना, पिट्यूटरी सत्व तथा कपूरयुक्त तेल जैसे पदार्थों का प्रयोग किसी हद तक लाभकारी होता है। मार्सिनैक[3] (Marcenac) के अनुसार इस रोग से पीड़ित दौड़ में भाग लेने वाले घोड़ों को सोडियम साइट्रेट लवण के 25 से 30 प्रतिशत घोल का 100 घन सेंटीमीटर की मात्रा में धीरे धीरे अंत शिरा इन्जेक्शन देने पर आशातीत परिणाम मिले हैं। पिट्यूटरिन भी रक्त के जमने की शक्ति बढ़ा कर खून के बहाव को कम करता है। लहिरी[4] (Lahiri) नामक वैज्ञानिक ने सम्भवतः नकसीर से पीड़ित गौ को ऐट्रोपीन के प्रयोग से ठीक किया। यह मरीज फुफ्फुस रक्तस्राव का था। इस रिपोर्ट के विचार विमर्श में प्रस्तुत वाद के अनुसार ऐट्रोपीन वेगस-तंत्रिका की खिंचाव शक्ति को कम करती तथा रक्त में कैल्शियम की मात्रा को बढ़ाती है।

सदर्भ

1 York, W K Fort Dodge Rev, 1941, vol xii, No 2, p 18, abs Vet Bull 12, 145
2 Wirth, Tierheilkunde und Tierzucht, Berlin, Urban & Schwarzenberg, 1930, vol 7, p 352
3 Macrenac, Bull Acad Vet, France, 1934, 7, 67
4 Lahiri, B M, Discussion of the Treatment of Epistaxis with Atropine Sulfate, Indian Vet, J, 1938, 14, 397

प्रतिश्याय
(Coryza)
(उग्र श्लेष्मल नासार्ति, जुकाम, सर्दी)

परिभाषा—यह नथुनो तथा ऊपरी वायु मार्ग जैसे फेरिंक्स, स्वर-यत्र तथा बडी ब्रोंकाई की श्लेष्मल झिल्लियो का एक छूतदार रोग है। ऊपरी वायुमार्ग की उग्र सूजन प्राय निमोनिया के साथ हुआ करती है और इससे सम्पूर्ण श्वसन-तन्त्र पर कुप्रभाव पडता है।

कारण—बसत और पतझड के नमी वाले महीनो में यह रोग प्राय घोडो में स्थानिकमारी के रूप में होता देखा गया है। इसके अतिरिक्त पशु मेले तथा प्रदर्शनियो में इकट्ठे हुए घोडो तथा अन्य पशुओ में भी यह रोग खूब प्रकोप करता है। पशु प्रजनन फार्म पर रखे गए घोडो के बच्चो में भी पीवयुक्त नासार्ति (purulent rhinitis) की काफी छूत फैलती है, जहाँ इसके एक ही आक्रमण से पशुओ में रोग प्रतिरक्षा उत्पन्न हो जाती है। गायो में अधिकतर इसका प्रकोप गर्मियो की ऋतु में हुआ करता है। सर्दियो में इसकी छूत सदैव मौजद रहती है तथा पारस्पकि सम्पर्क से यह रोग फैल सकता है। ठड, तूफान, थकान, एकाएक सर्दी लग जाना तथा बिना रोशनदान के अँधेरे स्थान आदि इस रोग के अनेक कारण हैं। नमीयुक्त ठडे मकानो में रहने वाली गायो को बहुत ही तीव्र पीवयुक्त प्रतिश्याय (purulent coryza) हो सकता है। ऐसा कक्रीट की दीवालो वाले नमी युक्त तथा कम रोशनी वाले बाडो में होता देखा गया है। गो पशुओ के मुँह में परिगलित छालो अथवा मुह के अन्य रोगो के साथ नासार्ति हो सकती है। इसका कारण कभी-कभी नथुना में लकडी के टुकडो का पहुँचना और टूट जाना है। बछडो तथा सुअरो को रहने वाले बाडो से प्राय इसकी छूत लगती है। इन छुतैले रोगो का प्रकोप तब अधिक होता है जबकि वातावरण ठडा, नमीयुक्त अथवा अति उष्ण एव कष्टकर हो, या बाडे में भीडभाड अधिक हो, अथवा जब वहाँ नये बछडे रखने के लिए पुराने बछडे हटाये जा रहे हो। बछडो में एक आयु ऐसी होती है जबकि वे सर्दी तथा श्वसन-रोगो के शिकार अधिक होते है। यह रोग उन्हें 3 4 सप्ताह की आयु पर लगता है तथा 6 सप्ताह तक इसका वेग अधिक होकर बाद में धीरे धीरे कम होने लगता है। ऐसे स्थान पर जहाँ बडे बछडे नये ब्याये हुए बच्चो को स्थान देने के लिए बार-बार हटाये जाते हैं वहाँ मध्यमान आयु वाले कुछ बच्चे लगातार बने रहते हैं। लगभग एक ही आयु के

बछड़ों के समूह बनाकर रखना अधिक अच्छा है। गुआरों में गन्दगी तथा कम हवादार अंधेरे मकान सर्दी लगने तथा वायुनली के अन्य रोगों का प्रमुख कारण है।

सर्दी-राग के जीवाणु-विज्ञान का अभी तक बहुत ही थोड़ा ज्ञान हो सका है। जोंस और लिटिल[1] (Jones and Little) ने बछड़ों में पास्चुरेल्ला मल्टोसिडा नामक जीवाणु को इस रोग का कारण बताया। इन्फ्लूएंजा, छूतैली कंठ श्वास-प्रणाल शोथ (enzootic laryngotracheitis) तथा गल ग्रंथिल रोग जैसी सामान्य छूतैली बीमारियों के साथ भी यह रोग हुआ करता है। दंत-क्षरण (dental caries) तथा दंत कोटर पर्यस्थि-शोथ (alveolar periostitis) के बाद भी सर्दी जुकाम होते देखा गया है। होकना, वण्डगाने से पीब बहना तथा वायु-नली के अन्य दीर्घ-कालिक रोग भी प्राय इस बीमारी का कारण बनते हैं। मनुष्यों की भांति सभी सावधानियों के बाद भी पशुओं में इस रोग के प्रकोप हुआ करते हैं। यातायात के बाद प्राय सभी जाति के पशुओं में यह रोग हुआ करता है।

लक्षण—खाँसना तथा नाक से स्राव गिरना इसके प्रमुख लक्षण हैं। पशु को बुखार होता तथा वह सुस्त रहता है। तेज श्वास प्रश्वास, घरघराहट की आवाज तथा हालत का गिरते जाना इसके अन्य लक्षण हैं। श्लेष्मल झिल्लियों के रक्त-वर्ण होने तथा सुर्खी के अतिरिक्त सामान्य लक्षण प्राय अनुपस्थित रहते हैं, यद्यपि कि बछड़ों को 103 से 105° फा० तक बुखार हो सकता है। एक से तीन सप्ताह तक की इस रोग की अवधि होती है। सभी लक्षण समाप्त होने के बाद भी पशु खाँसता रह सकता है। ऐसा प्राय उन बीडों में विशेषकर देखा जाता है जिनमें कि ठंड उनका गला पकड़ लेती है।

गायों में सर्दी के प्रकोप यदाकदा देखने को मिलते हैं जिसमें कि नथुनों से डोरे की भाँति लटकता हुआ गाढ़ा-गाढ़ा लसदार स्राव बहता है। गाय चारा खाना तथा दूध देना कम कर देती है। खाँसी न होकर उसका तापक्रम नार्मल हो सकता है। इन पशुओं में इस रोग की अवधि एक सप्ताह से लेकर दस दिन तक होती है।

प्रारम्भ से ही सर्दी रोग पर कम ध्यान नहीं देना चाहिए क्योंकि बछड़ों में यह निमोनिया अथवा लगातार कमजोर बनाने वाली खाँसी जैसे उग्र छूतैले रोगों का कारण बनता है। तपेदिक, दमा तथा वायुनली के अन्य दीर्घ-कालिक रोगों के साथ भी गौण रूप में यह रोग हुआ करता है। ठंड लग जाना, तीव्र निमोनिया का प्रारम्भ भी हो सकता है। आमतौर पर यह संक्रमण का सूचक है और कम उम्र के बछड़ों में इसकी उपस्थिति कुप्रबंध का द्योतक है। ढोरों में सर्दी का भीषण प्रकोप दुर्दम्य-नजला की मंद प्रकार से मिलता-जुलता हो सकता है। घोड़ों में कुछ अनविज्ञ संक्रमणों के कारण सर्दी के प्रकोपों, तथा मंद जुकाम, गल-ग्रंथिल राग अथवा स्थानिक कंठ प्रणाल शोथ के बीच विभेदी निदान करना कठिन हो जाता है।

चिकित्सा।—रोगी को ठंड, थपेड़े देने वाली हवाओं, नमी, गन्दगी तथा थकान से बचाकर ताजी वायु का सेवन कराना चिकित्सक का प्रथम उपचार होना चाहिए। पशु यदि बहुत ही संकीर्ण, चारों ओर से बन्द गर्म बाड़े में बँधा हो तो उसे ऐसे बाड़े में पहुँचाना

अधिक लाभप्रद होगा जो एक ओर से खुला हुआ हो। पशुशाला की सफाई रखने अथवा स्वच्छ कमरे में रोगी को पहुँचा देने से शीघ्र लाभ होता है। भाप निकलते हुए गर्म पानी में एक औंस क्रियोलीन अथवा कोई अन्य ऐसा ही जीवाणु नाशक पदार्थ डालकर पशु को वफारा देने से काफी आराम मिलता है। नथुनों के अन्दर मल जमा हो जाने तथा उसकी श्लेष्मल झिल्ली पर सूजन आ जाने के कारण नाक बंद हो जाने पर वफारा देना काफी गुणकारी है। पिलर्स[2] (Pillers) के अनुसार एक क्वार्ट गर्म पानी में एक ड्राम (4 घ०सें०) मेंथोल तथा एक ड्राम थायमोल मिलाकर केवल एक ही बार वफारा देने पर आशातीत लाभ होता है, किन्तु दैनिक चिकित्सा के लिए औषधियुक्त चिकने पदार्थों का नथुनों के अंदर चारों ओर मलना अधिक अच्छा है। कुछ लोग इस आधार पर भाप का वफारा देना पसन्द नहीं करते कि वफारा देने के उपरान्त पशु को गर्म वातावरण से बाड़े के ठंडे वातावरण में आने से जो एकाएक परिवर्तन होता है उससे उसकी हालत और भी अधिक खराब हो सकती है। दिन में दो-तीन बार 1/4 (0.015 ग्राम) ऐट्रोपीन सल्फेट का प्रयोग काफी आराम पहुँचाता है। निम्नलिखित कफ नाशक एवं उत्तेजक नुस्खा भी काफी लाभदायक है :

* अमोनियम क्लोराइड	4 औंस	(120 ग्राम)
अमोनियम कार्बोनेट	4 औंस	(120 ग्राम)
कैम्फर (कपूर)	1 औंस	(30 ग्राम)
सिरप	1 गैलन	(4000 घ० सें०)

उपर्युक्त औषधियों को मिलाकर आधा से एक औंस (15 से 30 घ० सें०) की मात्रा में 3-6 बार पशु को नित्य चटाइये।

एक पिंट (20 औंस) मिश्रण में एक औंस अर्क बेलाडोना मिला कर पशु को पिलाने पर तीक्ष्ण खाँसी को भी ठीक किया जा सकता है। 6 ग्राम प्रति 100 पौंड शरीर भार पर सल्फामेराजीन को दो खुराकों में विभाजित करके रोगी को देने पर बुखार कम होकर हालत में सुधार होता है। बीमारी के भीषण प्रकोप में निमोनिया की भाँति पेनिसिलिन तथा अन्य प्रतिजैविक पदार्थों (antibiotics) का प्रयोग करना हितकर है। वर्थ तथा डीर्नोफर[3] (Wirth and Diernhofer) के मतानुसार बीमारी के उग्र प्रकोप में गुअरों को 1:1000 अनुपात के 2 घ० सें० ऐड्रीनलीन घोल को 8 घ० सें० गुनगुने पानी में मिलाकर 10 घ० सें० की पिचकारी द्वारा नाक में इन्जेक्शन देने पर शीघ्र लाभ होता है। इन्जेक्शन देने के लिए ऐसी पिचकारी का प्रयोग करते हैं जिसका सिरा छोटा तथा

---

*इस नुस्खे को किस प्रकार तैयार किया जाय इस पर निम्नलिखित निर्देश दिये जाते हैं : आधा गैलन कपूर-जल में 6.5 पौंड चीनी मिलाइये। इसे खूब हिलाइए। इसमें इतना कपूर-जल और मिलाइये कि कुल घोल एक गैलन हो जाये। इस गैलन भरी बोतल को खौलते हुए पानी में रख दीजिए और जब तक शकर घुल न जाए (तीन-चार घण्टे) रखा रहने दीजिये। तत्पश्चात् इसमें अमोनियम क्लोराइड मिलाइये। अंत में इसमें पीसा हुआ अमोनियम कार्बोनेट मिला दीजिए।

गुट्ठल हो। इन्जेक्शन देते समय सुअर का इस प्रकार ऊपर उठाते हैं कि उसके केवल पिछले पैर ही जमीन को छू सकें। ठंडे तथा गीले फर्शों के कुप्रभाव से बचाने के लिए बार्टलेट[4] (Bartlett) ने तार की जाली पर बछड़ा को पालने की राय दी है।

सदर्भ

1 Jones F S and Little, R B, An Epidemiological Study of Rhinitis (Coryza) in Calves with Special Reference to Pneumonia, J Inf, Dis, 1922, 36, 273
2 Pillers, A W N, Remarks on the Clinical Aspects of Contagious Nasal Catarrh in Horses, Vet Rec, 1934, 14, 1153
3 Lehrbuch der Innern Krankheiten der Haustiere, 1950
4 Bartlett J W, and Tucker, H H, Raising Calves on Wire Floors New Jersey Agr Exp Sta Cir 372 New Brunswick

कफपाक नासार्ति

(Croupous Rhinitis)

जैसा कि नाम से विदित है यह नाक की श्लेष्मल झिल्ली की कफपाक अथवा फाइब्रिनी सूजन है। ढोरों में यह नजला की एक प्रमुख प्रकार है। स्वतन्त्र रूप से संक्रामक रोग के रूप में यह रोग ढोरों में यदा कदा ही देखने को मिलता है जो कि यत्र-तत्र अथवा एक स्थान में प्रकोप करने वाला हो सकता है। घोड़ों में भी इसकी छूत फैलती है किन्तु सभी प्रजातियों में यह रोग बहुत ही कम होता है। ग्रंथ द्वारा प्रकाशित एक रिपोर्ट के अनुसार डेनमार्क में कोपेनहेगन के निकटवर्ती क्षेत्र की उन गायों में यह रोग अधिक पाया गया जो पशु बाजारों से खरीदी गई थीं। रोग की साधारण अवस्था में नासार्ति तथा ज्वर होता है। निमोनिया, दस्त तथा गर्भाशय शोथ आदि इसके दुष्परिणाम हैं जिनके द्वारा अनेक पशुओं का ह्रास होता है। कुछ अनविज्ञ संक्रमण ही इसका कारण है। ग्रंथ[1] (Grunth) द्वारा यह बताया जाना कि यह रोग दुर्दम्य नजला की ही एक प्रकार है अब विवाद का विषय है। इसमें नेत्र तथा मस्तिष्क पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता और यह नजला की अपेक्षाकृत हल्के रूप में होता है। आग, धुआँ तथा भाप द्वारा अत्यधिक संताप होना भी कफपाक नासार्ति का कारण है।

तेज बुखार तथा नाक से गाढ़ा स्राव निकलने के सामान्य लक्षणों के साथ इस रोग का एकाएक प्रकोप होता है। नाक की श्लेष्मल झिल्ली रक्तवर्ण होकर सूज जाती है। प्रायः खाँसी होकर रोगी को दस्त आने लगते हैं। इसके स्थानिक प्रकोप प्राण घातक होते हैं, जबकि विकीर्ण अवस्था के प्रकोपों में काफी विभिन्नता होती है। लक्षणों के अनुसार ही इसकी चिकित्सा की जाती है। भाप का बफारा देना तथा सल्फा-औषधियों का प्रयोग गुणकारी है।

पुटक-नासार्ति (Follicular rhinitis) श्लेष्मल झिल्ली की एक दानेदार सूजन है जो अन्य प्रकार की दाथ जैसे गलग्रंथिल रोग अथवा कफपाक नासार्ति के परिणाम स्वरूप हुआ करती है।

सदर्भ

1 Grunth, Uber den Croup der Rinder Zeit f Tiermedizin, 1905, 9, 232

सपूय नासार्ति

(Purulent Rhinitis)

दस दिन की आयु वाले बछड़ों में सपूय नासार्ति के दो प्राणघातक प्रकोप स्कोफील्ड[1] (Schofield) द्वारा वर्णन किये गये हैं। इसमें रोगी सुस्त रहता, सिर को एक ओर करके जमीन पर लेटता तथा खड़ा होने पर लड़खड़ाता था। खड़े होने पर पशु सिर को नीचा करके इधर-उधर झूमता था। नाक से गिरने वाला स्राव प्रारम्भ में थोड़ा रहकर दो तीन दिन बाद मात्रा में अधिक गाढ़ा तथा पीवयुक्त हो गया। तापक्रम एक डिग्री से अधिक कभी नहीं बढा। रोगी के मरने के बाद जब शव को चीरफाड़ कर देखा गया तो अभिमध्य शुक्तिकास्थि (medial turbinate) रक्त वर्ण होकर मवाद से भरी पाई गई। एक रोगी के प्रमस्तिष्क निलयों (cerebral ventricles) में तरल पदार्थ अधिक मात्रा में बढ़ गया था। संवर्धन (culture) करने पर कोरिनेबैक्टीरियम पायोजिनस नामक जीवाणु उपस्थित पाया गया।

नाभि-रोग (navel ill) से पीड़ित एक सप्ताह के बछड़े की नासा-गुहा (nasal cavity) की सतह पर छोटी-छोटी अनेक फुन्सियों के साथ सपूय नासार्ति रोग देखा गया। कष्टप्रद श्वास-प्रश्वास, दोनों नथुनों से मवाद बहना तथा नाभि पर सूजन होना इसके प्रमुख लक्षण थे। पीवयुक्त नासार्ति उन बछड़ों में भी देखी गई जिनको दूध पिलाना सिखाने के लिए सिर को पकड़कर शक्तिपूर्वक नीचे किया गया। पीवयुक्त साइनस शोथ, आँखों से मवादयुक्त स्राव तथा कभी-कभी निमोनियां होकर यह रोग और भी जटिल हो जाता था।

संदर्भ

1. Schofield, F. S., Report of the Ontario Veterinary College, 1936, p. 17.

दीर्घकालिक नासार्ति

(Chronic Nasal Catarrh)

घोड़ों में यह रोग प्रायः सदैव ही गौण रूप में होता है। यह साइनस संक्रमणों, दंत कोटर पर्यस्थि शोथ तथा दम, कनार (ग्लाडर्स) एवं तपेदिक जैसे फेफड़ों के दीर्घकालिक रोगों में देखने को मिलता है।

न्यूयार्क स्टेट की गायों में दीर्घकालिक नासार्ति प्रमुख रूप से होती है। यहाँ इसे ग्रीष्म नासाश्लेष्मस्राव (summer snuffles) अथवा "शुष्क घास ज्वर" के नाम से जाना जाता है। यह बीमारी कुछ पशुओं में केवल गर्मियों की ऋतु में ही फैलती है और उसी पशु को जब वह चरागाह पर चरने जाता है प्रति वर्ष बार-बार हो जाती है। इसका कारण अनविज्ञ है यद्यपि "शुष्क घास ज्वर" से इसकी समानता होना उसी प्रकार के कारण का भी बोध कराती है। नियम के अनुसार यूथ में केवल एक ही पशु रोग ग्रसित होता है। बीमारी के हल्के प्रकोप में पशु के साँस खींचते समय घर्राटे जैसी आवाज होती है, जिसे कुछ दूर से भी सुना जा सकता है। बीमारी के तीक्ष्ण प्रकोप में दोनों नथुनों से मवाद जैसा गाढा स्राव बहता है, जो कभी-कभी नासिका मार्ग को ऐसा बंद कर देता है कि पशु को मुंह द्वारा साँस लेनी पड़ती है। कभी-कभी पील। मवाद स्वयं ही निकल

पड़ता है। कुछ रोगियों की नाक से खून भी निकलता है। आँखों से पानी बहता है। गाय अपनी नाक को नुकीले तार अथवा ठूँठ आदि से रगड़ सकती है और इस प्रकार यह ठूँठ उसकी नाक में कई इंच तक अंदर घुस कर टूट सकता है जिसे कभी-कभी निकालने की आवश्यकता पड़ती है। रोगी साँस लेने में असाध्य सा हो जाता है। परन्तु सामान्य रूप से खाता पीता तथा स्वस्थ रह सकता है किन्तु दुधारु पशुओं में दूध की मात्रा कम हो जाती है। बीमारी के उतार में बाड़े में बाँधने पर पशु धीरे-धीरे ठीक होने लगता है, किन्तु दूसरे आने वाले मौसम में जब पशु चरने जाता है तो उसे यह रोग फिर हो जाता है। औषधियों के प्रयोग तथा नाक को धोने से रोगी को कोई विशेष लाभ तो नहीं होता, किन्तु ऐट्रोपीन के प्रयोग तथा भाप का बफारा देने से कुछ आराम मिलता है। पशु को बाड़े में बाँधकर रखने से उसकी हालत में सुधार होने लगता है।

गायों में स्थायी नासार्ति के कुछ रोगी गर्दन की मास पेशियों की ऐंठन अनियमित गति तथा प्रेरक क्षोभण के लक्षण प्रकट करते हुए ठीक होते देखे गये हैं। जब तक कि निदान संदेहपूर्ण था यह लक्षण दुर्दम्य शीर्षार्ति का सूचक थे। क्लोरीन अथवा आयोडीन के हल्के घोल से नथुनों की धुलाई करने से आशातीत लाभ होता है। नाक से मवादयुक्त गाढ़ा स्राव बहने तथा खाँसी आने पर इस रोग से पीड़ित गायों का सोडियम आयोडाइड (1 औंस 500 घ० सें० डिस्टिल्ड पानी में) का केवल एक ही अन्तःशिरा इन्जेक्शन देना काफी लाभप्रद है। सल्फामेराज़ीन अथवा पेनिसिलीन का प्रयोग भी गुणकारी है।

सुअरों में छुतैली अपक्षयिक नासार्ति

(Infectious Atrophic Rhinitis in Swine)

परिभाषा—सुअरों में अपक्षयिक नासार्ति, अनविज्ञ कारण वाला तथा अस्पष्ट रोग विज्ञान का एक न ठीक न होने वाला दीर्घकालिक छुतैला रोग है जो मुख्यतौर पर युवा पशुओं पर आक्रमण करके नाक से रक्तस्राव, छींकना, कम बढ़ोत्तरी तथा शुक्तिका-स्थियों (turbinate bones) का पिघल जाना आदि लक्षण उत्पन्न करता है। इसका प्रकोप कैनाडा तथा मध्य पश्चिम में एक नई बीमारी के रूप में अधिक होता है, जहाँ यह रोगग्रसित सुअरों की वृद्धि एवं क्रय विक्रय पर कुप्रभाव डालता है।

स्वीडन और जर्मनी में नासाश्लेष्मस्राव तथा छींकना नाम के अंतर्गत वर्णन की गई बीमारी शायद अमरीका में पाये जाने वाले सुअरों के अपक्षयिक नासार्ति रोग के समान है। पूर्वकालीन यूरोपीय वर्णन में जन्मजात निर्बलता, हारमोनों का अभाव, खनिज असंतुलन तथा गौण संक्रमण आदि इसके अनेक कारण बताए गये थे। किन्तु 1940 ई० में थनबर्ग और कार्ल्सट्रम[1] (Thunberg and Carlstrom) ने यह प्रदर्शित किया कि यह एक छुतैला रोग है।

कारण—सन् 1944 में डवायल और उनके साथियों[2] (Doyle and associates) ने लिखा कि पिछले तीन वर्षों में हमने इण्डियाना के विस्तीर्ण अनुभागों में सुअरों के यूथों में अपक्षयिक नासार्ति नामक रोग देखा। कई अन्य यूथों से भी हमारे पास ऐसी ही बीमारी के बारे में रिपोर्ट आईं। रोग ग्रसित यूथों में इसकी अत्यधिक आर्थिक महत्ता

हो गई किन्तु प्रदेश में यह अभी तक प्रचलित न हो पायी। स्वस्थ यूथों में इसका प्रवेश खरीदे हुए वाहक-पशुओं द्वारा होता है। रोगी पशु के सीधे सम्पर्क में आने अथवा उसकी नाक से गिरे हुए स्राव को छूने तथा ब्याने के कुछ ही दिन बाद रोगी से स्पर्श होने से इसकी छूत फैलती है। मल-मूत्र में रोग का जीवाणु नहीं पाया जाता। स्कोफील्ड तथा जोंस[3] द्वारा जीवाणु परीक्षण करने अथवा निस्यंदी वाइरस की खोज किये जाने पर भी रोग फैलाने वाले कारक का पता न लग सका, किन्तु इस परीक्षण में कंट्रोल के रूप में प्रयोग होने वाले जिन सुअरों को बगैर छना हुआ श्वेत तैलीय घोल दिया गया उनमें विशेष प्रकार के क्षतस्थल विकसित हुए। ग्वाट्किन आदि[4] (Gwatkin et al) ने बताया कि नासार्ति से पीड़ित प्रौढ़ सुअरों के नथुनों से प्राप्त धोवन को सुअरों के बच्चों की नाक में डालने से शुक्तिकास्थियां पूर्ण अथवा अपूर्ण रूप से अदृश्य हो गईं। वे प्रयोगशाला के पशुओं में

चित्र—1. अपक्षयिक नासार्ति (फोर्ट डाज प्रयोगशालाओं के सौजन्य से)

छूत फैलाने के अयोग्य थे। 45° सें० ग्रे० पर एक घंटे तक गर्म करने पर भी नाक से गिरे हुए स्राव की क्रिया नष्ट न हुई, किन्तु 60° सें० ग्रे० तक गर्म किये गये भाग निष्क्रिय हो गये। छनित, अधि अपकेंद्री पदार्थ (supernatant centrifuged material) तथा बैक्टीरियल संवर्धन ऋणात्मक थे। सन् 1953 में ग्वाट्किन तथा उनके साथियों[6] ने बताया कि "नासार्ति से पीड़ित रोगियों से प्राप्त पास्चुरेल्ला मल्टोसिडा प्रकार बी (Pasturella multocida type B) को सुअरों के बच्चों की नाक में डालने से प्रयोगात्मक-नासार्ति से मिलता-जुलता रोग उत्पन्न हो जाता है।"

लक्षण—यूथ में रोग ग्रसित पशु के प्रवेश पाने के 2-3 वर्ष बाद पशुओं में रोग

सामान्य रूप से फैलता है। रोग ग्रसित सुअर प्राय तेजी से तथा जल्दी-जल्दी छींकते हैं। कभी-कभी इसके साथ वे अपनी नाक को साफ करने के प्रयत्न में इधर-उधर कूदते दिखाई पड़ते हैं। छींकने के साथ प्राय नाक से खून भी आता है जिससे कि फर्श तथा दीवालें सन जाती हैं। नाक को कड़े पदार्थ से रगड़ना, सिर को एक ओर किये रहना तथा खाँसना आदि इस रोग के अन्य लक्षण हैं। कुछ पशुओं में थूथन का ऐंठ जाना इस रोग का विशिष्ट लक्षण है। एक अथवा दोनों ओर की शुक्तिकास्थियों के अपक्षय पर आधारित होकर पशु की थूथन छोटी तथा झुर्रियोंदार हो जाती है। वैसे तो प्रौढ़ सुअर भी रोग ग्रसित हो सकते हैं, किन्तु प्रमुख रूप से यह बीमारी छोटे बच्चों में दूध पिलाना छुड़ाने के समय देखी जाती है। पशु की वृद्धि रुक जाना ही प्रमुख आर्थिक क्षति है।

विकृत शरीर रचना (Morbid anatomy)—नाक की शुक्तिकास्थियाँ ही क्षतस्थल का प्रमुख स्थान हैं। जैसा कि स्कोफील्ड तथा जामर[3] ने वर्णन किया है "बीमारी की प्रारम्भिक अवस्था में नाक की शुक्तिकास्थियों की बाहरी सतह पर अनेकों लाल रंग के दाने से पड़ते हैं जो शीघ्र ही मुलायम हो जाते हैं और इनमें कोई भी नुकीला यन्त्र डालने पर आर-पार हो सकता है। दो चार सप्ताह में नाक की शुक्तिकास्थियाँ गायब हो जाती हैं और वहां पर श्लेष्मल झिल्ली से ढकी हुई एक सुदृढ़ टिसू की पतली धारी शेष रह जाती है। नथुनों में पीव मिश्रित श्लेष्मायुक्त गाढ़ा पदार्थ भरा रहता है। अनेक रोगियों में बीमारी के प्रारम्भकाल में नाक की शुक्तिकास्थियों की बाहरी सतह पर कोई कुप्रभाव नहीं पड़ता। यदि इस हड्डी को परीक्षण हेतु अलग करके देखा जाय तो उसकी भीतरी मोड़ पर गाढ़ा गाढ़ा पीवयुक्त श्लेष्मल स्राव भरा हुआ मिलता है।" बीमारी के बढ़े हुए प्रकोप के समय अधिकांश रोगियों में झर्झरिकाओं (ethmoids) पर भी कुप्रभाव पड़ता है। नाक की शुक्तिकास्थियों के अपक्षय का परोक्ष कारण अज्ञात है तथा नासार्ति की अन्य प्रकारों में शुक्तिकास्थियों का अपक्षय भी नहीं देखा जाता। एक ओर की शुक्तिकास्थि रोगग्रसित होने पर पशु का मुंह एक ओर को मुड़ जाता है तथा दोनों ओर की शुक्तिकास्थियों के खराब होने पर चेहरा प्याले की आकार का हो जाता है। बीमारी में पशु का प्राय निमोनिया होकर रोग और भी जटिल हो जाता है। स्वाट्सिन आदि[4] ने प्रयोगात्मक सुअरों में विशिष्ट लक्षणों की अनुपस्थिति में भी शुक्तिकास्थियों का ह्रास होना बताया है।

निदान—कुछ दिनों पूर्व तक वृष-नासिका रोग (bull nose) तथा अपक्षयिक नासार्ति में कोई विशेष अन्तर नहीं समझा जाता था किन्तु अब यह भली-भांति ज्ञात हो गया है कि यह दो अलग-अलग रोग हैं। ड्वायल[1] (Doyle) लिखते हैं कि "वृष नासिका रोग" में कणिकाकार सूजन होकर मध्य भाग में थोड़ा बहुत परिगलन होता है और वहां सूजन के परिणामस्वरूप होने वाली थोड़ी बहुत ऐंठन के अतिरिक्त थूथन में कोई परिवर्तन नहीं होता। हचिन्स[5] (Hutchings) के अनुसार नाक के अंतिम भाग तथा आंखों के मिलने के स्थान के मध्य बिन्दु पर एक अथवा दोनों ओर की शुक्तिकास्थियों का पूर्ण अथवा अपूर्ण विनाश होना अपक्षयिक नासार्ति का प्रमुख रोगात्मक लक्षण है। प्रारम्भिक

काल में यह बीमारी "वृप नासिका रोग" से मिलती-जुलती है और फार्म पर पुराने रोगियों के इतिहास पर इसका निदान आधारित होता है।

नियंत्रण—चिकित्सा से विशेष लाभ न होने तथा अत्याधिक आर्थिक क्षति के दृष्टि-कोण से सम्पूर्ण यूथ को बेच देना ही अधिक अच्छा है। पशुओं के रहने के स्थान की भलीभांति सफाई करके, कुछ महीने बाद वहां नये पशु रखना चाहिए।

संदर्भ

1. Thunberg, E. and Carlstrom, B., On sneezing diseases in pigs from an epizootic point of view, Skand. Vet. Tidskr., 1940, 30, 711.
2. Doyle, L. P., C. R. Donham, and L. M. Hutchings, Report *on a type* of rhinitis in swine, J.A.V. M.A., 1944, 105, 132.
3. Schofield, F. W., and Y. L., Jones, The pathology and bacteriology of infectious atrophic rhinitis in swine, J.A.V.M.A., 1950, 116, 120.
4. Gwatkin, R., Plummer, P. J., Bryne, J. L., and Walker R.V.L., Rhinitis of swine, V. Further studies on the etiology of infectious atrophic rhinitis, Canadian J. of Comparative Medicine and Vet. Science, 1951, 15, 32.
5. Hutchings, L. M., Atrophic rhinitis of pigs, Norden News, 1951, 25, 7.
6. Gwatkin, R., Dzenis, L., and Byrine, J. L., Rhinitis of swine, VII, Produc tion of lesions in pigs and rabbits with a pure culture of Pasteurella multocida, Canad. J. of Comp. Med., and Vet. Science, 1953, 17, 215.

सुअरों में संक्रामक नासार्ति

(Infectious Rhinitis in Swine)

(वृप नासिका रोग)

परिभाषा—यह नाक की श्लेष्मल झिल्ली तथा निकटवर्ती साइनसों की दीर्घकालिक सूजन है जिससे कि चेहरे की हड्डियां विकृत हो जाया करती है। यह रोग प्रायः रक्त विषाक्तता के साथ हुआ करता है। प्रमुख रुप से इसका प्रकोप मिसिसपी घाटी के सुअर पालने वाले क्षेत्रों में होता है जहां यह सुअरों के ह्रास का मुख्य कारण है। प्रौढ़ सुअर यदाकदा ही इसका शिकार होते है।

कारण—कुछ फार्मों पर यह रोग 6 से 8 सप्ताह की आयु के सुअरों में स्थानिकमारी के रुप में फैलता है। यूथ के 10 प्रतिशत से अधिक पशु यदा-कदा ही रोग ग्रसित होते है। एक सुअर से दूसरे को यह सीधे सम्पर्क द्वारा नहीं लगता। बरसात में कीचड़, धूल तथा मल जैसे गंदे सड़े-गले पदार्थ इस रोग की छूत का आवश्यक स्रोत है। फिच[1] तथा वैन एस[2] (Fitch and Van Es) के अनुसार मिट्टी में मौजूद एक प्रकार का नेक्रो बैसिलस, ऐक्टीनोमाइसीज नेक्रोफोरस (*Actinomyces necrophorus*) द्वारा इसकी छूत फैलती है। किंस्ले[3] (Kinsley) ने बताया कि जब पहली बार यह बीमारी फार्म पर फैलती है तो नियम के अनुसार केवल कुछ सुअरों पर ही इसका आक्रमण होता है। किन्तु प्रत्येक आने वाले वर्ष में रोग से पीड़ित होने वाले सुअरों की प्रतिशत बढ़ती

जाती है और प्रथम बार बीमारी का प्रकोप होने के चार-पाँच माह बाद 25 से 40 प्रतिशत तक सुअर रोग ग्रसित हो सकते हैं। एक नये यूथ में किसी रोग ग्रसित फार्म से खरीदे गये स्वस्थ पशु से भी इसकी छूत लग सकती है। रोग रहित फार्म से खरीदे गये स्वस्थ सुअरों का ऐसे बाड़े में बन्द करने से भी छूत लगती देखी गई है जहां के पशुओं में पहले कभी यह रोग हो चुका हो।

लक्षण—प्रारम्भ में इसके लक्षण साधारण सर्दी-जुकाम से मिलते-जुलते हैं। नथुनों की त्वचा पर छोटे-छोटे दाने पड़ते तथा नाक से थोड़ा सा रक्त मिश्रित पानी जैसा पतला अथवा पीला-पीला गाढ़ा रसदार पदार्थ बहता है। छींकना तथा इस आशय से सिर का हिलाना जैसे कि कोई फंसी हुई वस्तु को बाहर निकालना हो, ऐसे लक्षण भी यदा-कदा हेस्टिंग्स[4] (Hastings) द्वारा देखे गये हैं। उन्होंने यह भी बताया कि रोग इतने धीरे-धीरे फैलता है कि इसके लक्षण तब तक स्पष्ट नहीं हो पाते जब तक कि चेहरे की हड्डियां उभर नहीं आतीं। वृष-नासिका, भूख कम लगना, निर्बलता तथा नेत्रों की श्लेष्मल झिल्ली की सूजन इसके अन्य प्रमुख लक्षण हैं। कुछ समय के बाद चेहरे पर नलिकाकार घाव बन जाते हैं जिनसे बदबूदार मवाद बहता है। सुअरों में अपक्षयिक नासार्ति की खोज होने के उपरान्त वृष-नासिका रोग का आपेक्षिक महत्व कुछ कम हो गया है।

शव परीक्षण करने पर नासिका मार्ग की श्लेष्मल झिल्ली सड़ी हुई प्रतीत होती है। ऐसे ही परिवर्तन चेहरे की हड्डियों तथा सुविवरकास्थियों में भी दिखाई पड़ते हैं। सिर की लिम्फग्रंथियों में फोड़े पाये जा सकते हैं तथा फेफड़ों में छोटे छोटे अराग्य दाने मिलते हैं।

चिकित्सा—रोग की प्रारम्भिक अवस्था में क्रियोलीन घोल में सुअर की थूथन डुबो देने से शीघ्र लाभ होता है। क्षतस्थलों के बढ़ जाने पर इस बीमारी का कोई इलाज नहीं है। फिच (Fitch) ने वृष-नासिका रोग से पीड़ित 200 पौंड शरीर भार वाले सुअर की थूथन के ऊपर पानी छोड़ने से आशातीत लाभ होता बताया है। बाड़े की सफाई रखने से पशुओं में इसके प्रकोप को कम किया जा सकता है।

संदर्भ

1 Fitch C P Necrobacillosis necrotic rhinitis, Cornell Vet, 1919, 9 93,
2 Van Es, L, "Bull Nose" in Pigs, Agr Col Univ Neb Ext Cir 225, 1923
3 Kinsley, A T, Infectious rhinitis bull nose of pigs Vet Med, 1926, 21, 479
4 Hastings, C C, Rhinitis of pigs (bull nose), Vet Med, 1937, 32, 142

नासिका तथा मुख विवरों में पशु परजीवी कीट

(Animal Parasites in the Nose and Facial Sinuses)

(ईस्ट्रस ओविस)

ईस्ट्रस ओविस नामक भेड़ों की मक्खी दिन की गर्मी में चरागाहों पर चरने वाली भेड़ों पर आक्रमण करके उनके नथुनों पर लार्वा जमा करती है। यह लार्वा यहां से चलकर

नथुनों से रक्त मिश्रित श्लेष्मा निकलता है। अधिक पीड़ित रोगी चारा खाना भी छोड़ देते हैं। दक्षिणी अफ्रीका में ईस्ट्रस ओविस की छूत से भारी क्षति होती देखी गई है।

चिकित्सा—इसका सर्वोत्तम उपाय "बचाव" है। यह मक्खियाँ दुकानों में बहुत कम घुसती है, अतः यदि भेड़ों को कुछ अंधेरे बाड़ा में रखा जाय तो वे आक्रमण से बच सकती हैं। उनकी नाक पर कोलतार पोता जा सकता है। यह कार्य ऐसे लट्ठों की मदद से किया जा सकता है जिनमें 6 इंच की दूरी पर 2.5 इंच व्यास के 4 इंच गहरे सूराख बने हों। इन छिद्रों में नमक भर कर चारों ओर से कोलतार पोतवा देते हैं। चूना, कोलतार, बेन्जीन, गंधक जैसे विभिन्न सूंघन वाले पदार्थ तथा गर्म जलवाष्प प्रौढ़ लार्वा को साइनस से निकालने में असफल सिद्ध हुए हैं। गिड्लो और हिकमन[5] (Gidlow and Hickman) की रिपोर्ट के अनुसार बराबर-बराबर मात्रा में कार्बन डाइसल्फाइड तथा हल्के खनिज तेल का प्रयोग (3 घ० सें० प्रत्येक नथुने में) काफी गुणकारी सिद्ध हुआ है। यद्यपि कि इस औषधि के सम्पर्क में आते ही लार्वा तत्काल मर जाता है किन्तु साइनस में इसका इन्जेक्शन देना काफी कठिन है। 21 भेड़ों के समूह में इस विधि द्वारा 16 लार्वा में से 6 लार्वा नष्ट किये गये। इस रिपोर्ट पर संक्षेप में टीका टिप्पणी करते हुए आस्ट्रेलिया के जे० आर० स्टेवर्ट[6] (J. R Stewart) ने लिखा है कि "कई वर्षों से हम इस रोग की बिना किसी कठिनाई अथवा भय के चिकित्सा करते रहे हैं। इस कार्य के लिये हमने लम्बाई में तार पड़ी एक इंच लम्बी मुथरी सुई तथा 5 घ० सें० की पिचकारी प्रयोग की। तार का ऊपरी सिरा चपटा होता है। जिस भेड़ की चिकित्सा करनी हो उसे बदृाल करके उपयुक्त स्थान पर सुई घुसेड़ दी जाती है। फिर एक लकड़ी की मुगरी की हल्की चोट से सुई को साइनस तक पहुँचा कर सुई में पड़ा हुआ तार खींच लेते हैं। तत्पश्चात् पिचकारी में 2 घ० सें० दवा का घोल भर कर सुई के द्वारा अंदर प्रवेश करके सुई को बाहर निकाल लिया जाता है। सुई घुसेड़ने का स्थान सींगयुक्त (मेरिनो) भेड़ों में सींग की जड़ से लगभग ½ इंच ऊपर दोनों ओर एक-एक इन्जेक्शन दिया जाता है। सींग रहित भेड़ों में ललाट अस्थि के सुप्राऑर्बिटल प्रोसेस के समानान्तर (नेत्र गुहा की ऊपरी सीमा) मध्य रेखा के निकट ललाट विवर में इन्जेक्शन दिया जाता है। मध्य रेखा के दोनों ओर एक-एक इन्जेक्शन देना चाहिए। यह विधि बिना किसी कष्ट के शीघ्र प्रभाव करने वाली है।' टेक्सास और मैक्सिको में भेड़ों में इस अवस्था का अध्ययन करने के उपरान्त मिचेल और कॉबेट[7] (Mitchell and Cobbett) ने यह निष्कर्ष निकाला कि सप्ताह में दो बार भेड़ की नाक पर देवदार का तेल लगाने पर प्रौढ़ मक्खी पर थोड़ा सा हटने वाला प्रभाव पड़ता है। उन्होंने केवल उन्हीं पशुओं में रोगजनक परिवर्तन देखे जहाँ कि पशु की शीर्ष गुहाओं में कीट मर चुके थे। साथ ही इस गुहा में इन कीटों को नष्ट करने के लिए प्रयोग होने वाली चिकित्सा पर भी उन्होंने संदेह व्यक्त किया। लवण नाद (Salt trough) विधि के प्रयोग से भेड़ की नाक में औषधि लगाना कुछ लाभदायक सिद्ध हुआ। ललाट विवर में छेद करके छोटे मुँह की चिमटी से भी लार्वा निकाला जा सकता है।

स्टेवर्ट[6] की रिपोर्ट से सहमत डू टोइट और क्लार्क[4] के अनुसार ललाट विवर में लार्वा को नष्ट करना चिकित्सा का एक प्रायोगिक तथा प्रभावकारी ढंग है। उन्होंने द्रव पैरेफिन तथा कार्बन वाईसल्फाइड को बराबर भागों में मिलाकर इस मिश्रण के 2 घ०सें० घोल का प्रत्येक ललाट विवर में इन्जेक्शन दिया। एक-दो मिनट में ही भेंड़ औषधि के विषैले प्रभाव से मुक्त हो गई और एक अथवा दो दिन के अन्दर उसके साइनस से लार्वा अदृश्य हो गया। डू टोइट लिखते हैं कि "ओण्डर स्टेपूर्ट (onder stepoort) में होने वाले भेंड़ों के दैनिक शव-परीक्षणों से ज्ञात होता है कि जो भेंड़ें किसी अन्य कारणवश मरी हों उनके शरीर में भी मरे हुए अथवा अध-मरे लार्वा पाये जाते हैं.... उन सभी रोगियों में जिनमें कि शव-परीक्षण करने पर ईस्ट्रस ओविस लार्वा ही मृत्यु का प्रमुख कारण ज्ञात हो, इन्जेक्शन देने पर शीघ्र लाभ होता है.........6 माह से कम आयु की भेंड़ों के लिए यह ढंग अधिक सुरक्षित नहीं है।"

कोवेट[2] (Cobbett) की रिपोर्ट के अनुसार लार्वा के ललाट विवर में पहुंचने के पूर्व पतझड़ और सर्दी के महीनों में 3 प्रतिशत साबुनयुक्त क्रीसोल (लायसोल) के लगाने से नासा-मार्ग से लार्वा बाहर निकल जाते हैं। इस घोल को 35 से 45 पौंड वायु-दाब वाली टंकियों में भरकर भेंड़ों के नासिका-मार्ग में प्रवेश करते हैं तथा प्रत्येक नथुने में लगभग एक-एक औंस (30 घ० सें०) घोल भर देते हैं। एक बार की चिकित्सा में लगभग 90 प्रतिशत रोग से छुटकारा मिल जाता है। तथा 5 दिन बाद पुनः दोहरा देने से 98 प्रतिशत रोग ठीक हो जाता है।

संदर्भ

1. Osborn, H., Insects Affecting Domestic Animals, U. S. Dept. Agr., Bureau Entomology, Bull. No. 5, 1896.
2. Cobbett, N. G., and Mitchell, W.C., Further observation on the life cycle and incidendce of the sheep bot Oestrus ovis in New Mexico and Texas, Am. J. Vet. Res., 1941, 2, 258.
3. Dill, R., Grub in the Head of Sheep in Northeastern Nevada, Univ. Agr. Exp. Sta. ,Bull. 135, 1931.
4. Du Toit, R., and Clark, R., A method of treatment for sheep affected with Oestrus ovis, J.S. African Vet. Med. Assoc., 1935, 6, 25.
5. Giddlow, E. M., and Hickman, C.W., A new treatment for Oestrus ovis larvae in the head of sheep, J.A.V.M.A., 1931, 79, 210.
6. Stewart, J. R., Treatment for Oestrus ovis, J.A.V.M.A., 1932, 80, 108.
7. Mitchell, W. C., and Cobbett, N.G., Field observations relative to control of Oestrus ovis, J.A.V.M.A., 1933, 83, 247.
8. Cobbett, N. G., An effective method for the treatment of sheep head grub Oestrus ovis in areas where the winters are cold, J.A.V.M.A., 1940, 97, 765.

ग्रसनी शोथ

(Pharyngitis)

(गलदाह, गलार्ति)

परिभाषा—घोडा में यह रोग फेरिंक्स की श्लेष्मल झिल्ली तथा सन्म्यूकोजा की तीव्र सूजन है जो प्राय प्रत्यग्ग्रसनी लसीका ग्रंथियो (retropharyngeal lymph glands) में फोडो के बनन के साथ होती है। किसी हद तक यह अपने निकटवर्ती अगा जैसे नाक, स्वरयत्र, गलद्वार तथा गलगर्त की श्लेष्मल झिल्लियो पर भी प्रभाव डालती है। नाक से अधिक मात्रा में पीवयुक्त गाढा स्राव बहन तथा पीने के समय नथुनों से द्रव बाहर निकलने के लक्षणो द्वारा इसे पहचाना जाता है।

कारण—घोडा में यह रोग प्राय पतझड और वसत की ऋतु में स्थानिकमारी के रूप में हुआ करता है। वैसे तो किसी भी उम्र के पशुओं को यह रोग लग सकता है किन्तु प्रमुख रूप से इसका प्रकोप प्राय युवा पशुओं में ही हुआ करता है। ग्रसनी शोथ, यांत्रिक, रासायनिक अथवा ताप क्षोभण के परिणामस्वरूप भी हो सकती है किन्तु अधिकतर यह छूत लगने के कारण ही होती है और एक पशु से दूसरे पशु को लगने वाली बीमारी है। ठढ तथा नमीयुक्त बाडे, सर्दी लगना तथा ऐसी ही अन्य मौसम की खराबिया आदि इस रोग के पूर्व प्रवर्तक कारण हैं। कभी-कभी गले में कियोलीन, क्लोरल हाइड्रास अथवा किसी अन्य ऐसी ही क्षोभक दवा का कैप्सूल टूट जाने के कारण भी वहाँ की श्लेष्मल झिल्ली सूज जाती है। गलग्रथिल रोग की यह आशिक अवस्था है और गलग्रथिल रोग के हल्के प्रकोप में यह इस बीमारी का लक्षण बनती है। होर[1] (Hoore) के विचार के अनुसार इस प्रकार के ग्रसनी शोथ के आक्रमण वास्तव में गलग्रथिल रोग अथवा इन्फ्लुएंजा की छूत का द्योतक हैं।

सेना में पशु चिकित्सालय पर वर्थ[2] (Wirth) ने ग्रसनी शोथ से पीडित घोडों के गल-गर्तों के वर्षों तक परीक्षण किये। यह परीक्षण यह प्रदर्शित करते हैं कि कम से कम 90 प्रतिशत ग्रसनी शोथ के रोगियों में उप-पैरोटिड तथा प्रत्यग्ग्रसनी लसीका ग्रथियो और विशेषकर गलगर्तों की निम्न ग्रथियों, में फोडे बन जाते हैं। यह फोडे गलगर्त की लसीका ग्रथियां, ग्रसनी की पिछली दीवाल तथा गलगर्तों की श्लेष्मल झिल्लियों के मध्य एरिटिनाइड कार्टिलेज के ऊपर स्थित रहते हैं। इन फोडा के मवाद से कांच के स्लाइड पर बनाया हुआ लेप गल-ग्रथिल रोग के फोडा से तैयार किये गए लेप से मिलता-जुलता है। इससे वर्थ इस परिणाम पर पहुँचे कि घोडा में ग्रसनी शोथ लगभग गल-ग्रथिल रोग ही है।

विकृत शरीर रचना—ग्रसनी की श्लेष्मल झिल्ली सूज कर रक्तवर्ण हो जाती है और उसके ऊपर रक्तयुक्त अथवा श्लेष्मा एव पीवमिश्रित पदार्थ चढा रहता है। श्लेष्मल झिल्ली पर पीवयुक्त छोटे-छोटे घाव भी देखने को मिल सकते हैं। घोडा में ग्रसनी की पिछली दीवाल मोटी, रक्तयुक्त तथा पीव से भरी हुई मिलती है और प्रत्यग्ग्रसनी लसीका ग्रथियों में छोटे-छोटे फोडे बनकर सूजन आ जाती है।

लक्षण—रोग के आक्रमण के अनुसार ही लक्षण प्रकट होते हैं। बीमारी के प्रारम्भ में पशु खाना-पीना छोड़ कर सुस्त रहता तथा दर्द का अनुभव करता हुआ खांसता है। पानी निगलने पर गले में दर्द होता तथा उसका कुछ भाग नथुनों से बाहर निकलता है। गले में घाव हो जाने के कारण पशु अपना सिर आगे को करके रखता है। रोगी की परीक्षा करने पर दोनों नथुनों से गाढ़ा स्राव बहता मिलता तथा गले को दबाने पर पशु खासता हुआ दर्द का अनुभव करता है। प्रत्यग्ग्रसनी लसीका ग्रंथियों के फोड़े जब पककर फूटते हैं तो गलगर्तों से काफी मात्रा में नथुनों के द्वारा पीवयुक्त गंदा स्राव बहता है। फोड़े तथा सूजन से ग्रसनी की ऊपरी दीवाल अचल होकर सुन्न पड़ जाती है जिसके कारण पशु को निगलने तथा जुगाली करने में कष्ट होता है। रोगी को 103 से 105 डिग्री फारेन-हाइट तक तेज बुखार होता है। इस रोग की सामान्य अवस्था एक अद्भुत मार्ग का अनुसरण करके 4 से 6 दिन में चरम सीमा पर पहुँच कर 4 से 6 सप्ताह में ठीक हो जाती है। अत्याधिक फोड़े बनने के कारण पशु को साँस लेने में बहुत कष्ट होता है तथा स्थानीय सूजन हो जाती है। रोग अनियन्त्रित रूप से बहुत दिनों तक चलता रहकर धीरे-धीरे ठीक होता है। पशु में रक्त विषाक्तता, थकान तथा क्षीणता के लक्षण अक्सर मौजूद रहते हैं। उसका स्वास्थ्य दिन प्रतिदिन गिरता चला जाता है। इस अवस्था के बाद रोगी को निमोनिया, रक्त विषाक्तता अथवा ग्रसनी का नासूर (pharyngeal fistula) हो सकता है। यद्यपि कि गलगर्त के घाव ठीक हो जाते हैं किन्तु देखने पर ठीक मालूम देने के बाद भी कभी-कभी कुछ समय तक मौजूद रह कर पशु में दीर्घकालिक श्वासनली के रोगों के लक्षण उत्पन्न कर सकते हैं। रासायनिक क्षोभकों(chemical irritants)जैसे क्रियोलीन के कारण उत्पन्न हुआ यह रोग (ग्रसनीशोथ) लगभग एक सप्ताह में ठीक हो जाता है।

निदान—दोनों नथुनों से पीवयुक्त गंदा स्राव बहना, सिर को आगे बढ़ाकर रखना, गले के दबाने पर दर्द होना तथा रुक-रुक कर खासना, और पिये हुये पानी का नथुनों से बाहर निकलना इस बीमारी के प्रमुख लक्षण हैं। फेरिंक्स के पक्षाघात में दर्द, सूजन तथा सामान्य लक्षण न होकर नथुनों से चारा मिली हुई लार बहती है।

चिकित्सा—रोग की रोकथाम के लिए बीमार पशु को स्वस्थ पशुओं से तुरन्त ही अलग कर देना चाहिए। पशुशाला सूखा और हवादार हो और रोगी पशु को खराब मौसम से बचाकर रखा जाये। ठंडे मौसम में पशु के शरीर को कपड़े से ढक कर रखना चाहिए। दीवालें तथा नादें प्रायः नाक से निकलने वाले गंदले स्राव से सन जाया करती हैं, अतः ऐसी सभी वस्तुओं को औषधियुक्त पानी से धोकर साफ रखना जरूरी है। बीमार घोड़े के सामने एक बाल्टी में 1/2 औंस पोटास क्लोरेट डालकर पानी भर कर रखना लाभप्रद है। इस पानी को बार-बार बदलते रहना चाहिए। पहले तीन दिनों में जबकि गले में अधिक पीड़ा होने के कारण चबाना और निगलना कष्टप्रद हो जाता है, पशु चारा नहीं खा पाता। ऐसे समय में पशु को ठोस चारे के स्थान पर अलसी अथवा जई के चूर्ण का पानी देना चाहिए। थोड़ी-थोड़ी मात्रा में साफ व धुली हुई जड़ें, जैसे गाजर, रातों को कई बार में खिलाई जा सकती हैं। रोगी जो खाना चाहता हो और जो खा सकता हो, खिलाया जा सकता है।

पशु को रोग के लक्षणों के अनुसार ही दवा का सेवन कराना चाहिए। क्रिनोलीन अथवा इससे मिलती-जुलती औषधियों का वफारा देने से आशातीत लाभ हो सकता है। वैसे तो इस कार्य के लिए विशेष प्रकार की वाष्प केतली (steam cattles) अधिक उपयुक्त कही जाती है किन्तु बाल्टी और रोगी के चेहरे को बोरी से ढककर वफारा देना अधिक अच्छा है। गुनगुने पानी में गर्म किये हुए पत्थर अथवा ईंटे डाल देने से पशु को लगातार भाप मिलती रहती है। इस क्रिया से केवल दर्द से ही छुटकारा नहीं मिलता वरन् सूजन भी कम हो जाती है। वफारा देना प्रारम्भ करने के कुछ ही मिनटों बाद पशु को साँस लेने में आराम मिलने लगता है। वफारा देने की अवधि परिचारक के समयानुसार नियमित हो सकती है। इस विधि द्वारा कष्ट-प्रद श्वास-प्रश्वास से छुटकारा पाकर पशु श्वासनली के ऑपरेशन से भी बच जाता है। फोड़े की पहिचान होने पर उसमें शीघ्र ही चीरा लगा देना चाहिए। बाहर से सेंक भी किया जा सकता है। दर्द तथा सूजन के साथ बीमारी का उग्र प्रकोप होने पर गर्म पुल्टस तथा ऐंटिसेप्टिक फाहा का प्रयोग गुणकारी है। वर्थ[2] (Wirth) की रिपोर्ट के अनुसार रोगी को नित्य 15 मिनट तक हल्का सेंक देकर गले पर रुई रखकर पट्टी बाँधना लाभप्रद है। फोड़ों के फटने के बाद, गलगर्तों का धोना आवश्यक है। इसके लिए एक विशेष प्रकार के कैथीटर का प्रयोग किया जाता है जिसे थोड़ा अभ्यास करने के बाद सरलता से घुसेड़ा जा सकता है। यूरोपीय लेखक स्प्रिट कैम्फर के फाहा का प्रयोग करने की राय देते हैं। कभी-कभी गले पर पारा-प्रतिदाहक (मर्करी-ब्लिस्टर) भी लगाया जाता है किन्तु इसका प्रयोग कोई विशेष गुणकारी नहीं है। दर्द से छुटकारा तथा उत्तेजना के लिए पशु को हायोसायमस अथवा बेलाडोना युक्त कफनाशक औषधियाँ देनी चाहिए :

अमोनियम क्लोराइड	4 ड्राम	(16 ग्राम)
अमोनियम कार्बोनेट	4 ड्राम	(16 ग्राम)
कैम्फर (कपूर)	1 ड्राम	(4 ग्राम)
अर्क बेलाडोना	1 औंस	(30 घ० सें०)
सिरप (आवश्यकतानुसार)	16 औंस	(500 घ० सें०)

सबको मिलाकर आधा से एक औंस (15-30 घ० सें०) की मात्रा में प्रति दो से चार घंटे के अवकाश पर रोगी को पिलाओ।

रोगी पशु को नाल से दवा पिलाने अथवा पिचकारी से मुह में पीछे की ओर डालने से उसे श्वसन-निमोनिया (inhalation pneumonia) होने का भय रहता है। अतः इससे बचाने के लिए या तो पशु को आधा औंस की शीशी से थोड़ी-थोड़ी दवा जीभ पर डालकर पिलाओ अथवा चटनी के रूप में चटाओ। ग्रसनी की श्लेष्मल झिल्ली पर कीट-नाशक औषधियों का लेप करना अधिक महत्वपूर्ण नहीं है।

फेरिंक्स तथा ग्रासनली (oesophagus) के नलिकाकार घाव पशु को मोटे चारे न खिलाकर दूध, अण्डा तथा जई-चूर्ण देने से सफलता पूर्वक ठीक किए जा सकते हैं। घाव के अस्वस्थ तथा टेढ़े-मेढ़े किनारों को काटकर सुई से टाँके भरे जा सकते हैं। बाहरी घाव

को नित्य ही साफ करके किसी स्तम्भक घोल जैसे 1 5000 सिल्वर नाइट्रेट का फाहा रखना चाहिए।

वैज्ञानिक वर्ग के कथनानुसार घोडे में ग्रसनीशोथ सदैव गल ग्रथिल रोग ही होता है। अत गल-ग्रथिल रोग के बचाव व चिकित्सा की विधियाँ इसमें भी लाभप्रद हो सकती है। रावर्ट्स[3] तथा सेम्टनर[4] (Roberts and Semtner) ने पैनिसिलन के प्रयोग को ग्रसनी शोथ की चिकित्सा में उपयोगी बताया है।

सदर्भ

1 Hoare, E W, A system of Veterinary Medicine, Chicago Eger, 1915, 2, 35

2 Wirth, D, Neue Erkentnisse uber das Wesen und die Behandlung der Angina des Pferdes, Wiener tier Monatsschrift, 1934, 21, 753, abs Cornell Vet, 1936, 26, 128

3 Roberts, S J, Treatment of strangles in a horse with penicillin and sulfamerazine, Cornell Vet, 1945, 35, 378

4 Semtner, W K, Vet Med 1945, 40, 226

सुअरों की ग्रसनीशोथ

(Pharyngitis of Swine)

सुअरो में ग्रसनीशोथ रोग काफी प्रकोप करता कहा जाता है फिर भी इस रोग का बहुत ही सक्षिप्त विवरण अभी तक प्राप्त हो सका है। लेखक के चिकित्सालय में यह कभी-कभी कण्ठार्ति (laryngeal catarrh) के साथ होता देखा गया है। हेस्टिग्स[1] की रिपोर्ट के अनुसार मध्य-पश्चिमी अधिकाँश फार्मों पर 5 से 8 सप्ताह की आयु वाले सुअरो की यह एक अप्राणघातक तथा प्रमुख बीमारी है। पशु का खासना, हल्का बुखार रहना तथा गले के क्षेत्र में कभी-कभी फोडे बनना इस बीमारी के प्रमुख लक्षण हैं। बीमारी की ऐसी अवस्था अधिक दिनों तक बनी रहने पर सुअर की वृद्धि एव विकास रुक जाता है।

बाडे की गन्दगी, सीमेंट अथवा नमीयुक्त फर्श, धूल तथा छत आदि इस रोग को फैलाने के अनेक कारण हैं। सुअरो में ऐंथ्रक्स की बीमारी प्राय गले में ही स्थानीय होकर प्राणघातक सूजन उत्पन्न करके पशु की मृत्यु का कारण बनती है।

सुअरो में, दर्द के कारण चारा न खा पाना तथा खासना ग्रसनी शोथ के प्रमुख लक्षण हैं। तरल पदार्थ बिना प्रतिक्षेपण (regurgitation) के ही निगल लिए जाते हैं, किन्तु सुअर कै कर सकता है। रोग की तीव्र अवस्था में उपजम्भ क्षेत्र (गालों के नीचे का भाग) सूजकर दर्दयुक्त हो जाता है जिसके कारण गर्दन और सिर अकड जाता है। खासी सदैव मौजूद रहती है जो रोग के प्रथम बार आक्रमण होने पर अधिक तेज होती है और यह अन्य लक्षणों के समाप्त होने के बाद भी कुछ समय तक स्थिर रह सकती है। कण्ठद्वार की सूजन के अन्य लक्षणों के साथ पशु को कष्टप्रद श्वास-प्रश्वास भी हो सकता है। उपजम्भ क्षेत्र में बने हुए फोडे फटकर उनसे पतला तथा बदबूदार पीप निकलता है। यह सूअरों [illegible] का अप्राणघातक रोग है जो [illegible] पर टांसिल तथा उपजम्भ लसीका

ग्रंथियों (submaxillary lymph glands) पर ही अपना प्रभाव करता है अथवा यह ऐंथ्रावस या सूकर इनफ्लूएंजा (swine influenza) जैसी भयानक छूतदार बीमारियों की छूत का स्थानीय कारण बनता है।

इस रोग की चिकित्सा भलीभांति सफाई रखने तथा फाड़ा की शल्य चिकित्सा तक ही सीमित है।

सन्दर्भ

1 Hastings C C, Some current affections of swine pharyngitis, N Am Vet, Jan 1935 16, 31

ढोरों की ग्रसनी शोथ

(Pharyngitis of Cattle)

सर्दी के मौसम में जब पशु ठंडे व नमीयुक्त पशुशालाओं में बांधे जाते हैं अथवा उनको थपेड़े देने वाली हवा लग जाती है तो उनमें श्वास-नली के रोग अधिक प्रभाव करते हैं। अतः ऐसे समय में ढोरों में उग्र श्लेष्मल ग्रसनीशोथ (acute catarrhal pharyngitis) रोग प्रायः होता देखा गया है। ऐसे रोगी में कष्टप्रद श्वास प्रश्वास, खर्राटे की आवाज, अत्यधिक बेचैनी, ग्रसनी क्षेत्र में कभी-कभी सूजन तथा दबी हुई खांसी आदि लक्षण दिखाई पड़ते हैं। घोड़ों की अपेक्षा गायों की नाक से कम स्राव गिरता है। सामान्य लक्षण प्रायः अनुपस्थित रहते हैं।

गलत ढंग से कंठ-नलिका (probang) प्रयोग करने अथवा गले में नुकीले तार या कांच के टुकड़े फंस जाने के कारण फैरिंक्स पर चोटें आ जाती हैं। लगी हुई चोटों के अनुसार स्थानीय सूजन होकर रोगी को सांस लेने में कठिनाई हो सकती है। तार अथवा कांच आदि अवांछित वस्तुओं को फैरिंक्स से निकाल देने पर यह घाव शीघ्र ही अच्छे हो जाते हैं। कष्ट प्रद श्वास प्रश्वास तथा गले में सूजन होना अन्दर की ओर चोट का होना प्रकट करते हैं तथा मुख-खोलनी (mouth gag) द्वारा भलीभांति परीक्षण करने पर अवांछित पदार्थ का पता लगाया जा सकता है। फैरिंक्स को टटोलने के लिए मुख-खोलनी के अन्दर से हाथ घुसेड़ने से पूर्व यह भलीभांति जान लेना चाहिए कि पशु पागलपन के रोग से पीड़ित तो नहीं है। गले पर भिगोई हुई रुई अथवा कपड़े की ठंडी पट्टी देने से सांस लेने में आराम हो जाता है।

लेखक ने अपने चिकित्सालय में एक 6 वर्षीय गाय में दीर्घकालिक ग्रसनी-शोथ देखी। रोगी का इतिहास लेने पर उसमें कई सप्ताह से कष्ट प्रद श्वास प्रश्वास तथा खर्राटे की आवाज के लक्षण बताये गये, किन्तु डाक्टरी परीक्षण ऋणात्मक निकला। शव परीक्षण करने पर फैरिंक्स की दीवाल सूजी हुई मोटी तथा उसकी सबम्यूकोजा पर अनेक छोटे छोटे फोड़े से मिले। सांस लेते समय नाक से खर्राटे की आवाज प्रायः प्रत्यग्रसनी लसीका ग्रंथियों के क्षय से पीड़ित गायों में भी देखने को मिलती है। इसके अतिरिक्त ऐक्टीनोबैसिलोसिस तथा कुछ अन्य अनविज्ञ जीवाणु जैसे छुतैले कारक फैरिंक्स की दीवाल में प्रवेश पाकर गायों में दीर्घकालिक कष्टप्रद श्वास प्रश्वास का कारण बनते हैं।

फेरिंक्स के फोड़े तथा रसौली—कभी कभी प्रत्यग्रग्रसनी टिसुओं में ऐक्टीनोवैसिलोसिस, ट्युबर्कुलोसिस तथा रसौली (tumors) आदि रोग विकसित हो जाते हैं। इसमें भी फेरिंक्स के क्षेत्र में सूजन होकर अथवा न होकर कष्टप्रद श्वास-प्रश्वास के लक्षण प्रकट होते हैं। फेरिंक्स की दीवाल में निकली हुई रसौली से पीड़ित एक रोगी में नाक से खूब रक्त बहना, सिर को थोड़ा नीचे लटका कर रखना, गर्दन का प्रसार, खुला हुआ मुंह, तथा मुह खोलकर जोर से सांस लेना आदि लक्षण उपस्थित थे। ऐसे रोगी का जब मुह बंद कर दिया गया तो दोनों नथुनों से बराबर वायु निकलने लगी। नथुनों में कैथीटर घुसेड़ने पर नासा-मार्ग में कोई रुकावट न मिली।

ग्रसनी की दीवाल में ऐक्टीनोवैसिलोसिस का ठीक स्थान ज्ञात करना काफी कठिन होता है। इसकी वृद्धि ½ से 1 इंच व्यास में चहुँतरफा हो सकती है। इस बीमारी का प्रमुख लक्षण कष्टप्रद श्वास-प्रश्वास है।

गायों में, प्रत्यग्रग्रसनी टिसुओं में रसौलियों की भांति फेफड़ों की तान्त्रिका ततुमयता (neurofibromatosis) भी श्वास-कष्ट उत्पन्न कर सकती है।

उग्र श्लेष्मल कंठशोथ

(Acute Catarrhal Laryngitis)

(उग्र कंठार्ति)

कारण—यह रोग स्वतंत्र रूप से सर्दी के साथ तथा गलग्रथिल रोग अथवा इनफ्ल्यूएंजा जैसी छूतैली बीमारियों के परिणामस्वरूप हुआ करता है। सर्दी की भांति प्रकोप करने वाली तीव्र कंठशोथ घोड़ों में प्रायः स्थानिकमारी के रूप में हुआ करती है। पशुओं में गलघोटू रोग के प्रकोप के समय कुछ रोगियों में केवल कंठार्ति अथवा सर्दी के लक्षण ही देखने को मिलते हैं। कभी कभी अधिक ठंड लग जाने अथवा भीग जाने के कारण सर्दी लग जाने से पशुओं में यह रोग प्रकोप करता है। धूल, गंदगी तथा जीवाणु आदि भी कभी कभी इसका कारण बनते हैं। अफारा अथवा गले में कोई रुकावट होने पर लापरवाही से कंठ-नलिका का प्रयोग इस रोग को और भी जटिल बना देता है।

लक्षण—रुक-रुक कर सूखी खांसी आना इस बीमारी का प्रधान लक्षण है। यह बार बार तथा भयंकर हो सकती है तथा ठंड, वायु और धूल से और भी तेज हो जाती है। कभी कभी नाक से स्राव बहता है तथा लिम्फ ग्रंथियों में सूजन आ जाती है। बीमारी के उग्र रूप (इनफ्ल्यूएंजा) को छोड़कर अन्य अवस्थाओं में रोगी में बुखार तथा सामान्य लक्षण अनुपस्थित रहते हैं। ढोरों में यह रोग प्राय. श्वासनली तथा ब्रोंकाई की सर्दी के साथ हुआ करता है। पशुओं; विशेषकर गायों में; खुला हुआ मुह, जीभ का बाहर निकलना, सिर का नीचे की ओर लटकाकर रखना आदि लक्षण कभी कभी पशु-पालक को इस बात का संदेह कराते हैं कि पशु के गले में रुकावट है। श्वासनली की श्लेष्मल झिल्ली पर सूजन आ जाने के कारण पशु सांस लेते समय खर्राटे की आवाज़ करता है। बीमारी की अवधि

एक सप्ताह से लेकर दस दिन तक की है। रोग से पीड़ित पशु अच्छे हो जाते हैं, किन्तु खासी सप्ताहों तक चल सकती है।

चिकित्सा—रोगी पशु को ठंड, नमीयुक्त थपेडेदार हवा लगने वाले बाडों में न बांधिए। भीगी तथा ठंडी जलवायु में रोग और भी उग्र रूप धारण कर लेता है। आधा औंस क्रियोलीन जैसी ओषधियों को उबलते हुए पानी में डालकर रोगी को बफारा देने से काफी आराम मिलता है। छोटे-छोटे बाड़ों में ओषधियुक्त पानी का एक बर्तन में भरकर स्टोव पर खौलता हुआ रखा जा सकता है। टिंचर बेन्जोइन, यूकलिप्टस का तेल तथा तारपीन का तेल आदि बफारा देने के लिए अन्य अच्छी ओषधियां हैं। बर्फ की पट्टी देने से और भी शीघ्र आराम मिल सकता है। कुछ रोगियों को गर्म सेंक अथवा पुल्टिस के प्रयोग से अधिक आराम मिलता है। कुछ तीव्र (sub acute) तथा दीर्घकालिक अवस्थाओं को छोड़कर अन्य में सरसों की स्प्रिट तथा हल्के प्रतिदाहकों (mild blisters) का प्रयोग सदेहात्मक है। रोग के प्रारम्भ में दर्दयुक्त खांसी से आराम पाने के लिए शामक एवं कफनाशक (sedative & expectorants) ओषधियों का प्रयोग गुणकारी है। घोड़े के लिए 1-2 ड्राम (4-8 ग्राम) डोवर्स (Dover's) पाउडर नित्य तीन बार, अथवा प्रति घंटे 1 ग्रेन (0 06 ग्राम) एपोमारफीन हाइड्रोक्लोराइड अथवा 2-4 ड्राम (8-16 ग्राम) टारटार इमेटिक बाल्टी भर पानी में प्रात तथा सांय, अथवा 1/4 ग्रेन (0 015 ग्राम) ऐट्रोपीन सल्फेट देने से आशातीत लाभ होता है।

इपीकाकुन्हा	1 ड्राम	(4 ग्राम)
ऐंटि० एट० पाटा० टारटैटिस	1 ड्राम	(4 ग्राम)
सिरप टोलू	4 औंस	(120 घ० सें०)

सबको मिलाकर चटनी के रूप में घोड़े का एक औंस (30 घ० सें०) की मात्रा में दिन में चार बार चटाओ।

अर्क बेलाडोना	1 औंस	(30 घ० सें०)
ऐंटि० एट० पोटा० टारटैटिस	4 ड्राम	(16 ग्राम)
सिरप	1 पिंट	(500 घ० सें०)

मिश्रण बनाकर घोडे अथवा गाय को एक औंस (30 घ० सें०) की मात्रा में प्रति दो घंटे के अवकाश पर दो।

तेज बुखार तथा तीव्र नाड़ी गति के साथ रोग का आक्रमण अधिक प्रचंड होने पर दिन में चार बार 1/2 ड्राम (2 घ० सें०) की मात्रा में टिंचर एकोनाइट का प्रयोग लाभप्रद है। घास तथा गाजर जैसे रसीले चारे खिलाने से रोगी की अपच जल्दी ही ठीक हो जाती है। थोडी-थोडी मात्रा में लवणीय पदार्थों अथवा खनिज तेलों का दैनिक प्रयोग भी गुणकारी है। क्षोभक दवाओं के प्रयोग अथवा लापरवाही से दवा पिलाने से पशु का गला रुंध कर उसको प्राणघातक निमोनिया हो सकती है।

चिरकारी कंठशोथ

(Chronic Laryngitis)

(दीर्घकालिक कंठार्ति)

कारण—पालतू पशुओ मे दीर्घकालिक कठशोथ कम होती है। घोडों तथा गायों को एक विकीर्ण रोग अथवा महामारी की भाति प्राथमिक श्लेष्मल अवस्था में इसकी छूत लगती है। फेफडो के क्षय अथवा अन्य दीर्घकालिक रोगो के परिणामस्वरूप भी यह रोग गौण रूप में हो सकता है। कठ की ऐक्टीनोबैसिलोसिस अथवा प्राइमरी क्षयरोग के रूप में भी इसका प्रकोप हुआ करता है।

लक्षण—जाडे की ऋतु में पशुशाला में बाँधे गये ढोरो में रोग का विकास होकर यह यूथ के अधिकाश पशुओ को रोग ग्रसित करता है। इसका प्रधान लक्षण खाँसी है जो कि धीरे-धीरे विकसित होकर तब तक पशुओ मे मौजूद रहती है जब तक कि वे चरागाह पर जाना प्रारम्भ नही कर देते। कुछ में कष्टप्रद श्वास-प्रश्वास तथा शारीरिक क्षीणता के लक्षण प्रकट हो सकते हैं। स्वर-यन्त्र में गुलिकाओ (tubercles) की उपस्थिति के कारण धीरे-धीरे गले में रुकावट उत्पन्न होकर रोगी पशु को सास लेने में कठिनाई होती है। रोग प्राय अच्छा हो जाता है किन्तु गर्म मौसम के प्रारम्भ होने से पूर्व कोई आशातीत लाभ नही प्रतीत होता। गलग्रथिल रोग अथवा ग्रसनीशोथ के आक्रमण के बाद पशु कठार्ति का शिकार हो सकता है जो कि घोडो में तभी प्रकट होती है जब वे काम पर होते है। यह रोग सप्ताहों अथवा महीनो तक चल सकता है। यह लक्षण वर्थ[1] (Wirth) द्वारा बताए गए हैं जिन्होंने कठदर्शी (laryngoscope) की सहायता से ग्रसनीशोथ के अनेको रोगियो की जाँच की। ऐसे परीक्षण ग्रसनी तथा गलगर्तों की लिम्फ ग्रथियो में सूजन एव फोडों का होना सिद्ध करते हैं। गलगर्तों की लिम्फ ग्रथियाँ फेरिंक्स की पिछली दीवाल तथा गलगर्त की श्लेष्मल झिल्ली के मध्य एरिटिनाइड कार्टिलेज के ऊपर स्थित रहती हैं। सूजन का देर से ठीक होना रोगी के गले में अवरोध तथा श्वास कष्ट का कारण है। अज्ञात कारणवश होने वाली दीर्घकालिक कठार्ति से पशु लगातार खासता है। घोडो में अधिकतर ऐसा होता देखा जाता है जिससे कि उनमें साँस फूलने का सदेह होने लगता है। गायो में ऐसे लक्षण क्षय रोग का सूचक है। स्वरयन्त्र अथवा वायुनली के ऊपरी छल्लो पर थोड़ा सा दबाव डालने पर पशु को खाँसी उभड़ सकती है। महीनो तक खासने के उपरान्त मरी हुई गाय में स्वरयन्त्र की श्लेष्मल झिल्ली पर एक छोटा सा रक्त सकुलित क्षेत्र पाया जाता है। वर्थ की रिपोर्ट के अनुसार कठदर्शी से देखने पर दीर्घकालिक कठार्ति में श्लेष्मल झिल्ली मोटी, खुरदरी तथा भद्दी दिखाई देती है। ब्रिटन[2] (Britton) ने बताया कि कैलीफोर्निया में बकरी के बच्चों तथा मेमनो को अधिक जई, जौ अथवा अन्य ऐसे ही खाद्य खिलाने पर उनके सॉकुरों मे एरिटिनाइड कार्टिलेज पर घाव बनकर उन्हें दीर्घकालिक कठशोथ हो जाती है।

चिकित्सा—उत्तेजक एव कफनाशक औषधियाँ लाभप्रद है फिर भी इनके प्रयोग से कोई चमत्कारी प्रभाव नहीं होता। सर्दी-जुकाम में प्रयोग होने वाले कपूर तथा अमोनिया

के 500 घ० सें० मिश्रण में एक-एक औंस (30 ग्राम) नौसादर तथा अर्क बेलाडोना मिलाकर पशु को दिया जा सकता है। एक ड्राम (4 ग्राम) की मात्रा में 2-3 सप्ताह तक नित्य पोटासियम आयोडाइड का प्रयोग घोड़ा में किसी हद तक गुणकारी सिद्ध हुआ है। 30 ग्राम सोडियम आयोडाइड को 500 घ० सें० डिस्टिल्ड वाटर में मिलाकर अंत शिरा इन्जेक्शन दिया जा सकता है। डा० ला (Dr Law) के अनुसार अलसी चूर्ण, शीरा तथा एक ड्राम अर्क बेलाडोना की चटनी बनाकर एक बड़ चम्मच भर पशु को दिन में दो बार चटाने से पुरानी खाँसी ठीक हो जाती है। कभी कभी गले पर सरसों की पुल्टस अथवा हल्के क्षोभक पदार्थों का लेप भी लाभदायक सिद्ध होता है। ठंडे तथा नमीयुक्त बाड़ों से ऐसे रोगियों को हटा लेना शीघ्र आराम पहुँचाता है। निम्नलिखित नुस्खा भी दिया जा सकता है

ऐंटिमोनियम एट पोटासियम टारट्रेट	10 ड्राम	(40 ग्राम)
चूर्ण ग्लसराइजा	10 ड्राम	(40 ग्राम)
चूर्ण जुनिपर	2 5 औंस	(75 ग्राम)
अमानियम क्लोराइड	2 5 औंस	(75 ग्राम)

सबको मिलाकर मिश्रण बनाकर एक बड़े चम्मच भर (15 ग्राम) रोगी को दिन में तीन बार खिलाओ।

सदर्भ

1 Stang and Wirth, Tierheilkunde und Tierzucht Berlin, Urban and Schwarzenberg, 1926, vol 3 p 2₀4 Wirth D, New knowledge of the nature and treatment of pharyngitis of the horse, and abstract, Cornell Vet, 1936, 26, 128

2 Britton, J W, Further observations on chronic ovine laryngitis, cornell Veterinarian, 1915, 35, 213

कंठद्वार की सूजन

(Edema of the glottis)

(शोथपूर्ण कंठार्ति, स्वरयंत्र की सूजन)

परिभाषा—कभी-कभी स्वतन्त्र रूप में तथा अधिकतर गले की सूजन के साथ होने वाली कंठनाल की श्लेष्मल झिल्ली तथा सबम्यूकोजा की यह एक विसृत शोथ है। पशुओं में इसका प्रकोप अधिक हुआ करता है।

कारण—(अ) सुअरों में ऐंथ्रास तथा ढोरों में लगड़ी रोग, (ब) घोड़ा में रक्तस्राव तथा दुर्दम्य घाव, (र) किसी धातु तार अथवा काँच का निगलना, कंठ नलिका का गलत उपयोग तथा स्वरयंत्र की दीवाल में फोड़ा की उपस्थिति, (द) क्लोरोफार्म जैसे तेज द्रव सूँघने के बाद, (य) ढोरों में ज्वर पित्ती (Urticaria), (र) गल ग्रंथिल रोग तथा (ल) सीरम अथवा जीवाणुगत पदार्थ (बैक्टरिन) के इन्जेक्शन के बाद एनाफिलैक्सिस लक्षण के रूप में तथा सुअरों में कुछ अनविज्ञ कारणों के कारण यह रोग प्रकोप करता है।

लक्षण—छूत लगने पर सूजन के वेग के अनुसार इस रोग का विकास एकाएक अथवा धीरे-धीरे होता है। क्षोभक पदार्थों (irritants) के सूंघने के बाद बीमारी का प्रकोप एकाएक होकर शीघ्र ही समाप्त हो जाता है। जोर-जोर से साँस खींचना इसका प्रमुख लक्षण है। रोग के उग्र रूप में रोगी की दम घुट कर मृत्यु हो जाती है। जब इसका कारण छूतदार जीवाणु होता है अथवा जब यह किसी छुतैली बीमारी का एक भाग बनकर प्रकोप करती है तो इसका फलानुमान अच्छा नहीं होता। स्वरयंत्र के अन्य रोगों का विकास धीरे-धीरे होता है।

घोड़ के एक उदाहरण में जो कि लगभग 48 घंटे बाद मरा, पशु एक सप्ताह तक घुड़साल में रहा और उसमें गलग्रंथिल रोग के भूतपूर्व आक्रमण की भी सम्भावना थी। पशु को श्वासकष्ट था तथा गले पर छूने से स्पष्ट सूजन का अनुभव होता था। स्वरयंत्र के ऊपर थोड़ा सा दबाव डालने पर पशु जोर से धांसता था जिससे कि दम घुटने का भय होता था। यद्यपि कि उसके शरीर से पसीना निकलता था फिर भी उसकी हालत तथा खान-पान में रुचि अच्छी थी।

पहले कुछ लोगों का ऐसा विचार था कि गाय में श्वासकष्ट तथा गले पर हल्की सूजन कंठनालीय ग्रसनीशोथ (laryngopharyngitis) के कारण होती है। कुछ घंटों में ऐसे रोगी की दम घुटकर मृत्यु हो जाती है। एपिग्लाटिस के निचले किनारे पर एक ऐसा महीन छिद्र दिखाई देता था जैसे कि पीछे की ओर टिसुओं में एक तार घुसा हुआ हो। किन्तु तार न पाया जा सका। इस नलिकाकार घाव के चहुंतरफा अनेक छोटे-छोटे फोड़े थे। श्वासावरोध (inspiratory stertor) से पीड़ित एक दूसरी गाय में जिसका कि विविध परीक्षण करने पर भी रोग के कारण का पता न लग सका, लाश को चीरकर देखने पर स्वरयंत्र एवं ग्रसनी के बीच की दीवाल पर गहराई में अनेक फुन्सियां मिली।

एक तीसरी गाय में; गले के दोनों ओर सूजन, श्वासावरोध (घर्घराहट) तथा व्यग्रता के लक्षण मिले। मैगसल्फ की गर्म पुल्टस चढ़ाने तथा बाद में उस स्थान पर लिनि-मेण्ट की मालिश करने से आशातीत लाभ हुआ। किल्हम[1] (Killham) के अनुसार सुअर को सींकुरयुक्त जौ खिलाने से उसके कंठद्वार पर सूजन आकर, उसकी मृत्यु का कारण बनती है। कैलीफोर्निया में फोड़े बनने तथा कंठद्वार की प्राणघातक सूजन के साथ दीर्घकालिक कंठशोथ कैमरन और ब्रिटन[2] (Cameron and Britton) द्वारा वर्णन की गई। यह बीमारी केवल शुद्ध नस्ल के एक वर्षीय मेढ़ों में देखी गई जो कि पतझड़ के अन्त तथा जाड़े में पूर्ण राशन पर रखे गये थे और इसका कारण सींकुरयुक्त जई तथा जौ को क्षुधातुर होकर खाना था। कंठनालीय स्नायु (laryngeal ligaments) का दीर्घकालिक अपक्षय होने के कारण घोड़ों में श्वासकष्ट उत्पन्न होना, कंठद्वार में सूजन होने का संदेह कराता है।

चिकित्सा—तुरन्त आराम के लिए श्वास-नली में छिद्र करने वाली नलिका घुसेड़ दीजिए। ज्वर-पित्ती तथा एनाफिलैक्सिस में 1 से 4 ग्राम (4-16 घ० सें०) की मात्रा में एड्रीनलीन का प्रयोग शीघ्र आराम पहुंचाता है। रोगी को बफारा देने अथवा गले पर

गर्म सेंक या बर्फ की पट्टी देने से भी काफी आराम मिलता है। कुछ रोगियो में 1-2 ड्राम (4 8 ग्राम) की मात्रा में पोटास आयोडाइड का प्रयोग भी गुणकारी सिद्ध हुआ है। सोडियम आयोडाइड (30 ग्राम 500 घ०सें० डिस्टिलड वाटर में) का अंत शिरा इंजेक्शन भी दिया जा सकता है। ऐट्रोपीन सल्फेट भी आराम पहुचा सकता है। ऐंथ्राक्स तथा लगड़िया जैसी छूतैली बीमारियो के प्रकोप के प्रारम्भकाल में प्रतिजैविक पदार्थों तथा सीरम का प्रयोग लाभदायक है।

सदर्भ

1 Killham, B J, Membraneous laryngitis in swine due to barley awns, Vet. Med, 1919, 14, 85, and 262

2 Cameron. H S, and Britton J W, Chronic ovine laryngitis cornell, Vet, 1943, 33, 265

कफपाक कंठशोथ

(Croupous Laryngitis)

(क्रूप)

परिभाषा—कफपाक कठशोथ को श्लेष्मल झिल्ली की सूजन, कष्टप्रद श्वास-प्रश्वास तथा नाक से डोरे की भाति स्राव गिरना आदि लक्षणो से पहचाना जाता है। अधिकतर यह श्वास-नली को सलग्न करती है। प्रमुख रूप से 6 माह से एक वर्ष की आयु के ढोरो में प्रकोप करने वाली बीमारी है जो कुछ स्थानो तक ही सीमित रहती है। सम्भवत यह एक छूतदार रोग है किन्तु अभी तक इसका कोई बैक्टीरियल कारण नही पता लग सका है। नमी, इसके विकास को उत्तेजित करती मालूम पडती है। इसके क्षतस्थल कभी-कभी कठनाल में भी देखने को मिलते हैं। श्वास-नली तथा नथुनों में अत्याधिक गदला स्राव उपस्थित रहता है तथा श्लेष्मल झिल्ली बुरी तरह सूज जाती है। पशु को निमोनिया भी हो सकती है।

लक्षण—शुष्क, दर्दयुक्त तथा अति तीव्र खासी के साथ यह रोग एकाएक प्रकोप करता है। पशु को सांस लेना कठिन हो जाता है। रोगी को 105° फारेनहाइट तक तेज बुखार होकर उसकी श्वास व नाडी गति तीव्र तथा श्लेष्मल झिल्लिया रक्तवर्ण हो जाती हैं। खासने पर कफ के टुकडे निकलते हैं। पशु की हालत बड़ी ही दयनीय होकर दम घुटने का भय रहता है। यदि तत्काल उपचार न हो पाया तो शीघ्र ही बेहाल होकर पशु की मृत्यु हो जाती है। प्रारम्भ में यदि रोगी दम घुटने से बच जाता है तो बाद में वह रुधिर विषाक्तता से मर जाता है। जून के अन्तिम दिना में कफपाक कठशोथ से आक्रमणित एक 6 वर्षीय गाय में रोग का एकाएक प्रकोप, तेज बुखार, अत्याधिक श्वासकष्ट तथा दम घुटने के लक्षण पाये गये। दो दिनों के बाद अत्याधिक खासी के साथ लगभग 4 इंच लम्बे कफ के मोटे टुकडे निकले। ठीक होने तक रोग की कुल अवधि लगभग एक सप्ताह की थी।

निदान—पहले इस बात का पता लगाना चाहिए कि कंठनाल में किस प्रकार की सूजन मौजूद है। बछडों में स्वरयंत्र की भयंकर शोथ उनमें डिप्थीरिया, सुअरों में ऐंथ्राक्स, तथा घोड़ों में ऐंथ्राक्स अथवा रक्तस्राव होने का अनुमान कराती है।

चिकित्सा—श्वास-कष्ट से आराम पाने के लिए बफारा देना अति गुणकारी है। इसके साथ ही गले पर गर्म अथवा ठंडी पट्टी देने से और भी शीघ्र लाभ होता है। दम घुटने से बचाव का अंतिम उपचार श्वासनली छेदक नलिका का घुसेड़ना है। कंठद्वार की सूजन की चिकित्सा की भांति इसका भी लाक्षणिक इलाज वही है। एपोमारफीन का प्रयोग भी गुणकारी है।

परिगलित कंठशोथ

(Necrotic Laryngitis)

(बछड़ों का डिफ्थीरिया रोग)

ऐक्टीनोमाइसीज नक्रोफोरस (Actinomyces necrophorous) से होने वाली परिगलित कंठशोथ बछडों की एक अत्यन्त प्राणघातक बीमारी है जिसे गहरे परिगलन से पहचाना जाता है। किंगमैन[1] (Kingman) की रिपोर्ट के अनुसार वायोमिंग (Wyoming) में यह रोग प्रमुख रूप से 500-100 पौण्ड शरीर भार वाले युवा पशुओं में ही होता है। यह विकीर्ण अथवा स्थानिकमारी के रूप में प्रकोप कर सकता है। वैसे तो यह रोग स्वतंत्र रूप से धीरे धीरे फैलने वाली छूतदार बीमारी की भांति साफ बाड़ों में रहने वाले छोटे बछड़ों में भी हो सकता है किन्तु अधिकतर यह परिगलित मुखार्ति के साथ दूषित वातावरण में रहने वाले पशुओं को ही हुआ करता है। एल्डर[2] (Elder) ने बताया कि खुरदरे चारे, कांटे, जौ के सीकुर, गोखुरु आदि के खाने से भी गले में चोटें लग सकती हैं। रोग के क्षतस्थल तथा कारण लगभग वही हैं जो बछडों में परिगलित मुखार्ति (necrotic stomatitis) के होने पर हुआ करते हैं किन्तु यह अधिक प्राणघातक है। पूर्वी प्रदेशों में यह बीमारी यदा-कदा ही देखने को मिलती है। यद्यपि कि रोग का कारण प्रमुख रूप से दूषित वातावरण तथा गंदा चारा बताया गया है, किन्तु न्यूयार्क में यह बीमारी प्रायः बहुत ही अच्छे व साफ-सुथरे वातावरण में रहने वाले पशुओं में पाई जाती है। चरागाहों पर चरने वाले पशुओं में यह रोग यहाँ नहीं देखा गया। वैसे तो यह बीमारी किसी भी समय हो सकती है किन्तु जाड़े की ऋतु में इसका प्रकोप अधिक होता है। जैसा कि फाकर्सन[3] (Farquharsan) ने वर्णन किया है राकी पर्वतीय क्षेत्र में यह रोग 6 से 15 महीने की आयु वाले पशुओं में अधिक होता है तथा बड़े पशुओं में कभी कभी देखने को मिलता है। जाड़े तथा बसंत के महीनों में प्रकोप करने वाला यह रोग डेरी तथा मांस उद्योग को भारी आर्थिक क्षति पहुँचाता है। पश्चिम में प्रतिवर्ष यह रोग धीरे धीरे बढ़ता चला जा रहा है।

विकृत शरीर रचना—कंठ तथा एपिग्लाटिस एक पीवयुक्त सफेद पदार्थ से इस प्रकार ढक जाते हैं कि उनका द्वार ही बंद हो जाता है। सड़ा हुआ मांस बढ़कर टिशुओं

में अन्दर की ओर घुस जाता है। क्षतस्थल या तो स्वरयंत्र तक ही सीमित रहते हैं अथवा परिगलित मुखार्ति और निमोनिया से मिलते-जुलते हो सकते हैं।

लक्षण—अति तीव्र तथा कष्टप्रद श्वास प्रश्वास, दर्दयुक्त गीली खांसी, तथा 105 डिग्री फारेनहाइट तक तेज बुखार जैसे लक्षणो के साथ इस रोग का एकाएक आक्रमण होता है। बछडा या तो पूरा दूध पी लेता है अथवा बिल्कुल ही नही पीता। गले का निरीक्षण करने पर स्वर रज्जुओ (vocal cards) पर भूरे अथवा पीले रग के जम हुए पदार्थ के साथ सडे हुए छाले से दिखाई देते है। ऐसे ही क्षतस्थल मसूडो तथा गालो पर भी मौजूद हो सकते हैं। एक या दो दिन में श्वास-कष्ट होकर निर्बलता विकसित हो जाती है। कष्टप्रद श्वास से छुटकारा पाने के लिए श्वास नली में छेद करने पर पशु कुछ दिनो तक अच्छा होता दिखाई पडता है, किन्तु अन्त में घावो के सड जाने से रुधिर विषाक्तता का विकास होकर रोगी की मृत्यु हो जाती है। एक सप्ताह या दस दिन मे एक दूसरा बछडा भी रोग ग्रसित हो सकता है। यह बीमारी अधिक छुतैली नही है। बीमारी की अवधि, आवेग, गति तथा जटिलता परिवर्तनशील है। हेस्टिग्स[4] (Hastings) द्वारा वर्णित तेज बुखार तथा श्वासकष्ट से पीडित एक माह के बछडे का शव-परीक्षण करने पर जीभ का पिछला भाग, तालू (soft palate) फेरिक्स, स्वरयन्त्र, श्वासनली तथा फेफडे का कुछ भाग सडा हुआ पाया गया। लेखक के चिकित्सालय में एक चार माह का बछडा जिसकी कि निमोनिया तथा परिगलित मुखार्ति के लिए चिकित्सा की गई, लगभग पाच सप्ताह तक गलग्रथिल रोग से पीडित घोडे की भाति लगातार खर्राटे भरता रहा। शव परीक्षण करने पर दाहिने स्वर-रज्जु पर जम हुए पीव का हरापन लिए हुए सफेद रग का एक छोटा धब्बा सा मिला जो वास्तव में एक नलिकाकार गर्त था जिसने कि श्वासनली के पहले छल्ले को पूरी तौर से घेर रखा था। यह नलिकाकार गर्त (नासूर) हरापन लिए हुए सफेद रग के बदबूदार, जमे हुए पीव से भरा हुआ था। दोनो फेफडे निमोनिया से ग्रसित थे।

चिकित्सा—लेखक के विचार से इस रोग की चिकित्सा निराशाजनक रही है किन्तु फाक्सन[5] ने सल्फापाइरीडीन का प्रयोग लाभदायक बताया है। इसके अनुसार प्रति 100 पौण्ड शरीर भार पर 60 घ० सें० 5 प्रतिशत सल्फापाइरीडीन सोडियम का घोल अत सिरा इन्जेक्शन द्वारा देने से अधिकाश रोगी एक ही बार में ठीक हो जाते हैं। इसकी दैनिक मात्रा 45 ग्रेन (3 ग्राम) प्रति 100 पौण्ड शरीर भार है। अत शिरा इन्जेक्शन देते समय इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि पडोस के टिसुओ में दवा प्रवेश न करने पावे। इसके बाद दो तीन दिन तक 1 ग्रेन प्रति पौण्ड शरीर भार पर यह औषधि मुह द्वारा दी जा सकती है अथवा 24 घटे बाद अतशिरा इजेक्शन दोहराया जा सकता है। 3 सप्ताह की आयु वाला इस रोग से पीडित एक बछडा 6 घटे के अवकाश पर 15 ग्रेन (1 ग्राम) सल्फापाइरीडीन खिलाने से ठीक होने लगा। रोग का आक्रमण होते ही चिकित्सा प्रारम्भ कर देनी चाहिए।

हेज तथा राइट[6] (Hayes and Wright) की रिपोर्ट के अनुसार बछडो में डिफ्थीरिया के एक भीषण प्रकोप में सल्फामेयाजीन के प्रयोग से बडे ही अच्छे परिणाम प्राप्त

हुए हैं। दवाई प्रत्येक बछड़े को दो दिन तक नित्य एक बार मुंह द्वारा खिलाई गई। औषधि की मात्रा 3/4 से $1\frac{1}{2}$ ग्रेन प्रति पौण्ड शरीर भार थी। आयोवा स्टेट कालेज में चिवर्स[7] (Chivers) द्वारा चिकित्सा की गई परिगलित कंठशोथ से पीड़ित 14 गायों में आरोमाइसिन का प्रयोग बड़ा ही सफल सिद्ध हुआ। प्रमुख छूत कोरिनेबैक्टीरियम पायोजिनस (Corynebacterium pyogenes) की थी और 6 गायों पर सल्फा-औषधियों तथा पेनिसिलिन का पिछला प्रयोग असफल रहा। औषधि की मात्रा 5 मिलिग्राम प्रति पौण्ड शरीर भार थी जो अंतःशिरा इन्जेक्शन द्वारा 24 घंटे के अवकाश पर दी गई। कभी कभी इसको 500 प्रतिशत तक बढ़ा दिया गया।

सदर्भ

1. Kingman, H. S., and Stansbury, W. M., Treatment of necrophorus infections of cattle with sulfapyridine, N. Am. Vet., 1941, 26, 671.
2. Elder, C., Lee, A. M., and Schrivner, L. H, Necrobacillosis of calves (calf diphtheria), Univ. Wyoming Agr. Exp. Sta. Bull. No. 183, Laramie.
3. Farquharson, James, the use of sulfonamides in the treatment of calf diphtheria, J.A.V.M.A., 1942, 101, 88.
4. Hastings, C. C., Calf diphtheria, N. Am. Vet., May 1936, 17, 34.
5. Farquharson, James, Sulfapyridine in the treatment of calf diphtheria, J.A.V.M.A., 1940, 97. 431.
6. Hayes, A. F. and Wright, G. M., Outbreak of calf diphtheria controlled with sulfamethazine, J.A.V.M.A., 1949, 114, 80.
7. Chivers, W. H., Clinical use of aureomycin in some bovine and equine infections, J.A.V.M.A., 1952, 120, 31.

उग्र श्वासनली शोथ

(Acute Bronchial Catarrh)

(तीव्र श्वासप्रणाल-श्वसनी शोथ)

ब्रोंकाई की उग्र श्लेष्मल शोथ बड़ी नलिकाओं का एक रोग है—साधारण धसका। इसी प्रकार का छोटी नलिकाओं का रोग पहले केशिका श्वसनीशोथ (capillary bronchitis) कहलाया किन्तु अब इसको ब्रोंकोनिमोनिया के रूप में जाना जाता है। सर्दी-जुकाम की भांति खासी भी पतझड़ तथा बसंत के ठंडे नमीयुक्त महीनों में लगभग सभी जाति के पशुओं में प्रकोप करती है। प्रायः यह स्वरयंत्र पर भी कुप्रभाव डालती है।

फारण—कम ऊँचाई के पशु गृह, नमीयुक्त बाड़े, कक्रीट अथवा पत्थर की दीवालें, अधिक भीड़ तथा कम तापक्रम आदि बछड़ों तथा सुअरों में इस रोग के प्रमुख कारण हैं। स्वच्छ वायु की कमी अथवा अनुपस्थिति भी इस पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालती है। युवा पशुओं के लिए बाड़े में रोशनदान की एक और भी विकट समस्या है क्योंकि वे जिस हवा से सांस लेते हैं वह फर्श के निकट से ली जाती है और सकरी दीवारों वाले छोटे छोटे

बछड़ा-गृहो में फर्श तक ताजी हवा लाना काफी कठिन है। यद्यपि कि श्वसनीशोथ एक छूतदार बीमारी है जो कि परस्पर सम्पर्क से फैलती है, फिर भी इसका प्रारम्भ गंदे रहन-सहन व खराब वातावरण पर आधारित होता है। बछड़ों में एक बार प्रकोप करने पर यह रोग संक्रामक हो जाता है। इसके विपरीत कभी कभी इसकी छूत अच्छे व आदर्श वातावरण में रखे गए पशुओं में भी फैलती देखी गई है। इसके जीवाणु-विज्ञान के बारे में अभी बहुत थोड़ा सा ज्ञान प्राप्त हो सका है किन्तु सुअरों में इसका कारण सूकर इन्फ्लुएंजा का एक वाइरस अथवा सूकर-प्लेग का पास्चुरेल्ला जीवाणु अनुमान किया जाता है। सक्रिय जीवाणु शायद वही है जो निमोनिया फैलाते हैं। बछड़ों में यह प्रश्न कि इसका कारण वाइरस है अथवा आमतौर पर पाया जाने वाला पास्चुरेल्ला, अभी तक अनिश्चित है।

अन्य पशुओ में; व्यायाम के बाद गर्म होने पर ठंडी हवा आदि लग जाने, दिन की भीषण गर्मी के बाद रात को ठंडी हवा लगने, बार बार खोले जाने वाले अथवा खुले रहने वाले दरवाजो के सामने खड़ा होने तथा यातायात के परिणामस्वरूप यह बीमारी हो सकती है। कभी कभी नये खरीदे हुए पशु को यूथ में मिला देने से हल्के रूप में यह बीमारी फैलती देखी गई है।

इन्फ्लूएंजा, गलग्रंथिल रोग, गल-घोटू, बछड़ों की निमोनिया, सूकर कालरा, तथा घोड़ों और ढोरों में निमोनिया उत्पादक पुरानी खासी जैसी कुछ छूतैली बीमारियों का उग्र खासी एक लक्षण है। बछड़ो तथा सुअरो में फेफड़ा कृमि रोग (lung worm disease) का भी यह बीमारी एक लक्षण मात्र है। सुअरो और बछड़ो के फेफड़ो में ऐस्केरिड लार्वा की उपस्थिति भी खासी तथा अन्य पल्मोनरी क्षतस्थल उत्पन्न करती है।

लक्षण—भूख की कमी तथा सुस्ती इसके सामान्य लक्षण हैं। गायों म हालत का गिरना तथा दुग्धोत्पादन की कमी हो सकती है। बछड़ों में इसका एकाएक प्रकोप होकर उनमें रक्तवर्ण श्लेष्मल झिल्ली, तेज सास, तेज नाड़ी तथा 103 से 105 फा० तक तेज बुखार के लक्षण प्रकट होते हैं। खासी अधिक होती है जो श्वास-नली के किसी भी भाग पर थोड़ा सा दबाव डालने पर उभड़ सकती है। गायें सिर को नीचा करती, मुह खोलती तथा इस प्रकार जीभ निकालती हैं जैसे कि उनके गले में कुछ अटक गया हो। फेफड़े की छिद्रिल आवाज (vesicular murmur) बढ़ जाती है तथा कुछ शुष्क आवाजें अथवा खर्राटे से सुने जा सकते हैं। वक्ष को थपथपाने से ऋणात्मक परिणाम निकलता है। तीन दिन से एक सप्ताह में रोगी ठीक हो जाता है। गायो में बीमारी की स्थानिकमारी अवस्था में प्रथम तथा प्रमुख लक्षण दबी हुई शुष्क खासी है। लगभग एक सप्ताह में दूसरा पशु खासना प्रारम्भ कर देता है और अत में पूरे यूथ में यह रोग फैलकर दुधारू पशुओं के दूध उत्पादन में कमी कर देता है। कुछ पशुओं में रोग दीर्घकालिक हो जाता है। बछड़ों में जब रोग के अन्य लक्षण समाप्त हो जाते हैं और वे देखने में स्वस्थ दिखाई देते हैं तब भी वे तेज तथा जोर-जोर से सास लेते हैं जिससे कि उनके फेफड़े खराब होने का अनुमान होता है।

निदान—निमोनिया तथा खांसी में अन्तर जान लेना आवश्यक है। नमीयुक्त ठंडे स्थानों में रहने से जब खांसी का विकास होता है तो यह प्रायः निमोनिया में परिणित हो जाती है। निमोनिया को तेज नाड़ी गति, तीव्र श्वसन, बुखार, सुस्ती तथा भूख की कमी आदि लक्षणों से पहचाना जाता है। उग्र खांसी में अकेले यही लक्षण निमोनिया का निदान कराते हैं। जब छिद्रिल आवाज में विशेष परिवर्तन हो अथवा शुष्क आवाज सुनाई दे तब तो निदान पक्का ही हो जाता है। बछड़ों में निमोनिया के हल्के प्रकोप को उग्र खासी से अलग पहचानना काफी कठिन हो जाता है। खासी को निमोनिया बताना एक सामान्य भूल है। बछड़ों तथा सुअरों में फफड़ा कृमि रोग को गलती से उग्र अथवा पुरानी खासी समझा जा सकता है। यूथ में नयी गायों के प्रवेश से फैलने वाली खासी का प्रकोप लगभग हल्केपन के गलघोटू रोग से मिलता-जुलता है।

चिकित्सा—रोगी को शुष्क तथा गर्म बाड़े में रखकर पूरा आराम देना चाहिए। अच्छे मौसम में रोगी को एक ओर खुले हुए बाड़े में भी रखा जा सकता है। प्रतिश्याय की भांति अमोनियम क्लोराइड तथा अमोनियम कार्बोनेट के प्रयोग से खासी ठीक हो सकती है। औषधियुक्त भाप का बफारा देना भी गुणकारी है। शुष्क तथा परेशान करने वाली खासी में घोड़े को 1 से 2 ड्राम (4–8ग्राम) की मात्रा में दिन में तीन बार डोवर्स पाउडर देना चाहिए। शमक तथा कफनाशक औषधियों में 8 ग्रेन (0 5 ग्राम) की मात्रा में दिन में तीन-चार बार पाइलोकारपीन हाइड्रोक्लोराइड का प्रयोग सर्वोत्तम है। अन्य शमक तथा कफनाशक औषधियाँ निम्न प्रकार है :

इपीकाक	30 ग्रेन (2 ग्राम)
ऐंटि० एट पोटा० टार्ट०	30 ग्रेन (2 ग्राम)
सिरप	4 औंस (120 घ० सें०)

सबको मिलाकर एक औंस (30 घ० सें०) की मात्रा में दिन में चार बार गाय अथवा घोड़े को चटाओ।

अर्क बेलाडोना	1 औंस (30 घ० सें०)
ऐंटि० एट पोटा० टार्ट०	4 ड्राम (16 ग्रा०)
सिरप	1 पिंट (500 घ० सें०)

सबको मिलाकर एक औंस की मात्रा में प्रति दो घंटे पर गाय अथवा घोड़े को चटाओ।

श्वास-नली के अन्य रोगों की भांति बड़े पशुओं को 1,500,000 से 3,000,000 यूनिट की मात्रा में नित्य प्रोकेन पैनिसिलिन का इन्जेक्शन देना चाहिए। दो-तीन दिन तक 1 ग्रेन प्रति पौण्ड शरीर भार की मात्रा में सल्फामेथाजीन का खिलाना भी लाभप्रद है। 1 मिलीग्राम प्रति पौण्ड शरीर भार की मात्रा में प्रतिदिन टेरामाइसिन का अतः शिरा इन्जेक्शन भी दिया जा सकता है।

यदि सम्भव हो तो प्रथम आक्रमणित रोगी को अन्य पशुओं से अलग कर दीजिए। बीमारी के प्रकोप के समय यूथ में कोई नया पशु न मिलाइए।

चिरकारी श्वासनली शोथ

(Chronic Bronchitis)

(पुरानी खांसी, दीर्घकालिक धसका)

कारण—वैसे तो उग्र खासी होने के बाद पशु का प्राइमरी चिरकारी खांसी हो सकती है, किन्तु प्राय यह प्रारम्भ से ही दीर्घकालिक हुआ करती है। बहुधा यह क्षय रोग, ग्लाडर्स, फेफड़ा कृमि रोग, दमा तथा गायों में फुफ्फुस-फोडा जैसी फेफड़ों की दीर्घकालिक बीमारियों के फलस्वरूप ही प्रकोप करती है। गायों में दीर्घकालिक खासी क्षय रोग का द्योतक है, किन्तु इस प्रजाति में यह अविशिष्ट संक्रमण के रूप में स्वतंत्र रूप से भी प्रकोप कर सकती है।

विकृत शरीर रचना श्वास-नली की श्लेष्मल झिल्ली मूज कर तथा रक्तवर्ण होकर श्लेष्मा से आच्छादित रहती है। फेफड़ों में छोटी छोटी फुसिया मौजूद होती हैं। घोड़ों में फेफड़े दमा की भांति ही फूल जाते हैं।

लक्षण—गौण चिरकारी श्वासनली शोथ के लक्षण प्राइमरी रोग की प्रकृति तथा वेग पर आधारित होते हैं। बहुधा इस अवस्था में खासी, असामान्य श्वसन-आवाजें तथा गिरी हुई हालत आदि लक्षण दिखाई देते हैं। प्राइमरी दीर्घकालिक खासी गीली और कम हो जाती है। यह कभी भी दर्दयुक्त नहीं होती और श्वास-नली के किसी भी भाग पर थोड़ा सा दबाव डालने पर इसे उभाड़ा जा सकता है। सास बड़ी तेजी से चलती है। जोर-जोर की महीन आवाजें सुनाई देती हैं। अन्त में पशु का शरीर-भार कम हो जाता है। हवा में पशु का घूमना फिरना हालत को और भी खराब कर देता है। अच्छी परिस्थितियों में कुछ ही सप्ताहों अथवा महीनों में रोगी ठीक हो जाता है। कभी-कभी बीमारी की छूत फेफड़ा में भी पहुँच जाती है। पशु तब जीर्ण शीर्ण दिखाई देता है। उसे थोड़ी गीली खासी होती तथा गड़गड़ाहट की आवाजें और भी साफ सुनाई देती हैं। अधिक रोग ग्रसित पशु में काफी मात्रा में पीवयुक्त स्राव बहता है, जो घोड़ों के नथुनों पर दिखाई देता है, किन्तु गायें इसे निगल लेती हैं।

निदान—ब्रोंकान्यूमोनिया तथा दमा से इसका विभेदी निदान करना आवश्यक है। गायों में रोगी पशुओं का सम्पर्क, ट्यूबरक्युलिन के प्रति प्रतिक्रिया देखकर तथा नाक से निकलने वाले स्राव का गिनी पिग में इन्जेक्शन देकर फेफड़ों के क्षयरोग पर विचार करना चाहिए। सभी प्रकार की पुरानी खासी में फुफ्फुस वातस्फीति अथवा निमोनिया की फुन्सियां या दोनों से फेफड़े खराब हो जाते हैं।

चिकित्सा—चरागाह पर गर्मी बिताना अर्थात् गर्मियों में पशुओं को चरागाह पर चराना इसका सर्वोत्तम इलाज है। जाड़ों भर उत्तेजक कफ नाशक औषधियाँ, कड़वे टानिक तथा अच्छे आहार का प्रयोग गुणकारी है। श्वास-नली के अन्य सभी रोगों की भाति रोगी को खराब मौसमों से बचाना चाहिए। निम्नलिखित कफ नाशक औषधियाँ

लाभदायक हैं : अमोनियम कार्बोनेट, अमोनियम क्लोराइड तथा कपूर युक्त कफ नाशक नुस्खे जिनका सर्दी लगने पर प्रयोग किया जाता है ।

ऐंटिमोनियम एट पोटा० टारट्रेट	1 औंस	(30 ग्राम)
अमोनियम क्लोराइड	3 औंस	(90 ग्राम)
चूर्ण जुनिपर	3 औंस	(90 ग्राम)

सबको मिलाकर एक बड़े चम्मच भर (15 ग्राम) चारे में मिलाकर पशु को दिन में तीन बार खिलाओ ।

कैल्शियम हाइड्राक्साइड	16 औंस	(500 ग्राम)
सैल कैरोलिनी फैक्टिटाइ (sal carolini factitii)	16 औंस	(500 ग्राम)
आर्सेनिक ट्राइआक्साइड	10 ड्राम	(40 ग्राम)
लोबलिया	4 औंस	(120 ग्राम)
बेलाडोना	1 औंस	(30 ग्राम)

सबको मिलाकर एक चम्मच भर (15 ग्राम) घोड़े को दिन में तीन बार खिलाओ ।

फेफड़ों का सक्रिय संकुलन

(Active Congestion Of The Lungs)

अंग्रेज तथा अमेरिकन लेखक आमतौर पर फेफड़ों में स्वतंत्र रूप से इस रोग का प्रकोप होने से सहमत नहीं है, क्योंकि वे इसे एक लाक्षणिक रोग मानते हैं । फिर भी पशु चिकित्सकों को निमोनिया के प्रारम्भ काल में घोड़ों तथा ढोरों में एक ऐसी अवस्था मिलती है जिसकी चिकित्सा तथा निदान सक्रिय संकुलन के रूप में किया जाता है ।

ढोरों तथा भेड़ों में यह रोग यूगोस्लैविया में कुसेल (Kucel) (ऐब्सट्रैक्ट वेटेनरी बुलेटिन 1937, 7, 627) द्वारा रिपोर्ट किया गया । वसंत की ऋतु में जब पशु पहली बार चरागाह पर गए तब इस रोग को देखा गया और यह मौसम के आकस्मिक परिवर्तन से संबंधित था । शरीर में ऐंठन, कष्टप्रद श्वास-प्रश्वास, ज्वर तथा अपच के साथ यह रोग एकाएक प्रकट हुआ । ऐंथ्रक्स से मिलती-जुलती फुफ्फुस शोथ इसका प्रमुख क्षतस्थल पाया गया ।

कारण—शरीर में तूफानी हवाओं का लगना, ठंडे पानी में भींगना, जाड़े की रातों में ठंड लग जाना, जाड़े की ऋतु में पशुओं का यातायात, निमोनिया की प्रथमावस्था, गर्म वायु अथवा तेज गैसों का नाक में प्रवेश पाना तथा अत्यधिक कार्य के कारण थकावट आदि इस रोग के प्रमुख कारण हैं । यह एक जाड़ों की ऋतु की बीमारी है ।

विकृत शरीर रचना—पशु की मृत्यु होने पर निमोनिया की प्रारम्भिक अवस्था की भांति ही परिवर्तन पाये जाते हैं । फेफड़े फैल कर लाल अथवा काले रंग के हो जाते हैं और इनमें बहुत ही अधिक मात्रा में रक्त भरा मिलता है । काटने वाली सतह पर काला रक्त अथवा सीरम निकलता है । पानी में इसके टुकड़े डालने पर या तो वे डूब जाते हैं

अथवा सतह के नीचे तैरते रहते हैं। माइक्रोस्कोप में देखने पर रक्त कोशिकाएँ फूली हुई तथा वायु कोष्ठिकाओं में थोड़ा सा सीरम, फाइब्रिन अथवा कोशिकाएँ भरी मिलती हैं।

लक्षण—रोग के लक्षण पशु की जाति तथा बीमारी के प्रकोप के अनुसार भिन्न होते हैं। घोड़ों में दिन के कठिन परिश्रम के बाद रोग का आक्रमण प्रायः रात को हुआ करता है। रोगी में सुस्ती, भूख की कमी, कभी-कभी बेचैनी, उदर शूल तथा तेजी से साँस खींचना आदि लक्षण दिखाई पड़ते हैं। निमोनिया का अनुमान किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त पशु में उदासीनता, ठंड, रक्तवर्ण श्लेष्मल झिल्लियाँ तथा नाक कान आदि ठंडे पड़ जाने के लक्षण मिलते हैं। नाड़ी गति 75-100, श्वसन 25-30 तथा तापक्रम 104-106° फारेनहाइट तक हो जाता है। पशु जोर-जोर से साँस खींचता है जिससे कि उसका तलपेट चलता हुआ दिखाई देता है। नथुनों पर थोड़ा सा सीरमी स्राव उपस्थित रहता है। रोगी धीरे-धीरे खाँसता है। छिद्रिल आवाज बड़ी ही कर्कश होती तथा चुरचुराहट जैसी सूखी ध्वनि भी सुनी जा सकती है। थपथपाने पर सामान्य अथवा डम-डम की आवाज होती है। यदि यह रोग निमोनिया में परिणित नहीं होता तो कुछ घंटों में ही रोगी को लाभ होने लगता है।

गायों में श्वासकष्ट तथा दूध उत्पादन में कमी हो जाना इस बीमारी के प्रारम्भिक लक्षण हैं। श्वसन तथा नाड़ी गति तेज होकर पशु का तापक्रम सामान्य अथवा अधिक हो सकता है। खरखराहट की आवाज, सूखी खाँसी तथा अत्यधिक श्वास कष्ट के साथ रोगी अपना सिर नीचे करके रखता, मुँह खोलकर साँस लेता तथा मुँह से झाग डालता है। रक्तवर्णता के कारण पल्मोनरी शोथ हो जाने से मुँह से निकला हुआ फेन रक्त मिश्रित हो सकता है। रोग के हल्के प्रकोप में लगभग यही सब लक्षण मौजूद होते हैं किन्तु इतने वेगयुक्त नहीं होते।

ठंड आदि खराब मौसम से होने वाली इस रोग की सामान्य अवस्था इलाज तथा आराम से शीघ्र ठीक हो जाती है। रोगी से यदि कार्य लिया जाता है तो रोग का प्रकोप अधिक वेगयुक्त होकर, पशु शिथिल होकर कुछ घंटों में ही परलोक सिधार जाता है। यातायात करते समय ठंड आदि लग जाने से बीमारी और भी उग्र तथा प्राणघातक रूप धारण कर लेती है। श्वास-नली में संकुलन होकर पशु को विगलित निमोनिया हो जाती है।

निदान—केवल संक्षिप्त कोर्स के द्वारा इसे निमोनिया से अलग पहचाना जा सकता है। लगड़ापन, ऐंथ्रावस तथा गलग्रथिल रोग जैसी दर्दयुक्त, तेज बुखार वाली बीमारियों की प्राथमिक अवस्थायें सक्रिय संकुलन से मिलती-जुलती हैं, किन्तु केवल यह लक्षण किसी बीमारी के नैदानिक लक्षण नहीं बन सकते।

चिकित्सा—रोग ग्रसित पशुओं को किसी सुरक्षित स्थान में रखकर आराम देना सर्वश्रेष्ठ उपचार है। सर्दी-जुकाम की भाँति प्रति 2 से 4 घंटे के अवकाश पर एक औंस की मात्रा में अमोनिया तथा कपूर युक्त औषधियों के मिश्रण का प्रयोग लाभदायक है। अत्यधिक सुस्ती में एक ग्रेन की मात्रा में स्ट्रिकनीन सल्फेट दिन में तीन बार दिया जा सकता है। यदि रोगी को अधिक दर्द तथा बेचैनी हो तो उसके सीने पर सरसों का लेप

करता शीघ्र आराम पहुँचाता है। अधिक थकावट के बाद नीलवर्णता (कामला रोग) तथा श्वास कष्ट होने पर जुगुलर शिरा से थोड़ा सा (4-6 क्वार्ट) रक्त निकाल लेने पर हृदय तथा फेफड़ों का आराम मिल जाता है। किन्तु यह क्रिया रोग के प्रारम्भ में ही लाभदायक है। लोबेलाइन सल्फेट 1/2 ग्रेन (0.03 ग्राम) तथा ऐट्रोपीन सल्फेट 1/4 ग्रेन (0.015 ग्राम) इसमें प्रयोग होने वाले अन्य श्वसन शमक (respiratory sedatives) पदार्थ हैं। 1/2 से 1 ड्राम (2-4 घ०सें०) की मात्रा में ग्लोनोइन स्प्रिट अथवा 1/4 से 1/2 ग्रेन (0.015-0.03 ग्राम) ग्लोनोइन रोगी को प्रति घंटा दिये जाने पर वाहिका तनाव (vascular tension) को आराम पहुँचाया जा सकता है। सल्फा-औषधियों का प्रयोग भी गुणकारी है।

फेफड़ों का निष्क्रिय संकुलन

(Passive Congestion Of The Lungs)

दायीं ओर का दिल कमजोर होने के परिणामस्वरूप होने वाली यह एक गौण अवस्था है। (अ) घोड़ों में हृदय का दीर्घकालिक तनाव, (ब) उग्र सामान्य रोगों में हृदय की गति रुक जाना तथा, (स) रक्त का बहाव रुक जाना आदि रोगों के परिणामस्वरूप यह बीमारी हुआ करती है। रोग के वेगयुक्त आक्रमण के साथ फेफड़ों के निष्क्रिय संकुलन को केवल शव-परीक्षण द्वारा ही पहचाना जा सकता है।

उग्र फुफ्फुस शोथ

(Acute Pulmonary Edema)

फेफड़ा तन्तु, वायु कोष्ठिकाओं (alveoli), श्वसनिकाओं (bronchioles) तथा ब्रोंकाई में सीरम का अत्यधिक रिसाव होने के कारण कष्टप्रद श्वास-प्रश्वास के एकाएक आक्रमण द्वारा प्राइमरी उग्र फुफ्फुस शोथ को पहचाना जाता है। इसका कारण अज्ञात है। एक स्वतंत्र रूप से प्रकोप करने वाली बीमारी के रूप में पालतू पशुओं में इसका प्रकोप कभी-कभी होता है। फेफड़ों की सूजन रोग ग्रसित भागों तक ही सीमित रहती है। हृदय की निर्बलता अथवा रक्त परिभ्रमण संबंधी कमजोरी के कारण अन्त में सूजन होना सामान्य लक्षण है। फुफ्फुस संकुलन की सभी अवस्थाओं में थोड़ी बहुत सूजन हुआ करती है किन्तु उग्र प्राथमिक फुफ्फुस शोथ में इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि यह फेफड़ों के उग्र संकुलन की अंतिम अवस्था है अथवा अन्य अवस्थाओं के परिणामस्वरूप होने वाली गौण अवस्था। उन पशुओं में जो कि सीरम अथवा जीवाणुगत पदार्थ का इन्जेक्शन देने के बाद एनाफिलैक्सिस द्वारा मरते हैं, अत्यधिक फुफ्फुस शोथ ही प्रमुख क्षतस्थल है। इससे यह अनुमान होता है कि उग्र प्राथमिक फुफ्फुस शोथ कुछ अस्पष्ट विषैले प्रभाव द्वारा हुआ करती है। मानव चिकित्सा विज्ञान की पाठ्यपुस्तकों में (अ) हृदय गति रुक जाना अथवा केशिकाओं की दीवालों की बढ़ी हुई प्रवेश्यता (permiability), (ब) संक्रामक रोगों के परिणामस्वरूप लगने वाली छूत अथवा फेफड़ों के वाहिका प्रेरक तंत्र (vosomotar system) को कन्ट्रोल करने वाले केन्द्रों पर विषैले प्रभाव

तथा (स) मारफीन, ऐड्रीनलीन, आयोडीन, ऐल्कोहल एवं तेज गैसों का सूंघना आदि फुफ्फुस शोथ के अनेक कारण बताए गए हैं।

लक्षण—तीव्र प्राथमिक फुफ्फुस शोथ से पीड़ित एक रोगी से निम्नलिखित अभिलेख प्राप्त किया गया। यह एक पाँच वर्ष की आयु वाली गाय थी जो कि नवें महीने में दूध दे रही थी। 23 मई की सुबह को उसने थोड़ा चारा खाया और थोड़ा ही दूध दिया। दोपहर के बाद श्वासकष्ट तथा कँपकपी के साथ वह बीमार पड़ गई। दूसरे बाड़े में ले जाने पर उसकी नाक तथा मुँह से कम से कम एक गैलन साफ सीरम निकला और इसके थोड़ी ही देर बाद उसकी मृत्यु हो गई। शव-परीक्षण करने पर उसकी वक्षीय-गुहा में काफी मात्रा में स्वच्छ सीरम पाया गया। फेफड़े पर विस्तृत सूजन थी और दबाने पर उसमें गड्ढे पड़ जाते थे। जब उस पर चीरा लगाया गया तो चाकू चलाए गए मार्ग पर अधिक मात्रा में सीरम बह निकला। उसमें काफी मात्रा में वातस्फीति भी थी। मूत्राशय में काले रंग का मूत्र भरा हुआ था। अन्य कोई क्षतस्थल नहीं पाये गये। फेफड़े का जीवाणु-परीक्षण करने पर अनेक प्रकार के बैक्टीरिया पाये गये, इनमें कुछ पास्चुरेल्ला भी थे।

डा० फिन्चर (Dr Fincher) ने एक चिकित्सालय में 7 वर्षीय गाय में ट्यूबकुलिन का अंतःत्वचा इंजेक्शन देने के 12 घंटे बाद इस रोग का एक दूसरा रोगी देखा। इसमें तेज श्वास प्रश्वास, सांस छोड़ने पर घरघराहट की आवाज, बढ़ी हुई छिद्रिल आवाज आदि लक्षण जल्दी-जल्दी विकसित हुए। पशु का तापक्रम नार्मल था। रोगी का शव परीक्षण करने पर फुफ्फुस शोथ तथा वातस्फीति मिली। ऐसा विश्वास किया गया कि यह वातस्फीति सेकेण्डरी थी।

पाँच और ऐसे ही रोगी देखे गये जिनमें से चार आठ माह से लेकर 2 वर्ष की आयु वाले युवा साँड थे। तेज एवं कष्टप्रद श्वास प्रश्वास तथा नथुनों से रक्त मिश्रित झाग अथवा फाइब्रिनयुक्त स्राव के लक्षणों के साथ रोग का एकाएक प्रकोप हुआ। आला लगाकर फेफड़ों की जाँच करने पर बढ़ी हुई छिद्रिल आवाज तथा चरचराहट सुनाई दी। तापक्रम नार्मल अथवा 104° फारेनहाइट, श्वसन 60 80 तथा नाड़ी गति 80-100 तक रही। मूत्र रक्त मिश्रित था। 2 12 घंटे में या तो रोगी की मृत्यु हो गई अथवा 2 3 दिन में वह ठीक हो गया। लाश चीर कर देखने पर फेफड़ा पर अत्यधिक सूजन तथा मूत्राशय काले रंग के मूत्र से भरा हुआ मिला। एक रोगी में रक्त स्रवित श्वासनलीशोथ (hemorrhagic tracheitis) मौजूद थी। मरी तथा बीस्टर[1] (Murray and Biester) ने सुअरों में निमोनिया के साथ फुफ्फुस शोथ का वर्णन किया।

चिकित्सा—एनाफिलैक्सिस में ऐड्रीनलीन (5-10 घ० सें०) का प्रयोग सर्वोत्तम उपचार है। इसको प्रायः 1/4 ग्रेन (0 015 ग्राम) ऐट्रापीन के साथ मिलाकर दिया जाता है, किन्तु शोथ में ऐट्रापीन का महत्व प्रश्न वाचक है। हिस्टामिनरोधी (antihistamine) औषधि (पायरीबेंजामीन, बेनेड्रिल) का प्रयोग गुणकारी है।

सन्दर्भ

1 Murray, Chas, and Biester, H E, Pulmonary edema of swine, J A V M A, 1930, 76, 349

रक्तनिष्ठीवन

(Hemoptysis)

(फुफ्फुस रक्तस्राव)

कारण—(अ) घोडो में हृदय का अत्यधिक तनाव इसका प्रमुख कारण है, (ब) गायो में प्रमुख तौर पर यह रोग फेफडो में अनेक छोटे-छोटे फोडे बनने के कारण हुआ करता है, (स) कभी-कभी फेफडो के क्षय से पीडित गायों में रक्त नलिकाएँ फट जाती है तथा रक्त-विपाक्तता में निमोनिया से पीडित गायों में स्वतन्त्र रूप से रक्तस्राव हो सकता है, (द) घोडो में फुफ्फुस शिरा का फटना भी देखा गया है, (य) फुफ्फुस रक्तस्राव से पीडित एक वृद्ध घोडे में यकृत धमनी की थ्राम्बोसिस, दायी ओर के हृदय का प्रसार तथा फेफडो में निर्जीव क्षेत्र पाये गये, (र) खण्डीय न्युमोनिया (lobar pneumonia) की सकुलित अवस्था से पीडित घोडो में केशिका रक्तस्राव (capillary hemorrhage) अधिक हुआ करता है। किसी भी कारण से फेफडो में सक्रिय सकुलन होने पर फुफ्फुस रक्तस्राव के साथ सूजन हो सकती है। गाय की बायी जुगुलर शिरा में फोडा बन जाने से उसका अवरोध हो जाने के कारण प्राणघातक फुफ्फुस रक्तस्राव हो जाना फिचर[1] (Fincher) द्वारा वर्णन किया गया है। एक उदाहरण में, कई घोडो को एक साथ लाए जाने में किसी अज्ञात कारणवश फेफडो से अत्यधिक रक्तस्राव होकर एक घोडे की मृत्यु हो गयी। सुअरो में सूकर-कालरा के प्रति टीका लगाने के बाद फुफ्फुस रक्तस्राव होना किंजले[2] (Kinsley) द्वारा रिपोर्ट किया गया है।

विकृत शरीर रचना—कटाव अथवा अन्य किसी कारणवश रक्त-नलिका के फट जाने से इस रोग से पीडित पशु तत्काल मर जाते है। फुफ्फुस शिरा के फट जाने पर वक्षीय-गुहा में बहुत सा रक्त एकत्रित होकर थक्के के रूप में जम जाता है। श्वासनलिकाओं तथा वायु कोष्ठिकाओ में भी रक्त पाया जाता है।

लक्षण—प्राय नाक से खून गिरने का इतिहास मिलता है। नलिका के फटने पर दोनो नथुनो से झागयुक्त चमकता हुआ लाल रक्त बहता है। यदि रक्तस्राव कम होता है तो नथुनो में खून के थक्के जम जाते है और खाँसने अथवा छीकने पर बाहर निकल सकते है अथवा घटो तक नथुनो में चिपके रह सकते है। एक गाय में अपच के एक आक्रमण के बाद दोनो नथुनो तथा मुँह से रक्त, तरल पदार्थ तथा झाग बाहर निकला। मुँह तथा नथुनो पर रक्तयुक्त झाग की उपस्थिति फेफडो के अत्यधिक सक्रिय सकुलन का सूचक है। अभिघातज आमाशय शोथ तथा यकृत के अनेक फोडो से मरी एक गाय में नथुनो से श्लेष्मा तथा जमे हुये रक्त के लम्बे छीछडे लटकते देखे गए। अभिघातज आमाशय शोथ से मरे एक दूसरे रोगी में फेफडो से स्वतन्त्र रूप से रक्तस्राव होना दिखाई दिया। बायी जुगुलर शिरा के अवरोध में लगभग एक माह से अधिक समय तक दोनो नथुनो से बार बार झाग युक्त खून बहता रहा। अत में लगातार खाँसी तथा अत्यधिक रक्तस्राव विकसित होकर शरीर से लगभग १० लिटर रक्त निकल जाने पर उसकी एकाएक मृत्य हो गई। रक्तस्राव रुक जाने के बाद रोगी की परीक्षा करने पर फेफडो के दीर्घकालिक रोग जैसे

लक्षण दिखाई पड़े। घोड़े में हृदय की दीर्घकालिक अति वृद्धि होने पर नाक से उस समय छींछड़े युक्त रक्तस्राव हो सकता है जबकि वह घुड़साल में रहता है अथवा कार्य करते समय उसके नथुनों से बूंदार रक्त निकलता है। इनके अंतर्गत होने वाले हृत् रोग का अनियमित हृदय गति तथा सिर्रेंड नाड़ी से पहचाना जाता है।

फुफ्फुस सिरा के फट जाने से रोगी को सिरदर्द तथा मूर्छा तथा पड़ जाने होकर कुछ मिनटों से लेकर कुछ घंटों में उसकी मृत्यु हो जाती है। अंतिम आक्रमण में नथुनों पर खून नहीं भी दिखाई दे सकता है। इन लक्षणों के साथ बेचैनी होना पेट में शूल वेदना का सूचक है। किन्तु रक्तस्राव में रुधिरमल झिल्लियाँ पीली पड़ जाती हैं और कि खांसी मारने वाले दर्द में ये लाल दिखाई देती हैं। बड़ी फुफ्फुस सिरा फट जाने के परिणाम-स्वरूप होने वाला श्वास-कष्ट तथा बेहोशी कभी कभी इस बात का मिथ्या निदान कराती है कि श्वासनली में बाह्य अवांछित पदार्थ मौजूद है।

घोड़ों में केशिका रक्तस्राव का उनके नथुनों के किनारे पर थोड़ी मात्रा में लगे सूखे खून से पहचाना जाता है। यह काला, बादामी अथवा पीलापन लिए हुए हो सकता है और निमोनिया का नैदानिक लक्षण है। दीर्घकालिक रोगों में फुफ्फुस रक्तस्राव की उपस्थिति हृदय तथा फेफड़ों की न ठीक होने वाली बीमारी का एक लक्षण है। तीव्र निमोनिया से पीड़ित गायों की नाक में खून गिरना उनकी मृत्यु का सूचक है। व्यायाम करते समय प्रारम्भ होने वाला रक्तस्राव प्राय पशु को आराम देने पर कुछ ही मिनटों में बंद हो जाता है। हृदय के दीर्घकालिक प्रसार में भी नथुनों पर कभी कभी खून जमा हुआ दिखाई देता है किन्तु अधिक रक्तस्राव नहीं होता।

चिकित्सा रोगी पशु को पूर्ण आराम देना इसका सर्वोत्तम उपचार है। रोग की चिकित्सा कारण पर निर्भर है। बड़े पशुओं में इस रोग के अनेक कारण होते हैं, अतः आमतौर पर इलाज का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। नकसीर की भांति ऐट्रोपीन सल्फेट, पिट्यूट्रिन, एड्रीनलीन, सोडियम साइट्रेट अथवा रक्त चढ़ाने का प्रयोग गुणकारी है।

संदर्भ

1 Fincher M G Phlebitis and Pulmonary hemorrhage, Cornell Vet, 1932, 22, 367

2 Kinsley A. T Vet Med 1939, 34 309

दमा

(Heaves)

(दम उखड़ना, फुफ्फुस वातस्फीति, श्वास फूलना)

परिभाषा—यह घोड़ों की एक विशिष्ट दीर्घकालिक बीमारी है जो श्वास कष्ट, हाँफना, अंतड़ी के किण्वन तथा अंत में फेफड़ों की वातस्फीति द्वारा पहिचानी जाती है। कुछ लोगों के विचार से खाने-पीने की गड़बड़ी से प्रारम्भ होने वाला यह एक श्वासनली से संबंधित आधि (neurosis) रोग है। हुटायरा तथा मारेक[1] (Hutyra and

Marek) लिखते है कि दीर्घकालिक कफ तथा पुरानी खाँसी जैसे रोगों अथवा अत्यधिक थकावट के फलस्वरूप फेफड़ों के टिसुओं पर अधिक खिचाव पड़ने से यह बीमारी हुआ करती है।

कारण—इसका आवश्यक कारण अज्ञात है। पशुशाला में बँधे हुए पशुओं को अधिक मात्रा में धूलयुक्त हरी अथवा सूखी घास खिलाने के उपरान्त यह रोग होता है। चरागाह पर चरने वाले अथवा भूसा, जौ, चोकर तथा अन्य स्वच्छ चारे खाने वाले घोड़ों में यह रोग नहीं होता। विलियम्स[2] (Williams) के अनुसार उन घासों को खिलाने से घोड़ों में यह रोग नहीं देखा जाता जिन्हें सींचकर उगाया गया हो। डा० ला[3] (Dr. Law) लिखते हैं कि यह बीमारी अरब के घोड़ों में अज्ञात है, तथा स्पेन, पुर्तगाल, इंगलैंड और फ्रांस के घोड़ों में कभी-कभी पाई जाती है। वर्षों पूर्व यह मिचिगन तथा पड़ोसी प्रदेशों में अज्ञात थी। कैलिफोर्निया के घोड़े भी इस बीमारी से मुक्त रहे। पशु के चारे में टिमोथी घास (timothi hay), लाल तिपतिया घास (red clover), लूसर्न तथा अन्य ऐसी ही उगाई हुई घासों के शामिल करने से यह बीमारी यूनाइटेड स्टेट्स के अनेक भागों में फैल गई है। उन भागों में यह अधिक पायी जाती है जहाँ की जलवायु घास सुखाने के प्रतिकूल हो और जहाँ के घोड़े घुड़सालों में बँधकर सूखी घास अधिक खाते हों। अधिक थकाने वाला परिश्रम जिसमें कि पशु हाँफने लगता है बीमारी के प्रकोप को उत्तेजित करता है। किसी भी कारणवश अधिक समय तक श्वासकष्ट होने से फुफ्फुस-वातस्फीति हो जाती है किन्तु श्वासकष्ट से आराम होने पर फेफड़े सामान्य हो जाते हैं।

हग[4] (Hug) ने 38 रोग ग्रसित फेफड़ों की परीक्षा करके यह निष्कर्ष निकाला कि फेफड़े के किसी भी क्षतस्थल द्वारा पुरानी खाँसी अथवा दमा हो सकता है। प्रायः यह बीमारी पुरानी खाँसी के रूप में प्रारम्भ होती है। तत्पश्चात् इसमें श्वासनली शोथ, फुफ्फुस झिल्ली शोथ तथा तन्तुमयता का विकास हो जाता है और कभी-कभी रसौली का बनना भी देखा जाता है। इन अवस्थाओं में लगातार खाँसने के कारण ही वातस्फीति हुआ करती है। हग की रिपोर्ट के अनुसार गर्म तथा गंदी पशुशालाओं में रखे गए घोड़े तथा धूलयुक्त सूखी घास और भूसा खिलाए गए घोड़े इस रोग के प्रति अधिक ग्रहणशील हैं। स्विटजरलैंड में घोड़ों के बीमें की 25 प्रतिशत हानि की पूर्ति की रकम इस रोग से उत्पन्न ह्रास की पूर्ति में खर्च होती है और यह ह्रास उस ऋतु में और भी अधिक बढ़ जाते हैं जबकि घास का काटना कठिन होता है। नील्सेन[5] (Nielsen) ने नार्वे में देखा कि धूल तथा फफूंदी लगी हुई घास इस रोग के फैलाने में महत्वपूर्ण कार्य करती है। उनके विचार के अनुसार धूल तथा फंजाई खाँसी उत्पन्न करती हैं जिसके परिणामस्वरूप वातस्फीति हुआ करती है। फुफ्फुस वातस्फीति का खानपान संबंधी आधि अथवा पुरानी खाँसी कोई भी प्रमुख कारण माना जाता हो, तो भी दूषित घास के कुप्रभाव के बारे में दो राय नहीं हैं। यह प्रत्यक्ष है कि किसी भी जाति में चाहे वह मनुष्य हो अथवा पशु पुरानी खाँसी फुफ्फुस वातस्फीति उत्पन्न कर सकती है।

दमा के अतिरिक्त, घोड़ों में पुरानी खाँसी बहुत कम हुआ करती है। श्वासतंत्र की छूतैली बीमारियाँ, जैसे एन्फ्लुएंजा के साथ इस रोग का तीव्र प्रकोप हुआ करता है और

यह रोग प्रमुख तौर पर छोटे बच्चो में अधिक होते हैं। फुफ्फुस वातस्फीति के तीव्र प्रकोप से मरे हुए घोडो में शव-परीक्षण करने पर पुरानी खाँसी की उपस्थिति इसकी बीमारी का प्रमुख कारण न सिद्ध कर सकी। दमा के विशिष्ट गुणा के कारण यह सभव है कि वातस्फीति तथा खाँसी दोना का कारण एक ही हो, जिसकी कि आवश्यक प्रकृति अज्ञात है।

यह विचार कि यह पैतृक रोग है सामान्य तौर पर मान्य नही है। सम्भवत यह विचार मनुष्य में होने वाली विस्तृत वातस्फीति के ज्ञान से प्राप्य है जहाँ कि पैतृक प्रभाव का सिद्ध किया जा चुका है और जहा वायु कोपाओं में पोषक परिवर्तन का प्राथमिक माना गया है।

अब यह विश्वास किया जाने लगा है कि अधिक थका देने वाला कार्य बीमारी के प्रकोप को उत्तेजित नहा करता। फिर भी इस रोग से पीडित घोडे से अधिक काम लेने पर रोग के लक्षण और भी विषम हो जाते हैं तथा कुछ उदाहरणा में यह प्रभाव बीमारी का प्रमुख कारण माना जाता है।

पाच वर्ष से कम आयु वाले घोडा में दमा का प्रकोप मुश्किल से ही होता है। आयु के बढने के साथ इसका वेग भी बढता जाता है। तागे में चलने वाले घोडा में इसका प्रकोप अधिक होता है।

विकृत शरीर रचना—कोष्ठिका (alveolar) तथा अतरालीय वातस्फीति (interstitial emphysema) इसमें प्रमुख दिखाई देन वाले परिवर्तन है। वक्षीय दीवाल को हटाने के बाद फेफडे इतना अधिक फैले हुए मिलते है कि उन पर पसलियो के निशान पड जात है। फेफडो की लचक समाप्त हो जाने के कारण व सिकुड भी नही पाते। प्लूरा पीला पड जाता है और इसके नीचे वायु स्फाटिकाएँ (air vesicles) होती हैं। फेफडों के किनारे मोटे पड जाते हैं और उनके टिसुओं में दबाने पर गड्ढे पड जाते है। पुरानी खाँसी सदैव मौजूद रहती है। वायु कोष्ठिकाओ की दीवाला का अपक्षय हो जाता, रक्त केशिकाओ का जाल अदृश्य हो जाता तथा पडोस को वायु कोष्ठिकाएँ परस्पर मिलकर एक बडा वायु कोपा बना देती है। वायु कोष्ठिकाओ की दीवालो की मोटाई काफी कम हो जाती है। फेफडा में रक्त का प्रवाह कम होने के कारण हृदय का दाया भाग बढ जाता है।

लक्षण—नियम के अनुसार दमा का विकास धीरे-धीरे होता है किन्तु कभी-कभी बसत के दिनों में अधिक परिश्रम करने पर उसका एकाएक भीषण प्रकोप होता है। रोगी का इतिहास लेने पर निम्नलिखित लक्षण दिखाई पडते हैं (अ) पानी पीने के बाद खाँसी तथा नाक से थोड़ा स्राव गिरना, (ब) रात में ठड लगकर सुबह को खासी आना, (स) पूरे जाडों भर खाँसी आना तथा रोगी का बेहोश हो जाना, (द) सिर में खडखडाहट की आवाज होना। श्वास छोडने के साथ उदर की मास पशियों में गति होती है जो फेफडो में लचक की कमी को पूरा करती है और यह गति पशु को व्यायाम कराने पर और भी अधिक बढ़ जाती है। नथुने थोडा फैल जाते है तथा दोनों से थोडा स्राव निकलता है।

धीमी, गीली तथा हाँफीदार खाँसी काफी दिनों तक चलती रहती है तथा यह रोग का एक नैदानिक लक्षण है। प्रारम्भ में यह शुष्क तथा वेगवान हो सकती है। फेफड़ों से हाँफने, सिस्कारने अथवा चुरचुराहट की आवाज होती है अथवा उनकी छिद्रिल आवाज बढ़ जाती है। रोग की बढ़ी हुई अवस्था में थपथपाने पर काफी विस्तृत क्षेत्र से आवाज सुनाई देती है। खूब खाने वाला पशु भी रोग ग्रसित होने पर प्रायः कमजोर हो जाता है। फेफड़ों के रक्त संचार में रुकावट पड़ने के कारण नेत्र की श्लेष्मल झिल्ली रक्तवर्ण हो जाती है। नमीयुक्त वातावरण, अधिक कार्य, अधिक खाने, ठंड लग जाने तथा तूफानी हवाओं के सम्पर्क से रोगी की हालत और भी अधिक खराब हो जाती है। इस रोग का कोई भी इलाज नहीं है और सामान्य परिस्थितियों में रोगी की हालत दिन प्रतिदिन खराब होती जाती है। रोग के ठीक होने की भी रिपोर्ट मिली है किन्तु ऐसे रोगी शायद दमा से पीड़ित न होकर इसकी प्रारम्भिक अवस्था से मिलती-जुलती बीमारी प्राइमरी खाँसी से बीमार थे। पाचन प्रणाली के निम्नलिखित लक्षण भी प्रायः देखने को मिलते हैं: क्षुधातुरता, बढ़ा हुआ उदर, अंतड़ी का अत्यधिक किण्वन तथा मलाशय से बार-बार वायु का निकलना।

चिकित्सा—रोगी को नियमित रूप से हल्का काम दीजिए तथा थपेड़ेदार हवा से बचाइए। पशु को भूसा जैसे निम्नकोटि के चारे कम से कम मात्रा में दीजिए। उसे थोड़ी-थोड़ी मात्रा में चूने का पानी छिड़की हुई तिपतिया घास रहित साफ तथा सूखी घास खिलाए। चरागाह पर चराना लाभदायक है। खान-पान व रहन-सहन की सावधानियों के साथ निम्नलिखित नुस्खा भी गुणकारी है:

कृत्रिम कार्ल्सबैड लवण (Artificial Carlsbad Salts)	16 औंस	(500 ग्राम)
कैल्शियम हाइड्राक्साइड	16 औंस	(500 ग्राम)
आर्सेनिक ट्राइआक्साइड	10 ड्राम	(40 ग्राम)
लोबेलिया	4 औंस	(120 ग्राम)
बेलाडोना	1-4 ड्राम	(4 से 16 ग्राम)

सबको मिलाकर एक बड़े चम्मच भर (15 ग्राम) चारे के साथ रोगी को दिन में तीन बार खिलाइए।

वर्षों तक फाउलर का आर्सेनिक घोल लक्षणों को कम करने के लिए दिया जाता रहा है। इसको श्वासनली के रोगों में प्रयोग होने वाली शमक औषधियों के साथ मिलाकर निम्न प्रकार भी दिया जा सकता है:

अर्क लोबेलिया	1 औंस	(30 घ० सें०)
अर्क बेलाडोना	1 औंस	(३० घ० सें०)
फाउलर घोल (आवश्यकतानुसार)	1 पिंट	(500 घ० सें०)

सबको मिलाकर एक बड़े चम्मच भर (15 घ० सें०) पीने वाले पानी के साथ रोगी पशु को दिन में दो बार पिलाइए।

सदर्भ

1 Hutyra, Marek and Manninger, Eng ed 4, vol II, 1938, p 545
2 Williams, W L, The etiology of heaves Amer Vet Rev, 1902 03 26, 955
3 Law, Veterinary Medicine, ed 3, vol I, 1910, p 357
4 Hug, A Ueber chronische Atembeschwerden des Pferdes, Schwiez, Archiv, 1937, 79, 251
5 Nielsen, I Berliner tierarzt Wchnschr, 1929, 45, 127

गायों की फुफ्फुस वातस्फीति
(Pulmonary Emphysema Of Cows)

जब कभी किसी पशु को लगातार रहने वाला तीव्र श्वासकष्ट होता है तो उसे अतरालीय एव कोष्ठिका वातस्फीति (alveolar emphysema) हो जाती है। निमोनिया से पीडित गायो में अतरालीय वात स्फीति अत्यन्त ही वेग से प्रकोप करती है। गलाघोटू रोग से पीडित गायो तथा सीस विषाक्तता (lead poisoning) से मरने वाले पशुओ में भी यह रोग खूब पाया जाता है। बूढी गायें जिनको कि क्षय रोग का सदेह होने के कारण अलग कर दिया गया, उनमें भी शव-परीक्षण करने पर फेफडों की वातस्फीति मिली। फुफ्फुस फाडा, फेफडो की सूजन, अभिघातज आमाशय शोथ के कारण फेफडो में काई कील, काटा तार आदि प्रवेश पा लेने अथवा बछडा के फेफडा कृमि रोग में भी यह अवस्था पायी गयी।

लक्षण—फेफडा की फुन्सियो तथा फुफ्फुस झिल्ली शोथ के साथ एकाएक श्वास कष्ट होकर पशु मुंह खोलकर सास लेता है तथा उसके मुंह और नथूनों पर सफेद झाग मिलती है। वक्ष के दोना ओर चुरचुराहट की आवाज सुनाई देती है और अत में अधस्त्वक् वातस्फीति प्रकट हो जाती है। रोग का वेग तथा अत बीमारी की प्रकृति पर निर्भर होता है। किसी अज्ञात कारणवश होनेवाली यह बीमारी कभी कभी गायो में देखने को मिलती है। बीमारी के अत में रोगी कराह-कराह कर जल्दी जल्दी सास खीचता, मुश्किल से खडा रह पाता, आंखें बैठ जाती, मुंह से खूब लार बहती तथा त्वचा के नीचे वायु इकट्ठा होकर काफी सूजन आ जाती है। रोगी की नाडी गति १०० या अधिक होकर, उसे ज्वर हो जाता है।

चिकित्सा—२-३ घ० सें० की मात्रा में एड्रीनलीन क्लोराइड का अधस्त्वक् (sub/cut) इजेक्शन शीघ्र तथा अस्थायी आराम पहुँचाता है। दमा में प्रयोग होने वाली लवणीय एव शमक औषधियों का प्रयोग भी लाभदायक है।

ब्रोंकोन्युमोनिया

(Bronchopneumonia)

(फुफ्फुस शोथ; श्लेष्म न्युमोनिया; केशिका श्वसनीशोथ)

फेफड़ों की शोथ का वर्णन तथा वर्गीकरण करना काफी कठिन है। फ्रोनर[1] (Frohner) की रिपोर्ट के अनुसार "शरीर का कोई भी दूसरा अंग इतने प्रकार की शोथ प्रदर्शित नहीं करता।" ब्रोंकोन्युमोनिया का वर्णन करते हुए हेर[2] (Hare) ने बताया कि अपने कारण और रोग-विज्ञान में यह रोग इतनी विभिन्नता रखता है कि इसे एक बीमारी न कहकर क्षतस्थल कहा जा सकता है।

पाठ्य पुस्तकों में मानव तथा पशु चिकित्सा विज्ञान के लेखकों ने इसे पालिशोथ या ब्रोंकोन्युमोनिया के रूप में वर्णन किया है। मानव आयुर्विज्ञान में ओस्लर[3] (Osler) ने इसका विशिष्ट रोगों के अन्तर्गत विवरण दिया है। पशु आयुर्विज्ञान में पालिशोथ का घोड़ों की छुतैली निमोनिया तथा साधारण निमोनिया के अंतर्गत वर्णन मिलता है, यद्यपि कि कुछ लोगों का विश्वास है कि दोनों में कोई अन्तर नही पाया जाता। घोड़ों में होने वाली पालिशोथ, रोग विज्ञान तथा जीवाणु विज्ञान में मनुष्य की पालिशोथ से भिन्न होती है। चूँकि पालतू पशुओं में प्रमुख रूप से ब्रोंकोन्युमोनिया ही हुआ करती है अतः पालिशोथ नामक शब्द एक अथवा दोनों फेफड़ों का अधिक रोग ग्रसित होना प्रकट करने के लिए प्रयुक्त होता है।

परिभाषा—ब्रोंकोन्युमोनिया प्रायः श्वासप्रणाल श्वसनीशोथ (tracheobronchitis) का ही विस्तृत स्वरूप है जो फेफड़ों के थोड़े बहुत खण्डों को संलग्न करती है। पालतू पशुओं का यह प्रमुख रोग है। इसका प्रकोप या तो धीरे धीरे होकर कुछ ही खण्डों को प्रभावित करता है अथवा अधिक तीव्र होकर लगातार बढ़ता चला जाता है। प्रारम्भ में यह धीरे धीरे प्रकोप करके कुछ समय बाद तेजी से बढ़ने लगता है। ब्रोंकोन्युमोनिया प्राइमरी अथवा गौण दो प्रकार की हो सकती है। गौण अवस्था अधिक प्रकोप करती है। पतझड़ तथा जाड़ों में इसका विशेषतौर पर प्रकोप हुआ करता है। वैसे तो यह बीमारी सभी जातियों में हो सकती है किन्तु गो-पशुओं में इसका प्रकोप अधिक होता है।

कारण—(अ) **प्राइमरी तीव्र ब्रोंकोन्युमोनिया**—(1) **ठंड लगना :** उग्र श्वसन रोगों के प्रकोप के बारे में काफी विचार विमर्श किया जा चुका है। बहुत से लोग ठंड को प्राथमिकता न देकर केवल संक्रमण को ही अधिक महत्व देते हैं और यह विचार करते हैं कि यह श्वासनली तथा फेफड़ों के टिसुओं की बीमारी के प्रति सहन शक्ति कम करता है। दोनों कारक (संक्रमण तथा ठंड) साथ साथ हुआ करते हैं और व्यक्तिगत रोगी में कोई भी प्रबल हो सकता है। यद्यपि कि संक्रमण निमोनिया का प्रमुख कारण है, फिर भी बछड़ों में ठंड का प्रभाव इतना अधिक होता है कि निमोनिया के बचाव व इलाज के लिए इस पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता पड़ती है। ठंड लगकर होने वाली निमोनिया विकीर्ण मालूम होती है किन्तु ब्रोंकाई में उपस्थित जीवाणु रोगोत्पादक शक्ति में बढ़कर दूसरे पशुओं में पहुँच सकते हैं। पत्थर तथा सीमेंट की दीवालों वाली नीची पशुशालाएँ

बीमारी के प्रकोप को और भी अधिक उत्तेजित करती हैं। खिड़की अथवा रोशनदानों से जाने वाली ठंडी हवाओं के लगने से बछड़ों में बहुत ही शीघ्र निमोनिया का प्रकोप होता है किन्तु जब उन्हें बिछौनेयुक्त ऐसे केवल एक ओर से खुलने वाले बाड़े में रखा जाता है तो वे श्वासनली की सभी बीमारियों से मुक्त रहते हैं। दिन की गर्मी में गर्म होने तथा ठंडी रातों में बाड़े में ठंड खा जाने से बछेड़ों का निमोनिया हो जाती है। सुअर जो कि गर्म रखने के लिए एक साथ इकट्ठे खड़े किए जाते हैं, परस्पर अलग होने से ठंड खा जाते हैं। गर्म होने के बाद शीघ्र ही ठंड लग जाने, जाड़ों की बरसात में बाहर खड़े रहने, यातायात करते समय ठंड लग जाने अथवा पतझड़ की पहली ठंडी रातों में चरागाह पर छूट जाने वाले पशुओं में प्रायः निमोनिया बहुत शीघ्र होती है।

(२) संक्रमण—ब्रोंकान्युमोनिया की अधिक प्रचलित छुतैली अवस्थाएं विशिष्ट संक्रामक रोगों वाले अनुभाग में वर्णन की गई हैं। इनके अन्तर्गत घोड़ों की छुतैली निमोनिया, गलाघोंटू, सूकर एन्फ्लुएंजा तथा फेफड़ों का प्लेग नामक रोग आते हैं। ढोरों, भेड़ों तथा सुअरों की विकीर्ण निमोनिया में यह सम्भव है कि रोग का कारण स्थानिक निमोनिया फैलाने वाले कारक से मिलता-जुलता हो, किन्तु छूत फैलाने वाले कारक की प्रकृति सामान्य रूप से अज्ञात है। सूकर एन्फ्लुएंजा, अश्व एन्फ्लुएंजा, घोड़ों की छुतैली निमोनिया, घोड़ों की खाँसी, जर्मनी में इसी प्रकार की खाँसी की स्थानिकमारी तथा बछड़ों में निमोनिया का कारण एक न्यूमोनोट्राफिक वाइरस (pneumonotrophic virus) प्रदर्शित किया जा चुका है।

पास्चुरेल्ला ग्रुप निमोनिया का प्रमुख कारण है अथवा नहीं, यह एक विवादपूर्ण विषय है, किन्तु जब तक कोई दूसरा जीवाणु नहीं पा लिया जाता चिकित्सकों द्वारा इसकी उपस्थिति का संदेह किया जाता है। सुअरों की निमोनिया में, सूकर कालरा तथा सूकर एन्फ्लुएंजा की संभावना पर भी विचार कर लेना आवश्यक है।

संसार के अनेक भागों में अज्ञात कारणोंवश निमोनिया की छूत फैलती देखी गई है। स्विट्जरलैंड के ढोरों में पतझड़ तथा जाड़ों में निमोनिया की एक संक्रामक अवस्था का विस्मैन[4] (Wyssman) द्वारा वर्णन किया गया है। इसकी छूत परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप से फैल सकती है। हालैंड के ढोरों में होने वाला पतझड़ का फेफड़ा रोग ब्रोंकोन्युमोनिया ही है जिससे कि वैन डरवीन[5] (Van der ween) ने पीव पैदा करने वाला अधिकतर कोरिनेबैक्टीरियम पायोजिनस जीवाणु अलग किया। इसके प्रकोप को पशु को स्वच्छ ताजे चरागाहों पर ले जाने से भी न बचाया जा सका। बर्च तथा बेनर[6] (Birch and Benner) ने सुअरों में घातक निमोनिया का कारण स्युडोमोनैस पायोसायानियस (Pseudomonas pyocyaneus) नामक जीवाणु बताया। हैड्लीघ मार्श[7] (Hadleigh marsh) के अनुसार मानटेना और उसके पड़ोसी देशों में भेड़ों में प्राणघातक ब्रांकोन्युमोनिया को सन् 1915 से ही पहचाना गया। रोग ग्रसित यूथों में इसके प्रकोप से 2–10 प्रतिशत तक वार्षिक क्षति हुई है। डा॰ मार्श ने इसे छूतदार बताकर इसका प्राइमरी बैक्टीरियालोजिकल कारक कोरिनेबैक्टीरियम पायोजिनस (Corynebacterium pyogenes) से मिलता-जुलता एक डिप्थीरोइड बैसिलस बताया। यह

केवल उन्हीं भेड़ों में होता देखा गया जो ऊन काटने के समय अधिक धूल आदि के सम्पर्क में आती हैं। क्रीच तथा गोचीनोअर[8] (Creach and Gochenour) इस बीमारी का बैक्टीरियल कारक पता लगाने में असफल रहे। पोल्टन[9] (Poulton) ने भारतवर्ष तथा पूर्वी अफ्रीका में भेड़-बकरियों में होने वाली संक्रामक प्लूरो न्युमोनिया की रिपोर्ट की।

(ब) **द्वितीयक ब्रोंकोन्युमोनिया**—संक्रामक रोगों के क्रम में निमोनिया की यह प्रकार एक प्रमुख फेफड़ा रोग है। गायों में निमोनिया की यह प्रकार थनैली, अभिघातज आमाशय शोथ तथा अन्य उग्र अथवा दीर्घकालिक रोगों के साथ हुआ करती है। गर्भाशय-शोथ रोग में निमोनिया का प्रकोप गर्भाशय शोथ को भी छुपा सकता है, जब तक कि इसे शव-परीक्षण द्वारा न देखा जाये। बछड़ों में यह आंत्रार्ति (intestinal catarrh) तथा घोड़ों में एन्फ्लुएंजा के परिणामस्वरूप हो सकती है। सुअरों में निमोनिया लगभग सदैव ही द्वितीयक हुआ करती है।

(स) **फेफड़ों की गैंग्रीन**—यह परिगलन के बाद होने वाली फेफड़ों की सड़न है। घोड़ों के अतिरिक्त अन्य पशुओं में यह बहुत ही कम हुआ करती है। प्रायः यह दवा पिलाने से होने वाली श्वसन निमोनिया का एक भाग है। घोड़ों की छुतैली निमोनिया के भयंकर प्रकोप में भी यह होकर रोग को और भी जटिल बना देती है तथा घोड़ों में दीर्घकालिक सीस-विपाक्तता का एक प्रमुख क्षतस्थल है। पाँच वर्षीय गाय के अभिघातज आमाशयशोथ रोग में उसके हृदय के दाहिनी ओर अंतर्हृदस्तर (endocardium) में एक नासूर सा बन कर, पीवयुक्त पदार्थ रुधिर प्रवाह में घुस गया तथा 5–7 सें० व्यास के अनेक विगलित क्षेत्र फेफड़ों में बन गये।

(द) **वेगस निमोनिया**—कुत्तों में फुफ्फुसोदर तंत्रिका (pneumonogastric nerve) को अलग करके वेगस निमोनिया को प्रयोगात्मक रूप से उत्पन्न किया जा चुका है। हैरिंग तथा मेयर[10] (Haring and Meyer) ने बताया कि दीर्घकालिक सीस-विपाकतता के पक्षाघातीय प्रभाव से यह रोग घोड़ों तथा अन्य पशुओं में भी हो जाता है। कभी कभी कुछ घोड़े अज्ञात कारणवश गले के पक्षाघात से पीड़ित हुआ करते हैं जिनका अंतः निगलन निमोनिया (deglutition pneumonia) होकर होता है।

(य) **फेफड़ा कृमि रोग**—(lung worm disease) : सुअरों, भेड़ों तथा बछड़ों में फेफड़ा कृमि रोग और बछेड़ों तथा सुअरियों में ऐस्कैरिड लार्वा फेफड़ों में विभिन्न प्रकार की सूजन उत्पन्न करते हैं।

विकृत शरीर रचना—तीव्र ब्रोंकोन्युमोनिया में एक अथवा दोनों फेफड़ों के अगले हिस्से में सघिडन (consolidation) होता है। प्लूरा की सतह पर संगमरमर के टुकड़ों के आकार के लाल अथवा धूसर लाल थोड़े-थोड़े उठे हुए क्षेत्र दिखाई पड़ते हैं। जब सूजन धीरे-धीरे फैलती है तो यह क्षेत्र फेफड़ों पर अलग-अलग टुकड़ों के रूप में मालूम पड़ते हैं (पालिकाशोथ)। किन्तु जब सूजन जल्दी-जल्दी बढ़ती है तो यह क्षेत्र फेफड़े के खण्डों को भी प्रभावित करते हैं (पालिशोथ तथा कभी-कभी मिश्रा पालिशोथ)। कभी-कभी ब्रोंकाई तथा श्वसनिकाओं में जब बिना किसी निश्चित सघिडन के परिवर्तन दिखाई देते हैं

तो भी वायुकोष्ठिकाओं में शोथपूर्ण पदार्थ भरे रहते हैं। कुछ-कुछ दबे हुए अन्य लाली लिए हुए क्षेत्र वे भाग हैं जिनमें से हवा निकल चुकी होती है। अत्यधिक सूजन में वक्षीय गुहा में सीरम तथा प्लूरा के ऊपर फाइब्रिन जमा मिल सकता है। प्लूरा पर रक्तस्राव होता है। श्वास कष्ट से मृत्यु हो जाने पर फेफड़ों के अगले तथा पिछले भागों पर, विशेष कर गो-पशुओं में, काफी मात्रा में सूजन मौजूद मिलती है। ढोरों और सुअरों में फेफड़ों की प्लूरल सतह पर खण्डान्तर संयोजी ऊतक (interlobular connective tissue) की मोटी-मोटी धारियां सी पड़ी दिखाई पड़ती हैं। काटने पर रोग-ग्रसित फेफड़ा लाल अथवा धूसर या धूसर लाल रंग का प्रतीत होता है, अथवा लाल सतह पर छोटे-छोटे सफेद धब्बे से पाये जाते हैं। श्वासनली की श्लेष्मक झिल्लियां सूज जाती हैं। श्वसनिकाओं में भूरा अथवा पीला पीव भरा रहता है तथा निकट का परिश्वसनी तन्तु (peri bronchial tissue) मोटा पड़ जाता है। सम्पिंडन के फैले हुए क्षेत्र खण्डकों (lobules) के समूह अथवा खण्ड (lobes) के भाग प्रदर्शित करते हैं। फेफड़ों में अक्सर रक्तस्राव, वातस्फीति तथा पालिकाओं के अन्दर सूजन मिलती है। रोग की अति उग्र प्रकार में तथा कारिनेबैक्टीरियम पायोजिनस जैसे सदूषण द्वारा रोग का प्रकोप होने पर फेफड़ों में फोड़े बनकर सड़न लग जाती है। ढोरों की गौण निमोनिया में, घोड़ों की वेगम निमोनिया में तथा जब कभी किसी भी निमोनिया की अवधि बढ़कर दो या तीन सप्ताह की हो जाती है तो फेफड़ों में फोड़े हो जाते हैं। दीर्घकालिक निमोनिया में मध्य स्थानिका लसीका ग्रंथियों (mediastinal lymph glands) में सूजन तथा फोड़े बन सकते हैं। साथ ही शुक्तिकास्थियों पर डिफ्थीरिया जैसे धब्बे पड़कर कण्ठशोथ तथा नासाति हो जाती है। फेफड़ों के खण्डकों की आड़ी काट करने पर श्वसनिकाओं तथा छोटे वायु मार्गों से सटे हुए, सूजनयुक्त परिवर्तन दिखाई पड़ते हैं। आक्रमण के मूल क्षेत्र से वायु मार्गों की लम्बाई तथा चौड़ाई में सूजन फैल जाती है।

फेफड़ों में पीव पड़ना, परिगलन तथा गैंग्रीन होना श्वसन निमोनिया के प्रमुख क्षतस्थल हैं।

लक्षण—श्वसन तीव्र होकर रोगी को खांसी आना इस बीमारी का प्रारम्भिक लक्षण है। इसके बाद बुखार, निराशा, खान पान में अरुचि तथा दूध उत्पादन में कमी आदि लक्षण दिखाई पड़ते हैं। कुछ रोगियों में गौण निमोनिया होने पर फेफड़ों के क्षतस्थल शव-परीक्षण करने पर ही ज्ञात हो पाते हैं। प्राय प्राइमरी रोग की प्रकृति आगे आने वाले भय जैसे घर्घला, गर्भाशय शोथ आदि रोगों के प्रति आगाह कर देती है। कभी-कभी प्रारम्भ से ही गौण निमोनिया प्रबल होकर, प्राइमरी रोग को छुपा देती है। निमोनिया का निदान करते समय यह पता लगाना नितान्त आवश्यक है कि वह प्राइमरी है अथवा गौण।

प्राइमरी अवस्था का आक्रमण नमीयुक्त पशु-शालाओं यातायात के बाद रोगी को हवा लग जाने तथा वर्ष के ठंडे मौसम में एकाएक हो सकता है। घोड़ों में आंख की श्लेष्मल झिल्ली प्राय रक्त-वर्ण होती है तथा यह ढोरों में भी रक्तवर्ण हो सकती है। नाड़ी गति 60-100, श्वसन 40 90 तथा तापक्रम 103-106° फारेनहाइट हो जाता है।

गौण निमोनिया से पीड़ित ढोरों तथा सुअरों में तापक्रम नार्मल हो सकता है। पशु कठिनता से सांस ले पाता है तथा ढोरों में बहुधा कराहने की आवाज होती है। मुंह खोल कर साँस लेना, जीभ का बाहर निकालना, होठों का सिकोड़ना तथा झाग डालना आदि लक्षण ढोरों में फेफड़ों के खराब होने का सूचक हैं। अत्यधिक श्वासकष्ट में फेफड़ों की सूजन से फेफड़ा तन्तु फट सकते तथा त्वचा के नीचे वायु एकत्रित हो सकती है। इस प्रकार रोग ग्रसित पशु का बचना काफी कठिन हो जाता है। नाक से गिरने वाले स्राव में विभिन्नता होती है। घोड़ों में यह बहुत ही थोड़ी मात्रा में होता है और नथुनों पर ही सूख जाता है। यदि बड़ी ब्रोंकाई रोग ग्रसित होती है तो यह स्राव अधिक मात्रा में निकलता है। ढोरों में नाक से श्लेष्मायुक्त स्राव बहता है। नथुनों पर रक्त की उपस्थिति या तो फेफड़ों में फोड़ा, अथवा फेफड़े की सूजन के साथ सक्रिय संकुलन का बोध कराती है। सुअरों में कोरिनेबैक्टीरियम पायोजिनस से होने वाली सेकेण्डरी पीवयुक्त निमोनियां के कारण नाक से पीवयुक्त स्राव बह सकता है। घोड़ों में फेफड़ों की सड़न से नाक के स्राव तथा श्वास में अत्यधिक बदबूदार महक आने लगती है। पशु को प्रायः खांसी होती है।

स्टेथॉस्कोप द्वारा परीक्षा करने पर विभिन्न प्रकार की आवाजें सुनाई पड़ती हैं। अभिघातज आमाशय शोथ की प्ल्यूरोन्युमोनिया (pleuro pneumonia) में कर्कश, हाँफने जैसी तथा शुष्क आवाजें मौजूद हो सकती हैं। दवा पिलाने के कारण होने वाली निमोनिया में वक्षस्थल की दीवाल के निचले एक तिहाई भाग में बुदबुदाहट का स्वर सुनाई पड़ता है। प्राइमरी निमोनिया की प्राथमिक अवस्थाओं में ऊँचे स्वर की सिस्कार अथवा धीमी चुरचुराहट की आवाजें अधिक सामान्य हैं जबकि बीमारी की अग्रिम अवस्था में प्लूरिसी के साथ अस्पष्ट घिसाव जैसी आवाजें तथा गुनगुनाहट का स्वर सुनाई पड़ता है। अधिक किन्तु अपूर्ण घनीभवन होने पर ब्रोंकाई के खुले रह जाने से श्वसनिका-श्वसन सुना जा सकता है। इसे नलिकाकार अथवा फुंकन श्वसन (blowing breathing) भी कहते हैं। बछड़ों में यह अधिक होता है जो केवल नार्मल कंठनालीय अथवा श्वासनलिकीय स्वर का विकसित रूप है। सीने पर स्टेथॉस्कोप रखकर सुने जाने वाले सभी स्वरों में से यह सबसे वेगयुक्त होता है। जब घनीभवन पूर्ण हो जाता तथा विकृत क्षेत्र एवं नार्मल फेफड़ा तन्तुओं के बीच पहिचान की रेखा अस्पष्ट दिखाई पड़ने लगती है तो वहाँ बिल्कुल ही आवाज नहीं सुनाई देती। यह अवस्था बच्चों में अधिक देखी जाती है। निमोनिया के अधिक वेग में जबकि कभी-कभी घनीभवन पूर्ण तथा अत्यधिक हो जाता है तो स्टेथॉस्कोप से कोई भी आवाज नहीं सुनाई देती। रोग के उग्र प्रकार में फेफड़े के निचले किनारे पर आवाजें अधिक स्पष्ट होती हैं तथा दीर्घकालिक प्रकार में कहीं भी सुनी जा सकती हैं। गायों में कुछ तीव्र तथा दीर्घकालिक विकीर्ण अवस्थाओं में दोनों फेफड़ों की पूरी सतह पर स्पष्ट आवाजें सप्ताहों तक मौजूद रह सकती हैं। स्टेथॉस्कोप से छिद्रिल स्वर अथवा श्वसन आवाजें सुनने पर दायें फेफड़े में काफी विभिन्नता मिल सकती है। यह बीमारी का होना प्रदर्शित करती है।

परिताडन (percussion) करने पर सभी प्रकार की निमोनिया में रोगी दर्द का अनुभव करता है। परिताडन का दर्द घोडा में कम सामान्य है, जहा यह प्लूरिसी (pleurisy) का सूचक है। सुस्त, भद्दी अथवा अफारा की भाति डम डम की विकसित आवाजें अत्यधिक घनीभवन के क्षेत्र प्रदर्शित करता है। प्राय ऐसा सीने के निचले किनारे के साथ होता है। परिताडन द्वारा रोग की प्रकृति का अनुमान करना अभ्यास के ऊपर निर्भर होता है। परिताडन करते ही रोगी का खांसना निमोनिया का सूचक है। वक्षस्थल की दीवाल पर आधे अथवा एक तिहाई भाग में भद्दापन होना वक्षीयगुहा में तरल पदार्थ की उपस्थित का द्योतक है। इस हालत में कष्टप्रद श्वास देखने को मिलता है। रोग की अवधि काफी भिन्न होकर बीमारी की प्रकृति पर निर्भर करती है। वैसे तो बीमारी की प्राइमरी अवस्था लगभग एक सप्ताह में समाप्त हो सकती है, किन्तु यह अनिश्चित काल तक चल सकती है और बाद में दीर्घकालिक अवस्था में भी परिवर्तित हो सकती है। सामान्यतय दो से पाँच दिन में निगलन निमोनिया प्राणघातक सिद्ध होती है। किन्तु गायो में कभी-कभी यह महीनों तक चलती देखी गई है। वेगस निमोनिया का कोर्स काफी लम्बा होता है। प्राइमरी विकीर्ण निमोनिया में बछडो को छोडकर शेष पशु बाहर से देखने पर स्वस्थ मालूम पडते हैं। गौण निमोनिया का फलानुमान सदैव गम्भीर होता है तथा कठिनता से ही रोगी अच्छा हो पाता है जबकि प्राइमरी अवस्था से पीडित पशु शीघ्र ही ठीक हो जाता है।

निदान—निदान के विचार से निमोनिया में दो प्रमुख समस्यायें हैं एक तो रोग की पहिचान और दूसरे यह जानना कि यह प्राइमरी, गौण, निगलन अथवा कृमिज (verminous) इत्यादि किस अवस्था में है। साधारण तौर पर श्वसन-तन्त्र का परीक्षण करके एक या अधिक भौतिक लक्षणो द्वारा रोग को पहचाना जा सकता है। इसमें से तेज श्वास प्रश्वास, कफ, आवाजें तथा सीने को थपथपाने पर खांसी उत्पन्न होना कुछ प्रमुख लक्षण हैं। इनके साथ ही सामान्य लक्षणो के प्रकोप, मौसम तथा पुर प्रवर्तक कारको (predisposing factors) पर भी विचार करना आवश्यक है। यह जाच करते समय कि यह रोग गौण है अभिघातज आमाशय शोथ, थनैला, गर्भाशय शोथ तथा किसी अन्य पीवयुक्त अवस्था की उपस्थिति पर भी विचार करना चाहिए। श्वासनली शोथ की निमोनिया से सम्भ्रान्ति हो सकती है। कैबट[11] (Cabot) के अनुसार 'उग्र श्वासनली शोथ के अधिकाश रोगियो में ब्रांकोन्युमोनिया की फुन्सियाँ भी उपस्थित रहती हैं।"

सुरपका अथवा बछडो की निमोनिया के परिणामस्वरूप होने वाली गायो की दीर्घकालिक स्थानीय निमोनिया, ऐसे लक्षण प्रकट कर सकती है जिससे कि अभिघातज आमाशय शोथ का अनुमान किया जाता है। एक बछिया जो कि पहली बार पिछले अक्तूबर में ब्यायी उसका शरीर क्षीण हुआ, कम चारा खाया तथा पशुशाला में बाधकर रखने पर वह धराशायी न हुई। उसमें बायीं स्टेफिल संधि पर सूजन तथा लगडापन था। श्वसन तथा तापक्रम सामान्य होकर नाडी गति केवल ३२ थी। यह पशु लगभग दो माह तक निरीक्षण में रहा। श्वसन तन्त्र की खरखराहट की कुछ आवाजें बार बार परीक्षा करने पर कभी कभी सुनाई देती थीं। पशु खांसता नहीं था। परिताडन करने पर सीने तथा उदर के

किसी भी भाग पर घाव जैसी भद्दी आवाज मिल सकती थी किन्तु यह यकृत के क्षेत्र पर विशेष तौर पर स्पष्ट थी। स्कन्ध प्रदेश (withers) के ऊपरी भाग पर रीढ की हड्डी पर छेदने पर बडी ही तेज प्रतिक्रिया होती थी। वर्थ-डीर्नोफर[17] (Wirth-Diernhofer) के इस कथन तथा लक्षणो के कारण कि दीर्घकालिक उदर झिल्ली शोथ तथा दीर्घकालिक आत्रांति के कारण नाड़ी गति धीमी हो सकती है, पशु का रूमेन काटकर देखा गया किन्तु उसमें कोई भी असाधारणता न पायी गई। इसके बाद यकृत में छोटे छोटे अनेक फोड़े होने का निदान हुआ जो सम्भवत दीर्घकालिक पदचर्मशोथ (chronic pododermitis) के परिणामस्वरूप थे। खुरी के बीच टिसुओ में निम्न कोटि का दीर्घकालिक सक्रमण उपस्थित था और अनुमानत यही स्टेफिल की सूजन का कारण था। रक्त परीक्षण करने पर उसमें 10–30 प्रतिशत नार्मल तथा 87 प्रतिशत न्युट्रोफिल मिले जो कि दीर्घकालिक सक्रमण का होना प्रकट करते थे। पशु प्रतिदिन थोडा थोडा खाता था किन्तु अत में निरन्तर बढ़ने वाली क्षीणता से उसकी मृत्यु हो गयी। 7 मई सन् 1952 को पशु की लाश चीरकर देखने पर "दायें भित्तिक प्लूरा (parietal pleura) पर पीले रग का पदार्थ जमा था, फफडे के दायें ऊपरी खण्ड में फोडा था तथा उसमें हल्का हरापन लिए हुए पीव भरा हुआ था। दाया हृत-खण्ड (cardiac lobe) कडा हो गया था तथा श्वसनिकाओ में पीव भरा हुआ था। मध्यच्छद खण्ड (diaphragmatic lobe) के पिछले भाग में थोडा सा मवाद था। फुफ्फुस सवर्धन से ऐक्टिनोमाइसीज़ नेक्रोफोरस तथा एनारोबिक स्ट्रेप्टेकोकस जीवाणु प्राप्त हुए। पशु के फेफडो में परिगलन-बैसिलस द्वारा होने वाली स्थानीय ऊतिगलन का बर्नार्ड बैंग[18] (Bernhard Bang) द्वारा सन् 1890 में वर्णन किया गया।

चिकित्सा—सामान्य देखभाल, रोगी को थपेडेदार हवाओ से रहित शुष्क स्थान देना प्रथम उपचार होना चाहिए। पशु को खुली हवा का प्रयोग कराना काफी लाभदायक है किन्तु जाड़े की ऋतु में ताजी वायु का सेवन कराने पर रोगी को ठड आदि से बचाना काफी कठिन हो जाता है। शुष्क वातावरण, मध्यम तापमान (60-65° फारेनहाइट), पूर्ण आराम तथा शक्तिदायक आहार रोगी की अनिवार्य आवश्यकतायें हैं। पशु को बार बार करके कई बार में थोडा थोडा ताजा जल पिलाना चाहिए। ठडा तथा नम मौसम निमोनिया में अहितकर है अत ऐसे पशुगृह से रोगी को निकाल कर शुष्क तथा गर्म स्थान में रखने से तुरन्त लाभ होता है। अच्छे मौसम में खुली हवा का सेवन कराना काफी गुणकारी है।

सल्फानिलामाइड, विशेषकर सल्फामेराजीन एव सल्फामेजाथीन के आविष्कार के बाद निमोनिया के वेग, अवधि तथा प्रकोप आदि में भारी कमी हो गई है। राबर्ट्स और कीसेल[12] (Roberts and Kiesel) की रिपोर्ट के अनुसार "न्यूयार्क स्टेट पशु चिकित्सा विज्ञान महाविद्यालय के चल-चिकित्सालय में पिछले बीस वर्षों में की गई ढोरो में निमोनिया की चिकित्सा के परिणामो की समीक्षा इस बात को सिद्ध करती है कि सल्फाओषधियों के प्रयोग से निमोनिया से मरने वाले पशुओं की सख्या में भारी कमी हुई है। आजकल हमारे यहा निमोनिया से मरने वाले पशुओं की सख्या केवल पांच प्रतिशत है।

गलाघोटू रोग से पीड़ित निमोनिया की अवस्था में 129 प्रौढ पशुओं में से सल्फामैराजीन, सल्फामेजाथीन तथा पेनिसिलिन के प्रयोग से 93 6 प्रतिशत रोगी ठीक हो गए। यह अन्य सल्फाऔषधियो के प्रयोग करने से प्राप्त होने वाले परिणामो से कही अधिक है।

93 बछडो की नयी पायरिमिडीन (सल्फामेराजीन तथा सल्फामेजाथीन) द्वारा चिकित्सा करने पर 81 7 प्रतिशत रोगी ठीक हो गए।

½ से ¾ ग्रेन की मात्रा में प्रति पौण्ड शरीर भार पर सोडियम सल्फामेराजीन तथा सोडियम सल्फामेजाथीन के 5 से 12 प्रतिशत घोल के प्रयोग से विषैली प्रतिक्रिया नही देखी गयी। निमोनिया तथा अन्य अवस्थाओ के लगभग 150 रोगियो में से, जिनको कि इन औषधियो के सोडियम लवणो का सेवन अन्त शिरा इजेक्शन द्वारा कराया गया, केवल दो में विषैली प्रतिक्रिया देखी गई।

मेकआलिफ[13] (Mcauliff) ने निमोनिया से पीडित 27 बछडो तथा गलाघोटू निमोनिया से पीडित 122 रोगियो में सल्फामेराजीन का प्रयोग करके 90 प्रतिशत से अधिक रोगियो को ठीक कर लिया। क्रिश्चियन[14] (Christian) ने देखा कि गायों तथा बछडो दोनो को नित्य एक ग्रेन प्रति किलोग्राम शरीर भार की दर पर सल्फामेजाथीन खिलाना काफी प्रभावकारी सिद्ध हुआ। रोग की अति तीव्र अवस्था में सोडियम सल्फामेजाथीन को प्रारम्भिक मात्रा अत शिरा इन्जेक्शन द्वारा दी गई। 43 रोग ग्रसित बछडो में से 42 तथा 8 में से आठो गायें ठीक हो गईं। औषधि की स्वीकृत मात्रा की दोगुनी खुराक पशु को देने पर भी किसी में विषैली प्रतिक्रिया नही देखी गई।

ढोरो की निमोनिया में पास्चुरेल्ला ग्रुप के बैक्टीरिया का प्रकोप होने के कारण ऐंटीसीरम काफी प्रयोग किया जाता है जिससे कि पशुओं में रोग के प्रति अल्पकालीन प्रतिरक्षा आ जाती है।

निमोनिया की चिकित्सा में पैनिसिलिन का प्रयोग अभी हाल में ही बडा गुणकारी सिद्ध हुआ है। इस औषधि तथा अन्य प्रतिजैविक पदार्थों के चमत्कारी गुणो के कारण निमोनिया में इनका प्रयोग उसके अनेक लक्षणों तथा आगे होने वाले दुष्परिणामो को रोक देता है। चूकि पास्चुरेल्ला जीवाणु ग्राम ऋणात्मक (gram negative) तथा पैनिसिलिन के प्रति सहनशील है और चिकित्सा के समय निमोनिया में किसी छुतैले कारक की उपस्थिति प्रयोगात्मक रूप से अभी तक अनविज्ञ है, अत पैनिसिलिन को या तो प्रतिजैविक पदार्थों के साथ मिलाकर दिया जाता है अथवा 24 घटे में आशातीत लाभ न होने पर दूसरे से बदल दिया जाता है। इसकी स्वीकृत मात्रा 1000 से 2000 यूनिट प्रति पौण्ड शरीर भार है और इसे या तो मोम और तेल के साथ अथवा प्रोकेन पैनिसिलिन के रूप में अत पेशी इन्जेक्शन द्वारा एक अथवा दो खुराको में 12 से 24 घटे के अवकाश पर दिया जाता है। रोग के अधिक वेग में प्रति तीन या चार घटे के अवकाश पर पैनिसिलिन का इन्जेक्शन दने से पशु के रक्त में रोग के प्रति अधिक सहनशक्ति उत्पन्न हो जाती है। पैनिसिलिन दने के बाद 24 से 48 घटे तक यदि कोई लाभदायक प्रतिक्रिया नही होती तो यह समझना चाहिए कि रोग का कारण पैनिसिलिन प्रतिरोधी ग्राम-ऋणात्मक जीवाणु

हैं, अतः ऐसे समय में आरोमाइसिन, टेरामाइसिन अथवा स्ट्रेप्टोमाइसिन के प्रयोग से अधिक सफलता प्राप्त की जा सकती है। गो-पशुओं में निमोनिया की चिकित्सा में क्रोम्ले आदि[15] (Cromley et al) ने 500 पौण्ड शरीर भार तक के बछड़ों को 500. मिलीग्राम प्रति 24 घंटे बाद तथा 500 पौण्ड से अधिक शरीर भार वाले पशुओं को 1 ग्राम की मात्रा में टेरामाइसिन के अंतःशिरा इन्जेक्शन द्वारा बड़े अच्छे परिणाम निकाले हैं। बरखर्त[16] (Burkhart) के अनुसार तत्काल लाभ के लिए रोगी को 5 मिलिग्राम प्रति पौण्ड शरीर भार की मात्रा में नित्य आरोमाइसिन का अंत.शिरा इन्जेक्शन देना चाहिए।

संदर्भ

1. Frohner, E., Lehrbuch der spez. Path. u. Therapie, ed. 8, vol. 2, 1920.
2. Osler-Mc-Crae, Modern Med., ed. 2, vol. II, 1914, p. 957.
3. Osler's Principles and Practice of Medicine, ed. 13, New York, Appleton, 1938.
4. Wyssman, E., Ueber infektiose Bronchitis and Bronchopneumonie beim Rind, Schweizer Archiv f. Tk., 1922, 64, 357.
5. van der Ween, Tidschr. v. Duergeneesk, 1922, 49, 463.
6. Birch, R. R. and Benner, J. W., Pseudomonas pyocyaneus as a factor in pneumonia of swine, Cornell Vet., 1920, 10, 176.
7. Marsh, H., Progressive penumonia in sheep, J.A.V.M.A., 1923, 62, 458.
8. Creech, G. T., and Goechenour, W. S., Chronic progressive pneumonia of sheep, with particular reference to its etiology and transmission J. Agr., Res., 1936, 52, 657.
9. Poulton, W. F., A. contagious pleuropneumonia affecting sheep and goats, Vet., J., 1924, 80, 432.
10. Haring, C. M., and Meyer, K. F., Investigations of Live-stock Conditions, and Losses in the Selby Smoke Zone, Washington, Govt. Printing Office, Dept. of the Interior, 1915.
11. Cabot, R. C., Physical Diagnosis, ed. 6, 1915, p. 273.
12. Roberts, S. J., and Kiesel, G. K., Treatment of pneumonia in cattle, J.A.V.M.A., 1948, 112, 34.
13. Mc. Auliff, J. L., Clinical use of sulfamerazine in the treatment of hemorrhagic speticemia and pneumonia in cattle, J.A.V.M.A., 1947, 110, 314.
14. Christian, A. B., Control of pneumonia in cattle with sulfamethazine, Vet. Med., 1948, 43, 518.
15. Cromley, C. W., and Hagley, J. M., Vet. Med., 1951, 46, 219.
16. Burkhart, R. L., N. Am. Vet., 1951, 32, 238.
17. Wirth-Diernhofer Lehrbuch der inneren Krankeeiten der Hausteire, Ferdinand Enke, Stutgart, 1950.
18. Bang, Bernhard, Ueber die Ursche der lokalen Nekrose 1890, Bernhand Bang Selected Works, 1936.

बछड़ों की छुतैली न्युमोनिया

(Enzootic Pneumonia Of Calves)

कारण—बडे बडे प्रजनक यूथा में बछडा की यह बहुत ही भयानक एक तीव्र छुतैली बीमारी है। छोटे यूथा में यह काफी कम तथा हल्के रूप में प्रकोप करती है।

बछडा की निमोनिया पशुओं की उस समूह की बीमारियो में से एक है जो कि कुप्रबंध तथा गंदगी के कारण हुआ करती है और एक बार प्रकोप करके पारस्परिक सम्पर्क द्वारा एक पशु से दूसरे को लगा करती है। बीमारी के प्रति कम सहन- शक्ति रखने वाले पशुओं में सर्वप्रथम इसका आक्रमण कोरिनेबैक्टीरियम पायोजिनस जीवाणुओ के अधिक सक्रिय होने से हुआ करता है। रोग के विकास के साथ यह जीवाणु अधिक शक्तिशाली होकर एक पशु से दूसरे पशु में रोग संचार कर सकते हैं। ऐसी ही अवस्था मनुष्य में ब्रोंकोन्युमोनिया में देखने को मिलती है जहा कि प्रमुख जीवाणु न्युमोनोकोकाइ तथा स्ट्रेप्टोकोकस एपिडेमिकस होते हैं।

रहन-सहन—शीतोष्ण जलवायु वाले प्रदेशा में बिना रोशनदान वाले अंधेरे पशुगृह प्राय इसका कारण बनते हैं। जहाँ बछडे बडे पशुओं से अलग रखे जाते हैं वहाँ का तापक्रम बडे पशुओ की शारीरिक गर्मी की अनुपस्थिति के कारण एक समान नही रह पाता। कृत्रिम रूप से दी जाने वाली गर्मी, जब तक कंट्रोल का प्रयोग न किया जाये, सदैव निम्न तापक्रम की होती है। तेज हवा के कारण एकाएक तापमान गिरने अथवा गर्म तथा नम वातावरण के कारण वायु के स्थिर हो जाने पर, प्राय रात्रि में ऐसा हुआ करता है। रोशनदान के कुछ ढग ऐसे भी हैं जो कि मनुष्य के कंट्रोल पर आश्रित नहीं होते। इसमें से बिना हटाव वाले प्रमुखतौर पर अवांछनीय है। जब हवा घुसती है, यह एकाएक बछडा पर पडकर उनको बीमार कर सकती है। अन्दर आने वाली वायु मोरिया द्वारा पूरी पशुशाला में धीरे धीरे समान रूप से वितरित होनी चाहिए। ऐसा वायु वाहक मोरिया को छत के नीचे लटकी हुई 18-24 इंच चौडी तथा उसे 4 इंच ऊंचाई की दीवालों वाली एक छिछली नाद से सबंधित करके किया जा सकता है। इस खुली हुई मोरी से वायु किनारे पर गिरती है और झोंका नहीं बना पाती। बाहर जाते समय हवा को फर्श से ऊपर जाना चाहिए। जाड़ों की ऋतु में बछडा-गृहों में हवा को बाहर ले जाने वाले रोशनदान का छत के पास होना उपयुक्त नहीं है। यदि पशुशाला का गर्म किया जाये तो अन्दर आने वाली वायु पशुशाला में घुसने से पूर्व गर्म करने की यूनिट द्वारा पास होनी चाहिए। वांछनीय तापक्रम 45 से 55° फारेनहाइट है। सबसे बडा खतरा अधिक भीड, तूफानी हवाओ, स्थिर वायु, तथा कृत्रिम गर्मी के प्रयोग के समय अत्यधिक तापक्रम का होना है। सफाई के होते हुए भी कभी कभी निमोनिया कुछ पशुओं में पूर्णतया स्वस्थ होने पर भी विकसित होकर धीरे-धीरे अथवा जल्दी यूथ के अनेक पशुओं में प्रकोप करने लगती है। एक ओर से खुले हुए पशुशालाओं में पाले गये बछडों में निमोनिया का न होना इस बात को प्रदर्शित करता है कि गो-पशु एक बाहर रहने वाला जानवर है तथा स्वच्छता के स्वीकृत मानकों के अन्तर्गत बने पशु-गृह श्वासनली के रोगों को उत्तेजित करते हैं।

खुले हुए दरवाजों तथा खिड़कियों, ठंडी हवादार पशुशालाओं तथा पत्थर अथवा कंक्रीट की दीवालों द्वारा पशु को ठंड लग सकती है। जब कंक्रीट की दीवालें तथा विभाजन साफ तथा जीवाणु रहित किए जाते है तो कमरे का तापक्रम काफी होने पर भी वे सर्दी फैलाते हैं और बछड़े प्रायः उनके ऊपर ही लेट जाते हैं। अच्छे रहन-सहन तथा सुप्रबंध के बाद भी ऐसे यूथों में जहाँ कि बछड़ों की निमोनियां प्रकोप करती हो, एकाएक मौसम के परिवर्तन रोग का नया आक्रमण लाते हैं और बछड़े जो कि पहले से ही बीमार होते हैं, उनकी हालत और भी खराब हो जाती है।

संकीर्ण बाड़ों में बछड़ों को पास-पास रखना अवांछनीय है क्योंकि छोटा बच्चा फर्श के निकट से सांस लेता है। यदि पारस्परिक सम्पर्क बचाने के लिए संकीर्ण दीवालें वांछनीय हों तो वे केवल बछड़े के सिर की ऊंचाई तक ही बनायी जावें। ऐसे बाड़ों की चौड़ाई 6 फीट से कम नहीं होनी चाहिए। छोटे बछड़ों को अधिक संख्या में एक साथ रखना निमोनिया को निमंत्रण देना है और बाड़े में अधिक भीड़भाड़ तथा मौसम की गड़बड़ी होने पर रोग का वेग तथा मृत्यु दर और भी अधिक बढ़ जाता है। एक बार रोग जब प्रकोप कर चुका हो तो यह पशु समूहों में पारस्परिक सम्पर्क से फैलता है। सामान्य तौर पर जिस प्रकार खान-पान की गड़बड़ी से दस्त रोग होता है उसी प्रकार गंदा वातावरण तथा जलवायु निमोनिया को उत्तेजित करने का प्रमुख कारण है। जब कभी किसी बछड़ा गृह में अन्य बछड़ों के साथ रहने पर एक बछड़े को निमोनिया रोग हो तो यह निश्चित समझना चाहिए कि उसमें आवश्यकता से अधिक भीड़ है। स्वच्छ बछड़ों के लिए पर्याप्त स्वीकृत फर्श-स्थान भी श्वासनली के रोगों के प्रकोप करने पर अपर्याप्त हो जाता है। प्रत्येक बछड़े के लिए 36 वर्ग फीट स्थान व्यक्तिगत रूप से काफी है।

सहचारी रोग (associated diseases)—3 से 6 सप्ताह की उम्र में बछड़ों को निमोनिया रोग के साथ प्रायः दस्त आने लगते हैं। ऐसा निमोनिया के लक्षण प्रकट होते ही अथवा कुछ दिनों बाद तथा कुछ बच्चों में रोग के समाप्त होने के समय हुआ करता है। जब इस उम्र पर दस्त जारी रहते है तो उन्हें निमोनिया का संदेह किया जा सकता है। जीवन के प्रथम कुछ दिनों में दस्त आने पर निमोनिया बहुत कम होती है। जिन रोगियों में निमोनिया तथा दस्त दोनों मौजूद हों तो ऐसे रोग को न्युमोनोआंत्रार्ति (pneumonoenteritis) कहते हैं। निमोनिया से पीड़ित अधिकाश बछड़ों में दस्त रोग नहीं होता।

आयु ग्रहण शीलता—लगभग 3 सप्ताह की आयु पर बछड़ों में यह रोग प्रारम्भ होता है तथा 6—8 सप्ताह की उम्र पर अधिकतम हुआ करता है। तत्पश्चात् 4 माह तक यह कम होता चला जाता है। वैसे तो यह रोग बछड़ों में किसी भी आयु पर हो सकता है तथा 6 माह की आयु वालों में भी इसका आक्रमण होते देखा गया है, किन्तु 4 माह की उम्र वाले स्वस्थ बछड़ों में इस रोग के प्रति सहन शक्ति उत्पन्न हो जाती है। रोग के प्रकोप करते समय 10 दिन के बछड़े को भी यह रोग हो सकता है और उनके फेफड़ों में जन्म के तत्काल बाद से ही क्षतस्थल देखे जा सकते हैं। ऐसे असाधारण रोगियों में यह

बीमारी फेफडो तथा आहारनाल तक सीमित क्षतस्थला के साथ बछडा की रक्त विषाक्तता से मिलती-जुलती है।

मौसम—प्राय यह नवम्बर से प्रारम्भ होकर जाड़ो भर चलती रहती है तथा अप्रैल और मई के ठंडे होने पर वसंत की ऋतु में यह बहुत ही नष्टकीय हो जाती है। जून से सितम्बर तक यह यदा-कदा ही हुआ करती है। फिर भी कभी-कभी इसके छुतैले प्रकोप सुप्रबन्ध तथा अच्छे वातावरण में रखे गये बछडो में भी सितम्बर के महीने में हो सकते है।

संक्रमण (infection)—कभी-कभी केवल छूत ही इसका प्रमुख कारण देखने को मिलता है। गर्मियो में अत्यन्त स्वच्छ परिस्थितियो में भी यह बीमारी प्रकट हो सकती है और स्वस्थ यूथ में इसका प्रकोप रोग ग्रसित बछडे को खरीदने से हो सकता है। अनेक जीवाणु लिप्ति हो चुके होते है और प्रयोगशाला परीक्षण ऋणात्मक परिणाम दे सकते है। एक प्रकोप में कुछ दिन बीमार रहकर मरे हुए बछडे के फेफडे जीवाणुरहित हो सकते है जब कि ३-४ सप्ताह तक बीमार रहने वाले बछडो के फेफड़ा में असख्य स्ट्रेप्टोकोकाइ पाये जाते है। ऐसे परिणामो से यह निष्कर्ष नही लगा लेना चाहिए कि स्ट्रेप्टोकोकाइ रोग का कारण बनने में भी महत्वपूर्ण स्थान रखते है। इसका बैक्टीरियल कारण प्राय पास्चुरेल्ला जीवाणु है। जोन्स और लिटिल[1] (Jones and Little) द्वारा वर्णित बछडों में न्युमोनिया के एक प्रकोप में पास्चुरेल्ला बोवीसेप्टिका 'टाइप I' नामक जीवाणु फेफडो से तैयार किए गए सवर्धन में पाये गये। इन सवर्धनों से बछडा में सर्दी-जुकाम नामक रोग को सरलता से फैलाया जा सका। सर्दी-जुकाम अथवा निमोनिया से पीडित अन्य रोगियो के नाक से निकलने वाले स्राव में भी यही जीवाणु पाया गया। सम्भवत. कुछ बछडे इस रोग के स्वस्थ वाहक होते है। गर्भाशय में पूर्ण वृद्धि प्राप्त बछडो को ब्रुसेल्ला एबार्टस द्वारा होने वाली प्राणघातक निमोनिया स्मिथ[2] (Smith) ने वर्णन की है। यह जीवाणु ऐमनिओटिक द्रव द्वारा वायुकोष्ठिका की दीवाल के सपर्क में आता है। बैक्टीरिया जिनके द्वारा निमोनिया होती है कोरिनेबैक्टीरियम पायोजिनस (वार्ड[3]), कोलन बैसिलस तथा अन्य[4] है।

कोरिनेबैक्टीरियम पायोजिनस से होने वाली बछडो की निमोनिया की एक महामारी स्कमिड[5] (Schmid) द्वारा वर्णन की गई है। कई बछडों से प्राप्त सवर्धन में पायोजिनस के ऊपर स्ट्रेप्टोकोकाइ तथा अन्य बैक्टीरिया उग आये। यह छूत गदी बाल्टिया के माध्यम से फैली।

मिली-जुली छूत भी प्राय देखने को मिलती है तथा एक ही महामारी में एक बछडे के फेफडो से कोरिनेबैक्टीरियम पायोजिनस तथा दूसरे से पास्चुरेल्ला का विशुद्ध सवर्धन प्राप्त किया जा सकता है। चूंकि बीमारी के जीवाणु-विज्ञान का वर्तमान ज्ञान उसके निदान अथवा कन्ट्रोल के लिए नहीं प्रयोग किया जा सकता, यह विभिन्नतायें बीमारी की केवल अविशिष्ट प्रकृति को स्पष्ट करती है।

यह सिद्ध करने के लिए कि बछडो की निमोनिया एक वाइरस रोग है, अनेको प्रयोग किए जा चुके है। बेकर[6] (Baker) द्वारा किये गये सचारण के प्रयोग ने उसे इस परिणाम पर पहुँचाया कि बछडा में छुतैलो निमोनिया तथा दस्त रोग छनने योग्य (filt-

erable) वाइरस द्वारा हुआ करता है। रोग ग्रसित बछड़ों में से उसने एक बैक्टीरिया रहित पदार्थ पाया जो कि बर्कफेल्ड एन (Berkefeld N) फिल्टर से निकल जाने की क्षमता रखता था। सफेद चुहिया की नाक में इस पदार्थ का इन्जेक्शन देना निमोनिया उत्पन्न कर देता था। तत्पश्चात् चुहिया में मौजूद पदार्थ का बछड़ों की नाक में इन्जेक्शन देने पर निमोनिया उत्पन्न हो जाती थी। बाड़ों में पारस्परिक संपर्क से यह रोग बछड़ों में फैला जो कि हर प्रकार से प्राकृतिक छूत से होने वाले रोग की भाँति ही था। चूंकि बछड़ों में निमोनिया और दस्त प्राय: निमोनिया अथवा दस्त के रूप में विभिन्न आयु पर प्रकोप करते हैं, अत: इस महत्वपूर्ण समूह के रोगों में एक वाइरस को दोषी ठहराने के लिए अतिरिक्त पुष्टता की आवश्यकता है।

विकृत शरीर रचना—बीमारी के तीव्र प्रकोप में सम्पूर्ण फेफड़े संकुलित तथा उनके अग्र खण्ड कड़े हो जाते हैं। रोग के हल्के आक्रमण में फेफड़ों में फोड़े, परिगलित तथा पीवयुक्त श्वासनली शोथ के साथ ब्रोंकोन्युमोनिया हो सकती है। कुछ पुराने रोगियों के फेफड़ों में काफी विस्तृत संगमरमर के टुकड़ों जैसा क्षेत्र पाया जाता है। प्रारंभिक क्षतस्थल फेफड़ों के अग्र निचले खण्ड में होते हैं। निमोनिया से मरे बछड़े का शव-परीक्षण करने पर एक या दोनों अग्र खण्डों का निचला हिस्सा रोग ग्रसित मिलता है। प्राय: निमोनिया दोनों ही फेफड़ों में हुआ करती है। दोनों फेफड़ों के निचले हिस्से संघटित हो जाते हैं। संघटित क्षेत्र देखने में एक-समान गहरे लाल दिखाई देते हैं। गायों के गलघोटू रोग की निमोनिया की भाँति इसमें फुफ्फुस झिल्ली शोथ (pleuritis) तथा खण्डान्तर तन्तु मोटा नहीं पड़ता। काटी जाने वाली सतह काफी दृढ़ तथा गीली होती है। छोटे-छोटे धूसर रंग के दानों के कारण यह कटी हुई सतह दानेदार दिखाई देती है। यह दानें श्वेताणुओं का इकट्ठा होना प्रकट करते हैं। कटी हुई सतह गीली, समान रूप से लाल अथवा खुरदरी प्रतीत होती है। ब्रोंकाई में झाग, श्लेष्मा अथवा पीवयुक्त श्लेष्मा भरा रहता है। निमोनिया का प्रकार निस्रवित (exudaive) होता है तथा यह स्राव लाल रक्तकणों तथा श्वेताणुओं का बना होता है।

शरीर में कुछ शोथ उत्पन्न होकर दस्त भी आ सकते हैं। लाश को चीर कर देखने पर फाइब्रिनी फुफ्फुस झिल्ली शोथ मिलती है। प्राय: वक्षीय गुहा में तरल पदार्थ नहीं भरा मिलता। अत्यधिक नासा-स्राव होने पर फाइब्रिनी पीवयुक्त नासार्ति (fibrino purulent rhinitis) तथा साइनसशोथ (sinusitis) देखने को मिल सकती है।

लक्षण—सुस्ती, खाँसी तथा जल्दी जल्दी साँस लेना रोग के प्रारम्भिक लक्षण हैं। परीक्षा करने पर आँख की श्लेष्मल झिल्ली रक्तवर्ण दिखाई देती है। तापक्रम 103 से 106 डिग्री फारेनहाइट तक रहता तथा पशु धांसता है। श्वासनली के लक्षण प्रकट होने से एक दो दिन पूर्व स्वस्थ दिखाई देने वाले पशु का यदि तापक्रम लिया जाये तो बुखार मिलता है। सुस्ती, चारे में अरूचि, खुरदरे बाल तथा जल्दी जल्दी हालत का गिरना इस रोग के अन्य लक्षण हैं। बछड़ा मृत्यु के कुछ घंटे पूर्व तक दूध पीता रह सकता है। बीमारी के हल्के प्रकोप में श्वसन तथा तापक्रम में दैनिक विभिन्नता मिलती है। कभी कभी नाक से पीव अथवा श्लेष्मा मिश्रित स्राव गिरता है। इसका अधिक मात्रा में

निकलना अशुभ लक्षण है। स्टेथॉस्कोप से सुनने पर उच्च स्वर की सिस्कार जैसी आवाजें रोग के हल्के प्रकोप का, तथा भद्दी बुदबुदाहट अथवा श्वसनिका स्वर (bronchial sound) की उपस्थिति, गभीर लक्षणों का सूचक है। यदि बीमारी से मरे पशु की लाश खोलने पर बड़े-बड़े सघटित क्षेत्र मिलें तो ऐसे प्रकार में आवाजें बिल्कुल ही अनुपस्थित हो सकती हैं। ऐसे रोगी में श्वसन-ध्वनि बिल्कुल ही नार्मल अथवा काफी बढ़ी हुई (श्वसनिका श्वसन) हो सकती है। थपथपाने से खाँसी, दर्द तथा भद्दे क्षेत्र का अनुभव होता है। नियम के अनुसार थपथपाने से मिलने वाले परिणाम ऋणात्मक होते हैं, यद्यपि कि फाइब्रिनो फुफ्फुस झिल्ली शोथ में वक्षस्थल की पूरी दीवाल पर भद्दापन महसूस होता है। यदा कदा रोगी को दस्त भी आते हैं किन्तु बछड़े की कम आयु पर होने वाली रक्त-विपाक्तता के दस्तों से इसका कोई सबध नहीं होता। जब बछड़े को 3 सप्ताह की आयु से 6 माह तक लगातार दस्त आवें तो निमोनिया का अनुमान किया जा सकता है। तीव्र श्वास-प्रश्वास, धासना, तथा तेज बुखार इस रोग के प्रमुख नैदानिक लक्षण हैं। जब ऐसे लक्षण मौजूद हो तो निमोनिया का निदान करना सर्वथा उचित है चाहे वक्ष-परीक्षण से ऋणात्मक परिणाम क्यो न मिलें। शीघ्र प्राणघातक प्रकार की निमोनिया कम हुआ करती है। इसके प्रकोप में शीघ्र ही अवसन्नता होकर चौबीस घंटे के अन्दर रोगी की मृत्यु हो जाती है। रोग के भीषण प्रकोप में इस प्रकार के केस हुआ करते हैं और रुधिर विपाक्तता इसकी प्रमुख अवस्था है। बिना लक्षण प्रकट किए हुए ही फेफड़ों में अत्यधिक क्षतस्थलों के साथ निमोनिया रोग से बछड़े मर सकते हैं जबकि उनको रोग ग्रसित जानने के लिए नित्य ही तापक्रम लिया जाता रहा हो। रोग ग्रसित बछड़ों के समूह में से कुछ अच्छे, कुछ खाँसी युक्त तथा अन्य निमोनिया से पीड़ित मिल सकते हैं।

चित्र—2 न्यूमोनिया रोग से पीड़ित बछड़ा

इस रोग की अवधि अनिश्चित है। यदि दो सप्ताह के अन्त तक लाभ न दिखाई दे तो रोग प्रायः असाध्य हो जाता है। रोग प्रारम्भ होने के बाद दो से चार सप्ताह में रोगी की मृत्यु हो जाती है। मृत्यु इससे जल्दी अथवा महीनों बाद भी हो सकती है। कुछ रोगी पहले अच्छे होते हुए मालूम होकर बाद में मर जाते हैं। कुछ बिल्कुल ही अच्छे हो जाते हैं।

प्राय: या तो रोग के प्रारम्भ में अथवा काफी दिनों रोग भोगने के उपरान्त मर जाते हैं अथवा वे पूर्ण रूप से स्वस्थ न हो पाकर सदैव के लिए कमजोर हो जाते हैं। उनकी वृद्धि मारी जाती है। यद्यपि कि दस्त रोग से पीड़ित नवजात बछड़ों में कभी-कभी निमोनिया के क्षतस्थल मौजूद रहते है फिर भी यह नये ब्याये हुए बछड़ों की बीमारी नही है। कुछ को छोड़कर मृत्यु दर 50–75 प्रतिशत है, किन्तु प्रति-जैविक पदार्थों तथा सल्फा-औषधियों के प्रयोग से यह काफी कम की जा चुकी है। एक बाड़े में जहाँ काफी बड़ी सख्या में बछड़े रखे जाते है, अथवा जहाँ यूथ में बछडे प्राय. घटाये बढ़ाये जाते है उसकी अपेक्षा छोटे यूथ में यह रोग शीघ्र अच्छा हो जाता है। विभिन्न यूथो तथा एक ही यूथ में विभिन्न वर्षों में मृत्युदर घटती-बढती रहती है।

रोग के निदान में कुछ कठिनाइयाँ है। बछड़ो तथा युवा पशुओं में जाडों के दिनों में कभी-कभी सर्दी के एकाएक प्रकोप हुआ करते हैं। रोग ग्रसित बछड़ों के समूह में केवल कुछ ऐसे हो सकते है जो कि सामान्य से तेज सास लेते हैं और उन्हें 104 से 106 डिग्री फारेनहाइट तक बुखार होता है। इनमें से कुछ दो या तीन दिन में बिल्कुल ठीक हो जाते हैं तथा कुछ में निमोनिया के लक्षण प्रकट होने लगते है। ऐसे सभी ज्वरयुक्त तीव्र श्वास-नली के प्रकोपों को निमोनिया निदान करना चाहिए। रक्तविपाक्तता अथवा दस्त रोग से पीड़ित बछड़ों में भी निमोनिया से मिलते-जुलते लक्षण तथा क्षतस्थल हो सकते हैं। रक्त-विपाक्तता के बाद उन्हें गौण दीर्घकालिक निमोनिया भी हो सकती है। कुछ को छोड़कर इनमें विभेदी निदान करना अधिक कठिन नही होता क्योंकि दस्त रोग 3 दिन की छोटी आयु वाले समूह में तथा निमोनिया सदैव 3 से 6 सप्ताह या अधिक आयु वाले बछणों के समूह में होती है। वास्तव में यह अवश्य सभव है कि जहाँ गदगी रहती है उन फार्मों पर दोनों ही रोग एक साथ प्रकोप कर सकते है। निमोनिया जो कि प्रारम्भ से ही दीर्घकालिक हुआ करती है आसानी से पुरानी सर्दी अथवा खाँसी समझी जा सकती है। जब कभी सदेह हो, तो इसे निमोनिया निदान करना चाहिए। सर्दी के सभी प्रकोपो में प्राय. एक या दो पशु निमोनिया से पीड़ित हो जाते है। लगातार होने वाले दस्तो में सदैव ही निमोनिया होने की सभावना रहती है।

चिकित्सा—निमोनिया के भीषण प्रकोप में रोगी के ठीक होने की आशा बहुत ही कम रहती है। नमीयुक्त तथा ठडे स्थानो से शुष्क तथा गर्म स्थान में पशु को हटाकर रखना काफी गुणकारी है। रोगी को ताजी हवा का सेवन कराना वाछनीय है। निमोनिया से पीड़ित बछड़े को गोशाला में तत्काल तैयार किए हुए छोटे बाड़े में रखना सर्वोत्तम है। इस बाड़े के चारो तरफ टाट के पर्दे टाग देना चाहिए जिससे कि उसे खराब थपेड़े देने वाली हवा न लग सके। बछड़ो की निमोनिया में सल्फा-औषधियो तथा प्रतिजैविक पदार्थों, जैसे पेनिसिलीन, का प्रयोग बड़ा ही सफल सिद्ध हुआ है। सन् 1946 में श्वार्ट तथा बीस्टर[7] (Schwarte and Biester) ने बछड़ो की निमोनिया में पैनिसिलिन की उपयोगिता को रिपोर्ट किया। एक 6 सप्ताह की आयु का बछड़ा तीन दिन से बुरी तरह बीमार, खड़े होने में असमर्थ तथा 106 डिग्री फारेनहाइट बुखार से पीड़ित था। यह कुल 780,000 यूनिट सोडियम पेनिसिलीन पाकर बिल्कुल ही ठीक हो गया। यह पेनिसिलीन

उसको थोड़ी-थोड़ी मात्रा में प्रति तीन घंटे के अवकाश पर अधस्त्वक् (subcutaneous) इन्जेक्शन द्वारा 10 दिन तक दी गई थी। जैसा कि पृष्ठ 49 पर वर्णन किया गया है 80 से 90 प्रतिशत तक निमोनिया के रोगी ठीक हो चुके हैं। आजकल प्रतिजैविक पदार्थों में पेनिसिलिन और सल्फा-औषधियों में सल्फामेराजीन तथा सल्फामेजाथीन को उच्च श्रेणी में रखा गया है। यद्यपि कि पेनिसिलिन को अन्य औषधियों से अच्छा माना गया है और इसे सल्फा-औषधियों से भी तेज प्रतिजीवाणु पदार्थ कहा गया है फिर भी यह ग्राम ऋणात्मक जीवाणुओं के प्रति अन्य प्रतिजैविक पदार्थों जैसे आरोमाइसिन, टेरामाइसिन, स्ट्रेप्टोमाइसिन, क्लोरोमाइसिन अथवा सल्फा औषधियों की अपेक्षा कम काम करता है।

सल्फा औषधियों (सल्फामेराजीन, सल्फामेजाथीन) की पहले एक या दो दिन की स्वीकृत खुराक 1 ग्रेन प्रति पौण्ड शरीर भार (6.5 ग्राम प्रति 100 पौंड) है जो मुंह द्वारा दो तीन बार में खिलाई जाती है। तत्पश्चात अधिक से अधिक इसकी आधी मात्रा अगले 3 दिन तक खिलाई जाती है। खिलाने में होने वाली त्रुटियों को बचाने के लिए इसको टिकियाँ अथवा कैप्सूल के रूप में देना अधिक अच्छा है जो कि बछड़ों को छोटी गुलिका-बन्दूक (balling gun) के द्वारा सरलता से दिए जा सकते हैं। अति वेगयुक्त आक्रमण में शीघ्र प्रतिक्रिया के लिए $\frac{3}{4}$ से $1\frac{1}{2}$ ग्रेन प्रति पौण्ड शरीर भार के हिसाब से सोडियम सल्फामेराजीन अथवा सोडियम सल्फामेजाथीन का 25 प्रतिशत घोल अन्त शिरा इंजेक्शन द्वारा पहले दिन देकर, शेष तीन चार दिन तक $\frac{3}{4}$ ग्रेन प्रति पौण्ड शरीर भार की दर से देना चाहिए। इन दोनों सल्फा औषधियों के 5 प्रतिशत घोल को बराबर बराबर मात्रा में मिलाकर भी प्रयोग किया जा सकता है (मौरामेथ)।

बचाव—रोक थाम की सावधानियों को ध्यान में रखना बछड़ों की निमोनिया के बचाव का सर्वोत्तम उपचार है। नवजात बच्चों के रोग वाले पाठ में बताए गए रोक थाम के सभी उपाय अपनाने चाहिए। रोगी को स्वस्थ पशुओं से तुरन्त ही अलग कर दीजिए। इसका तात्पर्य यह है कि उनको स्थायी रूप से अलग बाड़ों में रखकर अलग रखे गए परिचारकों से ही उनकी देखभाल करायी जावे। जहाँ तक सम्भव हो अच्छे बछड़ों को एक दूसरे से दूर-दूर रखकर भीड़ को कम किया जाये। ऐसा निमोनिया से पहला पशु बीमार होते ही कर देना चाहिए। जब कभी एक रोगी बछड़ा समूह के अन्य साथियों से अलग किया जाये तो उसके स्थान पर कोई दूसरा स्वस्थ बछड़ा न रखा जाये। यदि कोई नया बछड़ा यूथ में नहीं मिलाया जाता तो इस अवधि में बचे हुए बछड़े 4 से 8 सप्ताह वाली संदेहात्मक आयु पार कर चुके होते हैं। जब कभी निमोनिया का प्रकोप हो तो नए आने वाले बछड़ों को ऐसे पशुगृहों में रखा जावे जिनमें पहले बछड़े न बांधे गए हों।

निमोनिया से बचाने के लिए विभिन्न प्रकार के पशुगृह बनाए गए हैं। छोटी छोटी यूनिटों में बने हुए पशुघर, जो कि छोटी-छोटी यूथों की भाँति ही परिस्थितियाँ बनाए रखते हैं, अधिक उपयुक्त हैं। उदाहरणार्थ, न्यूयार्क स्टेट कृषि महाविद्यालय के पशु पालन विभाग के बछड़ा गृह 18×24 फीट की माप के हैं। प्रत्येक बाड़े में 6×6 वर्ग फीट के आठ कमरे हैं। उनमें छत के निकट चार छोटे रोशनदान हवा लेने के लिए तथा

एक बड़ा द्वार हवा बाहर निकालने के लिए फर्श के निकट एक किनारे पर खुलता है नियमानुसार एक कमरे में केवल एक ही बछड़ा रखा जाता है यद्यपि कि दो नवजात बछड़े भी एक साथ रखे जा सकते हैं। न्युजर्सी प्रयोग केन्द्र[8] पर इस सिद्धान्त पर कि बछड़ों को कंक्रीट के फर्शों के ऊपर पालने से श्वासनली के रोगों से बचाव होता है, लोहे के बने हुए जाली के हल्के फर्श लगाए गए हैं। परस्पर सीधा संपर्क बचाने के लिए बछड़ों को एक दूसरे से काफी दूर एक ही कतार में बांधा जाता है। लोहे अथवा तार की बनी जाली के फर्श नाली के बहाव तथा सफाई के कारण फर्श के काफी ऊपर उठाकर रखने चाहिए। बाड़े बनाने की इस विधि में पशुओं की देखभाल तथा खिलाने-पिलाने में कम से कम परिश्रम की आवश्यकता पड़ती है। इन दोनों विधियों में व्यक्तिगत रूप से प्रत्येक बछड़े को एक दूसरे से अलग रखा जाता है जिससे कि परस्पर सीधा संपर्क न हो सके, किन्तु जालीदार फर्श पर बाड़े में बछड़ों का अधिक घनाव रहता है। बछड़ों में दस्त रोग वाले पाठ (चित्र 19) में वर्णन की गयी बछड़ों के पालने की खुली बाड़ा विधि (open pen method) द्वारा कुछ बड़े बड़े उन यूथों में निमोनिया के प्रकोप को बिल्कुल ही बचाया जा चुका है, जहां कि गत वर्षों में इस रोग से काफी क्षति हुआ करती थी।

अलग अलग पशुशालाओं के प्रयोग करने में यह वांछनीय है कि एक यूनिट को पूरी तौर से नए ब्याये बछड़ों से भर दिया जाये और जब तक इनको पुराने स्टाक से खाली होने वाले कमरों में न भेज दिया जावे तब तक पहले यूथ में नया बछड़ा न मिलाया जावे। इस प्रकार इस प्रयोग से उस आयु के बछड़े जिनको निमोनिया होने का अधिक भय रहता है, एक ही समय में विभिन्न यूनिटों में वितरित न हो सकेंगे।

बछड़ों के जिन ग्रूपों में यह रोग होता है उनमें पास्चुरेल्ला जीवाणुगत पदार्थ के ताजे तैयार किए हुए घोल से बचाव का टीका देने से काफी लाभ होता है। कुछ बड़े यूथों में बछड़ा पैदा होते ही यह टीका दे दिया जाता है। इसे पहले दिन 1 घ० सें०, दूसरे दिन 2 घ० सें०, तीसरे दिन 3 घ० सें० तथा चौथे दिन 4 घ० सें० की मात्रा में दिया जाता है। इस प्रकार बढ़ती हुई मात्रा में यह 10 घं० सें० तक दिया जा चुका है। किन्तु अधिक मात्रा में इसके प्रयोग से कभी कभी मृत्यु हो जाती है। जोंस तथा लिटिल[1] (Jones and Little) ने पास्चुरेल्ला 'ग्रूप 1' संवर्धन के बछड़ों को दो इन्जेक्शन दिए जिन्हें बाद में नासार्ति हो गयी और उनसे संवर्धन तैयार करने पर पास्चुरेल्ला 'ग्रूप 2' प्राप्त हुआ। टीके के लिए गला-घोंटू ऐग्रेसिन (aggressin) भी प्रयोग की जाती है किन्तु यह ताजे तैयार किए गए जीवाणुगत पदार्थ से कम उपयोगी मालूम पड़ती है। यद्यपि कि बचाव के टीके लगाने से प्रत्यक्ष रूप से कोई विशेष लाभ तो होता नहीं दिखाई देता फिर भी यह लाभप्रद माना जाता है। रोग ग्रसित यूथ से प्राप्त संवर्धन से तैयार किए गए जीवाणुगत पदार्थ अधिक प्रभावशाली हैं, और यह उस प्रकार के जीवाणुओं के प्रति बेकार सिद्ध होते हैं जिनको कि प्रतिक्रिया प्रतिरक्षा उत्पन्न नहीं करती। युवा पशुओं की अन्य बीमारियों की भांति इसमें भी स्वच्छता तथा सुप्रबन्ध रोग नियन्त्रण के सर्वोत्तम उपचार हैं।

सदर्भ

1 Jones, F S, and Little, R B An epidemiological study of rhinitis (coryza) in calves with special reference to pneumonia, J Exp Med, 1922, 36, 273
2 Smith, T, Pneumonia associated with Bacillus abortus (Bang) in fetuses and newborn calves, J Exp Med, 1925, 41, 639
3 Ward, A. R, Suppuration in cattle and swine caused by Bacterium pyogenes, Cornell Vet, 1917, 7, 29
4 Carpenter, C M, and Gilman, H S, Studies in pneumonia in calves, Cornell Vet, 1921, 11, 111
5 Schmid, G, Beobachtungen uber infektiose Kalber pneumoine, Schweiz Archiv f Tk 1933, 75, 178
6 Baker, J A., A filterable virus from pneumonia and diarrhea of calves, Cornell Vet, 1942, 32, 202, J Exp Med, 1943, 78, 435
7 Schwarte, L H and Biester, H E, Penicillin in the treatment of enzootic pneumonia in calves, J A V M A, 1946, 109, 283
8 Bartlet, J W, and Tucker, H H, Raising Calves on Wire Floors, New Jersey Agr Exp Sta Cir 372, 1937

सुअरों में न्युमोनिया रोग

(Pneumonia In Pigs)

कारण—सर्दी, नमी तथा गदगी सुअरो में न्युमोनिया का कारण है। इन विशिष्ट कारणो की अनुपस्थिति में यह बीमारी सूकर कालरा, सूकर इन्फ्लूएजा तथा फेफडा-कृमि आदि रोगों के रूप में हुआ करती है। बडे बडे यूथो में यह स्थानिकमारी के रूप में एक साथ दो या तीन सुअरो में प्रकोप करती है जब कि छोटे समूहो में केवल एक पशु को लग सकती है। विशेषतय यह रोग उन दरबो में अधिक देखा जाता है जहा कि स्थान की कमी, अधेरे घर, बिछावन की कमी तथा गदगी अधिक होती है। बछडो की निमोनिया की भांति यह आन्त्राति के साथ हो सकती है। सुअरो के एक साथ इकट्ठा होकर खडे होने की आदत के कारण इसका प्रकोप और भी तेज होता है क्योकि ऐसा करने से बीच के सुअर तो अधिक गर्म रहते हैं किन्तु किनारे वाले सर्दी से काप सकते हैं। झुण्ड के फैलने पर, बीच वाले सुअर जो गर्मी महसूस करते थे उन्हें शीघ्र ही ठड लग जाती है। यातायात के समय सुअरो को ठड आदि लगना भी न्युमोनिया का कारण है।

जीवाणु विज्ञान—ठड लग कर होने वाली निमोनिया में विशुद्ध अथवा मिश्रित सवर्धन में अनेक प्रकार के जीवाणु मिलते हैं। आन्त्राति के साथ होने वाली न्युमोनिया में मकब्राइड[1] (Mcbride) ने सूकर-कालरा से मरे हुए 13 सुअरो के फेफडे देखे। इनमें से 7 में से साल्मोनेल्ला स्वीपेस्टीफर (S suipestifer) तथा 3 से पास्चुरेल्ला मल्टोसिडा नामक जीवाणु प्राप्त हुए। वे इस परिणाम पर पहुंचे कि "मूल रूप से यह अवस्था आन्त्राति (enteritis) की थी जो कि साल्मोनेल्ला स्वीपेस्टीफर द्वारा उत्पन्न हुई और बाद में फेफडे भी रोग ग्रसित हो गए। अनेक रोगियो में यह अवस्था न्युमोनो आन्त्राति

(pneumonoenteritis) कहलायी ।" रोग की कुछ तीव्र अथवा दीर्घकालिक अवस्थाओ में स्ट्रेप्टोकोकाइ तथा कोरिनेवैक्टीरियम पायोजिनस नामक जीवाणु पाये जाते है जो बीमारी की वाद की अवस्था में फेफडो में निवास किया करते है । सुअरो की छुतैली निमोनिया में मिश्रित सक्रमण होना एक नियम है । जोस[2] (Jones) की रिपोर्ट के अनुसार ओटैरिओ प्रदेश में सूकर-प्लेग अथवा गला-घोटू रोग सुअरो की एक भयानक बीमारी है जहाँ यह पतझड तथा जाडो की ऋतु में मुख्यतौर पर सुअरो के छोटे बच्चो में दूध पीना छुडाने के वाद ही हुआ करती है । उन्होने यह भी बताया कि ठड लग जाना, पानी में भीग जाना, नमीयुक्त दरबे, आहार में एकाएक परिवर्तन आदि कारण जो सुअरो की बीमारी के प्रति सहनशक्ति क्षीण करते है, निमोनिया के लिए आवश्यक है । स्कोफील्ड[3] (Schofield) लिखते है कि कनाडा में सूकर-कालरा यदा कदा ही देखने को मिलता है जबकि पास्चुरेल्ला मल्टोसिडा के कारण होने वाले रक्त विषाक्कता के तीव्र प्रकोप अवसर हुआ करते है । होपकिर्क[4] (Hopkirk) के अनुसार न्यूजीलैंड में पास्चुरेल्ला और साल्मोनेल्ला की छूत सुअरो में प्लूरिसी तथा निमोनिया के लिए उत्तरदायी है और मैदानी अनुभवो से यह सिद्ध हो चुका है कि यह अवस्थाएँ कुपोषण एव खराव रहन सहन के कारण हुआ करती है और इन कारको पर समुचित ध्यान देने पर शीघ्र ही अदृश्य हो जाती है । बर्च और बेनर[5] (Birch and Benner) ने बताया कि सिउडोमोनैस पायोसायानियस (P pyocyaneus) की छूत धीरे धीरे युवा सुअरो के यूथ में फैलकर उनमें निमोनिया उत्पन्न करके भारी क्षति पहुँचाती है, किन्तु प्रत्यक्ष रूप से ऐसा प्राय कम होता है ।

विकृत शरीर रचना—फेफडे रक्तवर्ण होकर उनमें सूजन तथा कडापन होकर पीव पड जाता है । फुफ्फुस अभिलाग (pleuritic adhesions) भी देखने को मिलते हैं । श्वासनली तथा ब्रोकाई में फाइब्रिन युक्त स्राव भरा रहता है । उपजम्भ लसीका ग्रथियाँ सूजकर रक्तवर्ण हो जाती है । रोगी को आत्रार्ति भी हो सकती है ।

लक्षण—रोग का आक्रमण तीव्र हो सकता है किन्तु प्राय यह कुछ तीव्र (sub acute) अथवा दीर्घकालिक हुआ करता है । सर्वप्रथम सुअर असावधान होकर खाना-पीना छोड देते है । जाँच न करने देने के प्रयास रोगी में श्वास-कष्ट, उछल कूद, तथा बेहोशी उत्पन्न कर सकते है । तापक्रम एक समान न रहकर घटता बढता रहता है, किन्तु प्राय रोगी का मध्यम अथवा अधिक बुखार होता है । खाँसी होकर रोगी की नाक तथा आंख से स्राव बहता है । रोगी जल्दी-जल्दी सास खींचता है तथा स्टेथॉस्कोप से सुनने पर फेफड़ा पर सूखी आवाज सुनाई देती है । मृत्यु दर अधिक होता है । चूँकि शीघ्रता से रोग की प्रकृति का निर्णय करना कठिन होता है, अत निमोनिया का सदैव ही छुतैला समझना लाभदायक है ।

निदान—एकाएक ठड आदि लगने के वाद कई सुअरो में रोग का आक्रमण होना सूकर इन्फ्लुएजा का सूचक है । वाहरी सम्पर्क तथा मेला आदि से लौटने के वाद तथा उन क्षेत्रो में जहां कि सूकर इन्फ्लुएजा लगातार होता है, इसका प्रकोप अधिक होता है । शव-परीक्षण करने पर फेफडा कृमि रोग का सरलता से पता लग जाता है । अत में,

निमोनिया, सूकर कालरा अथवा किसी अन्य सामान्य संक्रमण का एक क्षतस्थल हो सकती है अथवा यह आंत्राति के परिणाम स्वरूप होती है।

अब यह पता लगाने की आवश्यकता है कि फुफ्फुस क्षतस्थल छूतैली आंत्राति के फलस्वरूप उत्पन्न होता है अथवा पशु के नमीयुक्त खराब मकानों में रहने तथा ठंड आदि लग जाने से परोक्ष रूप से हुआ करता है। आधुनिक प्रवृत्ति सुअरों में सभी छूतैली न्युमोनिया को सूकर कालरा, सूकर इनफ्ल्यूएंजा अथवा फेफड़ा कृमि रोग मानने की है तथा अन्य सभी निमोनिया इनमें द्वितीयक हुआ करती हैं।

चिकित्सा—एडमाड्स[6] (Edmonds) की रिपोर्ट के अनुसार 8–10 माह की आयु वाले आंत्राति निमोनिया से पीड़ित 380 पशुओं की सल्फामेराजीन और सल्फाथैलीडीन द्वारा चिकित्सा करने पर 88 प्रतिशत रोगी ठीक हो गए। 26 बिना चिकित्सा किए हुए पशुओं में जो इस प्रयोग में कंट्रोल के लिए प्रयोग किए गए थे, मृत्यु दर शत प्रतिशत था। रोग की प्रारम्भिक अवस्था में 3 ग्राम प्रति 85 100 पौण्ड शरीर भार सोडियम सल्फामेराजीन के 6 प्रतिशत घोल का अंत पेरीटोनियल अथवा अधस्त्वक् इन्जेक्शन देने पर शीघ्र ही आशातीत लाभ हुआ। सल्फामेराजीन 1 ग्राम प्रति 10 पौण्ड शरीर भार एक-दो दिन तक और देकर बाद में इसकी मात्रा 50 प्रतिशत कम कर देनी चाहिए। 1 ग्राम प्रति 10 पौंड शरीर भार के हिसाब से कई दिन तक नित्य सल्फाथैलोडीन का प्रयोग करना भी गुणकारी है। इससे लाभ होने पर औषधि की मात्रा कम कर देनी चाहिए।

कूड़ा-करकट खिलाए हुए 400 सुअरों के एक समूह में जिसमें कि 80 सुअर मर चुके थे फाक्स तथा बरखत[7] (Fox and Burkhart) ने सल्फामजाथीन सोडियम के प्रयोग से बड़े ही सफल परिणाम रिपोर्ट किए। निमोनिया से पीड़ित 32 पशुओं में विशिष्ट लक्षणों, शव-परीक्षण तथा पास्चुरेल्ला मल्टोसिडा की प्राप्ति के आधार पर पास्चुरेल्लोसिस (गलाघोटू रोग) का निदान किया गया। चिकित्सा के लिए $1\frac{1}{2}$ ग्रेन प्रति पौण्ड शरीर भार की दर पर सल्फामेजाथीन के 25 प्रतिशत घोल का अधस्त्वक् इन्जेक्शन पहले दिन दिया गया। रोग के आक्रमण के प्रारम्भिक काल में इस चिकित्सा से आशातीत लाभ हुआ। हार्म्स तथा लेंगर[8] (Harms and Langer) ने $1\frac{1}{2}$ ग्रेन प्रति पौण्ड शरीर भार की दर पर पहले दिन तथा 1 ग्रेन दूसरे व तीसरे दिन सल्फामेथाजीन खिलाकर इसी प्रकार के परिणाम प्राप्त किए। एक ग्रेन प्रति पौण्ड शरीर भार की दर से तीन दिन तक सल्फामेथाजीन के 25 प्रतिशत घोल का उदर झिल्ली में इंजेक्शन देने से और भी शीघ्र लाभ हुआ।

संदर्भ

1 McBride, C N, Pneumonia in swine resulting from Salmonella suipestifer infection, N Am Vet, June 1937, 18, 41
2 Jones, T Lloyd, Swine plague, Report of the Ontario Veterinary College, 1935, p 16
3 Schofield, F W, Canadian J Comp Med, 1939, 3, 115
4 Hopkirk, C S M, An Rep of the Dept of Agr, New Zealand, 1936, p 23, 1937, p 9

5. Birch, R. R., and Benner, J. W., Pseudomonas pyocyaneus as a factor of pneumonia of swine, cornell Vet., 1920, 10, 176.
6. Edmonds, E. V., Sulfamerazine and sulfathalidine (Phthalulsylfathiazole) for enteritis pneumonia in swine, Vet. Med., 1948, 43, 460.
7. Fox, O. K., and Burkhart, L. M., Hemorrhagic septicemia in swine controlled with sodium sulfamethazine, Vet., Med., 1947, 42, 378.
8. Harms, H. and Langer, P. H., Control of pneumonia in swine with sulfamethazine, J. A. V. M. A., 1947, 111, 205.

भेड़ों का न्युमोनिया रोग

(Sheep Pneumonia)

यद्यपि कि भेड़ों में होने वाली न्युमोनिया कारण तथा रोग-विज्ञान में सुअरों तथा बछड़ों में होने वाली न्युमोनिया से मिलती-जुलती है फिर भी इसका प्रकोप कम हुआ करता है। कोलोरैडो (Colorado) में न्युसम[1] (Newsom) ने ठंड के परिणाम-स्वरूप होने वाली न्युमोनिया के उस प्रकार पर लिखा है जो "मेमनों के पैदा होने के समय से ही प्रारम्भ होकर, सभी आयु की भेड़ों में हर मौसम में होती है।" ऊन काटने के बाद सर्दी लग जाना, स्नान कराना, स्थानान्तरण (ठंड, थकावट, भूख) तथा ऊँचाई पर चरते समय तूफानी हवाओं का प्रभाव आदि इस रोग के कुछ प्रमुख कारण हैं। न्युसम और क्रास[2,3] (Newsom and Cross) के अनुसार भेड़ों की न्युमोनिया पास्चुरेल्ला मल्टोसिडा अथवा पास्चुरेल्ला हीमोलिटिका के द्वारा हो सकती है तथा उन्होंने 1932 में लिखा कि "हमारे अप्रकाशित आंकड़े (अवलोकन) इस विचार का समर्थन नहीं करते कि पास्चुरेल्ला ओवीसेप्टिका विभिन्न बीमारियों से नियमित रूप से अलग किया जा सकता है।" मांटगोमरी आदि[4] (Montgomeri et al) ने मई के महीने में नार्थ वेल्स में प्रमुख रूप से प्रौढ़ भेड़ों में उस समय न्युमोनिया का एक प्रकोप देखा जब कि गर्म लू के बाद ठंडी पूर्वी हवाएँ चलीं। इस यूथ में मृत्यु दर 15 प्रतिशत के लगभग था। उन्होंने डुंगल[5] (Dungal) द्वारा आइसलैंड में वर्णित जीवाणु से मिलता-जुलता पास्चुरेल्ला भी पाया।

शव-परीक्षण परिवर्तन वैसे ही होते हैं जैसे कि निमोनियां से मरे अन्य जातियों में पाये जाते हैं: एक अथवा दोनों फेफड़ों का कड़ा हो जाना, फेफड़ों से स्राव बहना तथा प्लूरल रक्त-स्राव। प्रायः यह एक विसृत खण्डीय न्युमोनिया (diffuse lobar pneumonia) है।

लक्षण—हालत का गिरना, खान-पान में अरुचि, कान लटकना, नाक तथा आँख से स्राव गिरना, खाँसी, श्वसन गति 50-60 प्रति मिनट, तथा 106-107° फारनेहाइट तापक्रम आदि लक्षणों के साथ यह रोग प्रारम्भ होता है। वैसे तो रोग की अवधि 5-7 दिन की है किन्तु रोग प्रारम्भ होने के 12 घंटे बाद भी पशु की मृत्यु हो सकती है।

"सुविकसित न्युमोनिया से पीड़ित अधिकांश रोगी तो मर जाते हैं किन्तु कुछ अच्छे भी हो जाते है"[1]। उटह् (Utah) से न्यूपार्क जाने वाली ऊन काटी हुई भेड़ों के मोटर

द्वारा स्थानान्तरण काल में बीमारों को अलग करने, अच्छा खिलाने पिलाने तथा मोटर में उतार कर आराम देने के उपरान्त भी न्यूमोनिया (यातायात रोग) से लगभग सतप्रतिशत भेड़ों की मृत्यु हो गई।

चिकित्सा—न्यूमोनिया से पीड़ित मेमनों के एक यूथ की चिकित्सा में फोरसाइथ[6] (Forsyth) ने निम्न प्रकार सफलता प्राप्त की। चारा खाने वाले बच्चों को अलग करके उन्हें 1 ग्रेन प्रति पौण्ड शरीर भार की दर से नित्य ही सल्फानिलामाइड दाने में मिलाकर खिलाया। जो बच्चे चारा आदि नहीं खाते थे उनको प्रति 5 गैलन पानी में 50 ग्राम सोडियम सल्फाथायाज़ोल मिलाकर पिलाया। ऐसा करने से तीन दिन बाद अधिकांश भेड़ें अच्छी हो गयीं। उन्होंने सल्फामेराज़ीन तथा पेनिसिलिन का प्रयोग भी गुणकारी बताया।

सदर्भ

1 Newsom, I E Sheep Diseases, 1952

2 Newsom, I E, and Cross, Floyd, An outbreak of Hemorrhagic septicemia in sheep, J A V M A, 1922 23, 52, 759

3 Newsom, I E and Cross, F, Some bipolar organisms found in penumonia in sheep, J A V M A., 1932, 80, 711

4 Montgomerie, R F, Bosworth, R F, and Glover, R E, Enzootic pneumonia in sheep, J Comp Path and Ther, 1938, 51, 87

5 Dungal Niels, Contagious pneumonia in sheep, J Comp Path and Ther, 1931, 44, 126

6 Forsyth, R A., The control and treatment of some common diseases of feedlot lambs, Cornell Vet, 1952, 42, 600

भेड़ों में दीर्घकालिक प्रगामी न्युमोनिया

(Chronic Progressive Pneumonia In Sheep)

सन् 1915 से मान्टना, ओरेगन तथा अन्य उत्तरी पश्चिमी प्रदेशों में भेड़ों में दीर्घकालिक न्यूमोनिया को होते देखा गया। एकाएक प्रकोप तथा धीरे धीरे बढ़ने वाला श्वासकष्ट जिससे कि निबलता होकर रोगी की मृत्यु हो जावे, जैसे लक्षणों से इसे पहचाना जाता है। रोग ग्रसित यूथों में मान्टना में 2-10 प्रतिशत तक मृत्यु हुई है। वैसे तो यह रोग बच्चों को भी लग सकता है, किन्तु अधिकतर प्रौढ़ भेड़ों में ही इसका प्रकोप करता है। सन् 1923 में मार्श[1] (Marsh) ने बताया कि इस बीमारी की जानकारी मॉन्टेना पशुधन स्वास्थ्य परिषद को सन् 1915 में हुई और उसने इसे एक स्वतन्त्र रूप से होने वाला संक्रमण समझा। इंगलैंड में इस रोग का ब्लैकमूर तथा बोसवर्थ[2] (Blakemore and Bosworth) ने वर्णन किया तथा आइसलैंड में जहाँ कि इसके प्रकोप से काफी क्षति हुई, इसे डुंगल आदि[3,4] (Dungal et al) ने रिपोर्ट किया।

कारण—रोग का कारण अज्ञात है। क्रीच तथा गोचेनोअर[5] (Creech and Gochenour) ने रोग के सचारी प्रयोग किए। 23 बीमार तथा 96 नार्मल भेडो पर प्रयोग करके उन्होंने रोग ग्रसित द्रवीभूत फेफड़े के टिसुओं का अत पल्मोनरी इजेक्शन देकर 4 स्वस्थ पशुओ में रोग का सचार कर पाया। जीवाणु-परीक्षण करने पर उन्होंने कुछ रोगियो में पास्चुरेल्ला तथा भें जातीय कोरिनेवैक्टीरियम के विशुद्ध सवर्धन पाये। चूंकि समूहन तथा पूरक स्थिरीकरण परीक्षण (compliment fixation test) ऋणात्मक थे, अत इन जीवाणुओं को रोग के कारण से सबन्धित न माना गया। परोक्ष रूप से रोग के सचारण का कोई भी प्रमाण उपलब्ध नही है।

विकृत शरीर रचना—शव-परीक्षण परिवर्तन वक्षीयगुहा तक ही सीमित रहते हैं। जब सीना खोला जाता है तो फेफडे वद नही हो पाते और पूरे तौर पर वक्षीयगुहा को भर देते हैं। फुफ्फुस अभिलाग भी प्राय. मौजूद रहा करते हैं। सपिंडन भी काफी हुआ करता है यद्यपि कि यह अपूर्ण हो सकता है। कटी हुई सतह धूसर तथा दानेदार होकर खुरदरी दिखाई देती हैं। श्रोंकाई में थोडी मात्रा में श्लेष्मा तथा पीवयुक्त पदार्थ भी भरा हो सकता है। श्वसनिका लसीका ग्रथियां सूजकर फूल जाती है। मार्श, क्रीच और गोचेनोअर द्वारा ऊतक विकृति परीक्षा (histopathological examination) के वर्णन में वायु कोष्ठिकाओ तथा श्वसनिकाओ की एपीथिलियल टूट-फाट तथा अत्यधिक तन्तुमयता जैसे परिवर्तनो पर अधिक जोर दिया गया है। ऐसे परिवर्तन निमोनिया के विकास काल में अधिक देखे जाते हैं।

लक्षण—रोग का प्रकोप इतना धीरे धीरे होता है कि लक्षण प्रकट होने पर, यह पता ही नही लग पाता कि रोगी कब से बीमार है। पशुओ के हाकने पर रोगी पशु यूथ में पीछे पीछे घसिटता सा चलता तथा जोर जोर से सास लेता है। कुछ देर बाद पशु को लगातार श्वासकष्ट मौजूद रहता है। अत में सांस जल्दी-जल्दी आने लगकर कष्टप्रद हो जाती हैं और पशु मुंह खोलकर सांस लेने लगता है। नथुनें फैल जाते हैं, किन्तु कफ तथा नाक से स्राव नही गिरता। रोगी का तापक्रम नार्मल रहता है। रोग की अवधि कुछ सप्ताह की होती है। शतप्रतिशत रोग ग्रसित पशु परलोक सिधार जाते हैं।

सदर्भ

1 Marsh, H , Progressive pneumonia in sheep, J A. V. M. A , 1922-23, 62, 458 , 1923-24, 64, 304
2. Blakemore. F , and Bosworth, T. G , The occurrence of Jaagsiekte in England. The Vet Rec , 1941, 53, 35
3. Dungal, Niels, Gislason, G , and Taylor, E. L., Enzootic adenomatosis in the lungs of sheep, J. Comp. Path , and Ther., 1938, 51, 46.
4. Dungal, Niels, Experiments with jaagsiekte, Am. J. Path , 1946, 22, 737.
5 Creech, G. T. and Gochenour, W S , Chronic progressive pneumonia of sheep with particular reference to its etiology and transmission, J. Agr. Research, 1936, 52, 667.

श्वसन न्युमोनिया

(Inhalation Pneumonia)

(चूषण न्युमोनिया; निगलन न्युमोनिया; यांत्रिक न्युमोनिया; फुफ्फुस गैंग्रीन)

तेज गैसें, खाद्य पदार्थ अथवा औषधियों के सूंघने से होने वाली यह एक अति प्राण घातक बीमारी है। प्रायः यह मालिक अथवा नौकर द्वारा पशु को गलत तरीके से नाल द्वारा दवा पिलाने से हो जाया करती है। ऐसा दवा के फेफड़ों अथवा श्वासनली में पहुँचने के कारण होता है। लेटे हुए पशु को दवा पिलाना अथवा नाक द्वारा दवा पिलाना अधिक खतरनाक है। सुअरों में यह रोग दवा पीने के समय हेकड़ी करने के कारण हो जाता है। अधिक मात्रा में दवा पिलाने के लिए जब से आमाशय-नलिका का प्रयोग किया जाने लगा है, तब से इस प्रकार की न्युमोनिया बहुत कम होती है। बछड़ों तथा सुअरों में यह रोग उनके लालची स्वभाव के कारण जल्दी जल्दी चारा खाते समय कुछ खाद्य पदार्थ नाक में प्रवेश पा जाने के परिणामस्वरूप हुआ करता है। गले में रुकावट उत्पन्न हुई गायों तथा पशुओं को जब अफारा से छुटकारा देने के लिए दवा पिलाई जाती है तो उनको यह रोग होकर प्राणघातक बन जाता है। टिमोथी घास अथवा भूसा आदि के टुकड़े जब श्वास नली में प्रवेश पा जाते हैं तो उनको इन बाह्य पदार्थों के कारण न्युमोनिया हो जाती है। कटी हुई सूखी घास खाने वाली भेड़ों में ऐसा अक्सर देखने को मिलता है। ग्रसनी शोथ अथवा ऊपरी वायु मार्ग की नासाति से पीड़ित घोड़े को जबरदस्ती क्षोभक औषधियाँ पिलाने पर यह न्युमोनिया शीघ्र ही हो जाती है। कभी कभी क्लोरोफार्म देकर बेहोश करने पर श्लेष्मा में लगातार जलन पड़न अथवा गले के अवसन्न होते हुए भी चारा खा लेने से यह रोग हो जाता है। घोड़ों में गले के आपरेशन के बाद अथवा प्रत्यग्ग्रसनी फोड़ों के फटने से श्वासनली में पीव चढ़ जाने के कारण यह रोग हो जाता है। गायों में यह बीमारी गले के अन्दर चोट आदि लग जाने से होती है। दुग्ध-ज्वर, ग्रसनी शोथ, ग्रासनली शोथ प्रमस्तिष्क शोथ नामक रोगों तथा गले में रुकावट पड़ जाने आदि के कारण गले में सूजन अथवा अवसन्नता होने के परिणामस्वरूप भी यह रोग हुआ करता है। कभी कभी निगलने में रुकावट पड़ने पर कुछ लोग पशु का गला निकला करने के लिए तेल पिला देते हैं। ऐसा करने से प्रायः प्राणघातक न्युमोनिया होकर रोगी की मृत्यु हो जाती है। कभी कभी धुआँ, आग, तथा भाप का सूंघना भी न्युमोनिया का कारण बनता है।

घोड़ों में दीर्घकालिक सीस-विषाक्तता होने पर उनके गले का पक्षाघात होकर निगलन न्युमोनिया तथा फुफ्फुस गैंग्रीन हो जाती है। इसे सीस-विषाक्तता के अन्तर्गत वर्णन किया गया है।

विकृत शरीर रचना—रोग ग्रसित गायों की जब ४८ घंटे के अन्दर मृत्यु हो जाती है तो विस्तृत सीरम-फाइब्रिनी फुफ्फुसार्ति होकर प्लूरल-गुहा में काफी मात्रा में गंदा द्रव भरा मिलता है। फेफड़ों के आगे व नीचले भाग सख्त हो जाते हैं और उनके काटने पर अतः उभड़न सूजन तथा कुछ कुछ सड़न जैसी गंध के साथ तीव्र रक्तस्रावी न्युमोनिया के

क्षतस्थल मिलते हैं। कुछ दिनों बाद जब रोगी की मृत्यु हो जाती है तो उसके शरीर में फोड़े, सड़न, परिगलन, तथा अत्यधिक सूजन जैसे क्षतस्थल मिलते हैं।

घोड़े में रोग होने के तीन दिन बाद यदि मृत्यु होती है तो दोनों ही फेफड़ों के निचले खण्ड गहरे लाल, कड़े तथा संघटित हो जाते हैं। काटने पर, कटी हुई सतह पर अति संकुलित टिसुओं के घिरे हुए काले तथा धूसर क्षेत्र मिलते हैं। फेफड़े के ऊपरी खण्ड में परिगलित फुन्सियां भी हो सकती है। रोग की तीन चार दिन की अवधि के अन्दर पूर्ण रूप से संघटन होकर एक अथवा दोनों फेफड़ों के निचले एक तिहाई भाग सड़ जाते हैं। रोग यदि अधिक दिनों तक चलता रहता है तो प्लूरल-गुहा में काफी मात्रा में बादामीपन लिए हुए पीले रंग का बदबूदार तरल पदार्थ भर जाता है। फाइब्रिनयुक्त निस्राव फेफड़ों की निचली सतह तथा पड़ोस के ऊपरी प्लूरा तक को घेर सकता है। काटने पर फेफड़ा-तन्तु गंदा, बादामी लाल तथा सड़ा हुआ प्रतीत होता है और ब्रोंकाई में लाली लिए हुए बादामी रंग का श्लेष्मा की भांति गाढ़ा बदबूदार पदार्थ भरा रहता है। परिहृद थैली (pericardial sac) में सीरमी स्राव भरा मिलता है। जितनी ही लंबी रोग की अवधि होती है उतना ही अधिक सड़न तथा परिगलन हुआ करता है।

लक्षण—अपच, दर्द अथवा एसीटोन रक्तता से पीड़ित पशु को दवा पिलाने के 2–3 दिन बाद श्वसन निमोनिया के लक्षण दिखाई दिए। प्रायः ऐसा देखा गया है कि गांव में लोग गाय को दवा पिलाने के बाद उसे खाँसी, श्वास कष्ट तथा निर्बलता हो जाने के हफ्तों बाद तक जब तक वह बिलकुल असाध्य नहीं हो जाती, पशु-चिकित्सक को नहीं बुलाते। अपने पर दोष आने के कारण बहुत से पशुपालक अथवा परिचारक चिकित्सक को यह बताकर ही नहीं देते कि उन्होंने पशु को दवा पिलाई है। निम्न लिखित उदाहरण से यह स्पष्ट है कि पशु की जाति, दवा पिलाने के ढंग तथा पिलाई जाने वाली दवा के अनुसार रोग में भिन्नता होती है। लक्षणों में भी अन्तर होता है जिसका कि कारण अभी ज्ञात नहीं है। घोड़ों और सुअरों में मृत्यु दर अधिक होता है। रोग ग्रसित गाय-बैल प्रायः अच्छे हो जाते है।

गले में रुकावट वाली एक गाय को दवा पिलाने के 24 घंटे के बाद उसमें निम्न-लिखित लक्षण देखे गए : अत्यधिक सुस्ती, मुंह खोलकर साँस लेना, श्वसन गति 49, नाड़ी-गति 85, तापक्रम 101·2° फारेनहाइट और नाक से थोड़ा स्राव गिरना। थोड़ा-थोड़ा घांसना, वक्षस्थल की दीवाल के निचले एक तिहाई भाग में भद्दी बुदबुदाहट की आवाजें सुनाई देना, ऊपरी दो तिहाई भाग में काफी तेज छिद्रिल आवाज होना तथा प्लूरल-गुहा में सीरम इकट्ठा हो जाने के कारण दबी हुई दिल की धड़कन आदि इस रोग के अन्य लक्षण थे। दूसरे दिन रोगी की मृत्यु हो गई।

"अपच" से पीड़ित एक गाय को सोडा पिलाने के दो दिन बाद उसमें निराशा, नाड़ीगति 78, श्वसन 50, तथा 103·5° फारेनहाइट तक बुखार आदि लक्षण दिखाई दिए। दोनों फेफड़ों के निचले किनारों पर असामान्य श्वसन-आवाजें भी मौजूद थी। तीसरे दिन श्वासकष्ट होकर नाड़ीगति 100, श्वसन 90 तथा तापक्रम 105·4° फारेनहाइट हो गया। दोनों फेफड़ों के निचले भागों पर स्पष्ट श्वसनिका-श्वसन (bronchial breathing)

(सु)ना जा सकता था। आठवें दिन बदबूदार श्वास तथा नार्मल तापक्रम के साथ निमोनिया के लक्षण प्रकट होकर प्रत्यक्ष रूप से रोग का फलानुमान निराशाप्रद हो गया। अन्त में यह पशु ठीक हो गया।

एक गाय को शीरा पिलाने पर वह जोर से खाँसी। चौबीस घंटे बाद उसकी नाड़ी गति 104, श्वसन 40 और तापक्रम 106.8° फारेनहाइट हो गया। फेफड़ों के ऊपर थपथपाने पर पशु खाँसता और दर्द का अनुभव करता था। तीसरे दिन प्लूरल-गुहा में छपाके के शब्द सुनाई दिए। पाँचवें दिन गाय की हालत बहुत ही जीर्ण-शीर्ण हो गई और प्लूरा पर रगड़ने के स्वर साफ सुनाई देते थे। तीन सप्ताह बाद श्वसन सामान्य हो गया और रोगी में निमोनिया के अन्य कोई लक्षण न थे।

घोड़े को पिलाई गई दवा के फेफड़ों तक पहुँचने के बाद 24 घंटे के अन्दर असामान्य आवाजें सुनी जा सकती हैं तथा दो से तीन दिन बाद निमोनिया के लक्षण साफ दिखाई देने लगते हैं। रोगी का परीक्षण करने पर नाड़ी तेज, तापक्रम नार्मल अथवा कुछ बढ़ा हुआ, श्लेष्मल झिल्लियाँ रक्तवर्ण, श्वसन तेज, साँस भीनी-भीनी तथा थोड़ा सा रक्तमिश्रित नासास्राव मिलता है। प्रायः दोनों फेफड़ों पर आवाज सुनाई देती है। दवा पिलाने के 4 से 7 दिन बाद रोगी की मृत्यु हो जाती है।

एक मालिक द्वारा अपनी 7 वर्षीय घोड़ी को दवा पिलाए जाने के 10 दिन बाद उसकी नाड़ीगति 80, श्वसन 34, तापक्रम 103 तथा श्लेष्मल झिल्लियाँ रक्तवर्ण हो गईं। उदर तली और पिछले पैरों पर सूजन थी तथा लगातार प्रयास करने के बाद पशु चल फिर पाता था। उसका श्वसन उदरीय था। दाहिने फेफड़े के निचले आधे भाग पर ऊँचे स्वर की बुदबुदाहट की आवाजें सुनाई देती थीं। दवा पिलाने के दो सप्ताह बाद रोगी की मृत्यु हो गई।

रोग का निदान करते समय पिछले रोग का इतिहास लेना इस कार्य में काफी सहायता करता है। रोग की संक्षिप्त अवधि के बाद रोगी की मृत्यु हो जाना (विशेषकर घोड़ों में) जैसे लक्षणों से इस निमोनिया को ठंड लगकर अथवा छूत से होने वाली निमोनिया से अलग पहचाना जा सकता है। गो-पशुओं में इसके निदान में अधिक कठिनाई होती है जहाँ कि निमोनिया के विकीर्ण प्रकोप घोड़ों की अपेक्षा अधिक हुआ करते हैं और जहाँ कि रोग की अवधि भी अनिश्चित सी होती है। इस वास्तविकता को ध्यान में रखना कि गर्मियों के गर्म दिनों में विकीर्ण निमोनिया के प्रकोप कम हुआ करते हैं, निमोनिया के निदान के लिए लाभदायक है। भीनी-भीनी अथवा बदबूदार साँस सड़न की विशेषता है तथा इसका रोग के प्रारम्भ में प्रकट होना नैदानिक लक्षण हो सकता है। फेफड़ों की सड़न की दूसरी अवस्था संक्रामक निमोनिया से पीड़ित घोड़ों में बीमारी के अन्त में हुआ करती है और यह 7-10 दिन से पूर्व नहीं होती। दीर्घकालिक सीस-विषाक्तता से पीड़ित घोड़ों में भी फेफड़ों की सड़न देखी जाती है। वक्षस्थल के दोनों ओर निचले किनारे के साथ भद्दी बुदबुदाहट की उपस्थिति रोग का सूचक है और यह आवाजें फेफड़ों में तरल पदार्थ पहुँचने के तुरन्त बाद प्रारम्भ हो जाती हैं। घोड़ों में यह रोग अत्यन्त ही प्राणघातक है। गायों में हालत

खराब होने के बाद भी उन्हें अच्छा होता देखा गया है। गो-पशुओं में सामान्य निमोनिया की भांति इसकी अवधि अनिश्चित है।

श्वसन-निमोनिया का इलाज बिल्कुल ही लक्षणानुसार है और पृष्ठ 49 पर ब्रोंको-निमोनिया की चिकित्सा के अन्तर्गत इसका वर्णन किया गया है।

फुफ्फुस फोड़ा

(Pulmonary abscess)

(सपूय न्युमोनिया)

कारण—न्युमोनिया के परिणामस्वरूप फेफड़ों में प्राणघातक फोड़ा हुआ करता है। कभी कभी गाय बैलों तथा भेड़ों में यह फेफड़ों की एक स्वतंत्र बीमारी के रूप में भी होता है। ऐसे रोगियों में भी यह या तो प्राइमरी न्युमोनिया, परजीवी क्लेश अथवा अभिघातज आमाशय शोथ के बाद होता है। संचरणशील संक्रमण के रूप में यह बीमारी थनैली, गर्भाशयशोथ, नाभिरोग अथवा बच्चों के सफेद दस्तों के परिणामस्वरूप हो सकती है। यकृत, पेरीटोनियम, प्लूरा तथा फेफड़ों में फोड़ों की उपस्थिति से उक्त विचार का समर्थन होता है। गल-ग्रंथिल रोग से पीड़ित घोड़ों के फेफड़ों में फोड़ा महीनों तक दबा हुआ रह कर एकाएक बढ़ता है। हृदय में दायीं ओर थ्राम्बस (thrombus) के साथ भी फेफड़ों में फोड़ा होते देखा गया है और यह बहुधा फेफड़ों के क्षय तथा अभिघातज फुफ्फुसार्ति आदि रोगों में हुआ करता है। फोड़ों का जीवाणु-परीक्षण ऋणात्मक हो सकता है।

विकृत शरीर रचना—रोग की सपूय अवस्था में फेफड़े इतना अधिक फोड़ों से भर जाते हैं कि उनमें बहुत ही थोड़ा नार्मल टिसु शेष रह जाता है। बहुधा श्वासनली तथा ब्रोंकाई में रक्त के थक्के मिलते हैं और फेफड़ों के टिसु भी रक्त से आच्छादित हो सकते हैं। यकृत में भी फोड़े मिल सकते हैं। अभिघातज फुफ्फुसार्ति में फेफड़ों में उपस्थित क्षतस्थल गोलाकार होते हैं।

लक्षण—गायों में सुस्ती तथा नाक से रक्तस्राव होना इस रोग के प्रारम्भिक लक्षण हैं। थोड़ी या अधिक मात्रा में रक्त का निकलना फुफ्फुस नलिका के फट जाने के कारण होता है और यह रक्त बहुधा झागयुक्त होता है। प्रायः पशु की हालत बहुत ही दयनीय हो जाती है। रोगी को 104-106° फारेनहाइट तक तेज बुखार होकर, नाड़ी गति 60-80 हो जाती है और वह जल्दी-जल्दी साँस लेता है। कुछ समय के लिए पशु खाना-पीना छोड़ देता है। रोगी-पशु खांसता है। रोगग्रसित फेफड़े के ऊपर तरह-तरह की आवाजें सुनी जा सकती हैं। वक्षस्थल के ऊपर थपथपाने से दर्द होता है तथा भद्दे क्षेत्र महसूस होते हैं। स्पष्ट लक्षण प्रकट होने के साथ रोगी की हालत का निरन्तर गिरते जाना दो दिन से लेकर तीन सप्ताह तक रोगी की मृत्यु का कारण बनता है। जब रोग के प्रारम्भिक लक्षण शारीरिक क्षीणता, खान-पान में अरुचि तथा दूध उत्पादन में कमी आदि होते हैं तो दीर्घ-कालिक अभिघातज आमाशय शोथ अथवा क्षयरोग का संदेह किया जा सकता है। हालत का गिरना, खलाई हुई पीठ, शारीरिक ऐंठन तथा वक्षस्थल पर थपथपाने से दर्द के लक्षण

भी अभिघातज आमाशय शोथ का सूचक है। नथुनो पर रक्त प्रकट होने से रोग की प्रकृति का ज्ञान होता है। अन्य बीमारियों में जब फेफड़ा के फोड़े काफी विकसित हो जाते हैं तो वहाँ रक्त विपाक्तता के सामान्य लक्षण साफ दिखाई देते हैं। बिना शारीरिक लक्षण प्रदर्शित किए ही गायों में फेफड़ा के फोड़े विकसित हो सकते हैं। घोड़ा में फेफड़ा के फोड़े निमोनिया के अन्त में हुआ करते हैं। निमोनिया के लक्षण काफी दिनों तक चलते हैं। रोगी की ठह लगती हालत खराब हो जाती तथा नथुनों पर पीब प्रकट हो सकता है। नवजात बच्चों के रोगों में, सभी जातियों में फेफड़ों के फोड़े रक्त-स्रातरोधक (embolic) हो सकते हैं। इस बीमारी का कोई इलाज नहीं है।

एक 2 वर्षीय बछिया में जिसकी कि पिछले तीन महीना से हालत गिरती जाती थी किन्तु न तो उसे श्वास कष्ट था और न वह खाँसती थी, उसके एक फेफड़े में बड़ा फोड़ा तथा हिपैटिक धमनी की थ्राम्बोसिस पायी गई।

एक 8 वर्षीय गाय के नथुनों तथा मुह से एकाएक काफी मात्रा में झाग निकलने लगी। रोगी कभी कभी कराहने की आवाज करके जल्दी-जल्दी तथा दबी हुई साँस लेता था। वह खाँसता न था। दोनों फेफड़ा की ऊपरी सतह पर अनेक प्रकार की आवाजें सुनाई देती थी और श्वाकाई तथा श्वासनली में एक तरल पदार्थ के आगे पीछे हटने की गति की आवाज प्रतीत होती थी। ऐड्रीनलीन के प्रयोग से रोगी को शीघ्र ही आराम मिला। किन्तु दो महीनों बाद श्वास गति धीमी तथा कष्टप्रद हो गई, चुरचुराहट तथा गीली बुदबुदाहट की आवाजें सुनाई दी और हालत में कोई खास सुधार न हुआ। 6 दिनों बाद पूरे शरीर में त्वचा के नीचे सूजन प्रकट हो गई जिससे पशु को बेकार समझ कर नष्ट कर दिया गया। शव-परीक्षण करने पर फेफड़े के अगले खण्ड के निचले भाग में अनेकों फोड़े, अत्यधिक फुफ्फुस अभिलाग तथा सूजन मिली। इस रोगी में फुफ्फुस शोथ तथा फोड़ा का विकास सक्रामक अथवा श्वसन निमोनिया या गर्भाशयशोथ रोग के परिणाम स्वरूप हुआ।

फेफड़ा-कृमि रोग

(Lung worm disease)

(कृमिज श्वसनी शोथ, कृमिज न्युमोनिया)

परिभाषा—फेफड़ा-कृमि रोग, एक स्थानिकमारी के रूप में प्रकोप करने वाली वातान्युमोनिया है जो कि श्वाकाइ में गोल कृमि (राउन्ड वर्म) की उपस्थिति के कारण हुआ करती है। यह रोग भेड़, बछड़ों तथा सुअरों में अधिक पाया जाता है। बकरिया भी अपने शरीर में इन परजीवियों को छुपाए रहती हैं किन्तु व इनकी उपस्थिति स रोग ग्रसित नहीं होता।

कारण—वैसे तो यह रोग ससार क प्राय सभी भागों में होता है किन्तु इसस होने वाली हानियाँ प्रमुख रूप स उष्ण कटिबन्ध तथा उन देशों स अधिक रिपोर्ट की गई हैं जहाँ कि जाड़ा कम पड़ता है। पश्चिमी विर्जीनिया तथा कैलीफोर्निया क तराई वाले क्षेत्रों में इस रोग का प्रकोप अधिक होता है। ग्रेट ब्रिटेन तथा नार्वे में भी यह रोग सामान्य रूप से

प्रकोप करता है तथा क्वीटो, इक्वेडर (Quito, Equador) के एक प्रपत्र के अनुसार देश के उस भाग में यह रोग बहुत ही भयानक बीमारी है जो एक वर्ष की आयु तक के बछड़ों में प्रकोप करके 60-90 प्रतिशत रोगियों को मौत के घाट उतारती है। चिकित्सा से कोई लाभ नही होता तथा पशु को पशुशाला में बाँधकर खिलाने से रोग को कम किया जा सकता है। संसार के विभिन्न भागों में इस बीमारी के प्रकोप के बारे में अभी समुचित ज्ञान नही है किन्तु जहाँ कही भी इसका प्रारम्भ होता है, बड़ा ही भयंकर होता है। किसी भी स्थान में मौसम इसके प्रकोप का ज्ञान कराता है। नार्वे से वेस्टेरीम[1] (Westerheim) ने रिपोर्ट किया कि "वहां के नमीयुक्त वातावरण में फेफड़ा कृमि रोग बहुधा बकरियों को हुआ करता है और लगभग प्रत्येक वृद्ध पशु या तो परजीवी को अपने शरीर में छुपाए रहता है अथवा उसके द्वारा उत्पन्न क्षतस्थल प्रदर्शित करता है। रोग ग्रसित माँ के मेमनें हर समय घर के अन्दर रखने पर इस रोग से पीड़ित नही होते। कभी-कभी होने वाले रोग के तीव्र आक्रमणों से यूथ के केवल कुछ पशु ही एकाएक रोग ग्रसित होते हैं किन्तु रोग से पीड़ित अधिकतम पशु मर जाते है।"

स्वार्ट्ज[2] (Schwartz) के अनुसार स्थायी-चरागाह सुअरों में इस रोग के सचार का प्रमुख कारण है। इन चरागाहों पर खाद तथा मिट्टी का प्रयोग केंचुओं की उपस्थिति को आमन्त्रित करता है तथा सुअरों में होने वाले रोग के परजीवियों के अण्डे और लार्वा के विकास हेतु अनुकूल परिस्थितियाँ प्रदान करता है।

यद्यपि कि प्रमुख रूप से यह बीमारी बढ़ोत्तरी करने वाले पशुओं को ही हुआ करती है फिर भी कभी कभी युवा तथा प्रौढ़ पशु भी इसका शिकार होते हैं। इस रोग के प्रकोप 2 वर्ष की आयु वाली बछियों में भी होते देखे गए है। ग्रेट ब्रिटेन में स्माइद[3] (Smythe) ने प्रौढ़ डेरी पशुओं में इस रोग के भीषण प्रकोप रिपोर्ट किए है। समशीतोष्ण जलवायु वाले भागो में जैसे ही बछड़े चरागाहों पर जाना प्रारम्भ करते हैं यह बीमारी स्थानिकमारी के रूप में प्रकोप करती है तथा जुलाई और अगस्त में इसका प्रकोप अधिकतम होता है। जैसा कि दक्षिणी इगलैंड के बछड़ों में देखा जाता है जहाँ कही नष्टकीय पाला नही पड़ता वहाँ यह बीमारी वर्ष भर चलती रहती है। स्किमडिट[4] (Schimdt) के अनुसार बछड़ों में एक बार इस बीमारी का प्रकोप उनके शरीर में इसके प्रति प्रतिरक्षा उत्पन्न नही करता। उन्होंने उन पशुओं में भी रोग का दुबारा प्रकोप देखा जिनको पिछले वर्ष यह रोग हो चुका था। इसके विपरीत कउजल[5] (Kauzal) ने बताया कि 2 माह तक के बछड़े जो रोजाना 50 से 100 डिक्टियोकाउलस फाइलेरिया लार्वा से क्षतिग्रस्त होते है, इस बीमारी के प्रति अधिक सहनशक्ति रखते हैं। छोटे मेमनो की अपेक्षाकृत 5½-7 माह की आयु वाले बच्चे प्रथम प्रकोप के प्रति अधिक सहनशील है। इनमें यह प्रतिरक्षा कुछ तो आयु तथा कुछ पुरानी छूत के कारण हुआ करती है। रोग के प्रति सहनशक्ति खुराक में पोषक-तत्वों की कमी अथवा हीमाकस कटार्टस (Haemonchus Contortus) के सक्रमण से प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित नही होती। यह निश्चय है कि पशु की आयु का बीमारी के प्रति सहनशक्ति से सीधा संबध है जो कि कुछ रोगियों में अधिक सक्रमण के कारण समाप्त हो जाता है।

कुछ लेखको के अनुसार पशु की हालत का गिरना फेफड़ा कृमि-रोग को उत्तेजित करता है। अत फ्रीबार्न और स्टेवर्ट[6] (Freeborn and Stewart) ने लिखा कि भेडा में यह रोग निर्बलता पर आधारित रहता है और सुपोषित भेडो को नही होता। कुछ के अतिरिक्त किसी हद तक यह सिद्धान्त ढोरो (गाय-बैलो) में भी लागू होता है। उन देशो में जहां के ढोरो में यह रोग अधिक होता है, यह अधिकतर अच्छे स्वास्थ्य वाले बछडा में प्रकोप किया करता है। अरकासस (Arkansas) में ईवलेथ[7] (Eveleth) द्वारा इस रोग को सुपोषित बकरियो और सुअरो में होता बताया गया। सम्भवत रोग का आवेग भी अपना प्रभाव रखता है। जिन फार्मों पर पहले कभी इस रोग की छूत न फैली हो वहाँ भी यह बीमारी प्रकोप कर सकती है। या तो यह रोग एक मौसम में कई युवा पशुओं को रोग ग्रसित करके अदृश्य हो जाता है अथवा साल साल बाद पुनः होता रहता है।
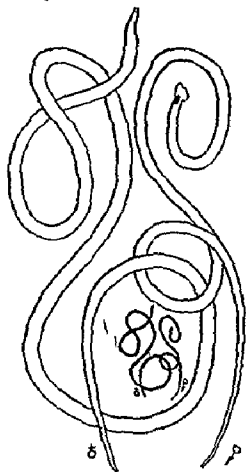
चित्र—3 डिक्टियोकाउलस विवीपैरस, नर तथा मादा कीट। छोटी आकृतिया इनका प्राकृतिक स्वरूप हैं तथा बडी आकृतिया x5 के लक्षक काच द्वारा माइक्रास्कोप से देखी गई हैं (नेब्यू–लिमेरी, 1918 से उद्धृत)

परजीवी विज्ञान (Parasitology)—ढोरो में पाया जाने वाला प्रमुख फेफड़ा-कृमि डिक्टियाकाउलस विवीपैरस (Dictyocaulus Viviparus) है। नर कीट 3–8 सें॰ मी॰ तथा मादा 5–10 सें॰ मी॰ लम्बी होती है। इसका निवास स्थल श्वासनली तथा ब्रोकाई है। भेड़, बकरी तथा हिरन में पाये जाने वाले डिक्टियोकाउलस फाइलेरिया से भी ढोरा को छूत लग सकती है।

भेड-बकरियो के फेफडो में पाया जाने वाला प्रमुख कीट डिक्टियोकाउलस फाइलेरिया (सूत्र-कृमि (thread worm) है। नरकीट 3–8 सें॰ मी॰ तथा मादा 5–10 सें॰ मी॰ लम्बी होती है। इनका रग पीलापन लिए हुए सफेद तथा एक बादामी धारीदार होता है। यह कीडे पशु की श्वासनली तथा ब्रोकाई में छल्लेदार आकृति में समूह बनाकर निवास किया करते हैं। अण्डे ब्रोकाई में जमा होकर वहीं सेये जा सकते हैं, किन्तु अधिकतर वे श्लेष्मा के साथ गले में लाये जाकर निगल लिए जाते हैं। बिना सेये हुए (असेचित) अण्डे कभी कभी रूमेन के पीछे पडे हुए मिल जाते हैं। गबरलेट[8] (Guberlet) ने बताया कि इनके अण्डे बड़ी अतडी में न उपस्थित रहकर छोटी आत में पाये जाते हैं। गोबर में निकलने वाले लार्वा लगभग

0 5 मिलीमीटर लवे होते है। अगले सिरे पर उपस्थित गाठ से इन्हें पहचाना जाता है। होस्ट को छोडने के बाद उन पर एक आवरण सा चढ कर, वे सक्रामी होकर आठ-दस दिन में चलने फिरने लगते है। अब उन पर शुष्क वातावरण का कोई प्रभाव नही होता, किन्तु कीटनाशक पदार्थों अथवा प्रशीतन के द्वारा वे नष्ट किए जा सकते है। सक्रामी लार्वा का जीवनकाल 6 माह से कम होता है। वे नमी में पनपते तथा तालावो में विकास पाते है। वे नमीयुक्त हरी घासो तथा पौधो पर चढ जाते है और उनके सूखने पर पुन जमीन पर वापस आ जाते है। इस प्रकार इनकी छूत लगने का सबसे अनुकूल समय वह है जब कि घास वर्षा के पानी अथवा ओस से भीगी हुई हो।
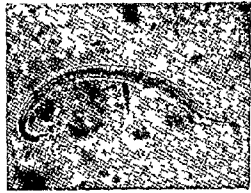
चित्र—4 जुगाली करने वाले पशुओ के वडे फेफडा-कृमि, डिक्टियोका-उलस प्रजाति, के लार्वा की प्रथमा-वस्था (डी० डब्ल्यु० वेकर के सौजन्य से)

इनको मध्यस्थ पोषक की आवश्यकता नही पडती। चारे के साथ मुँह द्वारा निगले जाने के तीन दिन के अन्दर सक्रामी लार्वा अँतडी की दीवाल को पार करके लिम्फ नलिकाओ द्वारा मेसेण्टेरिक लिम्फ ग्रथियो में प्रवेश पाते है। यहाँ ये अपना आगे विकास करके निगले जाने के लगभग 10 दिन वाद रक्त परिभ्रमण द्वारा फेफडो में पहुँचते है। अत गर्भाशयी छूत भी फैल सकती है। इनका जीवन-चक्र हाब्मेयर्स[9] (Hobmaiers) द्वारा वर्णन किया गया है। गबरलेट[8] (Guberlet) के अनुसार एक मेमना जिसने 25 जनवरी को भ्रूणयुक्त एक कैप्सूल निगल लिया उसने 18 फरवरी को छीकना व खाँसना शुरू कर दिया और 4 मार्च को उसकी टट्टी मे फेफडा-कृमि के लार्वा पाये गए। 21 मार्च को लाश चीरकर देखने पर फेफडा के दोना खण्डो के किनारे रक्तवर्ण मिले तथा फेफडो के वायु स्थान से 175 कीडे बरामद किए गए जिनमें से अनेक परिपक्व थे। प्रयोगात्मक रूप से छूत फैलाने के लगभग 20 दिन वाद बछडो के गोबर में लार्वा निकलते है, किन्तु यह लगभग एक माह वाद गायब हो जाते है। प्रौढ कीट आकाई में बहुत ही थोडे दिन जीवित रहता है। एलवर्थ[7] के अनुसार मैदानी परिस्थितियो में मेमने इन परजीवियो को अपने शरीर में छुपाकर कम से कम चार माह तक चरागाहो को दूषित करने का स्रोत बने रहते है। ये परजीवी खून चूसते, श्लेष्मल झिल्लियो में जलन उत्पन्न करते तथा पशुओ में ब्रोको-न्युमोनिया फैलाते है। अँतडी में उपस्थित लार्वा उसकी श्लेष्मल झिल्ली में जलन उत्पन करके दस्त रोग प्रारम्भ करते है किन्तु प्रमुख टूट-फाट फेफडो में ही होती है।

प्रतिरक्षा—भेडा में रोग के प्रकोप करने के वाद 6 सप्ताह के अन्दर यूथ में बीमारी के प्रति प्रतिरक्षा उत्पन्न हो जाती है।

छूत लगने के ढंग—ग्रहणशील पशुओ में इस रोग की छूत दूषित चारा-दाना खाने तथा तालावा अथवा नादा स गदा व रोगी का जूठा पानी पीने से फैलती है। बीमार तथा

रोग के स्वस्थ वाहक पशु जैसे गाय-बैल, भेंड़-बकरी अथवा हिरन आदि के गोबर से चरागाह और पानी दूषित हो जाता है। यह भी सम्भव है कि पशुशाला में नमीयुक्त बिछौना अपने में इस परजीवी के संक्रामी लार्वा छुपाए रहता हो और उससे चारा तथा पानी दूषित हो जाता हो। उस जलवायु में जहाँ जाड़े के मौसम में चलने वाली तेज हवाओं से लार्वा नष्ट नहीं होता, मैदानों पर ओस से भीगी घास चरने से पशुओं को रोग लगने का भय रहता है। सूखे चारे खाने अथवा शुष्क चरागाहों पर पशुओं को चराने से इसकी छूत नहीं फैलती। अधिक ठंड में भी लार्वा जीवित नहीं रहता।

फ्रीबान तथा स्टेवर्ट[6] (Freeborn and Stewart) ने बताया कि "कैलीफोर्निया में भेड़ों और हिरनों के एक साथ चरने से इस रोग के प्रकोप अधिक हुआ करते हैं।" और "जहाँ भेंड़ तथा गोपशु एक साथ चरते हैं हमें कभी भी गोपशुओं वाला फेफड़ा-कृमि डिक्टियोकाउलस विवीपैरस भेड़ों से प्राप्त न हुआ, किन्तु हमें भेड़ों तथा हिरन में पाया जाने वाला फेफड़ा कृमि डिक्टियोकाउलस फाइलेरिया बछड़ों में बार बार मिला।" लेखक द्वारा अवलोकित एक यूथ में जिसमें कई बछड़े मर चुके थे, बकरियाँ इस छूत का स्रोत थी। वे बछड़ों के साथ चरागाहों पर चरती थी और उनको अलग कर देने से बछड़ों में आगे इस रोग का प्रकोप विकसित नहीं हुआ।

भेड़-बकरियों में रोम फेफड़ा-कृमि के प्रतिनिधि मुलेरियस कैपीलैरिस (नर 12-14 मिलीमीटर, मादा 33 मिलीमीटर लम्बी) तथा प्रोटोस्ट्रागाइलस (सिनेटोराउलस) रूफ्यूसेंस (नर 16–28, मादा 25–33 मिलीमीटर लम्बी) हैं। यह परजीवी लाल रंग के होते हैं तथा प्राय. दोनों जातियाँ छोटी श्वसनिकाओं और फेफड़ा के तन्तुओं में पायी जाती है। हाब्मेयर्स[9] ने प्रदर्शित किया कि इन परजीवियों का मध्यस्थ पोषक घोंघा है। फ्रीबार्न तथा स्टेवट की रिपोर्ट के अनुसार प्रोटोस्ट्रागाइलस रूफ्यूसेंस (P. rufuscens) अधिकतम क्षतस्थल उत्पन्न करने वाला एक प्रमुख फेफड़ा-कृमि है। मोनिग[10] और कैमरन[11] (Monnig and Cameron) दोनों ने इस बात पर संदेह प्रकट किया है कि रोम फेफड़ा-कृमि नैदानिक लक्षण भी उत्पन्न करते हैं, किन्तु इसमें कोई संदेह नहीं है कि वे कभी कभी लाक्षणिक रोग पैदा कर सकते हैं। यह परजीवी परोक्ष रूप से फेफड़ा के तन्तुओं पर आक्रमण करता अथवा गौण जीवाणु-संक्रमण फैलाता है, यह तथ्य अधिक महत्त्व-पूर्ण नहीं है।

सुअरों में मेटास्ट्रागाइलस इलागेटस (नर 25 मि० मी०, मादा 58 मि० मी० लम्बी) और मेटास्ट्रागाइलस ब्रेवीवजाइनेटस (कोइरोस्ट्रागाइलस पुडेंडोडेक्टस) (नर 16-18 मि०मी०, मादा 19-37 मि०मी० लम्बी) नामक फेफड़ा-कृमि की दो प्रजातियों द्वारा इसकी छूत फैलती है। यूनाइटेड स्टेट्स में यह दोनों प्रजातियाँ काफी पायी जाती हैं। हाब्मेयर्स[9] के अनुसार असंसेचित अण्डे होस्ट की आहार-नाल से गोबर के साथ बाहर निकल कर केचुओं के शरीर में पहुँचते हैं, जहाँ इनसे लार्वा निकलता है। केंचुए के शरीर में रहकर यह जाड़े की सर्दी से बच जाते हैं। केट्स[12] (Kates) ने बताया कि बेल्ट्स-विल्ले (Beltsville Md.) में 6, 8 और 12 इंच की गहराई में गाड़ने से मल में कुछ अंडे 381 दिन तक जीवित रहे, किन्तु इनमें से अधिकतम 290 दिन में नष्ट हो गए।

केंचुओं में से यह सुअरों द्वारा निगले जाकर, अँतडी से रक्त-सस्थान में पहुँचते है। यहाँ से यह मेसेण्टेरिक लिम्फ ग्रथियो में जमा हो जाते है जहाँ इनका आगे विकास होता है। यहाँ से पुन. रक्त-सस्थान में प्रवेश पाकर फेफडो में ले जाये जाते है जहाँ लगभग चार सप्ताह में ये परिपक्व हो जाते है। श्वार्ट्ज़ और एलीकेटा[13] (Schwartz and Alicata) ने भी ऐसे ही परिणाम रिपोर्ट किये है। सूकर फेफडा-कृमि (Swine lung worm) के लार्वा, सूकर इनफ्लुएजा वाइरस के भी वाहक होते है। विशेपतया छोटे सुअरो से काफी मात्रा में अण्डे निकलते है। यदि युवा सुअरो में इसका प्रकोप हल्का होता है तो बीमारी के अगले आक्रमणो के प्रति उनमें सहनशक्ति आ जाती है। श्वार्ट्ज के अनुसार पशुओ में इसके प्रति आयु प्रतिरक्षा भी होती है किन्तु यह केवल उन्ही पशुओं में पायी जाती है जो रोग के पहले आक्रमण से ठीक हो चुके होते है।

विकृत शरीर रचना—प्राय रोगी बहुत ही कमजोर हो जाता है और उसका पिछला धड दस्तो से सना हुआ मिलता है। फेफडे की बाहरी सतह सामान्य दिखाई दे सकती है किन्तु नियम के अनुसार उस पर न्युमोनिया के क्षतस्थल मिलने चाहिए। श्वास-नली तथा ब्रोकाई को खोलकर देखने पर वहाँ की श्लेष्मल झिल्ली सूजी हुई तथा लाल दिखाई देती है। श्वसनिकाओ में थोडे-बहुत फेफडा-कृमि मिल सकते है। बहुधा यह अधिक सख्या में मौजूद होकर, कुछ श्वसनिकाओ को बिल्कुल ही भर देते अथवा किनारे वाली कुछ नलिकाओं में एक साथ एकत्रित हो जाते है। न्युमोनिया सदैव मौजूद रहती है। यह कम या अधिक हो सकती है और बीमारी की बढी हुई अवस्था में प्लूरल-गुहा में काफी मात्रा में सीरस द्रव भरा हुआ मिल सकता है। इस रोग में वातस्फीति (emphysema) होना अनिवार्य है। रोम कीट (hair worm) विसृत न्युमोनिया पैदा करता है तथा हाल[14] (Hall) के अनुसार "ग्रथिल अथवा मिथ्या क्षयरोगीय न्युमोनिया" उत्पन्न कर सकता है। इस परजीवी द्वारा सुअरो के फेफडो में उत्पादित क्षतस्थल विकिरित क्षय (miliary T.B.) के क्षतस्थलो से इतने मिलते-जुलते है कि इन्हें नगी आँख से पहचानना कठिन हो जाता है; ऐसा डे, बेंग्सटन और रैफेनस्पर्गर[15] (Day, Bengston and Raffensperger) द्वारा बताया गया है। उन्होने दो भारी शीशो के बीच में दबाकर इन परजीवी ग्रथियो को पहचाना। परजीवी भ्रूण तथा लिम्फोसाइट के गुच्छे बिना अभि-रजन किए हुए ही 40 से 60 व्यास के आवर्धन पर साफ दिखाई देते हैं। गाँठो का व्यास 1 से 5 मिलीमीटर तक होता है और यह प्रमुख तौर पर फेफड़ो के पिछले खण्डो में ही स्थित रहता है।

प्रयोगात्मक रूप से छूत फैलाए हुए सुअरो में श्वार्ट्ज और एलीकेटा[13] (Schwartz and Alicata) ने देखा कि लार्वा के निगले जाने के लगभग तीन दिन बाद प्लूरल सतह पर बिंदुक रक्तस्राव होना प्रमुख रोगजनक परिवर्तन था। यह रक्तस्राव रक्तकेशिकाओं के फट जाने के कारण था जो कि लार्वा के घुसने तथा वायु कोष्ठिकाओं में इकट्ठा होने के परिणाम-स्वरूप हुआ। परजीवियों के विकास के साथ सपिंडन और वातस्फीति विकसित होती है। परिपक्व भेड़ो में लार्वा के बार-बार चलने-फिरने से उनमें सूजन, कमजोरी,

मेसेण्टेरिक लिम्फ ग्रंथियों में पीव के दाने, उदरागा में सूजन तथा पेरीटोनियल गुहा में तरल पदार्थ भरा हुआ मिलता है।

लक्षण—भेड़ा में रोग का प्रकोप धीरे-धीरे होता है। पहले उनमें धीमी खांसी होकर, कुछ दिना बाद निर्बलता, भूख में कमी तथा रक्त स्वल्पता आदि लक्षण प्रकट होते है। जैसे ही श्वसनीय लक्षण बढ़ते हैं, भेड़ अपने सिर को नीचा करके व आगे को फैलाकर खड़ी होती है। तेज श्वास प्रश्वास, नाक से श्लेष्मा व पीव मिश्रित गदा स्राव बहना, आसानी से होने वाली खांसी तथा स्टेथोस्कोप से सुनने पर फेफड़ा के ऊपर साफ आवाज सुनाई देना इस बीमारी के अन्य लक्षण हैं। पशुआ को दस्त आने लगते हैं। जब कभी एक समूह के कई पशु बीमार पड़ें तो इस रोग का संदेह करना चाहिए। न्यूमोनिया बहुधा मौजूद रहकर मृत्युदर काफी अधिक कर देता है। यद्यपि अक्सर यह कहा जाता है कि बीमारी श्वासनली शोथ है, फिर भी, यह विचार करना आवश्यक है कि प्रत्येक प्रकार की श्वासनली शोथ में थोडी बहुत न्यूमोनिया सदैव मौजूद रहती है और यह बढ़ने वाली हो सकती है। फ्रीबार्न तथा स्टेवर्ट[6] (Freeborn and Stewart) के अनुसार जिन पशुओ को काफी मात्रा में चारा और सायादार स्थान मिलता है वे भी अपने शरीर में इस रोग के अनेक परजीवी छिपाए रहते है, किन्तु जब तक किन्ही और कारणो वश उनके शरीर की सहन शक्ति क्षीण नहीं होती, इस परजीविता के लक्षण यदा-कदा ही देखने को मिलते हैं।

बछड़े इस रोग के लिए अत्यधिक ग्रहणशील है और उनमें यह बीमारी बड़े ही भयकर रूप से फैलती है। बीमारी होने के दो-तीन दिन बाद प्रथम आक्रांत बछड़ा में तीव्र न्यूमोनिया हो जाती है। पशु बार-बार जोर से खांसता है तथा उसका दम घुटने लगता है। रोग का आक्रमण बढ़ने पर क्षीणता, रक्त-स्वल्पता, कमजोरी, आंखों का बैठ जाना, खुरदरी त्वचा, भूख न लगना, दस्त तथा कभी-कभी थूक में खून आना आदि लक्षण प्रकट होते है। इस अवस्था में पशु 3 से 5 माह तक चल सकता है। रोग का यह प्रकार कभी-कभी खांसने से प्रारम्भ होता है जिसको स्माइद ने 'भूँकना' कहकर वर्णन किया है और जिसमें जीभ एकाएक मुँह से बाहर निकल आती है। बीमारी के स्थायी होने के बाद थोडी या अधिक मात्रा में नाक से गाढ़ा स्राव बहता है। रोग के भीषण प्रकोप में खांसना कम हो जाता, श्वास कष्ट बढ़ जाता तथा पशु सिर को नीचा करके व फैलाकर जीभ बाहर निकालकर मुँह से सांस लेता है। फुफ्फुस-वातस्फीति बढ़कर त्वचा के नीचे वायु उत्पन्न करती, जो त्वचा के थपथपाने से चुरचुराहट की आवाज करती है।

एक 2 वर्षीय बछिया जुलाई के माह में चरागाह पर से इस रोग की छूत ग्रहण करके एक माह तक जीवित रही। वह जीभ बाहर निकाल कर, मुंह खोलकर सांस लेती तथा कभी-कभी खांसती भी थी। जबरदस्ती चलाने फिराने पर श्वास-कष्ट तथा खांसी में वृद्धि हुई और उसकी श्वास प्रश्वास की क्रिया दमा से पीडित घोडे के श्वास-कष्ट से मिलती-जुलती थी। दोनों फेफड़ा के निचले आधे भाग पर नमीयुक्त चुरचुराहट की आवाज मौजूद थी। रोगी की नाड़ी गति 80, श्वसन 60 तथा तापक्रम 104.6° फारेनहाइट था। इन लक्षणा के प्रकट होने के पांच दिन बाद तक, जब तक कि रोगी की मृत्यु नहीं हो गई, लगातार निर्बलता बढ़ती गई।

सुअरों में इस रोग के प्रमुख लक्षण खाँसना, हालत का गिरते जाना, तथा वृद्धि में रुकावट पड़ना आदि हैं। युवा सुअरों की कभी कभी मृत्यु हो जाती है।

निदान—रोग का निदान रोग-ग्रसित पशुओं की संख्या, लक्षणों तथा गोबर में उपस्थित लार्वा पर आधारित होता है। शव-परीक्षण करने पर न्युमोनिया, श्वासनलीशोथ, फेफड़ों की वातस्फीति के क्षतस्थल तथा श्वासनली में कीड़े मिलते है। वजदा[16] (Vajda) ने भेड़ों में परजीवी खाँसी के निदान का एक सहज तरीका वर्णन किया है: "जहाँ भेड़ों का गोवर (मेंगनी) सामान्य हो, एक मेंगनी माइक्रास्कोप के स्लाइड पर 3–5 बूँद पानी में रखकर लगभग 15 मिनट या अधिक समय तक रहने दीजिए। तत्पश्चात् चिमटी की सहायता से मेंगनी अलग कर दीजिए और इस प्रकार बचे हुए स्वच्छ पानी में लार्वा का परीक्षण कीजिए, जो प्रमुख तौर पर पानी की बूँद के किनारे पर पाये जाते है। यह आवश्यक है कि मेंगनी टूटने न पावे अन्यथा उसमें पानी घुस जाने पर लार्वा इतनी आसानी से बाहर नहीं निकलता। अधिक रोगग्रसित पशुओं में डिक्टियोकाउलस लार्वा इस प्रकार पानी तक आने में केवल दो-तीन सेकेण्ड का समय लेते है।" इन्हें हाथ के शीशे (hand lens) से भी देखा जा सकता है।

चिकित्सा—परिपक्व कीटों को मारने अथवा नष्ट करने के लिए फेफड़ों में औषधि का प्रयोग करना अनुभवी लोगों द्वारा संदेहयुक्त माना जाता है। बहुत से प्रकोपों, विशेष कर बछड़ों, में थोड़ा सा ही आक्रमण होता है और लक्षण धीरे धीरे कम होते जाते हैं। न्यूजीलैंड में गिल्रुथ (Gilruth) के प्रयोगों की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए हाल[14] (Hall) का कहना है कि उन्होंने मेमनों के तीन ग्रूपों में औषधि का प्रयोग किया और चौथे समूह के बच्चों को दवा न देकर केवल अच्छा-अच्छा चारा खिलाया। चिकित्सा किए गए पशुओं में मृत्यदर 25 से 50 प्रतिशत रही जब कि बिना दवा दिए गए बच्चों की हालत तथा स्वास्थ्य में शीघ्र ही सुधार होने लगा। चूँकि फेफड़ा-कृमि की अपेक्षाकृत फेफड़ों के टिसु क्षोभक औषधियों के प्रति कम सहनशील हैं और ब्रोंकाई की असख्य शाखाएँ उनके साथ पूर्ण रूप से सम्पर्क स्थापित नहीं कर पातीं अतः श्वासनली में क्षोभक अथवा कीटनाशी औषधियों का इंजेक्शन देना संदेहयुक्त मालूम पड़ता है। हाल[14] (Hall) के सुझाव के अनुसार फेफड़ा-कृमि को नष्ट करने के लिए विषैली औषधियों का इजेक्शन अथवा वफारा देना फेफड़ा कृमि को नष्ट न कर पाकर, फेफड़ों को ही काट देता है। एक बार जिन भेड़ों में इस रोग का प्रकोप लगभग एक सप्ताह तक हो जाता है तो बची हुई भेड़ों में इसके प्रति प्रतिरक्षा उत्पन्न हो जाती है।

मक्ग्रैथ[17] (McGrath) की रिपोर्ट के अनुसार न्युसाउथवेल्स का विभागीय नुस्खा इस रोग में काफी गुणकारी सिद्ध हुआ है। यह निम्न औषधियों का बना होता है:

तारपीन का तेल	1.0 घ०सें०
क्रियोजोटम	0.5 घ०सें०
जैतून का तेल	2.0 घ०सें०
क्लोरोफार्म	0.5 घ०सें०

इन सब औषधियों को मिलाकर एक ही बार में अन्तः श्वासनली विधि से इंजेक्शन दे दिया जाता है। दो से चार दिन के अवकाश पर इसे दो बार और दिया जा सकता है।

बछड़ा की गैमालीन (3.5 घ०सें० नित्य) के अन्तःश्वासनली इंजेक्शन द्वारा भी चिकित्सा की गई है, किन्तु इस औषधि के प्रभाव के बारे में विभिन्न मत हैं। कुछ पशु-चिकित्सकों के मतानुसार इंजेक्शन देने के तुरन्त बाद रोगी का दम घुटकर एकाएक मृत्यु हो जाती है, जबकि कुछ अन्य चिकित्सकों ने इससे लाभ होना बताया है। यह विभिन्नताएँ शायद श्वासनली में उपस्थित कीड़ों की संख्या के आधार पर बात की गई हैं। जब यह परजीवी अधिक संख्या में होते हैं तो रोगी का दम घुट जाता है। इनसे छुटकारा पाने के लिए दूसरी औषधि 100 भाग तारपीन के तेल, 100 भाग जैतून के तेल तथा 10 भाग क्रियोज़ोट को परस्पर मिलाकर तैयार की जाती है। इसका 5-10 घ०सें० की मात्रा में श्वासनली में इंजेक्शन दिया जाता है। चार दिन के अवकाश पर इसे दो बार और देना चाहिए। सन् 1916 में हर्म्स तथा फ्रीबार्न[18] (Herms and Freeborn) ने बछड़ा तथा बकरियों में इस बीमारी के लिए क्लोरोफार्म का प्रयोग अच्छा बताया। इसकी अधिकतम खुराक बछड़ों के लिए 11 घ०सें० तथा बकरियों के लिए 3 घ०सें० है। जिन पशुओं की चिकित्सा करनी होती है उन्हें एक ऐसे बाड़े में बंद करते हैं जिसमें कोई घास पात न उगी हो। "क्लोरोफार्म देने का सर्वोत्तम ढंग यह है कि पशु के सिर को पीछे की ओर मोड़कर, औषधि की आवश्यक मात्रा छोटे पिपेट द्वारा इंजेक्ट कर दी जाये। औषधि की आधी मात्रा प्रत्येक नथुने में डाली जाती है। इंजेक्शन देने के बाद कुछ क्षण तक नथुनों को हाथ अथवा रूई के फाहे से बंद कर देने पर क्लोरोफार्म का असर और भी अधिक बढ़ जाता है। इस चिकित्सा के दो घंटे बाद रोगी को एप्सम अथवा ग्लाउबर्स लवण (Glauber's salt) जैसी दस्तावर दवा पिलानी चाहिए। क्लोरोफार्म कीड़ों को मूर्छित करता है और साथ ही गले व श्वासनली में जलन उत्पन्न करता है जिसके परिणामस्वरूप पशु लगातार जोर-जोर से खाँसता है। अतः कफ के साथ यह कीड़े बाहर निकलते तथा निगल जाते हैं। तीन से पाँच दिन के अवकाश पर रोगी को यह चिकित्सा मिलती रहनी चाहिए।' इसी प्रकार की दूसरी औषधि 2 औंस तारपीन का तेल तथा 14 औंस सल्फ्यूरिक ईथर को मिलाकर बनायी जाती है। रोग से पीड़ित बछड़ा के नथुनों में एक छोटे चाय के चम्मच भर दवा तीन चार दिन के अवकाश पर डाली जाती है।

लायटिल[19] (Lytle) के अनुसार क्रियोज़ोट और ग्लेसरीन का 10 प्रतिशत मिश्रण (2 से 4 घ० सें०) अन्तःश्वासनली द्वारा बछड़ा तथा भेड़ों का फेफड़ा-कृमि रोग में देना बड़ा गुणकारी सिद्ध हुआ है।

अन्तःश्वासनली इंजेक्शनों के प्रयोग के बारे में लोगों के विभिन्न मत हैं। चाहे प्राकृतिक रूप से ही रोग अच्छा होता या न होता हो, चिकित्सकों तथा पशु-पालकों ने अन्तःश्वासनली द्वारा दवाओं के प्रयोग से बड़े सफल परिणाम प्राप्त किए हैं। फेफड़ा के अधिक क्षतिग्रस्त होने पर चिकित्सा से विशेष लाभ होने का दावा नहीं किया जा सकता।

अँतड़ियों से लार्वा को बाहर निकालने के लिए कृमिनाशक औषधियों के सेवन की राय दी जाती है (आमाशय कृमि रोग तथा भेड़ों में ग्रंथिल रोग (nodular disease) की चिकित्सा देखिए)।

डिक्टियोकाउलस द्वारा होने वाले फेफड़ा-कृमि रोग से बचाव के लिए परजीवियों

के स्वस्थवाहक पशुओं (जो कि बीमारी के परजीवी तो रखते हैं किन्तु बीमारी नहीं) द्वारा फैलने वाली छूत पर भी ध्यान रखना जरूरी है। ऐसे पशु प्रौढ़ ढोर, भेड़-बकरियाँ तथा हिरन होते हैं। समशीतोष्ण जलवायु में डिक्टियोकाउलस के लार्वा जो मिट्टी अथवा पानी में रहते हैं, प्रत्येक जाड़े के तुषार द्वारा नष्ट हो जाते हैं तथा प्रत्येक वसंत ऋतु में प्रौढ़ पशुओं द्वारा मैदानों में पुनः इसकी छूत फैल जाती है। अतः चारा पानी की नादें इस प्रकार बनानी चाहिए कि वे गोबर से गन्दी न होने पावें। जहाँ तक सम्भव हो पशुओं को तालाब आदि का गन्दा पानी न पिलाकर ताजा जल ही पिलावें। उन देशों में जहाँ इसकी छूत अधिक फैलती है युवा पशुओं को तब तक चरागाहों पर न जाने दीजिए जब तक कि ओस न छूट चुकी हो तथा जाने के बाद उन्हें दोपहर के काफी देर बाद वहाँ से हटाइए। साथ ही पुराने चरागाहों को जुतवा दीजिए। नए खरीदे पशुओं को अलग रखिए। भेड़ों में इस बीमारी के बचाव के लिए उनकी चरही ऐसी बनवाइए कि उनमें रखा चारा गोबर के संपर्क में न आने पावे। एक प्रयोगात्मक तथा कम खर्च वाली चरही टर्नर[20] (Turner) द्वारा वर्णन की गयी है। इसके विस्तृत विवरण के लिए भेड़ बकरियों का आमाशय कृमि रोग वाला पाठ देखिए। मेमनों को छुतैले मैदानों, नमीयुक्त चरागाहों तथा बड़ी उम्र वाली भेड़ों के साथ चरने से बचाइए तथा जिस भूमि पर उनके खाने के लिए हरे चारे की फसलें उगाई जा रही हों उन पर भेंड़ की मेगनी की खाद न डालिए।

सुअरों में इस रोग के नियंत्रण हेतु केंचुओं पर ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक है। गीली, नम तथा गन्दी अथवा कूड़े-करकट पड़ी भूमि पर यह खूब पाये जाते हैं। रोग ग्रसित सुअरों को साफ दरबों अथवा ताजे जोते-खोदे हुए ऐसे मैदान पर रखिए जो कि गन्दगी से मुक्त हों। जहाँ तक सम्भव हो उन्हें साफ तथा ताजा पानी पिलाइए। खूब खिलापिलाकर रखने तथा नाक में छल्ला पहनाने से केंचुओं का खाना कम किया जा सकता है।

संदर्भ

1. Westerheim, O., Lungworms in goats in Ryfylke, Norway abs., Vet. Bull., 1937, 7, 24.
2. Schwartz, B., Controlling Lungworms of swine, Leaflet 118, U.S. Dept. Agr., July 1936, Life History of Lungworms Parasitic in Swine, U.S. Dept. Agr., Tech. Bull. 456, 1934.
3. Smythe, R. H., The clinical aspects and treatment of "hoose" (parasitic) and allied conditions in cattle, The Vet. Rec., 1937, 49, 1221.
4. Schmidt, F., Zur Frage der Immunitat bei parasitaren Krankheiten und ihrer Bedeutung fur die Bekampfung, Ztschr. f. Infektionskr., 1936, 49, 177.
5. Kauzal, G., Resistance to Dictyocaulus filaria, Aust., Vet., J., 1934, 10, 100.
6. Freeborn, S. B., and Stewart, M.A., The Nematodes and Certain Other Parasites of Sheep, Univ. of Calif. Bull. 603, 1937.
7. Eveleth, D. F., and M. W., Further studies on the control of lung worms in sheep, Mich. State Col. Vet., 1943, 4, 22.

8 Guberlet, J E, Preliminary report on the life history of the lungworm, J A V M A 1919 55 621
9 Hobmaier A. and M, Die Entwicklung der Larvae des Lungenwurmes Metastrongylus elongatus (Strongylus paradoxus) des Schweines und ihr Invasionsweg sowie vorlaufige Mitteilung uber die Entwicklung von Choerostrongylus brevivaginatus Munch tier Wchnschr, 1929, 80, 365, Biologie van Choerostrongylus (Metastrongylus) pudendotectus (brevivaginatus) aus der Lunge des Schweines zugleich eine vorlaufige Mitteilung uber die Entwicklung der Gruppe Synthetocaulus unserer Haustiere, Munch Tier Wchnschr, 1929 80 433
10 Monnig, H O Veterinary Helminthology and Entomology ed 2, Baltimore, Wm Wood & Co, 1938
11 Cameron T W M, The Internal Parasites of Domestic Animals, Macmillan, 1934
12 Kates, K C, Observations on the viability of eggs of lungworms of swine, J Parasitology, 1941, 27, 265
13 Schwartz, B, and Alicata, J E, Life History of Lung worms Parasitic in Swine, U S Dept Agr, Tech Bull No 456, 1934
14 Hall, M C Lungworms of domestic animals, Cornell Vet 1922, 12, 131
15 Day, L A, Bengston, J S, and Raffensperger, H B, Parastic nodules resembling tuberculosis in the lungs of swine, J A. V M A., 1927, 17, 39
16 Vajda, T, A rapid method for the diagnosis of verminous bronchitis in sheep, Tierazt Rundschau, 1931, 37, 778, abs Vet Bull, 1932, 2, 220
17 McGrath, T , Some observations on the treatment of young sheep for lungworm (D filaria) infestation by intratracheal injections, Dept Agr New South Wales, Vet Res Rep No 6, pts I and II, 1931, p 36
18 Herms, W B, and Freeborn, S B, Lungworms, Univ Calif Cir 148, 1916
19 Lytle, W H, Prevalence of parasitic conditions in the Pacific Northwest, J A V M A, 1931, 78, 367
20 Turner, H, The handling and medication of sheep with special reference to common disease, Cornell Vet 1932, 22, 109

फुफ्फुस झिल्ली शोथ

(Pleuritis)

कारण—(अ) तीव्र प्राइमरी फुफ्फुस झिल्ली शोथ कभी-कभी हुआ करती है। घोड़े तथा गाय में विशेषकर बसंत ऋतु के ठंडे महीनों में उन्हें सर्दी लग जाने और अधिक थकान होने के परिणामस्वरूप यह रोग होता है। कुछ बीमारियां जैसे घोड़े में इनफ्लूएंजा तथा ढोरों में गलाघोटू रोग के तीव्र प्रकारों की छूत प्रमुख रूप से प्लूरा में ही स्थिर हुआ करती है, किन्तु ऐसे उदाहरण बहुत ही कम मिलते हैं और निदान तब तक सही नहीं हो पाता

जब तक कि पशु का शव-परीक्षण न किया जाये। यह सम्भव है कि सभी रोगियों में इसका सक्रिय संक्रमण होता हो। एक चार माह की आयु वाले स्वस्थ बछड़े में जिसको कि पहले कभी रोग न हुआ था, तीव्र विसृत फुफ्फुस झिल्ली शोथ देखी गई। रोग के कारण का पता नहीं लगाया गया।

(ब) तीव्र द्वितीयक फुफ्फुस झिल्ली शोथ का प्रकोप अधिक हुआ करता है। बहुधा यह रोग इनफ्लुएंजा, घोड़ों की छूतैली न्युमोनिया ढोरों में गलाघोटू रोग, बछड़ों में स्थानीय निमोनिया, श्वसन-निमोनिया तथा फेफड़ा-कृमि रोग के अधिक प्रकोप के समय, निमोनिया के साथ हुआ करता है। बछड़ों के बदबूदार दस्त तथा सूकर कालरा जैसे तीव्र रक्तपूतित रोगों में यह रोग प्लूरा में स्थिर हो सकता है। प्रायः यह परिगत होकर अधिक प्रमुख नहीं होता, किन्तु इसका प्रमुख क्षतस्थल फुफ्फुस झिल्ली शोथ ही है। बछड़ों के प्लूरा में काफी मात्रा में स्ट्रांगाइल लार्वा की छूत से उन्हें उग्र सीरम-फाइब्रिनी फुफ्फुसार्ति (acute serofibrinous pleuritis) हो जाती है। वक्षीय दीवाल में चोट लगना अथवा घाव हो जाना, ग्रास नली का फट जाना तथा उदर झिल्ली शोथ अथवा परिहृत झिल्ली शोथ से प्रसार होना इस रोग के अन्य कारण हैं।

(स) दीर्घकालिक फुफ्फुस झिल्ली शोथ इसकी अवसर प्रकोप करने वाली गौण अवस्था है। यह तपेदिक, यकृत की क्षयाक्षयता, फेफड़ों में फोड़ा एवं अभिघातज आमाशय शोथ के परिणामस्वरूप तथा वक्ष में दुर्दम्य रसौलियों (malignant tumors) के हो जाने पर हुआ करती है।

विकृत शरीर रचना—शव परीक्षण परिवर्तन कारण पर आधारित होते हैं। रोग के तीव्र प्रकोपों में सीरस झिल्ली पर अत्यधिक रक्तस्राव दिखाई पड़ता है। रोग के कम तीव्र प्रकोपों में सीरस फाइब्रिनी अथवा पीवयुक्त स्राव बहता है और थोड़ी या बहुत मात्रा में अभिलाग पाये जाते हैं। कृमिज फुफ्फुस झिल्ली शोथ (verminous pleuritis) तथा रसौली के बनने में वहाँ काफी मात्रा में सीरस स्राव बहता है। अभिघातज आमाशय शोथ में दोनों फेफड़ों तथा प्लूरा में अत्यधिक अभिलाग (adhesions) तथा फोड़े देखे जाते हैं।

लक्षण—तीव्र प्राइमरी फुफ्फुस झिल्ली शोथ एकाएक हुआ करती है। ठंड आदि लगने के दूसरे दिन सुबह पशु बीमार दिखाई देता है। खाने में अरुचि, हालत का गिरना, घोड़ों में श्लेष्मल झिल्ली का रक्त वर्ण हो जाना, नाड़ी तेज चलना, हाँफना तथा हल्का बुखार रहना आदि बीमारी के अन्य लक्षण हैं। प्रारम्भ में पेट में दर्द भी हो सकता है। पशु या तो बिल्कुल ही नहीं खाँसता अथवा थोड़ा-थोड़ा खाँसता है। स्टेथॉस्कोप से सुनने पर धीमी छिद्रिल आवाज तथा रगड़ जैसी आवाजें सुनाई देती है। पसलियों वाले भाग को थपथपाने अथवा दो पसलियों के बीच वाले स्थान को अँगूठे से दबाने पर पशु दर्द का अनुभव करता है। बीमारी की अवधि बहुत थोड़ी होती है और 12 से 24 घंटे में हालत सुधरती हुई दिखाई पड़ती है। यह सम्भव है कि इनमें से कुछ रोगियों को फुफ्फुस झिल्ली शोथ न होकर अंतः पसली पीड़ा होती है।

तीव्र द्वितीयक फुफ्फुस झिल्ली शोथ को केवल शव-परीक्षण द्वारा ही पहचाना जा सकता है, किन्तु जब यह घोड़ों में निमोनिया के साथ होती है तो इसके स्पष्टरूप से विशिष्ट लक्षण प्रकट होते हैं। रोग के आक्रमण के साथ ही जब इसका विकास होता है तो रोगी को ठंड लगती है, पीड़ा होती है तथा काफी तेज बुखार हो जाता है। जब यह बाद में एक जटिलता के रूप में होती है तो वक्षीय-गुहा में द्रव भर जाता, दिन प्रतिदिन श्वास-कष्ट बढ़ता जाता तथा थपथपाने पर वक्षीय दीवाल के आधे अथवा निचले एक तिहाई भाग पर सघटित क्षेत्र महसूस होता है। इस सघटित क्षेत्र के ऊपर एक समतल रेखा होती है। थपथपाने पर होने वाली आवाजें एकाएक भद्देपन से अनुनाद (resonance) में परिवर्तित हो जाती हैं। गायों में गलाघोटू रोग, कृमिज फुफ्फुस झिल्ली शोथ तथा अर्बुद (tumor) के बनने आदि रोगों में काफी मात्रा में तरल पदार्थ भी बह सकता है। तीव्र द्वितीयक फुफ्फुस झिल्ली शोथ के समस्त रोगियों का फलानुमान गम्भीर होता है किन्तु रोग के तीव्र प्रकोपों में यदि निकलने वाला स्राव कृमि रहित है, तो रोगी ठीक हो सकता है। घोड़ों में, फुफ्फुस अभिलाग (pleuritic adhesions) बनकर रोगी में दमा के लक्षण प्रकट हो सकते हैं। दीर्घकालिक फुफ्फुस झिल्ली शोथ प्रायः अभिघातज आमाशय शोथ के साथ हुआ करती है और इसे अभिघातज आमाशय शोथ के शीर्षक के अन्तर्गत वर्णन किया गया है। आमतौर पर कोई भी सुविकसित दीर्घकालिक फुफ्फुस झिल्ली शोथ दीर्घकालिक ब्रोंकोन्युमोनिया के साथ हुआ करती है। थपथपाने पर भद्दापन तथा दर्द और स्टेथॉस्कोप से सुनने पर रगड़ने जैसी आवाजें सुनाई देना, इसके नैदानिक लक्षण हैं।

चिकित्सा—रोग का आक्रमण होते ही सीने पर एकान्तरत. गर्म तथा ठंडी पट्टी देनी चाहिए अथवा (5 से 10 प्रतिशत) सरसों की स्प्रिट या सरसों का हल्का लेप किया जाना चाहिए। दर्द से छुटकारा पाने के लिए 2-3 औंस (60-90 ग्राम की मात्रा में सोडा सैलिसिलेट का प्रयोग गुणकारी है। वैसे तो मृदुरेचक तथा मूत्रवर्धक औषधियाँ भी स्वीकृत हैं किन्तु इनका दैनिक प्रयोग प्रश्नवाचक है। अधिक कष्टप्रद खाँसी होने पर घोड़ों को सर्दी-जुकाम तथा धसका की भाँति अमोनिया तथा बेलाडोना का नुस्खा दिया जा सकता है। प्लूरलगुहा में यदि सीरस स्राव जमा हो गया हो, तो इसे लगभग 7वें पर्शुकांतराल (intercostal space) पर एक कैन्युला घुसेड़ कर शीघ्रातिशीघ्र निकाल देना चाहिए। यदि आवश्यक हो तो इस क्रिया को नित्य दोहराया जा सकता है। अधिक मात्रा में यह स्राव इकट्ठा होकर श्वास-कष्ट तथा अन्य पीड़ायुक्त लक्षण उत्पन्न करता है, अतः इसे शीघ्रातिशीघ्र निकाल दीजिए। तरल पदार्थ का गदा अथवा गुच्छेदार होना रोग का घातक होना सिद्ध करता है। तरल पदार्थ निकालने के बाद इसी कैन्युला द्वारा 10 से 15 घ०सें० की मात्रा में ऐड्रीनलीन का इंजेक्शन देना काफी लाभदायक बताया जाता है। मानव आयुर्विज्ञान में इसी ढंग से वायु का प्रयोग किया जाता है। तीव्र प्राइमरी फुफ्फुस झिल्ली शोथ में प्रतिजैविक पदार्थों का प्रयोग करना चाहिए।

पाचन-तंत्र के रोग
(DISEASES OF THE DIGESTIVE SYSTEM)
श्लेष्म-मुखार्ति
(Catarrhal Stomatitis)

मुंह की श्लेष्मल झिल्ली की यह उग्र हल्की शोथ है जिसे लालिमा, सूजन तथा लार गिरने से पहचाना जाता है। मसूड़ों की सूजन मसूड़ा-शोथ तथा जीभ की सूजन जिह्वा-शोथ कहलाती है।

कारण—प्रायः अभिघातज चोटों से यह रोग हुआ करता है। घोड़ों में ढीले अथवा टूटे हुए दाँत इसके प्रमुख कारण हैं। खाद्य-पदार्थों जैसे जौ, कँटीली घास, वाड़े के आँगन में उगी जंगली घास के सीकुर इसके अन्य महत्वपूर्ण कारण हैं। कभी-कभी यह रोग कड़ी लगाम के प्रयोग अथवा मुंह में रस्सी आदि के रगड़ जाने से भी हो जाता है। क्लोरल हाइड्रास अथवा अमोनिया जैसी तेज औषधियों के पिलाने तथा सड़े-गले पदार्थों के खाने से भी यह क्लेश होते देखा गया है। पारा, सीसा, आयोडाइड तथा आर्सेनिक जैसे रसायनों का लगातार सेवन करने से भी इस रोग का प्रकोप होता है किन्तु यह अवस्था पालतू पशुओं में बहुत ही कम देखी जाती है। संभवतः एक प्रकार की तिपतिया घास (white clover) लूसर्न (रिजका) तथा अन्य क्षोभक चारे खाने से होने वाली मुखार्ति अपने आरम्भ में रासायनिक हुआ करती है। फोनर (Frohner) के अनुसार यूरोमाइसीज (uromyces) तथा लाल व काले किट्ट (rusts) जो कि घास पर चिपके रहते हैं, मुंह में विभिन्न प्रकार की शोथ उत्पन्न कर सकते हैं। गालों के निचले क्षेत्र में फोड़ा, साइनसों की वातस्फीति, फेरिंक्स की सूजन, गल ग्रंथिल रोग, चबाने वाली मांस-पेशियों में फोड़ा आदि होने से निकटवर्ती भागों से छूत के फैलने पर श्लेष्म-मुखार्ति हो सकती है। जठर आन्त्रार्ति (gastro intestinal catarrh) में मुखार्ति रोग कुछ-कुछ बीमारी के प्रकोप के कारण तथा कुछ-कुछ मुंह में चारे और लार के सड़ने के कारण हुआ करता है।

लक्षण—तीखे तथा कड़ुवे पदार्थों के खाने से मुंह की श्लेष्मल झिल्ली का सूजकर लाल हो जाना, लार बहना तथा थोड़ा या बिल्कुल चारा न खा पाना इस रोग के प्रधान लक्षण हैं। जीभ में घाव बनने से मुंह के अन्दर सूजन आकर पशु चारा नहीं खा पाता। दाँत से कट जाने पर पशु धीरे-धीरे खाता, चारा चबाते समय सिर को इधर-उधर फेरता अथवा बिल्कुल ही चारा खाना बन्द कर देता है। रोग ग्रसित घोड़े अपनी नाँद को काटते अथवा चबाते देखे जा सकते हैं। मुख-खोलनी तथा टार्च की सहायता से परीक्षण करने पर मुंह में ताजे तथा पुराने अनेक घाव दिखाई पड़ते हैं। प्रायः यह जीभ के सिरे पर, निचले किनारे के निकट अथवा गालों पर अन्दर की ओर पाये जाते हैं। सीकुरों से होने वाली मुखार्ति होठों की श्लेष्मल झिल्ली पर विकसित होती है और सूजन त्वचा तक बढ़ सकती है। क्षतस्थल देखने पर गोल अथवा कटे-पिटे किनारेदार दिखाई पड़ते हैं। मुंह

में सीतुरा तथा नायपुक्त गन्दगी के इकट्ठा होने के कारण ओठों की गद्दी खुरदरी तथा पीलापन लिए हुए गन्दी दिखाई पड़ती है। यह मोटा तथा गाढ़ा शोथ सूजन से घिरा रहता है। रोगग्रसित घोड़े धीरे-धीरे खा पाते हैं तथा कमजोर हो जाते हैं।

चिकित्सा—दांतों की मरम्मत, टूटे भागों तथा सीतुरा को हटा दीजिए। 3 प्रतिशत फिटकरी, ½ प्रतिशत पोटैशियम क्लोरेट अथवा 2 प्रतिशत पोटाश परमैंगनेट जैसे ऐंटीसेप्टिक घोलों से मुंह की धुलाई कीजिए। सीतुरा को हटाने के बाद रोग ग्रसित भाग पर दाहक रजत (luner caustic) छुआकर नित्य 10 प्रतिशत सिल्वर नाइट्रेट घोल का फाहा लगाया जा सकता है।

फफोलेदार मुखार्ति

(Vesicular Stomatitis)

(जलस्फोटी मुखपाक)

परिभाषा—फफोलेदार मुखार्ति एक ऊपरी सूजन है जिसे साफ अथवा पीलापन लिए हुए सीरस द्रव भरे हुए पतले दीवाल वाले फफोलों से पहचाना जाता है। यह फफोले खुरपका-मुंहपका रोग के वाइरस के कारण नहीं होते। यह शीघ्र ही फट जाते हैं जिससे कि इनकी पहिचान के चिन्ह केवल किनारों पर एक सफेद रंग की पतली झिल्ली से ढंके हुए छिछले घाव रह जाते हैं। पशु चिकित्सा विज्ञान के साहित्य में ऐसी फफोलेदार अवस्थाओं को कभी-कभी छालायुक्त भी कहा जाता है। शायद ऐसा स्पष्ट क्षतस्थलों के समाप्त होने के बाद समान लक्षणों के परिणाम-स्वरूप होता है। फफोलेदार मुखार्ति ढोरों में खुरपका मुंहपका रोग, घोड़ों, ढोरों तथा सुअरों में संक्रामक मुखार्ति और सुअरों में फफोलेदार स्फोटाभ (vesicular exanthema) का लक्षण है। संक्रामक अवस्था को छोड़कर, फफोलेदार मुखार्ति यूनाइटेड स्टेट्स में बहुत कम होती है। मिसिसिपी घाटी के चरागाह पर चरने वाले घोड़ों में यह सदा-कदा तथा कुछ-कुछ स्थानिक मारी के रूप में प्रकोप करती है और यह बरसीम, सरसों तथा ऐसे ही चारों में उपस्थित कड़वे पदार्थों के कारण होती है। लेखक के अनुभव में आने वाली मुखार्ति एफ्थस प्रकार की थी। यूरोपीय साहित्य में जहां कि इसका वर्णन करने के लिए अनेक नाम लिए गए हैं अधिकतर एफ्थस शब्द का ही प्रयोग किया गया है।

एफ्थस मुखार्ति

(Aphthous Stomatitis)

(कवकीय, सव्रण, अपरदनकारी, पिटिकीय, पुटकीय, ढोरों का मुखदाह; कूट खुरपका मुखपका रोग)

परिभाषा—एफ्थस मुखार्ति जीभ पर 2 से 3 मि० मी० व्यास के गोल-गोल, पीले सड़े हुए छालों से प्रारम्भ होती है। गले हुए टिसू शीघ्र ही उचड़ कर गोल-गोल घाव शेष रह जाते हैं जो या तो जल्दी ही अच्छे हो जाते अथवा परस्पर मिलकर आमाशयाग्र

या अन्य जटिल अवस्थाओं में परिणत हो जाते हैं। कभी-कभी इस रोग का प्रभाव पैरों, नयन तथा शरीर के अन्य भागों पर भी होता है।

कारण—पतझड़ की ऋतु में चरागाहों पर चरने वाले ढोरों पर ही प्रमुख रूप से इसका आक्रमण हुआ करता है, किन्तु यह पशुशाला में बंधे हुए पशुओं में भी होते देखा गया है। रोग कुछ-कुछ स्थानीय अथवा विकीर्ण हो सकता है। यूनाइटेड स्टेट्स, कनाडा तथा यूरोप में यह अक्सर प्रकोप करता बताया गया है। इसका कारण अभी ज्ञात नहीं है। इस वाद पर कि यह मोट चारे पर उपस्थित फंगस द्वारा फैलता है, मोह्लर[1] (Mohler) ने इसे कवकीय (mycotic) बताया है। चूंकि इसका प्रकोप विशेषकर चरागाहों पर चरे हुए अथवा लूसर्न, बरसीम जैसे ताजे फलीदार चारे खिलाए हुए ढोरों में ही होता है—यह वाद मान्य मालूम होता है, किन्तु यह अभी तक सिद्ध नहीं किया जा सका है। फ्रोनर[2] (Frohner) ने बर्नट (Berndt) की एक रिपोर्ट का संदर्भ दिया है, जिन्होंने मेमनों में एक फंगस पॉलीडेस्मस इक्साइटोसस (polydesmus excitosus) द्वारा होने वाली एक घातक मुखार्ति तथा नासार्ति का वर्णन किया है। यह अवस्था खुरपका-मुंहपका रोग से मिलती-जुलती है। घास से उत्पन्न रोग उन्हीं घोड़ों में प्रकोप करता है जो तिपतिया घास (स्वीट क्लोवर) वाले चरागाहों पर चराए जाते हैं। फ्रोनर[2] ने इसका कारण यूरोमाइसीज एपीकुलैटिस (uromyces epiculatis) नामक एक फंगस बताया है। घोड़ों में घास खाने से उत्पन्न यह रोग यूनाइटेड स्टेट्स में भी होते देखा गया है। पॉलीडेस्मस एक्साइटोसस अमेरिका में सरसों परिवार के सभी सदस्यों जैसे तोरिया, बंदगोभी, शलजम आदि में होता बताया गया है। इस समूह के कुछ सदस्य, कुछ पौधों जैसे बरसीम आदि के चरने के परिणामस्वरूप होने वाली विभिन्न प्रकार की मुखार्ति के लिए किसी हद तक उत्तरदायी हैं।

चित्र—5. तीव्र एप्थस मुखार्ति

उडाल[3] (Udall) ने एप्थस मुखार्ति के कई रोगी देखे जिनके कि मुंह में हल्का प्रकोप था तथा अयन, सुमशीर्ष क्षेत्र तथा शरीर के अन्य भाग बुरी तरह क्षतिग्रस्त थे। एक रोगी जो शव-परीक्षण के लिए आया उसको लूसर्न के चरागाह पर चरने से यह रोग हुआ था। रोग का प्रकोप बड़ा भयंकर था और लगभग 6 सप्ताह बाद रोगी की मृत्यु हो गई। थनों, सुमशीर्ष क्षेत्र, पोठ की त्वचा तथा मुंह में क्षतस्थलों के साथ-साथ ग्रसनी

छिछले घाव थे तथा आहार नाल खूब सूज गई थी। कैंटारोविक्ज[4] (Kantarowicz) ऐसी ही अवस्था का गायों में वर्णन किया जो उनमें हरी घास की प्रथम फसल खाने से थी।

संक्रमण इसका एक कारण प्रतीत होता है। पुस्च[5] (Pusch) ने रोग की एक ही अवस्था का वर्णन किया जो कि स्विटजरलैंड से लाए गए सरकारी प्रजनक साँडों के क यूथ में प्रकट हुई। इन पशुओं के उतारे जाने के तत्काल बाद रोग ग्रसित पशुओं में थोड़ी लार बहने लगी। तालू, दांतों के बीच के स्थान, होंठ तथा थूथन पर पाये जाने वाले इसके क्षतस्थल मटर के दाने के बराबर अथवा कुछ बड़े और चपटे थे। युवा पशुओं में इसकी छूत फैलने के कारण जिनकी कि सहन शक्ति यात्रा करने से क्षीण हो गई थी, उन्होंने इस बीमारी का नाम अपरदनकारी मुखार्ति (erosive stomatitis) रखा। यह एक पशु से दूसरे को न लगती थी। ओस्टर्टग और बुग्गी[6] (Ostertag and Bugge) ने बछड़ों में एक ऐसा ही रोग रिपोर्ट किया जो कि एक दूसरे को लगने वाला था—उन्होंने इसका नाम विशिष्ट पिटिकीय मुखार्ति (stomatitis papulosa specifica) रखा।

कुछ रोगों जैसे छाले फटने के बाद खुरपका-मुँहपका, पोंका, घोड़ों में तिपतिया घास रोग, अनविज्ञ कारणों से होने वाली अनेक रक्त पूतित अवस्थाएँ तथा ढोरों में अति केराटोसिस रोग का घावयुक्त मुखार्ति एक लक्षण है। दुर्दम्य नजला में भी इसे होते देखा गया है। केपल और रॉबिन्सन[7] (Keppel and Robinson) द्वारा वर्णित दक्षिणी अफ्रीका के ढोरों में घावयुक्त मुखार्ति के एक प्रकोप में ऐंठन; लार बहना; दंत उपधान (dental pad), मसूड़ों, जीभ तथा गालों पर घाव; गर्दन की सूजन तथा थोड़ा बुखार आदि लक्षण देखे गए। मुखार्ति सदैव मौजूद न थी और कारण का पता न लगाया गया।

चित्र – 6. विकीर्ण एप्थस मुखार्ति से पीड़ित पशु में थन का क्षतस्थल

लक्षण—रोग के हल्के प्रकोप में होठों की श्लेष्मल झिल्ली पर केवल छिछले घाव ही इसके लक्षण हैं। इस बीमारी से बहुत ही थोड़े पशु मरते हैं तथा अधिकांश रोगी अच्छे हो जाते हैं। मोह्लर[1] (Mohler) लिखते हैं कि इस रोग के एक भीषण प्रकोप में मृतकों की संख्या 0.5 प्रतिशत से कम थी।

रोग की अति तीव्र अवस्था में होठों पर पीलापन लिए हुए छाले दिखाई देते, पशु खाना पीना छोड़ देता तथा उसके मुँह से लार गिरती है। कुछ ही समय में छाले फटकर

होंठ वाला भाग पीला, गीला तथा सड़नयुक्त हो जाता है। मुँह में मसूड़ों, गालों, सख्त तालू कहीं पर भी छाले पाये जा सकते हैं और सड़ी हुई महक आती है। सुमशीर्ष के भाग में दरारें पड़ने से पशु लँगड़ा हो सकता है। पीठ पर छाले तथा थनों पर छिछले घाव बन सकते हैं। रोगी की हालत जल्दी-जल्दी गिरती जाती तथा नाड़ी-गति तेज हो जाती है, किन्तु तापक्रम नार्मल ही रहता है। अंत में दस्तों के साथ अंतड़ी की सूजन होकर पशु की मृत्यु हो जाती है।

चिकित्सा—चरागाह पर जाना रोककर अथवा अन्य चारे खिलाकर रोगी की खुराक बदल दीजिए। मुखार्ति की अन्य प्रकारों की भाँति ही मुँह का इलाज कीजिए। खुरों के चारों ओर के घाव तथा दरारों पर ऐल्कोहलयुक्त दवाओं का फाहा रखिए। थनों के छालों के लिए जिंक-आक्साइड तथा सल्फाथायाज़ोल मरहम लाभदायक हैं।

संदर्भ

1. Mohler, John R., Mycotic Stomatitis of Cattle, U.S.B.A.I. Cir. 51, 1904.
2. Frohner, E., Lehrbuch der Toxicologie, ed. 5, 1927.
3. Udall, D. H., Differential diagnosis of foot-and-mouth disease, Cornell Vet., 1915, 4, 242, plate iv.
4. Kantarowicz, L., Ueber Pseudo-Maul-und Klauenseuche Zeit. f. Infektionskr., 1907, 2, 550.
5. Pusch. Ueber Pseudomaulseuche, Deutsch. tier. Wehnschr., 1906, 14, 133.
6. Ostertag und Bugge, Untersuchungen ueber eine maulseuchenahnliche Erkrankung des Rindes ("gutartige Maulseuche"), Stomatitis papulosa bovis specifica, Zeit. f. Infektionskr., 1905, 1, 3.
7. Keppel, J. G. and Robinson, E. M., An outbreak of ulcerative stomatitis in cattle, J. S. African Vet. Med. Assoc., 1932, 3, 176.

त्रिपतकी रोग

(Clover disease)

फ्रोनर[1] (Frohner) ने त्रिपतकी रोग को खाद्य विकारों तथा मारेक[2] (Marek) ने चर्म रोगों के अन्तर्गत वर्णन किया है। हालत का गिरना, घबराना, खुजली तथा भयंकर मुखार्ति आदि लक्षणों द्वारा इसे पहचाना जाता है। तिपतिया घास (trifolium hybridum) के चरागाहों पर चराए गये घोड़ों में यह बीमारी अधिक होती है, किन्तु इसका वास्तविक कारण अज्ञात है। इस देश में कुछ रोगी रिपोर्ट किए जा चुके हैं। सुस्ती, सिर झुकाकर रखना तथा जीभ अथवा मुँह के अन्य भागों पर छालों के साथ इसका प्रकोप हुआ करता है। प्रायः हल्की विगलन द्वारा त्वचा के सफेद भाग रोग ग्रसित होते हैं और कुछ रोगियों में इसके क्षतस्थल त्वचा तक ही सीमित रहते हैं। कभी-कभी इसका प्रभाव बहुव्यापी हुआ करता है जबकि पशु शूल वेदना, रक्त मिश्रित दस्त, पीलिया, रक्तमेह (hematuria), चक्कर काटना, लकवा तथा तन्त्रिकान्धता (amaurosis) जैसे लक्षण प्रकट करता है। बिना मुखार्ति के त्वचा के सफेद भागों का परिगलन, निराशा, जल्दी-जल्दी हालत का गिरना, दुग्ध-उत्पादन में कमी आदि लक्षणों के साथ एक ऐसी ही बीमारी

लेखक के चल-चिकित्सालय में अधिक लूसर्न घास खिलाई हुई गायों में देखी गई। रोग के लक्षणों तथा वेग में अधिक विभिन्नता होने से बीमारी के कारण पर आधारित निदान कठिन हो सकता है। पशु को क्षोभक घास खिलाना बन्द करके तथा स्थानीय लक्षणों की चिकित्सा करके इस बीमारी का इलाज किया जाता है।

संदर्भ

1. Frohner, E., and Zwich, W., Path. u. Ther., d. Haustiere, ed. 9, vol. I, 1915, p. 212.
2. Hutyra, Marek, and Manniger, Special Pth. and Ther. of Dis. of Domestic Animals, Eng. ed. 4, Chicago, Eger, 1938, vol. III, p. 556.

फ्लेग्मोनी-मुखार्ति

(Phlegmonous Stomatitis)

परिभाषा—जीभ पर प्रमुख रूप से प्रभाव डालने वाली यह मुंह की गहरी सूजन है जो कि संयोजी ऊतकों की सीरमी अथवा पीवयुक्त अन्तर्गलन तथा शोथ से पहचानी जाती है। अपेक्षाकृत यह बीमारी कम हुआ करती है।

कारण—काँटेदार नुकीले तार अथवा ऐसी ही किसी अन्य वस्तु से होने वाले जीभ के घाव, गल ग्रथिल रोग के फोड़ों से उपजम्भ क्षेत्र अथवा गाल की मांस पेशियों में छूत का प्रसार, तिपतिया घास रोग अथवा परिगलित मुखार्ति की भयंकर अवस्थाएँ और अमोनिया, क्लोरल हाइड्रास तथा अम्ल जैसे तेज रसायनों से जल जाना इसके प्रमुख कारण हैं। रिंडरपेस्ट, परप्यूरा, दुर्दम्य नजला तथा ऐंथ्राक्स (जिह्वा ऐंथ्राक्स) आदि रोगों में यह अपूर्ण रूप से हुआ करती है।

लक्षण—रोग का विकास शीघ्र तथा कष्टप्रद होता है। परीक्षा करने पर लार गिरना, सूजी तथा बाहर निकली हुई जीभ द्वारा होठों का अलगाव, लाली अथवा नीलापन लिए हुई शोथपूर्ण चमकदार श्लेष्मल झिल्ली तथा काफी मात्रा में लार व श्लेष्मा का बहना आदि लक्षण दिखाई पड़ते हैं। पीवयुक्त अन्तर्गलन अथवा फोड़ा बनने के साथ-साथ क्षत-स्थलों में तेज बदबू आती है। रोग जब चोटें लगने तथा क्षोभक पदार्थों के कारण होता है तो कुछ ही समय में ठीक हो जाता है। किन्तु जब इसका प्रकोप संक्रमण के कारण होता है, तो इसकी अवधि तथा अंत प्राइमरी रोग के ऊपर निर्भर करता है। मुखार्ति की भांति ही इसका भी इलाज किया जाता है।

परिगलित-मुखार्ति

(Necrotic Stomatitis)

(बछड़ों की डिफ्थीरिया, विगलित मुखार्ति, सुअरों में मुखदाह)

परिभाषा—ऐक्टीनोमाइसीज नेक्रोफोरस (नेक्रोसिस बैसिलस) द्वारा होने वाली परिगलित मुखार्ति एक उग्र सूजन है जिसे मुँह में बने परिगलित घावों तथा रुधिर-विषाक्तता द्वारा पहिचाना जाता है। यदा-कदा बिना घावों के शुष्क परिगलन भी हुआ करता है।

कारण—विकीर्ण अथवा स्थानिकमारी अवस्था में यह रोग अमेरिका में बछडो तथा सुअरो को खूब होता है। न्युसम[1] (Newsom) मेल्विन और मोह्लर[2] (Melvin and Mohler) तथा एल्डर[3] (Elder) द्वारा दक्षिणी डेकोटा, वायोमिंग और कोलोरैडो में इस बीमारी से भयकर क्षति होती बताई गई है। प्रमुख रूप से दूध पीने वाले बछडो में ही इस रोग का प्रकोप होता है, किन्तु रोग के तेज प्रकोप में प्रौढ पशु भी इससे आक्रान्त हो सकते है। चूंकि मेमनो में मुख-दाह का कारण एक वाइरस पाया गया है, अत इस जाति में परिगलित क्षतस्थल ऐक्टीनोमाइसीज नेक्रोफोरस जीवाणु की छूत के द्वारा गौण रूप में होते है। यूनाइटेड स्टेट्स के पूर्वी भाग में जहाँ-कही बहुत ही अच्छी सफाई रहती है वहाँ भी बछडो में परिगलित मुखार्ति अधिक होती है। न्यूयार्क राज्य में बछडो में डिप्थीरिया रोग के प्रकोप की कोई विशेष ऋतु तो निश्चित नही है, यद्यपि कि यह जाडो में अधिक होता है। पश्चिम में यह गर्मियो के महीनो में नही होता।

घाव अथवा परिगलित क्षतस्थल के किनारे के जीवित टिसू से तैयार किये गये लेप (smear) में छड के रुप में पाया जाने वाला ऐक्टीनोमाइसीज नेक्रोफोरस एक जीवाणु है। इसे कार्बोलफुक्सिन से रगा जाता है। खाद, मिट्टी, सुअरो तथा सम्भवत अन्य पशुओ की स्वस्थ अँतडी में यह जीवाणु निवास किया करता है। टनीक्लिफ [4] (Tunnicliff) द्वारा रिपोर्ट किये गए प्रयोग यह प्रदर्शित करते है कि "यह जीवाणु प्राकृतिक मिट्टी में नार्मल रूप से कुछ ही समय तक जीवित रह सकता है। पृथ्वी का मृतजीवी इसे वर्गीकृत नही किया जा सकता।" अनेक लेखक इसे केवल कमजोर टिसुओ पर आक्रमण करने वाला, नार्मल श्लेष्मल झिल्लिया में न विकसित होने वाला तथा श्लेष्मल झिल्ली की जरा सी टूट से घुसने वाला एक गौण आक्रमणकारी मानते है। तेज पदार्थों अथवा ठड आदि से लगने वाली श्लेष्मल झिल्ली की चोटें तथा सडे गले पदार्थ खाना इस

चित्र—7. परिगलित मुखार्ति से ग्रसित गाय की जिह्वा

बीमारी के माने हुए पुर प्रवर्तक कारण है। फिर भी प्रत्यक्षरूप से इन कारको की अनुपस्थिति में भी यह रोग प्रकोप करता है तथा विभिन्न अगो पर भिन्न अवस्थाओ में

इसका विस्तृत आक्रमण इस बात का अनुमान कराता है कि इसकी छूत प्राइमरी रूप से भी लग सकती है।

चित्र—8. बछड़े में परिगलित मुखार्ति (जेम्स ए० हेन्डर्सन के सौजन्य से)

रोग-विज्ञान—इस रोग के परिगलित घावों का प्रमुख स्थान दाढ़ के पास गाल तथा जीभ के किनारे अथवा जड़ का भाग है। घाव की तली में पीलापन लिए हुए हरा अथवा बादामी रंग का सड़ा हुआ बदबूदार पदार्थ नीचे के टिसुओं पर दृढ़ता पूर्वक चिपका रहता है। इसमें सड़े हुए पनीर की भाँति बदबू आती है। मोह्लर[2] (Mohler) ने इन क्षतस्थलों को "केसिएशन के साथ होने वाली एक स्कंदन-परिगलन (coagulation necrosis) कहकर वर्णन किया है जो निकट के टिसुओं पर आक्रमण करने वाला तथा मितस्थायी होता है।" घाव के किनारे दानेदार टिसु की सुदृढ़ दीवाल के बने होते हैं। रोग के भयकर प्रकोप में परिगलित क्षतस्थल कंठ, फेरिंक्स, स्वांस नली, फेफड़ों, ग्रासनली,

रूमेन, ओमेसम, एबोमेसम, त्वचा तथा खुरों के मध्य पाये जा सकते हैं। इन प्रकारों में रोगी बहुत ही जीर्ण-शीर्ण हो जाता है। मेमनों में इस भयंकर अवस्था का न्युसम और क्रास[5] (Newsom and Cross) तथा बछड़ों में एल्डर[3] (Elder) ने वर्णन किया है। भेड़ों में मुख-दाह के साथ एक रतिजन्य (venereal) अवस्था को मेल्विन तथा अन्य लोगों द्वारा वर्णित किया गया है।

लक्षण—इस बीमारी का उद्भवन काल तीन से पांच दिन का है। जन्म से एक सप्ताह के अन्दर ही बच्चे रोग ग्रसित हो सकते हैं। बछड़ों में कमजोरी, क्षीणता, खान–पान में अरुचि, लार टपकाना, जीभ का चूसना, निगलने वाली गति तथा गर्दन अथवा गालों की सूजन आदि लक्षण प्रकट होते हैं। सूजन अधिकतर गालों पर ही होती है। यह 1 से 3 इंच व्यास की गोलाकार होती है और कुछ को छोड़कर अधिकांश में इसके नीचे एक घाव सा होता है, जो दाढ़ के दाँत की जड़ के पास वाली श्लेष्मल झिल्ली की परीक्षा करके पहचाना जा सकता है। रोगी को तेज बुखार आता है। प्रारम्भ में क्षतस्थल छोटे छोटे छालों से मिलते-जुलते दिखाई देते हैं। बाद में यह परस्पर मिलकर एक परिगलित क्षेत्र बनाते हैं जो एक लाल किनारी से घिरा रहता है। सड़न लगकर जीभ को अलग ही कर देती है अथवा मसूड़ों के किनारों पर का गालों का टिसू छिलकर उसमें गहरे घाव बन जाते हैं। रोग के बढ़े हुए आक्रमणों में निमोनिया अथवा जठर-आंत्रशोथ विकसित हो सकती है। सुअरों में प्रायः सामने वाले तथा छेदक दाँतों (tusks) के चारों ओर सड़न प्रकट होती है। न्युसम[1] (Newsom) ने सभी आयु के सुअरों में प्रकोप करने वाली इस रोग की प्राणघातक स्थानिकमारी का वर्णन किया है। सड़न दाँतों को ढीला कर देती तथा चेहरे की हड्डियों में भी लग जाती है। परीक्षा करने पर पूरी बड़ी आँत तथा पेट में घाव पाये गये। इसी प्रकार के घाव पैरों की त्वचा तथा नर पशुओं के मुतान में देखे गए। अधिक आयु वाले पशुओं में बीमारी का प्रकोप कुछ हल्का होता है। गायों में थनों तथा मुमशीर्द क्षेत्र की सड़न के साथ प्राणघातक परिगलित मुखार्ति के प्रकोप खुरपका-मुँहपका रोग का संदेह करा देते हैं। बड़े छाले तथा छिछले घाव जैसी खराबियाँ होने के अतिरिक्त, जीभ की पूरी मोटाई अथवा धन के पूरे व्यास में सूखे तथा गोल गोल परिगलित क्षेत्र मिलते हैं। रोग ग्रसित भाग बादामी तथा सूखे होते हैं और जीभ के अंकुरक (papillae) गायब हो जाते हैं। रोग का विभेदी-निदान करते समय अति किरेटिनता पर विचार करना चाहिए।
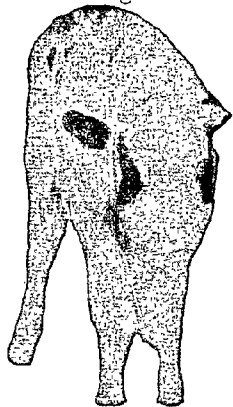
चित्र—9. परिगलित मुखार्ति (जेम्स ए० हेन्डर्सन के सौजन्य से)

फलानुमान (Prognosis)—बछडे तथा सुअर जिनकी व्यक्तिगत चिकित्सा की जाती है, प्राय दो सप्ताह में ठीक हो जाते हैं। किसी भी जाति में बीमारी के प्रकोप हल्के हो सकते है, किन्तु जहाँ गदगी रहती अथवा पशुओं का कम खाने को मिलता है, मृत्युदर अधिक होता है।

चिकित्सा—सडे टिशू को अलग कर दो और रोग ग्रसित भागो पर कास्टिक छुआओ अथवा सतह को 10 प्रतिशत सिल्वर नाइट्रेट के घोल के फाहे से साफ कर दो। लूगाल का आयोडीन घोल अथवा 4 प्रतिशत बोरिक एसिड अन्य लाभदायक रोगाणु-नाशक पदार्थ है। एल्डर[3] (Elder) ने बताया कि वायोमिग (Wyoming) में "हम लोगो ने 10 प्रतिशत पोटाशियम परमैगनेट घोल को जिसमें कि 1 प्रतिशत सक्रिय क्लोरीन मिलाई गई थी, इसका सर्वोत्तम इलाज पाया—भार द्वारा 10 प्रतिशत पाटाश परमैगनेट के रवे मिलाकर डाकिन का घोल (Dokin's Solution) प्रयोग किया जा सकता है।" सल्फापायरीडीन (3 ग्राम प्रति 200 पौण्ड शरीर भार नित्य) का प्रयोग इस बीमारी तथा परिगलित कठशाथ (necrotic laryngitis) में विशेष गुणकारी सिद्ध हुआ है।[6] हेज और राइट[7] (Hayes and Wright) ने माटेना में बछडा में डिप्थीरिया के भीषण प्रकोपों में सल्फामेथाजीन की चिकित्सा द्वारा अति उत्तम परिणाम रिपार्ट किए है। 15 ग्राम की एक गुलिका (लगभग 3/4 से 1½ ग्रेन प्रति पौण्ड शरीर भार) दिन में एक बार दो दिन तक देकर दो सप्ताहो में 2,785 पशुओ की चिकित्सा की गई। ऐसे ही परिणाम सल्फामेराजीन से भी प्राप्त कहे गए है।[8]

बचाव—रोगियो को अलग करके पशुशालाओ की खूब सफाई करो तथा अच्छे पशुओ की बीमारी के लिए नित्य ही जाँच करो।

सदर्भ

1 Newsom, I E, Necrotic Stomatitis, Colo Agr, Exp Sta Bull 197, 1911
2 Melvin, A D, and Mohler, John R, Lip and Leg Ulceration of Sheep, U S Dept Agr Cir 160, 1910, Mohler, John R, and Morse, B G, Necrotic Stomatitis with special Reference to Its Occurrence in Calves (Calf Diptheria) and Pigs (Sore Mouth) U S Dept Agr B A I, Bull 67, 1905
3 Elder, Cecil, Lee, A.M, and Schrivner, L H, Necrobacillosis of Calves (Calf Diphtheria), Wyoming Agr Exp Sta Bull Laramie, 1931
4 Tunnicliff, E A, A study of Actinomyces necrophorus in soil cultures, J Im Diseases, 1938, 62, 58
5 Newsom, I E, and Cross, F, Some complications of sore mouth in lambs, J A V M A, 1931, 78, 539
6 Farquharson, J, Sulfapyridine in the treatment of calf diphtheria, J A V M A, 1940, 97, 431
7. Hayes, A F, and Wright, G M, Outbreak of calf diphtheria controlled with sulfamethazine, J A V M A, 1949, 114, 80
8 Lies G W, Problems in handling feeder cattle, J A V M A, 1949, 115, 458

लाला स्रवण

(Salivation)

(अतिलालास्रावता; लार गिराना; अति-स्रावण)

लार गिरना अनेक बीमारियों का एक लक्षण है। वास्तव में होने की अपेक्षा लार निगली न जा पाने के कारण यह प्राय: अधिक गिरती दिखाई पड़ती है। अत्यधिक लार निकलना निम्न कारणों से हो सकता है :

(1) मुंह के छाले, दाँतों में खराबी, मुंह में कोई अवांछित पदार्थ का होना, ग्रसनी शोथ तथा खुरपका-मुंहपका रोग आदि से स्थानीय संताप। तिपतिया घास के चरागाहों पर चराए गए घोड़े खूब लार गिराते हैं। तिपतिया घास-रोग का यह एक प्रमुख लक्षण है।

(2) गले में रुकावट होने अथवा तीव्र अपच में अनैच्छिक उत्तेजना से अत्यधिक लार निकलती है। यह एवोमेसम के अन्तर्घट्टन से सम्बन्धित है।

(3) पागलपन, मक्का के डंठल खाने से उत्पन्न विषाक्तता तथा मस्तिष्क रोगों और परिणाह तंत्रिकाओं (peripheral nerves) की खराबियों में परोक्ष रूप से नस की उत्तेजना से लार निकलने में वृद्धि होती है। पारा, आयोडीन, पाइलोकार्पीन और एरीकोलीन की क्रिया के परिणाम स्वरूप भी ऐसा ही प्रभाव होता है।

(4) ग्रसनी का पक्षाघात (कूट पागलपन तथा पागलपन) होने से काफी मात्रा में लार गिरने लगती है।

चिकित्सा—ऐट्रोपीन के प्रयोग से अस्थायी आराम मिल सकता है।

लार ग्रंथियों की सूजन

(Inflamation of the Salivary Glands)

पैरोटिड, उपजम्भ तथा अधोजिह्वा (sublingual) नामक लार ग्रंथियों के तीन समूह होते हैं। इनमें कभी-कभी रोग लगता है, और गायों में अविशिष्ट छूत से इनके पास फोड़े बन जाते हैं जिनसे लिम्फ ग्रंथियों की टी० बी० होने का संदेह होता है। सूजन का प्रकार मृदूतक (parenchymatous) अथवा पीवयुक्त फोड़े के रूप में होता है।

कारण—स्टेंशन नलिका (stenson's duct) द्वारा सींकुर घुस जाने, नलिका से सूजन का प्रसार होने से अथवा रक्त परिभ्रमण से पैराटिड ग्रंथि को छूत लग सकती है। क्षय रोग, ऐक्टीनोवैसीलोसिस और गल ग्रंथिल रोग जैसी विशिष्ट छूत लिम्फ मार्ग द्वारा घुसती है। धक्का, कांटे तथा घुसने वाली चोटों के परिणामस्वरूप फोड़ा बनता है। कुछ स्थानों में पैरोटिड ग्रंथियों की हल्की सूजन घोड़ों में आमतौर से पायी जाती है।

लक्षण—पहले-पहल लार ग्रंथि अथवा स्टेंशन-नलिका के किनारे चौतरफा सूजन दिखाई पड़ती है। गल ग्रन्थिल रोग में, कभी-कभी पैरोटिड ग्रन्थि पर अनेक छोटे-छोटे फोड़े विकसित होकर सूजन उत्पन्न कर देते हैं जो निकट के टिसुओं पर फैलकर फेरिंक्स पर दबाव डालती तथा श्वांस-कष्ट उत्पन्न करती है। यह सूजन सिर, पलकों तथा कानों

तब भी बढ सकती है। रोग की तीव्र अवस्था में यह ग्रंथि सूज जाती तथा दर्दयुक्त होती है। चबाने की क्रिया धीरे धीरे तथा कष्टप्रद होती है। काफी मात्रा में लार बहती तथा मुँह से बदबूदार महक आती है। एक सप्ताह से दस दिन में फोड़े फटकर ठीक होने लग सकते हैं। घोडा में स्टेंसन-नलिका महीना तक सूजी रह सकती है और बाद में एकाएक बढ़कर पैरोटिड ग्रंथि में दर्दयुक्त सूजन उत्पन्न करती है।

उपजम्भ लार ग्रंथि की सूजन गायो में देखी जाती है। इससे प्राप्त तरल पदार्थ भूसा के रंग जैसा होकर उसमें एपीथिलियल कोशिकाएँ तथा श्वेताणु मौजूद हो सकते हैं, किन्तु इसमें बैक्टीरिया नही पाये जाते। ग्रंथि स्थायी रूप से बढ़ी हुई तथा मुदुर रह सकती है।

चिकित्सा—तीव्र, दर्दयुक्त अवस्था में ठंडी औषधियों का प्रयोग आराम पहुँचाता है। सूजन का विकास फोडे का बनना संकेत करता है और जब कभी पीप का पता लगा लिया जाय तो उसे तुरन्त ही निकाल देना चाहिए। जब ग्रंथि सख्त होने लगती है तो टिंचर आयाडीन के प्रयोग से अथवा ग्रंथि के विभिन्न भागो में एक सप्ताह से दस दिन के अवकाश पर 5 घ० सें० लूगाल घोल का इंजेक्शन देने से उसका जल्दी अवशोषण (resorption) होने लगता है।

ग्रसनी का पक्षाघात

(Paralysis of the Pharynx)

(जिह्वा ग्रसनी पक्षाघात)

कारण—ग्रसनी का पक्षाघात यदा-कदा घोडों में देखा जाता है। निगलने में असमर्थता, सामान्य लक्षणो की अनुपस्थिति तथा अन्य अंगो में पक्षाघात न होने से इसे पहचाना जाता है। लेखक के अवलोकन में जितने भी रोगी आए वे सभी विकीर्ण रूप से रोग ग्रसित थे। बिना किसी विशिष्ट कारण के पूर्ण रूपेण पक्षाघात होता है। मेरुरज्जीय तानिकाओ (spinal meninges) में क्षतस्थल होने के कारण पहले इस रोग को मेरुरज्जीय तानिका शोथ (spinal meningitis) कहा जाता था। इस सिद्धान्त पर विचारे में विषैले पदार्थ पक्षाघात उत्पन्न करते हैं अभी हाल में ही इसे 'चारा विषाक्तता" (बोट्युलिज्म) नाम दिया गया है। बोट्युलिज्म में, ग्रसनी का पक्षाघात अत्यधिक परिसर पक्षाघात (peripheral paralysis) के साथ हुआ करता है। तानिकाशोथ में प्राय गले का पक्षाघात नही होता। गलग्रंथिल रोग के आक्रमण के बाद गले के पक्षाघात का फलानुमान अच्छा हो सकता है। टेलर[1] (Taylor) लिखते हैं कि 'ग्रसनी के पक्षाघात के लक्षण कंद पक्षाघात (bulbar paralysis) के केन्द्र के क्षतस्थलो की भाँति होते हैं।' ला[2] (law) के अनुसार 'पक्षाघात प्राय वेगस तथा जिह्वा-ग्रसनी तंत्रिकाओ (glossopharyngeal nerves) की जडो पर स्थित बल्ब के रोग, अथवा इन तंत्रिकाओ या सिम्पैथेटिक तंत्रिका को प्रभावित करने वाली सूजन की ओर संकेत करता है।" कंद पक्षाघात, ग्रसनी का पक्षाघात" पागलपन, मस्तिष्क शोथ की अन्य प्रकारो, मस्तिष्क के फोडा तथा चारा विषाक्तता से उत्पन्न नशे का एक लक्षण है। गल ग्रंथिल रोग के बाद होने वाला पक्षाघात संभवत प्रत्यग्रसनी फोडो के देर में ठीक होने के कारण होता है।

लक्षण—लेखक द्वारा अवलोकित रोगियों में, रात को जो घोड़ा देखने में बिल्कुल ठीक था, सुबह को वह निगलने में असमर्थ हो गया। दो सामान्य तौर पर काम करने वाले पशु, एक या दो दिन के लिए चरागाह पर चरने गए और वे इस अवस्था से ग्रसित पाए गए। कभी-कभी सर्दी लगकर पहले बढ़ते हुए पक्षाघात का इतिहास मिलता है, जो बाद में पूर्ण हो जाता है। बार-बार परीक्षण करने पर भी निगलने में असमर्थता के अतिरिक्त कोई अन्य लक्षण नहीं मिलते। दोनों नथुनों से लगातार धुमैले रंग का सफेद पदार्थ बहता है जिसका रंग खाए गए चारे के अनुसार बदलता रहता है। चरागाह पर चराए गए घोड़ों में यह हरा होता है। पशु घाँस भी सकता है। अन्त में रोगी की हालत खराब हो जाती है और यदि श्वांस नली में दूषित पदार्थ घुसकर श्वसन-निमोनिया उत्पन्न करके उसे जल्दी ही नहीं मार देते, तो घोड़ा थकान से मर जाता है। ग्रसनी का अस्थायी पक्षाघात कभी-कभी गायों में भी देखा जाता है।

चिकित्सा—कुछ रोगी ठीक होते भी देखे गए हैं, किन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि इनकी हालत में चिकित्सा द्वारा सुधार हुआ है। लेखक ने एक रोगी का बिजली के स्थानीय प्रयोग से एक माह तक इलाज किया। घोड़े को आमाशय-नलिका द्वारा माँड़ पिलाकर पाला गया। नासास्राव में कमी तथा कम घाँसने से पशु की हालत में क्षणिक सुधार भी देखा गया किन्तु अन्त में रोगी की मृत्यु हो गयी। 0.5 ग्राम प्रति दिन की मात्रा में अंतः शिरा इन्जेक्शन द्वारा विटामिन बी^{1} (थायामिन हाइड्रोक्लोराइड) का प्रयोग लाभदायक बताया गया, क्योंकि इसके प्रयोग से दो तीन घोड़े ठीक हो गए। इसे सूखे ब्रूअर के यीस्ट के साथ 500 ग्राम की मात्रा में पानी में नित्य घोलकर आमाशय नलिका द्वारा दिया जाता है।

संदर्भ

1. Taylor: Osler-Mc.Crae, Mod. Med., ed. 2, vol. 5, p. 516.
2. Law, James, Veterinary Medicine, ed. 3, vol. II, 1911, p. 81.

कंठावरोध
(Choke)
(ग्रासनली का अवरोध)

कारण—पशुओं के गले में बहुधा रुकावट पड़ जाती है, क्योंकि शुरू में बिना खूब चबाए ही चारे को निगलने की उनकी प्रकृति होती है। अनेक प्रकार के अवांछित पदार्थ यहाँ तक कि जड़ तथा अन्य चारे के बड़े-बड़े टुकड़े पेट में अपरिवर्तित ही पहुँच जाते हैं। कुछ फलों तथा सब्जियों जैसे बंदगोभी, सेब तथा जड़ों के खा जाने पर जुगाली करने वाले पशुओं के गले में बहुधा रुकावट पड़ती देखी जाती है। यह तूफानी हवाओं के बाद तथा जब सेब और जड़ें गीली होती हैं, विशेषकर हुआ करता है। कार्नेल विश्वविद्यालय के चल-चिकित्सालय में इस रोग की चिकित्सा की गई गायों में 90 प्रतिशत गले में रुकावट पड़ने के कारण सेब थे। आलू, चुकन्दर, शल्जम, बाल के सींकुर तथा बन्दगोभी के डंठल गले में रुकावट उत्पन्न करने वाली अन्य वस्तुएँ हैं। कभी-कभी टीन तथा काँच के टुकड़ों जैसी धातु की

स्तुओं को निगलने में भी गायों के गले रुंध जाते हैं। स्मिथ[1] (Smith) ने खाना खाने वाले कांटे (table fork) के निगले जाने पर गाय के गले में रुकावट पड़ जाने का वर्णन किया है। रोगी की गर्दन के निचले एक तिहाई भाग में आपरेशन करके जब कांटा निकाल दिया गया तो वह अच्छा हो गया। नियमानुसार निगले गए बड़े पदार्थ ग्रासनली के ग्रीवा वाले भाग में ही रुक जाते हैं, किन्तु यदा-कदा वे इसके वक्षीय भाग में भी पाये जाते हैं। शिगले[2] (Shigley) ने पूरे चुकन्दर के निगल जाने पर जिसका कि कुछ भाग ग्रासनली से रेटीकुलम में निकला हुआ था, अपना परिणाम रिपोर्ट किया। रूमन का आपरेशन करके एक तार के कांटे से चुकन्दर को निकाल देने पर रोगी अच्छा होने लगा।

घोड़ा में, जड़ें, अथवा सूखी घास, तथा अधिकतर सूखे चारे जैसे जई अथवा चोकर का लालच से अधिक खा जाने पर उनके गले में रुकावट पड़ जाती है। अश्व जाति में ऐसा प्राय 10 वर्ष अथवा इससे अधिक आयु वाले पशुओं में हुआ करता है। घोड़ों में गले रुंधने की आदत वृद्ध पशुओं में दांतों की कमजोरी से ठीक प्रकार चारा न चबा पाने के परिणामस्वरूप अथवा दीर्घकालिक परिगत ग्रासनली घाव से उत्पन्न सिकुड़न के कारण हुआ करती है। गले में रुकावट पड़ने के बाद वहाँ परिगलन उत्पन्न हो सकता है अथवा बीमारी से चेतना का ह्रास हो जाता है। ऐसे रोगियों में ग्रासनली कुछ कुछ अवसन्न सी रहती है तथा सूखी घास अथवा दाना उसमें ठहरने के लिए बाध्य हो जाता है। उदरशूल से पीड़ित घोड़ों को दिए जाने वाले कैप्सूल कभी कभी ग्रासनली में रुक कर फट जाते हैं जहाँ कि उनमें से निकली हुई औषधि सूजन उत्पन्न करती है। कैप्सूल के फटने से होने वाले भय का पहले थोड़ी मात्रा में 1/4 ग्रेन (0 015 ग्राम) एट्रोपीन देने से काफी हद तक रोका जा सकता है।

लक्षण— गायों में ग्रैव कंठ रोधन (cervical choke) का सर्व प्रथम लार बहने तथा पेट फूलने से पहचाना जाता है। पेट फूलने के कारण रोगी अति व्यग्र तथा बेचैन हो सकता है। पशु खाँसता, चबाता, जम्हाई करता तथा अधिकृत निगलने वाली गति करता है। रोगी खाने अथवा पीने का प्रयास ही नहीं करता। गल-पात में ग्रास नली को थपथपाने से प्राय इसके ऊपरी भाग में सेब अथवा जड़ आदि रुके हुए पदार्थ का अनुभव होता है। बहुधा यह फेरिंक्स के ठीक पीछे स्थित रहता है।

गायों में वक्षीय कंठ रोधन (thoracic choke) के कारण अफरा उत्पन्न हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप बेचैनी कराहने, कांपने, अत्यधिक दम घुटने, लार बहने तथा मुँह खोलकर सांस लेने के उग्र लक्षण प्रकट होते हैं। रूमेन में कैन्युला घुसेड़ कर जब अफरा से छुटकारा मिल जाता है तो उग्र लक्षण दूर हो जाता है। पशु खा-पी सकता है, किन्तु वमन तथा खाँसने के साथ उसका खाया पिया पदार्थ पुन वापस आता है। आमाशय-नलिका अथवा कंठ नलिका घुसेड़ने पर प्राय ग्रासनली के अंतिम भाग में तथा कभी-कभी वक्ष के अगले सिरे के निकट रुकावट का अनुभव होता है। कुछ रोगियों में कंठरोधन के एक दो दिन बाद अधस्त्वक् सूजन हो जाती है। यह ओकाई द्वारा उत्पादित अन्तरालीय फुफ्फुस वातस्फीति (interstitial pulmonary emphysema) का आधिक्य लक्षण भी हो सकता है। यदा-कदा यह ग्रासनली में छेद हो जाने के कारण भी होता है।

धातु की वस्तुएँ फेरिंक्स अथवा ग्रासनली के ऊपरी भाग में ठहर कर वहाँ तीक्ष्ण सूजन उत्पन्न करती है। यदि ग्रासनली में छेद हो जाता है तो वहाँ चुरचुराहट की आवाज उत्पन्न करने वाली गोलाकार फूली हुई सूजन विकसित हो जाती है। जैसे ही डकार आती है, सूजन बढ जाती है। दो या तीन दिन में तापक्रम तथा नाडी गति बढ जाती है और नथुनो में थोडा-थोडा अन्दर से निकला हुआ सूखा चारा भर जाता है। प्रारम्भ से ही चारे और पानी के लिए पूर्ण अरुचि रहती है। चूँकि रुकावट अपूर्ण होती है अत. प्रारम्भ में अफारा नही होता। किन्तु, बाद में शोथयुक्त तन्तु ग्रासनली को अवरुद्ध कर देते है और धीरे-धीरे पेट फूलने लगता है। शल्य-क्रिया करके रोगी को शीघ्र आराम पहुँचाया जा सकता है। किन्तु छूत के अधिक बढ जाने पर लगभग एक सप्ताह में रोगी पशु की मृत्यु हो जाती है।

घोडो में ग्रैवकठरोधन में गर्दन के लगभग बीचोबीच सूजन देखी तथा महसूस की जाती है। सिकुडन तथा प्रसार के साथ होने वाली दीर्घकालिक ग्रसनीशोथ से पीडित वृद्ध घोडो मे आमतौर पर होने वाले कठरोधन में खाने की क्रिया मद पड जाती है। जब चारा ग्रासनली के वक्षीय भाग मे रुक जाता है तो सिर तथा गर्दन का प्रसार हो जाता, ऊपरी होठ उठ जाता, तथा जुगुलर-गर्त के ऊपर लहरदार गति होती है। इसके बाद रोगी पशु धाँसता है। कुछ रोगियो में कठरोधन की आदत तब तक बनी रहती है, जब तक कि दम घुटने के एक आक्रमण के बाद, ग्रासनली का वक्षीय भाग काफी दूर तक चारे से भर जाता तथा व्यास में दो इच या अधिक बढ जाता है। यह प्रसार आगे बढकर ग्रासनली के ग्रीवा वाले भाग के ऊपर पहुँचता है, जहाँ यह एक सुविकसित सूजन के रूप में देखा जा सकता है। इस क्षेत्र पर थपथपाने से ग्रासनली में चुरचुराहट की आवाज महसूस की जा सकती है। ऐसे रोगी प्राय मर जाते है। कठरोधन के साथ-साथ इनमें अत श्वसन निमोनिया भी हो जाती है।

कम आयु वाले पशुओ में, लालच के साथ जई अथवा चोकर निगल लेने के बाद, घोडे की पहले दम घुटती सी दिखाई देती है। पशु चारा खाना छोड देता, नाक सीने की ओर खिच जाती तथा गर्दन ऊपर की ओर मुड जाती है और ग्रासनली में ऐंठन युक्त तीव्र सकुचन होता है। इसके फल-स्वरूप घोडा दर्द के कारण चिल्लाता है। पशु के मुँह से अत्यधिक लार बहती है। बेचैनी, दर्द जैसी गति, धाँसना तथा नथुनो से चारे और लार का बाहर निकलना आदि लक्षण प्रारम्भिक अवस्थाओ में देखे जाते हैं। ग्रासनली की मालिश करने पर पशु को दर्दयुक्त वमनेच्छा हो सकती है। प्रारम्भ में यह लक्षण अधिक स्पष्ट होते है। एक अथवा दो घटे बाद वमन के आक्रमणो के बीच के अवकाश अधिक हो जाते हैं तथा आक्रमण भी हल्के होने लगते है। रोगी बिल्कुल शात हो जाता तथा खाना भी शुरू कर सकता है।

यद्यपि प्रारम्भिक लक्षण मालिक को बडा ही भय उत्पन्न करने वाले होते है, किन्तु कठरोधन से तत्काल मृत्यु की सभावना बहुत ही कम है। यदि कठरोधन से रोगी को आराम न हुआ तो प्राणघातक पक्षाघात तथा ग्रासनली में परिगलन होकर अथवा श्वसन-निमोनिया से उसकी मृत्यु हो जाती है। जल्दी तथा अव्यवस्थित चिकित्सा से इन परि-

स्थितियों से छुटकारा न मिलकर वे पशु भी मरने लगते हैं, जो शायद बिना चिकित्सा किए हुए अकेले छोड देने पर अच्छे हो गए होते।

गायों में सेब से उत्पन्न गले में रुकावट अपेक्षाकृत अधिक खतरनाक नहीं होती। इससे होने वाला प्रमुख तथा तात्कालिक खतरा तीव्र अफारा है, जो गले में पूर्ण रुकावट होने पर अधिक खतरनाक हो सकता है। अधिकांश रोगियों में चौबीस घंटे के अन्दर कठरोधन स्वत ही ठीक हो जाता है, किन्तु यह दो या तीन दिन, अथवा एक सप्ताह तक भी चल सकता है। जब रुकावट उत्पन्न करने वाला पदार्थ बड़ा तथा टेढ़ा-मेढ़ा होकर वक्ष में अटक जाता है, तो यह ग्रासनली में कसकर फँस कर वहाँ धीरे-धीरे सूजन उत्पन्न करता है और इस प्रकार यह स्वत निकलने अथवा आपरेशन द्वारा निकालने में कठिनाई पैदा करता है। जब ग्रासनली में पूर्ण रुकावट होती है, तो गायों को अफारा से बचाने के लिए लगभग लगातार ध्यान देने की आवश्यकता पड सकती है। कठरोधित गाय में अफारा का कम अथवा अनुपस्थित होना, यह संकेत करता है कि ग्रासनली पूर्णरूपेण बन्द नहीं है तथा प्राणघातक जटिलताओं से अपेक्षाकृत कम भय है। जब गाय के गले में बिना काटे खिलाया गया कोई सख्त पदार्थ जैसे आलू, चुकन्दर अथवा शलजम के अटक जाने से रुकावट पडती है तो ऐसा अवरोध बहुत ही भयानक होता है। ऐसे अवसर पर अधिक समय लेने वाले आशातीत इलाज पर आश्रित न होकर यदि सम्भव हो तो रुकावट डालने वाले पदार्थ को शीघ्र ही हटा देना चाहिए।

कठरोधन से घोडा की तत्काल मृत्यु न होकर, कुछ घंटों से लेकर दो या तीन दिन में वे स्वत अच्छे हो जाते हैं। रुकावट डालने वाला पदार्थ धीरे-धीरे गीला तथा मुलायम हो जाता है। इसमें उपयुक्त चिकित्सा हो जाने पर आशातीत लाभ होता है।

निदान—श्वसनी शोथ (bronchitis) से पीडित गायों में कभी-कभी कठरोधन होने का सदेह किया जाता है। ऐसा सिर को नीचे झुकाए रहने, थाँमने, खुला हुआ मुँह तथा बाहर निकली हुई जीभ के कारण होता है। इन्ही कारणों से एकाएक उग्र रूप से पेट का फूल जाना भी गलती से कठरोधन समझा गया है, यहाँ तक कि इसमें रुकावट डालने वाले अनुमानित पदार्थ को हटाने के लिए कठनलिका का प्रयोग किया गया तथा कठरोधन को अपच कहकर पहचाना गया। फेरिक्स अथवा ग्रासनली के ऊपरी भाग में धातु से बनी हुई वस्तुओं के अटक जाने से होने वाले कठरोधन का ग्रसनीशोथ के रूप में निदान किया गया।

चिकित्सा—ढोरों में अफारा को मुँह में लकडी की मुख-खोलनी अथवा रस्सी डाल कर, कट्रोल किया जा सकता है। यदि इससे आराम न मिले तो रूमेन में ट्रोकार और कैन्युला का प्रयोग करना चाहिए। घुसेडे हुए धाव में टांके भरकर कैन्युला को घंटो तक उसी स्थिति में रखना आवश्यक हो सकता है। चारे के सख्त टुकडो के अटक जाने से उत्पन्न, पशुओं में गले के अवरोध में यांत्रिक सहायता प्राय शीघ्र आराम पहुँचाती है। ग्रीवा-क्षेत्र में सेब अथवा कोई अन्य ऐसे ही पदार्थ के अटकने का पता लग जाये तो एक सहायक की सहायता से गले के दोनों ओर हाथ रखकर तथा दोनों अगूठो से रुकी हुई वस्तु

को उपर की ओर दबाकर फेरिंक्स में ढकेल देना चाहिए। इसे इस अवस्था में तब तक पकड़े रखा जा सकता है जब तक कि प्रचालक (operator) फेरिंक्स में अपना हाथ घुसेड़कर उसे ग्रासनली के ऊपरी सिरे में पकड़ न ले। अधिकतर रोगियों में यह विधि काफी सफल हुई है। कुछ लोगों ने एक तार को दोहरा मोड़कर उसमें छल्ला बनाकर सफलता की रिपोर्ट की है। इस छल्ले को अटके हुए पदार्थ के पीछे घुसेड़ कर धीरे धीरे शक्ति लगाकर बाहर खींच लेते हैं। अथवा 30 इंच लम्बे 9 नम्बर के तार के सिरे में बने ½ इंच के मोटे हुक में अँगुलियों की सहायता से अटके हुए पदार्थ को फँसा लेते हैं तथा एक सहायक बाहर से तार को खींचता है। हाल[3] (Hall) द्वारा वर्णन की गई एक विधि में प्रसूता जंजीर (obstetrical chain) को गर्दन के ग्रैवीय क्षेत्र में अटके हुए पदार्थ के पीछे कस कर थोड़ा खोलकर अटके हुए पदार्थ से सटा देते हैं। प्रबल गतियों अथवा ग्रासनली के ऐंठनयुक्त तीव्र संकुचन को रोकने के लिए, शिरा में नींद लाने वाली औषधि का इन्जेक्शन दे देना लाभदायक है।

दोनों ही विधियों में एक मुख-वीक्षण यंत्र (mouth speculum) परमावश्यक है। वक्षीय कंठरोधन से शीघ्र आराम पाने के लिए कंठ-नलिका का प्रयोग आवश्यक है और गायों में यह ग्रैवीय कंठरोधन में भी लाभदायक सिद्ध हो सकती है। विशेष प्रकार की बनी हुई कंठ-नलिका के बजाय, अन्दर पतली छड़ युक्त एक साधारण आमाशय नलिका अथवा पानी छिड़कने वाली रबर का ½ से ¾ इंच व्यास वाला एक पुराना चिकना टुकड़ा प्रयोग किया जा सकता है। मुख-वीक्षण यंत्र तथा एक या दो सहायकों की मदद से गायों में कंठ-नलिका को आसानी से घुसेड़ा जा सकता है। नलिका की सतह तेल लगाकर चिकनी कर लेनी चाहिए और प्रचालक को घुसेड़ने के समय शक्ति प्रयोग करने में बड़ी सावधानी बरतनी चाहिए। कुछ घंटों अथवा दिनों के अवकाश पर बार-बार किए गए ऐसे प्रयत्नों से अंत में अटका हुआ पदार्थ अपने स्थान से हट जाता है। कंठ-नलिका घुसेड़ते समय सावधानी न बरतने पर ग्रासनली में चोट लग सकती अथवा अटकी हुई वस्तु के प्रति अधिक जोर लगाने पर नलिका का सिरा टिसुओं में घस सकता है।

घोड़ों में, गले में अटका हुआ सूखे चारे का टुकड़ा कंठनलिका द्वारा कठिनता से हट पाता है तथा चोट से बचाने के लिए इसके प्रयोग में अधिक सावधानी की आवश्यकता पड़ती है। तार पड़ी हुई साधारण आमाशय-नलिका इसके लिए अधिक उपयुक्त है। अटकी हुई वस्तु के खिलाफ पानी ले जाने के लिए नलिका का प्रयोग करना एक भयानक अभ्यास है। जैसा कभी-कभी प्रयोग किया जाता है, इसमें पानी को ग्रासनली में पम्प करके शीघ्र ही साइफन की क्रिया द्वारा पुनः वापस निकाल लेते हैं। कभी कभी ग्रासनली को 4 से 6 इंच तक खोला जाता है। इसमें फिर प्रत्यावहन (regurgitation) रोकने के लिए 2 इंच की पट्टी से बंध बांध देते हैं तथा थोड़े दबाव के साथ नली में पानी चढ़ाते हैं। दबाव नियंत्रित करने के लिए ग्रासनली पर बँधे हुए भाग के नीचे अंगुलियाँ रख लेना चाहिए। यह प्रयोग तभी करना चाहिए जब कि अनुभव के आधार पर यह निश्चय किया जा चुका हो कि इसमें आराम पहुँचाने के अन्य ढंग असफल होंगे।

पिछले कुछ वर्षों से कंठरोधन की सभी अवस्थाओं में एरीकोलीन का प्रयोग किया जाता है। यह संकोचन तथा विमोचन की क्रिया को बढ़ाती है। साथ ही इसके सेवन के

बाद अधिक मात्रा में निकला हुआ स्राव सम्भवतः अटके हुए पदार्थ को मुलायम बनाता तथा श्लेष्मल झिल्ली को चिकना करता है। प्रायः ¼ ग्रेन (0.015 ग्राम) स्ट्रिक्नीन सल्फेट के साथ ½ से 1 ग्रेन (0.03 से 0.06 ग्राम) की मात्रा में इसे दिन में एक या दो बार दिया जाता है। किसी भी परिस्थिति में, जब तक अटका हुआ पदार्थ निकल न जाये, रोगी को चारा अथवा पानी नहीं देना चाहिए। घोड़ों में केवल यह सावधानी बरतने पर कठरोधन के अधिकांश रोगी चौबीस घंटे के अन्दर स्वतः ठीक हो जाते हैं। ब्रैडले[4] (Bradley) की रिपोर्ट के अनुसार ½ से ¼ ग्रेन (0.03 से 0.015 ग्राम) की मात्रा में एपोमार्फीन हाइड्रोक्लोराइड का बार बार प्रयोग शीघ्र आराम पहुँचाता है। घोड़ों तथा ढोरों में क्लोरोफार्म का प्रयोग ग्रासनली की ऐंठन को कम करता तथा कंठ-नलिका के प्रवेश को अधिक उपयोगी बनाता है। विलियम्स[5] (Williams) ने घोड़े में सूखी घास से होने वाले कठरोधन के एक प्रयोग का वर्णन किया जिसमें पूर्ण असंवेदनता (complete anesthesia) में कंठ-नलिका के घुसेड़ने के प्रयत्न में बार बार असफल होने के बाद छठे दिन रोगी स्वतः ठीक हो गया।

कभी-कभी पशु को गड्ढा अथवा खाई आदि कुदाने अथवा कुछ मिनटों तक खूब तेजी से व्यायाम कराने पर भी लाभ होता देखा गया है। दम घुटने के कारण जब रोगी जमीन पर गिरता है तब भी कभी-कभी गले में अटका पदार्थ निकल कर उसे एकाएक आराम पहुँचाता है। ग्रैव कठरोधन के कुछ ऐसे प्रयोग भी वर्णन किए गए हैं जिनमें कि चारे की सूखी गुलिका को त्वचा से सुई घुसेड़ कर उसमें तेल अथवा पानी का इंजेक्शन देकर गीला किया गया तथा तोड़ा गया। इसी प्रकार गले में अटके हुए चुकन्दर में ट्रोकार घुसेड़ कर यान्त्रिक रूप से तोड़कर रोगी को आराम पहुँचाया गया।

घोड़ों में चुकन्दर के गूदे से उत्पन्न वक्षीय-कठरोधन से आराम पाने के लिए देवनेके[6] (Deonecke) ने दो आमाशय नलिकाओं को लेकर प्रत्येक को एक एक नथुने से घुसेड़ा। इसमें एक से पानी पम्प करने पर, दूसरी से अटका हुआ पदार्थ वापस आने लगा। ऐंठन तथा लार का बहना कम करने के लिए उन्होंने ½ ग्रेन (0.03 ग्राम) की मात्रा में ऐट्रोपीन सल्फेट भी दिया। ऐसे कठरोधन के लिए जिसमें चिकित्सा की सामान्य विधियों से तीसरे दिन से पहले कोई लाभ नहीं होता, क्रूगर[7] (Kruger) ने एक आमाशय-नलिका घुसेड़कर उसे पानी की टोंटी से सम्बन्धित करके 1 से 1.5 वायुमण्डलीय दाब का बल दिया।

घोड़ों में कठरोधन से तुरन्त आराम पाने के लिए फरगूसन[8] (Ferguson) ने बताया कि आमाशय-नलिका घुसेड़ने के बाद बार-बार थोड़ा सोडायुक्त गर्म पानी प्रविष्ट करके साइफन की क्रिया द्वारा वापस निकाल लिया जाये। घोड़े के सिर को या तो फर्श के निकटतम बाँधकर अथवा उसे ढालू स्थान पर खड़ा करके नीचा रखा गया। घोड़े का तड़फड़ाना कम करने के लिए उन्होंने क्लोरल हाइड्रास का (12 प्रतिशत घोल का 300-500 घ०सें०) अतः शिरा इंजेक्शन तथा क्लेश कम करने के लिए ¼ से ½ ग्रेन (0.015से0.03ग्राम) ऐट्रोपीन सल्फेट दिया। घोड़े अथवा गाय के कठरोधन के लिए कोजार्ट[9] (Cozart) ने 2 ग्रेन (0.12 ग्राम) ऐट्रोपीन सल्फेट का प्रयोग लाभप्रद बताया।

संदर्भ

1. Smith, G. A., Esophagotomy in cow. Am. Vet. Rev., 1901-02 25, 1014.
2. Shigley, J. E., A case of choke relieved by rumenotomy Cornell Vet., 1918 8, 302.
3. Hall, E. L., Pig forceps useful in relieving choke, Vet. Med., 1946, 41, 174.
4. Bradley, H., Treatment of choke in the horse, Am. Vet. Rev., 1912-13, 42, 445.
5. Williams, W. L., Remarks on the handling of choke, Am. Vet. Rev., 1901-02, 25, 116.
6. Doenecke, H., Ein Beitrag zur Therapie der Schlundversto pfung beim Pferde, Deutsche tier. Wchnschr., 1933, 41, 212.
7. Kruger, A., Behandlung von Schlundverstopfungen mittels Wasserdrick, Deutsche tier. Wchnschr., 1933, 41, 86.
8. Ferguson, T. H., Obstruction in the oesophagus (choke in horses), N. Am., Vet., 1935, vol. 16 No. 2, p. 20.
9. Cozart, J. M., N. Am. Vet., 1940, 21, 661.

ग्रासनली आकर्ष

(Spasm of the Esophagus)

(ईसोफेगिस्मस, अभिहृद् जठराकर्ष)

साधारणतया एक विरल आधि (rare neurosis) के रूप में वर्णन की जाने वाली ग्रासनली की ऐंठन का पशुओं में तंत्रिकीय गड़बड़ी के रूप में होना कुछ संदेहात्मक सा जान पड़ता है।

कारण—बोल्टन[1] (Bolton) ने स्ट्रांगाइलस तथा ऐस्केरिड्स नामक गोल कृमि (राउण्ड वर्म) से पीड़ित एक नौ माह की आयु के बछड़े की ग्रासनली की ऐंठन के एक आक्रमण का वर्णन किया। लगभग 6 सप्ताह के बाद लक्षण अदृश्य हो गए। घोड़े में सल्फोनल निश्चेतन (sulfonal anesthesia) के बाद ग्रासनली की क्षणिक ऐंठन का बर्टन[2] (Berton) द्वारा वर्णन किया गया।

ग्रासनली की ऐंठन किसी कार्बनिक क्षतस्थल, विशेषकर ग्रासनली शोथ, का प्रायः एक लक्षण है। कभी-कभी यह ग्रासनली में उपस्थित अवांछित पदार्थ, मक्खियों के लार्वा, चोट, घाव तथा फोड़ा इत्यादि के कारण हुआ करती है। पागलपन तथा टेट्नस जैसे रोगों में यह मस्तिष्क से शुरू हो सकती है। फरगूसन (Ferguson) के अनुसार अधिकतर यह रोग प्रायः बछेड़ों में उस समय देखा जाता है जब वे कोई चारा निगलना प्रारम्भ करते हैं।

लक्षण—ग्रासनली तथा ग्रीवा की मास-पेशियों का अवमोटन आकर्ष (clonic spasms) इसका प्रमुख लक्षण है। रोगी में चारा तथा पानी की उल्टी होने का इतिहास मिलता है किन्तु यह लगातार नहीं होती। आमाशय-नलिका घुसेड़ने पर अवरोधक क्षतस्थल अथवा अटके हुए पदार्थ का पता लगता है। यदि कोई रुकावट न मिले और ऐंठन केवल

ग्रैवीय क्षेत्र में ही होती हो, तो श्लेष्मल झिल्ली का क्षतस्थल जैसे घाव, दरार अथवा परजीवी का अनुमान करना चाहिए। यदि ऐंठन का प्रारम्भ हाल में ही हुआ हो, तो यह पता लगाना चाहिए कि दर्द के लिए रोगी की चिकित्सा तो नहीं हुई है। यह क्षोभक औषधि से होने वाली क्षति का अनुमान कराता है। यदि रोगावस्था महीनों तक चलती रहे और उनके शुरू होने की तिथि अज्ञात हो, तो केवल ऐंठन की उपस्थिति पर रचनात्मक निदान नहीं किया जा सकता। बोल्टन ने अपने रोगी का निम्न प्रकार वर्णन किया है "रोगी को बार बार दर्दयुक्त खाँसी आती थी तथा दोनों नथुनों से पीव एवं श्लेष्मा मिश्रित गाढ़ा स्राव बहता था। पानी पीने से उस पर एकाएक रोग का आक्रमण हुआ जिसने उसने सिर को नीचा कर दिया। बहुत ही बेचैन होकर उसने उल्टी करने का प्रयास किया जिससे थोड़े गीले कफ के साथ मुँह से पानी तथा लार निकली। तुरन्त ही उसने निगलने जैसी गति शुरू करके उसे तब तक जारी रखा जब तक कि ग्रासनली फेरिंक्स तक लार से न भर गई। तब उसने सिर को झुकाया, उल्टी करने का प्रयास किया और पुनः मुँह तथा नथुनों से लार को बाहर निकाला। यह आक्रमण एक घंटा या कुछ अधिक समय तक रहा जब बार बार होने वाली निगलन जैसी गति एकाएक बंद हो गई तथा बछड़ा शांत हो गया और उसने पानी पिया। एक आक्रमण के समय बिना किसी कठिनाई के आमाशय-नलिका प्रवेश कर गयी, किन्तु उसके निकाल लेने के बाद यह क्रिया दोहराई न जा सकी। रोगी पूर्ण रूपेण ठीक हो गया। आक्रमण अनियमित थे तथा इनका खाने अथवा पीने से कोई संबंध न था। ऐसे ही आक्रमण एक सात माह की आयु वाले उसके सगे भाई में रिपोर्ट किये गए।" नलिका घुसेड़ने के बाद स्थायी रूप से रोग का ठीक हो जाना अभिहृद् जठराकर्ष का सूचक है।

चिकित्सा—मूल रोग से छुटकारा मिलने पर तुरन्त आराम हो जाता है। रोग के लक्षणानुसार बेलाडोना अथवा ऐसे ही अन्य शामक पदार्थों (sedatives) का प्रयोग करना चाहिए। आमाशय-नलिका घुसेड़ने से संभवतः आराम मिल सकता है। यह विधि मनुष्यों में बड़ी सफल हुई है तथा ला (Law) ने इसे बड़ा उपयोगी बताया है और यह राय दी कि कंठ नलिका प्रवेश करने से पूर्व उसके सिरे पर बेलाडोना का टींस सत्व लगा लिया जाये।

संदर्भ

1 Bolton, R R, Esophageal spasm in colts, J. A. V. M. A., 1917, 50, 876.
2 Berton, A case of esophagismus, abs Am Vet Rev. 1910-11, 36, 266.

ग्रासनली संकीर्णता

(Stenosis of the Esophagus)

कंठावरोध के अतिरिक्त, ग्रासनली की रुकावट पशुओं में अधिक नहीं होती। अवरोधक संभावर्ष प्रायः दीर्घकालिक ग्रासनली शोथ तथा कभी कभी परजीवियों अथवा अर्बुदों के कारण हुआ करता है। क्षयरोग से ग्रसित बढ़ी हुई मध्यस्थानिका लसीका ग्रंथि (mediastinal lymph gland) से होने वाली सम्पीडन संकीर्णता (compression stenosis) भी गायों में कम देखने को नहीं मिलती। फोड़ों तथा अर्बुदों से सम्पीडन कम होता है।

लक्षण—गो-पशुओं में होने वाला ग्रासनली का संपीडन ऐसे लक्षण प्रकट करता है जो घोड़ों में नहीं देखे जाते। निगलने की क्रिया सामान्य रह सकती है, किंतु जुगाली करने में बाधा पड़ जाती है। इसके परिणाम-स्वरूप खाने के बाद पशु को अफारा होकर उसका पेट फूल जाता है। यह अवस्था धीरे धीरे तब तक बढ़ती रहती है जब तक दीर्घकालिक रूप से रोगी का पेट दूषित गैसों से भरकर पशु की हालत खराब नहीं कर देता। ढोरों में परिगत टिसू प्रोद्भवन (circumscribed tissue proliferation) के कारण पाइलोरस के अवरोध, तथा पेरिटोनियल अभिलाग-(peritoneal adhesions) एवं अँतड़ी की ऐंठन के कारण ड्यूओडीनम के अवरोध के बाद दीर्घकालिक अफारा विकसित हो सकता है। ग्रासनली की शोथ तथा कंठरोधन में होने वाले क्लेश को इन विषयों के अन्तर्गत वर्णन किया गया है।

चिकित्सा—जब यह रोग दीर्घकालिक विकृत टिसू परिवर्तन के कारण होता है तो बड़े पशुओं में इसका इलाज ही संभव नहीं हो पाता। तीव्र शोथयुक्त सूजनों से होने वाले ग्रासनली के संपीडन को ठंडी पट्टी बाँधकर ठीक किया जा सकता है।

संदर्भ

1. Hartl, J., Schlundstenose, Munch. tier. Wchnschr., 1911, 55, 772.

ग्रासनली शोथ

(Inflamation of the Esophagus)

तीव्र ग्रासनली शोथ (acute esophagitis): **कारण**—ग्रासनली की शोथ के प्रमुख कारण निम्न प्रकार हैं: (अ) तीखी औषधियाँ जैसे फार्मलीन, क्लोरल हाइड्रास तथा अमोनिया जिनको जिलैटिन कैप्सूल में रखकर पशु को दिया जाता हो और यह कैप्सूल ग्रासनली में ठहरकर घुल जाता हो; (ब) तार, काँच जैसे अवांछित पदार्थों के गले में अटक जाने से ग्रासनली में लगी हुई चोटें; (स) गले में अटके हुए पदार्थ को हटाने के लिए ग्रासनली में कंठनलिका, कोड़े की डंडी अथवा झाड़ू के हत्थे का प्रवेश; (द) खुरपका-मुँहपका, रिंडरपेस्ट, घावयुक्त मुखार्ति, दुर्दम्य नजला तथा परिगलित बेसिलोसिस के भीषण प्रकोपों में एक आंशिक अवस्था के रूप में यह शोथ हो सकती है। हल्के आवेग नजला उत्पन्न करते हैं तथा तीक्ष्ण प्रकोप कफपाक (croupous), डिप्थीरियायुक्त, परिगलित अथवा कफमय शोथ का कारण बनते हैं।

लक्षण—घोड़ों की ग्रासनली में जब क्लोरल हाइड्रास का कैप्सूल टूट जाता है तब इसका हल्का प्रकोप होता है। शूल वेदना के कुछ रोगियों में श्लेष्मल झिल्ली के सूखा होने तथा मांसल दीवालों में तनाव शक्ति कम हो जाने के कारण कैप्सूल अटक जाता है। कैप्सूल देने के थोड़ी ही देर बाद दस मिनट के अवकाश पर ग्रासनली तथा ग्रीवा की मांस-पेशियों की ऐंठन होने लगती है। धीरे-धीरे यह कम होती जाती तथा दस से बारह घंटे में बिल्कुल ही गायब हो जाती है। अधिक उग्र अवस्थाओं में ऐंठन दो या तीन दिन तक रह

सकती है। पशु की हालत गिरती जाती है। वह चारा खाना छोड़ देता है तथा पानी पीने का प्रयास करने पर ग्रासनली में ऐंठन होकर दर्दयुक्त प्रतिक्षेपण होता है।

गो-पशुओं में ग्रासनली की गुमचोट तथा कटे-फटे छिछले घाव अनेक लक्षण उत्पन्न करते हैं जो कई सप्ताह तक रहते हैं। कंठ-नलिका अथवा इसके बदले में प्रयोग करने वाली वस्तु को लापरवाही से गले में घुसेड़ने के परिणामस्वरूप यह अवस्था और भी अधिक जटिल हो जाती है। किन्तु, ऐसा गले में किसी बड़े तथा टेढ़े मढ़े अथवा तेज पदार्थ के अटक जाने पर होता है। पशु की खाने-पीने में अरुचि हो जाती है यद्यपि कि थोड़ी बहुत कठिनाई के साथ पानी निगला जा सकता है। रोगी पशु खाँसता तथा उल्टी करने का प्रयास करता है। थोड़े-थोड़े अवकाश पर दर्दयुक्त दबी हुई खाँसी आती है। रोगी सुस्त हो जाता तथा उसकी नाड़ी गति तेज हो जाती है। जुगुलर गर्त के नीचे आई हुई सूजन ग्रासनली में छेद हो जाना प्रकट करती है जो प्राय रोगी की मृत्यु का सूचक है। फेरिंक्स तथा स्वरयंत्र में चोटें लगने पर ग्रासनली का कटा-फटा क्षेत्र और भी विस्तृत हो जाता है। कितनी चोटों को सहन करके गाय जीवित रह सकती है, यह बात महत्वपूर्ण है।

एक गाय के गले में अटके हुए सेब को हटाने के लिए उसके मालिक ने ग्रासनली के ग्रीवा वाले भाग में झाड़ू का हत्था घुसेड़ा। दूसरे दिन हाथ की सहायता से सेब को निकाल दिया गया। तीसरे दिन पशु ने कुछ भी नहीं खाया तथा पानी पीने पर वह मुँह और नथुनों से वापस आ गया। गर्दन के नीचे दो तिहाई भाग में विस्तृत सूजन थी जिसके पीछे आमाशय-नलिका को भी नहीं घुसेड़ा जा सकता था। ऐसे रोगी का वध किया जा सकता है।

चिकित्सा—यदि गले में कोई रुकावट आदि न हो तो रोगी का आशाजनक इलाज करना चाहिए। पशु को चारा-पानी देना बंद कर दीजिए। दो या तीन दिन बाद पानी निगला जा सकता है। जैसे ही पशु निगलने के योग्य हो जाये उसे जई का पानी अथवा दूध तथा अण्डा मिलाकर पिलाइए। गले में अटके हुए तेज पदार्थ को निकाल लेने के बाद उत्पन्न तीव्र सूजन को गले पर ठंडी पट्टी रखकर तथा भाप का बफारा देकर ठीक किया जा सकता है। ग्रासनली की श्लेष्मल झिल्ली पर परोक्षरूप से औषधियों का प्रयोग अधिक लाभदायक नहीं है यद्यपि 1 5000 के अनुपात में पानी में बने सिल्वर नाइट्रेट घोल तथा द्रव पैरेफिन का प्रयोग किया जाता है।

दीर्घकालिक ग्रासनली शोथ—यह कभी-कभी घोड़ों के वक्षीय क्षेत्र में हुआ करती है जहाँ यह कंठ-नलिका से लगी हुई चोट अथवा कंठरोधन या उग्र सूजन उत्पन्न करके श्लेष्मल झिल्ली का आंशिक रूप से काट देने वाले तीखे पदार्थों के कारण होती है। कणीभवन (granulation) अथवा दाग पड़ने के परिणामस्वरूप धीरे धीरे सिकुड़न उत्पन्न हो सकती है। इससे चारे के निगलने में तब तक कठिनाई पड़ती है जब तक सिकुड़े हुए क्षेत्र के ठीक ऊपर वाला भाग स्थायी रूप से फैल नहीं जाता—ग्रासनलीय विस्फारण (esophageal dilatation)। इसका अंतिम प्रभाव यह है कि पशु का 'दीर्घकालिक कंठरोधक' (chronic choker) हो जाता है। अंत में ग्रासनली में ठँस कर चारा भर जाता उसका पूर्ण पक्षाघात होता तथा निमोनिया होकर एक सप्ताह से दस दिन में रोगी की मृत्यु हो जाती है।

ग्रासनली के निचले भाग में एक घाव की उपस्थिति से गले में ऐंठन होती है। लेखक के एक रोगी में, एक 10 वर्षीय घोड़ी का कंठरोधन होकर उसके मुँह से लार गिरी तथा ठंडा पानी पीने पर उसे उल्टी हुई। ऐसी हालत एक वर्ष तक रही। परीक्षा करने पर, पानी पिलाने से गले में रुकावट उत्पन्न करने के प्रयत्न असफल रहे तथा आमाशय नलिका घुसेड़ने में कोई रुकावट न पड़ी। ऐसे रोगी में केवल घाव अथवा हल्की चोट की उपस्थिति का ही अनुमान किया जा सकता है। उसकी चिकित्सा करना बेकार है।

ग्रासनली का पक्षाघात

(Paralysis of the Esophagus)

ग्रासनली का पक्षाघात, मेडुला (medulla) का एक लाक्षणिक रोग है। डेक्सलर (Dexler) के अनुसार यह 9 वीं से 12 वीं कपालीय तंत्रिकाओं (cranial nerves) को प्रभावित करने वाले रोगों के परिणामस्वरूप हुआ करता है। यह दीर्घकालिक ग्रासनली शोथ में देखा जाता है, जब संकोचन और विमोचन मिलकर चारे का मार्ग ही बंद कर देते हैं। गहरे परिगलन के बाद, ग्रासनली का आंशिक पक्षाघात (paresis) चौबीस घंटे तक रह सकता है और जब कभी ठोस चारे को निगलने का प्रयास किया जाता है तो यह कंठरोधन के लक्षण उत्पन्न करता है। प्रायः ऐसा कहा जाता है कि फेरिंक्स के पक्षाघात में बहुधा ग्रासनली भी शामिल होती है। रीज[1] (Ries) ने फेरिंक्स के पक्षाघात का वर्णन किया है जिसमें घोड़ी की ग्रासनली में आपरेशन द्वारा बनाए छिद्र में एक नलिका फिट करके उसके द्वारा उसे सफलता पूर्वक खिलाया गया। यहाँ वर्णन किए गए प्रयोगों में यह स्पष्ट है कि ग्रासनली शामिल न थी। जुगुलर-गर्त अथवा वक्ष में स्थित अर्बुदों, फोड़ों, क्षयरोग से ग्रसित लिम्फ ग्रंथियों आदि से होने वाला बाहरी दबाव भी पक्षाघात का एक कारण है। प्रसवकालीन पक्षाघात (parturient paresis) से पीड़ित गायों की यह एक प्रमुख आंशिक अवस्था है।

लक्षण—ग्रासनली के क्षतस्थलों के साथ होने वाले पक्षाघात में रुकावट के स्थान से लेकर फेरिंक्स तक बेलनाकार पदार्थ के रूप में सूखा चारा इकट्ठा हो जाता है (देखिए कंठरोधन)। यदि इसे हटाया नहीं जाता तो एक सप्ताह से लेकर दस दिन में अन्तःश्वसन निमोनिया से रोगी की मृत्यु हो जाती है। फेरिंक्स का पक्षाघात होने पर यह सरलता से पता नहीं लगाया जा सकता कि ग्रासनली भी रोग ग्रसित है। यदि चारा फेरिंक्स से निकलकर ग्रासनली में जमा हो जाता है तो समझना चाहिए कि पहले वाला भाग बिल्कुल ही रोग रहित है। यह सम्भव है कि केन्द्रीय पक्षाघात दोनों पर प्रभाव डालता हो तथा परिसरीय पक्षाघात (peripheral paralysis) (गल-ग्रंथिल रोग के बाद होने वाला पक्षाघात) परिगत होता हो।

चिकित्सा—किसी भी कारण से जब कभी ग्रासनली के पक्षाघात का आभास हो तो रोगी को ठोस चारा नहीं देना चाहिए, क्योंकि यह श्वासनली में पहुँचकर प्राणघातक निमोनिया का कारण बनता है। इसका लाक्षणिक इलाज फेरिंक्स के पक्षाघात की चिकित्सा की भाँति ही है।

संदर्भ

1. Ries, J. N., Laryngo-pharyngo-oesophageal spasms in horses, abs. Am. Vet. Rev, 1913-14, 44, 616.

वमन

(Vomiting)

मुँह अथवा नाक से आमाशय के पदार्थों का बल पूर्वक बाहर निकलना वमन कहलाता है। यह मज्जका में स्थित एक विशेष केन्द्र के नियंत्रण में रहता है। मस्तिष्क के रोग तथा एपामारफीन जैसी वमन केन्द्र पर क्रिया करने वाली औषधियों के द्वारा इसे उत्पन्न किया जा सकता है। इसे केन्द्रीय वमन (central vomiting) कहते हैं। आमाशय की अभिवाही तंत्रिकाओं (afferent nerves) की उत्तेजना द्वारा उत्पन्न वमन प्रतिवर्ती वमन (reflex vomiting) कहलाता है।

घोड़ों में, उल्टी करना उनके भीषण आमाशयिक तनाव का सूचक है। यह अधिक लादने से उत्पन्न प्राइमरी अपच के कारण अथवा पाइलोरस या छोटी आंत में रुकावट पड़ जाने के कारण गौण रूप से हो सकती है। आकाई, बेचैनी, कभी कभी कराहना तथा नथुनों से खट्टी महक वाला पदार्थ बहना आदि लक्षणों के साथ भयंकर उदर-शूल जैसे इसके प्रमुख लक्षण हैं। इसकी कभी घठरायन के साथ सभ्रान्ति नहीं करनी चाहिए, जिसमें वमनेच्छा के साथ नथुनों से चारा भी निकलता है। पेट का तनाव ठीक करने के लिए आमाशय नलिका घुसेड़ना ही इसका इलाज है (अपच वाला पाठ देखिए)।

गो-पशुओं में उल्टी करना कम खतरनाक है। यहाँ भी प्रायः यह प्रतिवर्ती होती है और हरी घास, फफूँदीयुक्त साइलेज जैसे किण्वित चारे इसका कारण बनते हैं। कभी-कभी यह अभिघातज आमाशय शोथ के कारण भी हो सकती है। केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र के रोग, पौधा विषाक्तता (सूखी घास में विरेट्रम विरायडी) अथवा औषधियां (वेरेट्रिन, एपोमारफीन) से यह केन्द्रीय भी हो सकती है। कारण के अनुसार उल्टी करने की क्रिया सरल अथवा अति उग्र व कष्टप्रद हो सकती है। मुलायम तथा किण्वित चारे खाने के बाद वमन बिना अधिक परेशानी के होता है। उल्टी के साथ निकलने वाला पदार्थ अधिक मात्रा में मुँह द्वारा निकलता है। मार्श[1] (Marsh) ने उटह में ढोरों तथा भेड़ों में होने वाले "ओकाई रोग" के बारे में लिखा है। यह एक प्रकार की घास-पात खाने के कारण होता है तथा भयंकर उल्टी होना इसका प्रधान लक्षण है। उन्होंने यह भी बताया कि भेड़ों में वमन एक खाद्य विषाक्तता (black laurel poisoning) का प्रमुख लक्षण है। जठर-आंत्रार्ति तथा दस्तों से पीड़ित 2 से 3 माह की आयु के बछड़ों में लगातार उल्टी होते देखा गया। स्टेवर्ट[2] (Stewart) की रिपोर्ट के अनुसार उन्होंने अपने 30 वर्ष से अधिक के चिकित्सा काल में ढोरों में केवल 6 वमन के रोगी देखे। प्रत्येक रोगी की ग्रासनली में उन्होंने अवांछित पदार्थ पाया।

सूअर, कैनिस अथवा आमाशय की थोड़ी उत्तेजना से ही उल्टी करने लगते हैं। इनका वमन केन्द्र अपेक्षाकृत अधिक संवेदनशील होता है। यह अपच, सूकर कालरा तथा सूकर एरिसिपेलास (swine erysipelas) का सामान्य लक्षण है।

संदर्भ

1. Marsh, C. D., Stock-Poisoning on the Range, U.S.D.A. Bull 1245, 1929.
2. Stewart, S. L. Vomiting in cows, Vet. Med., 1939, 34, 203.

जुगाली करने वाले पशुओं में उग्र अपच

(Acute Indigestion in Ruminants)

(अग्र आमाशयों का अधिक भर जाना, रूमेन का अन्तर्घट्टन, ओमेसम का अन्तर्घट्टन, एवोमेसम का अन्तर्घट्टन, तीव्र अफारा, पेट का फूल जाना, अग्र आमाशयों की अतानता, रूमेन का तनाव) ।

परिभाषा—जुगाली करने वाले पशुओं की तीव्र तथा अल्प तीव्र अपच अग्र आमाशयों (fore stomachs) की एक अतानता (atony) है जो रूमेन तथा रेटिकुलम में चारे अथवा अपचनीय पदार्थों के अधिक भर जाने से उत्पन्न होती है। भरे हुए पदार्थ के प्रकार के अनुसार यह रूमेन के गुम्व हो जाने, अफारा अथवा जठर-आंत्रार्ति में परिणित हो सकती है। कभी-कभी अधिक खाया हुआ पदार्थ ओमेसम अथवा एवोमेसम में इकट्ठा हो जाता है।

कारण—(अ) अधिक खा लेना इसका प्रमुख कारण है। डेरी गाय का मूल्य उसके द्वारा उपयोग किये जाने वाले चारे से सीधा सम्पर्क रखता है और पाचन-तंत्र बहुधा अपनी समाई से अधिक भर जाया करता है। इसके लिए उत्तरदायी खाद्य बरसीम, दानेयुक्त चारे, दाने, साइलेज तथा सूखी घास, मोटे चारे तथा पौष्टिक मिश्रण हैं। आगामी रजिस्ट्री के लिए परीक्षा की जाने वाली गायों में इस प्रकार का अत्याहार अधिक देखा जाता है। ऐसी गायें प्राय: अच्छी देख-रेख के अन्तर्गत होती हैं; और जब तक चारा निश्चित रूप से बहुत ही खराब नहीं होता, इस अवस्था को भयंकर लक्षण उत्पन्न होने से पूर्व ही पहचान लिया जाता है। अधिक उत्पादन के लिए खूब खिलायी जाने वाली गायें सड़ा-गला चारा अथवा अन्य अपूर्ण खाद्य खाने से अपच के प्रति अधिक ग्रहणशील होती हैं और इन पर इसका बड़ा ही भयंकर आक्रमण होता है। थोड़ी-सी दूषित रिजका घास जो एक औसत गाय द्वारा बिना किसी कुप्रभाव के पचा ली जाती है, अधिक उत्पादक गाय में तीव्र अपच उत्पन्न कर सकती है।

पशुओं में अधिक खा लेना प्राय: लापरवाही तथा अज्ञानतावश हुआ करता है। पशुओं को दिया जाने वाला चारा, अधिक परिपक्व अथवा गर्म अवस्था में होने के कारण या बिना अनुभवी किसानों द्वारा उन्हें अनिश्चित अवकाश पर खिलाने पर अपचनीय हो जाता है। बिना किसी स्पष्ट कारण के वर्ष की पहली तिमाही में इस रोग से ग्रसित होने वाले अनेक पशु इसी समूह के अन्तर्गत आते हैं। रेशेदार मोटे चारे पर रखी गई गाय अधिक खा जाया करती है।

(ब) अत्यधिक चारा खाना जिसके कि वे अभ्यस्त नहीं होते, सम्भवत: जुगाली करने वाले पशुओं की प्राणघातक अपच का प्रमुख कारण है। चरागाह अथवा पशुशाला में स्थान कर से छूट जाने के बाद वे बिना किसी रुकावट के दाना, मक्के का हरा अथवा

सूखा चारा, ताजी कटी तथा गर्म साइलेज, लूसर्न, बरसीम, हरे दाने (जई, जौ, कूटू), दले हुए खाद्य (जई तथा जौ) और नये निकाले हुए दाने (गेहूँ, कूटू) खा लेते हैं।

(स) अपचनीय तथा खराब चारे जैसे कुट्टी के साथ मिलाई गई सूखी घास, ठंडी घास अथवा साइलेज, दाने वाली फसलों के सूखे डंठल सेम की फली, खाद से दूषित भूसा, बिछावन, सड़ी हुई अथवा फफूँदीयुक्त साइलेज, ढेरी से निकाला हुआ पुराना भूसा, कूटू का भूसा तथा ज्वार भी किसी हद तक पशुओं में अपच का कारण बनते हैं।

(द) अपचनीय पदार्थ—गायें प्रायः अपनी जेर स्वतः खा लेती हैं जिसके परिणाम-स्वरूप उन्हें जठरशोथ के साथ अपच का तीव्र आक्रमण होता है। कभी कभी आहार-नाल में बालों तथा ऊन के गोले और अनेक प्रकार की धातुगत वस्तुएँ पहुँचकर दीर्घकालिक कष्ट उत्पन्न कर सकती हैं। बालू, कीचड़ अथवा धूल में खूब सना हुआ चारा विशेषतौर पर हानिकारक होता है।

(य) खुराक में परिवर्तन भी प्रायः पाचन विकार उत्पन्न करता है। इसके निम्न-लिखित उदाहरण हैं जो बहुधा हुआ करते हैं बरसीम से गीली घास में परिवर्तन, दाने की मात्रा बढ़ा देना, चरागाह पर चरने वाले पशुओं को ब्याने के समय दाना आदि खिलाना और बसंत ऋतु में पशुशाला के सूखे चारे से हरी घासों में परिवर्तन।

(र) बहुत ही छोटे पशुओं में अग्र आमाशयों की गड़बड़ी के तीव्र प्रकोप प्रायः हुआ करते हैं। 6 माह तक की आयु वाले बछड़ों में साइलेज, दानेयुक्त चारे, लूसर्न, भूसा तथा छिल्के आदि चारे जो कि अविकसित आमाशय में पच ही नहीं सकते, अपच का कारण बनते हैं।

(ल) उग्र आघाति, क्षुधातुरता, बढ़ा हुआ गर्भकाल, शारीरिक निर्बलता, रेटीकुलम तथा उदर की दीवाल के बीच के अभिलाग (ठीक हुई अभिघातज आमाशय शोथ), अधिक चलने के कारण थकावट और एकाएक ठंड लग जाना आदि इसके पुरः प्रवर्तक कारण हैं। गिराई जाने वाली तथा रस्सी का सहारा देकर लटकाई जाने वाली गायों में अफारा होने का भय रहता है और यदि उनको कुछ घंटों तक गिरी हुई अवस्था में पड़ा रखा जाये, तो उनकी मृत्यु हो सकती है।

(व) मौसम का प्रभाव—कार्नेल विश्वविद्यालय के चल-चिकित्सालय में चिकित्सा किए गए लगभग सभी रोगी अक्तूबर से अप्रैल तक इस रोग से पीड़ित पाए गए। रोग का अधिक प्रकोप अक्तूबर तथा नवम्बर में रहा। ऐसा चारे में परिवर्तन होने के कारण होता है। इन महीनों में चरागाह हरे-भरे होते हैं, अतः पशु सूखे चरागाहों से विविध प्रकार की हरी घासों तथा चारों पर पहुँचकर अधिक खा जाते अथवा उन मोटे चारों को खा लेते हैं जो सामान्य तौर पर पसन्द नहीं किए जाते।

परती भूमि से प्राप्त लूसर्न घास खाकर अधिकांश पशुओं का पेट फूल जाना मकिंटोश[1] (Mcintosh) द्वारा रिपोर्ट किया गया है, जिनका विश्वास है कि ऐसा स्वयं पौधे में उपस्थित रासायनिक कारक के कारण होता है। उन्होंने यह भी बताया कि ओंटेरियो में सूखे के आवेग के बाद तथा अत्यन्त गर्म दिनों में मुर्झाया हुआ चारा खाने से अनेक पशुओं

की मृत्यु हो गई। कुम्हलायी हुई लूसर्न खाने से उत्पन्न होने वाले भय का कुइन[2] (Quin) द्वारा वर्णन किया गया है जिन्होंने दोपहर के बाद लूसर्न घास के चरागाहों पर चराई हुई भेड़ों का अधिकतर पेट फूलते देखा। ऐसा चारे में शकर की मात्रा बढ़ जाने के कारण हुआ जो सुबह को 2·5 प्रतिशत थी तथा दोपहर को बढ़कर 6 प्रतिशत हो गई, जबकि इस रोग के प्राणघातक प्रकोप अधिक होने लगे।

विकृत शरीर रचना—अपच से मरे हुए बछड़ों के रूमेन में अवांछित पदार्थ पाये जाते हैं। इसकी दीवलें रक्त-वर्ण होकर थोड़ा-सा सूज जाती है। अधिक मात्रा में दले हुए भारी खाद्य खा लेने पर ढोरों के रूमेन तथा रेटीकुलम में संकुलन तथा रक्त-स्राव के साथ बड़े-बड़े काले क्षेत्र दिखाई देते हैं। इनकी दीवाले सूखी तथा मोटी पड़ जाती है। ओमेसम की श्लेष्मल झिल्ली से खून निकलता है तथा एवोमेसम और छोटी आंत या तो रक्त-वर्ण हो जाती अथवा खूब सूज जाती हैं। हृदय की श्लेष्मल झिल्लियाँ रक्त-स्राव प्रदर्शित करतीं तथा हृदय की मास पेशी अपकर्षित हो सकती है। अधिक मात्रा में गर्म साइलेज अथवा दूषित चारे खा लेने से जठर-आंत्रशोथ हो जाती हैं। पशु की शव को चीर कर देखने पर उदर-गुहा में पतला द्रव, पेरंकाइमेटस अगों का अपकर्षण और एवोमेसम तथा छोटी आंत संकुलित एवं रक्त-स्रवित दिखाई देती है। सूखी घास तथा दाने से एवोमेसम के अधिक भर जाने पर, जठर आंत्र-शोथ तथा गौण रक्तपूतित (septicemic) अथवा विषैले क्षत-स्थलों के साथ चौथे आमाशय का बहुत ही तनाव हो जाता है। रूमेन की दीर्घकालिक अतानता से मरे हुए पशु में शव-परीक्षण पर प्राप्त होने वाले क्षतस्थल बहुत ही कम होते हैं। प्राणघातक पेट के फुलाव से उदर का अत्यधिक तनाव होकर डायाफ्राम काफी अन्दर वक्षीय गुहा में धँस जाती तथा रोगी की दम घुटकर मृत्यु हो जाती है।

लक्षण—खान-पान में अरुचि, सुस्ती, थोड़ा गोबर करना, जुगाली न फेरना, कभी-कभी उल्टी करना तथा चारे के प्रकार के अनुसार अफारा होना आदि इसके सामान्य लक्षण हैं। दुधारू पशुओं में दूध का उत्पादन कम हो जाता है। बांधकर न रखे जाने वाले पशु दूसरों के खेतों में पहुँच कर दानेयुक्त चारे, फल आदि अथवा पतझड़ के अन्त में ठंडी घास खा लेते है। साधारण रोगी की परीक्षा करने पर सुस्ती, श्लेष्मल झिल्लियाँ नॉर्मल तथा नाड़ी गति 60-100 के मध्य मिलती है। किण्वित होने वाले खाद्य (दानेयुक्त चारे, फल, बरसीम, ठंडी घास, दूषित बिछावन) अथवा जई, जौ जैसे भारी चारों को अधिक मात्रा में खा लेने पर नाड़ी-गति और भी अधिक बढ़ी हुई दिखाई देती हैं। लगभग 20 प्रतिशत रोगियों में नाड़ी-गति 90 अथवा इससे भी अधिक होती है। श्वसन 20 से 30 के मध्य तथा अधिकतम 60 या इससे भी ऊपर पहुँच सकता है। रूमेन के अन्दर का चारा जब किण्वित होने लगता है, तब श्वसन अधिक तेज हो जाता है। तापक्रम प्रायः 102 से 104 डिग्री फारेनहाइट के मध्य रहता है। कमजोर पशुओं में यह प्रायः 102 से नीचे ही रहता है। दानेयुक्त चारे, बरसीम अथवा बंदगोभी इसे 103 और इसके ऊपर ले जाते हैं। सेब खाने के बाद तापक्रम प्रायः नॉर्मल से भी कम हो जाता है (95°-98.5°)। दले हुए खाद्य को खाकर अधिक बीमार पशुओं में यह नार्मल हो सकता है। इन असाध्य रोगियों में

सींग, कान एवं थन ठंडे होकर, रूमेन का पक्षाघात तथा तेज नाड़ी इनकी रुग्णावस्था को प्रकट करती है। प्रारम्भ में रोगी को ठंड लगती है। अति उग्र अवस्था में रोगी पशु दर्द के कारण कराहता है। इससे पशु को बेचैनी होती, पसीना आता तथा वह पूंछ हिलाना, पिछले पैर पटकता अथवा अपने तलपेट पर मारता है। लगभग 10 प्रतिशत रोगी बेचैन होकर अथवा कराहकर दर्द का होना प्रकट करते हैं। आकुंचन, नाक से श्लेष्मा मिश्रित स्राव बहना, सूखे होंठ, पिछले भागों की कमजोरी, पलकों का सूज जाना, आँखों से आँसू बहना तथा दांतों का पीसना इस बीमारी के कभी-कभी होने वाले अन्य सामान्य लक्षण हैं। मेढ़ से होने वाली अपच में लड़खड़ाती हुई चाल प्रधान लक्षण है। बेहोशी जैसे लक्षण भी देखने को मिलते हैं। दुग्ध-ज्वर से पीड़ित पशु उठने में असमर्थ होकर अपने सिर को मोड़कर सीने से चिपका कर लेट जाता है। रोग के ऐसे लक्षण मक्का का चारा, गेहूं तथा दले हुए खाद्य से उत्पन्न अपच में देखने को मिलते हैं। बछड़ों में कभी कभी धनुषाकार (opisthotonus) तथा मांस पेशियों का अनैच्छिक उग्र संकुचन भी होता है तथा गायों में निम्नलिखित मानसिक गड़बड़ियाँ भी देखी गई हैं: फेफड़ों का पक्षाघात, लड़खड़ाना तथा पीछे की ओर गिरना, आँख की पुतलियों का असमान रूप से फैल जाना तथा पिछले भागों का पूर्ण पक्षाघात (पैरों की फालिज)। इस प्रकार के मरने वाले रोगियों में शोथ मस्तिष्क शोथ अथवा मस्तिष्क-निलया (brain ventricles) में द्रव भर जाने के कारण प्रसार हो जाने के साथ, आमाशय अथवा अँतड़ी में सूजन मिलती है। मोटे चारे अधिक खा लेने से उत्पन्न अफारा में उदर आकार में बढ़ा हुआ प्रतीत होता है। जब हरे चारा (लूसर्न मोथा, हरी मक्का, सेब) को खाने के बाद जिनके लिए पशु अभ्यस्त नहीं होता, अफारा प्राय एक प्रमुख तथा प्रबल लक्षण हो जाता है। उदर काफी बढ़ जाता है। उसकी दीवाल तनकर बायीं कोख फूल जाती है। त्वचा पसीने से गीली हो जाती, पशु को सांस लेने में अधिक कष्ट होता, नथुने फैल जाते, मुँह खुलकर जीभ बाहर निकल आती तथा काफी मात्रा में लार बहती है। रोगी में बेचैनी अथवा बेहोशी तथा अधिक उत्सुकता आदि लक्षण सदैव उपस्थित रहते हैं। कोल[3] (Cole) तथा उनके साथियों के अनुसार लूसर्न, बरसीम जैसे हरे चारे खाने के बाद होने वाला अफारा अधिक गैस बनने के कारण न होकर, रेशेदार मोटे चारे द्वारा रूमेन की श्लेष्मल झिल्ली की कम उत्तेजना के कारण होता है। शाक और अमेडन[4] (Schalk and Amadon) द्वारा ऐसी प्रतिक्रिया प्रतिदीपण को प्रारम्भ करने के लिए दिखाई गई है और उन्होंने सूखी घास को रूमेन की भीतरी दीवालों पर रगड़कर इसे कृत्रिम रूप से उत्पन्न करके दिखाया। बचाव हेतु डकारना प्रारम्भ करने के लिए पशु के राशन में काफी मात्रा में रेशा शामिल करना चाहिए। सन् 1943 में कुइन[5] (Quin) ने दिखाया कि रूमेन के पक्षाघात से पीड़ित भेड़ें इस अवस्था में भी गैसें खारिज करने के योग्य थी और "जुगाली करने वाले पशुओं में पेट का फूलना रूमेन में झागयुक्त पदार्थ इकट्ठा होने के कारण था जो कि इस प्रयोग में खिलाई गई लूसर्न में पायी जाने वाली सैपोनिन की उपस्थिति में शकर का शीघ्र किण्वन होने से हुआ। रूमेन के पदार्थ की फेनयुक्त अवस्था को, गैसों के खारिज होने में कठिनता के लिए, उत्तर-दायी ठहराया गया।" कमरे के तापक्रम पर इस खाए हुए पदार्थ को कई घंटे तक रखने

के बाद गैस के बबूले टूटे। अन्य पदार्थों को पहले खिलाकर, गैस का भयंकर रूप से बनना कंट्रोल किया जा सका। ऐसा विश्वास किया गया कि इस प्रकार खिलाने से गैसें खारिज होकर फेनयुक्त पदार्थ रूमेन में इकट्ठा न हो सका। इस प्रकार रूमेन के चारे पर इस प्राथमिक खुराक ने यान्त्रिक रूप से कार्य किया। यह अवलोकन उस वाद के अनुरूप नही है कि रूमेन की क्रिया को उत्तेजित करके पेट के फूलने को रोका जा सकता है। जब अन्दर के पदार्थ सूखे (दले हुए खाद्य) होते है तो उदर अपने आकार में सामान्य रहता है तथा दो या तीन दिन बाद यह सामान्य की अपेक्षाकृत कुछ छोटा भी हो सकता है। बायीं कोख में रूमेन को थपथपाने पर, आवाज कुछ बढी हुई मालूम पड़ती है। यह भद्दी हो सकती है यद्यपि अक्सर अपरिवर्तित सी रहती है। एक मिनट में एक बार बहुत ही निर्बल तथा धीरे-धीरे सकुचन होता है जो रोग की उग्र अवस्था में बिल्कुल ही नही होता। किण्वन की आवाज प्राय. मौजूद रहती है तथा पूर्ण रूप से इसकी अनुपस्थिति एक गभीर लक्षण है। थपथपाने अथवा मुट्ठी से दबाने पर बायीं ओर रूमेन में अथवा कुहनी के क्षेत्र में रेटीकुलम के ऊपर दर्द का अनुभव होता है। अन्य अग जिनमें कभी-कभी दर्द हो सकता है दायी ओर छठी तथा नवी पसलियो के मध्य स्थित ओमेसम का निचला एक तिहाई भाग तथा खड्गाकार कार्टिलेज (ensiform cartilage) के पीछे निचली सतह पर स्थित रेटीकुलम अथवा एवोमेसम है। कभी-कभी यकृत अथवा एवोमेसम पर थपथपाने से दर्द होना, इन अगों का अधिक भरा होना प्रदर्शित करता है। जब मलाशय-परीक्षण करने पर रूमेन में अफारा अथवा उसके अधिक भरे होने का ज्ञान न हो, तो ओमेसम अथवा एबोमेसम को क्लेश का स्थान समझना चाहिए।

दाहिने उदराग (छोटी आँत, सीकम, कोलन) में लहरी-गति कम होती है, किन्तु यह गति दूषित चारे जैसे खाद मिला हुआ भूसा, सडा हुआ बिछावन आदि खाने से उत्पन्न अतड़ी के उग्र क्लेश में बढ़ जाती है।

अतड़ी से थोड़ी मात्रा में काला तथा सख्त गोबर निकलता है। युवा पशुओ में, तथा आन्त्रशोथ अथवा आन्तार्ति की उपस्थिति में पशु का गोबर श्लेष्मायुक्त, बदबूदार तथा मुलायम हो सकता है। जब अपच आन्तार्ति के साथ और भी जटिल हो गई हो तो गोबर बदबूदार, श्लेष्मा से सना हुआ, गैस से भरा हुआ तथा पतला हो सकता है। मलाशय में हाथ डालकर परीक्षा करने पर रूमेन के आकार का पता चल जाता है। अधिक भारी चारा खा लेने पर यह प्राय. दायी ओर तथा श्रोणिगुहा में फैल जाता है। छोटी आँत, सीकम तथा कोलन के पदार्थों के प्रकार तथा मात्रा से भी काफी प्रमाण मिलता है। छोटी अतड़ी का गुम्च होना यदा-कदा देखा जाता है, किन्तु रेक्टम में हाथ डालकर थपथपाने से इसे सरलता से जाना जा सकता है। मलाशय-परीक्षण करते समय गुर्दा, मूत्र वाहक नली तथा मूत्राशय की दशा को भी देखना चाहिए, क्योंकि इन अगो की बीमारी का "अपच" के रूप में ही निदान किया गया है।

रोग का कोर्स तथा अत—प्राय: एक से तीन दिन में रोगी ठीक हो जाता है। लापरवाही, आक्रमण की तीक्ष्णता अथवा चारे की कटौती न करने के कारण रोग की अवधि बढ़ जाती है। अच्छे किस्म के फलीदार हरे चारो के चरागाह विकसित होने के साथ-साथ

पशुओं का पेट फूलकर मरना भी बढ़ गया है। यदि उग्र अफारा से आराम न मिल पाया तो एक से तीन घंटे में रोगी की मृत्यु हो जाती है। प्रारम्भिक लक्षण दिखाई देने के बाद बछड़े, मांस पेशियों के अनैच्छिक उग्र संकुचन से 12 से 24 घंटे में परलोक सिधार जाते हैं। दले हुए भारी खाद्य अधिक खा लेने से तीन से चार दिन में रोगी की मृत्यु हो सकती है तथा मक्का की गर्म साइलेज अथवा दूषित चारे खाने से पशु का पेट खराब होकर दस्त आने लगते हैं। भेड़ों और बछड़ों के अतिरिक्त, शीघ्र इलाज हो जाने पर अपच से पशु मरते कम हैं। आक्रमण के प्रारम्भ में बेहोशी जैसे लक्षण कभी-कभी रोग के असाध्य होने का अनुमान कराते हैं, किन्तु अन्य गम्भीर लक्षणों की अनुपस्थिति में तथा क्रियाशील उत्तेजना के साथ कुछ ही घंटों में संवेदनतंत्र (sensorium) नार्मल हो जाता है। अत्यधिक चारे खा जाने के बाद यदि तीन या चार दिन तक रोगी की हालत में कोई सुधार नहीं होता, तो रोग का फलानुमान खराब समझना चाहिए। थोड़ी-सी लापरवाही हो जाने पर रूमन तथा रेटीकुलम का पक्षाघात होकर जठर आन्त्रशोथ विकसित हो जाती है। कभी-कभी सख्त चारे से रूमेन के ठूँस कर भर जाने पर उसकी दीवालों की खिंचाव शक्ति का ह्रास होकर न ठीक होने वाली अथवा दीर्घकालिक अतानता (atony) उत्पन्न हो जाती है। दीर्घकालिक अतानता से पीड़ित गायों की हालत में सुधार होता मालूम पड़ता है, किन्तु चारा खाने पर अपच के लक्षण पुनः प्रकट हो जाते हैं। ऐसा रूमन की कमजोरी के कारण होता है। शारीरिक क्षीणता तथा थकावट से रोगी की मृत्यु हो जाना इसका अंतिम दुष्परिणाम है।

रूमेन के अन्तर्घट्टन का आसानी से निदान नहीं हो पाता और यह शव-परीक्षण करने पर भी कठिनता से ज्ञात हो पाता है। यह सूखा तथा सड़ा हुआ भूसा, खराब चाफर अथवा कुट्टी जैसे मुलायम पदार्थों को खाने से उत्पन्न हुआ करता है। एक सप्ताह से लेकर दस दिन तक या इससे भी अधिक पशु बिल्कुल ही चारा नहीं खाता तथा आंशिक पक्षाघात के लक्षणों के साथ अंत में रोगी की मृत्यु हो जाती है। 6 माह तक की आयु के बछड़ों में अपच एक असाधारण रोग है, क्योंकि मोटे चारे अथवा अवांछित पदार्थ रूमन से शीघ्र बाहर नहीं निकल पाते। अधिक खा लेने के कुप्रभाव के लिए भेड़ें भी बहुत ही संवेदनशील हैं। ऐसा शायद रूमन की दीवालों का पतला होने तथा निर्बल संकुचन शक्ति के कारण होता है।

निदान—दूषित आहार का इतिहास मिलना, खान-पान में अरुचि होना, जुगाली न करना, रूमन की अतानता तथा थोड़ा-थोड़ा गोबर होना आदि लक्षणों से उग्र अपच का निदान किया जा सकता है। प्रारम्भ में इसे अभिघातज आमाशय शोथ से आसानी से अलग नहीं पहचाना जा सकता। ऐसा रोग के उन उग्र प्रकारों के लिए और भी सच है जिनमें दूषित आहार का इतिहास ही नहीं मिलता और जो थपथपाने अथवा गूँदने पर दर्द प्रकट करते हैं। अभिघातज-आमाशय शोथ में चिकित्सा से कोई विशेष लाभ नहीं होता। बीमारी में सुधार होने पर उसका दूसरा आक्रमण हो जाता है। रोगी की दशा बड़ी ही दयनीय हो जाती है। अपच के उग्र लक्षणों के समाप्त होने के साथ-साथ पशु की हालत में सुधार हो सकता है। गाभिन गायों के ब्यान के समय अभिघातज-आमाशय शोथ और भी

अधिक बढ़ सकती है, जब कि साधारण अपच में ब्याने के बाद सुधार होने लगता है। उग्र विसरित उदर झिल्ली शोथ के साथ अभिघातज-आमाशय शोथ को प्राथमिक अपच निदान किया जा सकता है। प्राथमिक अपच से विसरित उदर-झिल्ली-शोथ कभी-कभी ही उत्पन्न हुआ करती है। उदर-झिल्ली-शोथ को प्रकट करने वाले लक्षण निम्न प्रकार है : खान-पान में पूर्ण रूपेण तथा लगातार अरुचि, मृदुरेचक पदार्थों के सेवन के बाद पानी की तरह पतला अथवा श्लेष्मायुक्त गोबर करना, रूमेन और अँतड़ी के संकुचन के लिए उत्तेजना प्रदान करने के बाद भी सुधार न होना, रोग प्रारम्भ होने के कई दिनों बाद रूमेन तथा उदर की दीवाल के बीच गैस इकट्ठा होने के कारण अफरा होना (प्राथमिक अपच का अफरा रोग प्रारम्भ होने के समय ही होता है और बाद में यह नहीं पाया जाता), उदर के किसी भाग पर दबाने से दर्द होना, हल्की साँस छोड़ने पर दर्दयुक्त आवाज होना, शरीर को झुकाकर रखना, चलते समय सावधानी से अकड़-अकड़कर चलना, नाड़ी-गति में थोड़ी-थोड़ी दैनिक बढ़ोत्तरी तथा एकाएक दुग्धोत्पादन में कमी। प्राकृतिक चरागाहों पर चराए गए पशु यदा-कदा ही प्राथमिक अपच से पीड़ित होते हैं, अतः ऐसे पशुओं में तीक्ष्ण अपच अभिघातज उदर-झिल्ली-शोथ का सूचक है।

गायों में, अग्र-आमाशयो की द्वितीयक अतानता लगभग सभी उग्र गड़बड़ियों का लक्षण मात्र है। यह केवल ज्वर का भी लक्षण हो सकती है। उदर-झिल्ली-शोथ, आँत चढ़ने, तीक्ष्ण गर्भाशय-शोथ अथवा थनैली, तथा पाचक प्रकार की अम्लरक्तता मे यह पूर्ण रूपेण हुआ करती है। श्वसन तथा पाचन-तंत्र के उग्र रोगों का यह एक स्थायी लक्षण है। पशु-शाला में बँधी रहने वाली गायों में जिनकी खूराक के परिवर्तन का कोई इतिहास नही मिलता, शूल-वेदना के साथ प्राइमरी अपच, आँत चढ़ने अथवा गुर्दाशोथ के प्रारम्भिक आक्रमण से मिलती-जुलती हो सकती है।

चिकित्सा—सभी प्रकार की साधारण अपच में रूमेन का संकुचन प्रारम्भ करने तथा आहार-नाल को खाली करने का प्रमुख उद्देश्य होना चाहिए। अधिक कष्ट से बचाने के लिए रोगी का तब तक कोई भी चारा न दिया जाए जब तक ऊपर बताई हुई दोनो बातें पूरी नहीं हो जातीं, क्योंकि रोगी को चारा खिला देने पर उसको रोग का पुनः आक्रमण हो सकता है। साधारण रोगी किण्वनरोधी (antifermentive), पाचक तथा उत्तेजक औषधियों के साथ मृदुरेचक पदार्थ मिलाकर देने से शीघ्र अच्छे हो जाते है। गो-पशुओं की प्राथमिक अपच में मृत्यु का प्रमुख कारण अधिक खा लेने से उत्पन्न जठर-आंत्र शोथ अथवा अत्यधिक खा लेने तथा किण्वन से उत्पन्न उग्र अफरा से दम घुटना है।

पेट फूली हुई गाय की चिकित्सा के लिए उसके मुँह में मुखखोलनी डालिए तथा गाय को इस प्रकार खड़ा कीजिए कि उसका पिछला धड़ नीचा रहे। जब तक डाक्टरी सहायता उपलब्ध न हो, उसे पहाड़ी या किसी अन्य ऊँचे टीले पर ऊपर नीचे चढ़ाइए-उतारिए। चिकित्सक के आने पर सर्वप्रथम इस बात का पता लगाइए कि गैसों को खारिज करने तथा दम घुटने के कारण मरने वाले लक्षणों से रोगी को छुटकारा दिलाने के लिए रूमेन का आपरेशन करने की आवश्यकता तो नही है। यद्यपि तनाव को आमाशय नलिका अथवा ट्रोकार के प्रयोग से कम किया जा सकता है, किन्तु यदि गैस रूमेन में उपस्थित चारे के साथ

मिल गई है तो यह चिकित्सा असफल हो सकती है। यह निश्चित करते समय कि रूमेन का आपरेशन करना है या नहीं, यह विचार कर लेना आवश्यक है कि कोख के द्वारा रूमेन के पदार्थों को निकाल लेना सुरक्षित उपचार है और आपरेशन न करने पर रोगी की मृत्यु हो सकती है।

आमाशय नलिका घुसेडने के बाद इसके द्वारा रोगी के पेट में 5-10 क्वार्ट (quarts) की मात्रा में मृदुरेचक, किण्वनरोधी तथा पाचक औषधियो युक्त पानी पहुँचाना एक सामान्य इलाज है। अत फिंचर[5] (Fincher) ने 2.5 ड्राम (10 ग्राम) टारटार इमेटिक कई लिटर गर्म पानी में घोलकर नथुनो से घुसेडी हुई एक आमाशय नलिका द्वारा रूमेन में पम्प कर दिया। इसमें निम्नलिखित में से एक या अधिक औषधियाँ भी मिलाई जा सकती है. 1 से 3 औंस (30-90 घ० सें०) ऐरोमैटिक अमोनिया स्प्रिट, 1 से 4 ड्राम (4–16 घ० सें०) कैप्सिकम (लाल मिर्च) का टिंचर अथवा अर्क, 1 औंस (30 घ० सें०) तारपीन का तेल, 1 से 2 औंस (30–60 घ० सें०) देवदार का तेल अथवा 1 से 4 ड्राम (4–16 घ० सें०) क्रियोलीन। 4000 घ० सें० की मात्रा में खनिज तेल भी दिया जा सकता है जो गैस के बबूलो का तल-तनाव (surface tension) बढाकर अधिक लाभ पहुँचाता है। अभी हाल में ही स्वीकृत इसके लिए अन्य उपयोगी औषधियाँ $\frac{1}{2}$–1 गैलन मिल्क आफ मैग्नीशिया (इप्सो पाउडर 1 पौण्ड) अथवा $\frac{1}{2}$ से 1 औंस (15–30 ग्राम) सोडियम हाइपोसल्फाइट है। सन् 1949 में कुइन और आस्टिन[6] (Quin and Austin) ने अफरा के इलाज में मिथायल सिलिकॉन (टिम्पैनोल) को उपयोगी बताया है। इसको या तो सीधा ही एक सुई द्वारा रूमेन में प्रविष्ट कर देते है अथवा पानी के साथ मिलाकर पशु को पिला देते है। जैसा कुइन तथा आस्टिन द्वारा सिद्ध किया जा चुका है, पशुओं में पेट फूलना प्रमुख रूप से तल-तनाव की कमी से झागयुक्त बबूलो में गैस के रुक जाने के कारण हुआ करता है। ऐसा कहा जाता है कि यह औषधि झागयुक्त अफरा उत्पन्न करने वाले प्रत्येक छोटे गैस के बबूले का तल-तनाव बढाकर उनके आकार को तब तक बढाती है जब तक सतह पर चढ़कर एक सामान्य ढंग से बाहर नही निकल जाते। दीर्घकालिक अफरा से आराम पाने के लिए ताजा वध किए हुए पशु के रूमेन में का पदार्थ लेकर उसे पानी में मिलाकर आमाशय-नलिका द्वारा रोगी के रूमेन में पम्प कर दीजिए। अग्र-आमाशयो के सकुचन में उत्तेजना लाने के लिए दिन में तीन बार 1–1·5 ग्रेन की मात्रा में स्ट्रिक्नीन सल्फेट पिलाइये। गो-पशुओ में त्वचा के नीचे इसका इंजेक्श नही देना चाहिए।

केवल मालिश द्वारा भी रूमेन के सकुचन को उत्तेजना प्रदान की जा सकती है ऐसा करने के लिए बद मुट्ठी की सहायता से बायी कोख का नीचे से ऊपर की ओर पन मिनट से एक घटे तक मलिए। दु साध्य रोगियो में जब कि वास्तविक अवस्था का निश्चि रूप से पता न लगाया जा सके, और उसे लगातार मृदुरेचक पदार्थ दिए गए हो, तो ऐसे को एक लाभकारी तथा अनुत्तेजक खनिज तेल पिलाइए। हरे चरागाहो पर छोड़ने पूर्व पशुओं का सूखा चारा खिलाने से उनका पेट नही फूलता। इस क्रिया का ढंग क्लार्क (Clark) ने समझाया जिन्होने देखा कि झागयुक्त चारे में कटी हुई सूखी घास मिलाने

झाग नष्ट हो जाती है। क्लार्क के एक वर्णन में झागयुक्त पेट के फुलाव की चिकित्सा हेतु मिथायल सिलिकॉन के प्रयोग की चर्चा की गई है। उन्होंने कहा कि "पेट के तीक्ष्ण फुलाव के लिए तारपीन का तेल सर्वोत्तम औषधि है, किन्तु यह, चूँकि तल-तनाव पर अपने प्रभाव के द्वारा अधिकतम क्रिया करता है अतः इससे उत्तम औषधियाँ भी प्राप्य हो सकती हैं।" उन्होंने यह भी कहा कि "यह बड़ा ही संदेहात्मक है कि रूमेन में रोगाणुनाशक औषधियों का प्रवेश किया जाये, भले ही वे गैस का बनना कम करती हों। रूमेन में पाचन क्रिया हेतु समुचित एवं संतुलित क्रियाशील जीवाणुओं (microflora) का होना आवश्यक है और इनको क्षति पहुँचाने अथवा नष्ट करने से भयंकर दुष्परिणाम हो सकते हैं।" फिर भी चिकित्सा के अनुभव से निकले हुए परिणाम इस वाद को, कि उग्र अफरा के इलाज में रोगाणुनाशकों का अस्थायी प्रयोग रूमेन के जीवाणुओं की पाचन क्रिया में क्षति पहुँचाता है, सिद्ध नहीं करते। अचानक मक्के का चारा, दाना पाकर इतना अधिक खा लेना कि संकुचन तथा मलत्याग की क्रिया भी साधारण ढंग से न हो सके, ऐसी गायों का इलाज शीघ्रातिशीघ्र करना चाहिए। यदि खाए गए पदार्थ सूखे तथा भारी हों तो आमाशय-नलिका की सहायता से रूमेन में पाचक औषधियोंयुक्त कई बाल्टी गर्म पानी पम्प करके इन्हें मुलायम बनाया जा सकता है। तत्पश्चात् मुट्ठी बंद करके बायीं कोख को नीचे से ऊपर की ओर मल दीजिए। कुछ ही मिनटों में गैसों के खारिज होने से रूमेन का संकुचन पुनः होने लगता है तथा धीरे धीरे हालत में सुधार होने लगता है। रोगी को सामान्य प्रकार के मृदुरेचक, पाचक तथा उत्तेजक पदार्थ भी देना चाहिए। यह ढंग लाभकारी सिद्ध हो सकता है, किन्तु यदि लूसर्न जैसे अधिक किण्वित होने वाले पदार्थ अधिक खा लेने से इस विधि से प्रगति बहुत धीमी हो तो रूमेन का आपरेशन करके दूषित पदार्थों को कोख से बाहर निकाल देना चाहिए। यह अभिघातज आमाशय शोथ वाले पाठ में वर्णन किया गया है। फ्रिक[5] (Frick) की रिपोर्ट के अनुसार इस विधि से 15 बैलों के एक समूह में से 14 रोगी ठीक हो गए जिन्होंने अधिक मात्रा में टूटा हुआ मक्का तथा बिनौला खा लिया था।

अफरा तथा दम घुटने से मरने वाले पशु में केवल इतना ही समय मिल पाता है कि कोख में चाकू भोंककर गैसों को निकाल दिया जाये। ऐसा करने से रूमेन की गैसें बड़ी तेजी से निकलती हैं और पशु की जान बच जाती है। थोड़े दिन में घाव भर कर रूमेन तथा उदर की दीवाल के मध्य केवल एक अभिलाग रह जाता है, जो पाचन क्रिया में विशेष विघ्न नहीं डालता।

अयन में हवा भरने से दुग्ध-ज्वर की भाँति आंशिक पक्षाघात भी शीघ्र ठीक हो जाता है। रोग के इस प्रकार में भी रोगी को आमाशय-नलिका द्वारा मृदुरेचक तथा उत्तेजक औषधियाँ देनी चाहिए।

फ्रिक[5] की रिपोर्ट के अनुसार अत्यधिक मात्रा में अधपकी मक्का तथा मक्का का हरा चारा खाने के बाद होने वाली बेहोशी, कमजोरी तथा विषाक्तता से पीड़ित पशु को 30 प्रतिशत सोडियम हायपोसल्फाइट तथा 2 प्रतिशत सोडियम नाइट्राइट (50 घ० सें०) अंतः शिरा इंजेक्शन द्वारा उस समय देने पर आशातीत लाभ करता है जबकि कैल्सियम

ग्लूकोनेट देने का सामान्य इलाज असफल हो चुका हो। सेव तथा हरी मक्का खाने से होने वाली अपच की बेहोशी प्राय. कैल्शियम ग्लूकोनेट (1000 से 1500 घ० सें० 40 प्रतिशत घोल) के अन्तःशिरा इन्जेक्शन द्वारा ठीक हो जाती है। अधिक लाभ के लिए इसमें 500 घ० सें० 20 प्रतिशत डेक्सट्रोज घोल मिलाया जा सकता है। किसी भी प्रकार की तीक्ष्ण अपच में अधिक मात्रा में डेक्सट्रोज तथा कैल्शियम ग्लूकोनेट का प्रयोग काफी गुणकारी है।

अपच के उग्र लक्षणों से छुटकारा पाने के बाद, गाय या तो सुस्त दिखाई देती है अथवा उसकी खान-पान में अरुचि रहती है। ऐसी अवस्था में निम्न प्रकार की औषधियाँ लाभप्रद हैं :

सैल कैरोलिनी फैक्टीटाइ (Sal Carolini factitii)	16 औंस (500 ग्राम)
जेन्शिएन	8 औंस (250 ग्राम)
नक्स वामिका (कुचला)	8 औंस (250 ग्राम)

सबको मिलाकर एक औंस (30 ग्राम) की मात्रा में रोगी को दिन में तीन बार दीजिए। अथवा एक ग्रेन स्ट्रिकनीन सल्फेट को मुँह द्वारा दिन में तीन बार देना चाहिए। 1 प्रतिशत आर्सेनिक ट्राइआक्साइड तथा 1 प्रतिशत स्ट्रिकनीन सल्फेट के घोलों का बराबर-बराबर भागों में मिलाया हुआ 4 ड्राम (16 घ० सें०) निम्नलिखित मिश्रण दिन में तीन बार देना अति उत्तम है। दोनों घोलों को निम्न प्रकार तैयार किया जाता है :

आर्सेनिक ट्राइआक्साइड	5 ग्राम
हल्का हाइड्रोक्लोरिक अम्ल	3 घ० सें०
पानी	500 घ० सें०

अथवा

स्ट्रिकनीन सल्फेट	10 ग्राम
हल्का हाइड्रोक्लोरिक अम्ल	20 घ० सें०
पानी	980 घ० सें०
गर्म करिए	

इन घोलों को बराबर भागों में मिलाकर आधा औंस (15 घ० सें०) की मात्रा में रोगी पशु को दिन में दो से तीन बार दीजिए।

संदर्भ

1. McIntosh, R. A., Digestive disturbances of cattle J. A. V. M. A., 1941, 98, 441.
2. Quin, J. I., Studies on the alimentary tract of Merino sheep in South Africa-VIII, The pathogenesis of acute tympanites (Bloat), Onderstepoort J of Vet. Sci. and Anim Indus, 1943, 18, 113.
3. Cole, H. H., Mead, S. W., and Kleiber, Max, Bloat in cattle, Univ. Calif, Bull. 662, 1942.

4. Schalk, A. F., and Amadon, R. S., Physiology of the Ruminant Stomach (Bovine), Study of the Dynamic Factors, North Dak. Agr. Exp. Bull. 216, 1928.
5. Fincher, M. G., Diseases of the digestive system in bovines, J. A. V. M. A., 1940, 96, 466.
6. Quin, A. H., and Austin, J., A new approach to the treatment of bloat in cattle, J. A. V. M. A., 1949, 114, 313.
7. Clark, R., Studies on the alimentary tract of Merino sheep in S. Africa, Onderstepoort J. of Vet. Sci. and animal Ind., 1948, 23, 389.
8. Frick, E. J., The handling of some digestive disturbances in the bovine, Cornell Vet., 1949, 19, 401.

जुगाली करने वाले पशुओं में अभिघातज आमाशयशोथ

(Traumatic Gastritis in Ruminants)

(अभिघातज उदर-झिल्लीशोथ, यकृत शोथ, प्लीहाशोथ)

परिभाषा—अभिघातज आमाशय शोथ में वे सब विभिन्न क्षतस्थल शामिल हैं जो रेटिकुलम तथा कभी-कभी रूमेन में किसी तेज पदार्थ के घुस जाने पर हुआ करते हैं। हर अवस्था में इसमें उदर-झिल्लीशोथ हो जाती है। बहुधा इसमें हृदय-झिल्लीशोथ तथा फुफ्फुस झिल्लीशोथ होती तथा कभी-कभी यकृत, प्लीहा अथवा फेफड़ों पर भी इसका असर होता है। उदर-झिल्लीशोथ तथा हृदय-झिल्लीशोथ को अलग-अलग पहचान लेना बहुत ही आवश्यक है। बाद वाली अवस्था को आसानी से पहचान लिया जाता है तथा यह अत्यन्त ही प्राणघातक है। उदर-झिल्लीशोथ अधिक अस्पष्ट तथा चिकित्सा से अच्छी हो जाने वाली होती है। अनेक यूथों में यह रोग काफी क्षति पहुँचाता है। न्यूयार्क स्टेट पशु-चिकित्सा विज्ञान महाविद्यालय के चल-चिकित्सालय में यह रोग गायों की मृत्यु का एक प्रमुख कारण रहा है। अपच तथा अन्य रोगों से मिलता-जुलता होने के कारण यह प्रायः निरन्तर विचाराधीन है।

कारण—रेटिकुलम का आकार छोटा होना, उसका मधुमक्खी के छत्ते की तरह भीतरी आकार, उसके संकुचन की क्रिया तथा गाय द्वारा निगले जाने वाले अवांछित पदार्थ जो डायाफ्राम और परिहृद थैली के निकट निचले अगले भाग में जमा होते रहते हैं, आदि कारण रेटिकुलम के फटने के लिए अनुकूलतम हैं। इसमें प्रायः चोट लगा करती है। अनेक प्रौढ़ गायों के रेटिकुलम में धातु के टुकड़े मौजूद मिलते हैं तथा बहुत सी हलाल की गई वृद्ध गायों में इन टुकड़ों से चोटें लगी हुई मिलती हैं। इन चोटों से स्थानीय सूजन उत्पन्न होती है तथा बिना तीक्ष्ण लक्षण प्रकट किए ही यह चोटें ठीक भी हो जाती हैं। साथ ही निदान की गई तीक्ष्ण अपच से भी गाय ठीक हो जाती है। इन रोगियों में रेटिकुलम तथा डायाफ्राम के बीच अन्त में दीर्घकालिक अभिलग्गी परिगत उदर-झिल्लीशोथ (chronic adhesive circumscribed peritonitis) हो जाती है। इससे फिर आगे कष्ट नहीं होता, किन्तु अधिक दिनों की गाभिन गाय में पेट के बच्चे द्वारा अथवा गाय के ब्याने से जो दबाव पड़ता है उससे नलिकाकार आकृति बढ़कर निकट के अंगों में भयंकर क्षतस्थल उत्पन्न

कर सकती हैं। ऐसे 50 प्रतिशत रोगियों में गाभिन होने का इतिहास मिलता है। कुछ में देखे हुए लक्षण गाय के ब्याने की तिथि से प्रारम्भ होते हैं, किन्तु अधिकतर बढ़े हुए गर्भकाल से ही असामान्य दिखाई पड़ते है तथा ब्याने के बाद और भी अधिक बढ़ जाते हैं। चार वर्ष की अवधि में लेखक के चल चिकित्सालय में निदान किए गए अभिघातज आमाशय-शोथ के रोगियों का मासिक ब्यौरा निम्न प्रकार था

जनवरी	11
फरवरी	8
मार्च	22
अप्रैल	12
मई	18
जून	14
जुलाई	8
अगस्त	4
सितम्बर	12
अक्तूबर	9
नवम्बर	8
दिसम्बर	14

मार्च, अप्रैल तथा मई में रोग का अधिक प्रकोप करना ब्याने के अनुसार है। जहाँ तक आयु का सबंध है, यह प्रमुख रूप से दो वर्ष की आयु के बाद ही पशुओं में होता देखा गया है, किन्तु एक वर्षीय बछड़ो में भी यह कम नहीं पाया जाता। नर पशु, विशेषकर बुड्ढे सांड जो प्राय इधर उधर पड़े हुए गठीले तार के सपर्क में आ जाते हैं, इस रोग के अधिक शिकार होते हैं। अभिघातज आमाशयशोथ उन फार्मों पर अधिक होती है जहाँ गठीली सूखी घास प्रयोग होती है, जहाँ बाड़ के कँटीले तार टुकड़ो में टूटकर गिरते हैं, जहाँ कूडा-करकट चरागाहों तथा सड़कों पर फेंक दिया जाता है तथा जहाँ पशुगृहों में ही मरम्मत का काम अधिक किया जाता है।

विकृत शरीर रचना—रोगी को दायें करवट लिटाल कर बायी ओर रोगग्रसित भाग पर चीरा लगाने से उसमें काटा, कील आदि अवांछित पदार्थ मिलते तथा शरीर-रचनात्मक परिवर्तन दिखाई पड़ते हैं। अग्र-आमाशयों के अगले भाग के चहुँतरफा स्थित अंगों के अतिरिक्त अन्य पाचन अंगों को धीरे से अलग कर दीजिए। तत्पश्चात् अवांछित पदार्थों को देखने के लिए रेटिकुलम को खोलिए तथा इसके और डायाफाम के मध्य अभिलाग देखिए। इस क्षेत्र से फैलने वाले परिवर्तनों का, उदर तथा वक्ष में स्थित निकटवर्ती अंगों में आसानी से पता लगाया जा सकता है। डायाफ्राम के निकट शारीरिक गुहाओं, प्लीहा, यकृत तथा फेफड़ों में फोड़े पाये जाते है। हृदय के रोगग्रसित होने पर परिहृद थैली में बदबूदार गहरे रंग का पतला पीव अथवा पीव और फाइब्रिन भरा रहता है। कभी-कभी हृदय की मांसपेशी स्वत जख्मी हो जाती है। कटे हुए भाग से चुभा हुआ तेज पदार्थ गायब हो सकता है, किन्तु डायाफ्राम और रेटिकुलम के बीच बना अभिलाग, इस चोट का प्रमाण, सदा मौजूद रहता है।

लक्षण—निम्नलिखित चार प्रमुख लक्षण देखे जा सकते हैं :

(1) तीव्र परिगत उदर-झिल्लीशोथ (acute circumscribed peritonitis)
(2) तीव्र विसरित उदर-झिल्लीशोथ (acute diffuse peritonitis)
(3) दीर्घकालिक उदर-झिल्लीशोथ (chronic peritonitis)
(4) हृदय-झिल्लीशोथ (pericarditis)

तीव्र परिगत उदर-झिल्लीशोथ—उदर झिल्लीशोथ की यह एक प्रमुख प्रकार है और लगभग प्रत्येक रोगी का यह प्रारम्भिक क्षतस्थल है। जब चोट पहुँचाने वाली वस्तु लंबी तथा तेज होती है तो विसरित उदर-झिल्लीशोथ अथवा हृदय-झिल्लीशोथ या दोनों ही तत्काल विकसित हो सकती है, किन्तु नियम के अनुसार इसका क्षतस्थल प्रारम्भ में गोल ही होता है। प्रारम्भिक चोट लगकर यह विभिन्न प्रकार से प्रकोप कर सकती है। खान-पान में अरुचि तथा दूध उत्पादन में कमी के साथ इसका आक्रमण एकाएक होता है। एकाएक दूध का बहाव रुक जाना इसका प्रधान लक्षण है। अभिघातज आमाशयशोथ के आक्रमण के साथ पशुओं में उल्टी होते भी देखी गयी है, किन्तु ऐसा बहुत कम होता है। पशु मालिक प्रायः दो-चार या अधिक दिन रोगी की खान-पान में अरुचि तथा कम दुग्ध उत्पादन की रिपोर्ट करते हैं। कभी-कभी बार बार अपच होने अथवा एक विशेष प्रकार की अकड़न का इतिहास मिलता है। परीक्षा करने पर उदासीनता, झुकी हुई पीठ तथा कड़ेपन के लक्षण मिलते है। पशु की झुके रहने की आदत पड़ जाती है। कुहनी के पीछे की मास पेशियों में कम्पन होता है तथा कुछ लोगों द्वारा यह लक्षण अभिघातज आमाशय शोथ का एक नैदानिक लक्षण माना जाता है। फिर भी यह लक्षण अनेक अन्य अवस्थाओं में भी पाया जाता है। कुहनी प्रायः फैल जाती है। आँखें थोड़ा अन्दर धँस जाती तथा रोगी की हालत दयनीय दिखाई देती है। श्लेष्मल झिल्लियाँ सामान्य रहती है। विशिष्ट रोगी में नाड़ी गति 75–100, श्वसन 30 से 40, सांस हल्की अथवा अनियमित तथा तापक्रम 102° से 104° फारेनहाइट के मध्य रहता है। थोड़ी अवधि तथा तीक्ष्ण दर्द के साथ बढ़ी हुई गतियाँ विसरित उदर-झिल्लीशोथ अथवा हृदय-झिल्ली शोथ का होना प्रकट करती है। चोट लगकर छेद होने के बाद तीक्ष्ण उदर-झिल्लीशोथ विकसित होती और इसके साथ पशु का तापक्रम बढ़ता है। जैसे ही उदर झिल्लीशोथ का क्षेत्र भीति रहित होता है पशु का तापक्रम गिर जाता है। आमतौर से बुखार 103 से 104° तक चढ़ता है। प्लीहा, यकृत अथवा फेफड़ों में फोड़ा बन जाने से पशु का तापक्रम अधिक हो जाता है। किसी भी रोगी में, यह बीमारी के कोर्स के अनुसार बदलता रहता है। रोग के कम तीव्र प्रकार में तापक्रम या तो सामान्य रहता अथवा थोड़ा सा अधिक हो जाता है। उदर अपने आकार में नार्मल रहता, रूमेन के सकुचन निर्बल तथा अनियमित होते तथा गोबर निकलना प्रायः कम हो जाता है। कभी कभी पशु को दस्त आने लगते हैं। रेटिकुलम अथवा उर-उपास्थि (xiphoid cartilage) के क्षेत्र पर थपथपाने अथवा मुट्ठी से दबाने या पीठ के ऊपरी भाग में चिकोटी काटने से रोगी दर्द का अनुभव करता है। कभी-कभी चोट लगे स्थान से थोड़ा दूर थपथपाने से भी दर्द होता है—अन्यत्रानुभूत पीड़ा (referred pain)। यदि

जोर देकर चलाया जाय तो पशु अरुचि के साथ चलता है। यदि संदेहयुक्त पशु तेजी से चलता हो, और पशुशाला में घुसते समय मल-मूत्र की नाली को स्वतन्त्रता पूर्वक फाद जाता हो तो सम्भवत यह रोग अभिघातज आमाशय शोथ नहीं है। कुछ रोगियों में थपथपाने पर दर्द नहीं होता, ऐसा शायद काफी गहराई में चोट के स्थित होने के कारण होता है। कभी कभी उर-उपास्थि की बायी ओर गोल तथा दर्दयुक्त सूजन उभर आती है, यह एक फोड़ा होने तथा परिमत उदर-झिल्लीशोथ का अनुमान कराती है।

रोग की अवधि उदर-झिल्ली पर लगी हुई चोट पर निर्भर होती है। छोटे तथा तेज पदार्थ जैसे कीलें, तार के छोटे टुकड़े तथा आलपिनें चुभने के समय उग्र लक्षण उत्पन्न करते हैं, किन्तु सूजन आने की प्रतिक्रिया से ये 3 या 4 दिन में गिर जाती हैं तथा पेरिटोनियल सतहों के बीच स्थायी अभिलाग बन जाता है। तत्पश्चात् बीमारी के उग्र लक्षण शीघ्र ही अथवा धीरे धीरे समाप्त होकर रोगी पूर्णरूपेण अथवा आंशिक रूप से ठीक हो जाता है। किसी छोटी कील के बार बार चुभने से रोग का आक्रमण पुन हो सकता है। रोग की उग्र अवस्था तीन चार दिन से लेकर एक सप्ताह तक रहती है।

रोग के उग्र आक्रमण के बाद, उत्पन्न संक्रमण तथा कभी कभी चुभा हुआ पदार्थ स्वय ही यकृत अथवा प्लीहा में पहुँचकर फोड़ा बनाता है। प्लीहा के फोड़े में जोड़ों तथा टेंडन आवरणों, फेफड़ों तथा यकृत में मितस्थायी संक्रमण होने की प्रवृत्ति रहती है। ऐसी परिस्थितियों में रोगी प्राय मर जाता है अथवा कुछ दिनों से लेकर कुछ सप्ताहों बाद मार दिया जाता है।

तीव्र विसरित उदर झिल्ली शोथ—यह लम्बे तार अथवा कील के चुभने से हुआ करती है तथा सूजन समाप्त न होकर शीघ्र ही बढ़ जाती है। रोग का एकाएक आक्रमण होकर तेज नाड़ी गति (80–100), तेज श्वास-प्रश्वास (50–60) तथा 104 से 105° फारेनहाइट तक बुखार के लक्षण दिखाई देते हैं। थपथपाने तथा मुट्ठी से दबाने पर पेट में तेज दर्द होता है। पिछले पैरों से कुचलने जैसी चाल, कराहना तथा भयकर दर्द के अन्य लक्षण भी मौजूद हो सकते हैं। दस से चौदह दिन में रोगी की मृत्यु हो जाती है। तीव्र विसरित उदर झिल्लीशोथ के दस से चौदह दिन की अवधि का स्पष्टीकरण देते हुए डा० गिब्स (Dr. Gibbons) ने बताया कि पहले कुछ दिनों में कील चुभने वाले क्षेत्र में रक्षी-स्राव (protective exudate) बनता है और जब यह अन्त में फटता है तो अवधि केवल एक अथवा दो दिन की रह जाती है।

दीर्घकालिक उदर झिल्लीशोथ—इसका क्षेत्र बड़ा ही विस्तीर्ण होता है। यह एक छोटे से दाग अथवा फोड़े से लेकर (जिसमें कोई लक्षण ही नहीं प्रकट होते) पेरिटोनियम के विस्तृत अभिलाग तक (जिसमें क्षीणता तक होती है) हो सकती है। इस प्रकार यह परिगत अथवा विस्तृत हो सकती है। यह उग्र सूजन से विकसित हो सकती अथवा प्रारम्भ से ही दीर्घकालिक हुआ करती है। बढ़े हुए गर्भकाल, 'अपच' के आक्रमण अथवा पहले कभी हुई अभिघातज आमाशय शोथ की तिथि से पशु के जर्जर होने का पुराना इतिहास मिल सकता है। गिरी हुई हालत, शरीर में अकड़न, कमजोरी तथा रोग के बार बार आक्रमण

इस बीमारी के सामान्य लक्षण हैं। एक पशु में रूमेन के सुविकसित अभिलागों के कारण रोगी में दीर्घकालिक अफरा के लक्षण दिखाई दिए। एक दूसरा पशु अभिघातज आमाशय शोथ के उग्र आक्रमण से पीड़ित हुआ तथा एक वर्ष बाद ब्याने पर उसे प्रत्यक्ष रूप से गर्भाशय शोथ हो गई। गर्भाशय की धुलाई करने पर पशु को बेचैनी तथा श्वासकष्ट हुआ और शव-परीक्षा करने पर लगभग सभी उदरांगों तथा वक्षीय अंगों में अभिलाग मिले। यह दीर्घकालिक अवस्था अन्य रोगों जैसे गर्भाशय शोथ, थनैली तथा अपच के साथ प्रकोप करके भ्रमपूर्ण जटिलता उत्पन्न करती है।

हृदय-झिल्लीशोथ—रेटिकुलम में लगे हुए कील काँटे धीरे धीरे डायाफ्राम को फाड़कर हृदयावरण में घुस जाते हैं। इस प्रकार दोनों गुहाओं को मिलाने वाली एक नलिका सी बन जाती है। इसके चारो ओर मोटा संयोगी ऊतक इकट्ठा होकर बाद में फोड़ा बन जाता है जिसके बीच में कील, काँटा आदि अवांछित पदार्थ मौजूद रहता है। इसके सामान्य लक्षण भी बड़े भयंकर होते हैं। रोगी में उदासीनता तथा क्षीणता प्रकट होती है। शरीर की सभी श्लेष्मल झिल्लियाँ पीली पड़ जाती हैं। पशु का तापक्रम नार्मल हो सकता है, किन्तु अधिकतर उसे 102 से 104° फारेनहाइट तक बुखार रहता है। अन्य अवस्थाओं की अपेक्षाकृत हृदय-झिल्लीशोथ में बुखार अधिक रहता है। यह 105 से 106° तक हो सकता है। अभिघातज आमाशयशोथ में तापक्रम का सही अभिलेख रखने के लिए यह आवश्यक है कि यह कई दिन तक रोजाना रिकार्ड किया जाये। इससे रोजाना होने वाली विभिन्नता का पता लग जाता है। रोग के अंत में तापक्रम नार्मल से भी कम हो सकता है। रक्त परिवहन तंत्र की परीक्षा करने पर रोग के विशिष्ट लक्षण दिखाई पड़ते हैं। हृदय की गति 70 और 120 के मध्य रहती है। 50 प्रतिशत से अधिक रोगियों में यह 100 अथवा अधिक पायी जाती है। पशु को खड़ा करके तथा उसका अगला पैर आगे बढ़ाकर, हृदय के ऊपर थपथपाने से दर्द का प्रदर्शन किया जा सकता है। रोग की उग्र अवस्था में दर्द अधिक होता है। धीरे धीरे क्षतस्थलों के विकसित होने के बाद जब हृदयावरण मोटा हो जाता तथा थैली फाइब्रिन से भर जाती है, तो थपथपाने से कम दर्द होता है तथा उस स्थान पर भद्दी आवाज सुनाई पड़ती है। रोग-ग्रसित अवस्था के अनुसार ही हृदय की धड़कन में परिवर्तन हो जाता है। हृदय में तरल पदार्थ जमा हो जाने पर यह आवाज पानी की तरह कल कल करने वाली, तरल पदार्थ तथा फाइब्रिन की उपस्थिति में टन-टन करने वाली, केवल फाइब्रिन की उपस्थिति में कम अथवा अनुपस्थित तथा हृदय में चोट लग जाने पर बढ़ जाती है। स्टेथॉस्कोप से परीक्षा करने पर कभी कभी दाहिनी ओर अधिक आवाज सुनाई देती है। रोग की अंतिम अवस्था में जुगुलर-शिरा का तनाव तथा गले, गर्दन अथवा उरोस्थि (sternum) के क्षेत्र पर सूजन दिखाई पड़ती है। तीव्र हृदय गति, हृदय की तेज धड़कन, थपथपाने पर दर्द होना तथा भद्दापन का बढ़ा हुआ क्षेत्र आदि इस रोग के निदान के प्रमुख लक्षण हैं। प्रयोगात्मक आधार पर यह अवस्था सदैव ही प्राणघातक है और इसका कोर्स दो-तीन दिन से लेकर एक माह या अधिक हो सकता है। मालिक का ध्यान बिना आकर्षित किए हुए ही विस्तृत हृदय-झिल्लीशोथ विकसित हो सकती है।

फुफ्फुस झिल्ली शोथ इसका प्रमुख क्षतस्थल बन सकता है। इसका कोर्स 2 से 6 माह का होता है। स्थिति तथा परिवर्तन के अनुसार भिन्न होने वाले पाचन तथा श्वसन के लक्षणों (फुफ्फुस झिल्लीशोथ, फेफड़ों में फोड़ा, ब्रोंकोनिमोनिया) के साथ पशु की हालत धीरे धीरे गिरती जाती है। रोगी को 103° फारेनहाइट तक बुखार होता है। श्वसन-गति बढ़ सकती है। अत्यधिक क्षीणता होने पर पशु को प्राय मार दिया जाता है। श्वसन संबंधी लक्षणों की उपस्थिति इसकी विशेषता है। फेफड़ों अथवा प्लूरल गुहा में एक बड़े फोड़े की उपस्थिति रोग-ग्रसित क्षेत्र को मद्धापन प्रदान करती है जो पूर्ण तथा स्पष्ट सुनाई देता है। सीने पर थपथपाने से दर्द होता है। प्राय रोगी को दीर्घकालिक-ब्रोंको-निमोनिया हो जाती है जो फेफड़ों में विभिन्न प्रकार की आवाजें उत्पन्न करती है। रोगी को बार-बार दर्दयुक्त, सरलता से प्रारम्भ होने वाली, लगातार दबी हुई खाँसी आती है।

कभी-कभी फेफड़ों में कील काँटे के घुस जाने से फुफ्फुस वातस्फीति (pulmonary emphysema) हो जाती है। प्लूरा, पेरिटोनियम तथा त्वचा के नीचे से हवा निकलकर एक से तीन दिन में दम घुटकर पशु की मृत्यु हो जाती है। पूर्ण शरीर पर फैली हुई अधस्त्वक् वातस्फीति (subcutaneous emphysema) इसका प्रधान लक्षण है। रोगी को साँस लेने में कष्ट होता है।

निदान—अभिघातज आमाशय शोथ के अनेक लक्षण प्राथमिक अपच से इतने मिलते-जुलते हैं कि पहले परीक्षण पर इसका निदान प्राय अनिश्चित हो जाता है। अभिघातज आमाशय शोथ में लक्षण प्राय उग्र हुआ करते हैं। उग्र लक्षणों के साथ प्राइमरी अपच में रोग का कारण (धोखे से अधिक खा लेना अथवा सड़ा गला चारा खाना) भी प्राय स्पष्ट सा रहता है। चिकित्सा करने से प्राइमरी अपच एक-दो दिन में ठीक होने लगती है जब कि अभिघातज आमाशय शोथ प्राय एक अथवा दो सप्ताह तक चलती है। प्राइमरी अपच में बहुधा रोग के आक्रमण के समय अफरा होता है तथा उदरझिल्ली शोथ में अफरा होना उसका अन्तिम लक्षण है। प्राइमरी अपच तथा अभिघातज आमाशय शोथ को अलग-अलग पहचानने के लिए रेक्टल-तापक्रम को अधिक मान्यता प्रदान की गई है। उदर झिल्ली शोथ से पीड़ित गायों में छूत के कारण तापक्रम का बढ़ना एक प्रमुख लक्षण माना जा सकता है। गो-पशुओं की छुतैली अथवा रक्तपूतित बीमारियों में मलाशयी-तापक्रम में काफी विभिन्नता मिलती है, अत केवल एक बार तापक्रम लेने से विश्वासपूर्ण परिणाम नहीं प्राप्त होते। अभिघातज आमाशयशोथ तथा प्राइमरी अपच दोनों का तापक्रम यदि रिकार्ड किया जाये तो पहली बीमारी में यह अधिक स्थिर तथा बढ़ा हुआ मिलता है। प्राइमरी अपच में तापक्रम प्राय नार्मल रहता है। बहुधा ऐसा देखा गया है कि उग्र परिगत उदर-झिल्ली-शोथ जैसे लक्षण प्रकट करने वाले रोगी शीघ्र अच्छे हो जाते हैं। सम्भवत इनमें से अधिकतर प्राइमरी अपच के ही रोगी होते हैं। अभिघातज आमाशयशोथ से मिलते-जुलते, दीर्घकालिक स्थानीय निमोनिया के लक्षणों के लिए पृष्ठ संख्या 48 देखिए।

कुहनी के पीछे थपथपाने पर दर्द होने के कारण, कुछ उग्र अथवा दीर्घकालिक निमोनिया को अभिघातज आमाशय शोथ समझा जा सकता है। निमोनिया से पीड़ित गाय अपने

सामने वाले पैरों को क्रास करके खड़ी हो सकती है, यह भी अभिघातज आमाशय शोथ का प्रमुख लक्षण है। जल्दी जल्दी साँस लेना तथा साँस लेते समय फेफड़ों से आवाज होना निमोनिया की पहिचान के विभेदी लक्षण हैं।

अन्य कारणों से होने वाली उदर-झिल्लीशोथ प्रायः गर्भाशय शोथ, क्षयाक्षयता (नेक्रोवैसिलोसिस) तथा क्षयरोग में मिला करती है। अचानक कोई चीज छिद जाने अथवा गर्भाशय या मलाशय को लापरवाही से छूने आदि के परिणामस्वरूप होने वाली प्राणघातक उदर-झिल्लीशोथ का प्रारम्भ चोट लगने वाले दिन से ही शुरू हो जाता है। एक अच्छे खाये पिये पशु में एकाएक दर्द, अकड़न, बेचैनी तथा खान पान में पूर्णरूपेण अरुचि के लक्षण विकसित हो जाते हैं। उग्र-गर्भाशयशोथ से पीड़ित गर्भाशय में छेद होने के बाद एक सप्ताह से कम में रोगी की मृत्यु हो जाती है। यदि गर्भाशय पूर्णरूपेण संकुचित हो चुका है तो बिना किसी विशिष्ट क्रिया के उसमें छेद हो सकता है। व्याने के बाद होने वाली उदर-झिल्लीशोथ, कभी-कभी अभिघातज उदर-झिल्लीशोथ अथवा हृदय-झिल्लीशोथ से बिल्कुल मिलती-जुलती है। आमतौर पर व्याने के समय लगी हुई किसी भी बीमारी को जब तक कि कुछ अन्य सिद्ध न हो जावे, गर्भाशय का रोग ही समझना चाहिए। यदाकदा ऐसे समय में दीर्घकालिक उदर-झिल्लीशोथ विकसित हो सकती है। क्षययुक्त उदर-झिल्लीशोथ (tuberculous peritonitis) में मलाशय-परीक्षण करने पर डिम्ब वाहिनी (oviduct) बढ़ी हुई तथा कड़ी प्रतीत होती है। हृदयावरण तथा प्लूरा का क्षयरोग ऐसे लक्षण उत्पन्न करता है जो देखने में वक्ष की दीवाल में कोई वाह्य पदार्थ चुभ जाने के फलस्वरूप पैदा होने वाले लक्षणों की भाँति होते हैं।

यकृत का परिगलन उदर-झिल्ली (पेरिटोनियम) तक बढ़कर अभिघातज आमाशय-शोथ जैसे लक्षण उत्पन्न करता है। दो वर्ष की आयु वाले पशुओं में यह बीमारी अधिक हुआ करती है। रोगी का तापक्रम 104 से 106° फारेनहाइट के मध्य होकर स्थिर रहता है। यकृत के क्षतस्थल प्रायः गोल तथा कभी-कभी फैले हुए से हो सकते हैं। क्षतस्थल विस्तृत होने पर रोगी को पीलिया हो सकता है। यकृत के ऊपर थपथपाने से दर्द होता है। फेफड़ों में परिगलित फुन्सियाँ (necrotic foci) होकर श्वास संबंधी लक्षण उत्पन्न कर सकती हैं। शारीरिक लक्षणों के प्रकट होने के बाद दो सप्ताह के अन्दर रोगी की मृत्यु हो जाती है।

यकृत के अनेक छोटे-छोटे फोड़ों को अभिघातज आमाशयशोथ निदान किया गया है। इनसे पीड़ित एक गाय पहले 6 माह तक अगले पैरों को क्रास करके खड़ी हुआ करती थी तथा धीरे-धीरे उसकी हालत गिरती गई।

रोग का किसी विशेष मौसम में होना एक पथ-प्रदर्शक का कार्य करता है। गर्मी के महीनों में अभिघातज आमाशयशोथ बहुत कम होती है। कभी-कभी जब गायें पहले हरे भरे घासों के चरागाहों पर चरने के बाद घासों की कमी होने पर जंगली खर पतवार तथा अन्य मोटे चारे चरती हैं तो उनमें यह रोग होता देखा जाता है।

प्रमुख रूप से हृदय के दायें भाग में दिखाई देने वाली अलिंदनिलय कपाटों (auriculo ventricular valves) के चारों ओर की थ्रॉम्बोसिस के लक्षण तथा कोरों अभि-

घातज हृदय-झिल्ली शाथ से बिल्कुल मिलते-जुलते हैं। हृदय की धड़कन तेज हो जाती है किन्तु सनसनाहट के शब्द के अतिरिक्त कोई भी असामान्य आवाज नहीं सुनाई देती।

जोड़ो की दीर्घकालिक दर्दयुक्त अवस्था का पाने से अभिघातज आमाशय शोथ समझा जा सकता है। पशु की हालत का धीरे धीरे गिरना, दर्द के कारण बार-बार अपना आसन बदलना तथा जमीन पर बैठे रहने का स्वभाव इसके प्रमुख लक्षण हैं। विभेदी निदान करते समय श्रोणि तथा श्रोणि स्नायु (pelvic ligament) अथवा कटि एवं त्रिक कशेरुकाओ (lumbar and sacral vertebrae) में लगी हुई चोटो, मोच तथा हड्डी की टूट-फाट और दानो ओर की जनन ग्रंथियों की शोथ पर भी विचार करना चाहिए।

दीर्घकालिक आमार्ति भी, दीर्घकालिक परिगत अभिघातज उदर-झिल्ली शोथ से मिलती-जुलती हो सकती है। खान पान में अरुचि, धीरे-धीरे हालत गिरते जाना तथा दबाने अथवा बन्द मुट्ठी से उदर तली में मारने से दर्द व कष्ट का अनुभव करना, इस बीमारी के प्रधान लक्षण हैं। यदि रोगी को बार-बार दस्त आने लगे हों तो सभवत: यह अभिघातज नहीं है। आमतौर पर एबोमेसम तथा ड्यूओडीनम के रोगो में रोगी की हालत कम गिरती तथा उसकी खान-पान में रुचि काफी अस्थिर रहती है।

गोणिकावृक्कशोथ (pyelonephritis) में मूत्र में विशेष प्रकार के परिवर्तन देखने को मिलते हैं तथा मलाशय एवं योनि में हाथ डालकर परीक्षण करने पर गुर्दे अथवा मूत्र नलिकाएँ बढ़ी हुई मिल सकती हैं।
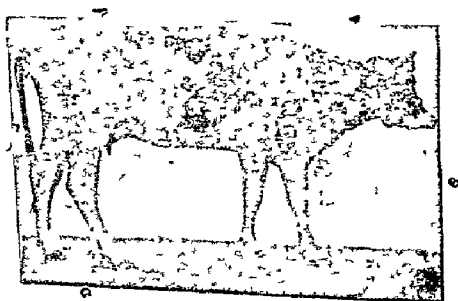
चित्र—10 अभिघातज हृदय झिल्ली शोथ की बढ़ी हुई अवस्था का रोगी, इसमें मुड़ी हुई पीठ, तना हुआ तलपेट तथा पीड़ायुक्त स्वभाव जैसे लक्षण देखिए।

एबोमेसम के घाव उग्र अभिघातज आमाशय शोथ से मिलते-जुलते हैं तथा इनके फटने पर 100 से ऊपर नाड़ी गति होकर रोगी पशु की मृत्यु हो जाती है।

ब्याने के तत्काल बाद होने वाली अम्लरक्तता में हालत का गिरना, चारे में अरुचि तथा थपथपाने पर पीड़ा आदि लक्षण अभिघातज आमाशय शोथ के लक्षणों की भाँति ही होते हैं। रॉस-परीक्षण (Ross test) द्वारा इन बीमारियों का विभेदी निदान किया जाता है। यह परीक्षण अम्लरक्तता रोग में सदैव धनात्मक होता है, किन्तु कभी-कभी अभिघातज आमाशय शोथ में भी धनात्मक हो सकता है।

किसी भी सपूय अवस्था में रक्त का परीक्षण करने पर उसमें न्यूट्रोफिलों की संख्या काफी बढ़ी हुई मिलती है। उदाहरणार्थ, अभिघातज आमाशय शोथ से पीड़ित एक रोगी में 82 प्रतिशत न्यूट्रोफिल पाये गए जब कि शरीर में इनकी सामान्य संख्या 10 से 30 प्रतिशत होनी चाहिए। जब रक्त से तैयार किये गये लेप में कोई वस्तु नहीं मिलती तो केवल हालत में गिरावट, चारे में अरुचि तथा थपथपाने से दर्द महसूस करने आदि लक्षणों से अभिघातज आमाशय शोथ के निदान करने में कुछ हिचकिचाहट होती है।

चिकित्सा—जैसा पीछे वर्णन किया जा चुका है, कुछ ही दिनों में रोगी की मृत्यु होकर हृदय झिल्लीशोथ तथा तीव्र विस्तृत उदर-झिल्लीशोथ नामक रोगों का अंत हो जाता है। पुरानी विस्तृत उदर-झिल्लीशोथ की वास्तव में कोई भी चिकित्सा नहीं है, यद्यपि कि इससे तत्काल मृत्यु नहीं होती। परिगत उदर-झिल्लीशोथ ही केवल ऐसी अवस्था है जिसे चिकित्सा करके ठीक किया जा सकता है। अभिघातज आमाशय शोथ का संदेह होने पर रोगी को मैग्नीशियम सल्फेट, बेरियम तथा टारटार-इमेटिक जैसे मृदुरेचक पदार्थों का सेवन नहीं कराना चाहिए क्योंकि इनके प्रयोग से पाचन विकार उत्तेजित होकर पशु कमजोर हो जाता है। शव-परीक्षण तथा पशु-वधगृहों की रिपोर्टों से पता चलता है कि परिगत अभिघातज उदर-झिल्लीशोथ दुधारू गायों में अधिक हुआ करती है। अतः ऐसे रोगियों में जिनमें कि प्राइमरी अपच और अभिघातज आमाशयशोथ में विभेदी निदान कठिन हो तथा रोगी की सामान्य हालत अधिक खराब न हुई हो, तो उसका आशाजनक इलाज करना चाहिए। रोगी के अगले पैरों को 8-10 इंच ऊँचे प्लेटफार्म पर रखने से शीघ्र आराम मिल सकता है। यह विधि काफी प्रचलित है किन्तु इसके प्रयोग से जब पशु अच्छा होने लगता है तो निदान कभी-कभी संदेहात्मक हो जाता है। भूसा और घास बाँधने के लिए तार के स्थान पर सुतली का प्रयोग करने तथा तारों की बाड़ की जगह बिजली के करेंट का इस्तेमाल करने से अभिघातज आमाशय शोथ के रोगियों की कमी होती देखी गयी है। किन्तु जब लक्षण घटते दिखाई न दें तथा रोगी की सामान्य हालत एवं दुग्ध उत्पादन में गिरावट होती जाये, तो आपरेशन करके अटकी हुई वस्तु को निकालने का प्रयत्न करना चाहिए।

आपरेशन करके अवांछित पदार्थ को शरीर से बाहर निकालना सन् 1863 में ओबिच[1] (Obich) ने बताया। खड़े पशु पर आपरेशन करने की उसकी विधि आजकल प्रयोग होने वाले ढंग से काफी मिलती-जुलती थी। वेंगर[2] (Wenger) ने रिपोर्ट किया कि ओबिच की विधि अनेक चिकित्सकों ने अपनायी किन्तु इससे आशातीत परिणाम न मिल सके। असफलता विशेषकर उन पशुओं में मिली जिनमें बीमारी काफी बढ़ चुकी थी। अपने ही अनुभवों से वे इस परिणाम पर पहुँचे कि रोग का प्रारम्भ में सही निदान करना काफी कठिन है तथा पशुओं के मालिक आपरेशन करवाना पसंद नहीं करते। ऊँची जमीन

पर खड़ा करके गाय के अगले धड़ को उठा हुआ रखने का प्रभाव कोल्ब[3] (Kolb) द्वारा रिपोर्ट किया गया है। इस स्थिति में खड़ा करने से ऐसा अनुमान किया जाता है कि अटका हुआ कील-कांटा आदि तेज नुकीला पदार्थ रेटिकुलम की गुहा में गिर जाता है। दूसरी विधि शोबर्ल[4] (Schoberl) द्वारा वर्णन की गई है। इस विधि के अनुसार गाय को पीठ के बल उल्टा लिटाते हैं और उरोस्थि के पीछे बायीं ओर की उदर-तली को पैर से दबाते हैं। शोबर्ल द्वारा वर्णन किया हुआ ढंग अधिक अच्छा नहीं सिद्ध हुआ। ढालू जमीन पर खड़ा करके गाय के अगले धड़ को ऊँचा रखने की विधि काफी प्रचलित है तथा रूएग[5] (Ruegg) ने इसे बड़ा ही अच्छा चिकित्सीय उपचार बताया है। चबूतरे का सामने का सिरा 8 इंच से कम ऊँचा नहीं होना चाहिए तथा फिसलने से बचाने के लिए एक टाट में लकड़ी की छोटी तथा पतली खपच्चें अथवा पुरानी रबर (होज पाइप अथवा टायर) के टुकड़े बेड़े तथा आड़े घुसेड़कर, इसे चबूतरे पर बिछा देना चाहिए। इस विधि के बारे में प्राप्त रिपोर्टों के अनुसार पशु की हालत में केवल अस्थायी सुधार हो सकता है।

शल्य-चिकित्सा करके अभिघातज चोटों को ठीक करने की विधि अमेरिका में बोस्हार्ट[6] और बार्डवेल[7] (Bosshart and Bardwell) ने बतायी। बोस्हार्ट ने 25 आपरेशन किये हुए रोगियों में से 19 को ठीक कर लिया। बार्डवेल ने 22 अप्रैल से 14 जुलाई सन् 1927 तक 12 आपरेशन किए जिनमें से 9 रोगी बिलकुल ठीक हो गए। तीन जो मर गए उनमें से एक का आपरेशन से पूर्व ही यह निदान किया गया कि वह न ठीक होने वाली हृदय-झिल्लीशोथ से पीड़ित है। दूसरे को विस्तृत उदर-झिल्लीशोथ थी जैसा कि 100 नाडी गति तथा 104 6° फारेनहाइट बुखार आदि लक्षणों से प्रकट होता था। तीसरा रोगी, बाहर से कील-कांटा आदि के प्रवेश से होने वाली यकृत की क्षीणता से पीड़ित था। न्यूयार्क स्टेट पशु-चिकित्सा विज्ञान महाविद्यालय के चल-चिकित्सालय में पांच वर्ष की अवधि में डा० गिब्स[8] ने 43 आपरेशन किए जिनमें से 29 रोगी बिल्कुल ठीक हो गए। कुछ तो ऐसे रोगियों का आपरेशन किया गया जिनमें यह पहले से ही जाहिर था कि बीमारी इतनी बढ़ चुकी है कि उनके ठीक होने की कोई आशा न है। इन रिपोर्टों से यह स्पष्ट है कि परिगत अभिघातज उदर-झिल्लीशोथ में सही निदान तथा शल्य चिकित्सा करके रोगी को आराम पहुँचाना प्रायः सम्भव होता है।
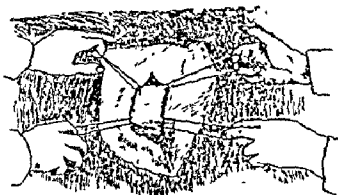
चित्र—11

इस अवस्था के लक्षणों का संक्षिप्त वर्णन करने के लिए निम्नलिखित तथ्यों पर ध्यान देना आवश्यक है : (1) बिना किसी प्रत्यक्ष कारण के खाने में अरुचि, जुगाली न फेरना

तथा थोड़ा-थोड़ा गोबर करना आदि अपच जैसे लक्षणों के साथ रोग का एकाएक आक्रमण होना, (2) शारीरिक क्षीणता, अकड़न, पुराने आक्रमण, बढ़ा हुआ गर्भकाल अथवा पुराने काटेदार तार की बाड़ की मरम्मत आदि होने पर तार, कील-काटा आदि निगलने का इतिहास मिलना, (3) दयनीय दशा, झुकाव, सीमित-चाल, पीठ का खुजलाना, कराहना तथा कुहनी अथवा उरोस्थि के पीछे थपथपाने या रीढ़ की हड्डी को दबाने पर दर्द का अनुभव करना, (4) बायीं ओर की कुहनी के पीछे के क्षेत्र में मांस पेशियों का कंपकंपाना, (5) नाड़ी गति 80, तेज श्वसन तथा दिन प्रतिदिन भिन्न रहने वाला 103° या अधिक बुखार, (6) औषधीय चिकित्सा का या तो असर ही न होना अथवा अपूर्ण रूप से रोग का ठीक होना, (7) अन्य रोगों का न होना।

नाड़ी गति 80 या अधिक तथा 104° या अधिक बुखार के साथ यदि लक्षण विसरित उदर-झिल्लीशोथ के सूचक न हों और साथ ही निदान सही हो तो रोगी का तुरन्त ही आपरेशन करना चाहिए। यदि नाड़ी-गति तथा तापक्रम अधिक हो तो रोगी को आपरेशन करने से पूर्व, दो-तीन दिन तक अथवा जब तक लक्षण कम न हो जायें खनिज तेल तथा उत्तेजक औषधियाँ खिलानी चाहिए। यदि केवल अभिघातज आमाशय शोथ का ही संदेह हो तो पशु के अगले पैरों को ढालू जमीन पर ऊँचा रखवाकर, प्रगति की प्रतीक्षा करनी चाहिए।

यह आपरेशन अब काफी अधिक किया जाता है। यह, उस समय अभिघातज आमाशय शोथ का ज्ञान कराता है जब कि बिना किसी प्रत्यक्ष कारण के पशु की हालत धीरे-धीरे गिरती दिखाई देने के अतिरिक्त अन्य कोई लक्षण नहीं मालूम पड़ता। इस अवस्था में आपरेशन करके तार अथवा काटे को बाहर निकाल देने पर पशु की हालत में शीघ्र सुधार होने लगता है।
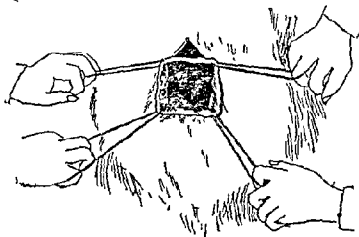
चित्र—12

आपरेशन—यह गाय को बंधी हुई अवस्था में कट्रोल करके अथवा मुहेड़ा बाँधकर किया जाता है। आपरेशन करने वाले स्थान के बाल काटकर उसे 1 500 ऐल्कोहलिक सब्लीमेट घोल अथवा ईथर, ऐल्कोहल तथा पिकरिक अम्ल से साफ करते हैं। लगभग 75–100 घ॰ सें॰ 1 प्रतिशत टुटोकेन (tutocain) घोल का त्वचा के नीचे तथा मांस पेशियों में इंजेक्शन लगा देते हैं। त्वचा में लगभग 6 इंच लम्बा चीरा लगाते हैं तथा मांस पेशियों और उदर-झिल्ली को त्वचा में लगे हुए चीरे के भांति ही काट देते हैं। चीरा लगे भाग के ऊपरी सिरे के पास रूमेन की दीवाल के बीच तांत के फीते से टाका भर देते हैं। फीते के सिरे कसने के बाद टेप को एक सहायक को पकड़ा देते हैं। ऐसा ही एक दूसरा फीता इससे 2 इंच पीछे रूमेन में बाँधा जाता है। तत्पश्चात् चीरा लगाए हुए स्थान के

निचले सिरे पर दो और फीते घुसेड़ दिये जाते हैं। अब विकिलप के दोनों ओर खड़े हुए दो सहायक ल्यूमन को उदर की दीवाल में लगे हुए चीर के बीच से खींचते हैं (चित्र 11)। ल्यूमेन को खोलते समय बंधे हुए फीतों से नीचे रहते हैं जिससे कि उसमें भरे हुए पदार्थ चीरा लगाए हुए घाव में न गिरें (चित्र 12)। ल्यूमन में भरे हुए चारे को निकालते समय घाव के किनारों को दूषित होने से बचाने के लिए एक सफ़ाई करने वाले धातु के अड्डे (छल्ले) का प्रयोग करते हैं जिसमें कि चारों ओर रबर का टुकड़ा लगा रहता है (चित्र 13)। इस छल्ले को सीधा घुमाकर चारों लगे स्थान से ल्यूमन में घुसेड़ते हैं जहाँ
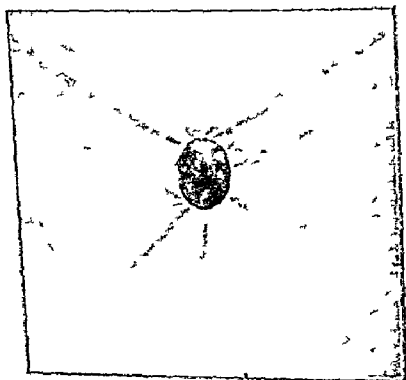
चित्र—13

इसे इस तरह फिट करते हैं कि ल्यूमन में भरे हुए पदार्थ इस प्रकार बनी हुई रबर की थैली के मध्य से निकाले जा सकें (चित्र 14)। ल्यूमन के ऊपरी भाग से ठोस पदार्थ को निकाल दिया जाता है। निचले भाग में भरे हुए अवतरल पदार्थ को छोड़ देते हैं, क्योंकि यह अग्र-आमाशयों के शरीर क्रियात्मक संकुचन के लिए कुछ आवश्यक समझा जाता है। तत्पश्चात् अवांछित पदार्थ (कील काँटा आदि) की खोज की जाती है। अधिकांश रोगियों में कष्ट पहुँचाने वाला पदार्थ इस प्रकार आसानी से पा लिया जाता है। रैटिकुलम की श्लेष्मलझिल्ली के मध्य बनी थैलियों का अंगुली के सिरे से भलीभाँति टटोलना आवश्यक हो सकता है। इसके चारों ओर उपस्थित मोटे अभिलागों को महसूस करके, इसकी स्थिति का पता लगाया जा सकता है। अवांछित पदार्थ को निकालते समय इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि अभिलाग फटने न पावें। अब रबर के टुकड़े को हटा दिया जाता है। कुछ आपरेटर इस स्थिति तक रबर की आस्तीन तथा दस्तान पहने रहते हैं और घाव में टाँके भरने से पूर्व दस्तानों को उतार देते हैं। अन्य कुछ लोग बिना दस्तान पहने ही उक्त क्रिया करना पसन्द करते हैं। कुछ दस्तान का बिल्कुल ही प्रयोग नहीं करते, अत

ऐसे मामले में यह आवश्यक हो जाता है कि घाव में टाँके भरने से पूर्व हाथो को भली भाँति साफ करके ऐल्कोहलयुक्त घोल से जीवाणुरहित कर लिया जाए। रूमेन तथा उदर की

चित्र—14

दीवाल में लगे हुए चीरो के किनारा को सूखी हुई साफ रुई अथवा कपडे से पोछ लिया जाता है। रूमेन के घाव को बन्द करने के लिए दो कतारो में दोहरी गाँठ वाले लेम्बर्ट टाके (Lembert sutures, No 3 20-day chromic catgut) भर देते है। सबसे ऊपरी टाँके के लम्बे सिरो को उस समय एक सहायक को पकडा देते है जब कि पहली कतार भरी जा रही हो। इसी प्रकार दूसरी कतार को भी पूरा कर दिया जाता है। तत्पश्चात् उदरझिल्ली तथा मास-पेशियो को एक साथ ताँत के धागे से इस प्रकार सिल देते हैं कि टाँके पास-पास रहें। उदर झिल्ली को अलग नही सिला जाता। त्वचा को सिल्क के धागे से टाँके भर कर बन्द कर देते है। बाद में टाके लगे भाग को रुई अथवा साफ कपडे से ढंक दिया जाता है। प्राय एक सप्ताह बाद टाके काट दिये जाते हैं। टाके काटने से पूर्व यदि बीच में ही घाव दूषित हो जाए तो उसका मल निकलने के लिए टाँके खोल देने चाहिए। दो-तीन दिन तक गाय को भारी चारे न खिलाइए और उसे शान्त रखिए।

सन्दर्भ

1. Obich, Wchnschr f Tierheilkunde u Viehzucht, 1863, p 1
2. Wenger, E, Gastritis traumatica beim Rind, Inaugural Diss, Bern 1910
3. Kolb Gastritis traumatica, Berliner tier Wchnschr, 1892, p 596
4. Schoberl, Monatsschrift f prakt Tierheilk u Viehzucht 1870, p, 211
5. Roegg J, Zur Diagnostik und Therapie der traumatischen Gastritis, Schweizer Archiv f. Tierheilk, 1922 64, 107
6. Bosshart, J. R, The early diagnosis and treatment of traumatic gastritis, Cornell Vet, 1926 16, 257

7. Bardwell, R H, and Udall, D H, The diagnosis and treatment of traumatic gastritis, Cornell Vet, 1927, 17, 302.
8 Gibbons, W J, Traumatic gastritis, Cornell Vet, 1932, 22, 312.

मेमनों में अत्याहार

(Overeating in Lambs)

(अपसन्यास, रक्तान्त्र विषाक्तता, अपच, जठरान्त्र शोथ, खाद्य मत्तता, "पिलपिला गुर्दा")

परिभाषा—मेमनों में रक्तान्त्र-विषाक्तता अधिक खिलाए गए पशुओं की उग्र प्राण-घातक अँतड़ी की सूजन है जो क्लास्ट्रीडियम वेल्चाई (Clostridium welchii) नामक जीवाणु द्वारा उत्पन्न हुआ करती है।

कारण—कोलारेडो से न्यूसम और थार्प[1] (Newsom and Thorp) ने रिपोर्ट किया है कि यह रोग अन्य कारणों की अपेक्षाकृत बांधकर खिलाए गए पशुओं का अधिक ह्रास किया करता है। कभी-कभी मृत्युदर 5 से 10 प्रतिशत तक पहुँच जाती है और कुछ रोग-ग्रसित पशु अच्छे भी हो जाते हैं। पशुओं को मक्का, जौ अथवा मटर के खेतों में चराना विशेषतौर पर हानिकारक पाया गया है। कोलारेडो में इस रोग का अधिक प्रकोप पशुओं का शीघ्र मोटा करने के लिए मक्का अथवा जौ जैसे दाने खिलाने के कारण होता है। इसमें पशुओं का खिलाने का समय पाँच माह से कम होकर 90 दिन हो जाता है तथा मोटा करने वाले और मारने वाले राशन में बहुत ही थोड़ा अन्तर रह जाता है। न तो एलर्न और न जई ही अकेले इस कष्ट का कारण बन सकती है। रोग प्रकट होने पर दो सप्ताह से लेकर एक माह तक मेमने भली प्रकार जीवित रहते मालूम पड़ते हैं। इस समय तक दाने के पौधों की पत्तियाँ तथा चरागाहों की घास खाई जा चुकी होती है। अत खिलाने के लिए केवल दाना ही शेष रह जाता है। कभी-कभी तेज हवाओं के चलने से इन सूखे पौधों का दाना काफी मात्रा में जमीन पर गिर जाता है। अत ऐसे स्थानों पर चराए जाने के बाद दूसरे दिन अधिक मेमने मरते दिखाई देते हैं। मृत्यु का कारण दाने का अधिक खा लेना तथा छोटी आँत की दीवाल से क्लास्ट्रीडियम वेल्चाई प्रकार "डी" नामक जीवाणु का जीव विष (toxin) शोषित होना है।[2] यह जीव विष दूध पीने वाले मेमनों की मृत्यु (पिलपिला गुर्दा रोग) के लिए उत्तरदायी है ऐसा क्लास्ट्रीडियम वेल्चाई, जीव-विषहर (antitoxin) की रक्षात्मक क्रिया द्वारा सिद्ध किया जा चुका है। चरागाह पर चराए गए प्रौढ़ पशुओं में भी यह रोग यदा कदा हुआ करता है। मेमनों में पिलपिला गुर्दा रोग तथा क्लास्ट्रीडियम वल्चाई प्रकार 'डी' का अलग करना सर्वप्रथम अमरिका में सन् 1936 में बाउटन और हार्डी[3] (Boughton and Hardy) द्वारा रिपोर्ट किया गया।

अधिक खाकर मरे हुए ममनों की छोटी आँत का पदार्थ लेकर अधस्त्वक् अथवा अंत शिरा इंजेक्शन द्वारा खरगोश, गिनी पिग, मूषिका, चूहों तथा ममनों को देने पर प्राय विषैला सिद्ध होता है। इस विषैले पदार्थ को मुँह द्वारा खिलाने पर प्रयोगात्मक रूप से रोग को उत्पन्न न किया जा सका।

विकृत शरीर रचना—सड़न बहुत जल्दी लगती है, अतः मृत्यु के तीन चार घंटे बाद यदि पशु की शव-परीक्षा की जाए तो गुर्दे बहुत ही मुलायम (गिलपिले) मिलते हैं। एब्रो-मेसम तथा छोटी आँत में सूजन हो जाने के कारण रोगी को खून मिले दस्त आने लगते हैं। जैसा कि मिलर[4] (Miller) द्वारा वर्णन किया गया है, अँतड़ी की दीवाल पर रक्त के बड़े-बड़े धब्बे मिलते हैं। इनको गलघोंटू रोग के क्षतस्थलों से अलग पहचानने के लिए काफी सावधानी बरतनी चाहिए। त्वचा, मांसपेशियों तथा हृदय में रक्तस्राव हो सकता है। हृदयावरक थैली (pericardial sac) में भूसे के रंग का सीरम भरा मिलता है। रोग के अति उग्र प्रकोप में शव-परीक्षण परिवर्तन अनुपस्थित हो सकते हैं। पशु की लाश को यदि मरने के तीन-चार घंटे बाद खोलकर देखा जाए तो "पिलपिला गुर्दा" तथा 2 से 4 सें० मी० व्यास के पीले-भूरे धब्बेदार आसानी से टुकड़ों में टूटने वाला यकृत स्पष्ट दिखाई देता है। यह परिवर्तन बाउटन तथा हार्डी[5] द्वारा रोग के नैदानिक लक्षण माने गए हैं। आहार-नाल, विशेषकर इलियम (छोटी आँत) तथा एबोमेसम (चतुर्थ आमाशय) का प्रसार होना अधिक महत्वपूर्ण है।

लक्षण—ऐंठन, लड़खड़ाना, मांस पेशियों का अनैच्छिक उग्र संकुचन जैसे मूर्छा-रोग के लक्षणों के साथ रोग का एकाएक आक्रमण होता है अथवा सवेरे को मेमने मरे हुए पाए जाते हैं। अधिकतर ऐंठन, चक्कर काटना तथा आगे को झुका रहना जैसे लक्षणों के साथ रोग की अवधि कुछ घंटों तक ही रहती है। रोग के उग्र प्रकोपों में रोगी के मूत्र में 2 से 6 प्रतिशत शकर पाई जाती है। हल्के प्रकोप में कै-दस्त, चारे में अरुचि तथा हालत का गिरना जैसे लक्षण प्रकट होकर कुछ दिनों में या तो रोगी अच्छा हो जाता अथवा मर जाता है। रोगी को लकवा मार सकता है जिसके कारण वह सप्ताहों तक उठ नहीं पाता। आस्ट्रेलिया में रक्तान्त्र-विपाक्तता रोग से पीड़ित मेमनों में पागलपन के लक्षण, मूत्र में शकर तथा शव-परीक्षण करने पर रक्तस्राव नहीं देखा गया। यहाँ इस रोग का कोई इलाज भी नहीं है।

रोग नियंत्रण के विषय पर बाउटन[6] लिखते हैं कि खिलाने के समय प्रारम्भ में ही जीवाणुगत-पदार्थ का इंजेक्शन देकर पशु के शरीर में रोग के प्रति सहन-शक्ति उत्पन्न कर देना अधिक अच्छा है। इस विधि द्वारा नवजात मेमनों का लगभग एक सप्ताह की आयु पर ही रोग प्रतिरक्षण (immunization) किया जा सकता है, किन्तु आर्थिक दृष्टिकोण से यह छोटे झुण्ड तथा मूल्यवान प्रजनक भेंड़ तथा मेढों के अतिरिक्त सार्थक नहीं है। सम्भोगकाल के अन्त में (अक्तूबर अथवा नवम्बर) भेंड़ों के टीका लगाने के पश्चात् ब्याने के लगभग एक माह पूर्व इसका दूसरा इंजेक्शन दे दिया जाता है। इस प्रकार माँ के शरीर से दूध में रोग प्रतिकारक (ऐंटीबाडी) पहुँचकर नवजात मेमने की रक्षा करते हैं।

"बांधकर खिलाए जाने वाले मेमनों को 24 से 48 घंटे तक भूखा रखकर इस रोग के प्रकोप को रोका जा सकता है। नवजात मेमनों को बाड़े में माँ के साथ रखने पर बीमारी एकाएक रुक जाती है। अच्छा होने के बाद पशु को थोड़ी-थोड़ी मात्रा में सूखी घास खिलाकर धीरे-धीरे पूरी खुराक पर लाना चाहिए।"

मथ[7] (Muth) की रिपोर्ट के अनुसार 3 अथवा 4 सप्ताह की आयु के मेमनों में रक्तान्त्र-विषाक्तता के असदेहात्मक प्रकोपों को रोकने के लिए एंटीसीरम से चिकित्सा करना लाभप्रद है। यह विधि काफी खर्चीली है तथा इससे उत्पन्न प्रतिरक्षा थोड़े समय तक ही रहती है। अत छोटे मेमनो में फिटकरी अवक्षेपित जीव-विषाभ (alum precipitated toxoid) का प्रयोग इस बीमारी से बचाव के लिए अधिक अच्छा माना जाता है। न्यूजीलैंड से बडिल[8] (Buddle) लिखते है कि "भेड को क्लास्ट्रीडियम वेल्चाई प्रकार 'डी' एनाकल्चर का दोहरा टीका देना इस बीमारी को रोकने में अधिक विश्वासनीय एव सस्ता ढंग माना गया है और अब यह इस प्रक्षेत्र में खूब प्रचलित है।"

डीम[9] (Deem) की रिपोर्ट के अनुसार चारे में गधक का प्रयोग, एक चौथाई औंस प्रति दिन हाथ से खिलाए जाने वाले मेमनो के लिए तथा आधा औंस स्वयं खाने वालो के लिए इस बीमारी से होने वाली क्षति को कम करता है, किन्तु अभी तक सामान्य तौर पर इसका मूल्याकन नही किया गया है। यूथ के गुप्रबन्ध द्वारा रोग नियत्रण की विधि का न्युसम[10] द्वारा वर्णन किया गया है।

सदर्भ

1. Newsom, I. E , and Throp, F., Jr , Lamb Diseases in Colorado Feedlots, Colo Exp. Sta Bull , 474, 1943, Fort Collins
2. Newsom, I E , and Thorp, F., Jr , The toxicity of intestinal filtrates from lambs dead of overeating J. A V M A , 1938, 93, 165.
3. Boughton, I B , and Hardy, W. T , Infectious enterotoxemia of young lambs, 49th An. Rep Tex. Agr. Exp Sta , 1936, p. 278
4. Miller, J. N , Diseases incident to fattening lambs J. A. V. M. A., 1940, 96, 24
5. Boughton, I B and Hardy, W. T , Infectious enterotoxemia (milk colic) of lambs and kids, Texas Sta Bull. 598, 1941
6. Boughton I B , Some sheep diseases, N. Am. Vet 1951, 32, 229.
7. Muth, O. H , Control of enterotoxemia (pulpy kidney disease) in lambs by the use of alum precipitated toxoid Am. J. Vet. Res , 1946, 7, 355.
8. Buddle, M. B., The production of immunity against Cl welchii Type D (enterotoxemia) Aust. Vet. J., 1941, 17, 3.
9. Deem, A. W., Esplin, A., and Jensen, R , Further work in the use of sulfur for the control of enterotoxemia in feeder lambs, J. A. V. M. A., 1948, 124, 458.
10. Newsom, I. E , Sheep Diseases, 1952, Williams & Wilkins.

घोड़ों में अपच

(Indigestion in Equines)

घोड़ों में अपच की तीन प्रमुख किस्में है : 1, उग्र आमाशयिक तनाव; 2, अवरोध और अफरा के साथ अतड़ी की अपच; तथा 3, सीकम और कोलन (बड़ी आंत) का अन्त्रपंट्टन।

परिभाषा—आहार-नाल के पदार्थों का किण्वन, सड़न, ठस कर भर जाना, अनियमित संकुचन एवं रसों का निकलना, मास पेशियों की ऐंठन (दर्द) तथा कुछ कुछ विषाक्तता एवं आंत्रार्ति जैसे लक्षणों के साथ खाने में अरुचि आदि घोड़ों में अपच के प्रमुख लक्षण है। यद्यपि कि प्राथमिक अपच एक क्रियात्मक गड़बड़ी है किन्तु यह शोथ तथा अन्य कार्वनिक परिवर्तनों में बदल सकती है। आंत्रशोथ, अँतडी में रुकावट तथा अन्य कार्वनिक रोगों के परिणामस्वरूप होने वाले ऐसे ही क्रियात्मक परिवर्तनों को अपच नही कहना चाहिए। अधिकाश रोगियों में इसका कारण दूषित आहार अथवा अनियमित रूप से खिलाना हुआ करता है।

कुछ प्रमुख लक्षणों, अथवा अवस्था के अनुसार इस बीमारी को विभिन्न नामों के अन्तर्गत वर्णन किया गया है। इस प्रकार इसके ऐंठनयुक्त शूल वेदना, उदर-शूल, वायु-शूल, व्यग्र आंत्र-शूल आदि नाम है। बेहरेन[1] (Behren) की रिपोर्ट के अनुसार इसका सही वर्गीकरण करना कठिन है क्योकि बर्लिन के अस्पताल में शूल-वेदना के 44 प्रतिशत रोगी छोटी अँतड़ी के गुम्व हो जाने के कारण थे और मारेक[2] (Marek) की रिपोर्ट के अनुसार बुडपेस्ट में 35 प्रतिशत रोगियों में व्यग्र आंत्र-शूल इसका कारण था। अपच के वर्गीकरण में दो मुख्य समूह है। एक में रोग के प्रकार तथा स्थिति को शारीरिक परीक्षण द्वारा जाना जा सकता है तथा दूसरे में नही। आमाशयिक प्रसार, सीकम तथा कोलन का गुम्व हो जाना और अफरा इसकी पहचानने योग्य अवस्थाएँ है। 50 प्रतिशत शूल वेदना के रोगियों का एक समूह ऐसा शेष रह जाता है जिसमें कि सही शरीर-रचनात्मक निदान असम्भव है। वे साधारण अपच है जिनमें कि गड़वड़ी के प्रकार तथा स्थिति का पता ही नहीं लग पाता।

संभवत. अधिकांश रोगियों में प्रारम्भिक गडवडी आमाशय में ही होती है क्योकि अधिक खा लेने का पहला प्रभाव यहीं पड़ता है। एकाएक होने वाले समस्त पाचन विकारो में, प्रमुख आमाशयिक लक्षणों की अनुपस्थिति में भी, यह तन जाता है। अनुभवों के आधार पर यह स्पष्ट है कि निदान को आहार-नाल के किसी विशेष भाग में सीमित करना प्राय: संभव नहीं हो पाता। उदाहरणार्थ, ताजा तैयार किया हुआ मोथा का भूसा पशु को खिलाने पर उसकी कोलन, छोटी आंत तथा आमाशय में अपच होकर अफारा हो जाता है जबकि मक्के का दाना अधिक खा लेने पर केवल आमाशय ही गुम्व होता है। अतः, रोग को भलीभाँति समझने के लिए कारण का पता लगाना नितान्त आवश्यक है।

कारण—पशु के खान-पान में गड़बड़ी इसका प्रमुख कारण है। इनमें सबसे आवश्यक कारण खुराक में एकाएक परिवर्तन होना है जैसे जई से मक्का में, पुराने दाने या चारे से नए में, तथा अच्छे से निम्न कोटि के राशन में परिवर्तन होना।

अधिक खा लेना, अँतड़ी तथा आमाशय के भयकर तनाव के लिए उत्तरदायी है। यह तब होता है जबकि पशु रात में खुले रहकर अधिक मात्रा में भारी दाने जैसे मक्का का दाना, जौ, मोथा, जई अथवा नए तैयार किए हुए दाने खा जाते है। फसल कटे हुए खेत में जब घोड़ों को बांध दिया जाता है तो वे नई सूखी घास, दाने अथवा अन्य ऐसे चारे खा लेते है जिनके लिए वे अभ्यस्त नहीं होते। ऐसी ही घटना हरी घास, जई तथा अन्य

चित्र—15. अपच (डब्ल्यू० जे० गिब्स के सौजन्य से)

चारे में परिवर्तन की भाँति अनियमित काम अथवा पूरी खुराक खाकर बिना काम किए सुस्त पड़े रहना आदि इसके अन्य कारण हैं।

थकान वसंत ऋतु के महीनों में जब घोड़ों की खुराक में बढ़ोतरी तथा अधिक कार्य करने का एकाएक परिवर्तन होता है, तब उन्हें उग्र अपच हो जाया करता है। थकान के प्रभाव से पाचन-तंत्र का अनैच्छिक पक्षाघात हो जाता है। ऐसा ही प्रभाव भूख तथा ठंड लगने के परिणामस्वरूप भी हुआ करता है। भारी सड़कों पर लम्बी यात्रा तथा रेलों पर यातायात करने से भी ऐसे ही परिणाम होते हैं।

भारी काम करने के बाद गरमाई हुई अवस्था में विशेषतौर पर खूब खा लेने के तत्काल बाद, एकाएक अधिक पानी पी लेने का इतिहास ऐसे रोगियों में अधिक मिलता है।

दूषित वातावरण तथा अपचनीय चारे की उपस्थिति के द्वारा वर्ष में मौसम के प्रभाव भी शूल वेदना से सम्बंधित है। वाल (Wall) के अनुसार तूफानी मौसम में शूल वेदना बढ़ जाती है। दिन भर की थकान तथा भूख के बाद जब पशु शाम का चारा खाता है तो वह प्रायः बीमार हो जाता है। किसी हद तक तापक्रम तथा नमी बढ़ने के बाद भी कभी-कभी दर्द हुआ करता है। पतझड़ की ऋतु में घोड़ों को किण्वित चारे, जाड़ों में रेशेदार मोटे चारे, तथा ठंडे मौसम में तुषारयुक्त जड़ें और घासें खिलाने से उनका पेट गुम्ब हो जाता है। फार्म के घोड़ों में वर्ष भर लगभग समान रूप से अपच हुआ करती है किन्तु मई से अगस्त तक अधिक कार्यकाल के समय में अपच के रोगी भी अधिक होते हैं। नवम्बर से अप्रैल के महीनों में सीकम तथा कोलन के गुम्ब होने के रोगी अधिक होते हैं तथा आमाशयिक तनाव अप्रैल से अक्तूबर तक अधिक होता मालूम देता है। मई से अगस्त तक के महीनों में कुछ कम उग्र अवस्थाओं की स्पष्ट बढ़ोत्तरी मिलती है जिनको केवल अपच निदान किया जाता है।

प्रकृति वैशिष्ट्य (Idiosyncrasy) : कभी कभी ऐसा घोड़ा भी देखने में आता है जो शूल वेदना के उग्र आक्रमणों से पीड़ित हुए बिना भारी दाने जैसे मक्का का दाना नही खा सकता। दूसरों में लालचवश जल्दी जल्दी खाना इसका कारण बनता है।

दाँतों की खराबी के कारण चारे को भलीभाँति न चबा पाने से पशु के पेट में लगातार अपच रहती है।

विकृत शरीर रचना—लेखक के चिकित्सालय में चिकित्सा पाने वाले घोड़ों में अपच से मरने वालों की संख्या 7 प्रतिशत थी जिसमें से आधे से कुछ अधिक पेट के फट जाने से मरे। दूसरों में सीकम, कोलन अथवा छोटी कोलन के गुम्ब हो जाने के साथ फट जाने के क्षतस्थल मिले, जिनकी प्रमुख स्थिति दाहिनी कोलन के ऊपरी भाग में थी। मरने से पूर्व पेट के फटने में सीरस झिल्ली का चीरा मासल दीवाल तथा श्लेष्मल झिल्ली की लम्बाई में बढ़ता है और सीरस झिल्ली के किनारों से रक्तस्राव होता है (चित्र 22)। इलियम के अंतिम भाग के गुम्ब होने में आमाशय तथा छोटी अँतड़ी में काफी मात्रा में तरल पदार्थ भरा मिलता है, कोलन तथा सीकम अपेक्षाकृत खाली होते है तथा इलिओसीकल वाल्व (ileocecal valve) के ठीक आगे सख्त ठुसा हुआ पदार्थ भरा मिलता है। रोगी की अँतड़ी में सूजन तथा पेरिटोनियल गुहा में सीरम का रिसाव हो सकता है।

लक्षण—नभी में बेचैनी, पसीना, तथा पैर फड़फड़ाने के साथ दर्द (शूल वेदना) के लक्षण मिलते है। रोग का आक्रमण प्रायः एकाएक होता है। चारे में एकाएक परिवर्तन होने अथवा पशु द्वारा अधिक खाए जाने के बाद यह लक्षण प्रकट हो सकता है, अथवा रोगी के अधिक थके होने के कारण यह दोपहर के कुछ पहले या अपराह्न में हुआ करता है। कोलन जब भूसा अथवा किसी अन्य ऐसे कड़े पदार्थ से ठूँस कर भर जाती है तो शूल वेदना धीरे-धीरे तथा किसी भी समय हो सकती है। रोगी का इतिहास लेने पर कारण का प्रायः पता लग जाता है। कई प्रकारों में तो रोगी दर्द से व्याकुल होकर अपने को बुरी तरह से

उलटता-पलटता है। कभी-कभी वह कुत्ते की भाँति अपने सीने के बल बैठकर अगले पैर फैलाता तथा शरीर को थोड़ा उठाकर रखता है। ऐसे अप्राकृतिक लक्षण उसके पेट के तनाव की ओर संकेत करते हैं। अँतड़ी-शोथ, उदर-झिल्ली-शोथ के विकसित होने अथवा पेट के फटने पर रोगी बड़ी ही सावधानी से चलता-फिरता है। कोलन के गुम्फ हो जाने पर रोगी ऐंठन व तनाव का अनुभव करता है।

सीकम के अग्रिम भाग में कष्ट होने पर दर्द बहुत ही तेज तथा लगातार होता है। जब क्लेश केवल कोलन तक ही सीमित रहता है तो दर्द प्रायः रुक-रुक कर हुआ करता है। आँख के कंजक्टाइवा की श्लेष्मल झिल्ली की लालामी कष्ट का मापक है। दर्द के हल्के प्रकोप में इसका रंग सामान्य रहता है किन्तु उग्र एवं प्राणघातक प्रकोपों में यह रक्तवर्ण हो जाती है। कोलन के गुम्फ हो जाने से पीड़ित लगभग 15 प्रतिशत रोगियों में नेत्र की श्लेष्मल झिल्ली पीली दिखाई देती है। आमाशय तथा अँतड़ी के उग्र प्रकोपों में यह अक्सर मौजूद रहती है। दोनों में, यह ड्यूओडीनम में क्लेश के कारण होती है। आक्रमण की भयंकरता के अनुसार रोगी की श्वसन तथा नाड़ी-गति बढ़ जाती है। रक्त के दूषित होने तथा सूजन के विकसित होने पर रोगी का तापक्रम भी बढ़ सकता है किन्तु मरने के कुछ पूर्व यह नार्मल से भी कम हो जाता है। आमाशय तथा अँतड़ी के रोग-ग्रसित होने पर रोग का कोर्स कम हो जाता है तथा चौबीस घंटे में बीमारी का अन्त होता दिखाई देने लगता है। जब अपच का स्थान कालन में होता है तो बीमारी की अवधि दो-तीन दिन से लेकर एक सप्ताह तक की हो सकती है। रोगी का इतिहास, रोग के आक्रमण तथा अवधि के साथ पाचन-तंत्र का भली भाँति परीक्षण करने पर रोग के प्रकार तथा स्थिति का पता लगाया जा सकता है।

1. उग्र आमाशयिक तनाव (Acute Gastric Dilatation) —प्राइमरी आमाशयिक तनाव प्रायः भारी, अपचनीय अथवा किण्वित होने वाले पदार्थों के अधिक खा लेने से हुआ करता है। वैसे तो यह बिना अधिक खाए, अवरोध के परिणामस्वरूप भी हो सकता है। अँतड़ी में किसी प्रकार की रुकावट जैसे जठर-निर्गम द्वार (pyloric orifice) के बन्द होने, ऐंठन अथवा पेरिटोनियल अभिलाग पड़ जाने पर आमाशयिक तनाव गौण रूप में भी हो सकता है।

पशु का मालिक, प्रायः खाने में एकाएक परिवर्तन होने, पशु के अचानक ही किसी फसल के खेत में घुस जाने, अथवा पूर्ण आहार खाकर एक या दो दिन तक बिना काम किए पशुशाला में बँधे रहने, या खाने के तुरन्त बाद पशु को भारी काम में लगा देने की रिपोर्ट करता है। अधिकांश रोगियों में खाने के थोड़ी देर बाद रोग का आक्रमण एकाएक होता है। दर्द बहुत ही तेज तथा लगातार होता है। एक-दो घंटे बाद रोगी ठीक हो सकता है अथवा तनाव व फटाव से 12 से 24 घंटे में या तो उसकी मृत्यु हो सकती है या पुनः स्वस्थ होने में दो तीन दिन का समय लग सकता है।

अत्यधिक उदासीनता, सिर को फर्श पर फैलाकर रखना, खूब पसीना आना, दयनीय दशा, अगले पैरों को आगे की ओर फैलाकर सीने के बल बैठना तथा रोग के प्रत्येक आवेग के साथ शरीर को उठाना, कुत्ते की भाँति बैठना, नेत्र की श्लेष्मल झिल्ली का लाल हो जाना

तथा बदबूयुक्त साँस आदि इस बीमारी के सामान्य लक्षण हैं। पशु के सींग तथा कान ठंडे पड जाते हैं। रोगी चलना पसंद नही करता और जब उसे जबरदस्ती चलाया जाता है तो वह बडी ही सावधानी से पैर उठाकर रखता है तथा उसकी चाल में अकडन मालूम पडती है। घोडा बडी ही बेदर्दी से जमीन पर गिरता, लोटता-पोटता तथा लातें मारता है। कुछ समय बाद वह चुपचाप खडा हो जाता अथवा बडी ही सावधानी से धीरे से लेट जाता है। नाडी-गति 70 से 120 होकर हल्की, मुलायम तथा कभी-कभी थोडा अदृश्य होती सी जान पडती है। नाडी गति 100 होना एक गम्भीर लक्षण है। श्वसन तेज तथा हल्का 30 से 50 के मध्य और तापक्रम 100 से 103° फारेनहाइट तक हो सकता है, जो मृत्यु के कुछ देर पहले प्राय नार्मल से भी कम हो जाता है।

जी मिचलाना, डकारना अथवा उल्टी करना आमाशयिक तनाव के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। ग्रासनली में ऊपर-नीचे लहरदार गति होती है। ऐसा आंशिक रूप से गैस के निकलने के कारण होता है, जो फेरिंक्स के निकट तक पहुँचकर पुन वापस आती है। उल्टी होने पर आमाशय के पदार्थ थोडी मात्रा में नथुनो से बाहर निकलते है। उल्टी हुए पदार्थ में खट्टी-खट्टी महक आती है तथा नथुनो पर खाए गए चारे के छोटे-छोटे टुकडे चिपके मिलते हैं। पेट में आमाशय-नलिका घुसेडने से लाली लिए हुए खट्टा तरल पदार्थ बाहर निकल सकता है, किन्तु यदि पदार्थ भारी है जैसा कि मक्का का दाना खाकर पेट के गुम्य हो जाने में होता है, तो आमाशय-नलिका से कुछ भी वापस नही आता। मलाशय-परीक्षण करने पर पशु जोर लगाता है।

खाए गए सूखे अथवा किण्वित होने वाले चारे के आधार पर, उदर थोडा फूला हुआ अथवा अपनी आकृति में सामान्य हो सकता है। लहरी-गति अस्थिर होती है। जब कोई आवाजें उपस्थित होती हैं तो वे अनियमित एव असामान्य होती है। हालत में सुधार होने पर लहरी-गति बढ जाती है। पशु के मलाशय में हाथ डालकर परीक्षा करने पर कभी-कभी प्लीहा की स्थिति में परिवर्तन पाया जाता है। यह पर्शुका मेहराब (costal arch) के पिछले किनारे के नीचे स्थिति होने के बजाय श्रोणि-गुहा (pelvis) के निकट हो सकती है। बहुधा ड्यूओडीनम का पिछला भाग तना हुआ पाया जाता है। ऐसी अवस्था प्राय किण्वित होने वाले खाद्य पदार्थ जैसे फल, सडी-गली सब्जियाँ, हरे चारे आदि खाने के बाद हुआ करती है।

पेट के फटने से, पशु अपना सिर नीचे किये हुए ठंडे पसीना से लथपथ तथा कांपता हुआ चुपचाप खडा रहता है। कञ्जक्टाइवा की श्लेष्मल झिल्ली रक्तवर्ण, नाडी गति 100 से ऊपर तथा अस्थिर और तापक्रम नार्मल से भी कम हो जाता है। लहरी-गति बिल्कुल ही अनुपस्थित होती है। मलाशय में हाथ डालकर परीक्षा करने पर अंतडी उदर-गुहा के निचले भाग पर पडी हुई निर्जीव सी जान पडती है तथा सीरस झिल्ली पर आमाशय से निकले हुए चारे के कण चिपक जाने के कारण वह खुरदरी प्रतीत होती है। मलाशय-परीक्षण करने पर रोगी दर्द का अनुभव कर सकता है।

कुछ पशुओं में अधिक चारा खाए जाने के बाद भी स्पष्ट लक्षण नहीं दिखाई पड़ते और कभी-कभी आमाशय के भयंकर तनाव में यह अनुपस्थित भी रहते हैं। यहाँ

निदान के लिए रोग के आक्रमण के ढँग, इतिहास तथा विभेदी निदान पर विचार करना चाहिए।

दीर्घकालिक तनाव वृद्ध पशुओं में हुआ करता है जहाँ यह शूल वेदना का कारण बनता है और यह उस समय उत्पन्न होता है जब कि पशु काम पर होता है। इसमें अफरा, दबी हुई लहरी-गति, उल्टी करना तथा गैस खारिज होने के लक्षण दिखाई देते हैं और आमाशय-नलिका घुसेड़ने पर पतला तथा बदबूदार तरल पदार्थ निकलता है। व्यायाम कराने पर रोगी बुरी तरह हाँफता है तथा उसे साँस लेने में कष्ट होता है। आमाशय-नलिका के प्रयोग से रोग का आवेग कम करने के बाद भी प्रतिक्षेपण होता रहता है। मलाशय-परीक्षण करने पर आमाशय बढ़ा हुआ तथा प्लीहा पीछे की ओर प्युबिस अस्थि के किनारे तक स्थित मिलती है। रोग का फलानुमान अच्छा नहीं होता क्योंकि ऐसे पशु साधारण काम के लिए बेकार हो जाते हैं।

2 अवरोध तथा अफरा के साथ अँतड़ी की अपच—वायुशूल, मरोड़ शूल तथा श्लेष्मान्त्र शूल (catarrhal intestinal colic) आदि इसके अन्य नाम हैं। समस्त उग्र अपचा के लगभग 70 से 80 प्रतिशत रोगी इसी समूह के अन्तर्गत आते हैं। रोग का कोर्स बहुत ही संक्षिप्त तथा लक्षण हल्के रूप में होते हैं। यह अवस्था कभी-कभी ही प्राण-घातक होती है तथा ऐसे रोगियों में आन्त्रशोथ भी देखने को मिलती है।

रोगी का इतिहास लेने पर अनियमित कार्य; चारे में परिवर्तन; अधिक खा लेना; बिछावन, दूषित चारा तथा सड़े गले मोटे चारे खाना, थकान, वृद्धावस्था, दाँतों की खराबी तथा स्वभावतः शूल वेदना जैसे अनेक अपच के लक्षण मिलते हैं। चारे का प्रकार तथा मात्रा ज्ञात करना रोग के निदान में, बहुत सहायक होता है। इस प्रकार सेब, हरी घास, लूसर्न तथा अधिक मात्रा में खेतों में खड़ी फसल खा लेने से दर्द तथा अफरा एवं अति तीव्र लहरी-गति के साथ आमाशय तथा अँतड़ी में अपच उत्पन्न हो जाती है। इसके विपरीत तूफानी हवाओं के प्रभाव एवं थकान के बाद अवरोध, मन्द लहरी-गति तथा अनेक अन्य अनिश्चित लक्षण प्रकट होते हैं।

सुबह को बीमार पाए जाने वाले अथवा काम करते समय, काम करने के बाद तथा चारा खाने के पश्चात् बीमार पड़ने वाले, दोनों ही प्रकार के पशुओं में रोग का आक्रमण एक जैसा ही होता है। आमतौर पर, ऐसा अनुमान किया जाता है कि खाने के तुरन्त बाद रोग का आक्रमण आमाशयिक तनाव के परिणामस्वरूप होता है। आहार में परिवर्तन, काम न करके सुस्त खड़े रहने, अचानक ही किसी चारे पर पहुँच, अथवा अपचनीय पदार्थों के खाने से इस रोग के होने की सम्भावना अधिक रहती है। पेट भरा होने के तत्काल बाद भारी काम लेने से पाचन एवं मल त्याग देर से होता है, और ऐसे पशुओं में रोग का आक्रमण खाने के दो या तीन घंटे बाद हुआ करता है।

दर्द की प्रकृति के अनुसार रोग के सामान्य लक्षण प्रायः मंद ही हुआ करते हैं। दर्द प्रायः रुक-रुक कर होता है जिसके कारण पशु उठता-बैठता, मूत्र त्याग करने की भाँति जोर लगाता, पैर उठाना-रखता, अपनी कोख की ओर देखता तथा सामान्य बेचैनी के लक्षण प्रकट करता है। नियम के अनुसार नेत्र की श्लेष्मल झिल्ली नार्मल रहती है यद्यपि कि

कुछ रोगियों में पीली भी दिखाई दे सकती है जब कि यह छोटी अँतड़ी में दर्द का होना प्रकट करती है। रोग की गंभीरता के अनुसार आँख की श्लेष्मल झिल्ली कम या अधिक रोग-ग्रसित हो सकती है। लगभग 75 प्रतिशत रोगियों में नाड़ी-गति 40 और 65 के मध्य होती है। अफरा में यह गति प्रायः 80 या अधिक हो जाती है। नाड़ी की गति के अनुसार ही श्वसन-गति भी होती है। रोग से पीड़ित 70 पशुओं में से 54 में यह 16 से 20, 12 में 30 से 36, तथा 3 में 40 से 50 के बीच थी। अफरा से पीड़ित रोगियों में यह गतियाँ सबसे अधिक थी। 200 रोगियों में से 16.5 प्रतिशत पशुओं में तापक्रम 90, 30 प्रतिशत में 100, 34 प्रतिशत में 101, 14 प्रतिशत में 102 तथा 5.5 प्रतिशत में 103 की श्रेणी में था। प्रमुख तौर पर बड़ी अँतड़ी के गुम्व होने तथा किसी हद तक आमाशयिक तनाव में 103° या अधिक बुखार हुआ करता है। इनमें से किन्हीं अवस्थाओं में तापक्रम प्रायः नार्मल हुआ करता है, किन्तु यह नार्मल से कम भी हो सकता है। लगभग 10 प्रतिशत रोगियों में पेट फूला हुआ मिलता है। लहरी-गति प्रायः सक्रिय होती है किन्तु यह अति तीव्र, अनियमित अथवा कुछ बढ़ी हुई हो सकती है। विशेषतौर पर वृद्ध पशुओं, तथा अवरोध में यह दबी हुई होती है।

पशु का मल सामान्य, सख्त, दस्त जैसा पतला, कम, अनुपस्थित, श्लेष्मायुक्त, खट्टा अथवा बदबूदार हो सकता है।

छोटी अँतड़ी के अवरोध तथा अफरा में रोग का आक्रमण एकाएक होकर उसका कोर्स संक्षिप्त होता है। मलाशय-परीक्षण करने पर बाईं कोख के क्षेत्र में तनाव पूर्ण भाग को पहचाना जा सकता है किन्तु गैस-युक्त तनाव की अनुपस्थिति में आन्त्रपाश (intestinal loop) को महसूस नहीं किया जा सकता। दर्द से मरे हुए 824 पशुओं के शव-परीक्षण करने पर वाल[3] (Wall) ने 3 प्रतिशत छोटी अँतड़ी के गुम्व हो जाने के रोगी पाए। इस हिस्से में अफरा तो पहचाना जा सकता है, किन्तु इसके गुम्व हो जाने का निदान कभी कभी ही हो पाता है। शव-परीक्षणों से ज्ञात हुआ है कि चारा इलियम के अंतिम भाग में इकट्ठा हुआ करता है। इसे संभवतः एक सख्त बेलनाकार सूजन के रूप में अँतड़ी में उस जगह पाया जा सकता है जहाँ कि बायें गुर्दे के पिछले सिरे के अनुप्रस्थ-तल (transverse plane) के निकट रीढ़ की हड्डी के दाईं ओर इलियम, सीकम के धरातल की ओर होकर गुजरती है। ड्यूओडीनम भी गुम्व हो जाया करता है जो वृहत मेसेण्टेरी (great mesentary) के धड़ के पीछे पूर्ण रूप से तना हुआ पाया जा सकता है। छोटी अँतड़ी में चूँकि तरल अथवा अर्धतरल पदार्थ ही अधिक हुआ करता है, अतः इसमें सूखा चारा यदा-कदा ही इकट्ठा हो पाता है। लेखक के चल-चिकित्सालय में देखे गए इलियम के गुम्व हो जाने के एक मामले को फिचर ने वर्णन किया है। शव-परीक्षण करने पर इलियम के अंतिम भाग में सख्त चारा भरा हुआ पाया गया, जिसके कारण रोगी की चौबीस घंटे के अन्दर मृत्यु हो गई। लगातार भयंकर दर्द, श्लेष्मल झिल्लियों का खूब रक्तवर्ण हो जाना, कभी-कभी मोने के बल बैठना, लहरी-गति की अनुपस्थिति तथा नकारात्मक मलाशय-परीक्षण इसके लक्षण थे। इलियम के अंतिम भाग के गुम्व होने में, जैसा कि हार्वे[5] (Harvey) द्वारा वर्णन किया गया है, चौबीस घंटे की अवधि के बाद रोगी की मृत्यु हो

गई। अत्यधिक दर्द, लहरी-गति की पूर्णरूपेण अनुपस्थिति और थोडा सा पेट फूल जाना इसके लक्षण थे। मलाशय में हाथ डालकर परीक्षा करने पर रोगी जोर लगाता था तथा तनी हुई छोटी अँतडी के छल्ले अँगुलियों से थपथपाने पर महसूस होते थे। हड्सन[6] (Hudson) लिखते है कि तीन वर्ष की अवधि में उन्होने इलियम के अंतिम भाग के गुम्ब होने के लगभग तीस रोगी देखे और उनके इस चिकित्सा काल में यही कारक रोगी की मृत्यु का सबसे प्रमुख कारण बना और ऐसा "जई के भूसे के टुकड़े, गेहूँ की कुट्टी अथवा राई का भूसा खिलाने के कारण हुआ। आमाशय तथा छोटी अँतडी में रुकावट के स्थान तक काफी मात्रा में तरल पदार्थ भरा हुआ पाया गया, किन्तु यह द्रव रुकावट होने के कारण आगे न बढ़ सका ....लक्षण बहुत ही निश्चित नही होते हैं।"

बड़ी अँतडी में अवरोध तथा अफरा को उदर के बडा हो जाने से अनुमान किया जाता है। मलाशय-परीक्षण करने पर ज्ञात होता है कि श्रोणि-गुहा अफारायुक्त अतड़ी से इतना भरी हुई है कि हाथ अन्दर कठिनता से बढ़ पाता है। उदर के आगे बायें भाग का अधिकाश भाग कोलन के बायें खण्ड से भरा रहता है। दाहिनी कोख में सीकम के अफारे को पहचाना जा सकता है। अतडी में पिलपिला पदार्थ भरा रहता है जो मल के रूप में बाहर आने पर श्लेष्मा से ढका हुआ दिखाई देता है। वृहदान्त्र योजनी (mesocolon) प्रायः तनी हुई पायी जाती है। सीकम और कोलन के अधिक भरे होने तथा अफारा में पहले इनके अपने स्थान से हटे होने का सदेह हो सकता है। ऐसा श्लेष्मल झिल्लियों के रक्तवर्ण होने, लहरी-गति की अनुपस्थिति तथा लगातार अफारा जैसे उग्र सामान्य लक्षणों के कारण होता है। पहले चौबीस घटों के बाद तक अटके हुए पदार्थ को आसानी से निकाला जा सकता है क्योंकि इस अवधि में रोगी की हालत अधिक खराब नही होती।

3. **कोलन तथा सीकम का अंतर्घट्टन**—यह छोटी अथवा बडी कोलन, तथा कभी कभी सीकम में सूखा पदार्थ जमा हो जाने के कारण होता है। मोटा, खुरदरा चारा इसका मुख्य कारण है। इथाका के चल-चिकित्सालय में चिकित्सा किए गए 100 रोगियों में से 20 प्रतिशत रोगी पहले भूसा तत्पश्चात् खराब किस्म की सूखी घास, ज्वार, मक्का की चरी, लूसर्न तथा मोटी घास खिलाने के कारण थे। अपच की अन्य प्रकारों की भांति बुढ़ापा, दांतों की खराबी तथा सुस्ती आदि कारण इसमें भी सहायक होते है। इसके लगभग 50 प्रतिशत रोगी अक्तूबर से जनवरी के महीनों में देखे गए।

एक तिहाई रोगियों में पहली बार देखने पर चौबीस घटे से कम अवधि तक ही लक्षण उपस्थित दिखाई दिए। दूसरों में दो दिन तक कब्ज, एक से तीन दिन तक आंशिक रूप से भूख में कमी तथा कुछ तीन से पांच दिन अथवा और अधिक समय तक बीमार रहे। जो पशु एक सप्ताह या अधिक दिनों तक बीमार रहे उनका सीकम अथवा कोलन का अंतिम भाग गुम्ब हो गया तथा लक्षण कुछ कुछ सविराम रहे। जब कभी किसी मालिक ने यह रिपोर्ट किया कि उसका घोडा एक या दो दिन से दर्द से पीड़ित है तो यह लगभग सदैव ही कोलन का गुम्ब हो जाना सिद्ध हुआ।

अन्य परिस्थितियों की अपेक्षाकृत इस अवस्था में दर्द कम तथा रुक-रुक कर होता है, किन्तु इसमें काफी विभिन्नता होती है। जब यह अधिक रेशेयुक्त मोटे चारे खाने से होता है तो इसका आक्रमण धीरे धीरे होकर प्रारम्भ में दर्द हल्का और कभी-कभी होता है। इसके विपरीत, ताजा तैयार किए हुए भूसे के खाने से उत्पन्न अफरा का आक्रमण एकाएक होता तथा इसमें लगातार दर्द होता है। अनियमित लहरी गति के साथ रुक-रुक कर होने वाला दर्द ऐंठनयुक्त शूल का सूचक है। कोलन के गुम्ब होने के लगभग 10 प्रतिशत रोगियों में घोड़ा इस प्रकार पीठ खलाकर खड़ा होता है जैसे कि पेशाब करने को हो। मल त्याग करने में ऐंठन की क्रिया कुछ कम हुआ करती है।

प्रारम्भिक लक्षण छोटी अंतड़ी की मन्द अपच के लक्षणों (रुक-रुक कर दर्द होना तथा अनियमित लहरी गति) से मिलते-जुलते हो सकते हैं। रोगी अच्छा होता हुआ मालूम देता है, किन्तु दूसरे दिन लक्षण और भी तेजी से पुनः प्रकट हो जाते हैं। कभी-कभी पशु गोबर कम करता है, किन्तु वह सामान्य रूप से खाता-पीता रहता है। 24 से 48 घंटे के अन्त तक अपच के लक्षण साफ दिखाई देने लगते हैं। आहार सम्बन्धी पूछताछ करने पर सदैव ही रेशेदार चारा खाने से "भूसा शूल" (straw colic का इतिहास मिलता है। पशु उठता-बैठता है किन्तु यह क्रिया बहुत तेज नहीं होती। ड्यूओडीनम में गौण प्रकोप के कारण श्लेष्मल झिल्लियाँ पीली पड़ सकती हैं। अपेक्षाकृत कुछ कम उग्र अवस्थाओं में यह रक्तवर्ण हो जाती है। श्वसन, नाड़ीगति तथा तापक्रम प्रायः सामान्य रहते हैं। 10 प्रतिशत रोगियों में नाड़ी गति बढ़कर 80 तक हो जाती है। कुछ को छोड़कर रोग के प्राणघातक प्रकार में तापक्रम 103° फारेनहाइट अथवा अधिक पाया जाता है, किन्तु अधिक बुखार रोगी के ठीक होने में बाधक नहीं होता।

लहरी-गति दबी हुई होती है, यद्यपि प्रारम्भ में छोटी अंतड़ी के ऊपर बायीं ओर अनियमित अथवा बढ़ी हुई आवाजें मौजूद हो सकती हैं। श्रोणि वंक (pelvic flexure) के थोड़ा सा गुम्ब होने पर लहरी-गति बढ़ी हुई तथा आवाजें काफी तेज सुनाई देती हैं। उदर का आकार प्रायः सामान्य ही रहता है। कभी-कभी यह थोड़ा फूल जाता है। रोगी कम अथवा बिल्कुल ही मल त्याग नहीं करता। मल सूखा, बादामी, सख्त, चिकना अथवा श्लेष्मयुक्त हो सकता है। मलाशय में उपस्थित पदार्थ सदैव ही सूखा होता है।

अन्तर्घट्टन की स्थिति प्रायः उस जगह होती है जहाँ पर बड़े व्यास वाला भाग तंग होकर समाप्त हो रहा होता है। ऐसी संकीर्णता उस स्थान पर पायी जाती है जहाँ सीकम के पदार्थ कोलन में होकर गुजरते हैं, जहाँ श्रोणि वंक पर कोलन का दूसरा खण्ड समाप्त होकर तीसरा प्रारम्भ होता है, और जहाँ चौथा खण्ड छोटी कोलन से मिलता है—जैसा आमाशय के समान, अनुप्रस्थ कोलन (transverse colon) में होता है। श्रोणि-वंक तथा बायीं निचली कोलन के गुम्ब होने को मलाशय में हाथ डालकर आसानी से पहचाना जा सकता है। बहुधा श्रोणि वंक भरा हुआ तथा सख्त होकर श्रोणि-गुहा में स्थित रहता है। बायें निचले कोलन के थपथपाने पर इसे आसानी से पा लिया जाता है। 5 प्रतिशत रोगियों में दाहिनी ऊपरी कोलन का अन्तिम भाग रोग-ग्रसित हो सकता है और यह अवस्था काफी भयंकर

होती है। रक्तमूत्र रोग के कारण काले रंग का पेशाब तथा पीलिया होना इसके लक्षण हैं। यह भाग मलाशय से लगभग एक हाथ की दूरी पर उदर के निचले अर्धभाग के मध्य-वर्ती भाग पर स्थित महसूस किया जा सकता है। यह गतिवान तथा सख्त होता और थपथपाने से इसमें दर्द होता है। दुबले घोड़ों में सूखे चारे खाने से मध्यच्छद वक्र (diaphragmatic flexure) पर कड़ापन हो सकता है। ऐसे रोगियों में चारा खाने के प्रति पूर्ण अनिच्छा होती है, किन्तु दर्द तथा सामान्य लक्षण अधिक स्पष्ट नहीं होते। गुदा में हाथ डालने पर पशु ऐंठकर जोर लगाता है तथा किसी भी समय इसके फटने से रोगी की मृत्यु हो सकती है। लेखक के अनुभव से सीकम का गुम्ब होना कम हुआ करता है तथा मलाशय-परीक्षण करने पर इसे कड़े पदार्थ के रूप में ऊपरी दायीं कोख के क्षेत्र में आसानी से पाया जा सकता है। दो सप्ताह या अधिक समय तक इस प्रकार रहकर यह फट जाया करता है। प्रारम्भ में गोबर कम अथवा बिल्कुल ही नहीं होता और अन्त में रोगी को दस्त आने लग सकते हैं।

छोटी कोलन के अन्तर्घट्टन का बायीं कोख के क्षेत्र में बेलनाकार, लघुकोशक (sacculated) सख्त सूजन से पहचाना जाता है। यह कभी-कभी होता है तथा अपेक्षाकृत इससे मृत्युदर अधिक होती है। यह दाएँ ऊपरी कोलन के अन्तिम भाग के गुम्ब होने के साथ-साथ हो सकता है। रोग ग्रसित भाग के फटने तथा लकवा मार जाने से रोगी की मृत्यु हुआ करती है। लेखक द्वारा अवलोकित एक छोटी कोलन के गुम्ब हो जाने के रोगी में मलाशय में पड़ी हुई ऐंठन न ठीक होने वाला अवरोध बन गई। इसका कोर्स एक सप्ताह या अधिक का हो सकता है।

फलानुमान—रोग का फलानुमान अधिकतर कारण के ऊपर निर्भर होता है। मोथे का भूसा, हरी लूसर्न तथा ऐसे ही अन्य मोटे चारे रोग की उग्र प्रकार उत्पन्न करते हैं। लेखक के चिकित्सालय में इलियोसीकल वाल्व के पिछले भाग के गुम्ब हुए 125 रोगियों में से 21 की मृत्यु हो गई। चाल[3] ने शूल से मरे 824 पशुओं का शव-परीक्षण किया जिसमें से 15 प्रतिशत रोगी बड़ी अतड़ी के गुम्ब हो जाने के मिले।

चिकित्सा—अपच के इलाज में मुख्य उद्देश्य दर्द तथा अफरा को नियन्त्रित करके आहार-नाल को अपने स्थान से हटने तथा फटने से बचाना है। साथ ही अँतड़ी को खाली कर लहरी-गति पुनः प्रारम्भ करने का उपचार करना भी जरूरी है।

सामान्य देखभाल—रोगी के लिए एक बड़ा, बिछौनेदार कमरा वाछनीय है। जब दर्द रुक रुक कर, बार बार काफी तेजी से होता हो तो रोगी का प्रबल गतियों से बचाने के लिए उसकी देखभाल एक परिचारक को करनी चाहिए, क्योंकि ऐसी गतियों से अतड़ी अपनी जगह से हटकर पशु की मृत्यु का कारण बन सकती है। लेखक के अभिलेख इस बात को प्रदर्शित करते हैं कि उन महीनों में जब अपच की दर काफी ऊँची होती है, अतड़ी की ऐंठन अधिक होती है। घोड़े को धीरे धीरे चलाकर अधिक तेज गतियों को कंट्रोल किया जा सकता है, किन्तु तेज व्यायाम हानिकारक है। नींद लाने वाली औषधियाँ दर्द को कम कर उग्रता को कंट्रोल करती है। 1 से 2 औंस (30-60 ग्राम) की मात्रा में क्लोरल हाइड्रेट को एक पिंट (20 औंस) पानी में घोलकर आमाशय नलिका द्वारा पशु को

पिलाना काफी अच्छा है। कैप्सूल में दिया हुआ क्लोरल हाइड्रास, आमाशय के अन्दर के पदार्थ सूखे होने पर, घुलने से रह जाता है। यह एक किण्वनरोधी पदार्थ भी है।

आमाशय का तनाव—यदि अन्दर के पदार्थ काफी सख्त नहीं होते तो अधिक खाने से उत्पन्न आमाशयिक तनाव को आमाशय-नलिका घुसेड़कर कम किया जा सकता है। अमेरिका में सामान्य रूप से प्रयोग होने वाली ऐसी नलिका का व्यास 3/4 इंच होता है और इसे नाक में से घुसेड़ा जाता है। यूरप में लगभग दुगुने व्यास वाली नलिका को मुँह के द्वारा घुसेड़ा जाता है। इस प्रकार निकाले हुए द्रव का रंग लाल होता है तथा इससे तीव्र खट्टी गंध आती है। नलिका से पदार्थ का निकालना पहले थोड़ा पानी डालकर शुरू किया जा सकता है। पेट में यदि मक्के का दाना अथवा रेशेदार मोटे चारे जैसे भारी पदार्थ भरे हों तो आमाशय-नलिका के प्रयोग से प्रायः बाहर नहीं निकलते और इस प्रकार थोड़ा या बिल्कुल ही आराम नहीं पहुँचता। फिर भी, यह मृदुरेचक तथा अन्य दवाएँ देने के लिए सुरक्षित एवं आसान विधि है। आमाशय के अफरा में, आमाशय-नलिका घुसेड़ने के बाद यदि कोई लाभ न हो तो पेट में ट्रोकार एवं कैन्युला घुसेड़कर गैस को निकाल देना चाहिए। घोड़ों में ट्रोकार को सत्तरहवें पर्शुकान्तराल के बीच ट्यूबरकोक्सी (कूल्हे की हड्डी) की सीध में घुसेड़कर दाहिनी कुहनी की ओर प्रवेश करते हैं। अफरा को कंट्रोल करने के लिए क्रियोलीन, तारपीन, अथवा एक औंस (30 ग्राम) देवदार के तेल को एक पिंट पानी में मिलाकर दिया जा सकता है। एरोमैटिक अमोनिया स्प्रिट 1 से 2 औंस (30-60 ग्राम); अमोनियम कार्बोनेट 4 से 8 ड्राम (15-30 ग्राम); कैप्सिकम (मिर्च), सोंठ तथा सोडियम-बाई-कार्बोनेट 1 से 2 औंस (30-60 ग्राम) की मात्रा में अन्य लाभकारी पाचक पदार्थ हैं। फर्गूसन[7] 1-2 औंस (30-60 घ० सें०) ऐल्कोहल को थोड़े पानी के साथ मिलाकर पिलाने की राय देते हैं। अधिक खाने से तने हुए पेट को आराम पहुँचाने के लिए ऐल्कोहल का प्रयोग काफी पहले से ही होता आया है। 4 से 6 ड्राम (15-25 ग्राम) सैलिसिलिक एसिड भी आमाशय के किण्वन को कंट्रोल करने के लिए बहुतायत से प्रयोग किया जाता है।

आमाशय के पदार्थ को मुलायम बनाने वाली मृदुरेचक औषधियों जैसे खनिज तेल 1 गैलन (4 लिटर), अलसी का तेल 1 क्वार्ट (1000 घ० सें०), एलोइन 4 ड्राम (15 ग्राम) अथवा 3/4 से 1 पौण्ड मैगनीशियम सल्फेट का प्रयोग करना चाहिए। इनको पाचक तथा किण्वनरोधी पदार्थों के साथ मिलाकर दिया जाता है। जब किसी मोटे चारे के अधिक खा लेने से भीषण कष्ट हो तो पशु को एक गैलन या अधिक खनिज तेल के साथ एक क्वार्ट अलसी का तेल अथवा एक पौण्ड मैग्नीशियम सल्फेट अथवा 2 ड्राम एलोइन देना चाहिए। खनिज तेल 12 से 24 घंटे के बाद पुनः दिया जा सकता है। आहार-नाल को खाली करने तथा आमाशय अथवा अंतड़ी को फटने से बचाने का उपाय करना चाहिए। उग्र आमाशयिक तनाव में तुरन्त ही भारी पदार्थ का प्रयोग करना हानिकारक हो सकता है। इसके लिए विधिवत चिकित्सा को हटाकर परिस्थिति के अनुसार ही इलाज करना चाहिए। सीकम में ट्रोकार घुसेड़ना तथा आमाशय में एक साथ एक या दो घंटे तक कैथीटर रखना आवश्यक हो सकता है। दो औंस ऐल्कोहल तथा क्लोरल हाइड्रास को एक

क्वार्ट (1000 घ० सें०) पानी में मिलाकर पिलाना बहुधा लाभदायक सिद्ध होता है। 2 से 4 ड्राम (8-15 घ० सें०) अर्क नक्स वामिका अथवा 1/4 से 1/2 ग्रेन (0 015-0 03 ग्राम) स्ट्रिक्नीन सल्फेट पाचन-तंत्र को उत्तेजित करने के लिए दिन में दो-तीन बार दिया जा सकता है। एरीकालीन हाइड्रोब्रोमाइड 1/4 से 1/2 ग्रेन (0 015-0 03 ग्राम) की मात्रा में प्राय हर प्रकार के दर्द में दिया जाता है किन्तु आमाशयिक तनाव में इसका प्रयोग संदेहात्मक है क्योंकि इससे पक्षाघात हो सकता तथा आमाशय की दीवाल फट सकती है।

अतड़ी का अफरा और अवरोध—अतड़ी के अफरा का ज्ञान होने पर उसमें ट्रोकार का प्रयोग करना चाहिए। छोटे, तेज तथा साफ औजार का प्रयोग करने से पशु जीवन का कोई भय नहीं रहता। ऐसा करने से दर्द तथा तनाव जो कि शरीर-क्रियात्मक कार्यों में बाधक होता है, समाप्त हो जाता है। अफरा से आराम पाने के लिए दाहिनी कोख के द्वारा ट्रोकार घुसेडकर सीकम में छेद करना चाहिए। यदि इससे सफलता न मिले तो बायीं कोख में ट्रोकार घुसेडकर सीधे कोलन से गैस निकाल देना चाहिए। जब तक अफारा से आराम न मिल जाए, यह क्रिया दोनों ओर बार-बार की जा सकती है। यदि अतड़ी में हरे चारे के किण्वन तथा गैस बनने से कष्ट हो तो कैन्युला के द्वारा 2 प्रतिशत फिनालीन घोल अथवा कोई अन्य किण्वनरोधी पदार्थ अन्दर डाल देना चाहिए। मलाशय की दीवाल के द्वारा फैले हुए अतड़ी के छल्ले में भी आसानी से छेद किया जा सकता है। इस कार्य के लिए एक 16 न० की 1½ इंच वाली बड़े नॉज़ल की हाइपोडरमिक सुई अधिक उपयुक्त है।

आमाशयिक तनाव की भांति इसमें भी मृदुरेचक तथा पाचक औषधियाँ लाभप्रद हैं। तनाव अधिक न होने पर, 1/4 से 1/2 ग्रेन (0.015-0 03 ग्राम) एरीकोलीन हाइड्रोब्रामाइड देकर लहरी-गति को उत्तेजित किया जा सकता है। आधे घंटे के अवकाश पर इस दवा को एक या दो बार और दे देना चाहिए। रोग के हल्के प्रकोप में एलोइन अथवा कोई अन्य दस्तावर पेय न देकर, पाचक औषधि, 1/2 ग्रेन (0 03 ग्राम) एरीकोलीन देना चाहिए तथा बराबर-बराबर मात्रा में देवदार का तेल, खनिज तेल तथा 2 औंस (60 घ० सें०) तारपीन के तेल का नुस्खा बनाकर हर आधा घंटे के अवकाश पर रोगी को पिलाना चाहिए।

एरीकोलीन के स्थान पर अधस्त्वक् इंजेक्शन द्वारा लेंटिन (2-4 घ० सें०) का प्रयोग भी किया गया है। यह वेगस (vagus) के द्वारा तन्त्राल तथा सीधे क्रिया करती है। आहार-नाल में इसके पहुँचने से अधिक मात्रा में पाचक रस निकलते तथा अतड़ी की लहरी गति बढ़ जाती है। यह नाड़ी गति को मंद करती तथा उसकी शक्ति को बढ़ाती है। आमाशय के अधिक भरे होने तथा रोगी के निर्बल होने पर इस औषधि का प्रयोग वर्जित है। एट्रापीन इसके प्रभाव को उदासीन करती है। यद्यपि इसको त्वचा के नीचे देने की राय दी जाती है, किन्तु 4 घ० सें० की आधी मात्रा को शिरा में तथा शेष आधी को त्वचा के नीचे इंजेक्शन देना अधिक उपयोगी है। इस प्रकार दवा देने से रोगी को तुरन्त ही दस्त शुरू हो जाते हैं। यह औषधि एरीकोलीन से अधिक सुरक्षित नहीं है।

तेज नाड़ी, भयंकर शूल, रक्तवर्ण श्लेष्मल झिल्लियाँ तथा दबी हुई लहरी-गति जैसे लक्षणों के साथ बीमारी के उग्र प्रकार में तेज मृदुरेचक दवाओं जैसे एलोइन अथवा तेल का प्रयोग करना चाहिए। अथवा, एक औंस (30 घ० सें०) ऐल्कोहल और एक औंस

क्लोरल हाइड्रेट को एक गैलन खनिज तेल में मिलाकर पिलाने के बाद 1/2 ग्रेन ऐट्रोपीन सल्फेट दीजिए। 24 से 48 घंटे के बाद फिर भी यदि रोगी मल त्याग न करे तो एक गैलन पानी में एक पौण्ड नमक घोलकर पशु को पिला दीजिए। यद्यपि कि ऐसे रोगियों में एरीकोलन देना अधिक प्रचलित है, फिर भी यहाँ इसका उपयोग प्रश्न-वाचक है। एरीकोलन देने के बाद नाड़ी का तेज चलना, अधिक दर्द होना तथा कमजोरी आदि लक्षण अँतड़ी के अपने स्थान से हटने अथवा फटने का सूचक हैं।

कोलन का अन्तर्घट्टन मृदुरेचक दवाओं के प्रयोग से ठीक किया जा सकता है। यदि सामान्य लक्षण अधिक उग्र न हों तो रोगी को तेल पिलाकर 10-12 घंटे बाद 1/4 से 1/2 ग्रेन (0.015-0.03 ग्राम) एरीकोलीन हाइड्रोब्रोमाइ दीजिए। अधिक उम्र वाले घोड़ों में तथा कोलन के अधिक गुम्ब होने पर एरीकोलन न देकर, रोगी को दिन में दो बार दो क्वार्ट (लगभग आधा गैलन) खनिज तेल तब तक पिलाइए जब तक कि अवरोधक पदार्थ मुलायम होकर बाहर न निकल जाए। इसमें तीन-चार दिन का समय लग सकता है, यद्यपि कि साधारण प्रकोप में 48 घंटे के अन्दर ही लाभ होने लगता है। इसमें सबसे बड़ा भय अँतड़ी के फटने का है। छोटी अँतड़ी की पीड़ा को 4 से 8 ड्राम (15-30 घ० सें०) क्रियोलीन देकर कंट्रोल किया जा सकता है। 1 पौण्ड (500 ग्राम) सोडियम अथवा मैगनीशियम सल्फेट को एक गैलन (4 लिटर) पानी में घोलकर आमाशय-नलिका द्वारा देना भी कोलन के गुम्ब होने में लाभप्रद है।

घोड़ों में अन्तर्घट्टन की चिकित्सा के लिए गर्म पानी का एनिमा देना बहुत दिनों से प्रचलित है। इतना अधिक प्रयुक्त होते हुए भी मलाशय अथवा छोटी कोलन के पिछले भाग में अवरोध होने के अतिरिक्त इसका प्रयोग अधिक लाभदायक नहीं है। अनेक ऐसी पिचकारियाँ बनायी गयी हैं जो पीछे की ओर पानी का बहाव बंद कर देती हैं। दो या तीन गैलन अथवा अधिक पानी इस आधार पर अन्दर चढा दिया जाता है कि यह कोलन में पहुँचकर वहाँ जमा हुए पदार्थ को मुलायम बनाता है। कुछ रोगियों में ऐसा करने से लाभ भी होता देखा गया है। प्राणघातक गुम्ब होने का स्थान अधिकतर दाहिनी अगली कोलन का अंतिम भाग हुआ करता है। कभी-कभी यह छोटी कोलन तक बढ़ जाता है। ऐसी अवस्था में एक विशेष प्रकार की मलाशय-पिचकारी लाभदायक है।

ग्रेट ब्रिटेन के डब्ल्यु० डब्ल्यु० लैंग[8] (W. W. Lang) द्वारा स्वीकृत, सीकम के गुम्ब होने की चिकित्सा में लैंग घोल (30 ग्राम सोडियम साइट्रेट, 30 ग्राम सोडियम क्लोराइड, 500 घ० सें० टपकाया हुआ पानी) का अंत:शिरा इंजेक्शन भी प्रयोग किया गया है। इसका काम प्यास को बढ़ाना है जिससे कि पशु अधिक पानी पीता है और इस प्रकार रुका हुआ पदार्थ मुलायम हो जाता है। इसका इंजेक्शन बहुत धीरे धीरे देना चाहिए। यह संदेहपूर्ण है कि रोग की चिकित्सा में इसके प्रयोग से खनिज तेल अथवा अन्य मृदुरेचक पदार्थों की आवश्यकता नहीं पड़ती, किन्तु यह एक लाभप्रद उपचार है।

ग्रेजेल[9] (Grutzl) लिखते हैं कि वीना-चिकित्सालय में निम्नलिखित चिकित्सा कोलन के अन्तर्घट्टन में आराम पहुँचाने के लिए लाभदायक पाई गई : 2 से 3 क्वार्ट (2-3 लिटर) द्रव पैरेफिन दिन में एक या दो बार और 14 क्वार्ट (14 लिटर) गर्म

पानी नित्य रोगी को आमाशय नलिका द्वारा दिया गया। रोगी को 3/4 से 1½ ग्रेन (0 045 से 0 09 ग्राम) की मात्रा में राजाना ऐट्रापीन सल्फेट भी मिला।

कोलन के गुम्म हो जाने की चिकित्सा के लिए कार्लाइल[10] (Carlisle) लिखते हैं कि इसका केवल यही उपचार है कि किसी भी प्रकार अवरोधक पदार्थ को तोड़ दिया जाए। अटके हुए पदार्थ के पास कोलन के ऊपर अथवा नीचे से हाथ पहुँचा कर इसे श्रोणि-गुहा की ओर घसीटने का प्रयत्न करिए। जब अटका हुआ पदार्थ श्रोणि-गुहा तक आ जाए तो इसे श्रोणि-मेखला के किनारे से रगड़ रगड़ कर छोटे छोटे टुकड़ों में तोड़ दीजिए। ऐसा करने में एक घंटा या अधिक समय लग सकता है।

किसी भी प्रकार की अपच के कारण उत्पन्न उदासीनता और कमजोरी को 40 प्रतिशत डेक्सट्रोज घोल (500 घ० सें०) तथा 20 प्रतिशत कैल्सियम ग्लूकोनेट घोल (500 घ० सें०) के साथ काफी मात्रा में नार्मल सलाइन घोल (2500 से 5000 घ० सें०) का अंतःशिरा इंजेक्शन देकर दूर किया जा सकता है। अपच के साथ होने वाले गुमनाक के आक्रमण में पहले 24 घंटों में खुर के चारों ओर बर्फ की पट्टी दीजिए। तत्पश्चात् रोगी को दिन में तीन या चार बार थोड़ा थोड़ा नित्य चलाइए। यदि मौसम ठीक हो तो लँगड़े घोड़े को चरागाह अथवा बाड़े में खुला छोड़ दीजिए।

बचाव—यदि घोड़ा पानी में भीगकर हवा में चलकर अथवा थककर आया हो और भूखा हो, तो उसके शरीर का पोछ व रगड़ कर सुखा दीजिए तथा 1 क्वार्ट से अधिक पानी पीने को न दीजिए। इसके बाद थोड़ी सी सूखी घास भी खिलायी जा सकती है। घास खिलाने के एक घंटे बाद 4 से 5 पौण्ड तक दाना खिलाइए।

संदर्भ

1 Behren, Klinische Beobachtungen uber Ursachen, Diagnose, Krankheitsverlauf und Behandlung der Kolik des Pferdes, Monatsh f prakt Tierheilk, 1910, 22, 97

2 Hutyra, Marek, and Manniger, Path and Ther of the Dis of Domestic Animals, ed 4, Eng, Chicago, Eger, 1938 vol 2, p 149

3 Wall, Die Kolik des Pferdes, Stockholm 1928

4 Fincher, M G, Impaction of the terminal portion of the ileum, case report, Cornell Vet, 1935 25 289

5 Harvey, F T, I Impaction of the terminal portion of the ileum in the horse, Veterinary Record, 1936, 48, 637

6 Hudson R Impaction of the ileocecal valve of the horse, Vet J 1936, 92, 50

7 Ferguson T H, Acute indigestion in the horse, N Am Vet, April, 1935, 16, 17

8 Lang W W Common salt and some other agents their uses in certain conditions, Vet Record, 1936, 48, 879

9. Gratzl, E., Treatment of impaction of the cecum of the horse, abs. Cornell Vet., 1936, 26, 131, from Wien, tier. Monatsschrift, 1934, 21, 721.
10. Carlisle, B. E., Equine colics, their diagnosis and treatment, Fort Dodge Bio-Chemic Rev., 1941, 15, No. 3.

कब्ज
(Constipation)

अँतड़ी में भरे पदार्थ का देर से बाहर निकलना कब्ज कहलाता है। प्राथमिक रूप से यह रोग अपचनीय मोटे चारे खाने से उत्पन्न हुआ करता है। कब्ज के कुछ रोगी तो कुछ तीव्र अथवा दीर्घकालिक अपच से निकटतम संबंधित होते हैं तथा अन्य उग्र शूल वेदना से मिलते-जुलते हैं। आयु तथा जाति के अनुसार कब्ज कई प्रकार का हुआ करता है। दूध से एकाएक मोटे चारे में परिवर्तन होने अथवा सूखी घास के अधिक रेशेदार होने पर यह रोग छोटे बछड़ों में अधिक देखने को मिलता है। छोटे बछड़ों के पेट में रेशेदार चारे के दुष्परिणाम; नवजात बच्चों के रोग वाले अनुभाग में वर्णित हैं। कुछ बड़े बछड़ों में इस अवस्था और अपच के बीच अथवा कब्ज के साथ दस्त रोग में कोई विशिष्ट अन्तर नहीं है। रोग-ग्रस्त पशु बहुत ही निर्बल हो जाता, शरीर-भार कम होने लगता, बाल लम्बे हो जाते तथा खान-पान में उसकी रुचि मंद पड़ जाती है। अच्छा चारा देने पर भी पशु चारे के डंठल तथा दूषित बिछौना आदि खाना पसंद करता है। यदि पशु अब भी गंदा चारा खाता है तो तैलीय मृदुरेचक पदार्थ देने से केवल अस्थायी लाभ ही होता है। रोग का कोर्स अनिश्चित है। बहुधा इसका निश्चित रूप से निदान भी नहीं हो पाता। बछड़े में केवल इतना पता चलता है कि किसी अज्ञात कारणवश वह पनप नहीं पा रहा है। निराशा तथा हालत के गिरने से पशु की दशा बहुत ही दयनीय हो जाती है। कब्ज के साथ रोगी को दस्त आकर इतना कमजोर कर देता है कि थकावट से उसकी मृत्यु हो जाती है। दूध पीने वाले बच्चों में अथवा जिनका दूध हाल में ही छुड़ाया गया हो उनको मोटे चारे खाने से बचाने के लिए सर्वोत्तम उपाय यह है कि उनके मुंह में मुसीका लगा दिया जाए। उन्हें पालने वाली गाय के पास छोड़ देने पर 4 से 6 सप्ताह की उम्र वाला बच्चा शीघ्र ही प्रगति करने लगता है। आवश्यकतानुसार मृदुरेचक तथा क्षुधावर्धक पदार्थों का सेवन भी गुणकारी है। बछड़ों को अच्छी किस्म की सूखी घास देकर इस कष्ट से बचाया जा सकता है। जून में काटी हुई बरसीम मिश्रित सूखी घास सर्वोत्तम है।

ऐसी ही अवस्था एक वर्षीय तथा युवा बछड़ों में प्रमुख तौर पर जाड़े के प्रारम्भ के दिनों में होती देखी गई है जब कि वे अपनी खुराक में चरागाह की घास से अधिक पकी हुई तथा अधिक सुखाई हुई घास पर परिवर्तन करते हैं। यह रोग पशुओं के बिछावन के लिए प्रयोग होने वाले लकड़ी के बुरादे, छीलन अथवा मोथा के छिलके जैसे अपचनीय पदार्थों को जान बूझ कर खाने से भी हो जाता है। पशु छीलन तथा लकड़ी के बुरादे को दाने की भांति ही खा सकता है। इसके लक्षण विशेष प्रकार के होते हैं। पशु का कद छोटा, बाल बढ़े हुए, सिर बड़ा, तथा सामान्य दशा गिरी हुई प्रतीत होती है। कब्ज काफी तेज होकर लगातार रहने लगता है। गोबर सख्त, काला तथा थोड़ा होता है। रोग जब

भलीभाँति शरीर में प्रवेश कर चुका होता है तो अच्छी खुराक देने के उपरान्त भी मौजूद रहता है। अधिक मात्रा में पानी तथा रसीला चारा देना, नित्य व्यायाम कराना, मृदुरेचक प्रभाव उत्पन्न करने के लिए समुचित मात्रा में खनिज तेल तथा क्षुधावर्द्धक पदार्थ खिलाना ही इसकी चिकित्सा है। अपच में दिया जाने वाला कार्ल्सबाद लवण (Carlsbad salts), नक्स वामिका तथा जेंशियन का नुस्खा भी इस रोग में गुणकारी है। पशु का शीरा खिलाने से भी हालत में सुधार हो सकता है।

मोटी घास अथवा बरसीम की रेशेदार खुराक (विशेषकर अधिक पकी और अधिक सुखाई हुई) खिलाने से घोड़ों में चारे के प्रति अरुचि उत्पन्न होकर, वे लीद कम करने लगते हैं। कोलन के गुम्न होने का अनुमान किया जा सकता है किन्तु मलाशय-परीक्षण ऋणात्मक होता है। पशु को केवल कब्ज होता है। मल (लीद) गहरा बादामी, "जला हुआ सा" चिपकना तथा श्लेष्मा से आच्छादित रहता है। पशु का पीलिया भी हो सकती है। उदर पतला पडकर लहरी-गति निर्बल तथा अनियमित हो जाती है। कभी-कभी ऐसी ही अवस्था गाया में भी देखने को मिलती है। दूध तथा गोबर मात्रा में धीरे धीरे कम होने लगता है और रोगी को अम्लरक्तता हो सकती है। घोड़ों में, अधिक आयु अथवा अधिक कार्य के कारण कमजोरी, खराब दाँतों से चारे का भलीभाँति न चबाया जा सकना, अथवा परजीविता आदि कारण उसकी हालत को और भी अधिक गिरा देते हैं। मल सूखा तथा बादामी होकर उसमें अपचनीय चारा अथवा श्लेष्मा मिला होता है। प्रौढ पशुओं के कब्ज में कारण का निदान करके उसे हटाना तथा बाद में क्षुधावर्धक पदार्थों का सेवन कराना शीघ्र लाभ पहुँचाता है।

आंत्र-अवरोध

(Intestinal Obstruction)

मल त्याग करने में कोई भी विघ्न पड़ना आन्त्र-अवरोध है। यह आमाशय अथवा अँतड़ी के अपने स्थान से हट जाने, उसमें कोई चीज अटक जाने, दबाव पड़ने अथवा सिकुड़ जाने के परिणामस्वरूप हुआ करता है। अँतड़ी में बचे हुए चारे के कारण तथा अन्य कारणों से उत्पन्न होने वाली रुकावट के बीच कोई विशेष सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती। पहले को अपच के अन्तर्गत वर्णन किया गया है।

वाल्वुलस

(Volvulus)

(मरोड़, आन्त्र-बन्धन)

अँतड़ी का अपनी ही अक्ष रेखा पर अथवा मेसेन्टेरिक अक्ष रेखा के चारों ओर घूम जाने से उत्पन्न होने वाली यह एक उग्र रुकावट है। घोड़ों में यह आन्त्र-अवरोध की प्रमुख अवस्था है तथा अन्य जाति के पशुओं में यह कम हुआ करती है। प्राप्त आँकड़ों से पता चलता है कि घोड़ों की शूल वेदना में 55 प्रतिशत मृत्यु तथा 5 प्रतिशत अस्वस्थता ऐंठन के कारण हुआ करती है। लेखक के चल-चिकित्सालय में चिकित्सा किए गए शूल वेदना के 715

रोगियों में से 6·7 प्रतिशत तथा शव-परीक्षण करने पर 40·7 प्रतिशत ऐंठन के रोगी मिले। इनमें से 40 प्रतिशत में कोलन तथा 60 प्रतिशत में छोटी अँतड़ी रोग ग्रस्त मिली। अँतड़ी की ऐंठन या तो मेसेण्टेरिक अथवा अँतड़ी के एक खण्ड के दूसरे आन्त्रिक छल्ले के चारों ओर घूम जाने के कारण होती है। इलियम अपनी लम्बी मेसेण्टरी के साथ प्रायः इस मरोड़ का स्थान बनती है। कोलन की ऐंठन में अँतड़ी मध्यच्छद-मोड़ पर अपनी लम्बवत अक्ष रेखा के चारों ओर घूम जाती है। कोलन का सीकम के धरातल पर घूम जाना और कभी-कभी सीकम को भी शामिल कर लेना, बाईं निचली तथा ऊपरी कोलन का सीकम के चारों ओर घूम जाना, सिरे के निकट सीकम की ऐंठन, छोटी कोलन की मरोड़, अथवा श्रोणि मोड़ के पास कोलन का ऐंठ जाना, तथा गो-पशुओं विशेषकर बछड़ों में आमाशय की मरोड़ इस रोग की विरल प्रकार हैं।

कारण—दर्द के साथ होने वाली अपच इसका प्रमुख कारण है। अधिकांश रोगियों में अँतड़ी के असमान रूप से भरे होने के साथ लोटना-पोटना तथा उग्र गतियाँ आदि कारक इसका कारण बनते हैं। लेखक के अनुसार अक्तूबर तथा नवम्बर में अपच अधिक होती है और इन महीनों में 40 प्रतिशत अँतड़ी की ऐंठन के रोगी पाये जाते हैं। प्राइमरी रोग; आमाशयिक तनाव, कोलन का गुम्ब हो जाना अथवा दो या तीन दिन तक रहने वाला कोई पाचन-विकार हो सकता है। अन्य रोगियों में निरन्तर शूल वेदना, काम करने के बाद शरीर गर्म होने पर ही ठंडा पानी पी लेने अथवा अपच के अन्य कारणों का इतिहास मिलता है।

अपच पर आधारित न रहकर अँतड़ी का बलकृत विस्थापन (mechanical desplacement) भी हुआ करता है। ऐसा उन घोड़ों में देखने को मिलता है जो गिराए जाने के समय कूदते-फाँदते अथवा किसी ऊँचे स्थान (टीला आदि) के ऊपर से लुढ़क जाते हैं। ऐसा करते समय रोग का एकाएक आक्रमण होना कारण को स्वयं ही स्पष्ट कर देता है। प्रायः ऐसा कहा जाता है कि फौजी घोड़ों की जंगी चालें खासतौर से उन्हें अँतड़ी की ऐंठन के लिए ग्रहणशील बना देती हैं।

घोड़ों में इस रोग के पुरः प्रवर्तक कारक इलियम की लम्बी मेसेण्टरी तथा कोलन के स्वतंत्र भाग में पाये जाते हैं।

विकृत शरीर रचना—अँतड़ी की ऐंठन से उदर-गुहा में लाल रंग का सीरम रिस-रिस कर इकट्ठा हुआ मिलता है। इसकी मात्रा ऐंठन में संलग्न अँतड़ी की लम्बाई पर निर्भर होती है। दबाव पड़ने वाले स्थान के पीछे के प्रायः सभी भाग फूल जाते, काले पड़ जाते, दीवालें मोटी हो जातीं तथा इसके अन्दर के पदार्थ गहरे रंग के सीरम से रँगे दिखाई देते हैं। कभी-कभी जब अँतड़ी को उदर से अलग किया जाता है तो उसमें पड़ी थोड़ी ऐंठन खुल भी सकती है। तब इस स्थान को यहाँ पड़े हुए काले निशान से पहचाना जाता है, जो शेष अँतड़ी से बिलकुल अलग दिखाई देता है।

लक्षण—लगातार भीषण दर्द के साथ रोग का आक्रमण एकाएक होता है। प्रायः सुबह को घोड़े के शरीर पर खरोंच के रूप में अनेक चोटें दिखाई देती हैं और वह जमीन पर ही पड़ा रहना चाहता है। तेज व्यायाम तथा गिरने अथवा गिराए जाने का इतिहास

सका सूचक है। सामान्यतौर पर तत्कालिक इतिहास भिन्न होता है। पहले दर्द धीरे-
रे होता मालूम देता है किन्तु अधिकांश रोगियों में निराशा, व्यग्रता, क्लेश, मूर्छा, पसीना

चित्र—16 सीकम तथा कोलन की ऐंठन, A, कोलन की नलिकाओं का तनाव जिसे मलाशय-परीक्षण द्वारा श्रोणिक पर दर्दयुक्त बड़े टुकड़े की भांति महसूस किया जा सकता है, B, D, C. आमाशय, छोटी आंत तथा छोटी कोलन, जिनमें से प्रत्येक नार्मल है। गहरे रंग की सीकम और कोलन ऐंठन में सम्मिलित थी।

आना तथा तीव्र गतियों के लक्षण दिखाई पड़ते हैं। बाद में घोड़ा शान्त तथा झुकी हुई स्थिति में पड़ा या खड़ा मालूम पड़ता है। खड़ा होने पर; पैर थपथपा कर, उदर तली पर मार कर, गर्दन का कोख की ओर मोड़ कर तथा इधर-उधर घूमकर रोगी दर्द के लक्षण प्रकट करता है। आमाशयिक तनाव की भांति पशु का सिर जमीन तक झुक सकता है तथा कान लटक जाते है। चित्र 17 की भांति घोड़ा अपने शरीर को तान कर खड़ा होता है। समय-समय पर रोगी पशु अपने शरीर को झुकाकर इस प्रकार जमीन तक ले जाता है जैसे

कि वह लेटने को हो और बाद में धीरे से पुन: उठ खड़ा होता है। कुछ रोगी, कुत्ते की भाँति बैठते देखे जाते हैं। अंत में दर्द कम हो जाता है तथा पशुपालक रोगी को अच्छा होता समझने लगता है। धीरे धीरे पलकों की श्लेष्मल झिल्लियाँ रक्तवर्ण हो जाती हैं। पशु जोर-जोर से गहरी साँस लेता है तथा श्वसन-गति भिन्न हो जाती है। प्रारम्भ में
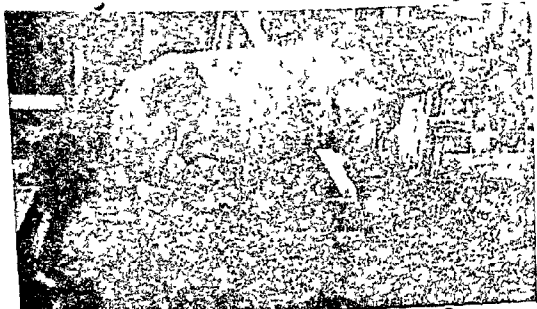
चित्र—17 छोटी आँत की ऐंठन से पीड़ित पशु। इसमें निराशाप्रद आकृति, गिरे हुए कान तथा फैले हुए नथुने आदि लक्षण देखिए (डब्ल्यू० जे० गिबन्स के सौजन्य से)

नाड़ी गति 50 से 70 के मध्य रहकर धीरे धीरे यह 100 या अधिक हो जाती है। तापक्रम पहले 103 से 105° फारेनहाइट के मध्य हो सकता है जो बाद में नार्मल से भी कम हो जाता है। अंत तक भी यह अधिक रह सकता अथवा धीरे धीरे बढ़ सकता है। बहुधा यह 90 से 102° फारेनहाइट हुआ करता है। नाड़ी-गति तथा तापक्रम का बढ़ना रोग की गम्भीरता का सूचक है। रोगी प्रायः काँपता देखा जाता है।

खान-पान में रोगी की पूर्ण अनिच्छा होती है। छोटी अँतड़ी के रोग ग्रसित होने पर जुगाली की इच्छा अथवा उल्टी हो जाती है, तथा उदर अपने आकार में या तो सामान्य रहता अथवा थोड़ा सा फूल जाता है। कोलन की ऐंठन में उदर निरन्तर फूला रहता है। पशु लगभग बिल्कुल ही मल-त्याग नहीं करता। लहरी गति धीमी अथवा अनुपस्थित हो सकती है। अँतड़ी में बहुधा तनाव हुआ देखा जाता है और लेखक के रोगियों में यह लगभग केवल छोटी अँतड़ी की ऐंठन तक ही सीमित रहा। मलाशय-परीक्षण करने पर पशु जोर लगाता है।

है। छोटी अँतडी का रोग ग्रसित भाग अपने स्थान से हटकर कोलन के ऊपर दाहिनी ओर तथा सीकम की ओर आ जाता है। छोटी अँतडी का रोग-ग्रसित भाग बढ़ा हुआ दिखाई देता है तथा छूने से इसमें दर्द होता है। बायें गुर्दे के क्षेत्र में इलियम की मेसेण्टेरिक मोड में रस्सी की भाँति कड़ी ऐंठ मिल सकती है, किन्तु मसेण्टरी की तनावपूर्ण अवस्था प्रारम्भिक अपच में भी पायी जाती है। कालन की ऐंठन में पशु का प्राय तेज अफरा होता है। इसमें ट्रोकार घुसेडने पर दर्द से आराम नहीं मिलता और पेट पुन शीघ्र फूल जाता है। श्रोणि-गुहा के किनारे के आगे रस्सी की भाँति कडा दर्दयुक्त स्थान मिलता है (देखिए चित्र 16 A)। अनुदैर्घ्य बन्धनी (longitudinal bands) का विशेषतौर पर उठा हुआ होना कालन की ऐंठन का अनुमान कराता है। मलाशय-परीक्षण करके अँतडी के विस्थापन का निदान करने की योग्यता के लिए काफी अभ्यास की आवश्यकता पडती है। मलाशय-परीक्षण से कुछ भी महसूस किए जाने के बाद भी, हटाव अथवा किसी भी प्रकार की अँतडी की उग्र रुकावट का निदान तब तक नहीं घोषित किया जाना चाहिए जब तक कि यह सामान्य तथा पाचक लक्षणों के साथ न हो। लगातार दर्द होना, लहरी-गति की अनुपस्थिति, मल त्याग न होना, आँत की श्लेष्मल झिल्ली का रक्तवर्ण होना तथा तेज नाडी-गति इसकी पहचान के विभिन्न लक्षण हैं।

आठ से चौबीस घंटे तक बीमार रहने के बाद रोगी की मृत्यु हो जाती है। कोलन की थोडी ऐंठन में बीमारी की अवधि बढ़कर 48 घंटे या और अधिक हो सकती है। इसका कोई भी इलाज नहीं है।

बन्धीकरण
(Incarceration)
(विपाशन)

यह एक उग्र अवरोध है जो आन्त्रपाश का पेरिटोनियम के प्राकृतिक अथवा कृत्रिम छेद में घुसकर उसी स्थिति में रह जाने के कारण अथवा अँतडी में लम्बे तने युक्त अर्बुद या अन्य तंतुमय बन्धनी के विकास से उसका रक्त संचार बंद हो जाने के कारण उत्पन्न होता है। प्राप्त आँकडों के अनुसार घोडों में यह रोग 1 प्रतिशत विकृतता तथा दर्द से पीडित पशुओं में 6 प्रतिशत मृत्युदर का कारण बनता है। लेखक द्वारा अवलोकित पशुओं में यह दरें लगभग 2 प्रतिशत और 12 प्रतिशत थी। गो-पशुओं में यह रोग अधिक नहीं होता। युवा बछेडों में अँतडी यूरेकस (urachus) द्वारा दब सकती है। गायों में, रूमन तथा गर्भाशय के मध्य तन्तुमय अभिलाग (fibrous adhesion) अथवा दीर्घकालिक उदर-झिल्लीदाह में बनने वाली बन्धनी के ऊपर अँतडी का एक भाग लटक सकता है। नर घोडों में वंक्षण-हर्निया (inguinal hernia) के कारण वंक्षण वलय (inguinal ring) में बन्धीकरण हुआ करता है, अत शूलवेदना से पीडित ऐसे घोडे को देखते समय इस संभावना पर भी विचार कर लेना चाहिए। गो-पशुओं में प्राय इसकी स्थिति पेरिटोनियल अभिलाग है। घोडों में, डंठलयुक्त रसौली तथा मेसेण्टरी और ओमेण्टम के बीच छिद्र होना इसके प्रमुख कारण हैं। अँतडी का एक खण्ड भी इस छिद्र से होकर डायाफ्राम में घुस सकता है। दर्द से लोटना तथा उलटना-पलटना इस रोग का सूचक है।

लक्षण—घोड़ों में, इस बीमारी के सामान्य लक्षण मरोड़ तथा गोपशुओं में आँत चढ़ने की भाँति हुआ करते हैं। मलाशय-परीक्षण करके गाय में पेरिटोनियल अभिलाग तथा घोड़े में वंक्षण बन्धनीकरण (inguinal incarceration) को पहचाना जा सकता है। इनके अतिरिक्त, अँतड़ी के उग्र अवरोध की अन्य प्रकारों में विभेदी निदान करना, बड़ा कठिन है। गाय में शरीर-रचनात्मक निदान की सम्भावना अधिक रहती है, जहाँ कि, अनुमानित अवरोध के स्थान पर कोख अथवा योनि छत में चीरा लगाकर इसे सीधा खोजा जा सकता है।

चिकित्सा—घोड़ों में कष्ट के प्रारम्भ में ही ऑपरेशन करके वंक्षण हर्निया को ठीक किया जा सकता है। कुछ ही घंटों में बन्धनीकरण सड़ने लगकर असाध्य हो जाता है। इसके विपरीत गायों में दबी हुई अँतड़ी को दो-तीन दिन के बाद भी ऑपरेशन करके सफलतापूर्वक ठीक किया जा सकता है।

आँत चढ़ना

(Intussusception)

(अन्तर्वेशन)

अँतड़ी के किसी भाग का ठीक उसके पीछे वाले भाग में घुस जाने से उत्पन्न यह एक प्रकार का उग्र आंत्रिक अवरोध है; रोग-ग्रसित भाग में दर्दयुक्त सूजन आकर वह सख्त व प्याली के आकार का तीन खानेदार हो सकता है: बाहरी, भीतरी तथा मध्य की पर्त। अधिकतर यह गो-पशुओं में, उससे कम भेड़ों में तथा कभी-कभी घोड़ों में हुआ करता है। लेखक के चल-चिकित्सालय में वर्ष में लगभग एक गाय इस रोग से पीड़ित अवश्य मिलती रही है। इसका कारण अँतड़ी की अनियमित लहरी-गति है जिससे कि उसका संकुचित होने वाला भाग नीचे वाले भाग के अन्दर घुस जाता तथा फैलने वाला भाग उसके ऊपर चढ़ जाता है। अँतड़ी के अन्दर रसौलियों का होना भी इसका एक कारण है। यह अँतड़ी का संकुचन होते समय पड़ोस के खण्ड में खिंच कर अन्तर्गमन की स्थिति उत्पन्न करती है। बोस्हार्ट[1] (Bosshart) ने बताया कि उन्होंने ऑपरेशन किये हुए 36 रोगियों की रोग-ग्रसित अँतड़ी के अन्दर वाले भाग में सूजन अथवा रसौली पाई। 23 रोगियों के एक समूह में 15 पशु जनवरी से जून तक, 5 मार्च में तथा ३ जनवरी में बीमार हुए।

लक्षण—चारे में अरुचि तथा शूल वेदना के साथ इस रोग का आक्रमण एकाएक होता है। गाय बार बार पूँछ मोड़ती, लगातार पैर चलाती तथा पशुशाला में मलमूत्र की नाली के पीछे पिछले पैर रखकर, पीठ टालाकर खड़ी होती अथवा बैठी हुई अवस्था में रहती है। कभी-कभी चुस्त अन्यथा अधिकतर निराश भी दिखाई देती है। 24 से 48 घंटे बाद दर्द कम हो जाता है। श्लेष्मल झिल्लियों में थोड़ा सा परिवर्तन दिखाई देता है। नाक, कान, सींग आदि ठंडे पड़ जाते तथा पशु को ठंड लगती है, जो कोख के कांपने से स्पष्ट दिखाई पड़ती है। नाड़ी-गति औसतन 90 से 100 के मध्य होती है। कम से कम यह 70 तथा अधिक से अधिक 130 तक हो सकती है। एक को छोड़कर जिसे कुछ देर 104° तक बुखार रहकर तापमान 100° हो गया, लेखक द्वारा अवलोकित अन्य सभी

रोगियों में तापक्रम नार्मल ही रहा। श्वसन-गति वेगवान तथा अनियमित होकर 18 से 30 के मध्य रही। लहरी-गति बिल्कुल ही बंद तथा उदर अपनी आकृति में सामान्य ही रहा। छोटी अँतड़ी के क्षेत्र पर दाईं कोख पर थपथपाने से प्रायः दर्द होता है। अधिकांश रोगी गोबर ही नहीं करते। गुदा मार्ग से काला कोलतार जैसा रक्तयुक्त पदार्थ निकलता है। किसी किसी रोगी में बहुत ही थोड़ी मात्रा में बदबूदार गोबर निकलता है। मलाशय-परीक्षण करने पर दाहिनी कोख में प्युबिस अस्थि के अगले किनारे पर सदैव ही सख्त, दर्दयुक्त तथा गोलाकार अँतड़ी की सूजन मिलती है। यह चुरचुराहट की आवाज भी कर सकती है। छोटी अँतड़ी गैस भरने से तन जाती है। बास्नाट के अनुसार, खाली मलाशय में चिपकदार श्लेष्मिक पदार्थ के रूप में एक विशेष प्रकार का द्रव भरा रहता है। गोपशुओं में इस रोग की अवधि 6 से 8 दिन की है। चौथे दिन तक ऑपरेशन करके रोगी को आराम पहुँचाया जा सकता है। इलाज के लिए, रोगग्रसित भाग को काटकर दोनों सिरों को जोड़ देना चाहिए।

संदर्भ

1 Bosshart, J K, Telescoped intestines in cattle, Cornell Vet, 1930, 20, 55

निकोचन तथा बाह्य पदार्थ

(Stricture and Foreign Bodies)

अँतड़ी की दीवाल की सिकोड़, रसौली, बाह्य पदार्थ, परजीवी कीट, सिस्ट, फोड़े तथा अन्य अवस्थाएँ अँतड़ी को दबाकर अथवा उसके मार्ग में अटक कर कभी-कभी उग्र अथवा दीर्घकालिक अवरोध का कारण बनती हैं।। अग्र आमाशय में लिम्फयुक्त रसौलियाँ तथा रेटिकुलम के पैपिलोमा (papilloma) द्वारा होने वाले पेट के दीर्घकालिक अफरा का वर्णन किया जा चुका है।[4, 5] युवा बछड़ा में, एबोमेसम के जठर निर्गम द्वार पर एक गोलाकार सूजनयुक्त वृद्धि होकर कभी-कभी चारा खाने के बाद अफरा का कारण बनती है और यह प्राणघातक सिद्ध हो सकती है। ईस्ट्रस इक्वाइ (oestrus equi) नामक परजीवी कीट की लार्वा अवस्था आमाशय के जठर निर्गम द्वार अथवा ड्यूओडनीम के कुछ भाग को बंद करके उसके उग्र अवरोध अथवा फटने का कारण बनती है। लेखक को जून के महीने में ऐसे दो रोगी देखने को मिले। इसके लक्षण आमाशयिक तनाव की भाँति ही थे। छोटी अँतड़ी तथा पार्श्विका (parietal) पेरिटोनियम के बीच थोड़े से क्षेत्र में गोलाकार पेरिटोनियल-अभिलाग होने पर बार-बार भयंकर दर्द होने का इतिहास मिलता है। इस अवस्था में छोटी अँतड़ी में मरोड़ होकर आंशिक अवरोध उत्पन्न करती है। अंत में इसमें शामिल होने वाले भागों में उग्र शोथ तथा सूजन होकर पूर्ण रुकावट पड़ जाती है। रोग के अंतिम आक्रमण में इसका कोर्स एक से तीन दिन का हो सकता है। छोटी अँतड़ी के अवरोध में लगभग चौबीस घंटे में अंतिम स्थिति आ जाती है। गोलाकार अभिलाग में, रुकावट का विकास धीरे धीरे होता है और इसका आक्रमण दो से तीन दिन तक चल सकता है। ट्रोकार एवं कैन्युला घुसड़ने के बाद अथवा गल-ग्रंथिल रोग की छूत से फोड़ा बनकर घोड़ों की अँतड़ी को धीरे धीरे दाब सकता है और ऐसी ही अवस्था अभिघातज आमाशयशोथ से पीड़ित गो

पशुओं में भी विकसित हो सकती है। रसौली, फोड़े अथवा सिस्ट के विकास से मलाशय पर भी दवाव पड़ सकता है। छोटी कोलन के गुम्व होने से मलाशय के निचले भाग में ऐंठन पड़कर उग्र अवरोध से पशु की मृत्यु हो सकती है।

अधिक मात्रा में बालू खा जाने से उत्पन्न होने वाली रेतीली शूल वेदना (sand colic) कोलन के गुम्व हो जाने की एक विशिष्ट प्रकार है। यह प्रायः बाड़े अथवा आरक्षी टुकड़ी में रखकर खिलाए जाने वाले फौजी घोड़ों में अधिक हुआ करती है। राइट[3] ने एक खच्चर में इस रोग का वर्णन किया है, जिसने जान बूझकर रेत खाया था।

कभी-कभी अँतड़ी में कंकड़-जैसे पदार्थ भी मौजूद हो सकते हैं। वे घोड़ों की दाहिनी ऊपरी कोलन के अंतिम भाग में अक्सर पाये जाते हैं। केवल बड़े पत्थर अवरोध उत्पन्न करते हैं। वे अधिकतर चूने के फास्फेट तथा मैगनीशिया के बने होते हैं। इसका कारण अधिक फास्फेटयुक्त पदार्थ जैसे चोकर आदि खा लेना है। न्यूयार्क स्टेट पशुचिकित्सा विज्ञान महाविद्यालय के संग्रहालय में एक 10 पौण्ड की पथरी है जिसके कारण चूने की खान में काम करने वाले एक घोड़े की मृत्यु हुई थी। चारे में उपस्थित कील काँटे अथवा अन्य धातुओं के टुकड़े बहुधा इसका कारण बनते हैं। पथरी का केन्द्र एक अथवा आधे इंच वाले कील के टुकड़े बनते हैं। संभवतः कुछ स्थानों के चारे अथवा पानी में उपस्थित लवण इस रोग के वितरण में भौगोलिक विभिन्नता का कारण बनते हैं।

लक्षण—कारण के प्रकार एवं स्थिति के अनुसार इसके लक्षण भिन्न हो सकते हैं। आमाशय अथवा छोटी अँतड़ी में होने वाला अवरोध या तो उग्र होता है अथवा शूल वेदना के कुछ आक्रमणों के वाद ऐसा हो जाता है जैसा कि रसौलियों (छोटी अँतड़ी का कैंसर) या परिगत पेरिटोनियल अभिलाग में हुआ करता है। रोग के अन्तिम लक्षण अँतड़ी की ऐंठन से मिलते-जुलते हैं, किन्तु इसका कोर्स कुछ लम्बा हो सकता है। बछड़ों के पाइलोरिक अवरोध में उनकी हालत दयनीय हो जाती तथा हर बार खाने के बाद पेट फूल जाता है। दो से चार सप्ताह में यह प्राणघातक सिद्ध होता है। घोड़ों में गल-ग्रंथिल रोग अथवा ट्रोकार छेदने के बाद फुड़ियों का विकास होकर धीरे-धीरे उनकी हालत क्षीण होती है। मलाशय-परीक्षण करने पर अवरोध के स्थान पर हाथ पहुँचता है किन्तु, इसकी वास्तविक स्थिति को पहचानना असंभव हो सकता है। गो-पशुओं में ऐसी अवस्थाएँ अभिघातज आमाशय-शोथ अथवा परिगर्भाशय-शोथ (perimetritis) के परिणामस्वरूप हुआ करती है। रसौली, सिस्ट अथवा फोड़े से मलाशय पर दवाव पड़ कर पशु को अपच के साथ हल्के दर्द का आक्रमण हो सकता है। मलाशय-परीक्षण करके इस अवरोध का पता लगाया जा सकता है। सूजन के पहचानने में संदेह होने पर उसकी दीवाल में छेद कर देना चाहिए। बड़े सिस्ट के बनने पर जो छोटी कोलन के अन्दर धँस सकता है, वहाँ दर्द उत्पन्न करने के लिए काफी अवरोध हो जाता है। चूँकि अवरोध पूर्णरूपेण नहीं होता अतः लक्षण अधिक उग्र न होकर, लगातार बने रहते हैं। मलाशय-परीक्षण करने पर हाथ को 6 से 8 इंच व्यास का गोल तथा मुलायम पदार्थ मिलता है। रेक्टम की दीवाल से सिस्ट को टटोलने पर ऐसा मालूम होता है कि यह हटी हुई अँतड़ी का फैला हुआ भाग है, जैसा कि ऐंठन अथवा आंत्रबन्धन में हुआ करता है। किन्तु रुक-रुक कर हल्का दर्द होना उग्र अवरोध के

नदान की सम्भावना के विरुद्ध है। सूजन को 16 न० हाइपोडर्मिक सुई से छेदकर तथा सुई के नॉजल में छोटी रबर की नली लगाकर उसमें का पदार्थ इकट्ठा करके, सही निदान किया जा सकता है।

रेतीली शूल वेदना में रोग का एकाएक आक्रमण होकर तेज तथा लगातार दर्द होता है। पशु उलटता-पलटता, कुत्ते की भांति बैठता तथा बहुधा अपने शरीर को असावधानी से इधर उधर फेंकता है। इस प्रकार कॉलन फट सकती है। श्वसन तथा नाडी-गति बढ़ जाती, किन्तु तापक्रम नार्मल रहता है। उदर छोटा हो जाता तथा लहरी-गति बंद हो जाती है। पशु या तो गोबर ही नहीं करता अथवा उसे रेत मिला हुआ पतला दस्त आता है। डीन[3] (Dean) ने बताया कि जो घोडे रेतीली आरक्षी टुकडी पर बखेरे हुए दाने खाते हैं उनके मध्यच्छद मोड में 10 से 12 दिन में रेत भर जाता है। इनके गोबर में 95 प्रतिशत रेत होता है तथा लालची पशु इस रोग के लिए अधिक ग्रहणशील होते हैं।

कंकड आदि पदार्थों से उत्पन्न अवरोध के लक्षण कोलन के उग्र अन्तर्वर्टुन की भांति ही होते हैं। दाईं ऊपरी कोलन के अंतिम सिरे में पत्थर पाकर इसका सही निदान किया जाता है, किन्तु, ठूँस-ठूस कर भरे हुए चारे अथवा पथरी के बीच विभेदी निदान करना काफी कठिन होता।

चिकित्सा—घोडों में, मलाशय के ऊपर स्थित फोडे अथवा सिस्ट को, तोडकर ठीक किया जा सकता है। यदि अधिक बड़ी हुई न हो तो रसौलियों को भी सफलता पूर्वक हटाया जा सकता है। रेतीली शूल वेदना तथा पथरी से उत्पन्न अवरोध में दर्द का कंट्रोल करने के लिए रोगी को क्लोरल हाइड्रास देकर काफी मात्रा में (1 गैलन) खनिज तेल पिलाना चाहिए। इस बीमारी में मृत्युदर काफी अधिक होती है। गो-पशुओं में दीर्घ-कालिक अवरोध इतने विकसित होते हैं कि उनका ऑपरेशन करना संभव ही नहीं हो पाता।

सदर्भ

1 Udall, D H, Case report, Cornell Vet, 1923, 13, 31
2 Wright, L H, Sand colic, Cornell Vet, 1920, 10, 259
3 Dean, Veterinary Bull, U S Army, 1923, 12, 195
4 Thompson, W W, and Roderick, L M, Am. J Vet Res, 1942, 3, 159
5 Sellers, A. F, Chronic bloat associated with a papilloma of the reticulum, Cornell Vet, 1942, 32, 321

जठरांत्र अभिष्यन्द
(Gastrointestinal Catarrh)
(आंत्रार्ति, जठरार्ति, दस्त रोग)

श्लेष्मल झिल्ली की सूजन तथा अतिरक्तता, अधिक श्लेष्मा तथा दस्त आदि लक्षणों द्वारा जठरांत्र अभिष्यन्द को पहचाना जाता है, यद्यपि कि अंतिम लक्षण अनुपस्थित भी हो सकता है। यह क्लेश केवल आमाशय अथवा अँतडी के एक क्षेत्र तक ही सीमित हो सकता है किन्तु प्राय दोनों में ही देखा जाता है।

कारण—प्रौढ़ पशुओं में इस रोग का प्रमुख कारण दूषित आहार है। सड़े-गले चारे, खुराक में एकाएक परिवर्तन जैसे पुराने चारे-दाने से एकाएक नए पर आना, अथवा कोई भी अपच का कारण इस क्लेश को आमन्त्रित करता है। ठंड लगना, अधिक कार्य, अनियमित काम, थकान, बुढ़ापा, दाँतों की खराबी और छूत (ठंड लगकर अतिसार, जोने रोग, गुर्दाशोथ, गलाघोटू, कॉक्सीडिओसिस) लगना इस रोग के अन्य कारण हैं। सीकम के गुम्ब होने पर प्रारम्भ से ही रोगी को दस्त आने लग सकते हैं। मोथे का भूसा अथवा दाने में दला हुआ मोथा खाने से पशु को दस्त आकर अँतड़ी की अपच का लक्षण बनते हैं। ताजे खोले गए गड्ढे से साइलेज खिलाने पर, विशेषकर पतझड़ की ऋतु में, गायों को दस्त रोग होकर उनके दूध उत्पादन में कमी आ जाती है। यूथ के अच्छे होने के बाद भी कुछ पशुओं में बहुत दिन तक अतिसार चलता रह सकता है। कुछ अच्छे किस्म के घोड़ों को काम करते समय दस्त आने लगते हैं। ऐसा कुछ दौड़ने वाले घोड़ों में घबराने की प्रवृत्ति के कारण होता है।

आंत्रार्ति; कुछ उग्र सामान्य छुतैली बीमारियों, जैसे गर्भाशय-शोथ, के फलस्वरूप हुआ करती है और यह पाचन-तंत्र के अधिकांश विकारों की एक आंशिक अवस्था है। दीर्घ-कालिक दस्त रोग; घोड़ों में स्ट्रान्जिल रुग्णता (परजीवी कीट रोग), भेड़ों में आमाशय कीट तथा पविल रोग और सुअरों तथा घोड़ों में ऐस्केरिस रुग्णता का सामान्य लक्षण है। डेरी पशुओं के यूथ में एक दो गाय को बिना किसी स्पष्ट कारण के सप्ताहों तक दस्त आते देखे गए हैं। बाड़े में खिलाकर पाले जाने वाले मेमनों को यातायात काल में अतिसार हो सकता है जो कॉक्सीडिओसिस तथा निमोनिया के साथ देखा जाता है।

लक्षण—खाने में अरुचि, दूध उत्पादन में कमी तथा सुस्ती आदि लक्षण प्रायः उपस्थित रहते हैं। आँख की श्लेष्मल झिल्ली पीली अथवा लाल हो सकती है किन्तु प्राइमरी आंत्रार्ति में यह बहुधा सामान्य रहती है। बछड़ों को बुखार रहता है। रोगी को दस्त आते हैं यद्यपि कि रोग के हल्के प्रकोप में यह कम अथवा अनुपस्थित हो सकते हैं। पशु को कब्ज हो जाता है तथा उसके मल में बदबू आती है। किण्वित होने वाले चारे ऐसे दस्त उत्पन्न करते हैं जो कई दिन तक आते रहते हैं। प्रारम्भ में लहरी-गति काफी बढ़ जाती है तथा रोगी पशु से दूर खड़े होकर गड़गड़ाहट की आवाज सुनी जा सकती है। जठर-आंत्रशोथ में विकसित होने वाला इसका भयंकर प्रकार गायों में सड़े-गले तथा फफूंदी युक्त चारे खा लेने से उत्पन्न हुआ करता है। ताजे खोले गड्ढे में से निकाली गई ऊपर की फफूंदीयुक्त साइलेज पतझड़ के समय विशेषतौर पर खतरनाक होती है। वसंत अथवा जाड़े के दिनों में गड्ढे की निचली सतह से ली गई फफूंदीयुक्त साइलेज प्रायः गो-पशुओं को हानिकारक नहीं होती।

निदान—सर्वप्रथम यह जान लेना नितान्त आवश्यक है कि रोग प्राथमिक, गौण अथवा आंशिक में से किस अवस्था में है। कुछ लोग शब्द श्लेष्म (catarrh) को अपच के लिए प्रयोग करते हैं उदाहरणार्थ, घोड़ों में श्लेष्मांत्र शूल (मारेक), तथा कुछ प्रकारों में कोई भी नाम उचित है। फिर भी, अपनी विशिष्ट प्रकार में अपच अधिक तेज और दर्द युक्त, कम समय तक रहने वाली तथा दस्तों के साथ नहीं होती। जठर-आंत्र शोथ में

रोगी की हालत अधिक गिरी हुई, कम क्रियाशील लहरी-गति तथा सामान्य गड़बड़ी अधिक मिलती है।

चिकित्सा—रोग उत्पन्न करने वाले कारक को अलग करके पशु को पूरा आराम दीजिए। उसके रहने का कमरा गर्म तथा सूखा हो। रोग यदि दूषित आहार के कारण हो तो रोगी को तब तक मृदुरेचक पदार्थ खिलाइए जब तक कि गोबर ठीक न होने लगे। किण्वित होने वाले अथवा सड़े-गले चारे से उत्पन्न संताप में 2 से 4 क्वार्ट (1–2 लिटर) द्रव पैरेफिन दीजिए। रोग के हल्के आक्रमण में एक मृदुरेचक दवा देकर खुराक में परिवर्तन करना ही पर्याप्त होता है यद्यपि कि 1/2 से 1 ग्रेन (0 03–0 06 ग्राम) की मात्रा में मुँह द्वारा दिन में तीन बार स्ट्रिकनीन सल्फेट अथवा निम्न नुस्खे की भाँति कड़वे टॉनिक देना अधिक लाभप्रद है

सैल कैरोलिनी फैक्टिटाइ (sal carolini factiti)	16 औंस (500 ग्राम)
जेन्शिएन	8 औंस (250 ग्राम)
नक्स वामिका	8 औंस (250 ग्राम)

सबको मिलाकर एक बड़े चम्मच भर (15 ग्राम) दिन में तीन बार घोड़े अथवा गाय को दीजिए।

स्वत अथवा मृदुरेचक औषधियों के प्रभाव से अँतड़ी के साफ हो जाने के बाद भी यदि दस्त बंद न हो तो आन्त्रिक ऐंटिसेप्टिक तथा रक्षक औषधियाँ दी जानी चाहिए। रोग के छूतैल प्रकार (शीत अतिसार) में 4 से 8 ड्राम (15 30 घ० सें०) की मात्रा में क्रियोलीन विशेषकर दी जाती है। बराबर-बराबर मात्रा में क्रियोलीन तथा देवदार का तेल, कैप्सूल में रखकर (40 घ० सें०) दिन में दो तीन बार देना, 1 से 4 ड्राम (4-15 ग्राम) की मात्रा में जिंक सल्फोकार्बोनेट, 1 से दो औंस (30 60 ग्राम) सैलिसिलिक एसिड, 2 से 8 ड्राम (8–30 ग्राम) टैनिक एसिड अथवा 60 से 120 घ० सें० 4 प्रतिशत क्लोरीन घोल इसकी अन्य गुणकारी दवाएँ हैं। निम्नलिखित नुस्खा अधिक प्रयोग किया जाता है सोडियम बाइकार्बोनेट 45 प्रतिशत, कत्था 45 प्रतिशत, जिंक फीनोसल्फोनेट 10 प्रतिशत। सल्फा औषधियों में से सल्फाथैलडीन का सीमित प्रयोग इस बात का सूचक है कि गायों में दस्त को कन्ट्रोल करने के लिए यह अत्यन्त लाभदायक है। इसकी प्रभावकारी मात्रा 8-15 ग्राम प्रति 100 पौण्ड (50 कि० ग्रा०) शरीर भार प्रतिदिन है। श्लेष्मल झिल्ली के संताप में रोजाना 2 से 4 औंस (60-120 ग्राम) की मात्रा में बिस्मथ सब नाइट्रेट देना लाभप्रद है। अफरा तथा एसिड किण्वन में सोडियम बाइकार्बोनेट 1 से 2 औंस (30 60 ग्राम), अमोनियम कार्बोनेट 1 से 2 ड्राम (4 8 ग्राम) अथवा ऐरोमैटिक स्प्रिट अमोनिया जैसे किण्वनरोधी पदार्थ दिए जाने चाहिए। दौड़ने वाले घोड़ों में घबराहट के कारण होने वाले दस्त रोग में 4 से 8 ड्राम (15 30 ग्राम) की मात्रा में डावर्स पाउडर देने की राय दी गई है। अँतड़ी के खाली हो जाने के बाद लहरी-गति तथा अधिक रिसाव का कन्ट्रोल करने के लिए रोगी पशु को अफीम तथा इससे बनी हुई औषधियों का सेवन कराना चाहिए। कुछ चुनींदा रोगियों में अफीम बहुत ही महत्वपूर्ण हो सकती है किन्तु सामान्य प्रयोग के लिए यह बहुत ही खर्चीली है। लगातार दस्तों के

बाद कमजोरी होने पर कैल्शियम ग्लूकोनेट (500 घ० सें० 20 प्रतिशत घोल) तथा डेक्सट्रोज़ (500 घ० सें० 40 प्रतिशत घोल) का अंतः शिरा इंजेक्शन लाभदायक है।

मेमनों में अतिसार के लिए फोर्सिथ[1] (Forsyth) ने सल्फाक्वीनाक्सेलिन (sulphaquinoxalin) के प्रयोग की राय दी है जिसमें कि 15 गैलन पीने वाले पानी में इस औषधि का एक पिंट 3·2 प्रतिशत घोल मिलाया जाता है।

कफपाक आंत्रार्ति

(Croupous Enteritis)

प्रमुख रूप से बड़ी अँतड़ी को प्रभावित करने वाली यह दस्तों की मंद बीमारी है जिसे पतले गोबर तथा उसमें उपस्थित श्लेष्मा के छीछड़ों से पहचाना जाता है। वसंत ऋतु के ठंडे मौसम में जब घासों पर पाला पड़ता है, यह रोग गो-पशुओं में खूब पाया जाता है। हरे चारे में एकाएक परिवर्तन अथवा सड़े-गले आलू खाने से यह रोग हो सकता है। घोड़े तथा भेंड़ में यह कभी-कभी ही हुआ करता है।

लक्षण—रोगी को बदबूदार दस्त आते हैं जिसमें श्लेष्मल झिल्लियों के टुकड़े तथा खून मिला रहता है। गो-पशुओं में दर्द तथा ऐंठन के साथ अपच जैसे लक्षण दिखाई देते हैं तथा दुधारू पशुओं के दूध उत्पादन में कमी हो जाती है। कुछ ही घंटों में दर्द ठीक हो जाता है। रोग का पूरा कोर्स लगभग एक सप्ताह का है तथा रोग-ग्रसित पशु अच्छा हो जाता है। चिकित्सा के लिए मैगसल्फ विशेष रूप से स्वीकृत है।

संदर्भ

1. The control and treatment of some common diseases of feedlot lambs, Cornell Vet., 1952, 42, 600.

शीत अतिसार

(Winter Dysentery)

(गो-पशुओं का छुतैला दस्त रोग, बछड़ों की विब्रिऑनिक आंत्रार्ति)

पशुशाला में बाँधकर रखे गए पशुओं का यह एक छुतैला दस्त रोग है जो जाड़ों तथा वसंत के प्रारम्भिक काल में हुआ करता है। बहुधा थोड़े समय के लिए इसका हल्का आक्रमण होता है तथा यह उग्र आंत्रार्ति की अवस्था से आगे नहीं बढ़ता। किन्तु कभी-कभी यह भयंकर भी हो सकता है। जोंस और लिटिल[1] ने इसका कारण विब्रिओ जेजुनाइ नामक लोलाणु (vibrio) बताया जो प्रमुख तौर पर मध्यान्त्र (jejunum) में निवास किया करता है।

कारण—पशु-चिकित्सा साहित्य में इस बीमारी के प्रकोप की अधिक चर्चा नहीं की गई है, किन्तु यह संयुक्त राज्य के उत्तरी पूर्वी भाग में न्यु इंगलैंड से ओहायो तक खूब फैलती है। स्टेफेन[2] (Steffen) और ब्वायड[3] (Boyd) द्वारा यह मध्य पश्चिम में भी होती बताई गई है और संभवतः यह और भी दूर तक फैलती है। न्यूयार्क स्टेट पशुचिकित्सा विज्ञान महाविद्यालय के चल-चिकित्सालय की अभी हाल की रिपोर्ट में यह उल्लेख किया

गया है कि यहाँ इसके 200-300 रोगी प्रति वर्ष चिकित्सा पाते हैं। एक उग्र तथा अप्राण-घातक प्रकार की दस्ता की बीमारी पतझड़ तथा जाड़ा में दक्षिणी इंगलैंड में अनेक वर्षों से फैलती देखी गई है—रालिसन[1] (Rollinson)। परीक्षण से कारण का पता न चल सका है किन्तु इंगलैंड में यह रोग प्रत्यक्ष रूप से जोंस तथा लिटिल[1] द्वारा वर्णन की गई बीमारी से मिलता जुलता है। यद्यपि इसकी छूत एक क्षेत्र तक ही सीमित रहती है फिर भी इसका वितरण अनियमित हो सकता है जिसमें कि छूत के स्रोत का ही पता नहीं चलता। सड़क के किनारे एक फार्म से दूसरे फार्म के पशुओं में यह बीमारी इस प्रकार फैल सकती है जैसे कि मनुष्यों अथवा पशुओं द्वारा लाई गई हो। छूत लगने के तीसरे दिन यूथ के सभी पशुओं को दस्त आने लगते हैं। कभी-कभी जब पशुओं का मालिक निकट के बीमार पशुओं को देख कर आता है तो उसके यूथ में भी रोग का आक्रमण हो जाता है।

जोंस और लिटिल[1] ने अपनी रिपोर्ट में बताया कि गोबर, अँतड़ी में का पदार्थ अथवा रोग उत्पन्न करने वाले लालाणुओं का संवर्धन जब बछड़ों को मुँह द्वारा खिलाया जाता है हो जाता है और तीन दिन बाद उनको दस्त आने लगते हैं। जीवाणुओं का संवर्धन छोटी अँतड़ी, विशेषकर मध्यान्त्र से प्राप्त किया गया और ऐसे ही आकार के जीवाणु दस्त-रोग से पीड़ित गाय के गोबर की श्लेष्मा में पाए गए। मध्यान्त्र से प्राप्त श्लेष्मा को ऐगर-एगर के गाढ़े घोल में, जिसमें कि घोड़े के रक्त के कुछ बूँद भी डाल गए थे, पहले प्रविष्ट किया गया। तत्पश्चात् दूसरी परख-नलियों में गाढ़े घोल को पुनः प्रविष्ट करके लालाणुओं का विशुद्ध संवर्धन प्राप्त किया गया। जब भाप विसंक्रमित (autoclaved) गीले गोबर में लोलाणु प्रविष्ट करके उस कमरे में भण्डारित किया गया तो लोलाणु 6 दिन तक जीवित रहे किन्तु गोबर के सूख जाने के बाद उसमें से संवर्धन प्राप्त न किया जा सका। एशियाटिक-कालरा के लोलाणुओं की भाँति, शरीर के बाहर यह बहुत ही कम समय तक जीवित रह पाते हैं। हवा में सुखाए जाने पर यह शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। 55° सेंटि-ग्रेड के तापक्रम पर तथा 0.5 प्रतिशत फीनाल के संपर्क में आने पर कुछ ही मिनटों में जीवाणु नष्ट हो जाते हैं। वे स्पोर नहीं बनाते तथा मौसमिक प्रकोपों के मध्य छूत कहाँ भण्डारित रहती है यह भी ज्ञात नहीं है। किन्तु संभवतः यह संक्रमण मनुष्यों में प्रकोप करने वाले एशियाटिक कालरा की भाँति है जो तुरन्त अच्छे हुए रोगियों, बीमार अथवा रोग के जीवाणु छिपाए हुए स्वस्थ मनुष्यों के संपर्क में आने से लग सकता है।

स्वस्थ गायों को बीमार पशुओं का गोबर खिलाकर, उनमें रोग उत्पन्न करने के प्रयोगात्मक प्रयास विफल रहे। किसी हद तक यह गोबर को इकट्ठा करने तथा पशु को पिलाने के मध्य सामयिक अवकाश के कारण हो सकता है। लेखक ने स्वस्थ गाय को रोगी पशु का गोबर पिलाकर इस रोग के उत्पन्न करने के अनेक प्रयास किए जिसमें से वह केवल एक बार सफल हुआ और इसमें प्रयोगात्मक गाय से उसके बछड़े को भी छूत लग गई। ऐसे ही ऋणात्मक परिणाम एशियाटिक-कालरा के विद्यार्थियों द्वारा भी अनुभव किए गए किन्तु कोच[6] (Koch) के अनुसार ऐसे ऋणात्मक प्रयोग कोई विशेष महत्व नहीं रखते। बीमारी को उत्पन्न करने वाले सभी आवश्यक कारकों को हम नहीं जानते,

और बहुधा व्यक्तिगत प्रयोगों की परिस्थितियाँ भी अनुपयुक्त हो सकती हैं। प्रकृति द्वारा बड़े पैमाने पर किए गये ये प्रयोग अधिक विश्वसनीय हैं।"

लक्षण—रोग का उद्भव-काल तीन दिन से लेकर एक सप्ताह तक का है। प्रौढ़ पशुओं में 50 से 100 प्रतिशत तथा छोटे पशुओं में कुछ कम प्रतिशत में पानी जैसे दस्तों के साथ इस रोग का एकाएक आक्रमण होता है। बछड़ों को यह रोग बहुत ही कम लगता है। पहले दिन बीमारी का प्रकोप एक या दो गायों में ही देखने को मिलता है। चारे में अरुचि तथा दूध-उत्पादन में कमी होकर पशु एकदम सुस्त तथा कमजोर दिखाई देते हैं। तापक्रम नार्मल से 103° फारेनहाइट के बीच तथा नाड़ी गति 65 से 70 के मध्य होती है। औसत रोगी पशु में श्वसन, नाड़ीगति तथा तापक्रम नार्मल रहता है। पशु को पानी जैसे पतले, बदबूदार, तेज दस्त आते हैं जिनका रंग प्रायः बादामी होता है। कभी-कभी काले रंग का गोबर भी देखने को मिलता है, अतः ऐसी अवस्था में बीमारी को "काला दस्त रोग" (black scours) कहा गया है। तीन दिन से लेकर एक सप्ताह तक का इस रोग का कोर्स है तथा लगभग तीसरे दिन के अंत में रोगी के दस्तों की संख्या कम हो जाती है। अनेक यूथों में बीमारी का इतना हल्का प्रकोप होता है कि जब तक दूध उत्पादन में काफी कमी नहीं होती इसकी ओर विशेष ध्यान ही नहीं दिया जाता। रोग प्राणाघातक नहीं है और लेखक के चिकित्सालय में इस रोग से मरने वाले पशु का कोई भी अभिलेख नहीं है।

रोग के भीषण प्रकोप में दस्त में खून तथा श्लेष्मा मिला हुआ होकर मल का रंग लाल हो सकता है। अधिक खिलाए हुए पशुओं में इसके बार-बार आक्रमण होते बताए गए हैं। जोंस और लिटिल[7] द्वारा वर्णित बछड़ों में विब्रिऑनिक आंत्रार्ति का कोर्स प्रायः दीर्घकालिक था।

छूत के परिणामस्वरूप उत्पन्न रोग-प्रतिरक्षा संभवतः अधिक दिनों तक नहीं रहती, फिर भी प्रायः ऐसा देखा गया है कि जिस यूथ में रोग फैल चुका होता है उसी यूथ में उस वर्ष बार-बार नहीं फैलता।

रोग के निदान में शायद ही कोई कठिनाई होती हो। रोग के उग्र प्रकोपों में, जो पशुओं में बहुत ही कम होते हैं, दस्तों में रक्त की उपस्थिति कॉक्सीडिओसिस का संदेह करा सकती है। गोबर में अनेक युग्मकपुटी (oocysts) को देखकर कॉक्सीडिओसिस को अलग पहचाना जा सकता है किन्तु रोग के प्रारम्भ में यह सदैव गोबर में उपस्थित नहीं होतीं। गोबर के माइक्रास्कोपिक परीक्षण द्वारा जीवाणुओं को देखकर इस बीमारी का सही निदान किया जा सकता है, किन्तु इस परीक्षण के लिए विशेष विधि की, जो आसानी से उपलब्ध नहीं होती, जानकारी होनी आवश्यक है। कुछ के अतिरिक्त, सर्दी के अतिसार के प्रकोप की ऋतु तथा आक्रांत पशुओं की उम्र, कॉक्सीडिओसिस से भिन्न होती है। पशुशाला में बाँधी जाने वाली गायों में कॉक्सीडिओसिस के भयंकर प्रकोप से अधिक पशु मरते हैं, जबकि सर्दी के अतिसार के भीषण प्रकोप कभी-कभी ही प्राणघातक होते हैं गायों में सर्दी के अतिसार के अनेक प्रकोपों को "गल घोटू रोग का आंत्रिक प्रकार" कहकर निदान किया गया है, और संभवतः बड़े बछड़ों में अज्ञात कारणवश होने वाले दस्तों के कुछ

प्रकोप व्रिब्रिओनिक आर्त्रांति के उदाहरण हैं। बीमार पशु का गोबर पिलाकर प्रयोगात्मक रूप से स्वस्थ पशु में रोग का संचार करके सर्दी के अतिसार को पहचाना जा सकता है। एक उदाहरण में, रोगी का गोबर पिलाने के कुछ देर बाद ही एक गाय को दस्त आने लगे और उसके दूध पीने वाले बछड़े को भी अपनी माँ से रोग की छूत लग गयी, किन्तु ऐसे प्रयोग बहुधा ऋणात्मक हुआ करते हैं। नए दाने खिलाने के बाद एकाएक इस रोग का प्रकोप होने के कारण कुछ लोगों का ऐसा विचार है कि "राशन" ही इस रोग का प्रमुख कारण है किन्तु दलाई के आधुनिक ढंगों द्वारा तैयार किए गए व्यवसायिक पौष्टिक-मिश्रण इस रोग का यदा-कदा ही कारण बनते हैं।

इसकी चिकित्सा के लिए रोगी को 4 से 8 ड्राम (15 से 30 घ० सें०) की मात्रा में कियोलीन अथवा अन्य आन्त्रिक ऐंटिसेप्टिक औषधियाँ देनी चाहिए। आयु के अनुसार 30 से 120 घ० सें० की मात्रा में तूतिया का 1 प्रतिशत घोल देना लाभप्रद है। 120 घ० सें० की मात्रा में क्लोरीन का 4 प्रतिशत घोल भी दिया जा सकता है। रोग के प्रारम्भ में जब कि केवल दो या तीन पशु ही रोग ग्रसित हों, यूथ के अन्य पशुओं को रोग से बचाने के उपचार करने चाहिए। इस कारण सामान्य पशुओं को भी चिकित्सा में शामिल किया गया है। पशुओं को खिलायी जाने वाली घास पर गन्धक अथवा नमक के तेजाब का पानी में हल्का घोल बनाकर छिड़कना चाहिए। रोग के उग्र प्रकारों का जठर-आन्त्रशोथ की भाँति ही इलाज किया जाता है। बराबर बराबर मात्रा में देवदार का तेल और कियोलीन कैप्सूल में रखकर (40 घ० सें०) दिन में दो से तीन बार, अथवा 45 भाग सोडियम बाईकार्बोनेट, 45 भाग कत्था, 10 भाग जिंक फीनोमल्फोनेट को मिलाकर दो से तीन बड़े चम्मच भर दिन में दो बार देना इसकी "अन्य उत्तम औषधियाँ" हैं। असाध्य रोगियों का जठर-आन्त्रशोथ की भाँति ही प्रतिजैविक पदार्थ तथा सल्फाथैलीडीन (2 ग्राम नित्य) देकर इलाज किया जाता है।

सदर्भ

1. Jones, F. S , and Little, R B , The etiology of infectious diarrhea (winter scours) in cattle, J Exp Med , 1931, 53, 835.
2 Steffen M R , Special Cattle Therapy, Veterinary Medicine Series, Chicago, 1915, D. M. Campbell
3 Boyd, W L., Vibrionic Gastroenteritis (Winter Scours) of Cattle, Jen-Sal Journal, 19.0, 32, 4, March.
4. Rollinson, D H L , Infectious diarrhea of diary cows, the Veterinary Record, 1948, 60, 191
5 Jones, F S Orcutt, M , and Little, F R , Vibrios (Vibrio jejuni, n sp) associated with intestinal disorders of cows and calves, J. Exp Med., 1931, 53, 853
6. Topley and Wilson, Principles of Bacteriology and Immunity, ed 3, vol 2, p 1121. Williams and Wilkins Co , 1946.
7. Jones, F. S , and Little, R B , Vibronic enteritis in calves, J Exp Med , 1931, 53, 845

बछड़ों में प्रवाहिका रोग

(Diarrhea in Calves)

(पेचिस; सफेद दस्त; बछड़ों की रक्त-विपाक्तता; जठरान्त्रार्ति; आंत्रशोथ)

बड़े पशुओं के दस्त-रोग में वे सभी अवस्थाएँ शामिल हैं जिनमें पशु को पतला गोबर होता है। यहाँ दिए गए वर्णन में इसके अन्तर्गत श्वेत पेचिस आती है जो दो-तीन दिन की आयु के बछड़ों में प्रमुख रूप से होती है। पतले दस्त आना, अत्यधिक कमजोरी के कारण लेटे रहना तथा अधिकांश: मृत्यु इसके प्रधान लक्षण हैं। श्वेत पेचिस को रक्तपूतिता अथवा रुधिर-विपाक्तता समझा जाता है और इसे आमतौर पर छुतैला कहा जाता है किन्तु, इसके कारण तथा रोग-विज्ञान का अभी ज्ञान नहीं है। चूँकि बछड़ों की रक्तपूतिता की पेचिस तथा दस्तों के अन्य प्रकार में विभेदी-निदान करना काफी कठिन होता है, अतः इनका एक ही साथ वर्णन किया जा रहा है। मानव तथा पशु-आयुर्विज्ञान दोनों में न तो बच्चों में दस्तों के कारण को और न ही इसके आवेग को भली भाँति समझाया गया है। यूनाइटेड स्टेट्स के कृषि विभाग की रिपोर्ट के अनुसार तीन डेरी नस्लों में जीवित पैदा हुए प्रत्येक 100 बच्चों में से, दो वर्ष की आयु से पूर्व 22 मर जाते हैं। जब बीमारी बछड़ों के बड़े समूह में प्रकोप करती है तो इसका प्रकार काफी जटिल होता है। जन्म से लेकर 10 दिन की उम्र वाले छोटे बछड़ों को खूब दस्त आते हैं तथा 3 सप्ताह से 3 माह तक के बड़े बछड़ों को निमोनिया भी होती है। कॉक्सीडिओसिस, नाभि रोग, सर्दी लगना, कर्ण-स्राव तथा एकाएक बेहोशी और बिना विशिष्ट लक्षण अथवा क्षतस्थल प्रकट किए ही 24 घंटे के अन्दर रोगी की मृत्यु हो जाना आदि बछड़ों में प्रकोप करने वाली अन्य अवस्थाएँ हैं।

कारण—जन्म के प्रथम सप्ताह में बहुत ही तेज दस्त आते हैं और आयु की वृद्धि के साथ यह धीरे धीरे कम होते जाते हैं। बड़े यूथों में अच्छे खानपान तथा सुप्रबन्ध के बाद भी प्रत्येक नवजात बछड़े में हल्के अथवा उग्र रूप में इस रोग का प्रकोप होता है। कुछ फार्मों पर यह बीमारी इतनी अधिक फैलती है कि वहाँ जाड़े तथा वसंत में एक समस्या बन जाती है। श्वेत पेचिस रोग बड़ा भयानक माना जाता है। जन्म के समय कमजोरी, दूषित खान-पान, मौसम में एकाएक परिवर्तन, गंदे तथा लगातार प्रयोग होने वाले बाड़े तथा रोग फैलाने वाले कुछ अज्ञात कारक जो कि संक्रामक भी हो सकते हैं, इस रोग के अनेक कारण हैं। आन्त्रार्ति से होने वाली मृत्यु के साथ दस्तों के आक्रमण गर्मी के महीनों में गंदे बाड़ों में रहने वाले बछड़ों में अधिक होते हैं। आहार-नाल से बाहर की छूत जैसे सर्दी, कर्ण-शोथ, नाभि-रोग तथा निमोनिया आदि में दस्तों का होना प्रमुख लक्षण है। एक से तीन माह की आयु के बछड़ों में बिना किसी प्रत्यक्ष कारण के कभी-कभी प्राणघातक आन्त्रार्ति हुआ करती है। ऐसे रोगियों में उनका गोबर सफेद दस्तों जैसा अथवा कॉक्सी-डिओसिस की भाँति रक्तवर्ण हो सकता है। आमाशय तथा अंतड़ी में परजीवी कीटों की उपस्थिति का तथा कॉक्सीडिओसिस एवं सर्दी के अतिसार का भी प्रवाहिका रोग एक लक्षण है। बछड़ों में विब्रिऑनिक आंत्रार्ति का जोंस तथा लिटिल[1] द्वारा वर्णन किया गया

है। जब कभी कोई बछड़ा किसी कारणवश बीमार हो जाता है तो दस्त उसका एक लक्षण बनता है। विभिन्न स्रोतों से खरीदे गए तथा मांस उत्पादन के लिए थन से दूध पिलाए गए बछड़ों में यह रोग विशेषत अधिक पाया जाता है। इस समूह के बछड़े विविध प्रकार की छूत के सपर्क में अधिक आते, उनका रहन सहन व देखभाल अच्छा नहीं होता तथा उनकी खुराक पर कोई नियत्रण नहीं हो पाता है। श्वेत पेचिस के कुछ स्थायी आक्रमण बड़े बड़े यूथों में हुआ करते हैं। जहाँ सभी पशु प्रत्यक्ष रूप से खूब स्वच्छ वातावरण में रखे जाते हैं, वहाँ भी पेचिस, *निमोनिया, नाभि रोग तथा अन्य* रोगों से प्रति वर्ष 20 से 30 प्रतिशत तक क्षति होती है।

छूत बछड़ों में श्वेत पेचिस तथा नवजात बच्चों में प्रवाहिका रोग के विषयों पर ही छूत का अध्ययन किया गया है। बछड़ों की प्रवाहिका के जीवाणु विज्ञान के बारे में अभी तक बहुत ही थोड़ी जानकारी प्राप्त हो सकी है। अनेक लेखक इस वाद को मानते हैं कि श्वेत पेचिस छूत से फैलती है और प्राय परिस्थितिवश इसके प्रमाण विश्वसनीय भी हैं। यद्यपि यह मान लिया गया है कि मौसम, सफाई तथा धूप, वायु आदि जैसे अनेक प्रभाव इस रोग को आमन्त्रित करते हैं, फिर भी अधिक महत्ता निचली अँतड़ी में रहने वाले जीवाणु, विशेषकर बैक्टीरियम कोलाइ (Bact coli) की क्रिया को दी जाती है। सन् 1925 में जेंसन[2] (डेनमार्क) तथा स्मिथ और ऑर्कट[3] (Smith and Orcutt) द्वारा भी इस तथ्य का समर्थन किया गया है। स्मिथ और ऑर्कट ने देखा कि 'जैसे जैसे रोग की छूत ड्यूओडीनम की ओर बढ़ती है, अँतड़ी का निचला एक तिहाई भाग बढ़ता चला जाता है इन परिस्थितियों में पशु को सामान्य नशा हो सकता है।" होल्ट[4] (Holt) ने इस विचार को छोटे बच्चों पर आधारित करके प्लान्टेंगा (Plantenga) तथा अन्य के कार्य की ओर सकेत किया जिन्होंने यह बताया कि कोलन बैसिलाइ का निस्यद जब पशु को मुँह द्वारा पिलाया जाता है तो उसमें विषैले लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं, यद्यपि मलाशय द्वारा दिये जाने पर इसका कोई भी प्रभाव नहीं होता। ऐसी टॉक्सिन उत्तेजक होने के कारण दस्त के लिए उत्तरदायी है। बैक्टीरियम कोलाइ के निस्यद में टॉक्सिन की उपस्थिति स्मिथ और लिटिल[5] द्वारा भी रिपोर्ट की गई है। ससार भर में पाया जाने वाला कोलन बैसिलस एक अनाग्रही मृतोपजीवी *(facultative saprophyte)* है। ऐसे जीवाणु पशुशाला, गाय के शरीर तथा दूध की पहले घूँट में मौजूद रहते हैं। खीस न पिलाए जाने वाले नवजात बछड़े, जिनकी अधिक खा लेने अथवा किसी अन्य कारणवश सहन शक्ति कम होती है, इस रोग के प्रति अधिक ग्रहणशील हैं। इस मत के अनुसार साधारण परिस्थितियों में कोलन बैसिलस हानिकारक नहीं होता, किन्तु बड़े बछड़ों में यह रोगोत्पादक होकर शीघ्र ही उनकी मृत्यु का कारण बन सकता है। जैसा कि स्मिथ और ऑर्कट[3] द्वारा वर्णन किया गया है, कोलन बैसिलस के प्रभाव के सबध में आजकल कुछ सदेह व्यक्त किया जाने लगा है। किन्तु यह सदेह अधिकतर काल्पनिक है क्योंकि अन्य विचारों को मानने के लिए प्रमाणों का अभाव है। बछड़ों का प्रवाहिका रोग की छूत गर्भकाल में लगती अथवा जन्म के बाद होती है, यह एक विवादपूर्ण विषय है। किन्तु ऐसे यूथ में, जहाँ कि सूखी गायों को अलग करके चरागाह पर भेजने पर तत्काल ही नवजात बछड़ों के दस्त बद हो जाते हैं, गर्भकाल में छूत लगने का वाद मान्य नहीं प्रतीत होता।

रोग के कारण बनने वाले वाइरसों के संबंध में आधुनिक बढ़ती हुई जानकारी के साथ यह संदेह किया गया है कि बछड़ों में प्रवाहिका रोग का कारण एक वाइरस भी हो सकता है। यह सुझाव लाइट और होड्स[6] (Light and Hodes) की रिपोर्ट में मिलता है जिन्होंने बाल्टीमोर और वाशिंगटन के अस्पतालों में बच्चों के के दस्त की महामारी से प्राप्त निस्यंदी पदार्थ की छूत से बछड़ों में दस्त उत्पन्न किए। अनेक विधियों द्वारा यह बीमारी मल से, केवल बच्चों से बछड़ों में ही नहीं वरन् एक बछड़े से दूसरे बछड़े में भी पहुँचायी गयी। इस प्रकार रोग ग्रसित 84 बछड़ों में से लगभग 13 प्रतिशत मर गये। दस्त से पीड़ित उन बछड़ों से वे निस्यंदी पदार्थ प्राप्त न कर सके, जिनको बच्चों वाली छूत नहीं लगी थी। सन् 1943 में बेकर[7] ने आंत्रार्ति तथा निमोनिया से पीड़ित बछड़ों से एक वाइरस प्राप्त किया जो कि दुबारा बछड़ों के संपर्क में आने पर एक "विशेष प्रकार का रोग" उत्पन्न करता था। फिर भी, आमतौर पर वाइरस को बछड़ों के प्रवाहिका रोग का कारण सिद्ध करने के अधिकांश प्रयास विफल रहे।

विटामिन 'ए' की कमी : विटामिन 'ए' की महत्ता पर कुछ प्रयोग स्टेवर्ट और मेक्कालम[8] (Stewart and McCallum) ने किये जिन्होंने बताया कि बैक्टीरियम कोलाइ की छूत से उन बछड़ों की मृत्यु अधिक हुई जिनकी माँ के खीस में विटामिन 'ए' की मात्रा प्रति 100 घ० सें०, 250 ब्लयू यूनिट (मूर की) से कम थी। उन्होंने यह भी बताया कि दूध की अपेक्षा गाय के खीस में विटामिन 'ए' अधिक होता है। उन्होंने देखा कि जिन गायों को कम विटामिन 'ए' वाला चारा मिलता है उनको जाड़ों भर रोजाना 3 पौण्ड गाजर अथवा 1/7 पिंट (70,000 अं० यू०) मछली का तेल खिलाने पर भी उनकी खीस में विटामिन 'ए' की वृद्धि नहीं हुई। हार्ट[9] (Hart) ने विटामिन 'ए' की कमी के बारे में निम्न प्रकार लिखा है, "सभी पशुओं में, गाभिन मादाओं के शरीर में भण्डारित विटामिन खर्च होने पर या तो गर्भाशय में ही बछडे की मृत्यु हो जाती है अथवा कमजोर बछड़े पैदा होते हैं, जो जन्म के कुछ देर बाद मर जाते है। गो-पशुओं में इस अवस्था का केवल यही लक्षण हो सकता है। श्वासनली में छूत पहुँचकर फेफड़ों में फोड़े अथवा दीर्घकालिक निमोनिया हो जाती है। पशुओं को दस्त भी आने लगते हैं तथा नवजात बछड़ों में इसे श्वेत पेचिस समझा जा सकता है।"

शरीर में कुछ विटामिनों की कमी से बछड़ों में श्वेत पेचिस होने के मत को विस्काँसन से फिलिप्स आदि[10] (Phillips et al.) ने रिपोर्ट किया है। जन्म के समय नवजात बछड़ों के रक्त प्लाज्मा में विटामिन 'ए' की मात्रा सामान्य रूप से कम (0·05 माइक्रोग्राम प्रति घ० सें०) पाई गई, जो पहले दिन ही सामान्य (0·14) हो जाती है। उन्होंने यह भी बताया कि विटामिन 'ए' की समुचित उपस्थिति में बी-कामप्लेक्स देने से श्वेत-पेचिस रोग से तत्काल आराम मिलता है। इसमें निकोटिनिक एसिड एक क्रियाशील पदार्थ है। इस प्रकार चिकित्सा किए गए रोगियों का 12 से 24 घंटे की अवधि में गोबर सामान्य होकर मृत्यु दर शून्य हो गया। उन्होंने यह भी बताया कि 24 से 48 घंटे में बीमार होकर मरने वाले बछड़ों के दस्त तथा रक्तपूतिता को निकोटिनिक एसिड तथा विटामिन 'ए' कंट्रोल न कर सका। अतः नवजात बछड़े में तत्काल होने वाली पेचिस को रोकने अथवा

बचाव के लिए इनका कोई उपयोग न हो सका। एक यूथ में जहाँ बछड़ों के रोग अधिक हुआ करते थे लेखक ने उन्हें जन्म के पहले सप्ताह में मछली का तेल और विटामिन बी-कामप्लेक्स दिया। इसके परिणाम संतोषजनक न निकले। 54 बछड़े जिनके बचाव के लिए उपचार किए गए इनमें से दो तिहाई को पेचिस, नाभि रोग, निमोनिया, सर्दी तथा पीवयुक्त कर्णस्राव हुआ और 29 6 प्रतिशत रोगियों की मृत्यु हो गयी। सफेद दस्त के निदान किए गये 15 रोगियों में से 6 की मृत्यु हो गयी तथा शव परीक्षण करने पर 3 रोगी ऋणात्मक निकले। इनकी आयु विशेषतौर पर दो से सात दिन के बीच थी। पहले 24 घंटा में एक की मृत्यु "बछड़ों की रक्तपूतिता" रोग से हुई। निमोनिया का निदान किये गये 9 रोगियों में से लगभग दो माह की आयु पर 7 की मृत्यु हो गयी। 54 में से एक तिहाई नार्मल रहे। इस समूह में इस बात का कोई प्रमाण उपलब्ध न था कि विटामिन ए, डी अथवा बी-काम-प्लेक्स द्वारा इस रोग को बचाया गया। नार्टन और उनके साथियों[11] (Norton and associates) की रिपोर्ट के अनुसार 'परीक्षण के रिपोर्ट किए गये परिणाम यह प्रदर्शित करते हैं कि तीन वर्ष से अधिक समय तक नवजात बछड़ों को अतिरिक्त विटामिन खिलाने पर भी पेचिस रोग का न तो रोका ही जा सका और न इसके प्रकोप, अवधि तथा वेग को कम किया जा सका।" स्पीलमैन आदि[12] (Spielman et al) ने प्रदर्शित किया कि ब्याने से पूर्व दी जाने वाली खुराक में एक दसलक्ष अ० यू० कैरोटीन अथवा एक दसलक्ष अ० यू० विटामिन 'ए' गर्भकाल के अंतिम 60 दिनों में नित्य शामिल कर देने पर, नवजात बछड़े के शरीर में विटामिन ए' तथा कैरोटीन अधिक भण्डारित हो जाती है। ऐसी ही सूचना वाइज और उनके साथियों[13] (Wise and associates) ने भी दी।

ब्याने से पूर्व गायों को विटामिन देने का मूल्यांकन एक ऐसे यूथ में ब्रूस[14] (Bruice) ने रिपोर्ट किया जिसके बछड़ा में श्वेत पेचिस के कारण मृत्युदर काफी अधिक थी। उन्होंने गाभिन गायों को ब्याने से तीन सप्ताह पूर्व सप्ताह में दो बार 500,000 यूनिट विटामिन 'ए' दिया और इसने नवजात बच्चों को दस्त रोग से पूर्णरूपेण बचा लिया। इस विधि के महत्व के बारे में अनेक अप्रकाशित रिपोर्टें मेसाचुसेट्स (Massachusetts) के अन्य पशु चिकित्सकों द्वारा भी की गई।

खीसयुक्त दूध स्वस्थ जन्म हुए नवजात बछड़े का प्रथम प्रयास खीसयुक्त दूध पीने का होता है। स्मिथ और लिटिल[15] ने यह प्रदर्शित किया कि बछड़े को शरीर-रक्षक ऐंटिबाडी खीस से ही मिलती हैं, किन्तु यह उसे जन्म से पूर्व नहीं प्राप्त होतीं। यह भी प्रदर्शित किया जा चुका है कि जन्म के समय बछड़े के रक्त में विटामिन 'ए' की कमी होती है। खीस में इसकी मात्रा अधिक होती है तथा बच्चा पैदा होने के तुरन्त बाद जब दूध (खीस) पीना शुरू कर देता है तो 24 घंटे में रक्त में भी इसकी मात्रा नार्मल हो जाती है। अतः यह आवश्यक है कि बछड़े को जन्म पाने के बाद शीघ्रातिशीघ्र खीस मिलना चाहिए। माँ का दूध कम से कम तीन दिन तक पिलाना चाहिए। तीन से पाँच दिन के पूर्व माँ के दूध से यूथ के मिले-जुले दूध में परिवर्तन करने से बछड़ों को दस्त आने लग सकते हैं। खीस न मिलने पर गूर्ंजी तथा जर्सी नस्ल के बछड़े दस्त रोग के लिए विशेषकर ग्रहणशील हो जाते हैं, जबकि होल्सटिन नस्ल के बछड़े कभी-कभी इसकी अनुपस्थिति में भी पनप सकते हैं।

खुराक : पुराने लेखकों के अनुसार पशु-खाद्य पदार्थ तथा उनके खिलाने के ढंग भी इस रोग के प्रकोप का कारण बनते हैं किन्तु, आमतौर पर दूषित आहार को बड़े बछड़ों में पाचन विकार का कारण माना गया है। सफेद बदबूदार दस्तों की एक महामारी में खुराक के प्रभाव का विशेष अध्ययन यह प्रदर्शित करता है कि अन्य प्रयत्नों के विफल हो जाने पर, केवल इस पर ही विचार करने से बीमारी को रोका जा सकता है। महामारी का इतिहास लेने से बहुधा यह पता चलता है कि पहले मरने वाले बछडे को दूषित आहार ही मिला। मालिक को इस बात का विश्वास दिलाना काफी कठिन है कि बछडे को माँ का दूध पिलाकर प्राकृतिक ढग से पालना सभवत गलत हो सकता है, और सामान्य परिस्थितियों में ऐसा नहीं भी होता है। किन्तु अधिक उत्पादन करने वाली डेरी गायें और उनकी सतति एक कृत्रिम पदार्थ की भाँति ही हैं और जब वे किसी बडी सस्था (डेरी) का भाग बनती है, तो उनका वातावरण कुछ अप्राकृतिक हो जाता है। पहले 24 से 48 घटे में आमाशय के दूध से अधिक भर जाने पर अपच प्रारम्भ हो सकती है जिसमें कोलन बैसिलस अथवा अन्य ऐसे ही जीवाणु शीघ्र ही बछडे को घर दबाते हैं। यह जीवाणु या तो रक्त-विषाक्तता के कारण 10 से 12 घटे में रोगी की मृत्यु के घाट उतारते हैं अथवा इनसे विशेष प्रकार का श्वेत पेचिस रोग हो सकता है। पहले तीन दिनो में विशेष सावधानियों की आवश्यकता पड़ती है। शब्द "खुराक" जैसा कि यहाँ प्रयोग किया गया है चारे की मात्रा तथा गुण के बारे में सकेत न करके सही तथा विधिवत खिलाने के ढग के सदर्भ में है।

अवांछित पदार्थ खाना : बछड़ों की आदतें तथा पसद अनेक प्रकार की हुआ करती हैं। कभी-कभी जन्म के समय बछडे को बहुत ही तेज भूख लगती है। अत. माँ से दूध पीने के बाद यह बिछावन अथवा अन्य ऐसे ही अवांछित पदार्थ खाने लगता है। यह एक सामान्य स्वभाव है और इनमें से एकआध का तो पता ही नहीं लग पाता। ऐसे बछड़े जन्म के समय बडे तेज होते है किन्तु, शीघ्र ही वे ऐसी अवस्था में पहुँच जाते हैं कि उससे छुटकारा मिलना प्रायः कठिन हो जाता है। दुर्भाग्यवश इससे पहुँचने वाली क्षति व्यक्तिगत रूप से केवल रोगी तक ही सीमित नहीं रहती क्योंकि बछड़ों में सफेद दस्त की बीमारी सक्रामक है और इसका एक बछडे में आक्रमण होने पर अन्य साथियों को भी छूत लग जाती है। बड़े बछड़ो में दूषित पदार्थ खाने की आदत होने के कारण उन्हें दस्त-रोग हो सकता है। उदाहरणार्थ; सूखी घास को छोड़कर, खराब बिछावन आदि खाने की कुछ बछड़ो में आदत होती है अथवा पेशाब पीने के लालच में वे एक दूसरे की नाभि चूसते हैं। ऐसे बछड़े सदैव ही कमजोर हुआ करते हैं।

तापक्रम : आजकल के रख-रखाव की आधुनिक विधि में गाय को छोडकर अन्य सभी वस्तुओं को पशुशाला से अलग रखने का आम रिवाज है। इन कारण बछडों को अलग बाड़ों में रखा जाता है जहाँ इनको खुलेहुए दरवाजों अथवा कक्रीट या पत्थर की दीवालों से ठढ लगकर निमोनिया तथा दस्त रोग हो जाता है।

अत.गर्भाशयी छूत : जन्म के समय बछडे निर्बल अथवा बीमार हो सकते हैं और कभी-कभी उनकी नाभि में सूजन भी आ जाती है। उन फ़ार्मों में जिनमें ऐसे बछडे बराबर जन्म लेते है, पालन-पोषण में कठिनाई होने के कारण नवजात बच्चो की मृत्यु

अधिक हुआ करती है। ऐसी अवस्था वहाँ अधिक मिलती है जहाँ पशुओं में बाँझपन तथा जननेन्द्रिय रोग अधिक प्रकोप करते हैं। ऐसे बछडों की मादाओं में जेर न गिराने तथा सेप्टिक गर्भाशय शोथ जैसे कष्ट अवश्य हुआ करते हैं तथा जन्म के समय बछडा का शरीर स्वयं ही अपने दस्तो से सना रहता है। ऐसा कहा जाता है कि जो गायें चरागाहो पर न चराकर वर्ष भर पशुशाला में ही बाँध कर रखी जाती हैं उनसे पैदा बछडों की निर्बलता का कारण आहार में कुछ पदार्थों की कमी हो जाना है। प्राय ऐसा देखा गया है कि किसी किसी घोडी के सभी बच्चे नाभि रोग से पीडित होकर मर जाते हैं। यद्यपि घोडियो की अपेक्षा गो पशुओं में अतः गर्भाशयी छूत अथवा रोग लगने के प्रमाण कम मिलते हैं फिर भी कभी कभी ऐसा यूथ देखने को मिलता है जहाँ यह सक्रमण युवा पशुओ की मृत्यु का प्रमुख स्रोत मालूम पडता है। किन्तु जब कभी बीमारी का कारण मा में स्थित होता है तो भी वहाँ जनन-तंत्र का कोई प्रत्यक्ष रोग नहीं दिखाई पडता। बछडा की रक्त-पूतिता की प्राणघातक महामारी के समय गाभिन गायो को हटाकर ऐसे बाडा में रखने से भी, जहाँ पहले कोई पशु न रहे हो, उनकी मृत्यु दर पर कोई प्रभाव नहीं पडता। ऐसी परिस्थितियां में यह सदेह होता है कि रोग का कारण माँ में ही विद्यमान है और सभवत ऐसा खीस में कुछ आवश्यक कारक के अभाव के कारण होता है।

रोग विज्ञान —बछडो में प्रवाहिका रोग के रोग विज्ञान पर बहुत ही कम प्रकाशित रिपोर्टें उपलब्ध हैं किन्तु मानव स्रोतो से प्राप्य सूचना के आधार पर वसीय यकृत (fatty liver) तथा गुर्दे की नलिकाएँ टूटी फूटी मिलती हैं। जैसा होल्ट[4] द्वारा वर्णन किया गया है, बच्चो पर किये गए अवलोकन यह प्रदर्शित करते हैं कि दस्तो में रासायनिक रोग विज्ञान विशेष महत्वपूर्ण है। कम पाचन, अँतडी के एपिथीलियम द्वारा आंशिक शोषण तथा तेज लहरी गति पर अधिक जोर दिया जाता है। सोडियम तथा क्लोराइड लवणा एव पानी के अधिक ह्रास के कारण शरीर में निर्जलीकरण होता है। सोडियम का ह्रास क्लोरीन से अधिक हो जाता है और जब तक कि गुर्दों द्वारा क्लोरीन का भी उतना ही क्षतिपूरक ह्रास नहीं हो जाता, पशु को एसिडोसिस हो जाती है। किन्तु, बहुधा उत्सर्जन क्रिया में बाधा पडकर थोडा सा मूत्र ही बाहर निकलता है। निर्जलीकरण केवल पानी की कमी के कारण ही नहीं होता वरन् इसमें पानी तथा खनिज[1] लवण जिनका कि कोशा के बाहर वाला द्रव बना होता है दोनो का ह्रास होता है। होल्ट ने इसे शरीर का अतरालीय द्रव का ह्रास कहकर पारिभाषित किया है और इसके साथ प्राय रक्त-प्लाज्मा के आयतन का भी ह्रास हुआ करता है। सीलमैन और उनके साथियो के आँकडे यह प्रदर्शित करते हैं कि प्रवाहिका रोग में अँतडी से कैरोटीन तथा विटामिन ए का शोषण काफी कम होता है।

शव परीक्षण प्राय ऋणात्मक होता है। फिर भी काफी मात्रा में एकत्रित पदार्थ के ऊपर विस्तृत अति रक्तता से लेकर अत्यधिक सूजन तक, जिसमें अँतडी की पेरिटोनियल सतह भी शामिल हो जाती है, विभिन्न प्रकार की उग्र आघाति मिलती है।

एक या दो दिन के अल्प काल के बाद मरने वाले पशुओ की आहार-नाल में रक्त पूतिता अथवा रुधिर विषाक्तता के प्रधान क्षतस्थल मिलते हैं। पशु की लाश बिल्कुल गल जाती है और इसमें एक विशेष प्रकार की बदबूदार गंध आती है। पिछला धड पतले गोबर

नाभि-रोग की छूत प्रायः गर्भकाल में ही लग जाती है फिर भी जन्म के समय नाल व सफाई से काटने तथा बांधने से बछड़ों में बीमारी के प्रकोप को कम किया जा सकता है।

बड़े बछड़ों में, दस्त होना ही इस रोग का एकमेव लक्षण है। बहुधा बड़े बछड़ों दस्तों के प्रकोप पर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता, क्योंकि अधिकतर बछड़े अच्छे हो जा है। किन्तु, कुछ दिनों बाद कई रोगी मरने लगते हैं। अतः किसी भी प्रकार के दस्तों प विशेष ध्यान देना चाहिए। भीषण प्रकोपों में, गोबर में बाइलीवर्डिन मिला होने के कार दस्तों का रंग हरा हो सकता है तथा हरे रंग का गोबर होना भयंकर गड़बड़ी का सूचक है कभी-कभी इस रोग से पीड़ित 4 से 6 माह अथवा अधिक आयु के बछड़ों में गोबर का र काला होता है—'काली पेचिस'। एक माह की अवधि के बाद, रोगी की जठर-आ शोथ अथवा कमजोरी से मृत्यु हो जाती है। कुछ पशुओं में यह अवस्था निमोनिया त आन्त्रार्ति के साथ तथा अन्य में केवल आन्त्रार्ति के साथ देखी जाती है। एक 6 माह की आ के बछड़े में आहार-नाल के समस्त पदार्थ काले पड़ गए थे तथा अग्र आमाशयों में कई गैल काला द्रव भरा था। ड्यूओडीनम के अग्र भाग की श्लेष्मल झिल्ली मोटी तथा झुर्रियोंदा होकर देखने में जोने रोग की भाँति प्रतीत होती थी तथा शेष आहार-नाल देखने में सामा थी। उसी आयु का दूसरा बछड़ा भी उतनी ही अवधि (एक माह) से काली पेचिस पीड़ित था। शव-परीक्षण करने पर इस पशु में उग्र निमोनिया के लक्षण दिखाई पड़े, कि उसमें स्पष्ट रूप से आन्त्रशोथ न थी। प्रवाहिका रोग से मरने वाले बड़े बछड़ों की ला खोलकर देखने पर विभिन्न प्रकार के परिवर्तन मिलते हैं। 6 माह की आयु वाले बछड़ों के ए समूह में अज्ञात कारणवश होने वाली काली पेचिस की महामारी में 3 से 5 दिन की अव के बाद शव-परीक्षण करने पर छोटी अँतड़ी में उग्र प्रकार की रक्त-स्रावी आन्त्रार्ति मिली।

भूसा अथवा बुरादा आदि खाने से लगने वाली चोट एक से तीन या चार सप्ता की कम आयु पर लगा करती है किन्तु शारीरिक निर्बलता, रुकी हुई वृद्धि, लम्बे बाल त केवल दूध पीने पर भी कब्ज के बाद दस्त होना जैसे लक्षण दिखाकर इस बीमारी का प्रभा काफी दिनों तक रह सकता है। दूध पिलाने पर रोगी धीरे-धीरे ठीक होने लगता है कि बछड़े की बाढ़ मारी जाती है। शव-परीक्षण करने पर आमाशय, रेटिकुलम, ओमेस तथा एबोमेसम में कड़ा पदार्थ भरा मिलता है।

एक से दो माह की अवस्था में दस्तों के बाद निमोनिया हो सकती है। तेज बुखा और गिरी हुई हालत के साथ इसका आक्रमण एकाएक होता है। एक या दो दिन निमोनिया के लक्षण प्रकट हो जाते हैं और यह सम्भव है कि निमोनिया ही प्राथमिक रोग हो लम्बी दूरी तय कराने तथा खुराक में एकाएक परिवर्तन करके सूखे चारे खिलाने से 6 से माह के बछड़ों को प्राण-घातक दस्त-रोग हो जाता है जिसमें शव-परीक्षण करने पर भ कोई विशेष परिवर्तन नहीं दिखाई पड़ता। कभी-कभी स्वच्छ वातावरण में रखे ग 3 से 4 माह की आयु वाले बछड़ों में भी एकाएक दस्तों का भयकर प्रकोप होता है ज सब प्रकार से नवजात बछड़े के श्वेत-पेचिस रोग से मिलता-जुलता है और तीन या चा दिन में यह प्राणघातक सिद्ध होता है। इसमें भी, शव-परीक्षण ऋणात्मक होता तथ निमोनिया मौजूद हो सकती है।

इस मिश्रित समूह के रोगो में, बैक्टीरियल कारण के अनुसार रोग का निदान करना असंभव है क्योंकि इसमें छूत के प्रकार का पता ही नहीं लगता। किसी हद तक यह ज्ञात करना संभव है कि रोग का कारण दूषित आहार, खराब रहन-सहन, छूत अथवा अधिक भीड़-भाड़ है, किन्तु कभी-कभी यह भी कठिन हो सकता है। किसी भी आयु पर दस्तों के हल्के अथवा भीषण प्रकोप के मध्य अलग तथा निश्चित पहचान करना जरूरी है। यह भी जान लेना परमावश्यक है कि अमुक रोगी केवल दस्तों से ही पीड़ित है अथवा दस्त किसी अन्य रोग, प्रमुख रूप से निमोनिया, का लक्षण तो नहीं हैं। अधिकांश रोगियों में यह जानकारी करना कठिन नहीं है, क्योंकि निमोनिया प्रायः 3 सप्ताह या अधिक आयु वाले बछड़ों में होती है जबकि प्राथमिक प्रवाहिका रोग जन्म के प्रथम सप्ताह में अधिक प्रकोप करता है।

बचाव—अनुभव के आधार पर यह सिद्ध हो चुका है कि नियमित रूप से विधिवत खिलाने तथा अवांछित पदार्थों को निगलने से बचाने के लिए मुसीके (muzzle) के प्रयोग से इस रोग को कंट्रोल किया जा सकता है। जन्म के समय नार्मल तथा स्वस्थ बछड़े के लिए यह क्रम संक्षेप में निम्न प्रकार है :

1. बच्चा जन्मने के लिए गाय को साफ-सुथरे बाड़े में रखा जाए। ब्याने के समय फैलनी वाली सभी प्रकार की छूत के कंट्रोल के लिए ऐसे बाड़े महत्वपूर्ण हैं। बड़े-बड़े प्रजनक फार्मों तथा विशुद्ध जाति के यूथों में आर्थिक दृष्टिकोण से ऐसे बाड़े अत्यन्त आवश्यक हैं। किन्तु जन्म के समय की परिस्थितियों को ध्यान में दिए बिना नवजात बछड़े को जितना शीघ्र हो सके खीस मिलना चाहिए। लेखक ने यह अनुभव किया है कि यदि नार्मल बछड़ा अपनी माँ के साथ बारह घंटे तक रह लेता है तो उसे काफी मात्रा में खीस मिल जाता है। आधुनिक डेरी गाय एक बछड़े की आवश्यकता से अधिक दूध देती है। जब नवजात क्षुधातुर बछड़ा आवश्यकता से अधिक दूध पी लेता है तो कोलन की रक्तपूतिता के विकसित होने की परिस्थितियाँ अनुकूल हो जाती है उदाहरणार्थ; आमाशय अधिक भर जाता, अँतड़ी में गर्भकाल का मल भरा होता तथा आहार-नाल अभी तक ठीक कार्य करने के योग्य नहीं होती।

कुछ लेखक ब्याने के पूर्व ब्राह्य जननांगों को धोकर सफाई करने, योनि के धोने तथा नवजात बछड़े को स्वच्छ व जीवाणुरहित चादर पर प्राप्त करने को अधिक महत्व देते हैं। इन सावधानियों को लागू करना कठिन है और यह बिल्कुल ही बेकार हैं। फिर भी यह अत्यधिक वाछनीय है कि ब्याने के समय गर्भाशय में बछड़े की सामान्य स्थिति होते हुए भी यदि वह आकार में बड़ा है तो उसे खींचने, गाय के पिछले धड़ को दीवाल आदि से रगड़ने से बचाने, जन्म के तत्काल बाद बछड़े के नाल की सफाई करने तथा उसको खीस पिलाने के लिए यदि आवश्यकता हो तो सहायता कर देने के लिए एक अनुभवी परिचारक गाय के पास मौजूद हो। गर्भाशय में जब बच्चा उल्टा स्थित होता है तो उसे जीवित पैदा करने के लिए प्रायः तत्काल सहायता की आवश्यकता पड़ती है। ऐसी सहायता समय पर न मिल पाने से या तो ब्याते समय ही बच्चे की मृत्यु हो जाती है अथवा वह इतना कम-जोर होता है कि एक सप्ताह के अन्दर ही मर जाता है।

टिंचर आयोडीन से आधी भरी हुयी 2 औंस की चौड़े मुंह वाली शीशी में नाल को

धोकर साफ किया जाता है। बछड़े की बैठी हुई अवस्था में यह कार्य सर्वोत्तम होता है। शीशी को नाभि के क्षेत्र पर उलटकर उदर-तली के विपरीत तब तक दाबते हैं जब तक कि नाल और उसके चारो ओर की त्वचा आयोडीन से पूर्ण भीग नहीं जाती। इस आयोडीन को पुनः प्रयोग में नहीं लाया जाता।

2 बारह घंटे बाद बछड़े के मुँह में मुसीका लगाकर अगले चौबीस घंटे तक उसे कुछ भी खाने को नहीं दिया जाता। भूखे रहने के अन्तिम समय में बछड़े के पेट से गर्भ-काल का काला मल निकल कर पेट तथा अँतड़ी साफ हो जाती है तथा उसे कोई कष्ट नहीं होता। भूखा रहने की अवधि जब समाप्त हो जाए तो रात को उसे एक क्वार्ट दूध में एक पिंट चूने का पानी मिलाकर, शारीरिक तापक्रम तक गुनगुना करके, पिलाइए। गुर्ंजी नस्ल के बछड़ों के लिए मुसीके की नाप—ऊपरी व्यास 4 75 इंच, निचला व्यास 3·50 इंच, ऊँचाई 4 25 इंच तथा होल्सटिन के लिए—ऊपरी व्यास 5 25 इंच, निचला व्यास 4 इंच, ऊँचाई 4 50 इंच होनी चाहिए।

चित्र—18 बछड़े का मुसीका

जन्म के 36 घंटे बाद तीसरे दिन सुबह को नियमित खिलाने का दिन प्रारम्भ होता है। अतः प्रातःकाल पैदा हुआ एक बछड़ा शाम तक अपनी माँ के साथ रहेगा तथा दूसरे दिन आने वाली रात तक भूखा रखा जावेगा। तत्पश्चात् इसे एक क्वार्ट दूध और एक पिंट चूने का पानी पिलाया जाएगा। शाम को पैदा हुआ बछड़ा रात भर अपनी माँ के रहेगा तथा दूसरे दिन सुबह से तीसरे दिन प्रातःकाल तक भूखा रखा जाएगा। रे दिन, अर्थात् नियमित खिलाने के प्रथम दिन, बछड़े को उसके शरीर भार का 6

प्रतिशत माँ का दूध दीजिए। जन्म के समय 65-70 पौंड शरीर भार वाले गूरेंजी नस्ल के बछड़े के लिये यह मात्रा 4 पौंड है। इसको तीन खुराकों में विभाजित करके प्रत्येक के साथ एक पिंट चूने का पानी मिलाकर बछड़ों को पिलाना अधिक अच्छा है, किन्तु दिन में तीन वार खिलाना शायद अधिक प्रचलित नहीं है। प्रत्येक वार के दूध में एक पिंट से अधिक चूने का पानी नहीं मिलाना चाहिए। पहले तीन सप्ताह तक, प्रतिदिन दूध की मात्रा 8 औंस बढ़ाते जाइये। पहले सप्ताह के अन्त में बछड़े को उसके शरीर भार का 8-12 प्रतिशत दूध नित्य मिलना चाहिए। पहले सप्ताह में दोपहर को खिलाने से पूर्व बछड़े का तापक्रम लीजिये। यदि यह 103° फारेनहाइट या अधिक हो तो बछड़े को एनिमा तथा तीन औंस द्रव पैरेफिन देकर तब तक कुछ न खिलाइए जब तक कि तापक्रम नार्मल न हो जावे और बछड़ा क्षुधातुर न हो।

दुबले-पतले तथा कमजोर बछड़ों को बार-बार खिलाने तथा जब तक वे कुछ-कुछ हृष्ट-पुष्ट न हो जाएँ, सीमित आहार देने की आवश्यकता पड़ती है। इनको पहले दिन भूखा नहीं रखना चाहिए। दूध में नित्य 4 औंस जैतून का तेल मिलाकर पिलाना लाभप्रद है। यदि नवजात बछड़ा उठने तथा थन चूसने में असमर्थ हो तो उसे नित्य तीन से पाँच बार 8 औंस माँ का दूध दीजिए। कभी-कभी ऐसे बछड़ों में 50-100 घ० सें० की मात्रा में माँ के रक्त का त्वचा के नीचे इंजेक्शन देने से आशातीत लाभ होते देखा गया है। जन्म के बाद जितना शीघ्र हो सके यह इंजेक्शन देना चाहिए। जिन यूथों में बछड़े प्रायः कमजोर अथवा बीमार पैदा होते हैं उनमें किन्हीं भी परिस्थितियों में मृत्युदर अधिक होती है तथा इससे बचाव के लिए पूरे यूथ के खान-पान तथा प्रजनन पर विशेष ध्यान देना पड़ता है।

बछड़ों के निवास-स्थल ऐसे होने चाहिए जिससे उनकी अत्यधिक ठंड, एकाएक ताप-क्रम में परिवर्तन तथा खुले हुए दरवाजों से जाने वाली ठंडी हवाओं से रक्षा हो सके। बछड़ा-गृहों को सूखा, साफ तथा गर्म रखना चाहिए। यदि बछड़ा-घर काफी बड़ा हो जिसमें कि तापक्रम को कंट्रोल करना कठिन हो तो उनके शरीर को टाट ओढ़ाकर गर्म रखना चाहिए। बछड़ा-घर का तापक्रम 45 से 55° फारेनहाइट के मध्य होना ठीक है। पहले कुछ दिनों के लिए व्यक्तिगत कमरे वांछनीय है किन्तु, छोटे कमरों में रोशनदान की व्यवस्था करना काफी कठिन होता है और प्रथम दो सप्ताह बाद उनमें बछड़ों को रखने से उन्हें निमोनिया तथा अन्य रोग होने का भय रहता है। जहाँ मुसीका प्रयुक्त होते हैं, वहाँ बछड़ों के आपस में मिलने से होने वाले भय कम हो जाते हैं। पहले तीस दिनों तक मुसीका के प्रयोग करने तथा केवल दूध पिलाने से वे भलीभाँति पनपते हैं।

गायों के चरागाह अथवा खुले मैदानों में ब्याने तथा बछड़ों को कम से कम दस दिन तक बाड़ों से अलग रखने पर, श्वेत पेचिस रोग से होने वाले ह्रास को कम किया जा सकता है। नवजात बछड़ों को प्राणघातक व्याधियों से बचाने के लिए गायों को ब्याने से पूर्व ऐसे बाड़ों में भेजना चाहिए जिनमें पहले कभी पशु न रहे हों। इनको पड़ोसी के बाड़े में भी भेजा जा सकता है किन्तु ऐसा करने पर यह बात ध्यान देने योग्य है कि इनकी देखभाल करने वाले परिचारकों ने कभी छुतैले स्थानों में काम न किया हो और वे पूर्णरूपेण स्वस्थ एवं स्वच्छ हों।

बछड़ों को खिलाने का अभिलेख

(Calf Feeding Record)

निर्देश जन्म के समय बछडे के नाल को सफाई से काटकर, कीट-नाशक दवा लगाइए। बारह घंटे तक बछडे को उसकी माँ के साथ छोडकर उसे खीस पिलाइए। यदि बछडा कमजोर न हो तो बारह घंटे बाद उसके मुंह में मुसीका लगाकर अगले चौबीस घंटे तक भूखा रखिए। चौबीस घंटे समाप्त होने पर उसे नियमित आहार देना प्रारम्भ करके निम्न प्रकार नित्य दो बार (पिंट अथवा पौण्ड) खिलाइए :

दिनांक	खिलाने के दिन	दूध	चूने का पानी	सपरेटा	प्रत्येक असामान्यता को नोट करें
	1	2	1		माँ का दूध
	2	2	1		माँ का दूध
	3	2	1		माँ का दूध
	4	3	1		माँ का दूध
	5	3	1		माँ का दूध
	6	3	1		
	7	3	1		
	8	3	1		
	9	3	1		
	10	3	1		
	11	4	1		
	12	4	1		
	13	4	1		
	14	4	1		
	15	4	1		
	16	4	1		
	17	4	1		
	18	4	1		
	19	4	1		
	20	4	1		
	21	5	1		
	22	5	1		
	23	5	1		
	24	5	1		
	25	5	1		
	26	5	1		
	27	5	1		
	28	5	1		

दिनांक	खिलाने के दिन	दूध	चूने का पानी	सपरेटा	प्रत्येक असामान्यता को नोट करें
	29	5	1		
	30	5	1		
	31	5	1		सूखी घास तथा दाना खिलाना शुरू कीजिए
	32	4	1	1	
	33	4	1	1	
	34	3	1	2	
	35	3	1	2	
	36	2	1	3	
	37	2	1	3	
	38	1	1	4	
	39	1	1	4	
	40		1	5	

यह स्पष्ट है कि उक्त सभी निर्देशन औसत परिस्थितियों के लिए अनुकूल नहीं है किन्तु, जहाँ मूल्यवान पशुओं का ह्रास अधिक होता है, वहाँ उच्च कोटि के उपचार आवश्यक हैं। इस पृष्ठ पर वर्णित ढँग उन यूथों के लिए लाभप्रद सिद्ध हुआ है जहाँ अनेक बछड़ों का एक साथ पालन-पोषण किया जाता है। इसके लिए प्रत्येक पशु का अभिलेख रखा जाता है। ऊपर दी गई तालिका में गूरँजी नस्ल के बछड़ों के लिए मात्रा निर्धारित की गई है। इस प्रकार के अभिलेख, बचपन की गिरी हुई हालत तथा उनके परिपक्व होने पर बाँझपन एवं गर्भपात के मध्य क्या सबंध है, यह प्रदर्शित करते है।

खुले हुए बाड़े : बचाव के प्रचलित ढँगों को अपनाने के बाद भी कुछ पशुओं में अन्य रोगों के साथ प्रवाहिका रोग होते देखा जाता है। ऐसी परिस्थितियों में इसका कारण कहीं रहन-सहन अथवा खान-पान में छुपा रह सकता है। रहन-सहन में प्रसूति-गृह तथा बछड़ा-घरों का लगातार प्रयोग, विशेषकर बड़े यूथों में, खतरनाक सिद्ध हो सकता है और ऐसे प्रमाण भी मिले है कि इनके लगातार प्रयोग करने से कुछ ऐसी प्रतिकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, जिन्हें सफाई आदि से कंट्रोल नहीं किया जा सकता। मानव जच्चा-बच्चा केन्द्रों में ऐसा बहुधा देखा जाता है, जहाँ छोटा सा कारण भी खतरनाक सिद्ध हो सकता है। अनेक फार्मों पर, जहाँ बछड़ों के कमरे अथवा बाड़े एक ओर, विशेषकर दक्षिण की तरफ़, खुले रखे जाते हैं तथा उन्हें नर्स-गायों का दूध पिलाया जाता है, काफी सुधार होते देखा गया है। गूरँजी तथा जर्सी नस्ल के बछड़ों को प्रतिदिन 10 पौण्ड की दर से दूध दिया जाता है। इस प्रकार एक 20 पौण्ड दूध देने वाली गाय से दो बछड़ों का पालन-पोषण किया जा सकता है। आवश्यक मात्रा में खीस पाने के लिए बछड़े को तीन दिन तक माँ के थन से दूध पिलाया जाता है। तत्पश्चात् उसे अच्छे बिछावनयुक्त नर्स-गाय के बाड़े में भेज दिया जाता है, जहाँ वह चार माह तक रहता है। यद्यपि दूसरे या तीसरे दिन प्रारम्भ होने वाली पेचिस को इस विधि द्वारा कंट्रोल नहीं किया जा सकता, फिर भी इस ढँग से पालित-पोषित बछड़े अधिक शक्तिशाली होते हैं तथा यह बाल्टी से दूध पीने वाले

बछडा की अपेक्षाकृत बीमारियों के प्रति अधिक सहनशील होते हैं। साथ ही इनको श्वास-नली के रोग नही लगते। कृत्रिम रूप से पाले गए बछड़ दूसरे साथी बछडा के थन चूसते देख गय हैं। वे गायें जो किसी कारणवश निर्धारित माना से कम दूध देती हैं उन्हें परिचारिका गायो (nurse cows) के रूप में प्रयोग किया जा सकता ह। यद्यपि कि खराब अयन वाली गायो के दूध पर कुछ आपत्ति भी हो सकती है किन्तु थैनला रोग स पीडित गायो के दूध पर पाली गयी बछियो म यह देखा गया है कि जब व ब्याती हैं उन्हें थैनला रोग नही होता।

अत में हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि बछडा में प्रकोप करन वाल प्रवाहिका रोग के अनक कारण हो सकत हैं तथा बछडा स्वास्थ्य और बीमारी के मध्य थोडा सा फासला रखन वाले इन तत्वो का छूत अथवा पौषणिक निर्बलता के रूप में अपन शरीर में स्वत छुपाए रहता ह। यह तथ्य कि आहार-नाल छूत के प्रवेश का प्रमुख माग है, सल्फाथैलीडीन के बचाव एव राग-हर प्रभाव स स्पष्ट हो जाता है जिसकी क्रिया पाचन-तन्त्र तक ही सीमित रहती है। साथ ही लाइट और होडस[6] न वाइरस की प्रारम्भिक प्रजाति का आमाशय नलिका द्वारा बछडो की आहार-नाल म प्रविष्ट करक दस्त रोग उत्पन्न किया। यह विचार कि निमोनिया से पीडित बछडो को होन वाले दस्त निमोनिया के परिणामस्वरूप नही होते, इस अवलोकन द्वारा समर्थित है कि निमोनिया का कन्ट्रोल करन के बाद भी बछडो को खूब दस्त आत रह सकते हैं।
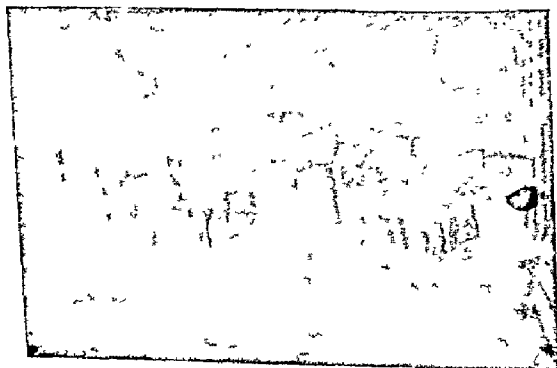
चित्र—19 नम-गाया पर बछडा पालन की खुला बाडा विधि

सल्फा-औषधियां अंतडी क जीवाणुओं पर जीवाणु-स्तम्भक क्रिया करन वाली तथा बछडा क लिए विषैली न होन वाली सल्फा-औषधियों की खोज के बाद, इन औषधियों का प्रयोग नवजात बछडों का सफेद दस्तों स बचान के लिए किया गया। थार्प[17] (Thorp)

के अनुसार आहार-नाल के कोलीफार्म जीवाणुओं पर सल्फाथैलीडीन तथा सल्फासक्सीडीन दोनों ही, सल्फागुआनीडीन की अपेक्षाकृत अधिक प्रभाव डालती हैं तथा सल्फाथैलीडीन की प्रभावकारी मात्रा, सल्फासक्सीडीन से लगभग एक चौथाई है। साथ ही अधिक मात्रा में देने पर भी सल्फाथैलीडीन के विषैले प्रभाव के बारे में कोई रिपोर्ट न मिली। अँतड़ी में खूब फैलकर, वहाँ उपस्थित छूत को नष्ट करने अथवा कंट्रोल करने के लिए औषधि का यह गुण लाभदायक है। बछड़ों में सफेद बदबूदार दस्तों के बचाव के लिए सल्फाथैलीडीन अत्यन्त गुणकारी सिद्ध हुई है और यह औषधि उसके आक्रमण को बचा सकती अथवा रोग के वेग को कम कर सकती है। वाइज और ऐंडर्सन की रिपोर्ट के अनुसार रोग-ग्रसित पशुओं में 71·4 प्रतिशत मृत्युदर होने के बाद, इन औषधियों के प्रयोग से 38 बछड़ों में से 89 5 प्रतिशत को बचाया गया। उन्होंने जन्म के बाद 6 से 12 घंटे के बीच प्रारम्भ करके, तीन-चार दिन तक दो बराबर मात्राओं में रोजाना 4 ग्राम सल्फाथैलीडीन देने की राय दी और रोग के भीषण प्रकोपों में दिन में कई बार औषधि की अधिक मात्रा देने को कहा। उडाल[18] ने पहले दो दिन 8 ग्राम, तत्पश्चात् तीसरे चौथे दिन रोजाना 4 ग्राम दवा को दो बराबर मात्राओं में विभाजित करके, कुल 24 ग्राम औषधि दी। पहली खुराक जन्म के बाद जितना शीघ्र हो सके दी जाती है। ऐसा करने से दस्तों के प्रारंभिक प्रकोपों की संख्या में काफी कमी देखी गयी। जन्म के समय 4 ग्राम वाली केवल एक ही गोली देना बचाव के लिए पर्याप्त हो सकती है। सल्फाथैलीडीन, 4 ग्राम की गुलिका अथवा 1/4 औंस कैप्सूल के रूप में, 1/2 इंच की गुलिका बन्दूक (balling gun) द्वारा आसानी से दी जा सकती है।

प्रतिजैविक पदार्थ : बछड़ों को रक्तपूतिता तथा दस्तों से बचाने के लिए प्रयोग होने वाले प्रतिजैविक पदार्थ निम्नलिखित हैं : स्ट्रेप्टोमाइसिन (1 ग्राम दवा को 8 घ सें॰ पानी में घोलकर, आधा त्वचा के नीचे इंजेक्शन देना तथा शेष मुँह द्वारा पिलाना); 2 दसलक्ष यूनिट घुलनशील पैनिसिलिन तथा 2 ग्राम स्ट्रेप्टोमाइसिन का अधस्त्वक् टीका देना; 100 मिलिग्राम टेरामाइसिन का एक कैप्सूल जन्म के तत्काल बाद मुँह द्वारा देना; 5 मिलिग्राम प्रति पौण्ड शरीर भार आरोमाइसिन अंतःशिरा इंजेक्शन द्वारा देना (बछड़ों के कर्ण स्राव में यह औषधि विशेष गुणकारी है)। उन यूथों को छोड़कर जिनमें प्रत्येक नवजात बछड़े को रक्तपूतिता रोग की छूत लगती हो, सल्फा-औषधियों अथवा प्रतिजैविक पदार्थों का दैनिक प्रयोग नहीं करना चाहिए।

चिकित्सा—सल्फाथैलीडीन: सफेद दस्त रोग (बछड़ों की रक्त-पूतिता) में निर्जलीकरण, आत्रार्ति और अवसन्नता (रक्त-विषाक्तता) की चिकित्सा करनी पड़ती है। रोग के हल्के प्रकोप में केवल दस्तों के लक्षण ही दिखाई देते हैं जो कुछ घंटों में ठीक हो जाते हैं, किन्तु इसके भीषण प्रकोप में प्रारम्भिक आक्रमण के समय ही अच्छा इलाज गुणकारी होता है। इस बाद पर आधारित होकर कि अँतड़ी में कोलीफार्म जीवाणुओं की छूत ही इसका प्रमुख कारण है आंत्रिक ऐंटिसेप्टिक पदार्थों के प्रयोग तथा सल्फाथैलीडीन की जीवाणुरोधक क्रिया पर अधिक जोर दिया गया है। सल्फा-औषधियों का चुनाव करते समय; गुर्दे जो दस्तों के कारण पहले से ही क्षतिग्रस्त हो चुके होते हैं, उनका अधिक विनाश न हो, इस सावधानी पर विशेष ध्यान रखना चाहिए। दस्त अथवा सल्फा-औषधियों का विषकारी प्रभाव गुर्दे की सामान्य क्रिया को सम्पन्न होने से रोकता है, अतः दवा के रूप में दी जाने वाली सल्फा-

औषधियाँ रक्त में शोषित होकर रोगी को क्षति पहुँचा सकती है। ऐसी सल्फा-औषधियों की मात्रा लगभग 1 ग्रेन प्रति पौण्ड (6 5 ग्राम प्रति 100 पौण्ड) शरीर भार है, फिर भी पहले से कोई यह नही बता सकता कि इसकी कितनी मात्रा रवो के रूप में गुर्दे में जमा होकर, युरीमिया (uraemia), रक्त मेह तथा मणिभ-मूत्र रोग (crystalluria) उत्पन्न करती है। चूंकि रक्त परिभ्रमण में घुसने वाली सल्फा औषधियाँ आजकल घरेलू इलाज में प्रयोग होती है, अत यह सभव है कि बिना जानकारी के विषाक्तता के दुष्परिणाम हो जाते हो। दस्तरोग की चिकित्सा में यह वाछनीय है कि सल्फा-औषधियो की क्रिया आहार-नाल तक ही सीमित रखी जाए क्योकि इनमें जीवाणुस्तभक गुण होता है। यद्यपि इन औषधियो की निर्धारित मात्रा 6 से 12 ग्राम प्रति 100 पौण्ड शरीर भार है जो 3 से 5 दिन तक दी जाती है, किन्तु चिकित्सा किए गए अनेक रोगियो से यह प्रकट होता है कि रोग के भीषण प्रकोप में औषधि की मात्रा बढ़ाकर देने से शीघ्र लाभ होता है। बिना सामान्य लक्षणो के एक आक्रमण में न्यूनतम औषधि देने से शीघ्र लाभ होता है। एक या दो दिन में हालत में सुधार होने लगता है। दो बराबर मात्राओ में दिन में 30 ग्राम औषधि नित्य देने से अधिक लाभ होता है। रोग के उग्र तथा एकाएक प्रकोप में तत्काल अधिक मात्रा में औषधि देने की आवश्यकता पड सकती है। इस प्रकार एक सप्ताह से कम आयु वाले बुरी तरह बीमार पशु नित्य 60 ग्राम औषधि को चार बराबर भागो में विभाजित करके देने से अच्छे हो गए। जहाँ इस दवा का स्वतन्त्रतापूर्वक प्रयोग किया गया, वहाँ मृत्यु दर में भारी कमी देखी गई। आहार नाल के अन्दर कार्य करने वाले ऐसे पदार्थ के चमत्कारी परिणाम यह सिद्ध करते है कि बछडो में प्रवाहिका एक अँतडी का रोग है जैसा कि सन् 1892 में जेंसन[2] द्वारा तथा 1925 में स्मिथ और ऑर्कट[3] द्वारा रिपोर्ट किया गया।

प्रति जैविक पदार्थ जैसे कि बचाव के लिए बताए गए है, बछडो के रक्तपूतिता रोग के इलाज में भी यह उतना ही गुणकारी है। इनके अन्तर्गत विशेषकर स्ट्रेप्टोमाइसिन, टेरामाइसिन, आरोमाइसिन और क्लोरोमाइसिन (500 मिलिग्राम मुँह द्वारा दिन में 2–3 बार नित्य) जैसे वे प्रतिजैविक पदार्थ ही आते है जो ग्राम ऋणात्मक (gram negative) जीवाणुओ के प्रतिकूल क्रिया करते है।

जन्म के बाद शीघ्र होने वाले दस्तो के साथ निर्जलीकरण तथा अवसन्नता में शरीर से ह्रास होने वाले द्रवो तथा खनिज लवणो की पूर्ति करने तथा गुर्दों की क्रिया को सचालित रखने के लिए बच्चो की चिकित्सा वाले नियम ही अपनाने पडते है। इस कार्य के लिए नार्मल सलाइन घोल (500 घ० सें०) अथवा डेक्सट्रोज (200 से 500 घ० सें० 40 प्रतिशत घोल) अथवा शिराधान (blood transfusion) का प्रयोग किया जाता है। इन्हें अत शिरा अथवा अवस्त्वक् इजेक्शन, अथवा दोनो मार्गों द्वारा दिया जा सकता है। रोग के भीषण प्रकोप में सल्फागैलीडीन के साथ पहले दिन 100-150 घ० सें० गलाघोटू एंटिसीरम का अवस्त्वक् इजेक्शन देकर, बाद में नित्य 50 घ० सें० सीरम देने से आशातीत लाभ होते देखा गया है। इन रोगियो में यह सभव है कि लाभ विशिष्ट प्रतिपिंडो (antibodies) की उपस्थिति के कारण न होकर रक्त प्लाज्मा की सामान्य क्रिया के कारण हुआ हो।

इस रोग से बचाव तथा चिकित्सा के लिए गो-जातीय ऐंटिबैक्टीरियल सीरम का बहुतायत से प्रयोग किया जाता है। प्रायः इससे कोई प्रत्यक्ष लाभ तो होता नहीं दिखाई देता। लेखक ने यह नहीं देखा कि इसमें कोई रोगहर अथवा रोग के बचाव का गुण है। 250 से 500 घ० सें० की मात्रा में माँ का रक्त चढ़ाने से अधिक लाभ होता है। इसके प्रयोग के लिए 1.5 से 2 ग्राम सोडियम साइट्रेटयुक्त बोतल में 500 घ० सें० पशु का रक्त लेकर, उसे फाइब्रिन रहित करके, अंतःशिरा अथवा अधस्त्वक् इंजेक्शन द्वारा रोगी को दे दिया जाता है। अथवा माँ के शरीर से सीधे ही बछड़े के शरीर में रक्त पहुँचाया जा सकता है। बड़े बछड़ों को या तो आधी खुराक खिलानी चाहिए अथवा बिल्कुल ही चारा देना बंद कर देना चाहिए। दूध अधिक पी लेने अथवा किण्वित होने वाले पदार्थों के अधिक भरे होने पर अँतड़ी को खाली करना आवश्यक होता है। इसके लिए 20 ग्राम बिस्मथ सबनाइट्रेट के साथ 2 से 4 औंस (60-120 घ० सें०) जैतून का तेल मिलाकर दिन में तीन बार देना चाहिए। 2 से 4 माह की आयु वाले बड़े बछड़ों का पेट फूलने तथा बदबूदार पतले दस्त आने पर उन्हें 2 से 4 औंस (60–120 घ० सें०) रेंड़ी का तेल पिलाना चाहिए। नवजात छोटे बछड़ों के लिए जैतून का तेल अथवा खनिज तेल, रेंडी के तेल से अधिक अच्छा है। तेल देकर जब बछड़े का पेट साफ हो जाए तो संवेदनशील श्लेष्मल-झिल्ली की ओर ध्यान देना चाहिए। इसके लिए बिस्मथ सबनाइट्रेट (10 से 20 ग्राम दिन में दो बार नित्य) देना सर्वोत्तम है। प्रारम्भ से ही बछड़ों को पाचक तथा उत्तेजक औषधियाँ जैसे 4 ड्राम (16 घ० सें०) ऐरोमैटिक एमोनिया स्प्रिट को 12 औंस (360 घ० सें०) सोडावाटर में मिलाकर प्रत्येक चार घंटे के अवकाश पर देना चाहिए। सोडावाटर बनाने के लिए 1 औंस (30 ग्राम) सोडा-बाइकार्ब को 1 पिंट (500 घ० सें०) पानी में मिलाया जाता है। स्ट्रिकनीन सल्फेट 1/30 ग्रेन (0.0022 ग्राम) दिन में दो बार, अथवा 5 से 20 घ० सें० कपूरयुक्त तेल दिन में एक या दो बार देना, अन्य लाभप्रद उत्तेजक पदार्थ हैं। निम्नलिखित अथवा ऐसा ही मिश्रण बछड़ों के साधारण दस्तों में प्रायः प्रयोग किया जाता है :

कपूरयुक्त अफीम का टिंक्चर	6 मिनिम	(0.370 घ० सें०)
पेप्सिन	4 ग्रेन	(0.259 ग्राम)
सैलोल	2 ग्रेन	(0.130 ग्राम)
बिस्मथ सैलिसिलेट	8 ग्रेन	(0.518 ग्राम)
स्प्रिट्स विटरग्रीन	10 मिनिम	(0.616 घ० सें०)
पानी, समुचित मात्रा	1 औंस	(30 घ० सें०)

रोगोन्मुक्त होने के बाद पशु को सामान्य खुराक पर धीरे-धीरे लाना चाहिए। उसकी पोषण संबंधी आवश्यकताओं पर ध्यान देना आवश्यक है, किन्तु अधिक खिला देने से पशु को बीमारी के पुनः आक्रमण का भय रहता है। जौ अथवा अलसी की चाय, जो 3 भाग खौलते हुए पानी को 1 भाग दले हुए दाने डालकर बनायी जाती है, ऐसे रोगियों के लिए सुपाच्य है। इसको लकड़ी से चलाकर तथा ठंडा करके 8 से 16 औंस की मात्रा में प्रति 3 से 4 घंटे के अवकाश पर बछड़े को पिलानी चाहिए। तीन से चार घंटे के अवकाश पर दिन में तीन-चार बार आधा पिंट गर्म अथवा उबला हुआ दूध बछड़ा प्रायः पी सकता

है। यदि बछड़ा इतना दूध पीने लगे तो शीघ्र ही इस मात्रा को बढ़ाकर, शरीर भार का 4 से 6 प्रतिशत कर देना चाहिए। कम वृद्धि प्राप्त अथवा बीमारी के कारण कमजोर बछड़ों को आयु के अनुसार न खिलाकर शरीर-भार के हिसाब से खिलाना चाहिए।

बड़े बछड़ों में दस्त के हल्के प्रकोप में निम्नलिखित नुस्खा लाभदायक है :

स्प्रिट एमोनिया एरोमैटिक्स	3 औंस (90 घ० सें०)
अर्क कैप्सिकाइ	1 औंस (30 घ० सें०)

मिश्रण बनाकर, एक बड़े चम्मच भर 12 औंस सोडावाटर में मिलाकर प्रति 2 से 4 घंटे बाद बछड़े को पिलाना चाहिए।

खान-पान में अरुचि रखने वाले बड़े बछड़ों को ऐसे अलग कमरों में रखना चाहिए जिनमें बिछावन न हो। यदि वे अधिक बड़े न हों तो उन्हें दूध पर वापस लाना लाभदायक हो सकता है। "काले दस्त" से पीड़ित बड़े बछड़ों में चिकित्सा की सभी विधियाँ असफल हो सकती हैं। बड़े बछड़ों में प्रवाहिका रोग की चिकित्सा में सल्फाग्वेनीडीन कभी-कभी बहुत ही गुणकारी सिद्ध होती है।

संदर्भ

1. Jones, F. S, and Little, R. B., Vibrionic enteritis in calves, J. Exp. Med, 1931, 53, 845.
2. Jensen, C. O, Ueber der Kalberruhr und deren Aetiologie Monatshefte f. Theirheilkunde, 1892, 4, 97.
3. Smith, T. and Orcutt, M. L, The bacteriology of the intestinal tract of young calves with special reference to early diarrhea (scours), J. Exp Med, 1925, 41, 89.
4. Holt and McIntosh, Holt's Diseases of Infancy and Childhood.
5. Smith, T, and Little, R. B., Studies on pathogenic B. coli from bovine sources. I The pathogenic action of culture filtrates, J. Exp. Med., 1927 46, 123
6. Light, J. S, and Hodes, J. L, Studies on epidemic diarrhea of the newborn; Isolation of a filterable agent causing diarrhea in calves, Am. J. Pub. Health, 1943, 33, 1451.
7. Baker, J. A., A filterable virus causing pneumonia and enteritis in calves, J. Exp Med, 1943, 78, 435
8. Stewart, J, and McCallum, J. W, "White Scour" in calves and related infections. I—The significance of the vitamin A content of the colostrum as a predisposing factor in the causation of such conditions, J. Comp. Path. and Ther, 1938, 51, 290, The effect of vitamin—A rich diet on the Vitamin A content of the colostrum of cows, J. Diary Res, 1942, 13, 1.
9. Hart, G. H, Dietary deficiencies and related symptomatology in domestic animals, J. A. V. M. A., 1938, 92, 503.
10. Phillips, P. H., Lundquist, M S, and Poyer, Paul, The effect of vitamin A and certain members of the B complex upon calf scours, J. Dairy Science, 1941, 24, 977.

11. Norton C. L., Eaton, H. D., Loosli, J. K., Spielman, A. A., Controlled experiments on the value of supplementary vitamins for young dairy calves, J. Dairy Sci., 1946, 29, 231.
12. Spielman, A. A., Thomas, J. W., Loosli, J. K., Norton, C. L., and Turk, K. L., The placental transmission and fetal storage of vitamin A and carotene in the bovine, J. Dairy Sci., 1946, 29, 707.
13. Wise, G. H., Caldwell, M. J., and Hughe, J. S., The effect of the prepartum diet of the cow on the vitamin A reserve of her newborn offspring, Science 1946, 103, 616.
14. Bruce, R. H., Three-day scours in calves, N. Am. Vet., 1945, 26, 602.
15. Smith, T., and Little, R. B., The significance of colostrum to the newborn calf, J. Exp. Med., 1922, 36, 181.
16. Spielman, A. A., et al., Carotene utilization in the newborn calf. J. Dairy Sci., 1946, 29, 381.
17. Throp, W. T. S., The newer sulfonamides in veterinary medicine, J. A. V. M. A., 1945, 106, 75.
18. Udall, D. H., "Sulfathalidine" phthalylsulfathiazole in the prevention and treatment of diarrhea in calves, N. Am. Vet., 1949, 30, 581.

नवजात सुअरों में संचरणशील जठरान्त्र शोथ

(Transmissible Gastroenteritis in Baby Pigs)

परिभाषा—संचरणशील जठरान्त्र शोथ वाइरस से होने वाला नवजात सुअरों का एक शीघ्र प्राणघातक तीव्र दस्त-रोग है। इसका विशिष्ट कारक सन् 1946 में पुर्ड्यु यूनिवर्सिटी, इण्डियाना, के ड्वायल और हचिन्स[1] (Doyle and Hutchings) द्वारा पहचाना गया। उन्होंने अनेक वर्षों तक नवजात सुअरों में दस्त, तथा उल्टी के प्राण-घातक और बड़े पशुओं में हल्के तथा ठीक हो जाने वाले विकीर्ण प्रकोप देखे। उन्होंने इसे सुअरों के बच्चों के लिए अधिक प्राणघातक न मानकर[2] एक फैलने वाला रोग माना, और यह वर्णन उनकी रिपोर्टों से संकलित है।

कारण—क्षतिग्रस्त फार्मों पर यह रोग अनियमित रूप से प्रकोप करता देखा जाता है। आमतौर पर "बेबी सूकर" रोग तथा अन्य जातियों के नवजात पशुओं के रोग बड़े-बड़े प्रसूति-गृहों में अधिक उग्र रूप से फैलते देखे गए हैं। इस प्रकार के एक उदाहरण में सुअरों के 300 बच्चों में से केवल 90 जीवित बचे। मृत्यु के समय इनकी आयु दो दिन से लेकर एक सप्ताह तक की थी। प्रत्यक्ष रूप से यह बीमारी सुअरों के बच्चों तथा सुअरियों से युवा सुअरों में फैलती है, किन्तु जहाँ सुअरों के बच्चे नहीं रखे जाते उन फार्मों के युवा सुअरों में भी पाई जा सकती है। प्रयोगात्मक रूप से रोग के संचारण में यह देखा गया कि बाड़ों से छूत लगने अथवा स्वस्थ सुअरों के मुँह में रोग-ग्रसित अँतड़ी का कोई भाग देने से सुअरों के बच्चों में यह रोग शीघ्र फैलता है। छूत लगने के 24 घंटे के अन्दर रोग का आक्रमण होकर पाँच दिन के अन्दर 95 प्रतिशत पशुओं की मृत्यु हो जाती है। 0·5 प्रतिशत निस्यंद खिलाने पर मृत्युदर 50 प्रतिशत रही। रोग-ग्रसित सुअरों की

आहार-नाल तथा अन्य टिशुओं से प्राप्त बैक्टीरिया रहित निस्यंद 1 1000 तक के घाल में विभिन्न मार्गों द्वारा दिए जाने पर 1 से 9 दिन की आयु वाले बच्चों का मत्रामक सिद्ध हुआ। सूकर-कालरा सीरम देने पर बचाव न हो सका। रोग के एक भयंकर प्रकोप में स्थानीय विक्रय केन्द्र से क्रय की गई सुअरियाँ इसका कारण समझी गईं।

रोग विज्ञान—कुछ को छोड़ कर, अधिकांश रोगियों में फूली हुई मेसेण्टरी के साथ आमाशय शोथ तथा आन्त्र शोथ उपस्थित मिलती है। श्लेष्मल झिल्लियों का रंग प्रायः गहरा लाल हो जाता है जो परिटोनियल सतह से देखा जा सकता है। गुर्दे क्षीण हो जाते हैं। अँतड़ी में काफी मात्रा में सफेद, पीले अथवा हरे रंग का द्रव पाया जाना इसकी विशेष पहचान है।

लक्षण— पिछले कई वर्षों में हम लोगों ने उल्टी, दस्त, निर्जलीकरण, शरीर भार में शीघ्र कमी तथा 2 से 7 दिन में अनेक युवा सुअरों की मृत्यु हो जाना आदि लक्षणयुक्त इस बीमारी के कई विशेष प्रकोप देखे। बड़े सुअरों में दस्त, उल्टी तथा खान-पान में अरुचि होना इसके प्रमुख लक्षण हैं। प्रौढ़ सुअरों में सबसे स्थायी लक्षण, दस्त होना है। रोग ग्रसित वयस्क सुअर शीघ्र अच्छे हो जाते हैं तथा इनमें मृत्यु दर भी कम है।'[2]

"रोग ग्रसित सूकरों के रक्त की परीक्षा करने पर यह ज्ञात हुआ कि रोग लगने के चार दिन बाद शरीर में श्वेताणुओं की संख्या में 49 प्रतिशत वृद्धि हुई। न्यूट्रोफिल 21 प्रतिशत बढ़ तथा लिम्फोसाइट 28 प्रतिशत कम हो गये।[2] जैसे ही पशु की आयु बढ़ती है, मृत्युदर में कमी होती जाती है। सल्फामेथाजीन और स्ट्रेप्टोमाइसिन का प्रयोग प्रभावहीन रहा।

सदर्भ

1 Doyle, L P and Hutchings L M, A transmissible gastroenteritis in pigs, J A V M A. 1946, 108, 257

2 Wm. W Bay, L M Hutchings L P Doyle, and D E Bunnell, Transmissible gastroenteritis in baby pigs, J A. V M A., 1949, 115, 245.

जठरान्त्र शोथ

(Gostroenteritis)

परिभाषा—यह आमाशय तथा छोटी अँतड़ी की और कभी-कभी कालन तथा सीकम की भयंकर उग्र सूजन है, जो श्लेष्मल झिल्ली के रक्त संकुलित होने, उससे रक्तस्राव होने तथा विभिन्न प्रकार की रक्त विषाक्तता द्वारा पहचानी जाती है। अत्यधिक निर्बलता, हल्की सांस, तथा श्लेष्मा अथवा रक्त मिश्रित पतले दस्त होना इसके प्रमुख लक्षण हैं। आमाशय शोथ और आंत्र शोथ दोनों ही उपस्थित होने के कारण इसका नाम जठर आंत्रशोथ रखा गया और इन दोनों अवस्थाओं में विभेदी निदान करना प्रायः कठिन हो जाता है। इस रोग की प्राइमरी, गौण, आंशिक अथवा अन्त्य (terminal) चार अवस्थाएँ हो सकती हैं। रोग के निम्न प्रकार भी पहचाने गए हैं (1) प्राइमरी आहारिक प्रकार, (2)

संक्रामक प्रकार; (3) सीस (lead), संखिया आदि धातुगत विषों से होने वाली रोग की विषैली प्रकार; (4) परजीवी प्रकार; (5) अभिघातज प्रकार।

कभी-कभी एक गाय जो एकाएक मर जाती है अथवा सुबह को मरी हुई पाई जाती है, उसका शव-परीक्षण करने पर आंत्रशोथ के अतिरिक्त कुछ नहीं मिलता। यह शोथ कोलन तक सीमित रहती अथवा पूर्ण आहार-नाल में हो सकती है। उदाहरणार्थ, एक गाय ने सामान्य रूप से चारा खाकर शाम को 6 बजे 40 पौण्ड दूध दिया, तथा तीन घंटे बाद वह मरी हुई पाई गई। शव-परीक्षण करने पर कोलन का अंतिम 20 फिट भाग काले रंग का मिला। कोई अन्य क्षतस्थल न पाया जा सका और रोग का कारण भी ज्ञात न हो सका।

आहारिक जठरान्त्र शोथ
(Dietetic Gastroenteritis)

कारण—अपच व उग्र जठरान्त्रार्ति के परिणामस्वरूप होने वाली अथवा भयकर सूजन के रूप में प्रकोप करने वाली यह प्राथमिक अवस्था है। इसका मौसमी प्रकोप अपच जैसा हुआ करता है। गायों में यह बीमारी जून से सितम्बर तक होती देखी जाती है। दूषित आहार; जैसे सड़े-गले चारे, गर्म ताजी कटी हुई घास मक्का अथवा साइलेज तथा तुरन्त निकाली गई गर्म फफूंदी लगी साइलेज खिलाने से यह रोग उत्पन्न होता है। गो-पशुओं में अपच तथा जठरान्त्रार्ति रोग पर यदि ध्यान न दिया गया तो अंत में आहारिक जठर-आत्रशोथ होकर उनकी मृत्यु हो जाती है। सभी जातियों के युवा पशुओं विशेषकर, बछड़े व सुअरों पर इसका अक्सर प्रकोप होता है। नमी तथा गंदे पदार्थों का संपर्क इस रोग का पुरः प्रवर्तक कारण है। यह कथन कि "जब तक बछड़ों के पैर सूखे नहीं रखे जाते वे जीवित नहीं रह सकते," आहार-नाल के रोग को ही लागू होता है।

यातायात के समय जिन पशुओं को समुचित मात्रा में चारा, पानी तथा आराम नहीं मिलता,[2] और अपनी मंजिल पर पहुँचने के बाद उन्हें अधिक मात्रा में चारा-पानी दिया जाता है, उनमें यह रोग बड़ी ही प्राणघातक अवस्था में प्रकोप करता है। जिन घोड़ों तथा खच्चरों को बाड़े में खिलाकर खूब मोटा किया जाता है, वे यातायात के समय इस रोग के प्रति अधिक ग्रहणशील होते हैं। घोड़ों और खच्चरों का रेल द्वारा यातायात करते समय यह आवश्यक है कि प्रत्येक 28 घंटे बाद उन्हें खिलाने-पिलाने तथा आराम देने के लिए डिब्बे से उतार लिया जाए। यह भी ध्य न रखना जरूरी है कि उन्हें पानी पिलाने से एक दो घंटे पूर्व चारा, दाना तथा आराम मिल चुका हो। साथ ही जिन डिब्बों में उन्हें यात्रा करनी है उनकी पानी की नादें सुखा ली गई हों तथा चरही में बचे हुए चारे को फेंक दिया गया हो। प्रतिदिन 10 पौण्ड सूखी घास देना प्रर्याप्त नहीं है। प्रत्येक डिब्बे में यातायात काल में खाने के लिए, उनकी दीवालों के किनारे 2-3 गठरी घास फैला देनी चाहिए। फौजी घोड़ों में भी यह रोग फैलते देखा गया है, जहाँ एक साथ अधिक पशुओं में फैलने तथा उन्हें शीघ्र ही प्राणघातक सिद्ध होने के कारण, ऐंथ्रावस अथवा विषाक्तता को इसका कारण माना गया है। ऐसे प्रकोपों से जीवाणु-परीक्षण करके ग्रेहम[1] (Graham) ने यह प्रदर्शित किया कि मरे हुए पशुओं से प्राप्त साल्मोनेल्ला इन्टेरीटाइडिस (salmonella-enteritidis) नामक जीवाणु, भूखे रखे गए तथा थकाए गए प्रयोगात्मक खच्चरों को प्राणघातक सिद्ध

होते हैं। साथ ही जिन प्रयोगात्मक पशुओं को भूखा रख कर थकाया नहीं गया वे ऐसी छूत के प्रति ग्रहणशील न थे।

भेड़ों में, यह देखा गया कि छोटे चरागाहों पर चरने के बाद पूर्ण रूप से लूसर्न घास तथा दाने में एकाएक परिवर्तन होने पर उनमें अति उग्र प्राणघातक आन्त्रार्ति विकसित होती है—पृष्ठ 130 पर मेमनों में "अत्याहार" देखिए। सभी प्रकार की आहारिक जठर-आन्त्र शोथ में संक्रमण तो अवश्य ही क्रियाशील होता है किन्तु इसका प्राथमिक कारण चारे में किसी क्षोभक पदार्थ का उपस्थित होना है। सैप्रोफाइटिक बैक्टीरिया चारे अथवा अँतड़ी के पदार्थ में किण्वन उत्पन्न कर सकते हैं और ऐसे किण्वन के रासायनिक पदार्थ शोथ का तात्कालिक कारण बनते हैं।

विकृत शरीर रचना—यातायात के समय घोड़ों में होने वाली आन्त्रार्ति के प्रमुख परिवर्तन आहार-नाल में हुआ करते हैं। अँतड़ी गैस भर कर तन जाती है। आमाशय तथा अँतड़ी में विभिन्न मात्रा में तरल पदार्थ भरा मिलता है। कुछ ऐसी भी अवस्थाएँ हैं जिनमें आहारनाल बिलकुल ही खाली मिलती है। अधिकांश रोगियों में श्लेष्मल झिल्ली को प्रभावित करने वाली विसृत रक्त-स्रावी आन्त्रार्ति (diffuse hemorrhagic enteritis) मिलती है, किन्तु कुछ में रक्त-स्राव परिगत होता है। यकृत, गुर्दे तथा प्लीहा नार्मल अथवा क्षतिग्रस्त हो सकते हैं। गुर्दे प्राय: बुरी तरह से क्षतिग्रस्त मिलते हैं। ग्रीवा तथा नितम्ब क्षेत्र की बड़ी-बड़ी कंकाल पेशियों (skeletal muscles) में बहुधा अंत: पेशी रक्त-स्राव पाया जाता है।

आन्त्रार्ति से मरे हुए प्रौढ़ पशुओं का शव-परीक्षण करने पर, छोटी या बड़ी अँतड़ी अथवा दोनों में रक्त-स्रवित सूजन मिलती है। कुछ में आमाशय भी रक्त-स्रवित पाया जाता है।

लक्षण—आयु तथा कारण पर आधारित इस रोग का आक्रमण परिवर्तनशील होता है। प्रौढ़ पशु जो खान-पान संबंधी विषमताओं के कारण इस रोग से पीड़ित हुए उनमें एक से तीन दिन तक सुस्त रहने, खान-पान में अरुचि, तथा काले, बदबूदार अथवा रक्त मिश्रित गोबर के लक्षणों का इतिहास मिला। उग्र शोथ में, रोग का आक्रमण एकाएक तथा दर्दयुक्त होकर शीघ्र ही ऐंठन एवं अवसन्नता के लक्षण प्रकट करता है। रोग का यह प्रकार उसके विषैले अथवा संक्रामक प्रारम्भ की ओर संकेत करता है।

पशु की प्रवृत्ति प्राय: झुके हुए रहने की होती है। वह एकाएक खड़ा होता, किन्तु निर्बल प्रतीत होता है—एक प्रतिकूल लक्षण। रोगी का सुस्त रहना इस रोग का एक सामान्य लक्षण है। दाँत पीसना, बेहोशी, माँस पेशियों का अनैच्छिक उग्र संकुचन तथा शारीरिक ऐंठन इसके अंतिम लक्षण हैं। जैसा उग्र योनि-शोथ में देखा जाता है, गाय पीठ खलाकर खड़ी होती है। हल्का अथवा तेज दर्द सदैव उपस्थित रहता है। गो-पशुओं में इसे सावधानी के साथ पैर रखकर अकड़कर चलना, चलने-फिरने में अरुचि, साँस छोड़ते समय कराहना अथवा पूँछ को थोड़ा एक ओर करके रखना आदि लक्षणों से पहचाना जाता है। घोड़ों में रुक-रुक कर शूल वेदना होती है। पशु टकटकी मारकर ताकता हुआ अथवा दुखी दिखाई देता है।

आँखें प्रायः गड्ढे में धँस जाती हैं तथा नेत्र की श्लेष्मल झिल्ली पीली अथवा पीलियायुक्त दिखाई देती है, यद्यपि आमाशयशोथ में यह रक्तसंकुलित हो सकती है। रक्तसंकुलन तथा पीलापन घोड़ों में अधिक होता है। गायों में कभी-कभी आँखों तथा नथुनों से सीरमी अथवा श्लेष्मायुक्त स्राव तथा पलकों की सूजन भी देखने को मिलती है। पशु की हालत जल्दी-जल्दी गिरती जाती है। अंत में प्राण-घातक रोगी में त्वचा भद्दी दिखाई देती तथा चुटकी से उठाने पर उठी हुई रह जाती है।

बुखार प्रायः नहीं होता। घोड़ों में पहले तापक्रम बढ़ता है। कुछ घंटों में यह नॉर्मल हो जाता है तथा मृत्यु के एक या दो दिन पहले नॉर्मल से भी कम हो सकता है। हालत का गिरना, पानी को छोड़कर अन्य खाद्य पदार्थों में अरुचि, शरीर के किनारे वाले भागों का ठंडा पड़ जाना, ठंड लगना तथा तेज नाड़ी एवं तीव्र श्वसन इसके अन्य लक्षण हैं। नाड़ी-गति 75-80 के मध्य या अधिक हो सकती है। 24 घंटे बाद नाड़ी-गति 80 से गिरकर 60 हो जाती है। जब नाड़ी-गति अन्य अनुकूल लक्षणों के साथ गिरती है तो यह हालत में सुधार की ओर संकेत करती है, किन्तु केवल इसी का गिरना एक अशुभ लक्षण है। प्राणघातक जठर-आंत्रशोथ में नाड़ी-गति के गिरने की यह प्रवृत्ति उदर-झिल्लीशोथ में भी देखी जाती है। नाड़ी की प्रकार (आकार, वेग, कड़ापन) तथा गति असामान्य हो जाती है। गो-पशुओं की अपेक्षाकृत घोड़ों में यह गति और भी तेज होती है। गिरते हुए तापक्रम के साथ बढ़ती हुई नाड़ी-गति एक अशुभ लक्षण है, जो हृदय की गति रुक जाने की ओर संकेत करता है। गायों में श्वसन 20-40 प्रति मिनट तथा रोग के उग्र आक्रमण में 60 तक होता है। यह सदैव ही तेज होता है तथा इस रोग का एक फलानुमानकी (prognostic) लक्षण है। घोड़ों में मृत्यु से 48 घंटे पूर्व यह धीमा हो सकता है, उदाहरणार्थ; नाड़ी-गति 108, श्वसन 7, तापक्रम 102 8 फारेनहाइट।

पाचन तंत्र : कुछ को छोड़कर, अधिकांश रोगियों में चारे दाने के प्रति पूर्ण अरुचि रहती है। आमाशय के रोग-ग्रसित होने पर पशु की खान-पान में आंशिक रुचि रहती है। घोड़ों को प्यास अधिक लगती है। कुछ कम प्राणघातक अवस्थाओं में पशु कभी-कभी चारा खा सकता है। मुँह चिपचिपा, ठंडा तथा बदबूदार होता है और होंठों के मध्य झाग इकट्ठी हो सकती है। उदर दुबला-पतला तथा बहुधा सख्त हो जाता है। गायों में, रूमेन तथा अँतड़ी की गति निर्बल होती है और वहाँ पूर्ण अवसन्नता हो सकती है। घोड़ों में प्राय. उच्च स्वर की गड़गड़ाहट की आवाज सुनाई देती है। परिताडन पर दर्द तथा भद्दापन महसूस होता है। घोड़ों में उदर की दीवाल तनी होने के कारण थपथपाने पर प्रायः दर्द नहीं होता। अधिकांश रोगियों का गोबर, रोग के प्रकार तथा शोथपूर्ण स्राव की विशिष्टता को प्रकट करता है। गायों में गोबर के साथ काफी मात्रा में श्लेष्मा निकलता है। अनजाने में ही पानी की तरह पतला, हरा, काला अथवा रक्त मिश्रित बदबूदार दस्त होता है। कोलन की अधिक सूजन में, गोबर में रक्त के छीछड़े मिल सकते हैं। छोटी अँतड़ी की उग्र सूजन में काफी मात्रा में चिपचिपा श्लेष्मा निकलता है। अग्र-आमाशयों तथा कोलन की रक्त-स्रवित सूजन में पशु बिल्कुल ही गोबर नहीं करता तथा छोटी अँतड़ी में थोड़ी सूजन होने पर काले रंग का लगभग नॉर्मल मल निकलता है। मलत्याग में कमी, कुछ तो आहारनाल के पक्षाघात

संक्रामक जठरान्त्रशोथ

(Infectious Gastroenteritis)

कारण—संक्रामक जठरान्त्र शोथ तथा आन्त्रार्ति निम्न अवस्थाओं के अन्तर्गत हुआ करती है : (अ) ऐंथ्राक्स, गलघोंटू, सूकर कालरा, इन्फ्लुएंजा, सूकर एरिसिपेलास (swine erysipelas) तथा अन्य ऐसे उग्र संक्रमणों में एक आंशिक अवस्था के रूप में, (ब) कभी-कभी सेप्टिक गर्भाशय-शोथ, थनैली, अभिघातज आमाशयशोथ तथा आमतौर पर आन्त्रिक अवरोध, परजीविता और विषैली अवस्थाओं के परिणामस्वरूप, (स) बछड़ों में दस्त रोग एशरिकिया कोलाइ, कॉक्सीडिओसिस संक्रमण, सुअरों में संक्रामक आन्त्रार्ति (साल्मोनेल्ला कालरासुइस वीस्टर एण्ड मरी)[1], शीत अतिसार तथा अन्य अवस्थाओं में प्राथमिक संक्रमण के रूप में। न्युसम और क्रास[2] ने पैराटायफायड अतिसार का एक ऐसा प्रकोप वर्णन किया है जिसमें 30,000 से अधिक रोग ग्रसित मेमनों में से 2000 की मृत्यु हो गई। पैराटायफायड ग्रूप का एक जीवाणु अलग करके नॉर्मल मेमनों में प्रयोगात्मक रूप से बीमारी उत्पन्न की गई। पशु का भूखा रहना इसका एक आवश्यक पुरः प्रवर्तक कारण है। गायों में शीत अतिसार की उग्र अवस्थाएँ तथा आंत्रार्ति के अन्तर्व्यापी एवं विकीर्ण आक्रमण जो प्रत्यक्ष रूप से तो छुतैले मालूम देते हैं किन्तु रोगोत्पादक जीवाणु नहीं प्रकट करते, वे भी इस प्राथमिक ग्रूप में शामिल हो सकते हैं। एलो स्टोन वैली (Yellowstone Valley) में भेड़ों में प्रोटोजोअन परजीवी ग्लोबीडियम गिलस्थाइ से होने वाली आन्त्रार्ति का मार्श और टनीक्लिफ[3] ने वर्णन किया है। एक से छः माह की आयु के बछड़ों में श्वेत-पेचिस के प्रकोप इसके उदाहरण हैं। अस्पष्ट आन्त्रार्ति का कारण अँतड़ी में रहने वाला बैक्टीरिया हो सकता है जो शरीर की सहन-शक्ति क्षीण होने पर क्रियाशील हो जाता है। पानी या रक्त में प्रवेश पाने वाला रोगोत्पादक जीवाणु भी कभी कभी इसका कारण बनता है, (द) लम्बी दूरी तय करने, जबरदस्ती चलाने, दौड़ाने अथवा यातायात के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई थकान के बाद कभी-कभी पशुओं में अति प्राणघातक रक्त-स्रवित प्रकार की आन्त्रार्ति देखने को मिलती है, जो उग्र सामान्य संक्रमणों से मिलती-जुलती है। यातायात के बाद होने वाले इस रोग के आक्रमण प्राय. दूषित आहार, पानी और आराम के परिणामस्वरूप हुआ करते हैं।

लक्षण—छूत के प्रकार तथा वेग के अनुसार यह भिन्न होते हैं। रोगी को लगातार रहने वाला तेज बुखार हो सकता है। प्रारम्भ में अधिक तेज बुखार और निर्बल तथा अनियमित नाड़ी गति के साथ इस रोग का एकाएक आक्रमण होता है। अन्त में तापक्रम गिरकर नाड़ी-गति बढ़ जाती है। रोग स्थानिकमारी के रूप में हो सकता है और इसका चारे के प्रकार से कोई भी सम्बन्ध नहीं होता। निदान करते समय दूषित आहार या खिलाने के ढंग में गड़बड़ी, मौसम में होने वाली रोग की आहारिक प्रकार, मौसम में होने वाले विशिष्ट रोग (एथ्राक्स, गलघोंटू), विषाक्तता (लेड, आर्सेनिक, फर्न) तथा गंदा पानी पीने की संभावना पर विचार करना चाहिए।

संदर्भ

1. Biester and coworkers, II, The pathogenesis of infectious enteritis, J. A. V. M. A., 1927, 72, 1003; Murray, Chas., and coworkers, III, Studies in infectious enteritis in swine J. A. V. M. A., 1929, 74, 345.
2. Newsom, E. E., and Cross, F., Paratyphoid Dysentery, Colo. Exp. Sta. Bull. 305, May 1926; Paratyphoid dysentery in lambs again, J. A. V. M. A., 1930, 76, 91.
3. Marsh, H., and Tunnicliff, E. A., Enteritis in sheep caused by infection with the protozoan parasite, Globidium gilruthi, A. J. V. R., 1942, 2, 174.

विषैली जठरान्त्रशोथ

(Toxic Gastroenteritis)

करोसिव सब्लिमेट, लेड, आर्सेनिक तथा सोडियम नाइट्रेट जैसे विषों के खा लेने से उत्पन्न होने वाली यह एक उग्र अवस्था है। फर्न तथा झाड़ियों (खरपतवार विषाक्तता) का खाना भी इसमें शामिल है। बिना किसी प्रत्यक्ष कारण के जब यूथ का कोई पशु जठर-आंत्रशोथ से बीमार पड़कर एक से तीन दिन में मर जाता है, तो विषाक्तता की ओर ध्यान देना चाहिए। रंग की हुई दीवालें अथवा पुराना रंग किया हुआ बोर्ड, चरागाह पर फेंके गए रंग अथवा लेड आर्सनेट के डिब्बे आदि इसके कारण बनते हैं। सोडियम नाइट्रेट विशेषतौर पर खतरनाक है। उर्वरक के रूप में जमीन पर डालने से इसे पशु खा सकते हैं। घर में जमा किए गए नाइट्रेट के बोरों को यदि सुरक्षित न रखा गया तो पशु चाट सकते हैं तथा कभी-कभी नमक के धोखे में इसे पशु खा भी जाते हैं। नर फर्न, तूतिया का घोल, कार्बन टेट्राक्लोराइड, चीनापोडियम तेल तथा कार्बन डाइ-सल्फाइड जैसे कीटनाशक पदार्थों के सेवन के बाद भी विषैली जठर-आन्त्रशोथ होती देखी गई है।

लक्षण—एकाएक दूध का बहाव बन्द हो जाना, चारे में पूर्ण अरुचि, कँपकपाना तथा मूर्छा आने वाली कमजोरी, इसके प्रमुख लक्षण हैं। कभी-कभी पशु लगातार पैर पटक कर दर्द अनुभव करता है। नाड़ी गति तीव्र तथा निर्बल और तापक्रम नॉर्मल अथवा नॉर्मल से कम हो सकता है। विषपान के कुछ घंटों बाद किसी-किसी पशु में तापक्रम बिल्कुल ही नहीं बढ़ता तथा कुछ में 104° फारेनहाइट तक तेज बुखार होता है। मांस पेशियों का अनैच्छिक उग्र संकुचन तथा पशु का चिल्लाना, अन्य लक्षणों के साथ सीस विषाक्तता की ओर संकेत करता है। बदबूदार दस्त होना एक सामान्य लक्षण है किन्तु यह सदैव उपस्थित नहीं होता। फर्न (bracken) विषाक्तता में पशु को रक्त-मिश्रित तेज दस्त आते हैं। इस रोग का कोई भी आशातीत इलाज नहीं है। शरीर में विष के एक बार शोषित होने के बाद यकृत तथा अन्य अंगों के खराब हो जाने के कारण पशु का ठीक होना कठिन हो जाता है। रेचक तथा उत्तेजक चिकित्सा के साथ अधिक मात्रा में मैगनीशियम कार्बोनेट का प्रयोग, कुछ रोगियों में लाभ पहुँचाता देखा गया है।

परजीवी जठरान्त्रशोथ

(Parasitic Gastroenteritis)

रक्त चूसने वाले परजीवियों (हीमाकस कंटार्टस) से श्लेष्मल झिल्ली में बने हुए घाव अथवा दीवाल के अन्दर लार्वा में विकास पाने वाले (स्ट्राजिलॉइड) परजीवियों के परिणाम-

स्वरूप अँतडी में सूजन आ सकती है। रोगी का इतिहास लेने पर धीरे-धीरे शारीरिक क्षीणता के साथ रोग दीर्घकालिक होता मालूम पड़ता है जिसमें जठर-आन्त्रशोथ के लक्षण या तो उग्र अथवा अधिकतर दीर्घकालिक हुआ करते हैं। कुछ माह की आयु वाले बछड़ों में छोटे स्ट्रान्जिल कीट अथवा कॉक्सीडिया नामक परजीवियों की उपस्थित के कारण जठर-आन्त्रशोथ का संक्रमण होने पर रोगी को रक्त-मिश्रित दस्त हो सकते हैं।

अभिघातज जठरान्त्रशोथ
(Traumatic Gastroenteritis)

उदर-झिल्लीशोथ के साथ अभिघातज आमाशयशोथ होने पर गायों में आन्त्रशोथ विकसित हो सकता है, यद्यपि कि यह गौण अवस्था बहुत कम हुआ करता है। अधिक श्लेष्मायुक्त पानी जैसे पतले दस्तों के साथ इसे पहचाना जाता है तथा प्राथमिक अवस्था के साथ इसकी सम्भ्रान्ति हो सकती है।

सुअरों में संक्रामक रक्तस्रावी आन्त्रशोथ
(Infectious Hemorrhagic Enteritis in Swine)
(सूकर-पेचिस रक्त अतिसार)

परिभाषा प्राय- युवा सुअरों को होने वाली यह सीकम तथा कोलन की एक उग्र तथा अति प्राणघातक रक्त-स्रवित सूजन है जिसमें रोगी को खून मिले दस्त आते हैं।

सन् 1944 में ड्वायल[1] ने इस रोग के साथ एक जीवाणु (विब्रिओ) पाने की रिपोर्ट की और इसे इसका कारण माना गया।

कारण—मध्य पश्चिम में यह रोग सुअरों तथा सुअरियों में एक स्थानिकमारी के रूप में प्रकोप करता है। नये खरीदे हुए सुअरों को निजी यूथ में मिलाने से इस रोग का अक्सर प्रकोप होते देखा गया है। इनके आने के एक सप्ताह से दस दिन बाद दस्त प्रकट होते हैं और कुछ ही सप्ताहों में यह बीमारी यूथ में फैलकर प्रजननी सुअरियों तथा फार्म पर पाले जाने वाले अन्य सुअरों को हो जाती है। छोटे बच्चों में, विशेषकर दूध छुड़ाने के समय, यह रोग अधिक होता है। फार्म पर यह स्थानीय होकर प्रतिवर्ष सुअरों के नवजात बच्चों में प्रकोप करता है। होफर्ड[2] (Hofferd) के अनुसार सन् 1918 में पूर्वी आयोवा में बाहर से लाए गए सूकरों में यह रोग देखा गया। यहाँ से यह पूरे प्रदेश में फैला तथा एक पशु-चिकित्सक के क्षेत्र में 1500 पशुओं तक का ह्रास होते देखा गया। सूकर-कालरा के प्रति टीका लगाने, मक्का खिलाने अथवा सुअर या किसी नये ढोर को यूथ में शामिल करने के बाद यह रोग अक्सर प्रकोप करता है। ड्वायल[3] के अनुसार "रोग उत्पादक कारक रोग ग्रसित पशु की कोलन तथा अँतड़ी से निकलने वाले पदार्थ में उपस्थित रहता है। रोग ग्रसित सुअर के कोलन अथवा अँतडी से सदूषित पदार्थ लेकर थोड़ी मात्रा में पशुओं को खिलाकर स्वस्थ, विशेषकर युवा, सुअरों में इसकी छूत फैलाई जा सकती है। कोलन के अतिरिक्त अन्य आन्तरांग (viscera) खिलाकर अभी तक इस रोग को फैलाने में हम सफल न हो सके यद्यपि कि इसमें काफी मात्रा में रोग का जीवाणु मौजूद हो सकता है।" सन् 1924 में व्हिटिंग[4] (Whiting) ने बताया कि अपने अतिसार के अन्वेषण कार्य में उन्होंने रोग

ग्रसित सुअर से प्राप्त कोलन का पदार्थ तथा गोवर खिलाकर प्रयोगात्मक रूप से स्वस्थ पशुओं में इस रोग का सचार किया।

बीमार सुअरों से संक्रमणित चारे द्वारा यह रोग फैलता हुआ मालूम पड़ता है और प्रायः यह दूसरे फार्मों पर रोगग्रसित सुअरों के स्थानान्तरण करने अथवा छुतैले स्थानों के मलमूत्र के संपर्क में आने पर ही फैलता है। फिर भी कभी-कभी उन यूथों में भी रोग फैलते देखा गया है जिनमें वाहर से सुअर नहीं आते और कुछ लोगों का विश्वास है कि यह फार्म पर आने वाले दर्शकों आदि के द्वारा फैलता है। सूकर-कालरा से पीड़ित सुअरों की भाँति, सूकर-अतिसार से ग्रसित सुअरों के टिसुओं में साल्मोनेल्ला सुइपेस्टीफर नामक जीवाणु पाया जाता है। इसकी उपस्थिति का कोई नैदानिक महत्व नहीं है और इसका सवर्धन खिलाने से उत्पन्न रोग, सूकर-अतिसार से अधिक नहीं मिलता-जुलता। सीकम अथवा कोलन की श्लेष्मल झिल्ली की खरोंच तथा अँतड़ी से निकलने वाले श्लेष्मा एव रक्त मिश्रित स्राव का माइक्रास्कोपिक परीक्षण करने पर असख्य विब्रिओ दिखाई पड़ते हैं—ड्वायल[6]।

विकृत शरीर रचना—रोग के प्रारम्भ में सुअर को मार कर यदि शव-परीक्षण किया जाए तो सीकम तथा कोलन की श्लेष्मल झिल्ली रक्तवर्ण एव रक्त-स्रविन दिखाई पडती, अधिक मात्रा में श्लेष्मा निकलता तथा कोलन में प्रायः द्रव भरा मिलता है। वाद में डिफ्थीरिक स्राव निकलता है जो कोलन के पदार्थ के साथ मिल जाता है। कोलन में क्षतस्थल सदैव मौजूद रहते है और यह सूकर-कालरा से अधिक मिलते-जुलते है। वहुधा आमाशयशोथ पाई जाती है, किन्तु छोटी आँत नॉर्मल रहती है। इलियम तथा सीकम को मिलाने वाला भाग रोग ग्रसित टिसू को नार्मल टिसू से अलग करता है। सीरस सतह से देखने पर कोलन की दीवाल पर लाल रग के चकत्ते मिलते हैं।

लक्षण—जैसा ड्वायल[3] ने रिपोर्ट किया है मैदानी प्रकोपों में छूत लगने की न्यूनतम अवधि 7 दिन तथा अधिकतम 60 दिन थी। प्रयोगात्मक रूप से संक्रांत पशुओं में रोग का उद्भवनकाल 7 से 12 दिन का होता है। संदूषित पदार्थों को खिलाने के 7 से 9 दिन वाद पशु में दस्त आने के लक्षण प्रकट होते है। कुछ सुअरों में पेचिस होना इसका प्रथम लक्षण है और प्रायः वहाँ मृत्यु का इतिहास मिलता है। रोग के प्रारम्भ में केवल थोड़े पशु बीमार पडते हैं। प्राय. एक या दो सप्ताह में वहाँ नए पशुओ के आने का अभिलेख मिलता है और कुछ सप्ताह बाद पूरे यूथ में रोग की छूत फैल जाती है। पहले सुस्ती, फिर खान-पान में अरुचि होकर पशु को 106° फारेनहाइट तक तेज वुखार होता है। अनेक रोगियों में तापक्रम नॉर्मल से केवल थोड़ा अधिक मिलता है और दस्त शुरू होने के साथ ही बुखार समाप्त होता मालूम पड़ता है। रोग के उग्र प्रकोप में अत्यधिक कमजोरी तथा अवसन्नता होकर रोगी की हालत वडी दयनीय हो जाती है। गोवर में रक्त तथा श्लेष्मा मिला होने के कारण इसका रग लाल दिखाई देता है। वड़े पशुओं में गोवर कुछ काला अथवा चाकलेट के रग जैसा होता है (काले दस्त) और प्रायः विना दस्तो के लक्षण प्रकट किए ही सुअरों की मृत्यु हो जाती है। कुछ दिनो से लेकर लगभग दो सप्ताह तक इसका कोर्स है। परिपक्व सुअरो में यह रोग कुछ कम होता है तथा युवा सुअरों में इससे अपूर्ण स्वस्थता प्राप्त होती है। दस्त, क्षीणता तथा रुकी हुई वृद्धि इस रोग की दीर्घकालिक

अवस्था के लक्षण हैं। सुअरियों में मृत्युदर 40–50 प्रतिशत, खिलाकर पाले जाने वाले वधिया किये गये सुअरों में 10–20 प्रतिशत तथा प्रजननी सुअरियों में 2–5 प्रतिशत है।

होफर्ड[2] के अनुसार बीमारी पर काबू पाने के बाद मक्का की खुराक इससे छुटकारा दिला सकती है। सूकर कालरा अथवा एरिसिपेलास से यह काफी मिलती-जुलती है तथा इसका विभेदी निदान करना, विशेषकर प्रारम्भ में, काफी कठिन होता है। रक्त-मिश्रित मल इसका प्रधान लक्षण है। इसमें आने वाली कठिनाइयों की ब्रायंट[5] (Bryant) ने अपने कथन में इस प्रकार चर्चा की है "जब सूकर कालरा अन्य संक्रमणों, विशेषकर सूकर अतिसार, से मिलकर और भी जटिल हो जाता है तो चिकित्सक को बड़ी ही विषम समस्या का सामना करना पड़ता है।" उन्होंने यह भी बताया कि "संदूषित बाड़ों में पालित बच्चों में इस रोग के प्रति सहन शक्ति उत्पन्न हो जाती है जिससे उनमें सीरम-वाइरस प्रतिक्रिया भी नहीं होती, जबकि कमजोर दिखाई देने वाले सुअर जो आक्रांति के प्रति सहन शक्ति नहीं रखते, सीरम वाइरस प्रतिक्रिया के मध्य रोग के प्रति अधिक ग्रहणशील होते हैं।"

कंट्रोल—छूत-ग्रस्त समूहों तथा बाड़ों से सब पशुओं को हटाकर इस रोग का नियंत्रण किया जाता है। रोगी पशुओं को अलग करके उन्हें सीमित मात्रा में शीघ्र पाचक आहार देना चाहिए। जीवाणुगत पदार्थों अथवा वैक्सीन का प्रयोग संदेहात्मक है। सूकर-अतिसार तथा सूकर-कालरा, दोनों ही रोग जब किसी यूथ में विद्यमान हों तो होफर्ड[2] के अनुसार इनमें केवल सीरम का ही प्रयोग करना चाहिए। साथ ही वातावरण स्वच्छ रखकर, पीने के पानी में ग्वायाकोल कम्पाउण्ड मिलाकर पिलाना चाहिए। रोगी को खाने के लिए केवल क्षारीय मिश्रण में संचित की हुई जई देनी चाहिए। दली हुई जई तथा छैना मिलाना विशेष लाभप्रद है। अधिकांश रोगियों में सबसे प्रभावकारी तथा संतोषजनक विधि यह है कि सभी सुअरों को बेच दिया जाए तथा स्वस्थ स्रोत से अच्छे पशु खरीदकर रोग रहित बाड़ों तथा चरागाहों पर पाला जाए।[6]

प्रतिजैविक पदार्थ : सन् 1951 में सैलिसबरी[7] आदि ने स्ट्रेप्टोमाइसिन के प्रयोग से इस रोग को अच्छा होते बताया। 100 पौण्ड से कम शरीर भार वाले सुअरों को इसकी प्रारम्भिक मात्रा 1 ग्राम तथा 150 पौण्ड तक $1^1/_2$ ग्राम प्रति पशु देकर, बाद में $6^1/_2$ दिन तक प्रति 12 घंटे के अवकाश पर इसकी आधी मात्रा दी गई। इसको या तो चारे के साथ मिलाकर खिलाया गया अथवा 40 घ० सें० जीवाणुरहित पानी में घोलकर, इंजेक्शन के रूप में दिया गया। आरोमाइसिन से भी रोग ठीक होते देखा गया। इसकी प्रारम्भिक मात्रा 25 मिलिग्राम प्रति पौण्ड शरीर भार की दर से चारे में मिलाकर खिलाई गई अथवा 40 घ० सें० जीवाणुरहित पानी में घोलकर इंजेक्शन द्वारा दी गई। तत्पश्चात् इसकी आधी खुराक प्रति 12 घंटे के अवकाश पर $4^1/_2$ दिन तक दी गई। "इस प्रकार चिकित्सा किए गए रोगियों के गोबर में 18 घंटे के अन्दर काफी सुधार देखा गया तथा तीन-चार दिन में रोगी पशु बिल्कुल ही ठीक हो गए।"

संदर्भ

1. Doyle, L. P., Vibrio asociated with swine dysentery, Am., J. Vet. Rese., 1944, 5, 3.

2. Hofferd, R. M., Swine dysentry in Iowa from a field standpoint, J. A. V. M. A., 1936, 88, 299.
3. Doyle, L. P., Infectious types of swine enteritis, Proc. 43d Annual Meeting of the U.S.L.S.S.A., Dec. 1939, p. 224.
4. Whiting, R. A., Swine dysentery, J. A. V. M. A., 1924, 64, 600.
5. Bryant, J. B., Some methods employed in my swine practice, Cornell Vet., 1938, 28, 61.
6. Doyle, L. P., Swine dysentry, J. A. V. M. A., 1945, 106, 26.
7. Salisbury, J. D., Smith, C. R., and Doyle, L. P., Antibiotic treatment of swine dysentery, J. A. V. M. A., 1951, 118, 176.

संक्रामक परिगलित आन्त्रशोथ

(Infectious Necrotic Enteritis)

(साल्मोनेला रुग्णता; संक्रामक आंत्रार्ति; सूकर-टायफायड; पैराटायफायड; संक्रामक सुईपेस्टीफर आंत्रार्ति)।

परिभाषा—सुअरियों तथा युवा सूकरों का यह भीषण दस्त रोग है जिसमें शव-परीक्षण करने पर सीकम और कोलन में परिगलित क्षतस्थल दिखाई पड़ते हैं। रोग ग्रसित टिसुओं से साल्मोनेला कालरेसुइस (Salmonella choleraesuis) नामक जीवाणु प्राप्त किया जा सकता है और अनेक लेखकों द्वारा इसे रोग का प्राथमिक कारण माना गया है। कर्नकैम्प[1] (Kernkamp) की रिपोर्ट के अनुसार सुअरों का यह बहुत ही *प्रमुख जठरान्त्रिक (gastroenteric) रोग है जो 20 प्रतिशत या अधिक सुअरों में* प्रकोप करता है। सुइपेस्टीफर अपने को उग्र रक्तपूतिता की भाँति भी प्रदर्शित कर सकता है—वैन एस,[2] सिघेट्टी[3] (Van Es,Seghetti)।

कारण—सन् 1929 में मरी[4] (Murray) और उनके साथियों ने बताया कि उन्होंने संक्रामक आंत्रार्ति के शत प्रतिशत मैदानी रोगियों मेंसे सुइपेस्टीफर जीवाणु प्राप्त किया तथा 100 से अधिक युवा सुअरों को उग्र सम्वर्धन (virulent culture) खिलाकर प्रयोगात्मक सुअरों में शत प्रतिशत रोग उत्पन्न किया। स्वस्थ सुअर की अँतड़ी से वे इस जीवाणु को प्राप्त न कर सके। शीघ्र नष्ट किए गए पशुओं में सुइपेस्टीफर काफी संख्या में पाया गया। इस छूत के साथ उन्होंने सदैव ही ऐक्टीनोमाइसीज नेक्रोफोरस जीवाणु पाया जिसको उन्होंने गौण आक्रमणकारी माना। शीघ्र नष्ट किए गए सुअरों में ऐक्टीनोमाइसीज् नेक्रोफोरस या तो अनुपस्थित रहता अथवा कम होता है जबकि रोग की बाद की अवस्थाओं में यह बहुतायत से पाया जाता है। चुहिया, खरगोश तथा गिनीपिग इसके अन्य ग्रहणशील प्रयोगात्मक पशु हैं। खाने से उत्पन्न प्रतिरक्षा कम तथा थोड़े दिनों के लिए होती है। ऐस्केरिस-रुग्णता (गोल कृमि) की उपस्थिति में आक्रमण का वेग और भी अधिक बढ़ जाता है।

जैसा कि बीस्टर और मरी[5] ने वर्णन किया है, "साल्मोनेल्ला कालरेसुइस प्रारम्भिक क्षतस्थल उत्पन्न करता है तथा क्षतिग्रस्त झिल्ली के बाहरी भाग एवं सतह के निकट बहुत बड़ी

संख्या में मौजूद रहता है। अन्दरूनी भाग की ओर इनकी संख्या कम होती जाती तथा नेक्रोफोरस जीवाणु अधिक संख्या में प्रकट होते जाते हैं जिससे माइक्रास्कोपिक परीक्षण करने पर क्षतस्थल की तली पर केवल नेक्रोफोरस प्रकार के जीवाणु ही मिलते हैं। जिन रोगियों में केसिएटेड क्षेत्र काफी गहरा एवं अधिक समय से उपस्थित होता है, उनमें नेक्रोफोरस जीवाणु असंख्य होते हैं। पुराने रोगियों में नेक्रोफोरस जीवाणुओं द्वारा उत्पन्न टिसुओं की क्षीणता अन्य सब दोषों को छुपा देती है जिससे इसे केवल गौण आक्रमणकारी न माना जाकर, इस प्रकार की आन्त्राति का प्रमुख कारक समझा जा सके···। कभी-कभी रक्त-नलिकाओं तक इसकी छूत पहुँच जाती है जिससे कि रक्त-नलिका फटकर अंतड़ी के अन्दर रक्त आने लगता है" चूंकि रोग के आक्रमण से प्रतिरक्षा उत्पन्न नहीं होती, अतः इसका उसी पशु में पुनः आक्रमण हो सकता है।

जब से सन् 1885 में सैलमन और स्मिथ[6] ने सुइपेस्टीफर जीवाणु को सूकर कालरा का कारण बताया है, इसका सूकर रोगों से संबंध एक भ्रांतिमय समस्या बन गया है। सन् 1903 के इस अन्वेषण के साथ कि सूकर कालरा एक वाइरस द्वारा होता है, सुइपेस्टीफर को परिगलित क्षतस्थल ('बटन घाव') उत्पन्न करने वाला एक गौण संक्रमण माना गया। अब यह विशेषकर कालरा रहित क्षेत्रों में, सुअरों की उग्र रक्त-पूतिता का कभी-कभी प्राथमिक कारण माना जाता है। अनेक ऐसी रिपोर्टें प्राप्त हैं कि कालरा के प्रति ग्रहणशील सुअरों में वाइरस का प्रवेश 10 से 20 दिन के अवकाश के बाद परिगलित आन्त्राति का प्रकोप प्रारम्भ करता मालूम देता है। डुबायल[7] के अनुसार "सूकर कालरा वाइरस का बढ़ती हुई मात्रा में टीका देकर सुअरों में अति प्रतिरक्षा उत्पन्न करते समय यह देखा गया कि कुछ पशु निर्बल हो जाते हैं, उन्हें दस्त आने लगते तथा वे परिगलित आन्त्राति के लक्षण एवं क्षतस्थल प्रकट करने लगते हैं। अंत में ऐसे रोगियों के रक्त में वाइरस मिलता है।" ब्रायट[8] की एक रिपोर्ट में इस बीमारी से उत्पन्न भय का एक ऐसा उदाहरण मिलता है जिसमें 250 सामान्य दिखाई देने वाले पशुओं के टीका लगाने के बाद, परिगलित आन्त्राति होकर 25 की मृत्यु हो गई। इनको शायद टीका देने से पूर्व कालरा की छूत लगी हो। इसके अतिरिक्त मैदानी परिस्थितियों में परिगलित आन्त्राति को सूकर कालरा (टिस्छाउसर)[9] या सूकर एरिसिपेलास (वैन एस)[2] से अलग पहचानना काफी कठिन अथवा असम्भव हो जाता है। यह ज्ञात है कि साल्मोनेल्ला कालरेसुइस, सूकर कालरा में गौण आक्रमणकारी हो सकता है और इसे परिगलित आन्त्राति का प्राथमिक संक्रमण माना जाता है।

कुपोषण एवं गंदगी के प्रतिकूल प्रभाव को संसार भर में महसूस किया गया है तथा ब्रायट[8] ने इस पर अधिक जोर देते हुए लिखा है कि कीचड़ तथा गंदगी युक्त फार्मों पर रहने वाली दो से चार माह की आयु वाली सुअरियों में दस्त, कमजोरी तथा घटती-बढ़ती भूख आदि परिगलित आन्त्राति के अनेक लक्षण प्रकट हो सकते हैं, और ऐसे ही फार्मों पर यह रोग अधिक हुआ करता है। सुअरों में अल्पाहार भी आन्त्राति का कारण बनता है।

विकृत शरीर रचना—प्रमुख रूप से इसके क्षतस्थल आमाशय, सीकम, कोलन तथा मलाशय में ही स्थित रहते हैं। छोटी अंतड़ी कम रोग ग्रसित होती है। सबसे प्रमुख परिवर्तन तथा क्षतस्थल सीकम और कोलन में पाए जाते हैं। इनकी दीवालें खूब मोटी

हो जाती हैं तथा श्लेष्मल झिल्ली पीलापन लिए हुए परिगलित केसिएटेड टिसु की धूसर सतह से आच्छादित रहती है। इस सड़ी हुई सतह को हटाने पर अन्दर की श्लेष्मल-झिल्ली लाल रंग की तथा दानेदार पाई जाती है। कुछ रोगियों में, स्थान-स्थान पर सड़न दिखाई देती है। एपीथीलियम नष्ट होकर यह परिवर्तन सबम्युकोजा तक पहुँच चुके होते हैं। गला हुआ टिसु छिलकर अँतड़ी के पदार्थ में मिल सकता है। रोग के उग्र प्रकार में केवल श्लेष्मायुक्त स्राव अथवा थोड़ा सा रक्त-स्राव होता है तथा श्लेष्मल झिल्ली में सूजन हो सकती है। ऐसे ही परिवर्तन छोटी अँतड़ी, विशेषकर इसके निचले हिस्से में भी मौजूद हो सकते हैं। आमाशयिक श्लेष्मल झिल्ली नॉर्मल होती अथवा उसमें रक्त-स्राव से लेकर घाव बनने तक के विभिन्न क्षतस्थल मौजूद हो सकते हैं। लिम्फ ग्रंथियाँ (विशेषकर आहार-नाल की) सूजी, रक्तवर्ण तथा फूली हुई हो सकती हैं। जैसा कि ब्रीड[10] (Breed) ने वर्णन किया है प्लीहा बढ़ी हुई, सूजी तथा काली दिखाई देती है। गुर्दे की सतह पर कभी-कभी बड़े-बड़े, काले तथा अव्यवस्थित रक्त के धब्बे मिलते हैं। कटी सतह पर काले रंग का रक्तस्राव मिलता है।"

लक्षण—2 से 4 माह की आयु वाली सुअरियों में इस रोग का आक्रमण प्रायः एकाएक होता है, यद्यपि कि दस्त तथा निर्बलता 2 सप्ताह की आयु पर ही प्रकट हो सकती है। अँतड़ी से निकलने वाले मल में फाइब्रिनयुक्त अथवा सड़ा हुआ टिसू तथा कुछ में रक्त तक मौजूद रहता है। रोगी की खान-पान में अरुचि तथा अस्थिरता रहकर उसे तेज बुखार रहता है। कुछ दिनों बाद तापक्रम सामान्य होकर रोगी को भूख लगने लगती है, किन्तु पशु कमजोर रहता तथा उसका शरीर भार नहीं बढ़ता है। यदि बीमारी के कंट्रोल करने का प्रयास न किया गया तो निर्बलता तथा अवसन्नता होकर रोगी पशु की मृत्यु हो जाती है। प्रारम्भ में इसे सूकर कालरा निदान किया जा सकता है और यदि इसमें सूकर कालरा वाइरस तथा सूकर कालरा सीरम का प्रयोग हो जाता है तो हालत और खराब होकर अनेक पशुओं की मृत्यु हो जाती है। इसका प्रकोप उग्र अथवा दीर्घकालिक हो सकता है और मृत्यु दर काफी अधिक।

सुअरों में खान-पान का आंत्रार्ति से संबंध कई कार्यकर्ताओं द्वारा रिपोर्ट किया गया है। सन् 1939 में मैडिसन आदि[11] (Madison et al) ने मैदानी सुअरों में निकोटिनिक एसिड की कमी का एक प्रकोप रिपोर्ट किया। निकोटिनिक एसिड मृत्यु दर कम करता तथा बची हुई सुअरियों को स्वस्थ रखने में सहायक है। सन् 1940 में डेविस आदि[12] (Davis et al) ने प्रयोगात्मक रूप से केवल दाना खिलाई गई युवा सुअरियों में एक स्वाल्पता रोग का वर्णन किया। अत्यधिक कमजोरी, पानी जैसे पतले दस्त, शरीर भार में कमी तथा झुर्रियोंदार त्वचा आदि इसके लक्षण थे। यह संलक्षण प्रमुखतौर पर पीली मक्का खाने वाली सुअरियों में तथा यदा-कदा भूसी निकली हुई जई खिलाए गए सुअरों में देखा गया। दाने के राशन में; बराबर मात्रा में वाष्पीकृत अस्थि चूर्ण, पिसा हुआ चूना पत्थर, नमक तथा थोड़ा सा फेरस सल्फेट और पोटाशियम आयोडायड से बना खनिज मिश्रण 1.5 प्रतिशत और मिलाया गया। प्रत्येक सुअर को नित्य अधिकतम 6 पौण्ड छाछ पिलाया गया तथा अतिरिक्त विटामिन "ए" की पूर्ति के लिए तेल में कैरोटीन मिलाकर अथवा कॉड यकृत तेल नियमित

रूप से खिलाया गया। 30 और 60 पौण्ड के बीच शरीर भार वाले पशु अधिक बीमार पड़े। लक्षणों की अवधि 30 से 60 दिन या अधिक थी और रोगी की अक्सर मृत्यु हो जाती थी। शव-परीक्षण करने पर सीकम और कोलन की श्लेष्म झिल्ली तक सीमित, परिगलित आन्त्रार्ति के क्षतस्थल मिले। कुछ पुराने रोगियों में गौण निमोनिया भी पाई गई। निकोटिनिक एसिड (60 से 100 मिलिग्राम नित्य), ताजा यकृत (200 ग्राम नित्य) अथवा यीस्ट तथा यकृत चूर्ण देने से रोगी पशु ठीक होने लगे। यह परिणाम पेलाग्रा (Pellagra) के निदान को सही सिद्ध करते तथा यह अनुमान कराते हैं कि कुछ रोगियों में निकोटिनिक एसिड की कमी आन्त्रार्ति का एक कारक हो सकती है। मक्का तथा जई का राशन खिलाकर प्रयोगात्मक रूप से पेलाग्रा उत्पन्न किया जा चुका है तथा ग्रायट[9] की रिपोर्ट के अनुसार मक्का तथा जई खाने वाले सुअरों में आन्त्रार्ति अधिक हुआ करती है। "पेलाग्रा" इटैलियन शब्द' पेले-आग्रा" (Pelle agra) से मिलकर बना है जिसका अर्थ है खुरदरी त्वचा। विटामिन बी$_2$ एक पैलाग्रा रोधक कारक है जिसमें निकोटिनिक एसिड, रीबोफ्लेविन तथा विटामिन बी$_6$ होता है। यह सिद्ध किया जा चुका है कि निकोटिनिक एसिड सुअरों में इस बीमारी के प्रति एक रोगहर पदार्थ है। सन् 1942 में एडगिंगटन[13] (Edgington) और उनके साथियों ने बताया कि निकोटिनिक एसिड का बीमारी से बचाने का यह गुण इतना काफी नहीं है कि इसका रोग के बचाव अथवा चिकित्सा के लिए प्रयोग किया जा सके।

संक्रामक आन्त्रार्ति के विभिन्न कारणों पर विचार करते समय रोग का धीरे-धीरे आक्रमण, दीर्घकालिक कोर्स, रूसीयुक्त खुरदरी त्वचा, बुखार का न होना तथा क्षतस्थलों का आहार-नाल तक ही सीमित रहना आदि लक्षण पेलाग्रा की पहचान हैं।

कंट्रोल—रोग नियंत्रण हेतु संदूषित यूथ तथा बाड़े में से सभी पशुओं को हटा दीजिए, बीमार पशुओं को अलग कर दीजिए तथा उन्हें शीघ्र पाचक सीमित आहार दीजिए। जीवाणु-गत पदार्थों अथवा वैक्सीन का प्रयोग संदेहात्मक है।

रक्त अतिसार के साथ उग्र अथवा दीर्घकालिक आन्त्रार्ति की चिकित्सा में कर्नकैम्प[14] ने 0.16 से 0.33 ग्राम प्रति किलोग्राम शरीर भार (अथवा 0.75 से 1.5 ग्राम प्रति 10 पौण्ड शरीर भार) सल्फाग्वानिडीन खिलाकर चिकित्सा किए गए 36 में से 69 प्रतिशत तथा कंट्रोल के रूप में प्रयोग होने वाले 30 में से 16 प्रतिशत सुअरों को अच्छा किया। मैदानी परिस्थितियों में कई बार कुल मिलाकर 166 सुअरों की चिकित्सा की गई जिनमें से 92 प्रतिशत ठीक हो गए। ऐसे ही परिणाम कैमरन[15] द्वारा रिपोर्ट किये गये जिन्होंने 1 ग्राम सल्फाग्वानिडीन को प्रति 20 पौण्ड शरीर भार की दर पर नित्य चार बार खिलाया। दूध पीने वाले बच्चों को दिन में तीन बार 1 ग्राम दवा दी गई। सल्फासक्सिडीन और सल्फाथैलिडीन खिलाकर भी ऐसे ही परिणाम रिपोर्ट किए गए। स्ट्रेप्टोमाइसिन अथवा आरोमाइसिन जैसे प्रति-जैविक पदार्थ भी दिए जा सकते हैं।

संदर्भ

1. Kernkamp, H.C.H., Gastroenteric disease in swine, J.A.V.M.A., 1945, 106, 1.
2. Van Es, L., and McGrath, C.B., Neb. Bull. 128, 1942.

3. Seghetti, Lee, Observations regarding Salmonella choleraesuis (var. kuzendorf) septicemia in swine, J.A.V.M.A., 1946, 109, 134.
4. Murray, Chas, Biester, H.E., Purwin, Paul, and McNutt S.H., Studies in infectious enteritis in swine, J.A.V.M.A., 1929, 74, 345.
5. Biester, H.E., and Murray, Chas., Some types of enteritis in swine, The Veterinary Alumni Quarterly (Ohio), 1932, 20, 43.
6. Salmon, D.E., and Smith, T., Investigations in swine plague, U.S. Dept. of Agriculture, Bureau of Animal Industry 1885.
7. Doyle, L.P., Infectious types of swine enteritis, Report of the 43rd Annual Meeting of the United States Live Stock Sanitary Association, Dec. 1939, p. 224.
8. Bryant, J.B., Swine enteritis in veterinary practice, Report of the 43rd Meeting of the U.S.L.S.S.A., Dec. 1939 p. 231.
9. Tischhauser, L.A., Suipestifer infections should not be overlooked, N. Am. Vet., 1946, 26, 524.
10. Breed, Frank, Some swine problems of the future, J.A.V.M.A., 1942, 100, 27.
11. Madison, L.C., Miller, R.C., and Keith T.B., Science 1939, 89, 490.
12. Davis, G.K., Freeman, V.A., Madsen, L.L., Mich. State College Tech. Bull. 170, 1940.
13. Edgington, B.H., and associates, Tests with nicotinic acid for the prevention of infectious swine enteritis, J.A.V.M.A., 1942, 101, 103.
14. Kernkamp, H.C.H., and Roepke, M.H., Sulfaguanidine in the treatment of infectious enteritis in swine: Vet. Bull. Lederle, 1942, xi, 35; Am. J. Vet. Res., 1943, 4, 3.
15. Cameron, H.S., Field investigations on sulfaguanidine in swine enteritis, Cornell Vet., 1942, 32, 1.

कॉक्सीडिओसिस

(Coccidiosis)

(गो-पशुओं में लाल पेचिस; रक्तस्रावी कॉक्सीडिओसिस; कॉक्सीडिआ रुग्णता)

परिभाषा—कॉक्सीडिआ (इमेरिया जरनाइ, इमेरिया बोविस, इमेरिया इलिपस्वाइडेलिस) द्वारा फैलने वाली यह विशेषकर मलाशय तथा किसी हद तक कोलन और सीकम को प्रभावित करने वाली विशिष्ट रक्त-स्रावी आंत्रार्ति है जिसमें पशु को रक्त के ताजे फुटक मिले हुए पतले दस्त आते हैं।

कारण—यूनाइटेड स्टेट्स (संयुक्त राज्य) के विभिन्न भागों में यह बीमारी गो-पशुओं, सुअरों, तथा मेमनों में प्रकोप करती रिपोर्ट की गई है। उत्तरी डेकोटा के चरागाहों पर चरने वाले ढोरों में इसके भारी प्रकोप होते बताए गए हैं। अलाबामा तथा जोर्जिया में किये गये मैदानी प्रयोगों पर आधारित संयुक्त राज्य पशु उद्योग ब्यूरो (U. S. B. A. I) की रिपोर्ट[1] में यह रोग बछड़ों में होता बताया गया है। न्यूयार्क में प्रतिवर्ष

यह रोग अनेक पृथ्वों में पाया जाता है तथा यह पशुशाला में बांधकर रखे जाने वाले अथवा चरागाहों पर चरने वाले दोनों प्रकार के पशुओं में बढ़ता हुआ देखा गया है। स्विट्जरलैंड और आयरलैंड के पशुओं में यह अधिक होता है तथा संसार भर में प्रकोप करता है। भेड़ों के बच्चों में इसकी उपस्थिति के बारे में कोलोरैडो तथा नेब्रास्का से अनेक रिपोर्टें मिली हैं। सुअरों में इस रोग के प्रयोगात्मक संक्रमण का (सन् 1939 में) ब्यूरो की रिपोर्ट में संक्षिप्त विवरण दिया गया है, किन्तु इस देश में, सुअरों में इसका प्राकृतिक संक्रमण बहुत कम होता है।

वैसे तो यह रोग वर्ष भर प्रकोप कर सकता है किन्तु, प्रत्येक वर्ष किसी विशेष माह में इसका प्रकोप अधिक होता है। लेखक के चिकित्सालय में अप्रैल से दिसम्बर तक इसके रोगी अधिक देखने को मिले तथा अक्तूबर के माह में चिकित्सा पाने वाले ऐसे रोगियों की संख्या सबसे अधिक थी। मार्श[2] के अनुसार कॉक्सीडिओसिस उत्तरी पश्चिमी प्रदेशों में युवा पशुओं, विशेषकर बछड़ों, में अधिक प्रकोप करने वाला एक विशिष्ट रोग है। 4 माह से लेकर 2 वर्ष तक की आयु वाले बछड़ों को यह रोग लगता है। एक माह की आयु वाले बछड़े में भी यह रोग देखने को मिला। सन् 1938 में जुलाई से अक्तूबर तक लेखक के चल-चिकित्सालय में चिकित्सा किए गए 20 रोगियों में से 13 ऐसी गायों में भी यह रोग फैलते देखा गया जिनकी आयु 3 से 9 वर्ष के बीच थी। इमेरिया जरनाइ नामक कॉक्सीडिया की प्रजाति गो-पशुओं में प्रमुख रूप से रोगजनक है यद्यपि कि ऐसी दस विभिन्न प्रजातियों का उल्लेख किया गया है। दूषित चारे या पानी में उपस्थित युग्मकपुटी (oocyst) के खाने से इसकी छूत लगती है। प्रत्येक युग्मकपुटी में चार स्पोर (स्पोरोज्वाइट) होते हैं। अंतड़ी में पहुँचने के बाद यह स्पोर निकल कर एपीथीलियल कोशाओं में प्रवेश पाते हैं। यहाँ पहले इनका लैंगिक विभाजन (sexual multiplication) होता है जिसमें इनके विकास काल की सभी अवस्थाएँ पाई जा सकती हैं। अंत में संसेचन (fertilization) होकर चार स्पोर वाली अपरिपक्व युग्मकपुटी बनती है। तत्पश्चात् यह परजीवी पशु के गोबर के साथ शरीर से बाहर निकलता है। इस विभाजन में एक से चार सप्ताह का समय लग सकता है। एपिथीलियल कोशाओं में परजीवी का इस प्रकार विकास होना काफी बड़े क्षेत्र के कोशाओं को नष्ट करता है जिसके परिणामस्वरूप पशु को केशिका रक्तस्राव, रक्त-संचित आन्त्राति होकर खून मिले दस्त आने लगते हैं। यदि आक्रमणकारी युग्मक-पुटियों की संख्या कम है तथा पशु अच्छा खाया-पिया है तो वहाँ कोई भी प्रतिक्रिया न होकर, पशु के शरीर में इस रोग के अगले प्रकोपों के प्रति सहन शक्ति उत्पन्न हो सकती है। परीक्षणों से पता लगता है कि प्रत्येक गो-पशु अपने शरीर में युग्मक-पुटी छुपाए रहता है और अनेक पशुओं में प्रतिरक्षा उत्पन्न हो जाती है। गोबर में अपरिपक्व युग्मकपुटी निकलती है जो नमी तथा वायु के संपर्क में आकर दो से तीन दिन में परिपक्व हो जाती है। यह 30 से 35 माइक्रान लम्बी तथा 20 माइक्रान चौड़ी होकर अण्डाकार अथवा कभी-कभी गोल हो सकती है। शरीर के बाहर यह एक या दो वर्ष तक जीवित रह सकती है। ठंड तथा रोगाणुनाशक पदार्थों को यह सहन कर लेती है। सूर्य की किरणों, सड़न तथा सुखाने से इनका विनाश हो जाता है। बीमार पशु के गोबर अथवा मलाशय से ली गई खरोंच में असंख्य युग्मक-पुटी होती

है किन्तु रोग के आक्रमण के प्रारम्भ में यह गोवर में नही भी पाई जा सकती। स्वस्थ, किन्तु रोगवाहक, पशुओ के गोवर में भी यह मौजूद हो सकती है, फिर भी यह सभव है कि
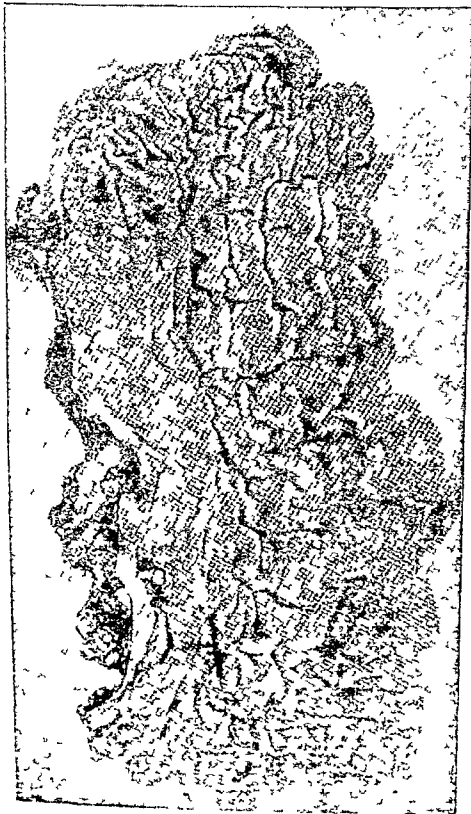
चित्र—20 कॉक्सीडिओसिस, इसमें सीकम का एक भाग उसकी दीवल की मोटाई तथा झुर्रियाँ प्रदर्शित करता दिखाया गया है (पे और हेगन), कार्नेल वेट० 1920,10,17.

स्वस्थ पशुओं (वाहक) के गोबर में पाई जाने वाली युग्मक-पुटी रोगजनक न हों। इन युग्मक-पुटी की बिना छूत लगे पशुओं का पालन-पोषण हो जाए ऐसा कुछ असम्भव सा जान पड़ता है। शरीर के बाहर यह मैदानों तथा पशुशालाओं में खूब पाई जाती है। जहाँ भी मल सदूषण सभव है, शरीर में युग्मकपुटी छुपाई जा सकती है। पशुओं का प्रत्येक वर्ग अपनी ही जाति की युग्मकपुटी को अपने शरीर में छिपाता है, अतः गो-पशुओं, भेड़ों तथा सुअरियों में परस्पर क्रास-सक्रमण नही होता।

छूत लगने का ढंग—नमीयुक्त, अँधेरे तथा गदे स्थानों में रहने वाले पशुओं में इस रोग की छूत शीघ्र फैलती है। कभी-कभी अच्छे साफ-सुथरे स्थानों में भी यह रोग होते देखा गया है। कुछ को छोड़कर, अधिकाश पशुओ में यह रोग विकीर्ण रूप में अथवा हल्की स्थानिकमारी के रूप में प्रकोप करता है। एक ही स्रोत से पानी पीने वाले पशुओ में परस्पर सपर्क न होने पर भी दूर के पड़ोसी पशु पर बीमारी का आक्रमण हो सकता है। लेमाट[3] (Lamont) की रिपोर्ट के अनुसार आयरलैंड में शुष्क एव नम दोनों ही मौसमों में यह रोग प्रकोप करता है और प्रायः गदे तालाबों में पानी पीने से उत्पन्न होता है। प्रायः ऐसा विश्वास किया जाता है कि रोग का शरीर में विकास होना पशु द्वारा निगली हुई युग्मक-पुटी की सख्या पर निर्भर होता है। कॉक्सीडिओसिस के प्रकोप के समय बहुधा ऐसा देखा गया है कि कम खिलाए-पिलाए गए, अँधेरे व नमीयुक्त गदे बाड़ों में बाँधे गए तथा तालाब में ऊपरी सतह से पानी पीने वाले पशुओं में यह रोग अधिक फैलता है।

नेब्रास्का में बाहर से लाए गये भेड़ों के बच्चों में कॉक्सीडिओसिस के एक भीषण प्रकोप में यह देखा गया कि वहाँ पहुँचने पर बच्चों को इस रोग की छूत लगी तथा बारह से सोलह दिन खिलाने के बाद उनको दस्त आना, काफी मात्रा में युग्मक-पुटी निकलना तथा मृत्यु होना प्रारम्भ हुआ और दो सप्ताह तक लक्षण स्थिर रहने के बाद मृत्यु दर में कमी हो गई। खुली तथा गन्दी नादों में खिलाई गई मक्का की साइलेज ने गोबर में उपस्थित युग्मक पुटी के स्पोरजनन तथा सरक्षण हेतु उपयुक्त नमी की परिस्थियाँ प्रदान की। यह दूषित गोबर भेंड़ के द्वारा नाद में पहुँचाया गया था—क्रिस्टेंशन[4] (Christensen)।

विकृत शरीर रचना—पशु का शव क्षीण हुआ तथा टिसु रक्तहीन दिखाई पड़ते हैं। शरीर का पिछला भाग प्रायः खून मिले गोबर से सना हुआ मिलता है। प्लूरा तथा पेरी-कार्डियम (हृदयावरण) पर रक्तस्राव पाया जा सकता है। सीकम, कोलन तथा मलाशय में विशिष्ट तथा स्थायी परिवर्तन दिखाई पड़ते हैं। इनकी श्लेष्मल झिल्लियाँ मोटी पड़ जातीं, फूल जाती, उनसे खून बहता तथा बहुधा वे रक्त के छीछड़ेयुक्त मिलती हैं। मलाशय की श्लेष्मल झिल्ली लाल, रक्त-स्रवित तथा लम्बी-लम्बी धारीयुक्त दिखाई देती है। इसकी दीवाल नॉर्मल से दो या तीन गुनी मोटी हो जाती है। कोलन के अतिम भाग तथा मला-शय में रक्त जमा हुआ मिलता है। कभी-कभी एबोमेसम तथा छोटी अँतड़ी की श्लेष्मल झिल्ली में रक्त-स्रवित सूजन मिलती है।

लक्षण—रोग का उद्भवनकाल एक से तीन सप्ताह का है। रोग के हल्के प्रकोप में रक्त-मिश्रित दस्त होना तथा दूध उत्पादन में कमी, केवल दो ही लक्षण प्रधान होते हैं। दूध पीने वाले बछड़ों को खून मिले हुए हल्के दस्त होते हैं तथा गोबर में अनेक युग्मक-पुटी

मौजूद हो सकती हैं। रोग के उग्र प्रकोप में खान-पान में अरुचि, शीघ्र ही हालत का गिरना, कमजोरी तथा बुखार जैसे लक्षण प्रकट होते हैं यद्यपि कि तापक्रम नॉर्मल अथवा नॉर्मल से भी कम हो सकता है। नाड़ी-गति तीव्र होकर 80 से 120 हो जाती तथा श्लेष्मल झिल्लियाँ पीली पड़ जाती हैं। ऐंठन के साथ रक्त मिश्रित पानी जैसा पतला बदबूदार दस्त होना तथा उसमें जमे हुए रक्त के ताजे छीछड़े निकलना इस रोग का नैदानिक लक्षण है। रोग के प्राणघातक प्रकोप में बिल्कुल खून जैसे दस्त होते हैं। प्रारम्भ में लहरी-गति बढ़ जाती है, तत्पश्चात् एक या दो दिन में अँतड़ी का पूर्ण पक्षाघात हो जाता है। मलाशय की श्लेष्मल झिल्ली मोटी, रक्तवर्ण तथा झुर्रियोंदार हो जाती है। पशु का मलाशय खुला हुआ तथा पिछला धड़ खून मिले गोबर से सना हुआ दिखाई देता है। बछड़ों में प्रायः निमोनिया हो जाती है और इस रोग से अच्छे होने के बाद उनकी वृद्धि मारी जाती है।

रक्त-परीक्षण करने पर अत्यधिक रक्त-स्वल्पता मिलती है। एक बहुत ही बीमार दो वर्ष की आयु की जर्सी नस्ल की बछिया जो अच्छी हो गई, उसके रक्त की रिपोर्ट निम्न प्रकार थी :

लाल रक्त कण	2,110,000
श्वेत रक्त कण	7,900
हीमोग्लोबिन	35%
लिम्फोसाइट	45%
न्युट्रोफिल	55%

रोग के प्राणघातक आक्रमण के अन्त में माँस पेशियों की ऐंठन, बेहोशी, पक्षाघात, पैरों का लड़खड़ाना तथा बेसुध होकर गिर जाना आदि घबराहट के लक्षण प्रकट होते हैं।

बीमारी का कोर्स तीन या चार दिन से लेकर दो सप्ताह तक का है। प्राणघातक आक्रमणों में चौथे या पाँचवें दिन रोगी की मृत्यु हो जाती है तथा पहला रोग-ग्रसित पशु इससे भी शीघ्र (एक या दो दिन में) मर सकता है। सन् 1945-50 में चल-चिकित्सालय में चिकित्सा किए गए रोगियों में मृत्युदर 10 प्रतिशत से भी कम थी। भलीभाँति न खिलाई गई गायों तथा युवा पशुओं में इस महामारी के प्रकोप से मृत्युदर काफी अधिक हो सकती है। गिबंस और बेकर[5] की एक रिपोर्ट में 31 पशुओं के यूथ में 3 की मृत्यु का अभिलेख मिलता है। इसमें 3 से 4 माह की आयु के 5 बछड़ों को छोड़कर, सभी पशु रोग ग्रसित हुए। बछड़ों को छोड़कर, सबने एक छिछले गड्ढे से पानी पिया या जिसे छूत का स्रोत माना गया। यह दिसम्बर सन् 1937 में कम खिलाया-पिलाया गया बहुत ही कमजोर यूथ था। जुलाई सन् 1938 के दूसरे प्रकोप में मृत्यु दर 50 प्रतिशत थी। इसमें 16 पशुओं में से, गायें तथा युवा पशु बराबर-बराबर संख्या में मरे। बीमारी का कोर्स चार से सात दिन का था। फर्श पर बहने वाली नालियों द्वारा 6 फार्मों में इस रोग की छूत फैलने के निश्चित प्रमाण मिले।

जैसा कि सिम्स (Simms) और उनके साथियों[6] ने जोर्जिया और अलाबामा (Georgia and Alabama) में वर्णन किया है, कॉक्सीडिओसिस में केवल रक्त-अतिसार

ही नही होता वरन् बिना रक्त के यह छपी हुई अवस्था में भी खूब प्रकोप करती है। एक से तीन माह की आयु वाले बछडो को स्थायी रूप से दस्त आते हैं। तीन सप्ताह से कम आयु वाले बहुत ही थोडे बछड़ों में युग्मक-पुटी दिखाई पड़ती हैं किन्तु, बड़े बछड़ों में इनकी सख्या असख्य होती है। आमतौर पर स्वच्छ वातावरण में रखे गए यूथ में इसका प्रकोप कम होता है।

निदान—मल में रक्त की मात्रा, अधिक मृत्यु दर, शव-परीक्षण परिवर्तनों, तथा मल में अनेक युग्मक-पुटी की उपस्थिति पर इस रोग का निदान आधारित होता है। यद्यपि कि मल का माइक्रास्कोपिक परीक्षण करने पर उसमें अनेक युग्मक-पुटी पाई जाती हैं, फिर भी रोग के आक्रमण के प्रारम्भ में तथा अच्छे होने के कुछ सप्ताह बाद यह अनुपस्थित हो सकती हैं। अत मल-परीक्षण ऋणात्मक होने पर भी यह अनुमान नही लगा लेना चाहिए कि पशु का कॉक्सीडिओसिस नहीं है। दो या तीन दिन बाद मल में काफी बडी सख्या में युग्मक-पुटी उपस्थित हो सकती हैं। सामान्यतया स्वस्थ पशुओं के मल में कुछ युग्मक-पुटी का पाया जाना इस बात का प्रमाण है कि पशु के शरीर में इनकी सख्या तथा प्रजाति, केवल उपस्थिति की अपेक्षाकृत, अधिक महत्वपूर्ण है। शीत-अतिसार के भीषण प्रकोप के लक्षण कॉक्सीडिओसिस से काफी मिलते-जुलते हो सकते हैं। छूत लगने के स्रोत से इसकी पहचान हो सकती है, क्योंकि कॉक्सीडिओसिस की छूत प्राय कम गहरे गंदे तालाबो अथवा स्रोतो से पानी पीने पर लगती है। जब शीत अतिसार प्रकोप करता है तो क्षेत्र के कई यूथो में यह बीमारी पाई जाती है और इसका मौसमिक प्रकोप दिसम्बर से मार्च तक होता है। लेखक के परिमित अनुभवों में, कॉक्सीडिओसिस के 90 रोगियो में से केवल 7 रोगी जनवरी से मार्च तक निम्न प्रकार देखे गये 3 फरवरी में, 4 मार्च में तथा जनवरी में एक भी नहीं। खूनी-पेचिस के साथ शीत अतिसार के भीषण प्रकोप में मुश्किल से एक आध पशु की मृत्यु होती है तथा कॉक्सीडिओसिस के निदान के लिए समुचित मात्रा में युग्मकपुटी भी नहीं पाई जाती। एक से तीन माह के बछडों में छोटी अँतडी की रक्त-स्रवित आयाति के कारण उन्हें खून मिले दस्त हो सकते हैं जो बाह्य दिखावट में कॉक्सीडिओसिस से काफी मिलते-जुलते हैं।

रोग की प्रारम्भिक अवस्था में जबकि युग्मक-पुटी मौजूद नहीं होतीं ऐसे पशु का शव-परीक्षण करके बाउटन[7] ने इसके निदान का बहुत ही महत्वपूर्ण क्षतस्थल छोटी अँतडी के पिछले भाग में ढूंढ निकाला। छोटी अँतडी के पिछले भाग में आल्पीन के सिर के बराबर सफेद रंग के छोटे छोटे अनेक दाने से पाए जाते हैं। केवल एक रसाकुर (villus) के केशिका जाल में ऐसे कई दाने पाए जा सकते हैं। बाउटन[8] ने इन्हें गो-जातीय कॉक्सीडिआ की एक अथवा अधिक प्रजातियां, विशेषकर इमेरिया बोविस, की अलैंगिक अवस्था (शिजोंट) माना। श्लेष्मल झिल्ली की खरोच से ताजे तैयार किए गए स्लाइडो पर विभासकालीन अवस्था में अनेक विकसित होने वाली युग्मक पुटी देखी जा सकती है।

चिकित्सा—कॉक्सीडिओसिस की चिकित्सा के लिए अनेक औषधियाँ प्रयोग की जा चुकी हैं और इनमें से अधिक का काम अँतडी की श्लेष्मल झिल्ली के प्रति स्तम्भक अथवा रक्षक के रूप में रहा है। यदि रोग का आक्रमण हल्का है तो बिना चिकित्सा के ही कुछ दिनों

में रोगी ठीक हो जाता है। यदि प्रकोप उग्र है तो अधिक मृत्युदर होने के कारण कुछ पशु अवश्य मरते हैं। भीषण प्रकोप में रोगी को दी जाने वाली रक्षक औषधियों के साथ उत्तजक दवाएँ भी प्रयोग करनी चाहिए। निर्जलीकरण तथा शरीर से निकले हुए रक्त की पूर्ति के लिए पशु को नार्मल सलाइन, साइट्रेटयुक्त रक्त अथवा रक्त देना चाहिए। पोपक के रूप में डेक्सट्रोज घोल का इंजेक्शन देना चाहिए। स्तंभक तथा रक्षक के रूप में 1 औंस टैनिक एसिड तथा 1 से 4 औंस विस्मथ सबनाइट्रेट गुनगुने दूध में मिलाकर देना चाहिए। अँतड़ी से बदबूदार दूषित पदार्थों को निकालने के लिए रोगी पशु को नित्य 1 क्वार्ट खनिज तेल देना चाहिए। यह रक्षक का भी काम करता है। अति रोग-ग्रसित पशुओं में 500–1000 घ० सें० साइट्रेटयुक्त रक्त तथा 5 प्रतिशत डेक्सट्रोज़युक्त 1000 से 2000 घ० सें० नॉर्मल सलाइन का अंतःशिरा इंजेक्शन आशातीत लाभ पहुँचाता है। एक क्वार्ट गर्म खनिज तेल मलाशय द्वारा देने से ऐंठन कम होती है। अधिदृढ़तानिक निश्चेतन (epidural anesthesia) देने से भी दस्त रुक कर रोगी को आराम मिलता है।

युवा पशुओं में, कॉक्सीडिओसिस की चिकित्सा में 10 से 12 माह की आयु वाले बच्चों को 30 से 45 ग्राम की मात्रा में नित्य सल्फाग्वानिडीन दी जा सकती है। सल्फामेराज़ीन अथवा सल्फामेज़ाथीन के साथ सल्फाथैलिडीन का प्रयोग हो सकता है। जैसा कि फॉक्स तथा राबर्ट्स[9] (Fox and Roberts) ने वर्णन किया है, $1^1/_4$ ग्रेन सल्फाथैलिडीन तथा 3/4 ग्रेन सल्फामेराज़ीन अथवा सल्फामेज़ाथीन को प्रति पौण्ड शरीर भार की दर पर मुँह द्वारा दो या तीन दिन तक दिया गया। बहुत ही क्षीण तथा निर्बल रोगियों को 2 से 4 सप्ताह तक सूखा यीस्ट युक्त विटामिन-खनिज पूर्ति भी खिलाया गया। ऐसा विश्वास किया जाता है कि सल्फाथैलिडीन श्लेष्मल झिल्ली के कॉक्सीडिया पर आक्रमण करती है। आजकल की चिकित्सा-पद्धति में यह सम्मिश्रण सर्वोत्तम मालूम देता है।

बचाव के लिए, पशुओं को तालाबों आदि का दूषित जल न पिलाइए, युवा पशुओं को सूखे बिछौनेयुक्त साफ सुथरे कमरे दीजिए तथा समुचित मात्रा में अच्छा चारा खिलाइए। रोग के विकीर्ण प्रकोपों के प्रति कोई प्रभावशाली बचाव का ढंग नहीं है क्योंकि यह नहीं जाना जा सकता कि कब और कहाँ ग्रहणशील पशु अनेक युग्मक-पुटियों के संपर्क में आ जाएगा। महामारी के समय पशुशालाओं की सफाई करने से भी यह रोग फैल सकता है। ऐसे उदाहरणों में संक्रमण का स्रोत पानी हो सकता है। युग्मक-पुटियों को नष्ट करने के लिए साधारण जीवाणुहनक पदार्थ प्रभावहीन हैं। साधारण तापक्रम पर सुखाने तथा 40° सेंटिग्रेड से ऊपर गर्म करने पर वे नष्ट की जा सकती हैं। ईनिक[10] (Enigk) द्वारा किए गए प्रयोगों के अनुसार 2 प्रतिशत फीनोलयुक्त कार्बन डाइसल्फाइड के 2 प्रतिशत घोल द्वारा 20 सेकेण्ड में युग्मक-पुटी नष्ट हो जाती हैं। रोगाणुनाशन (disinfection) करने से पूर्व पशुशाला के फर्श तथा दीवालों की सफाई के लिए दबाव के अन्तर्गत सज्जीखार के गर्म घोल का छिड़काव करना चाहिए। यह फर्श से खाद की 2–3 इंच तक की सतह को ढीला कर देता तथा दीवालों और छत को भी खूब साफ कर देता है।

भेड के छोटे बच्चों के प्राकृतिक संक्रमण में सल्फाग्वानिडीन का बचावकारी तथा औषधिक गुण जांच करने के लिए सन् 1941 में पशु उद्योग ब्यूरो ने एक प्रयाग रिपार्ट किया, जिसमें रविवार को छोडकर बच्चा को नित्य 2 ग्राम की मात्रा में सल्फाग्वानिडीन दी गई। इसने पाँच बच्चो को बीमारी की छूत बिल्कुल ही न लगने दी तथा चार बच्चा में रोग के भीषण प्रकाप को शीघ्र ही कम कर दिया। सिम्स[6] ने बच्चो की आयु के अनुसार निम्न प्रकार अलग समूहा में रखकर इस बीमारी की रोकथाम की (1) तीन सप्ताह तक के बच्चे, (2) तीन स छ सप्ताह तक के बच्चे, (3) छ सप्ताह से तीन माह तक के बच्चे, और (4) तीन माह से ऊपर की आयु के बच्चे।

'सयुक्त राज्य क्षेत्रीय पशु रोग अन्वेषणालय आवर्न, अलाबामा (United State Regional Animal Disease Research Laboratory, Auburn, Ala) पर एक 5×10×3 फिट का टूटदार कमरा डेरी के बछडों में कॉक्सीडिओसिस के कट्राल के लिए काफी लाभदायक सिद्ध हुआ। एक वर्ष से ऊपर रखे गए अभिलेखा ने यह प्रदर्शित किया कि जब छोटे बछडो को कॉक्सीडिओसिस तथा अन्य राग जैसे श्वेत पचिस और निमोनिया आदि से बचाने का समुचित उपचार नही किया जाता तो लगभग 75 प्रतिशत बच्चे मर जाते हैं। कई वर्षों तक प्रयोगशाला के मैदान पर 177 बछडो पर सचल कमरा का प्रयोग किया गया और इस अवधि में समस्त कारणा से मरने वाले बछडा की सख्या केवल 11 प्रतिशत के लगभग थी। इसमें प्रति सप्ताह कमरे को उठाने तथा एक स्थान से दूसरे उपयुक्त स्थान पर ले जाने का केवल परिश्रम है। यह काम दो मनुष्या द्वारा आसानी से किया जा सकता है। जहाँ यह कार्य किया गया वहाँ के पशुओ में कॉक्सीडिओसिस की छूत न लग पाने के कारण, मृत्युदर काफी कम रही। केवल अलाबामा में ही वर्ष भर में 80 विभिन्न फार्मों पर 300 से ऊपर ऐसे सचल कमरे प्रयोग किए गए। इन कमरो को प्रयोग करने वाले पशुपालका ने बताया कि जिन फार्मों पर इनके प्रयोग से पूर्व 75 प्रतिशत तक बछडे मर जाते थे, उन पर इनके प्रयोग करने के बाद केवल 10 प्रतिशत स भी कम बच्चे मरते हैं।[11]

सदर्भ

1 U S Dept Agr, Reports of the Chief of the Bureau of Animal Industry, 1939, p 72, 77, 1940, p 78, 1941, p 79

2 Marsh H, Healthy cattle as carriers of coccidia, J.A V M.A., 1938, 92, 184

3 Lamont, H G, Coccidiosis in bovines and poultry, Vet Record, 1935, 15, 1028

4 Christensen, J F, The source and availability of infective oocysts in an out break of coccidiosis in lambs in Nebraska feedlots, A.J V Res, 1940, 1, 27, The oocysts of coccidia from domestic cattle in Alabama (U S A.), with descriptions of two new species, J Parasitol, 1941, 27, 203

5 Gibbons, W.J, and Baker, D W, Coccidiosis, Cornell Vet, 1939, 29, 182.

6. Simms, B.T., Boughton, D.C., and Porter, D.A., Scours in dairy calves with special reference to white scours, coccidiosis, and verminous gastroenteritis, North Am. Vet. 1942, 23, 176.
7. Boughton, D.C., An overlooked macroscopic intestinal lesion of value in diagnosing bovine coccidiosis, North Am. Vet., 1942, 23, 173.
8. Boughton, D.C., Bovine coccidiosis: from carrier to clinical case, N. Am. Vet., 1946, 26, 147.
9. Fox, F.H., and Roberts, S.J., Recent Experiences in the Ambulatory Clinic, Corn. Vet., 1949, 39, 249.
10. Enigk, K., Untersuchungen ueber die Abtoetung der Spulwurmeier und coccidienoocysten durch Chemikalien, Archiv. wiss. prakt. Tierheilk, 1936, 70, 439, abs. Vet. Bull., 1937, 7, 411.
11. U.S.B.A.I. Rep., 1950, p. 53.

आमाशय में पशु-परजीवी कीट
(ANIMAL PARASITES IN THE STOMACH)
घोड़े के आमाशय में गैस्ट्रोफिलस लार्वा
(ऐस्केरिस रुग्णता)

गैस्ट्रोफिलस वंश की तीन प्रजातियाँ अमरीकी घोड़ों में प्रकोप करती हैं : (अ) गैस्ट्रोफिलस इन्टेस्टाइनेलिस (अश्व-जातीय)—घोड़ों की कीट मक्खी, सामान्य कीट मक्खी (botfly); (ब) गैस्ट्रोफिलस नेजैलिस (वेटेरीनस)—गले की कीट मक्खी, ठुड्डी मक्खी; और (स) गैस्ट्रोफिलस हीमोरह्वायडैलिस—नासिका मक्खी। इन मक्खियों के लार्वा बॉट (bots) कहलाते हैं।

जीवन-इतिहास—उत्तरी प्रदेशों में यह मक्खियाँ गर्मी के प्रारम्भ में मई, जून के महीनों में प्रकट होती हैं तथा गर्मी की ऋतु के बाद वाले भाग में अत्यधिक संख्या में होकर बड़ा ही कष्टप्रद हो जाती हैं। सामान्य कीट मक्खी यूनाइटेड स्टेट के लगभग सभी भागों में मिलती है। गले की कीट मक्खी भी बहुवितरित है। नासिका मक्खी का वितरण परिमित होने के कारण अधिकतर यह उत्तरी मध्यवर्ती प्रदेशों तथा कुछ बाकी पर्वतीय क्षेत्रों में पाई जाती है, किन्तु यह चारों ओर बड़ी जल्दी-जल्दी फैल रही है—स्वार्टज[1]। सामान्य कीट मक्खी पशु के बालों, अगले पैरों, कंधों तथा वक्ष की दीवाल पर अंडे देती है। गले की कीट मक्खी दोनों जबड़ों के बीच वाले स्थान के बालों पर अण्डे देती है। नासिका मक्खी होठों के किनारे उगे हुए बालों पर अपने अण्डे देती है। जब घोड़े का मुंह अंडे दिये हुए स्थान के सपर्क में आता है तो सामान्य कीट मक्खी के लार्वा उसके मुंह में पहुंच जाते हैं। एक सप्ताह से लेकर तीन माह में इन लार्वों का विकास होता है। गले की कीट मक्खी के अण्डे बिना रगड़ या नमी के ही विकसित हो जाते हैं। बिशप और डॉव[2] (Bishopp and Dove) ने बताया कि उन्होंने उनके अन्दर कभी भी जीवित लार्वा नहीं पाए। अण्डों से बाहर निकलने के बाद यह लार्वा बाल के साथ रिंग कर मुंह में प्रवेश पाते हैं। वेल्स और निपलिंग[3] (Wells and Knipling) के अनुसार नासिका मक्खी के लार्वा होठों की त्वचा में घुसकर मुंह के इस टिसु में चक्कर लगाते हैं। गैस्ट्रोफिलस इन्टेस्टाइनेलिस लार्वा प्रायः आमाशय के ग्रासनली वाले भाग में रहते हैं, जबकि गैस्ट्रोफिलस नेजैलिस और गैस्ट्रोफिलस हीमोरह्वायडैलिस प्रायः पाइलोरस के क्षेत्र में पाए जाते हैं—हाल[4] (Hall)। आमाशय में पहुंचकर यह लार्वा श्लेष्मल झिल्ली पर चिपक जाते हैं जहाँ इनका आगे विकास होता है। आठ से बारह माह बाद यह श्लेष्मल झिल्ली से छूटकर, गोबर के साथ बाहर निकलते हैं। जब अपने भ्रमणकाल में यह अंतड़ी में घूमते हैं तो नासिका मक्खी के लार्वा मलाशय अथवा गुदा पर चिपक सकते हैं। अनुकूल मिट्टी में पहुंचकर कीट मक्खी के लार्वा सतह के नीचे घुसकर प्यूपा में बदल जाते हैं तथा तीन से दस सप्ताह में मक्खी के रूप में प्रकट होते हैं।

लक्षण—आक्रमण के समय भय तथा परेशानी और आमाशय अथवा पाइलोरस में सताप अथवा अवरोध उत्पन्न करने के कारण यह मक्खियाँ काफी महत्व की है। ठुड्डी मक्खी के आक्रमण से घोडा तेजी से अपना सिर उछालता, काम के समय खडा हो जाता तथा अपने साथी की गर्दन अथवा पीठ पर अपना सिर रखने का प्रयत्न करता है। नासिका मक्खी के आक्रमण से घोडा इतना घबराता है कि उसको वश में करना कठिन हो जाता
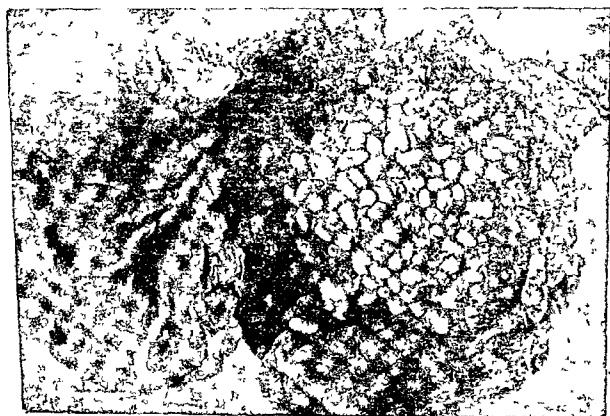
चित्र—21 घोडे के आमाशय मे ड्यूओडीनम के प्रवेश द्वार पर गैस्ट्रोफिलस लार्वा। जैसा चित्र 22 मे दिखाया गया है यह परजीवी आमाशय का तनाव उत्पन्न करके उसे फाड देते है।

है। लार्वा के द्वारा उत्पन्न क्षति के बारे में लोगो के विभिन्न मत है। सभवत अधिक सख्या में इनकी उपस्थिति युवा पशुओ के लिए हानिकारक है। केन्टुकी (Kentucky) में किए गए परिवेक्षणो के अनुसार टोड और डोहर्टी[5] (Todd and Doherty) की रिपोर्ट यह प्रदर्शित करती है कि ऐस्केरिस सक्रमण, दूध पीने वाले तथा एक वर्ष तक के बच्चो में एक बडी समस्या है। भारी ऐस्केरिस सक्रमण घोडियो में नही पाया जाता तथा बडे पशुओ में आयु प्रतिरक्षा के कारण इस रोग की छूत बहुत ही कम लगती है। घोड़ो में आन्त्रिक परजीविता की अन्य अवस्थाओ की भाँति जाडो में हालत का गिरना, श्लेष्मल झिल्ली का पीला पड जाना तथा चारे में अनियमित अरुचि जैसे लक्षण दिखाई पडते है। रोग का निदान करते समय गर्मी में बालो पर दिये गए अण्डो के बारे में इतिहास लेना पड़ता है तथा गोबर में अन्य परजीवियो के कितने अण्डे निकलते है इस पर भी विचार करना पड़ता है। चूँकि कार्बन डाइसल्फाइड नामक रसायन कीट-मक्खियो के निष्कासन में बड़ा

ही प्रभावकारी है, अत इसका प्रयोग रोग के निदान में भी सहायक है। लार्वा, पित्तनली में घुमकर पशु के प्राणघातक अवरोध का कारण बनत है। भयकर शूल वेदना, अत्यधिक पीलिया, मास पेशियो का अनैच्छिक उग्र सकुचन तथा कुछ घटा में पशु की मृत्यु हो जाना आदि इसके अनेक लक्षण है। आमाशय के पाइलोरिक क्षेत्र तथा ड्यूओडीनम में लार्वा के एकत्रित होने के कारण लेखक ने दो पशुओ की मृत्यु होते देखी। एक में पट का तनाव होकर चौबीस घटे से पहले फट गया। दूसरे में लगभग 48 घटे तक भयकर शूल वेदना होकर ड्यूओडीनम फटकर पशु की मृत्यु हो गई। दोनों ही घटनाएँ जून के महीने में हुईं।
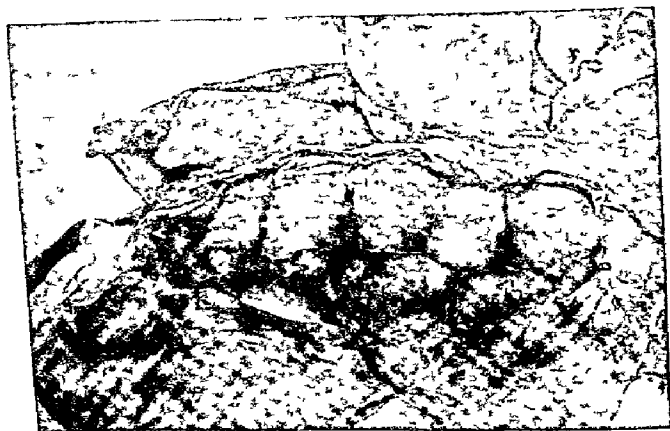
चित्र—22 पेरिटोनियल सतह से दिखाई देने वाला आमाशय का फटाव। पेरिटोनियम में A से B तक का फटाव रक्तस्राव तथा उसकी श्लेष्मल झिल्ली में बहुत ही छोटा सा छिद्र प्रदर्शित करता है।

चिकित्सा तथा बचाव—हाल[1] के अनुसार लार्वा के निष्कासन में कार्बन डाइसल्फाइड 100 प्रतिशत प्रभावकारी है और यह ऐस्केरिस कीटो को भी शरीर से बाहर निकालती है। जिस दिन पशु को दवा देनी हो उसके एक दिन पहले दोपहर स उसे चारा न दीजिए। पहली शाम को पानी पिलाइए किंतु दूसरे दिन सुबह को जब दवा देनी हो, उससे पूर्व पानी या चारा कुछ भी न दीजिए। कार्बन डाइसल्फाइड तरल अवस्था में आमाशय नलिका द्वारा दी जा सकती है। उसके बाद पशु को इसी नलिका द्वारा 2 औंस (60 घ० सें०) पानी दे दीजिए। इस औषधि को कैप्सूल में भरकर भी दिया जा सकता है। कुछ लोग गले में कैप्सूल अटक जाने से उत्पन्न कभी कभी भीषण कुपरिणामो के कारण इस आमाशय-नलिका द्वारा देना ही अधिक पसद करते हैं। प्रौढ़ घोडा के लिए इसकी मात्रा 6 ड्राम

(24 घ० सें०) तथा बछेड़ों के लिए 3 ड्राम (12 घ० सें०) है। इसे 1·5 ड्राम (6 घ० सें०) प्रति 250 पौण्ड (125 कि० ग्रा०) शरीर भार पर दिया जाता है। कार्बन डाइसल्फाइड देने के बाद हल्का जुलाब नही देना चाहिए तथा तीन घंटे तक चारा और पानी भी न दीजिए।

टोड आदि[5] ने औसतन 13·4 सप्ताह की आयु पर बछेड़ों की 30 जून को चिकित्सा प्रारम्भ करके उनके मल में निकलते हुए ऐस्केरिस के अधिकतम अण्डे पाए। इसके लिए उन्होंने 4 से 6 ड्राम की मात्रा में आमाशय नलिका द्वारा कार्बन डाइ-सल्फाइड दी थी तथा 10 और 24 अगस्त को पुनः 5 से 6 ड्राम दवा दी। एक वर्षीय बछेड़ों को 6 ड्राम की केवल एक ही खुराक दी गई।

अधिक दिनों की गर्भित घोड़ियों में इस औषधि का प्रयोग वर्जित है। बछेड़ों, वृद्ध घोड़ों तथा कमजोर अथवा खराब हालत वाले पशुओं को देने में भी सावधानी बरतनी चाहिए। कार्बन डाइसल्फाइड श्लेष्मल झिल्ली को काटती तथा दर्द जैसे लक्षण उत्पन्न कर सकती है। दवा देते समय बालों पर चिपके हुए अण्डे लार्वा छुपाए रख सकते है, अतः इनको छुटा देना चाहिए। वेल्स तथा निप्लिग[3] के अनुसार जीवाणुहनक पदार्थों द्वारा लार्वा को नष्ट नही किया जा सकता किन्तु "जिस दिन वायु का तापमान 60° फारेनहाइट से कम हो उस दिन लार्वायुक्त भाग को 104 से 118° फारेनहाइट के गर्म पानी से तर करके इन्हें नष्ट किया जा सकता है। इस चिकित्सा द्वारा अंडे के लार्वा बाहर निकल कर बाह्य वातावरण के सपर्क में आकर घोड़े के मुँह में जाने से पूर्व ही नष्ट हो जाते है।" जहाँ घोड़ों में इन परजीवियों के लिए केवल एक ही बार में इलाज करना हो वहाँ यह उत्तरी प्रदेशों में फरवरी के प्रारम्भ में तथा दक्षिणी प्रदेशों में फरवरी के अंत में करना चाहिए। जब दो चिकित्सा देनी हों तो पहली को दिसम्बर के प्रारम्भ में दिया जा सकता है। सप्ताह में एक बार पशु के शरीर पर के बालों से अंडों को हटा देना, लार्वों को उनके पेट में घुसने से बचाता है। कार्बन टेट्राक्लोराइड तथा टेट्राक्लोरेथायलिन भी इन परजीवियों के प्रति कुछ लाभप्रद औषधियां है।

संदर्भ

1. Schwartz, B., Imes, M., and Wright, W.H., Parasites and Parasitic Diseases of Horses, U.S. Dept. Agr. Cir. 148, May, 1931.
2. Bishopp, F.C., and Dove, W.E., The Horse Bots and Their Control, U.S. Dept. Agr., Farmer's Bull. 1503, July 1935.
3. Wells, R.W., and Knipling, E.F., A report on some recent studies on species of Gastrophilus occurring in horses in the United States, Iowa State Col. J. of Sci. 1938, 12, 181.
4. Hall, M.C., Notes in regard to bots, Gastrophilus spp., J.A.V.M.A., 1917, 52, 177; The anthelmintic and insecticidal value of carbon bisulphide against gastrointestinal parasites of the horse, J.A.V.M.A., 1919, 45, 543.
5. Todd., A.C., and Doherty, L.P., Treatment of ascariasis in horses in central Kentuckey, J.A.V.M.A., 1951, 119, 363.

भेड़ों तथा बकरियों का आमाशय-कीट रोग

(Stomach Worm Disease of Sheep and Goats)

(स्ट्रांजिल रुग्णता; हीमांकस रुग्णता; तारकृमि रोग; ट्राइकोस्ट्रांजिल रुग्णता)

परिभाषा—दस्त, रक्त स्वल्पता तथा क्षीणता जैसे लक्षणों के साथ हीमांकस कंटार्टस, ट्राइकोस्ट्रांगाइलस ऐक्सिआइ और आस्टर्टेगिया सरकमसिंटा द्वारा फैलने वाला यह एबोमेसम (चतुर्थ आमाशय) का एक दीर्घकालिक क्लेश है। यह परजीवी पशु का रक्त चूसकर अपने शरीर का पोषण करते, श्लेष्मक झिल्ली को घायल करते तथा रक्त-स्वल्पता उत्पन्न करते हैं। आमाशय कीट रोग के साथ छोटी अँतड़ी में भी कुछ ऐसा ही रोग होता है जो विभिन्न प्रकार के गोल कीटों (round worms) द्वारा उत्पन्न होता है। फोरी[1] (Fourie) के अनुसार हीमांकस कीट हीमोलाइसिन (hemolysins) नहीं बनाता। यद्यपि कि विभिन्न वर्ग के परजीवियों के आक्रमण की विधि कुछ भिन्न है फिर भी यह विभिन्नता इस कारण अधिक महत्वपूर्ण नहीं है कि संक्रमण प्राय मिला-जुला होता है।

कारण—सभी भेड़ पालने वाले देशों में आमाशय कीट-रोग एक बहुत ही विनाश-कारी बीमारी है। यह सम्पूर्ण संयुक्त राज्य में फैलती है तथा विशेषकर मध्य पश्चिमी तथा दक्षिणी भागों में भारी क्षति पहुँचाती है। स्थायी चरागाहों में यह बीमारी प्राय भेड़ों के बच्चों को तथा भारी प्रकोपों में बड़े पशुओं को भी प्राणघातक हुआ करती है। पशुशाला में रखकर खिलाए गए बच्चों को भी इसकी छूत लग सकती है। बहुधा यह बीमारी अन्य परजीवी रोगों जैसे पर्विका रोग, फेफड़ा-कृमि रोग तथा छोटी अँतड़ी को अन्य परजीवी बीमारियों के साथ हुआ करती है। यूनाइटेड स्टेट्स के पूर्वी तथा दक्षिणी भागों में जहाँ काफी मात्रा में नमी रहती है, हीमांकस कंटार्टस इस बीमारी का प्रमुख कारण रहा है। रॉस और गार्डन[2] के अनुसार वर्ष में 20 इंच से कम वर्षा वाले क्षेत्रों में हीमांकस मुश्किल से ही स्थायी हो पाता है। फीवान तथा स्टेवर्ट[3] ने कैलीफोर्निया से यह रिपोर्ट किया कि प्रदेश के दक्षिणी तथा उत्तरी भागों, विशेषकर सिंचे हुए चरागाहों तथा पानी की घाटी वाले क्षेत्रों में, इसका भयंकर प्रकोप होता है। पश्चिम के शुष्क भागों में तथा प्रशांत महासागर के किनारे पर भेड़ों में आमाशय-कीट रोग का प्रमुख कारण ट्राइकोस्ट्रांगाइलस और ओस्टर्टेगिया कीट हैं, किन्तु अब यह यूनाइटेड स्टेट्स के पूर्वी भागों की भेड़ों में भी खूब पाए जाते हैं। भेड़ों के बच्चों का अच्छा खान-पान भी परजीवी कीटों के संक्रमण के प्रति प्रतिरक्षा उत्पन्न करने में काफी प्रभाव डालता है—फ्रेजर[4] (Fraser)।

जीवन इतिहास—हीमांकस कंटार्टस 0 5 से 1 5 इंच (1 27 से 3 81 सें० मी०) लम्बाई का एक पतला गोल कीड़ा है। इसका जीवन इतिहास रैन्सम[5] (Ransom) और वेग्लिया[6] (Veglia) द्वारा वर्णन किया गया है। नर कीट की अपेक्षाकृत इसकी मादा अधिक लम्बी होती है तथा इसमें उपस्थित कुंडलाकार रेखाएँ गर्भाशय का प्रतिरूप हैं। हजारों की संख्या में यह कीट आमाशय में मौजूद हो सकते हैं जहाँ यह 75 100 माइक्रान लम्बे तथा 40 50 माइक्रान चौड़े अण्डाकार शरीर वाले असंख्य अण्डे देते हैं। गोबर में यह अण्डे काफी बड़ी संख्या में मौजूद रहते हैं। शरीर के बाहर, गर्मी तथा नमी की अनुकूल
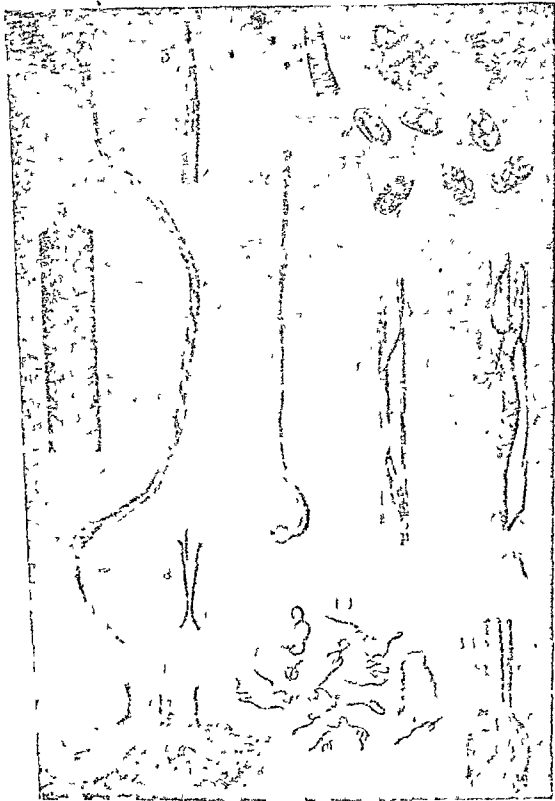
चित्र—23. हीमान्कस कन्टॉर्टस : 1, प्रौढ़ मादा कीट; 2, प्रौढ़ नर कीट; 3, सिर; 4, अण्डे; 5, त्वचा; 7, मादा कीट का पिछला सिरा; 8, कटिका; 9, नर कीट का पिछला कोष्ठ; 10, प्राकृतिक आकार के प्रौढ़ नर तथा मादा कीटों के समूह; 11, नर कीट का पिछला सिरा (पशु उद्योग ब्यूरो की 'भेड़ के परजीवी कीट' नामक पत्रिका से साभार)

परिस्थियो में 14 से 24 घटो में यह सेये जाते हैं। अण्डो से बाहर निकलने के बाद एक से दो सप्ताह में यह परजीवी सक्रामी हो जाता है। इस समय इसके ऊपर एक आवरण चढा रहता है जो सर्दी तथा गर्मी से इसकी रक्षा करता है। यह 0 6 से 0 8 मिलीमीटर लम्बा होता है तथा गीली घास की पत्तियों पर तेजी से चलता है, किन्तु कुछ भी नही खाता। जब कोई भेड परजीवीयुक्त ऐसी घास खाती है तो उसके आमाशय में पहुँचकर दो से तीन सप्ताह में यह परजीवी कीट परिपक्व हो जाते है। वर्षा के मौसम में भेडो को स्थायी चरागाहो से इनकी छूत शीघ्र लगती है। छूत-ग्रसित मादाओ के साथ रहने वाले दूध पीने वाले भेडो के बच्चो को, विशेषकर जब चारा पानी की नादें छिछली होने के कारण उनमें रखा पदार्थ गोबर के सम्पर्क में आता है, इस रोग की भयकर छूत लग सकती है।

पशु उद्योग ब्यूरो की सन् 1938 की रिपोर्ट में यह कहा गया है कि "बेल्ट्सविले (Beltsville) में वाह्य परिस्थितियो में भेडो के आमाशय कीट रोग, सूत्रकृमि और ट्राइकोस्ट्रागाइलस जाति के सक्रामी लार्वा जाडो के महीनो में अधिकतर नष्ट हो गए । इससे यह स्पष्ट है इन गोल कृमियो के एक मौसम से दूसरे मौसम में प्रकोप करने के लिए चरागाहो पर इन लार्वो का जीवित रहना इतना महत्वपूर्ण कारक नही है जितना कि इन परजीवियो की यूथ में उपस्थिति।" प्रौढ कीट पशु के आमाशय में कई महीनो तक जीवित रहते है। चरागाह पर से हटाने के बाद एक भेंड के पेट में रैन्सम ने डेढ वर्ष बाद कुछ परजीवी पाए। चूंकि नॉर्मल अवस्था में भी भेंड अपने शरीर में इन परजीवियो को छुपाए रहती है, अत प्रत्येक पशु इनके सक्रमण का स्रोत हो सकता है।

रॉस[2] के अनुसार जहाँ भेडें हीमाकस रुग्णता से नही मरती उनमें छूत का अधिकाश भाग तीन से चार माह में नष्ट हो जाता है और इस प्रकार अच्छी हुई भेडो में इसके दूसरे प्रकोप के प्रति किसी हद तक प्रतिरक्षा उत्पन्न हो जाती है।

इस परजीवी का मुख्य प्रभाव शरीर से रक्त का ह्रास करना है और ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नही है कि इसके द्वारा हानिप्रद विषैले पदार्थ भी स्रवित होते हैं। रक्त-क्षीणता के कारण शरीर में लाल रक्त कणो की सख्या कम होकर 2 दशलक्ष प्रति घ० सें० तक हो जाती है तथा कभी-कभी अत्यधिक रक्त-क्षीणता के कारण पशुओ की एकाएक मृत्यु भी होती देखी गई है।

ओस्टर्टेगिया, उग्र आमाशय कीट रोग उत्पन्न करता है और यूनाइटेड स्टेट्स में प्रत्यक्ष रूप से यह अधिक वितरित तथा प्रकोप करता मालूम देता है। न्यूयार्क में भी इसे पाया गया। शा[8] (Shaw) की रिपार्ट के अनुसार यह ओरेगन की भेड-बकरियो में बहुत सामान्य है जहाँ हीमाकस नहीं पाया जाता तथा मोंटेना से वेल्श[9] (Welch) लिखते हैं कि "आमाशय-कीटो में, ओस्टर्टेगिया सरकमसिटा, हीमाकस कटाटस की अपेक्षाकृत अधिक प्रकोप करने वाला तथा कष्ट-दायक परजीवी है। बाद वाला कीट पश्चिमी भेड पालको के लिए एक समस्या नहीं है।" ओस्टर्टेगिया सरकमसिटा भेडो के आमाशय (एबोमेसम) में पाई जाने वाली एक प्रजाति है जबकि ओस्टर्टेगिया ओस्टर्टेगिआइ गो-पशुओ में आमाशय कीट रोग का प्रमुख कारण है। यह परजीवी हीमाकस की अपेक्षाकृत कम वितरित पाए जाते

हैं किन्तु, यह कम तापक्रम पर जीवित रहते हैं। इनके अण्डे 41° फारेनहाइट पर विकसित होते कहे जाते हैं और प्रत्यक्ष रूप से इनके लार्वा सुखाने पर भी नष्ट नहीं होते। यह एवोमेसम में निवास करते है, जहाँ यह बहुत बडी संख्या में होकर आमाशय में भरे पदार्थ में लहरदार गति उत्पन्न करते हैं जो अर्धतरल पदार्थ का परीक्षण करने पर अथवा इसे छिछले वर्तन में डालने पर साफ दिखाई देती हैं। 1/4 से 1/2 इच (7-10 मिलिमीटर) लम्बाई के यह बाल की भाँति पतले बादामी कीडे हैं और अपने छोटे आकार के कारण शव-परीक्षण करने पर भी प्राय बिना दिखे ही रह जाते हैं। इनके अडे 60-72 माइक्रान लम्बे तथा 42 माइक्रान चौडे होते हैं। लगभग एक सप्ताह में इनके लार्वा सक्रामी हो जाते हैं। यह श्लेष्मल झिल्ली में घुसकर 1 से 2 मिलिमीटर की ग्रथियाँ बनाकर उनके अन्दर अपना विकास करते हैं और स्थान-स्थान पर रक्तस्राव, शोथ तथा सूजन उत्पन्न करते हैं। प्रौढ कीट एबोमेसम की श्लेष्मल झिल्ली पर श्लेष्मा की तह के नीचे चिपके रहते हैं। वे रक्त चूसते हैं तथा उनका भारी सक्रमण भेड-बकरियो को मौत के घाट उतारता है।
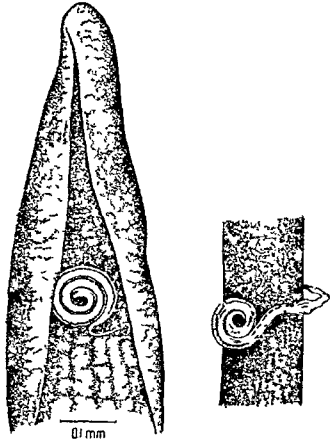
चित्र—24 घास की पत्तियो पर उपस्थित सक्रामी लार्वा। दायी ओर, घास की पत्ती पर सिकुडा हुआ लार्वा। जिस लार्वा से यह चित्र तैयार किया गया वह पानी से गीला करने के कुछ ही क्षणो बाद सक्रिय हो गया (रैन्सम, कार्नेल वेटनेरियन, 1920, 10, 66)

ट्राइकास्ट्रागाइलस जाति का परजीवी भेड-बकरियो में बहुतायत से पाया जाता है। यूनाइटेड स्टेट्स में मांटेना से लेकर समुद्री किनारे तक पश्चिम की मैदानी भेडो में इसकी प्रमुख रूप से अधिकता रही है, किन्तु ट्राइकोस्ट्रागाइलस तथा अन्य स्ट्रागाइलस अब पूर्वी भेडो में भी खूब प्रकोप करते हैं जहाँ यह पश्चिम से खरीदे गए भेडो के बच्चा द्वारा लाए गए। इनकी कई प्रजातियाँ हैं ट्राइकोस्ट्रागाइलस ऐक्सिआइ (नर 2 5 से 3 7 मि० मी०, मादा 3 2 से 4 मि० मि० लम्बी) भेड-बकरियो, घोडा तथा गो-पशुओ के आमाशय (एबोमेसम) तथा ड्यूओडीनम के अगले हिस्से में पाया जाता है। ट्राइकोस्ट्रागाइलस कोलुब्रीफार्मिस-इसटेंविलिस (नर 4 3 से 7 7 मि० मी०, मादा 5 8 से 6 मि० मी० लम्बी) भेड-बकरियो के एबोमेसम तथा ड्यूओडीनम में पाया जाता है। ट्राइकोस्ट्रागाइलस कैप्रीकोला

नर 3.5 से 5.8 मि० मी०, मादा 5 से 6 मि० मी० लम्बी) भेड़-बकरियों के एबोमेसम तथा ड्यूओडीनम में पाया जाता है। ट्राइकोस्ट्रांगाइलस विट्रीनस (नर 5.6 से 7.2 मि० मी०, मादा 6.8 से 8.1 मि० मी०) भेड के ड्यूओडीनम तथा एबोमेसम में पाया जाता है। न्यूयार्क में ट्राइकोस्ट्रांगाइलस ऐक्सिआइ तथा ट्राइकोस्ट्रांगाइलस इसटैविलिस प्रकोप करते देखे गए हैं। सामान्य तौर पर इन परजीवियों को अँतडी के कीट कहा जाता है, किन्तु ट्राइकोस्ट्रांगाइलस ऐक्सिआइ का निवास स्थल प्रमुख रूप से एबोमेसम है। अपने छोटे आकार (1/4 से 1/3 इंच) तथा लाली लिए हुए बादामी रंग के कारण ट्राइकोस्ट्रांगाइलस कीट शव-परीक्षण करते समय प्रायः बिना दिखे ही रह जाते हैं। यह कीट पशुओं के बच्चों (6 से 12 माह) के लिए प्रमुख रूप से रोगजनक माने जाते हैं तथा ट्राइकोस्ट्रांगाइलस ऐक्सिआइ इनमें सबसे अधिक खतरनाक है। श्लेष्मल झिल्ली की खरोच को पानी की छिछली प्याली में डालकर तथा इसे काले धरातल पर रखकर देखने से इन परजीवियों को देखा जा सकता है। इनका जीवन इतिहास हीमाकस की भांति ही है। छोटी अँतड़ी की विगृत आत्राति से पशु को क्षति पहुँचती है। अनेक उदाहरणों में, न्यूयार्क में भेड़-बकरियों के यूथों में इस परजीवी ने भारी क्षति पहुँचाई है। ट्राइकोस्ट्रांजिल रुग्णता रोग भेडों से गो-पशुओं को बहुत ही शीघ्र लगता है—टेलर[10] (Taylor)।

ट्राइकोस्ट्रांगाइलस के रोगजनक प्रभाव के संबंध में संयुक्त राज्य पशु-उद्योग ब्यूरो (यूनाइटेड स्टेट्स ब्यूरो आफ एनिमल इण्डस्ट्री) की सन् 1938 की वार्षिक रिपोर्ट में निम्नलिखित विवरण मिलता है : "उपलब्ध प्रमाण यह प्रकट करते हैं कि इन कीटों की रोगजनकता अँतडी के अत्यधिक रक्तस्राव से संबंधित नहीं है क्योंकि मृत्यु से पूर्व पशुओं में रक्तस्वल्पता उत्पन्न नहीं होती। अतः स्पष्ट है कि इन कीटों की हानि पहुँचाने की प्रवृत्ति भेड के रक्त में कुछ उसके रासायनिक संगठन में परिवर्तनों से संबंधित है। यह परिवर्तन हैं ग्वानीडीन, रक्त शर्करा तथा प्रोटीनविहीन नाइट्रोजन की वृद्धि।"

विकृत शरीर रचना—मरे हुए पशु का शव बहुत ही जीर्ण-शीर्ण हो जाता है तथा निचले जबडे के नीचे सूजन दिखाई पडती है। काटने पर पेरिटोनियल-गुहा में रंगहीन सीरम भरा मिलता है। आन्तरिक अंगों में सूजन आ जाती तथा समस्त टिसू पीले पड जाते हैं। एबोमेसम में अनेक परजीवी मिलते हैं। आमाशय की श्लेष्मल झिल्ली खूब लाल दिखाई देती है। हीमाकस रुग्णता में, एबोमेसम में रक्त-स्राव के कारण उसमें भरे पदार्थ कत्थई रंग के तथा श्लेष्मल झिल्ली कुछ-कुछ लाल चाकलेट के रंग की मालूम पडती है। मृत्यु के शीघ्र बाद जब तक शव-परीक्षण नहीं किया जाता, कीट दिखाई नहीं देते। श्लेष्मल झिल्ली में दबे हुए छोटे ट्राइकोस्ट्रांगाइल कीटों को देखने के लिए छोटी अँतडी पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

लक्षण—बसंत के अन्त तथा गर्मी के प्रारम्भ में यह रोग पहले भेडों के बच्चों में अधिक होता देखा गया है, किन्तु यह किसी भी आयु अथवा मौसम में प्रकोप कर सकता है। सुस्ती, हालत का गिरना, श्लेष्मल झिल्लियों का पीला पड़ जाना तथा खुरदरे ऊन इसके प्रथम लक्षण हैं। कभी-कभी बिना प्राथमिक लक्षण प्रकट किए ही पशु मरा हुआ पाया जा सकता है। अच्छी खाई-पी हुई भेड़ की एकाएक मृत्यु, रक्त का ह्रास होने के कारण

होती है। भेंड़ों के बच्चों में इसका कोर्स एक सप्ताह से लेकर दस दिन का होता है। प्रौढ़ पशुओं में सामान्य तौर पर इसका कोर्स सप्ताहों से लेकर महीनों तक का हो सकता है। पशु को दस्त आते हैं तथा रोग की बाद वाली अवस्थाओं में जबड़े के निचले हिस्से में सूजन आ सकती है। कुछ वर्षों में, युवा तथा प्रौढ़ पशु दोनों में ही मृत्युदर अधिक होती है; दूसरों में, केवल पनपने तथा वृद्धि पाने का ही ह्रास होता है। गीला चरागाह तथा वर्षा का मौसम इस रोग के आवेग को बढ़ाता है। पशुओं में इसके प्रति आयु प्रतिरक्षा नहीं होती।

रोग की छूत लगने के प्रकार जैसे हीमांकस रुग्णता, ट्राइकोस्ट्रांजिल रुग्णता आदि के अनुसार आमाशय-कीट रोग के लक्षणों का वर्णन करने का प्रयास किया गया है, किन्तु अधिकांश रोगियों में इसका मिला-जुला संक्रमण होता है तथा संयुक्त आक्रमण के परिणामस्वरूप ही लक्षण उत्पन्न होते हैं। ट्राइकोस्ट्रांजिल रुग्णता में काले दस्तों तथा मृत्यु का कारण बनने वाले समुचित क्षतस्थलों के अभाव पर अधिक जोर दिया गया है। जैसा कि राष्ट्रीय पशु उद्योग ब्यूरो द्वारा रिपोर्ट किया है, रोगी की मृत्यु सम्भवतः रक्त में रासायनिक परिवर्तनों के कारण होती है।

निदान—मरे हुए पशु का शीघ्र शव-परीक्षण करना निदान की बहुत ही संतोषजनक विधि है। मृत्यु के थोड़ी देर बाद यह कीट टुकड़ों में विभक्त होकर नष्ट हो जाते हैं और इसके परिणामस्वरूप शव-परीक्षण करने पर नहीं पाए जाते। छोटे कीटों को पहचानने के लिए श्लेष्मल झिल्ली से खरोंच लेकर पानी में मिलाकर अच्छी रोशनी में देखा जाता है। माइक्रास्कोप के कम शक्ति वाले लक्षक कांच में देखना और भी अच्छा है, क्योंकि बिना आवर्धन (magnification) के छोटे कीट आसानी से दिखाई नहीं देते। ट्राइकोस्ट्रांगाइलस ऐक्सिआइ नंगी आँख से आसानी से नहीं दिखाई देता। हीमांकस बिना आवर्धन के ही आसानी से देखा तथा पहचाना जा सकता है। पशु के मल में अनेक अण्डों की उपस्थिति आमाशय-कीट रोग का सूचक है किन्तु अण्डों का परीक्षण करके विभिन्न प्रजातियों का अलग पहचानना असम्भव हो सकता है। माह्यू[11] (Mahew) के अनुसार लार्वल अवस्था के अधिक संक्रमण से लक्षण और भी भयानक हो सकते हैं। प्रौढ़ कीटों की सही पहचान के लिए उनको प्रयोगशाला में भेजना आवश्यक हो सकता है (जन्तु विज्ञान विभाग, पशु-उद्योग ब्यूरो, वाशिंगटन)।

अनेक कारणों से, आमाशय-कीट रोग का सही निदान करने में प्रायः असफलता हुआ करती है। ट्राइकोस्ट्रांगाइलस तथा अन्य छोटे परजीवी जब हीमांकस के साथ पाए जाते हैं तो इनका पाना कठिन हो सकता है, अथवा, हीमांकस के न पाने पर, खोज करना ही बंद हो सकता है। मरने के बाद होने वाली टूट-फाट सभी परजीवियों को नष्ट कर सकती है। तत्काल मरे पशु के आमाशय से पदार्थ लेकर माइक्रास्कोपिक परीक्षण करके ही ऋणात्मक परिणाम पर पहुँचा जा सकता है।

चिकित्सा—बराबर-बराबर भागों में कॉपर सल्फेट तथा 40 प्रतिशत निकोटीन सल्फेट का घोल—काली पत्ती 40 (प्रत्येक का पानी में 1.5 प्रतिशत घोल) बड़े तथा छोटे स्ट्रांगाइलों (हीमांकस, ट्राइकोस्ट्रांगाइलस स्पीशीज, और ऑस्टर्टेगिया) को निकालने के लिए

सर्वोत्तम मिश्रण है। इसे, 2 औंस (60 ग्राम) कॉपर सल्फेट को एक गैलन (4.5 लिटर) पानी में घोलकर और इसमें 2 औंस (60 घ० सें०) काली पत्ती 40 मिलाकर तैयार किया जाता है। इसकी मात्रा निम्न प्रकार है :

प्रौढ भेड़ के लिए······························90 घ० सें० (3 औंस)
एक वर्षीय भेड के लिए····························60 घ० सें० (2 औंस)
6 माह के बच्चे के लिए ···························40 घ० सें० ($1^1/_3$ औंस)
3 माह के बच्चे के लिए ···························20 घ० सें० (2/3) औंस)

अथवा :

80-100 पौण्ड शरीर भार पर························3 औंस (90 घ० सें०)
50 पौण्ड शरीर भार पर····························2 औंस (60 घ० सें०)
30 पौण्ड शरीर भार पर ····························1 औंस (30 घ० सें०)

दवा देने से पूर्व पशुओं को भूखा रखने की आवश्यकता नहीं है और दवा देने के बाद उनको चरागाह पर चरने के लिए भेजा जा सकता है। अधिक संक्रमण वाले क्षेत्रों में प्रति तीन सप्ताह बाद इस चिकित्सा को दोहराना चाहिए। छोटी अँतडी के कीटों के प्रति यह चिकित्सा बहुत ही अच्छी मानी जाती है, साथ ही यह फीताकृमि (टेप वर्म) के लिए एक विशिष्ट औषधि है। गार्डन और रॉस[12] ने यह निष्कर्ष निकाला कि "ट्राइको-स्ट्रांगाइलस स्पीशीज़ के अधिक संपर्क में रहने पर भी भेडों को तीन सप्ताह के अवकाश पर दिए जाने वाले कॉपर सल्फेट तथा व्यवसायिक निकोटीन सल्फेट घोल के मिश्रण के प्रयोग से इनके संक्रमण से बचाया जा सकता है।" गॉर्डन और व्हिटेन[13] (Gordon and Whitten) ने बताया कि हीमांकस कंटार्टस के प्रति कॉपर तथा निकोटीन सल्फेट मिश्रण की चिकित्सा की व्यक्तिगत भेड़ों में बार-बार असफलता, कुछ पशुओं में ग्रासनली-गर्त (esophageal groove) के बंद न हो सकने के कारण हुआ करती है। ऐसे रोगी कार्बन टेट्राक्लोराइड से ठीक किए जा सकते है।

भेड़ों में कॉपर-सल्फेट को हीमांकस कंटार्टस के विरुद्ध वर्षों तक एक प्रभावकारी कृमि-हारक (vermifuge) के रूप में प्रयोग किया गया है, किन्तु यह छोटे स्ट्रांगाइलों (ट्राइकोस्ट्रांगाइलस, ओस्टर्टेगिया) के प्रति असफल रहा। सन् 1934 में रॉस[14] ने देखा कि मुँह द्वारा कॉपर सल्फेट का घोल देने पर, ग्रास नली का गर्त स्वतः बंद होकर, घोल सीधा एबोमेसम में पहुँच जाता है। एबोमेसम में तरल पदार्थ का पहुँचना कॉपर सल्फेट की उपस्थिति के कारण है, न कि भूखा रहने के कारण जैसा कि पहले विश्वास किया जाता था। इससे यह अनुमान लगा कि कॉपर सल्फेट को एक वाहक समझा जा सकता है जिससे अन्य औषधियाँ भी सीधे एबोमेसम में ही पहुँचाई जा सकें तथा प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध भी हो चुका है कि कॉपर सल्फेट देने के तुरंत बाद यदि पशु को कोई दूसरा घोल पिलाया जाता है तो वह भी एबोमेसम में पहुँच जाता है। 2.5 घ० सें० 10 प्रतिशत कॉपर सल्फेट घोल पिलाने अथवा फाहा भिगोकर मुँह में चुपडने से उसकी प्रभावकारी क्रिया प्रारम्भ हो जाती है और यह प्रतिवर्ती क्रिया लगभग 15 सेकेंड तक रहती है। इस विशिष्ट क्रिया के अन्वेषण के परिणामस्वरूप अँतड़ी के परजीवियों को नष्ट करने के लिए

अन्य प्रभावकारी विधियों का विकास हो सका। ह्विटलाक[15] ने 10 प्रतिशत कॉपर सल्फेट तथा 10 प्रतिशत काली पत्ती 40 के मिश्रण को भेंड़ों में आमाशय तथा अँतड़ी के कृमि-रोग को कंट्रोल करने के लिए बड़ा ही उपयोगी बताया। उन्होंने एक घंटे में 200 भेड़ों की चिकित्सा करने वाले एक उपकरण का भी वर्णन किया।

ओरेगन में भेंड़ों के आमाशय-कीट-रोग की चिकित्सा के लिए शा[8] ने टेट्राक्लोरेथायलीन को बड़ा ही प्रभावकारी बताया। इसे 5 घ० सें० की मात्रा में कैप्सूल में रखकर दिया जाता है। बराबर भाग द्रव पैरेफिन के साथ मिलाकर जब इसे थोड़ा कॉपर सल्फेट घोल पिलाने के तत्काल बाद पशु को दिया जाता है तो यह औषधि बहुत ही अच्छा काम करती है। इस मिश्रण की स्वीकृत मात्रा प्रौढ़ पशुओं के लिए 5 घ० सें० है। मोनिग[16] (Mönnig) के अनुसार इसे बराबर भाग द्रव पैरेफिन में मिलाकर 9 माह से अधिक आयु वाली भेड़ों को 7·5 घ० सें० तथा बच्चों को 5 घ० सें० की मात्रा में, पशु को 2·5 घ० सें० 10 प्रतिशत कॉपर सल्फेट पिलाने के तत्काल बाद देना चाहिए।

आमाशय-कीट रोग के लिए दवा पिलाने के बाद अथवा पहले भेड़ों को दौड़ाना नहीं चाहिए। इनको शांति पूर्वक काबू में करना चाहिए तथा कमजोर पशुओं को निर्धारित मात्रा से कम दवा देनी चाहिए। 10 से 14 दिन के अवकाश पर कम से कम एक बार पशु को फिर दवा पिलानी चाहिए।

भेड़ों में आमाशय-कीट-रोग की चिकित्सा के लिए फीनोथायाजीन को बड़ा ही लाभकारी बताया गया है। फीनोथायाजीन पर प्रकाशित रिपोर्टों पर डैवी और इनेस[17] द्वारा की गई समीक्षा में निम्नलिखित वर्णन शामिल है: "अनेक कार्यकर्ता इस बात की पुष्टि करते हैं कि फीनोथायाजीन हीमांकस कंटार्टस को नष्ट करने में 100 प्रति सफल हुई है। ट्राइकोस्ट्रांगाइलस ऐक्सिआइ, ओस्टर्टेगिया सर्कमसिंटा तथा ओस्टर्टेगिया ट्राइफरकैटा के खिलाफ भी यह कुछ कम, किन्तु फिर भी बहुत अच्छा कार्य करती है। यहाँ पर यह बात जानने योग्य है कि यह सभी जातियाँ एबोमेसम में पाई जाती हैं। यह औषधि हीमांकस कंटार्टस की अपरिपक्व अवस्थाओं को भी शरीर से बाहर निकालती है, जो अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि तब थोड़े अवकाश के बाद चिकित्सा को दोहराना नहीं पड़ता।"

फीनोथायाजीन के प्रयोग पर थॉर्प[18] एवं उनके साथियों ने निम्न प्रकार प्रस्ताव पारित किए: "पतझड़ के अन्त तथा जाड़ों में यूथ की सभी भेंड़ों को फीनोथायाजीन पिलाइए। सभी भेड़ों को ब्याने के एक से दो सप्ताह बाद वसंत ऋतु में भी यह दवा पिलाइए। तत्पश्चात् पूरे झुण्ड को 1:9 फीनोथायाजीन एवं लवण मिश्रण पर रखिए। तीन से चार माह की आयु पर सभी बच्चों को भी फीनोथायाजीन पिलाइए। यदि मौसम में नमी अथवा गर्मी हो और बच्चों में परजीविता का कोई प्रमाण मिलता हो, तो कुछ को पुनः दवा पिलाने की आवश्यकता पड़ सकती है। कुछ परिस्थितियों में, विशेषकर कई वर्षों तक पतझड़ और वसंत में दवा पिलाने के बाद, वसंत में दवा पिलाई गई भेड़ों को पतझड़ में दवा पिलाना आवश्यक हो सकता है बशर्ते 1:9 खनिज मिश्रण उनके समक्ष सदैव रहा हो। जाड़े भर रखे गए समस्त युवा पशुओं को पतझड़ में दवा पिलाइए।" 1 : 9

फीनोथायाजीन एवं लवण मिश्रण, 1 पौण्ड फीनोथायाजीन पाउडर को 9 पौण्ड पिसे नमक के साथ मिलाकर बनाया जाता है। 60 पौण्ड तक के शरीर भार वाले बच्चों के लिए फीनोथायाजीन की मात्रा 15 ग्राम है। गर्भित भेड़ें भी इसे आसानी से सहन कर लेती हैं और 25 ग्राम की मात्रा में इसे चारे के साथ मिलाकर भेड़ों अथवा उनके बच्चों को बिना किसी भय के दिया जा सकता है। सोयाबीन-खाद्य गुलिकाओं में भी फीनोथायाजीन को मिलाया जा सकता है—थार्निंग आदि[19] (Thorning et al) । अधिक बीमार पशुओं के लिए इसकी मात्रा कम करके आधी कर देनी चाहिए। फीनोथायाजीन के प्रयोग पर लिखे गए अनेक आधुनिक लेखों में, अधिकांश लोगों ने कभी-कभी इसके पिलाने तथा अधिकतर
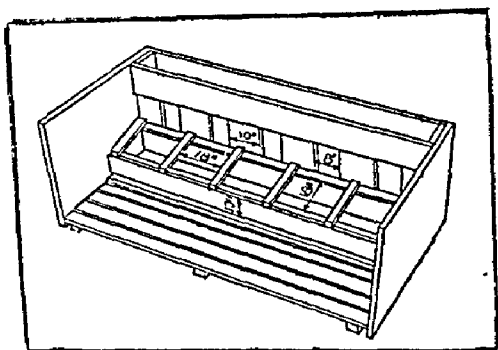
चित्र—25. परजीवी कीटों के नियन्त्रण हेतु चारा खिलाने की स्वच्छ रैक (टर्नर)

नमक के रूप में चटाने की राय दी है। अन्य लोग केवल नमक के रूप में चटाने से ही सफलता रिपोर्ट करते हैं। टेक्सास की एक रिपोर्ट में कृमिनाशक औषधियों के प्रयोग के साथ चरागाहों के बदलने की राय भी दी गई है। मोंटेना से सिवेट्टी तथा मार्श[20] ने रिपोर्ट किया कि "नमक में दस प्रतिशत फीनोथायाजीन मिलाकर प्रत्येक भेड़ और उसके बच्चे को प्रति दिन 1.5 ग्राम फीनोथायाजीन देना केवल बच्चों को ही नेमाटोड वर्ग के परजीवियों के आक्रमण से नहीं बचाता वरन् भेड़ों में भी परजीवियों की संख्या को न्यूनतम कर देता है··· । परजीविता के लक्षण न प्रकट करने वाली तथा गर्मी में नमक खाने वाली भेड़ों में सर्दी की ऋतु में फीनोथायाजीन का प्रयोग गुणकारी नहीं है।" पीने के योग्य मिश्रण बनाने के लिए 500 ग्राम फीनोथायाजीन को बराबर मात्रा में शीरे के साथ मिलाकर इतना गर्म पानी डालिए कि कुल आयतन 200 घ० सें० हो जाए। प्रौढ़ भेड़ के लिए इसकी मात्रा 120 घ० सें० तथा 50 और 70 पौण्ड के बीच शरीर भार वाले भेड़ों के बच्चों के लिए 60 घ० सें० है। प्रयोग करने से पूर्व इसे खूब हिलाकर, दवा देने वाली पिचकारी

से दे दीजिए। भेंड़ को शीघ्र दवा पिलाने का ढंग जिसमें कि ग्रासनली नलिका को एक पिचकारी से संबंधित करके एक घंटे में 200 भेड़ों को दवा पिलाई जा सकती है, ह्विटलाक[15] द्वारा वर्णन किया गया है।

बचाव—पशुओं को परजीवी रोग से बचाने के लिए निम्नलिखित उपचार करने चाहिए : उन्हें अच्छी तरह खिलाइए, नियमित अवकाश पर कृमि-नाशक दवा दीजिए, चरागाह पर अधिक भीड़ न होने दीजिए, बच्चों को शीघ्र ही प्रौढ़ पशुओं से अलग कर दें जिए तथा नमी एवं पानी युक्त स्थान जो परजीवियों के विकास के लिए उपयुक्त होते हैं, उनके संपर्क में पशुओं को न आने दीजिए। नादों को ऊँचा रखकर चारे में दूषित गोबर को न मिलने दीजिए। टर्नर[21] (Turner) ने इस कार्य हेतु एक विशेष प्रकार की खाद्य-रैक तैयार की है (चित्र 25)। रैक को फर्श से एक फीट ऊँचा रखा जाता है तथा लकड़ी की पतली पट्टियों से इस प्रकार बनाया जाता है कि उसके मुंह में भेंड़ का सिर आसानी से जा सके। रैक के लगभग 18 इंच पीछे, किनारे पर एक 10 इंच का तख्ता लगा होता है। इसमें रखी घास को पाने के लिए भेंड़ को अपने अगले पैर इस बोर्ड पर रखने पड़ते हैं तथा वह चारों पैर इस पर न रख सके इसके लिए बोर्ड से रैक तक प्रत्येक 18 इंच पर छोटे-छोटे टुकड़े गाड़ दिए जाते हैं। यह उनको घास फैलाने तथा उसे पैरों द्वारा कुचलने से बचाता है।

संदर्भ

1. Fourie, P.J.J., The hematology and pathology of haemonchosis in sheep, 17th Report, Director of Veterinary Services and Animal Industry, Union of S. Africa, Onderstepoort, Pretoria, 1931, p. 495.
2. Ross, I.C., and Gordon, H. McL., The Internal Parasites and Parasitic Diseases of Sheep, Sydney, Angus and Robertson, 1936.
3. Freeborn, S.B., and Stewart, M.A., The Nematodes and Certain Other Parasites of Sheep, Univ. Calif. Agr., Exp. Sta. Bull. 603, 1937.
4. Fraser, A.H.H., Thomson, W., Rebertson, D., and George, W. The influence of the nutritional condition of lambs on their susceptibility to an artificial infestation with parasitic nematodes, Emp., J. Exp. Agric., 1936, 6, 316 abs. Vet. Bull., 1939, 9. 550.
5. Ransom, B.S., The Life History of the Twisted Wire Worm (Haemonchus contortus) of Sheep and Other Ruminants, U.S. Dept. Agr., B.A.I., Cir. No. 93, 1906.
6. Veglia, F., Life history and anatomy of Haemonchus contortus, 3rd and 4th Reports, Director of Veterinary Research, Union of South Africa, 1915, p. 347.
7. Report of the Chief of the Bureau of Animal Industry, U.S. Dept. Agr., 1938, p. 79.
8. Shaw, J.N., Scours in Sheep and Goats in Oregon, Agr., Exp. Sta. Cir. 93, 1929.
9. Welch, Howard, Sheep diseases of the Northwest State, Cornell Vet., 1930, 20, 152.

10 Taylor, L E, Parasitic gastritis the transference of the causative helminths from sheep to cattle, Vet J, 1937, 93, 353
11 Mahew, R L, The effects of nematode infections during the larval period, Cor Vet, 1944, 34, 299
12 Gordon, H McI, and Ross, C I, Medicinal treatment of Trichostrongylosis efficiency in lambs exposed to continuous infection, Aust Vet J, 1936, 12, 111
13 Gordon, H M, and Whitten, L K, A note on variations in the efficiency of the copper sulfate and nicotine sulfate drench against Haemonchus contortus, Aust Vet Jour, 1941, 17, 172
14 Ross I C, The passage of fluid through the ruminant stomach, II, with observations on the effect of long starvation on the anthelmintic efficiency, Aust, Vet J, 1934, 10, 11
15 Whitlock, J H, The administration of phenothiazine and hydrocarbons to sheep, Cor Vet, 1945, 35, 238, Ten per cent cumic for controlling gastrointestinal helminthiasis in sheep, Cor Vet, 1946, 36, 47
16 Monning, H O, Veterinary Helminthology and Entomology ed 2, Baltimore, Wm Wood and Co, 1938
17 Davey, D G, and Innes, J R M, The present position of phenothiazine as an anthelmintic, Vet, Bull, 1942 12, No 8, Aug, p R 7.
18 Thorp, W T S, Henning, W L and Shigley, J F, J, Animal Sci, 1944, 3, 242
19 Thorning W M, Sampson J, and Graham, R, The anthelmintic efficiency of phenothiazine in sheep (capsule, bolus, drench, and soyabean pellets), J A.V M A 1944, 104, 67
20 Sarghetti, Lee, and Marsh, Hadleigh, Am J Vet Res, 1945, 6, 159
21 Turner, H, Cornell Vet, 1932, 22, 109

गो-पशुओं में आमाशय-कीट रोग

(Stomach-Worm Disease in Cattle)

कारण—यूनाइटेड स्टेट्स के ढोरों में आमाशय-कीट रोग का कारण एक परजीवी कीट आस्टर्टेगिया ओस्टर्टेगिआइ बताया गया है। प्रत्यक्ष रूप से इस बीमारी को इस देश में सर्वप्रथम स्टाइल्स[1] (Stiles) ने रिकार्ड किया। सन् 1900 में टेक्सास में ढोरों तथा भेड़-बकरियों में परजीवी रोगों की समीक्षा करते समय उन्होंने लक्षणों, शव-परीक्षण के परिणामों तथा परजीवी कीटों का वर्णन किया। मई सन् 1920 में, मुल्डून और फ्रिक[2] (Muldoon and Frick) ने टेक्सास शहर से खरीदे गए 84 प्रजनक साँडों में इस रोग के प्रकोप का वर्णन किया। इस महामारी का अधिक विस्तृत वर्णन नवम्बर सन् 1920 में एकर्ट और मुल्डून[3] (Ackert and muldoon) द्वारा किया गया। सन् 1927 में बार्जर[4] (Barger) ने कैलीफोर्निया में सैन जोआक्विन (San Joaquin) घाटी में इस

बीमारी से एक वर्षीय 11 बछड़ों की मृत्यु होते बताई। सन् 1927 की कैलीफोर्निया स्टेशन रिपोर्ट में यह कहा गया है कि इस अवस्था के बारे में बार्जर का अनुभव संभवत कैलीफोर्निया में पहली बार रिपोर्ट किया गया है तथा यूनाइटेड स्टेट्स में इसका तीसरा नम्बर है। सन् 1928 में होज[5] ने इस रोग को इलीनवायस में देखा। सन् 1931 के ग्रीष्मकाल में पेनयान, न्यूयार्क में यह रोग अनेक पशुओं की मृत्यु का कारण बना। यह पशु हाल में ही पश्चिम से लाए गए थे। होज द्वारा देखे गए पशुओं में हीमाकस कटार्टस भी उपस्थित था। यद्यपि कि यह रोग यूनाइटेड स्टेट्स के अनेक क्षेत्रों से रिपोर्ट किया गया है, फिर भी यह अधिक प्रकोप करता नहीं मालूम देता। यूरोपीय तथा अन्य देशों में यह रोग युवा पशुओं में यदा-कदा होने वाली स्थानिकमारी के रूप में होता बताया गया है। सन् 1905 में क्लीन[6] (Klein) ने बछड़ों में हीमाकस कटार्टस द्वारा होने वाली कृमिज आमाशय शोथ (verminous gastritis) पर एक पत्रिका लिखी। उन्होंने लिखा कि

चित्र—26. ओस्टर्टेगिया के भीषण संक्रमण से पीड़ित एक बछड़े का फोटोग्राफ। कार्नेल वेटनेरियन, 1937,27,381 (डी० डब्ल्यू० बेकर के सौजन्य से)

"इस देश में यह बीमारी बछड़ों तथा युवा पशुओं में प्रकोप करती है, किन्तु उतना सामान्य रूप से नहीं जितना कि भेंडों में। यूनाइटेड स्टेट्स में रखे गए अभिलेखों में केवल मेरीलैंड, टेक्सास तथा कोलम्बिया के पशुओं में इस रोग के परजीवी पाए जाने की रिपोर्ट मिलती है, किन्तु ऐसा विश्वास किया जाता है कि बीमारी बहुवितरित है। दक्षिणी कैरोलिना (South Carolina) में भी यह बीमारी एक नया रोग नहीं है……। एक मनुष्य, जिसने अपने पशु में पिछले पतझड़ के मौसम में यह रोग होता बताया, उसने यह भी कहा कि उसका यह विश्वास है कि इस वर्ष पहले भी उसके पशु को यही रोग हुआ था।" बेकर[7] के अनुसार न्यूयार्क स्टेट के बछड़ों में पाए जाने वाले प्रमुख नेमाटोड परजीवी ओस्टर्टेगिया (एबोमेसम में) तथा नेमैटोडिरस (छोटी अँतड़ी में) है। ओस्टर्टेगिया के साथ बछड़ों के आमाशय-कीट रोग

में पाए जाने वाले अन्य परजीवी कूपरिया आँकोफोरा (छोटी आँत में) तथा ट्राइकोस्ट्रांगाइलस हैं। इस समूह के परजीवियों के रहन-सहन तथा क्रिया की विशेष महत्ता है। टेलर[9] की रिपोर्ट के अनुसार ओस्टर्टैगिया तथा नेमैटोडिरस के संक्रामी लार्वा हल से मिट्टी पलटे जाने के बाद भी चरागाह की सतह पर आकर वर्षों तक सक्रिय रह सकते हैं। उन्होंने यह भी बताया कि मैदानी परिस्थितियों में 6 दिन के अन्दर ही संक्रामी लार्वा का विकास हो सकता है तथा चरागाह से छूत लगकर चार सप्ताह के अल्पकाल में ही ओस्टर्टैगिया रुग्णता का विकास हो सकता है।

ओस्टर्टैगिया ओस्टर्टैगिआइ बछड़ों में आमाशय-कीट रोग का प्रमुख कारण है। स्टाइल्स[1] (Stiles) लिखते हैं कि टेक्सास के दूसरे दौरे में उन्होंने जितने बछड़ों, बैलों तथा गायों का निरीक्षण किया, प्रत्येक में यह परजीवी कीट मिला। मारेक ने बताया कि बर्लिन के पशु-वध गृहों में हलाल किये गए 90 प्रतिशत पशुओं में ओस्टर्टैग पाया गया। चरागाहों पर चराने, खाद डालकर उन्हें अधिक ऊपजाऊ बनाने, तालाब आदि का गन्दा पानी पिलाने तथा नमीयुक्त एवं दलदले स्थानों से इसकी छूत शीघ्र फैलती है।
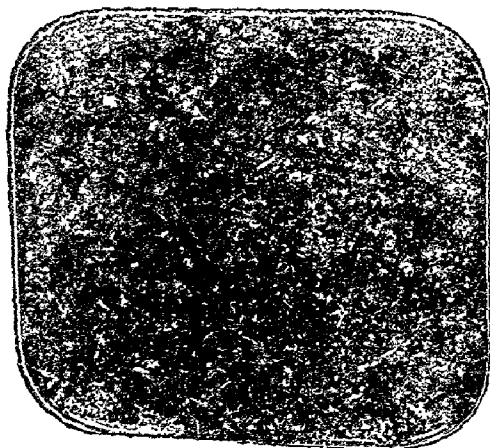
चित्र—27. काँच की चौकोर प्याली में थोड़ी मात्रा में डाले गए आमाशयिक पदार्थ का फोटोग्राफ। परजीवी कीटों को उनके वास्तविक आकार में प्रदर्शित करने हेतु आमाशय के पदार्थ को एक समान फैलाने के लिए उसमें नार्मल लवण द्रव मिलाया गया है। कार्नेल वेटेनेरियन 1937, 27, 381 (डॉ० डब्ल्यू० बेकर के सौजन्य से)

विकृत शरीर रचना—स्टाइल्स के अनुसार यह छोटा कीट वाल की तरह पतला तथा आधा इंच से कम लम्बा होता है और जब तक विशेष ध्यान न दिया जाए इसे पाना कठिन हो जाता है। ओस्टर्टैगिया कीट आमाशय की दीवाल में छुपे हुए अथवा चारे में स्वतन्त्र रूप से पाए जा सकते हैं। श्लेष्मल झिल्ली पर यह अनेक छोटी सी गाँठें बनाकर रहते हैं जिनमें छोटा सा छेद होता है तथा चाकू से खरोंच कर इन कीटों को बाहर निकाला जा सकता है। टेक्सास में अनेक पशुओं का पेट इन असंख्य परजीवियों से भरा पाया गया। कभी-कभी आमाशय की दीवाल आधा से डेढ़ इंच तक मोटी पाई गई। यह सूजी हुई थी तथा दबाने पर इससे काफी मात्रा में तरल पदार्थ निकला। मरे हुए पशुओं का शरीर रक्तहीन था तथा उनका पिछला धड़ गोबर से सना हुआ था। बार्जेर[4] द्वारा

चित्र—28. माइक्रास्कोप की कम शक्ति के आवर्धन में दिखाई देने वाला गोबर के लेप के क्षेत्र के एक भाग का सूक्ष्मदर्शी फोटोग्राफ। एक रोग ग्रसित बछड़े के गोबर से लिया गया नमूना परजीवी कीटों के अण्डे प्रदर्शित करता है, a ओस्टर्टैगिया ओस्टर्टैगिआइ नामक आमाशय-कीट का एक विशिष्ट अण्डा है, b एक हवा का बबूला है तथा c दाने के मादद का एक भ्रूणयुक्त अण्डा है। कार्नेल वेटनेरियन 1937, 27. 381 (डी० डब्ल्यु० बेकर के सौजन्य से)

रिपोर्ट किए गए रोगियों में छोटी तथा बड़ी अँतड़ी में उपस्थित परिवर्तन "पुराने कीटाणु अतिसार" (Johne's disease) का अनुमान कराते थे। तत्काल के वध किए गए पशु का शव-परीक्षण करने पर यह परजीवी जीवित तथा क्रियाशील मिलते हैं। अपने छोटे आकार के कारण, आमाशय के पदार्थ में असंख्य होने पर भी ओस्टर्टैगिया कीट कभी-कभी

बिल्कुल ही नहीं दिखाई पड़ते। फिर भी एबोमेसम के द्रव में लगातार लहरदार गति देखकर इनकी उपस्थिति का सरलता से पता लगाया जा सकता है। जब इसका थोड़ा सा पदार्थ सलाइन घोल से पतला करके पेट्री-डिश (काँच की प्याली) में डाला जाता है तो छोटे कीट साफ दिखाई पड़ते हैं (चित्र 27)।

लक्षण—इस देश में वर्णन किए गए अधिकाश रोगी पतझड अथवा जाड़ो की ऋतु में प्रमुख रूप से चरागाह पर चरने वाले एक वर्षीय बछड़ो में देखे गए, किन्तु चराई के समय किसी भी मौसम में यह बीमारी प्रकोप कर सकती है। शारीरिक क्षीणता, श्लेष्मल झिल्लियों का पीला पड़ जाना, नॉर्मल से 104° तक बुखार, पानी जैसे पतले तेज दस्त तथा कमजोरी आदि इस रोग के प्रधान लक्षण है। रक्त-मिश्रित दस्त भी होते देखे गए हैं। कुछ ही दिनो में जबड़ों के निचले क्षेत्र में सूजन प्रकट हो सकती है। पशु की चारे में रुचि कम नहीं होती। मुल्डून[2] (Muldoon) द्वारा वर्णन किए गए रोगियों में तेज दस्त प्रारम्भ होने के बाद लगभग एक सप्ताह के अन्दर उनकी मृत्यु हो गई। क्लीन (Kleen) के रोगियों में, प्रथम लक्षण प्रकट होने के बाद बीमारी का कोर्स दो से तीन माह का था। आमाशय की दीवालों में ओस्टर्टेगिया से उत्पन्न परिवर्तनो के कारण, इस परजीवी से होने वाला रोग प्राय प्राण-घातक हुआ करता है।

चिकित्सा—25 घ० सें० 10 प्रतिशत कॉपर सल्फेट घोल पिलाने अथवा इसके भीगे हुए फाहे का मुँह में चुपड़ने के बाद बराबर-बराबर मात्रा में द्रव पैरेफिन तथा टेटराक्लोरेथायलीन (15-20 घ० सें० प्रति 100 पौण्ड शरीर भार) पिलाना, ओस्टर्टेगिया कीटों का निकालने में बड़ा ही लाभकारी सिद्ध हुआ है। 10 से 14 दिन के अवकाश पर इस इलाज को एक या दो बार दोहराया जा सकता है। चिकित्सा प्रारम्भ करने से पहले या बाद में न तो पशुओं को भूखा रखना चाहिए और न अधिक चलाना-फिराना चाहिए।

डेवी[10] तथा स्वानसन[11] (Davey and Swanson) के अनुसार बछड़ो में फीनोथायाजीन का प्रयोग भेड़ो की भाँति ही गुणकारी है। बछड़ो के लिए यह कम विषैली है तथा इसकी मात्रा 20 ग्राम प्रति 100 पौण्ड (45 4 कि० ग्रा०) शरीर भार है। प्रति बछड़ा इसकी अधिकतम मात्रा 60 ग्राम है तथा इसे रोगी पशु को 18 से 24 घंटे तक भूखा रखने के बाद दिया जाता है। छोटे तथा कमजोर बछड़ो को 20 ग्राम से अधिक दवा नहीं देनी चाहिए। भेड़ो की भाँति (पृष्ठ 217) यह औषधि 1 : 9 फीनोथायाजीन एव लवण मिश्रण के रूप में भी दी जा सकती है। बछड़ा में फीनोथायाजीन हीमाकस कटार्टस, ट्राइकोस्ट्रागाइलस ऐक्सिआइ तथा ओस्टर्टेगिया ओस्टर्टेगिआइ के प्रति बड़ा ही अच्छा काम करती है। हीमाकस को निकालने के लिए इसे 21 दिन बाद दुबारा देना चाहिए।

बछड़ों में स्ट्राञ्जिलस-ग्रस्तता के सुविकसित प्रकोप में बेकर[12] ने सूखे यीस्ट का प्रयोग बड़ा ही लाभदायक बताया है। उन्होंने नित्य इसे आधा पौण्ड की मात्रा में दिन में दो बार देने की राय दी।

5 से 7 माह की आयु के दूध पीने वाले बछड़ों को जब 60 ग्राम की मात्रा में फीनोथायाजीन दी गई तो उन परजीवियों की संख्या कम होकर उनकी वृद्धि अच्छी हुई। छोटी अँतड़ी के कीटों की संख्या में कोई कमी न हुई, किन्तु चिकित्सा के दो माह बाद

चिकित्सा किए गए बछड़ों में, बिना चिकित्सा प्राप्त बछड़ों की अपेक्षाकृत एक तिहाई अंकुश कृमि तथा आमाशय कीट पाये गए।[13]

संदर्भ

1. Stiles, C.W., Verminous diseases of cattle, sheep, and goats in Taxas, 17th An. Rep. B.A.I., U.S. Dept. Agr., 1900. p. 356.
2. Muldoon, W.E., and Frick, E.J., Parasitic infestation in cattle, N. Am. Vet., May 1920, 1, 89.
3. Ackert, J.E., and Muldoon, W.E., Strongylosis (Ostertagia) in cattle, J.A.V.M.A., 1920, 58, 138.
4. Barger, E.H., Ostertagia ostertagi in California cattle J.A.V.M.A., 1927, 71, 560.
5. Hawes, C.B., Ostertagia ostertagi (stomach worm) infestation in cattle, N. Am. Vet., Nov. 1928, 9, 24.
6. Klein, L.A., A Wasting Disease of Young Cattle (Verminous Gastritis), S. Carolina Agr. Exp. Sta. Bull. 114, 1905.
7. Baker, D.W., Parasitic gastroenteritis of calves, Cornell Vet., 1937, 27, 381.
8. Taylor, E.L., The epidemiology of winter outbreaks of parasitic gastritis in sheep, J. Comp. Path. and Ther., 1934, 47, 235.
9. Baker, D.W., A new system of anthelmintic control for gastrointestinal parasites of ruminants, Cornell Vet., 1939, 29, 192.
10. Davey, D.G., and Innes, J.R.M., The present position of phenothiazine as an anthelmintic, Vet., Bull., 1942, 12, No. 8, Aug., p. R7.
11. Swanson, L.E., Phenothiazine as an anthelmintic for removal of gastrointestinal parastics of sheep and calves, N. Am. Vet., 1942, 23, 184.
12. Baker, D.W., Yeast as an adjunct to the anthelmintic treatment of advanced cases of trichostrongylosis in calves Cornell, Vet., 1941, 31, 13.
13. Rep. of the Chief of the Bureau of Animal Industry, U.S.D.A., 1950, p. 54.

छोटी अँतड़ी में पशु परजीवी कीट

(ANIMAL PARASITES IN THE SMALL INTESTINE)

सुअरों में ऐस्केरिस रुग्णता

(Ascariasis in Swine)

परिभाषा—ऐस्केरिस रुग्णता युवा सुअरों का एक रोग है जो यकृत तथा फेफड़ों में गोल कृमि लार्वा के चक्कर लगाने तथा छोटी अँतड़ी में प्रौढ़ कीटों की उपस्थिति के कारण होता है। सुअरों की मृत्यु अथवा क्षति फेफड़ों तथा यकृत के क्षतस्थलों के कारण अथवा प्रौढ़ कीटों द्वारा स्रवित विषैले पदार्थों के कारण हुआ करती है। इस रोग का विशिष्ट कारण ऐस्केरिस लम्ब्रीक्वायड्स (Ascaris lumbricoides) है। इस देश में जहाँ कहीं भी सुअर-पालन एक प्रमुख धन्धा है, वहाँ ऐस्केरिस रुग्णता एक भयकर परजीवी रोग है। इसकी अधिक आर्थिक महत्ता के कारण राष्ट्रीय तथा प्रादेशिक सरकारों ने इसके बचाव की विभिन्न विधियाँ प्रदर्शित की हैं, और इस सदर्भ में "मक्लीन काउन्टी विधि" (Mclean county system) (रैंकेनसमर[1]) सर्व विदित है।

जीवन-इतिहास—मादा कीट की लम्बाई 6 से 12 इच तथा नर 4 से 6 इच लम्बा होता है। आकृति में यह कीट बेलनाकार, दोनों सिरे नुकीले तथा हल्का लाल अथवा पीलापन लिए हुए बादामी रग का होता है। इसके अण्डे 60 से 75 माइक्रान लम्बे, 40 से 58 माइक्रान चौड़े तथा अण्डाकार होते हैं। अण्डों का खोल निपिल की भाँति तथा रग पीला होता है। प्रौढ़ कीट छोटी अंतड़ी में निवास किया करते हैं, किन्तु यह पित्त-वाहिनी, अग्न्याशय-वाहिनी (pancreatic duct) अथवा आमाशय में स्थानान्तरण कर सकते हैं।

रैन्सम और फॉस्टर[2] (Ransom and Foster) ने दो सप्ताह की आयु वाले सुअरों को सचल कृमियुक्त भ्रूण सहित ऐस्केरिड अण्डे खिलाकर कृत्रिम रूप से सुअरों में इस रोग की छूत फैलाई। उन्होंने बिना किसी मध्यस्थ-पोषक के इनका जीवन-चक्र परोक्ष पाया। रैन्सम[3] ने इसे निम्न प्रकार वर्णन किया: "परजीवियों द्वारा अँतड़ी में दिए गए अण्डे जब रोग-ग्रसित पशु के मल में बाहर निकलते हैं, उस समय वे विभाजन की प्रारम्भिक अवस्थाओं में होते हैं। शारीरिक तापक्रम पर उनमें उपस्थित भ्रूणों का सक्रामी अवस्था तक विकास नहीं हो पाता, किन्तु शरीर के बाहर आक्सीजन तथा नमी की उपस्थिति में कम तापक्रम पर इनका सक्रामी अवस्था तक विकास होकर बाद में तब तक आगे विकास होना रुक जाता है जब तक कि अण्डे निगले न जावें। मल में निकलने के बाद कम से कम दस दिन में अण्डे सक्रामी हो सकते हैं, किन्तु प्राय इसमें अधिक समय लगता है। ठंड, सूखा आदि प्रतिकूल अवस्थाओं में भी वे जीवित रहते तथा अण्डे के खोल में सुरक्षित भ्रूण काफी समय तक शक्तिशाली रह सकते हैं। पाँच वर्ष तक रखे गए भ्रूण जीवित रहते देखे गए हैं (डीवेन[3])। इन अस्तित्वों से यह स्पष्ट है कि रोग-ग्रसित सुअरों

मल से दूषित हुई भूमि लम्बी अवधि तक सक्रमण छुपाए रहती है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि सुअर रखने वाले स्थानो में इस छूत की मात्रा बढती जाती है जिससे अन्त में वहाँ की जमीन में असख्य ऐस्केरिड अण्डे हो जाते हैं।

"जब कोई सुअर इन अण्डो को खा लेता है तो उसकी छोटी अँतडी में इनका विकास होता है, किन्तु युवा कीट तत्काल ही स्थिर नही हो जाते। इनमें से कुछ मल के साथ शरीर से बाहर निकलते हैं और यह शीघ्र ही नष्ट हो जाते है। कुछ कीट अँतडी को छोडकर यकृत, फेफडो तथा अन्य विभिन्न अगो में स्थानान्तरण कर जाते है। इनमें से
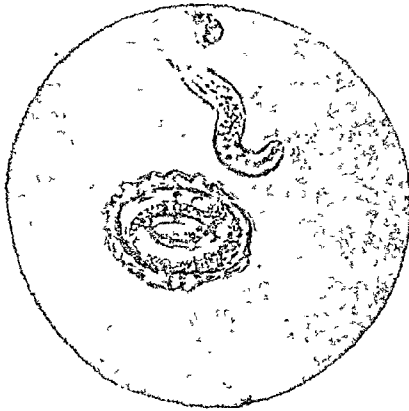
चित्र—29 सक्रामी अवस्था में भ्रूणयुक्त ऐस्केरिस लम्ब्रीक्वायडस का अण्डा, x 400 (वेनब्रूक, वेटनेरी प्रैक्टीशनर्स बुलेटिन, ऐम्स, आयोवा, आयोवा स्टेट कालेज, 1925, 24, न० 10)

अधिकाश पहले यकृत में, फिर फेफडो में जाते है और इस क्रिया में रक्त परिभ्रमण सहायक होता है। वे जो फेफडो तक पहुँचने में सफल नही हो पाते, आजकल प्राप्य प्रमाणो के अनुसार, कुछ विकास पाने के बाद शीघ्र ही मरकर नष्ट हो जाते हैं। जो कीट फेफडो तक पहुँच चुके होते हैं वे नए निकले हुए लार्वा से अधिक प्राप्त-वृद्धि व विकसित दिखाई देते हैं। यह अपनी प्रारम्भिक लम्बाई से पाँच से दस गुना लम्बे अर्थात् 0.25–0.3 मि० मी० की अपेक्षा 1 5 से 2 5 मि० मी० हो जाते हैं। भारी सक्रमण में अण्डों के निगले जाने के बाद एक सप्ताह से लेकर दस दिन में यह फेफडो के अन्दर काफी बडी सख्या में पाए जा सकते है"। फेफडो से यह कीट ऊपर की ओर श्वास नली तथा नीचे की ओर

श्वासनली में होते हुए पहले आमाशय, फिर छोटी अँतड़ी में जाते हैं, जहाँ वे छूत लगने के 6 दिन बाद पाए जा सकते है किन्तु, अधिक संख्या में यह कीट अण्डे निगले जाने के लगभग दस दिन बाद ही मिलते हैं। छोटी अँतड़ी में रहकर ये प्रौढ़ कीट में विकसित होते हैं। अण्डे निगले जाने के बाद, प्रौढ़ कीट तक का विकास पाने की अवस्था में लगभग $2^1/_2$ माह का समय लग सकता है।"
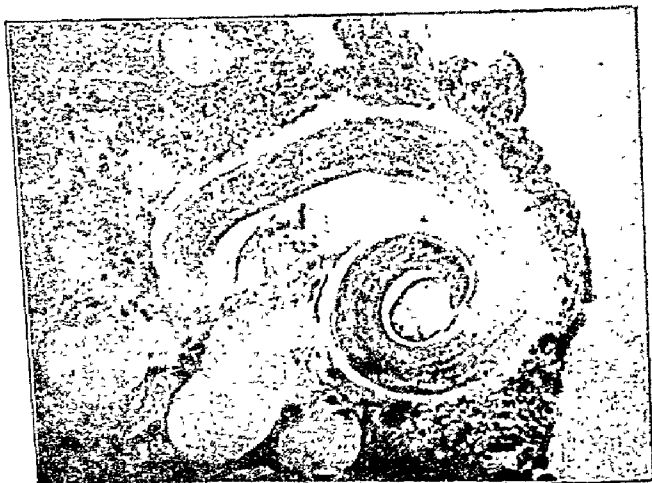
चित्र—30. मूपक के फेफड़े की आड़ी काट में ऐस्केरिस लार्वा (रैनसम, कार्नेल वटनेरियन, अप्रैल 1920)

विकृत शरीर रचना—यकृत में लार्वा के चक्कर लगाने के परिणामस्वरूप होने वाले रोगजनक परिवर्तन सूजन तथा रक्त-स्राव हैं। स्थानान्तरण के पश्चात् यकृत में लगभग 1/4 इंच व्यास के अनेक श्वेत तथा कड़े क्षेत्र दिखाई देते हैं। फेफड़ों में होने वाले परिवर्तन सूजन, धब्बेदार रक्त-स्राव तथा पाकि अथवा पालिकाशोथ हैं। रोग ग्रसित सुअर की वृद्धि रुक जाती है तथा वह कमजोर हो जाता है। उसकी त्वचा पीली पड़ सकती है। श्वांकाई तथा अँतड़ियों में असंख्य लार्वा मिलते हैं। यदि बढ़ने का अवकाश मिलता है तो अँतड़ी में परिपक्व ऐस्केरिस कीट पाए जाते हैं।

लक्षण—2 से 8 सप्ताह की आयु वाले सुअर प्रमुख रूप से इस रोग से प्रति अधिक ग्रहणशील हैं। बड़े तथा प्रौढ़ पशु अपेक्षाकृत नए आक्रमणों के प्रति अधिक सहनशील होते हैं। अधिकतर ऐसा विश्वास किया जाता है कि थोड़े परजीवी कोई गड़बड़ी उत्पन्न नहीं

चिकित्सा—चीनापोडियम तेल (oil of chenopodium) की केवल एक ही खुराक से अँतडी से लगभग तीन चौथाई कीट बाहर निकल जाते हैं। इसे 5 घ० सें० प्रति 100 पौण्ड शरीर भार की दर पर 2 औंस (60 घ० सें०) रेंडी के तेल अथवा खनिज तेल में मिलाकर दिया जाता है। चिकित्सा प्रारम्भ करने के 12 से 24 घंटे पूर्व रोगी को चारा नहीं देना चाहिए। अधिक संक्रमणित सुअर को इस दवा की आधी मात्रा देकर, 12 घंटे बाद पुनः दोहरा देनी चाहिए। इसे एक सप्ताह अथवा दस दिन में दुबारा दिया जा सकता है जिससे पहली बार की चिकित्सा में यदि कोई कीट शेष रह गया हो, तो वह भी निकल जाए। इसे, दवा देने वाली पिचकारी द्वारा सीधे मुँह में अथवा आमाशय नलिका द्वारा सीधे आमाशय में डाला जा सकता है। रेंडी के तेल का प्रयोग कभी नहीं भूलना चाहिए। यद्यपि अँतडी से प्रौढ कीटों को निकालने में यह कीट-नाशक पदार्थ अति प्रभावकारी है, किन्तु फेफडा के क्षतिग्रस्त होने से उत्पन्न चोट की यह मरम्मत नहीं करता। कृमि-नाशक चिकित्सा के समय सुअरों को ऐसे स्थान में रखना चाहिए जिसे कीडों के निकलने के बाद सरलता से साफ तथा रोगाणुरहित किया जा सके।

स्वानसन[5] और उनके साथियों के अनुसार केवल उन रोगियों को छोडकर जहाँ थोडे कीट मौजूद रहते हैं, कृमि नाशक के रूप में सूकरों में फीनोथायाजीन का प्रयोग प्रौढ कीटों को निकालने में, चीनापोडियम तेल की भाँति ही गुणकारी है। विभिन्न शरीर भार वाले सूकरों के लिए इसकी मात्रा निम्न प्रकार है 25 पौण्ड से कम, 5 ग्राम, 25 से 50 पौण्ड, 8 ग्राम, 50 से 90 पौण्ड, 12 ग्राम, 90 से 175 पौण्ड, 20 ग्राम। इसे कैप्सूल अथवा चारे में दिया जा सकता है तथा सूकरों के लिए यह कम विषैली है।

चीनापोडियम तेल, फीनोथायाजीन तथा सोडियम फ्लोराइड पर किये गए तुलनात्मक अध्ययनों से इन्जी[6] (Engle) और उनके साथियों ने यह परिणाम निकाला कि चीनापोडि-यम तेल सुअरों से लगभग तीन चौथाई ऐस्केरिस कीट निकालता है तथा फीनोथायाजीन अपेक्षाकृत कम प्रभावकारी है। 'सीमित प्रयोगों में, सुअरों में सोडियम फ्लोराइड ने ऐस्केरिस कीटों को मारने के प्रति अपेक्षाकृत अधिक अच्छा कार्य किया। सूकरों ने अन्य दोनों औषधियों की भाँति ही इसे सहन भी किया तथा इसको देना भी आसान था। फिर भी सोडियम फ्लोराइड का सुरक्षित तथा कृमिहारक महत्व जानने के लिए काफी अधिक परीक्षण करने की आवश्यकता है।' इसे एक या दो दिन तक चारे की एक प्रतिशत मात्रा में दिया जाता है। फ्लोराइड के साथ किए गए परीक्षणों पर अधिक अनुकूल रिपोर्ट ऐलन[7] (Allen) द्वारा की गई है।

सन् 1948 की यू० एस० बी० ए० आई० (संयुक्त राज्य पशु उद्योग ब्यूरो) की रिपोर्ट[8] में यह कहा गया है कि 0 75 प्रतिशत सोडियम फ्लोराइड का प्रयोग अधिकतम आवश्यक प्रभाव के लिए काफी है। पशुओं को बिना किसी विशिष्ट क्षति के कुछ सुअरों के गुर्दों में इस सान्द्रण से थोडी सूजन उत्पन्न हो गई, और कुछ में नार्मल से 31 3 प्रतिशत तथा अन्य में 43 2 प्रतिशत तक चारा खाने में कमी होते देखी गई।

बचाव—सुअरों में ऐस्केरिस रुग्णता पर काबू पाने के लिए बचाव सर्वोत्तम विधि

है। यह ब्याने वाली सुअरियों की चिकित्सा के साथ ही प्रारम्भ हो जाना चाहिए। बचाव के लिए मक्लीन काउन्टी विधि निम्न प्रकार है :

"1. ब्याने वाले कमरे को खूब साफ करिए। तत्पश्चात् खौलते हुए प्रति 30 गैलन पानी में 1 पौण्ड सज्जीखार मिलाकर, फर्श को खूब रगड़-रगड़ कर धोइए।

"2. सुअरियों के शरीर में लगी हुई गंदगी को ब्रुश से झाड़िए। फिर गर्म पानी तथा साबुन से उनका अयन खूब धोइए। तत्पश्चात् इनको साफ किए हुए ब्याने के कमरे में रख दीजिए। यह कार्य ब्याने के तीन या चार दिन पूर्व किया जाता है।

"3. जब तक वे स्वच्छ चरागाह पर जाने योग्य न हो जावें तब तक इन सुअरियों को ब्याने के कमरे में ही रखिए। तत्पश्चात् उन्हें चरागाह पर भेजिए। साफ-सुथरे चरागाहों में चारा तथा पानी की व्यवस्था भी करनी चाहिए क्योंकि किन्हीं भी परिस्थितियों में छोटे बच्चों को चार माह की *आयु तक खान-पान के लिए स्थायी सुअरों के यूथ के* साथ नहीं मिलने देना चाहिए। मक्का की फील्ड में लाने के समय तक उनको चरागाह पर ही रखना चाहिए।"

ऐस्केरिस कीटों को निकालने के लिए गर्भित सुअरियों में ब्याने से पूर्व कोई चिकित्सा नहीं की जाती। युवा सुअरों की अपेक्षाकृत इनमें इसका संक्रमण भी कम होता है। रैफेनस्पर्गर के अनुसार, "किए गए प्रयोग यह प्रदर्शित करते हैं कि मार्च और अप्रैल में ब्याने पर, इलीन्वायस की मौसमिक परिस्थितियों में, सुअरों के मल में निकले हुए अण्डों को संक्रामी होने में कम से कम आठ सप्ताह का समय लगता है।"

सुअरों को कीचड़ में लेटने से बचाइए तथा बाड़े व कमरों से पानी निकलने की समुचित व्यवस्था रखिए। खाद को ऐसे मैदानों पर फेंकिए जहाँ सुअर न जाते हों। अधिक दूषित मैदानों को जोत दीजिए तथा कुछ समय तक इनमें सुअरों को न जाने दीजिए।

संदर्भ

1. Raffensperger, H.B., and Connelly, J.W., The Swine Sanitation System as Developed by the Bureau of Animal Industry in McLean County, Ill., U.S. Dept. Agr. Tech. Bull. No. 44, 1927.
2. Ransom, B.H., and Foster, W.D., Life history of Ascaris lumbricoids and related forms, J. Agr. Res., 1917, 11, 395.
3. Ransom, B.H., and Forster, W.D., Recent discoveries concerning the life history of Ascaris lumbricoides, J. Parasitology, 1918-19, 5, 93. Observations on the Life History of Ascaris Lumbricoides, U.S. Dept. Agr. Bull., 817, 1920.
4. Kernkamp, H.C.H., Gastroenteric diseases in swine, J.A.V.M.A., 1945, 106, 1.
5. Swanson, E.L., Harwood, P.D., and Connelly, J.W., Phenothiazine as an anthelmintic for the removal of intestinal worms of swine, J.A.V.M.A., 1940. 96, 33.

6 Enzie, F D, Habermann, R T, and Foster, A O, A comparison of oil of chenopodium, phenothiazine, and sodium fluoride as anthelmintics for swine, J A V M A, 1945, 107, 57 Tests with fluorides, especially sodium fluoride, as anthelmintics for swine, Am J Vet Res 1945, 6, 131
7. Allen, R W, Trials with sodium fluoride as an ascaricide for swine, N Am Vet, 1945, 26, 661
8 Report, U S B A I 1948, p 68, Improvements in control of swine roundworms

सुअरों में कण्टकाकार शीर्ष वाले कीट

(Thorn-Headed Worms in Swine)

ऐस्केरिस के आकार का एक कीट मैक्राकैन्थारिंकस हिरुडिनेसियस (इकाइनोरिंकस जाइगस) सुअरों की छोटी आंत तथा विशेषकर मध्यान्त्र में पाया जाता है। मोनिंग की रिपोर्ट के अनुसार यह कीट बहुवितरित है, किन्तु इस देश में यह दक्षिणी तथा अन्य क्षेत्रों का परजीवी है जहाँ जंगलों में चरने वाले सुअरों का गुबरैला तथा पतिंगे खाने से इसकी छूत लगती है। अँतड़ी में छेद हो जाने तथा श्लेष्मल झिल्ली में खुजलाहट मचने से पशु को बेचैनी होती है। पशु के मल में अण्डे देखकर इसका निदान किया जा सकता है। अभी तक इसका कोई भी लाभदायक उपचार रिपोर्ट नहीं किया गया है।

घोड़ों में ऐस्केरिस रुग्णता

(Ascariasis in Equines)

ऐस्केरिस इक्वेरम (पेरेंलासिफेला) —यह जाति (स्पीशीज) केवल घोड़ों में ही पाई जाती है। इसका प्रमुख निवास-स्थल छोटी अँतड़ी है और कभी-कभी यह अन्य अंगों में भी पाई जाती है। मादा 6 से 12 इंच लम्बी होती है। अण्डे गोल होते हैं तथा इनका व्यास 90-100 माइक्रान होता है। हाब्मेयर और हेडवन[1] (Habmaier and Hadwen) के अनुसार इनका जीवन इतिहास ऐस्केरिस लम्ब्रीकॉइडेस की भाँति ही होता है। अनेक घोड़े अपने शरीर में कुछ प्रौढ़ परजीवी छुपाए रहते हैं जो उन्हें कोई क्षति नहीं पहुँचाते। अधिक संक्रमण से घोड़े के बच्चे बुरी तरह बीमार पड़ते हैं और इसी प्रकार प्रौढ़ पशु भी क्षतिग्रस्त हो सकते हैं। दूषित चारा तथा पानी से इसकी छूत फैलती है। ऐसा, लीद से सने हुए जमीन पर पड़े चारे खाने से अधिक शीघ्र होता है। बछेड़ों में, दीवाल अथवा फर्श के चाटने बिछौना अथवा लीद के खाने या गंदे पदार्थों के खाने की बुरी आदत से इसकी छूत लगती है। जो बछेड़े स्थायी चरागाहों पर दौड़ते हैं उनको सदैव इसी स्रोत से छूत लगती है। गंदे बाड़ों में रहने से भी इसकी छूत फैलती है। परिपक्व परजीवी अधिक क्षति पहुँचाता तथा हानिकारक पदार्थ बनाता है जो सुअरों की भाँति रक्त तथा तंत्रिका-तंत्र और सामान्य हालत पर कुप्रभाव डालता है। शरीर में घूमता हुआ लार्वा फेफड़ा तथा यकृत को क्षति पहुँचाता है। प्राय ऐस्केरिस, लार्वल कीट तथा स्ट्रांगाइलों का संयुक्त संक्रमण हुआ करता है।

केन्टुकी से डीमाक[2] (Dimock) ने रिपोर्ट किया कि एक बीमारी के आक्रमण से जितने भी घोड़े मरे उनका शव परीक्षण करने पर परजीवी कीट मिले और इन परजीवियों

की उपस्थिति एवं क्रिया के परिणामस्वरूप होने वाले टिसू परिवर्तन, पशुओं की बीमारी तथा मृत्यु का कारण बने। उन्होंने बताया कि प्रत्येक अश्व-फार्म पर परजीवियों के प्रति कंट्रोल के साधन अपनाना बड़ा अच्छा है।

विकृत शरीर रचना—हुंडवेन[3] द्वारा वर्णित युवा बछेड़ों में, फेफड़े दागयुक्त तथा सूजे हुए थे। यकृत अनेक धब्बे पड़कर सड़ गया था। एक पशु की छोटी अँतड़ी काफी सख्त, मोटी तथा श्लेष्मायुक्त थी। ड्यूओडीनम में 2 मि० मी० से 3 सें० मी० लम्बे ऐस्केरिस लार्वा पाए गए तथा यह श्वासनली में भी काफी संख्या में मौजूद थे। एक बहुत कमजोर दो वर्षीय बछेड़े का लेखक के चल-चिकित्सालय में शव-परीक्षण करके यह देखा गया कि उसकी छोटी अँतड़ी 20 फिट तक ऐस्केरिस कीटों से भरी हुई थी; दीवालें मोटी तथा पीली, श्लेष्मल झिल्ली रक्त वर्ण, मेसेण्टेरिक लिम्फ ग्रंथियाँ सूजी हुई तथा उदर-गुहा में साफ सीरम भरा हुआ था। डीमोक[2] ने ऐस्केरिस द्वारा अँतड़ी के फटने के भी दो या तीन रोगी देखे।

लक्षण—युवा बछेड़ों में फेफड़ों के बीच से भ्रूणों का स्थानान्तरण खाँसी तथा निमोनिया उत्पन्न करके रोगी की मृत्यु का कारण बन सकता है। इससे अच्छे हुए पशु बराबर खाँसते रहते तथा इनकी नाक से कुछ समय के लिए स्राव बहता है। सुस्ती तथा हालत के गिरने के साथ-साथ नाड़ी-गति, श्वसन तथा तापक्रम नॉर्मल से अधिक हो सकता है। अधिक कीट ग्रसित एक तथा दो वर्षीय बछेड़ों की वृद्धि रुक जाती, वे जीर्ण-शीर्ण होकर कमज़ोर हो जाते
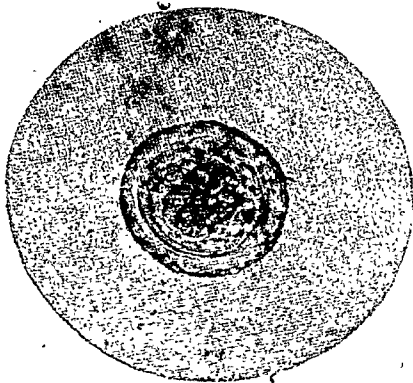
चित्र—32. ऐस्केरिस इक्वाइ (अश्व जातीय) का अण्डा, x 400 (बेन्नूक वेटनेरी प्रैक्टीशनर्स बुलेटिन 1920, 27, नं० 49)

तथा उनको भूख नहीं लगती है। अत्यधिक प्रकोप में अवसन्नता, मांसपेशियों की ऐंठन, अधिक प्यास, पीलिया, निर्बल एवं तेज नाड़ी तथा हृदय की धड़कन बढ़ी हुई हो सकती है।

वैसे तो प्रमुख रूप से यह बीमारी युवा पशुओं पर ही अपना आक्रमण करती है फिर भी प्रौढ़ तथा वृद्ध घोड़े भी अक्सर इसका शिकार होते हैं। ऐसे पशुओं में खूब भूख लगने तथा खाने-पीने के बाद भी धीरे-धीरे उनकी हालत के गिरने का इतिहास मिलता है। वे कमजोर तथा सुस्त होते और जल्दी ही थक जाते हैं। बाल लम्बे तथा खुरदरे और त्वचा सूखी एवं गंदी दिखाई देती है। श्लेष्मल झिल्लियां प्रायः लाल हो जाती हैं। उदर छोटा एवं लटका हुआ सा दिखाई देता तथा लहरी-गति कम हो जाती है। मल सूखा तथा बादामी रंग का होकर "जला हुआ सा" तथा श्लेष्मा से आच्छादित दिखाई देता है। युवा पशुओं में कब्ज होकर दस्त आने लग सकते हैं। मलाशय-परीक्षण करने पर परीक्षक की त्वचा में जलन तथा लाली प्रतीत होती है। कभी-कभी कुछ ऐस्केरिस कीट मल के साथ बाहर निकलते हैं। गोबर का माइक्रास्कोपिक परीक्षण करने पर प्रायः अण्डे पाए जाते हैं। किन्तु जब वे बहुत बड़ी सख्या में होते हैं तभी सही निदान किया जा सकता है। संदेहयुक्त पशुओं को कृमिनाशक दवा देने से प्रौढ़ कीटों की संख्या का अनुमान हो जाता है।

निदान—धीरे-धीरे हालत का गिरना, कमजोरी तथा रक्तस्वाल्पता और गोबर में असंख्य अंडों की उपस्थिति से इसका निदान किया जाता है। बछेड़ों की अँतड़ी में यदि परजीवी कीट परिपक्व न हुए हों तो फेफड़ों तथा यकृत के क्षतस्थलों के साथ ड्यूओडीनम तथा ब्रोंकाई में लार्वा की उपस्थिति रोग का निदान करती है।

चिकित्सा—हाल[4] और उनके साथियों के अनुसार 6 ड्राम (25 ग्राम) की मात्रा में कार्बन डाइसल्फाइड का प्रयोग ऐस्केरिस कीटों को निकालने में शत प्रतिशत गुणकारी पाया गया है। दवा देने से पूर्व पशु को 18 से 24 घंटे तक कोई चारा नहीं दिया जाता। औषधि को आमाशय नलिका द्वारा अथवा कैप्सूल में रखकर दिया जाता है तथा इसके चार घंटे बाद घोड़े को राशन खिलाया जाता है। आयु के अनुसार औषधि की मात्रा निम्न प्रकार है:

3 से 5 माह	10 घ० सें०
5 से 8 माह	15 घ० सें०
12 से 18 माह	20 घ० सें०
2 वर्ष	25 घ० सें०
3 वर्ष और अधिक	30 घ० सें०

दवा देने के बाद युवा घोड़ों को दो से चार दिन तक कब्ज हो सकता है। इसे 1000 घ० सें० की मात्रा में द्रव पैरेफिन देकर ठीक किया जा सकता है। कार्बन डाइसल्फाइड को मृदुरेचक पदार्थ के साथ नहीं पिलाना चाहिए।

6 से 12 ड्राम (25 से 50 घ० सें०) प्रति 1000 पौण्ड शरीर भार की दर पर कार्बन टेट्राक्लोराइड भी ऐस्केरिस कीटों को शरीर के बाहर निकालने में गुणकारी है। इसको देने के बाद विषैला प्रभाव कम करने के लिए पशु को सलाइन दस्तावर पेय (1 पौण्ड सोडियम अथवा मैगनीशियम सल्फेट पानी में घोलकर) दीजिए और यदि पशु काफी कमजोर हो तो इसमें कैल्शियम ग्लूकोनेट भी शामिल कर लीजिए। पहले दिन रात को चोकर का महेला (bran mash) खिलाइए। दूसरे दिन उसे भूखा रखिए। तीसरे दिन सुबह कार्बन

ट्रेटाक्लोराइड दीजिए तथा दोपहर को चारा खिलाइए। गर्भित घोड़ियों को भी कार्बन ट्रेटाक्लोराइड दी जा सकती है। कार्बन डाइसल्फाइड अथवा कार्बन टेट्राक्लोराइड के प्रयोग में चिकित्सा से पूर्व पशु को पानी पिलाना चाहिए, किन्तु दवा देने के बाद कई घंटे तक पानी नहीं देना चाहिए।

लेखक के अनुभव में, ग्रिम्मी की विधि[5] (Grimme's method) के अनुसार टारटार इमेटिक का प्रयोग बड़ा ही संतोषजनक सिद्ध हुआ है। रात को पशु को पानी न दीजिए। 4 से 5 ड्राम (15-20 ग्राम) दवा को एक बाल्टी पानी में घोलिए। इसमें से एक तिहाई प्रातः 6 बजे, एक तिहाई 7 बजे तथा शेष एक तिहाई 8 बजे दीजिए। 6 माह से 1 वर्ष के बछेड़ों के लिए 5 से 10 ग्राम तथा दूध पीने वाले बच्चों को 2 ग्राम दवा दी जाती है। 4 ड्राम (15 घ० सें०) की मात्रा में आर्सेनिक का फाउलर घोल (Fowler's solution) दिन में तीन बार देने से अनेक कीट शरीर से बाहर निकल सकते हैं।

बचाव—ब्याने से पूर्व ब्याने वाले कमरों को धोइए तथा साफ कीजिए। घोड़ी तथा बछेड़े को ऐसे बाड़े या मैदान में रखिए जिसमें कम से कम पिछले एक वर्ष से घोड़े न रखे गए हों। मल से होने वाले संदूषण को बचाने के लिए घुड़साल को बार-बार साफ कीजिए तथा फर्श पर चूना छिड़किए। बार्डवेल (Bardwell) ने केन्टुकी में देखा कि घोड़ों के चरने वाले चरागाहों से सप्ताह में एक बार लीद हटा लेने से उनके बच्चों में इसकी छूत कम फैलती है।

संदर्भ

1. Hobmaier, M., Die Entwicklung von Ascaris megalocephala des Pferdes, Archiv. f Prakt. Tierheilkunde, 1925, 52, 192.
2. Dimock, W. W., Parasites, The Thoroughbred Record, 1936, 123, pp. 134, 150, 166.
3. Hadwen, S., Ascariasis in horses, J. Parasitology, 1925, 12, 1.
4. Hall, M. C., Smead, M. J., and Wolf, Chas., The anthelmintic and insecticide value of carbon bisulphide against gastrointestinal parasites of the horse, J.A.V.M.A., 1919, 55, 543.
5. Grimme, Die Askariden des Pferdes and ihre Behandlung mit Tartarus stibiatus, Deutsche tier. Wchnschr., 1911, p. 217.

बछड़ों तथा मेमनों में ऐस्केरिस रुग्णता

(Ascariasis in Calves and Lambs)

यूनाइटेड स्टेट्स में बछड़ों तथा मेमनों में ऐस्केरिस रुग्णता बहुत कम हुआ करती है। दक्षिणी यूरुप में, बछड़े बहुधा अपने शरीर में ऐस्केरिस कीट छुपाए देखे गए हैं। कुछ लोग इस प्रजाति को बच्चों तथा सुअरों में प्रकोप करने वाले कीट, ऐस्केरिस लम्ब्रीक्वाइडेस, से मिलता-जुलता मानते हैं, यद्यपि कि इसका नाम भिन्न है : ऐस्केरिस विट्यूलोरम, बछड़ों में; ऐस्केरिस ओविस, मेमनों में। गैस्टीगर (Gasteiger) के अनुसार जब यह रूपांतरी कीट

निकलते रहें पशु को 15 घ० सें० की मात्रा में प्रति 4 घटे के अवकाश पर टारटार इमेटिक (3 से 5 ग्राम 125 घ० सें० पानी में) देते रहना चाहिए।

संदर्भ

1. Monatsh. f. prakt. Tierheilk., 1905, 16, 49.

भेड़ों में टीनिया रुग्णता
(Taeniasis in Sheep)
(फीता कृमि)

टीनिया फिम्ब्रिएटा (झालरदार फीता कृमि, थाइसेनोमा ऐक्टिन्वायडेस्)—यह परजीवी यूनाइटेड स्टेट्स में मिसिसपी नदी के पश्चिमी क्षेत्रों में सामान्य रूप से पाया जाता है, किन्तु इस नदी के पूर्वी किनारे की भेड़ों में यह प्रकोप करता नही पाया जाता। सन् 1890 में कर्टिस[1] (Curtice) ने इसे उत्तरी तथा दक्षिणी अमेरिका का रहने वाला, मैदानी भागों का प्रमुख परजीवी, तथा अत्यधिक क्षति पहुँचाने वाला कीट बतलाया। कोलोरैडो में उन्होंने 80 से 95 प्रतिशत भेड़ें इससे ग्रसित पाईं और एक भेंड़ से 100 तक परजीवी प्राप्त किए। हाल[2] लिखते हैं कि पश्चिमी बडे-बड़े भेंड़ो के यूथ टूटने से यह परजीवी वहाँ से अदृश्य होता हुआ सा मालूम पड़ता है और वेल्श[3] (Welch) का कहना है कि "झालरदार फीताकृमि कुछ वर्ष पूर्व मेमनों का एक बहुत ही प्रमुख परजीवी समझा जाता था किन्तु अब हम इसे ऐसा नही मानते।" अधिक सक्रमण के कारण पैकिंग घरो से क्षति ग्रस्त यकृतों को निकाल कर फेंक देना फिर भी भारी क्षति पहुँचाता है।

जीवन-इतिहास—परिपक्व कीट का निवास-स्थल छोटी अँतडी है तथा युवा परजीवी पित्त-वाहिनी में वृद्धि पाते है। इसकी सामान्य लम्बाई 6 इच है यद्यपि कि यह एक फुट तक पहुँच सकती है। प्रत्येक खण्ड के पिछले किनारे पर एक झालरदार अथवा आगे निकला हुआ भाग होता है, इसी कारण इसे झालरदार टेपवर्म भी कहते हैं। अण्डे भरे हुए खण्ड भेंड़ के गोबर के साथ शरीर से बाहर निकलते हैं, किन्तु परजीवी का आगे विकास किस प्रकार होता है, यह अज्ञात है। सभवत. एक मध्यस्थपोषक की आवश्यकता पड़ती है। परजीवी की सबसे छोटी प्रकार मेमनों में दूसरे माह की आयु के शीघ्र बाद देखने को मिलती है, किन्तु प्रौढ़ आकार प्राप्त करने में कम से कम 6 माह, सभवत: 10 माह, का समय लगता है। अपनी धीमी बढोत्तरी के कारण अन्य टेपवर्मों की अपेक्षा यह अधिक आयु वाले मेमनो में प्रकोप करता है।

लक्षण—ऐसा कहा जाता है कि मेमनो तथा एक वर्षीय भेंड़ो में ही प्रमुख रूप से इसका अधिक प्रकोप होता है। पतझड़ में उनका स्वास्थ्य गिरा हुआ दिखाई देता है और पतझड़ के अन्त तथा जाड़े के प्रारम्भ में लक्षण खूब प्रकट हो जाते हैं। कर्टिस[1] के अनुसार रोग-ग्रसित मेमनों का सिर बढ़ जाता, शरीर छोटा पड़ जाता, चाल में अकड़न होती, ऐंठन और दस्त हो सकते तथा चरागाहों पर चलती हुई तूफानी हवाओं एव ठड को न सहन कर सकने के कारण वहाँ चरने वाले मेमनो की मृत्यु हो जाती है।

चिकित्सा—विस (bis) (5–क्लोरो–2–हाइड्राक्सीफीनोल) मियेन* के साथ किए गए प्रयोगों में रिफ, हानेस तथा स्टोड्डर्ड[4] (Ryff, Hones and Stoddard) ने इसे झालरदार टेपवर्म तथा मोनेजिया कीटों को निकालने में बड़ा ही प्रभावकारी पाया। चारा खाने वाली भेड़ों को इसकी मात्रा 0·25 ग्राम प्रति पौण्ड शरीर भार तथा 24 घंटे भूखा रखने के बाद 0·05 ग्राम प्रति पौण्ड शरीर भार दी गई। 30 से 40 पौण्ड शरीर भार वाले छोटे मेमनों को इसकी प्रति पौण्ड अधिक आवश्यकता पड़ती है अतः चारे पर रखे गए मेमनों के लिए इसकी प्रायोगिक मात्रा 0·5 ग्राम थी।

मोनेजिया एक्सपेंसा—यूरुप से प्रवेश पाने वाला यह परजीवी यूनाइटेड स्टेट्स के अधिकांश भागों में मेमनों में बहुत पाया जाता है। इसका निवास-स्थल छोटी अँतड़ी है जहाँ यह परिपक्व होकर 2 माह की आयु वाले मेमनों में 5 गज तक लम्बा हो सकता है। इसकी लम्बाई 15-30 फिट तथा सबसे चौड़े खण्ड की चौड़ाई 2 सें॰ मी॰ होती है। इसके अण्डे गोल अथवा बहुभुजाकार तथा 50-70 माइक्रान व्यास के होते हैं। अंतिम खण्ड अंडों से भरे होते हैं जो गोबर के साथ शरीर के बाहर निकलते हैं और यहाँ इनकी उपस्थिति निदान करने में सहायक होती है। स्टंकर्ड[5] (Stunkard) ने यह प्रदर्शित किया कि मोनेजिया एक्सपेंसा के जीवन-चक्र में माइट (गैलुम्ना स्पीसीज), संक्रामी लार्वा (सिस्टीसर्क्वाइड्स) के मध्यस्थ-पोषक होते हैं।

मोनेजिया एक्सपेंसा से उत्पन्न बछड़ों में टेपवर्म रोग के एक प्रकोप का लिंक, आर॰ पी॰, आदि[6] ने वर्णन किया है।

लक्षण—6 माह से कम की आयु वाले मेमनों में ही मोनेजिया कीट रोग फैलाने की शक्ति रखता है। बड़ी भेड़ों में इसकी उपस्थिति पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है। प्रायः जहाँ टेपवर्म-रोग का अनुमान किया जाता है वहाँ अन्य मिलते-जुलते परजीवी जैसे छोटी अँतड़ी के कीट, लक्षणों का कारण बनते हैं। फिर भी अनेक लेखकों के अनुसार इसके भारी संक्रमण से कमजोरी, दस्त अथवा कब्ज जैसे लक्षण प्रकट हो सकते हैं। जैसा कि राष्ट्रीय पशु-उद्योग ब्यूरो (फेडरल ब्यूरो आफ एनीमल इण्डस्ट्री), 1940, पृ॰ 80 द्वारा रिपोर्ट किया गया है, 4 से 7 सप्ताह की आयु के मेमनों में इसका प्रयोगात्मक संक्रमण 40 से 81 दिन तक रहा। रोगी पशु की प्रति सप्ताह औसत वृद्धि 1.24 पौण्ड थी जबकि स्वस्थ पशुओं में यह 2.43 पौण्ड थी। इससे यह निष्कर्ष निकाला गया "कि कम उम्र में मेमनों को लगी हुई टेपवर्म की छूत इनकी सामान्य बढ़ोत्तरी में कमी करके, शरीर पर कुप्रभाव डालती है।"

चिकित्सा—निकोटीन सल्फेट तथा कॉपर सल्फेट (1.5 प्रतिशत प्रत्येक) का सम्मिश्रण जैसा कि आमाशय-कीटों को निकालने में प्रयोग किया गया है (पृ॰ 210), भेड़ के सामान्य टेपवर्मों के लिए भी लगभग शत-प्रतिशत गुणकारी है। मक्कुलच और मककवाय[7] (McCulloch and McCoy) के अनुसार प्रत्येक मेमने को 0.5 ग्राम की मात्रा में

---

* ग्राइफेनेन—70 (20 प्रतिशत घोल); टीनियाटोल (20 प्रतिशत घोल); और टीनियाथीन (0·5 ग्राम गोलियाँ), पिटमनमूर कम्पनी।

कैप्सूल में रखकर दिए गए लेड आर्सेनेट ने, मोनेजिया स्पीशीज का नष्ट करने में खूब काम किया। एक ही खुराक स अनेक टेपवर्म निकले तथा चिकित्सा प्राप्त रोगी अच्छे हो गए।

ब्रांडेन्बर्ग[8] (Brandenberg) के अनुसार, 3 औंस (120 ग्राम) ताजे पिसे हुए कॉपर सल्फेट के साथ 1 पौण्ड (500 ग्राम) कमाला का मिश्रण अति प्रभावकारी है। पशुओ को देने के लिए इस मिश्रण की मात्रा निम्न प्रकार है

प्रौढ भेड	90 ग्राम
60 90 पौण्ड के मेमने	30 ग्राम
40 60 पौण्ड के ममने	2 5 ग्राम
25 40 पौण्ड के मेमने	2 ग्राम

दवा देने स पहले उन्हें हल्के तथा मुलायम चारे खिलाइए, 16 स 24 घटे भूखा रखिए। दवा देने के बाद कुछ घटो तक चारा न दीजिए। तत्पश्चात् सूखी घास खिलाकर चरागाह पर चरने भेजिए।

सदर्भ

1 Curtice, Cooper, Animal Parasites of Sheep, U S B A I , 1890, p 89
2 Hall, M C , U S Dept Agr Farmer's Bull , 1330, 1927, p 12
3 Welch, H , Sheep diseases of the Northwest States, Cornell Vet , 1930, 20, 152
4 Ryff, J F , Honess, Ralph F , and Stoddard H L , Removal of the fringed tapeworm from sheep, J A V M A , 1949, 115, 179
5 Stunkard, H W , Life cycle of Moniezia *expansa*, Science, 1937, 86, 312
6 Link, R P , Levine, N D , Danks, A G , and Woelffer, E A , Moniezia infection in a calf herd, J A.V M A , 1950, 117, 52
7 McCulloch, E C , and McCoy, J E , Treatment of ovine taeniasis with lead arsenate, J A V M A., 1941, 99, 496
8 Brandenberg, T O , Use of camala in tapeworm infestations J A V M.A , 1928, 73, 871

छोटी अँतड़ी के अन्य परजीवी रोग

(Other Parasitic Diseases of The Small Intestine)

निम्नलिखित वर्णन में आमाशय-कीटरोग के साथ होने वाले छोटी अँतडी के परजीवी रोगों का एक समूह सम्मिलित है जो एक कुटुम्ब-ट्राइकोस्ट्रांगाइलिडी (ट्राइकोस्ट्रांगाइलो) के कीटो द्वारा उत्पन्न होते हैं। यह रोग केवल कुछ ही स्थानो पर यदा-कदा प्रकोप करते है, किन्तु यह सख्या तथा महत्त्व में बढ़ते हुए मालूम पड़ते है। परजीवी कीटों की रोग-जनक क्रिया के सम्बन्ध में लोगों के विभिन्न मत हो सकते है। देश के एक भाग में यह हानि रहित तथा दूसरे में हानिकारक सिद्ध हो सकते है। इन परजीवियो में निम्नलिखित वश की विभिन्न प्रजातियाँ शामिल है ट्राइकोस्ट्रांगाइलस, निमैटोडीरस, कूपरिया तथा बनोस्टोमम।

ट्राइकोस्ट्रांगाइलस स्पीशीज—यूनाइटेड स्टेट्स में छोटी अँतड़ी में इस ग्रूप की सबसे मुख्य स्पीशीज ट्राइकोस्ट्रांगाइलस कोलुब्रीफार्मिस (इंसर्टेविलिस) (1/4–1/3 इंच लम्बी) है। इस कीट का निवास स्थल ड्यूओडीनम है तथा यदा-कदा यह भेड़ तथा बकरियों के एबोमेसम में भी मौजूद रहता है। आकार में छोटे, श्लेष्मल झिल्ली के निकटतम सम्पर्क में होने तथा श्लेष्मा से ढके रहने के कारण शव-परीक्षण करते समय प्रायः यह कीट बिना दिखे ही रह जाते हैं। कांच की छिछली प्याली में रखे पानी में श्लेष्मल झिल्ली की खरोंच डालकर, काली सतह पर इस प्याली को रखकर इन्हें देखा जा सकता है। अण्डे 75-95×35-40 माइक्रान के होते हैं तथा 15 माह तक शुष्क वातावरण में जीवित रह सकते हैं। फीवार्न और स्टेवर्ट[1] के अनुसार बहुधा इन परजीवियों को इतनी बड़ी संख्या में पाया जाता है कि श्लेष्मल झिल्ली के ऊपर एक बालों जैसी चटाई बन जाती है। इनकी रोग उत्पादन करने की शक्ति अप्रश्नवाचक है तथा कैलीफोर्निया में इनका प्रकोप ओस्टर्टेगिया के बराबर है। ऐंड्रयूज[2] (Andrews) द्वारा रिपोर्ट किए गए प्रयोगात्मक संक्रमण में लार्वा की पहली मात्रा के बाद 13 से 59 दिन में पशु को तेज दस्त आए तथा 3 से 53 दिन बाद होस्ट की मृत्यु हो गई। तीन उदाहरणों में कीटों के अण्डों के गोबर में निकलने से पूर्व ही पशु की मृत्यु हो गई, जिससे शव-परीक्षण करने से पूर्व रोग का सही निदान करना असम्भव हो गया। रॉस[3] (Ross) ने यह रिपोर्ट किया कि ट्राइकोस्ट्रांगाइलस अँतड़ी में कोई विशिष्ट क्षतस्थल उत्पन्न नहीं करते। किन्तु, ऐंड्रयूज के अनुसार ज्ञात संख्या में संक्रामी लार्वा द्वारा भेड़-बकरियों में प्रयोगात्मक रूप से इसकी छूत फैलाने में उनके उदर में सीरस द्रव इकट्ठा होता, छोटी अँतड़ी में विसृत सूजन होती तथा यकृत की अवस्था सहज में ही टूटने योग्य हो जाती है। अंडों की गणना करके ट्राइकोस्ट्रांगाइलोसिस (ट्राइकोस्ट्रांजिल रुग्णता) का निदान करना त्रुटिपूर्ण है, क्योंकि वे कम अंडे देते हैं। निदान के लिए; दूध पिलाना छुड़ाने के पूर्व अथवा तत्काल बाद काले दस्त होने, शारीरिक गुहाओं में लाल अथवा रंगहीन द्रव भरा होने, तथा रक्त-स्वाल्पता और अंतः त्वचा सूजन की अनुपस्थिति आदि लक्षणों पर अधिक जोर दिया जाता है।

निमैटोडीरस स्पैथाइगर, नि० फिलीकोलिस (टाप जैसी गर्दन वाले स्ट्रांगाइल कीट)—यह परजीवी प्रायः बहुत बड़ी संख्या में एबोमेसम से 6 से 20 फिट पीछे छोटी अँतड़ी में उपस्थित रहते हैं। नर की लम्बाई 1.5 सें० मी० तथा मादा 2.3 सें० मी० लम्बी होती है। यह कीट लाल रंग के होते हैं। इनके अण्डे लम्बे, अण्डाकार, 150–200×75–90 माइक्रान के होते हैं। अण्डों के अन्दर ही संक्रामी लार्वा बन जाते हैं और ऐसे भ्रूणयुक्त अण्डे अथवा लार्वा के खाने से रोग की छूत लग सकती है। हाल[11] और उनके साथियों के अनुसार नि० स्पैथाइगर यूनाइटेड स्टेट्स की भेड़ों में काफी पाया जाता मालूम देता है। वेल्दा[5] ने बताया कि मोंटेना में "निमैटोडीरस प्रमुख आंत्रिक परजीवी है। मेमनों में आंत्रिक परजीविता के अधिकांश रोगियों में हमने इस परजीवी को प्रमुख आक्रमणकारी पाया।" संयुक्त राज्य पशुधन स्वास्थ्य संघ (यूनाइटेड स्टेट्स लाइव स्टाक सैनिटरी एसोसिएशन) की सन् 1937 की परजीवी रोगों पर कमेटी की रिपोर्ट के एक वर्णन में इस तथ्य का समर्थन किया गया है कि "मोंटेना में 20 वर्ष से ऊपर के अवलोकन यह प्रदर्शित करते हैं कि भेड़ों के समस्त आंत्रिक नेमाटोड परजीवियों में से सबसे भयंकर रोगजनक प्रभाव

निमैटोडीरस द्वारा उत्पन्न किया जाता है, जिसे भूतकाल में, प्राय बहुत ही कम महत्व का माना गया है। परजीवियो के कन्ट्रोल कार्य में इस कीट की आर्थिक जानकारी भी सम्मिलित होनी चाहिए।

कूपरिया कर्टिसी (Cooperia Curticei) (भेंड बकरियो में), **कूपरिया आंकोफोरा** (भेंड और ढोरो में)—इसका निवास स्थल प्राय ड्यूओडीनम तथा कभी-कभी जुगाली करने वाले पशुओं का एबोमेसम है। अपने आकार, स्थिति तथा पाई जाने वाली कठिनाइयो में यह ट्राइकोस्ट्राँगाइलस की भाँति ही है। इसके अण्डे 60–80×30–35 माइक्रान के होते हैं। बकरियो में कूपरिया कर्टिसी (C Curticei) के भारी संक्रमण से होने वाले प्राणघातक प्रकोप आस्ट्रेलिया से एड्गर[7] (Edger) द्वारा रिपोर्ट किये गए हैं, जिन्होंने देखा कि यह परजीवी अकेले ही निश्चित रोगजनक महत्व का है। गीले चरागाहों पर चरने वाले बछडो तथा भेंडों में इसके भयकर प्रकोप होते बताए गए हैं। संयुक्त राज्य पशु-उद्योग ब्यूरो में किए गए प्रयोगो में (वार्षिक रिपोर्ट 1936, पृ० 54) यह देखा गया कि प्रति 100 पौण्ड शरीर भार वृद्धि के लिए स्वस्थ भेड को अपेक्षाकृत, प्रयोगात्मक रूप से कूपरिया कर्टिसी की छूत लगी हुई भेंड को 80 पौण्ड अधिक चारे की आवश्यकता पडती है।

बनोस्टोमम ट्राइगोनोसिफॅलस (भेंड का अंकुशकृमि)—इसका निवास स्थल छोटी अँतडी का पिछला भाग है। यह कीट 1 इन्च लम्बे, सूत्राकार तथा लाल रंग के होते हैं। इनके अण्डे 80×40 माइक्रान के होते हैं। इनका जीवन-इतिहास परोक्ष होता है। दक्षिणी प्रदेशो की भेडो में यह परजीवी आमतौर पर पाया जाता है तथा भयकर तुषार पडने वाले स्थानो में यह बहुत ही कम होता है। शा[9] लिखते हैं कि ओरेगन में भेडो के कुछ जत्थो में यह परजीवी कीट काफी मात्रा में प्रकोप करते पाए गए हैं।

पर्विल रोग, भेंडो का एक प्रमुख परजीवी रोग है और इसके क्षतस्थल कभी कभी छोटी अँतडी में पाए जाते हैं—(इसके वर्णन के लिए '*बडी अँतडी में पशु परजीवी कीट*' नामक पाठ देखिए)।

विकृत शरीर रचना—शव-परीक्षण करने पर अँतडी के क्षतस्थलो की अपेक्षाकृत परजीवी कीटो की संख्या तथा प्रकार पर अधिक ध्यान देना चाहिए। सदेहयुक्त परजीविता में शारीरिक-गुहाओ में उपस्थित द्रव, इसके सही निदान का सूचक है। रोग की बढी हुई अवस्था में मारा गया पशु परीक्षण हेतु सर्वोत्तम है।

लक्षण—एबोमेसम के राउन्ड वर्म जिस प्रकार के लक्षण उत्पन्न करते हैं, बिल्कुल वैसे ही लक्षण इनके भी होते हैं। अनेक पशुओ में छोटी अँतडी तथा एबोमेसम दोनो ही क्षतिग्रस्त होते हैं। जैसा कि आमतौर पर वर्णन किया गया है ट्राइकोस्ट्राँगाइलोसिस (ट्राइकोस्ट्रॉजिल रुग्णता) प्रमुख रूप से दूध छुडाने से लेकर 18 माह तक की आयु के मेमनो तथा युवा भेडो की बीमारी है, किन्तु इसमें अनेक अपवाद भी हैं। हालत का गिरना, दस्त आना, रक्त-स्वाल्पता, ऊन का ढीला पड जाना, श्लेष्मल झिल्लियाँ पीली दिखाई देना तथा अनेक सप्ताहों में विस्तरित उच्च मृत्यु दर इस रोग के विशिष्ट लक्षण हैं। रोग के बढे हुए

प्रकोप में जवड़े के नीचे सूजन आ जाती है (वोतल-जवड़ा)। पशु की खान-पान में रुचि प्रायः सामान्य रहती है। वसंत से लेकर पतझड़ तक इसके मौसमी प्रकोप हुआ करते हैं।

चिकित्सा—ट्राइकोस्ट्रागाइलस कीटों को निकालने के लिए आमाशय-कीट रोग की भाँति कॉपर सल्फेट तथा निकोटीन सल्फेट का मिश्रण अति उपयोगी है। कूपरिया और निमैटोडीरस को निकालने के लिए पहले पशु को 2.5 घ० सें० 10 प्रतिशत कॉपर सल्फेट घोल पिलाकर, टेट्राक्लोरेथायलीन और खनिज तेल (5-10 घ० सें० प्रत्येक) का मिश्रण पिलाइए। टेट्राक्लोरेथायलीन को कैप्सूल में रखकर भी दिया जा सकता है, किन्तु पहले वाली विधि अधिक अच्छी है। फीनोथायाजीन, ट्राइकोस्ट्रागाइलस के प्रति बहुत ही अच्छी क्रमिहारक सिद्ध हुई है किन्तु यह कूपरिया अथवा निमैटोडीरस के प्रति अच्छा काम नहीं करती। टर्क[8] (Turk) लिखते हैं कि फीनोथायाजीन-लवण (1:10) मिश्रण भेड़ों को परजीवी कीटों के प्रारम्भिक आक्रमणों से बचाता है, किन्तु यह अति संदूषित मेमनों के शरीर से परजीवी कीटों को बाहर नहीं निकालता और क्रमिनाशक औषधियाँ केवल समुचित आहार तथा चरागाहों के बदलने के साथ ही अच्छा काम करती हैं।

संदर्भ

1. Freeborn, S. B., and Stewart, M.A., The Nematodes and Certain Other Parasites of Sheep, Univ. of Calif. Agr. Exp. Sta., Bull 603, 1937.
2. Andrews, J. S., Experimental trichostrongylosis in sheep and goats, J. Agr. Res., 1939, 58, 761.
3. Ross, I.C., and Gordon, H.M., The Internal Parasites and Parasitic Diseases of Sheep, Angus and Robertson, 1936.
4. Hall, M.C., Dikmans, G., and Wright, W.H., Parasites and Parasitic Diseases of Sheep, Farmer's Bull. 1330, 1938, p. 43.
5. Welch, H., Sheep diseases of the Northwest States, Cornell Vet., 1930, 20, 152.
6. Schwartz, B., Report of the Committee on Parasitic Diseases, United States Live Stock Sanitary Asso., J.A.V.M.A., 1938, 92, 430.
7. Edgar, G., Fatal effects of heavy infestation with Cooperi curticei in goats, Aust., Vet., J. 1936, 12, 58.
8. Turk, R. D., Trichostrongylosis of sheep and goats, N. Am. Vet., 1945, 26, 474.
9. Shaw, J. N., Scours in sheep and goats in Oregon, Agr., Exp. Sta. Cir. 93, 1929.

बड़ी अँतड़ी में पशु-परजीवी कीट
(ANIMAL PARASITES IN THE LARGE INTESTINE)
भेंड़ तथा बकरियों का ग्रंथिल रोग
(Nodular Disease of Sheep and Goats)

परिभाषा—ओसोफैगस्टोमम कोलम्बियानम के लार्वा तथा प्रौढ़ कीट द्वारा उत्पन्न होने वाला यह विशेषकर बड़ी अँतड़ी तथा किसी हद तक छोटी अँतड़ी का एक ग्रंथिल रोग है जो दस्त, क्षीणता तथा रक्त-स्वाल्पता द्वारा पहचाना जाता है।

सन् 1910 में हाल[1] ने बताया कि यूनाइटेड स्टेट्स में यह रोग पूर्वी, दक्षिणी तथा मध्यवर्ती पश्चिमी प्रदेशों तक ही सीमित था। सन् 1920 में रैनसम और हाल[2] ने यूनाइटेड स्टेट्स में इसे अधिक प्रकोप करता हुआ बताया। यह परजीवी इस देश का निवासी मालूम पड़ता है। छूतग्रसित क्षेत्र में लगभग सभी भेड़ों की अँतड़ी में इस रोग की ग्रंथियाँ पाई जाती हैं और कभी-कभी इससे पशु के मालिक को यह विश्वास दिलाना काफी कठिन हो जाता है कि यह बीमारी भयंकर है। एक विकीर्ण रोग तथा महामारी के रूप में इसका प्रकोप पशु-पोषण पर कुप्रभाव डालकर, उनको मौत के घाट उतार कर पशु-पालक को भारी क्षति पहुँचाता है। हाल ने बताया कि सैलमन के विचार से दक्षिणी प्रदेशों में यह व्याधि भेड़-पालन उद्योग में एक प्रमुख अवरोध है तथा स्मिथ और नाइल्स के अनुसार विर्जीनिया में बड़े यूथों के आधे से अधिक पशु इस परजीवी के परिणामस्वरूप नष्ट हो चुके हैं। यद्यपि कि इस रोग को गर्म जलवायु में प्रकोप करता कहा जाता है, किन्तु यह उत्तरी न्यू-इंग्लैंड की ठंडी जलवायु में भी खूब फैलता है तथा क्युबेक (Quebec) में भी यह सामान्य रूप से होता रिपोर्ट किया गया है। ओसोफैगस्टोमम कोलम्बियानम तथा हीमाकस कन्टार्टस को स्वेल्स[3] (Swales) ने पूर्वी कनाडा का बड़ा ही प्रमुख नेमाटोड रिपोर्ट किया है।
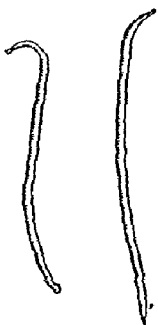
चित्र–33. ओसोफैगस्टोमम कोलम्बियानम। बाईं ओर नर कीट, दाईं ओर मादा कीट, x5 (रैन्सम, यू० एस० डिपार्टमेंट एग्रीकल्चर, ब्यूरो एनीमल इण्डस्ट्री, बुलेटिन 127)

जीवन-इतिहास—प्रौढ़ परजीवी बड़ी अँतड़ी में सीकम के पीछे निवास करता है। नर 10-15 मि० मी० तथा मादा 14-18 मि० मी० लम्बी होती है। अण्डे 65-75 माइक्रान लम्बे तथा 40-50 माइक्रान चौड़े होते हैं। इन परजीवियों का एक विशेष प्रकार का सफेद रंग होता है जिसके द्वारा इन्हें भेड़ों के अन्य परजीवियों से अलग पहचाना जा सकता है। वेग्लिया[4] (Veglia) ने इसके जीवन-इतिहास का वर्णन किया है। इसका विकास हीमाकस कन्टार्टस की भाँति ही होता है। गोबर में अण्डे निकलने

के बाद उन पर एक आवरण चढकर वे लगभग एक सप्ताह में सक्रामी हो जाते है और तब एक सप्ताह से अधिक समय तक जीवित रह सकते है। रात को तथा बरसात के दिनो में लार्वा रिंग कर घास पर चढते है और धूपयुक्त गर्म दिनो में वे जमीन पर चले जाते हैं। मेमनो द्वारा निगले जाने के तत्काल बाद वे बडी अँतडी की दीवाल में छेद करके अन्दर घुस जाते है। चूँकि मेमनो में सामान्यतौर पर उनके प्रति प्रतिरक्षा नही होती, अत वहाँ टिसू प्रतिक्रिया नही होती और आक्रमणकारी के प्रति कोई विरोध नही होता।
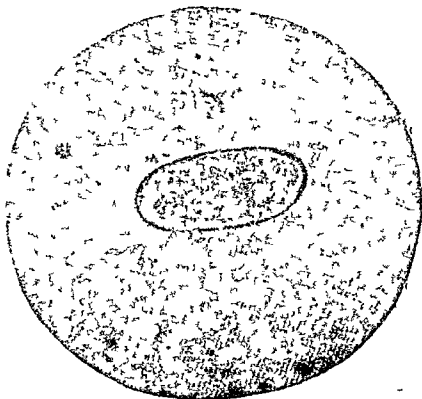
चित्र—34 ओसोफेगस्टोमम कोलम्बियानम के अण्डे (वॉल्गेनाउ द्वारा चित्रित)

अँतडी की दीवाल में लार्वा का विकास होता है तथा पाँच दिन की अवधि के वाद यह युवा कीट के रूप में आन्त्र नाल में पुन वापस आ जाते हैं। छूत लगने के लगभग चालीस दिन बाद इनके अण्डे गोवर में बाहर निकलते है। इसी प्रकार यह विकास कुछ बडी भेंडो जिनमें सहनशक्ति नही होती, उनमें भी हो सकता है। अँतडी के अन्दर लार्वा के चलने स श्लेष्मल झिल्ली में उत्तेजना होकर पशु को दस्त आने लगते हैं। परजीवी द्वारा क्षति का यह एक प्रमुख कारण है। मेमनो तथा विना प्रतिरोध वाली भेंडो की सीकम में विना ग्रथिल परिवर्तनो के अनेक परिपक्व कीट मौजूद हो सकते है। ग्रथियाँ मेमनो में मुश्किल से ही दिखाई देती है। प्रौढ भेंडें जिनमें किसी अश तक प्रतिरक्षा होती है, उनकी अँतडी की दीवाल में लार्वा का घुसना एक टिसू प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है तथा वहाँ ग्रथियाँ बनकर परजीवी का घेर लेती है। जा लार्वा इन ग्रथिया से निकल जात है, वे अँतडी की दीवाल में इधर उधर चक्कर काटते है, किन्तु प्राय वे आन्त्र-नाल में वापस नहीं आते।

अँतडी की दीवाल में चक्कर लगाने के समय अँतडी की श्लेष्मल झिल्ली में चोट लगने, और कीटा द्वारा विषैला पदार्थ स्रवित करने (जा श्लेष्मल झिल्ली पर परोक्ष रूप से अथवा

पुन शोषित होकर अपनी क्रिया करता है) तथा अँतडी की दीवाल पर अनेको ग्रथियाँ बनने के कारण अँतडी को क्षति पहुँचती है। यूनाइटेड स्टेट्स के पूर्वी भागो में लगभग सभी भेंडो की अँतड़ी में परजीवीयुक्त ग्रथियाँ पाई जाती है और जब यह दीवाल पर काफी घनी होकर श्लेष्मल झिल्ली का विस्तृत क्षेत्र घेर लेती है, तब भेड कुपोषण से पीडित होती है तथा अँतडी में छेद हो सकते है। परजीवी कीटो को निकाल देने पर पशु शीघ्र अच्छा होने लगता है। प्रौढ़ कीट, भेंड की अँतडी में अधिकतर 20 से 21 माह तक रहता देखा गया है तथा कुछ रोगियो में इससे भी अधिक समय तक रह सकता है।

विकृत शरीर रचना—मृत पशु का शरीर बडा जीर्ण शीर्ण हो जाता है तथा आन्तरिक अग रक्तहीन होकर छोटे पड जाते है। छोटी तथा बडी अँतडी दोनो में ही 1/8 से 1/4 इच आकार की अथवा इससे भी बडे व्यास की सैकडो तथा हजारो ग्रथियाँ पाई जाती है। इनमें से अनेको परस्पर मिलकर अँतडी के एक बडे क्षेत्र को घेर लेती है। अँतडी में छेद हो जाते है। सीकम पर यह ग्रथियाँ सबसे अधिक होती है, किन्तु निकट की लिम्फ ग्रथियो, ओमेण्टम और यकृत में भी पाई जा सकती है। हाल की बनी ग्रथियाँ हरी तथा पनीर जैसी होती है और इनमें लार्वा मौजूद हो सकता है। पुरानी ग्रथियाँ चूने जैसी, विभिन्न रग की तथा लार्वा रहित होती है। मेमनो तथा बिना प्रतिरोध वाली भेंडो में यह ग्रथियाँ मुश्किल से ही देखने को मिलती है।

लक्षण—वेग्लिया[4] ने इसकी दो किस्मो का वर्णन किया है। पहली, अभिघातज तथा प्रतिदूषित अवस्था जो रोग की भयकर छूत लगने के बाद लगभग एक सप्ताह में विकसित होती है और इसे प्यास, दाँत पीसने, लगातार दस्त आने तथा अवसन्नता आदि लक्षणो से पहचाना जाता है। आन्त्र-नाल में लार्वा के चक्कर लगाने से यह आक्रमण होता है तथा मृत्युदर काफी अधिक होती है। गोबर में श्लेष्मा तथा पीब मिला होता है। मेमने अपने अगले तथा पिछले पैर फैलाकर, प्राय पीठ खलाकर खडे होते है। दूसरी, रोग की विषैली अवस्था, जो एक से दो वर्षीय मेमनो में देखी गई। उन्होने प्रारम्भिक आक्रमण का विरोध किया तथा कई माह बाद वे कब्ज तथा दस्तो के हल्के आक्रमणो से पीडित हुए। वे बहुत ही कमजोर तथा अकडे हुए से थे। कजक्टाइवा तथा श्लेष्मल झिल्लियाँ हीमाकस-रुग्णता की भाँति विशेष रूप से पीली नही थी। तीन-चार माह की अवधि के बाद जब मास और ऊन का ह्रास हुआ तो कुछ पशुओ के पिछले धड में बढती हुई मासल निर्बलता विकसित हुई।

यूनाइटेड स्टेट्स में कर्टिस[5] (Curtice) ने सर्वप्रथम इस रोग का वर्णन किया। उन्होने लिखा कि "एक वर्षीय मेमनो में इसका सक्रमण हो सकता है, किन्तु प्राय बडी भेंडो में ही प्रमुख रूप से इसका प्रकोप होता है।" कर्टिस ने भेंडो में असख्य ग्रथियों के पाए जाने का उल्लेख भी किया।

यद्यपि कि वेग्लिया, मेमनो की भाँति प्रौढ़ भेडो में जल्दी इस रोग की छूत न फैला सके, किन्तु ऐसे पशुओं में अधिक सक्रमण से मरे हुए रोगियो का मिलना अस्वाभाविक नही है। सभवत छूत का विकास छोटी आयु से ही होता है। कभी-कभी पशु-पालक यह कहते हुए पाया जाता है कि जब तक कोई दस्तों से पीडित भेंड न खरीदी जाए तब तक

उसके यूथ में यह बीमारी नहीं देखी जाती और उससे यह उसके पुराने यूथ में फैलती है। आमतौर पर यह पतझड़ तथा जाड़ों की ऋतु का रोग है। पतझड़ में मेमनों में दस्त शुरू होकर धीरे-धीरे वे बहुत ही खराब हो जाते हैं। खान-पान में रुचि रहने तथा काफी मात्रा में अच्छा चारा देने पर भी एक माह में पशु का 50 प्रतिशत शरीर भार कम हो जाता है। शारीरिक परीक्षण करने पर कमज़ोरी, क्षीणता, पीलापन लिए हुए सूखी त्वचा तथा सूखे हुए ऊन जैसे अनेक लक्षण मिल सकते हैं। सीकम में गड़बड़ी के कारण पशु को तेज दस्त आते हैं। पशुवध-गृहों में यह देखा गया कि अधिक ग्रंथि-युक्त भेड़ें अन्य की अपेक्षा गिरी हुई हालत में होती हैं। गोबर में असंख्य अण्डे मौजूद होते हैं, किन्तु उन्हें आसानी से अँतड़ी के अन्य परजीवियों से अलग पहचानना काफी कठिन होता है।

ओसोफैगस्टोमम कोलम्बियानम को निकालने में फीनोथायाजीन बहुत ही गुणकारी सिद्ध हुई है। परिपक्व भेड़ों के लिए इसकी मात्रा 25 ग्राम है। इसके प्रयोग के ढंग भेड़ के आमाशय-कीट रोग की चिकित्सा के अन्तर्गत वर्णन किए गए हैं। स्वेल्स[3] और उनके साथियों ने कनाडा से रिपोर्ट किया कि सन् 1940 तथा 1941 में वसंत के प्रारम्भ में किए गए एक इलाज से पर्विल रोग के क्षतस्थलों में सन् 1938 की 99.1 प्रतिशत की अपेक्षाकृत 0.65 प्रति मेमना कमी हो गई।

संदर्भ

1. Hall, M. C., 27th An. Rep. U.S.B.A.I., 1910, p. 450.
2. Ransom, H. R., and Hall, M. C., Parasitic diseases in their relation to the live stock industry of the Southern States, J.A.V.M.A., 1920, 57, 394.
3. Swales, W. E., Sylvestre, P. E., and Williams, S. B., Field trials of control measures for parasitic diseases of sheep, Canad. J. Res., 1942, 20, No. 5., Section D, p. 115.
4. Veglia, F., Preliminary notes on the life history of Oesophagostoma columbianum, 9th and 10th Reports, Dept. Agr. Union of S. Africa, 1923, p. 811; Oesophagostomiasis in Sheep, 13th and 14th Reports, 1928, p. 755.
5. Curtice, Cooper, Animal Parasites of Sheep, U.S.B.A.I., 1890.

गो-पशुओं का पर्विल रोग

(Nodular Disease of Cattle)

ओसोफैगस्टोमम रेडिएटम—इस परजीवी की लार्वल अवस्था कभी-कभी ढोरों की छोटी अँतड़ी की दीवाल में सीकम के निकट पाई जाती है। यह लक्षण उत्पन्न करने के लिए कभी भी समुचित संख्या में मौजूद नहीं रहते। ग्रंथियों का व्यास 1/8 से 3/8 इंच तक होता है तथा इनमें चीरा लगाने पर हरापन लिए हुए, पनीर जैसी सतह दिखाई पड़ती है। इनसे क्षयरोग की भी संभ्रान्ति हो सकती है।

घोड़ों में स्ट्रांजिल-रुग्णता

(Strongylosis in Equines)

परिभाषा—घोड़ों में स्ट्रांजिल-रुग्णता सीकम तथा कोलन की सड़न अथवा सूजन है, जो स्ट्रांगाइलों और साइलिकोस्टोमों की प्रौढ़ तथा लार्वल अवस्थाओं द्वारा उत्पन्न होती

है। लार्वल अवस्थाएँ धमनीशोथ, रक्तावरोध तथा बड़ी मेसेन्टेरिक धमनी और उसकी शाखाओं में थ्राम्बाइ उत्पन्न करती और प्लूरा तथा परिटोनियम के सीरमी एवं असीरमी टिसुओं में सूजन उत्पन्न कर सकती है। घोड़ों की यह प्रमुख आन्त्रिक परजीविता है।

चित्र—35 घोड़े से प्राप्त स्ट्रांगाइलस कीट के अण्डे (वाल्गनाउ द्वारा चित्रित)

वैसे तो यह बीमारी किसी भी आयु के घोड़ों में प्रकोप कर सकती है, किन्तु एक वर्षीय एवं दो वर्ष की आयु के बछेड़ों को अति घातक होती है।

कारण—घोड़ों में यह परजीविता विशेषकर उन स्थानों पर अधिक प्रकोप करती है, जहाँ उन्हें अति संक्रमणित चरागाहों पर लगातार चराया जाता है। वर्जीनिया, केन्टुकी तथा मध्यवर्ती पश्चिमी भागों के अश्वप्रजनन प्रक्षेत्रों पर यह बीमारी खूब होती है। घोड़े चराए जाने वाले चरागाहों पर खाद फैलाने से भी वहाँ की जमीन में इसकी भारी छूत फैल सकती है। वैसे तो सभी आयु के घोड़े अपने शरीर में इस रोग के परजीवी छुपाए रह सकते हैं, किन्तु प्रमुख क्षति जन्म से लेकर परिपक्व होने की आयु तक ही हुआ करती है तथा क्षति की मात्रा परजीवी कीटों की संख्या घोड़े की आयु तथा उसके खान-पान की हालत पर निर्भर होती है। जब युवा घोड़े किसी तालाब आदि का अति दूषित गंदा पानी पीते हैं, तो इस रोग के नाशक प्रकोप देखने को मिलते हैं।

परजीवी कीटों का वर्णन—इनके दो प्रमुख समूह हैं (1) बड़े स्ट्रांगाइल कीट (स्कलेरोस्टोम रक्त स्ट्रांगाइल) और (2) छोटे स्ट्रांगाइल कीट (साइलिकोस्टोम)। बड़े स्ट्रांगाइल (स्ट्रांगाइलस) की तीन प्रजातियाँ हैं स्ट्रांगाइलस वल्गैरिस, स्ट्रांगाइलस ईडेंटेटस तथा स्ट्रांगाइलस इक्वाइनस। छोटे स्ट्रांगाइलों के अन्तर्गत ट्राइकोनेमा (साइलिकोस्टोमम), ट्रायोडोंटोफोरस तथा कई अन्य कम आवश्यक प्रजातियाँ सम्मिलित हैं। प्रौढ़ स्ट्रांगाइलस रक्त

चूसते हैं तथा बड़ी अँतड़ी की श्लेष्मल झिल्ली में घुसे हुए लाल रंग के लार्वों की उपस्थिति यह प्रदर्शित करती है कि वे भी रक्त चूसने वाले हैं। यह कीट सीकम तथा कोलन में रक्त चूसकर, श्लेष्मल झिल्ली को काटकर तथा वहाँ हीमोलाइसिन उत्पन्न करके पशु को भारी क्षति पहुँचाते हैं।

स्ट्रांगाइलस वल्गैरिस लगभग सभी घोड़ों में पाया जाता है। प्रौढ कीट का निवास स्थल सीकम तथा कोलन है। नर की लम्बाई 15 मि० मी० तथा मादा की 25 मि० मी० होती है। अण्डे 75-80 माइक्रान लम्बे तथा 40-50 माइक्रान चौड़े हुआ करते हैं। वे बड़ी अँतड़ी में जमा होते हैं तथा विभाजन होते समय गोबर के साथ बाहर निकलते हैं। अँतडी में इनका विकास नहीं होता। नमी तथा तापक्रम की अनुकूल परिस्थितियों में शरीर के बाहर इनका विकास प्रारम्भ होता है तथा कुछ ही दिनों में आवरणयुक्त लार्वा बन जाते हैं। यह लार्वा अब संक्रामी होते हैं, ठंड तथा नमी को सहन कर लेते हैं तथा शीतोष्ण जलवायु में वर्ष भर जीवित रह सकते हैं। चारे तथा पानी के साथ पशु द्वारा निगले जाने के बाद इन लार्वों का आगे विकास होना अनेक विषय-विशेषज्ञों द्वारा निम्न प्रकार बताया गया है : अँतड़ी से लार्वा रक्त संस्थान में प्रवेश पाकर, यकृत तथा फेफड़ों से होकर निकलते हैं जहाँ उनमें से कुछ रुककर नष्ट भी हो जाते हैं। अधिकांश लार्वा बड़ी मेसेण्टेरिक धमनी की दीवालों तथा कुछ इनकी शाखाओं में जमा हो जाते हैं। यहाँ यह धमनी-शोथ, शोथ, थ्राम्बाइ तथा रक्तावरोध उत्पन्न करते हुए सीकम की दीवाल में पहुँचते हैं जहाँ वे सिस्ट तथा फोड़े बनाते हैं। यहाँ से यह कीट परिपक्व परजीवियों के रूप में आन्त्र-नाल में पहुँचते हैं।

स्ट्रांगाइलस ईडेन्टेटस, स्ट्रांगाइलस वल्गैरिस की अपेक्षाकृत कुछ कम पाया जाता है। इसका निवास-स्थल सीकम तथा कोलन है। नर 25-33 मि० मी० तथा मादा 33-36 मि० मी० लम्बी होती है। अधिकतर यह कीट प्लूरा तथा पेरिटोनियम की सीरस झिल्लियों के नीचे पाए जाते हैं, किन्तु वे अन्य स्थानों पर भी पाए जा सकते हैं।

स्ट्रांगाइलस इक्वाइनस अन्य कीटों की अपेक्षा कुछ कम पाया जाता है। इसका निवास स्थल सीकम तथा कोलन है। यह परजीवी 30-40 मि० मी० लम्बा होता है।

ट्राइकोनेमा (साइलिकोस्टोमम) के अन्तर्गत कई प्रजातियाँ शामिल हैं और सभी उपस्थित प्रजातियों के निदान का प्रयास करने में कोई लाभदायक उद्देश्य की पूर्ति नहीं होती क्योंकि वे विशुद्ध सवर्धन में कभी नहीं पाई जाती। प्रजाति के अनुसार इनका आकार 5 से 15 मि० मी० तक भिन्न हो सकता है। परिपक्व परजीवी सीकम तथा कोलन में रहता है तथा इसके जीवन-चक्र का कुछ भाग अँतड़ी की दीवालों में भी सम्पन्न होता है जहाँ कि लार्वल अवस्था से प्रायः क्षति पहुँचा करती है।

विकृत शरीर रचना—पशु का शव सामान्य अथवा अति जीर्ण-शीर्ण हो सकता है। सीरम तथा सब-सीरस झिल्लियों में अधिक लार्वा मौजूद होने पर, शारीरिक गुहाओं में साफ अथवा लाल रंग का सीरम भरा मिलता है। पेरिटोनियम पर अतिरक्तता तथा रक्तस्राव के क्षेत्र मिलते हैं और इन क्षेत्रों में लार्वा पाए जा सकते हैं। प्लूरा तथा आयाकाश में भी

अनेक लार्वा मौजूद हो सकते हैं। अग्र मेसेण्टेरिक धमनी के तने में यत्र-तत्र परजीवी कीट युक्त अनेक गाँठें मिलती हैं और इनमें अनेक स्ट्रांगाइलस कीट भरे हो सकते हैं। मेसेण्टेरिक रक्त नलिकाओं में अवरोध पड़ जाने से अँतड़ी, विशेषकर सीकम, और कभी-कभी छोटी अँतड़ी में परिगलन लग सकता है। सीकम में परिगलन के धब्बे गोल-गोल चकत्तों के रूप में हो सकते हैं अथवा छोटी अँतड़ी का 10 से 20 फिट लम्बा भाग क्षतिग्रस्त हो सकता है। दीवाल मोटी, पीली अथवा काले रंग की होकर टूटने योग्य हो जाती है। कभी-कभी कोलिक धमनी मोटी हो जाती है तथा उसकी अधिकांश लम्बाई में फोड़े बनकर उसका छिद्र बहुत ही छोटा हो जाता है (अति तनावपूर्ण धमनी शोथ, अवरोधक धमनी-शोथ)। कीटयुक्त आन्त्रार्ति से मरे हुए घोड़े की सीकम तथा कोलन के अन्दर एवं दीवालों में सैकड़ों तथा हजारों लाल कीट मिल सकते हैं। बड़ी अँतड़ी की दीवालों पर भी स्ट्रांगाइलस के लार्वायुक्त फोड़े पाए जाते हैं। मेसेण्टेरिक लिम्फ ग्रंथियाँ रक्तवर्ण तथा सूजी हुई हो सकती हैं।

लक्षण—गंदे तालाबों का पानी पीने से बछड़ों में इसकी छूत खूब फैलती है। ऐसी छूत लगने के 6 से 12 माह बाद नाशक महामारी का विकास हो सकता है। श्लेष्मल झिल्ली में असंख्य लार्वों की उपस्थिति से पशु में भीषण उत्तेजना, आन्त्रार्ति और सामान्य बाधाएँ उत्पन्न हो सकती हैं।

रोग के प्रकार : यह छूत के वेग तथा क्षति के स्थान के अनुसार भिन्न हुआ करते हैं। सभी में कमजोरी, खान-पान में अरुचि तथा क्षीणता के लक्षण मिलते हैं।

(अ) दस्तों तथा अत्यधिक कमजोरी के साथ रोग की आंत्रिक अवस्था : अधिक संक्रमण प्राप्त युवा घोड़ों तथा बछेड़ों में रोग का यह प्रकार एक स्थानिकमारी के रूप में हुआ करता है। पशु की हालत गिरी हुई, रक्त-स्वल्पता तथा अत्यधिक कमजोरी होती है। बछेड़े इतने कमजोर हो जाते हैं कि वे बिना सहायता के उठ नहीं पाते। उनके बाल लम्बे हो जाते तथा कंजक्टाइवा की श्लेष्मल झिल्ली पीली पड़ जाती है। बुखार के लक्षण प्राय अनुपस्थित रहते हैं, फिर भी जब सीरस झिल्लियों पर रोग का असर होता है (फुफ्फुस-झिल्ली-शोथ, उदर-झिल्ली-शोथ) तो नाड़ी-गति, श्वसन तथा तापक्रम अधिक हो जाता है। पशु का पेट छोटा अथवा लटका हुआ दिखाई देता है—("pot bellied")—तथा लहरी-गति प्रायः दबी हुई होती है। गोबर थोड़ी मात्रा में हो सकता है, किन्तु अधिकतर न कंट्रोल होने वाले दस्त हुआ करते हैं। दस्तों की अवस्था; बड़ी अँतड़ी की श्लेष्मल झिल्ली में अनेक लार्वा विशेषकर साइलिकोस्टोमम, की उपस्थिति के परिणामस्वरूप हुआ करती है। मलाशय-परीक्षण करने पर अग्र मेसेण्टेरिक धमनी के तने में कड़ी तथा धड़कनयुक्त सूजन के रूप में धमनीशोथ को महसूस किया जा सकता है। आन्त्रिक लक्षण, प्रमुख क्षतस्थलों के अनुसार भिन्न हो सकते हैं। कोलिक-धमनी के अत्यधिक मोटी हो जाने (धमनीशोथ) अथवा प्रमुख रूप से सब-सीरस झिल्ली में लार्वा होने पर, दस्त अनुपस्थित हो सकते हैं। जब कोई रक्तस्रोतरोधी (embolus) सीकम का परिगलन उत्पन्न करता है, अथवा जब सीकम और कोलन की दीवालों में असंख्य लार्वा मौजूद होते हैं, तो पशु को लगातार दस्त आते हैं। कुछ को शूल वेदना के आक्रमण भी होते हैं। बीमारी की अवधि कुछ सप्ताहों की है और इसमें काफी पशु मर जाते हैं।

(ब) कृमिज शूल वेदना (थ्राम्बो-इम्बोलिक शूल वेदना) (Verminous colic) : यह प्रौढ़ घोडे तथा बछेड़ों में हुआ करती है। रोग-ग्रसित पशुओं को कार्य करते समय बार-बार दर्द के आक्रमण होते है और इसका खुराक से कोई संबंध नही होता। प्रायः यह शूल वेदना मेसेण्टेरिक धमनी की अंतिम शाखाओं में इम्बोलाइ अथवा थ्राम्बाइ (कुछ अवरोधक पदार्थों) की उपस्थिति के कारण हुआ करती है (थ्राम्बो-इम्बोलिक शूल वेदना)। अँतड़ी का रक्त-वर्ण होना अथवा उसमें परिगलन होना किसी हद तक रक्त-नलिकाओ में अवरोध होकर रक्त-संचार रुक जाने के कारण होता है। इतना पूर्ण यह शायद ही होता हो जिससे रोगी की मृत्यु हो जाए, किन्तु जब तक यह रहता है रोग का प्रकोप बड़ा वेगयुक्त होता है। इसकी अवधि एक घंटे से लेकर चौबीस घंटे तक की है। यूनाइटेड स्टेट्स के उत्तरी-पूर्वी भागों के घोड़ो में कृमिज-शूल वेदना अधिक होती नही दिखाई पड़ती। लेखक के चल-चिकित्सालय में रिपोर्ट किए गए दो प्राणघातक रोगियों में, सुपोषित प्रौढ़ घोड़ों में इलियम का परिगलन मिला। अन्य संदेहयुक्त पशु बड़े कमजोर तथा आसानी से थक जाते थे। लुसियाना प्रायोगिक केन्द्र के मोरिस[1] (Morris) से प्राप्त एक रिपोर्ट यह प्रदर्शित करती है कि उस प्रदेश के घोड़ों तथा खच्चरों में कृमिज-शूल वेदना आमतौर पर हुआ करती है और इसका कारण श्लेष्मल झिल्ली तथा रक्त-नलिकाओं में परजीवियों का होना है। विलियम्स[2] (Williams) द्वारा वर्णित रोगी पशुओं के एक समूह में भीषण शूल वेदना के आक्रमण के साथ चौबीस घंटे में पशु की मृत्यु हो जाना, सर्व प्रमुख अवस्था थी। इसके बाद कुछ रोगी ऐसे मिले जिनमें काफी दिनों तक दर्द चलता रहा तथा तीसरा समूह अत्यधिक कमजोर होकर अंत में दर्द से ही मर गया।

(स) पिछले पैरों का पक्षाघात : इलियक धमनियो के थ्राम्बस (अवरोध) द्वारा पिछले पैरों में जड़ता हो जाती है। इस प्रकार रोग-ग्रसित घोड़ा जब चलाया जाता है तो वह लँगड़ाता अथवा गिर पड़ता है। व्यायाम कराने पर एक अथवा दोनों पिछले पैरों में लँगड़ाहट होती है और शीघ्र ही वह अपने को कंट्रोल करने में असमर्थ हो जाता है। खड़े होने पर, पशु क्षतिग्रस्त पैर को फैलाकर रखता, उसकी मांस पेशियों में कँपकपी होती तथा इस पैर से पसीना आना प्रारम्भ होकर सम्पूर्ण शरीर में फैल जाता है। कुछ मिनटों से लेकर कुछ घंटों तक आराम देने से यह लक्षण अदृश्य हो जाते हैं।

(द) क्षीणता : अनेक प्रौढ़ परजीवियों, विशेषकर साइलिकोस्टोमम की बड़ी अँतड़ी में उपस्थिति घोड़ों तथा बछेड़ों में क्षीणता का प्रमुख कारण है। अच्छा राशन देने तथा खान-पान में रुचि होने के बाद भी वे निरन्तर कमजोर होते चले जाते है। काम करने पर उनके शरीर से पसीना निकलता और वे जल्दी ही थक जाते है। बाल लम्बे तथा सूखे दिखाई देते तथा श्लेष्मल झिल्लियाँ पीली पड़ जाती है। पूँछ को दीवाल आदि से रगड़ना तथा जो कुछ सामने पड़े उसे खा लेना, अक्सर देखा जाता है। बसंत ऋतु में जब घोड़ों से अधिक काम लिया जाता है तब यह लक्षण अधिक प्रमुख होते दिखाई पड़ते है। कुछ घंटों के काम के बाद ऐसे घोड़ों में मांसपेशियों की ऐंठन तथा अवसन्नता के लक्षण देखे जा सकते हैं। गोबर में अनेक अण्डों की उपस्थिति देखकर इस रोग का सही निदान किया जाता है।

चिकित्सा—बड़ी अँतड़ी के स्ट्रागाइलों को नष्ट करने वाली अब तक खोज की गई कृमिनाशक औषधियों में से फीनोथायाजीन सर्वोत्तम है, किन्तु इसकी विषैली प्रतिक्रिया से कभी-कभी कुछ पशुओं की मृत्यु होती बताई गई है। कम प्रोटीनयुक्त चारे खाने वाले अथवा कमजोर घोड़ों में दवा के प्रयोग से ऐसे परिणाम मिलते है। ऐसी अवांछित प्रतिक्रिया का एक उदाहरण फिंचर एवं गिबस[3] (Fincher and Gibbons) ने रिपोर्ट किया है। फोल्स[4] (Folse) ने लूसर्न की सूखी घास खाने वाले घोड़ों में फीनोथायाजीन के अधिक मात्रा में सेवन के बाद भी, अति उत्तम परिणाम रिपोर्ट किए हैं। साथ ही सुखाई हुई ज्वार खिलाने वाले घोड़ों के एक दूसरे समूह में उन्होंने प्राणघातक जटिलताएँ भी देखीं, किन्तु रक्त चढ़ाने पर बीमार पशु शीघ्र ही ठीक होने लगे। ईरिंगटन[5] (Errington) ने ऐसे चार में से दो थारोब्रेड नस्ल के घोड़ों में प्रतिक्रिया देखी जिनको कि 24 घंटे भूखा रखकर 90 ग्राम फीनोथायाजीन दी गई थी। दूसरे दिन उनमें खान-पान में अरुचि, काले रंग की पेशाब, पीलिया तथा लहरी-गति में कमी आदि लक्षण देखे गए। तीसरे दिन दोनों घोड़ों को हल्का दर्द हुआ तथा छठे दिन दोनों नॉर्मल थे। उन्होंने 30 ग्राम दवा खिलाने की राय दी जो इस थारोब्रेड के कद के घोड़ों के लिए न्यूनतम प्रभावकारी मात्रा थी। नोल्ज और ब्लाउंट[6] (Knowles and Blount) ने 30 ग्राम (0 066 ग्राम प्रति किलोग्राम शरीर भार) की मात्रा में देने से इसे अविषैला तथा घोड़ों की स्ट्राजिल-रुग्णता की चिकित्सा में शत-प्रतिशत लाभकारी पाया। उन्होंने बताया कि घोड़ों में स्ट्राजिल-रुग्णता की चिकित्सा के लिए यह औषधि अन्य सभी इलाजों से अच्छी है। इसे द्रव तथा कैपसूल के रूप में अथवा चारे के साथ दिया जा सकता है। इसे, पशु को बिना भूखे रखे ही दिया जा सकता है। यह दस्तावर नहीं है और इसे देने के बाद भी दस्तावर औषधि देने की आवश्यकता नहीं पड़ती। अधिक कमजोर पशुओं में विषैली प्रतिक्रिया बचाने के लिए इसे लगभग 3 ग्राम की थोड़ी मात्रा में नित्य देना अधिक अच्छा है।

सन् 1949 में डीमोक[7] ने रिपोर्ट किया कि 2 ग्राम की मात्रा में नित्य फीनोथायाजीन के प्रयोग से स्ट्रागाइलस के अण्डे पैदा होना बंद हो गया तए बड़ी अँतड़ी के छोटे नेमाटोड परजीवी बाहर निकल गए। किन्तु, ऐस्केरिस कीटों पर इसका थोड़ा अथवा बिल्कुल ही असर नहीं हुआ। सन् 1950 में टोड आदि[8] (Todd et al) ने लिखा कि घोड़ों के चार समूहों में चारे की मात्रा के अनुपात में दो वर्षों तक नित्य 0 5, 1,2 अथवा 4 ग्राम औषधि देने से स्ट्रागाइलस के संक्रमण कम हुए और इसके प्रयोग से कोई हानि नहीं हुई। एक वर्ष की आयु वाले 16 बछेड़ों को, जिनके गोबर में असंख्य स्ट्रागाइल अण्डे निकलते थे, रोजाना 30 ग्रेन फीनोथायाजीन चारे के साथ बारह सप्ताह तक दी गई। इससे स्ट्रागाइल कीटों पर नियंत्रण हो गया।

स्वच्छ चरागाहों पर चराने, चरागाहों के बदलने तथा घोड़ा सांड़ों के चरने वाले चरागाहों से सप्ताह में एक बार लीद हटा लेने से छूत के फैलने में कमी होती देखी गई।

संदर्भ

1. Morris, H., A study of intestinal parasites in horses and mules in Louisiana, with special reference to the control of colic, J.A.V.M.A., 1932, 80, 17.

2. Williams, W. L., Invasion of the mesenteric arteries of the horse by the Strongylus armatus, Vet. Journal, 1887, 25, 159.
3. Fincher, M. G., and Gibbons, W.J., Phenothiazine in emaciated horses, Cornell Vet., 1941, 31, 220.
4. Folse, C. D., Phenothiazine poisoning, Vet. Med., 1941, 36, 430.
5. Errington, B. J., Phenothiazine as an equine anthelmintic, Vet, Med. 1941, 36, 188.
6. Knowles, R. H., and Blound, W.P., Experimental observtions on Phenothiazine relative to the treatment of equine strongylosis, J. Roy, Army Vet. Corps, 1941, 12, 51.
7. Dimock, W. W., The two-gram dose of phenothiazine for strongylosis of the horse, Vet. Med., 1949, 44, 99.
8. Todd. A. C. et al., Continuous phenothiazine therapy for horses, Vet. Med., 1850, 45, 429.
9. Quin, A. H., Control of sclerostomes with fractional doses of phenothiazine, Vet. Med., 1950, 45, 47.

बड़ी अँतड़ी के अन्य परजीवी रोग

(Other Parasitic Diseases of the Large Intestine)

ऑक्सीयूरिस-रुग्णता

(Oxyuriais)

आक्सीयूरिस करवुला (अश्व जातीय) (oxyuris curvula equi) (सूची-कृमि, सूत्र-कृमि), घोड़ों के रेक्टम तथा कोलन में आमतौर से पाया जाता है। मादा कीटों की संख्या अत्यधिक होती है और इनकी लम्बाई 4–15 सें० मी० होती है। इसके शरीर का अगला भाग मोटा तथा मुड़ा हुआ और पिछला भाग लम्बा तथा नुकीला होकर कुछ-कुछ सूत्राकार होता है। अण्डे लगभग 90 माइक्रान लम्बे तथा 40 माइक्रान चौड़े होते हैं तथा इनके एक सिरे पर ढक्कन सा बना होता है। यह अण्डे मल द्वार के चारों ओर जमा होते हैं जहाँ मादा कीट अपनी सूत्राकार पूँछ के सहारे चिपके रहते हैं। यहाँ इनकी उपस्थिति से पशु को खुजलाहट होती है जिसके कारण वह अपनी पूँछ रगड़ता है जिससे वहाँ के बाल गिर जाते हैं। अण्डों के बने हुए पीले रंग के थक्के तथा श्लेष्मा, मल द्वार की त्वचा पर जमा हो सकते हैं। प्रौढ़ कीट सीकम तथा कोलन के हानि रहित निवासी हैं।

चिकित्सा—रेक्टम तथा कोलन दोनों से ही यह कीट आसानी से प्राप्त किए जा सकते हैं। चिकित्सा की निम्नलिखित विधियों में से प्रत्येक द्वारा हाल[1] (Hall) ने सफलता रिपोर्ट की है : 36 घंटे भूखा रखने के बाद घोड़े को 16 घ० सें० चीनोपोडियम तेल देकर एक क्वार्ट अलसी का तेल पिलाइए; अथवा घोड़े को चौबीस घंटे से कम भूखा रखकर 60 घ० सें० तारपीन का तेल पिलाकर तत्काल ही एक क्वार्ट अलसी का तेल दीजिए; अथवा चारे के साथ नित्य पाँच दिन तक 8 ग्राम टारटार इमेटिक खिलाइए। एलुआ (aloes) की एक औंस (30 ग्राम) की केवल एक ही खुराक देकर लेखक ने घोड़े से

सैंकडो कीट निकलते देखे । क्रियोलीन के 1 प्रतिशत घोल, अथवा क्वैशिया (quassia) की छाल का निषेक (infusion), अथवा एसिटिक एसिड के एक प्रतिशत घोल, अथवा सिरका तथा पानी के मिश्रण या साबुन और पानी का एनिमा देकर रेक्टम से इन कीटों को आसानी से निकाला जा सकता है । हैबरमन आदि[2] (Habermann et al) ने फीनोथायजीन को आक्सीयूरिस प्रजाति के कीटो को निकालने के लिए असफल पाया ।

सदर्भ

1 Hall, M C, Practical methods of treatment for worm infestation, J A V M A, 1919, 55, 24
2 Habermann, R T, Harwood, P D, and Hunt, W H, Critical tests with phenothiazine as an anthelmintic in horses, N Am Vet, 1941, 22, 85

कमची क्रमि
(Whipworm)

ट्राइक्यूरिस ओविस (कमची क्रमि) भेंड-बकरियों की सीकम में आमतौर पर पाया जाने वाला एक परजीवी कीट है । अधिक सख्या में इसकी उपस्थिति कष्टदायक हो सकती है, किन्तु ऐसा बहुत कम होता है । मादा 5 से 7 सें० मी० तथा नर कीट 5 से 6 सें० मी० लम्बा होता है । इस कीट के शरीर का अगला भाग, पिछले मोटे भाग की अपेक्षाकृत दो तीन गुना लम्बा तथा काफी पतला होता है । अपनी सामान्य आकृति में यह कीट चाबुक (कोडे) से मिलता-जुलता है, इसी कारण इसका नाम कमची क्रमि पडा । इसका जीवन इतिहास बिना किसी मध्यस्थ पोषक के, परोक्ष होता है । इस परजीवी के प्रकोप के कोई निश्चित लक्षण तो नहीं होते किन्तु ऐसा अनुमान किया जाता है कि भारी सख्या में इसकी उपस्थिति भेंडो के स्वास्थ्य पर कुप्रभाव डालती है । इसके लिए कोई भी लाभकारी क्रमिनाशक औषधि नहीं है ।

पर्युदर्या के रोग

(DISEASES OF THE PERITONEUM)

पर्युदर्या-शोथ

(Peritonitis)

लक्षण—उदर-झिल्ली की सूजन अनेक कारणों के परिणामस्वरूप हुआ करती है : (1) पशुओं में इसकी अभिघातज आमाशय-शोथ-प्रकार सबसे अधिक होती है, (2) इसके बाद दूसरी महत्ता, सभी पशुओं में, सूतिकावस्था की उदर-झिल्ली-शोथ की है, (3) उदर तली पर मारने अथवा घाव लग जाने से उत्पन्न आघात भी उदर-झिल्ली-शोथ का कारण बनता है । इस समूह के अन्तर्गत वधिया करने, हार्निया का आपरेशन तथा रेक्टम में हाथ डालने के परिणामस्वरूप होने वाले रोगी आते हैं, (4) बछड़ों में स्ट्रांगाइलस ईडेन्टेट्स के लार्वा का भारी संक्रमण कभी-कभी इसका कारण बनता है, (5) क्षयरोग, ऊति-गलन (necrobacillocis) तथा ऐक्टिनोबैसिलोसिस जैसे दीर्घकालिक विशिष्ट संक्रमण भी होते देखे गए हैं, (6) ऐंथ्राक्स, सूकर-कालरा, नवजात बच्चों के रोग, रक्त-पूतिता तथा उग्र आंत्रार्ति जैसे तीव्र सामान्य संक्रमण प्रायः पेरिटोनियम को भी सम्मिलित कर लेते हैं, (7) स्थान से हटाव, परजीवी कीट, चारे के ठूंस कर भरने, अवांछित पदार्थ, ऐंठन युक्त नाभिक हार्निया तथा आन्त्र अश्मरी (enteroliths) के रूप में आन्त्रिक अवरोध कभी-कभी परिगलन उत्पन्न करके अँतड़ी के फटने तथा उदर-झिल्ली-शोथ का कारण बनते हैं, (8) चल-चिकित्सालय में देखी गई दो गायों में कैल्शियम सायनाइड नामक कास्टिक विष के एबो-मेसम से फाड़कर बाहर जाने में उग्र विसृत उदर-झिल्ली-शोथ विकसित हुई । जठर-आमाशय-शोथ एवं उदर-झिल्ली शोथ काफी उग्र रूप में थी । एक अन्य रोगी में, एबोमेसम की श्लेष्मल झिल्ली में ऐक्टिनोमाइसीज् नेक्रोफोरस की छूत ने निकट के रूमेन की दीवाल को 3 इंच फाड़ दिया था जिससे उदर-झिल्ली-शोथ उत्पन्न हुई । इसे अभिघातज आमाशय शोथ निदान किया गया । एबोमेसम में घाव के होने तथा नाभि के ऊपर फोड़ा बनने के परिणामस्वरूप होने वाली दीर्घकालिक आसंजक उदर-झिल्ली-शोथ (chronic adhesive peritonitis) गायों में देखी गई । ईवलेथ और हिल्सटन[1] (Eveleth and Hil ston) ने पविल रोग में अँतड़ी के फटने के कारण उत्पन्न, भेड़ों में उदर-झिल्ली-शोथ का वर्णन किया । एक घोड़े में, उदर-तली के ऊपर एक पुराने फोड़े के कारण कोलन का उरोस्थि वंक (sternal flexure) फट गया था तथा उसे 106° फारेनहाइट बुखार था । उदर-झिल्ली-शोथ में मूत्राशय भी फट जाता है ।

विकृत शरीर रचना—दीर्घकालिक परिगत उदर-झिल्ली-शोथ जो एक अधिकतर होने वाली अवस्था है; पुरानी अभिघातज आमाशय-शोथ, अच्छी होती हुई गर्भाशय-शोथ तथा आपरेशन किए हुए एवं ट्रोकार के घुसेड़ने से उत्पन्न घाव जो पेरिटोनियम तक पहुंच जाते हैं, आदि अवस्थाओं में पाई जाती है । उग्र परिगत उदर-झिल्ली-शोथ; अँतड़ी

की ऐंठन तथा ऐसे ही अन्य स्थानान्तरणों के बाद हुआ करती है। दीर्घकालिक विसृत उदर-झिल्ली-शोथ विशिष्ट पुराने रोगों, विशेषकर क्षयरोग और कभी-कभी अभिघातज आमाशय-शोथ के परिणामस्वरूप होती है। अभिघातज आमाशय-शोथ, कास्टिक विषों से होने वाली छिद्रिल आमाशय-शोथ, गर्भाशय शोथ तथा अन्य उग्र सामान्य संक्रमणों के साथ इसके उग्र विसृत प्रकोप हुआ करते हैं।

बीवर[2] (Beaver) के ऐक्टिनोमाइकोसिस से मरे हुए एक रोगी में ओमेण्टम रूमेन से चिपका हुआ था और उसमें 1-3 मि० मी० व्यास की अनेक गाँठें थी। उनके ऊपर सफेद पदार्थ जमा होकर वे एक मोटे तथा सख्त कैप्सूल से ढकी हुई थी। गायों की क्षय-युक्त उदर-झिल्ली-शोथ में अनेक छोटी-छोटी कैलसीकृत ग्रंथियों से ओमेण्टम एक समान मोटा हो सकता है, बाह्य पेरिटोनियम तथा रूमेन के ऊपर अनेक अभिलाग एवं ग्रंथियाँ विकसित हो सकती हैं। अण्डाणु-नाल-शोथ (salpingitis) इसके साथ अक्सर होने वाला क्षतस्थल है और बाद में सामान्य क्षय रोग होना स्वाभाविक है।

ऊति गलन (नेक्रोबैसिलोसिस) में पेरिटोनियल-गुहा में पीला सीरम भरा होता, बहुविकसित अभिलाग होते और एक रोगी में अंतड़ियाँ एक पीले चिपचिपे पदार्थ से आच्छादित थीं। यह अवस्था प्रायः फुफ्फुस अभिलागों के साथ हुआ करती है। ओमेण्टम एक विशेष प्रकार का बादामीपन लिए हुए पीले रंग का दिखाई पड़ता है।

लक्षण—उग्र परिगत उदर-झिल्ली-शोथ, जैसी कि यह अभिघातज आमाशय-शोथ में हुआ करती है, उसी शीर्षक के अन्तर्गत वर्णन की गई है। गायों में इसके निम्नलिखित दो उग्र विसृत प्रकार हैं जो एक दूसरे से बहुत ही मिलते-जुलते हो सकते हैं–प्रसूतिक (puerperal) और अभिघातज। पहली अवस्था बढ़े हुए गर्भकाल अथवा ब्याने के साथ हुआ करती है। प्रसूति प्रकार का आक्रमण प्रायः एकाएक होता है। रोगी पशु के शरीर में थोड़ी-बहुत अकड़न होती तथा वह चलना-फिरना नहीं चाहता। क्षतिग्रस्त गर्भाशय में छेद होने से तीन दिन में पशु की मृत्यु हो जाती है, जबकि रेटिकुलम में छेद होना 10 से 14 दिन बाद प्राणघातक सिद्ध होता है। दोनों में; सुस्ती, शारीरिक क्षीणता तथा जमीन पर बैठे रहने का स्वभाव जैसे लक्षण देखने को मिलते हैं। नाड़ी तेज चलती, श्वास हल्की तथा अनियमित होती तथा कुछ को छोड़कर अधिकांश रोगियों में तापक्रम सामान्य रहता अथवा थोड़ा बुखार होता है। दर्दयुक्त दयनीय दशा तथा उदर के ऊपर थपथपाने से दर्द होना, सदैव उपस्थित रहता है। घोड़े की उदर-झिल्ली-शोथ में नाड़ी-गति तथा तापक्रम धीरे-धीरे बढ़ता है।

कुछ तीव्र तथा दीर्घकालिक प्रकारों में (नेक्रोबैसिलोसिस, ट्यूबर्कुलोसिस, रेटिकुलम में छेद हो जाना) युवा ढोरों में तेज बुखार तथा तीव्र नाड़ी-गति जैसे लक्षण नेक्रोबैसि-लोसिस का सूचक हैं। गायों में आन्त्रान्त्र प्रवेश को भी उदर-झिल्ली-शोथ निदान किया जा सकता है। घोड़े की उदर-तली में छेद हो जाने से सुस्ती, पसीना आना, कमजोरी, दबी हुई लहरी-गति, तेज नाड़ी, हल्का श्वास तथा कुछ-कुछ बुखार जैसे लक्षण प्रकट होते हैं। यह एक प्रचलित धारणा है कि अपच रहने वाले घोड़ों तथा ढोरों में उदर-झिल्ली-शोथ

होना स्वाभाविक है। किन्तु शव-परीक्षण की समीक्षा यह प्रदर्शित करती है कि घोड़ों की मृत्यु विशेषतया आमाशयिक तनाव अथवा कोलन के गुम्ब हो जाने तथा फट जाने से होती है और ढोर प्रायः जठर-आमाशय-शोथ के कारण मरते हैं। गर्भाशय-शोथ तथा अभिघातज उदर-झिल्ली-शोथ के कुछ प्रकारों को छोड़कर, इसकी अवधि पर चिकित्सा का कोई प्रभाव नहीं होता।

संदर्भ

1. Eveleth, D. F., and Hilston, N. W., Contributing factors causing death in sheep infested with nodular worms, Vet. Med., 1941, 36, 449.
2. Beaver, D. C., A case of actinomycosis of the omentum, Cornell Vet., 1921, 11, 217.

यकृत के रोग
(DISEASES OF THE LIVER)
पीलिया
(Jaundice)

परिभाषा—शारीरिक द्रवों तथा टिसुओं का बाइल पिगमेंट से रंग कर पीला पड़ जाना, पीलिया कहलाता है। यह अनेक असामान्य अवस्थाओं का लक्षण है। पालतू पशुओं में इसकी दो प्रकार अभी तक पहचानी गई हैं (1) अवरोधक-यकृतीय पीलिया (obstructive hepatic Jaundice) जिसमें बाइलीरूबिन पिगमेंट यकृत कोशाओं से निकल कर पुनः शोषित हो जाता है, (2) विषैली तथा छुतैली यकृतीय पीलिया (toxic and infective hepatic jaundice)

कारण—अवरोधक यकृतीय पीलिया के निम्नलिखित कारण हैं (अ) नलिकाओं में अवाछित पदार्थों, जैसे परजीवी कीट (यकृत फ्लूक, ऐस्केरिस) द्वारा अवरोध उत्पन्न होना, (ब) घोड़ों में कोलन के गुम्फ होने के परिणामस्वरूप उत्पन्न ड्यूओडीनम का प्राइमरी अथवा गौण क्लेश, (स) रसौलियों, ट्यूबर्किला, गायों में यकृत की परिगलित ग्रंथियाँ तथा अन्य कारणों द्वारा नलिका पर बाहर से दबाव पड़ना। विषैली तथा छुतैली यकृतीय पीलिया के प्रमुख कारण निम्न प्रकार हैं (अ) संखिया, सीस, ताम्र अथवा फास्फोरस जैसी रासायनिक विषाक्तता, (ब) यकृत का वसीय अपकर्षण (fatty degeneration of the liver) काला-मूत्र रोग (azoturia), तथा यकृत का सूत्रण-रोग (hepatic cirrhosis) जैसी विषैली अवस्थाएँ, (स) तीव्र अश्व-इनफ्लूएंजा, अश्व-निमोनिया, टेक्सास ज्वर, एनाप्लाज्मोसिस जैसी छुतैली बीमारियाँ, और (द) ब्याने के बाद का रक्त-मूत्र रोग, बैसिलरी रक्त मूत्र रोग तथा अनेक ऐसे प्रकोप जिनमें जल्दी-जल्दी रुधिर सलयन होता है।

लक्षण—त्वचा के सफेद भागों तथा श्लेष्मल झिल्ली का कुछ-कुछ पीला दिखाई देना इस रोग का प्रमुख लक्षण है। अधिकांश पशुओं में यह परिवर्तन नेत्र के सफेद भाग में सर्वोत्तम दिखाई देता है। सुविकसित अवरोधक पीलिया में, जैसा घोड़ों में कोलन के गुम्फ हो जाने में देखा जाता है, पशु का मूत्र, काला-मूत्र रोग की भाँति गहरा अथवा काले रंग का हो सकता है। अन्य लक्षण और इसका फलानुमान प्राइमरी रोग की प्रकृति पर निर्भर होता है। अँतड़ी के क्लेश में पशु अच्छा हो जाता है। छुतैली बीमारियों में पीलिया का आवेग रुधिर सलयन के आवेग को प्रदर्शित करता है। सुअरों में त्वचा का पीला पड़ जाना, उनकी पित्त-वाहिनी में ऐस्केरिस कीटों की उपस्थिति का सूचक है। बोनिक्सन[1] (Bonnikson) द्वारा, अवलोकित एक राग ग्रसित घोड़ी में, जिसकी पित्त-वाहिनी में अनेक लार्वों की उपस्थिति से अवरोध हो गया था, श्लेष्मा हरे रंग की थी। मानव-आयुर्विज्ञान में इस "काली पीलिया" (black Jaundice) कहा जाता है। आमतौर पर पीलिया के आवेग का रोग की उग्रता के साथ परोक्ष सम्बन्ध है। यकृत की बीमारी में शीघ्र होने वाले विस्तृत

परिवर्तन पीलिया उत्पन्न करते हैं जबकि उसी प्रकार की अधिक परिगत तथा कम क्रियाशील प्रक्रिया से रंगहीनता उत्पन्न नहीं होती। रंग, नीबू जैसा हल्का पीला से लेकर गहरा नारंगी तक हो सकता है। गायों में यकृत के वसीय अपकर्षण, यकृत-फ्लूक तथा सूजन-रोग जैसी यकृत की भीषण बीमारियों में यह अवस्था अति उग्र होती है। पालतू पशुओं में पीलिया तथा मस्तिष्क के मिले-जुले लक्षण यकृत का प्राइमरी रोग प्रकट करते हैं।

बाउटन और हार्डी[2] (Boughton and Hardy) द्वारा वर्णित, भेंड़ में दीर्घकालिक कॉपर विपाक्तता के निम्नलिखित लक्षण थे : हालत का गिरना, काँपना, पीलिया, 120 से 160 नाड़ी गति, 40 से 60 श्वसन तथा नार्मल तापक्रम (120 से 104)। पशु की नाक से काफी मात्रा में रक्त एवं श्लेष्मायुक्त स्राव गिरता था तथा मूत्र का रंग शराब जैसा था। चौबीस से अड़तालीस घंटे के अन्दर रोगी की मृत्यु हो गई। यह अवस्था काफी समय तक लगातार थोड़ी-थोड़ी मात्रा में तूतिया, नमक तथा तम्बाकू की भस्म युक्त एक व्यवसायिक खनिज मिश्रण खाने के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई थी।

आस्ट्रेलिया में चैम्बर्लिन[3] (Chamberlin) ने सन् 1933 में तथा रोज़ और एडगर[4] (Rose and Edger) ने सन् 1936 में भेंड़ों तथा ढोरों में रक्तविपाक्तित पीलिया को एक अद्भुत प्रकार का वर्णन किया। हीमोग्लोबीन रक्तता, तथा हीमोग्लोबिन मेह के साथ भीषण पीलिया होना इसकी विशेषताएँ थी। भेंड़ तथा ढोर दोनों की अँतड़ी से रुधिर संलायी विषैला छनित प्राप्त किया गया। क्ला० वेल्चाइ, प्रकार 'ए' की छूत द्वारा उत्पन्न होने वाली इसे एक रक्तान्त्र-विपाक्तता माना गया।

संदर्भ

1. Bonnikson, H. P., Bile and uremic poisoning in a mare due to the larvae of Gastrophilus equi, Cornell Vet,. 1916, 6, 218.
2. Boughton, I. B., and Hardy, W. T., Chronic Copper Poisoning in Sheep, Texas Agr. Exp. Sta. Bull. 499, 1934.
3. Chamberlin, W. E., The blood picture in acute cases of enzootic toxaemic jaundice in sheep, Aust. Vet. J., 1933, 9, 2.
4. Rose, A. L., and Edgar, G., Enterotoxaemic jaundice of sheep and cattle, Aust. Vet. J., 1936, 12, 212.

यकृत का वसीय अपकर्षण

(Fatty Degeneration of the Liver)

यकृत का प्राथमिक वसीय अपकर्षण यदा-कदा शुद्ध नस्ल की अच्छी खिलाई हुई तथा अधिक दूध देने वाली गायों में देखने को मिलता है। इसके लक्षण धीरे धीरे विकसित होते हैं। पशु के बार बार सुस्त रहने का इतिहास मिलता है। चरागाह पर और विशेषकर जब मौसम कुछ गर्म हो, पशु एकदम सुस्त तथा सोता हुआ सा दिखाई पड़ता है। अंत में वह कुछ पागल जैसा प्रतीत होता है। पशुशाला में बंधे हुए स्थान पर वह अनैच्छिक रूप से एकाएक पीछे की ओर गिरता है अथवा कुछ अन्य ऐसे ही उन्माद जैसे विलक्षण लक्षण प्रकट करता है। गर्म पशुशाला में बंधे रोगी में ऐंठन, सिर को इधर-उधर फेंकना,

अनैच्छिक रूप से मारना, तथा उठने में कष्ट होना आदि अवसन्नता के लक्षणों के साथ चेतन शक्ति का अभाव मिलता है।[1] टाउनसेंड[2] (Townsend) द्वारा वर्णन किए गए एक रोगी में रोग का आक्रमण दुग्ध-ज्वर की भाँति था। इसके बाद पशु में लार गिराना, भूख न लगना तथा यकृत के ऊपर थपथपाने से दर्द होना आदि लक्षण देखे गए। श्लेष्मल झिल्लियों का पीला पड़ जाना तथा जल्दी-जल्दी हालत का गिरना इसके सामान्य लक्षण हैं। नाड़ी-गति तथा तापक्रम कुछ अनियमित हो सकता है किन्तु पशु को खूब बुखार नहीं होता। इसकी अवधि कई सप्ताह की है जिसके अन्तर्गत रोगी की दशा एकान्तरतः अच्छी और बुरी हो सकती है। अधिकतर यह रोग प्राणघातक है और चिकित्सा से कोई विशेष लाभ नहीं होता। पीलिया तथा अवसन्नता के लक्षणों पर इसका निदान आधारित होता है। जब यकृत अधिक बढ़ जाता है तो थपथपाने से बढ़ा हुआ भद्दा क्षेत्र महसूस किया जा सकता है अथवा पशु के मलाशय में हाथ डालकर उसकी बढ़ी हुई आकार को पहचाना जा सकता है।

चित्र—36. अगले पैरों की असाधारण स्थिति तथा सुस्ती जैसे लक्षण प्रदर्शित करता हुआ यकृत के वसीय अपकर्षण से पीड़ित एक रोगी पशु। फोटोग्राफ लेने से कुछ मिनट पूर्व गाय के शरीर में रुक-रुक कर कृन्तक ऐंठन होती थी तथा वह अर्धचेतनावस्था में एक गर्म पशुशाला में पड़ी थी। जब उसे हटाकर एक ठंडे स्थान पर ले जाया गया तो वह उठकर खड़े होने योग्य हो गई। इसके कई सप्ताह बाद उसकी मृत्यु हो गई। कुछ वर्षों बाद उसी फार्म पर ऐसा ही एक अन्य रोगी देखने को मिला।

विकृत शरीर रचना—यकृत बहुत बढ़ जाता है। टाउनसेन्ड के रोगी में इसका भार 45 पौण्ड था। साथ ही वह अपकर्षित होकर रंग में अति पीला पड़ गया था। श्लेष्मल झिल्लियाँ तथा आन्तरिक वसा पीला दिखाई देता है। हिस्टॉलॉजिकल परीक्षण करने पर यकृत कोशाओं में भीषण वसीय अपकर्षण मिलता है।

संदर्भ

1. Cushing E. R., Acute fatty degeneration of liver, cornell Vet., 1926, 16, 64.
2. Townsend, J. G., Fatty degeneration of the Liver in a cow, Cornell Vet., 1920, 10, 255.

संक्रामक यकृत शोथ

(Infectious Hepatitis)

परिभाषा—घोड़ों में उग्र संक्रामक यकृतशोथ प्रायः टीका लगने के बाद तथा कभी कभी स्वतः प्रकोप करने वाली बीमारी है जो पीलिया, उन्माद, चक्कर काटना तथा बेहोशी जैसे लक्षणों से पहचानी जाती है। 24 से 48 घंटे में रोगी की मृत्यु हो जाती है।

कारण—घोड़ों में प्राणघातक यकृतशोथ का सर्वप्रथम सन् 1918 में दक्षिणी अफ्रीका में थीलर[1] (Theiler) द्वारा वर्णन किया गया जहाँ इसे "लड़खड़ाना रोग" (staggers) कहा गया। यहाँ यह बीमारी "अश्व रोग" (horse sickness) के प्रति सीरम अथवा वैक्सीन का टीका देने, अथवा "लड़खड़ाना" रोग से पीड़ित घोड़े के यकृत पायस का टीका देने, अथवा "लड़खड़ाना रोग" वाइरस के प्रतिरक्षी घोड़े के रक्त का टीका देने से फैली। यूनाइटेड स्टेट्स में सन् 1933 में उटह में मैडसेन[2] (Madsen) द्वारा बचाव के लिए ऐंटि इन्सेफैलोमाइलाइटिस सीरम के प्रयोग करने के बाद सर्वप्रथम यह रोग रिपोर्ट किया गया। सन् 1936 में मांटेना से मार्श[3] (Marsh) द्वारा ऐसी ही रिपोर्ट मिली जहाँ 2 घ० सें० गिनी-पिग मस्तिष्क टिशू तथा 50 घ० सें० ऐंटि इन्सेफैलोमाइलाइटिस सीरम के प्रयोग से 5000 से अधिक घोड़ों के टीका लगाये गए। टीका लगाने के बाद 40 से 70 दिन के अन्दर 89 पशु बीमार हुए जिनमें से 79 की मृत्यु हो गई। घोड़ों में संक्रामक मस्तिष्क शोथ के भीषण प्रकोप के बाद अनेक क्षेत्रों में इसकी छूत फैलती रिपोर्ट की गई और यह सदैव उन्हीं क्षेत्रों तक सीमित रही जहाँ पहली बीमारी का प्रकोप हो चुका था। कुछ ऐसे भी पशुओं में यह रोग देखने को मिला जिनको कोई भी टीका आदि न दिया गया था तथा कुछ मस्तिष्क शोथ से अच्छे हुए रोगी भी इसका शिकार हुए—शाहान आदि[4] (Shahan et al)।

पुनः सन् 1940 में टेटनस ऐंटिटॉक्सिन के प्रयोग के बाद न्यूयार्क में विभिन्न क्षेत्रों से यह बीमारी रिपोर्ट की गई तथा एक लेखक ने चरागाह पर चरने वाले एक बछड़े में एकाएक इस रोग का प्रकोप होते देखा, जहाँ इसे पागलपन निदान किया गया। प्रयोगशाला परीक्षण द्वारा इन आक्रमणों को पागलपन से अलग पहचाना गया और टेटनस ऐंटिटॉक्सिन के रूप में दी गई बाह्य प्रोटीन को इसका कारण बताया गया। आधुनिक रिपोर्टों से पता चला है कि विभिन्न प्रतिरक्षक पदार्थ पाने वाले दौड़ में भाग लेने वाले घोड़ों में यह बीमारी शून्य होती है। एक अप्रकाशित रिपोर्ट के अनुसार थॉस घोड़ी को दिया गया गाभिन घोड़ी के सीरम का टीका, संक्रामक यकृत-शोथ का कारण बना।

लक्षण—थीलर[1] (Theiler) द्वारा रिपोर्ट किये गए सुस्ती, पैरों का लड़खड़ाना, असन्तुलित चाल, चारे में अनिच्छा, सिर को नाद के सहारे रखना तथा विशेष प्रकार से

घूरना आदि इसके प्रारम्भिक लक्षण थे। बहुधा कन्जक्टाइवा की श्लेष्मल झिल्ली पीली दिखाई देती है तथा पशु का तापक्रम नार्मल अथवा इनसे भी कम रहता है। बाद में शूल वेदना, बार-बार पेशाब होना और अत्यधिक पसीना निकलना आदि उग्र लक्षण दिखाई देते हैं, किन्तु अधिकतर यह प्रारम्भ से ही मौजूद रहते हैं और जल्दी ही बेगमान हो जाते हैं। जोर लगाकर लगातार आगे बढ़ने का प्रयास करना इस बीमारी का प्रधान लक्षण है। दीवाल या घुड़साल के कोने में घोड़ा अपना सिर रखकर अत्यधिक जोर लगाता है तथा कभी-कभी अचेत होकर गिर जाता है। गिरने के बाद वह लगातार तेजी से उठने का प्रयास करता है। ऐसा करने से उसका सिर अनेक स्थानों पर कट तथा छिल जाता है। खुले मैदान अथवा चरागाह में घोड़ा बिना कुछ देखे भाले आगे बढ़ता अथवा चक्कर काटता है जहाँ चहार-दीवारी के काँटेदार तारों अथवा अन्य अवरोधक पदार्थों से टकराकर वह गिर सकता है। तत्पश्चात् वह उठने के तीव्र प्रयास करता तथा अपने सिर को जमीन पर पटकता है। उसका मुँह खुल जाता तथा जीभ बाहर निकल आती है। अन्त में पशु को साँस लेने में कठिनाई होती है तथा बीमारी की पूरी अवधि में अत्यधिक पसीना निकलता है। कुछ रोगियों में मूर्छा जैसे लक्षण दिखाई पड़ते हैं तथा निद्रावस्था के अवकाश के बाद पशु व्यग्रता के लक्षण प्रकट करता है। कुछ को छोड़कर अधिकांश रोगी प्रारम्भ से ही चारा खाना तथा पानी पीना छोड़ देते हैं। लेखक द्वारा देखे गए एक रोगी में, कुछ समय के लिए पशु बिल्कुल शान्त हो गया, उसने दाना खाया तथा पानी पिया और फिर लगातार गति करने लगा, जो मृत्यु के कुछ मिनट पहले तक रही। थीलर[1] ने कुछ कम उग्र अर्धमूर्छित अवस्था का वर्णन किया जिसमें पशु अपना सिर लटकाकर, पैरों का क्रास करके अथवा दूर-दूर फैलाकर, तथा आँखें आधी बन्द करके चुपचाप खड़ा रहता है तथा चलाने पर वह लड़खड़ाता है। नाड़ी-गति लगभग अन्त तक सामान्य रहती है। उन्माद के साथ तेज अनियन्त्रित गति तथा पीलिया होना इसके प्रधान लक्षण है। अच्छे होने वाले रोगियों में लक्षण कुछ कम उग्र होते हैं। जैसा कि मोंटेना में देखा गया, मस्तिष्क शोथ के सुप्तावस्था जैसे लक्षणों के विपरीत, इसका प्रमुख लक्षण उत्तेजना था और मृत्युदर 90 प्रतिशत थी। रोग-ग्रसित पशु लगातार चलते तथा मार्ग में आने वाले पदार्थों, जैसे बाड़ आदि, में धक्का मारते थे। कँपकपाना, दिखाई न देना, अत्यधिक पसीना आना तथा बुखार का न होना इसके अन्य लक्षण थे। श्लेष्मल झिल्लियाँ पीली पड़ गई थीं और रोग के प्रारम्भ में कभी-कभी मूत्र के साथ खून भी आता देखा गया।

रोग विज्ञान—अस्वाभाविक रूप से एकाएक मरने वाले अथवा जहाँ मूर्छावस्था प्रधान रही हो उन पशुओं को छोड़कर, सभी रोगियों के सिर पर घाव तथा खुरेंच मौजूद मिलती है। साथ ही मैदान पर मरने वाले घोड़ों में तारों से कटे-फटे सामान्य घाव मिलते हैं। मुँह तथा आँख की श्लेष्मल झिल्लियाँ पीली पड़ जाती हैं तथा जीभ के काटने पर वह अस्वाभाविक रूप से पीली दिखाई देती है। बड़ी शारीरिक गुहाओं की सीरस झिल्लियाँ पीली हो सकती हैं, किन्तु उनसे स्राव नहीं होता। लसीका ग्रंथियाँ सूजकर लाल हो जाती हैं और उनसे रक्त बहता है। हृदय की भीतरी पर्त तथा कपाट पीलापन प्रदर्शित कर सकते हैं। यकृत में प्रमुख परिवर्तन पाए जाते हैं। यह आकार में छोटा अथवा सामान्य हो सकता है।

इसकी प्रकार प्राय: सुदृढ़ रहती है किन्तु कभी-कभी मुलायम अथवा सहज में टूटने वाली भी हो जाती है। यकृत का रंग हल्का बादामी अथवा हल्का पीला या कभी-कभी काला होता है। इसका आवरण गर्तयुक्त दिखाई पड़ता है। माइक्रास्कोप में देखने पर पिण्डिका के बीच वाले भाग में बीच की शिरा के चहुँतरफा टूटे-फूटे यकृत कोशा दिखाई पड़ते हैं। बहुत सी पिण्डिकाएँ ऐसी मिलती हैं जिनमें यकृत कोशाओं को पहचाना ही नहीं जा सकता। कुछ ऐसी परिवर्तनशील अवस्थाएँ दिखाई पड़ती है जिनमें कुछ पिण्डिकाओं के सभी कोशाओं में वसीय विघटन होता तथा कुछ में थोड़ा अथवा बिल्कुल ही वसा नहीं रहता। संक्षेप में; सामान्य रूप से पीलिया होकर, यकृत कोशाओं का अपक्षय, रंजकता (pigmentation), वसीय विघटन और हृदय के मांसल आवरण तथा मांस-पेशियों का वसीय अपकर्षण होता है।

संदर्भ

1. Theiler, Sir Arnold, Acute liver atrophy and parenchymatous hepatitis in horses, 5th and 6th Reports, Director of Veterinary Research, Union of S. Africa, 1918.
2. Madesn, D. E., Equine encephalomyelitis, Utah Academy of Science, Arts and Letters, 1934, 11, 95.
3. Marsh, Hadleigh, Losses of underermined cause following an outbreak of equine enccephalomyelitis, J. A.V.M.A., 1936, 91, 88.
4. Shahan, M. S., Giltner, L. T., Davis, C. L., and Huffman, W. T., Secondary disease occurring subsequent to infections encephalomyelitis, Vet. Med., 1939, 34, 354.

यकृत का सूत्रण-रोग

(Cirrhosis of the Liver)

(दीर्घकालिक उत्पादक अंतरालीय यकृत शोथ)

परिभाषा—संयोजी ऊतक के बढ़ जाने के साथ यकृत कोशाओं का अपक्षय होकर इस अंग का आकार बढ़ जाना अथवा घट जाना यकृत का सूत्रण रोग है। संसार में प्रकोप करने वाली इसकी स्थानिकमारी प्रकारों पर प्रमुख ध्यान दिया गया है, किन्तु अज्ञात कारण वश इसकी एकाएक प्रकोप करने वाली अवस्थाएँ मिलना भी अस्वाभाविक नहीं है। पीलिया, अर्ध मूर्छावस्था तथा प्रेरक उत्तेजना द्वारा इसे पहचाना जाता है।

कारण—सन् 1892 में श्रोइडर[1] एवं स्मिथ[2] (Schroeder and Smith) ने यकृत के सूत्रण-रोग का निचली मिसौरी घाटी के क्षेत्र के घोड़ों में वर्णन किया। यह बीमारी वहाँ चरागाह पर चराए गए घोड़ों में गर्मी के अन्त तथा पतझड़ की ऋतु में अनेक वर्षों से प्रकोप करती देखी गई है। इसका कारण अज्ञात है। सन् 1925 में कैल्कस[3] (Kalkus) और अन्य लोगों ने यकृत के सूत्रण-रोग का उत्तरी पश्चिमी पैसिफिक क्षेत्र के घोड़ों में "टहलना रोग" (Walking disease) कहकर वर्णन किया है। रोग-ग्रसित क्षेत्र बहुत ही ऊँचाई पर थे तथा रोग का प्रकोप शुष्क मौसम में हुआ जिसके बाद

घोडों को सूखे ठूठा तथा भूसा के ढेरो पर जीवित रहना पडा। आगे वाली वसत ऋतु में अनेक रोगी देखे गए और अन्त में पतझड की ऋतु में वे अदृश्य हो गए। सन् 1893 में जॉन्सन[4] (Johnson) ने नोवा स्कोटिया में चरागाह पर चरने वाले ढोरा में यकृत के सूत्रण-रोग के एक प्रकोप को, "पिक्टाउ ढोर रोग" (Pictou cattle disease) के रूप में वर्णन किया, जहाँ किसानो ने इसे रैंगवर्ट (ragwort) के खाने के फलस्वरूप होता बताया। सन् 1900 में गिल्रुथ[5] (Gilruth) ने न्यूजीलैंड के घोडो तथा ढोरों में यकृत सूत्रण रोग को "विंटन रोग" (Winton disease) कह कर वर्णन किया। यहाँ भी इसका कारण एक पौधा (ragwart) ही बताया गया, तथा गिल्रुथ ने इसे खिलाकर प्रयोगात्मक रूप से 6 माह की आयु वाले दो बछडो में इस रोग को उत्पन्न किया। सन् 1906 में राबर्ट्सन[6] (Robertson) ने केप कालोनी (Cape Colony) में चरागाह पर चरने वाले घोडो तथा ढोरो में दीर्घकालिक अपक्षयिक यकृत सूत्रण रोग "आमाशय विषमता" (stomach staggers) की उपस्थिति को रिपोर्ट किया और उन्होंने भी रैंगवर्ट (ragwart) खिलाकर इस बीमारी को उत्पन्न किया। न्यूयार्क के एरी प्रदेश की टोनावैंडा क्रीक घाटी में, प्रत्येक जाडे की ऋतु में घोड़े अति विस्तृत सूत्रण-रोग से पीडित हुए। केवल उन्ही घोडों को यह रोग हुआ जिनको अधिक मात्रा में एक प्रकार की तिपतिया घास (alsike clover) खिलाई गई थी और कुछ रोगी न्यूयार्क में यत्र तत्र इथाका के आस-पास भी मिले। सन् 1929 में वैन एस[7] (Van Es) तथा अन्य ने उत्तरी पश्चिमी नेब्रास्का में "टहलना रोग" (Walking disease) पर एक रिपोर्ट प्रस्तुत की जहाँ कि जून और जुलाई के महीनो में घोडों तथा किसी हद तक ढोरो में इससे काफी क्षति हुई। इसका कारण सेनेकिओ रिडेल्ली (Senechio Riddelli) नामक घास का खाना सिद्ध हुआ। कनाडा, ओन्टैरियो में चिकनी मिट्टी में उगाई गई तिपतिया घास (alsike clover) खिलाने पर उत्पन्न यकृत का सूत्रण-रोग स्कोफील्ड[8] द्वारा वर्णन किया गया। मुर्नेन और ईवर्ट[9] (Murnane and Ewart) ने सफेद फर (Atalaya hemiglauca) से उत्पन्न यकृत सूत्रण-रोग को रिपोर्ट किया, जिसमें कि सैपोनिन एक विषैला पदार्थ सिद्ध हुआ। फ्लोरिडा में क्रोटेलेरिया स्पेक्टेबिलिस (Crotalaria Spectabilis) खाने से उत्पन्न बैलो में यकृत सूत्रण राग का सैंडर्स[10] और उसके साथियो ने वर्णन किया। मक्कुलच[11] (McCulloch) ने पीले टारवीड (ऐम्सिन्किया इन्टरमीडिया) के बीजा को स्थानीय यकृत सूत्रण रोग का कारण बताया। इसे घोडा का टहलना रोग तथा सूकर और ढोरो का कठोर यकृत-रोग कहते हैं और यह उत्तरी पश्चिमी प्रशान्त महासागर के कुछ क्षेत्रो में होता है।

विकृत शरीर रचना—रोग के अति भीषण प्रकोप में यकृत का रग लालमी लिए हुए पीला अथवा कांसे जैसा हो जाता है तथा छूने से वह शीघ्र टूट जाता है। न्यूयार्क की टानावैंडा क्रीक घाटी के रोग-ग्रसित घोडा के बढे हुए तथा टूटने वाले यकृत 50 पौण्ड तक के भार के थे। अपक्षयिक अवस्था में यकृत का रग धूसर अथवा नीला होता है तथा छूने से यह सख्त एव चिकना प्रतीत होता है। वैन एस के अनुसार, "पैरेन्काइमा का अपक्षय तथा सयोजी ऊतकों की टूट-फाट होना विकृतता के प्रमुख लक्षण है। इनमें से कोई भी प्रधान

हो सकता है, किन्तु हमारे अवलोकन यह प्रदर्शित करते हैं कि वे पैरेंकाइमेटस विषाक्तता जैसे एक प्रारम्भिक कारक के साथ एक ही समय में विकास करते हैं। उन रोगियों में जो कि ऋतु के अंत में होते अथवा जो कई माह तक जीवित रहते हैं, अंतरालीय क्षतस्थल सबसे प्रमुख होते हैं।"

लक्षण—विकीर्ण अवस्था को उत्पन्न करने के अनेक कारणों के कारण, इस रोग के लक्षण भी भिन्न होते हैं। फिर भी, यदि रोगी का भलीभाँति अवलोकन किया जाए तो पीलिया तथा नाड़ी मंडल संबंधी लक्षण लगभग सदैव उपस्थित दिखाई पड़ते हैं। शनैः-शनैः शारीरिक क्षीणता, चारे में अरुचि, कमजोरी, बिना किसी प्रत्यक्ष कारण के दस्त आना तथा अपच व शूल वेदना का इतिहास मिलता है। युवा पशु प्रायः इसका अधिक शिकार होते हैं। प्रारम्भ में पीलिया मौजूद होती है, किन्तु बाद में यह अदृश्य हो जाती है। बुखार प्रायः नहीं होता, फिर भी कुछ रोगियों में 106° फारेनहाइट तक तापक्रम देखा गया है। मस्तिष्क के लक्षणों में, सुस्ती, तन्द्रा अथवा उन्मादता के साथ स्तबल को तोड़ना-फोड़ना जैसे अचेतनता के अनेक लक्षण शामिल हैं। माँस पेसियों की ऐंठन, बिना किसी प्रयोजन के चलना व चक्कर काटना तथा सिर को दीवाल आदि से टकराना आदि प्रेरक उत्तेजना के लक्षण भी विकसित हो सकते हैं। अधिक दिन के रोगियों में पक्षाघात विकसित हो सकता है। घोड़ा टखने से लगड़ाता अथवा पिछले धड़ से कमजोर हो जाता है। उसे निगलने में कष्ट होता है। वह बैठ जाता तथा कठिनता से उठ पाता है। कैल्कस[3] के अनुसार वह नाँद तथा बाड़ को चबाता है। यकृत के अधिक बढ़ जाने पर थपथपाने पर भद्दे क्षेत्र पहचाने जा सकते हैं तथा रेक्टम में हाथ डालकर परीक्षण करने पर दाहिनी ओर कमर के निचले क्षेत्र में बढ़े हुए सख्त यकृत का मोटा पिछला किनारा महसूस किया जा सकता है। मस्तिष्क-शोथ की भाँति लक्षण प्रकट करने वाली उग्र सेनेकियो विषाक्तता को नेब्रास्का के घोड़ों में कार्पेंटर[12] ने वर्णन किया। पीलिया, उत्तेजना, बेहोशी, लटके हुए होंठ तथा कुछ रोगियों में बुखार आदि इसके लक्षण थे।

एक उदाहरण में, चल-चिकित्सालय में चिकित्सा किए गए एक 2 वर्षीय बछेड़े में पक्षाघात विकसित हुआ जिसे मानसिक रोग के फलस्वरूप उत्पन्न होता समझा गया। पशु के जीवन काल में यकृत रोग का अनुमान भी न किया गया। एक दूसरे रोगी का कोलन की अवरुद्धता के लिए बार बार इलाज किया गया। एकान्तर रूप से होने वाले दस्तों का मल चिकनी मिट्टी की भाँति था। पशु की अँतड़ी से निकला हुआ पदार्थ श्वेत-दस्त रोग से पीड़ित बछड़े के मल से मिलता-जुलता था। रोग के प्रारम्भ में पीलिया होना तथा पशु का कुछ समय के लिए सुस्त रहना यकृत-रोग के निदान की ओर ले गया। लगभग आठ माह बाद, कोलन के गुम्ब होने तथा फटने से पशु की मृत्यु हो गई। लाश चीर कर देखने पर यकृत का सूत्रण रोग एक प्राइमरी बीमारी के रूप में मिला। इस बीमारी की अवधि कई सप्ताह अथवा महीनों की है और यह बहुधा बार बार प्रकोप करती है।

चिकित्सा—इस रोग का कोई भी आशातीत इलाज नहीं है। राबर्ट्सन[6] के अनुसार केप कालोनी में इस रोग की स्थानीय अवस्था को पशु को शीघ्र बाँधकर तथा अधिक खिलाकर ठीक किया जा सकता है। रोग के हल्के प्रकोप में शीघ्र पाचक खुराक

के साथ शीरा और कभी-कभी टानिक पदार्थ व खनिज लवण देकर हालत में सुधार हो सकता है।

सदर्भ

1 Schroeder, E C, "Bottom disease" among horses in South Dakota, 8th and 9th An Reports, U S B A I, 1891-92, p 371
2 Smith, T, Cirrhosis of the liver in horses, 12th and 13th An Reports, U S B A I, 1895-96, p 180
3 Kalkus, J W, Trippeer, H A, and Fuller, J R Enzootic hepatic cirrhosis in horses (walking disease) in the Pacific Northwest, J A. V M. A., 1925, 68, 285
4 Johnson, W, Biliary cirrhosis of the liver in cattle, Pictou cattle disease, Proc, U S Vet Med Assoc, 1893, p 120
5 Gi'ruth, J R Cirrhosis of the liver in cattle and horses, Veterinarian, 1900, 73, 309
6 Robertson, Wm, Cirrhosis of the liver in stock in Cape Colony, produced by two species of senechio (Senechio burchelli and S latifolius), J Comp Path and Ther, 1906, 19, 97
7 Van Es, L, Cantwell, L R, Martin, H M, and Kramer, J, On the Nature and Cause of "the Walking Disease" of North Western Nebraska, Univ Neb Agr Exp Sta Res Bull 43, Lincon, 1929
8 Schofield, F W, Enzootic hypertrophic cirrhosis of the liver of the horse caused by the feeding of alsike clover, Report of the Ontario Veterinary College, 1932, p 31
9 Murnane, D, and Ewart, A. J. Kimberley Horse Disease (Walk About Disease), Commonwealth of Australia, Council for Scientific and Industrial Research, Bull No 36, Melbourne, 1928
10 Sanders, D A., Shealy, A L, and Emmel, M W, Pathology of Crotalaria spectabilis Roth poisoning in cattle, J A. V M A., 1936, 89, 150
11 McCulloch, E C, Hepatic cirrhosis of horses, swine, an cattle due to the ingestion of seeds of the tarweed (Amsinckia intermedia), J A. V M A, 1940, 96, 5
12 Carpenter, P T, Acute Senechio poisoning, Veterinary Bull sup to the Army Med Bull, 1938, 32, 33

यकृत की चयाचयता

(Necrobacillosis of the Liver)

(परिगलित यकृतशोथ)

यकृत के परिगलन में उस पर 1/2 से 2 इंच व्यास के गोल, सूखे, दादामीपन लिए हुए पीले चकत्ते फैले हुए दिखाई पड़ते हैं। जब रोग लक्षण उत्पन्न करने हेतु काफी बढ़ चुका होता है तो फेफड़ों का परिगलन और उदर झिल्ली शोथ भी देखी जाती है और कुछ रोगियों में प्लीहा, गुर्दे, हृदय तथा अन्य टिशू भी क्षतिग्रस्त मिलते हैं।

कारण—ऐक्टीनोमाइसीज नेक्रोफोरस "बैसिलस नेक्रोफोरस" नामक जीवाणु इसका विशिष्ट कारण है। इसकी छूत रुधिर परिवहन द्वारा शरीर में प्रवेश पाती है तथा व्यक्तिगत रोगियों का अध्ययन किसी हद तक इस निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि यह जीवाणु गर्भाशय शोथ, पैर की सड़न अथवा गर्भनाल की छूत के फलस्वरूप रक्त में पहुँचता है।

विकृत शरीर रचना—यकृत में थोड़ी परिगलित फुंसियाँ कोई प्रत्यक्ष क्षति नहीं पहुँचातीं। यह कभी-कभी अन्य बीमारी से मरे पशुओं में भी पाई जाती हैं। छूत से मरने वाले पशुओं में पेरिटोनियल अभिलाग सामान्य तौर पर उपस्थित होते हैं तथा उग्र उदर-झिल्ली-शोथ भी मिल सकती है। कभी-कभी यकृत बढ़ भी जाता है। इसकी सतह पर एक इंच अथवा अधिक व्यास वाले अनेकों गोल, उठे हुए, गहरे-पीले क्षेत्र होते हैं। यह ग्रंथियाँ यकृत की पूरी सतह पर फैली हुई होती हैं। काटने पर इनमें एक पतला सा आवरण तथा एक समान चिकनी मिट्टी जैसा सूखा पदार्थ भरा मिलता है। ऊतिगलन ग्रंथि के बाहरी किनारे से प्रारम्भ होती है जहाँ कि जीवाणु काफी संख्या में तथा सक्रिय होते हैं। उदर-झिल्ली के नीचे सूजन होना, पित्तवाहिनी पर ग्रंथियों के दबाव से पित्ताशय का पित्तरस से तन जाना; प्लूरा, फेफड़ों, डायाफ्राम, हृदय की मास-पेशियों, प्लीहा और गुर्दों में परिगलित फुंसियाँ तथा मुतान पर घाव होना इसके अन्य दिखाई देने वाले क्षतस्थल हैं।

लक्षण—यह बीमारी ढोरों में अधिक प्रकोप करके उन्हें काफी क्षति पहुँचाती है। घोड़ों तथा भेड़ों में इसका प्रकोप कम होता है। इसका प्रकोप प्रायः विकीर्ण होता है किन्तु यह स्थानीय भी हो सकता है। 2 से 3 वर्ष की आयु के युवा पशु इसका अधिक शिकार होते हैं। गायों में दूध उत्पादन में कमी, हालत का गिरना, तथा दो से दस दिन तक चारे में अरुचि आदि लक्षणों का इतिहास मिलता है। रोग की बढ़ी हुई अवस्था में कराहने, पीठ खलाने, अकड़न तथा पशु के जमीन पर पड़े रहने के लक्षण दिखाई पड़ते हैं। अन्त में चारे में अरुचि होकर शारीरिक क्षीणता के लक्षण प्रकट होते हैं। श्लेष्मल झिल्लियाँ प्रायः अपरिवर्तित रहती हैं, किन्तु जब यकृत के क्षतस्थल जल्दी-जल्दी बढ़ते हैं तो पीलिया हो सकती है। नाड़ी-गति 80 से 100, श्वसन 30–40, तथा तापक्रम 104–106° फारेनहाइट होता है। तेज नाड़ी तथा बुखार नियमित रूप से मौजूद रहता है। यह प्रायः क्षयाक्षयता जीवाणु द्वारा उत्पन्न किए गए विषैले पदार्थ के कारण होता है। रोग के अंतिम काल में तापक्रम गिर सकता है किन्तु, नाड़ी-गति तथा श्वसन बढ़ जाता है। उदर निर्बल, लहरी-गति दबी हुई, तथा गोबर थोड़ा मात्रा में एवं श्लेष्मा से आच्छादित होता है। यकृत के ऊपर थपथपाने से दर्द होता है तथा प्लूरा अथवा पेरिटोनियम के रोग-ग्रसित होने पर दोनों ओर तेज दर्द होता है। फेफड़ों के क्षतस्थलों के कारण साँस तेज चलती, नाक से थोड़ा स्राव गिरता, पशु खाँसता है तथा वक्ष के ऊपर थपथपाने से कभी-कभी दर्द होता है। प्राथमिक लक्षणों के प्रकट होने के बाद इस रोग की अवधि दो से तीन सप्ताह की होती है। अभिघातज आमाशय शोथ के सामान्य लक्षणों के साथ तेज बुखार होना तथा बढ़ी हुई नाड़ी-गति इसके प्रमुख लक्षण हैं। प्रत्यक्ष रूप से मस्तिष्क शोथ से चार दिन पीड़ित रहने के बाद मरने वाली एक गाय में मानसिक लक्षण भी देखे गए। इसमें यकृत

भी अत्यधिक सड़ गया था और पीलिया या तो अनुपस्थित थी अथवा देखने से रह गई थी। चिकित्सा से कोई लाभ नही हुआ। लक्षण प्रकट होने के बाद, लगभग दो सप्ताह के अन्दर रोगी की मृत्यु हो गई।

यकृत का फोड़ा

(Abscess of the Liver)

कारण—निम्नलिखित परिस्थियों में यकृत में फोड़े हुआ करते हैं: (अ) अवांछित पदार्थ के द्वारा परोक्ष रूप से चोट लगकर अथवा पेरिटोनियम से बढ़कर उत्पन्न अभिघातज आमाशय शोथ, यकृत में इसकी छूत फैलाती है। यह छूत केवल एक बड़े फोड़े के रूप में अथवा परस्पर नलिकाओं द्वारा सम्बन्धित अनेक फुंसियों के रूप में हो सकती है।

(ब) भयकर गर्भाशय-शोथ, अयनशोथ तथा नाभि-रोग में मितस्थायी रक्तस्त्रोतरोधक अथवा पीवयुक्त फोड़े अक्सर हुआ करते हैं। यह कभी-कभी क्षयरोग और ऐक्टीनोमाइकोसिस में तथा अधिकतर गल-ग्रथिल रोग में देखने को मिलते हैं। यद्यपि कि पोर्टल शिरा द्वारा अँतड़ी से रोग का सक्रमण कभी-कभी यकृत में फोडा उत्पन्न कर सकता है, किन्तु इससे लक्षण प्रकट नही होते।

विकृत शरीर रचना—मास के लिए वध किए जाने वाले मोटे पशुओं में एक अथवा छोटे-छोटे अनेक फोड़े पाए जाते हैं। इनमें पीले रग का क्रीम जैसा मवाद भरा रहता है, जो फोड़े की दीवाल द्वारा घिरा रहता है। यह फोड़े केवल रोग-ग्रसित भागों को ही क्षति पहुँचाते हैं। क्षय रोग की भाँति अन्य फोड़ो की प्रकृति का यकृत में होने वाले मिलते-जुलते परिवर्तनों से ही पता लगता है। चिकित्सालय में मरी हुई गायों की लाश चीरकर यकृत के फोड़ों का जीवाणु-परीक्षण किया गया जिसमें पा० पायोसायानियस, कोरिनेबैक्टीरियम पायोजिनस, तथा ऐक्टिनोमाइसीज़ नेक्रोफोरस नामक जीवाणु मिले। डेन्वर के पशुवध गृहों में हलाल किए गए ढोरों में न्यूसम[1] ने ऐक्टिनोमाइसीज़ नेक्रोफोरस को अनेक यकृत फोड़ों का कारण पाया।

लक्षण—यकृत के अधिक क्षतिग्रस्त होने पर धीरे-धीरे शारीरिक क्षीणता के साथ दीर्घकालिक दुर्बलता के सामान्य लक्षण दिखाई पड़ते हैं। लेखक द्वारा परीक्षित यकृत के एक क्षय-ग्रसित फोड़े से पीड़ित एक रोगी में थपथपाने पर दर्द होता था और बीमारी के निदान का केवल यही एक प्रमाण उपलब्ध था। यकृत पर भद्देपन के बढ़े हुए क्षेत्र न मिले तथा रेक्टम में हाथ डालकर यकृत को न पाया जा सका।

गायों में, यकृत के अनेक फोड़े निदान किए गए तथा अभिघातज आमाशय शोथ के लिए इनका आपरेशन किया गया। एक पशु में यकृत के अनेक छोटे-छोटे फोड़ों के साथ एबोमेसम (चतुर्थ आमाशय) का अन्तर्मर्दन अनुमान किया गया।

संदर्भ

1. Newsom, I. E., J. Inf. Dis., 1938, 63, 232.

मटरी रुग्णता

(Lupinosis)

बीजयुक्त छोटी मटरी (Lupinus) की फलियाँ खाने से उत्पन्न होने वाला यह एक उग्र प्रकार का नशा है जिसे घबराहट, पीलिया तथा यकृत की उग्र पीली अपक्षयता द्वारा पहचाना जाता है। यूनाइटेड स्टेट्स में माँटेना तथा यूरूप में उत्तरी जर्मनी से यह रोग रिपोर्ट किया गया है। भेड़ तथा घोड़े इसके प्रति अधिक ग्रहणशील हैं, यद्यपि यह ढोरों तथा अन्य पशुओं में भी प्रकोप कर सकता है।

कारण—माँटेना के पर्वतीय क्षेत्रों तथा पहाड़ियों की तलहटी में मटरी (lupines) खूब उगती है जहाँ अन्य मोटे चारों की अनुपस्थिति में पशुओं को चराने तथा सूखी घास बनाने के लिए इसका खूब प्रयोग होता है। बीजयुक्त फलियाँ प्रमुख रूप से विषैली होती हैं। बीजयुक्त फलियाँ पकने तथा फटने से पूर्व जब घास सुखाई जाती है अथवा अधिक भूखे पशुओं को जब यह बीजयुक्त घास खिलाई जाती है तो उन्हें यह बीमारी हो जाती है। इस विषैले पदार्थ का प्रकार अभी अज्ञात है।

विकृत शरीर रचना—उग्र विषाक्तता में भेड़ के पेट में इस घास की फलियाँ तथा बीज भरे मिलते हैं। छोटी अँतड़ी से रक्त बहता है तथा आहार-नाल की श्लेष्मल झिल्ली पीली पड़ जाती है। यकृत सड़ जाता, पित्ताशय का प्रसार हो जाता और उसकी श्लेष्मल झिल्ली सूजकर लाल हो जाती है। गुर्दे तथा मूत्राशय भी लाल हो जाते हैं। बहुधा सामान्य रूप से पीलिया मौजूद रहती है। घोड़ों में, रोग की पुरानी अवस्था में लाश जीर्ण-शीर्ण हो जाती तथा त्वचा पीली पड़ जाती है। यह बीमारी यकृत की दीर्घकालिक बढ़ती हुई वसीय विघटन उत्पन्न करती है जिससे यकृत बादामी अथवा पीला, चिकना, अनियमित रूप से मोटा, और सिकुड़ा हुआ प्रतीत होता है। यह परिवर्तन बीमारी की अवधि के अनुसार कुछ-कुछ भिन्न हो सकते हैं।

लक्षण—भेड़ों में इस रोग की उग्र अवस्था विषयुक्त बीज तथा फली खाने के बाद 2 से 4 घंटे में एकाएक उत्पन्न होकर भयंकर रूप से प्रकोप करती है। अचेतनता, प्रेरक उत्तेजना, तथा पीलिया इसके प्रधान लक्षण हैं। भेड़ पागल की तरह तेजी से इधर-उधर दौड़ती है। उसकी मांस-पेशियों में अनैच्छिक उग्र संकुचन होता है तथा एक से दो घंटे में वह मर जाती है। कुछ भेड़ें दो से चार दिन तक जीवित रह सकती हैं। सूखी अवस्था में मटरी की पकी हुई फलियाँ खाने से विलकाक्स[1] (Wilcox) ने 200 में से 100 भेड़ों की मृत्यु होते बताई। एक भेड़-बाड़े में 2 टन मटरी की सूखी घास खाई हुई 2000 भेड़ों में से 48 घंटे के अन्दर 700 की मृत्यु हो गई।

नोल्स[2] (knowles) द्वारा वर्णित, घोड़ों में, इस रोग की दीर्घकालिक अवस्था चक्कर काटना, डालन का गिरना तथा पीलिया के लक्षणों से प्रारम्भ होती है। इसकी अवधि एक से बारह माह है और प्रायः रोगी की मृत्यु होकर ही इसका अंत होता है।

सदर्भ

1 Wilcox, E V, Plant poisoning of stock in Montana, 17th An Rep U S B A I, 1900, p 115
2 Knowles, A D, Lupinosis of horses and the treatment, J A V M A, 1915, 48, 286

यकृत का कीड़िया रोग
(Hepatic Distomiasis)

(फैसियोला रुग्णता, यकृत फ्लूक रोग, यकृत की सड़न)

परिभाषा—फैसियोला हिपैटिका द्वारा होने वाली यह यकृत तथा पित्त-वाहिनी की उग्र अथवा दीर्घकालिक बीमारी है जिसे बहुधा यकृत के नष्टकीय परिवर्तनो द्वारा पहचाना जाता है। इन परिवतनो में यकृत का सड जाना सबसे प्रमुख है, इसी कारण इसे यकृत की सड़न (liver rot) भी कहते हैं। सन् 1910 में हाल[1] ने यूनाइटेड स्टेट्स में केवल प्रशात और मैक्सिको की खाडी के निकटवर्ती तराई के क्षेत्रों का इसे महत्वपूर्ण रोग बताया। ओरेगन, मांटेना, कैलीफोर्निया, टेक्सास, लुसियाना तथा फ्लोरिडा में भी इस रोग से भेडो का काफी ह्रास होता बताया गया। एक क्षेत्र में यकृत फ्लूक की महामारी के कारण उटह में लोगन के एक पशुवध-गृह में ढोरों के 37 प्रतिशत यकृत फेंक दिये गए।[2] टेक्सास, लुसियाना और फ्लोरिडा में छ गल्फ कोस्ट पैकिंग घरो से प्राप्त, राष्ट्रीय मास निरीक्षण के अन्तर्गत 10 वर्ष के हलाल किए गए अभिलेखो ने यह प्रदर्शित किया कि 37 प्रतिशत स्थानीय ढोर तथा 6 प्रतिशत बछड़े यकृत फ्लूक से सक्रमित थे—ओल्सन[3] (Olsen)। यूरुप तथा इगलैंड में यह बीमारी खूब फैलती है किन्तु, कुछ वर्षों से इससे होने वाली क्षति कट्रोल की जा चुकी है। मनुष्य, गिनीपिग, खरगोश आदि सभी पालतू पशुओ को यह बीमारी लग सकती है किन्तु, स्थानिकमारी के रूप में भेंड-बकरियो तथा ढोरा में यह प्रमुख आर्थिक महत्व की है।

कारण—इसका डिस्टोमिआसिस नाम 'डिस्टोमा" से लिया गया है जिसके अन्तर्गत पत्ती के आकार के शरीर वाले प्लैटीहेल्मिन्थ्स परजीवी जैसे ट्रीमाटोड अथवा फ्लूक के विभिन्न वश आते हैं। फैसियोला हिपैटिका (डिस्टोमम हिपैटिकम) इस ग्रुप का एक सामान्य यकृत फ्लूक है जो 20 30 मि० मी० लम्बा तथा 10 20 मि० मी० चौडा होता है। इसके अगले सिरे पर एक चूषक तथा पीछे की ओर पश्च चूषक होता है। इसी कारण इसको ग्रीक नाम डिस्टोमा (Distoma) दिया गया है जिसका अर्थ है–दो+मुँह। प्रौढ तथा युवा कीट प्रमुख रूप से यकृत और पित्त वाहिनी में पाए जाते हैं। कभी-कभी यह पेरिटोनियल-गुहा तथा फेफडा में भी मिलते हैं। इनके अण्डे 130 145 माइक्रान लम्बे, अण्डाकार बादामी अथवा हरापन लिए हुए होते हैं तथा इनके एक सिरे पर ढक्कन छद (operculum) होता है। गोबर के साथ बाहर निकलकर यह कीट जाड़ों भर जीवित रह सकते हैं। पानी में पहुँचने पर इनमे एक रोमाभयुक्त (ciliated) लार्वा, मिरासीडियम, निकलता है जो पानी में तैरकर कुछ ही घटो में घाघे के अन्दर घुस जाता है। कुछ दिना

बाद यह एक छोटे गतिवान फ्लूक-सर्केरिया के रूप में घोंघे से बाहर निकलता है। यह घास पर चिपक कर परिपुटीयुक्त (encysted) होकर एक आल्पीन के सिरे के आकार का दिखाई देता है। यह अब काफी दृढ़ तथा संक्रामी होता है। पशु द्वारा निगले जाने पर इसकी परिपुटीयुक्त दीवाल आमाशय में गल जाती है तथा सर्केरिया अँतड़ी की दीवाल में छेद करके पेरिटोनियल-गुहा में पहुँचते हैं, जहाँ से यकृत के आवरण को फाड़कर यह अन्दर घुसते तथा पित्त-वाहिनी में परिपक्व होते हैं। कुछ कीड़े डायाफ्राम में छेद करके फेफड़ों में घुस जाते हैं। इनके स्थानान्तरण से उत्पन्न विभिन्न अंगों में टूट-फाट तथा सूजन के परिणामस्वरूप पशु को क्षति पहुँचती है। तत्पश्चात् पीव बनने वाले जीवाणुओं के संक्रमण से यकृत में फोड़े बन सकते हैं। यह कीट रक्त-संस्थान में प्रवेश पाकर भ्रूण तक ले जाए जाकर नवजात बच्चे को इसकी छूत पहुँचा सकते हैं। इसकी छूत गर्मियों में लगती है तथा आने वाली वसंत ऋतु में प्रौढ़ कीट पित्तवाहिनी से निकलकर चलने लगते हैं। कीड़िया-रोग अपरोक्ष रूप से भेंड़ों में काला-रोग (black disease) के लिए उत्तरदायी है।

अमेरिका का बड़ा फ्लूक, फैसियोला मैग्ना, चार इंच तक लम्बा हो सकता है। मैक्सिको की खाड़ी में यह बहुत ही अधिकता से पाया जाता कहा जाता है, जहाँ यह प्रमुख रूप से ढोरों में प्रकोप करता तथा उन्हें बहुत ही कम क्षति पहुँचाता है।

वेकर[4] ने केन्द्रीय न्यूयार्क के कई प्रदेशों में भेंड़ों तथा ढोरों में छेदक फ्लूक (lancet fluke) (डाइक्रोसीलियम डेन्ड्रीटिकम) देखा।

विकृत शरीर रचना—रोग के अति उग्र संक्रमण में यकृत सूज कर लाल हो जाता है तथा सीरस झिल्ली पर रक्त स्रवित धब्बे दिखाई देते हैं। कभी-कभी यह सतह फाइब्रिन से आच्छादित मिलती है। इसकी सतह पर गोल-गोल छोटे छिद्र मिल सकते हैं। इन्हें दबाने पर इनके उन्दर से नष्ट किए हुए ऊतकों का अर्ध तरल पदार्थ तथा छोटे-छोटे कीट निकलते हैं। बीमारी के हल्के प्रकोपों में यकृत मुलायम एवं खुरदरा होता है तथा इसके आवरण के अन्दर नालियाँ सी मिल सकती हैं। पित्त-वाहिनी मोटी होकर उसकी सतह पर धारियाँ पड़ जाती हैं। इसमें चीरा लगाने पर गहरे रंग के पत्ती के आकार के काफी बड़ी संख्या में गतिवान फ्लूक दिखाई देते हैं।

ढोरों में, रोग की दीर्घकालिक अवस्था में क्षतिग्रस्त टिसू के कारण यकृत धूसर रंग का होकर बहुत सख्त हो जाता है। पित्त-वाहिनी अधिक मोटी हो जाती है तथा प्रायः इसमें कैल्शियम फास्फेट जम जाता है। ये कीट, नलिका को बिल्कुल ही बंद कर सकते हैं और इनके परिणामस्वरूप रोगी को तेज दस्त आने लगते हैं।

लक्षण—भेंड़-बकरियों के युवा बच्चों में इसका आक्रमण गर्मियों तथा पतझड़ में प्रारम्भ होता है तथा जाड़े के प्रारम्भ में काफी बढ़ जाता है। न्युमन[5] (Neumann) के अनुसार इस रोग की चार अवस्थाएँ पहचानी जा चुकी हैं, और इस अवधि में होने वाले सामान्य क्षतस्थलों को शा एवं सिम्स[6] (Shaw and Simms) ने ओरेगन की भेंड़ों में देखा। जब युवा फ्लूक यकृत पर आक्रमण करते हैं तो इसकी प्रथम अवस्था "स्थानान्तरण काल" होती है। शा और सिम्स द्वारा बताए गए रोगियों में "भेंड़ें बिना कोई लक्षण प्रकट

किए ही मरने लगी। केवल कुछ ही उदाहरणों में, कारण को प्रत्यक्ष रूप से प्रकट करने वाले क्षतस्थल मिले।" कुछ पाए गए परजीवी 1 मि० मी० से भी कम लम्बाई के थे, जिनकी आयु 10 दिन से अधिक न थी।

एक अथवा दो माह बाद रोग की द्वितीय तथा तृतीय अवस्थाएँ देखने को मिलती हैं। इस समय परजीवी परिपक्व होता है तथा क्षतस्थल स्पष्ट होकर लक्षण साफ दिखाई देते हैं। यह कीडिया रोग की सामान्य अवस्था है। प्रारम्भ में रोग-ग्रसित भेंड सुस्त तथा कमजोर होती है और उसकी श्लेष्मल झिल्लियां पीली पड जाती है, फिर भी उसकी चारे में रुचि तथा सामान्य दशा अच्छी रहती है। इसे "रक्त-स्वल्पता की अवधि" कहते। धीरे-धीरे खान-पान में अरुचि, अनियमित तापक्रम, तल-पेट का लटक जाना, भद्दा कजकटाइवा, दयनीय दशा, सूखी ऊन तथा जबडे के नीचे सूजन होकर अत में रोगी को दस्त आने लगते हैं। सिम्स[6] की रिपोर्ट के अनुसार दस्त होना इसका स्थायी लक्षण नही है 'क्योंकि अनेक बुरी तरह सक्रमित झुण्ड ऐसे देखे गए जिन्हें दस्त नही आते थे"। इस प्रकार के लक्षण लगभग दो माह तक रहते हैं। इसे "क्षीणता की अवधि" कहते है। इसमें बहुत से रोगी या तो मर चुके होते हैं अथवा वध किए जा चुके होते हैं। कुछ रोगी अच्छे होने लगते हैं। वसत में "स्थानान्तरण के समय" परिपक्व फ्लूक गोवर के साथ शरीर से बाहर निकलते है। गोवर में इनके असख्य अडे होते हैं। यकृत-फ्लूक के अण्डो के परीक्षण हेतु स्वानसन तथा हॉपर[7] (Swanson and Hopper) ने ढोरो के गोबर की जांच करने का एक ढंग बताया है जिसमें गोवर को 20, 40 तथा 60 न० की जाली की चलनी से छाना जाता है।

ओल्सन[8] के अनुसार सस्ते मूल्य पर खरीदे हुए अति सक्रमित पशुओ से निम्न प्रकार क्षति पहुँचती है वृद्धि प्राप्त ढोरो में 2 से $2\frac{1}{2}$ प्रतिशत शरीर भार कम हो जाना, 1 से 3 प्रतिशत पशुओ की मृत्यु हो जाना, 16 प्रतिशत दूध उत्पादन में कमी हो जाना, 85 प्रतिशत चरागाह पर चरने की क्षमता में कमी हो जाना, राशन देने से स्वस्थ पशुआ में जितनी वद्धि होती है उसी राशन पर क्षतिग्रस्त पशुओ की अपेक्षाकृत आधी वृद्धि होना, दुधारू गायो में दूध की मात्रा कम हो जाना, भेंडा की अपेक्षाकृत ढोरो का अधिक ह्रास होना तथा कीडिया रोग से पीडित पशुओ में प्रजनन-वृत्ति कम हो जाना।

चिकित्सा—शा और सिम्स,[6] तथा मांटगोमरी[9] ने कार्बन टेट्राक्लोराइड (1 घ० सें०) को कैप्सूल में देना बडा ही गुणाकारी बताया है। तीन अथवा चार सप्ताहो के अवकाश पर इस चिकित्सा को तीन बार दोहराया जाता है। ओल्सन[10] के अनुसार ढोरा तथा भेंडा के शरीर से यकृत-फ्लूक को बाहर निकालने में हेक्साक्लोरीथेन बडा अच्छा काम करती है। 500 ग्राम व्यावसायिक हेक्साक्लोरीथेन, 50 ग्राम बेन्टोनाइट, $\frac{1}{4}$ से $\frac{1}{2}$ चाय का चम्मच भर श्वेत आटा और 750 घ० सें० पानी को मिलाकर, पशु को पिलाने के लिए हेक्साक्लोरीथेन बेन्टोनाइट तैयार किया जाता है। भेडों के लिए इसकी मात्रा 30 घ० सें० तथा ढोरा के लिए 20 घ० सें० प्रति 100 पौण्ड शरीर भार है। केवल एक ही बार इस दवा के प्रयोग करने से 110 रोग-ग्रसित भेडा में से 104 के गोवर में यकृत-फ्लूक के अण्डे नहीं दिखाई दिए। चिकित्सा प्राप्त 209 सक्रमित ढोरा की दो या तीन सप्ताह बाद जब परीक्षा की गई तो 191 पशुओं में यकृत-फ्लूक के अण्डे न मिले। चिकित्सा के पहले या बाद पशु

को भूखा रखना आवश्यक नहीं है। तीन माह से कम आयु के बछड़ों को यह दवा नहीं दी जाती। यद्यपि यह औषधि सुरक्षा के दृष्टिकोण से भी काफी अच्छी है फिर भी अत्यधिक निर्बल पशुओं को सावधानी के साथ चिकित्सा करनी चाहिए। पित्त-वाहिनी में उपस्थित प्रौढ़ कीटों को मारने के लिए बहुधा इसकी एक ही खुराक काफी होती है। जब यकृत-फ्लूक के कारण पशु जर्जर तथा निर्बल हो जाता है तो इस चिकित्सा के थोड़े ही समय बाद उसके शरीर भार में वृद्धि होकर, हालत में काफी सुधार दिखाई देने लगता है। पतझड़ तथा वसंत में पशुओं को दवा पिलाने की योजना से बीमारी का उन्मूलन तो नहीं होता किन्तु परजीवियों की संख्या में भारी कमी होकर, पशु स्वस्थ होने लगते हैं। हवाई (Hawaiian) द्वीप समूह में गायों के कीड़िया रोग की चिकित्सा में डिस्टोल, कमाला तथा हेक्साक्लोरीथेन का प्रयोग एलीकैटा[11] (Alicata) द्वारा वर्णन किया गया है। तूतिया द्वारा घोंघों को नष्ट करके एक बचाव की विधि बैटी आदि[12] (Batte et al) ने भी वर्णन की है।

संदर्भ

1. Hall, M. C., Our present knowledge of the distribution and importance of some parasitic diseases of sheep and cattle 27th An. Rep., U.S.B.A.I., 1910.
2. Krull, W. H., Losses from liver flukes in cattle, Vet. Med., 1940, 35, 507.
3. Olsen, O. W., J. Agr. Res., 1944, 69, 389.
4. Baker, D. W., Lancet fluke (Dicrocoelium dendriticum)i nfection in sheep in New York State, Cornell Vet., 1950, 40, 97.
5. Neumann, L. G., Parasites and Parasitic Diseases of Domestic Animals, ed. 2, London, Bailliere, Tindall & Cox, 1908.
6. Shaw, J. N., and Simms, B. T., A treatment for liver-fluke infestation in goats, J.A.V.M.A., 1927, 71, 723.
7. Swanson, L. E., and Hopper, H. H., Diagnosis of liver fluke infection in cattle, J.A.V.M.A., 1950, 117, 127.
8. Olsen, O. W., Liver flukes in cattle : diagnosis for treatment and prevention, Proc. 32nd Annaul Meeting, U.S. Livestock San. Asso., 1948, p. 79.
9. Montgomerie, R. F., Carbon tetrachloride in liver rot of sheep, J. Comp. Path. and Ther., 1926, 39, 113.
10. Olsen, O. W., Preliminary observations on hexachlorethane for controlling the common liver fluke, Fasciola hepatica in cattle, J.A.V.M.A., 1943, 102, 133 ; Hexachlorethane-Bentonite suspension for the removal of the common liver fluke, Fasciola hepatica, from sheep. Am. J. Vet. Res., 1946, 7, 358 ; from cattle, 1947, 8, 366.
11. Alicata, J. E., Studies on the control of liver fluke in cattle in the Hawaiian Islands, A. J. Vet. Res., 1941, 2, 152.
12. Batte, E. G., Swanson, L.E., and Murphy, J. B., Control of fresh water snails (intermediate hosts of liver flukes) in Florida, J.A.V.M.A., 1951, 118, 139.

मूत्र-तंत्र के रोग
(DISEASES OF THE URINARY SYSTEM)

मूत्र-स्राव की विषमताएँ
(Anomalies of the Urinary Secretion)

अमूत्रता
(Anuria)

पथरी की उपस्थिति से मूत्र मार्ग में रुकावट पड़ जाने के कारण पेशाब बिल्कुल ही बंद हो सकता है। ऐसा जुगाली करने वाले नर पशुओं, ढोरों तथा भेड़ों में मूत्र-मार्ग की विशिष्ट बनावट के कारण अधिक होता है। यह अवस्था कभी-कभी होती है और इस कारण यह पशु में जब तक कि उसका शव-परीक्षण नहीं किया जाता, बिना दिखे ही रह जाती है। ऐसा आंशिक अवरोध तथा कम पेशाब होना, उग्र बुखार, धातुओं अथवा तारपीन के तेल द्वारा उत्पन्न उग्र विषाक्तता तथा अन्य भीषण विषैली अवस्थाओं में हुआ करता है।

हीमोग्लोबिनमेह
(Hemoglobinuria)

हीमोग्लोबिनमेह विभिन्न कारणों के परिणाम-स्वरूप हुआ करता है। लेखक के चल चिकित्सालय में यह गुर्दाशोथ के फल-स्वरूप होते देखा गया। ढोरों में यह रक्त-मिश्रित मूत्र का प्रमुख कारण है। कुछ वर्षों से, आत्रार्ति अथवा आन्त्रशोथ जैसे पाचन प्रणाली के रोगों से पीड़ित गायों में रुधिर-वर्णिका मूत्रता अथवा रक्त-मूत्र रोग देखने को मिलता है। ऐसे रोगी प्रमुख रूप से चरागाह पर चरने वाली गायों में पतझड़ के मौसम में देखे गए। काफी समय तक इस रक्त मिश्रित मूत्र की अवस्था के कारण का पता ही न चल सका। अंत में, मूत्र में रक्त के छीछड़े युक्त, रक्तमेह का एक रोगी शव-परीक्षण हेतु आया, जिसमें प्रत्यक्ष रूप से गौण गुर्दाशोथ के साथ आत्रार्ति पाई गई। एक दूसरे रोगी में भयंकर अभिघातज आमाशय शोथ के एकाएक आक्रमण के साथ भी मूत्र में रक्त के छीछड़े देखे गए। अतः यह स्पष्ट है कि ढोरों में आहार-नाल की उग्र भयंकर गड़बड़ी रक्तमेह तथा हीमोग्लोबिनमेह, दोनों ही सलक्षण, उत्पन्न कर सकती है। हीमोग्लोबिन-मेह, गलाघोटू रोग का एक आकस्मिक लक्षण है और यह बैसिलरी रुधिर-वर्णिका मूत्रता तथा सूतिकावस्था की हीमोग्लोबिन रक्तता की विशिष्ट पहिचान है। अज्ञात कारणवश होने वाला रक्तमेह रोग युवा बछड़ों में यदा-कदा देखने को मिलता है। तूतिया, पारा अथवा सल्फानामाइड विषाक्तता का भी यह एक विशिष्ट लक्षण है। दस सप्टिक गर्भाशयशोथ, धनैला, गुदाशोथ तथा तिपिया घास रोग में भी देखा गया है।

उन भागों में, जहाँ पाइरोप्लाज़मोसिस (पाइरोप्लाज़म रुग्णता) प्रकोप करती है, रक्तमेह भी खूब होता है। अतः यूरप, यूनाइटेड स्टेट्स के चीचड़ी-ज्वर वाले क्षेत्रों तथा संसार के अन्य भागों में भी यह रोग पाया जाता है।

यूरुप के लेखकों ने बताया कि गायों को चुकन्दर तथा शल्जम की पत्तियाँ खिलाने से भी हीमोग्लोबिनमेह हो सकता है, किन्तु प्रत्यक्ष रूप से इस प्रकार के अवलोकन इस देश में नहीं किए गए।

काला-मूत्र रोग (azoturia) से पीड़ित घोड़ों को पेशाव में खून आना एक विशिष्ट लक्षण है। घोड़ों में, बड़ी कोलन के अंतिम भाग के उग्र रूप से गुम्ब होने में भी यह अवस्था पाई जा सकती है। जल्दी-जल्दी रुधिर संलयन करने वाली विभिन्न अवस्थाओं के परिणाम-स्वरूप भी पेशाब में खून आ सकता है। उग्र लेप्टोस्पाइरोसिस रोग (लेप्टोस्पाइरा रुग्णता) तथा कुछ सल्फा-औषधियों को अधिक मात्रा में खा जाने पर यह एक लक्षण मात्र होता है।

अज्ञातहेतुक हीमोग्लोबिनमेह

(Idiopathic Hemoglobinuria)

यह नाम स्टिलवाटर, ओक्लेहॉमा के स्मिथ[1] द्वारा ढोरों, विशेषकर वछड़ों, में अज्ञात कारणवश होने वाली एक नई बीमारी को दिया गया था जिसमें सबसे प्रमुख तथा आसानी से पहचाना जाने वाला लक्षण मूत्र में रक्त आना था। प्रत्यक्ष रूप से आयु, जाति, लिंग, पशु की हालत अथवा चारा आदि इसके उत्पन्न करने वाले कारक नहीं थे। ऐसी ही रिपोर्टें केन्सास[2], एरिज़ोना[3] तथा इलीन्वायस[4] से भी प्राप्त हुई हैं। रोग के कारण का पता लगाने तथा प्रयोगात्मक रूप से एक पशु से दूसरे पशु में बीमारी फैलाने के लगभग सभी प्रयास विफल रहे। ओक्लेहॉमा में सन् 1942 के प्रारम्भ में अधिक वर्षा के बाद यह बीमारी देश के सभी भागों से रिपोर्ट की गई थी। दक्षिण-पश्चिम के ढोरों में यह रोग उन्हें हरी घास, जौ तथा जई के चरागाहों पर भेजने के दो या अधिक सप्ताहों बाद देखा गया। पश्चिमी मध्यवर्ती प्रदेशों में, चरागाहों पर चरने वाले, पशुशाला में बाँध कर खिलाए जाने वाले तथा कमरों में रखे जाने वाले छोटे वछड़ों में भी इस रोग के प्रकोप होते देखे गए।[2]

विकृत शरीर रचना—नंगी आँख से दिखाई देने वाले परिवर्तन रुधिर संयलनता की शीघ्रता पर आधारित होते कहे जाते हैं,[3] अतः एक लेखक लिखता है कि टिसू अत्यधिक पीले पड़ जाते हैं[4] और दूसरे के अनुसार पूरा शव ही पीला पड़ जाता है। इस तथ्य से सभी लोग सहमत हैं कि पित्ताशय पित्त से भर जाता तथा मूत्राशय में रंगीन मूत्र भरा होता है। कुछ के अनुसार सीरस झिल्ली के नीचे बहुत ही कम रक्त-स्राव होता है तथा अन्य लेखकों का कहना है कि प्लूरा तथा हृदयावरण में अत्यधिक रक्त-स्राव होता है।[3] फेफड़ों का रक्तवर्ण होकर पीला पड़ जाना, यकृत की बाहरी सतह सामान्य अथवा बादामीपन लिए हुए पीली दिखाई देना, तथा शारीरिक-गुहाओं में ललाई लिए हुए द्रव भरा होना इसके अन्य क्षतस्थल हैं। यकृत आसानी से टूटने वाला तथा पीला पड़ जाता है और काटने पर अन्दर से गला हुआ प्रतीत होता है। रोडरिक[2] ने मूल रूप से इस बीमारी को हीमोग्लोबिन रक्तता कहा है जिसमें रुधिर परिवहन-तंत्र में लाल रक्त कणों का रुधिर-संलयन हो जाता है, जिसके फलस्वरूप इस प्रकार निकला हुआ हीमोग्लोबिन मूत्र के साथ बाहर निकलता है।

लक्षण—रोग का एकाएक आक्रमण, हालत का गिरना, वेगवान प्रकोप तथा रोगी की मृत्यु होकर बीमारी का अंत होना आदि लक्षणों से इसे पहचाना जाता है। पशु को 103 से 105° फारेनहाइट तक बुखार रहता है, जो लक्षणों के विकसित होने पर कम हो सकता है। "सर्वप्रथम खून मिला पेशाब होता है और हमारे विचार से यह इस बीमारी का प्रधान लक्षण है। बछड़ा में मुतान के चारों ओर के बाल खून से सने हुए दिखाई देते है और यदि पैरों के बाल सफेद होते हैं तो वे भी लाल मूत्र से रँग जाते हैं। पशु का बार-बार पेशाब होता है, किन्तु यह क्रिया उसे कष्टदायक नहीं प्रतीत होती। आँखें चमकती हुई तथा अन्दर की ओर धँसी हुई दिखाई देती है तथा कंजक्टाइवा रक्त-संकुलित होकर पीला पड़ जाता है। पशु बेहोशी से मरता हुआ सा प्रतीत होता है।"[1] रेक्टम से थोड़ा-थोड़ा करके सख्त गोबर निकलता है जो लाल अथवा पीले रंग की श्लेष्मा में सना हुआ हो सकता है। इसका कोर्स बछड़ों में कुछ घंटों से लेकर बड़े पशुओं में तीन या चार दिन का हो सकता है। मृत्यु दर 90 से 100 प्रतिशत तथा विकृतता 5 से 35 प्रतिशत तक रिपोर्ट की गई है। केन्सास में यह 1 प्रतिशत से भी कम थी।

रक्त-परीक्षण करने से लाल रक्त कणों के शीघ्र नष्ट होने का पता चलता है। हीमोग्लोबिन 20 से 50 प्रतिशत के मध्य होता तथा मृत्यु के कुछ घं पूर्व लाल रक्त कणों की संख्या 8 दसलक्ष से कम होकर 2 दसलक्ष रह जाती है। हूपर फाउन्डेशन के डा० के० एफ० मेयर को भेजे गए नमूने में गुर्दे की नलिकाओं को घेरे हुए लेप्टोस्पाइरा मिले, किन्तु विस्तृत एग्लूटिनेशन-परीक्षण लेप्टोस्पाइरा की तीन प्रकारों के प्रति ऋणात्मक थे।

चिकित्सा—रोडरिक[2] ने बताया कि केन्सास स्टेट कालेज के पशु-चिकित्सालय में स्वस्थ पशु का रक्त लेकर बीमार पशु में चढ़ाने से 75 प्रतिशत रोगी ठीक हो गए। एरिजोना में चारे में परिवर्तन करके सूखी घास खिलाने से अनेक बीमार पशु ठीक हो गए। इलीन्वायस में, सल्फामेराजीन (480 ग्रेन) खिलाकर तथा पेनिसिलिन (एक दसलक्ष यूनिट) का अंतःपेशी इन्जेक्शन देकर दस रोग-ग्रसित पशुओं में से नौ रोगी ठीक हो गए।

संदर्भ

1 Smith, H C, Progress report on idiopathic hemoglobinemia in cattle, J A.V M A, 1943, 102, 352
2 Roderick, L M, Bovine hemoglobinuria, The Norden News, 1944, 18, 4.
3 Pistor, Wm J, and Cardon, B P, Idiopathic hemoglobinuria in cattle, J A.V M A, 1949, 114, 429
4 Woods, G T, Shideler, R K, Myers, H F, and Rhoades, H E, An observation on bovine hemoglobinuria, Vet, Med., 1950, 45, 450

पुटीय रक्तमेह

(Cystic Hematuria)

(पशुस्थानिक गो-जातीय रक्तमेह, मूत्राशयी रक्तमेह)

पुटीय रक्तमेह एक अज्ञात कारणवश होने वाली बिना बुखार की एक दीर्घकालिक मूत्राशय व्याप है जो श्लेष्मल झिल्लियों में रक्त-स्रावी क्षेत्रों, डंठलयुक्त रसौलियों, तथा

मूत्राशय की दीवालों की तन्तुमय सूजन द्वारा पहचानी जाती है। अमेरिका में यह रोग वाशिंगटन ओरेगन तथा ब्रिटिश कोलम्बिया के किनारे वाले क्षेत्रों तक ही सीमित है (कैल्कस,[1] हैडवेन[2])। आस्ट्रेलिया में ऐसी ही मिलती-जुलती अवस्था का बुल[3] (Bull) तथा उनके साथियों द्वारा वर्णन किया गया है और इसे फ्रांस, स्वीडन तथा नार्वे से भी रिपोर्ट किया गया है। यह बीमारी नर तथा मादा दोनों प्रकार के पशुओं को हुआ करती है। इसका कारण अज्ञात है, किन्तु यह छूत द्वारा नहीं फैलती और यह एक पशु से दूसरे को नहीं लगती। कुछ निम्न कोटि के फार्मों पर यह बीमारी अनियमित रूप से हुआ करती है। एक समय में थोड़े ही पशुओं पर इसका आक्रमण होता है।

शव-परीक्षण करने पर भीतरी अंग कुछ पीले दिखाई पड़ते हैं तथा रक्त की उपस्थिति के कारण मूत्राशय काला पड़ सकता है। इसके क्षतस्थल मूत्राशय की श्लेष्मल झिल्लियों तक ही सीमित रहते है। शीघ्र की टूट-फाट से रक्त-स्राव होकर श्लेष्मल झिल्ली में सूजन आ जाती है। बाद में इन रक्त-स्रवित क्षेत्रों में संवहनीय मार्ग (vascular channels) बनकर अंत में रसौली का रूप धारण करते हैं—प्लमर[4] (Plummer)।

थोड़ी-थोड़ी मात्रा में रुक-रुक कर पेशाब होने, ऐंठन तथा पूंछ को हिलाने-डुलाने के साथ इसके लक्षण प्रारम्भ होते हैं। कैल्कस[1] का कहना है कि उन्होंने ब्याने से पूर्व बछियों में यह अवस्था कभी नहीं देखी। मूत्र में लाल रंग के धब्बे मिलते अथवा यह एक समान लाल रंग का हो सकता है और इसमें सदैव लाल रक्त-कण मौजूद होते हैं। प्रारम्भ में सामान्य लक्षण नहीं दिखाई पड़ते तथा खान-पान में रुचि एवं दुग्ध उत्पादन नॉर्मल रहता है। प्रारम्भिक आक्रमण कुछ दिनों से लेकर कुछ माह तक का हो सकता है। ब्याने के बाद इसका पुनः आक्रमण और भी भयंकर होता है। पशु की हालत जीर्ण-शीर्ण हो जाती, रक्त-स्राव बढ़ जाता, श्लेष्मल झिल्लियाँ पीली पड़ जातीं और अन्त में पशु मर जाता अथवा बेकार हो जाता है। इसका कोई भी लाभदायक उपचार नहीं है, किन्तु ऐसा कहा जाता है कि प्रति वर्ष दो माह के लिए पशुओं को फार्म से अलग हटा कर बीमारी को रोका जा सकता है।

संदर्भ

1. Kalkus, J. B., Bovine red water—cystic hematuria, Vet. Med., 1931, 26, 47
2. Hadwen, S., Bovine hematuria, J.A.V.M.A., 1917, 51, 822.
3. Bull, L. B., Dickinson, C, G., and Dann, A. T., Enzootic Haematuria (Haematuria Vesicalis) of Cattle in South Australia, Pamphlet No. 33, Council for Scientific and Industrial Research, Melbourne, 1932.
4. Plummer, P. J. G., Histopathology of enzootic bovine hematuria, Can., J. Comp. Med., and Vet. Sci., 1914, 8, 153.

उग्र गुर्दाशोथ

(Acute Nephritis)

स्टीवेंस[1] लिखते हैं कि गुर्दाशोथ का अध्ययन प्रमुख रूप से जटिल है "क्योंकि अधिकांश रोगियों में गुर्दों के विभिन्न परिवर्तनों के कारणों के बारे में हम अब तक अनभिज्ञ हैं; क्योंकि

शव-परीक्षण के समय गुर्दों का निरीक्षण केवल एक ही प्रकार का रोगात्मक परिवर्तन प्रदर्शित करता है; और क्योंकि अब तक शरीर-क्रियात्मक गडबड़ियो का शरीर-रचनात्मक परिणामों से सबंध स्थापित करना असभव सा रहा है।" सन् 1827 में ब्राइट द्वारा वर्णन करने के बाद दोनो गुर्दों के अपूय शोथयुक्त विसृत अथवा अपकर्पित परिवर्तन "ब्राइट रोग" कहलाए। नीवर्ले[2] (Nieberle) द्वारा प्रस्तुत एक वर्गीकरण में धातुगत विषों, जैसे पारा, के परिणामस्वरूप होने वाले गुर्दे के एपिथीलियम की मेघीय सूजन (cloudy swelling), काचाभ अपकर्षण (hyaline degeneration), पैथोलोजिकल वसीय विघटन, एमिलायड अपकर्षण तथा अपक्षय जैसे, समस्त अपकर्पित परिवर्तन "अपवृक्कता" (nephrosis) कहलाते है; जबकि गुर्दों की सूजन अथवा गुर्दार्ति एक गड़बडी है जिसे रक्त के कोशीय एव तरल अवयवों के रिसाव तथा टिसुओं की टूट-फाट द्वारा पहचाना जाता है। उन्होने यह भी बताया कि बीमारी से सबधित सभी आधुनिक साहित्य यह प्रदर्शित करते है कि गुर्दा-शोथ तथा कुछ छुतैली बीमारियो जैसे लोहित-ज्वर (Scarlet fever), गलार्ति और जोडो की गठिया में परस्पर घनिष्ट सबध है।

मनुष्य में होने वाले गुर्दाशोथ का सक्षिप्त विवरण यहाँ दिया गया है क्योंकि पशु-चिकित्सा विज्ञान के लेखकों ने पालतू पशुओ में गुर्दाशोथ का वर्णन करने के लिए ऐसे ही वर्गीकरण का अनुकरण किया है। ब्राइट-रोग के अन्तर्गत वर्णन किए गए विभिन्न रोगोत्पादक परिवर्तन मनुष्य में भी पाए जाते हैं। स्पष्ट लक्षणों तथा रोग-विज्ञान के आधार पर इसे अलग पहचाना जा सकता है। पालतू पशुओं (शाकाहारी तथा सूअर) में ऐसी अवस्थाएँ बहुत ही कम देखने को मिलती हैं। इन पशुओ में गुर्दों की उग्र विसृत सूजन सदैव छुतैली अथवा सक्रामक बीमारियो के परिणामस्वरूप या इनके साथ हुआ करती हैं।

कारण—अधिकाश पशु ऐंथ्राक्स, सूकर-कालरा, अश्वीय निमोनिया जैसी उग्र छुतैली बीमारियो तथा अन्य सेप्टिक अवस्थाओ के साथ रोग-ग्रसित हुआ करते है। प्राय. यह बीमारी काला-मूत्र रोग के बाद हुआ करती है। आर्सेनिक, पारा, फास्फारस, फीनोल, तारपीन के तेल, सल्फा-औषधियो तथा विभिन्न अन्य रासायनिक विषो के द्वारा यह रोग हुआ करता है। यद्यपि कि ठड तथा चोट लगना भी कभी-कभी गुर्दाशोथ का कारण रिकार्ड किया गया है, किन्तु यह सदेहपूर्ण है कि इनसे कभी भी यह रोग होता है।

विकृत शरीर रचना—रोग के हल्के प्रकोप में कोई स्पष्ट परिवर्तन नहीं दिखाई पडते। भयकर प्रकोप में गुर्दा सूजकर काला तथा रक्त-सकुलित हो जाता है। विशेषकर सूकर-कालरा में प्राय रक्त-स्राव नहीं होता। कुछ रोगियो में गुर्दे का रग पीला अथवा धूसर लाल हो जाता है।

लक्षण—मनुष्य की भाँति, पशुओ में उग्र गुर्दाशोथ के विशिष्ट भौतिक परिवर्तन स्पष्ट नही दिखाई पडते। कुछ ज्ञात बीमारियों के साथ होने के कारण रोगावस्था को पहचाना अथवा अनुमान किया जा सकता है। मूत्र का परीक्षण करके रोग का सही निदान किया जा सकता है। मूत्र में अधिक मात्रा में ऐल्बूमिन तथा गुर्दे का टूटा हुआ एपिथीलियम मिलता है। प्रायः उसमें लाल तथा श्वेत रक्त-कण भी मौजूद होते हैं। कभी-कभी मूत्र में रक्त भी मिला हुआ मिलता है (रक्तमेह)।

प्रारम्भ से ही रोग की चिकित्सा करनी चाहिए तथा बीमारी की प्राथमिक अवस्था पर अधिक ध्यान देना चाहिए।

संदर्भ

1. Stevens, The Practice of Medicine, ed., 2, 1928.
2. Nieberle, Ueber die diffuse Glomerulonephritis des Rindes, Archiv.f. Tierheilk., 1922, 47, 218.

दीर्घकालिक गुर्दाशोथ

(Chronic Nephritis)

दीर्घकालिक गुर्दाशोथ, शाकाहारी पशुओं तथा सुअरों में बहुत ही कम पाई जाने वाली बीमारी है। जर्मनी में हैम्बर्ग के पशुवध-गृहों में नीवर्ले ने तीन गायों में यह बीमारी देखी। पहला रोगी मध्यम हालत का एक वृद्ध पशु था। इसके गुर्दों का भार 7 पौण्ड था। उनके ऊपर का आवरण चिकना तथा आसानी से हटने योग्य था तथा इसके नीचे गुर्दे की सतह धूसर बादामी रंग की थी। काटने पर गुर्दे का कार्टेक्स वाला भाग काफी मोटा, बादामीपन लिए हुए लाल पिरामिडयुक्त तथा फैली हुई अनेक पीली धारियों से आच्छादित मिला। स्वच्छ द्रव भरे हुए वहाँ अनेक सिस्ट मौजूद थे। इनका विन्यास सामान्य था। पेल्विस तथा मेडुलरी पदार्थ भी सामान्य ही प्रतीत होते थे। दूसरा रोगी एक वृद्ध तथा जीर्ण-शीर्ण गाय थी। इसके दोनों गुर्दे काफी बढ़े हुए तथा सख्त थे। इनमें के मैलपीगियन पिण्ड (malpighian bodies) धूसर रंग की ग्रंथियों के रूप में स्पष्ट दिखाई देते थे। तीसरी गाय भी वृद्ध तथा जीर्ण-शीर्ण थी। इसके केवल एक गुर्दे का भार 6 पौण्ड था। गुर्दे की सतह अनेक छोटे-छोटे पीले रंग के अपारदर्शक दानों से भरी हुई बादामीपन लिए हुए धूसर प्रतीत होती थी। गुर्दा काफी सख्त था तथा काटने पर सुदृढ़ संयोगी ऊतक की भाँति कटता था। इसका कॉर्टेक्स वाला भाग काफी मोटा हो गया था। हिस्टॉलोजिकल-परीक्षण के परिणामस्वरूप नीवर्ले इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि ऐसे मामले जिनको साहित्य में दीर्घकालिक पेरंकाइमेटस गुर्दाशोथ अथवा "बड़ा सफेद गुर्दा" नाम दिया गया है, वास्तव में विसृत केशिकास्तवक् गुर्दार्ति (glomerulo nephritis) के थे और यह मनुष्यों में होने वाली कुछ कम उग्र अथवा दीर्घकालिक केशिकास्तवक् गुर्दार्ति से मिलते-जुलते थे।

इस रोग से पीड़ित रोगी का प्रथम वर्णन जो लेखक ने पाया एक 8 वर्षीय घोड़ी का था जिसे फिचर तथा ऑलैफ्सन्[1] ने रिपोर्ट किया था। आक्रमण के समय ओंठों, कानों, मैंडिबल के बीच तथा वक्ष के नीचे सूजन थी जो ज्वर-पित्ती से मिलती-जुलती थी। काम करने पर पशु को श्वास कष्ट होता, नाड़ी-गति तेज तथा अनियमित होती तथा हृदय की धड़कन इतनी तेज होती थी कि उसे कई फिट की दूरी से सुना जा सकता था। सात माह बाद घोड़ी बिल्कुल ही जीर्ण-शीर्ण तथा निर्बल हो गई और थोड़ा सा चलने-फिरने पर ही हृदय की गति अनियमित तथा तेज हो जाती थी। इसके बाद रोगी की शीघ्र ही मृत्यु हो गई। शव-परीक्षण करने पर घोड़ी में तन्तुमय फुफ्फुस-झिल्ली-शोथ, दीर्घ कालिक क्षतज हृत्पेशी शोथ (chronic focal myocarditis) तथा पुरानी विसृत केशिकास्तवक्

गुर्दार्ति मिली। ऐसे ही लक्षण तथा कोर्स प्रदर्शित करने वाले एक दूसरे रोगी का फैंक तथा डनलप[2] (Frank and Dunlop) ने वर्णन किया।

ओस्लर के इस कथन से बीमारी काफी जटिल मालूम पडती है कि "दीर्घकालिक गुर्दाशोथ का नैदानिक वर्गीकरण करने में अनेक कठिनाइयाँ होती हैं। पैथोलोजिकल वर्गीकरण अन्तिम परिणामों के साथ समन्वित होता है और रोगावस्था में लागू नहीं हो सकता।"

संदर्भ

1 Fincher, M G, and Olafson, P, Chronic diffuse glomerulonephritis in a horse, Corenell Vet, 1934, 24, 356

2 Frank, E R, and Dunlap, G. L, Chronic diffuse glomerulotubular nephritis in a horse, N Am Vet, April, 1935, 16, 20

गुर्दे का फोड़ा

(Abscess of the kidney)

(रक्तस्रोतरोधक गुर्दाशोथ)

कारण—पीवयुक्त गुर्दाशोथ एक मवाद बनाने वाले जीवाणु द्वारा उत्पन्न हुआ करता है जो अभिघातज आमाशय शोथ से पीडित रोगी में रक्त परिवहन द्वारा (चित्र 37) अथवा

चित्र—37. गाय में अभिघातज आमाशय शोथ के परिणामस्वरूप उत्पन्न गुर्दे का फोडा।

नाभि-रोग से पीड़ित पशु में यूरेकस तथा नाभिक धमनियों (umbilical artries) द्वारा गुर्दे में पहुँचता है। पशुओं में यह रोग अन्य रोगों की अपेक्षाकृत बहुत ही कम होता है। विशेषकर यह गो-पशुओं में ही देखा जाता है तथा सदैव पीवयुक्त हुआ करता है। चित्र 37 में दिखाया गया गुर्दा एक अभिघातज आमाशय शोथ से पीड़ित रोगी का है जिसके फेफड़ों तथा गुर्दों में अनेक छोटे-छोटे फोड़े भी थे। इससे प्राप्त संवर्धन में कोरिनेबैक्टीरियम पायोजिनस जीवाणु मिले। जिन बछड़ों में नाभि से छूत लगती है उनके गुर्दों में ऐसे फोड़े अधिक हुआ करते हैं। क्रिश्चियंसन[1] (Christiansen) ने ऐसे 16 रोगी देखे जिनमें से 15 में बैक्टीरियम कोलाइ नामक जीवाणु मिले। फिचर[2] द्वारा वर्णित एक 2 माह की आयु वाले बछड़े में पूरा दाहिना गुर्दा एक बड़े फोड़े से आच्छादित था। इस प्रकार गुर्दे पर या तो एक बड़ा फोड़ा अथवा पीवयुक्त अनेक छोटी-छोटी फुन्सियाँ हो सकती हैं। गायों में यह बीमारी प्रसूतावस्था में छूत लगने, तथा घोड़ों में गल-ग्रंथिल रोग अथवा घाव से लगन वाली छूत के परिणामस्वरूप हो सकती है। फोनर के अनुसार सुअरों में यह रोग स्थानिकमारी की भाँति प्रकोप कर सकता है। गुर्दरोग का यह वह प्रकार है जो बछेड़ों में अश्व जातीय बैक्टीरियम विस्कासम (Bact. Viscosum equi) द्वारा हुआ करता है।

लक्षण—प्राइमरी रोग की प्रकृति के अनुसार इस रोग के लक्षण भिन्न हो सकते हैं। सपूय विसृत गुर्दाशोथ को केवल शव-परीक्षण करने पर ही पहचाना जा सकता है। फिचर द्वारा वर्णित गुर्दे के फोड़े से पीड़ित बछड़े में पीवयुक्त नाभिशोथ, जल्दी-जल्दी हालत का गिरना तथा फूली हुई दाहिनी कोख आदि लक्षण देखे गए। इसमें ट्रोकार घुसेड़ने पर स्टेफिलोकोकाइ, स्ट्रेप्टोकोकाइ तथा अन्य बैक्टीरियायुक्त पतला, बदबूदार मवाद निकला। बड़े पशुओं में बढ़े हुए गुर्दा के फोड़े को मलाशय में हाथ डालकर अथवा मूत्र-परीक्षण करके निदान किया जा सकता है। इसकी कोई चिकित्सा नहीं है।

गुर्दा के फोड़े से पीड़ित एक 15 वर्षीय घोड़े ने दोपहर से पूर्व सामान्य रूप से काम किया। दोपहर के खाने के बाद वह पिछले भाग की अवसन्नता प्रकट करता हुआ जमीन पर बैठा पाया गया तथा अपने पिछले पैरों को बिल्कुल ही प्रयोग करना नहीं चाहता था। मलाशय में हाथ डालकर परीक्षा करने पर दाहिनी मूत्र-नलिका अपनी पूरी लम्बाई में काफी बढ़ी हुई पाई गई तथा दाहिना गुर्दा भी बढ़ा हुआ था। मूत्र-नलिका के निचले सिरे पर दबाने से दर्द होता था। चार दिन बाद रोगी की मृत्यु हो गई। दाहिने गुर्दे का भार 10.5 पौण्ड था। इसका आवरण उस पर दृढ़ता से चिपका हुआ था। काटने पर गुर्दा पीव से भरा हुआ पाया गया। बायाँ गुर्दा 3·5 पौण्ड भार का तथा रक्तवर्ण था। इसी रोग से पीड़ित एक दूसरे घोड़े की हालत 6 सप्ताह से भी अधिक समय तक धीरे-धीरे गिरती गई। मरने से पूर्व दो सप्ताह तक उसके पेशाब में खून आया। मलाशय में हाथ डालकर टटोलने पर दाहिना गुर्दा बढ़ा हुआ मिला। संभवतः यह गोणिकावृक्कशोथ (pyelonephritis) का रोगी था।

संदर्भ

1. Christiansen, M., Nephritis purulenta disseminata (Kitt) beim Kalbe, abs, Jahresbericht, 1919-20, p. 51.
2. Fincher, M. G., Omphalophlebitis ; abscess of the kidney Cornell Vet., 1933, 23, 92.

गोणिकावृक्कशोथ

(Pyelonephritis)

परिभाषा—गोणिकावृक्कशोथ मूत्राशय, मूत्र-नलिकाओं तथा गुर्दा के पेल्विक भागों की एक अति प्राणघातक, दीर्घकालिक पीवयुक्त सूजन है। प्रमुख रूप से यह रोग गायों में हुआ करता है, किन्तु भेड़ों, सुअरों, घोड़ों तथा कुत्तों में भी होते देखा गया है। यह एक विशिष्ट संक्रमण कोरिनेबैक्टीरियम रीनैलिस (Corynebacterium renalis) के कारण होता है।

यद्यपि कि यूरुप में अनेक वर्षों से यह रोग प्रकोप करता है, किन्तु पहले-पहल यूनाइटेड स्टेट्स में ब्वायड[1] (Boyd) द्वारा यह सन् 1918 में रिपोर्ट किया गया। सन् 1888 में हेज[2] ने इसके लक्षणों तथा क्षतस्थलों का वर्णन किया और यह देखा कि यह रोग प्रसूतावस्था के संक्रमणों से अलग ही प्रकोप करता है। सन् 1891 में होफ्लिच[3] (Hoflich) ने इसके क्षतस्थलों का वर्णन किया तथा बैसिलस पाइलोनेफ्रीटाइडेस वाम (Bacillus pyelonephritides boum) नाम देकर रोग उत्पन्न करने वाले जीवाणु को अलग किया। उन्होंने यह भी बताया कि शरीर में इसके प्रवेश पाने का प्रमुख मार्ग मूत्राशय था न कि रक्त संस्थान। ठीक उसी तिथि पर एण्डर्लिन[4] (Enderlin) ने रोग फैलाने वाले जीवाणु का बैसिलस रीनैलिस बोविस नाम देते हुए वैसी ही रिपोर्ट प्रकाशित की। राक्फेलर संस्था से जोंस और लिटिल[5] (Jones and Little) ने इस विषय पर अति विस्तृत अन्वेषण रिपोर्ट किए।

कारण—लेखक के चिकित्सालय में सन् 1924 तक गायों में गोणिकावृक्कशोथ बहुत ही कम होते देखा गया। सन् 1915 से लेकर सन् 1924 तक एक भी रोगी इस रोग के लिए निदान न किया गया। जुलाई सन् 1924 से जून 1932 तक की आठ वर्ष की अवधि में इस बीमारी से 34 पशु पीड़ित हुए और इनमें से 12 सन् 1931-32 में हुए। स्पष्ट क्षतस्थलों के कारण यह कहना संभव नहीं है कि पहले इसकी सही जानकारी न हो पाई हो। 90 प्रतिशत रोगी दिसम्बर से लेकर मई तक की अवधि में देखे गए। वाह्य रूप से ठंडे मौसम में इस रोग के लक्षण बढ़ते हुए से दिखाई पड़ते हैं। गुर्दे की बीमारी का ठंड से संबंध, मनुष्य में गुर्दाशोथ रोग में पाया जाता है, जहाँ इसे इसके कारण के रूप में अंकित किया गया है। ओस्लर के अनुसार ठंड केवल उपस्थित गुर्दा शोथ के लक्षणों को बढ़ाती है। यद्यपि यह बीमारी केवल मादा पशुओं में ही होती कही जाती है, फिर भी ब्वायड[6] ने एक साँड़ में यह रोग देखा तथा मक्फैडियन[7] (McFadyean) द्वारा गुर्दाशोथ पर लिखे गए एक लेख में भी नर पशुओं में इसके होने की चर्चा की गई। इसमें आयु का कोई विशेष महत्व नहीं है यद्यपि कि अधिकांश पशु दो से सात वर्ष की आयु में बीमार हुए। सन् 1937 में ब्वायड और विशप[8] ने 7 घोड़ियों तथा 1 घोड़ा में इस रोग का होना बताया। बछिया में भी यह रोग खूब होता है। जोंस ने इसका एक 12 दिन की आयु के बछड़े में विकीर्ण संक्रमण होते देखा। ओलेफसन[9] ने एक कुत्ते में यह बीमारी होते बताई जिसमें से कारिनेबैक्टीरियम रीनैलिस नामक जीवाणु प्राप्त किया गया।

अनेक लोग इस रोग को अन्य पीवोत्पादक संक्रमणों, विशेषकर गर्भाशय शोथ तथा थनैला जैसे रक्त से लगने वाले रोगों के परिणामस्वरूप होने वाला गौण रोग मानते हैं। अब यह विचार इस कारण अधिक मान्य नहीं है कि बछियों में उक्त बीमारियों की अनुपस्थित में भी यह रोग प्रकोप करता है। इस रोग का जीवाणु अन्य पीवोत्पादक रोगों के कारक से भिन्न होता है और मूत्राशय में विशुद्ध संवर्धन प्रविष्ट करके इसे प्रयोगात्मक रूप से उत्पन्न भी किया जा सकता है। किन्तु जब यह रोग उग्र प्रसूतावस्था की बीमारी के बाद विकास करता है तो यह अनुमान करना ठीक ही है कि इस अवस्था ने पीवयुक्त गुर्दाशोथ के विकास को उत्तेजित किया है। चूंकि यह रोग अधिक दुधारू तथा अच्छी खिलाई पिलाई गई गायों में अधिक होता है, अतः यह अनुमान किया जाता है कि अधिक प्रोटीनयुक्त खुराक इसके आक्रमण को आमन्त्रित करती है।

कोरिनेबैक्टीरियम रीनेलिस 2 से 3 माइक्रान लम्बा तथा 0 6 माइक्रान चौड़ा एक पीवोत्पादक ग्राम धनात्मक (gram positive) जीवाणु है। शरीर से निकलने वाले स्राव

चित्र—38. गाय में गोणिकावृक्कशोथ : बायाँ गुर्दा, मूत्र-नलिका तथा मूत्राशय। इनका संयुक्त भार 12 पौण्ड; a, गुर्दे का छोटा सा फोड़ा; b, मूत्र-नलिका; c, मूत्राशय; d, सामान्य मूत्र-नलिका का छोटा सा भाग (ब्रायड, कार्नेल वेटनेरियन, 1927, 17, 45 से साभार)।

अथवा मूत्र का स्लाइड पर पतला लेप बनाकर इसे देखा जा सकता है। जोस तथा लिटिल[5] ने अपने अध्ययन से यह अनुमान किया कि यह जीवाणु युवा बछड़ा के शरीर में निवास किया करता है। उन्होंने बताया कि बछडों की मूत्रनाल के निचले भाग में अनेक ऐसे जीवाणु छिपे रहते हैं जो अपने आकार, संवर्धनीय गुणों तथा कुछ प्रतिरक्षक गुणों में इस देश तथा यूरुप में विकीर्ण रूप से प्रकोप करने वाले मूत्राशय, मूत्र-मार्ग तथा गायों के गुर्दों के पेल्विक भागों के संक्रमणों में पाए जाने वाले जीवाणुओं से मिलते-जुलते हैं। संभवतः अनेक पशु जीवन के प्रारम्भ काल में संक्रमण लग जाने के कारण बीमार पडते हैं। एक बैल से प्राप्त बैक्टीरियल संवर्धन को उन्होंने तीन गायों में प्रविष्ट किया। इससे स्थानीय क्रिया उत्पन्न होने के बाद यह जीवाणु एक पशु में मूत्रनलिका द्वारा गुर्दे की पेल्विस में पहुँचा। वेस्टर[10] (Wester) ने मर्दन करके जीवाणुरहित रेत तथा कारीनबैक्टीरियम रीनेलिस का विशुद्ध संवर्धन मूत्राशय में प्रविष्ट करके इस रोग को प्रयोगात्मक रूप से उत्पन्न किया। जहाँ तक पता चल सका है यह जीवाणु केवल मूत्र-नाल में ही रहता है। इसकी छूत लगने का ढंग अज्ञात है, किन्तु सम्पर्क द्वारा इसके संक्रमण के प्रमाण मिले हैं।

विकृत शरीर रचना—मृत्यु से मरे अथवा रोग की बढ़ी हुई अवस्था में वध किए गए विशिष्ट रोगी में शव-परीक्षण करने पर विशिष्ट परिवर्तन मिले। मृत पशु का शव जीर्ण-शीर्ण हो जाता है। मूत्राशय मोटा होकर रक्त संचित तथा सूजा हुआ दिखाई देता है। मूत्र नलिकाएँ अपने सामान्य व्यास से कई गुना अधिक बढ़ जाती हैं और इनकी श्लेष्मल झिल्ली रक्त वर्ण हो जाती हैं। गुर्दों का भार तथा आकार दोनों ही बढ़ जाते हैं। इनकी सतह पर धूसर अपारदर्शी क्षेत्र होते तथा सामान्य पालिभवन (lobulation) कम हो सकता है जिससे गुर्दे की सतह लगभग चिकनी हो जाती तथा कैप्सूल चिपका हुआ दिखाई देता है। काटने पर पेल्विस में लसदार धूसर अथवा पीला पीब भरा मिलता है जिसमें प्रायः मूत्र तथा रक्त मिला होता है। निकटवर्ती टिशू थोड़ा बहुत नष्ट हो जाते तथा गुर्दे के खण्डकों में फोड़े बन सकते हैं। मूत्राशय, मूत्र नलिकाओं तथा कभी-कभी योनि में रक्त, मूत्र और पीब का मिश्रण भरा हुआ मिलता है। रक्त-नलिकाओं के फटने से खून के जमे हुए बड़े-बड़े थक्के मिल सकते हैं अथवा रक्त-स्राव होकर रोगी की एकाएक मृत्यु हो जाती है। कुछ रोगियों में यह क्षतस्थल मूत्राशय तक तथा अन्य में गुर्दों तक सीमित रहते हैं।

लक्षण—हेड[2] ने इसके निम्न प्रकार तीन समूह वर्णन किए हैं (1) जिसमें रोग का प्रारम्भ उग्र भीषण अपच की भाँति होता है, (2) जिसमें लक्षण पुरानी योनि शोथ तथा गर्भाशय शोथ की भाँति होते हैं, और (3) जिसमें रोग का सलक्षण पित्ताशय-शोथ जैसा होता है। अन्य लोगों ने इस बीमारी को अभिघातज हृदय झिल्ली शोथ से मिलता-जुलता बताया है। लेवब[8] के अनुभव के अनुसार रोग के प्रारम्भ तथा लक्षणों में काफी विभिन्नता होती है, फिर भी यदि मूत्र-तंत्र की भली भाँति परीक्षा की जाए तो इसका निदान करना कोई कठिन नहीं होता।

रोगी का इतिहास लेने पर सप्ताहों अथवा महीनों तक उसकी हालत में गिरावट मिलती है। पशु की खान-पान में रुचि रहते हुए भी उसके माँस तथा दूध का निरन्तर ह्रास होता रहता है तथा उसे दस्त भी आ सकते हैं। कभी-कभी एक अच्छे भले पशु में

उग्र अपच के लक्षणों अथवा रह-रह कर दर्द होने के साथ इस बीमारी का एकाएक आक्रमण हुआ करता है। गाय बेचैन होती, पिछले पैर फड़फड़ाती अथवा अपने तलपेट पर मारती या पीठ को खलाकर खड़ी होती है। इसका बाहर से दिखाई देने वाला प्रथम लक्षण रक्त मिश्रित पेशाब का होना है और लेखक के अनुभव के अनुसार यह रोग का एक विशिष्ट नैदानिक लक्षण है। किन्तु, ऐसा प्रसवकालीन हीमोग्लोबिन रक्तता में भी हुआ करता है। एसीटोन मूत्रता के लिए रॉस-परीक्षण (Ross Test) करने पर मूत्र धनात्मक सिद्ध हो सकता है और रोगी पशु में उत्तेजक तथा अन्य घबराने वाले लक्षण मौजूद हो सकते हैं। अन्य उदाहरणों में पशुपालक अपने पशु को जोर लगाकर बार-बार पेशाब करता देखता है। कभी-कभी प्रारम्भिक लक्षणों के बाद रोगी को भीषण गर्भाशयशोथ हो जाती, अथवा उसका गर्भाशय उलट जाता है और ऐसे रोगियों में यह अनुमान किया जा सकता है कि प्रसवकालीन रोग प्राथमिक है। पशु पालक यह रिपोर्ट कर सकता है कि गाय के पास से उग्र सेप्टिक गर्भाशय शोथ की भाँति बहुत ही बदबूदार गन्ध निकलती है। इनमें से एक चरागाह पर गिरी हुई पाई जाने वाली एक दो वर्ष की आयु की बछिया थी। दूसरे उदाहरण में एक गाय अपनी जेर खाकर ही मर गई थी जिसका शव-परीक्षण करने पर काफी बढ़ी हुई गोणिकावृक्क-शोथ मिली।

परीक्षण करने पर पशु की सामान्य हालत सदैव नार्मल से गिरी हुई पाई जाती है और प्रायः वह जीर्ण-शीर्ण हो जाता है। श्लेष्मल झिल्लियों, नाड़ी-गति, श्वसन तथा
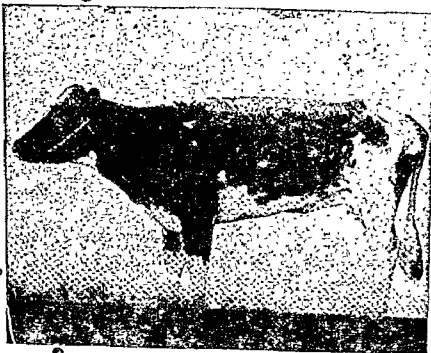
चित्र—39. गोणिकावृक्कशोथ से पीड़ित एक रोगी पशु। इसका स्वभाव तथा अन्य सामान्य लक्षण अभिघातज आमाशय शोथ से मिलते-जुलते हैं।

शारीरिक तापक्रम में कोई परिवर्तन नहीं दिखाई पड़ता। फिर भी रोग की विकास

कालीन अवस्था में नाड़ी-गति बढ़ी हुई तथा श्लेष्मल झिल्लियाँ पीली पड़ जाती हैं। मूत्र-तंत्र का परीक्षण करने पर योनि में पीव, रक्त तथा मूत्र का सम्मिश्रण मिलता है। योनि की दीवालों को थपथपाने से मूत्राशय में घुसने के स्थान पर मूत्र-नलिकाएँ काफी फूली हुई प्रतीत होती हैं और उन्हें रेक्टम की अपेक्षा योनि द्वारा अधिक शीघ्रता से टटोला जा सकता है। मूत्र मार्ग के द्वार से यदि अँगुली घुसेड़ी जा सके तो मूत्राशय की श्लेष्मल झिल्ली की खुरदरी तथा मोटी अवस्था को पहचाना जा सकता है। रेक्टम में हाथ डालकर थपथपाने से गुर्दे बढ़े हुए मालूम पड़ते हैं। इनमें सामान्य पालिभवन की अनुपस्थिति होती है। किन्तु सतह फिर भी चिकनी हो सकती है। गुर्दों को दबाने से दर्द होता है। रेक्टम की दीवालों द्वारा मूत्र-नलिकाओं के विशिष्ट तनाव का पता लगाया जा सकता है। रोगी की हालत में सुधार हो सकता है। प्रत्यक्ष रूप से वह बिल्कुल ठीक हुआ मालूम देता है, किन्तु रोग के लक्षण पुनः प्रकट हो सकते हैं। कभी-कभी गुर्दों, मूत्र-नलिकाओं तथा मूत्राशय में मलाशय-परीक्षण द्वारा पहचाने जाने वाले असामान्य परिवर्तन ही नहीं दिखाई पड़ते।

लेखक के अनुभव के अनुसार मूत्र का परीक्षण करने पर सदैव ही पीवयुक्त गुर्दाशोथ का प्रमाण मिलता है। रक्त के छीछड़े अथवा पीवयुक्त लाल रंग का मूत्र इसकी प्रमुख पहिचान है। कभी-कभी पेशाब में बदबू भी आती है। मूत्र का विश्लेषण करने पर 1000 घ०सें० मूत्र में 5 अथवा 6 ग्राम ऐल्बूमिन निकलती है। अधिकांश रोगियों में काँच के स्लाइड पर बनाए गए लेप में कोरिनेबैक्टीरियम रीनैलिस जीवाणु पाया जाता है।

कुछ दिनों, अथवा कुछ महीनों से लेकर एक वर्ष तक में रोगी की मृत्यु हो सकती है। बहुत ही कम रोगी अच्छे हो पाते हैं। मूत्र तथा मूत्र-तंत्र का भौतिक परीक्षण करके रोग का सही निदान किया जा सकता है। यद्यपि कि कोरिनेबैक्टीरियम रीनैलिस की उपस्थिति को इस बीमारी का प्रमाण माना जाता है, फिर भी केवल इस जीवाणु की उपस्थिति कम महत्व की सिद्ध हो सकती है। रोग का विभेदी निदान करने के लिए अभिघातज आमाशय शोथ, ऐसिटोन रक्तता, पुराना कीटाणु अतिसार, यकृत की क्षयाक्षयता, गर्भाशय शोथ, और प्रसवकालीन हीमोग्लोबिन-रक्तता पर भी विचार करना चाहिए। हीमोग्लोबिनमेह प्रदर्शित करने वाले युवा बछियों के एक समूह में, मूत्र से कोरिनेबैक्टीरियम रीनैलिस जीवाणु प्राप्त किया गया। इसके अतिरिक्त इसमें गोणिकावृक्कशोथ के कोई अन्य विशिष्ट लक्षण मौजूद न थे।

चिकित्सा—वैसे तो गोणिकावृक्कशोथ की कोई विशिष्ट चिकित्सा नहीं है, फिर भी सोडियम फास्फेट, (4 औंस, 125 ग्राम नित्य) के प्रयोग से कुछ रोगियों में काफी सुधार होते देखा गया है और कभी-कभी यह अति लाभकारी सिद्ध हो सकता है। इस चिकित्सा का लेखक को पहले-पहल हेयर फोर्ड, इंगलैंड के आर० ई० बारकर (R. E. Barker) के साथ बात करते-करते पता लगा जिन्होंने इस बीमारी में इसका प्रयोग गुणकारी बताया। यह मूत्र को अम्लता प्रदान करता है और इस प्रकार उस संक्रमण पर काबू पा लेता है जिससे मूत्र में क्षारीय प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है। आक्रमण के प्रारम्भ में चिकित्सा की इस विधि द्वारा गोणिकावृक्क शोथ के कई रोगियों में सुधार होता देखा गया।

बेक आदि[11] (Beck et al) ने गोणिकावृक्कशोथ के 6 रोगियों को पैनिसिलिन देकर चिकित्सा की एक रिपोर्ट प्रस्तुत की। रिपोर्ट के समय तीन गायें बिल्कुल ही ठीक होती मालूम हुईं। एक की पेशाब में पुनः खून आया तथा दो के मूत्र में कोरिनेबैक्टीरियम रीनेल नामक जीवाणु पाया गया। रोग के प्रारम्भ में प्रति दूसरे दिन 2 से 3 दशलक्ष यूनिट प्रोकेन पैनिसिलन का अंतःपेशी इन्जेक्शन देना गुणकारी सिद्ध हुआ और अब यह गोणिकावृक्कशोथ की चिकित्सा में आमतौर से प्रयोग किया जाता है।

संदर्भ

1. Boyd, W.L., Pyelonephritis of cattle, Cornell Vet., 1918, 8, 120.
2. Hess (Bern). Schweizer Archiv f. Tierheilkunde, 1888, 30, 269.
3. Hoflich, Die Pyelonephritis beacillosa des Rindes, Monatshefte, f. Tierheilkunde, 1891, 2, 337.
4. Enderlein E., Primare infektiose Pyelonephritis beim Rinde, Deutsch. Zeit. F. Tiermedizin, 1891, 17, 325.
5. Jones, F.S., and Little, R.B., Specific infections cystitis and pyelonephritis of cows, J. Exp. Med., 1925, 42, 593.
5. Jones, F.S., and Little, R.B., The organism associated with the specific cystitis and pyelonephritis of cows, J. Exp. Med., 1926, 44, 11.
5. Jones, F. S., and Little, R. B. A contribution to the epidemiology of specific infectious cystitis and pyelonephritis of cows, J. Exp. Med., 1930, 51, 909.
6. Byod, W. L., Pyelonephritis of cattle, Cornell Vet., 1927, 17, 45.
7. McFadyean, Sir John, Nephritis in animals, J. Comp. Path. and Ther., 1929, 42, 58, 141, 231.
8. Boyd, W. L., and Bishop, L. M., Pyelonephritis of cattle and horses, J.A. V.M.A., 1937, 90, 154.
9. Olafson, P., Pyelonephritis in a dog due to corynebacterium renalis, Cornell Vet., 1930, 20, 69.
10. Wester, abs. Jahresbericht, 1927, p. 574, from Tijdschr. v. Diergenees kunde, 1927, 53, 1105.
11. Beck, J. D., DeMott, Thomas, and Boucher, Wm. B., A. report of six cows with infectious cystitis and pyelonephritis treated with penicillin, Vet., Ext. Quar. No. 100, Univ. Pa., 1945.

हृदय के रोग

(DISEASES OF THE HEART)

मनुष्य के हृदय के रोगो की अपेक्षाकृत पशुओं में हृतरोग बहुत ही कम होते हैं। निम्न वर्ग के पशु कभी-कभी नष्टकीय सवहनीय परिवर्तनो से पीडित हुआ करते हैं जो कि मनुष्य में हृत रोग का प्रमुख कारण है। पशुओं के हृदय में गौण संक्रमण बहुत कम होता है तथा वे शारीरिक एवं मानसिक थकान से कम पीडित हुआ करते हैं। पालतू पशुओं में हृत्‌रोगों के प्रमुख कारण निम्न प्रकार हैं (1) फुफ्फुस संचरण में बाधा पड जाना, जैसा कि घोडा में फेफडा की वातस्फीति (emphysema) में हुआ करता है, (2) संक्रमण तथा विष, और (3) घोडो में वृद्धावस्था, दीर्घकालिक तनाव तथा अति वृद्धि। इसकी मुख्य तौर पर तीन प्रकारें देखी गई हैं हृदय झिल्ली शोथ, तनाव एवं अति वृद्धि के साथ हृत्‌पेशी शोथ, तथा अन्तर्हृंतशोथ (कपाटीय रोग)। गो-पशुओं में इनके अतिरिक्त अभिघातज हृदय झिल्ली शोथ और हृत्‌पेशी शोथ हुआ करती हैं जो अपने वर्ग में अन्य प्रकारो के संयुक्त वेग से भी अधिक तेज होती हैं। कभी-कभी पालतू पशुओं में पैतृक हृत्‌रोग भी देखने को मिलते हैं।

हृदय-झिल्ली शोथ

(Pericarditis)

कारण—अभिघातज हृत्‌ झिल्ली शोथ के अतिरिक्त, जिसका कि अभिघातज आमाशय शोथ के अन्तर्गत वर्णन किया गया है, यह रोग बहुत कम होता है। बछडा की विषाक्तता, नाभि रोग, गलघोटू अश्व निमोनिया, सूकर कालरा, क्षयरोग, लँगडिया, गल-ग्रंथिल रोग, सूकर-एरिसिपलास जैसे संक्रमणो में यह गौण रूप में होता है। इसकी छूत प्राय रक्त परिवहन द्वारा शरीर में प्रविष्ट होती है, किन्तु यह कुछ रोगो जैसे प्ल्युरा निमोनिया के परिणामस्वरूप भी हो सकता है। कभी-कभी अवांछित पदार्थों तथा रेटिकुल और डायाफ्राम के मध्य अभिलागा की अनुपस्थिति में भी गायों में हृत झिल्ली शोथ रोग देखा जाता है। ऐसे रोगियो में यह संभव है कि तार अथवा आल्पीन जैसी नुकीली वस्तु के घुसकर निकल जाने से छिन्ने वाली चोट लग गई हो। कुछ रोगियों में हृत झिल्ली शोथ प्राथमिक रूप में भी होती देखी गई है। चल चिकित्सालय में 4 माह की आयु की होल्सटिन बछिया, एक युवा सूअर तथा एक 12 वर्षीय घोडे में यह रोग ज्ञात देखा गया।

विकृत शरीर रचना—सामान्य संक्रमणो के साथ होने वाली रोग की उग्र प्रकार में हृदय झिल्ली की अन्दरूनी सीरस सतह पर प्रमुख रूप से इसका आक्रमण होता है। इससे निकलने वाला तरल पदार्थ पानी जैसा पतला, छीछडयुक्त, पीवयुक्त अथवा रक्तयुक्त हो सकता है। प्रत्यक्ष रूप से अभिघातज हृत्‌-झिल्ली शोथ से ठीक होने वाली गाय का शव परीक्षण किया गया तो उसके हृदयावरण पर लाल दानेदार सतह मिली।

लक्षण—अन्य भीषण संक्रमणों के साथ गौण उग्र हृत-झिल्लीशोथ को केवल शव-परीक्षण करके ही पहचाना जा सकता है। बढ़ी हुई नाड़ी-गति, श्वास कष्ट तथा शिरात्मक नाड़ी (venous pulse) इसके रुधिर परिवहन संबंधी लक्षण हैं। हृदयावरक रगड़ ध्वनियों (pericardial friction sounds) की अनुपस्थिति में इसका निदान करना काफी कठिन हो जाता है। दीर्घकालिक क्षयग्रसित हृदय-झिल्ली शोथ ऐसे लक्षण उपस्थित करती है जिन्हें अभिघातज हृदय-झिल्ली शोथ के लक्षणों से अलग नहीं पहचाना जा सकता। प्रायमिक उग्र हृदय-झिल्ली शोथ में कमजोरी तथा तेज नाड़ी-गति के रूप में लक्षण एकाएक प्रकट होते हैं जिनसे शीघ्र ही पूर्ण अवसन्नता होकर रोगी की मृत्यु हो जाती है। स्टीवेंस[1] (Stevens) द्वारा वर्णित प्राथमिक दीर्घकालिक फाइब्रिनी हृदय-झिल्ली शोथ से पीड़ित एक घोड़े में प्रारम्भिक लक्षण सुस्ती तथा अपच के थे। दो सप्ताह बाद 104° फारेनहाइट तक तेज बुखार, शरीर भार तथा शक्ति का शीघ्र पतन, निर्बल तथा तेज नाड़ी, नाक से श्लेष्मा एवं पीव मिश्रित गाढ़ा स्राव गिरना, खाँसी की अनुपस्थिति, वक्ष तथा पैरों में सूजन और हृदय की तेज धड़कन आदि लक्षण देखे गए। 6 सप्ताह बाद सूजन काफी बढ़ गई थी तथा शिरात्मक नाड़ी काफी प्रमुख थी। वक्ष के ऊपर थपथपाने से पशु दर्द का अनुभव करता तथा निचले आधे भाग पर बढ़े हुए भद्दे क्षेत्र का अनुमान होता था। उदर दुबला-पतला तथा गोबर पानी जैसा पतला था। शव-परीक्षण करने पर हृदय-झिल्ली तनावपूर्ण पाई गई। इसमें 8 से 10 क्वार्ट पीले रंग का पतला मवाद भरा हुआ था तथा ऊपर से यह फाइब्रिन की मोटी तह से आच्छादित थी।

इसका इलाज बिल्कुल ही लक्षणानुसार है और यह आमतौर पर हृदय अथवा रक्त संचारी निर्बलता की भाँति ही होता है। ऐल्कोहल, कपूर, एरोमैटिक अमोनिया स्प्रिट अथवा कैफीन जैसी औषधियाँ लाभदायक हो सकती हैं।

संदर्भ

1. Stevens, G., Goss L. J., and Fincher, M. G., Pericarditis in a horse, case report, Cornell Vet., 1938, 28, 254.

हृदय का उग्र तनाव
(Acute Dilatation of the Heart)
(तीव्र हृत्निर्बलता)

घोड़ों में; अत्यधिक कार्य करने के प्रभाव से तीव्र हृत्निर्बलता किसी भी आयु पर हो सकती है। फार्म के घोड़ों में काफी दिनों तक कोई काम न करने के बाद यह रोग विशेषकर वसंत के प्रारम्भ में गर्म महीनों में हुआ करता है। यातायात के लिए प्रयोग होने वाले फौजी घोड़ों में भी यह रोग खूब होता है। श्वास-कष्ट, चलने में अनिच्छा, कभी-कभी अवसन्नता (दौरे पड़ना), तीव्र नाड़ी, परिसर शिराओं का तनाव तथा पसीना आना इसके लक्षण हैं। एक उग्र आक्रमण के थोड़ी देर बाद शरीर में पसीना आता, कमजोरी तथा साँस लेने में कष्ट होता तथा नाड़ी-गति 75 अथवा अधिक पाई जाती है। आराम देने तथा चिकित्सा से या तो रोगी ठीक हो जाता है अथवा तनाव दीर्घकालिक एवं ला-इलाज हो जाता है।

आक्रमण के बाद पशु को भूख कम लगती है तथा जब उसे काम पर लगाया जाता है तो अवसन्नता पुनः प्रकट हो सकती है। रोगी पशु की सामान्य दशा अच्छी रह सकती है। कुछ रोगियों में एन्फ्लूएंजा जैसे हाल के उग्र संक्रमण का इतिहास मिलता है। दीर्घकालिक तनाव की भाँति, काम करते समय पशु की नाक से रक्त प्रवाह होता एवं उसे श्वास कष्ट हो सकता है। कुछ समय बाद पशु बहुत ही निर्बल हो जाता है तथा उसकी श्लेष्मल झिल्लियाँ पीली पड़ जाती हैं। रोग का बार-बार आक्रमण होना दीर्घकालिक तनाव का सूचक है। रक्त संचार बन्द होकर रोगी की एकाएक मृत्यु हो सकती है और प्रायः कारण का पता ही नहीं चल पाता। गिलयार्ड[1] (Gilyard) द्वारा रिपोर्ट किए गए एक रोगी में, यह रोग कारोनरी थ्राम्बोसिस के कारण था।

चिकित्सा—उग्र लक्षणों से आराम पाने के लिए 1 से 2 ड्राम (4–8 ग्राम) कैफीन सोडियम बेंजोएट अथवा 1/4 से 1/2 ग्रेन (0 015–0 03 ग्राम) ऐट्रोपीन सल्फेट जैसी हृदय को उत्तेजना प्रदान करने वाली औषधियाँ दीजिए। पशु को आराम देना अथवा हल्का काम लेना वाछनीय है।

संदर्भ

1. Gilyard, R. T., Coronary occlusion in a race horse, Bull. U.S. Army Med. Dept., 1944, No. 77, p. 87.

हृदय की दीर्घकालिक अति वृद्धि एवं तनाव
(Chronic Hypertrophy and Dilatation of the Heart)

परिभाषा—प्रमुख तौर पर यह एक वृद्ध घोड़ों की बीमारी है जिसमें विशेषकर काम करते समय अवसन्नता तथा नाक से खून गिरने के आक्रमण हुआ करते हैं। रोग-विज्ञान के दृष्टिकोण से दायाँ हृदय तना हुआ तथा उसकी दीवाल का अपक्षय मिलता है। कुछ रोगियों में पूरा हृदय बढ़ा हुआ मिलता है।

कारण—लेखक के अनुभव के अनुसार यह अवस्था कभी-कभी वृद्ध घोड़ों में देखने को मिलती है तथा अन्य जातियों में नहीं होती। इसके कारण का पता लगाना काफी कठिन है। संभवतः कुछ कारण, मनुष्य की भाँति, बुढ़ापे की नष्टकीय क्रियाओं से सम्बन्धित हो सकते हैं। अन्य कारण एन्फ्लूएंजा तथा निमोनिया जैसे उग्र संक्रमणों के फलस्वरूप हुआ करते हैं। लेखक द्वारा अवलोकित 8 वर्षीय घोड़े में यह रोग सुविकसित दीर्घकालिक फुफ्फुस निमोनिया के परिणामस्वरूप था। उग्र तनाव अथवा हृदय की निर्बलता के परिणाम-स्वरूप भी यह रोग हो सकता है।

विकृत शरीर रचना—हृदय की मांसल दीवाल के अपक्षय के साथ दायें निलय का तनाव होना, इसका प्रमुख क्षतस्थल है। लेखक के चल-चिकित्सालय में एक पशु के किए गए शव-परीक्षण में दायें निलय की हृतपेशी में पूर्ण अपक्षयित क्षेत्र मिले जिनके कारण हृदय की ऊपरी तथा भीतरी दीवाल परस्पर छू जाती थी। श्वासनली तथा ब्रोंकाई में रक्त-स्राव, फुफ्फुस अवरोध, फुफ्फुस वातस्फीति, दीर्घकालिक न्यूमोनिया, झिल्ली शोथ तथा यकृत में अनेक फोड़ों के साथ मेसेण्टेरिक धमनी की शाखाओं में अत्यधिक थ्राम्बस बनना

आदि अन्य अंगों में दिखाई देने वाले परिवर्तन थे। हृदय की मांसपेशी थोड़ा हल्के रंग की और मुलायम हो सकती है तथा कुछ में इसका वसीय अपकर्षण होता हुआ सा दिखाई देता है।

लक्षण—कई सप्ताह तक हालत का गिरा हुआ दिखाई देना, सुस्ती, तथा काम करते समय कमजोरी और पसीना आना आदि इसके लक्षण हैं। चलने में अकड़न तथा पशु की अँतड़ी में बार-बार पीड़ा होती है। चलाने-फिराने पर घोड़ा लड़खड़ाता और गिरता है। उसकी नाक से खून निकलता तथा साँस लेते समय कष्ट होता है। परीक्षण करने पर श्लेष्मल झिल्ली पीली दिखाई देती, त्वचा के नीचे सूजन मिलती तथा तापक्रम सामान्य अथवा 104° फारेनहाइट तक हो सकता है। रक्त-परिवहन संस्थान का निरीक्षण करने पर हृदय निर्बल तथा उसकी धड़कन बढ़ी हुई मिलती है। स्टेथॉस्कोप द्वारा हृदय की जाँच करने पर घर्घराहट अथवा मिश्रित ध्वनि सुनाई देती है। नाड़ी-गति अनियमित, मुलायम और प्रायः सविराम होती है। जब यह संलक्षण भलीभाँति स्थायी हो चुके होते हैं तो एक से तीन सप्ताह में रोगी की मृत्यु हो जाती है। घोड़ा काम करते-करते गिरकर मर सकता है, अथवा दर्द के आक्रमण से मर जाता है, अथवा बिना किसी पूर्व-सूचक लक्षण के मरा हुआ पाया जाता है।

चिकित्सा—रोग की चिकित्सा के लिए रोगी को पूर्ण आराम देकर 1/2 से 2 ड्राम (2–8 ग्राम) की मात्रा में नित्य डिजीटेलिस देनी चाहिए।

ढोरों का अधरवक्ष रोग

(Brisket Disease of Cattle)

ऊँचाई के प्रभाव के कारण हृदय की अति वृद्धि हो जाना अधर-वक्ष रोग कहलाता है। प्रत्यक्ष रूप से इसे केवल कोलोरैडो के ग्लोवर और न्यूसम[1] (Glover and New som) द्वारा देखा एवं वर्णन किया गया है। 45 पशुओं के अध्ययन से उन्होंने यह प्रदर्शित किया कि ऊँचाई (9000 फिट) पर पाले जाने वाले पशुओं का हृदय, समुद्रतल पर पाले जाने वाले पशुओं की अपेक्षाकृत, प्रति 1000 पौण्ड शरीर-भार पर औसतन 0.879 पौण्ड भारी था।

क्षीणता, त्वचा के नीचे सूजन में सीरम भरा होना, शारीरिक-गुहाओं में साफ सीरम तथा अँतड़ी एवं उदर की दीवाल की पेरिटोनियम के नीचे अत्यधिक सूजन होना आदि, शव-परीक्षण पर पाए जाने वाले प्रमुख परिवर्तन हैं। यकृत बढ़ जाता तथा फेफड़ों में सूजन आ जाती है। हृदय बढ़कर तन जाता तथा मुलायम हो जाता है।

लक्षण—सुस्ती, चारे में अरुचि, दस्त, बढ़ी हुई नाड़ी-गति तथा तेज श्वास-प्रश्वास के लक्षणों के साथ रोग प्रारम्भ होता है। बछड़े अधरवक्ष की सूजन प्रकट होने से पूर्व ही मर सकते हैं। बाद में, जबड़ों के नीचे से लेकर अधरवक्ष तक फूली हुई सूजन होती है जो पैरों तथा उदर के निचले भाग तक फैल सकती है। जैसे-जैसे बीमारी बढ़ती है रोगी पशु हृदय की निर्बल गति, जुगुलर नाड़ी, धौंकना तथा व्यायाम करने पर नाक से खून गिरना आदि लक्षण प्रदर्शित करता है। रक्त में हीमोग्लोबिन तथा लाल रक्त-कणों की संख्या अधिक होती है। प्राण-

घातक आक्रमण में इस बीमारी की अवधि दो सप्ताह से लेकर तीन माह तक की हो सकती है। ऊँचाई से निचाई पर लाने से पशु ठीक होने लगता है।

सदर्भ

1. Glover, G H, and Newsom, I. E, Brisket Disease (Dropsy of High Altitudes), Colo Agr Exp. Sta, Bull 204, 1915 Further studies on brisket disease, J. Agr. Res, 1918, 15, 409

हृत्पेशी शोथ
(Myocarditis)

यद्यपि कि उग्र एव दीर्घकालिक हृत्पेशी शोथ का वास्तविक अर्थ सूजन है किन्तु अधिक विसृत रूप में इसके अन्तर्गत अपकर्षण के परिवर्तन भी आते हैं। रोग-ग्रसित हृदय की निर्बलता, पहचाने जाने वाले शरीर-रचनात्मक परिवर्तनो पर आधारित नही होती। पशुओ में हृत्पेशी शोथ बहुत कम हुआ करती है।

कारण—पशुओ में हृत्पेशी शोथ प्राय सक्रामक हुआ करती है। गो-पशुओ तथा सूकरो में खुरपका मुँहपका रोग के अन्त में यह प्राणघातक रूप में, मेमनो के अकडन रोग में, अश्व निमोनिया में, भयकर रक्त विषाक्तता में, काला मूत्र रोग में, और लू में प्रकोप करती है। यह अतर्हृत्पेशी शोथ तथा हृदय-झिल्ली शोथ के बाद भी हो सकती है। मनुष्य में हृत्पेशी शोथ का प्रमुख कारण, धमनी-काठिन्य (arteriosclerosis) है जो पशुओं में बहुत कम होता है। मोटे सूकर में हृत्पेशी के अपकर्षण का एक प्रकार हैनोवर में कॅर्सटन[1] (Karsten) द्वारा वर्णन किया गया है। इसके क्षतस्थल छोटे-छोटे गोलाकार पीले अथवा धूसर रग के धब्बे के रूप में मासपेशी पर समान रूप से वितरित होकर खुरपका-मुँहपका रोग से मिलते-जुलते है। रोगी की एकाएक मृत्यु हो जाती है और कारण का अभी तक पता न चल सका है। थामस[2] (Thomas) और उनके साथियो द्वारा किए गए प्रयोग यह प्रदर्शित करते हैं कि चूहो तथा सुअरो को जब पोटासियम और विटामिन बी रहित राशन खिलाया जाता है तो उनमें भयकर हृत्पेशीय क्षतस्थल विकसित होते है जिन्हें मांस पेशियो के अपक्षय तथा कोशीय अन्तर्गलन (cellular infiltration) द्वारा पहचाना जाता है।

विकृत शरीर रचना—निम्न प्रकार इसकी तीन प्रमुख शरीर-रचनात्मक अवस्थाएँ वर्णित है (अ) उग्र पेरेंकाइमेटस मास-पेशी शोथ जिसमें रगहीन धब्बे, टूटने वाले प्रकार तथा हल्के रग की हृत्पेशी मिलती है ('शेर हृदय')। हिस्टोलॉजिकल परीक्षण मांस पेशियो का अपकर्षण प्रदर्शित करता है, (ब) अन्तरालीय टिसुओ की टूट-फाट के साथ दीर्घकालिक अन्तरालीय हृत्पेशी शोथ, और (स) हृत फोडा (cardiac abscess)।

सदर्भ

1. Karsten, Ueber die vielortliche Herzmuskelentartungen bei Schweinen, Deutsch tier. Wchnschr, 1931, p 471.
2. Thomas, R M., Mylon, E, and Winternitz, M. C, Myocardial lesions resulting from dietary deficiency, Yale, J. Biol. and Med., 1940, 12, 345.

उग्र अंतर्हृत्शोथ
(Acute Endocarditis)

कारण—उग्र अतर्हृत् शोथ रक्त प्रवाह से विभिन्न प्रकार के जीवाणुओ द्वारा उत्पन्न होने वाला एक प्रमुख मितस्थायी सक्रमण है। यद्यपि कि यह रोग अक्सर प्रकोप करते रिपोर्ट किया गया है फिर भी लेखक के चिकित्सालय में यह कभी नही देखा गया। गायो में इसका प्रमुख कारण प्रसवकालीन रक्त-विषाक्तता है तथा टाप धारी पशुओ में इसका सक्रमण घाव से होता कहा जाता है। सूकर-एरिसिपेलास (swine erysepelas) तथा अश्व-निमोनिया जैसी विभिन्न सक्रामक बीमारियो में गौण रूप से उग्र अतर्हृत् शोथ हो सकती है। प्रत्यक्ष रूप से इस बीमारी तथा अधिकतर प्रकोप करने वाली दीर्घकालिक अतर्हृत् शोथ (कपाटिकी रोग) के मध्य अलगाव की कोई विशिष्ट सीमा निर्धारित नही है।

विकृत शरीर रचना—यद्यपि कि कीलकी अतर्हृत्शोथ (E verrucosa) तथा व्रणीय अतर्हृत्शोथ (E. ulcerosa) नामक इसकी दो शरीर-रचनात्मक अवस्थाएँ वर्णित हैं, फिर भी इन दोनो में स्पष्ट विभिन्नता नही है। अधिकाश रोगियो में हृदय के कपाट ही क्षतस्थलो का प्रमुख स्थान होते हैं। कीलकी अतर्हृत्शोथ में हृदय की भीतरी सतह के नीचे 1 से 2 मिलिमीटर व्यास की ग्रथियो के आकार के अनेक छोटे-छोटे दाने से होते है जिनसे एक प्रकार का स्राव वहता है। इन ग्रथियो के फटने से हृदय के कपाटो के किनारो पर मस्से के आकार की वृद्धि हो जाती है। कपाट मोटे होकर निलय की दीवाल से चिपक सकते हैं। व्रणीय अतर्हृत्शोथ, हृदय की भीतरी सतह की परिगलित सूजन है जिसमें विभिन्न आकार के घाव वन जाते हैं।

लक्षण—उग्र अतर्हृत्शोथ के लक्षण हृत-रोगो की अन्य उग्र अवस्थाओ की भाँति ही होते हैं। हृदय की धडकन तथा गति काफी वढ जाती है। नाडी तेज, अनियमित, निर्वल तथा रुक-रुक कर चलती है। पशु को प्राय तेज बुखार तथा श्वास-कष्ट होता है। इससे पशु की शीघ्र ही मृत्यु हो सकती है, अथवा रोग उग्र अवस्था में कई सप्ताह तक चलता रह सकता या दीर्घकालिक (कपाटिकी रोग) हो जाता है।

चिकित्सा—पशु को आराम देने तथा डिजीटैलिस के प्रयोग से कीलकी अतर्हृत्शोथ ठीक हो सकती है। व्रणीय अतर्हृत्शोथ का कोई इलाज नही है।

दीर्घकालिक अंतर्हृत्शोथ
(Chronic Endocarditis)
(पुराना कपाटिकी रोग)

कारण—पुराना कपाटिकी रोग गायो में कभी-कभी होता है जहाँ इसके लक्षण अभिघातज हृदय झिल्ली-शोथ से मिलते-जुलते हैं। यद्यपि कि इसको उग्र अतर्हृत्शोथ के परिणामस्वरूप होता कहा जाता है, किन्तु गायो में होने वाले लेखक के सभी रोगी विना उग्र हृत् लक्षणो के इतिहास के दीर्घकालिक थे और प्रत्यक्ष रूप से सभी प्राथमिक प्रसव-कालीन सक्रमण अथवा अभिघातज आमाशय शोथ के परिणामस्वरूप थे। सुअरों में सूकर

एरिसिपेलास के परिणामस्वरूप कपाटिकी रोग अधिक हुआ करता है और कभी-कभी इसी प्रकार यह सूकर-कालरा, तथा सूकर-प्लेग से भी हो सकता है। घोड़ों में एन्फ्लूएंजा तथा निमोनिया इसके प्रमुख कारण हैं। यूकेन[1] (Euken) ने ऐसे कई रोगियों का वर्णन किया है जो गायों में यकृत-फ्लूक रोग से सबधित थे। हटेनरीटर[2] (Huttenreiter) के अनुसार जर्मन फौज में सत्तरह वर्ष की अवधि में घोड़ों में कपाटिकी रोग के 380 रोगी देखे गए। चल चिकित्सालय में चिकित्सा किए गए एक 9 माह की आयु के बछड़े में कपाटिकी-वृद्धि से प्राप्त सवर्द्धन में बैक्टीरियम कोलाइ जीवाणु मिला और फिचर ने दाहिने हृदय के कपाटिकी रोग से पीड़ित गाय के रक्त से प्राप्त विशुद्ध सवर्द्धन में कोरिनेबैक्टीरियम पयोजिनस जीवाणु पाया। अभिघातज हृदय झिल्ली शोथ से मरी हुई दो गायों में बाएँ अलिंद निलय के कपाटों पर तन्तुमय वृद्धि पाई गई। कर्नकैम्प[3] ने सुअरों में अतर्हृत्शोथ के 19 रोगी रिपोर्ट किए जिनमें से 11 में इ० रूसिओपैथी (E rhusiopathae) और 8 में स्ट्रेप्टोकोकाइ जीवाणु मिले। साउटर आदि[4] (Sautter et al) ने 350 पौण्ड की सुअरी में अतर्हृत्शोथ के क्षतस्थलों से सूकर-जातीय पास्चुरेल्ला जीवाणु प्राप्त किए।

विकृत शरीर रचना—दाहिने अलिंद निलय कपाटों पर गोभी के फूल जैसी फाइब्रिनी का वर्द्धन, इसका प्रमुख क्षतस्थल है, किन्तु कुछ उदाहरणों में वे बाएँ अलिंद निलय कपाटों

चित्र—40 दीर्घकालिक अतर्हृत्शोथ से पीड़ित एक गाय का हृदय।

पर स्थित पाई जाती है।[5] गर्भाशय शोथ से पीड़ित तथा शीघ्र गर्भपात होने वाली एक

गाय में गोभी के फूल जैसी वृद्धि एक इंच मोटी तथा 4 इंच लम्बी थी। यह दाहिने हृदय के कपाटों से लेकर फुफ्फुस धमनी के छिद्र तक फैली हुई थी, जिसके कपाट घावयुक्त तथा दानेदार थे। यह वृद्धियाँ प्रायः 1 से 2 इंच व्यास की पीली तथा मुलायम होती हैं। निर्माण के प्रारम्भ काल में यह रक्तगुल्म (hematoma) जैसी दिखाई देती थीं। यकृत का परिगलन; एवोमेसम पर छाले; शीघ्र गर्भपात के साथ गर्भाशय शोथ; फुफ्फुस धमनियों में थ्रॉम्बोसिस; अति रसःस्रावी संधिशोथ; हृदय की अति वृद्धि, तनाव तथा अपक्षय; फेफड़ों का संकुलन; शारीरिक-गुहाओं में लाल रंग का सीरम भरा होना तथा दीर्घकालिक परिगत अभिघातज उदर झिल्ली शोथ आदि लेखक द्वारा देखे गए रोगियों में इस बीमारी से संबंधित अन्य क्षतस्थल थे। फेफड़ों में अवरोध तथा परिगलन एवं गुर्दों में अवरोध हो सकता है।

लक्षण – जैसा कि एक रोगी पशु में डा० पिकेंस[6] (Pickens) ने वर्णन किया है रोग का आक्रमण धीरे-धीरे होकर कई महीनों तक चल सकता है, अथवा लगभग एक सप्ताह की अवधि में ही लक्षण स्पष्ट हो सकते हैं। रोग-ग्रसित सभी गो-पशुओं की, जिनका लेखक के पास रिकार्ड है, आयु 9 माह से लेकर 6 वर्ष तक की थी। इनमें केवल दो पशु वृद्ध थे जिनके क्षतस्थल अभिघातज आमाशय शोथ से मिलते-जुलते थे। प्रायः शारीरिक क्षीणता, चारे में अरुचि तथा दूध उत्पादन में कमी का इतिहास मिलता है। गाय सुस्त रहती तथा उसमें अस्थाई लँगड़ाहट होती है। परीक्षण करने पर अभिघातज हृदय-झिल्ली शोथ की भाँति नाड़ी-गति बढ़कर 75 से 150 के मध्य मिलती है तथा स्पष्ट जुगुलर-नाड़ी मिल सकती है। रोगी की दयनीय दशा, अकड़न तथा हृदय के क्षेत्र पर थपथपाने से दर्द का अनुभव होना अभिघातज हृदय-झिल्ली शोथ का अनुमान कराता है, किन्तु छपाके के शब्द (splashing sounds) नहीं सुनाई देते हैं। तापक्रम सामान्य अथवा 104° फारेनहाइट तक बढ़ा हुआ हो सकता है। स्टेथॉस्कोप से देखने पर हृदय की एक ओर भद्दी ध्वनि तथा दूसरी ओर स्पष्ट धड़कन सुनाई पड़ती है। हृदय की ध्वनि सामान्य अथवा सनसनाहट युक्त हो सकती है। बीमारी की अवधि कुछ दिनों से लेकर कुछ महीनों तक की होकर, रोगी की प्रायः मृत्यु हो जाती है। रोग-ग्रसित पशु की मृत्यु अचानक एवं एकाएक हो सकती है। अंतिम समय में श्वास-कष्ट; निर्बलता; तथा वक्ष, गर्दन और पैरों पर सूजन दिखाई देती है। इसका कोई भी इलाज नहीं है।

संदर्भ

1. Euken, Ueber das gehäufte Auftreten einer endocarditis verrucosa bei Rindern, Deutsch. tier. Wehnschr., 1929, 37, 263.
2. Huttenrieter, Ein Fall von Insuffizienz der Trikuspidalis bei einem Truppenpferd. Zeit. f. Veterinärkunde, 1931, 43, 417.
3. Kernkamp, H. C. H., Endocarditis in swine due to Erysipelothrix rhusiopathiae and to streptococci, J.A.V.M.A., 1941, 98, 132.
4. Sautter, J.H., Pomeroy, B. S., and Fenstermacher, R.A., case of Pasteurella endocarditis in a pig, J.A.V.M.A., 1946, 109, 369.
5. Gibbons, W. J., Mitral thrombosis, case report, Cornell Vet., 1932, 22, 193.
6. Pickens, E. M., A case of mitral thrombosis in the heart of a cow, Cornell Vet. 1920, 10, 34.

रक्तोत्पादक अंगों के रोग
(DISEASES OF THE BLOOD-FORMING ORGANS)

अल्परक्तता
(Anemia)

शरीर में हीमोग्लोबिन, लाल रक्त कण अथवा रक्त के पूर्ण आयतन में कमी हो जाना अल्परक्तता कहलाता है। यह हड्डियों की लाल मज्जा में निर्माण न हो सकने, अथवा अधिक रक्त विनाशता या शरीर से रक्त-स्राव के फलस्वरूप खून की कमी के कारण हुआ करता है। वैसे तो प्राय समस्त अल्परक्तताएँ गौण रूप में हुआ करती हैं किन्तु जब कारण अज्ञात हो तब यह बीमारी प्राथमिक कही जा सकती है।

रक्तस्राव के बाद होने वाली अल्परक्तता उग्र अथवा दीर्घकालिक हो सकती है। बिना मृत्यु पाए शरीर से कितना रक्त बाहर निकल सकता है, यह मात्रा विभिन्न पशुओं में भिन्न-भिन्न होती है। गायें रक्त-स्राव के प्रति अन्य पशुओं की अपेक्षाकृत अधिक ग्रहणशील होती हैं। ऐसा ज्ञात किया गया है कि शरीर-भार का 5 5 प्रतिशत तक रक्त क्षीण हो जाने से पशु की मृत्यु नहीं होती, किन्तु इस तथ्य को मानना खतरे से खाली नहीं है। किसी छोटी रक्त-नलिका से लगातार रक्त बहने पर कुछ घंटों से लेकर दो या तीन दिन में पशु की मृत्यु हो सकती है। ऐसा ओवरी से कॉर्पसल्युटियम तोडने, सींग काटने तथा रसौली आदि का ऑपरेशन करने के उपरान्त हो सकता है। प्राय ऐसा कहा जाता है कि रक्त-नलिका से रक्त-स्राव होने पर जब शरीर में रक्त के ह्रास से रक्त-दाब गिरता है तो कटी हुई रक्त नलिका से रक्त का बहाव स्वत रुक जाता है और मृत्यु का भय होने के पूर्व ही यह स्व-नियन्त्रित कंट्रोल क्रियात्मक हो जाता है। भाग्यवश प्राय ऐसा ही हुआ करता है, किन्तु गोपशुओं में कभी-कभी इसके विपरीत भी होते देखा जाता है। लगातार रक्तस्राव होकर एका-एक मृत्यु हो जाना, पशुओं में कम देखा गया है। ऐसा रक्तस्राव, किसी धमनी के फट जाने, गल-ग्रंथिल रोग अथवा ग्लाडर्स (glanders) के कारण नासिका मार्ग में घाव हो जाने, गुर्दार्ति तथा फेफड़ों के क्षय में रक्त-नलिका के फट जाने अथवा गायों के फेफड़ों में फोड़ा हो जाने के परिणामस्वरूप हुआ करता है। फुफ्फुस शिरा के एकाएक फट जाने से लेखक ने दो घोड़ों की मृत्यु होते देखी। तिपतिया घास रोग (sweet clover disease), रक्तस्राव के बाद होने वाली अल्परक्तता का ही एक प्रकार मालूम देता है।

अधिकतर अल्परक्तताएँ अति रक्त विनाश के कारण ही हुआ करती हैं। दूषित आहार, पुरानी छुतैली बीमारियाँ, ऐस्केरिआसिस, स्ट्रांगाइलिडासिस, आमाशय-कृमि रोग, सामान्य परजीवी रोग, पाइरोप्लाज्मोसिस तथा प्रसवकालीन रक्त मूत्र रोग आदि अवस्थाओं के साथ इनका प्रकोप होता है। ऐस्केरिआसिस की भाँति इसका रुधिर-सलायी पदार्थ परजीवी विष अथवा बैक्टीरियल टाक्सिन हो सकता है। चीचडी रोग का रुधिर सलयन पाइरोप्लाज्म के द्वारा होता है। पुराने सक्रामक तथा परजीवी रोगों में अचेतनता के परिणामस्वरूप कम रक्त बनने और साथ ही सक्रमण के पदार्थों से रुधिर सलयन होने के कारण अरक्तता हुआ करती है।

कम रक्त बनने के कारण उत्पन्न अरक्तता पुराने नष्टकीय रोगों में देखने को मिलती है। पशु-आयुर्विज्ञान में इसकी बहुत कम महत्ता है।

हालत का गिरना, क्षीणता, त्वचा एवं श्लेष्मल झिल्लियों का पीला पड़ जाना तथा अति पीड़ित रोगियों में शोथ उत्पन्न हो जाना आदि, अरक्तता के प्रमुख लक्षण हैं। रोगी को पाचन विकार होते तथा नाड़ी-गति निर्बल और वेगवान होती है। लाल रक्त कणों की संख्या में 50 से 75 प्रतिशत कमी होकर हीमोग्लोबिन भी कम हो जाता है। पशु को पीलिया होकर अत्यधिक रुधिर संलयन होता है और विनाशता अति शीघ्र होने पर रोगी को हीमोग्लोबिनमेह हो सकता है।

स्वीट क्लोवर रोग
(Sweet Clover Disease)
(तिपतिया घास रोग)

परिभाषा—साइलेज अथवा सूखी घास के रूप में खराब तिपतिया घास (sweet clover) खाने से उत्पन्न होने वाली यह ढोरों की एक रक्त स्रवित प्राणघातक बीमारी है। रोडरिक तथा शाक[1] (Roderick and Schalk) द्वारा यह एक बिल्कुल ही नई बीमारी मानी गई है जो सन् 1922 से पूर्व कभी भी वर्णित न की गई और न चिकित्सा साहित्य में इसके मुकाबले का कोई रोग था। इसका, रक्तस्राव के बाद उत्पन्न होने वाली रक्तस्वाल्पता के साथ समूहन किया जा सकता है।

कारण—इस बीमारी को यूनाइटेड स्टेट् तथा कनाडा के अनेक भागों में पहचाना तथा वर्णित किया गया है। यह तथ्य कि बीमारी एक प्रकार की तिपतिया घास (स्वीट क्लोवर) द्वारा उत्पन्न होती है, कनाडा में, सर्वप्रथम स्कोफील्ड[2] द्वारा सन् 1924 में रिपोर्ट किया गया जबकि एक पशु-चिकित्सक जेम्स ब्राउन ने यह पता लगाया कि यह खराब तथा सूखी-तिपतिया घास खिलाने से उत्पन्न होती है। इसी समय शाक[3] (Schalk) ने इसे उत्तरी डकोटा में अनेक यूथों में पाया और साथ ही मध्यवर्ती पश्चिमी अनेक बहुवितरित क्षेत्रों में भी इसे पहचाना गया। तब से इस बीमारी को न्यूयार्क तथा अन्य प्रदेशों में, जहाँ तिपतिया घास (स्वीट क्लोवर) खिलाई जाती है, प्रकोप करते देखा गया। ऐसी सूखी घास खिलाए गए सुअरों के एक झुण्ड में 65 में से 20 सुअर बधिया करने के बाद रक्तस्राव से मर गए (जेन-सल जरनल, मार्च-अप्रैल, 1940)।

बीमारी प्रायः तीन वर्ष से कम आयु वाले पशुओं में ही प्रकोप करती है यद्यपि रोडरिक और शाक[1] ने ऐसा रिपोर्ट किया है कि यदि विषैली घास का खिलाना जारी रखा जाए तो प्रौढ़ एवं वृद्ध पशुओं में भी रक्तस्राव का प्रमाण मिलता है। अपने खाद्य-परीक्षणों में उन्होंने ऐसी दूषित घास को खिलाकर 2 वर्षीय पशुओं में औसतन 47 दिन में तथा एक वर्ष की आयु वालों में 15 दिन में रक्तस्राव के लक्षण उत्पन्न किए। ऐसी ही खुराक पर, 11 से 13 दिन में खरगोश मर गए। प्रसव के समय माँ तथा बछड़ा दोनों को ही रक्तस्राव होकर मृत्यु होने का भय रहता है, क्योंकि रक्तस्राव उत्पन्न करने वाले पदार्थ भ्रूण-संचरण (foetal circulation) में प्रवेश पा लेते हैं। ऐसे रोग-ग्रसित पशु में किसी भी

दुर्घटनावश लगा हुआ घाव अथवा आपरेशन जैसे सींग काटने, बधिया करने से उत्पन्न घाव, रक्तस्राव के कारण प्राणघातक सिद्ध होते हैं।

घास के विषयुक्त होने पर यह बीमारी युवा पशुओं को अवश्य लगती है। यद्यपि कि बीमारी को भेड़ों में भी उत्पन्न किया जा सकता है, फिर भी इस जाति में इसका कोई महत्व नही है। घोड़ों में यह बहुत ही कम होती है। सदेहयुक्त सूखी घास अथवा साइलेज की विषाक्तता का पता लगाने के लिए खरगोश बहुत ही उपयोगी पशु है।

सन् 1941 में कैम्पबेल और लिंक[1] ने यह प्रदर्शित किया कि रक्त-स्राव उत्पन्न करने वाला पदार्थ डिकौमेरिन (dicoumarin) है जो इस दूषित घास में मौजूद काउमेरिन से बनता है। बड़े-बड़े रसयुक्त डठलो के कारण इस घास को सुखाना आसान नहीं है और औसत फसल में कुछ दूषित घास अवश्य मौजूद रहती है। नियम के अनुसार यह दूषित घास खतरनाक नही होती। शाक[3] के अनुसार ऐसी घास खाकर पचास फार्मों में से एक फार्म के पशु रोग-ग्रसित होते हैं। इसकी विषाक्तता; इसमें उपस्थित दूषित घास की मात्रा से पता न चलकर पशु को खिलाने से ज्ञात होती है। शाक लिखते हैं कि "यद्यपि कुछ किसानो ने पूरे जाड़े भर अपने पशुओं को सफलतापूर्वक ऐसी घास खिलाई जिसमें कि सड़न लग चुकी थी, फिर भी अन्य कुछ ने ऐसी सूखी घास अथवा साइलेज खिलाकर दो से तीन सप्ताह में ही अपने यूथ के पशुओं में कष्ट का अनुभव किया।" घास को अकेला अथवा अन्य चारों के साथ मिलाकर खिलाने से भी रोग प्रकट हो सकता है और इसका एक बार प्रकोप होने से पशुओ में प्रतिरक्षा उत्पन्न नही होती। इस घास के चरागाहों पर चराने से पशुओं को यह रोग नही लगता। जो तिपतिया कड़ुवी नहीं होती, खराब हो जाने पर भी विषैली नहीं होती।

विकृत शरीर रचना—रक्तस्राव होकर पशु की मृत्यु हो जाती है तथा मरने के बाद अन्य कोई परिवर्तन नही पाया जाता। त्वचा के नीचे यत्र-तत्र रक्तस्राव अथवा शरीर पर ऊपरी सूजन के अनुसार रक्त के छीछड़े मिलते हैं। प्रमुखतौर पर नितम्ब, कटि तथा कंधे के क्षेत्र की मासपेशियो में अत्यधिक रक्तस्राव मिलता है। हृदय तथा हृदयावरण पर भी रक्तस्राव पाया जाता है। गर्भाशय में उपस्थित भ्रूण तथा नवजात बच्चे में भी रक्तस्राव मौजूद हो सकता है। टिसुओं के अन्दर रक्त जम जाता है, किन्तु, पेरिटोनियल-गुहा में यह तरल अवस्था में ही रहता है। श्लेष्मल झिल्लियो में रक्तस्राव बहुत ही कम होता है तथा फेफड़ा अथवा वक्षीय-गुहा में यह बिलकुल ही नही पाया जाता। किसी भी दूसरी बीमारी में इतना अधिक रक्तस्राव नहीं होता। मध्यस्थानिका (mediastinum) में काफी मात्रा में जमे हुए रक्त की उपस्थिति के साथ सीरस झिल्ली तथा त्वचा के नीचे अत्यधिक रक्तस्राव होना ऐंथ्राक्स होने का अनुमान कराता है।

रोडरिक[5] के विचार से इसमें होने वाला प्रमुख परिवर्तन, एक विसरणशील रासायनिक पदार्थ से धमनी के रक्त-संस्थान को क्षति पहुँचना है। रक्त चढ़ाने के बाद रोगी का तत्काल ठीक हो जाना इस बात का प्रमाण है कि पेरेंकाइमेटस अगों को कोई भयकर क्षति नहीं पहुँचती। रक्त चढ़ाकर यह रोग बीमार पशु से स्वस्थ पशु में नहीं पहुँचाया जा सकता। रोडरिक ने आगे कहा कि "हीमोग्लोबिनमेह तथा पीलिया के अभाव एवं निम्न पीलिया सूचक (low

icteric index) के साथ हीमोसिडेरिन (hemosiderin) का न जमा होना यह प्रदर्शित करता है कि यह एक रुधिर संलायी रोग नहीं है।"

लक्षण—यूथ के एक अथवा अधिक पशुओं में सुस्ती, अकड़न तथा चलने-फिरने में अनिच्छा का इतिहास मिलता है तथा कुछ पशुओं की मृत्यु भी हो सकती है। अनेक

चित्र—41. स्वीट-क्लोवर रोग से पीड़ित दो वर्ष आयु की बछिया जिसम अवस्त्वक् रक्तस्राव के कारण अगला दायाँ पैर फूला हुआ दिखाई दे रहा है। बायीं ओर भी काफी शोथ मौजूद थी। शिरावान करने पर रोगी शीघ्र ही अच्छा हो गया।

रोगियों की हालत बहुत ही कम गिरती है तथा विषैली प्रतिक्रिया का कोई प्रमाण नहीं मिलता। रोग-ग्रसित पशु कठिनता से चल पाते हैं तथा शरीर के किसी भाग अथवा पैर विशेषकर नितम्ब क्षेत्र, वक्ष के किनारे अथवा निचले भाग तथा गर्दन पर अत्यधिक सूजन हो सकती है। सूजनों में रक्त भरा रहता है। वे रक्तयुक्त रसौलियों की भाँति ही घट-बढ़ सकती हैं, किन्तु दबाने पर इनमें गड्ढा नहीं पड़ता और न चुरचुराहट की आवाज होती है। वास्तविक रक्तस्राव के पूर्व, कोई लक्षण प्रकट नहीं होते। श्लेष्मल झिल्लियाँ पीली पड़ जातीं, नाड़ी-गति तथा श्वसन सामान्य रहता, खान-पान में पूर्ण रुचि रहती तथा पशु का तापक्रम सामान्य रहता है। जब रक्तस्राव काफी पुराना हो चुकता है तब हृदय की गति तथा धड़कन में काफी बढ़ोत्तरी हो जाती है। नाक से खून गिरना भी असामान्य नहीं है

किन्तु, अन्य श्लेष्मल झिल्लियों से रक्तस्राव बहुत ही कम होता है। शरीर पर ऊपरी घाव लगने अथवा त्वचा के छिल जाने से लगातार रक्तस्राव होता है। जैसे-जैसे बीमारी बढ़ती है, कमजोरी इतनी बढ़ जाती है कि पशु खड़ा नहीं हो पाता। केन्द्रीय नाडी-तंत्र में रक्तस्राव होना रोगी पशु में असंतुलित गति तथा चेतनता का अभाव उत्पन्न करता है। अधिक दिनों की गाभिन गायों का गर्भ गिर जाता है।

रक्त का परीक्षण करने पर उसमें 50 से 75 प्रतिशत लाल रक्त कणों का ह्रास मिलता है और इसी के अनुसार हीमोग्लोबिन भी कम हो जाता है। यह परिवर्तन रक्त के नष्ट होने से न होकर, नलिकाओं से खून निकलने के कारण हुआ करते हैं। जब तक कि रक्तस्राव होने का प्रमाण नहीं मिलता, शरीर में हीमोग्लोबिन की कमी नहीं होती। हीमोग्लोबिन तथा लाल रक्त कणों की कमी और रक्त का देर से जमना, रक्त में होने वाले केवल दो परिवर्तन अब तक पहचाने गए है। एक 16 मि० मी० व्यास वाली परखनली में 5 से 10 घ० सें० रक्त लेकर तथा इसे 37° सेंटिग्रेड ऊष्मक जलपात पर रखकर रक्त के जमने के समय का पता लगाया जाता है। सामान्यत दस से पचीस मिनट में रक्त जम जाता है। स्वीट क्लोवर रोग में एक घंटे या इससे भी अधिक समय में रक्त का थक्का नहीं बनता तथा रक्त के जमाव का समय रक्तस्राव प्रारम्भ होने के पूर्व सदैव बदल जाता है।

बीमारी का कोर्स बहुत ही सक्षिप्त होता है तथा ब्याने के बाद यह विशेषकर तीव्र होता है। रात को बाँधे हुए देखने में स्वस्थ तथा सामान्य पशु, सुबह को मरे हुए मिल सकते है। धीरे-धीरे रक्तस्राव होने पर वे एक सप्ताह तक जीवित रह सकते हैं। बिना चिकित्सा किए गए रोगियो में मृत्युदर काफी अधिक होती है।

चिकित्सा—चारे को बदल देना आवश्यक है, यद्यपि टिसुओं को मरम्मत का समय न मिल सकने के कारण एक सप्ताह या दस दिन बाद और अधिक पशु इस रोग से ग्रसित हो सकते हैं। शाक लिखते है कि रोग-ग्रसित पशुओं में चारे का परिवर्तन कर देने के बाद भी 75 प्रतिशत या और अधिक पशु मर सकते हैं। स्वस्थ पशु से प्राप्त फाइब्रिन निकाले हुए रक्त का 500 से 1000 घ० सें० की मात्रा में अंत शिरा इंजेक्शन देने पर आशातीत लाभ होता है। पशु कमजोर होकर जमीन पर गिर जाने के बाद भी ठीक हो सकता है। सीरम में ठीक करने वाला पदार्थ मौजूद रहता है। इन्जेक्शन देने के पन्द्रह से तीस मिनट बाद रक्त में जमने की शक्ति आ जाती है तथा एक सप्ताह से लेकर दस दिन में पशु निरोग हो जाता है। लेखक के चिकित्सालय में रक्त चढाकर चिकित्सा की गई दो वर्षीय बछिया बारह घंटे में ठीक हो गई। पशु के मालिक ने बछियों, मेमनों तथा एक घोड़े में इस बीमारी को होते बताया। रक्त को हिलाकर अथवा काँच की छड़ से चलाकर फाइब्रिन रहित किया जाता है। तत्पश्चात् इसे एक पतली जाली से छाना जाता है। ठीक तरह से ठंडा कर लेने पर कई दिनो के बाद भी यह प्रभावकारी रहता है। एक लिटर रक्त में 0.3 प्रतिशत सोडियम साइट्रेट मिलाकर तैयार किया गया साइ-ट्रेटयुक्त रक्त काफी गुणकारी है।

संदर्भ

1. Roderick, L. M., and Schalk, A. F., Studies on Sweet Clover Disease, N. Dak. Agr. Exp. Sta. Tech. Bull. 250, 1931.
2. Schofield, F.W., Damaged sweet clover : the cause of a new disease in cattle simulating hemorrhagic speticemia and blackleg, J.A.V.M.A., 1923-24, 64, 553.
3. Schalk, A. F., Cattle Disease Resulting from Eating Damaged or Spoiled Clover Hay or Silage, N. Dak. Agr. Exp. Sta. Cir. 27, 1927.
4. Campbell, H. A., and Link, K. P. Studies on the hemorrhagic sweet clover disease, IV. The isolation and crystallization of the hemorrhagic agent, J. Biol. Chem., 1941, 138, 21.
5. Roderick, L. M., The pathology of sweet clover disease in cattle, J.A. V.M.A., 1929, 74, 314.

प्रसवकालीन हीमोग्लोबिन रक्तता

(Puerperal Hemoglobinemia)

(प्रसवोत्तर हीमोग्लोबिनमेह; रक्तमूत्र रोग)

यह अच्छी तरह पालित-पोषित गायों का अल्पकालीन तीव्र रुधिर संलयन है जो विशेषकर पशुशाला में बाँधे जाने वाले पशुओं में जाड़े तथा वसंत की ऋतु में ब्याने के दो से चार सप्ताह बाद हुआ करता है। इसका मुख्य कारण अज्ञात है। फाकस्न और स्मिथ[1] के अनुसार कोलोरैडो, उटा तथा इडैहो के कुछ भागों में यह रोग कई वर्षों से प्रकोप करता रहा है तथा न्यूयार्क स्टेट में इसके अनेक रोगी निदान किए गए हैं। इस बीमारी की पूर्ण रिपोर्ट, जैसी कि यह यूरोप में होती है, स्टाकहाम के हजारे[2] (Hjarre) द्वारा तैयारी की गई है। नार्वे, स्वीडन, डेन्मार्क तथा उत्तरी स्काटलैंड नामक उत्तरी देशों में यह प्रमुख रूप से वर्णन की गई है। स्काटलैंड में इस बीमारी को 100 वर्षों से भी अधिक समय से पहचाना गया—वालेस[3] (Wallace)। यह बीमारी 5 से 8 वर्ष की आयु पर प्रमुख तौर पर तीसरे ब्यांत के बाद हुआ करती है जबकि गायें अपने उच्चतम उत्पादन पर होती हैं। सामान्यतयः एक समय में एक फार्म पर केवल एक ही पशु बीमार होता है। यद्यपि इसका कारण अज्ञात है, फिर भी यह ब्यांत के प्रारम्भ काल में होने वाली उपापचयन की विभिन्न गड़बड़ियों में से एक है। मैडसेन और नीलसेन[5] (Madsen and Nielsen) के अध्ययन के अनुसार रोग-ग्रसित गायों के प्लाज्मा में अकार्बनिक फास्फोरस की बहुत कमी थी। सन् 1944 में उन्होंने लूसर्न की सूखी घास तथा सुखाए हुए चुकन्दर का गूदा मिला हुआ मिश्रित राशन खिलाकर एक गाय में प्रसवकालीन हीमोग्लोबिन रक्तता को प्रयोगात्मक रूप से उत्पन्न किया। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि "यद्यपि इस बीमारी को उत्पन्न करने वाले सभी कारक ज्ञात नहीं है, फिर भी उक्त प्रयोग यह प्रदर्शित करता है कि रक्त में फास्फेट की विशिष्ट कमी कम फास्फोरस खाने के कारण थी तथा यह कुछ अस्पष्ट ढंग से लाल रक्त कणों के विनाश के लिए उत्तरदायी थी।" यह न तो पाइरोप्लाज्मोसिस और न प्रसवकालीन संक्रमण है। कमजोर मिट्टी तथा शुष्क गर्मी इसके पुरःप्रवर्तक कारण हैं। कुछ फार्मों पर यह बीमारी स्थानिकमारी की भाँति फैलती है तथा स्काट-

लैंड में यह चुकन्दर तथा शल्जम के अधिक खिलाने से सबंधित रही हैं। उटा तथा इडेहो में यह लूसर्न घास और मीठे चुकन्दर का गूदा खिलाने के कारण होती कही गई है—मैडसेन।[4]

विकृत शरीर रचना—शरीर के टिशु पीले पड जाते हैं तथा खून काला और पतला हो जाता है। वसा अन्तर्निवेश (fatty infiltration) एवं परिगलन के कारण यकृत कुछ सूज जाता तथा पीला अथवा नारंगी-पीला दिखाई देता है। हजारे[2] (HJarre) ने खरगोश के शरीर में रुधिर सलयित सीरम अथवा रक्त का अन्त शिरा इन्जेक्शन देकर, उक्त परिवर्तन उत्पन्न करके प्रदर्शित किया कि यह परिगलन गौण रूप में होता है। प्लीहा में भी सूजन आ सकती है। अँतडी में प्राय बुंदकीदार रक्तस्राव होता है तथा नियम के अनुसार बडी अँतडी का पदार्थ पानी जैसा पतला होता है।

लक्षण—रोग का एकाएक आक्रमण होकर पशु की पेशाब में खून आता है। दो से तीन दिन बाद वह शरीर से रक्त के ह्रास के कारण बहुत कमजोर हो जाता है तथा उसे भूख नहीं लगती। शरीर के बाह्य अग जैसे सींग, कान आदि ठडे पड जाते हैं। पशु का शरीर क्षीण होने लगता है, वह उठ नहीं पाता तथा तीन से पाँच दिन में उसकी मृत्यु हो जाती है। ठीक हुए रोगियों में पहले तीन से छ दिन बाद पेशाब में रक्त आता हुआ नहीं दिखाई देता तथा पशु को बिना किन्हीं अन्य लक्षणों के अल्पकालीन रक्तमूत्र रोग हो सकता है। मैडसेन और नील्सेन[1] के अनुसार "ठीक हुए पशु पहले दिन अति दयनीय तथा कमजोर दिखाई पडते हैं तथा पेशाब बिल्कुल साफ होना है "और पेशाब साफ होने लगने के बाद एक या दो दिन तक उसमें लाल रक्त कणों की मख्या कम होती जाती है।" पेशाब का रग लाल अथवा काला होता है और प्राय इसमें एसिटोन मौजूद रहता है। तापक्रम बहुधा अल्पकाल के लिए 104 से 105° फारेनहाइट तक बढा हुआ पाया जाता है। नाडी तेज चलती, हृदय-गति बढ जाती तथा हृदय की धडकन असामान्य रूप से तेज हो जाती है। प्रारम्भ में श्लेष्मल झिल्लियाँ पीली पडकर अभिघातज हृदय-झिल्ली शोथ से मिलती-जुलती दिखाई देती हैं और बाद में वे पीलियायुक्त हो सकती हैं। रोग के प्राणघातक प्रकोपों में लाल रक्तकण गणना 5–6 दशलक्ष से एकाएक गिरकर $1\frac{1}{2}$ दशलक्ष रह जाती है। हीमोग्लोबिन में 20 से 25 प्रतिशत कमी हो सकती तथा श्वेताणुओं की वृद्धि हो जाती है। गोबर सख्त तथा काला होता रिपोर्ट किया गया है किन्तु, चल चिकित्सालय में चिकित्सा किए गए रोगियों में वह पित्त से आच्छादित, बदबूदार तथा पानी जैसा पतला था। फाकर्सन[1] (Farquharsan) ने देखा कि रोग से ठीक होने वाला पशु मिट्टी चाटना तथा हड्डियों को चबाता है और शरीर में रक्त की कमी होने के कारण उसके शरीर के बाहरी अग जैसे पूछ, कान आदि गलने लगते हैं तथा उनमें अन्य रक्त विकार उत्पन्न हो जाते हैं। बीमारी की अवधि तीन से पाँच दिन की होती है तथा दस से चौदह दिन में उपशमन (convalescence) पूर्ण हो जाता है। हजारे[2] लिखते हैं कि दो से तीन माह में पशु बिल्कुल ठीक हो सकता है। एक बार प्रकोप करने के बाद इसके आक्रमण बार-बार हो सकते हैं। इससे होने वाली मृत्यु दर 10 से 40 प्रतिशत तक है।

जनवरी में एक 6 वर्षीय गाय जो 6 सप्ताह पहले ब्याई थी और तब से ही खाने में कुछ अरुचि रखती थी, उसने एकाएक चारा खाना बन्द कर दिया। दूध उत्पादन में कमी हो गई और उसके शरीर से तीव्रता से मास क्षीण होने लगा। परीक्षण करने पर क्षीणता,

निराशा, पीली श्लेष्मल झिल्लियाँ तथा 104·4° फारेनहाइट बुखार के लक्षण मिले। नाड़ी-गति 70 थी तथा पशु तेजी से साँस लेता था। पशु ने जुगाली करना बिल्कुल ही बन्द कर दिया था तथा रेटिकुलम पर थपथपाने से भयंकर दर्द होता था। गोबर पित्त में सना हुआ, बदबूदार और पानी जैसा पतला था। आँख से देखने पर रक्त काला और पानी जैसा पतला दिखाई देता था तथा लाल रक्त कण गणना 3 दशलक्ष थी। रोगी के ठीक होने की आशा बहुत कम थी। उसे कपूरयुक्त तेल और डेक्सट्रोज दिया गया। चार दिन बाद उसकी हालत में काफी सुधार हुआ, फिर भी तापक्रम 106·5° फारेनहाइट था। दो सप्ताह बाद प्रत्यक्ष रूप से पशु रोगोन्मुक्त होता हुआ मालूम पड़ा। यद्यपि कि चिकित्सा काल में मूत्र में हीमोग्लोबिन नहीं देखा गया, फिर भी पशु-पालक ने बताया कि "गाय की भग से लाल रंग का पदार्थ गिरा है।"

निदान—पेशाब में रक्त मिला होने के कारण प्रारम्भ में यह रोग गोणिकावृक्कशोथ से मिलता-जुलता है। गोणिकावृक्कशोथ में रोग की अवधि बढ़ी हुई होती, पशु अच्छा नहीं होता तथा रेक्टम एवं योनि में हाथ डालकर परीक्षा करने पर बढ़ी हुई मूत्रनलिकाओं और गुर्दों को पहचाना जा सकता है। बैसिलरी हीमोग्लोबिनमेह टेक्सास ज्वर तथा अन्य अवस्थाओं में भी पेशाब में रक्त मौजूद हो सकता है।

चिकित्सा—रोग के भीषण प्रकोप में रक्त चढ़ाना इसका सर्वोत्तम इलाज है। फाकस्न और स्मिथ यह राय देते हैं कि रोग-ग्रसित पशु को दाना न देकर केवल लूसर्न की सूखी घास दी जानी चाहिए और उसे 1 ड्राम फेरिक सल्फेट, 1 ड्राम कुचला, 15 ग्रेन तूतिया तथा 3 ग्रेन आर्सेनस एसिड का बना हुआ चूर्ण खिलाना चाहिए।

संदर्भ

1. Farquharson, J., and Smith, K. W., Post-parturient hemoglobinuria of cattle, J.A.V.M.A., 1938, 93, 37.
2. Hjarre, A., Die puerperale Hämoglobinamie des Rindes, Acta pathologica et Microbiologica Scandinavica, Supplementum VII, Copenhagen, Levin & Munksgaard, 1930.
3. Wallace, W. R., Parturient haemoglobinuria of bovines, Vet., Rec., 1926, 6, 1035.
4. Madsen, D. E., and Nielsen, H.M., Parturient hemoglobinemia by low phosphorus intake, J.A.V.M.A., 1944, 105, 22.

रक्तश्वेताणुमयता

(Leukemia)

(श्वेताणुयुक्त लसीकाकोशिकार्बुद, श्वेताणुरहित लसीकाकोशिकार्बुद)

(कूट रक्तश्वेताणुमयता)

परिभाषा—अत्यधिक तथा असामान्य अपरिपक्व श्वेताणुओं के उत्पादन से उत्पन्न होने वाली यह एक अति प्राणघातक बीमारी है जिसे लिम्फ ग्रंथियों में अनेक रसौलियों के निर्माण द्वारा पहचाना जाता है। इसमें शरीर की समस्त लसीका ग्रंथियाँ बढ़ी हुई हो सकती हैं।

यद्यपि कि अस्थि-मज्जा अथवा लिम्फ ग्रंथियों से रोगजनक कोशाओं की उत्पत्ति के आधार पर इन रसौलियों की कोशा-रचना में विभिन्नता हो सकती है, फिर भी इनको श्वेताणुमयता के एक समूह के अन्तर्गत वर्गीकृत किया गया है। फेल्डमैन[1] (Feldman's) के नामकरण के अनुसार रक्त में श्वेताणुओं की वृद्धि हो सकती (श्वेताणुयुक्त लसीका-कोशिकार्बुद) अथवा इनकी संख्या सामान्य रहती है (श्वेताणु रहित लसीकाकोशिकार्बुद)। इनमें से किसी को भी लसीकाजनित रक्तश्वेताणुमयता (lymphogenous leukemia) कहा जा सकता है। इसकी कोई अन्य अवस्था, जैसे कि मज्जाजनित रक्तश्वेताणुमयता, (myelogénous leukemia) पालतू पशुओं में बहुत कम होती है। अब आमतौर पर ऐसा विश्वास किया जाने लगा है कि इस बीमारी के प्रकोप काल में किसी भी समय अपरिपक्व श्वेत रक्त कण, बहते हुए रक्त में प्रकट हो सकते हैं। फेल्डमैन[1] द्वारा परीक्षित लिम्फोसाइटोमा से पीड़ित चालीस रोगियों में से सत्ताइस ढोरों का रक्त श्वेताणुयुक्त था। उनका कहना है कि यदि सभी रोगी देखे जाएँ तो ज्ञात होगा कि पालतू पशुओं में अन्य रसौलियों की अपेक्षाकृत लसीका-कोशिकाप्रसूअर्बुद (lymphoblastomas) सबसे अधिक होते हैं और यह भी आमतौर पर गो-पशुओं में अधिक पाए जाते हैं। घोड़ों में यह बहुत कम देखने को मिलते हैं। राष्ट्रीय मांस-निरीक्षण आयोग द्वारा रक्त-श्वेताणुमयता से कटम किये गए चार वर्ष की अवधि का अनुपात गो-पशुओं में 1 : 8500; बछड़ों में 1 : 149,000; घोड़ों में 1 : 201,000; सुअरों में 1 : 220,000 और भेड़ों में 1 : 174,000 था। पशु-वध गृह से प्राप्त सामग्री के अध्ययन से फेल्डमैन ने यह निष्कर्ष निकाला कि "पालतू पशुओं में यह आमतौर पर होने वाली बीमारी है और इसमें कोई संदेह नहीं कि यह किसी हद तक पशुओं की अस्पष्ट मृत्यु का एक कारण है, क्योंकि जब तक विधिवत शव-परीक्षण नहीं किया जाता तब तक बीमारी की प्रकृति का सही अनुमान नहीं लग सकता।"

रक्त-श्वेताणुमयता से पीड़ित कटम किए गए पशुओं की संख्या, रोग-ग्रसित भागों के कटम होने की संख्या, तथा ऐसे पशुओं का स्रोत जान लेना आवश्यक है। साहित्य का सर्वेक्षण करने पर बीमारी का केवल कहीं-कहीं पर प्रासंगिक वर्णन मिलता है। न्यूयार्क स्टेट पशु-चिकित्सा विज्ञान महाविद्यालय की 1920 से 1940 तक की रिपोर्टों में चिकित्सा तथा शव-परीक्षण के अभिलेखों में केवल दो ऐसे रोगी रिकार्ड किए गए हैं।

तीन वर्ष की अवधि में मनहाटन, केन्सास में शव-परीक्षण हेतु आए 38 पशुओं में से 36 में लिम्फोसाइटोमा के क्षतस्थल थे —थाम्पसन और रोडरिक[2]। विभिन्न स्रोतों से प्राप्त सूचना यह प्रदर्शित करती है कि यह बीमारी यूनाइटेड स्टेट्स के पूर्वी भागों की अपेक्षा मध्यवर्ती पश्चिमी भागों में अधिक प्रकोप करती है। रक्त-श्वेताणुमयता की रिपोर्ट वीस्टर और मेवनट,[3] जोंस,[4] लुंड,[5] तथा फ्रीच और बुनीया[6] (Bunyea) द्वारा भी की गई है।

जर्मनी के कुछ भागों में गो-जातीय रक्त-श्वेताणुमयता के प्रकोप पिछले पच्चीस वर्षों से बढ़ते रहे हैं और अब यह वहां एक सामान्य एवं आवश्यक बीमारी हो गई है। शैपर[7] (Schaper) के अनुसार इस बीमारी का वितरण ऐसे प्रजनक पशुओं के प्रयोग के कारण होता है जो वंशानुक्रमण द्वारा बीमारी को एक पशु से दूसरे में फैलाते हैं। पूर्वी प्रूसिया के काले रंग के तराई क्षेत्र के पशु इसका उदाहरण हैं।

कारण—इसका कारण अज्ञात है। असीमित वृद्धि, नार्मल टिसू के विनाश तथा बहुवृद्धि आदि गुणों के कारण फेल्डमैन द्वारा दुर्दम्य रसोली के रूप में किया गया इसका वर्गीकरण न्यायोचित है। लिंग तथा नस्ल के संदर्भ में कोई स्पष्ट विभिन्नता नहीं है किन्तु ऐसा अनुमान किया जाता है कि युवा पशुओं में यह बीमारी अधिक प्रकोप करती है।

विकृत शरीर रचना—बिना वध किए गए पशुओं की लाश जीर्ण-शीर्ण हो जाती है। शव-परीक्षण करने पर शरीर की समस्त लिम्फ ग्रंथियाँ एक समान बढ़ी हुई पाई जातीं हैं। काटने पर यह ग्रंथियाँ गीली प्रतीत होतीं, कटते समय उभर आतीं, बहुत मुलायम होतीं तथा इनमें रक्तस्राव के धब्बे मौजूद हो सकते हैं। यकृत तथा प्लीहा, दोनों ही, काफी बढ़े हुए हो सकते हैं। उडाल और ओलैफसन[8] (Udall and Olafson) द्वारा वर्णित एक रोगी में प्लीहा तथा लिम्फग्रंथियों में अनेक लिम्फोसाइटों के जमा हो जाने के कारण उनका सामान्य स्वरूप बहुत ही कम दिखाई देता था। लिम्फ ग्रंथियों के रोग-ग्रसित होने के अतिरिक्त फेल्डमैन ने फेफड़ों, हृदय, यकृत, गुर्दों तथा मस्तिष्क में भी द्वितीयक परिवर्तन देखे। बहुत से रोगियों में प्लीहा अत्यधिक रोग-ग्रसित नहीं था। शारीरिक-गुहाओं में बड़े तथा टेढ़े-मेढ़े पदार्थ भरे हो सकते हैं और प्रायः चतुर्थ आमाशय भी रोग-ग्रसित मिलता है। क्षतस्थल; कुछ विशिष्ट क्षेत्रों जैसे हृदय की मांस पेशी, गुर्दा, चतुर्थ आमाशय, मेरुरज्जु (spinal cord) अथवा मस्तिष्क तक ही सीमित रह सकते हैं।

लक्षण—उत्तल लसीका ग्रंथियों का सूज जाना इसका प्रारम्भिक लक्षण है। गो-पशुओं में उपजम्भ (submaxillary), पुरःस्कंध (prescapular) तथा पूर्व-जँघिका

चित्र—42. अश्वेतकोशिका लसीकाकोशिकार्बुद (कूट श्वेतरक्तता) से पीड़ित एक बछड़ा।

(precrural) क्षेत्रों में यह लक्षण विशेषतयः स्पष्ट होते हैं। सर्वप्रथम पशु रुचि पूर्वक खाता-पीता रहता है तथा कोई सामान्य लक्षण नहीं दिखाई पड़ते। कुछ दिनों अथवा सप्ताहों बाद धीरे-धीरे शारीरिक क्षीणता, श्लेष्मल झिल्लयों का पीला पड़ जाना, अत्यधिक सुस्ती

तथा कष्टप्रद श्वास आदि लक्षण प्रकट होते हैं। परीक्षण करने पर वे लसीका ग्रंथियाँ जो नार्मल अवस्था में काफी छोटी होने के कारण अस्पष्ट रहती हैं, रोगावस्था में काफी बढ़ी हुई प्रतीत होती हैं। कभी-कभी नेत्र-गुहा में उपस्थित रसौलियों आदि पदार्थों के अन्दर से दबाव डालने पर नेत्र-गोलक उभर आता है। ऐसा फेल्डमैन द्वारा वर्णित चालिस रोगियों की एक श्रेणी में से पाँच में तथा लेखक द्वारा अवलोकित तीन या चार में से एक में देखा गया। इन रसौली जैसे पदार्थों का आन्तरिक अंगों पर दबाव पड़ना निम्नलिखित विभिन्न प्रकार के लक्षण उत्पन्न करता है चतुर्थ आमाशय के रोग-ग्रसित होने पर दीर्घकालिक पेट के तनाव के साथ अपच, श्रोणिगुहा में उपस्थित रसौली जैसे पदार्थों के दबाव के कारण पिछले धड़ का पक्षाघात, मस्तिष्क में उपस्थित रसौली के कारण पक्षाघात तथा अवसन्नता आदि। रक्त में होने वाला प्रमुख परिवर्तन श्वेताणुओं की संख्या में वृद्धि होना है। थाम्पसन और रोडरिक के अनुसार अवकलन गणना (differential count) जो लगभग 65 प्रतिशत या और अधिक लिम्फोसाइट की संख्या प्रकट करती है, लिम्फोसाइटोसिस का सूचक है और अधिकांश रोगी यह प्रदर्शित करते हैं कि जैसे जैसे बीमारी बढ़ती तथा मृत्यु निकट आती है, श्वेताणुओं की संख्या धीरे धीरे घटकर नार्मल अथवा नार्मल से भी कम हो जाती है।" शरीर में लाल रक्त-कणों तथा हीमोग्लोबिन की कमी के कारण पशु का रक्ताल्पता भी हो जाती है। कुछ सप्ताहों अथवा महीनों के बाद रोगी पशु की मृत्यु हो जाती है।

सन्दर्भ

1 Feldman, H W, Neoplasms of Domesticated Animals, Saunders, 1922
2 Thompson, W W, and Roderick, L M, The relation of leucemia and bovine lymphocytoma, A J, Vet Res, 1942. 3, 159
3 Biester, H E, and McNutt, S H, A case of lymphoid leukemia in the pig, J A V M A, 1926, 60, 762
4 Jones, J H, Leucocythemia in bovines, Vet Record, 1928, 8, 135
5 Lund, L, Ueber die Leukaemaien der Haustiere, Deutsch tier Wehnschr, 1927, 35, 51
6 Creech, G T, and Bunyea H, Experimental studies of bovine leukemia, J Agr Res, 1929, 38, 395
7 Schaper, W, Entstehung and Bekämpfung der Rinderleukose im Lichte der Konstitutionsforschung Deutsche tier Wehnschr, 1938, 46, 833
8 Udall, D H, and Olafson, P, Pseudoleukemia in a calf, Cornell Vet, 1930, 20, 81

युवा सुअरों का अल्परक्तता रोग

(Anemia in Young Pigs)

(दूध पीने वाले सुअरों के बच्चों की पौषणिक रक्तक्षीणता)

परिभाषा—दूध पीने वाले सूकरों की यह एक प्राणघातक बीमारी है जो शरीर में हीमोग्लोबिन की कमी तथा यकृत के वसीय विघटन द्वारा पहचानी जाती है। कंक्रीट अथवा ऐसे ही अन्य फर्शों पर बाड़ों के अन्दर रहने वाले तथा केवल माँ का दूध पीकर जीवित रहने वाले बच्चों में यह रोग शरीर में लोह तथा ताम्र लवणों की कमी के कारण होता है।

कारण—अभी कुछ वर्षों से 3 से 6 सप्ताह की आयु के दूध पीने वाले सुअरों के बच्चों के ह्रास में काफी वृद्धि हुई है। ऐसा प्रमुख तौर पर उन बड़े-बड़े प्रजनक फार्मों पर ही अधिक देखा गया है जहाँ परजीवियों को नष्ट करने के लिए सफाई के सुविकसित साधन जुटाए गए हैं। इस बीमारी का मौसमी प्रकोप प्रमुख तौर पर जाड़ों तथा वसंत के प्रारम्भ में ब्याने वाली सुअरियों में ही हुआ करता है जबकि वे मौसम की खराबी के कारण चरागाहों पर न जाकर बाड़ों में ही बन्द रहती हैं। नवजात सुअरों के रक्त में हीमोग्लोबिन की मात्रा प्रायः सामान्य (औसतन 10.75 ग्राम प्रति 100 घ० सें०) रहती है। हैमिल्टन एवं उनके साथियों[1] (Hamilton and associates) तथा अन्य लोगों के अवलोकन यह प्रदर्शित करते हैं कि "बच्चा पैदा होने के बाद, पहले सप्ताह में हीमोग्लोबिन की तीव्रता से कमी होती है और यदि सुअरों को बाड़े में बन्द रखा जाता है तो यह कमी चार से पाँच सप्ताह तक जारी रहती है।" जब इन्हें हटाकर बाड़ों से बाहर रखा जाता है तो ये रक्त एवं शारीरिक अवस्था दोनों ही दृष्टिकोणों से शीघ्र ठीक होने लगते हैं।

ड्वायल[2] (Doyle) ने रिपोर्ट किया कि नीली घास (blue grass) के चरागाहों पर चरने वाले सुअरों में हीमोग्लोबिन की मात्रा सामान्य रहती है। उन्होंने यह भी बताया कि "सुअर-घर के अन्दर सुअरों को नीली घास मिलने से उन्हें रक्ताल्पता न होकर, उनके शरीर की सामान्य वृद्धि होती है।"

हैमिल्टन[1] ने यह भी रिपोर्ट किया कि बाड़ों के अन्दर रहने वाले उन सुअरों में भी हीमोग्लोबिन नॉर्मल रहता है जिनको केवल माँ का दूध मिलता है तथा मुँह द्वारा नित्य 25 मिलिग्राम लोहा और 5 मिलिग्राम ताम्रयुक्त फेरिक सल्फेट तथा तूतिया का घोल दिया जाता है।

सुअरियों के दूध में लोहा तथा ताम्र जैसे रक्त-निर्माण करने वाले लवणों की कमी के कारण ऐसा होता है। जब नवजात सुअर की खूराक दूध तक ही सीमित रहती है तथा उसको कृत्रिम अवस्थाओं में उपस्थित खनिज लवण नहीं उपलब्ध हो पाते, तो रक्त का हीमोग्लोबिन शीघ्र ही समाप्त हो जाता है। उपलब्ध प्रमाण से यह स्पष्ट है कि बीमारी रहन-सहन से अधिक सम्बन्धित न होकर खनिज लवणों की कमी के फलस्वरूप हुआ करती है, क्योंकि बाड़ों के अन्दर रहने वाले सुअरों को यदि हरी घास मिलती रहे तो उन्हें यह बीमारी नहीं होती। आधुनिक सुअर-गृहों में रहने वाले बच्चों में यह बीमारी अधिक प्रकोप करती है। उन फार्मों पर इस बीमारी की कोई महत्ता नहीं है जहाँ केवल थोड़ी सुअरियाँ रखी जाती हैं और जहाँ कार्बनिक पदार्थों तक उनकी पहुँच होती है।

विकृत शरीर रचना—देखने में मृत पशु का शव प्रायः सामान्य प्रतीत होता है, किन्तु बीमारी के बढ़े हुए प्रकोपों में यह जीर्ण-शीर्ण हो सकता है। वक्षीय तथा उदर-गुहाओं में नीरम और फाइब्रिन भरा रहता है। यकृत में वसीय विघटन के रूप में विशिष्ट क्षतस्थल मौजूद होते हैं। यह कुछ बढ़ जाता, देखने में धूसर पीला धब्बेदार प्रतीत होता तथा बहुधा इसमें रक्त-स्राव होता है। हृदय इतना बढ़ जाता है कि फेफड़ों को भी एक ओर हटा देता है। गुर्दे पीले पड़ जाते हैं तथा उनमें रक्तस्राव होता है। रक्त तथा

मांस-पेशियाँ पीली पड़ जाती हैं। पशु को प्रायः निमोनिया हो जाती है। प्लीहा बढ़कर सख्त हो जाती है। रोग से जन्मी हुई सुअरियों के यकृत में मूत्रण-रोग हो जाता है। ड्वायल और उनके साथियों[3] द्वारा किए गए इस बीमारी के सर्वोत्तम वर्णन में दीर्घकालिक मूत्रण-रोग के परिणाम-स्वरूप यकृत बड़े भाये की गाँठीदार आकृतियों से आच्छादित प्रतीत होता है। यकृत, प्लीहा तथा अस्थि मज्जा का माइक्रोस्कोपिक परीक्षण करने पर रुधिरोत्पादक केन्द्र (hematopoietic centres) पाए जाते हैं।

लक्षण—यद्यपि लगभग तीन सप्ताह की आयु पर इस रोग का आक्रमण होता है, फिर भी कुछ सुअर एक सप्ताह की आयु पर ही सुस्त तथा निष्क्रिय हो सकते हैं और रक्ताल्पता के लक्षण जन्म के समय भी प्रकट होते देखे गए हैं। रोग-ग्रसित सुअर सुविकसित तथा हृष्ट-पुष्ट दिखाई दे सकते हैं। किन्तु वे थकान, कष्टप्रद श्वास-प्रश्वास, थरथराने तथा थोड़ा काम पड़ने पर क्षीणता के लक्षण प्रकट करते हैं। रक्ताल्पता से पीडित सुअरियाँ मोटी हो सकती हैं, फिर भी उनकी मांस-पेशियाँ लटकती हुई तथा त्वचा एवं श्लेष्मल झिल्लियाँ पीली प्रतीत होती हैं। तीन सप्ताह की आयु पर, मोटी तथा प्रत्यक्ष रूप से भली-भाँति पालित-पोषित रक्ताल्पता से पीडित सुअरियाँ एकाएक मरने लगती हैं। जो पशु जीवित बच जाते हैं वे कमजोर होकर स्थायी रूप से बेकार हो जाते हैं।

रक्त में शीघ्र ही हीमोग्लोबिन की कमी हो जाती है। रोग-ग्रसित पशुओं में हीमोग्लोबिन की कमी जन्म के बाद शीघ्र ही, प्राय लगभग दो सप्ताह पर, प्रारम्भ हो जाती है और तब तक जारी रहती है जब तक कि इसका सादण नार्मल (9 से 15 ग्राम प्रति 100 घ० सें०) से गिरकर 2 से 14 ग्राम प्रति 100 घ० सें० नहीं हो जाता। लाल रक्त-कणों की संख्या में 3 से 4 दसलक्ष कमी हो जाती है। ड्वायल के अनुसार तीन सप्ताह अथवा इससे अधिक आयु वाली वे सभी सुअरियाँ रक्ताल्पता से पीडित होती हैं जिनमें प्रति घन मि० मी० 3,000,000 अथवा इससे कम लाल रक्त-कण होते हैं, तथा प्रति 100 घ० सें० रक्त में 3 8 ग्राम या इससे कम हीमोग्लोबिन होता है। श्वेताणुओं की संख्या में कोई विशिष्ट कमी होती नहीं दिखाई पडती।

रोग की अवधि विशेषतया तीन से छ सप्ताह की आयु तक की होती है और इससे मरने वाले पशुओं की संख्या काफी अधिक है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि यूनाइटेड स्टेट्स में इस बीमारी से दूध पीने वाले सुअरों के ह्रास की संख्या लगभग 35 प्रतिशत है। अधिकतर इसका कारण रक्त-क्षीणता है। यदि लगभग 6 सप्ताह की आयु तक रोग-ग्रसित सुअर जीवित रह जाता है तो वह ताम्र तथा लोह लवण युक्त चारे खाकर धीरे धीरे ठीक होने लगता है।

बचाव तथा इलाज—केवल माँ के थन से दूध पीने वाले बच्चों में रक्त की क्षीणता को इनकी खुराक में थोड़ी मात्रा में लोह तथा ताम्र-लवण शामिल करके बचाया जा सकता है। माँ की खुराक में लोह तथा ताम्र लवण मिलाने से इस कमी की पूर्ति नहीं होती। हार्ट एवं उनके साथियों[4] (Hart and coworkers) ने देखा कि 25 मिलिग्राम हरा कसीस तथा 5 मिलिग्राम नीलाथोथा (तूतिया) नित्य देने से सुअर को रक्ताल्पता रोग

नही होने पाता। यह मात्रा 3.6 औंस लोह-लवण को 5 क्वार्ट पानी में घोलकर प्रत्येक सुअर को देने से पूरी हो जाती है। यह घोल एक ड्राम की मात्रा में सुअर को पिलाया जाता है। इसके प्रयोग का और भी सरल तरीका यह है कि माँ के अयन पर नित्य निम्नलिखित मिश्रण का लेप कर दिया जाए: 1 पौण्ड हरा कसीस, 2.5 औंस तूतिया, 1 पौण्ड शकर तथा 3 क्वार्ट पानी। लोह तथा ताम्र लवणों की पूर्ति की इससे भी सरल विधि यह है कि नवजात सुअरों को काफी मात्रा में हरी घास खिलाई जावे। यह घास बाड़े में डालकर अथवा चरागाह पर चराकर खिलाई जा सकती है। यद्यपि सुअरों को दरबे में भी घास खिलाकर सफलता मिल सकती है, फिर भी, यह मात्रा सदैव समुचित नहीं होती। तूतिया तथा हरे कसीस को साफ मिट्टी में मिलाकर रोजाना बाड़े में रखा जा सकता है। स्कोफील्ड और जोंस[5] ने लिखा कि 6 से 8 दिन की आयु के सुअर के बच्चों को अवकरित लोह की केवल एक खूराक (300 मि० ग्रा०) देना अत्यधिक प्रयोगात्मक विधि है। सुअरियों के एक समूह में जिसमें सभी बच्चे मरे हुए पैदा हुए आर्कीबाल्ड तथा हैंकाक[6] (Archibald and Hancock) ने जच्चा तथा बच्चा दोनों में ही रक्त-क्षीणता पाई। शेष गर्भित सुअरियों को उन्होंने 2 ग्राम की मात्रा में दो सप्ताह तक दिन में दो बार अवकरित लोह-लवण खिलाया, तत्पश्चात् उतनी ही मात्रा सप्ताह में दो बार दी। तीन सप्ताह बाद उनके शरीर में हीमोग्लोबिन की काफी वृद्धि हुई और अंत में उन्होंने सामान्य जीवित बच्चों को जन्म दिया।

संदर्भ

1. Hamilton, T. S., Hunt, G. E., Mitchell, H. H., and Carroll, W. E., The production and cure of nutritional anemia in suckling pigs, J. Ag. Res., 1930, 40, 927.
2. Doyle, L. P., Anemia in young pigs, J.A.V.M.A., 1932, 80, 356.
3. Doyle, L. P., Mathews, F. P., and Whitting, R., A., Anemia in young pigs, J.A.V.M.A., 1928, 72, 491 ; Purdue Univ. Agr. Exp. Sta. Bull., 313, 1927.
4. Hart, E. B., Elvehjem, C. A., Stenbock, H., Bohstedt, G., and Fargo, J. M., Anemia in suckling pigs, Wis. Agr. Exp. Sta. Bull. 409, 1929.
5. Schofield, F. W., and Jones, T. L., Prevention of anemia in newborn pigs ; a simple and economical treatment, Can. J. Comp. Med., 1939, 3, 63.
6. Archibald, R. M., and Hancock, E. I., Iron deficiency as the probable cause of still birth in swine, Canad. J. Comp. Med., 1939, 3, 134.

तंत्रिका-तंत्र के रोग
(DISEASES OF THE NERVOUS SYSTEM)
विषय परिचय

प्रमस्तिष्क गोलार्ध (cerebral hemispheres) सोचने, महसूस करने तथा इच्छा आदि मानसिक कार्यों, एवं अनेक प्रेरक कार्यों के केन्द्र हुआ करते हैं। इच्छा से नियंत्रित होने वाले सभी प्रेरक तन्तु यहीं से प्रारम्भ होते हैं। अतः चेतना का अभाव केन्द्रीय तन्त्रिका-तन्त्र के इसी भाग से संबंधित है।

मध्य मस्तिष्क तथा अनुमस्तिष्क, गति के सामंजस्य एवं संतुलन के प्रमुख स्थान हैं। मेरु-रज्जु तथा परिणाह-तन्त्रिकाओं (peripheral nerves) का प्रमुख कार्य संवेदी एवं प्रेरक आवेगों (sensory and motor impulses) का संचारण करना तथा अनैच्छिक माँस पेशियों वाले अंगों पर नियंत्रण रखना है। इनमें समस्त अनैच्छिक गतियों, रक्त-परिभ्रमण तथा श्वसन-केन्द्र होते हैं।

पालतू पशुओं में स्पष्ट रूप से समझने के लिए तन्त्रिकीय लक्षणों को निम्नलिखित समूहों में विभाजित किया जा सकता है।

(1) **मानसिक गड़बड़ी :** चेतना में विघ्न पड़ना—उत्तेजना, उदासीनता।

(2) **प्रेरक उत्तेजना (motor irritation) :** माँस पेशियों की ऐंठन, प्रकंपन, तड़पन तथा मृगी रोग जैसी गतियाँ।

(3) **चलने-फिरने में गड़बड़ी :** प्रमस्तिष्कीय, अनुमस्तिष्कीय, मेरुदंडीय, अथवा परिसर अवसन्नता या पक्षाघात।

(4) **संवेदना की गड़बड़ी :** अति संवेदनशीलता, अति उत्तेजना, बेहोशी, अपसंवेदन, खुजलाहट, सुनने तथा देखने की गड़बड़ियाँ।

(5) **समन्वय संबंधी गड़बड़ियाँ :** भ्रमि (vertigo), गतिभंग (पशुओं में बहुत कम)।

चेतना की गड़बड़ी : (अ) क्षोभक गड़बड़ियाँ; उत्तेजना, बेचैनी, मूर्छा अथवा उन्माद द्वारा उत्पन्न होती हैं। उन्माद इस वर्ग की सबसे बड़ी गड़बड़ी है जिसमें पशु आवेगपूर्ण गति करना चाहता है। पागलपन की बीमारी की भाँति ये गतियाँ निरुद्देश्य तथा वेगवान होती हैं। बहुत से उग्र संक्रमणों (तानिका शोथ) तथा चारे आदि की विषाक्तता से मूर्छा उत्पन्न होती है। जैसा कि शूल वेदना में होते देखा गया है, बिना किसी उद्देश्य के इधर-उधर घूमना, लड़खड़ाना तथा शारीरिक असंतुलन आदि लक्षणों से इसे पहचाना जाता है। प्रेरक क्षोभण से संबंधित ऐसी गतियाँ कभी-कभी दुग्ध-ज्वर की प्रारम्भिक अवस्थाओं, कीटोमयता (Ketosis) के साथ उग्र गर्भाशय शोथ, तथा सीस विषाक्तता में देखने को मिलती हैं। उत्तेजना; प्रायः अतिरक्तता, सूजन अथवा अन्य उग्र मानसिक गड़बड़ियों का प्रारम्भिक लक्षण है। इसे दुग्ध-ज्वर की प्रारम्भिक अवस्थाओं, मस्तिष्क शोथ तथा अनेक अन्य अवस्थाओं में देखा जाता है।

(व) चेतना की दबी हुई गड़बड़ी को सुस्ती, निद्रावस्था तथा बेहोशी से पहचाना जाता है।

क्षोभक तथा दलित दोनों ही अवस्थाएँ प्रमस्तिष्क की उत्तेजना के परिणामस्वरूप हुआ करती है। प्राय. यह उन परिस्थितियों के कारण हुआ करती है जो अन्तः कपालीय दाब में वृद्धि उत्पन्न करती है—उदाहरणार्थ; प्रमस्तिष्कीय रक्त-वर्णता एवं रक्त स्राव, तानिका-शोथ, गुम चोट, बिजली गिरना, जल-कपाल (hydrocephalus), मस्तिष्क शोथ, फोड़ा, अपकर्षण, रसौलियाँ, सीस-विषाक्तता, यकृत का अपकर्षण, बैक्टीरिअल टॉक्सिन और परजीवी कीट (भमरी रोग)।

प्रेरक क्षोभण—प्रेरक क्षोभण किसी भी उत्तेजनायुक्त क्षतस्थल द्वारा उत्पन्न होता है। पालतू पशुओं का यह एक सामान्य तंत्रिकीय लक्षण है और ऐंठन तथा प्रकम्पनकारी गति इसके प्रमुख उदाहरण हैं। कृन्तक ऐंठन (clonic spasms); मांस-पेशियों का अनैच्छिक उग्र संकुचन है जो बिना रुके एक के बाद एक होता चला जाता है। यदि इस क्रिया में एक ही समय में कई एक मांसपेशियाँ भाग लेती है तो इसे कृन्तक अनैच्छिक उग्र संकुचन कहा जाता है। प्रकम्पन प्राय. मांसपेशियों की अनैच्छिक गति है। किसी भी मांसपेशी के केवल एक तन्तु बंडल का संकुचन तन्तुकीय ऐंठन (fibrillary twitching) कहलाता है। किसी भी व्यक्तिगत मांसपेशी का बढ़ा हुआ लगातार संकुचन, तनावपूर्ण ऐंठन है। टिटैनिक संकुचन; मांस-पेशियों के समूह अथवा पूरे शरीर को संलग्न करने वाली तनावपूर्ण ऐंठन है। टिटैनी इसी ग्रुप के अन्तर्गत आती है। अधिकृत गतियाँ प्रेरक-क्षोभण के उदाहरण हैं। इनके अन्तर्गत निम्नलिखित परिवर्तन आते हैं: (1) पशु का अपने चारों ओर चक्कर लगाना जैसा कि भमरी रोग (gid) तथा अनुमस्तिष्क के क्षतस्थलों में देखा जाता है। (2) सीस-विषाक्तता, प्रमस्तिष्क रसौलियाँ अथवा अनुमस्तिष्क के क्षतस्थलों की भाँति दाईं या बाईं ओर को चक्कर काटना। जब प्रमस्तिष्क में दाहिनी ओर क्षतस्थल होते है तो पशु बाईं ओर, तथा बाईं तरफ ऐसे क्षतस्थल होने पर दाईं ओर चक्कर काटता है। (3) मस्तिष्क शोथ, रुधिर-विषाक्तता तथा प्रमस्तिष्कीय अतिरक्तता (दुर्दम्य नजला, सींग काटने के बाद होने वाले नासूर) में पशु आगे को भाग कर सिर टकराना चाहता है। (4) मस्तिष्क की सतह पर रक्तस्राव होने पर, गायों में सपूय मस्तिष्क झिल्ली शोथ होने पर, तथा विभिन्न विषैली अवस्थाओं में पशु की पीछे की ओर हटने की प्रवृत्ति होती है।

प्रेरक क्षोभण के विभिन्न प्रकार विभिन्न अवस्थाओं में मिला करते हैं। इनमें, घोड़ों में होने वाले मूर्छा जैसे आक्रमण जो ढोरों में बहुत कम होते हैं; आहार-नाल से विषैले पदार्थ का शोषण—उदरीय भ्रामर (abdominal vertigo); नवजात बच्चों की तानिका मस्तिष्क शोथ (meningo-encephalitis); गायों में अपच (कभी-कभी); सींग में चोट लगने के बाद अंतः कपालीय दाब (intracranial pressure); मस्तिष्क शोथ; मस्तिष्क का क्षयरोग; गायों में गर्भाशय शोथ के बाद होने वाली पीवयुक्त कपाल शोथ; यकृत के प्राइमरी विसृत रोग (सिरोसिस), गायों में उग्र वसीय अपकर्षण और बोट्युलिज्म आदि शामिल हैं।

रोग की उग्रावस्था मे मास-पेशियों की ऐंठन के बाद रोगी की मृत्यु हो जाती है। कुछ रोग जिनका कोई विशिष्ट निदान नही है उन्हें पहचानने के लिए "कम्पन" शब्द का भी प्रयोग होता है। इनमें से कम्पन कहलाने वाली एक बीमारी नवजात अथवा युवा सुअरो में भी होती है। चरागाह पर चरने जाने वाले दूध पीने वाले बच्चो में यह सूकर-कालरा का प्रारम्भिक लक्षण भी हो सकता है। कर्नकैम्प[1] ने सुअरो में इस रोग की एक जन्मजात अवस्था का भी वर्णन किया है जिसमें कि सुअर के पैदा होने के समय ही मासल ऐंठन मौजूद होती है। कर्नकैम्प लिखते है कि इसमें शरीर की समस्त ऐच्छिक मास पेशियाँ अथवा कुछ पेशी-समूह ही शामिल हो सकते है। इनका सकुचन तीव्र अथवा हल्का हो सकता है और यह लगातार अथवा रुक-रुक कर होता है। रोग के भीषण प्रकोप में चलने तथा दूध पीने में बच्चे को कष्ट होकर भूख से उसकी मृत्यु हो जाती है। रोग के हल्के प्रकोप में 6 सप्ताह में रोगी ठीक हो सकता है।

सदर्भ

1. Kerncamp H C. H , Vet. Bull , Lederle, May-June 1941, p. 81.

चलने-फिरने में गड़बड़ी—(लकवा, आंशिक पक्षाघात)—सेरेब्रल कार्टेक्स, प्रेरक मार्गों अथवा मास पेशियो को प्रभावित करने वाले प्रेरक-नाल में नष्टकीय क्षतस्थलो द्वारा यह गडबडी उत्पन्न होती है, और पशुओ में यह अधिक हुआ करती है। जब तक पशु में सुस्ती अथवा कुछ मानसिक लक्षण मौजूद न हो, केन्द्रीय पक्षाघात के स्रोत का वास्तविक पता नही चल पाता। अत सक्रामक मस्तिष्क शोथ (कैसास अश्व रोग) में अवसन्नता, उन्माद, मूर्छा तथा लकवा जैसे चेतना की गडबड़ी के अनेक लक्षण होते हैं। इसके विपरीत, बोट्युलिज्म में चेतना की गडबड़ी नही होती। यह एक परिसर पक्षाघात (peripheral paralysis) है। मस्तिष्क-शोथ (बोर्ना रोग), रसौलियाँ, अतिरक्तता, तथा मस्तिष्काघात आदि कारक केन्द्रीय पक्षाघात के कारण है। चेतना में गड़बड़ी तथा प्रेरक क्षोभण के साथ प्रारम्भ होने वाले लक्षणो की श्रेणी में बहुधा यह अतिम अवस्था है जो अचेतनता एव पक्षाघात में समाप्त होती है। गर्भाशय-शोथ, भेड़ो में गर्भावस्था का रोग अथवा यकृत का अपक्षय जैसी बीमारियो में शरीर के अन्य भागो में रोग-ग्रसित अगों से विषैले पदार्थों के रक्त सस्थान में प्रवेश पा लेने से भी केन्द्रीय पक्षाघात हो सकता है। दुग्ध-ज्वर, अम्लरक्तता तथा अन्य अज्ञात अवस्थाओ में भी गायो में अक्सर पक्षाघात हुआ करता है। खोपडी में धक्का लगने अथवा हड्डी टूटने के फलस्वरूप मस्तिष्क में रक्तस्राव होने पर गायों में पेट फूलने के साथ पक्षाघात होते देखा गया है।

आमतौर पर, प्रेरक-नाल (motor tract) में क्षोभक क्षतस्थल मौजूद होने पर प्रेरक क्षोभण उत्पन्न होता है तथा विनाशकारी क्षतस्थल पक्षाघात का कारण बनते है।

ज्ञानेन्द्रियों का असंतुलन—असवेदन, अपसवेदन (paresthesia), अति सवेदन, दिखाई न देना तथा शारीरिक असतुलन जैसी सवेदी गड़बड़ियाँ रोग का निदान करने में कभी-कभी काफी महत्वपूर्ण सिद्ध होती हैं। अपसवेदन, खुजली अथवा जलन का महसूस होना घोड़ो में पागलपन की प्रारम्भिक अवस्था में कटे हुए स्थान पर देखा जाता है। गायों में ऐसे लक्षण

अम्लरक्तता, उग्र सेप्टिक गर्भाशय-शोथ, कूट पागलपन (pseudorabies) तथा अज्ञात कारणवश होने वाले मेरुरज्जीय पक्षाघात में देखे जाते हैं। पशु रोग-ग्रसित भाग को रगड़ता, चाटता तथा काटता है। अति संवेदन बहुत कम होते देखा गया है। एक उदाहरण में यह ग्लांडर्स (गिल्टी रोग) से पीड़ित घोड़े में मस्तिष्क-झिल्ली शोथ के कारण ग्रैवीय क्षेत्र में देखा गया। इसका दूसरा उदाहरण अम्ल-रक्तता के साथ दुग्ध-ज्वर से पीड़ित गाय में प्राथमिक अवस्थाओं में मिला।

सेरेब्रल अतिरक्तता
(Cerebral Hyperemia)

शब्द "सेरेब्रल अतिरक्तता" ऐसे सामूहिक लक्षणों के लिए प्रयुक्त होता है, जो स्पष्ट रूप से मस्तिष्क के क्षोभण के कारण उत्पन्न होते हैं और कुछ ही घंटों में पशु इनसे मुक्त भी हो जाता हैं। यह सदैव स्पष्ट नहीं होता कि यह अवस्था अतिरक्तता है। यह संभव है कि कुछ उदाहरणों में हम कुछ हल्केपन में विद्यमान तानिका-शोथ का अनुभव करते हैं जबकि दूसरों में यह संलक्षण रक्त में विषैले पदार्थों के कारण होता है जो मस्तिष्क पर अपनी क्रिया करने के बाद भी स्पष्ट क्षतस्थल नहीं प्रदर्शित करते।

कारण—इस अवस्था को उत्पन्न करने वाले कारक निम्नलिखित हैं: लू लगना, तानिका-शोथ की प्रारम्भिक अवस्थाएँ तथा मस्तिष्क के निकटवर्ती भागों की सूजन। अतः गायों में यह अवस्था सींग काटने के बाद उत्पन्न साइनसशोथ में, ढोरों में दुर्दम्य नजला में तथा कभी-कभी भेड़ों में ईस्ट्रस ओविस लार्वा की उपस्थिति के कारण, तथा मस्तिष्क की झिल्लियों में लगने वाली चोटों के कारण हुआ करती है। गायों में; जैसा कि गर्भाशय शोथ में देखा गया है, बैक्टीरियल टॉक्सिन भी ऐसे ही लक्षण उत्पन्न करती है। ऐसे रोगी में अतिरक्तता को पहचानना काफी सरल होता है, क्योंकि जब ऐसा आक्रमण प्राणघातक होता है तो विस्तृत तानिका शोथ सदैव उपस्थित रहती है। दूषित चारा खाने से उत्पन्न आंत्र-विषाक्तता भी किसी हद तक अतिरक्तता के लक्षणों का कारण बन सकती है। इस ग्रुप के अन्तर्गत अम्ल-रक्तता तथा दुग्ध-ज्वर भी सम्मिलित हैं।

लक्षण—सुस्ती, बेचैनी, उत्तेजना अथवा भ्रमि जैसे चेतना की गड़बड़ी के लक्षणों से मस्तिष्क की अतिरिक्तता को पहचाना जाता है। इसके साथ मांस पेशियों की ऐंठन, ग्रीवा, की मांस पेशियों की तनाव पूर्ण तड़पन तथा अनैच्छिक गतियाँ जैसे दीवाल से सिर को टकराना, पशुशाला में आगे की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति, चक्कर काटना आदि प्रेरक क्षोभण के अन्य विभिन्न लक्षण भी दिखाई पड़ते हैं। पैरों अथवा शरीर के अन्य भागों को लगातार चाटने के साथ पशु में अगसंवेदन भी हो सकता है। कुछ भागों का पक्षाघात नहीं होता।

घोड़ों में खाद्य-विषाक्तता कुछ भ्रमि उत्पन्न कर सकती है जिसमें पशु एक ही स्थिति में खड़ा होता तथा जबरदस्ती चलाने पर लड़खड़ाता है। पशु को उत्तेजना होकर मुर्छा आती है। भ्रमि, मांस पेशियों की ऐंठन, मृगी जैसे आक्रमण, अनैच्छिक गतियाँ आदि इसके अन्य लक्षण हैं। रोग के भीषण प्रकोप में सामान्य पक्षाघात हो सकता है।

मुड़ते समय घोड़ा गिर सकता, कठिनता से उठ पाता, घुड़साल में पास जाने पर चौंक कर कूदता तथा मृदुरेचक पदार्थ खिलाने पर शीघ्र ही ठीक होने लगता है। सींग काटने के बाद साइनसशोथ होने पर गाय अपने सिर को एक ओर मोड़कर खड़ी होती है (ग्रीवा की मांस पेशियों की तनावपूर्ण ऐंठन), अथवा अपने स्थान पर आगे को जोर लगाती है (अधिकृत गति)।

सीस-विषाक्तता तथा रक्तपूतिता से पीड़ित जिन पशुओं में अतिरक्तता रोग के लक्षण देखे गए उनका शव-परीक्षण करने पर मस्तिष्क की झिल्लियां रक्त-संकुलित मिली।

आतपघात
(Sunstroke)
(ऊष्माघात, तापज्वर, सूर्याभिताप)

कारण—धूप में अत्यधिक कार्य करने अथवा गर्म संकुचित स्थान में बंद रहने से पशु को लू लगा करती है। यात्रा से थके हुए तथा गाड़ी में बंद रहने के बाद बाड़ों अथवा मैदान में थपेडेदार सूर्य की लपटों के संपर्क में आने वाले पशु प्रायः इसका शिकार हुआ करते हैं। दक्षिण की अपेक्षा उत्तरी पशु इस रोग के प्रति अधिक ग्रहणशील कहे जाते हैं। पानी का अभाव इसका पुरः प्रवर्तक कारण है। भेड़ों तथा घने बालों वाले पशुओं को लू आसानी से लगती है। सूर्य की किरणों की रासायनिक क्रिया की अपेक्षाकृत अत्यधिक गरमी इसका विशिष्ट कारण है।

विकृत शरीर रचना—शिराएँ काफी तन जाती है तथा रक्त जमता नहीं। यकृत तथा गुर्दे अपविकसित हो जाते हैं। शव की अकड़न तथा सड़न शीघ्र प्रारम्भ हो जाती है। फेफड़े तथा मस्तिष्क रक्तवर्ण हो जाते हैं।

लक्षण—काम करने वाले घोड़ों में इसका प्रकोप धीरे-धीरे होता है तथा सुस्ती, लँगड़ाना और जल्दी-जल्दी सांस लेना आदि लक्षण दिखाई पड़ते हैं। जब तक पशु काम करके अपनी घुड़साल में वापस नहीं लौटता तब तक लक्षण प्रकट नहीं होते। त्वचा का शुष्क दिखाई देना इसका प्रमुख लक्षण है। बेचैनी, उन्माद मांस पेशियों का अनैच्छिक उग्र संकुचन अथवा बेहोशी के लक्षण प्रकट करके प्रायः रोगी की मृत्यु हो जाती है। रोगी का सामान्य परीक्षण करने पर श्लेष्मल झिल्लियां रक्त वर्ण, दिल तेजी से धड़कता हुआ, तीव्र नाड़ी तथा 106°–110° फारेनहाइट तक तेज बुखार मिलता है। शरीर की ऊपरी शिराएँ काफी तनी हुई मिलती हैं। सांस जितनी ही तेज तथा अनियमित होती है पशु की हालत उतनी ही खराब समझी जाती है। बीमारी की अवधि काफी कम है। कुछ रोग-ग्रसित पशु 1½ से 2 घंटे में तथा अन्य तीसरे दिन मर जाते हैं। मौसम की दशा तथा रोगी पशु को अधिक बुखार होना इसकी पहचान है। इसके हल्के प्रकोपों की, अपच तथा फुफ्फुस अतिरक्तता से सम्भ्रांति हो जाती है। विस्तृत लू-लहर में मृत्यु दर अधिक होती है। अधिक ज्वर तथा उन्माद के लक्षण मौजूद होने पर रोगी के ठीक होने की आशा कम रहती है।

चिकित्सा—शरीर को जल्दी ठंडा करके बुखार कम करने का चिकित्सक का प्रथम उपचार होना चाहिए। ऐसा सिर पर ठंडी पट्टी देकर तथा ठंडे पानी का एनिमा देकर

थवा शरीर पर पानी छिड़क कर किया जा सकता है। एक गाय में, मेरुदण्ड पर ठंडी ट्टी देने पर मांस-पेशियों का अनैच्छिक उग्र संकुचन होने लगा किन्तु, केवल सिर पर बर्फ खने से ऐसा न हुआ। छाया दार स्थान तथा ताजी वायु का प्रयोग अत्यधिक वांछनीय है। ास पेशियों में ऐंठन होने पर क्लोरल हाइड्रास तथा क्लोरोफार्म जैसी नशीली दवाएँ देनी ाहिए। रोग-ग्रसित मनुष्यों में बेहोशी होने पर जुगुलर शिरा से रक्त निकालना काफी ाभप्रद सिद्ध होता है, किन्तु पशुओं में यह प्रयोग संदेहात्मक है। केसर[1] (Keyser) ी रिपोर्ट के अनुसार पशु का रक्त निकाल कर उसे 4 लिटर कृत्रिम सीरम अथवा उतनी ही ात्रा में 0.7 प्रतिशत सोडियम क्लोराइड घोल का अंत:शिरा इन्जेक्शन देना चाहिए। कैफीन ोडिओ सैलिसिलेट (4 से 8 ड्राम), ऐरोमैटिक अमोनिया स्प्रिट, स्ट्रिकनीन सल्फेट अथवा कर्पूरयुक्त तेल जैसी उत्तेजक औषधियों का स्वतंत्रता पूर्वक प्रयोग किया जा सकता है।

लू लगने से पीड़ित फौजी पशुओं के इलाज में कैम्पबेल[2] (Campbell) ने 1000 से 1500 घ० सें० की मात्रा में 10 प्रतिशत सलाइन घोल (सोडियम क्लोराइड, 4 प्रतिशत; सोडियम कार्बोनेट, 5 प्रतिशत; पोटासियम क्लोराइड, 0.5 प्रतिशत; मैगनीशियम क्लोराइड, 0.05 प्रतिशत) के अंत:शिरा इन्जेक्शन को काफी महत्ता दी। जो पशु खाते नहीं थे उनको एक घंटे बाद दूसरा इन्जेक्शन तथा इसके दो घंटे बाद तीसरा इन्जेक्शन दिया गया। इन्जेक्शन देने के बाद 15 मिनट के अन्दर ऐसे पशुओं ने काफी पानी पिया। इनमें से जो पशु लँगड़े थे उनके पैरों पर बर्फ की पट्टी दी गई तथा उसके दूसरे दिन तथा बाद में प्रतिदिन हल्का व्यायाम कराया गया।

तापाघात तथा लू की चिकित्सा और बचाव के बारे में हूवर डैम (Hoover dam) के कार्यकर्त्ताओं में से ज्वैलेन्बर्ग[3] (Zwalenburg) ने बताया कि पानी तथा नमक का स्वतंत्रतापूर्वक प्रयोग करना बचाव के लिए गुणकारी है तथा नमक और डेक्सट्रोज घोल के अंत:शिरा और अधस्त्वक् (sub cutaneous) इंजेक्शन तीव्र लू लगने की चिकित्सा में काफी लाभप्रद सिद्ध हुए हैं। उन्होंने लिखा कि "लू लगकर एकाएक मरने वाले पशुओं का शव-परीक्षण करने पर हृदय खाली तथा त्वचा रक्तवर्ण मिलती है। इससे स्पष्ट है कि गरमी त्वचा में उपस्थित रक्त केशिकाओं को फैलाकर शरीर से तब तक पानी का ह्रास करती रहती है जब तक कि मस्तिष्क में समुचित दबाव बनाए रखने के लिए रक्त नलिकाओं में तरल पदार्थ की कमी नहीं हो जाती। लू से पीड़ित पशु का नीलापन लिए हुए पीला शरीर इस बात को प्रदर्शित करता है कि उसमें पहले की भाँति रक्तस्राव होने के लिए रक्त ही शेष नहीं रह गया।" पशु के ऊपर ठंडा पानी छिड़कने से होने वाला सुधार किसी हद तक तनावपूर्ण नलिकाओं के ऊपर क्रिया करने के कारण होता है।

संदर्भ

1. Keyser, Ueber die Behandlung des Hitzschlages, Tier. Rundschau, 1930, 36, 787.
2. Campbell, D. M., Experiences in any army veterinary Hospital, Vet., Med., 1942, 37, 326.
3. Zwalenburg, C. V., Heat prostration and dehydration, J.A.M.A., 1933, 1933, 101, 1253.

तड़ित आघात

(Lightning Stroke)

चरागाह पर चरते समय किसी पेड के नीचे खड़े हुए पशुओं के समूह पर कभी-कभी बिजली गिर जाती है। वैसे तो शाह बलूत के पेड इसके लिए प्रमुख तौर पर खतरनाक कहे जाते हैं, किन्तु ऐसी दुर्घटनाएँ उन स्थानों पर भी अधिक होती हैं जहाँ यह पेड उगते ही नहीं। प्रयोगात्मक प्रमाणों के अनुसार तड़ित आघात से पीडित पशु की "मृत्यु के निम्नलिखित कारण हैं. (अ) तंत्रिका केन्द्रों के शिथिल पड जाने के परिणामस्वरूप दिल धडकते रहते हुए भी साँस रुक जाना अथवा (ब) श्वसन केन्द्रों की शिथिलता के साथ हृदय की गति का भी रुक जाना"—नेल्सन[1]।

विकृत शरीर रचना—शव-परीक्षण करके तड़ित आघात का निदान कराने वाले परिवर्तनों का पता लगाना प्राय कठिन अथवा असम्भव सा हो जाता है। रीक्स[2] (Reeks) लिखते हैं कि बिजली गिरे हुए पशुओं के शरीर पर बालों के जलने की एक टेढ़ी-मेढ़ी रेखा सदैव उपस्थित रहती है। यह रेखा कान के एक सिरे से प्रारम्भ होकर, गर्दन पर जुगुलर-गर्त से होती हुई अगले पैर के सहारे पृथ्वी पर जा मिलती है। इसके मार्ग का झुलसे हुए बालों से ही पहचाना जाता है। ऐसी ही रेखा पिछली पीठ से प्रारम्भ होकर पैरों से होती हुई जमीन की ओर जा सकती है। रीक्स के अनुसार इस प्रकार की झुलसन बिजली के गिरने से मरने वाले 90 प्रतिशत से अधिक पशुओं में मिलती है। शरीर के किसी भी भाग अथवा सिर पर जले हुए स्थान पाए जा सकते हैं। पशु का एकाएक मरना बिजली गिरने का अनुमान कराता है। पशु चरते-चरते एकाएक गिर जाता तथा उसके आगे के दाँतों के बीच घास दबी हुई मिलती है। मुँह तथा नथुनों पर झागयुक्त रक्त मिल सकता है। शव की अकडन प्राय मौजूद रहती है। दम घुटकर होने वाली मृत्यु की भाँति पशु का खून पतला पड जाता है प्लीहा तथा यकृत् रक्त-वर्ण हो जाते हैं। केन्द्रीय तंत्रिका-तंत्र में कोई विशिष्ट परिवर्तन नहीं पाए जाते। फेफडे रक्त-वर्ण हो जाते हैं तथा उनमें रक्तस्राव हो सकता है। हब्बर्ड[3] (Hubbard) के अनुसार कुछ लोग हृदय के बाएँ निलय के सकुचन को अधिक महत्व देते हैं, किन्तु ऐसा सकुचन बिजली के आघात से मरने वाले पशु में प्राय अनुपस्थित होता है। तड़ित-आघात के भारी प्रकोप के परिणाम-स्वरूप पशु को भीषण चोट लग सकती है।

लक्षण—चोट लगे हुए पशुओं में प्राय पैरों का पक्षाघात दिखाई पडता है। यह अवसन्नता प्राय क्षणिक होती है तथा अपने गुण में परिसर (peripheral) होने के कारण मूत्राशय तथा रेक्टम को कभी भी प्रभावित नहीं करती। लकवा के साथ-साथ पशु चक्कर काटता, अन्धा हो सकता तथा कुछ-कुछ पागल सा प्रतीत होता है। गहरी चोट लगने पर पशु सदैव के लिए लूला हो जाता है किन्तु ऐसी अवस्था अपेक्षाकृत बहुत ही कम देखने को मिलती है। जैसा कि मैक्सफील्ड[4] (Maxfield) ने वर्णन किया है तड़ित आघात के 48 घंटे बाद हियरफोर्ड नस्ल के साँड़ में पेट के बल झुकना, सिर को नीचे झुकाकर रखना, पलकों तथा कानों को गिराकर रखना, अँगुली सामने करने पर भी आँख न झपाना,

रेक्टम तथा मूत्राशय सहित पिछले धड़ का पक्षाघात तथा पाचन अंगों और चबाने वाली मांस पेशियों का क्रियात्मक पक्षाघात आदि लक्षण देखे गए।

संदर्भ

1. Nelson, Loose-Leaf Medince, vol. II, p. 661.
2. Reeks, H. C., Lightning and electric shock in animals, Vet., Rec., 1927, 7, 901.
3. Hubbard, E. D., Diagnosing lightning stroke, Vet., Med., 1946, 41, 168.
4. Maxfield, F. M., Lightning stroke, Allied Vet., Sept.-Oct., 1950.

तानिकाशोथ

(Meningitis)

(तानिकामस्तिष्क शोथ)

परिभाषा—शब्द सेरेब्रल तानिकाशोथ के अन्तर्गत पायामेटर (मृदु-जाल तानिका-शोथ), ड्यूरामेटर (खण्डक तानिका शोथ) तथा किसी हद तक सेरेब्रल कार्टेक्स की सूजन आती है। पशुओं में मस्तिष्क की यह अधिकतर होने वाली बीमारी है जो प्रायः गौण रूप में हुआ करती है। रक्त-स्रवित तथा पीवयुक्त इसके दो प्रमुख प्रकार हैं।

कारण—तानिका शोथ प्रायः निम्नलिखित कारणों के परिणामस्वरूप ही हुआ करती है: (1) क्षयरोग तथा कभी-कभी अन्य विशिष्ट दीर्घकालिक संक्रमण; (2) बछड़ों तथा मेमनों में नाभि-रोग, वधिया करने से उत्पन्न घाव, मेमनों की पूँछ काटना, गायों में सेप्टिक गर्भाशय शोथ एवं अभिघातज आमाशय-शोथ, खोपड़ी में लगी हुई चोटें तथा अस्थिभंग एवं मस्तिष्क से उत्पन्न पीवोत्पादक संक्रमण (सींग काटने के बाद उत्पन्न साइनसशोथ); (3) ऐंथ्राक्स, लँगड़ी, गलाघोटू, सूकर-कालरा, नवजात बच्चों में रक्त विपाक्तता तथा घोड़ों में संक्रामक निमोनिया जैसे उग्र संक्रमण; (4) विपाक्तता; विशेष तौर पर सीस से उत्पन्न होने वाली; (5) गायों में उग्र अपच तथा आंत्रार्ति से भी कभी-कभी तानिका-शोथ हो जाती है; (6) लू लगना, परजीवी कीटों के लार्वा तथा संभवतः दुग्ध-ज्वर के कुछ रोगी (7) घोड़ों तथा ढोरों में कुछ अनविज्ञ कारण जिनमें लोग विष खा जाने, आहार-नाल की विपाक्तता अथवा मस्तिष्क के संक्रमण का अनुमान करते हैं। कभी-कभी तानिकाशोथ से मरने वाले पशु का शव-परीक्षण करने पर विशिष्ट क्षतस्थल नहीं दिखाई पड़ते। फिर भी नियम के अनुसार, जब कोई पशु तानिकाशोथ के विशिष्ट लक्षण प्रकट करके मरता है तो उसका शव-परीक्षण करने पर विशिष्ट क्षतस्थल पाए जाते हैं।

विकृत शरीर रचना—मस्तिष्क के क्षतस्थल काफी भिन्न हो सकते हैं। मस्तिष्क की झिल्लियों तथा कोराइड जालिका (choroid plexus) का रक्तवर्ण होकर उनसे रक्तस्राव होना, इसमें पाए जाने वाले प्रमुख परिवर्तन हैं। नाभिरोग तथा घावों से उत्पन्न रोग के पीवयुक्त प्रकार में कार्टेक्स के ऊपर सपूय क्षेत्र मिल सकते हैं तथा इनसे स्लाइड पर लेप बनाकर माइक्रॉस्कोप में देखने से बहु आकृति वाले कोशा मिलते हैं। प्रमस्तिष्क मेरुद्रव (cerebrospinal fluid) प्रायः बढ़ जाता है। यह लाल अथवा पीलापन लिए

हुए हो सकता है और कभी कभी ही धुंधला होता है। कपालीय तन्त्रिकाओ (cranial nerves) को सलग्न करके नाभिक क्षतस्थल प्रदर्शित करने वाले लक्षण (कान लटक जाना भेंगापन) मौजूद होने पर भी, आमतौर पर इनके परिवर्तन प्राय विसृत होते है।

लक्षण—यद्यपि कि व्यक्तिगत लक्षण काफी भिन्न हो सकते है फिर भी सामूहिक रूप से यह काफी मिलते जुलते हुआ करते है। प्रेरक उत्तेजना इसका प्रमुख लक्षण है। रोगी में गदन तथा अ य मास-पेशियो का अनैच्छिक उग्र सकुचन, मास-पशिया की ऐंठन तथा रुक रुक कर दौरे से पडना आदि लक्षण दिखाई देत है। रोगी पशु में अनैच्छिक गतियाँ देखने को मिलती है। वह कभी तेजी स आग को बढता अथवा चक्कर काटता है। रोगी में चेतना का अभाव हो जाता है। कभी-कभी वह एकाएक उत्तेजित होकर, बाद में सुस्त हो जाता है। किन्तु, इस बीमारी में पूण रूप स चतन शक्ति का अभाव कभी नही होता। सद्रूग तानिकाशोथ से पीडित एक सात माह की आयु वाली हियरफोड

चित्र – 43 परिगत अपकरण प्रदर्शित करता हुआ अनुमस्तिष्कशोथ से पीडित एक बछडा।

नस्ल की बछिया में शारीरिक मास-पशियों की ऐंठन तथा मनुष्यों पर आक्रमण करना प्रमुख लक्षण थे। कभी-कभी भ्रमि जैसे लक्षण भी दिखाई देते है। पशु को चलने में कष्ट होता है तथा मुडने पर वह गिर जाता है। किन्तु शीघ्र ही उठ खडा होता है। टखना का मोडना, एक पैर एक कान, एक आँख अथवा गले की अवसन्नता होना लकवा का एक गम्भीर लक्षण है। पिछले टखना की मोड स प्रारम्भ होकर कभी-कभी पूरे शरीर का लकवा सा मार जाता है तथा रोगी पशु उठ नही पाता। फिर भी, पशु चारा खा सकता है तथा छून पर उसके शरीर में ऐंठन सी होती है। गाया में पहले सुस्ती, चारे में अरुचि, चलन की अनिच्छा, तथा रक्त-सकुलित श्लेष्मल भिल्लियाँ आदि लक्षण दिखाई देकर बाद में मृगी जैसे

दौरे पड़ने लगते हैं। अन्य पशुओं में, पिछले पैरों की अवसन्नता, गर्दन की मांस-पेशियों की एक-एक कर ऐंठन अथवा गर्दन और सिर का तनाव होना रोग के प्रारम्भिक लक्षण हैं। चारे में पूर्ण अरुचि, रक्त-संकुलित श्लेष्मल झिल्लियाँ, जल्दी-जल्दी तथा कष्टप्रद श्वास-प्रश्वास, कराहना तथा तीव्र नाड़ी गति इसके आमतौर पर होने वाले लक्षण हैं। पशु की हालत बहुत ही शीघ्र गिरने लगती है। इसका कोई भी प्रभावकारी इलाज नहीं है यद्यपि कि प्रत्यक्ष तानिकाशोथ के लक्षण शीघ्र ही अदृश्य हो सकते हैं। क्षतस्थलों के प्रकार पर आधारित होकर बीमारी की अवधि दो से दस दिन तक की हो सकती है।

मस्तिष्कशोथ

(Encephalitis)

(उग्र मस्तिष्कार्ति, अपूय मस्तिष्कशोथ, मस्तिष्क का अपकर्षण)

प्रेरक उत्तेजना, लकवा जैसे लक्षणों तथा चेतनशक्ति में गड़बड़ी द्वारा उग्र मस्तिष्क-शोथ को पहचाना जाता है, किन्तु जब क्षतस्थल केवल सेरिबेलम तक ही सीमित रहते हैं

चित्र—11 एक पाडे में दाहिने प्रमस्तिष्क-गोलार्ध की मस्तिष्क-शोथ। द्रवीकरण तथा रक्तस्राव के साथ अत्यधिक अपकर्षण। विशेषकर बाईं ओर का पक्षाघात, दबी हुई चेतना तथा प्रेरक क्षोभण (अक्षिदोलन) इसके प्रमुख लक्षण थे।

तो पशु की चेतना सामान्य रहती है। यह बीमारी कभी कभी हुआ करती है तथा इसमें मस्तिष्क का अपकर्षण हो जाता है।

कारण—संक्रमण अथवा विषाक्तता इसके कारण हुआ करते हैं किन्तु, लेखक द्वारा देखे गए कुछ मामलों में कारण का कोई प्रमाण ही न मिला। पाडों में यह शोथ एन्फ्लूएञ्जा

अथवा संक्रामक निमोनिया में विकसित हो जाती हैं। जठरआंत्र-शोथ से पीड़ित गायों में भी मस्तिष्क की झिल्लियों में सूजन तथा रक्तस्राव होते देखा जाता है।

विकृत शरीर रचना क्षतस्थल के परिगत होने पर मस्तिष्क की बाहरी सतह सामान्य दिखाई देती है अथवा एक स्थान पर उसका रंग पीला पड़ जाता है। काटने पर एक अथवा अधिक छोटे छोटे गोल क्षतस्थल मिल सकते हैं। इनका आकार एक मटर के दाने के बराबर या कुछ बड़ा होता है। क्षतस्थल का मध्य भाग मुलायम तथा द्रवयुक्त हो सकता है। हिस्टॉलोजिकल परीक्षण करने पर क्षतस्थल में लिम्फासाइट भरे हुए मिलते तथा तन्त्रिका कोशाओं (nerve cells) का अपकर्षण देखने को मिलता है।

रोग के विस्तृत प्रकार में प्रमस्तिष्क-गोलार्ध का इतना अपकर्षण हो सकता है कि खोपड़ी को हटाने पर उसमें से मोम की भांति पीलापन लिए हुए सफेद तथा रक्त मिश्रित द्रव निकलता है। काटने पर कटी हुई सतह काफी पीली दिखाई देती है तथा उस पर पीव युक्त दूषित गाढ़ा पदार्थ भरे हुए अनेक गड्ढे मिलते हैं। इन गड्ढों की दीवाल रक्त-संकुलित अथवा रक्तस्रवित हो सकती है और कटी हुई सतह पर अनेक छोटे छोटे धब्बे तथा क्षेत्र वितरित रहते हैं।

लक्षण—रोग सुस्ती के लक्षणों के साथ भी प्रारम्भ हो सकता है किन्तु, बहुधा ग्रीवा की मांस पेशियों की ऐंठन अथवा लकवा जैसे पक्षाघात के लक्षण दिखाई देते हैं। सेरिबेलम में उपस्थित परिगत क्षतस्थलों में गर्दन तथा पैरों की मांस पेशियों में टिटैनी जैसी अकड़न तथा पक्षाघात होता है किन्तु चेतना सामान्य रहती है। यदि क्षतस्थलों का क्षेत्र थोड़ा होता है तो कुछ समय के लिए पशु की हालत में काफी सुधार दिखाई पड़ सकता है, किन्तु लक्षण पुनः प्रकट होकर पशु के शरीर में पूर्ण अवसन्नता उत्पन्न करके उसे मौत के घाट उतारते हैं। क्षतस्थलों के सेरेब्रम में होने पर प्रेरक उत्तेजना, चेतना में गड़बड़ी तथा पक्षाघात जैसे लक्षण प्रकट होते हैं। जब पक्षाघात शरीर में एक ओर होता है तो मस्तिष्क में परिवर्तन उसी ओर न होकर, दूसरी ओर होते हैं। एक रोगी में, मस्तिष्क के दाहिने गोलार्ध में अपकर्षण होने पर बाईं ओर का शरीर अवसन्न हुआ। कभी-कभी नेत्र गोलक (eye ball) भी पलटा हुआ सा दिखाई पड़ सकता है। सामान्य लक्षण प्रायः अनुपस्थित रहते हैं। ऐसे पशु सामान्य तौर पर खाते-पीते और पुकारने पर सुनते हैं तथा इनकी नाड़ी-गति व तापक्रम नॉर्मल रहता है। चलने का प्रयत्न करने पर रोगी के पैर लड़खड़ाते, हैं वह गिर पड़ता, अथवा सहारा पाने के लिए किसी दीवाल के सहारे झुकता है। घंटों तथा दिनों तक वह लगातार खड़ा रह सकता है, किन्तु अन्त में, गिरकर उठने में असमर्थ हो जाता है। क्षतस्थलों का क्षेत्र बड़ा होने पर अथवा उनके शीघ्र विकास करने पर कुछ ही दिनों में रोगी की मृत्यु हो जाती है अन्यथा इसमें सप्ताहों अथवा महीनों का समय लगता है।

जैसा कि गायों में होते देखा गया है संक्रमण तथा विषाक्तता के परिणामस्वरूप होने वाली रक्तस्रवित तानिका-मस्तिष्क-शोथ में प्रेरक क्षोभण तथा पक्षाघात इसके प्रधान लक्षण होते हैं। रोगी पशु के मुँह से लार गिरती, सिर ऊपर अथवा दाहिनी ओर खिंच जाता, एक कान नीचे लटक जाता, एक या दोनों पलकों में अवसन्नता होती, पशु अन्धा हो जाता, पैर शरीर के अन्दर की ओर खिंच जाते, पशु बंधे हुए स्थान पर आगे की ओर जोर लगाता

तथा जरा भी छेड़ने पर गिर जाता है। अंत में पशु खड़ा नहीं हो पाता, यद्यपि वह इस अवस्था में भी खाता-पीता रहता है। प्रायः एक सप्ताह में उसकी मृत्यु हो जाती है।

तानिका-शोथ और मस्तिष्क-शोथ का विभेदी-निदान करने के लिए निम्नलिखित तीन बातों पर ध्यान देना आवश्यक है : (1) विशेषतया ढोरों और भेड़ों में दोनों बीमारियों की तुलना में तानिका-शोथ अधिक होती है जहाँ यह विषैली अथवा छुतैली अवस्थाओं के परिणामस्वरूप हुआ करती हैं। (2) तानिका-शोथ में विभिन्न प्रकार की प्रेरक उत्तेजना होती है। पशु के पूरे शरीर में अवसन्नता अथवा पक्षाघात हो सकता है, किन्तु उसमें चेतना का अभाव नहीं होता। (3) मस्तिष्क-शोथ में चेतना का अभाव होता है तथा प्रायः एक ओर का पक्षाघात देखने को मिलता है

संदर्भ

1. Udall, D. H., Encephalitis in a calf, Cornell Vet., 1917, 7, 48.
2. Udall, D.H., Degeneration of the brain, C. Rep., horse, Cornell Vet., 1927, 17. 411.

(घोड़ों में विषैली मस्तिष्कशोथ; मक्चरी-रोग; फफूँदीयुक्त मक्का विषाक्तता, अवाइरस मस्तिष्कशोथ, श्वेतमस्तिष्कशोथ)

सन् 1901 में बक्ले और मक्कालम[1] (Buckley and MacCallum) ने मेरीलैंड में घोड़ों में एक मस्तिष्क-रोग का वर्णन किया जिसको उन्होंने उग्र रक्तस्रावी मस्तिष्क शोथ (acute hemorrhagic encephalitis) नाम दिया। एक वर्ष बाद बटलर[2] (Butler) ने फफूँदीयुक्त मक्का खिलाकर प्रयोगात्मक रूप से यह रोग पशुओं में उत्पन्न किया जिसको उन्होंने श्वेत-मस्तिष्क-शोथ (leucoencephalitis) कहा। इसके क्षतस्थल वाइरस मस्तिष्क-शोथ की भाँति न थे। रोग का आक्रमण थोड़े ही पशुओं पर हुआ और इसके वितरण का क्षेत्र भी अपेक्षाकृत कम था। उन्माद, बेहोशी, मांस-पेशियों की ऐंठन, चक्कर काटना, लड़खड़ाना तथा गले का पक्षाघात आदि इसके विभिन्न लक्षण थे। 48 से 72 घंटे में रोगी की मृत्यु हो गई। दोनों ही लेखकों के अनुसार सेरेब्रम के श्वेत पदार्थ में अनेक वृहत् मुलायम क्षेत्र मौजूद थे। यह परिवर्तन नगी आँख से देखे जा सकते थे और इनमें रक्तस्राव के असंख्य धब्बे थे। फफूँदीयुक्त चारा अथवा मक्का खाना इसका कारण बताया गया।

पिछले कुछ वर्षों में मध्य पश्चिम, विशेषकर इलीन्वायस, आयोवा और केन्सास के क्षेत्रों में घोड़ों में इस बीमारी अथवा इससे मिलते-जुलते रोग की रिपोर्टें मिली हैं। ग्रैहम[3] (Graham) की रिपोर्ट के अनुसार सन् 1934-35 में इलीन्वायस में जाड़े की ऋतु में लगभग 5000 घोड़े इस बीमारी के शिकार हुए। अक्तूबर में रोग प्रकट होकर दिसम्बर में इसका सबसे अधिक प्रकोप हुआ। इस प्रकार वाइरस मस्तिष्कशोथ से भिन्न होकर इसका प्रकोप मौसमी होता है। प्रयोगात्मक रूप से घोड़ों में इस रोग की छूत लगाकर 23 से 20 दिन में उनकी मृत्यु हो गई और उनके सेरेब्रम में विशेष प्रकार के क्षतस्थल पाए गए। इसमें घोड़ों को बुखार न हुआ। सुस्ती, तन्द्रा, कभी-कभी उत्तेजना तत्पश्चात् स्थानीय अथवा सामान्य पक्षाघात, एक ओर की आँख से न दिखाई देना, धीमी श्वास,

चक्कर काटना, लड़खड़ाना और ऐंठन आदि इसके लक्षण थे। पीलिया इसका सामान्य लक्षण था। नियमानुसार यह रोग शीघ्र ही प्राणघातक है। बरसात के मौसम में जब मक्का देर से पकता, शीघ्र तुषार पड़ता और अत्यधिक फफूंदी की वृद्धि होती है उस समय इस बीमारी का अपेक्षाकृत अधिक प्रकोप होता है। आमतौर पर क्षतस्थल तथा लक्षण उस घोड़े से मिलते जुलते हैं जिसके मस्तिष्क को चित्र 44 में दिखाया गया है। लक्षणों के आधार पर इसे वाइरस मस्तिष्क शोथ से अलग नहीं पहचाना जा सकता, किन्तु इसका मौसमी प्रकोप तथा आमतौर पर फैलना उससे भिन्नता प्रकट करता है। जीवाणुओं तथा फफूंदी को इस बीमारी के लिए दोषी ठहराने के प्रयास असफल रहे। सेरेब्रम के मुलायम क्षेत्रों में होने वाले माइक्रॉस्कोपिक परिवर्तनों को स्वाट और उनके साथियों[4] ने वर्णन किया है। इनके अन्तर्गत अपकर्षण, द्रवीकरण, परिगलन, सूजन तथा मस्तिष्क के श्वेत पदार्थ में रक्तस्राव होना आता है। बीस्टर आदि[5] (Biester et al) ने फफूंदी-युक्त मक्का खिलाकर इस बीमारी को प्रयोगात्मक रूप से भी उत्पन्न करके देखा, किन्तु इसका कोई प्रमाण न मिला कि इसमें कोई जीवाणु भी शामिल है। मक्नट[6] (McNutt) के अनुसार यह बीमारी एक विषैले पदार्थ के द्वारा उत्पन्न होती है जो मस्तिष्क में सूजन उत्पन्न न करके केवल अपकर्षित परिवर्तन ही उत्पन्न करता है, 'इस कारण यह मस्तिष्क शोथ नहीं है। न्यूयार्क स्टेट के फिंगर-लेक्स क्षेत्र में घोड़ों में एक ऐसी अथवा इससे मिलती-जुलती बीमारी "पनयान रोग" (Penn Yan Disease) अक्सर होते देखा गया है, जहाँ अनेक फार्मों पर यह वर्ष के हर मौसम में प्रकोप करता है।

विषैली और वाइरस मस्तिष्क शोथ के बीच विभेदी निदान करने में स्वान[7] ने इस बात की चेतावनी दी कि वाइरस रोग का तब तक निदान हुआ नहीं कहा जाना चाहिए जब तक कि वाइरस को प्रयोगशाला परीक्षणों द्वारा पहचान न लिया जाए। उन्होंने कई ऐसे रोगी बताए जिनमें कि लक्षण वाइरस मस्तिष्क शोथ की भाँति थे, किन्तु एलुवा (aloes) अथवा पाइलोकार्पीन देने पर रोग-ग्रसित घोड़े ठीक हो गए। यह सभी पशु लूसर्न घास की खुराक पर थे। यद्यपि कि ऐसे रोगी अधिक नहीं होते, किन्तु यह निदान के लिए, विशेषकर उस समय, एक समस्या बन जाते हैं, जब केवल एक या दो पशु बीमार होकर ठीक हो जाते हैं। रोग की सामान्य अवस्था में तन्द्रा पक्षाघात, पीलिया, अँतड़ी की दबी हुई लहरी-गति तथा थोड़ा सा बुखार होना, इसके लक्षण हैं। घोड़े को चलाने पर वह धीरे धीरे तथा रुक-रुक कर चलता है और पीछे हटने में उसे कठिनाई होती है। उसके कान लटक जाते, आँखें बन्द रहतीं, मुँह से लार गिरती तथा वह प्रकाश से डरता है। विषैली अथवा वाइरस मस्तिष्क शोथ तथा यकृत के सूत्रण रोग (cirrhosis of the liver) के प्रकोपों के मध्य ऐसे ही लक्षण प्रदर्शित करके पशु ठीक हो जाता है। यह अप्राणघातक लक्ष्या, मस्तिष्क का एक रोग है, अथवा पाचन एवं यकृत विकार के सम्मिश्रण से उत्पन्न "विषैली प्रपंच", अभी तक ज्ञात न हो सका है। संभवतः यह चारे, शायद लूसर्न में उपस्थित किसी अज्ञात विषैले पदार्थ के कारण होता है।

यूनाइटेड स्टेट्स तथा अन्य देशों में मस्तिष्क शोथ पर प्राप्त रिपोर्टें यह प्रकट करती हैं कि कारण तथा रोग विज्ञान के आधार पर इस बीमारी के अनेक प्रकार हैं, फिर भी,

लके लक्षण लगभग एक से ही होते हैं। तंत्रिका तन्तुओं में होने वाले वाइरसों के अतिरिक्त तंत्रिका-तंत्र पर अनेक अन्य संक्रमणों का प्रकोप होता है जिसके कारण अन्य अंगों का कार्य भी गड़बड़ हो जाता है। इस प्रकार पालतू पशुओं में गौण तंत्रिकीय लक्षण अपेक्षाकृत अधिक होते हैं और सेरिब्रल कार्यों में गड़बड़ी उत्पन्न करने वाले ऐसे कारकों से विज्ञ होना आवश्यक हो जाता है जो तंत्रिका-तंत्र तथा शरीर के अन्य भागों में उत्पन्न होने वाले लक्षणों से विभिन्नता प्रकट कराते हैं।

संदर्भ

1. Buckley, S. S., and MacCallum, W. G., Acute hemorrhagic encephalitis prevalent among horses in Maryland, Am. Vet. Rev. 1901-02, 25, 99.
2. Butler, Tait, Notes on a feeding experiment to produce leucoencephalitis in a horse with positive results, Am. Vet. Rev. 1902-03, 26, 748.
3. Graham, Robert, Cornstalk disease investigations, Veterinary Med., 1936, 31, 46.
4. Schwarte, L. H., Biester, H. E., and Murray, Chas., A disease of horses caused by feeding moldy corn. J.A.V.M.A., 1937, 90, 76.
5. Biester, H. E., Schwarte, L. H., and Reddy, C. H., Further studies on moldy corn poisoning (leucoencephalomalacia in horses), Vet. Med., 1940, 35, 636.
6. McNutt, S. H., Diseases causing encephalitis in cattle, Cornell Vet. 1942, 32, 127.
7. Swan, L. C., Infectious and toxic encephalomyelitis, Can. J. Comp. Med., 1939, 3, 228.

(ढोरों में मक्चरी विपाक्तता)

(Cornstalk Poisoning in cattle)

आयोवा में ढोरों में मक्चरी विपाक्तता सन् 1636 में श्वार्ट आदि[1] द्वारा वर्णित है। यह एक अज्ञात विषैले पदार्थ द्वारा उत्पन्न होती है जो सूखा आदि पड़ जाने के कारण मक्का का समुचित विकास न हो पाने पर उसके तनों में पाया जाता है। इसके विपरीत घोड़ों में यह विपाक्तता भीगे मौसम में मक्का पर तुषार पड़ जाने अथवा फफूंदी लग जाने से उत्पन्न होती है। ऐसा चारा ढोरों के लिए विषैला नहीं होता। इथाका में सन् 1939 में अत्यधिक सूखा पड़ने के बाद मक्चरी विपाक्तता के दो रोगी देखे गए। इस फार्म पर मक्का के तने टुकड़ों में काटकर पशुओं को खिलाए गए थे। बिना कटे तनों को खिलाने पर रोग का विकास हुआ। यह जानने के लिए कि इसका कारण सक्रमण, प्रूसिक एसिड-विपाक्तता अथवा नाइट्रेट-विपाक्तता है, सभी प्रयास विफल रहे।

आयोवा में रोग-ग्रसित क्षेत्रों से कटे हुए मक्का के तने खिलाने पर विपाक्तता उत्पन्न नहीं हुई। प्रत्यक्ष रूप से सूखा से मारी हुई मक्का में उपस्थित विषैला पदार्थ स्थायी नहीं होता।

विकृत शरीर रचना—त्वचा के नीचे, सीरस झिल्लियों, अधिहृत स्तर (दृपीका-

डियम) अन्तर्हृत स्तर (एन्डोकार्डियम), मूत्राशय, थाइमस ग्रंथि तथा कभी-कभी गुर्दे के कार्टेक्स में बुंदकीदार रक्त के छोटे-छोटे धब्बे पाए जाते हैं। यकृत तथा गुर्दे सूज जाते हैं तथा गुर्दों का अपकर्षण हो जाता है। प्लीहा में सूजन नहीं होती तथा फेफड़ों अथवा मस्तिष्क में क्षतस्थल नहीं दिखाई देते। रेक्टम तथा छोटी कोलन की श्लेष्मल झिल्ली में भी रक्तस्राव होता रिपोर्ट किया गया है।

लक्षण—न्यूयार्क स्टेट पशु-चिकित्सा-विज्ञान-महाविद्यालय में देखे गए एक रोगी में बढ़ती हुई सुस्ती, शरीर का झुकाना, घूर कर देखना तथा सिर को फैलाकर रखने के लक्षणों के साथ रोग का आक्रमण एकाएक हुआ। दोनों कानों की लगातार ऐंठन तथा वक्ष एवं उदर की मांस पेशियों का संकुचन होना इसका प्रधान लक्षण था। रोगी पशु मुश्किल से उठा और जब उसे पीछे से धक्का दिया गया तो वह बड़ी ही कठिनता से लड़खड़ाता हुआ चल पाया। उसका कजक्टाइवा अन्दर को धंसा हुआ, पुतली पूर्णरूपेण सिकुड़ी हुई तथा आँख का तारा छोटा सा छिद्र जैसा दिखाई देता था। पशु अन्धा हो गया था। नाड़ी, तापक्रम तथा श्वसन नार्मल था। रूमेन (प्रथम आमाशय) में खिचाव-शक्ति का अभाव था तथा लहरी-गति दबी हुई थी। पेशाब करने के बाद काफी देर तक मूत्र टपकता रहता था जो मूत्राशय के पक्षाघात का अनुमान कराता था। मूत्र में एसीटोन की उपस्थिति ज्ञात करने के लिए किया गया रॉस-परीक्षण ऋणात्मक निकला। लक्षणों के बढ़ने के अनुसार दाँतों को पीसने तथा कटकटाने के साथ पैरों की मांस पेशियों का अनैच्छिक उग्र संकुचन बढ़ता ही गया। यद्यपि कि आँख की पुतली फैली हुई थी फिर भी पशु अन्धा प्रतीत होता था। दूसरी गाय में गले का पक्षाघात तथा मांस पेशियों का अनैच्छिक उग्र संकुचन देखा गया। उसका मेरुदण्ड एक ओर को मुड़ गया था। रक्त में कैल्शियम, अकार्बनिक फास्फोरस और मैगनीशियम की मात्रा नॉर्मल थी। 24 घंटे की अवधि के बाद रोगी की मृत्यु हो गई। मैगनीशियम सल्फेट अथवा सोडियम नाइट्राइट के साथ सोडियम थायोसल्फेट देने पर कोई लाभ न हुआ। यह बीमारी प्रत्यक्ष रूप से मस्तिष्क शोथ न होकर एक नया सा है। प्रमुख तन्त्रिकीय लक्षणों तथा विषैले पदार्थ के प्रकार के बारे में पूर्ण ज्ञान न होने के कारण इस रोग का यहाँ वर्णन किया गया है। कम अवधि तथा बुखार का न होना आदि लक्षणों से इसे विशिष्ट मस्तिष्क-शोथ से अलग पहचाना जा सकता है। इसके लक्षण प्रूसिक एसिड-विषाक्तता से मिलते-जुलते हैं।

संदर्भ

1. Schwarte, L. H, Eveleth, D. H., and Biester, H. E, Studies on the so called cornstalk poisoning in cattle. Vet., Med., 1939, 34, 648.

(विकीर्ण गो-जातीय मस्तिष्क-सुषुम्ना शोथ—चुंबन रोग)

(Sporadic Bovine Encephalomyelitis; Buss disease)

तीन वर्ष से कम आयु वाले पशुओं में प्रकोप करने वाली यह एक प्रकार का मस्तिष्क शोथ है। सर्व प्रथम सन् 1940 में आयोवा में इस रोग को मक्नट और वैलर[1] (McNutt and Waller) ने होते बताया। सन् 1941 में बाउटन[2] (Boughton) ने इस रोग का टेक्सास में वर्णन किया तथा उसी वर्ष मेनासोटा से भी इसकी रिपोर्ट

मिली। प्रत्यक्ष रूप से यह बीमारी वाइरस तथा बैक्टीरिया के मध्य एक अज्ञात कारक द्वारा उत्पन्न होती है। सीरम-फाइब्रिनी फुफ्फुसार्ति (Serofibrinous Pleuritis) तथा उदर-झिल्ली-शोथ और मस्तिष्क तथा मेरुरज्जु की माइक्रास्कोपिक शोथ इसके प्रमुख क्षतस्थल हैं। लगातार तेज बुखार, धीरे-धीरे हालत का गिरना तथा शारीरिक क्षीणता और अंत में बेहोश होकर पशु का मर जाना इस रोग की लाक्षणिक विशेषताएँ है।

कारण—अपेक्षाकृत यह रोग बहुत कम होता है। सन् 1940 में वह बीमारी आयोवा स्टेट के पूर्वी भागों में 200 मील तक फैली हुई पांच यूथों में देखी गई। नियमानुसार यूथ के कुछ ही पशुओं में यह प्रकोप करती है और इसकी छूत लगने का प्राकृतिक ढँग अज्ञात है। वैसे तो यह विकीर्ण रूप से प्रकोप करती है, किन्तु कभी-कभी एक ही यूथ में कई वर्षों तक होती देखी जाती है। बीमार गाय का दूध पीने से 12 से 14 दिन बाद बछड़े बीमार पड़ गए किन्तु, रोगी पशु के साथ रखने पर वे बहुत ही कम बीमार पड़े। एक यूथ के वृद्ध पशुओं में भी इसे प्रकोप करते देखा गया। मस्तिष्क, प्लीहा, लिम्फ ग्रंथि, नाक से निकलने वाले स्राव, मूत्र, दूध तथा प्लूरल और पेरिटोनियल-गुहाओ से निकलने वाले तरल पदार्थों से छूतैले पदार्थ को प्राप्त किया गया किन्तु, रक्त-प्रवाह में यह नहीं पाया गया। बछड़ों में अधस्त्वक् अथवा अंतःकपालीय (intracranial) इन्जेक्शन देकर तथा गिनीपिग में अंतःपेरिटोनियल इन्जेक्शन द्वारा कृत्रिम रूप से इसकी छूत फैलाई जा सकती है। अन्य जातियों में इस रोग के प्रति प्रतिरक्षा होती है। पहले प्रकोप के प्रति सभी बछड़े ग्रहणशील हैं तथा इससे अच्छे हुए पशुओं में रोग प्रतिरक्षा उत्पन्न हो जाती है। मुर्गी में विकसित होने वाले भ्रूण के योक कोष (yolk sac) में लगभग दो वर्ष तक लगातार, इस रोग का उत्पन्न करने वाला कारक उगाया गया।

विकृत शरीर रचना—क्षतस्थल केवल तभी पाए जाते हैं जब कई दिनों तक बीमार रहने के बाद पशु का शव-परीक्षण किया जाता है। किन्तु मस्तिष्क, मेरुरज्जु, फेफड़ा, यकृत अथवा गुर्दों में विशिष्ट क्षतस्थल नहीं दिखाई पड़ते। प्रमुख क्षतस्थल पेरिटोनियल अथवा प्लूरल-गुहा अथवा दोनों में पाए जाते हैं। इनमें फुफ्फुसार्ति (pleurisy) अथवा उदर-झिल्ली-शोथ के साथ सीरम-फाइब्रिनी स्राव बहता है। अभिलाग नहीं पाये जाते। शारीरिक-गुहाओं में भूसा के रंग जैसा सीरम भरा रहता है जिसमें पीली फाइब्रिन के बड़े-बड़े टुकड़े तथा फाइब्रिन का पतला जाल पाया जाता है। ऊपरी भाग में सूजन, अन्तर्गलन तथा प्रायः छोटी नलिकाओं की थ्राम्बोसिस होना, मस्तिष्क के माइक्रॉस्कोपिक क्षतस्थल के लक्षण हैं। थ्रोम्बसों की उपस्थिति काफी महत्वपूर्ण है क्योंकि अन्य प्रकार की मस्तिष्क-शोथ में ये बहुत ही कम हुआ करते हैं। नासिका-मार्ग रक्त-संकुलित हो जाता है और इसमें श्लेष्मायुक्त स्राव भरा मिलता है।

लक्षण—इसका उद्भवन काल 5 से 27 दिन का तथा बीमारी की अवधि 1 से 3 सप्ताह तक की होती है। रोग के प्रारम्भ से ही पशु की हालत क्षीण होकर गिरती जाती, चारे में अरुचि होकर उसे हल्के दस्त आते, 104 से 107° फारेनहाइट तक लगातार बुखार रहता तथा नथुनों और आँखों से थोड़ा स्राव बहता है। एक फार्म जिस पर प्रौढ़ पशु बीमार हुए, वहाँ अधिकांश रोगियों में मस्तिष्क-सुषुम्नाशोथ नहीं विकसित हुई। 9 रोग-

ग्रसित पशुओं में से सभी के पैर मुलायम थे तथा गुर्दे ठीक और सूजन थी। इनमें से 7 ठीक हो गए। मृत्युदर 10 से 70 प्रतिशत के मध्य होती है। इसका कोई भी लाभकारी इलाज नहीं है।

सदर्भ

1 McNutt S H, A preliminary report on an infectious encephalomyelitis of cattle, Vet Med, 1940 35, 228, McNutt, S H, and Waller, E F, Sporadic bovine encephalomyelitis (Buss disease), Cornell Vet, 1940, 30, 437, McNutt, S H, Diseases causing encephalitis in cattle, Cornell Vet., 1942, 32, 127, Stearns, F W, and McNutt, S H, Sporadic bovine encep halomyelitis, filtration of the causal agent, A J Vet Res, 1942, 3, 253

2 Boughton, I B, Sporadic bovine encephalomyelitis, Texas Vet Bull, 1941, 3, 1

(सपूय मस्तिष्कशोथ, मस्तिष्क का फोड़ा)

(Suppurative Encephalitis, Abscess of the Brain)

मस्तिष्क का फोड़ा कभी कभी बछेड़ा में पाया जाता है जहाँ कि गल-ग्रथिल रोग में यह विशेषी रूप से प्रारम्भ होता है। अन्य पशुओं में यह बहुत ही कम देखने को मिलता है। पीव बनाने वाले जीवाणु, खास-तौर पर गायों में, दूर के संक्रमणों से मस्तिष्क में ले जाए जाते हैं, किन्तु प्रायः वे तानिका (meninges) में ही निवास करके अपना विश्राम किया करते हैं। मस्तिष्क के फोड़ा के बहुत ही कम रोगी वर्णित हैं। सपूय तानिकाशोथ मस्तुलुंग (encephalon) में प्रवेश पा सकती है, किन्तु प्रमुख क्षतस्थल सतह पर ही होते हैं। शव परीक्षण करने पर मस्तिष्क के टिशुओं के द्रवीभूत होने का फोड़ा समझा जा सकता है। फोड़े के लक्षण अपकर्षित मस्तिष्क शोथ की भाँति होते हैं—चलना में गड़बड़ी, प्रेरक उत्तेजना और पक्षाघात।

एक घोड़े में जतूकास्थि (स्फीनॉइड) और पश्चकपाल अस्थि (ऑक्सीपीटल) नामक हड्डियों के टूटने के परिणामस्वरूप उसे सपूय मस्तिष्क शोथ हुई और तानिका के नीचे छोटे-छोटे गर्त से बनकर उनमें पीव इकट्ठा हो गया। नाक-कान से खून गिरना, गति में असतुलन तथा अत में लकवा मार जाना इसके लक्षण थे।

गिब्बस[1] (Gibbons) द्वारा वर्णित एक बछिया में मस्तिष्क का फोड़ा, गर्दन में एक ओर उपस्थित फोड़ा से छूत लगकर बना जहाँ से एक नलिका सी बनकर ग्रैव कशेरुकाओं तक पहुँची। सिर और गर्दन आगे की ओर फैलकर बाईं ओर को हो गए थे। गर्दन को सीधा करने तथा ऊपर उठाने पर पशु गिरकर पीठ के बल पलटा खाया, उसकी आँखों की पुतलियाँ भी घूम गई, मास पेशियों में सकुचन हुआ और अत में वह अपनी सामान्य झुकी हुई अवस्था में आ गया। चलाए जाने पर वह बाईं ओर को चक्कर काटता था। शव-परीक्षण करने पर सेरिबेलम तथा बाईं ओर के आधे सेरिब्रम में फोड़ा मिला।

सदर्भ

1 Gibbons, W J, Cor Vet, 1944, 34, 240

जुगाली करने वाले पशुओं में तानिका-मस्तिष्कशोथ

(Meningo-Encephalitis in Ruminants)

(चक्कर की बीमारी; भेड़ों में मस्तिष्कशोथ; सूकर मस्तिष्कशोथ)

परिभाषा—भेड़-बकरियों तथा ढोरों की और किसी हद तक सुअरों की यह एक प्राणघातक विशिष्ट छूतैली बीमारी है जो लिस्टेरिया (Lysteria) मानोसाइटोजीनस जीवाणु द्वारा उत्पन्न होती है। मस्तिष्क-स्तंभ के टिसुओं में माइक्रास्कोपिक पारिवाहिक गोल कोशा अन्तर्गलन (microscopic perivascular round-celled infiltration) की उपस्थिति, इसका शव-परीक्षण करने पर पाया जाने वाला प्रमुख क्षतस्थल है। इसमें नंगी आँख से दिखाई देने वाले कोई परिवर्तन नहीं होते। भेड़ों में, चक्कर काटना तथा पक्षाघात होना इसके प्रमुख लक्षण हैं।

कारण—न्यूज़ीलैंड में सन् 1931 में सर्वप्रथम गिल[1] (Gill) ने भेड़ों में इस रोग का वर्णन किया तथा सन् 1932 में ड्वायल[2] (Doyle) ने इण्डियाना में भेड़ के मस्तिष्क के माइक्रास्कोपिक क्षतस्थलों का उल्लेख किया। सन् 1934 में जोंस तथा लिटिल ने तंत्रिकीय लक्षणों के आक्रमण के दूसरे से छठे दिन बाद वध की गई 13 न्यूजर्सी गायों के मध्यमस्तिष्क तथा निचले भाग में माइक्रास्कोपिक गोल कोसा पारिवाहिक अन्तर्गलन का वर्णन किया। इन क्षतस्थलों से एक ग्राम धनात्मक छड़ जैसा जीवाणु प्राप्त किया गया। नंगी आँख से कोई क्षतस्थल दिखाई न दिया। संभवतः ये गायें लिस्टरेल्ला से आक्रांत थीं। यूथ की थोड़ी सी गायों पर इसका आक्रमण हुआ किन्तु, विभिन्न वर्षों में यह रोग पुनः प्रकट हो जाता था। न्यूयार्क में सन् 1935 में फिचर[4] ने इसे घोड़ों में होते बताया। सन् 1940 में भेड़ों में इस बीमारी का ओलेंफ्सन[5] द्वारा वर्णन किया गया। इलीन्वायस में ग्रैहम आदि,[6] आयोवा में बीस्टर और श्वार्ट,[7] कैलीफोर्निया में हॉफमैन[8] तथा ओरेगन में मथ और मोरिल[9] (Muth and Morrill) ने इस बीमारी का वर्णन गया। इस देश में यह रोग बहुत प्रचलित है। इथाका के क्षेत्र में जुगाली करने वाले पशुओं में प्रकोप करने वाले मस्तिष्क-शोथ का यह प्रमुख प्रक र है, जहाँ यह दिसम्बर से जुलाई तक कुछ फार्मों पर हुआ करता है। भेड़ों में; यह यूथ के 1 से 10 प्रतिशत पशुओं पर आक्रमण करता है तथा तीन या चार दिन से लेकर एक सप्ताह तक में रोगी पशुओं को मौत के घाट उतारता है। वैसे तो यह प्रौढ़ पशुओं में अधिक फैलता है, किन्तु 6 से 8 सप्ताह की आयु वाले मेमनों पर भी आक्रमण कर सकता है। कुछ लोगों के विचार से अधिक मात्रा में साइलेज खिलाना इसका पुरः प्रवर्तक कारण है, किन्तु, यह बिना साइलेज खिलाई गई भेड़ों में भी देखा गया है। दूषित पदार्थ का अंतः सेरिब्रल इंजेक्शन देकर भेड़ों में इसे कृत्रिम रूप से उत्पन्न किया जा सकता है। इससे उग्र मस्तिष्क-शोथ तथा तानिका-शोथ होकर 24 से 36 घटे में रोगी की मृत्यु हो जाती है। इसके लक्षण तथा क्षतस्थल प्राकृतिक संक्रमण से होने वाली बीमारी से भिन्न होते हैं। खरगोशों में, अंतः सेरिब्रल इन्जेक्शन देने से एक या दो दिन में उनकी मृत्यु हो जाती है।

लिस्टरेल्ला लगभग दो माइक्रान लम्बाई का छड़ की आ[illegible]या ग्राम धनात्मक

जीवाणु है जो मस्तिष्क के टिशू से प्राप्त पदार्थ को कृत्रिम माध्यम में उगाने से खूब बढ़ता है। इसका रहन-सहन तथा छूत लगने का ढंग अज्ञात है। गर्भ गिरे हुए पशुओं के यकृत तथा अन्य बीमारी से मरने वाले पशुओं में भी यह पाया जाता है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि पूर्णरूपेण स्वस्थ दिखाई देने वाले पशु भी इस जीवाणु को अपने शरीर में छुपाए रह सकते हैं।

विकृत शरीर-रचना—नंगी आँख से दिखाई देने वाले इसमें कोई क्षतस्थल नहीं होते। गोल अथवा लिम्फयुक्त कोशाओं का परिवाहिक एकत्रीकरण तथा एक न्युक्लियस वाले कोशायुक्त अपकर्षित क्षेत्रों के रूप में मस्तिष्क स्तम्भ में प्रमुख परिवर्तन पाए जाते हैं। गिल[1] (Gill) ने इन अपकर्षित क्षेत्रों को माइक्रास्कोप से दिखाई देने वाले पीवयुक्त गर्त बताया।

लक्षण—प्रारम्भ में रोगी पशु की सुस्त रहने तथा घूमने फिरने की प्रवृत्ति होती है। अपने सिर को पशु प्राय. एक ओर, खिंचा हुआ अथवा नीचे झुका कर रखता है। यदि हाथ से सिर को सीधा किया जाए तो छोड़ने पर वह पुनः पूर्व अवस्था में कर लेता है। अधिकांश रोगियों में पशु अपनी इच्छा के प्रतिकूल दाईं या बाईं ओर सदैव एक ही दिशा में चक्कर लगाता है। अनेक रोग-ग्रसित भेड़ें तब तक घूमती रहती हैं जब तक कि उनका सिर किसी चहार दीवारी अथवा अन्य अवरोधक पदार्थ के संपर्क में नहीं जाता। ऐसे किसी पदार्थ के सपर्क में आने पर वे अपने सिर को उससे टकराकर खड़ी होती हैं। पशु को एकांगी लकवा मार जाता है, अत. उसका निचला होंठ अथवा एक कान लटका हुआ दिखाई देता है। रोगी तन्द्रावस्था में रहता है। मुंह से लार गिरना, नाक से श्लेष्मा बहना तथा एक अथवा दोनों आँखों के कन्जकटाइवा का सूज जाना इसके अन्य लक्षण हैं। न्यूज़ीलैंड के रोगियों के रक्त में बहुरूपकेन्द्रक गणना (Polymorphonuclear count) अधिक थी। रोग-ग्रसित भेड़ें अपने मुँह में घंटों तक घास दाबे रह सकती हैं।

रोग का विभेदी-निदान करने में, मादा भेड़ों का गर्भ रोग (pregnancy disease) चक्कर काटने वाली बीमारी से बहुत कुछ मिलता-जुलता हो सकता है। जैसा कि ओलेंपसन[5] ने वर्णन किया है इसके मौसमिक प्रकोप तथा अवधि एक जैसे ही होते हैं। गर्भ रोग में चेहरे तथा कान का पक्षाघात नहीं होता। इसमें पशु दांत अधिक पीसता है। उसका सिर एक ओर को मुड़ सकता है, किन्तु मस्तिष्क शोथ की भाँति सीधा करने पर पुन वापस नहीं होता। गर्भ रोग में प्रारम्भ से ही मूत्र में एसीटोन आता है।

जैसा कि बीस्टर और स्वार्ट[7] ने वर्णन किया है सुअरों में इस बीमारी के लक्षण निम्न प्रकार थे : प्रौढ़ पशुओं में कँपकपी, पिछले पैरों का घसीटना, विभिन्न प्रकार का असंतुलन तथा अगले पैरों की टिटनी जैसी गति। सबसे अधिक मृत्यु दूध पीने वाले बच्चों में देखी गई किन्तु, कुछ पशु लक्षण प्रकट होने के बाद ठीक हो गए।

मैथ्यूज[10] द्वारा वर्णित बछड़ों के मस्तिष्क-शोथ में, जनवरी के महीने में 90 पशुओं के समूह में से 5 पशु इस बीमारी से ग्रसित हुए। उन्होंने खाना-पीना बंद कर दिया, वे बिना किसी उद्देश्य के इधर-उधर घूमते थे और अनियमित अवकाश पर अपने सिर को

चित्र—45. तानिका मस्तिष्कशोथ से पीड़ित भेड़ें। इनमें चक्कर काटना, निचले होंठ का पक्षाघात, तथा सिर को एक ओर मोड़कर रखना आदि लक्षण दिखाए गए हैं। (पीटर ओलैफ्सन के सौजन्य से प्राप्त फोटोग्राफ)

नीचा करके तथा दीवाल या चहारदीवारी से टकराकर खड़े होते थे। इनमें शीघ्र ही फेरिंक्स का लकवा तथा अवसन्नता विकसित हुई। पाँच से आठ दिन की अवधि के बाद रोगी पशुओं की मृत्यु हो गई। मेड्युला (medulla.) में विशिष्ट पारिवाहिक गोल-कोशा अन्तर्गलन तथा एक न्युक्लियस वाले श्वेताणुओं से भरे हुए अपकर्षित क्षेत्र मौजूद थे।

सन् 1934 तथा, 35 की जाड़े तथा वसंत की ऋतु में लेखक के चल-चिकित्सालय में गायों में "चक्कर की बीमारी" के कई रोगी देखे गए। संभवतः यह भूतकाल में निदान किए गए मस्तिष्क-शोथ के लक्षणों से मिलते-जुलते थे।

पशु-चिकित्सकों से प्राप्त रिपोर्ट यह प्रदर्शित करती हैं कि न्यूयार्क स्टेट में भी गायों में यह बीमारी खूब होती है। फिचर[4] ने भी इसके विशिष्ट रोगियों का वर्णन किया है। पहली 8 वर्षीया गाय थी जिसे 28 फरवरी सन् 1934 में देखा गया। प्रातःकाल जब उसे अपने बँधे हुए स्थान पर से खोला गया तो वह एक अजीब ढँग से बाड़े के बाहर भागी। जब उसे बाड़े में वापस लाने का प्रयास किया गया तो वह कठिनता से चली। रात को जब उसे देखा गया तो वह अपने बँधे हुए स्थान पर आगे को धक्का दे रही थी। यह कार्य इतनी तेजी से किया जा रहा था कि थोड़ा सा विघ्न डालने पर उसके अगले पैर पीछे फिसल जाते थे और वह अपने घुटनों पर गिर जाती थी। उसकी दृष्टि इच्छुक तथा भयानक सी थी। गाय न कुछ खाती थी और न दूध देती थी। उसे 104° फारेनहाइट बुखार था। अन्य लक्षणों का अभाव था। मूत्र में एसीटोन के लिए किया गया रॉस-परीक्षण ऋणात्मक निकला। दूसरे दिन हालत में कोई विशेष परिवर्तन न हुआ। उसका सिर थोड़ा दाईं ओर को था। आँखें एक निश्चित रूप में बाहर तथा पीछे की ओर घूमती थीं। नाड़ी-गति बहुत ही तेज थी। श्वसन 48 तथा तापक्रम 102.8° फारेनहाइट था। दो दिन बाद पक्षाघात विकसित हुआ और इसके 24 घंटे बाद पशु की मृत्यु हो गई। शव-परीक्षण ऋणात्मक-

निकला। पशु का मस्तिष्क निकाल कर डा० ओलैफ्सन[5] द्वारा अध्ययन किया गया। उन्होंने मस्तिष्क-स्तभ से प्राप्त विशुद्ध संवर्धन (pure culture) में ग्राम-धनात्मक छड़ जैसा जीवाणु पाया। मस्तिष्क स्तभ को काटकर माइक्रास्कोपिक परीक्षण करने पर उसमें गोल अथवा लिम्फोइड कोशाओं का पारिवाहिक एकत्रीकरण मिला।

दूसरा रोगी एक चार वर्षीया गाय थी। 29 मई सन् 1934 की रात को उसने दूध नहीं दिया यद्यपि कि वह 6 माह की ताजी ब्याई हुई थी तथा उसे चरागाह पर भी चराया जाता था। दूसरे दिन जब वह बाड़े में बँधी हुई थी, अपने सिर तथा गर्दन को लगातार दाहिनी ओर मोड़ती थी तथा आगे को बढ़ने के लिए जोर लगाती थी। खोलने पर उसे धक्का देकर बाड़े से बाहर निकालना पड़ा किन्तु, जब वह आँगन में पहुँची तो बहुत ही तेजी से दाहिनी ओर को चक्कर काटती हुई सी चली। चहार दीवारी के पास पहुँचने पर उसने उसके ऊपर दाहिनी ओर मुड़ने का निरन्तर प्रयास किया। कभी-कभी वह अंधी सी दिखाई दी। जब उसे पशुशाला में जाने के लिए विवश किया गया तो वह बंद दरवाजे में से तेजी से अन्दर की ओर टूट पड़ी। उसकी आंखों में सुस्ती, 104° फारेनहाइट तक तेज बुखार, नाड़ी-गति 72 तथा श्वसन 15 था। उसके मुँह से लार बहती थी। उसकी आहार नाल नार्मल थी तथा एसीटोन परीक्षण के लिए उसका मूत्र ऋणात्मक निकला। शव-परीक्षण करने पर, पहले रोगी की भाँति ही हिस्टोलोजिकल परिवर्तन मिले। सदूषित माध्यम के कारण बैक्टीरिओलॉजिकल निष्कर्ष न निकल सका। सन् 1935 में एक यूथ में ऐसे ही मिलते-जुलते लक्षणों के दो अन्य रोगी भी देखे गए। प्रत्येक उदाहरण में तापक्रम सामान्य रहा तथा मस्तिष्क-स्तभ से ग्राम-धनात्मक जीवाणु का विशुद्ध सवर्धन प्राप्त किया गया।

एक पहली बार ब्याने वाली बछिया जो दो सप्ताह पूर्व ब्याई थी उसमें चारे में अरुचि, दूध उत्पादन में कमी, सुस्ती, कब्ज तथा लड़खड़ाने व काँपने के लक्षण दिखाई दिए। 21 फरवरी को उसका परीक्षण करने पर उत्तेजना, डरावना स्वभाव तथा 106° फारेनहाइट बुखार मिला। एसीटोन परीक्षण के प्रति मूत्र ऋणात्मक था, किन्तु दूसरे दिन यह धनात्मक हो गया तथा अम्ल-रक्तता का निदान किया गया। 23 ता० को बछिया गिर कर उठने में असमर्थ हो गई। उसका सिर आगे को बढ़ा हुआ, कान लटके हुए तथा आँख का कंजंक्टाइवा रक्तवर्ण था। उसका तापक्रम 104° फारेनहाइट तथा नाड़ी-गति 88 थी। चेतना की गड़बड़ी तथा पक्षाघात के कारण तान्त्रिका-मस्तिष्क-शोथ का अनुमान किया गया। 24 ता० को एक कान थोड़ा सा लटक गया, पशु उठने में असमर्थ ही गया तथा नाड़ी-गति 100 थी। 27 ता० को उसे नष्ट कर दिया गया। तत्पश्चात् किया गया शव-परीक्षण ऋणात्मक निकला, किन्तु मस्तिष्क के सवर्धन में लिस्टेरेल्ला जीवाणु पाया गया। पशु में अतिसंवेदिता भी देखी गई।

16 मार्च की शाम को एक 4 वर्षीय जर्सी नस्ल की गाय बीमार पाई गई उसकी गर्दन तनी हुई सी थी। 17 ता० की सुबह को गाय अपने पर ही झुकी हुई सी दिखाई दी। उसका सिर पीछे का मुड़ा हुआ था तथा पशु को उरोस्थि पर पलटने का प्रयास करने पर पिछले पैरों में टिटैनी जैसी अकड़न होती थी। चौबीस घंटे में रोगी की मृत्यु हो गई।

रोग का लाक्षणिक निदान करने में प्रमुख महत्व चेतना के अभाव (तन्द्रा), प्रेरक क्षोभण (मांसपेशियों की ऐंठन, इधर-उधर घूमना, चक्कर काटना तथा सिर को किसी पदार्थ के साथ इधर-उधर टकराकर धक्का देना) तथा पक्षाघात जैसे लक्षणों को दिया जाता है जो मस्तिष्क की गड़-बड़ी प्रकट करते हैं। यद्यपि बीमारी को प्राणघातक माना जाता है और ढोरों के साथ लेखक का भी ऐसा ही अनुभव है फिर भी, प्रतिजैविक पदार्थ तथा सल्फा-औषधियों के प्रयोग से रोगियों के ठीक होने की रिपोर्ट भी मिली है। रोग के प्रकोप के अंतिम समय में मृत्युदर घटती हुई सी मालूम पड़ती है। महामारी के समय भेड़ों में प्रतिरक्षा उत्पन्न करने का ओल्सन आदि[11] (Olsen et al) द्वारा किया गया प्रयास विफल रहा।

संदर्भ

1. Gill, D. A., Circling disease of sheep in New Zealand, Vet. J., 1931, 87, 60.
2. Doyle, L. P., Encephalitis in sheep, J.A.V.M.A., 1932, 81, 118.
3. Jones, F. S., and Little, R. B., Archiv. Path. 1934, 18, 580.
4. Fincher, M. G., Meningoencephalitis of ruminants, Cornell Vet., 1935, 25, 61.
5. Olafson, P., Listerella encephalitis (circling disease) of sheep, cattle and goats, Cornell Vet. ,1940, 30, 141.
6. Graham, Robert et al., Ovine and bovine listerellosis in Illinois, Science, 1938, 88, 171 ; Graham, R., Hester, H. R., and Levine, N. D., Studies in Listerella II. Field reports of listerellosis in sheep and cattle, Cornell Vet., 1940, 30, 97 ; Graham, R., Dunlap, G. L., and Levine, N.D., Studies on Listerella III. Experimental listerellosis in domestic animals, Cornell Vet., 1940, 30, 268.
7. Biester, H. E., and Schwarte, L. H., Listerella infection in swine, J.A. V.M.A., 1940, 96, 339.
8. Hoffman, H. A., Observations on a case of listerellosis in sheep, J.A.V.M.A., 1941, 98, 768.
9. Muth, O. H., and Morrill, D. R., An outbreak of listerellosis in Oregon sheep, J.A.V.M.A., 1942, 100, 242.
10. Mathews, L. P., Encephalitis in calves, J.A.V.M.A., 1928, 73, 513.
11. Olson, Carl, Jr. Cook, R. H., and Bagdonas, V., An attempt to immunize sheep during an outbreak of listeriosis, A.J.V.R., 1951, 12, 306.

निलयों की पुरानी जलशोथ

(Chronic Dropsy of the Ventricles)

यह एक दीर्घकालिक रोग है जिसमें बार-बार चेतना का अभाव तथा पक्षाघात होता है। इसमें मस्तिष्क-निलयों में सेरिब्रोस्पाइनल द्रव की मात्रा बढ़ जाती है। यूनाइटेड स्टेट्स में यह रोग कभी-कभी प्रकोप करता है तथा मध्य पश्चिम के भारी कार्य करने वाले घोड़ों में अधिक होता है। इस रोग से पीड़ित कुछ घोड़ों की लेखक के चल-चिकित्सालय में भी चिकित्सा की गई, किन्तु केवल एक पशु जिसका कि शव-परीक्षण किया गया रोग से

चित्र—46 जलकपाल से ग्रसित अश्व का फोटोग्राफ (डब्ल्यू० जे० गिवस द्वारा चित्रित)

ग्रसित सिद्ध हुआ। इसका कारण अज्ञात है। मस्तिष्क का भार अपरिवर्तित रहकर निलयो के आकार तथा आयतन में वृद्धि होना तथा मस्तिष्क के पदार्थ का अपक्षय, इस रोग में होने वाले रोगजनक परिवर्तन है। मैथियाज[1] (Matthias) के अनुसार प्राथमिक जलकपाल (hydrocephalus) वास्तव में मस्तिष्क की सूजन है जिसमें अधोजाल-तानिका स्थान (subarachnoid space) के आकार में कम से कम 40 प्रतिशत की कमी हो जाती है।

लक्षण—रोग का प्रकोप धीरे धीरे होता है। लगाम की रास के तरासने पर पशु द्वारा कोई ध्यान न देना, इस बीमारी के प्रारम्भ का प्रथम लक्षण है। पशु आँखें आधी बंद करके तथा सिर नीचा करके खड़ा होता है। अक्रियात्मक सुप्तावस्था जैसे स्वभाव से उसकी चेतना का ह्रास सा होता हुआ प्रतीत होता है। पानी पीते समय वह काफी अन्दर तक अपना मुँह घुसा देता है। कभी कभी आधी चबाई हुई घास मुह में दबाए रहता है। लक्षणों के अधिक वेगवान होने पर पशु चलने में लड़खड़ाता तथा आसानी से गिर सकता है। पीछे की ओर धक्का देने पर वह अपने पिछले पैर नही उठाता तथा उसे पीछे हटाना असम्भव हो जाता है। चालक के आदेशानुसार वह किसी भी दिशा में नही चलना चाहता। गति तथा चलने की इन गड़बड़ियो के साथ चक्कर काटना, सिर को दीवाल से टकराना तथा चलते समय पैरों को असामान्य रूप से इस प्रकार ऊँचा उठाना जैसे कि कोई नदी नाला पार कर रहा हो आदि विभिन्न प्रकार की प्रेरक उत्तेजनाएँ मौजूद हो सकती हैं। रोग की बढ़ी हुई अवस्था में संवेदना का इतना अभाव हो सकता है कि सुमद्वीप पर दबाने अथवा कान में गुदगुदाने से कोई प्रतिक्रिया नही होती। पाचन क्रियाएँ भी मंद पड़ जाती है। कार्य तथा ताप के प्रभाव से रोगी पशु की हालत और खराब हो सकती है। पशु को शांतिमय ठंडे स्थान पर रखने से हालत में सुधार होने लगता है। प्राय बेकार में ही बीमारी की अवधि बढ़ती रहती है अतः पशु का यदि मारा न जाए तो वह महीनो अथवा वर्षों तक बीमार रह सकता है।

रोग का विभेदी-निदान करते समय मस्तिष्क के उन अन्य रोगों पर भी ध्यान देना होता है जो अतः कपालीय-दाब को बढ़ाकर अथवा अन्य किसी प्रकार ऐसे ही लक्षण प्रकट करते हैं। यह रोग हैं मस्तिष्क की रसौलियाँ, तथा अपकर्षण के साथ मस्तिष्क शोथ जो लेखक के अनुभव के अनुसार जल कपाल की अपेक्षाकृत अधिक प्रकोप करते हैं। रोग का शरीर-रचनात्मक निदान केवल शव-परीक्षण द्वारा ही संभव होता है।

चिकित्सा —पशु को पूर्ण आराम तथा अधिक मात्रा में (1/4 से 1 पौण्ड, 125 से 500 ग्राम) सोडियम सल्फेट नित्य देने से हालत में शीघ्र सुधार हो सकता है। इस चिकित्सा मे कभी-कभी तो रोगी पशु बिल्कुल ही ठीक हो जाता है।

संदर्भ

1. Matthias, D., Untersuchungen ueber das Wesen des Hydrocephalus internus acquistus des Pferdes, Archiv. f. Tierheilkunde, 1937, 72, 48.

मस्तिष्क की रसौली

(Brain Tumor)

पशुओं में मस्तिष्क की रसौलियाँ बहुत कम हुआ करती है। लेखक के चल-चिकित्सालय में मिलने वाली घोड़ों में प्रमुख रसौली कोलेस्टिएटोमा (cholesteatoma) थी। यह पार्श्वनिलय (Lateral ventricle) में स्थित कोराइड प्लेक्सस से होने वाली एक पुरानी वसीय वृद्धि है। इसके लक्षण मस्तिष्क-निलय की पुरानी जलशोथ अथवा मस्तिष्क शोथ से मिलते-जुलते है। 6 से 12 माह तक रोगी पशु में बार-बार होने वाली निलय की पुरानी जलशोथ के लक्षणों जैसा इतिहास मिल सकता है। अंत में जैसे जैसे रसौली बढ़ती है, पक्षाघात के साथ चेतना के अभाव के रूप में बीमारी के विशिष्ट लक्षण प्रकट होते जाते है। फिचर द्वारा वर्णित एक रोगी के बाएँ मस्तिष्क-निलय में हंस (goose) के अण्डे के आकार की एक रसौली होने के कारण दाहिनी ओर पूर्ण पक्षाघात था। शव-परीक्षण करने पर मस्तिष्क-निलय में रसौली मिली। जलकपाल की भाँति, इसमें भी पार्श्व-निलय की वृद्धि तथा मस्तिष्क के पदार्थ का अपक्षय और मस्तिष्कशोथ की भाँति मस्तिष्क के तन्तुओं का रंग गहरा पीला हो सकता है। रसौली यदि बड़ी है तो जिस गोलार्ध में वह स्थित है, वह गोलार्ध भी दूसरे की अपेक्षा बढ़ा हुआ प्रतीत होता है। एक रोगी पशु में मस्तिष्क की पूरी सतह रक्त-संकुलित थी तथा सेरिब्रल कार्टेक्स में रक्तस्राव मौजूद था। घोड़ा महीनों तक चक्कर काटने तथा निलय-जलशोथ के अन्य लक्षणों से पीड़ित रहा।

दुर्दम्य रसौलियाँ वृद्धि पाकर पूरे मस्तिष्क को आच्छादित कर सकती हैं। मक्आलिफ (McAuliff) के रोगी में भग में एक ओर एक बड़ी रसौली निकली और ऐसी ही एक दूसरी रसौली बाएँ गोलार्ध के अग्र-पार्श्व (antero-lateral) भाग में थी। गाय में दाहिनी ओर का पक्षाघात विकसित हुआ।

संदर्भ

1. Cornell Veterinarian, 1929, 19, 416.
2. Cornell Veterinarian, 1930, 20, 397.

चित्र—47. फिचर के एक रोगी घोड़े में मस्तिष्क का कोलेस्टिएटोमा

चित्र—48. मत्रआस्फिक की एक रोगी गाय में मस्तिष्क का सार्कोमा (X)

भमरी रोग

(Gid; Coenurosis)

(लड़खड़ाना, मुड़ना रोग)

परिभाषा—अधिकतर भेंड़ों में तथा किसी हद तक गो-पशुओं में होने वाला यह मस्तिष्क का एक दीर्घकालिक रोग है जो शक्तिपूर्ण गतियों जैसे चक्कर काटना, उलटना-पलटना आदि लक्षणों द्वारा पहचाना जाता तथा मल्टीसेप्स (ब्लैडर वर्म) द्वारा उत्पन्न होता है। यह कीट अधिकतर मस्तिष्क में तथा कभी-कभी मेरुरज्जु में अपना विकास करता है। कुत्तों में इसका कारण एक प्रौड़ परजीवी फीता कृमि, मल्टिसेप्स-मल्टिसेप्स (टीनिया कोयन्युरस) होता है।

यह बीमारी यूरप, अफ्रीका, दक्षिणी-अमेरिका तथा आस्ट्रेलिया में अधिक देखने को मिलती है तथा पूरे संसार में इसका प्रकोप होता है। पश्चिमी आयरलैंड में यह कभी-कभी प्रकोप करती है। यूनाइटेड स्टेट्स में सन् 1900 तक यह बीमारी नही रिपोर्ट की गई तथा माटेना में यह प्रमुखतौर पर पाई गई। सन् 1900 में रैन्सम[1] ने बताया कि "किसी कारणवश भमरी-रोग का परजीवी उत्तरी अमरीका में अपने पैर न जमा सका और अभी तक, जहाँ तक पता लगाना संभव हो सका है, इस देश में भमरी रोग बिल्कुल अज्ञात है" सन् 1909 में ब्आएंट और टेलर[2] ने न्यूयार्क स्टेट में इसका यत्र-तत्र प्रकोप होते बताया। सन् 1910 में हाल[3] (Hall) ने लिखा, "ऐसा निश्चत मालूम होता है कि भमरी-रोग का परजीवी सन् 1901 में इस देश में देखा गया।" कनाडा में सर्वप्रथम इस बीमारी को कैमरन[4] ने होते बताया।

जीवन-इतिहास—रोग-ग्रसित भेंड़ के मस्तिष्क में इस परजीवी की लार्वल अवस्थाओं में टेपवर्म के सिर होते हैं। लार्वल परजीवी, ब्लैडरवर्म, 2 से 4 इंच व्यास का गोलाकार होता है तथा इसकी सतह पानी भरे हुए मछली के ब्लैडर की भांति अल्पपारदर्शक होती है। इसकी सतह पर उपस्थित प्रत्येक सफेद धब्बा लार्वल टेप वर्म के उल्टे हुए सिर को संकेत करता है। जब बीमारी से मरी हुई भेंड़ का मस्तिष्क किसी कुत्ते द्वारा खाया जाता है तो ये परजीवी उसकी अँतड़ी में पहुँचकर अपना आगे विकास करते हैं तथा एक माह में 2-3 फिट लम्बे प्रौढ़ टेपवर्म बन जाते हैं। इन कीटो के पिछले खण्डों में अनेक अण्डे भरे रहते है। यह गोल, पीले अथवा बादामी तथा 31 से 36 माइक्रान व्यास के होते हैं। पिछले खण्ड टूटकर मल के साथ बाहर निकलते हैं तथा घास अथवा पानी को दूषित कर देते हैं। ढोर अथवा भेंड़ द्वारा निगले जाने पर इनका आवरण टूट जाता है तथा छोटे-छोटे भ्रूण रक्त-नलिकाओं में प्रवेश पाते हैं। इनमें से जो मस्तिष्क अथवा मेरु-रज्जु में पहुँचते हैं वे सात से नौ माह में परिपक्व ब्लैडर-वर्म में विकसित हो जाते हैं। टेपवर्म के अण्डे शरीर के बाहर अधिक समय तक जीवित नही रह सकते और भेड़ें ताजे अण्डों से ही क्षतिग्रस्त हो पाती हैं। नमीयुक्त मौसम इनकी छूत लगने के लिए अधिक उपयुक्त है। शुष्क मौसम तथा गरमी में यह अण्डे शीघ्र नष्ट हो जाते हैं।

लक्षण—इस बीमारी की दो विभिन्न अवस्थाएँ हैं। पहली उग्र सानिका-मस्तिष्क शोथ जो अण्डे निगले जाने के कुछ ही दिनों बाद भ्रूण के मस्तिष्क में पहुँचने के बादव ही चक्कर लगाने पर होती है। नियम के अनुसार यह अवस्था या तो होती ही नहीं अथवा पहचानी नहीं जा पाती और प्राणघातक नहीं है। छूत लगने के 10 से 14 दिन बाद पशु को बुखार होता है तथा वह चरागाह पर चरते समय बेचैन दिखाई पड़ता है। रोग के हल्के प्रकोप में चेतन-शक्ति में कुछ गड़बड़ी उत्पन्न हो जाती है। रोग-ग्रसित पशु यूथ के पीछे रहता है तथा चरना नहीं चाहता। ऐसे पशु कभी-कभी चक्कर काटते भी देखे जाते हैं। रोग की उग्र अवस्था में पशु निराश, बेचैन और डरावना सा मालूम देता तथा खोपड़ी पर दबाने से दर्द का अनुभव करता है। कभी-कभी उसमें अंधापन सा प्रतीत होता है। गर्दन की मांस पेशियों में अकड़न अथवा अनैच्छिक उग्र संकुचन हो सकता है।

रोग की द्वितीय तथा अंतिम अवस्था अण्डों के जीवित रहने के लिए उपयुक्त नम मौसम के बाद जाड़े के महीनों में प्रकट होती है। इसके प्रमुख लक्षण प्रेरक उत्तेजना के वर्गीकरण के अन्तर्गत आते हैं। प्रत्यक्ष रूप से वे अंत. कपालीय दाब के कारण उत्पन्न होते है। रोगी पशु अपने पिछले पैरों के बल घूमता, चक्कर लगाता अथवा अगले पैरों के बीच अपनी थूथन डालकर खड़ा होता है। अन्य समय में पशु लुड़कता-पुड़कता सा चलता है तथा उसका शरीर लम्बाई या चौड़ाई में घूम सकता है। पशु प्रायः अपने सिर को किसी पदार्थ से टकरा कर अथवा निराश सा होकर एक ओर खड़ा होता है। रोगी को बार-बार उत्तेजना तथा निराशा सी होती है। ये लक्षण बिना किसी उद्देश्य के इधर-उधर घूमने अथवा दौड़ने या एक ही अवस्था में काफी लम्बे समय तक खड़े रहने से प्रदर्शित होते हैं। ब्लैडर वर्म के विकास के साथ खोपड़ी पर पड़ने वाले दबाव से उसकी हड्डी मुलायम अथवा उभरी हुई सी दिखाई देती है। यह लक्षण उन देशों में, जहाँ कि पशुओं तथा भेड़ों में भमरी-रोग अधिक प्रकोप करता है, बीमारी का स्थान निर्धारण करने तथा ऑपरेशन में सहायक होते हैं। बीमारी की द्वितीय अवस्था में यदि ऑपरेशन करके पशु को आराम न पहुँचाया गया तो एक से दो माह में रोगी की मृत्यु हो जाती है।

बचाव तथा चिकित्सा—उत्तरी अमरीका, जैसे स्थानों में जहाँ यह रोग अधिक नहीं होता इसके बचाव की सर्वोत्तम विधि यह है कि रोग-ग्रसित मरी अथवा मारी हुई भेंड़ का मस्तिष्क नष्ट कर दिया जाय जिससे कि उसे कुत्ते तथा अन्य ग्रहणशील पशु न खा सकें। सभी रोग-ग्रसित भेंड़ों को मारकर उनका मस्तिष्क नष्ट कर दिया जाय। बचाव का दूसरा उपचार यह है कि संदेहयुक्त कुत्तों को कीटनाशक दवा पिला दी जाय। ऑपरेशन करके सिस्ट को निकाल देना 50 प्रतिशत रोगियों में सफल होता है। इस कार्य के लिए खोपड़ी में छेद करके ड्यूरामीटर को काटकर ब्लैडर में छेद कर देते हैं। ओ'ब्रायन[5] (O'brien) के अनुसार पश्चिमी आयरलैंड में दीर्घकालिक मानसिक गड़बड़ियाँ प्रदर्शित करने वाले सभी जुगाली करने वाले पशु टी० बी० अथवा भमरी रोग से ग्रसित माने जाते हैं। ओ'ब्रायन ने एक विशेष प्रकार से छेद करने वाले ट्रोकार से ऑपरेशन करने का वर्णन किया और उनके अनुसार इस क्रिया से अधिकांश रोगी बिल्कुल ठीक हो जाते हैं।

संदर्भ

1. Ransom, B. H., The gid parasite (Coenurus cerebralis); its presence in American sheep, U.S. Dept. Agr. B.A. I. Bull. 66, 1905.
2. Boynton, W. H., and Taylor, W. J., Gid found in sheep inNew York, Am Vet. Rev., 1909-10, 36, 537.
3. Hall, M. C., The gid parasite and allied species of the cestode genus multiceps, U.S. Dept. Agr. Bull. 125, 1910 ;Methods for the eradication of gid, U.S. Dept. Agr. B.A. I. Cir. 165, 1910.
4. Cameron, A., The occurrence of gid in sheep in Saskatchewan abs. Exp. Sta. Rec., 1921, 44, 184.
5. O'Brien, J. J., Operation for sturdie, staggers, or gid in the ox, Vet. Record, 1926, 6, 772.

कंद-पक्षाघात

(Bulbar Paralysis)

(जिह्वा-ओष्ठ-स्वरयंत्रीय पक्षाघात)

'कंद पक्षाघात' शब्द उन विभिन्न रोगों पर लागू होता है जिनमें फैरिंक्स तथा अन्य कपाल तंत्रिकाओं युक्त अंगों में अवसन्नता हो जाती है। पक्षाघात का यह प्रकार मस्तिष्क-शोथ, मस्तिष्क-मज्जाशोथ तथा केन्द्रीय तंत्रिका-तंत्र को प्रभावित करने वाली मादकता का लक्षण मात्र है। यह परिणाह-तंत्रिकाओं (Peripheral nerves) के कुछ रोगों, जैसे बोट्युलिज़्म, का भी लक्षणमात्र है। घोड़ों में फैरिंक्स का पक्षाघात किसी अन्य बीमारी के साथ न होकर स्वतंत्र रूप से भी हुआ करता है जिसका कि कारण तथा प्रकृति अज्ञात है। मनुष्यों में मेड्युला के स्वतंत्र दीर्घकालिक रोग के परिणामस्वरूप भी कंद-पक्षाघात होता है, किन्तु ओस्लर के अनुसार यह स्वतंत्र रूप से अकेले नहीं होता क्योंकि प्रारम्भ अथवा बाद में इसमें मेरु-रज्जु भी संलग्न हो जाता है। यह संदेहयुक्त है कि यह अवस्था अथवा कंद-पक्षाघात का कोई अन्य स्वतंत्र प्रकार पशुओं में भी होता है। सम्भवतः इस शीर्षक के अन्तर्गत वर्णन किए गए अनेक रोग या तो मस्तिष्क-शोथ हैं, अथवा पक्षाघात के उस समूह के अन्तर्गत आते हैं जिनके कारण का तथा रोग-विज्ञान का अभी पूर्ण ज्ञान नहीं है।

मेरु-दंडीय तानिका-शोथ

(Spinal Meningitis)

पालतू पशुओं में यह रोग बहुत ही कम होता है। लेखक के निजी अनुभव में केवल दो ऐसे रोगी देखे गए। पहला, घोड़े में ग्रैव क्षेत्र में गिल्टी रोग (glanders) का उग्र आक्रमण था। कई सप्ताहों तक पशु की हालत गिरती गई। परीक्षण करने पर उसका शरीर तथा पैर काफी ऐंठे हुए से मिले और उसे पलटने पर रीढ़ की हड्डी सख्त ही रही। कशेरुकों के ऊपर जब नाड़ी पर अँगुली रखी गई तो पशु दर्द के कारण तेजी से पीछे हटा और इस क्षेत्र पर कहीं भी थोड़ा सा छू देने पर दर्द होता था। दूसरा पशु, कटि कशेरुकाओं के ऊपर एक गहरे फोड़े के कारण बीमार हुआ। ऐंठन तथा शारीरिक क्षीणता विकसित होने

तक उपशमन (convalescence) पूर्ण हो चुका मालूम होता था। अंत में घोड़ा उठने में असमर्थ हो गया। प्राउज और फिच[1] (Prouse and Fitch) ने घोड़ों में सातवें ग्रैव कशेरुका के क्षेत्र में दीर्घकालिक उत्पादक स्थानीय तानिकाशोथ (patchy meningitis) से पीडित रोगी का वर्णन किया। पशु प्रारम्भ में पहले बाएं पैर से लँगड़ाया और प्रत्यक्ष रूप से ठीक हो गया। तत्पश्चात् दाहिना पैर लँगड़ा हो गया। तीन माह बाद सिर तथा गर्दन की दशा टिटेनस रोग से मिलती-जुलती हो गई। दर्द तथा अकड़न लगभग पाँच तक बढ़ता रहा। तत्पश्चात घोड़े को मार दिया गया।

लक्षण—इस रोग का प्रमुख लक्षण मांस-पेशियों की ऐंठन के साथ शरीर में अकड़न होना है। शरीर में दर्द होता है तथा कुछ रोगियों में अतिसम्वेदिता भी देखने को मिलती है, बालों पर हाथ फेरने अथवा थोड़ा सा दबाव डालने पर अतिसम्वेदिता का प्रकट होना, मेरुदंडीय तानिकाशोथ का नैदानिक लक्षण माना जाता है। बालों को छूने से उत्पन्न अतिसम्वेदिता कभी-कभी दुग्ध-ज्वर से पीडित उन गायों में भी देखी जाती है जिनमें यह रोग अम्लरक्तता के साथ होता है। मांस-पेशियों की ऐंठन तथा सामान्य मांसल क्षतस्थल सॉने-नबर्ग[2] (Sonnenberg) ने वर्णन किए हैं जिन्होंने घोड़ा में लँगड़ापन के साथ एक अप्राण-घातक स्थानिकमारी का वर्णन किया। अंत में पक्षाघात विकसित होकर पशु उठकर खड़ा नहीं हो पाता। मेरुरज्जु के दबने में पक्षाघात शीघ्र उत्पन्न होता है तथा तानिका शोथ के अन्य लक्षण अनुपस्थित रहते हैं। तानिका के उग्र संक्रमणों में इसकी अवधि लगभग एक सप्ताह की होकर पशु की मृत्यु हो जाती है। जब इसका क्षतस्थल स्थानीय होकर धीरे धीरे अपना विकास करता है तो बीमारी की अवधि कई सप्ताह की होती है। इस बीमारी का कोई इलाज नहीं है।

संदर्भ

1 Prouse, W C, and Fitch, C P, Chronic productive pachymeningitis in a horse, Am Vet Rev, 1924, 65, 68

2 Sonnebnerg, E, Die sog Hufrehe der Pferde Die Meningomyeletische Form der Hufrehe, Berlin, tier Wchnschr, 1911, p 390

मेरुमज्जाशोथ

(Spinal Myelitis)

यह भी एक बहुत ही कम होने वाली बीमारी है किन्तु मेरुदंडीय तानिकाशोथ की अपेक्षाकृत यह अधिक होती है। मेरुरज्जु के रोग-ग्रसित होने पर उसमें तानिका पर भी थोड़ा बहुत प्रभाव पड़ता है तथा मज्जाशोथ के प्रकोप में कुछ पशु मस्तिष्क शोथ के भी लक्षण प्रकट कर सकते हैं।

लक्षण—घोड़ा में यह रोग कुछ उग्र संक्रमणों जैसे निमोनिया, गलग्रंथिल रोग तथा इन्फ्लुएंजा के परिणामस्वरूप हो सकता है। छूत लगना इसका प्रमुख कारण है। श्लेगल[1] (Schlegel) द्वारा वर्णित महामारी में स्ट्रेप्टोकोकस जीवाणु इसका कारण बताया गया, जब कि फोनर[2] ने रक्त का टीका देकर ऐसा रोग उत्पन्न किया। सन् १९१७ में डा०

ई० एम० पिकेन्स (Dr. E. M. Pickens) तथा लेखक ने गायों में इसका प्रकोप देखा। इसमें ४० गायों की एक डेरी में जाड़े की ऋतु में पशुशाला में १५ पशुओं की मृत्यु हो गई, किन्तु रोग के कारण का पता न चल सका।

केन्टुकी और विर्जीनिया के थारोब्रेड नस्ल के बछेड़ों में मेरुरज्जु का अपकर्षण होते बहुधा देखा जाता है और यह दक्षिण-पश्चिम में भी अक्सर होता कहा जाता है। लड़खड़ाहट, अकड़ा हुआ पैर, तथा ऐंठी हुई पीठ आदि इसके स्थानीय नाम हैं। धीरे-धीरे पिछले पैरों में पक्षाघात का विकास होना इसका प्रधान लक्षण है तथा ईरिंगटन[3] (Errington) द्वारा देखे गए ५० प्रतिशत रोगियों में अगले पैरों में भी ऐसी ही असमानता मिली। यह अवस्था दीर्घकालिक तथा न ठीक होने वाली है। रोग-ग्रसित पशु बेकार हो जाते हैं। इसका कारण भी अज्ञात है। डीमोक[4] से अनुसार इसका प्रारम्भ जीन (Gene) से संबंद्ध है।

विकृत शरीर रचना—नंगी आँख से दिखाई देने वाले परिवर्तन प्रायः अनुपस्थित होते हैं यद्यपि कि इसमें गँदला अथवा लाल रंग का मैरव द्रव भरा हो सकता है। रोग की उग्र अवस्था में तानिका की अतिरक्तता के कारण रोग-ग्रसित भाग लाल रंग का हो सकता है। मेरु-रज्जु का हिस्टालोजिकल परीक्षण करने पर अपकर्षित क्षेत्र मिलते हैं, किन्तु पशु-चिकित्सा-क्षेत्र में इस प्रकार का बहुत ही थोड़ा कार्य हुआ है। रिपोर्ट किए गए रोगियों में किया गया निदान रोग के लक्षणों अथवा क्षतस्थलों पर आधृत है।

लक्षण—पिकेंस तथा लेखक द्वारा देखे गए एक प्रकोप में सबसे प्रमुख तथा प्रारम्भिक लक्षण अपसंवेदन था। लगभग उसी समय एक अथवा दोनों पिछले पैर टखने पर बँध से गए तथा शरीर-भार को सँभालने के लिए पशु एक अगला पैर थोड़ा फैलाकर खड़ा होता था। पूँछ का थोड़ा मुड़कर ऊपर उठा होना लगातार प्रारम्भिक लक्षण था। स्टेफिल के क्षेत्र की मास-पेशियों में ऐंठन तथा कंपन और पिछले पैरों का बार-बार उठाना अधिक देखा गया। अंत में पिछले पैरों में पक्षाघात होकर वे शीघ्र ही आगे की ओर फैल गए। ऐसे लक्षण दिखाकर तीन से चौदह दिन में रोगी की मृत्यु हो गई। चारे में रुचि, पाचन कार्य तथा दूध का उत्पादन सामान्य रहा। इस समूह की एक या दो गायों में उत्तेजना तथा उन्माद के लक्षणों के साथ रोग का परीक्षण करने पर कटि के क्षेत्र में मेरु-रज्जु में काफी सूजन मिली। फ्रोनर द्वारा वर्णित घोड़ों में रेक्टम तथा मूत्राशय का पक्षाघात मौजूद था किन्तु मृत्युदर काफी कम थी।

चिकित्सा—रोग के सुविकसित उग्र आक्रमणों में चिकित्सा से कोई लाभ नहीं होता। फ्रोनर द्वारा वर्णन किए गए पशुओं को स्लिंग पर लटकाकर सहारा दिया गया तथा पक्षाघात के समय में मलमूत्र को हाथ से निकाला गया।

संदर्भ

1. Schlegel, M., Die infektiöse Ruckenmarksentzündung des Pferdes; Meningomyelitis hemorrhagica infektiöse equi, Berliner, tier. Wchnschr., 1906, p. 463.

2. Fröhner, E., Infektiöse Ruck enmarks-und Gehirnlamhung bei Pferden, Berl. tier. Wchnschr., 1924, p. 215.

3. Errington, B. L., The condition called "wobblers", Vet. Bull., U.S. Army, 1938, 32, 153.
4. Dimock, W. W., Incoordination of Horses, Ky. Agr. Exp. Sta. Bull. 553, Lexington, 1950.

मेरुरज्जु का सम्पीडन

(Compression of the Spinal cord)

कारण—यह अवस्था कभी-कभी बड़े पशुओं में देखने को मिलती है जहाँ मेरु-रज्जु को रोग-ग्रसित करने वाली यह प्रमुख रोगजनक अवस्था है। विशेषतया, बछड़ों तथा मेमनों

चित्र—49. कटि के निचले क्षेत्र में एक फोड़ा के कारण मेरुरज्जु का सम्पीडन (नाभि रोग)।

में इसका मुख्य कारण फोड़ा है जो नाभि-रोग में कभी-कभी कमर के क्षेत्र में पाया जाता है। एक उदाहरण में, कमर के क्षेत्र में, गल-ग्रंथिल रोग के फोड़े ने मेरु-रज्जु को भी संलग्न कर रखा था। दूसरे उदाहरण में गर्भाशय-शोथ से पीड़ित एक गाय में[1] आठवें वक्षीय अन्तरा-कशेरुक स्थान (intervertebral space) में विक्षेपी फोड़े बन गए। तीसरे में, शीर्षधर पश्च कपाल संधि (atlanto-occipital joint) पर टी० बी० के एक बड़े फोड़े ने मेरु-रज्जु को दबा दिया। के[2] (Kaay) ने गाय में एक मेरव फोड़े का वर्णन किया जो घुटने के पीबयुक्त फोड़े से विकसित हुआ। 11 वर्षीय वृद्ध सांड़ के पिछले पैरों में बढ़ते हुए पक्षाघात में कार्लसन और ब्वायड[3] (Karlson and Boyd) ने अत्यधिक तन्तुमयता पाई जो अंतिम 6 वक्षीय कशेरुकाओं के शरीर को ढके हुए थी। निचली सतह पर अनेक नलिका जैसे छिद्र थे जिनमें से कोरिने-बैक्टीरियम पायोजिनस का विशुद्ध संवर्धन प्राप्त किया गया। एक 5 वर्षीया गाय जिसकी पिछले 9 माह से गर्दन

कड़ी पड़ गई थी, उसे चारा खाने में कष्ट होता था, अगले पैरों को लकवा मार गया था, उसके ग्रैव क्षेत्र में एक लम्बी रसौली पाई गई—क्रिस्टेंसन[4] डेनमार्क। लेखक ने एक घोड़े में ऐसे लक्षण देखे जो अंतिम ग्रैव और प्रथम वक्षीय कशेरुकाओं के मध्य पीवयुक्त

चित्र—50. मेरुदंड के क्षय रोग से मेरुरज्जु का सम्पीडन (स्वीडन के डा० गुस्ताव डैनेलिअस के सौजन्य से प्राप्त फोटोग्राफ)।

सधिशोथ से उत्पन्न हुए थे। यह पशु कठिनता से सिर नीचे कर पाता था तथा चलते समय अगले पैरों की गति में कुछ स्पष्ट रुकावट सी प्रतीत होती थी। लेखक के एक मरीज, 16 वर्षीया घोडी में काले रंग की रसौली ने पक्षाघात उत्पन्न किया। यह तीसरे से पांचवे वक्षीय कशेरुका के मध्य मेरुव नलिका में घुस गई। सुअरों में कशेरुका की टी० बी० प्रायः इस रोग का कारण बनती है। मार्शल[5] (Marshall) ने मेरु-रज्जु-सम्पीडन से पीड़ित एक घोडे का वर्णन किया। इसमें रोग का कारण चौदहवी पसली के पास हाईडैटिड सिस्ट का होना था। हल और टेलर[6] (Hull and Taylor) ने भेंड़ के केन्द्रीय तन्त्रिका-तंत्र में कुछ फोड़े होते बताए, जिनमें से कई ने मेरुरज्जु पर दबाव डाला। सूखा रोग से पीड़ि सुअरों में कशेरुकाओं के टूटने से भी मेरुरज्जु का संपीडन होता है, और यह युवा ढोरों में प्रयोगात्मक रूप से उत्पन्न किए गए सूखा रोग में भी देखा गया। कभी-कभी कशेरुकाओं से हड्डी बढकर भी मेरु-रज्जु पर दबाव डालती है।

नाभि-रोग अथवा अस्थिभंग (fracture) के अतिरिक्त जिसमें कि रोग का प्रकोप एकाएक होता है, सप्ताहों अथवा महीनो तक बढ़ता हुआ पक्षाघात होना इसका प्रमुख लक्षण है। वक्षीय अथवा कटि के क्षेत्र में पहले दबाव पड़कर कमजोरी उत्पन्न होती तथा पैरों को फालिज मार जाती है। कुछ समय के बाद रोगी पशु बहुत ही कठिनता से उठकर खड़ा हो पाता है अथवा उसे उठाने के लिए बाह्य सहायता की आवश्यकता पड़ती है। पशु एक ओर को अपने पिछले पैर फैलाकर कुत्ते की भांति बैठा हुआ बड़ा दयनीय दिखाई पड़ सकता है। उसका मल-मूत्र त्याग करना बंद हो सकता है। अंत में धराशायी होकर उसकी मृत्यु हो जाती है।

संदर्भ

1. Udall, D. H., Paraplegia in a cow, Cornell Vet., 1928, 18, 370.
2. Kaay, Metastatic abscess in the spinal canal of a cow abs. Jahresbericht, 1925, p. 108.
3. Karlson A. G., and Boyd, W. L., Spinal compression in the bull, Cor. Vet., 1944, 34, 359.
4. Christensen, S. O., On *gliomas*, Saetyrk of Medlemsbald for Den danske Drylaegeforening, 29, Aarg. (1946) Side 128.
5. Marshall, D., Partial paralysis in a gelding due to cyst in spinal cord, Vet. Record, 1925, 5, 301.
6. Hull, F. E., and Taylor, E. L., Abscesses affecting the central nervous system of sheep, A. J. Vet. Res., 1941, 2, 356.

परिधीय तंत्रिकाओं के रोग

(Diseases of the Peripheral Nerves)

ग्रसनी तथा वेगस तंत्रिकाओं को छोड़कर, पशुओं में परिणाह तंत्रिकाओं के रोग प्रमुखतौर पर शल्य चिकित्सा के महत्व के हैं।

जिह्वा-ग्रसनी-तंत्रिका का पक्षाघात

(Paralysis of the Glossopharyngeal Nerve)

स्वतंत्र बीमारी के रूप में इस तंत्रिका का पक्षाघात बहुत ही कम हुआ करता है। फेरिंक्स का उग्र पक्षाघात जैसा कि प्राय: मस्तिष्क-शोथ में देखा जाता है, केन्द्रीय तंत्रिका-तंत्र की सूजन का एक लक्षण है अथवा यह फेरिंक्स में लगी हुई चोटों, शोथयुक्त परिवर्तनों, बोटुलिज्म या किसी अज्ञात कारणवश होने वाली अवसन्नता के कारण भी हो सकता है। इन सभी का वर्णन फेरिंक्स के रोगों के अन्तर्गत किया गया है।

वेगस-तंत्रिका का पक्षाघात

(Paralysis of the Vagus Nerve)

वेगस तंत्रिका का पक्षाघात निम्न अवस्थाओं में मिलता है : (अ) आवर्तन तंत्रिका (recurrent nerve) के पक्षाघात में जो घोड़ों में गल-ग्रंथिल रोग, एन्फ्लूएंजा और निमोनिया के फलस्वरूप तंत्रिका-अपकर्षण के कारण होता है। (ब) इसकी एक विषैली अवस्था, मटर की कुछ किस्में, विशेषकर चटरी-मटरी (lathyrus sativus) खाने से उत्पन्न होती है। स्वर-यन्त्र के पक्षाघात का यह प्रकार शरीर के अन्य भागों के पक्षाघात तथा चेतना में गड़बड़ी के साथ हो सकता है। शल्य-चिकित्सा से भी यह ठीक नहीं होता। (स) घोड़ों में सीस-विषाक्तता भी वेगस तंत्रिका का अपकर्षण उत्पन्न करती है। यह थोमेसन[1] (Thomassen), हेरिंग और मेयर[2] (Haring and Meyer) तथा मैकिडो[3] द्वारा वर्णित है। इसके दो नैदानिक प्रकार हैं :

(1) पशुओं में स्वरयन्त्र की अवसन्नता खान से निकाले पदार्थों तथा अन्य धातुओं से दूषित चरागाहों पर चरने अथवा स्रोतों से पानी पीने पर हुआ करती है। कार्य करते

समय साँस लेने में कष्ट होना इसका विशिष्ट लक्षण है। जब पशु काम करके आराम करता है तो भी यह श्वास-कष्ट, आवर्तन-तंत्रिका की सामान्य प्रकार की अवसन्नता की अपेक्षाकृत, अधिक समय तक होता रहता है।

(2) पक्षाघात के बढ़ जाने पर चारे के कण जब स्वरयंत्र और श्वासनली में जाने लगते हैं तो पशु को चूषण निमोनिया (aspiration pneumonia) हो जाती है। इससे पशु में कमजोरी, तथा क्षीणता होकर फेफड़ों में फोड़ा बन जाता है। यह अवस्था तंत्रिका-तंतु (nerve tissue) के अपकर्षण के कारण होती है और पूर्ण रूप से अपना विकास कर चुकने के बाद चिकित्सा करने पर भी ठीक नहीं होती। स्वर-यंत्र तक ही सीमित रहने पर इसकी अवधि अनिश्चित हो जाती है। चूषण निमोनिया का विकास होने के बाद इसका कोर्स दीर्घकालिक हो जाता है तथा कई सप्ताह बाद पशु की मृत्यु हो जाती है। यह कभी-कभी प्रकोप करने वाला रोग है और इसकी शीघ्र ही रोक-थाम की जा सकती है।

संदर्भ

1. Hollandische Zeitschr., 1930, 30, 356.
2. Haring, C. M., and Meyer, K. F., Investigation of livestock conditions and losses in the Selby smoke zone, Dept. of the Interior, Govt. Printing Office, Washington, 1915.
3. Macindoe, R. H. F., Poisoning of horses by lead, Australian Vet., J., 1935, 1, 32.

तंत्रिका-तंत्र के क्रियात्मक रोग

(Functional Diseases of the Nervous System)

पालतू पशुओं में तंत्रिका-तंत्र के अनेक क्रियात्मक रोगों का वर्णन किया जा चुका है। संभवतः अधिकतर यह तंत्रिकीय गड़बड़ियाँ, तंत्रिका-तंत्र के बाहर से प्रारम्भ होने वाली विषैली अथवा संक्रामक अवस्थाओं के परिणामस्वरूप हुआ करती हैं। पशु अच्छा हो जाता है और प्राथमिक रोग को पहचाना ही नहीं जा पाता।

भ्रमि रोग

(Vertigo)

(आमाशय विषमता)

यह रोग कभी-कभी तांगा खींचने वाले घोड़ों में गरमी के महीनों में देखा जाता है। आहार-नाल से प्रारम्भ होने वाला विष तथा क्षोभण इसका कारण कहा जाता है। कुछ उदाहरणों में यह या तो मस्तिष्क के रोगों का लक्षण मात्र होता है अथवा अज्ञात रूप से नशीले पदार्थों आदि के खा जाने पर देखा जाता है। प्रत्यक्ष रूप से, जैसा कि मनुष्यों में देखा गया है, यह श्रवण-तंत्रिकाओं (auditory nerves) की गड़बड़ी के कारण नहीं होता।

हाँकने पर पशु का गिरना इसका प्रारम्भिक लक्षण है। घोड़ा रुक जाता, खड़ा रहने का प्रयत्न करता, अंत में गिर पड़ता तथा चुपचाप लेटा रहता है। तीन से पाँच मिनट

तक बिल्कुल ही अचेत रहने के बाद वह अपने सिर को उठाता, उठकर खड़ा हो जाता तथा बिल्कुल ही स्वस्थ दिखाई पड़ता है। यह आक्रमण बार-बार होते हैं तथा भारी और तेज काम करने पर इनकी प्रगति और भी बढ़ जाती है। आक्रमणों के बीच पशु की हालत बिल्कुल ही नॉर्मल रहती है। खुराक पर नियत्रण रखने, हल्का व्यायाम कराने तथा थोड़ी मात्रा में लवण तथा पौष्टिक पदार्थ देने से पशु को प्रायः आराम हो जाता है।

मिरगी रोग

(Epilepsy)

(अपस्मार)

घोड़ों तथा कभी-कभी गो-पशुओं में मिरगी के दौरे पड़ा करते हैं। यह जीवन पर्यन्त चलते रहते हैं और आसानी से रोके नहीं जा सकते। भ्रमि की भाँति, जिससे कि यह खूब मिलता-जुलता है, यह रोग भी बहुत ही कम होता है। विषाक्तता, रुधिर-विषाक्तता, सक्रमण तथा केन्द्रीय तत्रिका-तत्र के रोग जैसे तानिका-शोथ के लक्षणमात्र पड़ने वाले दौरों को मिरगी नहीं कहना चाहिए। दौरे पड़ने वाला घोड़ा एक खतरनाक पशु है क्योंकि बिना किसी सूचना के तेज दौरा पड़कर चालक अथवा अन्य पशुओं को क्षति पहुँचा सकता है। नियम के अनुसार इसके पूर्वसूचक लक्षण भी होते हैं। रोग ग्रसित पशु बेचैन होता है और इस प्रकार अपना सिर उछालता है जैसे कि मक्खी द्वारा परेशान किया गया हो। आँख की पलकों, कानों तथा चेहरे और ग्रीवा की मास-पेशियों में ऐंठन हो सकती है। अत में पूरे शरीर में तड़पन सी होती, पशु बिना किसी उद्देश्य के उठता-बैठता तथा मास-पेशियों के अनैच्छिक उग्र सकुचन के साथ गिर जाता है। वह जल्दी-जल्दी चबाने जैसी गति करता और उसके मुँह से झाग निकल सकती है। यह आक्रमण पाँच मिनट से अधिक नहीं रहता है। पशु उठकर खड़ा हो जाता तथा सामान्य दिखाई पड़ता है। भ्रमि की भाँति ही इसकी चिकित्सा की जाती है। हल्का व्यायाम, हल्का खाना तथा टॉनिक पदार्थों के साथ मिलाकर मृदुरेचक वस्तुओं का सेवन कराना लाभप्रद है।

अट्केसन[1] (Atkeson) और उनके साथियों ने ब्राउन स्विस नस्ल के ढोरों के एक समूह में मिरगी जैसे आक्रमणों का कारण वंशानुक्रमण (idheritance) बताया। जीभ को चबाना, मुँह से झाग डालना तथा अवसन्नता इसके लक्षण थे। कैल्शियम ग्लूकोनेट का अत शिरा इन्जेक्शन देकर रोगी को आराम पहुँचाया गया।

संदर्भ

1. Atkeson, F. W., Ibsen, H. L, and Eldridge, E. J., Heredity 1944, 35, 45.

चर्म-रोग
(DISEASES OF THE SKIN)
कण्डू
(Pruritus)
(खुजली)

यह नॉर्मल त्वचा की एक क्रियात्मक गड़बड़ी है जिसमें लगातार अथवा रुक-रुक कर खुजलाहट होती है।

कारण—पुराने दस्त, रेक्टम में परजीवियों की उपस्थिति अथवा पागलपन, कूट पागलपन, मज्जा-शोथ और तानिकाशोथ जैसी बीमारियों में परिधीय-तन्त्रिकाओं के कार्य में गड़बड़ी आदि के परिणामस्वरूप यह रोग हुआ करता है। गायों में अम्ल-रक्तता होने पर पैरों के चारों ओर अत्यधिक खुजली मचती है और सक्रमण अथवा विपाक्तता होने पर भी ऐसे ही लक्षण मिलते हैं। निदान करते समय त्वचा के परजीवी रोग तथा शोथयुक्त बीमारियों की अनुपस्थिति देखना जरूरी है। इसके कारण का पता लगाना असम्भव हो सकता है। गो-पशुओं में यह खुजली कूट पागलपन का प्रारम्भिक प्रधान लक्षण है। पागलपन से पीड़ित घोड़ों में प्रारम्भ में यह अक्सर देखने को मिलती है।

चिकित्सा—आन्त्रार्ति से उत्पन्न खुजली को मृदुरेचक एवं कड़वे टॉनिक पदार्थ खिलाकर ठीक किया जा सकता है:

सैल करोलिना फैक्टीटाइ (Sal carolina factitii)	Zxvi	(500 ग्राम)
चूर्ण जेन्शियन	Zviii	(250 ग्राम)
चूर्ण नक्सवामिका	Zviii	(250 ग्राम)

सब को मिलाकर एक बड़े चम्मच भर (15 ग्राम) दिन में तीन बार पशु को खिलाओ।

स्थानीय खुजली को सैलिसिलिक एसिड अथवा कपूर के 3 प्रतिशत ऐल्कोहलिक घोल से ठीक किया जा सकता है। लेखक ने तेल में 50 भाग सल्फर आयोडायड* (1:8), 40 भाग ऐल्कोहल और 10 भाग फार्मलीन मिलाकर मिश्रण बनाकर बड़े अच्छे परिणाम प्राप्त किए हैं। गरम पानी अथवा ऐल्कोहल का सेंक गुणकारी है। 50 भाग चूने के पानी में 1 भाग फीनोल मिलाकर लगाने से भी लाभ होता है।

---

* सल्फर आयोडायड बनाना : 20 भाग गंधक लेकर 80 भाग आयोडीन के साथ खूब घोटिए। इसको एक शीशी में भरकर तब तक के लिए ऊष्मक जलपात पर रख दीजिए जब तक दोनों आपस में मिल न जाएँ। तत्पश्चात् ठंडा करके शीशी को तोड़ दीजिए और इसमें से निकले पदार्थ को पीस लीजिए।

अति स्वेदन

(Hyperhidrosis)

पसीना आना

बिना किसी बाहरी कारण के होने वाली यह स्वेदग्रंथियों की क्रियात्मक गड़बड़ी है जो स्थानीय अथवा बहुव्यापक दो प्रकार की हो सकती है।

कारण—कुछ रक्त संचारी एवं श्वसन-तन्त्र के रोगों के दौरान रक्त में कार्बोनिक एसिड इकट्ठा हो जाने के परिणामस्वरूप सामान्य स्वेदन रोग विकसित होता है। मूर्छा, एकाएक बुखार कम हो जाना, रक्त-मूत्रता तथा दौरे आदि पड़ने पर भी अतिस्वेदन हो जाता है। स्थानीय स्वेदन; परिधीय अथवा अनुकम्पी तंत्रिकाओं के संपीडन अथवा क्षत-स्थलों के परिणामस्वरूप और मेरु-रज्जु अथवा इसकी तानिका-शोथ के कारण हुआ करता है। टूटी हुई पसलियों तथा अन्य अस्थि भंगों के आस पास भी पसीना आता देखा गया है। नियम के अनुसार इसके उत्पन्न करने वाले कारक का पता नहीं लगाया जा सकता। स्थानीय स्वेदन के कट्रोल हेतु पशु को बेलाडोना का सेवन कराना चाहिए किन्तु इसका प्रयोग संदेहात्मक है। "स्वेदन रोग" का एक प्रकार कीनिया[1] (Kenya) कालोनी के बछड़ों में बेकर के यीस्ट द्वारा ठीक किया गया।

अस्वेदन रोग (anhidrosis पसीना न आना) का वर्णन गिल्यार्ड[2] ने उष्ण कटिबंध में बाहर से लाए गए दौड़ने वाले घोड़ों में किया। अत्यधिक गरमी के प्रभाव से रक्त में क्लोराइड की कमी हो जाने पर होने वाली यह एक दीर्घकालिक अवस्था है। पशु के दाने में आधा चाय का प्याला नित्य नमक मिला कर देने से इसे ठीक किया जा सकता है।

सन्दर्भ

1. Rep., Dept., Agr., Kenya, 1934, abs. Vet. Bull., 1938, 8, 58.
2. Gilyard, R. T., Chronic anhidrosis with lowered blood calcium in race horses, Cor. Vet., 1944, 34, 332.

रक्त-स्वेदन

(Hematidrosis)

रक्तस्राव वाले रोगों में त्वचा के ऊपर रक्त की बूंदे प्रकट होकर रक्त स्वेदन का अनुमान करा सकती हैं। स्वेदन-ग्रंथियों में रक्त-स्राव होने के कारण यह रक्त का पसीने के साथ मिश्रण होता है। गायों यह अवस्था रक्त-पूतिता, परप्यूरा तथा फर्नर विषाक्तता (braeken poisoning) के भयकर प्रकोपों में देखी गई। घोड़ों में इस रोग का हीनूरिच[1] (Heinrich) ने वर्णन किया तथा फाइलेरिया हेमोरेहजिका को इसका कारण बताया। संभवतः रक्त-स्वेदन के अधिकाश रोगी, अन्दरूनी रक्तस्राव प्रदर्शित करने वाली बीमारियों के लक्षण मात्र होते है। जून 1916 में लेखक ने एक ऐसा रोगी देखा जिसमें कि चरागाह पर चरने वाली गाय के शरीर के विभिन्न भागों से खून बह रहा था। उसकी शीघ्र ही मृत्यु हो गई। शव-परीक्षण करने पर भीतरी अंगों में अत्यधिक

रक्तस्राव मिला। यद्यपि कि प्रयोगशाला में काफी ताजा पदार्थ ले जाया गया था फिर भी रोग का निदान न किया जा सका।

संदर्भ

1. Monatsh. f. Tierheilkunde, 1924, 34, 288.

खल्वाटता

(Alopecia)

बिना किसी विशष्टि चर्म रोग के ऊन, पंख अथवा बालों का ह्रास होना खल्वाटता कहलाता है। गौण खल्वाटता निम्नलिखित कारणों से हो सकती है: (अ) कुपोषण, (ब) दूषित चारा खाना, (स) जठरान्त्रार्ति (gastrointestinal catarrh), (द) परजीविता-फ्लूक, फेफड़ा-कृमि, (य) एन्फ्लूएंजा, निमोनिया, गल-ग्रंथिल रोग तथा सूकर कालरा जैसी छुतैली बीमारियाँ, (र) पारा, संखिया जैसी धातुगत विषाक्तता। आयोडीन की कमी से बछड़ों तथा सुअरों[1] में जन्म से ही बालों की अनुपस्थिति हुआ करती है। नमी की अधिकता से भी घोड़ों के पैरों पर बिना बालों के धब्बे से पड़े दिखाई पड़ते है। भेड़ों में ऊन खाने तथा मुर्गियों मे पंख खीचने की आदत से भी कभी-कभी इनकी त्वचा नंगी दिखाई देती है। पुराने बालों के झड़ने के बाद यदि नए बाल शीघ्रता से नही उग पाते तो भी त्वचा बिना बाल की ही दिखाई देती है।

2 से 4 सप्ताह की आयुवाले बछड़ों में एक सप्ताह के अन्दर बालों का गिरना देखा गया। इसके साथ पशु की हालत भी गिरती गई और एक फार्म पर यह रोग आने वाले वर्षों में भी देखा गया। पीठ पर कुछ पपड़ी—युक्त धब्बों के साथ इस अवस्था का प्रारम्भ हुआ और 24 घटे के अन्दर बछड़े ने अपने आधे बाल रगड़ तथा चाट डाले। इस स्थान पर लाल संवेदनशील क्षेत्र चमकने लगा। रोग के कारण का पता न लग सका और लगभग एक माह में बाल पुनः उग आए। दूसरे उदाहरण में, बिना किसी ज्ञात कारण के चरागाहों पर चरने वाले बछड़ों के काफी बाल गिर गए हुंडले आदि[2] ने इस संदर्भ में जन्मजात उपकलीय दोष का वर्णन किया जिसमें कि पैरों के निचले भाग में खुर के पास बालो की अनुपस्थिति थी। इथाका के कालेज-चिकित्सालय के एक यूथ में कई यारशायर नस्ल के बछड़े इस दोष से युक्त देखे गए।

चिकित्सा—इसके अनेक इलाजो का वर्णन किया जा चुका है: साबुन तथा पानी, अथवा ऐल्कोहल से बार बार धोना, 1 भाग टिंचर कैंथराइडिस 5 भाग ऐल्कोहल, 5 प्रतिशत रिसोसिन, और क्रियोलीन (5-10 प्रतिशत) आदि। खुजली अथवा उकौता से यदि त्वचा मोटी, खुरदरी तथा शुष्क पड़ गई हो तो दो तीन बार हल्का सल्फर आयोडायड तेल में (१:८-१०) मिलाकर अथवा गर्म अलसी का तेल लगा देने से लाभ हो जाता है। नवजात सुअरों में आयोडीन की कमी के कारण उत्पन्न गलगण्ड एवं बालों के ह्रास को गर्भित सुअरियों को सप्ताह में एक बार 5 ग्रेन पोटासियम आयोडायड खिलाकर रोका जा सकता है[3]।

संदर्भ

1. Hart, E. B., and Steenbock, H., Hairless Pigs. Univ. of Wis. Agr. Exp. Sta. Bull., 297, 1918.
2. Hadley, F. B., and Warwick, B. L., Inherited defects of live stock, J.A. V.M.A., 1927, 70, 492 ; Hadley, F. B., and Cole J. L., Inherited Epithelial Defects in Cattle, Wis. Res. Bull. 86, 1928.
3. Welch, H., Twenty-Seventh An. Rep., Mont. Agr. Exp. Sta. 1920 p 34.

बालों की रूसी

(Pityriasis)

परिभाषा—त्वग्वसा-ग्रंथियो (sebaceous glands) द्वारा अत्यधिक द्रव निकाले जाने के कारण त्वचा पर चोकर की भाँति सूखी पर्तों का इकट्ठा होना रूसी कहलाता है। यह अनेक गडबड़ियों द्वारा उत्पन्न होता है और स्वत. एक बीमारी न होकर अन्य बीमारियो का लक्षण है।

कारण—(अ) भलीभाँति न खिलाए पिलाए गए कमजोर पशुओं, (ब) खुजली तथा उकौता के परिणामस्वरूप, (स) संक्रामक रोगों, (द) पुराने पाचन विकारों, तथा (य) पोटास आयोडायड् द्वारा उत्पन्न विषाक्तता में एक लक्षण के रूप में, यह रोग हुआ करता है।

लक्षण—घोड़े के अयाल (mane) तथा पूंछ की जड़ पर आमतौर पर रूसी पड़ा करती है, किन्तु रगड़ने से उत्पन्न क्षतस्थल के अतिरिक्त इसमें कोई अन्य लक्षण नहीं होता। भले प्रकार खरहरा न किए गए, लम्बे बालो वाले पशुओं में भी यह रोग आमतौर पर होता है। खुजली से ग्रसित पशुओं में यह अत्यधिक होते देखा गया है और जब ऐसे पशु अपना शरीर नही खुजलाते तो इसे, विशेषकर जब कि निकलने वाला पदार्थ गीला हो, गलती से त्वग्वसा-स्राव (seborrhea.) समझा जा सकता है। एक्जिमा तथा खाज में, त्वचा में परिवर्तन पाए जाते हैं और खाज में खूब खुजली मचती है।

चिकित्सा—त्वचा यदि सूखी हो तो उसे साबुन और पानी अथवा गैसोलीन से खूब साफ करके निम्न लिखित ऐंटिसेप्टिक लगाइए : सैलिसिलिक एसिड 5 भाग, अलकतरा (picis liquidae) 25 भाग, मुलायम साबुन 120 भाग। चूने का पानी 50 भाग, फीनोल 1 भाग एसिड सैलिसिलक 1 भाग, ग्लेसरीन 3 भाग, ऐल्कोहल 60 भाग। त्वचा यदि गीली हो तो उसे गैसोलीन से साफ करके वहाँ के बाल काट दीजिए और ऐल्कोहलयुक्त ऐंटिसेप्टिक पदार्थ लगाइए : यदि रोग का यह प्रकार पूरे शरीर पर वितरित हो तो यह सारकोप्टिक खुजली का अनुमान कराता है यद्यपि इसका परजीवी आसानी से नहीं मिलता।

पित्ती

(Urticaria)

यह त्वचा में एकाएक होने वाला क्षणिक शोथ है। गो-पशुओं में यह विस्तृत सूजन के रूप में प्रमुख तौर पर आँखो, भग और थनो के क्षेत्र में देखा जाता है। घोड़ो में यह गोल-गोल चकत्तों के रूप में अधिकतर सिर, गर्दन तथा शरीर पर हुआ करता है।

कारण—यह बीमारी गो-पशुओं में, कभी-कभी घोड़ों में तथा यदा-कदा सुअरों में प्रकोप करती है। लेखक के चल-चिकित्सालय में गो-पशुओं में 62 प्रतिशत पित्ती के रोगी मार्च से मई के महीनों में देखे गए। इसके मौसमी प्रकोप तथा लक्षणों का वार्बल मक्खी के लार्वा[1] से उत्पन्न अनाफिलैक्सिस से मिलता-जुलता होना यह अनुमान कराता है कि गो-पशुओं मे यह रोग, त्वचा के नीचे मौजूद लार्वों से विषैले पदार्थों के शोषित होने के कारण एक अनाफिलैक्सिस के रूप में हो सकता है। एक गाय में इन लार्वों को पीठ की त्वचा से दाब कर निकालने के तत्काल बाद इसका आक्रमण हुआ। ठंडी हवाओं का लगना, डंक मारना, ब्लिस्टर तथा चारे अथवा संक्रमण से उत्पन्न विषैले पदार्थ इसके अन्य कारण हैं।

लक्षण—गो-पशुओं में इसका प्रकोप एकाएक होता है तथा इसकी अवधि इतनी कम है कि पशु-चिकित्सक के आने तक कुछ लक्षण अदृश्य हो जाते हैं। पशुपालक बेचैनी, तेज सांस लेना, कँपकपी तथा पसीना आना आदि लक्षण रिपोर्ट कर सकता है, किन्तु बहुधा यह अनुपस्थित होते हैं। सिर, थूथन, कान तथा अधिकांश रोगियों में आँखों की पलकों पर सूजन होना एक सामान्य लक्षण है। इसके बाद यह सूजन भग, मलद्वार तथा अयन व थनों पर आती है। गालों, गले, कंधे, नितम्बों, पीठ तथा शरीर के किसी भी भाग पर सूजन आ सकती है। प्रारम्भ में, मुंह खोलकर साँस लेना, लार गिराना तथा नथुनों से आवाज होने के लक्षण पशुपालक को इस बात का संदेह कराते हैं कि पशु के गले में कोई चीज अटक गई है। ऊपरी श्वास-नली की श्लेष्मल झिल्ली, विशेषकर नाक तथा गले, पर सूजन मिलती है। गर्दन, नितम्ब तथा कंधों की त्वचा पर झुर्रियाँ पड़ सकती हैं और इन भागों पर के बाल खड़े हो जाते हैं। थनों अथवा भग की पित्ती में अत्यधिक खुजली मचती है। 6 से 12 घंटे में सूजन गायब हो जाती है।

घोड़ों में इसका मौसमी प्रकोप नहीं होता और अधिकांश रोगियों में कारण का अनुमान ही नहीं हो पाता। प्रायः बिना किसी पूर्व लक्षण के ही सूजन एकाएक प्रकट होती है, किन्तु एक या दो दिन तक पशु सुस्त रह चुका होता है। चकत्ते गोल, परिगत, सुदृढ़, लगभग 1/4 इंच ऊँचे तथा 1/2 से 1 इंच व्यास के होते हैं। वे इतना पास-पास हो सकते हैं कि इनके किनारे एक दूसरे से स्पर्श करते हों और सब मिलकर एक क्षतस्थल सा दिखाई देते हों। यह चकत्ते प्रायः गालों के निचले भाग, गर्दन, होठों तथा शरीर पर दिखाई देते हैं।

चिकित्सा—संक्षिप्त तथा अनुकूल कोर्स होने के कारण केवल निराशाजनक लक्षण होने पर ही इसकी चिकित्सा की आवश्यकता पड़ती है। बर्फ का पानी लगाने से खुजली कम हो जाती है। श्वासकष्ट कंट्रोल करने के लिए 1/4 से 1/2 ग्रेन (0.015 से 0.03 ग्राम) की मात्रा में ऐट्रोपीन सल्फेट देना चाहिए।

संदर्भ

1. Hadwen, S., Warble Flies, Dept. Agr., Ottawa, Scientific Series, No. 27, 1919.

एक्जिमा
(Eczema)

यह विभिन्न प्रकार की, त्वचा की ऊपरी सूजन है। वर्णन हेतु इसे रक्तयुक्त, पिटिकायुक्त फफोलायुक्त, पीवफुंसीयुक्त, गीला, शुष्क, उग्र, दीर्घकालिक, परजीविक आदि प्रकारों में वर्गीकृत किया जा सकता है। पालतू पशुओं में एक ही साथ इसकी कई अवस्थाएँ मौजूद हो सकती है।

लक्षण—घोड़ों में एक्जिमा प्रायः दीर्घकालिक हुआ करता है। शरीर के किसी भी भाग पर, अयाल तथा पूंछ की जड़ पर, और कभी-कभी सिर अथवा पैरों पर फुंसी, छालों, रूसी तथा खुजलाहट के साथ इसका प्रकोप हो सकता है। वसंत ऋतु में और विशेषकर वृद्ध घोड़ों में यह अधिक होता है। फरवरी में इसके लक्षण पहले-पहल देखने को मिलते हैं और अप्रैल तथा मई में यह सुविकसित हो जाते हैं। एक्जिमा स्थानीय अथवा बहु-वितरित हो सकता है। कभी-कभी यह काठी या जीन रखने के स्थान पर मौजूद स्थानीय सूजन से शरीर के अन्य भागों में खूब फैलता है। त्वचा सूख जाती, बाल लम्बे दिखाई देते तथा काफी मात्रा में रूसी दिखाई देती हैं। कभी-कभी यह एक ही घुड़साल में कई घोड़ों पर इस प्रकार आक्रमण करता है जैसे कि संक्रामक हो। त्वचा पर रोगाणुनाशकों अथवा मक्खी भगाने वाली तेज औषधियों के प्रयोग से भी सूजन हो सकती है जो बालों के ह्रास, छालों तथा खुरंटों की उपस्थिति एवं सामान्य दिखावट में खुजली से मिलती-जुलती है। संक्रामक न होने, माइट की अनुपस्थिति तथा यह देखकर कि इसका प्रकोप अधिकतर गरमियों में होता है जबकि खुजली इस ऋतु में बिल्कुल ही निष्क्रिय हो जाती है, खाज से इसका विभेदी निदान किया जाता है।

चित्र—51. एक्जिमा से पीड़ित गाय।

घोड़ों में उग्र एक्जिमा बहुत शीघ्र विकसित होता तथा प्रायः वसंत ऋतु में हुआ करता है। दो या तीन दिन में यह गर्दन, शरीर और पैरों के ऊपरी भाग में फैल सकता है। शरीर पर झुर्रियोंदार क्षेत्र, फुंसियाँ, छाले आदि होकर अत्यधिक खुजली मचती है।

रूसी अनुपस्थित हो सकती है। दीर्घकालिक अवस्था की अपेक्षाकृत यह कम होता है। काफी बड़े क्षेत्र में इसका एकाएक उभड़ आना इसकी खाज से विभिन्नता प्रकट करता है। कीचड़ अथवा वर्फ में पशु को चलाने के बाद उसकी त्वचा की भलीभाँति सफाई न करने पर एक्जिमा के उग्र प्रकार पैरों तथा उदर पर विकसित हो सकते हैं।

खरोंच (Scratches) एक विशेष प्रकार की सूजन है जो खासकर घोड़ों में टखने के क्षेत्र पर पीछे की ओर प्रकट होती है। अपनी गहराई तथा वेग के आधार पर यह या तो एक्जिमा अथवा त्वचाशोथ हो सकती है। कभी-कभी यह घुटने तक ऊँची बढ़ सकती है।

बाल-मूल संक्रमण (Hair-root infection) घोड़ों में गर्दन की ऊपरी सतह पर गल-पट्टे (collar) के स्थान पर हुआ करता है। इसकी छूत अन्दर तक गहराई में पहुँच कर एक नलिका सी बना देती है। रोग ग्रसित भाग अत्यधिक मुलायम होकर कुछ समय के लिए यह पशु को काम के लिए बिल्कुल ही बेकार कर देता है। भली-भाँति फिट होने वाले गल-पट्टे अथवा बालों की गद्दी के प्रयोग से पशु को इस रोग से बचाया जा सकता है। छूत यदि बालों की जड़ तक ही सीमित हो तो गल-पट्टे को हटाकर, उस स्थान पर निम्न लिखित ऐंटिसेप्टिक घोल लगाकर लाभ पहुँचाया जा सकता है : 1:1000 ऐल्कोहलिक सब्लिमेट, 500 घ० सें०; टैनिक एसिड, 30 ग्राम; और पायोक्टैनिन, 1 ग्राम। गलपट्टा पहनाने के पूर्व अथवा उतारने के बाद निम्नलिखित पाउडर का प्रयोग भी गुणकारी है : कापर सल्फेट 3 औंस (90 ग्राम), पिसी हुई फिटकरी 2 औंस (60 ग्राम), टैनिक एसिड 2 ड्राम (8 गाम), खरल में घुटा हुआ कपूर 2 ड्राम (8 ग्राम), और लकड़ी का कोयला 1 औंस (30 ग्राम)। बिस्मिथ फार्मिक आयोडायड इस अवस्था के लिए अति उत्तम छिड़कने वाला पाउडर है।

गायों में, जुआं आदि परजीवियों को मारने के लिए प्रयोग होने वाले तेज जीवाणुनाशकों से त्वचा में उत्पन्न सूजन से बाल गिर सकते हैं तथा रूसी उत्पन्न हो सकती है। बालों के ह्रास के साथ इसकी गीली किस्म शरीर और पैरों के मध्य त्वचा की झुर्रियों में हुआ करती है। आँखों के चारों ओर तथा गर्दन के ऊपर के बाल झड़कर खुरंटयुक्त नंगे चकत्ते दिखाई देते हैं। रोग की यह किस्म दाद सिद्ध हो सकती है। खुजलाहट तथा रगड़ने के साथ बालों का ह्रास जुओं द्वारा भी हो सकता है। उदर, अयन और थनों पर त्वचाशोथ हो सकती है। पीठ पर 1/4 से 1/2 इंच के गोल-गोल चकत्तों के रूप में अथवा पैरों, थनों या शरीर के किसी भी भाग में चटके हुए रक्तयुक्त खुरंटों के रूप में यह बीमारी प्रकट हो सकती है। जाड़ों में इसका प्रकोप अधिक होता है। गीला उग्र एक्जिमा घोड़ों की अपेक्षा गो-पशुओं में अधिक होता है।

युवा बछड़ों में कान, गालों, गर्दन तथा कंधों का एक्जिमायुक्त त्वचाशोथ जो ऐस्कार्बिक एसिड से निकटतम संबंधित है कोल आदि[1] (Cole et al) द्वारा वर्णित है। 3 ग्राम की मात्रा में ऐस्कार्बिक एसिड का अधस्त्वक् इंजेक्शन देने से हालत में सुधार होने लगता है।

चिकित्सा—चिकित्सा करने पर एक्जिमा शीघ्र ठीक होने लगता है। 1 भाग मरकर आयोडायड को 8 से 10 भाग हल्के बिनौले के तेल अथवा जैतून के तेल के साथ

मिलाकर लगाना अति उत्तम इलाज है। अत्यधिक खुजली होने अथवा रोगग्रसित क्षेत्र के अधिक विस्तीर्ण होने पर इस मिश्रण को 40 प्रतिशत ऐल्कोहल तथा 5 प्रतिशत फार्मलीन मिलाकर और भी अच्छा बनाया जा सकता है। पुराने एक्ज़िमा में चीना टार लिनिमेंट, कोलतार और गंधक प्रत्येक 1 भाग, हरा साबुन और एल्कोहल प्रत्येक 2 भाग, अथवा 1 भाग चूना-गंधक का चूर्ण 40 भाग पानी में मिलाकर लगाना काफी लाभप्रद है। 40 भाग जैतून के तेल में 60 भाग जिंक आक्साइड मिलाकर खरोंच में विशेषकर गुणकारी है।

संदर्भ

1. Cole, C. L., Rasmussen, R. A., and Throp, F., Dermatitis of the ears, cheeks, neck and shoulders in young calves, Vet., Med., 1944, 39, 204.

त्वक्शोथ

(Dermatitis)

यह शब्द उस चर्मरोग को लागू होता है जिसमें त्वचा की भीतरी पर्तें आक्रांत होती हैं। यह उन घोड़ों तथा गो-पशुओं के पैरों पर अधिक विकसित होता है जो अपनी आदत से गंदे कीचड़ अथवा खाद आदि पर अधिक चलते हैं। विश्व के प्रथम महायुद्ध के समय कीचड़, धूल तथा संदूषित मिट्टी में लगातार चलने वाले फौजी घोड़ों तथा खच्चरों में यह रोग खूब देखा गया। कैम्प में रहने वाले घोड़ों तथा खच्चरों में 'रस्सी के दाग' अधिक हुआ करते हैं। शरीर पर तेज जीवाणुनाशकों अथवा लिनीमेंट की पट्टी देने से त्वचा पर भयंकर शोथ हो सकता है। दूषित स्थानों से गो-पशुओं के टखने एवं सुमशीर्ष भी आक्रांत हो सकते हैं। एक उदाहरण में, गाय के थनों पर बड़े-बड़े चकत्ते से बन गए। वह गाय सुस्त रही तथा उसने दूध भी कम दिया। एक दूसरी गाय में; कानों पर फफोलों का विकास हुआ उसकी थूथन की ऊपरी चमड़ी उचड़ी हुई तथा नाक की श्लेष्मल झिल्ली पपड़ी से आच्छादित थी। शारीरिक क्षीणता, पैरों, पलकों तथा योनि की श्लेष्मल झिल्ली की सूजन इसके अन्य लक्षण थे। ऐसा रोगी मुखार्ति के साथ होने वाले त्वचाशोथ का अनुमान कराता है जो मुँह के क्षतस्थलों की अनुपस्थिति में भी हो सकता है। गायों में छिछले घावों के आकार का गीला त्वचाशोथ अयन से शरीर की निचली सतह पर फैल सकता है। गायों में अयन से ऊपरी भाग पर तथा जंघा के मध्य भी एक प्रकार का त्वचा-शोथ विकसित हो सकता है और गंध के कारण यह अति बदबूदार हो सकता है। 1½ औंस (45 ग्राम) तूतिया को एक क्वार्ट सिरका में घोलकर लगाने अथवा नित्य 1 प्रतिशत क्रियोलीन घोल से धोकर तथा सुखाकर आयोडेक्स मरहम लगाने से भी काफी लाभ होता है।

भेड़ों में स्टेफिलोकोकस ऑरियस,[1] बछड़ों में ऐस्कार्बिक एसिड की कमी[2,3], तथा ढोरों में नेमाटोड संक्रमण[4] त्वचा-शोथ के अन्य कारण हैं। पिंडयुक्त चर्म रोग (lumpy skin disease) जो एक वाइरस द्वारा फैलने वाला कहा जाता है, दक्षिणी अफ्रीका में ढोरों की आर्थिक क्षति का एक कारण है। बिना किसी ज्ञात कारण के त्वचा पर निकलने

वाले दाने एक सप्ताह से लेकर दस दिन में ठीक हो जाते हैं, किन्तु रसायनों अथवा संक्रमणों द्वारा उत्पन्न सूजन, लगी हुई चोट के अनुसार भिन्न होती है।

चिकित्सा—अधिकतर इसका इलाज ऐक्ज़िमा की भाँति ही होता है। रोग ग्रसित भाग को साफ करके तथा सुखाकर ऐंटिसेप्टिक दवाएँ लगाइए। पैरों की स्थानीय गहरी सूजन के लिए ऐल्कोहलिक सब्लिमेंट की तब तक पट्टी दीजिए जब तक कि उग्र दर्द तथा सूजन कम न हो जाए। तत्पश्चात् जिंक आक्साइड युक्त तेल (जिंक तेल), अथवा जिंक मरहम या छिड़कने वाला पाउडर लगाइए। रस्सी से कटे हुए स्थान अथवा खरोंच के लिए 3–4 प्रतिशत पिक्रिक एसिड का प्रयोग सर्वोत्तम है। त्वचा-शोथ में अन्य लाभकारी नुस्खे निम्न प्रकार हैं :

जिंक सल्फेट	6 ड्राम (24 ग्राम)
लेड एसिटेड	1 औंस (30 ग्राम)
पानी	1 पिंट (500 घ० सें०)

"श्वेत लोशन" बनाकर रोग ग्रसित स्थान पर लगाइए।

एसिड सैलिसिलिक	2 औंस (60 ग्राम)
क्रियोलीन	4 औंस (120 घ० सें०)
अलकतरा (Picis liquidae)	4 औंस (120 घ० सें०)
सल्फर सब्लिमेंट्स	2 औंस (60 ग्राम)
बिनौले का तेल (ol Gossypii)	1 पिंट (500 घ० सें०)

सबको मिलाकर त्वचाशोथ पर लगाइए।

कोल आदि[3] (Cole et al) द्वारा चिकित्सा की गई शरीर में ऐस्कॉर्बिक एसिड की कमी का रोगी अधस्त्वक् इंजेक्शन द्वारा 3 ग्राम ऐस्कॉर्बिक एसिड देने से ठीक हो गया।

सदर्भ

1. Hardy, W. T., and Price, D.A., Staphylococcus dermatitis in sheep, J.A.V.M.A., 1951, 119, 445.
2. Rydell, R. O, Dermatosis in calves, J.A.V.M.A., 1948, *112*, 59.
3. Cole, C. L, Rasmussen, R. A., and Thorp, F, Dermatosis of the ears, cheeks, Neck, and shoulders in young calves, Vet. Med., 1944, *39*, 204.
4. Levine, N. D., Miller, L H., Morril C. C., and Mansfield, M.E, Nematode dermatitis in Cattle associated with Rhabditis, J.A.V.M.A., 1950, *116*, 294.
5. Dekock, G, Lumpy skin disease in cattle of South Africa, J.A.V.M.A., 1948, *112*, 57.

प्रकाश संवेदन
(Light Sensitization)
(तिपतिया रोग; मोथा रोग; प्रकाश सुग्राहीकरण; भेड़ों का वृहत् शीर्ष रोग)

प्रकाश के प्रति संवेदनशीलता विभिन्न प्रकार के क्षतस्थल उत्पन्न कर सकती है। आमतौर पर यह त्वचा पर के सफेद भागों का ऊपरी अपक्षय है जो पशुओं में कुछ पदार्थ,

विशेषतौर पर फलीदार चारे, खाने से प्रकाश के प्रति संवेदना होने के बाद धूप के सम्पर्क में आने से उत्पन्न होता है। संवेदना उत्पन्न करने वाले पदार्थ की प्रकृति जानना सदैव सम्भव नहीं होता।

चित्र—52. ऊन काटने के बाद एकाएक धूप लगने से उत्पन्न पक्षाघात (डा० हावर्ड वेल्व, बजिमन, माटेना के सौजन्य से प्राप्त फोटोग्राफ)।

कारण—अनेक वर्षों तक पशु-चिकित्सक इस बीमारी का कारण मोथा तथा तिपतिया घास समझते रहे हैं। हाउज़मन[1] (Hausmann) और सेलार्डस्[2] (Sellards) ने पता लगाया कि रक्त में कुछ पिगमेंट, विशेषकर हिमेटोपोरफाइरीन (लाह रहित हिमेंटिन) तथा कृत्रिम प्रतिदीप्ति (artificial flourecent) पदार्थ जीवित कोशाओं में प्रकाश के प्रति संवेदना उत्पन्न करते हैं। यूरुप में यह देखा गया कि जो पशु सफेद रंग के होते हैं अथवा जिनके शरीर पर सफेद धब्बे होते हैं उनको मोथा घास खिलाने से विषैले लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। कोफोड्ड[3] (Koefoed) ने मोथा से एक प्रतिदीप्त पदार्थ तैयार किया किन्तु सेलार्ड्स के अनुसार "यह परिणाम इस संभावना को समाप्त नहीं करते कि मोथा-विषाक्तता के कुछ लक्षण तीव्र ग्राहिता (anaphylaxis) के कारण होते हैं।" प्रयोगात्मक रूप से पशुओं में क्लारोफिल द्वारा विषैले प्रभाव उत्पन्न किए गए।

लेखक ने अपने चल-चिकित्सालय में, चरागाह पर चरने वाली गायों में त्वचा के सफेद भागों में कभी कभी हल्का चर्म—विगलन देखा और किसी हद तक यह घोड़ों में भी, विशेषकर चेहरे पर कुप्रभाव डालते देखा गया। कभी-कभी तिपतिया घास (स्वीडिश घास) के चरागाहों पर चरने वाले घोड़ों के पैर के सफेद भागों में इस रोग का भयंकर प्रकोप देखा गया। पैरों के निचले हिस्से में सफेद भागों पर दाने तथा सूजन होती है। कभी-कभी मुंह में छाले तथा घबराहट के लक्षण भी देखे जाते हैं। ऐसे कई रोगी फ्रोनर[4] (Frohner) द्वारा वर्णित हैं। मिनेसोटा में नेल्सन[5] (Nelson) तथा आस्ट्रेलिया में बुल[6] (Bull) ने इस रोग का वर्णन किया। आस्ट्रेलिया में त्वचा का थोड़ा भाग पिगमेंट से ढककर और यह देखकर कि धूप में खुला छोड़ देने से बिना ढके भाग पर दाने निकल आते थे, अति संवेदनशीलता का प्रदर्शन किया गया। न्यु-साउथवेल्स के एक स्थान में जहाँ कि त्रिपतकी त्वचा-शोथ भेड़ों में खूब होती थी डोड[7] (Dodal) ने गिनीपिगो को त्रिपतकी-घास खिलाकर तथा उन्हें धूप में रखकर, लाली, सूजन और त्वचा की खुजली आदि लक्षण उत्पन्न किए। उटह तथा निकटवर्ती प्रदेशों में सन् १९१४ में फ्रेडरिक[8] (Frederick.) ने भेड़ों में वर्णन किया। बसंत ऋतु में ठंडी रात के बाद दूसरे दिन

अधिक तेज धूप पडने पर तथा गरमी के प्रारम्भ में यह बीमारी एकाएक प्रकोप करती है। जघर[9] (Jungherr) ने बताया कि पश्चिमी टेक्सास में भेड़ तथा बकरियों में यह बीमारी एक प्रमुख समस्या है। यह एक पौध-विपाक्तता है जो पीलिया तथा यकृत के अपक्षय द्वारा पहचानी जाती है और यह एगेव लेचूगुइला (Agave lechuguilla) (अमरीका का एक रेगिस्तानी पौधा) तथा अन्य ऐसे पौधे खाने से उत्पन्न होती है। मैथ्यूज[10] के अनुसार लेचूगुइला-विपाक्तता में पशु की मृत्यु यकृत तथा गुर्दों के विषैले अपक्षय के कारण हुआ करती है। माहेना में डा० वेल्श द्वारा देखे गए एक समूह में जून माह के अत्यधिक गरम दिन पर ऊन काटने के बाद धूप में घूमने वाली भेड़ में क्षणिक अवसन्नता के बाद उसका सिर बढा हुआ तथा पीठ पर हल्की सड़न देखी गई। सुअरों में फीनोथायाजीन का प्रयोग यह बीमारी उत्पन्न कर सकता है, अत इस रसायन द्वारा चिकित्सा किए गए सुअरो को बाद में कम से कम तीन दिन तक धूप से बचाना चाहिए। 70 दिन से कम आयु के सुअरो को फीनोथायाजीन नही देनी चाहिए—स्वेल्स[11] (Swales)। फ्लोरिडा में एवरग्लैड्स के गदे मैदानो पर बरमुदा घास चरने वाले ढोरो में इस बीमारी का भयकर तथा प्राणघातक प्रकोप हुआ करता है।[14]

लक्षण—गाय तथा घोडो की त्वचा के सफेद भागो में हल्की सडन होने पर पहले सीरम निकलता है तत्पश्चात् बाल चिपक जाते है और बाद में रोग ग्रसित भाग पर खुरट बनकर छूटते हैं। प्राय. वहा अन्य कोई गडबडी नही होती यद्यपि कि नेल्सन[5] ने एक रोग ग्रसित गाय में बेचैनी, लार गिराना, मुंह में छाले तथा 105° फारेनहाइट बुखार के लक्षण देखे।

चित्र—53. प्रकाश-संवेदन। इसमें स्कन्ध तथा पीठ के क्षेत्र पर श्वेत चर्म का उखडना दिखाया गया है।

जैसा कि फोनर[1] ने वर्णन किया है तिपतिया-राग से पीडित घोडे में पीलिया, मुंह में छाले तथा अवसन्नता के साथ अचेतना के लक्षण मौजूद हो सकते हैं। वीलर[12] ने भेड़ों में इस रोग के ऐसे प्रकार का वर्णन किया है जिसमें मृत्युदर 25 से 90 प्रतिशत तक
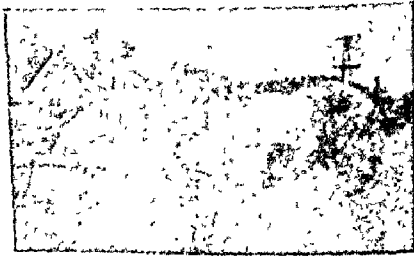
चित्र—51. प्रकाश-संवेदन। इसमें पीठ के ढके चर्म का परिगलन दिखाया गया है।

टेक्सास-कृषि-अनुसन्धान-केन्द्र (टेक्सास एग्रीकल्चरल एक्सपेरीमेंट स्टेशन) की सन् 1931 की रिपोर्ट में इस रोग के निम्न प्रकार लक्षण वर्णन किए गए : सिर की सूजन कान, नाक, गले तथा सिर के मुलायम भागों की शोथ द्वारा पहचानी जाती है। अधिकांश रोगियों में इसके साथ मुँह और आँखों की श्लेष्मल झिल्लियों तथा त्वचा में पीलिया भी हुआ करती है। इसकी अवधि लगभग 72 घंटे है। तत्पश्चात् सूजन धीरे-धीरे गायब होने लगती है तथा रोग-ग्रसित भागों की त्वचा सख्त पड़ जाती है। रोग-ग्रसित भेड़ को यदि कई मिनट तक धूप में रखा जाए तो वह अपनी पीठ मलाती, पिछले पैर के सहारे बैठती और अन्त में लेट जाती है। अधिकतर रोगी मर जाते हैं। न्यूजीलैंड में चेहरे की त्वचाशोथ, यकृत को क्षति पहुँचाकर, अनेक भेड़ों को मौत के घाट उतारती है।

जिन लोगों ने यह बीमारी पहले कभी नहीं देखी होती है उन्हें त्वचा के सफेद भागों की ऊपरी परिगलन का निदान करना कुछ कठिन मालूम पड़ सकता है। लेखक को ऐसी क्षतिग्रस्त त्वचा के नमूने के साथ कई पत्र मिले जिनमें लोगों ने इसके निदान के बारे में पूछ-ताछ की थी। गायों में इसे बिजली का गिरना तथा घोड़ों में फार्सी रोग (Farcy) निदान किया गया।

चिकित्सा—चारे अथवा चरागाह को बदल कर रोग के कारण को अलग कर देना चाहिए। रक्तवर्ण अथवा सूजे हुए भागों पर जिंक-आक्साइड युक्त तेल अथवा गन्धक डायोक्साइड और तेल मिलाकर लगाना चाहिए।

फ्लोरिडा में एवरग्लेड्स की रिपोर्टों के अनुसार[14], अभिकर्मक श्रेणी वाला (reagent grade) सोडियम थायोसल्फेट 1 औंस प्रति 100 पौण्ड शरीर भार अंतःशिरा इन्जेक्शन द्वारा अथवा व्यवसायिक श्रेणी वाला 2 औंस प्रति 100 पौण्ड शरीर-भार की मात्रा में मुंह द्वारा देने से आशातीत लाभ पहुँचाता है। इस प्रकार चिकित्सा किए गए पशुओं में 2 प्रतिशत से भी कम का ह्रास हुआ जबकि बिना चिकित्सा प्राप्त रोगियों में यह ह्रास 20 प्रतिशत था।

संदर्भ

1. Hausmann, Biochemische Zeitschrift, 1914, 67, 309.
2. Sellards, A. W., Investigations of tropical sunlight, with special reference to photodynamic action, J. Med. Res., 1918, 38, n.s., 293.
3. Koefoed, J. Med. Res., 1918, 38, n.s., 293 (296).
4. Frohner, E., Lehrbuch der Toxicologie, ed. 3, 1910, p. 347.
5. Nelson, C. A., Trifoliosis, J.A.V.M.A., 1926, 69, 333.
6. Bull, L. B., Notes on some biotic effects of light and photodynamic action, Aust. Vet. J., 1926, 2, 83.
7. Dodd, S., Trefoil dermatitis, J. Comp. Path. and Ther., 1916, 29, 47.
8. Frederick, H. J., Bighead in sheep, U.S.D.A., B.A. I., 1914.
9. Jungherr, E., Lechuguilla fever of sheep and goats ; a form of swell-head in West Texas, Cornell Vet., 1931, 21, 227.
10. Mathews, F. D., Lechuguilla (Agave lechuguilla) poisoning in sheep and goats, J.A.V.M.A., 1938, 93, 168.
11. Swales, W. D. et al., Can. J. Comp. Med. and Vet. Sci. 1942, 6, 169.
12. Theiler, A., Gleedikkop in sheep, Seventh and Eighth An. Reports, Dept. of Agr. Union of S. Africa, 1918, p. 1.
13. Quin, J. I., Studies in the photosensitization of animals in South Africa. I. Action of various phosphorecent dye-stuffs, onderstepoort J. Vet. Sci., 1933, 1, 459 ; Remington C., and Quin, J. I. VII. The nature of the photosensitizing agent in Gleedikkop, Ibid, 1934, 3, 137.
14. Florida Cattleman, May, 1950.

चर्म-विगलन

(Gangrene of the Skin)

कारण—प्रकाश-संवेदन तथा तापक्रम में एकाएक परिवर्तन के साथ होने वाले हल्के चर्म-विगलन के अतिरिक्त, कुछ छूतैली बीमारियों में भी त्वचा का परिगलन हो सकता है। इनमें से सूकर-कालरा, सूकर-खुजली, परप्यूरा तथा क्षयाक्षयता (नेक्रोबैसिलोसिस) प्रमुख हैं।

गायों में कभी-कभी ऐसा प्राथमिक चर्म-विगलन मिलता है जो मुखार्ति के साथ होने वाले इस रोग के प्रकार से काफी मिलता-जुलता है, फिर भी मुँह में क्षतस्थल नहीं दिखाई पड़ते। यह विगलन-क्रिया प्रारम्भ से ही होती है जो शरीर के किसी भी भाग पर प्रकोप कर सकती है। प्रारम्भ में त्वचा से पीले रंग का सीरम निकलता है और बाद में यह अपनी पूरी मोटाई में सख्त तथा चिकनी हो जाती है, यद्यपि कि यह प्रारम्भ से ही सूखी हो सकती

है। रोग-ग्रसित पशुओं की भूख नहीं लगती तथा दुधारू पशुओं का दूध कम हो जाता है। अधिक परिगलन होने पर पशु में निराशा तथा विषाक्तता जैसे लक्षण दिखाई पड़ते हैं। इसका कोर्स एक से तीन सप्ताह का है।

न उठ पाने वाले पशुओं में त्वचा का परिगलन, लगातार खरोंच के दवाव से उत्पन्न होने वाला एक विशेष प्रकार का चर्म-विगलन है। अम्ल तथा क्षार जैसे रासायनिक पदार्थ त्वचा में गहरी चोट पहुँचा कर परिगलन उत्पन्न कर सकते हैं। जब किसी मैदान अथवा बाड़े में बहुत से पशु एक साथ रहते हैं तो मिट्टी की छूत से पैरों का भीषण तथा विस्तीर्ण परिगलन हो सकता है। ऐसा बहुधा फौजी कैम्पों में रहने वाले घोड़ों में देखा जाता है।

चिकित्सा—अच्छे बिछावन की कमी तथा पशु की भलीभाँति देखभाल न हो पाने पर त्वचा में लगी हुई चोटें अधिक खतरनाक हो जाती हैं। निर्बल तथा थके हुए पशुओं में तो यह शीघ्र ही हालत को खराब कर देती हैं। रोगी पशु का भूसा अथवा सूखी घास बिछाकर गुदगुदा बिछौना देना चाहिए तथा दिन में उसे कम से कम चार बार पलटना चाहिए। बिछौने के लिए अन्य वस्तुएँ भी प्रयोग की जा सकती हैं। किन्तु, लकड़ी का महीन बुरादा, विशेषकर जबकि वह थोड़ा गीला हो, रोग-ग्रसित भाग से चिपक कर उसको और भी खराब कर देता है। औषधि के रूप में जिंक आक्साइड युक्त तेल अथवा मरहम का प्रयोग किया जा सकता है। रोग ग्रसित सतह यदि गीली हो तो उस पर खूब ऐंटिसेप्टिक पाउडर छिड़कना चाहिए। चर्म-विगलन में ऐल्कोहलिक सब्लिमेट के भीगे फाहे अच्छा काम करते हैं।

डौंडसा रोग
(Acne)
(ग्रीष्म-खुजली, ताप-मसूरी, स्वेद-एक्जिमा)

छोटे-छोटे दाने अथवा फुन्सियों के रूप में यह त्वचा की ग्रंथियों की पीवयुक्त अवस्था है। घोड़ों में जीन रखने के स्थान पर रगड़ अथवा धूल से पीव उत्पादक जीवाणु, विशेष कर स्टैफिलोकोकाइ, त्वचा की ग्रंथियों में प्रवेश पा जाता है। यह रोग खासतौर पर घोड़ा में अधिक होता है। पसीना, धूल तथा गर्म मौसम के सम्पर्क में आने के बाद जब घोड़ा पर भलीभाँति खरहरा नहीं किया जाता तो ये फुंसियाँ शरीर के किसी भाग पर निकल सकती हैं। पसीना तथा धूल आदि कारक इसके फैलाने में अधिक सहायक होते हैं।

लक्षण—बहुधा यह रोग छोटी-छोटी सुदृढ़ तथा दर्दयुक्त फुंसियों के रूप में घोड़ों में जीन रखने के क्षेत्र में प्रकोप करता है और इसके साथ पशु को एक्जिमा भी हो सकता है। जीन रखने के स्थान पर आधा से एक इंच व्यास के फफोलों के अतिरिक्त गर्दन तथा पीठ में भी फफोले पड़ सकते हैं। दवाव रहित स्थानों पर इन फफोलों की उपस्थिति यह सिद्ध करती है कि यह संक्रमण रक्त-संचार द्वारा भी हो सकता है। ऊपरी छोटी तथा हल्की फुंसियों को दवाने पर गाढ़ा-गाढ़ा पीव निकलता है। दूसरे दाने, जिन पर दवाव नहीं पड़ता उनमें थोड़ा सा पीव होता है जिसे चीरा लगाकर ही देखा जा सकता है। यदि इन दानों पर बराबर दवाव पड़ता रहे तो संक्रमण और अन्दर पहुँच कर फोड़ा का रूप धारण कर लेता है। इसका सामान्य उदाहरण गर्दन की ऊपरी सतह पर गल-पट्टे से उत्पन्न नासूर है।

रोग-ग्रसित भाग के निकट त्वचा की गर्म तथा दर्दयुक्त सूजन के साथ इसका उग्र हो सकता है, अथवा यह रोग दीर्घकालिक और बार-बार प्रकोप करने वाला हो स है। नियमानुसार यह अवस्था स्थानीय है, किन्तु यह खूब फैल सकती है। भली इलाज करने पर एक से तीन सप्ताह में पशु ठीक हो जाता है।

चिकित्सा—पशु से काम न लेना सबसे आवश्यक उपचार है। रोगी को f लिखित आर्सेनिक युक्त औषधियाँ दी जानी चाहिए : फाउलर घोल (Fowler's so ion) 1 से 2 औंस (30–60 ग्राम) नित्य; नियोआर्सफेनामीन (2 ग्राम) अंत: इंजेक्शन द्वारा देकर 4 दिन में दोहराया जाए। रोग-ग्रसित भाग पर लगाने के लिए स सिलिक एसिड मरहम (5 प्रतिशत) अथवा जीवाणु नाशक ऐल्कोहलिक घोल का प्र करना चाहिए : उदाहरणार्थ; ऐल्कोहलिक सब्लिमेट 1:1000 (500 घ० सें०), टै एसिड (30 ग्राम) और पायोकटैनिन (1 ग्राम)। भलीभाँति जीन न रखने से उ ताजी चोट, पहले एक-दो घंटे तक बर्फ की पट्टी देकर, तत्पश्चात् ऐल्कोहलिक सब्लिमेट ड्रेसिंग से ठीक की जा सकती है। फफोलों को चीरकर तथा उनका मल निकाल टिंचर आयोडीन लगाना चाहिए। निम्नलिखित ऐंटिसेप्टिक पाउडर, जो बालों की का संक्रमण दूर करने के काम आता है, इस रोग में भी प्रयोग किया जा सकता तूतिया 3 औंस (90 ग्राम), पिसी हुई फिटकरी 2 औंस (60 ग्राम), टैनिक ए 2 ड्राम (8 ग्राम) तथा लकड़ी का कोयला 1 औंस (30 ग्राम)। कभी-कभी फफ से प्राप्त स्टैफिलोकोकाइ जीवाणुओं से तैयार किया गया वैक्सीन काफी गुणकारी होता है।

दद्रु

(Ringworm)

(ट्राइकोफाइटोनता)

परिभाषा—फंगस ट्राइकोफाइटॉन (Trichohyton) द्वारा उत्पन्न होने व यह एक छुतैला चर्मरोग है जो गोल तथा परिगत खुरंट युक्त क्षतस्थलों द्वारा पहचाना ज है। युवा पशुओं में आँखों तथा कानों के क्षेत्र में इसका खासतौर पर प्रकोप होता है।

कारण—बड़े पालतू पशुओं में यह रोग गो-पशुओं में अधिक पाया जाता है, यद्यपि यह घोड़ों तथा अन्य पशुओं में भी प्रकोप कर सकता है। बहुधा यह पशुओं से मनुष्यों लगता है। अँधेरे तथा नमीयुक्त बाड़ों में बाँधे जाने वाले छोटे बछड़े इसके प्रति अ ग्रहणशील होते हैं किन्तु, यह आदर्श परिस्थितियों में रखे गए पशुओं में भी होते देखा है। कुछ वर्षों में यह अधिक ग्राह्य होकर उस क्षेत्र के समस्त गो-पशुओं में प्रकोप करता चरागाह पर चरने वाले युवा पशुओं में भी यह खूब प्रकोप कर सकता है। किन्तु बाड़ रहने वाले पशुओं को यह अधिक लगता है। वैसे तो यह वर्ष में किसी भी समय फैल सक है, किन्तु पतझड़ और जाड़ों में अधिक होता है। इसकी छूत परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष रूप सम्पर्क में आने से लगती है। एक पशु से दूसरे पशु में यह धीरे-धीरे फैलता है। जब ही बाड़े में कई बछड़े पास-पास रहते हैं तो इसकी छूत शीघ्र लगती है।

ट्राइकोफाइटॉन—क्षतस्थलों में यह फगस धागे तथा गोल स्पोरो के रूप में बहुतायत से पाया जाता है। ये प्राय बालों की जड के चारों ओर निवास किया करते हैं। इसके स्पोर गोल होते हैं तथा माइक्रॉस्कोप में तेजी से प्रकाश को आवर्तित करते हैं। क्षतस्थलों को सूखा रखने पर यह अठारह माह तक जीवित रह सकते हैं।

लक्षण—रोग का उद्भवन-काल लगभग एक सप्ताह का है। आँखों तथा कानों के चौतरफा विशेष प्रकार के गोल-गोल चकत्ते प्रकट होते हैं। इनका आकार 0.5 से 2 इच व्यास का और सतह धूसर, शुष्क तथा पपडीयुक्त होती है जिनमें से कुछ टूटे हुए बाल उगे रहते हैं। ऐसे ही क्षतस्थल प्राय ग्रीवा पर पाए जाते हैं और यह शरीर के किसी भाग पर प्रकट हो सकते हैं। कुछ वर्षों में, जब रोग खासतौर पर प्रकोप करता है, शरीर पर अनेक स्थानों में ऐस्बेस्टास की भाँति गोल क्षतस्थल विकसित हो जाते हैं। इन पर उगे हुए बाल काले अथवा सफेद रग के होते हैं। नियम के अनुसार युवा यूथ के कुछ ही पशुओं तक यह रोग सीमित रहता है। लापरवाही करने पर यह यूथ के अधिकाश पशुओं में फैल सकता है। गायों में यह रोग बाल तथा पपड़ी अथवा खुरट रहित नगे चकत्तो के रूप में पूँछ के निकट नितम्ब क्षेत्र में दिखाई पड़ सकता है।

विशिष्ट क्षतस्थलो के लक्षणानुसार इस रोग का आसानी से निदान किया जा सकता है। नए क्षतस्थल के किनारे से गहरी छीलन लेकर माइक्रॉस्कोप में देखने से गोल स्पोर तथा सूत्राकार माइसीलिया दिखाई पडते हैं। क्षतस्थल का प्रत्येक बाल मोटे आवरण से ढका हुआ हो सकता है। एक विशिष्ट नगे क्षतस्थल में स्पोर तो मिल जाते हैं किन्तु फगस का मिलना कठिन होता है। प्राप्त छीलन को 10 प्रतिशत कास्टिक पोटास में उबालकर, उसमें उपस्थित वसा को आसानी से अलग किया जा सकता है।

फलानुमान—दाद में चिकित्सा से शीघ्र लाभ होता है; किन्तु इसके भयकर प्रकोप में, जब यह पूरे शरीर पर फैलता है, लगातार इलाज करना जरूरी है।

चिकित्सा—वे जीवाणुनाशक पदार्थ जो खुरट के अन्दर प्रवेश कर जाते हैं, उनके प्रयोग से यह फगस शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। इस प्रयोजन के लिए अनेक ओषधियाँ प्रयोग की जा चुकी हैं, किन्तु लेखक ने निम्नलिखित नुस्खे से अधिक प्रभावकारी किसी को भी नहीं पाया : सल्फर आयोडायड 1 भाग, हल्का बिनौले का तेल अथवा जैतून का तेल 8–10 भाग तथा इसको 10 प्रतिशत शक्ति का बनाने के लिए शेष फार्मएल्डीहाइड घोल। सल्फर आयोडायड बनाने के लिए, 20 भाग गधक लेकर 80 भाग आयोडीन के साथ खूब घोटिए। इसका एक बोतल में भरकर तब तक ऊष्मक जलपात (water bath) पर रखिए जब तक कि दोनों सयोजित न हो जाएँ। तेल को 1 8–10 के अनुपात में तत्काल मिलाया जा सकता है। अथवा ठडा करने के बाद बोतल तोड़कर सयोजित पदार्थ निकालकर पीस लीजिए और तब उसमें तेल मिलाइए। रोगग्रसित भाग पर टिंचर आयोडीन नित्य लगाया जा सकता है। मनुष्यों में, दाद की चिकित्सा के लिए एल्कोहल में सैलिसिलिक एसिड का सपृक्त घोल सर्वोत्तम है। एल्कोहलयुक्त सब्लिमेट (1–2 प्रतिशत) इसमें अधिक लाभदायक है। खुरट के मोटा होने पर तैलीय ऐंटिसेप्टिक अथवा मरहम उसके वसा को मुलायम बनाकर शीघ्र ही अन्दर प्रवेश

ट जाते हैं। औसत दर्जे का रोगी गंधक के मरहम अथवा गंधकयुक्त तेल के प्रयोग से घ्र ठीक होने लगता है। भिटफील्ड मरहम (सैलिसिलिक एसिड 1 ग्राम, बेंजोइक एसिड ग्राम, पेट्रोलैटम 300 ग्राम), अथवा पिकरिक एसिड (एल्कोहल में 2 प्रतिशत) इस मारी में प्रयोग होने वाले अन्य उपयोगी ऐंटिसेप्टिक पदार्थ हैं। डेरिस पाउडर 1 पौण्ड 500 ग्राम), साबुन की छीलन 1/4 पौण्ड (125 ग्राम), और पानी 1 गैलन (4000 घ० ०) दाद की चिकित्सा में लाभदायक है। सोडियम आयोडायड (10 से 15 ग्राम 100 से 00 घ० सें० पानी में) का अंतः शिरा इन्जेक्शन भी दिया जा सकता है। पानी में 1:40 अनुपात में सूखा चूना-गंधक भी लाभप्रद है। लीस[1] (Lies) ने सोडियम कैप्राइलेट mycoban) के 20 प्रतिशत घोल को प्रत्येक दो या तीन दिन के अवकाश पर पाँच बार छिड़कने की राय दी है।

संदर्भ

1 .Lies, G. W., Problems in handling feeder cattle, J.A.V.M.A., 1949, 115, 458.

खाज

(Mange)

(कच्छु; खुजली; एकैरिआसिस)

माइट द्वारा उत्पन्न होने वाली खुजली एक विशिष्ट छुतैली बीमारी है। खुजलाहट तथा बालों के ह्रास के साथ त्वचा पर एक्जिमा की भाँति क्षतस्थल होना इसका प्रमुख लक्षण है। माइट के प्रकार तथा रोग-ग्रसित पशु की जाति के अनुसार इसके लक्षण भिन्न हो सकते हैं। सारकोप्टेस, सोराप्टेस तथा कोरिआप्टेस, खुजली के माइट के तीन प्रमुख वंश हैं। इन्हीं के आधार पर खुजली भी तीन प्रकार की होती है: (1) सारकोप्टिक खुजली जो त्वचा में घुसने वाले माइट सारकोप्टेस स्कैबिआइ द्वारा उत्पन्न होती है, (2) सोराप्टिक खुजली, जो त्वचा पर काटकर खून चूसने वाले माइट सोराप्टेस कम्युनिस द्वारा उत्पन्न होती है। ये माइट त्वचा के अन्दर नहीं घुसते, (3) कोरिआप्टिक खुजली, जो कोरिआप्टेस बोविस नामक माइट के काटने से उत्पन्न होती है। यह माइट केवल त्वचा की सतह पर रहते हैं, किन्तु न काटते, न अन्दर घुसते और न रक्त ही चूसते हैं।

1. सारकोप्टिक और कोरिआप्टिक खुजली

(Sarcoptic and Chorioptic Mange)

कारण—सारकोप्टिक खुजली अधिक भयंकर, बहुवितरित तथा खाज का एक प्रमुख प्रकार है। प्रथम महायुद्ध के समय यूरुप के फौजी घोड़ों में इसका भीषण प्रकोप हुआ था। यूनाइटेड स्टेट्स में गो-पशुओं की अपेक्षा यह घोड़ों में कम होती है तथा उत्तरी अमेरिका के घोड़ों में खुजली का केवल यही प्रकार अधिक होता वर्णन किया गया है। गोपशुओं में इसका प्रकोप किसी भी क्षेत्र में अधिक हो सकता है। सन् 1925 में न्यूयार्क में यह 6 प्रदेशों में तथा सन् 1946 में 31 प्रदेशों में होती बताई गई जबकि पशुओं की यह एक महत्वपूर्ण बीमारी मानी जाती थी।[3] सन् 1927 में आइमेस[1] (Imes) ने लिखा कि गो-पशुओं में सारकोप्टिक खुजली मिसौरी नदी के पूर्वी तथा पश्चिमी क्षेत्रों में फैलती हुई मालूम दी।

यूरप में भी यह अधिक फैलती बताई गई है। कोरिआप्टिक खुजली पहले बहुत ही कम होने वाली बीमारी समझी जाती थी जो घोड़ों के पैरों के क्षेत्र तथा गायों में पूँछ की जड़ तक सीमित रहती थी। अभी कुछ वर्षों से यह देश के विभिन्न भागों में गो-पशुओं की खुजली के साथ अकेली तथा सारकोप्टिक माइट के साथ लगातार पाई गई है। पिछले तीन वर्षों से न्यूयार्क स्टेट में यह सारकोप्टिक प्रकार से अधिक व्यापक रही है। इसका माइट न तो काटता है और न त्वचा के अन्दर घुसता है। इस देश के सुअरों में सारकोप्टिक खुजली अधिक होती है और इसका प्रकोप बढ़ता हुआ कहा जाता है। सन् 1948 में नेब्रास्का तथा आयोवा में सुअरों के आधे से अधिक यूथों में इसका संक्रमण होते बताया गया। भेड़ों में सारकोप्टिक खुजली अपेक्षाकृत हल्के रूप में तथा कम होती है। यह होंठ, चेहरा तथा पैरों के उन भागों पर अधिक तेजी से प्रकोप करती देखी जाती है जहाँ पर अधिक बाल नहीं होते। ऊँटों में इसका प्रकोप घोड़ों तथा गो-पशुओं की भाँति ही होता है। नियम के अनुसार यह एक जाति के पशुओं से दूसरी जाति के पशुओं में शीघ्रता से नहीं फैलती।
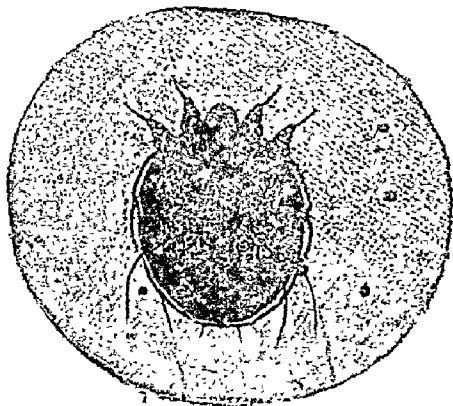
चित्र—55. सारकोप्टिक खुजली का माइट (वेन्ड्रक, वेटेनरी प्रैक्टीशनर्स बुलेटिन, 1929, 27, 48 आयोवा स्टेट कालेज, ऐम्स)।

घोड़ों से गो-पशुओं को यह हल्के प्रकार में लगकर एक पशु से दूसरे में फैलती है। विभिन्न प्रजातियों में इसका शीघ्र फैल जाना इस तथ्य से सिद्ध होता है कि सन् 1915 में पश्चिमी विर्जीनिया में इस रोग से पीड़ित 13 घोड़े, 3 खच्चर, 52 गो-पशु तथा 32 मनुष्यों का इलाज किया गया। फौजी घोड़ों से सिपाहियों में लेखक ने यह रोग कभी भी फैलते नहीं देखा यद्यपि कि वे महीनों तक उनके इलाज में संलग्न रहे। किन्तु, कालेज के चिकित्सालय

में लाए गए एक खुजली से पीड़ित घोड़े से लेखक ने इस रोग को विद्यार्थियों तथा परिचारकों में शीघ्र फैलते हुए पाया।

यह रोग जाड़ों में अधिक प्रकोप करता है। विशेषतौर पर इसका संक्रमण उस समय अधिक होता है जब पशुओं को एक साथ अँधेरे घरों में बाँधा जाता है। समुचित प्रकाश तथा सुव्यवस्थित देखभाल के बाद भी यह रोग पशुशाला में रहने वाली गायों में किसी भी ऋतु में खूब प्रकोप कर सकता है। युवा तथा कुपोषित पशुओं में यह शीघ्र फैलता कहा जाता है, किन्तु इसका प्रमुख कारण स्वस्थ तथा रोग-ग्रसित पशुओं में संपर्क होना है।

माइट—सारकोप्टेस स्कैबिआइ प्रत्येक जाति के लिए सारकॉप्टिक माइट विशेष प्रकार का होता है, इस प्रकार सारकाप्टेस स्कैबिआइ अश्व जातीय, सा० स्कैबिआइ गो-जातीय आदि इसकी विभिन्न किस्में हैं। प्रौढ़ माइट गोल अथवा थोड़ा अण्डाकार होता है। अपनी आकृति में यह कुछ-कुछ घोड़े की नाल की भाँति होता है। इसके शरीर में, वक्ष तथा उदर के मध्य कोई विभाजन नहीं होता। इसकी लम्बाई 0.3–0.5 मि० मी० तथा रंग कुछ-कुछ बादामी अथवा पीला होता है। प्रौढ़ माइट में चार जोड़ी पैर होते हैं जिनमें चूषक (suckers) लगे होते हैं। युवा माइट में केवल तीन जोड़ी पैर ही पाए जाते हैं। यह कीट त्वचा में छेद बनाता है और इस छिद्र में मादा कीट रहता है। अण्डे देने के समय प्रत्येक मादा 8 से 25 अण्डे देती है जो लगभग दो सप्ताह तक रहते हैं और अगले दो सप्ताह में परिपक्व हो जाते हैं। पशु के शरीर से अलग कर देने के बाद माइट तथा उनके अण्डे

चित्र—56 सारकाप्टिक खुजली से पीड़ित गाय।

केवल दो से तीन सप्ताह तक जीवित रहते हैं। यद्यपि कि खुजली की छूत प्रायः प्रत्यक्ष रूप से ही लगती है फिर भी, यह दूषित स्थानों से भी लग सकती है। कोरिओप्टेस गो-जातीय प्रकार का माइट अपने आकार में सारकाप्टिक माइट से मिलता-जुलता है।

लक्षण—सभी जाति के पशुओं में खुजली के लक्षण एक जैसे तथा विशेष प्रकार के होते हैं। गो-पशुओं में इसका आक्रमण चेहरे, गर्दन तथा आँखों के चारों ओर [illegible]

के साथ होता है। कुछ ही समय में छोटे-छोटे छालेयुक्त बालरहित धब्बे दिखाई देने लगते हैं। रूसी प्राय: अधिक होती है। सांड़ों में इसका प्रकोप प्रजनन करते समय हो सकता है जहाँ यह जाँघों की अन्दरूनी सतह अथवा उदर-तलों पर विकसित होता है। कुछ सप्ताहों बाद त्वचा मोटी पड़कर झुर्रीदार हो जाती, उस पर के बाल उड़ जाते तथा पूरे शरीर पर एक्जिमा की भाँति चकत्ते से पड़ जाते हैं। घोड़ों में खुजली प्राय: सिर, ग्रीवा तथा कंधों से प्रारम्भ होती है किन्तु वह शरीर, कोख अथवा जाँघों पर भी पहले दिखाई पड़ सकती है। अत्यधिक खुजली के कारण घोड़ा अपना शरीर रगड़ता है। उसकी त्वचा पर यत्र-तत्र साफ चकत्ते दिखाई पड़ते हैं और परीक्षण करने पर फफोले तथा पिटिकाएँ (papules) मिलती हैं। पशु की सामान्य दशा तथा त्वचा की देख-भाल के अनुसार यह खुजली धीरे-धीरे
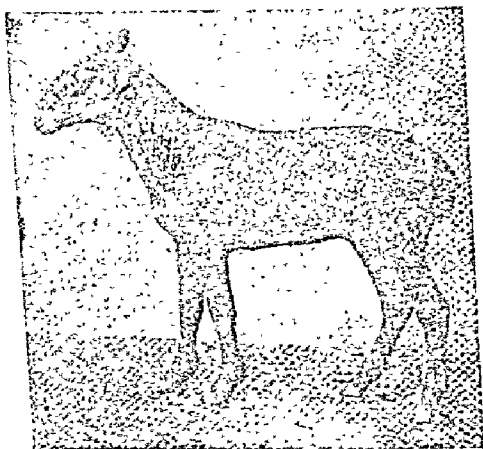
चित्र—57. सारकोप्टिक खुजली से पीड़ित घोड़ी।

अथवा शीघ्र फैलती है। दो या तीन सप्ताह की अवधि में यह पूरे शरीर पर फैल सकती है। कुछ ही समय में बालों में चोकर जैसी रूसी पड़ जाती है और नमी के कारण कहीं-कहीं पर बाल परस्पर चिपके दिखाई पड़ते हैं। अंत में पूरे शरीर पर से बालों का ह्रास हो जाता, त्वचा मोटी पड़ कर उसमें मोटी-मोटी झुर्रियाँ पड़ जाती तथा वह पपड़ी एवं छालों से आच्छादित हो जाती है। यह चिकनी तथा सख्त हो सकती है और जहाँ से पपड़ी छुड़ाई जाती है (विशेषकर नितम्बों पर), वहाँ रक्त निकलता है। माइट को नष्ट करने के बाद भी त्वचा की चमड़े जैसी अवस्था सप्ताहों तक बनी रह सकती है। जिन बाड़ों अथवा

घुड़सालों में अधिक भीड़ रहती है वहाँ के सभी पशुओं में इस रोग का आक्रमण हो सकता है और यदि चिकित्सा न की गई तो बीमारी शीघ्र ही भयंकर रूप धारण कर लेती है।

सुअरों में, सा० स्कैबिआइ सूकरजातीय माइट द्वारा उत्पन्न होने वाली खुजली नाक, कान अथवा आँखों के चारों ओर शुरू हो सकती है, यद्यपि कि यह पैरों तथा शरीर के निचले भागों में अधिक होती है। अपनी सामान्य दिखावट में यह अन्य पशुओं की खुजली से मिलती-जुलती है। पास-पास बँधे पशुओं में यह शीघ्र फैलती है तथा ऐसा कहा जाता है कि गर्मियों में धूप में रखे गए स्वस्थ पशुओं में इसका प्रकोप नहीं होता।

निदान—ताजे क्षतस्थल से गहरी छीलन लेकर माइक्रॉस्कोप में देखने से रोग का सही निदान किया जा सकता है। छीलन को सोडियम हाइड्राक्साइड के 5 प्रतिशत घोल में उबालकर माइक्रॉस्कोप के कम शक्ति वाले लक्षक काँच (low power objective) में देखा जाता है। इसमें माइट अथवा अण्डों की उपस्थिति इसके सही निदान का सूचक है। चिकित्सा किए गए पशुओं में बार-बार माइक्रॉस्कोपिक परीक्षण करने पर भी कभी-कभी अण्डे तथा माइट नहीं मिलते। ऐसी परिस्थितियों में सम्पर्क में आकर छूत फैलने, खुजलाहट, तथा त्वचा के विशिष्ट क्षतस्थलों द्वारा इसका निदान सम्भव है। मक्खियों को भगाने वाले पदार्थों का लगातार प्रयोग भी घोड़ों में खुजली जैसे क्षतस्थल उत्पन्न कर सकता है। इसमें माइट नहीं पाए जाते। शरीर के विभिन्न भागों पर बालों का ह्रास इसमें खुजली की अपेक्षाकृत जल्दी-जल्दी होता है तथा यह वर्ष के उस मौसम में होता है जब खुजली प्रायः निष्क्रिय रहती है। उग्र एक्ज़िमा जैसे क्षतस्थल त्वचा के अधिकांश भागों पर एकाएक प्रकट होते दिखाई देते है जबकि खुजली में यह कुछ स्थानों पर प्रकट होकर धीरे-धीरे अपना विकास करते हैं। अति किरैटिनीकरण (hyper keratosis) को भी खुजली निदान किया गया है और डा० बेकर[3] लिखते हैं कि "कई यूथों में खुजली तथा त्वचा शोथ के अनेक ऐसे रोगी देखे गए जिनमें रोग के कारण का पता ही न लग सका।"

चिकित्सा—गो-पशुओं में खुजली की चिकित्सा में पहले प्रयोग होने वाली औषधियों को 99 प्रतिशत गामा समावयव (gamma isomer) युक्त बेन्जीन हाइड्रोक्लोराइड (BHC) ("लिंडेन") द्वारा हटा दिया गया है। जैसा कि न्यूयार्क स्टेट प्रोग्राम में खुजली के कंट्रोल हेतु प्रयोग होता तथा कार्नेल विश्वविद्यालय[4] द्वारा स्वीकृत है, यह 1.5 पौण्ड 25 प्रतिशत लिंडेन का घुलनशील पाउडर प्रति 100 गैलन पानी, अथवा 0.046 प्रतिशत लिंडेन स्प्रे का बना होता है। एक सप्ताह से लेकर 10 दिन के अवकाश पर इसका दो बार प्रयोग किया जाता है। इस कार्य के लिए ऐसा द्रव-चालित दवा छिड़कने वाला उपकरण होना चाहिए जिसमें 350 पौण्ड दबाव तथा प्रति मिनट 7–10 गैलन द्रव निकालने की क्षमता हो। प्रचालक को दवा छिड़कते समय इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि पशु के शरीर का कोई भी भाग बिना छिड़के छूट न जाए और उसे प्रति पशु कम से कम दो गैलन दवा छिड़कनी चाहिए। नॉजल उपकरण, 1/2 इंची तामचीनी के पाइप की पौन फुट लम्बी छड़ का बना होता है। इसमें दो नॉजल एक कतार में इस प्रकार लगे रहते हैं कि एक छड़ के अन्तिम सिरे पर और दूसरा सिरे से लगभग आठ इंच पर हो।

छड में इनको लम्बवत लगाया जाता है। होज लाइन में जहाँ पर छड लगती है एक कुडा होना चाहिए जिससे कि छड का किसी भी ओर आसानी से मोड़ा जा सके।

"ऐसा पता लगाया गया है कि उपयुक्त लिंडेन की मात्रा में यदि 10 पौण्ड घुलनशील गंधक मिला दी जाए तो इससे केवल लिंडेन के प्रयोग की अपेक्षाकृत और भी अच्छे परिणाम प्राप्त होते हैं। लिंडेन से तीन-चार माह का कंट्रोल होता है जबकि लिंडेन एवं गंधकयुक्त मिश्रण से वर्ष के सभी मौसमों के लिए कंट्रोल हो जाता है। इनसे रोग समूल नष्ट होता है अथवा नहीं, यह तभी जाना जा सकता है जब चिकित्सा के एक वर्ष बाद परीक्षण किया जाए"।

"यद्यपि कि साहित्य में यह कहा गया है कि लिंडेन की 0.05 मात्रा तक से बहुत ही छोटे बछड़ों की मृत्यु हो सकती है किन्तु, न्यूयार्क में 0.046 की मात्रा में लिंडेन के प्रयोग से बिना कुपरिणाम के सैकड़ों बछड़े ठीक किए जा चुके हैं।"

"यह तथ्य कि अनेक पशु जिनका जाड़े के प्रारम्भ में इलाज किया गया और जो आने वाले वर्ष की पहली तिमाही में रोगोन्मुक्त मालूम दिए किन्तु मार्च-अप्रैल के अंतिम भाग में उन्होंने संक्रमण प्रदर्शित किया, यह प्रदर्शित करता है कि हमारी चिकित्सा के वर्तमान ढंग से इस बीमारी का उन्मूलन नहीं हो सकता। इस बात से सभी सहमत हैं कि चिकित्सा बहुत अच्छी थी क्योंकि इससे जाड़ों में होने वाले खाज के प्रकोपों की रोकथाम हुई और साथ ही इस इलाज ने रोगी पशुओं के सम्पर्क में रहने वाले मनुष्यों का इसकी छूत लगने से बचाया।[3]"

"सन् 1950 में दवा छिड़के गए पशुओं का लगातार परीक्षण करने पर यह ज्ञात हुआ कि उस यूथ में जिसमें कि दोनों बार ०.०७५ प्रतिशत औषधि-घोल छिड़का गया, केवल दो बार दवा छिड़कने से ही स्थायी रूप से रोग ठीक हो गया।[5]

दुधारू गायों में क्लोर्डेन का प्रयोग स० रा० खाद्य तथा औषधि प्रशासन (U.S. Food and Drug Administration) द्वारा वर्जित है।

सुअरों में खाज की चिकित्सा—सन् 1948 में स्पेंसर[6] (Spencer) ने क्लोर्डेन के प्रयोग से सुअरों में सारकोप्टिक खुजली की सफल चिकित्सा रिपोर्ट की। इसमें क्लोर्डेन का 0.25 प्रतिशत घोल प्रयोग किया गया था, जिसे 500 घ० सें० 74 प्रतिशत पायस बनने योग्य सान्द्रण को 50 गैलन ठंडे पानी में मिलाकर बनाया गया। प्रति पशु एक से दो क्वार्ट की मात्रा में इस औषधि को 50 से 150 पौण्ड दबाव पर दवा छिड़कने वाली मशीन से छिड़का गया। परीक्षणों से यह पता चला कि 0.26 प्रतिशत क्लोर्डेन घोल के एक बार भलीभाँति लगाने से सुअरों की सारकाप्टिक खुजली बिल्कुल ठीक हो जाती है। "प्रति 100 गैलन पानी में 4 पौण्ड भीगने योग्य पदार्थ (0.25 प्रतिशत सक्रिय पदार्थ युक्त) के अनुपात में लिंडेन (lindane) का प्रयोग सुअरों के माइट नष्ट करने का प्रभावकारी ढंग है।[7] 0.13 या 0.15 अथवा 0.26 प्रतिशत गामा समावयव युक्त बी एच सी (BHC,) स्प्रे का एक बार भलीभाँति प्रयोग करने से सुअरों की सभी प्रकार की खुजली समूल नष्ट हो जाती है।[8]

संदर्भ

1. Imes, M., Cattle Scab and Methods of Control and Eradication, U.S.D.A., Farmer's Bull. 1017, 1927.
2. Nineteenth An. Rep., U.S. Livestock San. Asso., 1915, p. 181.
3. Baker, D. W., and Howe, I. G., Cattle mange in New York state, J.A. V.M.A., 1950, 116, 280.
4. Schwardt, H. H., Control of Insects and Mites on Livestock in New York, New York State College of Agr., Dept., of Entomology (mimeograph report Jan. 1952) ; J. Economic Entomology, 1952, 45 : (1) : 122.
5. U. S. BAI Rep., 1951, p. 54.
6. Spencer, W. T., Sarcoptic swine mange control tests with chlordane, J.A. V.M.A., 1948, 113, 153.
7. U. S., BAI Rep., 1950, p. 64.
8. Cobbett, N. G. et al., Vet. Med., 1948, 43, 407.

2. सोराप्टिक खुजली

(Psoroptic Mange)

(भेड़ों की खाज, गोपशुओं की खाज, सामान्य खुजली)

कारण—यूनाइटेड स्टेट्स में सोराप्टिक खुजली की प्रमुख प्रकार भेड़ों में होती है और इस देश में भेड़ों में खुजली का केवल यही प्रकार प्रकोप करता मालूम पड़ता है। पश्चिम के भेंड़ पालने वाले प्रान्तों में भूतकाल में खुजली से काफी क्षति हुई है और इस विषय पर अनेक राजकीय पत्रिकाएँ भी प्रकाशित की जा चुकी है।[1] सन् 1920 में हाल[2] ने अलगाव की विधि अपनाकर तथा औषधियुक्त पानी के तालावों में रोगी पशु को डुबोकर स्नान कराने से यूनाइटेड स्टेट्स के अधिकांश भागों से यह रोग नष्ट होते बताया। अब थोड़े से भाग में रोग का संक्रमण यत्र-तत्र फैला होने के कारण इसका उन्मूलन करना एक समस्या है। कभी-कभी पश्चिम से लाई गई खुजलीयुक्त भेंड़ें न्यूयार्क स्टेट के व्यक्तिगत यूथों में इसकी छूत फैलती देखी गई है। सन् 1930 में जाड़े की ऋतु में टाम्पकिंस प्रदेश में इस रोग से ग्रसित एक अति संक्रमणित यूथ पाया गया। सन् 1943 के जाड़े में न्यूयार्क स्टेट के पश्चिमी भाग के कई क्षेत्रों में भेड़ों में खुजली की भयंकर छूत फैलने के कारण अलगाव की नीति लागू की गई।

सन् 1952 में न्युसम ने लिखा कि "प्रदेश तथा स्वास्थ्य विभाग के कुशल कर्मचारियों के सुरुचिपूर्ण कार्य तथा भेड़ों को औषधियुक्त तालावों में डुबोने के अधिनियमों द्वारा इस बीमारी का लगभग उन्मूलन सा हो गया है। फिर भी, किसी प्रकार पिछले दो या तीन वर्षों से यह दक्षिणी तथा मध्य पश्चिमी क्षेत्रों में पुनः प्रकोप करती देखी गई है।"

गोपशुओं में सोराप्टिक खुजली का इतिहास अधिकतर भेड़ों जैसा ही होता है। यूनाइटेड स्टेट्स के पश्चिमी भागों के मैदानी पशुओं में यह एक भयंकर बीमारी के रूप में
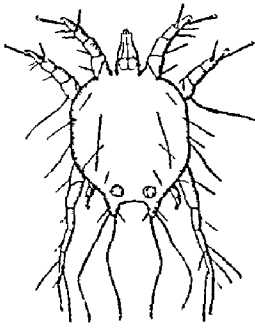
चित्र—58. सोराप्टिक खुजली का माइट (फिच, न्यूयार्क स्टेट वेटेनरी कालेज की वार्षिक रिपोर्ट, 1916-17)।

प्रकोप कर चुकी है, किन्तु अलगाव तथा औषधियुक्त पानी में डुबोने की विधि द्वारा इसे काफी कम किया गया है और अब यह पश्चिम के कुछ बिखरे क्षेत्रों तक ही सीमित रह गई है। सन् 1942 में इथाका, न्यूयार्क में गायों के दो यूथों में डा० बेकर[4] ने सोराप्टिक खुजली के माइटों को पहचाना। इस देश के घोड़ों में भी सोराप्टिक खुजली होती कही जाती है, किन्तु लेखक को इसका रिकार्ड किया हुआ एक भी रोगी न मिला। फिर भी यह असंभव सा है कि पश्चिमी प्रदेश के सभी घोड़े इससे बिल्कुल ही वंचित रहे हों। पशु उद्योग ब्यूरो के प्रपत्र (बी० ए० आई० सर०) सं० 148[5] में यह कहा गया है कि यह बीमारी सारकोप्टिक खुजली की अपेक्षाकृत सभी घोड़ों के लिए अधिक संक्रामक है। पशु की प्रत्येक जाति में विभिन्न प्रकार की सोराप्टिक खुजली होती है और घोड़े, गधे अथवा खच्चर में होने वाली किस्म ऊँट को छोड़कर अन्य पशुओं को नहीं लगती। सोराप्टिक माइट द्वारा सुअर आक्रमणित नहीं होते।

माइट सोराप्टेस कम्युनिस, वार० ओविस (भेंड़ जातीय) : प्रौढ़ सोराप्टिक माइट (चूषक माइट) का शरीर अण्डाकार तथा लम्बाई 0.5 से 8.0 माइक्रान होती है। इसका रंग सफेद अथवा हल्का पीलापन लिए हुए होता है तथा काली सतह पर रखने से इसे नंगी आँख अथवा हाथ वाले शीशे से देखा जा सकता है। इसका सिर लम्बा और नुकीला होता है तथा सिर एवं चारों जोड़ी पैर सारकोप्टस माइट की अपेक्षाकृत शरीर के पीछे काफी आगे तक निकले रहते हैं। इसका संपूर्ण जीवन-चक्र होस्ट पर ही पूरा होता है। मादा, त्वचा पर अण्डे देती है और 1 से 5 दिन में इनसे माइट निकल आते हैं। 10-12 दिन में युवा माइट परिपक्व होकर अण्डे देने लगते हैं। प्रौढ़ कीट होस्ट पर 30 से 40 दिन तक जीवित रहता है तथा कमरे के तापक्रम पर गीले जार में यह 10 दिन से अधिक जीवित नहीं रह सकता। सोराप्टिक माइट एपिडर्मिस (बाह्य त्वचा) में घुसकर लिम्फ चूसता तथा थोड़ी सी सूजन उत्पन्न करता है जिसमें से सीरस निकल कर खुरंट बन जाता है। भेंड़ों में यह रोग अति संक्रामक है तथा सीधे संपर्क द्वारा एक पशु से दूसरे में फैलता है। बकरियों के अतिरिक्त अन्य पशुओं को यह रोग नहीं लगता। खाली कर दिए गए संदूषित बाड़े 17 दिन बाद इस रोग की छूत से मुक्त पाए गए (मोनिग)।

लक्षण—भेंड़ों में खुजली के क्षेत्र पहले पीठ पर तथा एक ओर प्रकट होते हैं। खून चूसने के लिए माइट जब त्वचा में छेद करते हैं तो पशु को बेचैनी होती, छूत लगती तथा एक्जिमा की भाँति दाने उभर आते हैं। इससे पशु खुजलाता, रगड़ता तथा अपना शरीर चबाता है। अंत में खुरंट तथा पपड़ी बनकर ऊन ढीली होकर गिरने लगती है तथा नंगे

क्षेत्र शेष रह जाते हैं। भलीभाँति देखभाल न किए जाने वाले यूथ कमजोर हो जाते हैं और उनमें मृत्यु दर भी काफी अधिक होती है। स्वस्थ यूथ में प्रवेश पाने के पश्चात्

चित्र—59 सोराप्टिक खुजली से पीडित भेंड।

एक-दो वर्ष बाद यह खुजली पूरे शरीर में भलीभाँति फैलकर अपना विकास कर लेती है। अधिक आक्रमणित यूथ में अधिकांश रोगी पशु अपने शरीर को खम्भे अथवा बाड़े से रगड़ते, स्वयं को काटते तथा ऊन को खींचते देखे जाते हैं। पीठ पर खुजली के चकत्तों के अतिरिक्त सिर, गर्दन तथा आँखों के चारों ओर भी खुजली पाई जाती है। स्वस्थ पशु के शरीर में रोग की छूत लगने के बाद एक सप्ताह से दस दिन में लक्षण प्रकट हो सकते हैं। इसका उद्भवन काल 30 दिन का है। अच्छी ऊन वाली नस्लों में यह रोग अधिक शीघ्र विकास करता है।

गाय-भैंसों में पहला क्षतस्थल स्कन्ध प्रदेश अथवा पूँछ की जड़ के चौतरफा प्रकट होता है जहाँ से ये पीठ तथा किनारों पर फैलते हैं। भेड़ों की भाँति माइट जब त्वचा में काटता है तो पशु अपना शरीर खुजलाता तथा रगड़ता है और उस पर एक्जिमा की भाँति दाने पड़ जाते हैं। अन्त में इसके परिणामस्वरूप बाल गिर जाते, त्वचा में झुर्रियाँ पड़ जातीं और काफी मात्रा में खुरंट तथा पपड़ी जम जाती हैं। चर्म रोग के प्रभाव से पशु का स्वास्थ्य क्षीण-हीन होकर उसकी मृत्यु हो जाती है। घोड़ों में, सोराप्टिक खुजली पहले शरीर के लम्बे बालों वाले क्षेत्रों जैसे अयाल के नीचे, पूँछ की जड़ पर तथा दोनों जंघाओं के बीच उपान्त्य क्षेत्र में प्रकट होता है।

निदान—ताजे आक्रमणित क्षेत्र से खुरचन लेकर माइक्रोस्कोप में देखकर खुजली का निदान किया जा सकता है।

चिकित्सा—खुजली की अन्य प्रकारों की भाँति, इसमें भी, बेन्जीन हेक्साक्लोराइड ने पहले प्रयोग होने वाली अन्य सभी औषधियों को हटा दिया है। 0·06 गामा समावयवयुक्त तकनीकी बेन्जीन हेक्साक्लोराइड (BHC) के जलीय घोल में एक बार डुबाकर 3600 भेड़ों को, जिसमें 1 से 5 सप्ताह की आयु वाले मेमनें भी शामिल थे, न्यू मैक्सिको के मैदानों पर 4 समूहों में विभाजित करके रोग रहित किया गया। इस औषधि की उपयोगिता को कम्पर[7] तथा कम्पर और राबर्ट्स[8] ने भी रिपोर्ट किया।

संदर्भ

1 Imes, M, Sheep Scab, U S D A., Farmers Bull 159, Rev Mar 1935
2 Hall, M C, Parasites and Parasitic Diseases of Sheep U S D A, Farmers Bull 1330, 1938
3 Newsom, L E, Sheep Diseases, The Williams and Wilkins Co, 1952
4 Baker, D W Cornell Vet, 1942, 32, 326
5 Schwartz, B, Imes, M, and Wright, W H, Parasites and Parasitic Diseases of Horses, U S D A, Cir 148, 1931, p 11
6 U S D A, B A I Report 1951, p 58
7 Kemper, H E, Progress report on benzine hexachloride for the destruction of sheep scab mites, vet Med, 1948, 43, 76
8 Kemper, H E, and Roberts, I H, Benzene hexachloride dip to destroy scab mites on unshorn sheep, Vet Med, 1949, 44, 163

3 डीमोडेक्टिक खुजली

(Demodectic Mange)

(पुटकीय खुजली)

डीमोडेक्टिक अथवा पुटकीय खुजली सुअरों, तथा घोड़ों में हुआ करती है किन्तु यह कम प्रकोप करती है तथा इन पशुओं में बहुत ही कम महत्व की है। 14 प्रदेशों से, यह प्रमुख रूप से वृद्ध गायों में होती रिपोर्ट की गई है जहाँ यह चमड़े का विनाश करती है। इसके क्षतस्थल छोटे छोटे छालों के आकार के होते हैं। इन छालों का आकार एक आलपीन के सिरे से लेकर मटर के दाने के बराबर तक होता है। अंत में छाले फटकर उससे गाढ़ा-गाढ़ा क्रीम जैसा मवाद निकलता है। गो-पशुओं में ऐसे छाले अधिकतर ग्रीवा, कंधे तथा वक्ष की त्वचा पर निकलते हैं। जैसा सन् 1940 की पशु उद्योग ब्यूरो (बी० ए० आई०) की रिपोर्ट में वर्णन किया गया है, प्रयोगात्मक रूप से इसकी छूत परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप से भी नहीं फैली और इस बीमारी को ठीक करने के सभी प्रयास विफल रहे। सुअरों में खुजली के छाले पहले चेहरे पर प्रकट होते हैं और वहाँ से शरीर के निचले भाग तथा पैरों के भीतरी ओर फैलते हैं। गो-पशुओं में यह पहले कंधे तथा गर्दन पर प्रकट होते कहे जाते हैं। इसका कोई इलाज नहीं है, किन्तु छालों की संख्या कम हो सकती है तथा यह कोई भीषण कष्ट नहीं उत्पन्न करती।

कण्टकाकीर्ण कर्ण किलनियाँ

(Spinose Ear Ticks)

ये किलनियाँ दक्षिणी-पश्चिमी प्रदेशों में अधिकतर गो-पशुओं तथा किसी हद तक घोड़ों तथा कुत्तों के कानों में पाई जाती हैं। ये पशु को बहुत कष्ट पहुँचाती हैं। वह अपना सिर हिलाता और रगड़ता तथा जमीन पर लोटता है। इन किलनियों को हटाने तथा मारने के लिए यूनाइटेड स्टेट्स के पशु-उद्योग-ब्यूरो ने निम्न मिश्रण प्रयोग करने की राय दी है: बेन्जीन हेक्साक्लोराइड (12 प्रतिशत गामा समावयव युक्त) 5 भाग, जाइलोल 10 भाग तथा विशुद्ध देवदार का तेल 85 भाग। 5 भाग क्लोर्डेन तथा 95 भाग विशुद्ध देवदार के तेल के मिश्रण का कान में प्रयोग करना भी उतना ही गुणकारी है। यह औषधियाँ कम से कम एक माह तक पशु की आंशिक रूप से रक्षा करती हैं।

संदर्भ

1. U.S.D.A., B.A. I., 1949, p. 53.

जूँ रुग्णता

(Pediculosis)

पालतू पशुओं पर आक्रमण करने वाले जुँओं के दो प्रमुख समूह हैं—(1) चूसने वाले तथा (2) काटने वाले जुँएँ। पशुओं की प्रत्येक जाति में जुँओं की अपनी अलग प्रजाति होती है। इन दोनों प्रकारों में चूसने वाले जूँ बहुत खतरनाक होते हैं।

गोपशुओं के शरीर में जुँओं की निम्न लिखित जातियाँ पाई जाती हैं: हीमैटोपाइनस यूरिस्टर्नस (Haematopinus eurysternus) (छोटी नाक का चूसने वाला "नीला जूँ") जो प्रायः प्रौढ़ पशु के शरीर पर पाया जाता है; हीमैटोपाइनस विटुलाइ (Haematopinus vituli) (लम्बी नाक का चूसने वाला "नीला जूँ") जो प्रायः बछड़ों तथा युवा पशुओं के शरीर पर पाया जाता है, और ट्राइकोडेक्टस स्कलैरिस (Trichodectes scalaris) काटने वाला "लाल जूँ"। घोड़ों में भी इसकी तीन जातियाँ होती हैं: हीमैटोपाइनस एसिनाइ (Haematopinus asini) तथा ट्राइकोडेक्टस पाइलोसस (Trichodectes pilosus) और ट्रा० पैरमफिलोसस (T. parumphilosus)। सूकरों में हीमैटोपाइनस सूकर जातीय (Haematopinus suis) नामक जूँ की केवल एक ही प्रजाति पाई जाती है। पालतू पशुओं में प्रकोप करने वाला यह सबसे बड़ा जूँ है और यह 1/4 इंच तक लम्बा हो सकता है। भेड़ों में चूसने वाला हीमैटोपाइनस ओवीलस (H. ovillus) तथा काटने वाला ट्राइकोडेक्टस स्फैरोसिफैलस (T. sphaerocephalus) दोनों ही प्रकार के जुँएँ पाए जाते हैं।

चूसने वाले जुँओं को उनके बड़े आकार, नुकीले सिर तथा नीले शरीर से पहचाना जाता है। काटने वाला जूँ छोटा होता है। इसका सिर चौड़ा तथा गोल, शरीर का रंग पीलापन लिए हुए सफेद तथा सिर का रंग कुछ-कुछ लाल होता है। जूँ का संपूर्ण जीवन-चक्र पशु के शरीर पर ही पूरा होता है। इनके अण्डे त्वचा के पास बालों पर चिपके रहते

हैं जहाँ वे लगभग दो सप्ताह में सेये जाते है और इसके दो सप्ताह बाद इनकी युवा मादाएँ अण्डे देने लगती हैं। पशु के शरीर से अलग कर देने पर जूं एक सप्ताह से अधिक जीवित नही रह सकते किन्तु, अनुकूल परिस्थितियो में अलग हुए बालो पर चिपके अण्डो में से दो तीन सप्ताह तक बच्चे निकलते रह सकते हैं।

लक्षण—पशुओं के शरीर पर जुंआ की उपस्थिति सर्वत्र एक जैसे ही होती हैं किन्तु, इनकी सख्या अधिकतर पशु-पोषण तथा पशुपालक द्वारा प्रयोग की जाने वाली कीटनाशक औषधियो पर निर्भर होती है। लम्बे बालो वाले कमजोर पशुआ में यह अधिक पाए जाते हैं तथा जाडे के महीनों में खूब बढते हैं। आने वाली वसत ऋतु में जब पशु अपने बाल गिराते तथा चरागाहो पर चरने जाते हैं उस समय इनकी सख्या बहुत ही कम हो जाती है। शरीर पर निवास करने के इनके प्रमुख स्थान सिर, ग्रीवा, पीठ तथा जांघ की अन्दरूनी सतह हैं। काटने वाले जूं शरीर पर कही भी पाए जा सकते है किन्तु, इनके उपयुक्त निवास स्थल स्कन्ध प्रदेश तथा पूंछ की जड के भाग हैं। जुंओ से उत्पन्न कष्ट में पशु की वृद्धि रुक जाती है तथा वह चारा कम खाता है। खुजली तथा दाद की भाँति इसमें भी शरीर पर चकत्ते आदि पड सकते हैं तथा बालो का ह्रास होता है। पशु अपने शरीर को रगडता तथा चाटता है और बेचैन रहता है।

चिकित्सा तथा कट्रोल—पशु के शरीर पर भलीभाँति खरहरा करना जुंओ को दूर करने का सर्वोत्तम उपाय है। व्यक्तिगत पशुओ के इलाज के लिए, पशु के शरीर के बाल काटकर 4–5 प्रतिशत क्रियोलीन घोल से नहलाना चाहिए अथवा उसे किसी भी कोलतार-क्रीजोट घोल में डुबोना चाहिए। उपयुक्त मौसम, विशेषकर पतझड, में जबकि जुएँ अधिक नहीं होते, यदि कई पशुओ का इलाज करना हो तो ऐंटिसेप्टिक घोल छिडकने के लिए हाथ वाला स्प्रे-पम्प काम में लाया जा सकता है। चूँकि अण्डे नष्ट नही होते अत नव विकसित जुंओ को नष्ट करने के लिए 16 दिन के अवकाश पर इलाज को दोहराना चाहिए। दूसरी बार दवा लगाने के बाद कुछ दिनो तक पशु का इस बात के लिए अवलोकन करना चाहिए कि उसे तीसरे इलाज की आवश्यकता तो नही है। आस्ट्रेलिया के राबर्ट्स और लग[1] (Roberts and Legg) के अनुसार निकोटीन सल्फेट घोल (एक गैलन पानी में 5 घ० सें० काली पत्ती 40) जब छिडकाव के रूप में प्रयोग किया जाता है तो सम्पर्क में आने पर यह जुंओं का नष्ट कर देता है। अलसी के तेल का प्रयोग भी गुणकारी है। इसे ठडे मौसम में लगाना चाहिए। चार-पाँच गायों में एक बार लगाने के लिए इसकी एक पिंट (20 औंस) मात्रा काफी है। इसे सख्त ब्रुश से लगाना चाहिए (स्टोर्स ऐग्रीकल्चरल एक्सपेरीमेंट स्टेशन बुलेटिन, 97, 1918)। जुंआ को नष्ट करने के लिए डेरिस पाउडर भी गुणकारी है। सन् 1940 की पशु-उद्योग-ब्यूरो (बी० ए० आई०) की रिपोर्ट में यह बताया गया है 'कि 100 गैलन पानी में 1 पौण्ड डेरिस पाउडर मिलाकर पशु के शरीर पर एक बार छिडकने तथा 10 प्रतिशत के अनुपात में डेरिस पाउडर का अन्य निर्जीव पाउडरो के साथ मिलाकर शरीर पर मलने से सभी जूं मर जाते हैं, किन्तु इससे अण्डा का विनाश नही होता। 16-17 दिन के अवकाश पर इसे दो बार प्रयोग करने से जुंओं का उन्मूलन हो जाता है।"

डी० डी० टी० का 0.25 प्रतिशत घोल अथवा 10 प्रतिशत पाउडर भी जुओं को नष्ट करने में अति गुणकारी सिद्ध हुआ है। लगाने के बाद बालों में बचा हुआ डी०डी०टी चूँकि नए निकले जुओं को भी मार देता है अतः इसे केवल एक ही बार प्रयोग करने की आवश्यकता पड़ती है। 0.75 प्रतिशत डी० डी० टी० युक्त घोल में जुओं से अति ग्रसित 300 सुअरियों को डुबोने पर यह पता चला कि यह केवल प्रौढ़ जुओं को ही चार घंटे में नहीं मार देता वरन् नए निकले जुओं को भी बाद में नष्ट करता रहता है और हीमैटोपाइनस सूकर जातीय जूं को तो समूल नष्ट कर देता है—कैम्पर और राबर्ट्स[2]। 0.06 प्रतिशत क्रियाशील पदार्थयुक्त लिंडेन का जलीय घोल जब छोटी तथा बड़ी नाक वाले जुँओं से ग्रसित-पशुओं पर छिड़का जाता है तो यह लगभग 24 घंटों में समस्त जुँओं को नष्ट कर देता है। 0.06 गामा समावयवयुक्त बेन्जीन हेक्साक्लोराइड घोल में जब सूकरों को डुबोया जाता है तो वे स्थायी रूप से जुँओं से मुक्त हो जाते हैं।[3] 0.045 प्रतिशत क्रियाशील पदार्थयुक्त लिंडेन के जलीय घोल में स्नान कराने से भेड़ों के जूं नष्ट हो जाते हैं।[3]

संदर्भ

1. Roberts, F. H. S., and Legg., J., Nicotine sulphate ; its use in the treatment of cattle lice, Aust. Vet., J., 1938, 14, 58.
2. Kemper, H. E., and Roberts, I. H., Preliminary tests with DDT for single treatment eradication of the swine louse, Hematopinus suis, J.A.V.M.A., 1946, 108, 252.
3. U.S.D.A., B.A.I., Report 1950, pp. 55 and 61.

गो-पशुओं की वार्बल मक्खियाँ

(Warble Flies of Cattle)

(वॉट मक्खी; ब्रीज मक्खी; गैड मक्खी; माइएसिस)

उत्तरी अमरीका तथा यूरुप में वार्बल मक्खी के लार्वों द्वारा गो-पशुओं की भारी क्षति हुआ करती है। आस्ट्रेलिया और दक्षिणी अफ्रीका के देश वार्बल मक्खियों से रिक्त कहे जाते हैं। दक्षिणी यूरुप, डेन्मार्क, और स्वेडन में लार्वा से होने वाले ह्रास के कारण इन्हें कंट्रोल करने के अति उत्तम उपाय अपनाए गए हैं। हैडवेन[1] (Hadwen) की रिपोर्ट के अनुसार ऐसा अनुमान किया गया है कि कनाडा में इनके प्रकोप से प्रतिवर्ष 27.5 प्रतिशत खालें नष्ट होती हैं। चमड़ा-उद्योग करने वालों के अनुसार जनवरी से जुलाई के प्रारम्भ तक इस मक्खी के प्रकोप करने का मौसम होता है। देश के विभिन्न भागों में इन मक्खियों के प्रकोप भिन्न होते हैं और विभिन्न वर्षों में भी इनकी विभिन्नता होती है। यदि मक्खियों के प्रकोप का मौसम नम तथा अण्डे देने के लिए प्रतिकूल है तो आने वाली वसंत ऋतु में मक्खियों की संख्या भी कम होगी। जिन यूथों में इनका अधिक प्रकोप होता है उनमें यह बेचैनी तथा भारी क्षति का कारण बनती हैं।

सन् 1922 में शैनन[2] (Shannon) ने बताया कि "अभी कुछ वर्षों से ऐसा देखा गया है कि वार्बल मक्खी से गो-पशुओं तथा घोड़ों को होने वाली क्षति, विशेषकर देश के

कुछ भागों में, काफी बढ़ गई है। ऐसा यूरप से अमरीका में बिना जानकारी के कुछ अति-रिक्त वाट-मक्खियों के आने के कारण हुआ।

"इनके प्रकोप की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि जून तथा जुलाई के महीनों में अनेक पशु दौड़ते हुए दिखाई देते हैं जिसके परिणामस्वरूप दुधारू पशुओं के दूध उत्पादन में कमी आ जाती है तथा कभी-कभी भयंकर दुर्घटनाएँ भी हो जाती हैं। यूरोपीय गो-पशुओं की वार्बल मक्खी, हाइपोडर्मा बोविस, तथा डीमीर नामक मक्खियाँ ऐसे परिवर्तनों के लिए उत्तरदायी हैं। यूनाइटेड स्टेट्स में पहले-पहल सन् 1910 में इस प्रजाति का पता लगा। इस समय न्यूयार्क, न्यू इंगलैंड तथा कनाडा के क्षेत्रों में जहाँ कहीं इसका प्रकोप होता है, यह प्रजाति पशुओं का प्रमुख परजीवी है।"

जीवन इतिहास—गो-पशुओं में इन मक्खियों की दो प्रजातियाँ—हाइपोडर्मा बोविस तथा हाइपोडर्मा लीनिएटम अधिक प्रकोप करती हैं। यह मक्खियाँ अपने मौसमिक प्रकोप तथा अण्डे देने के ढंग में एक दूसरे से भिन्न होती हैं, किन्तु लार्वा का विकास दोनों प्रजातियों में एक जैसा है।

हाइपोडर्मा बोविस (बॉम्ब मक्खी) 14 मि० मी० लम्बी होती है। इसके अगले भाग के बाल पीले तथा पंखों की नसें गहरे बादामी रंग की होती हैं। उदर तथा वक्ष की निचली सतह काली होती है। इसकी पूँछ का अंतिम भाग नारंगी जैसा पीला, पैर साफ तथा कुछ बालयुक्त होते हैं। यह मक्खियाँ जून में प्रकट होकर पहली अगस्त तक सक्रिय रहती हैं। जाँघों पर बाहर की ओर तथा पैरों पर टखने के ऊपर यह अपने अण्डे देती हैं। स्टेफिल संधि की सतह पर यह मक्खियाँ उड़कर जल्दी-जल्दी 20-30 बार पशु पर आक्रमण करती हैं। तत्पश्चात् यह कुछ मिनटों के लिए पशु को छोड़कर, पुनः आकर आक्रमण करने लगती हैं। एक एक करके बालों की जड़ों पर अण्डे देती हैं। इन मक्खियों के आक्रमण के समय सभी पशु भयभीत प्रतीत होते हैं।

हाइपोडर्मा लीनिएटम 12.7 मि० मी० लम्बी होती है। इनके वक्ष की निचली सतह काली, पंखों की नसें लगभग काली, पूँछ लाली लिए हुए नारंगी के रंग की, एवं पैर खुरदरे तथा बालयुक्त होते हैं। ये मक्खियाँ 15 अप्रैल को प्रकट होकर लगभग 6 सप्ताह तक सक्रिय रहती हैं। एँड़ी, टखना, घुटना तथा पिछले घुटनों के बालों पर ये अण्डे देती हैं। गो-पशुओं के बैठने के समय शरीर का जो भाग मिट्टी के संपर्क में रहता है उसकी ऊपरी सतह पर एक रेखा सी बन जाती है। उसी रेखा पर ये मक्खियाँ अण्डे जमा करती हैं। मक्खियाँ धीरे-धीरे बैठकर एक पंक्ति में बालों पर अंडे देती हैं। अण्डे देते समय चरागाह पर चरने वाले पशु उत्तेजित प्रतीत होते हैं।

लगभग एक सप्ताह बाद अण्डों से लार्वा निकल कर बाल की जड के सहारे त्वचा में प्रवेश पाते हैं तथा शरीर में चक्कर लगाकर आने वाली वसंत ऋतु तक परिपक्व होकर पीठ की त्वचा के नीचे आ जाते हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि अपने भ्रमणकाल में ये लार्वा त्वचा के नीचे ढीले संयोगी ऊतकों में चक्कर लगाते हैं। ये लार्वा रक्त परिभ्रमण अथवा मांसपेशियों में नहीं घुसते। दिसम्बर के महीनों में ये प्रमुखतौर पर

ग्रास-नली की दीवालों में पाए जाते हैं। मार्च में ये लार्वा यहाँ से पीठ की त्वचा तक पहुँचते हैं। हैडवेन[1] के अनुसार यह रूमेन से मिलने के स्थान पर ग्रासनली को छोड़कर, तंत्रिका नाल (neural canal) में होते हुए त्वचा के नीचे पहुँचते हैं, जहाँ वे चमड़ी में छेद करके ऊपर आते हैं। इस अंतिम यातायात के लिए बहुत ही थोड़े समय की आवश्यकता पड़ती है। त्वचा से छेद करके बाहर निकलने के बाद जब लार्वा जमीन पर गिर जाते हैं तो लगभग 30 दिन में इनसे प्युपा बन जाते हैं, जहाँ से यह प्रौढ़ मक्खी में विकास पाते हैं।

शरीर में लार्वा के विकास के साथ देखे गए लक्षण निम्न प्रकार हैं : (1) मक्खियों द्वारा शरीर पर अण्डे देने के समय पशु में अत्यधिक बेचैनी तथा उन्माद जैसे लक्षण प्रकट होना, (2) अनेक लार्वों के त्वचा में घुस जाने के पश्चात् उस पर कभी-कभी फफोले से पड़ जाना, (3) पीठ की त्वचा के नीचे परिपक्व लार्वा की उपस्थिति के कारण विभिन्न प्रकार की शोथ जैसी प्रक्रिया उत्पन्न होना। साधारण परिस्थितियों में शरीर में अधिक लार्वा होने पर पशु कमजोर हो जाता है। दुधारू पशु दूध देना कम कर देता है और कभी-कभी उसके शरीर पर अनेक फोड़े से बनते देखे जाते हैं। हैडवेन और ब्रूस[3] (Hadwen and Bruce) ने गो-पशुओं तथा भेड़ों में लार्वा द्वारा उत्पन्न होने वाली एनाफिलैक्सिस का वर्णन किया है। उनके रोगियों में बिल्कुल ऐसे ही लक्षण थे जैसे कि लेखक ने पित्ती में देखे और यह तथ्य कि गोपशुओं में लेखक के पित्ती के लगभग 60 प्रतिशत रोगी मार्च से मई तक हुए, यह अनुमान कराता है कि यह हाइपोडर्मा एनाफिलैक्सिस के उदाहरण थे। ऐसा देखा गया है कि लगातार चरागाहों पर चरने वाले युवा गो-पशु तथा अन्य पशुओं में लार्वों की संख्या अधिक होती है।

कंट्रोल—कंट्रोल करने की अब तक ज्ञात प्रभावकारी विधि केवल यह है कि त्वचा के नीचे पहुँचे हुए लार्वों को नष्ट कर दिया जाए। प्रौढ मक्खी के उड़ने का क्षेत्र सीमित होने के कारण यह विधि काफी सफल भी हुई है। वेल्स में डैवीस और जोंस[4] (Davies and Jones) द्वारा किए गए प्रयोगों से, जिन्होंने विभिन्न प्रदर्शन क्षेत्रों में गायों की चिकित्सा की, इसके प्रकोपों में काफी कमी हुई। उन्होंने अपनी सफलता मक्खियों के सीमित क्षेत्र में रहने के स्वभाव के कारण बताई। ऐसे ही प्रयोग डेनमार्क और स्वेडन में किए गए। बिशप[5] और उनके साथियों ने यह निष्कर्ष निकाला कि व्यक्तिगत पशुपालकों द्वारा किए गए बचाव के उपचार प्रायः निराशाजनक रहे। फिर भी उन्होंने अनेक उदाहरण ऐसे भी देखे जिनमें व्यक्तिगत पशु-प्रजनकों एवं पशु-पालकों ने लार्वों को नष्ट करके अपने यूथ से इस परजीवी का अधिकांशतौर पर उन्मूलन ही कर दिया।

त्वचा के नीचे स्थित लार्वों को नष्ट करने के लिए डेरिस-मूल का प्रयोग शत-प्रतिशत प्रभावकारी है। जैसा कि स्वार्ट्ज[6] द्वारा वर्णन किया गया है, फेडरल ब्यूरो आफ इन्टमालोजी ऐण्ड प्लांट क्वारटीन ने निम्नलिखित मिश्रण को स्प्रे के रूप में प्रयोग करने की राय दी है : डेरिस पाउडर अथवा घनमूल (5 प्रतिशत रोटीनोन युक्त) 5 पौण्ड; घुलनशील गंधक 10 पौण्ड; पानी 100 गैलन। इस प्रकार बनाया हुआ मिश्रण 200 गोपशुओं के इलाज के लिए काफी है। डेरिस घनमूल (5 प्रतिशत रोटीनोन युक्त) तथा घुलनशील गंधक को बराबर-बराबर भागों में मिलाकर बनाया हुआ पाउडर एक हाथ से पशु की पीठ पर

छिड़का तथा दूसरे हाथ से बालों पर मला जा सकता है। इस प्रकार प्रयोग करने पर यह पाउडर लार्वा को नष्ट करने के लिए अति उत्तम सिद्ध होता है और ऐसा एक पौण्ड मिश्रण 36 पशुओं के लिए काफी होता है। 12 औंस डेरिस अथवा घनमूल चूर्ण (4 से 5 प्रतिशत रोटीनोन युक्त) तथा 2 से 4 औंस न्यूट्रल साप एक गैलन पानी में मिलाकर; ब्रुश कपड़ा अथवा स्पंज से पशु के शरीर पर लगाना इसका अति उत्तम इलाज है। इसके प्रयोग का सबसे आसान तथा घरेलू तरीका यह है कि एक चौड़े मुंह वाली कांच की शीशी में उपर्युक्त मिश्रण भर कर, उस पर लगे धातु के ढक्कन में छेद कर दिए जाएँ। पशु के शरीर पर छिड़कते समय जैसे ही यह द्रव शीशी से बाहर निकले, इसे एक सख्त ब्रुश से बालों तथा त्वचा पर मल दिया जाए। मैदानी पशुओं के इलाज के लिए छिड़काव की विधि बड़ी अच्छी है और इसे 250 पौण्ड दबाव वाली दवा छिड़कने की मशीन से छिड़का जाना चाहिए। द्रव औषधि की अपेक्षा पाउडर के रूप में छिड़की जाने वाली दवाएँ धीरे धीरे काम करती हैं।

त्वचा के नीचे विकसित होने वाले समस्त लार्वों को नष्ट करने के लिए मक्खियों के प्रकोप करने वाली ऋतु में बार बार दवा लगाने की आवश्यकता पड़ती है। न्यूयार्क स्टेट के प्रदेश में पहली फरवरी के बाद लार्वा त्वचा के नीचे प्रकट होते हैं तथा 15 मार्च तक त्वचा में छेद करके बाहर निकलने लगते हैं। अतः पहली मार्च का इनकी चिकित्सा शुरू करके 35 दिन के अवकाश पर तीन बार दोहरानी चाहिए। राष्ट्रीय पशु उद्योग ब्यूरो (फेडरल ब्यूरो आफ एनीमल इण्डस्ट्री) की सन् 1944 की रिपोर्ट में पृष्ठ 37 पर वर्णित एक बार की चिकित्सा का प्रभाव 90 प्रतिशत रहा।

बिशप[5] (Bishopp) द्वारा बताई गई लार्वा को नष्ट करने वाली अन्य औषधियाँ निम्न प्रकार हैं 1 भाग डेरिस चूर्ण तथा 10 भाग पेट्रोलैटम को परस्पर मिलाकर लगाना। सिल्वर नाइट्रेट के 5 प्रतिशत घोल का छेद्र में इन्जेक्शन देना। तम्बाकू का 2 प्रतिशत चूर्ण छिद्र में छिड़कना। 2 पौण्ड पाइरेथ्रम फूल को एक गैलन ऐल्कोहल (डिनेचर्ड, फारमूला 5) में मिलाकर, तेल डालने वाली कुप्पी से छेद में डालना। छिद्रों में कार्बन टेट्राक्लोराइड भरना।

डेन्मार्क में फफोलों को दाब कर लार्वा का निकालने की प्रथा बहुत प्रचलित है। ऐसा करने के लिए पहले लार्वा को एक मुड़ी हुई नोकदार सुई की सहायता से थोड़ा ऊपर कर लेते हैं। तत्पश्चात् उन्हें चिमटी से पकड़कर बाहर खींच लेते हैं। परिपक्व होने से पूर्व, लार्वों को फफोले से दाबकर निकाल देना अधिक लाभप्रद है। परिपक्व लार्वा के स्थान पर प्रायः बड़े-बड़े फोड़े विकसित हो जाते हैं जिससे गाय को बड़ी बेचैनी होती है तथा दुग्ध उत्पादन में भी कमी हो जाती है। एक बार जब फोड़ा बन जाता है, तो उसे दाबकर अथवा मुड़ी हुई सुई की नोक की सहायता से लार्वा का निकालना असम्भव हो जाता है।

गो-पशुओं में लार्वों को नष्ट करने के लिए संयुक्त राज्य पशु-उद्योग-ब्यूरो[7] (यू० एस० बी० ए० आई) के प्रोग्राम में 7½ पौण्ड डेरिस घन चूर्ण (5 प्रतिशत रोटीनोन युक्त) को प्रति 100 गैलन पानी में मिलाकर, 400 पौण्ड नॉजल दाब के अन्तर्गत पशुओं पर

छिड़का जाता है। सन् 1945 से 1948 तक लार्वा के प्रकोप के मौसम में मानक रोटीनोन घोल से हाथ द्वारा 308 गो-पशुओं का एक बार इलाज किया गया। इन इलाजों के परिणामस्वरूप लार्वों की औसत संख्या सन् 1945 में 17 से 1948 में 3.5 तक कम हो गई। जब हाथ से लगाने वाली तरल औषधियों अथवा स्प्रे का ठीक प्रकार प्रयोग किया गया तो उनसे लगभग बराबर का ही प्रभाव हुआ। सामान्य कोन-स्प्रे की अपेक्षा जेट-स्प्रे जो उच्च दवाव पर पशु की पीठ पर दवा छिड़कता है, अधिक अच्छा है। इलाज का उचित समय निर्धारण करने में एक वर्ष से दूसरे वर्ष में अधिक से अधिक 6 सप्ताह की विभिन्नता हो सकती है।

संदर्भ

1. Hadwen, S., Warble Files, Dept. of Agr., Canada, Sci. Series, No. 27, Ottawa, 1919.
2. Shannon R. C., The bot flies of domestic animals, Cornell Vet., 1922, 12, 240.
3. Hadwen, S., and Bruce, E. A., Anaphylaxis in cattle and sheep, produced by the larvae of Hypoderma bovis, H. Lineatum, and Oestrus ovis, J.A. V.M.A., 1917, 51, 15.
4. Davies, W. M., and Jones, E., Extension work and control of warble flies, J. Min. Agr., London, 1932-33, 39, 805.
5. Bishopp, F. C., and Laake, E. W., Brundrett, H. M., and Wells, R. W., The cattle Grubs or Ox Warbles, Their Biologies and Suggestions for Control, U.S.D.A., Dept. Bull. 1369, 1926.
6. Schwartz, Benjamin, Cattle grubs and how to control them, Proc. 45th Annual Meeting, U.S.L.S.S.A., Dec. 1942, p. 173.
7. U.S.D.A., B.A.I. Report, 1949, p. 54 ; 1951, p. 51.

उपापचयन के विकार
(DISORDERS OF METABOLISM)
काला-मूत्र रोग
(Azoturia)
(पक्षाघातीय हीमोग्लोबिनरक्तता; कटि-पीड़ा; मायोग्लोबिनमेह, कटि-पक्षाघात)

परिभाषा—यह घोडो का एक विशिष्ट रोग है जो प्राय ताँगा खीचने वाले पशुओ में हुआ करता है। थाडा आराम करने के बाद कार्य करते समय पिछले पैरो में एकाएक अवसन्नता के विकास के साथ इसे पहचाना जाता है। अत्यधिक पसीना आना तथा गहरे रग का अथवा काला पेशाब होना, इसके अन्य लक्षण है। नितम्ब तथा ऊपरी जघा की मास-पेशियो का अपकर्षण होना इसका प्रमुख शरीर-रचनात्मक परिवर्तन है।

कारण—बोझा खीचने वाले घोडो की यह एक प्राणघातक बीमारी है तथा यह हल्का कार्य करने वाले घोडो में भी खूब प्रकोप करती है। यह प्राय अक्तूबर से लेकर मई तक के महीनो में ही अधिक हुआ करती है। बीमारी केवल अच्छे खाए-पिए घोडो में ही देखने को मिलती है। नित्य कार्य करने वाले ऐसे पशुओ से जब काम नही लिया जाता और 2 से 5 दिन तक उनकी खुराक में कोई कटौती नही की जाती, तो कार्य प्रारम्भ करने पर 15 मिनट से लेकर 1 घटे में इस रोग का आक्रमण हो सकता है। बीमारी के प्रकोप के लिए इस प्रथमावस्था का होना बहुत आवश्यक है। आराम के बाद इसका आक्रमण कम से कम एक दिन से लेकर अधिक से अधिक दो सप्ताह तक का हो सकता है। काम के वेग का कोई विशेष महत्व नही है, क्योकि घोडे को टहलाते समय भी पक्षाघात विकसित हो सकता है। कभी-कभी बिना चलाए-फिराए घुडसाल में बँधे पशु पर ही इसका आक्रमण हो जाता है। कार्लस्ट्रम[1] (carlstrom) के विचार से मास-पेशियो में ग्लाइकोजन के जमा होने से अधिक मात्रा में बना हुआ लैक्टिक एसिड मासल थकावट, रक्तावरोध तथा असतुलित-गति उत्पन्न करता है।

विकृत शरीर रचना—इलियोस्वास तथा क्वाड्रीसेप्स समूह (पिछले धड की) मास-पेशियों में प्रमुख परिवर्तन पाए जाते हैं। काटने पर इनमें पीले तथा गले हुए मासल क्षेत्र मिलते हैं जो अपनी सामान्य दिखावट में मछली की मास-पेशियो से मिलते-जुलते हैं। हवा लगने से हल्के रग वाले क्षेत्र कुछ कुछ लाल हो जाते हैं। मृत्यु के तत्काल बाद रोग-ग्रसित मास-पेशियो की प्रक्रिया अम्लीय हो जाती है। हिस्टॉलोजिकल परीक्षण करने पर कुल मास-पेशियो का मोमीय अपकर्षण (waxy degeneration) मिलता है। इनमें वे क्षेत्र भी शामिल होते है जो नगी आँख से देखने पर सामान्य दिखाई पडते है। किसी हद तक इनमें मेघीय सूजन (cloudy swelling) तथा वसीय विघटन भी होता है। शोथयुक्त परिवर्तन लगभग पूर्णतया अनुपस्थित होते हैं। रोग के भीषण प्रकोप में मास-पेशियो में होने वाले अपकर्षण के परिवर्तन सामान्य रूप से होकर, हृदय की मास-पेशियो तक को

संलग्न कर लेते हैं। इसके विपरीत रोमन और मार्टिन[3] (Roman and Martin) का कहना है कि "मांसपेशी के संकुचित होने वाले पदार्थ में अत्यधिक अपकर्षण के परिवर्तनों के अतिरिक्त, एक निश्चित शोथयुक्त प्रक्रिया भी पाई जाती है।"

मांस-पेशियों के बाद प्रमुख परिवर्तन गुर्दों में पाए जाते हैं। अति पीड़ित रोगियों में कार्टेक्स तथा मज्जा के पदार्थ की धारियों पर बादामी धब्बों की उपस्थिति से गुर्दे में हीमोग्लोबिन की मौजूदगी को नंगी आँख से पहचाना जा सकता है। गुर्दे थोड़ा बढ़े हुए हो सकते हैं। हिस्टॉलोजिकल परीक्षण करने पर एपिथीलियल कोशाओं में हीमोग्लोबिन एकत्रीकरण तथा वसीय अपकर्षण मिलता है। रोग के हल्के प्रकोप में गुर्दों में कोई परिवर्तन नहीं मिलता।

लक्षण—घुड़साल छोड़ने के लगभग आधा घंटे के अन्दर घोड़े के शरीर में पसीना आना शुरू हो जाता है। उसकी चाल में अकड़न होती तथा वह चलना नहीं चाहता है। प्रायः एक अथवा दोनों पिछले पैरों में लँगड़ाहट होती है किन्तु, कभी-कभी यह एक अगले पैर तक ही सीमित रहती है। रोग का आक्रमण होते ही यदि पशु को पूरा आराम दे दिया जाए तो कुछ ही घंटों में लक्षण अदृश्य हो सकते है तथा रोगी बिल्कुल ठीक होने लगता है। अधिकतर, तत्काल तथा पूर्ण आराम देने पर भी लक्षण विद्यमान रहते हैं। खड़े रहने के असफल प्रयास अंत में पशु को कुत्ते की भाँति बिठाल देते हैं और शीघ्र ही रोगी गिर कर एक करवट लेट जाता है। इसके साथ पशु को बेचैनी होती तथा उसके पेट में तेज दर्द होता है। पशु बार-बार उठने के असफल प्रयास करता है और पसीना आकर उसका पूरा शरीर भीग जाता है। अगले पैर की मांस-पेशियों में क्षतस्थलों का होना कम भयंकर है। इसमें प्रायः घोड़ा खड़ा रहने योग्य रहता है। कुछ पशुओं में रोग का आक्रमण आगे तथा पीछे दोनों ओर होता है।

थपथपाने पर रोग-ग्रसित मांस-पेशियाँ सख्त मालूम पड़ती है तथा रोग-ग्रसित क्षेत्र पर शोथपूर्ण सूजन हो सकती है। ऐसी शोथ अगले पैरों के रोग-ग्रसित होने पर अधिक हुआ करती है। नितम्ब की मांसपेशियों में खिचाव होता है किन्तु, रोग-ग्रसित ग्रूप में उतना कड़ापन नहीं होता। इसमें मानसिक गड़बड़ी नहीं होती। तापक्रम लगभग नार्मल रहता है, यद्यपि कि रोग के भीषण आक्रमण में यह कुछ बढ़ सकता है। भीषण प्रकोप में नाड़ी-गति तेज, अनियमित तथा निर्बल हो जाती है। रोग के आक्रमण के समय सांस तेज चलती तथा भयंकर अवस्था में यह बराबर तेज ही चलती रहती है। श्लेष्मल झिल्लियाँ रक्तवर्ण हो जातीं तथा भयंकर प्रकोप में पीली पड़ जाती हैं। यदि दर्द तथा बेचैनी अधिक नहीं होती तो प्रारम्भ में पशु सामान्य तौर पर खाता-पीता रहता है। जैसे-जैसे रोग बढ़ता है पशु की चारे में रुचि मंद पड़ती जाती है। प्यास सामान्य रहती है। लहरी-गति कम हो जाती है, यद्यपि आक्रमण के समय पशु बार-बार मल त्याग कर सकता है।

पेशाब करने में पशु को थोड़ा कष्ट होता है तथा मूत्र मात्रा में कम, अधिक अथवा नार्मल हो सकता है। इसका रंग खूब चमकीला, लाली लिए हुए बादामी, गहरा बादामी अथवा बिल्कुल काला हो सकता है। रोग के भयंकर प्रकोप में कभी-कभी ही मूत्र नार्मल

मिलता है। मूत्र के तलछट में हीमोग्लोबिन के टुकड़े, गुर्दे का एपिथीलियम तथा कुछ लाल कोशा मिलते है, यद्यपि कि बाद वाले दो लक्षण अनुपस्थित हो सकते है। कार्ल्संद्रम[1] के अनुसार मूत्र का गाढ़ा अथवा काला रंग हीमोग्लोबिन-मूत्रता के कारण होता है।

इसका कोर्स बहुत ही भिन्न होता है। कुछ ही घंटों में घोड़ा बिल्कुल ठीक हो सकता अथवा मर सकता है। घोड़ा यदि खड़ा रहता अथवा खड़ा रहने के योग्य रहता है तो रोग का फलानुमान अच्छा होता है। दो से चार दिन में रोगी प्रायः अच्छा हो जाता है। यदि पहले कुछ दिनों में पशु के पिछले पैर उसका शरीर-भार सहन नहीं कर पाते तो रोग का फलानुमान प्रतिकूल होता है। हृत्पेशी-शोथ के कारण हृदय के पक्षाघात, गुर्दे के क्षतस्थलों द्वारा उत्पन्न रक्तमूत्रता अथवा रक्त-विषाक्तता से रोगी की मृत्यु हो सकती है। दीर्घकालिक मांसल अपक्षय पशु को दयनीय दशा में छोड़ देता है। जब तक पुरः प्रवर्तक कारण पुनः प्रकट नहीं होते, इस रोग का दुबारा आक्रमण नहीं हो सकता।

चिकित्सा—रोग की चिकित्सा में सबसे पहली आवश्यकता इस बात की है कि रोगी को पूर्ण आराम दिया जाए। यदि सभव हो तो पशु के नीचे गुदगुदा बिछौना कर दीजिए जिससे शरीर में घाव आदि न बनने पावें। उसे कम्बल उढ़ा दीजिए तथा उरोस्थि के नीचे सूखी घास अथवा पुआल आदि का तकिया सा बनाकर लगा दीजिए। यदि पशु अति बेचैन, पागल जैसा अथवा अत्यधिक दर्द से पीड़ित हो तो उसे नशीली दवा दे दीजिए। क्लोरल हाइड्रास को घोलकर आमाशय-नलिका द्वारा पिलाने से शीघ्र लाभ होता है। मलाशयी-परीक्षण करने पर यदि मूत्राशय मूत्र से तना हुआ मिले तो कैथीटर घुसेड़ने से आराम मिल सकता है। कृत्रिम रूप से मूत्राशय को खाली करने के विषय पर काफी वाद-विवाद हो चुका है, किन्तु, इसमें कोई संदेह नहीं कि इस तनावपूर्ण अंग के खाली हो जाने पर पशु को आराम मिलता है। प्रत्येक चार घंटे के अवकाश पर पशु को कम से कम एक बार अवश्यक पलटना चाहिए, किन्तु आवश्यक सहायता पाना कभी-कभी ही सभव हो पाता है। दर्दयुक्त तनाव को रोकने के लिए मूत्राशय की दशा को देखते रहना चाहिए। प्रयोगात्मक रूप से सभी लोग मृदुरेचक पदार्थों के सेवन की राय देते हैं। इस कार्य के लिए 2 से 4 क्वार्ट (2000-4000 घ० सें०) खनिज तेल देना एलोइन से अधिक अच्छा है, क्योंकि यह कम उत्तेजक है तथा एलोइन के प्रयोग से दस्त आकर कमजोरी आ जाती है। रोग की कुछ भी प्रवृत्ति क्यों न हो, इसमें क्षीणता तथा कमजोरी अवश्य होती है, अतः कोई भी ऐसा पदार्थ पशु को नहीं खिलाना चाहिए जिससे उक्त दोनों लक्षणों को बल मिलता हो। इस कारण एरीकोलीन अथवा ऐसी ही क्रिया वाली अन्य औषधियाँ पशु को नहीं दी जानी चाहिए। पशु को थोड़ी-थोड़ी मात्रा में मुलायम घास तथा पानी बार-बार देना चाहिए। रोग के उग्र प्रकार में जब रोगी की बचने की कम संभावना हो, तो उस पर लगातार ध्यान रखना चाहिए, अन्यथा रोगी बेचैनी अथवा उन्माद के आक्रमण में काफी दूर जाकर कहीं बुरी तरह गिर सकता है और उसके ठीक होने की कोई सम्भावना नहीं रहती। रोग-ग्रसित मांस-पेशियों पर नम तथा गरम पदार्थों का लगातार प्रयोग करना, उनमें रक्त संचार बढ़ाना है। सभी लेखकों ने ऐसे पदार्थों के प्रयोग करने की राय दी है। बहुधा इन पदार्थों को केवल नितम्ब के क्षेत्र पर ही लगाया जाता है तथा अपकर्षित परिवर्तनयुक्त इलिओप्सास तथा रेक्टस फीमोरिस पेशियों की मांस-पेशियों को बिना चिकित्सा के ही छोड़ देते हैं।

मांसल तथा अन्य परिवर्तनों को ठीक करने के लिए अनेक औषधियों का प्रयोग किया जाता है, किन्तु इस बात का बहुत ही कम प्रमाण प्राप्त है कि इनमें से कोई भी लाभप्रद है। रक्त-संचार में पहुँची हुई अम्लीय वस्तुओं का प्रभाव कम करने के लिए रोगी पशु को क्षारीय पदार्थ दिए जाते हैं। इसके लिए डीकरहोफ (Dieckerhoff) ने सोडाबाइकार्ब का प्रयोग किया। आजकल इसे अंतः शिरा इन्जेक्शन द्वारा दिया जाता है। हर्था[3] (Hertha) के अनुसार इसका ताजा तैयार किया हुआ 2 प्रतिशत घोल 5 लिटर की मात्रा में रोगी पशु को देना चहिए। चूँकि डीकरहोफ ने वह वाद प्रस्तुत किया कि कालामूत्र रोग में मांस-पेशियों से रक्त प्रवाह में काफी मात्रा में अम्लीय पदार्थ आ जाते हैं, अतः टिसुओं का आक्सीकरण एवं क्षारीयकरण किया जाना चाहिए। इसके लिए डीकरहोफ ने पहले दिन सोडाबाइकार्ब (150-300 ग्राम) को सोडियम सल्फेट (300-500 ग्राम) के साथ मिलाकर प्रयोग किया। तत्पश्चात् नित्य 50-200 ग्राम की मात्रा में सोडाबाइकार्ब दिया। ऐसे ही पदार्थों का प्रयोग हर्था[1], कार्लसंट्रम[3] तथा अन्य लोगों द्वारा निकाले गए इस निष्कर्ष के कारण बढ़ा कि इस बीमारी का आवश्यक कारण ग्लाइकोजन से आच्छादित मांस-पेशियों में लैक्टिक एसिड का बढ़ना है। इस बीमारी के लिए अनेक औषधियाँ स्वीकृत की जा चुकी है, किन्तु कोई भी निश्चित रूप से उपयोगी नहीं सिद्ध हुई। कैल्शियम ग्लूकोनेट के लाभकारी गुण के बारे में अनेक रिपोर्टें प्रकाशित हो चुकी हैं, किन्तु इस बीमारी में इसका महत्व अभी निश्चित न हो सका है। हृत्-टानिकों और इपीनेफरीन (ऐड्रीनलीन, इफीड्रीन) को भी सोडियम बाइकार्बोनेट के साथ प्रयोग किया जाता है।

राइट[5] (Wright) ने इन्सूलीन के इन्जेक्शन के प्रयोग से कुछ पशुओं के अच्छे होने की रिपोर्ट की है, किन्तु इसकी वास्तविकता अंकित करने के लिए इनकी संख्या बहुत कम है। इसे 100 से 200 यूनिट की मात्रा में नित्य अधस्त्वक् तथा अंत.शिरा दोनों ही मार्गों द्वारा दिया गया। वर्थ-डीर्नोफर[4] (Wirth-Diernhofer) ने एक ऐसी रिपोर्ट का संदर्भ दिया है जिसमें 80 ग्राम कैल्शियम ग्लूकोनेट तथा 15 ग्राम बोरिक एसिड को एक लिटर पानी में घोलकर, पीड़ापहारी औषधियों जैसे नोवल्जीन के साथ मिलाकर, अंत.शिरा तथा अतः मांस पेशी इन्जेक्शन द्वारा देकर, तथा ठंडे पदार्थों को लगाकर मृत्यु दर काफी कम की गई।

संदर्भ

1. Carlstrom, Berger, Ueber die Aetiologie and Pathogeneso der Kreuzlahme des Pferdes, Skandanavisches Archiv fur Physiologie, 1931, vol. 62.
2. Romau, B., and Martin, H., Muscular changes in azoturia Cornell Vet., 1926, 16, 286.
3. Hertha, K., Urasachen, Verhütung and Behandlung der Hämoglobinämie des Pferdes, Monatshefte f. Tierheilk, 1921 32, 165, abs. Cornell Vet., 1924, 14, 170.
4. Lehrbuch der inneren Krankheiten der Haustiere, Enke, 1950, p. 152.
5. Wright, J. G., Insulin in the treatment of equine myoglobinuria, Vet. Rec., 1937, 49, 187.

प्रसवकालीन पक्षाघात

(Parturient Paresis)

(दुग्ध-ज्वर)

परिभाषा—यह नई ब्याई हुई गायों का पक्षाघात तथा अचेतनता है जिसमें दुधारू गायों की मृत्यु तक हो जाती है। रोग प्राय मांसपेशियों की ऐंठन तथा टिटैनी जैसे लक्षणों के साथ प्रारम्भ होता है। रक्त में कैल्शियम का एकाएक कम हो जाना, इसका कारण है। चूंकि पैराथायरायड ग्रंथियाँ प्रत्यक्ष रूप से कैल्शियम उपापचयन को कंट्रोल करती हैं, अत दुग्ध-ज्वर को इस ग्रंथि की गड़बड़ी के साथ संलग्न करने के प्रयास किए गए हैं। इस रोग में रक्त शर्करा की मात्रा भी बढ़ जाती है।

कारण—इस रोग के बारम्बार प्रकोप करने तथा अधिक दूध देने वाली गायों को भारी क्षति पहुँचने के कारण, वर्षों से इस विषय का सघन अध्ययन किया जा रहा है। कोल्डिंग, डेनमार्क के एक पशु चिकित्सक स्किमिडेट्[1] ने सन् 1897 में इस वाद पर आधारित होकर कि यह बीमारी दूध स्रवित करने वाले अयन में टाक्सिन उत्पन्न होने के कारण होती है और पोटाश आयोडायड दूध के उत्पादन तथा अपरोक्ष रूप से टाक्सिन के बनने को कम करता है, पोटाशियम आयोडायड के घोल का अत -स्तनीय इन्जेक्शन का अन्वेषण किया। इस अन्वेषण से पूर्व इस बीमारी के कंट्रोल के बारे में बहुत ही कम जानकारी प्राप्त थी। एक बड़ दुग्ध साइफन, रबर नलिका और काँच की कीप द्वारा उन्होंने 5 ग्राम पोटास आयोडायड को 0 75 लिटर ताजे उबाले हुए पानी में घोल कर अत -स्तनीय इन्जेक्शन दिया। उन्होंने कहा कि प्रत्येक इन्जेक्शन देने पर नलिका में से वायु का कुछ भाग अयन में जाता था और चूंकि कीप अक्सर खाली हो जाती थी, अत ऐसा बारम्बार हुआ। अपने निष्कर्ष म उन्होंने लिखा कि वायुमंडल की हवा के साथ पोटास आयोडायड के अयन में प्रवेश करने तथा बाद में मल देने पर रोगी शीघ्र ही ठीक होने लगते हैं। स्किमिडेट् द्वारा इस प्रकार चिकित्सा किए गए 50 रोगियों में से 46 पशु ठीक हो गए, 2 मर गए तथा 2 का वध किया गया। अत में 65 पशु चिकित्सों द्वारा 412 रोगियों के किए गए इलाज की एक सयुक्त रिपोर्ट में 90 प्रतिशत रोगियों को ठीक होते बताया गया। फिर भी इस रिपोर्ट से यह स्पष्ट नहीं है कि वायु की क्रिया इसमें किस प्रकार होती है। किन्तु कोल्डिंग, डेनमार्क में चिकित्सा करने वाले पशु चिकित्सक को, जिसने 50 पृष्ठ स अधिक इस बीमारी पर लिखे, पशु आयुर्विज्ञान के क्षेत्र में इस महत्वपूर्ण अन्वेषण का श्रेय प्राप्त है। अत में स्कैन्डिनेवियाँ के ऐंडर्सन[2] (Anderson) ने यह खोज किया कि अयन में केवल हवा भर देना ही काफी लाभप्रद है। इस प्रकार यह प्रदर्शित किया किया गया कि अयन के कृत्रिम तनाव से ही बीमारी शीघ्र ठीक हो जाती है, यद्यपि बीमारी का कारण अज्ञात ही रहा।

कैल्शियम का अभाव—दुग्ध-ज्वर के कारण के बारे में सर्वमान्य तथ्य रक्त में एकाएक कैल्शियम की कमी हो जाना है। यह वाद सन् 1925 में ड्रायर और ग्रेग[3] (Dryerre and Greig) ने प्रस्तुत किया। इस वाद के समर्थन में ग्रेग[4] ने लिखा कि 'गाय की खीस में कैल्शियम बहुत होता है और सभवत अधिक दूध देने पर कभी कभी रक्त में कैल्शियम

की कमी हो जाती है। यह विचार हमारे अगले अवलोकनों से और भी पुष्ट हो गया कि दुग्ध-ज्वर के प्रारम्भ में होने वाली मांस-पेशियों की ऐंठन टिटैनी जैसी होती है। हमारे विचार से अधिक दूध बनने के कारण रक्त से कैल्शियम का केवल कृत्रिम निष्कासन दुग्ध ज्वर का कारण नहीं हो सकता क्योंकि यदि ऐसा होता तो सभी अधिक दूध देने वाली गायों को यह बीमारी हो जाती। इस कारण हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि कोई अन्य कारक इसका पुरः प्रवर्त्तक कारण होना चाहिए और हम लोगों के विचार से ऐसा पैराथायरायड ग्रंथि की गड़बड़ी से हो सकता है।" किन्तु, दुग्ध-ज्वर में पैराथायरायड की गड़बड़ी का कोई प्रमाण उपस्थित न किया जा सका।

इस वाद के समर्थन से लेखक[4] ने निम्नलिखित तथ्य प्रदर्शित किए :

"ब्याई हुई गायों तथा बिना ब्याई गायों एवं बैलों के कैल्शियम मूल्य में कोई अन्तर नहीं है।"

"दुग्ध-स्रावण का प्रारम्भ क्षणिक किन्तु, काफी मात्रा में रक्त में कैल्शियम की कमी के साथ होता है। दूध का बहाव प्रारम्भ हो जाने के बाद यह मात्रा नार्मल हो जाती है।"

"दुग्ध-ज्वर में, प्रायः रक्त में कैल्शियम की काफी कमी हो जाती है। लक्षणों के आवेग का रक्त में कैल्शियम की मात्रा से सीधा संबंध है। एक रोगी में आक्रमण के पहले तथा आक्रमण के समय किए गए अनेक अवलोकनों से यह पता चला कि कैल्शियम की कमी एकाएक होती है। यह रोग के आक्रमण के साथ प्रारम्भ होती है और लक्षणों के वेग के अनुरूप होती जाती है।"

"दुग्ध-ज्वर के अतिरिक्त अन्य रोगों से ग्रसित 81 गो-पशुओं के परीक्षण में किसी में भी रक्त में कैल्शियम की इतनी कमी नही पाई गई जितनी कि इस बीमारी में हुआ करती है।"

"सामान्य दूध देने वाली भेड़ों के अयन में जब हवा भर दी गई तो उनके रक्त में कैल्शियम की लगभग 10 प्रतिशत वृद्धि देखी गई।"

"दुग्ध-ज्वर से पीड़ित गायों के अयन में हवा भरने पर रक्त में कैल्शियम की काफी वृद्धि होती है। वृद्धि प्रारम्भ में अधिक होती है तथा कैल्शियम के 6 से 7 मिलिग्राम प्रतिशत हो जाने पर गायों में ठीक होने के लक्षण दिखाई देने लगते हैं।"

"अन्य चिकित्सा को छोड़कर कैल्शियम ग्लूकोनेट का इन्जेक्शन देने से इस बीमारी में शीघ्र लाभ होता है।"

"कैल्शियम ग्लूकोनेट का त्वचा के नीचे इन्जेक्शन देने पर दुग्ध-ज्वर ठीक हो सकता है। ब्याने के तत्काल बाद कैल्शियम का पहला तथा 24 घंटे बाद एक दूसरा इन्जेक्शन दे देने पर पशु में यह रोग नहीं होता, ऐसे प्रमाण मिले हैं।"

भेड़ों में प्रसव रोग (lambing sickness) का प्रयोगात्मक अध्ययन करने से इस रोग की दुग्ध-ज्वर से समानता तथा कैल्शियम ग्लूकोनेट के रोग-हर प्रभाव की जानकारी हुई।

दुग्ध-ज्वर से पीडित गायों के रक्त में कैल्शियम की मात्रा नार्मल (10 मि० ग्रा० प्रति 100 घ० सें० सीरम) से गिरकर न्यूनतम 3.00 मि० ग्रा० प्रति 100 घ० सें० तथा अधिकतम 7 76 मि० ग्रा० प्रति 100 घ० सें० हो जाती है।

इस प्रमाण के आधार पर तथा कैल्शियम ग्लूकोनेट के शीघ्र प्रभावकारी गुण के कारण सभी लोग इस बात से सहमत हैं कि दुग्ध-ज्वर का आवश्यक कारण रक्त में एकाएक कैल्शियम की कमी का होना है।

अयन में हवा भर कर तनाव उत्पन्न करने के समर्थन में ग्रेग[4] ने अपना वाद प्रस्तुत किया "कि इसका प्रभावकारी गुण कृत्रिम है जिसमें यह अयन का तनाव करके रक्त से कैल्शियम को अयन की ग्रंथियों में आने से रोकता है। "साथ ही यह भी विश्वासनीय है कि अयन में आया हुआ अधिक कैल्शियम अयन के तनाव के परिणामस्वरूप रक्त में वापस चला जाता है।"

ग्रेग[5] ने बताया कि आधा गैलन क्षीर में उतना कैल्शियम हो सकता है जितना रक्त में किसी एक समय होता है। यह तथ्य इस बात का सूचक है कि दुग्ध-ज्वर में रक्त में कैल्शियम की स्वल्पता एक उपयुक्त कमी न होकर, कैल्शियम के वितरण की गड़बड़ी है।

बारकर[6] (Barker) का यह विचार "कि दुग्ध-ज्वर, साधारण कैल्शियम रक्त-स्वल्पता की अपेक्षाकृत अधिक जटिल रोग है" दुग्ध ज्वर, अम्ल रक्तता, टिटैनी तथा गर्भ-कालीन विषाक्तता युक्त 300 रोगियों की रिपोर्ट से समर्थित है। इस प्रकार प्रसवकालीन रक्त में कैल्शियम की कमी होना निम्न में से किसी एक के साथ सम्बन्धित है: (अ) अति मैगनीशियम रक्तता (hypermagnesaemia); (ब) नार्मल मैगनीशियम मूल्य; अथवा (स) अल्प मैगनीशियम रक्तता (hypomagnesaemia)। उन्होंने लिखा कि "पशु का स्वभाव देखकर इन तीनों अवस्थाओं को अलग-अलग पहचाना जा सकता है: (अ) जब रक्त में कैल्शियम की कमी के साथ मैगनीशियम की अधिकता होती है तो रोगी चक्कर काटता, अवमन्न हो जाता तथा बेहोशी बढ़ती जाती है, (ब) जब रक्त में कैल्शियम की कमी के साथ मैगनीशियम नार्मल रहता तो रोगी अपने पिछले पैर चलाता, झुक जाता, उठ पाता अथवा न उठ पाता और अन्त में अवसन्न होकर मूर्छित-सा हो जाता है, (स) जब रक्त में कैल्शियम की कमी के साथ मैगनीशियम की भी कमी होती है तो पशु के अगले भागों में टिटैनी जैसी अकड़न तथा पिछले पैरों में अति संवेदिता (hyperaesthesia) होती, वह झुका हुआ-सा रहता तथा बाद में माँस-पेशियों के अनैच्छिक उग्र संकुचन होने लगते हैं।" उन्होंने टिटैनी प्रदर्शित करने वाले अधिकांश रोगियों में अकार्बनिक फास्फोरस की कमी भी रिपोर्ट की।

दुग्ध-ज्वर का अधिक होना, तथा चिकित्सा के बाद पुनः प्रकोप करना अथवा रोगी की मृत्यु होना आदि लक्षण इस बात का अनुमान कराते हैं कि इस बीमारी के कारण तथा प्रकार के बारे में आमतौर पर माने गए सिद्धांत अभी तक अपूर्ण हैं।

बीमारी का प्रकोप अधिकतम दुग्ध उत्पादन के समय होता है। लेखक के चल-चिकित्सालय में तीन वर्ष की अवधि में चिकित्सा प्राप्त 113 रोगियों में से केवल एक की आयु 5 वर्ष से कम थी तथा 90 प्रतिशत से अधिक 5 से 9 वर्ष के बीच के थे। इनमें से 48 पशुओं की आयु 7 अथवा 8 साल की थी। लगभग 25 प्रतिशत पशु अन्य प्रसव रोग,

विशेष कर रुकी हुई जर, से भी पीडित हुए। चार पशुओ की निम्न प्रकार मृत्यु हो गई : एक की आते आते, दो की निमोनिया से तथा एक की गर्भाशय की ऐंठन से। एक बडे यूथ में दुग्ध-ज्वर के 77 रोगियो में से, 5 दूसरे प्रसव के समय बीमार होते देखे गए। इनमें से सबसे छोटा पशु 3 वर्ष 11 माह का था तथा पाचो की औसत आयु 4 वर्ष, 2 माह थी। हैन्डर्सन[7] के अनुसार इस यूथ में बीमारी का मौसमिक प्रकोप मई से सितम्बर के बीच ब्याने वाले पशुआ में 4 07 प्रतिशत तथा अक्तूबर से अप्रैल के मध्य 13 35 प्रतिशत था। मेट्स्गार और मोरीसन[8] ने इसके सबसे अधिक मौसमिक प्रकोप जनवरी से अप्रैल के बीच होते बताए। चल-चिकित्सालय में दुग्ध-ज्वर के अधिकतम प्रकोप सितम्बर से मई के बीच होते देखे गए हैं जबकि ब्याने वाले पशुओं की सख्या सबसे अधिक होती है और इसी अवधि में एक वर्ष में दूसरे वर्ष की अपेक्षाकृत दुगुने पशु बीमार हो सकते हैं। नस्ल के अनुसार दुग्ध-ज्वर की बीमारी जर्सी पशुओ में सबसे अधिक होती है। चल चिकित्सालय की देखभाल के अन्तर्गत एक बडे यूथ से हैन्डर्सन[7] द्वारा सकलित किए गए 77 रोगियो में नस्ल के अनुसार दुग्ध-ज्वर की प्रतिशत निम्न प्रकार थी

जर्सी	29 2	गूरेन्जी	8 6
ब्राउन सुइस	15 3	यारशायर	6 0
शाट हार्न	13 3	होल्सटिन	5 6

ये अवलोकन, मेट्स्गार और मोरीसन[8] द्वारा रिपोर्ट किए गए अवलोकनो की भाँति ही हैं। कुछ पशु प्रत्येक बार ब्याने पर दुग्ध-ज्वर से पीडित होते हैं और ऐसे बार-बार होने वाले आक्रमण जर्सी नस्ल के पशुओ में अधिक देखे जाते हैं।

विकृत शरीर रचना—शव परीक्षण ऋणात्मक होता है। दुग्ध-ज्वर की विशेपता प्रकट करने वाले शरीर रचनात्मक परिवर्तन भी नही दिखाई देते, यद्यपि गर्भाशय में थोडा बहुत सकुचन दिखाई दे सकता है। थोडा बहुत सुधार होने अथवा बीमारी के पुन आक्रमण के बाद जो गायें मर जाती हैं उनमें यकृत का उग्र अपकर्षण मिलता है जो देखने में पीला तथा गला हुआ प्रतीत होता है।

चित्र—60 दुग्ध-ज्वर से पीडित गाय का "विशिष्ट लक्षण' (डब्ल्यु० जे० गिवस के सौजन्य ... फोटोग्राफ)।

लक्षण—ब्याने के बाद 12 से 72 घटे में इस रोग का आक्रमण होता है। बच्चा जन्मने के पूर्व तथा महीनो बाद भी यह रोग हो सकता है। दुग्ध-ज्वर के लक्षणो की विभिन्न असामान्य परिस्थितियो तथा इलाज के प्रति इसकी प्रवृत्ति के कारण, ब्याने के काफी दिनो बाद होने वाले इसके आक्रमण का निदान रक्त में कैल्शियम का परीक्षण करके करना चाहिए। लेखक के चल चिकित्सालय में देखे गए कुछ रोगियो के रक्त में कैल्शियम की कमी

मिली। प्रारम्भ में गाय निराश सी होकर चलना नहीं चाहती है। यह प्रारम्भिक अचेतनता के लक्षण हैं। कभी-कभी प्रारम्भ में कुछ-कुछ उत्तेजना, मामूली ऐंठन, अति संवेदनशीलता तथा सिर व पैरों के अनैच्छिक उग्र संकुचन के लक्षण मिलते हैं जो शीघ्र ही विशिष्ट अवसन्नता तथा अचेतनता में परिणित हो जाते हैं। रोग का विशिष्ट प्रकार में सबसे पहले पिछले पैरों में पक्षाघात होता है। तत्पश्चात् पशु खड़ा रहने में असमर्थ होकर अपना सिर एक ओर करके जमीन पर बैठ जाता है तथा धीरे-धीरे बेहोश होता जाता है। ग्रेग[3] के अनुसार प्रारम्भिक अति संवेदना तथा मांस-पेशियों का अनैच्छिक उग्र संकुचन होना टिटैनी जैसे लक्षण हैं। चेतना के अभाव वाले रोगियों में निराशा के लक्षणों के बाद एक बार उग्रता हो सकती है जिससे इसका समझना संदेहपूर्ण हो जाता है। यह पैराथाय-रायड ग्रंथि की गड़बड़ी से उत्पन्न टिटैनी है अथवा अचेतनता के कारण आकस्मिक प्रारम्भिक उत्तेजना यह स्पष्ट नहीं है।

अधिकांश रोगियों में ऐंठन अथवा अन्य अनैच्छिक गतियों जैसे प्रेरक लक्षण न होकर पक्षाघात तथा अचेतनता ही इसके प्रधान लक्षण होते हैं। इसका सबसे विशिष्ट तथा स्थायी लक्षण गर्दन की मांस-पेशियों की तनावपूर्ण ऐंठन है जो इसे मोड़कर एक ओर कर देती है। प्राय गाय गिरी हुई तथा उठने में असमर्थ पाई जाती है। आँखें भद्दी तथा घूरती हुई दिखाई देती, पुतलियों का प्रसार हो जाता और कन्जक्टाइवा की श्लेष्मल झिल्ली प्राय. रक्त-वर्ण दिखाई देती है। रोगी पशु बिल्कुल ही चारा नहीं खाता तथा चारा न खा पाना परिचारक द्वारा देखा गया बीमारी का पहला लक्षण हो सकता है। मुँह सूख जाता है तथा सींग, थन और शरीर के किनारे के भाग ठंडे पड़ जाते हैं। नाड़ी-गति 50 से 85 तथा तापक्रम 97 से 101° फारेनहाइट के मध्य रहता है। जब यह रोग निमोनिया अथवा लू जैसी ज्वरयुक्त बीमारियों के साथ होता है तो इसमें पशु को तेज बुखार होता है। पशु कभी-कभी कराहता है तथा उसका श्वसन आक्रमण के वेग के अनुसार तेज, गहरा और कष्टप्रद हो सकता है। कान प्राय गिरे हुए दिखाई देते हैं। पाचन-तंत्र की अलसता होकर पशु गोबर कम करता है तथा पक्षाघात की अन्य अवस्थाओं की भाँति इसमें भी मलद्वार शिथिल पड़ जाता है। जमीन पर पड़े रहने वाले पशुओं में अफरा होने की अधिक संभावना रहती है। अधिक बेहोशी होने पर जब पशु एक करवट लेटता है तो रूमन का चारा मुँह में आकर नथुनों में प्रवेश पा सकता है जिससे पशु को प्राणघातक निमोनिया हो जाती है। स्मिडेट[1] द्वारा रिपोर्ट किए गए रोगी में उन्होंने मूत्राशय का मूत्र से तना हुआ, गर्दन का ऐंठ जाना तथा आँख की

चित्र—61 गर्दन को एक ओर मोड़कर रखना दुग्ध-ज्वर का प्रमुख लक्षण है (डब्ल्यु०, जे० गिब्सन के सौजन्य से प्राप्त फोटोग्राफ)।

पुतली छूने पर कोई भी प्रक्रिया न होना आदि लक्षण पाए। दुग्ध-ज्वर में आँख की पुतलियाँ फैल जातीं हैं तथा पशु के मुँह से लार गिर सकती है।

बीमारी का कारण तथा प्रकार जानने के प्रयास में अनेक अन्वेषण-कर्त्ताओं ने रोगी पशु के रक्त का रासायनिक परीक्षण किया है। रक्त में होने वाले परिवर्तनों को समझने के लिए यह जान लेना आवश्यक है कि प्रयोगात्मक रूप से रक्त में पाई जाने वाली सभी असामान्य परिस्थितियाँ गौण रूप में हुआ करती हैं। हेडेन्[9] (Hayden) ने सबसे पहले यह प्रदर्शित किया कि दुग्ध-ज्वर में अति शर्करा रुधिरता (hyperglycemia) की परिस्थिति भी हुआ करती है जबकि फिश[10] (Fish) ने फास्फेट की कमी देखी। ग्रेग का कार्य, जिसमें कैल्शियम की कमी बताई जाती है, पहले ही वर्णन किया जा चुका है।

बिना चिकित्सा किए गए रोगियों में बीमारी की अवधि कुछ घंटों से लेकर कुछ दिनों की होकर, रोगी पशु की मृत्यु हो जाती है। भलीभाँति देखभाल तथा चिकित्सा करने पर 3 या 4 प्रतिशत से अधिक पशुओं की मृत्यु नहीं होती और यह भी श्वसन निमोनिया, अथवा साथ होने वाली बीमारियों जैसे कष्टआर्तव प्रसव, गर्भाशय की ऐंठन, आंत्रार्ति आदि रोगों के परिणामस्वरूप उत्पन्न जटिलताओं के कारण होती है। चरागाह पर चरने वाली एक गाय पहाड़ी से नीचे लुढ़क कर प्राणघातक चोटों से पीड़ित हुई। रोग के भीषण प्रकोप में चिकित्सा उपलब्ध होने के पूर्व ही, रोगी की मृत्यु हो जाने की संभावना रहती है।

निदान—दुग्ध-ज्वर के विशिष्ट साधारण आक्रमणों का आसानी से निदान हो जाता है। फिर भी प्रायः ऐसा देखा गया है कि अविशिष्ट लक्षण तथा अन्य रोग, जैसे सेप्टिक थनैली, द्वारा उत्पन्न दुग्ध-ज्वर जैसे लक्षण होने पर रोग का प्रारम्भ में ही सही निदान करना कठिन हो जाता है। गर्भाशय-शोथ इसकी अक्सर होने वाली जटिलता है। रोगी पशु दुग्ध-ज्वर के विशिष्ट लक्षण प्रकट कर सकता है तथा चिकित्सा से कोई लाभ नहीं होता। गर्भाशय के आकार तथा योनि में स्राव की अनुपस्थिति के कारण तत्काल निदान संभव नहीं हो पाता। जब चिकित्सा से लाभ न हो अथवा अस्थायी फायदा हो और 24 घंटे अथवा अधिक समय तक पक्षाघात रहे तो गर्भाशय का भली-भाँति निरीक्षण करना चाहिए। यदि ऐसे पशु उठकर खड़े नहीं हो पाते तो गर्भाशय का परीक्षण संतोषजनक नहीं रहता। गर्भाशय के अन्दर भरे पदार्थ का पता लगाने के लिए एक रबर की नली द्वारा थोड़ा ऐंटिसेप्टिक घोल भर कर बाहर निकाल लीजिए जिससे उसमें पीव आदि देखा जा सके। गर्भाशय में पीव की उपस्थिति में भी यदि बाहर निकाला गया घोल साफ हो तो यह प्रयोग भी असफल हो सकता है। दुग्ध-ज्वर के इलाज के बाद भी यदि रोगी की मृत्यु हो जाए तो इसे गर्भाशय-शोथ के परिणामस्वरूप होती समझनी चाहिए। इस कारण से मरे हुए पशुओं में शव-परीक्षण के अतिरिक्त अन्य किसी विधि द्वारा रोग का निदान करना संभव नहीं हो सकता।

इस बात के प्रमाण कि अविशिष्ट दुग्ध-ज्वर के अनेक रोगी अम्ल-रक्तता के साथ होते हैं, इस बीमारी के आवश्यक संलक्षण पर विचार करना अनिवार्य सा कर देते हैं। अम्ल-रक्तता छोटे पशुओं में भी हो सकती है। आमतौर पर मूत्र अथवा रक्त का परीक्षण

करने पर उसमें कुल कीटोन पदार्थ काफी बढ़े हुए मिलते हैं। फिर भी कुछ रोगी ऐसे भी होते हैं जिनमें प्रयोगशाला परीक्षण करने पर दोनों बीमारियों की विशेषताएँ मिल सकती हैं। उदाहरणार्थ, ब्याने के आठ दिन बाद बीमार हुई गाय में रक्त का परीक्षण करने पर 5·7% कैल्शियम (अल्प कैल्शियम रक्तता), 34·84% शर्करा (अल्पशर्करा रुधिरता), और 11·10 प्रतिशत एसीटोन (अम्ल रक्तता) मिला।

जब दुग्ध-ज्वर जैसे लक्षण गर्भकाल की अंतिम अवस्था में प्रकट होते हैं तो यह विचार करना पड़ता है कि यह रोग दुग्ध-ज्वर है अथवा बंद गर्भाशय में गर्भाशय-शोथ (दोनों ही हो सकते हैं) या थनैली। दुग्ध-ज्वर की चिकित्सा से लाभ होने के बाद भी पशु को विभिन्न प्रकार के पक्षाघात के साथ, गर्भाशय-शोथ के प्रकोप हो सकते हैं।

जब ब्याने के कई माह बाद उग्र थनैली अथवा अपच के साथ दुग्ध-ज्वर के लक्षण प्रकट होते हैं तथा अयन में हवा भरने अथवा कैल्शियम देने पर शीघ्र गायब हो जाते हैं तो रोग का निदान बिल्कुल स्पष्ट नहीं हो पाता। यह या तो दुग्ध-ज्वर अथवा अम्ल रक्तता रोग हो सकती है। प्रायः यह दुग्ध-ज्वर ही होता है।

जब रोग का तेजी से आक्रमण होता है तथा गाय मारती, कराहती, मुंह से झाग डालती, उलटती-पलटती तथा देखने में पागल सी प्रतीत होती है तो उसे सीस-विषाक्तता से उत्पन्न तानिकाशोथ रोग से पीड़ित समझा जाता है। किन्तु, जब ऐसे रोगी अयन में हवा भरने अथवा कैल्शियम देने पर ठीक होने लगें तो दुग्ध-ज्वर अथवा अम्ल-रक्तता का निदान निश्चित हो जाता है। ब्याने के समय जब कोई उग्र रोग प्रकोप करे तो जब तक किसी अन्य बीमारी का सही प्रमाण न मिले, इसे प्रसवकालीन रोग ही समझना चाहिए।

असाध्य न हुए रोगियों में रोग का फलानुमान अच्छा होता है। जब रोग का आक्रमण प्रसव के तत्काल बाद अथवा इसके 6-8 घंटे बाद हो तो रोगी की शीघ्र चिकित्सा करनी चाहिए। ऐसा रोगी शीघ्र ही मर सकता है और इसमें रोग का आक्रमण भी बार-बार होता है। दुग्ध-ज्वर जब कष्टआर्तव प्रसव, गर्भाशय के भ्रंश अथवा उग्र गर्भाशयशोथ के साथ होता है तो चिकित्सा से लाभ होता नहीं मालूम पड़ता तथा क्षणिक सुधार के बाद इसका पुनः आक्रमण हो जाता है। लेखक ने दुग्ध-ज्वर तथा गर्भाशय के भ्रंश के एक साथ प्रकोप करने के तीन रोगी देखे जिनमें से प्रत्येक का मृत्यु होकर अंत हो गया।

चिकित्सा—जब से इस बात का पता लगा कि अयन में हवा भरने से प्रायः अधिकतर रोगी ठीक हो जाते हैं, वायु-चिकित्सा का प्रयोग सर्वत्र होने लगा है। इस चिकित्सा ने डेरी-उद्योग की एक बहुत ही नष्टकीय बीमारी को कंट्रोल किया है। संभवतः इस प्राणघातक रोग की इतनी साधारण चिकित्सा के अतिरिक्त कोई अन्य ऐसा उदाहरण नहीं है।

ड्रायर और ग्रेग[3,4] द्वारा कैल्शियम की कमी के अन्वेषण के बाद, कैल्शियम देने की राय दी गई है। रोग-हर चिकित्सा के रूप में यह भी काफी शीघ्र प्रभावकारी सिद्ध हुआ है। साधारण रोगियों में इसके रक्त में प्रवेश पाने के बाद 10-15 मिनट में ही पशु ठीक हो जाता

है। 375 घ० सें० 20 प्रतिशत कैल्शियम ग्लूकोनेट* अंतःशिरा तथा 125 घ०सें० अधस्त्वक् इंजेक्शन द्वारा देने से पशु की हालत में शीघ्र सुधार होता है। हृदय की गति रुक जाने के भय को बचाने के लिए यह इन्जेक्शन पतली सुई से धीरे-धीरे 15-30 मिनट में देना चाहिए। यदि अधस्त्वक् टीका देना हो तो इंजेक्शन को कई स्थानों पर लगाना चाहिए। दवा जब जल्दी चढ़ाई जाती है तो नाड़ी-गति कम होकर 30 तथा अनियमित हो जाती है। इंजेक्शन धीरे-धीरे देने पर नाड़ी-गति में कोई परिवर्तन नहीं होता। रोगी की हालत में सुधार न होने अथवा रोग का पुनः आक्रमण हो जाने पर 3-4 घंटे बाद इस दवा को दोहरा देना चाहिए। पहली खुराक में 1000 घ० सें० 20 प्रतिशत घोल देने की आम प्रथा है तथा तीन से अधिक बार में 2500 घ० सें० तक इसे दिया जा सकता है। दुग्ध-ज्वर के साथ अम्ल-रक्तता होने के कारण पशु-चिकित्सक कैल्शियम ग्लूकोनेट घोल के साथ 40 प्रतिशत डेक्सट्रोज घोल मिलाकर देते हैं और ऐसा विश्वास किया जाता है कि कैल्शियम का इस प्रकार हल्का करना सुरक्षा को बढ़ाता है। अम्लरक्तता की उपस्थिति में पशु को प्रमुख भय अल्प कैल्शियम रुधिरता से रहता है। उन क्षेत्रों में जहाँ मैगनीशियम के अभाव का संदेह किया जाता है और उन रोगियों में जो कैल्शियम-डेक्सट्रोज चिकित्सा से ठीक नहीं होते; कैल्शियम, मैगनीशियम और डेक्सट्रोज का सम्मिश्रण अधिक लाभकारी हो सकता है। यदि फिर भी समुचित लाभ होने में विलम्ब हो तो रोगी के अयन में हवा भर देनी चाहिए। इस बात की अनेक रिपोर्टें प्राप्त हैं कि पुनः आक्रांत होने वाली गायों को 1/4 पौंड की मात्रा में मुंह द्वारा मैगनीशियम सल्फेट देने से वे शीघ्र ठीक हो जाती हैं। हालत में धीरे-धीरे सुधार होने अथवा बार-बार रोग का आक्रमण होने पर कैल्शियम ग्लूकोनेट के इंजेक्शन के साथ अथवा अलग से कुछ उत्तेजक पदार्थ, जैसे ऐम्फेटासल (amfetasul), देना चाहिए। ऐसे रोगियों की चिकित्सा में कैल्शियम का इंजेक्शन देना अथवा अयन में हवा भरना अथवा दोनों के संयुक्त प्रयोग के अतिरिक्त अन्य कोई ऐसा उपचार नहीं है जो अल्प कैल्शियम रक्तता को ठीक कर सके। जब कभी पूरक उत्तेजक पदार्थ, जैसे विस्तृत रूप से प्रयोग होने वाला ऐम्फेटामीन सल्फेट (ऐम्फेटासल, 3 से 5 घ० सें०), पशु को दिया जाता

---

* कैल्शियम ग्लूकोनेट·········1600 ग्राम,
बोरिक एसिड···············320 ग्राम,
पानी, आवश्यकतानुसार······8000 घ० सें०
पानी को उबालिए तथा उबलने पर उसमें बोरिक एसिड मिला दीजिए। इसे उबालते रहिए और साथ ही इसमें कैल्शियम ग्लूकोनेट भी मिला दीजिए। तत्पश्चात् 5 से 10 मिनट तक गरम करके, गरम अवस्था में ही रुई तथा जालीदार कीप की सहायता से साफ बोतलों में छान लीजिए। प्रत्येक बोतल में 3 बूंद फीनोल डाल दीजिए। इसके लिए 95 से 98 प्रतिशत फीनोल घोल ही प्रयोग करें। दवा भरने से पूर्व बोतलों को भलीभांति धोकर 180° फारेनहाइट के गरम पानी से साफ कर लीजिए। रबर की डाट तथा कीप को उबलते हुए पानी में डालकर साफ कीजिए। अंत में बोतलों में डाट लगाकर उन्हें धीरे-धीरे ठंडा होने दीजिए।

है तो दस मिनट बाद इसकी एक दूसरी खूराक दी जानी चाहिए। जिन क्षेत्रों में मैगनीशियम की कमी हुआ करती है वहाँ के पशुओं को मैगनीशियम सल्फेट के इन्जेक्शन अथवा 4 औंस (120 ग्राम) की मात्रा में मुँह द्वारा मैगसल्फ देना आवश्यक है।

दुग्ध-ज्वर से ठीक होने के बाद पशु का उठने के लिए प्रयास न करना इस रोग का अक्सर होने वाला दुष्परिणाम है। इसके लिए निम्न विधि अपनानी चाहिए : प्रत्येक पिछले टखने में मुड़ा हुआ पट्टा बाँध कर इसे छोटी जंजीर से जोड़ दीजिए। फिर जोड़ने वाली कड़ियों से एक रस्सी आगे की ओर निकाल कर खूँटे को जड़ से बाँध दीजिए। गाय के पैरों को अन्दर की ओर धक्का दीजिए तथा उसे बिजली की टार्च से उत्तेजित कीजिए।

कुछ रोगियों में सुधार बहुत धीरे-धीरे होता है तथा चिकित्सा करने के बाद भी रोग का बार-बार आक्रमण हो जाता है। जब अयन में हवा भरने से लाभ न हो तो कैल्शियम के प्रयोग से रोगी शीघ्र ठीक हो सकता है और जब कैल्शियम का प्रयोग असफल रहे तो अयन में हवा भरने से रोग ठीक हो सकता है। कुछ उदाहरणों में, दोनों प्रकार की चिकित्सा करने पर भी पशु बहुत धीरे-धीरे ठीक होता है। बहुत ही असाध्य रोगियों में डेक्सट्रोज (500 घ० सें० 40 प्रतिशत घोल) का अंतः शिरा इन्जेक्शन कभी-कभी बड़ा अच्छा काम करता है। कुशिंग[11] (Cushing) ने दुग्ध-ज्वर का एक ऐसा रोगी वर्णन किया जिसके अयन में 4 दिन की अवधि में 6 बार हवा भरी गई। रोग-ग्रसित गाय 5 बार उठी बैठी। अंतिम बार हवा भरने के बाद उसे डेक्सट्रोज घोल (500 घ० सें० पानी में 120 ग्राम डेक्सट्रोज) का अन्त. शिरा इन्जेक्शन दिया गया। अल्प-कैल्शियम-रक्तता के बार-बार प्रकोप अधिक मात्रा में तथा बार-बार कैल्शियम ग्लूकोनेट देने से भी होते हैं, अतः इसका आधा घोल अधस्त्वक् इन्जेक्शन द्वारा देना चाहिए जिससे शरीर में इसका धीरे-धीरे शोषण होता रहे। जब तक लक्षण मौजूद रहें कैल्शियम ग्लूकोनेट बराबर देते रहना चाहिए।

दुग्ध-ज्वर की चिकित्सा के बारे में बारकर[6] का कहना है कि "25 प्रतिशत मैगनीशियम सल्फेट घोल का अधस्त्वक् इन्जेक्शन पिछले कुछ वर्षों से औषधि के रूप में प्रयुक्त होते मालूम पड़ता है। रक्त में कैल्शियम तथा मैगनीशियम की मिश्रित कमी में कैल्शियम बोरो-ग्लूकोनेट घोल का अंत. शिरा टीका देने, तथा थनों में हवा भरने के साथ, इसका शरीर पर त्वचा के नीचे टीका दे देने से रोगी की हालत में शीघ्र सुधार होने लगता है। रक्त में मैगनीशियम की कमी के कारण दुग्ध-ज्वर होने पर मैगसल्फ का प्रयोग अति गुणकारी है। रक्त में मैगनीशियम की कमी के कारण होने वाली टिटैनी में इसका 200 घ० सें० का इन्जेक्शन थोड़ी-थोड़ी देर बाद देने से आशातीत लाभ होता है। अम्ल-रक्तता‌युक्त उन्माद के प्रकार के रोगी मैगनीशियम के प्रयोग से शीघ्र ठीक हो जाते हैं" रक्त में कैल्शियम तथा मैगनीशियम की कमी के संयुक्त रोगी ओरेगन में मथ और हाग[12] द्वारा वर्णन किए गए हैं।

अयन में हवा भरने का सबसे बड़ा लाभ यह है कि यह कार्य आसानी से होने वाला तथा सस्ता है। इस विधि से होने वाली हानि केवल यह है कि अयन में संक्रमण होकर

पशु को थनैली होने की संभावना रहती है। यह बीमारी उसी आयु पर अधिक प्रकोप करती है जिस आयु पर पशुओं में थनैली रोग अधिक होता है। यदि थनैली पहले से ही मौजूद है तो अयन के तनाव के कारण इसका पता ही नहीं लग पाता। अतः सभी सावधानियों के बाद भी अयन में हवा भरने से उसमें सूजन हो सकती है। यह भी सम्भव है कि हवा भरते समय अयन में कुछ संक्रमण पहुँच जाए जिससे बाद में दीर्घकालिक सूजन उत्पन्न हो जाए। दुग्ध-ज्वर से पीड़ित गायों में ऐसा संक्रमण होते देखा गया है।

दुग्ध-ज्वर की चिकित्सा में काम आने वाला उपकरण सदैव तैयार रखा रहना चाहिए क्योंकि इस बीमारी का प्रकोप होते समय भलीभाँति साफ करने का समय नहीं मिल पाता। थन-साइफन को पानी में उबालकर जीवाणु-रहित रुई अथवा कपड़े में लपेट कर रखना चाहिए। इसका प्रयोग करने से पूर्व अयन व थनों को पहले साबुन के गर्म पानी से धो लीजिए, तत्पश्चात् उन्हें गुनगुने जीवाणु-रहित घोल से धोइए। यह क्रिया तब तक भली भाँति नहीं की जा सकती जब तक कि गाय किसी साफ सुथरे स्थान में न बाँधी गई हो। इसके लिए साफ बिछौना तथा अयन के नीचे साफ तौलिया या कपड़ा बिछा होना चाहिए। ऐसी सावधानियाँ लेने के बाद प्रत्येक थन में तब तक हवा भरते रहिए जब तक कि अयन खूब फूल न जाए। तत्पश्चात् हवा रोकने के लिए प्रत्येक थन के चारों ओर एक पट्टी बाँध दीजिए। दबाव से उत्पन्न अपक्षय को बचाने के लिए तीन-चार घंटे बाद पट्टी को हटा दीजिए। यदि गाय को कोई लाभ न हो तो 6 से 8 घंटे बाद उसके अयन में दुबारा हवा भर दीजिए। इस क्रिया में अयन के अधिक तनाव का तो थोड़ा ही भय रहता है, किन्तु थन पर बँधी पट्टियों को खोल देने के बाद हवा निकल जाने के कारण, रोग का पुनः आक्रमण हो सकता है। हवा भरने के उपकरण के लिए, लेखक एक रुई भरे हुए धातु के खोल के साथ रबर के बल्ब को अधिक पसन्द करता है। इस उपकरण में टूट-फाट का कोई भय नहीं रहता तथा उसे साफ तौलिया में लपेट कर आसानी से कहीं भी ले जाया जा सकता है।

दुग्ध-ज्वर के रोगी की देख-भाल करते समय गाय को इधर-उधर भूसा के भरे बोरों का तकिया लगाकर उरोस्थि के बल बैठाना चाहिए। एक करवट होकर चित लेटने से रूमेन से पदार्थ का पुनः निगलन होकर पशु को प्राणघातक निमोनिया होने का भय रहता है। उसे नाल से दवा न पिलाइए। हवा भरने का इलाज ज्ञात होने से पूर्व नाल से दवा पिलाने पर अनेक गायों की मृत्यु हो गई, क्योंकि गले में पक्षाघात होने के कारण यह दवा फेफड़ों में चली गई थी।

बचाव के लिए; ग्रेग और ड्रायर[3,4] के अनुसार पशु को ब्याने के तत्काल बाद कैल्शियम ग्लूकोनेट का इंजेक्शन देना चाहिए। देर से दूध निकालना तथा पूरा दूध न निकालना भी इस रोग के बचाव के लिए कुछ लोगों द्वारा अपनाया जाता है। रोग के आक्रमणों की संख्या कम करने के लिए यह सावधानी काफी सफल सिद्ध हुई है। हवा भरने की भाँति ही अयन में दबाव बनाए रखने के लिए ऐसा किया जाता है। किन्तु, इससे थनैली रोग होने की संभावना अधिक रहने के कारण, ऐसा करने की राय नहीं दी जाती।

संदर्भ

1 Schmidt J, Kolding, Denmark, Studien und Versuche uber die Ursache und die Behandlung der Gebarparese (des sogen Kalbefiebers), Monatsheft fur praktische Thierheikunde 1898, 9, 241, 289
2 Schmidt, J, Die Entwickelung der Behandlung des Kalbfiebers in den letzten 5 Jahren, Berliner tierarzt Wchnschr 1902, p 495
3 Dryerre H, and Greigg J R, Milk fever its possible association with derangements in the internal secretions, Vet Record, 1925, 5, 225
4 Greig, J R, The nature of milk fever, Eleventh Internat Vet Congress, London, 1930, vol 3, p 306
5 Greig J R, Studies in the prevention of milk fever, Vet Record, 1930, 10, 301
6 Barker, J R, Blood Plasma changes and variations in the female bovine toxemias, Vet, Record, 1939, 51, 575
7 Hendreson, J A, Dairy cattle reproduction statistics, Cornell Vet, 1938, 28, 173
8 Metzger, H, and Morrison, F B, The occurrence of milk fever in the Kentucky Station herd over a period of twenty years, Proc Am Soc Animal Prod, 1946, p 48
9 Hayden, C E, The blood and urine of the cow in milk fever, Report, N Y State Vet College 1923-34 p 91
10 Fish, P A, The physiology of milk fever, III, the blood phosphates and calcium, Cornell Vet, 1929, 19, 147
11 Cushing, F R, A peculiar case of milk fever, Cornell Vet, 1927, 17, 147
12 Muth, O H, and Haag, J R, Diseases of Oregon cattle associated with hypomagnesemia and hypocalcemia N Am Vet, 1945, 26, 216

भेड़, बकरी तथा सुअरी में दुग्ध-ज्वर

(Milk Fever in Goat, Ewe and Swine)

जुगाली करने वाले छोटे पशुओ तथा सुअरियो में भी दुग्ध-ज्वर के आक्रमण हुआ करते हैं किन्तु इस देश में अपेक्षाकृत यह रोग कम होता है। रक्त में कैल्शियम ज्ञात करने के अपने कार्य में ग्रीग ने प्रसवकालीन बीमारी से ग्रसित पांच भेंडो की जांच करके यह बताया कि रोग-ग्रसित पशुओ के अयन में हवा भरने से जादू जैसा असर होता है और एक रोगी कैल्शियम ग्लूकोनेट का अधस्त्वक् इंजेक्शन देने से भी शीघ्र ठीक हो गया। बकरियों में इस रोग के लक्षण गायों की भांति ही होते हैं। इसका प्रकोप बच्चा जन्मने के बाद हो सकता है तथा अयन में हवा भर देने से शीघ्र ही ठीक हो जाता है।

भेड़ो में यह रोग 'दुग्ध रोग' भी कहलाता है। ब्रुइन (हालैंड) द्वारा किए गए वर्णन के अनुसार भेडा में यह रोग ब्याने के ठीक पहले अथवा बाद भी हो सकता है किन्तु,

अधिकतर इसका प्रकोप ब्याने के 6 सप्ताह बाद (बच्चे का दूध पिलाना छुड़ाने के एक या दो दिन बाद) हुआ करता है।

सुअरियों में, गायों की भांति दुग्ध-ज्वर का प्रकोप ब्याने के थोड़ी ही देर बाद होता है। खान-पान में अरुचि, कम दूध देना, तथा लम्बी अवधि तक जमीन पर पड़े रहना इसके लक्षण हैं। बुखार प्रायः नहीं होता यद्यपि कि गर्म मौसम में तापक्रम कुछ बढ़ा हुआ हो सकता है। मांस-पेशियों अथवा पेरिटोनियल-गुहा में 100 से 150 घ० सें की मात्रा में कैल्शियम ग्लूकोनेट का इन्जेक्शन देने से पशु ठीक होने लगता है। सुअरियों को हाथ से निम्न लिखित पदार्थ खिलाना चाहिए : 1 पिंट दूध, 1/4 प्याला क्रीम, एक बड़े चम्मच भर देशी शकर तथा 1/2 प्याला चूने का पानी। इसको शारीरिक तापक्रम तक गरम करके प्रत्येक सुअरी को 4 घंटे के अवकाश पर 2 बड़े चम्मच भर पिलाना चाहिए। अथवा, दूध को एक छिछले वर्तन में भरकर रख देना चाहिए जिससे सुअरियाँ इसे स्वयं ही पी सकें।

संदर्भ

1. Durrell, W. B., Hypocalcemia in sow, Canadian J. Comp. Med., 1942, 6, 305

गायों में कीटोनमयता

(Ketosis in Cows)

(अम्लरक्तता; एसीटोनमेह; कीटोनमेह; अल्पशर्करा रुधिरता; कीटोसिस)

परिभाषा—यह कार्बोहाइड्रेट उपापचयन की एक गड़बड़ी है जिससे रक्त में अधिक कीटोन पदार्थ इकट्ठा हो जाने के कारण पशु को नशा सा हो जाता है। यह बीमारी कम अथवा अधिक खिलाने से उत्पन्न हो सकती है। आमतौर पर यह ब्याने के बाद प्राइमरी रूप में तथा कभी-कभी अन्य रोगों के बाद गौण रूप में हुआ करती है। हालत का गिरना, निराशा, भूख में कमी, गति में असंतुलन, सुस्ती तथा कभी-कभी उत्तेजना आदि लक्षणों द्वारा इसे पहचाना जाता है। रोगी पशु के रक्त तथा मूत्र का परीक्षण करने पर काफी मात्रा में कीटोन पदार्थ पाए जाते हैं (कीटोन रक्तता, कीटोन मेह) तथा उसके रक्त में ग्लूकोज की काफी कमी हो जाती है (अल्प शर्करा रुधिरता)।

सन् 1849 में लैंडल[1] (Landel) ने गाय में एक अद्भुत रोग का वर्णन किया जो संभवतः तंत्रिकीय प्रकार की कीटोसिस का एक रोगी था। मरीज, स्वीस नस्ल की एक 6 वर्षीया गाय थी जिसे सबसे पहले 2 सितम्बर को, ब्याने के आठ दिन बाद देखा गया। वह इधर-उधर घूमती, सिर को दीवाल के सहारे लगा कर खड़ी होती, मुँह से लार गिराती तथा दाँत पीसती थी। जब लैंडल ने उसे देखा उस समय वह अति उत्तेजित होकर घूरती थी। जल्दी ही उसमें अवसन्नता होकर चेतना तथा संवेदना का अभाव हो गया। शरीर से रक्त निकालकर, ब्लिस्टर उत्पन्न करके तथा ठंडी पट्टी देकर उसे इस रोग से मुक्त किया गया, किन्तु लक्षण पुनः प्रकट हो गए। वह नाद से अपना सिर टकराकर खड़ी होती थी तथा मुँह से लार डालती, दाँत पीसती, जीभ बाहर निकालती और अंत में पूर्ण रूपेण बेहोश सी हो जाती थी। इन आक्रमणों के बाद हालत में सुधार होकर वह बिल्कुल ठीक

हो गई। इस अवस्था को उन्होंने सूतिकोन्माद (mania puerperalis) नाम दिया। फ्लेमिंग की प्रसूतिविद्या[2] की पुस्तक में सूतिकोन्माद के लक्षणों का बड़ा अच्छा विवरण मिलता है जो "अत्यधिक उत्तेजना तथा कभी-कभी रोष द्वारा पहचाना जाता है।" इसकी चिकित्सा के लिए क्लोरल हाइड्रेट प्रयोग करने की स्वीकृति दी गई और अनुभवी पशु-चिकित्सों द्वारा अब भी इस औषधि को इस रोग के लिए अति उत्तम माना जाता है।

कीटोनमयता प्रमुख तौर पर हालैंड, डेनमार्क, स्वीडन और इंगलैंड से रिपोर्ट की गई है। या तो यह अन्य देशों में कम होती है अथवा इसको पहचाना नहीं जा सका है। टेक्सास में इस बीमारी को हेज[3] ने तथा मिसिसपी में ऐलस्टन[4] (Alston) ने होते बताया। ऐलस्टन ने अपने चिकित्सा काल में "प्रसवोत्तर पक्षाघात" (palcy after calving) को ताजी ब्याई हुई गायों में अधिकतर होता हुआ पाया। जर्मनी में सन् 1908 में ग्रेनसेन[5] ने इस रोग का वर्णन किया। सन् 1928 में हुप्का[6] (Hupka) ने हैनोवर के निकट ऐसे रोगियों का वर्णन किया और यह विचार प्रकट किया कि यह बीमारी जर्मनी में खूब होती है यद्यपि कि इसको कठिनता से ही पहचाना जा पाता है।

सन् 1933 में जब इस पुस्तक का प्रथम संस्करण लिखा गया था, उस समय सैम्पसन और हेडेन्[7] के कार्य से यह पता चला कि लेखक के पशु-चिकित्सालय में कुछ अविशिष्ट दुग्ध-ज्वर के जो रोगी निदान किए गए, वे वास्तव में कीटोसिस के थे। पशुशाला के लिए उपयुक्त, मूत्र में एसीटोन जाँच करने की हेडेन् की विधि के विकास के बाद, यह आसानी से पहचाना जा सका कि कीटोसिस प्राथमिक अवस्था में तथा अन्य बीमारियों के साथ मिलकर गौण अवस्था में खूब प्रकोप करती है। साथ ही यह भी पता चला कि ऊपर से सामान्य दिखाई देने वाली गायों के मूत्र में एसीटोन की अधिकता से एसीटोनमेह रोग भी खूब होता है। जुलाई सन् 1940 को समाप्त होने वाले वर्ष में न्यूयार्क स्टेट पशु-चिकित्सा विज्ञान महाविद्यालय के पशु-चिकित्सालय में कीटोसिस के 75 रोगियों का इलाज किया गया और 1 जुलाई सन् 1950 को समाप्त होने वाले वर्ष में 284 रोगियों की चिकित्सा हुई, जिनमें से 6 की मृत्यु हो गई। कुछ यूथों में कीटोसिस एक विकट समस्या है जबकि उन्हीं परिस्थितियों में रहने वाले दूसरे यूथों में यह बहुत ही कम होती है।

कारण—कीटोनमयता के कारण का पता लगाने में होफ्लुंड[8] (Hoflund) का वर्गीकरण लाभप्रद है। इस वर्गीकरण के अनुसार प्राथमिक अम्ल-रक्तता कम खाने अथवा अधिक खाने से उत्पन्न होती है तथा गौण कीटोमयता विशेषकर ब्याने के बाद अथवा जब गाय किसी बीमारी के कारण खाना छोड़ देती है, तब उत्पन्न होती है।

इसकी प्रमुख किस्म ब्याने के समय अधिक खा लेने से उस समय उत्पन्न होती है जब अधिक सेल्यूलोज (रेशा) युक्त सूखे चारे से उच्च किस्म की प्रोटीनयुक्त दुग्ध-राशन में परिवर्तन होता है। एक गाय जो रोजाना 30 क्वार्ट दूध देती है, उसके शरीर से नित्य 3 पौण्ड शकर का ह्रास होता है और इस शर्करा का मुख्य भाग सेल्यूलोज किण्वन द्वारा रूमेन में बनना चाहिए। जब अधिक प्रोटीनयुक्त चारे की एकाएक बढ़ोत्तरी द्वारा यह किण्वन कम हो जाता है, तो शर्करा की आवश्यकता का कुछ भाग वसा द्वारा पूरा होता है। इसके परिणामस्वरूप यकृत में अधिक वसा आने लगता है, जहाँ यह शकर में परिवर्तित होकर

एसीटोन पदार्थों को निकालता है, जो रक्त में प्रकट होते हैं। अधिक खिलाने के अन्तर्गत खूराक में शीरा शामिल करने से अम्लरक्तता हो सकती है। इसके विपरीत कम खाने से उत्पन्न अम्ल रक्तता को शीरा खिलाकर बचाया अथवा अच्छा किया जा सकता है। अम्ल रक्तता का यह प्रकार खराब चरागाहों पर चरने अथवा निम्न कोटि का मोटा चारा या कम चारा मिलने के कारण उन क्षेत्रों में देखा जाता है, जहाँ खेती करने के ढंग सुविकसित नहीं होते।

ब्याने के समय, गाय पर अधिक दुग्ध उत्पादन तथा राशन में परिवर्तन का ही जोर नहीं पड़ता वरन् रुकी हुई जेर, गर्भाशय-शोथ और थनैली आदि विभिन्न गौण कारकों का भी प्रभाव पड़ता है।

ग्लूकोज का उपापचयिक-तंत्र में किस प्रकार उपयोग होता है तथा कीटोन पदार्थों की उपयोगिता से यह किस प्रकार संबद्ध है, इस विषय पर अभी कुछ वर्षों से काफी ध्यान दिया गया है। यह काफी समय से ज्ञात है कि कार्य के लिए शक्ति प्रदान करने में ग्लूकोज महत्वपूर्ण योगदान देता है। पीटर्स[9] द्वारा किया गया अभी हाल का कार्य यह प्रदर्शित करता है कि ग्लूकोज का उपापचयन में आवश्यक कार्य यह है कि यह एक मध्यस्थ-यौगिक बनाता है जिसके द्वारा वसा से प्राप्त एसीटेट और कीटोन पदार्थ कार्बन डाइ-आक्साइड और पानी में टूट कर शरीर में उत्पादन कार्यों के लिए शक्ति प्रदान करते हैं। जब कम मात्रा में ग्लूकोज टिसुओं में आता है, जैसा कि अम्ल-रक्तता में देखा जाता है, तो वसा से प्राप्त एसीटेट पूर्णरूपेण आक्सीकृत नहीं हो पाता और शरीर में कीटोन पदार्थ के रूप में जमा हो जाता है। इस कमी को पूरा करने के प्रयास में आवश्यक मध्यस्थ-यौगिक बनाने के लिए पशु टिसू-प्रोटीन से एमिनों अम्लों का उपयोग कर लेता है किन्तु, यह पूरी क्रिया उतनी अच्छी सम्पन्न नहीं होती जितनी कि ग्लूकोज की उपस्थिति में, जिसके परिणामस्वरूप रक्त में कीटोन की मात्रा अधिक रहती है और शारीरिक प्रोटीन के उपापचयन से शीघ्र ही क्षीणता उत्पन्न हो जाती है।

अम्ल-रक्तता सभी आयु की गायों में हुआ करती है। लेखक के प्रयोगों में अधिकतर यह रोग 2,5 और 7 वर्षीया गायों में अधिक हुआ, किन्तु दो से दस वर्ष की सभी उम्र में इसे देखा गया। वर्ष के हर माह में तथा चरागाह पर चरने वाले एवं पशुशाला में बँधे, दोनों प्रकार के, पशुओं में यह बीमारी होती है। जुलाई सन् 1943 से जून 1946 तक तीन वर्ष की अवधि में पशु-चिकित्सा विज्ञान महाविद्यालय, न्यूयार्क, के पशु-चिकित्सालय में चिकित्सा किए गए अम्ल-रक्तता के 226 रोगियों का मासिक वितरण निम्न प्रकार था : जून, 4; जुलाई, 5; अगस्त, 9; सितम्बर, 10; अक्तूबर, 14; नवम्बर, 19; दिसम्बर, 28; जनवरी, 26; फरवरी, 19; मार्च, 34; अप्रैल, 33; मई 25। इनमें से कई पशु अन्य रोगों से भी पीड़ित थे, किन्तु अधिकांश रोगी साधारण थे तथा सभी की अम्ल-रक्तता के लिए निदान तथा चिकित्सा की गई।

हवाई (Hawaiian) द्वीप समूह में हेन्डरशाट[10] (Hendershot) ने एक पौधे की फलियाँ (Kiawe beans) खिलाकर सभी आयु के नर मादा हियर फोर्ड नस्ल के

पशुओं में इसकी उपस्थिति रिपोर्ट की। इसके विपरीत सैमसन[12] ने लिखा कि जहाँ तक उनकी जानकारी है किसी ने इस बात का प्रमाण न दिया कि बैलों, सांड़ों, सुअरों तथा भेड़ों में भी यह रोग होता है।

अधिक दूध देने वाली तथा सुपोषित गायों के यूथ के दैनिक परीक्षण में ऊपर से बिल्कुल ही सामान्य दिखाई देने वाले पशुओं के रक्त तथा मूत्र में कीटोन पदार्थ पाए जाते हैं। शा[11] (Shaw) इसका कारण निम्न कोटि के कार्बोहाइड्रेट पदार्थों का खाना बताते हैं तथा अन्य लोगों के अनुसार प्रसव के समय अयन द्वारा अधिक मात्रा में ग्लूकोज के उपयोग के कारण संचित ग्लाइकोजन का विघटन होना, इसका कारण है। शा ने यह निष्कर्ष निकाला "कि कीटोसिस का विकास ऐसे समय में दोषपूर्ण कार्बोहाइड्रेट उपापचयन के कारण होता है, जबकि शरीर को कार्बोहाइड्रेट की सबसे अधिक आवश्यकता होती है और जिसमें ग्लाइकोजन की नॉर्मल मात्रा न रह पाना इसका सबसे बड़ा कारण है।" शा ने यह देखा कि ब्याने तथा कीटोसिस के आक्रमण के पूर्व पशु के यकृत में ग्लाइकोजन की मात्रा बहुत ही कम थी। उन्होंने यह भी देखा कि स्तन ग्रंथियाँ अल्प-शर्करा-रुधिरता तक में रक्त से लगातार ग्लूकोज की नॉर्मल मात्रा खींचती रहती हैं। नार्मल राशन खाने के बाद भी दुग्ध उत्पादन पर उल्टा ही प्रभाव पड़ता है। कार्बोहाइड्रेट की कमी इसका कारण नहीं है, क्योंकि ब्याने से पूर्व इच्छानुसार शीरा खिलाने पर भी अल्प-शर्करा-रुधिरता की रोकथाम नहीं होती तथा यकृत में टूट-फूट होने के कारण ग्लूकोज देने पर भी पशुओं की हालत में शीघ्र सुधार नहीं होता। विभिन्न शारीरिक तन्तुओं द्वारा ग्लूकोज उपयोग करने की क्षमता में कोई परिवर्तन नहीं होता। कीटोसिस से पीड़ित तथा नॉर्मल, दोनों ही प्रकार की, गायों में ब्याने के पूर्व रक्त में ग्लूकोज की कमी हो सकती है और समुचित आहार देने पर भी यह पांच या छः सप्ताह तक कम रह सकता है।

सुपोषित एवं अधिक दूध देने वाली यूथों में लगातार अम्ल-रक्तता का रहना संभवतः कार्बोहाइड्रेट उपापचयन में गड़बड़ी के कारण होता है। साधारण यूथों में जहाँ यह बीमारी कम होती है, यह कमी निम्न कोटि के राशन के कारण होती है। कुछ लोगों द्वारा उस बीमारी के पैतृक होने का भी संदेह किया जाता है।

विकृत शरीर रचना—इससे पशु मरते कम हैं तथा जो गायें साधारण कीटोसिस से मरती हैं उनके यकृत[13] तथा गुर्दों में अत्यधिक वसा अन्तर्निवेश (fatty infiltration) होता है। यह अवस्था भेड़ों के गर्भ-रोग की भांति होती है। इसका शिकार प्रायः अधिक उत्पादन करने वाली गाय होती है जिसके पहले ब्यातों में कीटोसिस का इतिहास मिलता है।

लक्षण—कीटोसिस को निम्न प्रकार दो प्रमुख ग्रुपों में बांटा जा सकता है: प्रसवकालीन तथा अप्रसवकालीन। एक साथ अवलोकित 100 रोगियों में से 50 प्रतिशत पशु प्रसवकालीन कीटोसिस से ग्रसित पाए गए तथा शेष आधे अप्रसवकालीन अवस्था से पीड़ित पशु ब्याने के लगभग 30 दिन बाद देखे गए। इस रोग की कम से कम तीन किस्में पहचानी गई हैं: दुग्ध-ज्वर अथवा पक्षाघात सलक्षण; पाचन सलक्षण; तथा उत्तेजना,

उन्माद, प्रेरक क्षोभण और अपसंवेदन जैसे लक्षणों के साथ रोग का तन्त्रिकीय प्रकार। पहली दो किस्में अधिक देखने को मिलती हैं। प्रसवकालीन कीटोसिस प्रायः ब्याने के दो दिन बाद हुआ करती है। लगभग दो तिहाई रोगी पशु दुग्ध-ज्वर संलक्षण प्रकट करते हैं तथा एक तिहाई गर्भाशय के विभिन्न रोगों के साथ हुआ करते हैं। कभी-कभी रोग का पाचन अथवा तन्त्रिकीय प्रकार भी प्रसवकालीन हुआ करता है। अप्रसवकालीन ग्रूप के लगभग दो तिहाई पशुओं में पाचन संलक्षण होते हैं तथा शेष एक तिहाई में तन्त्रिकीय प्रकार, एवं मूत्र में अधिक मात्रा में एसीटोन आने वाले रोगों जैसे निमोनिया तथा अभिघातज आमाशय शोथ के लक्षण देखने को मिलते हैं। अप्रसवकालीन ग्रूप में दुग्ध-ज्वर संलक्षण बहुत कम होता है।

पाचन प्रकार की अम्ल-रक्तता सुपोषित एवं अधिक दूध देने वाली गायों में ब्याने के बाद, 10 दिन से लेकर 6 या अधिक सप्ताहों तक हुआ करती है। एकाएक अथवा धीरे-धीरे चारे में अरुचि, शीघ्र ही हालत का गिरना तथा दूध उत्पादन में कमी होना इसके लक्षण हैं। इसका आक्रमण प्रायः एकाएक होता है। एक से चार सप्ताह तक रोगी की हालत में गिरावट तथा दूध उत्पादन में कमी का इतिहास मिलता है। संभवतः रोग का विकास धीरे-धीरे होता है तथा लक्षण तभी प्रकट होते हैं, जब ग्लाइकोजन किसी हद तक

चित्र—62. पाचन प्रकार की अम्लरक्तता से पीड़ित एक दो वर्षीया बछिया (डा० जेसी सैम्पसन के सौजन्य से प्राप्त फोटोग्राफ)।

कम हो चुकी होती है। रोग-ग्रसित गाय पीठ खड़ा कर, सिर को नीचा करके तथा आँखें आधी बंद करके खड़ी होती है। आँख के पलकों में ऐंठन होती है। पशु का तापक्रम प्रायः नॉर्मल रहता है, किन्तु कभी-कभी कुछ रोगियों में यह 107° फारेनहाइट तक बढ़ा हुआ मिल सकता है। नाड़ी-गति अनियमित होती है तथा कभी ही यह 80 से ऊपर जाती है। श्वसन सामान्य रहता है यद्यपि यह तेज, धीमा तथा कष्टप्रद हो सकता है। रूमेन में खिंचाव शक्ति का अभाव होता है तथा पशु थोड़ा-थोड़ा गोबर करता है, किन्तु दस्त होना भी अस्वा-

भाविक नही है। भौतिक लक्षण हालत में गिरावट अथवा दुग्ध उत्पादन में कमी तक ही सीमित रह सकते है अथवा गाय दुबली हो जाती तथा खूब दूध देती रहती है। कुछ रोगी चरागाहो पर इधर-उधर घूमते, लडखडाते, टखनो पर झुकते तथा गिरते देखे जाते हैं। गाय गिर कर कुछ समय के लिए उठने में असमर्थ हो सकती है और कुछ देर बाद स्वत खडी हो जाती है। पक्षाघात के इन रोगियो में प्रत्यक्ष रूप से चेतना का अभाव नही भी हो सकता है। थोडी सी उत्तेजना तथा मासल ऐंठन भी कभी-कभी मौजूद हो सकती है।

ठीक चिकित्सा के अन्तर्गत इस बीमारी की अवधि 1 से 3 या 4 दिन की होती है। इसके पुन आक्रमण भी हुआ करते हैं। अधिकतर रोगी पशु ठीक हो जाते है किन्तु, कुछ को चिकित्सा से लाभ न होकर वे कमजोरी तथा दूध न देने के कारण बेकार हो जाते हैं। कभी-कभी काफी दिनो से पीडित गाय कमजोर होते हुए भी खूब दूध देती रहती है।

रोग के पाचन प्रकार को अभिघातज आमाशय-शोथ, अभिघातज परिहृद्-शोथ, आन्त्रार्ति अथवा अपच से सभ्रान्ति हो सकती है। कोर्स में विभिन्नता के कारण विभिन्न लेखको ने इसे उग्र, कुछ उग्र तथा दीर्घकालिक प्रकारो में वर्गीकृत किया है।

बीमारी की तन्त्रिकीय प्रकार में खान-पान में अरुचि, हालत का गिरना तथा कम दूध देने के साथ घबराहट के लक्षण मिलते है। इसका आक्रमण पहले प्रकार की अपेक्षाकृत अधिक भयकर होता है। पशु न चारा खाता है और न दूध देता है। विशिष्ट प्रकार के रोगी में अत्यधिक उत्तेजना होती, बिना उद्देश्य के पागलपन जैसी गतियाँ होती तथा उसका स्वरूप डरावना सा होकर आँखें उभड आती है। विभिन्न प्रकार की प्रेरक उत्तेजनाएँ मौजूद हो सकती है। इनके अन्तर्गत, जीभ चूसना, आँखें पलटना, चबाने जैसी गति करना, गर्दन अथवा पीठ की मास-पेशियो की ऐंठन होकर उसकी अग्रेजी के अक्षर S के आकार की आकृति हो जाना, मास-पेशियों में अनैच्छिक उग्र सकुचन होना, चक्कर काटना, पैर पटकना, आगे की ओर दबाने का प्रयास करना तथा जबडे से आवाज करना आदि परिवर्तन आते हैं। पक्षाघात अक्सर मौजूद रहता है। इसमें लडखडाना, दीवाल के सहारे झुकना, पैरों का फैल जाना, लार गिराना तथा उठने में असमर्थता के लक्षण मिलते है। रक्त निकाले जाने वाले स्थान पर पशु के चाटने से अपसवेदन के लक्षण प्रकट होते हैं अथवा पशु दीवाल चाट सकता है। अति सवेदना के कारण, त्वचा पर मारने अथवा कैथीटर घुसेडने पर रोगी पशु दर्द से ओत प्रोत होता दिखाई देता है। पीठ की त्वचा ऐंठने से पशु बैठ जाता है। इन तन्त्रिकीय लक्षणो में से एक या दो पाचन प्रकार अथवा दुग्ध-ज्वर प्रकार से मिलते-जुलते हो सकते है तथा रोग की यह प्रकार हल्केपन में प्रकोप कर सकती है। रोग की प्रकार में विभेदी निदान करना उपस्थित सलक्षण की प्रकृति पर निर्भर होता है। यद्यपि कि यह विकसित तन्त्रिकीय प्रकार को मुख्य तौर पर प्रसवकालीन रोग के रूप में प्रसवोत्तर-उन्माद के नाम से वर्णन किया गया है, फिर भी लेखक ने इसे अप्रसवकालीन के रूप में ही अधिक प्रकोप करते देखा। प्राचीन काल में जुगाली करने वाले पशुओ में इन रोगियो की तानिकाशोथ, सेरेब्रल अतिरक्तता तथा सक्रामक तानिका-मस्तिष्क शोथ से सभ्रान्ति हुई है। अल्प शर्करा-रक्तता की इस प्रकार में रक्त में ग्लूकोज की मात्रा 50 प्रतिशत से भी कम हो जाती है।

दुग्ध-ज्वर प्रकार की कीटोसिस के अधिकांश लक्षण दुग्ध-ज्वर से मिलते जुलते हैं और यह संभव है कि दोनों अवस्थाएँ एक ही साथ उसी पशु में प्रकोप कर रही हों। जब पक्षाघात को छोड़कर अन्य तंत्रिकीय लक्षण उपस्थित हों तो कीटोसिस का अनुमान किया जाता है। पागलपन, आँखें फाड़कर देखना, लगातार मांसल ऐंठन, गिरना तथा उठने में असमर्थता और अति संवेदनशीलता से इन्हें पहचाना जाता है। दुग्ध-ज्वर का इलाज करने पर भी पक्षाघात का न ठीक होना तथा बार-बार इसका आक्रमण होना अम्ल रक्तता का अनुमान कराता है। लेखक के अनुभव के अनुसार 4 वर्ष से कम आयु वाले पशुओं में इस रोग का दुग्ध-ज्वर प्रकार नहीं होता, जबकि अम्लरक्तता से पीड़ित उसके कुल रोगियों में से 15 प्रतिशत रोगी इससे कम आयु में देखे गए।

प्रसवकालीन दुग्ध-ज्वर प्रकार की कीटोसिस की सेप्टिक गर्भाशय शोथ के साथ संभ्रान्ति हो सकती है। जब दुग्ध -ज्वर के रोगी को इलाज से फायदा न हो तथा गाय को गर्भाशय-शोथ से ग्रसित पाया जाए तो पक्षाघात का कारण संक्रमण अथवा सेप्टिक विपाक्तता हो सकती है। यह संभव है कि इनमें से कुछ रोगी अम्ल रक्तता के रहे हों।

रोग की पाचन तथा तंत्रिकीय प्रकार में दिखाई देने वाले लक्षण कीटोसिस की पहचान है। दुग्ध-ज्वर प्रकार की कीटोसिस के लक्षणों को दुग्ध-ज्वर से अलग नहीं पहचाना जा सकता। जब यह बीमारी निमोनिया, अभिघातज आमाशय शोथ तथा अन्य रोगों के साथ होती है तब इसके विशिष्ट लक्षण नहीं होते। केवल मूत्र-परीक्षण द्वारा ही इसे पहचाना जा सकता है। निमोनिया, अभिघातज परिहृद् शोथ तथा आमाशय शोथ, एवं अन्य ऐसे रोगों में कीटोसिस की भाँति मूत्र में अधिक मात्रा में एसीटोन नहीं होता। यह लगभग बिलकुल ही स्पष्ट है, फिर भी, गर्भाशय शोथ तथा निमोनिया के कुछ

सं०	प्रसव तथा रोग के आक्रमण के बीच अवकाश	रक्त कैल्शियम मि०ग्रा० प्रति 100 घ० सें०	रक्त शर्करा मि०ग्रा० प्रति 100 घ०सें०	रक्त एसीटोन मि०ग्रा० प्रति 100 घ० सें०	मूत्र एसीटोन मि०ग्रा० प्रति 100घ० सें०
1	6 दिन	9.5		43.96	
2	3 सप्ताह	7.6	42.37	41.65	
3	5 सप्ताह	9.3	31.45	63.85	1209.67
4	8 दिन	5.7	34.84	11.10	
5	3 सप्ताह	3.32	85.84	30.80	267.85
6	24 घंटा	6.45	70.42	12.47	33.33
7	7 दिन	00.75	58.48	1.75	28.27
8		4.00	22.83	5.82	24.47
9		2.85	75.76	6.06	49.65
10	24 घंटा	3.80	55.56	10.00	51.70
11	13 दिन	5.22	71.43	4.48	4.48

नॉर्मल : रक्त कैल्शियम, 9-11; रक्त शर्करा, 40-60; रक्त में कुल एसीटोन 2-6; मूत्र में कुल एसीटोन, 3-15 (मि० ग्रा० प्रति 100 घ० सें०)। कुल एसीटोन पदार्थों को एसीटोन के रूप में प्रकट किया गया है।

रोगियो में डेक्सट्रोज अथवा ऐसी ही अन्य औषधियाँ, जो मूत्र में एसीटोन नही आने देती, के प्रयोग से सुधार होते देखा गया है। रोग के विभेदी-निदान के लिए दुग्धज्वर वाला पाठ देखिए।

मूत्र में, सामान्य औसत 7 की अपेक्षाकृत 1250 मि०ग्रा० प्रति 100 घ० सें० तक कीटोन पदार्थ (एसीटोन) मौजूद हो सकते हैं (सैम्पसन-हैडेन्)। जब मूत्र में इन पदार्थों की मात्रा 15 20 मि० ग्रा० प्रति 100 घ० सें० पहुँच जाए तो सैम्पसन तथा हैडेन् के अनुसार यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अवस्था एसीटोन-मूत्रता पर पहुँच रही है। रक्त में भी ऐसी ही बढोत्तरी मिलती है जहाँ कि कुल रक्त में नार्मल एसीटोन पदार्थों का औसत लगभग 3 मि०ग्रा० प्रति 100 घ० सें० होता है। जब रक्त में कुल एसीटोन पदार्थों की मात्रा 10 मि० ग्रा० प्रति 100 घ० सें० अथवा अधिक हो जाए तो सैम्पसन तथा हैडेन के अनुसार यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यह अवस्था कीटोसिस है। दूध में गंध आने लगती है तथा रॉस-परीक्षण करने पर उसमें एसीटोन मिलता है।

दुग्ध ज्वर के अविशिष्ट प्रकार के रोगियो से प्राप्त पदार्थ की शरीर क्रिया-विज्ञान (फिजिआलोजी) विभाग में सैम्पसन, गोजेगा तथा हैडेन[7] द्वारा दी गई विश्लेषण की रिपोर्ट यह अनुमान कराती है कि एक ही रोगी पशु में दुग्ध-ज्वर तथा अम्ल-रक्तता दोनो ही बीमारियो के रक्त में पाए जाने वाले परिवर्तन मिल सकते है। यह 11 रोगियो पर आधारित पिछले पृष्ठ पर दी गई तालिका में समझाया गया है।

न० 1, 2, 3, 4, 5, 6 तथा 10 रक्त में कुल एसीटोन पदार्थों की वृद्धि प्रकट करते है। इसके अतिरिक्त न० 5 अल्प कैल्शियम रक्तता तथा अति शर्करा रक्तता भी प्रदर्शित करता है जो दुग्ध-ज्वर की विशेषताएँ है। कैल्शियम ग्लूकोनेट, अयन में हवा भरने तथा डेक्सट्राज द्वारा की गई चिकित्सा में अक्सर होने वाली विभिन्नताएँ, उपापचयन की गडबडी की विभिन्नताओ के कारण हुआ करती है।

एसीटोन पदार्थों के लिए परीक्षण

डा० हैडेन द्वारा खोज की गई निम्न विधि के अनुसार मूत्र-परीक्षण करने पर अम्ल मूत्रता का पता लग जाता है। इसमें निम्नलिखित पदार्थ सम्मिलित है: (1) एक भाग महीन पिसा हुआ सोडियम नाइट्रोप्रुसाइड तथा 100 भाग विशुद्ध अमोनियम सल्फेट का मिश्रण, (2) थोडी मात्रा में सोडियम हाइड्राक्साइड के टुकडे।

परीक्षण हेतु एक ग्राम नाइट्रोप्रुसाइड-सल्फेट मिश्रण का 5 घ० सें० संदेहात्मक मूत्र अथवा दूध में घोला जाता है। तत्पश्चात् इसमें सोडियम हाइड्रॉक्साइड का एक छोटा सा टुकडा (लगभग 1/4 इंच वर्ग का) डाल देते हैं। इस मिश्रण में पोटास जैसा लाल रंग आ जाना उसमें एसीटोन की उपस्थिति का सूचक है। मूत्र को कैथीटर डाल कर अथवा उपअंधिका (perineal) क्षेत्र के बालों पर थोड़ा हाथ फेर कर प्राप्त किया जा सकता है। कुल कार्य में पाँच मिनट से अधिक समय नही लगता।

इस मिश्रण को दो या तीन मिनट तक रखने पर रंग और भी गहरा हो जाता है। वैसे तो पाटास जैसा गाढ़ा रंग रोग के हल्के प्रकार में भी होता है, किन्तु रोग के भीषण

प्रकोप में यह और भी तेज हो जाता है। कीटोन-परीक्षण किसी भी अधिक दूध देने वाली गाय में तब धनात्मक हो सकता है जब वह चारा खाना छोड़ देती है अथवा अपनी शक्ति की आवश्यकता के अनुसार समुचित मात्रा में चारा खा अथवा पचा नहीं पाती। किन्तु, अधिक मात्रा में कीटोन पदार्थ तब तक तंत्रिकीय प्रक्रियाएँ उत्पन्न नहीं कर पाते जब तक शरीर में शर्करा की मात्रा कम नहीं हो जाती। धनात्मक प्रक्रिया, अधिक मात्रा में वसा के उपयोग तथा उपापचयन के लिए उपलब्ध कार्बोहाइड्रेट की कमी का सूचक है। लाल रंग की गहराई के अनुसार धनात्मक रॉस-परीक्षण एक से चार धन तक पढ़ा जाता है। रोप्के[13] (Roepke) लिखते हैं कि "अम्ल रक्तता के लिए नाइट्रोप्रूसाइड अथवा रॉस-परीक्षण की उपयोगिता उन रोगियों में अधिक बढ़ाई जा सकती है जहाँ मूत्र को 1 : 10 अनुपात में पतला करने पर धनात्मक परीक्षण प्राप्त होता हो। 1 : 10 अनुपात में कीटोसिस से अति पीड़ित पशु तीन अथवा चार धन प्रक्रिया प्रदर्शित करते हैं।" प्रत्यक्ष रूप से नार्मल दिखाई देने वाली गायों में दैनिक किए गए परीक्षणों में अधिकांश पशुओं के मूत्र में कीटोन पदार्थों का मिलना, इस परीक्षण के नैदानिक मूल्य में संदेह उत्पन्न कराता है। फिर भी यह जान लेना आवश्यक है कि एक सह-संलक्षण की अनुपस्थिति में चिकित्सक को कीटोसिस का पता लगाना कठिन हो जाता है और यह परीक्षण रोग का निदान करने में थोड़ा सा सहायक अवश्य होता है।

चिकित्सा—डेक्सट्रोज़* के प्रयोग से शीघ्र लाभ होता है। इसका 40 प्रतिशत घोल 500 से 1000 घ० सें० की मात्रा में अंतः शिरा इंजेक्शन द्वारा पशु को नित्य देना चाहिए। पूर्ण रूप से ठीक होने के लिए रोगी पशु को एक से पाँच बार दवा देने की आवश्यकता पड़ सकती है। 20 प्रतिशत कैल्शियम ग्लूकोनेट घोल भी प्रयोग किया जा सकता है। इसे 250 घ० सें० अंतःशिरा इंजेक्शन द्वारा तथा 250 घ० सें० अधस्त्वक् इंजेक्शन द्वारा पशु को नित्य देना चाहिए। इसे एक से चार बार दोहराने की आवश्यकता पड़ सकती है।

इस बीमारी की चिकित्सा में क्लोरल हाइड्रेट का प्रयोग भी गुणकारी है। विशेष कर रोग की तंत्रिकीय प्रकार में 30 ग्राम की मात्रा में इसे नित्य एक या दो बार देना अत्यन्त लाभप्रद सिद्ध होता है। इसे कैप्सूल के रूप में, अथवा 1 पिंट शीरा तथा 1 पिंट पानी में घोलकर दिया जा सकता है। 30 ग्राम क्लोरल हाइड्रेट पहली खुराक में देकर, बाद में 6 दिन तक नित्य 15 ग्राम देने से पुराने रोगी भी ठीक होते देखे गए हैं।

---

* डेक्सट्रोज़ की एक विशुद्ध शुष्क तथा दानेदार प्रकार लेखक के चिकित्सालय में कुछ दिनों तक प्रयोग की गई। यह एक संतोषजनक औषधि है। इसका घोल निम्न प्रकार बनाया जाता है : 400 ग्राम डेक्सट्रोज़ (सी० पी० एनहाइड्रस) लेकर उसमें 1000 घ० सें० तक पूरा करने के लिए शेष डिस्टिल्ड वाटर मिलाइए। डेक्सट्रोज़ को खौलते हुए पानी में डालकर, उसके घुल जाने के बाद 5 से 10 मिनट तक उबालते रहिए। इसको गर्म अवस्था में ही स्वच्छ बोतलों में छान-कर भर लीजिए तथा प्रत्येक बोतल में 4 बूँद फीनोल डालिए।

इस अवलोकन के बाद कि प्रोपिआनिक एसिड रक्त में शर्करा की मात्रा बढ़ाता है, शल्ट्ज[14] (Schultz) ने कीटासिस से पीडित 19 गायो को रोजाना 1/8 से 1/2 पौण्ड सोडियम प्रोपायोनेट खिलाकर चिकित्सा की। सभी गायो में दूध की मात्रा तथा खान-पान में रुचि बढ़ी। इलाज करने के बाद 10 दिन के अन्दर सभी गायो में रक्त-शर्करा की मात्रा नॉर्मल हो गई। 40 प्रतिशत डेक्सट्रोज घोल को अत शिरा इजेक्शन द्वारा देकर चार दिन तक 1/2 पौण्ड सोडियम प्रोपायोनेट खिलाना अधिक प्रचलित है। सोडियम प्रोपायोनेट पानी में अति घुलनशील है। अत इसको चारे के साथ मिलाकर खिलाया अथवा पानी में घोलकर पशु को पिलाया जा सकता है।

इस तथ्य पर आधारित होकर, कि डेरी गायो में कीटोसिस की बीमारी ऐड्रीनल ग्रन्थि की कार्य क्षमता में कमी के कारण होती है जिसमें ऐड्रीनल कार्टेक्स तथा पिट्यूटरी ग्रन्थि का अग्र खण्ड भी सम्मिलित है, अभी कुछ दिनो से इसकी चिकित्सा में कार्टिसोन और ऐड्रीनल कार्टिकाट्रापिक हारमोन (ACTH) का भी प्रयोग होने लगा है।[15,16] इन औषधियो का प्रयोग तभी किया गया जब अन्य विधियो से सफलता न मिली। सभवत आगे चलकर इनको कीटोसिस की चिकित्सा में प्रयोग होने वाली औषधियो की सूची में सम्मिलित कर लिया जावेगा।

सदर्भ

1 Landel Mania pureperalis bei einer Kuh, Repertorium der Tierheilkunde, 1849, 10, 251

2 Fleming, G, Mania puerperalis A Textbook of Veterinary Obstetrics, 1879, p 667

3 Hayes, W F, Acetonemia of cattle, N Am Vet, March, 1931, 12, 31

4 Alston, J T Palsy after calving Veterinary Med, 1933, 28, 159

5 Janssen Chronische Magendarmkatarrh der Kuhe nach dem Abkalben, Berliner tier Wehnschr, 1908, p 555

6 Hupka, E, Die Azetonaemie der Rinder, Deutsch tier Wchnschr, 1928 36, Special No p 98

7 Sampson, J, Gonzaga, A. C, and Hayden, C E, The ketones of the blood and urine of the cow in health and disease Cornell Vet, 1933, 23, 184.

8 Hoflund, S, and Hedstrom, H, Disturbances in rumen digestion as a predisposing factor to the appearance of acetonemia Cornell Vet, 1948, 38, 405

9 Peters, J P, Interrelationships of foodstuffs Annals, of the New York Academy of Science, 1952, 45 127

10 Hendershot, J M, Ketosis in the Hawaiian Islands, J A V M A., 1946, 108, 74

11 Shaw, J C, Studies on ketosis in dairy cattle, V The development of ketosis, J Dairy Sci, 1943, 26, 1079

12 Sampson, Jesse, Ketosis in Domestic Animals Bull 524, Univ of Illinois, 1947

13 Roepke, M H, Acetonemia in cattle, J A V M A., 1942, 100, 411

14. Schultz, L. H., Treatment of ketosis in dairy cattle, Cornell Vet., 1952, 42, 148.
15. Shaw, J. C., Hatziolos, B. C., and Chung, A. C., Studies on ketosis in dairy cattle, XV : response to treatment with cortisone and ACTH, Science, 1951, 114, 574.
16. Dye, S. A., Roberts, S. J., Blampied, N., and Fincher, M. G., The use of cortisone in the treatment of ketosis in dairy cows, Cornell Vet., 1953, 43, 128.

परिवहन-टिटैनी

(Transport Tetany)

(रेल मार्ग रोग; रेल मार्ग बीमारी; लड़खड़ाना)

परिवहन-टिटैनी प्रमुखतौर पर गायों का रोग है जिसमें दुग्ध-ज्वर जैसे ही लक्षण प्रकट होते है। पशुओं में इसका आक्रमण या तो यातायात काल में अथवा निश्चित स्थान पर पहुँचने के बाद चौबीस घंटे के अन्दर होता है। चरागाह पर चरने वाली गर्भित तथा स्वस्थ गायें इस रोग के प्रति अधिक ग्रहणशील होती हैं। ताजी ब्याई हुई गायों में यह रोग कम होता है। इस प्रकार यह एक ग्रीष्मकालीन रोग है जो मई से लेकर सितम्बर तक हुआ करता है। रेल द्वारा यात्रा करने के बाद यह रोग टट्टुओं में भी होते देखा गया है। ग्रीग के अनुसार भेड़ों में भी एक ऐसी बीमारी होती है जो देखने में गायों की परिवहन-टिटैनी से मिलती-जुलती है।

कारण पशुओं को बिना चारा तथा पानी की व्यवस्था के गरम ट्रक अथवा रेल के डिब्बे में सफर कराने से यह रोग होता है। चौबीस घंटे अथवा अधिक समय तक लगातार यात्रा कराना तथा बढ़ा हुआ गर्भकाल इसके पुरः प्रवर्तक कारण हैं। डेन्कर[1] द्वारा अवलोकित 62 पशुओं में, यह बीमारी 7 माह से कम की गायों में नहीं देखी गई। इनमें से 18 को यह रोग यातायात के समय अथवा यात्रा समाप्त करने के 5-6 घंटे बाद हुआ। गाड़ी से उतारने के बाद प्रायः 12 घंटे के अन्दर इसका आक्रमण होता है किन्तु, कभी-कभी यह 24 घंटे के बाद तक नहीं होती। दुग्ध-ज्वर की भांति 6 वर्ष अथवा अधिक आयु की स्वस्थ गायों में इसका प्रकोप होता है। रोग का विशिष्ट कारक अभी अज्ञात है किन्तु, उग्र अल्प-शर्करा-रुधिरता को इसका कारण माना जाता है।

विकृत शरीर रचना— शव-परीक्षण करने पर कोई विशिष्ट परिवर्तन नहीं मिलते। वध की गई गायों में डेन्कर ने मांस-पेशियों का बादामीपन लिए हुए लाल से लेकर गहरा बादामी रंग पाया। धमनीय रक्त भी लाल रंग का था जो विशेषकर कोरोनरी धमनियों में देखा गया।

लक्षण—रोगी पशु की दयनीय दशा, बेचैनी, पिछले भागों की आंशिक असमर्थता तथा पिछले घुटनों के जोड़ में अकड़न होना इस रोग के प्रारम्भिक लक्षण हैं। मांस-पेशियों की ऐंठन, दांतों का पीसना तथा होंठों के चारों ओर झाग लगा होना आदि लक्षण भी मौजूद हो सकते हैं। नथुने फैल जाते हैं तथा श्वसन-गति बढ़ जाती है। चलने का प्रयास करने पर गाय लड़खड़ाती है तथा अन्त में जमीन पर गिरकर उठने में असमर्थ हो जाती है। हेडमान

झिल्लियाँ रक्तवर्ण हो जाती है तथा नाड़ी-गति 100 से 120 के मध्य होती है। नियम के अनुसार इस रोग में पशु को बुखार नही होता है। चारे में अनिच्छा होती किन्तु, प्यास अधिक लगती है। रूमेन में सकुचन नही होता तथा पशु गोबर नही करता है। रोगी पशु प्राय मूत्र त्याग भी नही कर पाता। रेक्टम तथा मूत्राशय अवसन्न हुए से दिखाई पडते है। प्रारम्भ में चेतन शक्ति सामान्य रहती है, किन्तु शीघ्र ही निद्रा सी विकसित होकर गाय दुग्ध-ज्वर की भाँति अपना सिर एक ओर को करके लेट जाती है। साँस में मीठी तथा क्लारोफार्म की भाँति एसीटोन की महक आती है।

चार-पाँच घटे में या तो हालत में काफी सुधार हो जाता है अथवा तीन दिन तक उसमें कोई परिवर्तन नही होता, जब कि पशु का मार देने की राय दी जाती है। जो गायें ब्या चुकी होती है अथवा जिनका बच्चा बीमारी के आक्रमण के समय निकल जाता है, उनमें इस रोग से अच्छे होने की सभावना अधिक रहती है। अन्य परिस्थितियों में इस बीमारी का फलानुमान सदेहात्मक अथवा प्रतिकूल हो सकता है। आमतौर पर इसका फलानुमान अच्छा नही होता।

चिकित्सा—दुग्ध-ज्वर की भाँति कैल्शियम ग्लूकोनेट तथा कैल्शियम युक्त अन्य औषधियो का प्रयोग करने से इस बीमारी से मरने वाले पशुओ की प्रतिशत में काफी कमी हुई है। उत्तेजना की अवस्था में 30 ग्राम की मात्रा में क्लारल हाइड्रास का प्रयोग काफी गुणाकारी है।

बचाव—यातायात करने के एक या दो दिन पहले पशुओं को चरागाहो पर से हटा कर, पशुशाला में बाँध कर सूखा चारा खिलाना चाहिए। इनको रेल या ट्रक में भलीभाँति चढ़ाकर यात्राकाल में सूखी घास दी जानी चाहिए। डेन्कर ने देखा कि जब गायो को गाडी में से उतार कर तत्काल खुले मैदान में रखा जाता है, तो इस रोग के प्रकोप कम होते हैं।

संदर्भ

1. Denker, Boebachtungen uber die Eisenbahnkrankheit des Rindes, Berlin tier. Wchnschr, 1930, 46, 969.

घास-टिटैनी

(Grass Tetany)

(दुग्धकालीन टिटैनी; अल्प-मैगनीशियम-रक्तता; घास-विषाक्तता)

परिभाषा—यह गायो तथा भेड़ो की अति प्राणघातक बीमारी है जो गायो को, विशेषकर वसत ऋतु में, हरे चरागाहो पर भेजने के बाद प्रथम दो सप्ताहो में हुआ करती है। टिटैनी जैसे लक्षणो, मास-पेशियो के अनैच्छिक उग्र सकुचन तथा चेतना के अभाव द्वारा इसे पहचाना जाता है। रक्त-सीरम में कैल्शियम तथा मैगनीशियम दोनो की ही कमी हाती है। इससे मरने वाले पशुओ की सख्या काफी अधिक है तथा एक घटे के अन्दर रोगी की मृत्यु हो सकती है।

कारण—सर्व प्रथम इस रोग का शालेमा[1] ने हालैण्ड में वर्णन किया। उन्होंने बताया कि यह एक ऐसी बीमारी है जो ताजी ब्याई हुई गायों को वसंत के प्रारम्भ में हरे चरागाहों पर चरने से उत्पन्न हुआ करती है। सीरम का परीक्षण करने पर यह पता चला कि इसमें कैल्सियम और विशेषकर मैगनीशियम की कमी होती है। शालेमा और सीकेल्स[2] (Sjollema and Seekles) द्वारा निकाले गए स्वस्थ, दुग्ध-ज्वर तथा घास-टिटैनी से पीड़ित गायों के रक्त-परीक्षण के आंकड़े निम्न प्रकार हैं :

	नार्मल	दुग्ध-ज्वर	घास-टिटैनी
कुल कैल्शियम	9.35	4.35	6. 65
कुल मैगनीशियम	1.66	2.19	0.455
कुल फास्फोरस	4.57	2.16	4. 33

लेखकों ने इस बात को संदेहात्मक माना कि मैगनीशियम की कमी से भी घास-टिटैनी हो सकती है क्योंकि पैराथायरायड की कमी से मनुष्यों में होने वाली टिटैनी में मैगनीशियम की मात्रा नॉर्मल रहती है। पैराथायरायड ग्रन्थि निकाले गए कुत्तों में भी ऐसा ही होता है। संभवतः इसमें कैल्शियम तथा मैगनीशियम का पारस्परिक संबंध अति आवश्यक है।

नॉर्मल पशु में कैल्शियम तथा मैगनीशियम का संबंध $\frac{9.35}{1.66} = 5.6$

दुग्ध-ज्वर से पीड़ित पशु में कैल्शियम तथा मैगनीशियम का संबंध $\frac{4.35}{2.19} = 2\ 0$

घास-टिटैनी से पीड़ित पशु में कैल्शियम तथा मैगनीशियम का संबंध $\frac{6.65}{0.445} = 14\ 6$

टिटैनी की चिकित्सा में मैगनीशियम सल्फेट की उपयोगिता इन आंकड़ों के अनुकूल ही है। इससे स्पष्ट है कि दुग्ध-ज्वर तथा घास-टिटैनी का लाक्षणिक स्वरूप कैल्शियम अथवा मैगनीशियम की मात्रा पर आधारित न होकर इन दोनों के पारस्परिक अनुपात पर आधारित होता है। उन्होंने यह विचार व्यक्त किया कि घास-टिटैनी एक विष द्वारा उत्पन्न होती है, जो अँतड़ी में बनता है।

सन् 1931 में स्काटलैंड में लोथियन[3] (Lothian) ने दुग्धकालीन-टिनैनी के रूप में जाड़ों तथा वसंत के प्रारम्भिक महीनों में पुराने चरागाहों पर चरने वाली गर्भित तथा अगर्भित दुधारू गायों में, घास-टिटैनी का संक्षिप्त वर्णन किया। रोग-ग्रसित गायें या तो बाहर रहती थीं अथवा रात में खुले बाड़ों में बंद कर दी जाती थीं। अत्यधिक अकड़न, सिर का संकुचन, मुंह की तथा अन्य मांस पेशियों की रुक-रुक कर ऐंठन जैसे लक्षणों के साथ इसका एकाएक आक्रमण होकर कुछ ही घंटों में रोगी की मृत्यु हो जाती थी। चूंकि कई पशुओं की आते-आते ही मृत्यु हो गई अतः ऐंथ्राक्स का संदेह किया गया। कुछ कम भयानक रोगियों में इसके लक्षण दुग्ध-ज्वर की भांति थे। रक्त के एक नमूने में कैल्शियम की मात्रा बहुत कम थी तथा कैल्शियम ग्लूकोनेट द्वारा चिकित्सा किए गए दो रोगी ठीक हो गए।

जैसा कि इंगलैंड में आलक्राफ्ट और ग्रीन[4] (Allcroft and Green) ने रिपोर्ट किया है, अधिकतर इस बीमारी को वसंत ऋतु में, तथा वर्ष भर चरने वाले पशुओं में

पतझड तथा जाड़े के मध्य भी होते देखा गया है। घास टिटेनी में कैल्शियम तथा मैगनीशियम, दोनों ही लवण कम पाए गए तथा रोग-ग्रसित यूथ में स्वस्थ दिखाई देने वाली नार्मल गायों के सीरम में भी मैगनीशियम की कमी थी। 'बिना किसी रोग के लक्षण के सीरम के मैगनीशियम में लगातार मौसमिक विभिन्नता थी। यह गर्मियों में सबसे अधिक तथा जाड़ों में न्यूनतम होकर वसंत ऋतु में पुनः बढ़कर, आने वाली गरमी तक अधिकतम हो जाता था। अल्प मैगनीशियम रक्तता के साथ नॉर्मल कैल्शियम अथवा मिश्रित गड़बड़ी में अल्प-कैल्शियम रक्तता सालासाल भिन्न होती थी। इस प्रकार, फरवरी सन् 1932, हियरफोर्डशायर में एक बुरा मौसम था जिसमें लगभग 500 गायों का ह्रास हुआ तथा इस बीमारी का पर्यायवाची नाम 'हियरफोर्ड रोग' रखा गया।'

यूनाइटेड स्टेटस में उडाल[5] द्वारा केन्टुकी में दिसम्बर से लेकर अप्रैल तक जाड़ों के महीनों में चरागाहों पर चरने वाली 200 गायों के एक यूथ में इस रोग का वर्णन किया गया। पूरक-आहार मिलने के कारण उनकी हालत अति उत्तम थी। 15 पशु बीमार हुए तथा इनमें से 50 प्रतिशत की मृत्यु हो गई। दुग्ध-ज्वर की भाँति रोग के लक्षण प्रसव से संबंधित थे, किन्तु कुछ दुग्ध-काल के किसी भी समय पर प्रकट हो गए। उग्र टिटेनी के बाद मांसपेशियों का अनैच्छिक उग्र संकुचन होना इस बीमारी की विशेषता थी। रोगी के सीरम में कैल्शियम तथा मैगनीशियम दोनों लवणों की कमी थी ('मिश्रित अल्प-कैल्शियम तथा अल्प मैगनीशियम रक्तता'—बारकर[6])। स्वस्थ गायों के सीरम में कैल्शियम की मात्रा नार्मल थी तथा मैगनीशियम कम था।

मिसिसिपी से लेकर रॉकी पहाड़ों तक बड़े केन्द्रीय मैदानों तथा विशेषकर दक्षिणी मैदानों में अंतिम सितम्बर से मार्च तक हजारों ढोर गेहूँ के खेतों में चरने भेजे जाते हैं तथा रेडमाड[7] की रिपोर्ट के अनुसार इन क्षेत्रों में घास टिटेनी ('गेहूँ विषाक्तता') से होने वाला ह्रास अन्य सभी रोगों के मिश्रित ह्रास से भी अधिक होता है। गेहूँ के चरागाहों पर यह रोग जल्दी से जल्दी 30 दिन के बाद और आमतौर पर 60-90 दिनों में विकसित होता है। गाभिन अथवा हाल की ब्याई हुई गायें इसके प्रति अधिक ग्रहणशील होती हैं। बछियाँ तथा बैल 120 दिन से पूर्व कभी-कभी ही आक्रमणित होते देखे गए हैं। कमजोरी, शारीरिक क्षीणता, मौसम की खराबी तथा चरागाहों के बदलने एवं रेल अथवा ट्रकों में यातायात कराने से उत्पन्न अनैच्छिक व्यायाम तथा उत्तेजना आदि इसके पुरःप्रवर्तक कारण हैं। दूरी पर आधारित, *यातायात* के समय 20 से 40 प्रतिशत पशुओं का ह्रास होना असामान्य नहीं है। जई, जौ, राई जाड़ों की मटर तथा बरमुदा घास खाने वाले पशुओं को भी यह रोग हो सकता है।

अमैरिलो (Amarillo), टेक्सास में लाए गए गेहूँ विषाक्तता से पीड़ित पशुओं के रक्त के नमूनों के परीक्षण से निम्नलिखित परिणाम प्राप्त हुए

मिलिग्राम प्रति 100 घ० सें०	नार्मल	बीमार
शर्करा	80-120	40
कैल्शियम	9-12	3.5-7
मैगनीशियम	2-3	1 से कम

"पशुओं को गेहूँ खिलाने के बाद 30 से 60 दिन में उनके शरीर में रक्त-शर्करा की मात्रा नॉर्मल (80-120 मि० ग्रा० प्रति 100 घ० सें० रक्त) से गिरकर लगभग 50 मि० ग्रा० प्रति 100 घ० सें० रह जाती है। रक्त-शर्करा के 40 मि० ग्रा० से कम हो जाने पर अल्प-शर्करा-रक्तता के लक्षण प्रकट होते हैं।"

ऐसा विश्लेषण यह अनुमान कराता है कि इसका कारण रक्त में इन तत्वों (कैल्शियम और मैगनीशियम) की कमी होना है। किन्तु, गेहूँ के पौधों में पशुओं की आवश्यकता की पूर्ति हेतु यह दोनों तत्त्व आवश्यकता से अधिक मात्रा में मौजूद रहते हैं तथा खनिज मिश्रण के रूप में इनकी अतिरिक्त मात्रा बीमारी को रोकने अथवा रक्त में कैल्शियम और मैगनीशियम की मात्रा को प्रभावित करने में असफल रही है। जैसा कि शालेमा[2] की रिपोर्ट से स्पष्ट है यह अनुमान किया गया कि खनिज उपापचयन में उपस्थित गड़बड़ी मैगनीशियम-कैल्शियम के असामान्य अनुपात के कारण थी। नार्मल 1:3·5 के स्थान पर यह अनुपात 1:14 था। चूँकि पशु द्वारा दोनों की ही पर्याप्त मात्रा ग्रहण की जाती है, अतः रक्त में कैल्शियम तथा मैगनीशियम की नॉर्मल मात्रा पर कुछ निरोधात्मक प्रभाव होता है। टेक्सास की रिपोर्ट[7] में यह बताया गया है कि अधिक मात्रा में पोटाशियम लवण खाना (गेहूँ पर पाली जाने वाली गाय में 200 ग्राम पोटाशियम नाइट्रेट प्रति दिन) उपापचयिक गड़बड़ी के लिए उत्तरदायी हो सकता है तथा अधिक मात्रा में पोटाशियम क्लोराइड का अंतःशिरा इन्जेक्शन देकर घास-टिटैनी के लक्षण उत्पन्न किए जा सकते हैं। यद्यपि रेडमाड[7] (टेक्सास) ने यह निष्कर्ष निकाला कि "तन्त्रिकीय उत्तेजना मैगनीशियम की कमी के कारण होती है, किन्तु हमारा यह विश्वास है कि अधिक मात्रा में लगातार पोटाशियम लवण का खाया जाना किसी प्रकार नॉर्मल खनिज उपापचयन में गड़बड़ी उत्पन्न करके गेहूँ-विषाक्तता पैदा करता है।"

न्युसम[8] लिखते हैं कि "इन सब अवलोकनों के फलस्वरूप टिटैनी रोग रक्त सीरम में कैल्शियम तथा मैगनीशियम की कमी के साथ होता है किन्तु, इस बात की कोई गारंटी नहीं है कि यह इसी कमी के कारण होता है। गेहूँ के चरागाहों पर ढोरों तथा भेड़ों में इसके हजारों रोगी देखे जा चुके हैं, किन्तु अभी तक इसके कारण के बारे में बहुत ही कम सही जानकारी प्राप्त हो सकी है।"

लक्षण—घास-टिटैनी के लक्षण अम्ल-रक्तता की तन्त्रिकीय प्रकार के साथ होने वाले दुग्ध-ज्वर के लक्षणों की भाँति ही होते हैं। चेतना की गड़बड़ी, प्रेरक क्षोभण, और पक्षाघात जैसे तंत्रिकीय लक्षणों के तीन समूहों में से इस बीमारी में पक्षाघात तथा प्रेरक क्षोभण प्रमुख होते हैं। आक्रमण के वेग के अनुसार ही लक्षणों में विभिन्नता होती है। रोग के हल्के प्रकोप में सुस्ती, चारे में अरुचि, लड़खड़ाना अथवा पक्षाघात जैसे लक्षण दिखाई पड़ते हैं। चौबीस घंटे के अन्दर; दाँत पीसना, मांस पेशियों की ऐंठन, दयनीय दशा अथवा डरावना स्वरूप, अक्षि दोलन, खड़े कान, पूँछ की मांस पेशियों का अकड़न युक्त संकुचन, पिछले पैरों की अकड़न, बार-बार पेशाब होना आदि विशिष्ट लक्षण प्रकट होते हैं। पशु का तापक्रम नार्मल रहता है। प्रारम्भिक आक्रमण से उत्पन्न पक्षाघात के कारण पशु उठने में असमर्थ हो सकता है। कोई भी विघ्न टिटैनी के लक्षणों को और भी अधिक

उत्तेजित कर सकता है जिससे पशु के शरीर भर में मांस पेशियों का अनैच्छिक उग्र संकुचन होने लगता है। उदाहरणार्थ; मेट्सार[9] के रोगी में कैथीटर घुसेड़ने पर अनैच्छिक उग्र संकुचन की भांति पूरे शरीर में ऐंठन हुई। गाय एक ओर को लुढ़क गई। उसके पैर तेजी से आगे-पीछे चलने लगे। उसका सिर ऊपर को उठकर पीछे की ओर जहाँ तक खिंच सकता था, खिंच गया। आँख की निक्टिटेटिंग झिल्ली (membrana nictitans) नेत्र-गोलक पर आकर छा गई थी तथा दो या तीन मिनट के लिए पशु की सांस रुक गई। रोग के भीषण प्रकोप में, आक्रमण के तत्काल बाद पक्षाघात तथा मांस पेशियों में अनैच्छिक उग्र संकुचन विकसित होकर पशु में अत्यधिक उत्तेजना होती है। रोगी पशु बिना उद्देश्य के चारों तरफ उलटता-पलटता तथा उठ नहीं पाता है (टिटैनीयुक्त पक्षाघात) और उसमें प्रायः हृदय का अवपात (pounding of heart) देखा जाता है।

ऐसे आक्रमणों से रोग का निदान हो पाने से पहले अथवा पशु-चिकित्सक के आने के पूर्व अथवा यातायात काल में ही पशु की एकाएक मृत्यु हो जाती है, जिससे ऐंथ्राक्स का संदेह किया जा सकता है।[3]

पुलेस[10] (Pulles) ने बताया कि उनके चिकित्सा काल में यह बीमारी चरागाह पर जाने वाले पशुओं में वसंत ऋतु में एक स्थानिकमारी की भांति प्रकोप करती देखी गई। प्रमुख रूप से यह ब्याने के बाद तीन से बारह सप्ताह तक होती है तथा इसके लक्षण दुग्ध-ज्वर की भांति होकर कुछ अधिक उग्र होते हैं। रक्त में कुछ-कुछ कैल्शियम तथा अधिक मात्रा में मैगनीशियम की कमी होती है।

मेट्सार द्वारा वर्णन किए गए रोगी पशु के सीरम में मैगनीशियम तथा कैल्शियम और फास्फोरस की कमी मिली। निम्न तालिका में आक्रमण के दिन का (24 मार्च तथा 15 अप्रैल) रक्त-विश्लेषण दिया गया है :

	24 मार्च	15 अप्रैल
कोशिका आयतन	44%	30%
रक्त शर्करा	41 मि॰ग्रा॰%	45 मि॰ग्रा॰%
कुल रक्त में अकार्बनिक फास्फोरस	2.3 मि॰ ग्रा॰%	5.3 मि॰ ग्रा॰%
कैल्शियम	7.5 मि॰ ग्रा॰%	9.6 मि॰ ग्रा॰%
कुल रक्त में प्रोटीन विहीन नाइट्रोजन	27.9 मि॰ ग्रा॰%	26.0 मि॰ ग्रा॰%
सीरम मैगनीशियम	0.145 मि॰ ग्रा॰%	2.5 मि॰ ग्रा॰%
एसीटोन पदार्थों के लिए परीक्षण	ऋणात्मक	

रोग की दीर्घकालिक अवस्था में अधिक दूध देने वाली गायों की हालत धीरे-धीरे गिरती जाती है यद्यपि कि वे सामान्य रूप से खातीं तथा दूध देती रहती हैं। परीक्षण करने पर कुछ पता नहीं चलता तथा उनकी हालत सप्ताहों अथवा महीनों तक अपरिवर्तित रहती है। तत्पश्चात् घबराहट, असंतुलित गति तथा खाने व दूध देने में अनियमितता आदि अन्य लक्षण प्रकट होते हैं। अन्त में, यदि तत्काल चिकित्सा न हो पाई तो गाय बेहोश होकर

मर जाती हैं। उग्र तथा दीर्घकालिक अवस्थाओं के बीच रोग की अल्पकालीन अवस्थाएँ भी होती हैं।

चिकित्सा—चूँकि घास-टिटैनी एक प्रकार की टिटैनी ही है, अतः रोगी पशु को कैल्शियम क्लोराइड का अंतः शिरा इन्जेक्शन देने से शीघ्र लाभ होता है। हालैंड में इसे निम्न प्रकार प्रयोग किया जाता है : 30 ग्राम कैल्शियम क्लोराइड तथा 8 ग्राम मैगनीशियम क्लोराइड को 250 घ० सें० पानी में घोलकर अंतः शिरा इन्जेक्शन द्वारा दिया जाता है। इन लवणों को घोला, छाना तथा जीवाणुरहित किया जाता है और यह इन्जेक्शन घास-टिटैनी एवं दुग्ध-ज्वर दोनों ही बीमारियों में तत्काल आराम पहुँचाता है। पुलेस[10] ने इस विधि द्वारा 100 से अधिक रोगियों की चिकित्सा की तथा शालेमा[1] के अनुसार सन् 1929 में वसंत ऋतु के मौसम में इस विधि द्वारा 200 से अधिक पशुओं का सफलता पूर्वक इलाज किया गया। रोग से छुटकारा पाने के लिए बहुधा एक ही इन्जेक्शन पर्याप्त होता है। दूसरा इन्जेक्शन देने की बहुत ही कम आवश्यकता पड़ती है। मैगनीशियम, हृदय को कैल्शियम के आघात से बचाता है। इन्जेक्शन को बहुत ही धीरे-धीरे 10 से 15 मिनट में देना चाहिए। इन्जेक्शन देते समय नाड़ी-गति पर विशेष ध्यान रखना चाहिए और यदि नाड़ी-गति नार्मल से दो या तीन गुनी अधिक हो जाए तो इन्जेक्शन देना तत्काल बंद कर देना चाहिए। अवशिष्ट रोगियों के अयन में हवा भर देनी चाहिए। मैगनीशियम सल्फेट (200 घ० सें० 25 प्रतिशत घोल) का अधस्त्वक् इन्जेक्शन देने से भी हालत में शीघ्र सुधार होने लगता है। इसको, जैसी आवश्यकता हो थोड़ी-थोड़ी देर बाद दोहराते रहना चाहिए। कैल्शियम ग्लूकोनेट से भी आशातीत लाभ होते देखा गया है।

रेडमॉड[7] की रिपोर्ट के अनुसार कैल्शियम ग्लूकोनेट पशु को कुछ ही मिनटों में अच्छा कर देता है तथा इसके साथ यदि 8-10 ग्राम मैगनीशियम सल्फेट भी शामिल कर दिया जाए तो और भी अच्छे तथा स्थाई परिणाम प्राप्त होते हैं। हृदयावरोध बचाने के लिए 500 घ० सें० घोल का इन्जेक्शन देने में 15-30 मिनट का समय लेना चाहिए। पुराने रोगी धीरे-धीरे ठीक होते हैं तथा उन्हें अधिक मात्रा में, कभी-कभी 500 से 800 घ० सें०, सलाइन का अंतः शिरा इन्जेक्शन देना पड़ता है। खाने में रुचि उत्पन्न करने के लिए पशु को 1/2 से 1 ग्रेन की मात्रा में एपोमारफीन देनी चाहिए।

संदर्भ

1. Sjollema, B., On the nature and therapy, of grass tetany, trans., Vet. Record, n.s., 1930, 10, 425, 450.
2. Sjollema, B., and Seekles, L., On disturbances in the mineral regulating mechanism in diseases of cattle, abs., Vet. Record, 1931, 11, 586.
   Sjollema, B., Nutritional and metabolic disorders in cattle, Nutrition Abstracts and Reviews, 1931-32, 1, 621.
3. Lothian, W., Lactation tetany in the cow, Vet. Rec., 1931, 11, 585.
4. Allcroft, W. M., and Green, H. H., Seasonal hypomagnesemia of the bovine, without clinical symptoms, J. Comp. Path. and Ther., 1938, 51, 176.

5 U lall Robet H Low blood magnesium and associated tetany occurring in cattle in the winter Cornell Vet 1947 37, 311
6 Barker J R Blood plasma changes and variations in the female bovine toxemias The Vet Record 1939 51, 575
7 Relmon l H E Wheat poisoning in cattle The Southwestern Veterinarian 1950 3 22
8 Newsom I I Sheep Di ea es Th Williams & Wilkins Co 1952
9 Metzger H J A ca e of tetany with hypomagnesia in a dairy cow, Cornell Vet 1936 26 353
10 Pulles H A Ueber he neuzeitliche Beh in llung der Geb irparese and Grastetanie durch intraveno e infusion von Kalciumchlorid Magnesium chlori l—Lo ung Tier Rundschau 1933 39 224

बछड़ा म टिटेनी रोग

(Tetany in Calves)

जब बछडा को केवल दूध पिलाकर ही रखा जाता है तो उनमें तीन माह की आयु म लेकर और ऊपर तक अल्प-कैल्सियम रक्तता तथा अल्प मैगनीशियम रक्तता दोनों ही बीमारी देखने को मिलती हैं। रोग के प्रारम्भ में रोग-ग्रसित पशु अकड कर चलता है, उसकी क्रियाओं में घबराहट होती है तथा जब कोई भी मनुष्य उसके पास पहुँचता है तो वह शीघ्र ही चौंक उठता है। किसी भी प्रकार की एकाएक तेज आवाज होने पर मास पेशियों का सकुचन और भी अधिक बढ जाता है। एक 3 माह की आयु के बछड़े में घबराहट तथा ग्रीवा और पैरों की मास पेशियों में रुक रुक कर सकुचन होने के लक्षण देखे गए। जब कभी बछडा अपने आप अकेला खडा होता था तो या तो उसका मुह थोडा खुला हुआ रहता था अथवा वह अपने जबडे को ऊपर तथा नीचे की ओर बराबर खोलता तथा बद करता था। जबडे म क्षैतिज गति नहीं थी। सप्ताह के अन्त में उसमें अनैच्छिक उग्र सकुचन होने लगे तथा मुह द्वारा दवा देने पर वह कराहता तथा अकडता था। वह फिर 15 मिनट में खडा हो गया तथा उसी रात उसकी मृत्यु हो गई। एसे रोगियों में, कोई भी अस्वाभाविक गडबडी होने पर मास पेशियों का अनैच्छिक उग्र सकुचन शुरू हो जाता है। इस बछडे का एक साथी चिमनी में डाले जाने वाले कोयले की आवाज से एठन उत्पन्न होकर मर गया। एक रोगी के रक्त में कैल्सियम की मात्रा नामल (9 मि० ग्रा०) की तुलना म 7 मि० ग्रा० प्रति 100 घ० सें० थी। इस बीमारी से पशु मरते अधिक हैं और उनमें कोई विशेष क्षतस्थल नहीं पाए जाते। इस अवस्था का डन्कन[1] आदि (Duncan et al) ने भी वर्णन किया है जिन्होंने यह बताया कि केवल दूध पिलाकर बछडों को परिपक्व अवस्था तक नहीं पाला जा सकता। यह असफलता अल्प-कैल्सियम रक्तता अथवा अल्प मैगनीशियम रक्तता के परिणामस्वरूप होती है और जब तक रक्त परीक्षण न किया जाए इन दोनों अवस्थाओं को अलग-अलग पहचानना असम्भव सा हो जाता है। जिन बछडों में विशुद्ध रक्त-कैल्सियम टिटैनी होती है उनके रक्त में कैल्सियम की मात्रा 7 5 मि० ग्रा० प्रति 100 घ० स० से प्राय कम ही पाई जाती है। अल्प मैगनीशियम टिटैनी बहुत

कम होती है क्योंकि जब बछड़ा चारा खाने लगता है तो यह नहीं होती। उत्तेजना, घबराहट तथा भूख न लगना इसके लक्षण हैं। बाहर से अन्धा प्रतीत होने वाला बछड़ा रुक-रुक कर दौड़ता अथवा चक्कर काटता है। अंत में; पैरों के प्रसार तथा संकुचन के साथ शरीर में ऐंठन होती है तथा उसके मुंह से झाग गिरती है, जो कई मिनटों तक निकलती रहती है। युवा बछड़े ऐसी कई ऐंठनों को सहन कर लेते हैं, किन्तु बड़े बछड़े पहले आक्रमण का ही शिकार हो जाते हैं। डन्कन आदि[1] द्वारा वर्णित बछड़ों के क्षतस्थलों का मूर, हालमन, और शॉल (Moore, Hallman and Sholl) ने निम्न प्रकार वर्णन किया है।[2] "अतर्हृद् स्तर (endocardium), महाधमनी (aorta), जुगुलर-शिरा तथा बड़ी-बड़ी धमनियों के पीले लचीले तन्तुओं में एवं डायाफ्राम, प्रपट्टिका (trabecular) और प्लीहा के कैप्सूल की सतहों पर कैल्शियम लवणों का जमा होना, इसमें पाए जाने वाले प्रमुख रोगजनक परिवर्तन हैं। रोगी पशु में विभिन्न अशों की यकृतशोथ तथा गुर्दाशोथ भी उपस्थित मिलती है।" चल-चिकित्सालय में देखे गए बछड़ों में धवल-मांसपेशी-रोग (white muscle disease) जैसे क्षतस्थल मिले और इनका कारण विटामिन बी$_6$ की कमी बताई गई।

बढ़ोत्तरी करने वाले बछड़ों को यदि दूध पिलाकर ही पालना हो तो उसमें मैगनीशियम मिला लेना चाहिए क्योंकि काफी समय तक केवल दूध ही पिलाने पर उनमें ऐंठन या टिटैनी होने लगती है—जी० बोस्टेड[3] (G. Bohstedt)।

चिकित्सा—चिकित्सा के लिए पशुओं को शांतिमय वातावरण में रखना चाहिए तथा क्लोरल हाइड्रेट और विटामिन 'ई' का सेवन कराना चाहिए।

अप्रबल अर्ध-घातक कारकों (semilethal factors) के कारण होने वाली टिटैनी तथा ऐंठन का रिचटर[4] (Richter) द्वारा वर्णन किया गया है। ऐसे बछड़ों में जन्म के बाद से ही उग्र ऐंठन शुरू हो जाती है। वे उठ नहीं पाते किन्तु उनकी चेतना, प्रतिवर्ती क्रियाएँ तथा खान-पान में रुचि नार्मल रहती है। रोग-ग्रसित बछड़े को छूने से ही उसके शरीर में ऐंठन प्रारम्भ हो सकती है। लेखक द्वारा अवलोकित एक यूथ में, जहाँ टखनों की त्वचा तथा मुंह की श्लेष्मल झिल्ली पर अप्रबल एपीथीलियल दोष मौजूद थे, चार पशुओं में रिचटर द्वारा वर्णित लक्षण देखने को मिले।

संदर्भ

1. Duncan, C. W., Huffman, C. F., and Robinson, C. S., Magnesium studies in calves, I. Tetany produced by a ration of milk or milk with various supplements, J. Bio. Chem., 1935, 108, 35.
2. Moore, L. A., Hallman, E. T., and Sholl, L. B., Cardiovascular and other lesions in calves fed diets low in magnesium, Archiv. Path., 1938, 26, 820.
3. Bohstedt, G., Hoard's Dairyman, Aug., 10, 1947.
4. Richter, J., and Gehrung, K. Ueber erbliche Krämpfe bei neugeboren Kälbern, Berliner tier. Wchnschr., March 1937, p. 177.

भेड़ों का गर्भ-रोग

(Pregnancy Disease of Ewes)

(कीटोनमयता, अल्प कैल्शियम-रक्तता, अल्प-मैगनीशियम-रक्तता)

परिभाषा—कार्बोहाइड्रेट की कमी से होने वाली अल्प शर्करा-रुधिरता, अम्ल-रक्तता तथा एसीटोन-मूत्रता के लक्षणयुक्त यह प्रौढ़ तथा सुपोषित गर्भित भेंडा की बीमारी है। कानो तथा शरीर की मास पेशियो की ऐंठन, अवसनता, दबी हुई चेतन शक्ति तथा शीघ्र ही हालत का गिरना आदि इसके प्रमुख लक्षण हैं। मृत्युदर 90 प्रतिशत या अधिक होती है तथा रोगी पशु का शव परीक्षण करने पर यकृत में अत्यधिक अन्तर्गलन पाई जाती है।

कारण—जहाँ कहीं भी भेड़ें पाली जाती है वहाँ यह बीमारी एक जटिल समस्या है। रोडरिक[1] के अनुसार उत्तरी डकोटा में इस बीमारी से एक यूथ में 1 से 25 प्रतिशत तक ह्रास होता है तथा डॉल के अनुसार मिशिगन स्टेट कालेज में रखे गए शव-परीक्षणो के रिकार्ड के आधार पर प्राणघातक बीमारियो में इसका तीसरा स्थान है। चरागाहो पर रहने वाले यूथो की अपेक्षाकृत पशुशाला में बाँधकर रखी जाने वाली तथा विशेषकर एक साथ दो बच्चा देने वाली भेडा में यह रोग अधिक होता है। यद्यपि इसके उत्पन्न करने वाले कारक के बारे में लोगो के विभिन्न मत हैं, फिर भी दक्षिणी अफ्रीका के ग्रोनवाल्ड आदि[2] (Groenewald et al) के इस निष्कर्ष से अधिक लोग सहमत हैं कि यह बीमारी अम्ल रक्तता से पीडित दुधारू गायो में कार्बोहाइड्रेट के विघटन की भाँति, गर्भकाल की आवश्यकताओ द्वारा उत्पन्न कार्बोहाइड्रेट के विघटन के कारण होती है। उन्होंने अपने इस विचार को रद्द कर दिया कि यह बीमारी टॉक्सिन द्वारा उत्पन्न होती है क्योंकि गर्भ रोग में होने वाले टिसु तथा रक्त के परिवर्तनो को प्रयोगात्मक रूप से भेडा में उत्पन्न किया जा चुका है। उनके अनुसार व्यायाम की कमी भी इस रोग के उत्पादन में सहायक है, जिसकी खुराक में परिवर्तन होने अथवा खराब मौसम के कारण कम चारा खाने के साथ सम्भाव्य हो सकती है। किन्तु, या तो कम मात्रा में राशन मिलना अथवा मोटी गाभिन भेडा का आधा भूखा रहना इसका प्रमुख कारण है। प्रयोगात्मक रूप से मोटी की जाने वाली गर्भित भेडा में, निम्न कोटि की सूखी घास पर परिवर्तन करने के बाद, तीन दिन में गर्भ रोग के लक्षण प्रकट होते देखे गए।

रॉडरिक का आधुनिक विचार यह है कि गर्भाशय में एक साथ दो बच्चो का विकास होने वाली भेडों का यदि कम राशन मिलता है तो उपापचयिक आवश्यकताएँ उनकी क्षमता से अधिक हो जाती हैं। यह कमी वास्तव में यकृत में देखी जाती है जो शरीर में रक्त शर्करा की मात्रा स्थिर रखने के लिए अपनी ग्लाइकोजन को विघटित कर देता है। डीमोक, हीली (Healy), तथा हल[3] (Hull) द्वारा प्रस्तुत रिपोर्ट में व्यायाम की कमी को इस रोग का कारण बताए जाने पर बहुत ही कम जोर दिया गया है। "जिन यूथो में एसिडोसिस अथवा गर्भ रोग विकसित हुआ, उनमें यह देखा गया कि भेड़ें जाडे के चरागाह पर थीं तथा उन्हें बहुत ही थोड़ी मात्रा में मक्का की कुट्टी अथवा मक्का खिलाया जाता

था। कुछ उदाहरणों में भेंड़ों को मक्का तथा जई भी खाने को मिली थी। कुछ ही यूथ ऐसे मिले जिनमें प्रत्यक्ष रूप से समुचित एवं संतुलित आहार मिलने पर भी इस बीमारी का विकास हुआ।"

न्यूजीलैंड में लेस्ली[4] (Leslie) ने बताया कि गर्भाशय में बड़ा बच्चा होने के अतिरिक्त इसके प्रमुख कारण निम्न प्रकार हैं : (1) कम खिलाना तथा (2) असंतुलित आहार। उनके विचार से व्यायाम का इस रोग की रोक-थाम से कुछ सम्बन्ध नहीं है और उन्हें कभी भी कोई ऐसा रोगी न मिला जिसमें रोग का कारण अत्यधिक मोटापा होता।

रक्त-विश्लेषण में कुछ आपत्तियों के कारण लेखकों ने यह निष्कर्ष निकाला कि "यह अव्यवस्थित उदाहरण यह प्रदर्शित करते हैं कि इस बीमारी के लक्षणों तथा अम्ल-रक्तता और अल्प-शर्करा-रुधिरता के मध्य कोई भी परोक्ष सम्बन्ध नहीं है, और इन लक्षणों का वास्तविक कारण क्या है, यह प्रश्न अभी भी संदेहात्मक है।"[3]

विकृत शरीर रचना—इस रोग के प्रमुख क्षतस्थल यकृत तक ही सीमित रहते हैं जो पीला तथा भुरभुरा दिखाई देता है। उसमें अत्यधिक वसीय अन्तर्गलन मिलती है। वसीय यकृत के महत्त्व पर क्लार्क ने मे'फैडियन से यह उद्धृत किया है कि "गर्भकाल के अन्तिम दिनों में, नार्मल परिस्थिति तक में, यकृत की वसीय अन्तर्गलन होने की प्रवृत्ति रहती है जो रोग-जनक अवस्था तक पहुँच सकती है"। उन्होंने यह भी कहा कि "वसा, वास्तव में विकृत अवस्था का बोध कराता है अथवा नहीं, इस कारण और भी तर्क का विषय बन जाता है कि किस मात्रा में यह हानिप्रद सिद्ध होता है। वसा द्वारा कोई प्रत्यक्ष टूट-फाट न होने तथा पीलिया की अनुपस्थिति में इस क्षतस्थल को रोगजनक मानने में सदेह होता है। फिर भी जब यकृत देखने, महसूस करने तथा आकार में मक्खन जैसा हो जाए तो यह निश्चित है कि इसकी अवस्था रोग-जनक हो गई है।" "वसा परिगलन (विशेषकर अन्तर्जंघा तथा ओमेण्टल वसा का), गुर्दे के कार्टेक्स तथा ऐड्रिनल कार्टेक्स के वसीय परिवर्तन तथा लिम्फ ग्रंथियों का अपक्षय आदि शव-परीक्षण करने पर प्राप्त होने वाले अन्य परिवर्तन हैं।" रोडरिक[5] के अनुसार गुर्दे को काटने पर उसके एपीथीलियल कोशाओं में वसा के बूंद एकत्रित मिलते हैं जो गुर्दाशोथ का सूचक हैं, किन्तु यह परिवर्तन रोग का कारण न होकर उसके परिणामस्वरूप हुआ करता है। सूखी रहने वाली अगर्भित भेड़ों के टिसुओं तथा रक्त में गर्भ-रोग से मिलते-जुलते परिवर्तन विकसित हो सकते हैं किन्तु, इनमें रोग के लक्षणों का अभाव रहता है। क्लार्क[2] ने यह निष्कर्ष निकाला कि "इसमें कोई भी ऐसा रोगोत्पादक क्षतस्थल अथवा क्षतस्थलों का समूह नहीं मिलता जिससे रोग का सही निदान किया जा सके। अतः मृत्यु के पूर्व उपस्थित अथवा अनुपस्थित लक्षणों पर ही इसका निदान आधारित होता है।"

लक्षण—रोग के आक्रमण के समय कानों में ऐंठन, तथा मांसल तड़पन होती है और पशु देखने में घबराया हुआ सा लगता है। वह कुछ भी खाना नहीं चाहता। तापक्रम सामान्य रहता है तथा उसे पीलिया नहीं होती। भेड़ों के उस यूथ में जहाँ प्रारम्भिक लक्षण बिना दिखे ही रह जाते हैं, रोग का आक्रमण धीरे-धीरे होता मालूम पड़ता है। इसमें पशु सुस्त रहता है तथा रोग-ग्रसित भेंड़ शेष झुण्ड से अलग रहने का प्रयास करती है। जैसे ही

बीमारी बढ़ती है उसमें चक्कर काटना अथवा सिर को किसी वस्तु से टकरा कर खड़े होना आदि अचेतनता तथा प्रेरक क्षोभण के लक्षण प्रकट होते हैं। इस प्रकार इस रोग के लक्षण तथा मौसमिक प्रकोप, भेंडो में चक्कर की बीमारी (circling disease) से मिलते-जुलते हैं। रोगी का सिर पीछे अथवा एक ओर को खिंच सकता है। बाद में पशु सिर को एक ओर मोड़कर जमीन पर लेट जाता है तथा बिना सहायता के उठने में असमर्थ होता है। अंत में पशु बेहोश सा हो जाता है और इस अवस्था में उसे छेड़ने पर शरीर में ऐंठन तथा थर्थराहट उत्पन्न होती है। अधिक प्यास लगना, दांत पीसना तथा आंखों से न दिखाई देना इसके अन्य लक्षण हैं। पशु जल्दी-जल्दी तथा कष्टप्रद सांस खींचता है। वह गोबर कम तथा पेशाब बार-बार करता है। यदि बीमारी अधिक बढ़ी हुई अवस्था में नहीं होती तो बच्चा जन्मने के बाद भेंड शीघ्र ठीक होने लगती है। रोग के प्रारम्भ में चूंकि मूत्र में काफी मात्रा में एसीटोन निकलता है, अत: एसीटोन-परीक्षण करके इसका सही निदान किया जा सकता है। रोग का जितना ही शीघ्र निदान हो सके उतना ही चिकित्सा से अधिक लाभ होता है। ऐसे पशुओं को पहचानने के लिए लेस्ली[4] (Leslie) का कहना है कि रोग-ग्रसित झुण्ड की भेड़ो को व्यायाम कराया जाए जिससे लडखड़ाती चाल तथा प्रेरक क्षोभण के लक्षण शीघ्र प्रकट हो सकते हैं। बीमारी के बढ़ने पर रोगी असाध्य हो जाता है। इसकी अवधि 1 से 6 दिन तक की है।

रक्त में एसीटोन की मात्रा बढ़ जाती है (अम्ल-रक्तता) तथा शर्करा कम हो जाती है (अल्प-शर्करा-रुधिरता)। स्वस्थ भेंड के मूत्र में केवल नाम मात्र के लिए एसीटोन होता है जबकि गर्भ-रोग से पीड़ित पशु के मूत्र में एसीटोन की मात्रा 10 से 300 मि० ग्रा० प्रति 100 घ० सें० अथवा नॉर्मल से 300 गुनी अधिक होती है—रोडरिक[5]।

चिकित्सा—लेस्ली[4] के अनुसार चिकित्सा करने पर लगभग 40 प्रतिशत रोगी ठीक हो जाते हैं। उन्होंने बड़ी भेड़ो को 1.5 पौण्ड, उनसे छोटी को 1/4 से 1 पौण्ड तथा छोटी व कमजोर भेड़ो को 1/2 से 3/4 पौण्ड शीरा खिलाया। इसके अतिरिक्त उन्हें 16 औंस तक ग्लूकोज के अल्पबली घोल (hypotonic solution) का त्वचा के नीचे इन्जेक्शन भी दिया जा सकता है। यद्यपि लोगों का यह विचार है कि चिकित्सा करने पर इसमें लाभ नहीं होता, फिर भी सैम्पसन तथा हेडेन्[7,8] के अनुसार रोगी पशु को ग्लूकोज के अतिरिक्त या तो 1 मि० ग्रा० लैंटिन का अवस्त्वक इन्जेक्शन अथवा 120 घ० सें० अलसी का तेल देना चाहिए। ऐसा करने से गर्भ-रोग में उपस्थित रूमेन की अतानता तथा बड़ी अँतड़ी की अपच में काफी लाभ होता है, क्योंकि जब तक इन लक्षणों से छुटकारा नहीं मिलता तब तक गर्भ-रोग में स्थायी सुधार नहीं हो सकता। उन्होंने विटामिन बी$_1$ (थायामिन) का रोजाना अतपेशी इन्जेक्शन देने की भी राय दी। ग्लूकोज के साथ मिलाकर इन्सूलीन का प्रयोग भी किया जा सकता है।

बचाव—गर्भकाल के अंतिम दो माह में समुचित मात्रा में संतुलित आहार देकर इस रोग से बचाव किया जा सकता है। भेंड़ों में इस बीमारी का अधिकतर प्रकोप अच्छा आहार न मिलने के कारण होता है। रोग का थोड़ा बहुत प्रकोप अधिक मोटी भेंड़ों में भी हुआ करता है जहाँ यह बीमारी समुचित आहार में रुकावट पड़ने के परिणामस्वरूप होती

है। ऐसा वायु मण्डल, मौसमिक परिस्थितियों तथा आहार में एकाएक परिवर्तन के कारण होता है। किसी भी कारणवश जब एक बार भेंड़ खाना छोड़ देती है तो चारा उपलब्ध होने पर भी वह थोड़ा ही खाती रहती है। मोटी भेंड़ की खुराक में एकाएक काफी कमी कर देने पर उसमें एक सप्ताह से कम दिनों में गर्भ-रोग विकसित हो सकता है। यदि उपलब्ध हो, तो अच्छे चरागाह से उत्तम कोई भी वस्तु नहीं है।

संदर्भ

1. Roderick, L. M., and Harshfield, G. S., Pregnancy Disease of Sheep, N. D. Agr. Exp. Sta. Tech. Bull. 261, 1932.
2. Groenewald, J. W., Graf, H., Bekker, P. M., Malan, J. R., and Clark R., Domsiekte or pregnancy disease in sheep, II, Onderstepoort, J. Vet. Sci. and An. Ind., 1941, 17, 245.
3. Dimock, W. W., Healy, D. J., and Hull, F. E., Acidosis of Pregnant Ewes, Ky. Agr. Exp. Sta. Cir. 39, 1932.
4. Leslie, A., Pregnancy disease in ewes in New Zeland, Vet. Rec. 1931, 11, 1148.
5. Roderick, L. M., Harshfield, G. S., and Hawn, M. C., The Pathogenesis of ketosis : pregnancy disease of sheep, J. A.,V.M.A., 1937, 90, 41.
6. Sampson, J., Gonzaga, A. C., and Hayden, C. E., The ketones of blood and urine of the cow and ewe in health and disease, Cornell Vet., 1933, 23, 184.
7. Clark, R., and Groenewald, J. W., Preganancey disease in ewes, J. S., African Vet. Med. Asso., 1941, 12, 97.
8. Clark, R., Groenewald, J. W., and Malan, J. R., Pregnancy disease in sheep, III, Onderstepoort J. Vet. Sci. and An. Ind., 1943, 18, 263.

सूखा रोग, अस्थि-मृदुता, अस्थि तन्तुमयता

(Rickets, Osteomalacia, Osteofibrosis)

(फास्फोरस स्वल्पता; कैल्शियम स्वल्पता)

परिभाषा—जुगाली करने वाले पशुओं में कंकाल-तन्त्र के स्वल्पता रोग, शरीर में कैल्शियम अथवा फास्फोरस की कमी के कारण हुआ करते हैं। इन खनिज लवणों के अभाव से शरीर में दो विभिन्न प्रकार की रोगजनक अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं जिनके लक्षण लगभग एक जैसे होने के कारण इनका विभेदी-निदान करने में काफी कठिनाई होती है। वृद्धि करने वाले पशुओं में फास्फोरस की कमी सूखा रोग उत्पन्न करती है। यह एक ऐसी बीमारी है जिसमें हड्डी बढ जाती किन्तु, सख्त नहीं होती है। प्रौढ़ पशुओं में फास्फोरस की कमी से अस्थि-मृदुता रोग उत्पन्न होता है। यह एक ऐसी अवस्था है जिसमें हड्डियों के खनिज पदार्थों का शोषण होकर नॉर्मल हड्डी के स्थान पर अस्थि-तन्तु बन जाता है ("प्रौढ़ रिकेट्स")। दोनों ही रोगों में रक्त-सीरम में अकार्बनिक फास्फोरस की कमी हो जाती है। कैल्शियम की कमी से हड्डी का अपक्षय होकर वह मुलायम हो जाती है। एक

स्वल्पता रोग के रूप में इस देश के जुगाली करने वाले पशुओं में यह बीमारी कम होती है। यह फ्लारोसिस रोग (फ्लोरीन-विषाक्तता) के रोग-विज्ञान का एक भाग है।

कैल्शियम अथवा फास्फोरस की शरीर में अधिकता होने पर, अन्य लवणों के शोषण में रुकावट पड जाती है। इस असतुलन के बारे में लोगों के विभिन्न मत है। थीलर और उनके साथी[1] (Theiler and associates) अपने विस्तृत अवलोकनों से इस परिणाम पर पहुँचे कि जुगाली करने वाले पशुओं में इन लवणों का पारस्परिक अनुपात उतना महत्वपूर्ण न होकर शरीर में पाए जाने वाले लवणों की मात्रा में कमी होना अधिक आवश्यक है। थीलर ने कैल्शियम आक्साइड (CaO) तथा फास्फोरस पेंटाआक्साइड (P_2O_5) की कमी वाले तथा कैल्शियम आक्साइड से भरपूर एव फास्फोरस पेंटाआक्साइड की कमी वाले, दोनों ही प्रकार के राशनों से यह रोग (सूखा, अस्थि-मृदुता) उत्पन्न किया तथा दोनों ही प्रकारों में एक जैसे क्षतस्थल देखे। वे ऐसे राशन से क्षतस्थल उत्पन्न न कर सके जिसमें कैल्शियम आक्साइड की कमी तथा फास्फोरस पेंटाआक्साइ की अधिकता थी। कैल्शियम आक्साइड की मात्रा 8 4 ग्रेन तक कम थी और उन्हें इस बात पर सदेह था कि क्या प्राकृतिक अवस्थाओं में कैल्शियम की इतनी कमी हो सकती है। दक्षिणी अफ्रीका में सूखा तथा अस्थि-मृदुता रोग फास्फोरस की कमी के कारण हुआ करते हैं।

चूंकि सूखा तथा अस्थि-मृदुता शब्द किसी भी खनिज लवण की कमी होने पर और साथ ही साथ हड्डियों और सधियों के रोगों पर लागू होते हैं इस विषय को, जो अकेला ही काफी जटिल है, और भी सभ्रातिमय बना देते हैं। इन सभी परिस्थितियों में पशु जो भी सामने पडता है (अवांछित पदार्थ) उसे खाने लगता है। उसकी हड्डियों का अपक्षय होकर वे मुलायम हो जाती हैं। रोगी की चाल में अकडन होती है तथा हड्डियों के टूटने का भय रहता है। रोग का सही निदान रासायनिक-परीक्षण अथवा हड्डी के माइक्रास्कोपिक परीक्षण पर आधारित होता है।

कारण—सूखी घास तथा भूसा खाकर और चरागाहों पर चरकर जीवित रहने वाले पशुओं में फास्फोरस की कमी होती है। नार्मल मिट्टी में उगाई जाने वाली सूखी घास में काफी फास्फोरस होता है। किन्तु, ऐसी भूमि जहाँ फास्फोरस की कमी हो उस पर उगाई गई घास में 0 142 प्रतिशत से अधिक फास्फोरस पेन्टाआक्साइड नहीं होती, जबकि इसकी नार्मल मात्रा 0 44 प्रतिशत है—इकेल्स[2]। मोटे तौर पर जब जाडे की घास में शुष्क पदार्थ (dry matter) के आधार पर 0 2 प्रतिशत से कम फास्फोरस होता है तब इन रोगों का हल्का आक्रमण होता है तथा जब यह मात्रा 0 1 प्रतिशत से भी कम हो जाती है तो उग्र रूप में सूखा रोग तथा अस्थि-मृदुता का प्रकोप होता है (थीलर[1])। दानों में फास्फोरस की मात्रा अपेक्षाकृत अधिक होती है और इनसे बनाए गए पौष्टिक-मिश्रण में यह और भी अधिक हो जाती है। एक सामान्य रूप से वृद्धि करने वाले गो-पशु को फास्फोरस की दैनिक आवश्यकता लगभग 10 ग्राम होती है।

विभिन्न खाद्य पदार्थों का फास्फोरस/कैल्शियम तुल्यांक निम्न प्रकार है: साधारण सूखी घास, 0 82, हरी घास, 0 63, हरी लूसर्न, 0 21; गेहूं, 8 6; राई, 8.7; जौ,

7.1; जई, 7.4; आलू, 5.8; चुकन्दर, 1.1; अलसी, 2.10; बिनौला, 9.95, तथा मूंगफली, 30.78 (मोलगॉर्ड[3])। अतः अच्छी उपजाऊ भूमि पर उगाई गई सूखी घास तथा लूसर्न में कैल्शियम, तथा दानों में फास्फोरस अधिक होता है।

फास्फोरस की कमी के रोग प्रायः उन्हीं क्षेत्रों में अधिक देखे जाते हैं जहां की मिट्टी में फास्फोरस कम होता है। यूनाइटेड स्टेट्स में ऐसे क्षेत्र मिनेसोटा (इकेल्स[2]) तथा टेक्सास (स्किमडिट[4]) में, और दक्षिणी अफ्रीका के काफी बड़े क्षेत्र में पाए जाते हैं। यूनाइटेड स्टेट्स में मिचेल तथा मक्लूर[5] (Mitchell and McClure) ने यह रिपोर्ट किया कि माण्टेना, मिनेसोटा, विस्कांसन, केन्सास, उटह, कैलीफोर्निया, टेक्सास तथा फ्लोरिडा में फास्फोरस की कमी को निश्चित रूप से, तथा किसी हद तक न्यूयार्क, पेंसिलवैनिया, पश्चिमी विर्जीनिया, दक्षिणी कैरोलिना, एलैबामा और मिसिसिपी में पहचाना गया है। गो-पशुओं में फास्फोरस की कमी पर पेन्सिलवैनिया में फोर्बेस तथा जॉन्सन[6] (Forbes and Johnson) द्वारा की गई रिपोर्ट को यूनाइटेड स्टेट्स के उत्तरी पूर्वी भागों में इस अवस्था के वर्णन के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। उनका कहना है कि पेंसिलवैनिया के किसी भी क्षेत्र की मिट्टी में फास्फोरस की कमी नहीं है, फिर भी, "भलीभाँति चारा न खिलाकर कहीं भी इस स्वल्पता को उत्पन्न किया जा सकता है" और उन्होंने यह भी कहा कि "निश्चित रूप से फास्फोरस की कमी होना पेंसिलवैनिया में एक विरल रोग है।" कुछ उन फार्मों पर इसकी कमी हो सकती है जहाँ वर्षों से खनिज उर्वरक प्रयोग न किया गया हो। न्यूयार्क स्टेट के इनमें से कुछ फार्मों पर जहाँ पशुओं में अस्थि-मृदुता रोग के लक्षण देखे गए, मोटे चारे में फास्फोरस की विशेष कमी पाई गई।

थीलर[20] और उनके साथियों ने गो-पशुओं पर अस्थिक्षयता रोग (osteodystrophic disease) के कुछ प्रयोग किए और यह देखा कि "राशन में फास्फोरस की कमी होने पर रिकेट्स तथा अस्थि-मृदुता रोग उत्पन्न होते हैं। रोग का वेग; चारे में फास्फोरस के अभाव की मात्रा, पशु की फास्फोरस आवश्यकता तथा प्रयोग की अवधि पर निर्भर होता है। इन्हीं पशुओं के अन्य साथियों पर जब ऐसा राशन खिलाकर प्रयोग किए गए जिसमें कैल्शियम कम तथा फास्फोरस समुचित मात्रा में था तो किसी भी पशु में सूखा अथवा अस्थि-मृदुता रोग नहीं देखा गया। ऐसा विश्वास किया जाता है कि प्रयोगात्मक परिस्थितियों में फास्फोरस की कमी का प्रभाव, कैल्शियम की अधिकता द्वारा और भी बढ जाता है, क्योंकि जहाँ कहीं फास्फोरस की कमी होती है उन चरागाहों पर कैल्शियम की मात्रा अधिक पाई जाती है।

शरीर में कैल्शियम की कमी तब उत्पन्न होती है जब मोटा चारा बहुत ही निम्न कोटि का हो, उसे कैल्शियम की कमी वाली मिट्टी में उगाया गया हो अथवा जब उसे बहुत ही थोड़ी मात्रा में खिलाया जाता हो। राशन में कैल्शियम का अभाव होने पर अस्थियों में इसकी कमी, राशन में फास्फोरस स्वल्पता की अपेक्षाकृत अधिक धीरे-धीरे विकसित होती है। ऐसा सामान्य उपापचयन में कैल्शियम के कुछ कम. जटिल-तथा विभिन्न कार्यों के कारण होता है।

शालेमा तथा अन्य लोगो के अनुसार गो-पशुओ तथा सुअरो में यह बीमारियाँ विटामिन 'डी' की कमी तथा उन राशनो द्वारा भी उत्पन्न होती हैं जिनमें कैल्शियम तथा फास्फोरस का अनुपात ठीक नही होता, जैसे—1 1-2 के बजाय 1 9 का अनुपात होना। सम्भवत चारे के प्रकार, मिट्टी तथा पानी के गुणो और मिट्टी में उर्वरक मिलाने के ढगो के अनुसार ससार के विभिन्न भागो में इसका कारण भी कुछ-कुछ भिन्न होता है। शालेमा का कहना है कि कृषि उत्पादन बढाने के प्रयासो के साथ-साथ इन बीमारियो के प्रकोप भी बढते हुए से दिखाई देते हैं। उन्होंने हालैंड में इस अवस्था का कारण अधिक दुधारू पशुओ को दिए जाने वाले जाडे के राशन के प्रकार में परिवर्तन होना बताया। अधिकाश किसान सोयाबीन, मूँगफली की खली आदि पशु-खाद्य पदार्थों के साथ थोडी मात्रा में सूखी घास तथा अधिक मात्रा में मक्का तथा अन्य दाने देते हैं। इनमें कैल्शियम की प्रतिशत मात्रा कम तथा फास्फोरस की कुछ अधिक होती है। इनमें कैल्शियम तथा फास्फोरस का पारस्परिक अनुपात 1 1 के बजाय 1 6 या 7 अथवा और अधिक हो सकता है। वे राशन जिनमें कैल्शियम तथा फास्फोरस का अनुपात कुछ आधुनिक शरदकालीन राशनो की भाँति ही होता है, प्रयोगात्मक रूप से सूखा रोग उत्पन्न करने के लिए प्रयोग किए जाते हैं। मोल्गार्ड[3] ने डेन्मार्क में ऐसे ही राशन खिलाने पर प्रस्तुत एक रिपोर्ट में लिखा कि अनुभवो से यह पता चला है कि जिन गायो को जडें तथा रोजाना 4 से 6 पौण्ड सूखी घास खाने को मिलती है उन्हें 60 ग्राम कैल्शियम कार्बोनेट की आवश्यकता पडती है। यदि जडो के स्थान पर पशु को दाना दिया जाने लगे तो उसे 60-70 ग्राम कैल्शियम कार्बोनेट देना चाहिए। जिन गायो को नित्य 200 ग्राम तक कैल्शियम आक्साइड दिया गया उनके दुग्ध उत्पादन पर कोई कुप्रभाव न पडा। अच्छे किस्म के मोटे चारे की अनुपस्थिति तथा अधिक मात्रा में दाना खिलाने के कुपरिणामो का रीड तथा हफमैन[8] (Read and Huffman) द्वारा वर्णन किया गया है।

मोटा चारा न देकर बछडो में प्रयोगात्मक रूप से उत्पन्न सूखा रोग के अवलोकनो का बेच्डेल (Bechdel) और उनके साथियो[9] तथा गलिक्सन (Gullikson) और उनके साथियों[10] द्वारा वर्णन किया गया। इन प्रयोगो में बछडो को थोडा अथवा बिल्कुल ही मोटा चारा न दिया गया तथा खुराक नैतिक रूप से भी उपयुक्त न थी। 291 बछडो को, सूखा रोग उत्पादक दानें तथा मखनियाँ दूध खिलाकर पेंसिल्वेनिया पत्रिका में तीन बछडों का वर्णन किया गया। उन्हें जई का भूसा खिलाकर सूखा रोग से बचाया गया जिसमें एक ने 100 दिन की अवस्था के पूर्व केवल 9 पौण्ड खाया। इन उदाहरणो में यह दिखाया गया है कि किस प्रकार कैल्शियम के साधारण स्रोतो पर नियत्रण करके पशु में प्रयोगात्मक रूप से सूखा रोग उत्पन्न किया जा सकता है। ऐसी परिस्थितियो में विटामिन 'डी' खनिज उपापचयन की गडबडी को ठीक कर सकता है। अत साधारण राशन में अलग से कैल्शियम देने की आवश्यकता भी नहीं समझी जाती। कुछ प्रयोगों में काम आने वाली सूखा रोग उत्पन्न करने वाली खुराक का सगठन वृद्धिदायक राशन की भाँति ही होता है। फार्म परिस्थितियो में जाडे के राशन में अधिक दाना तथा कम मात्रा में मोटा चारा खिलाकर बछडों में उत्पन्न सूखा रोग का हिब्स आदि[11] (Hibbs et al)

ने वर्णन किया। उनमें "सीरम फास्फोरस तथा कैल्शियम की कमी थी तथा सीरम फास्फटेज़ बहुत अधिक मात्रा में था—रिकेट्स की विशिष्टता। किरणीयित (irradiated) यीस्ट खिलाने पर हालत में सुधार हुआ।"

संभवतः गो-पशुओं की खूराक में कैल्शियम की कमी से उत्पन्न होने वाला रोग, जैसा कि शालेमा[7] तथा अन्य ने वर्णन किया है, सूखारोग न होकर अस्थि-सूत्रण रोग होता है, और यह कैल्शियम तथा फास्फोरस के अनुपात में असंतुलन होने अथवा विटामिन'डी' की कमी से उत्पन्न न होकर, कैल्शियम की कमी द्वारा उत्पन्न होता है।

6 ग्राम कैल्शियम आक्साइड तथा 25 ग्राम फास्फोरस पेंटाआक्साइड और 3 ग्राम कैल्शियम आक्साइड तथा 30 ग्राम फास्फोरस पेंटाआक्साइड देकर खूराक में कैल्शियम की कमी उत्पन्न करके बछड़ों तथा बछियों में प्रयोगात्मक रूप से अस्थि-छिद्रता तथा अस्थि-क्षयता रोग को थीलर आदि[20] ने उत्पन्न किया।

मिट्टी में कैल्शियम की कमी के क्षेत्र फास्फोरस की अपेक्षाकृत बहुत ही कम पाए जाते हैं। गोपशुओं में कैल्शियम-स्वल्पता रोग को फ्लोरिडा के तटीय क्षेत्रों में बेकर[12] द्वारा वर्णन किया गया है। कुछ फार्मों अथवा अन्य अज्ञात क्षेत्रों में भी इस लवण की कमी हो सकती है, अथवा मोटे चारे में इसका अभाव होने पर यह कमी प्रतीत हो सकती है। विभिन्न खाद्यों में कैल्शियम तथा फास्फोरस की प्रतिशत की एक उपयोगी तालिका मोरीसन[13] द्वारा 'फीड्स और फीडिंग' नामक पुस्तक में प्रकाशित की गई है।

अनेक लोगों का यह विश्वास है कि जाड़ों की ऋतु में अँधेरे वाड़ों में बाँधे जाने वाले बछड़ों की जीर्ण-शीर्ण हालत सूखारोग का ही छुपा हुआ स्वरूप है। मेनार्ड[14] के अनुसार सूखा रोग बछड़ों में अधिक होता है तथा लंदन के रॉयल वेटेनरी कालेज के एक लेख में मिलर[15] (Miller) ने लिखा कि "जिन बछड़ों को थोड़ा सा दूध पिलाकर पहले 4 से 6 माह तक वाड़ों में बंद रखा जाता है उनका विकास अच्छा नहीं होता। बछेड़ों अथवा बछड़ों में सूखा रोग के निश्चित लक्षण तो अधिक नहीं मिलते किन्तु, मुझे विश्वास है कि इस रोग की भाँति ही एक अवस्था जिसे हम अर्ध-विकसित सूखा रोग कह सकते हैं, जाड़ों में पाले जाने वाले बछड़ों में अधिक होती है। सुस्ती, नार्मल वृद्धि एवं विकास का रुक जाना, उदर का तनाव होकर पेट लटक जाना, उठने पर अकड़न होना, शारीरिक प्रफुल्लता का ह्रास हो जाना तथा शरीर की कुछ मांस-पेशियों का समुचित रूप से विकास न हो पाना आदि, इसके लक्षण हैं।"

बच्चों में सूखारोग का निदान करते समय इस तथ्य का लाभ उठाया जाता है कि इस रोग से पीड़ित रोगियों के रक्त-सीरम में कैल्शियम अथवा फास्फोरस या दोनों की ही मात्रा सदैव नार्मल से कम होती है। सीरम में यह अभाव कंकालीय क्षतस्थलों का प्रमुख कारण है। मिलीग्राम प्रति 100 घ० सें० की मात्रा में प्रकट की गई कैल्शियम तथा फास्फोरस की उत्पाद को सूखा रोग की उपस्थिति अथवा अनुपस्थिति का सूचक माना जाता है। अधिकांश रोगियों में केवल अकार्बनिक फास्फोरस की ही कमी होती है। छुपी हुई अवस्था में सूखारोग युक्त बछड़ों के इस समूह में हमें रक्त-सीरम के फास्फोरस एवं कैल्शियम

के रिकार्ड नही मिले, किन्तु थीलर[1] ने यह बताया कि "जिन पशुओं को कम फास्फोरस वाली खूराक दी गई उनमें इस रोग के लक्षण प्रकट होने के पूर्व ही, रक्त में अकार्बनिक फास्फोरस की काफी कमी देखी गई। यह तथ्य, चरागाहों में फास्फोरस की कमी का तथा पशुओ में फास्फोरस-स्वल्पता रोग (aphosphorosis) का सूचक है।"

विटामिन के प्रभाव के बारे में थीलर,[1] बर्लिन के स्टैंग (Stang) के इस मत से सहमत है कि खनिज उपापचयन के सबंध में इनका महत्व कुछ बढ़ा-चढ़ा कर वर्णन किया गया है।

घोडो में अस्थिमृदुता रोग का, फिलिपाइस के फौजी घोडो के रोग के विषय के अन्तर्गत एक रिपार्ट में किटनर तथा होल्ट[10] (Kintner and Holt) द्वारा विस्तृत वर्णन किया गया है। इनका अवलोकन इस तथ्य का समर्थन करता है कि इस जाति में बीमारी का कारण कैल्शियम तथा फास्फोरस में विस्तीर्ण अनुपात होना है। पशुओ को दिए जाने वाले राशन में जब महीन किया हुआ चूने या पत्थर मिलाकर कैल्शियम तथा फास्फोरस के अनुपात को 1 1 कर दिया गया तो इस रोग के प्रकोप में काफी कमी देखी गई। विभिन्न फौजी चौकियो पर राशन एक ही समान था, किन्तु फोर्ट स्टोट्सनबर्ग, जहाँ के अभिलेखो में अधिकतर अस्थि-मृदुता के प्रकोप मिले, वहाँ के पानी में कैल्शियम की मात्रा बहुत ही कम थी (9·7 भाग प्रति दसलक्ष)। फोर्ट मिल्स, जहाँ अस्थिमृदुता बिल्कुल ही नही होती, वहाँ के पानी में पूरे फिलिपाइस के क्षेत्र में सबसे अधिक कैल्शियम था (125 भाग प्रति दसलक्ष)। इस बात का कोई प्रमाण न मिला कि घोड़ो में अस्थिमृदुता रोग अन्दरूनी रसो के निकलने में गडबडी, परजीवियो के प्रकोप, आनुवंशिकता, सक्रमणो अथवा विटामिन की कमी के कारण होता है। किटनर और होल्ट[10] ने यह निष्कर्ष निकाला कि "घोडो में अस्थि-मृदुता रोग पशु द्वारा खाए जाने वाले राशन में कैल्शियम के अनुपात में फास्फोरस की अधिकता के कारण होता है। यह सिद्ध किया जा चुका है कि कैल्शियम-फास्फोरस के पारस्परिक अनुपात की अपेक्षाकृत कैल्शियम को मात्रा कम महत्व की है। कैल्शियम आक्साइड तथा फास्फोरस पेंटाआक्साइड के मध्य 1.2 9 का अनुपात होने पर घोडो का अस्थिमृदुता रोग हो जाता है। 9 माह की अवधि में जब यह अनुपात 1.1 9 रहा, इस अवस्था का विकास नही हुआ। रोग-ग्रसित पशुओ पर किए गए खाद्य प्रयोगो ने यह प्रदर्शित किया कि जब कैल्शियम आक्साइड तथा फास्फोरस पेंटाआक्साइड के मध्य 1.1 4 अनुपात था तो यह रोग दब गया तथा उपचयिक क्रियाओ का विकास हुआ। 1 2 3 अनुपात होने पर रोग-ग्रसित पशुओ की हालत में सुधार देखा गया।"

थीलर[1] (1931) के अनुसार आमतौर पर अस्थिमृदुता कहलाने वाली असामान्य ककालीय अवस्था 'अस्थिक्षयित सूत्रणता' (osteodystrophia fibrosa) है। दक्षिणी अफ्रीका में यह बीमारी चरागाहों के पशुओ में कभी भी न होकर बाड़ो में बँधे रहने वाले जानवरो में विकीर्ण रूप से प्रकोप करती है। बकरियो में इसके क्षतस्थल घोड़ो की भाँति ही होते है।

जैसा कि विलियम्स[17] और उनके साथियों तथा ग्रीन्ली[18] (Greenlee) द्वारा वर्णन किया गया है घोड़ों तथा खच्चरों में अस्थिमृदुता का कंकालीय रोगों से संबंध अभी तक स्थापित होना है। फिर भी आमतौर पर यह विचार किया जाता है कि स्पैविन (spavins) (पिछले घुटने की हड्डियों का फूल जाना) तथा छल्लाकार अस्थियाँ (ringbones) (गम्ची पर हड्डी का बढ़ जाना) पूरे कंकाल को प्रभावित करने वाली उपापचयिक गड़बड़ियों का सूचक हैं।

इन विवादपूर्ण विचारों से यह निष्कर्ष निकलता है कि गो-पशुओं तथा सूकरों में अस्थिमृदुता तथा सूखा रोग खनिज लवणों की आपेक्षिक कमी की अपेक्षाकृत अकेले की कमी के कारण हुआ करते हैं। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि विटामिन 'डी' इन पशुओं में अभाव का कारक न होकर एक आवश्यक कारक है। एक ही जाति के पशुओं पर किए गए अवलोकन जब दूसरे जाति के पशुओं पर लागू किए जाते हैं तो इनमें त्रुटि मिल सकती है।

फ़िलिपाइंस में यह देखा गया कि बाहर से लाए गए घोड़ों की अपेक्षाकृत खच्चर तथा वहाँ के रहने वाले पशु अस्थिमृदुता रोग के प्रति अधिक सहनशील हैं।

विकृत शरीर रचना—चूंकि सूखा रोग, अस्थिमृदुता तथा अस्थिसूत्रण रोग केवल तभी प्राणघातक होते हैं जब कंकाल में बहुविकसित परिवर्तन हो जाते हैं, अतः निदान के लिए शव-परीक्षण की कोई विशेष आवश्यकता नहीं पड़ती। शव-परीक्षण करने पर लम्बी हड्डियों की आकृति टेढ़ी-मेढ़ी मिलती है। उन्हें काटने पर मज्जा लाल तथा रक्तयुक्त और शीर्ष वाला भाग पतला, स्पंज जैसा एवं मुलायम प्रतीत होता है जिससे इसे चाकू द्वारा आसानी से काटा जा सकता है। चपटी हड्डियाँ भुरभुरी तथा आसानी से मुड़ने वाली हो जाती हैं। घोड़ों तथा सूकरों में चेहरे की दोनों ओर की हड्डियाँ एक ही समान बढ़ती हुई दिखाई देती हैं। हड्डियों की ऊपरी सतह को आसानी के हटाया जा सकता है। हड्डी की नीचे वाली सतह लाल होती है। बाहरी अस्थिमय प्याली को आसानी से काटा जा सकता है। किटनर तथा होल्ट[16] द्वारा किए गए वर्णन में जोर पड़ने तथा चोट आदि लगने से उत्पन्न, कंकाल में होने वाले परिवर्तनों की विभिन्नता पर अधिक जोर दिया गया है। अतः प्रत्येक रोगी में जबड़े की हड्डियों में विकृतता देखी गई। इसमें कार्टेक्स के भाग में पतलापन एवं मुलायमपन था तथा मैड्युलरी (मज्जीय) भाग मधुमक्खी के छत्ते की भाँति था। अनेक रोगियों में कशेरुकाओं के कार्टेक्स तथा दो कशेरुकाओं के बीच की प्याली काफी पतली हो गई थी। शव-परीक्षण हेतु चीरे गए सभी पशुओं के जोड़ों में संधितल (articular surfaces) पर छोटे-छोटे घाव मिले तथा स्नेहककला (synovial-membrane) मोटी पड़ गई थी।

रिकेट्स तथा अस्थि-सूत्रण रोग में विभेदी-निदान करने के लिए रोग-ग्रसित हड्डी का हिस्टोलोजिकल परीक्षण करना आवश्यक है।

लक्षण—इन बीमारी द्वारा किए गए ह्रास का अनुमापन करने के लिए स्पष्ट कंकालीय परिवर्तनों पर अधिक जोर दिया गया है। फिर भी हाल की रिपोर्टों में अनेक अन्वेषणकर्ताओं ने यह विचार प्रकट किया है कि प्रमुख क्षति कंकाल-तंत्र में न होकर, कम

सहनशक्ति के कारण होती है। इस विचार के अनुसार इस बीमारी का गुप्त प्रसार अपेक्षाकृत अधिक सामान्य है तथा आमतौर पर यह बिना पहचाने ही रह जाता है। लगभग सभी लेखक इसको बढ़ता हुआ बताते हैं और जब कभी दीर्घकालिक कुपोषण का प्रमाण मिले तो खनिज स्वल्पता पर अधिक ध्यान देना चाहिए। इसके विपरीत अनेक रिपोर्टें ऐसी भी प्राप्त हैं कि जमीन पर सुधरी विधि से खेती करने पर अस्थि-मृदुता रोग जहाँ पहले प्रकोप करता था उन क्षेत्रों से गायब होता सा मालूम देता है। मेनार्ड के अनुसार रक्त-सीरम में 6 मि० ग्रा० प्रति 100 घ० सें० से 3 मि० ग्रा० प्रति 100 घ० सें० तक की फास्फोरस की कमी बछड़ों में सूखा रोग का सूचक है। ऐसे पशु कमजोर होते हैं, उनके जोड़ बढ़ जाते हैं तथा पीठ में ऊपर की ओर गड्ढा सा पड़ जाता है।

मिनेसोटा में इकेल्स[2] द्वारा अवलोकित रोग ग्रसित गो-पशुओं के पैर टेढ़े-मेढ़े पड़ गए थे तथा कुछ के जोड़ों में खट-खट की आवाज होती थी। खनिज लवणों के अभाव वाले क्षेत्र में वृद्धि पाने वाले पशुओं का आकार छोटा हो गया था तथा परिपक्व होने पर इनका सिर शरीर की अपेक्षा काफी बड़ा दिखाई देता था। चार वर्षीय पशुओं का शरीर भार 600 पौण्ड से कम था। स्वल्पता के लक्षण अनुपस्थित होने पर भी पशुओं की दशा बड़ी दयनीय थी। ह्रास का कारण वृद्धि, उत्पादन तथा प्रजनन में कमी होना था। पैरों में अकड़न, सन्धियों में सूजन, हड्डियों का टूटना, चारे में अभिरुचि, हड्डी चबाना, तथा गाभिन पशुओं में गर्भपात होना इसके सामान्य लक्षण थे। सबसे अधिक इस रोग का प्रकोप दुधारू गायों में हुआ तथा इसके बाद वृद्धि करने वाले छोटे पशु इसका शिकार हुए। कभी-कभी शरीर में ऐंठन होती थी। कुछ पशुओं की पूंछ इतनी मुलायम हो गई थी कि उसे रस्सी की भाँति लपेटा जा सकता था। चारे में अभिरुचि बढ़ने पर बाँझपन तथा गर्भपात के लक्षण अधिक दिखाई दिए। अभाव के क्षेत्र में लाई गई गायों में एक वर्ष की अवधि में लक्षण विकसित हो गए। शारीरिक झुकाव, पीठ का खुजाना, मलमूत्र त्याग करते समय कराहना तथा पीठ पर दबाने से दर्द होना आदि इसके अन्य लक्षण थे। गो पशुओं को यह बीमारी जाड़े के अंतिम दिनों में तथा बसंत के मौसम में अधिक लगती थी। जंगली अथवा देसी घास खाने पर उनमें रोग का और भी भीषण प्रकोप होता था। काफी मात्रा में लूसर्न घास खाने वाले पशुओं में भी इसका प्रकोप देखा गया। भेड़ों में, ऊन खाना, शरीर में खनिज लवणों की कमी का प्रमुख लक्षण है। हड्डी चबाना शरीर में फास्फोरस की कमी का सूचक है। किन्तु इसकी कमी के समय यह लक्षण अनुपस्थित भी हो सकता है तथा विभिन्न प्रकार की अन्य दशाओं में यह लक्षण मौजूद हो सकता है।

निम्न कोटि के मोटे चारे जैसे भूसा तथा मक्के के डंठल आदि फास्फोरस के कमी वाले राशन खाने वाली गायों में हालत का गिरना, गर्भ न होना, पाचन तन्त्र की अतानता, कम दूध देना, कमजोरी तथा वृद्धिरोधन के लक्षण पाए जाते हैं। कभी-कभी रोग-ग्रसित पशु लकड़ी, हड्डी तथा अन्य अवांछित पदार्थों को चबाते देखा जाता है। उसमें शारीरिक अकड़न तथा फीमर हड्डी का अस्थि-भंग भी हो सकता है।

फिरिपाइस के रोगियों में, सीरम में लगभग 9 प्रतिशत कैल्शियम की कमी थी जबकि उसमें अकार्बनिक फास्फोरस की मात्रा 20 प्रतिशत बढ़ी हुई थी (किदनर और

होल्ट[16])। बीमारी के प्रति व्यक्तिगत सहन-शक्ति में अत्यधिक विभिन्नता थी। कुछ पशुओं में फिलिपाइंस पहुँचने के 6 माह बाद इस बीमारी का विकास हुआ, जबकि उन्हीं परिस्थितियों में रखे जाने वाले अन्य पशुओं में 5 वर्ष से अधिक में भी बीमारी का विकास न हुआ। रोग का प्रारम्भिक लक्षण पशु की क्रियाओं में परिवर्तन होना था। तत्पश्चात् एक-एक कर स्थान-स्थान पर लँगड़ाहट होने के रूप में इसका धीरे-धीरे विकास हुआ। जैसे-जैसे बीमारी का विकास हुआ वैसे ही पशु में लँगड़ाहट बढ़ती गई। खान-पान में अभिरुचि होना प्रारम्भिक लक्षण न था। 98 प्रतिशत रोगियों में मैंडिबल अस्थि (जबड़े की हड्डी) बढ़ गई थी जिसे बाहरी किनारे पर दाढ़ के दाँतों के पास आसानी से पहचाना जा सकता था। रक्त-सीरम के परिवर्तनों में काफी विभिन्नता थी। किन्हीं दिनों में रक्त में उपस्थित तत्व, सामान्य मात्रा में मौजूद थे। पिछले घुटनों की हड्डियाँ फूली हुई तथा गुम्ची पर की हड्डियाँ बढ़ी हुई थीं।

चिकित्सा—गो-पशुओं तथा सूकरों में अस्थिमृदुता तथा सूखारोग के बचाव और इलाज में स्वल्पता वाले खनिज लवणों की पूर्ति बहुत ही प्रभावकारी सिद्ध हुई। इसे राशन के साथ अथवा कैल्शियम या फास्फोरस युक्त विशिष्ट पदार्थों के रूप में दिया जा सकता है। चूँकि खनिज लवणों की कमी के अधिकांश रोगी जो शाकाहारी पशुओं में रिपोर्ट किए गए, फास्फोरस की कमी के कारण थे, अतः इनको अधिक फास्फोरस युक्त चारे अथवा अस्थि-चूर्ण खिलाने से आशातीत परिणाम निकले। गेहूँ, जौं, जई तथा बिनौला जैसे दानों में फास्फोरस की मात्रा अधिक होती है। मूँगफली में खासतौर पर इसकी अधिकता होती है। दक्षिणी अफ्रीका में थीलर ने इस अवस्था को गेहूँ का चोकर, अस्थि चूर्ण, सोडियम फास्फेट तथा फास्फोरिक एसिड खिलाकर ठीक किया। थीलर[13] (1924) का कहना है कि "प्राकृतिक रूप से चराई के साथ पूरक के रूप में कोई भी पाचनशील फास्फोरस यौगिक देने से यह कमी दूर होकर पशु का सामान्य विकास होने लगता है। बाड़े में बँधे पशुओं की हालत सुधारने के लिए अस्थिचूर्ण खिलाना ही एक प्रयोगात्मक उपचार है। डेरी पशु अथवा अच्छे किस्म के जानवरों के लिए चोकर खिलाना लाभप्रद है। फास्फेट मिट्टी की कोई विशेष महत्ता नहीं है तथा इसे देने में भी कठिनाई होती है।" अफ्रीका में अस्थिचूर्ण की आवश्यकता प्रौढ़ बैलों तथा युवा बछड़ों के लिए 1/2 पौण्ड प्रति पशु प्रति सप्ताह, 300 पौण्ड से ऊपर शरीर भार वाले बढ़ोत्तरी करने वाले पशुओं के लिए 3/4 पौण्ड, तथा दुधारू गायों के लिए 2 पौण्ड या अधिक निर्धारित की गई। इसे या तो रोजाना राशन के साथ अथवा कम से कम सप्ताह में तीन बार देना चाहिए। फोबेस के अनुसार जीवाणु रहित अस्थिचूर्ण (2 से 6 औंस प्रति दिन) दुधारू गायों के लिए अत्यन्त प्रभावकारी खनिज पूर्ति है।

इकेल्स[2] ने कैल्शियम कार्बोनेट अथवा मछली के तेल (काड लिवर तेल) के प्रयोग से कोई लाभ नहीं पाया। खनिज लवणों की कमी वाले क्षेत्रों में जहाँ कहीं गायों को स्वतंत्र रूप से जीवाणुरहित अस्थिचूर्ण खाने को मिला वहाँ जाड़ों की ऋतु में प्रति पशु ने प्रति माह औसतन इसे 3.57 पौण्ड की मात्रा में खाया तथा उनमें अस्थि-मृदुता के सभी लक्षण अदृश्य हो गए। चारे में अभिरुचि के इतिहास के साथ प्रयोगात्मक पशुओं को जब

कमी वाले क्षेत्रों से प्राप्त मोटा चारा और जई खिलाया गया तो उनमें चारे के प्रति अभिरुचि विकसित हो गई। इस राशन में कैल्शियम कार्बोनेट तथा मछली का तेल शामिल करने पर भी यह लक्षण प्रकट हुए। जब राशन में एक समाक्षारीय सोडियम फास्फेट (100 ग्रेन नित्य) मिलाकर दिया गया तो उक्त लक्षण दिखाई न दिए। रोग-ग्रसित गायों को जब ट्राइकैल्शियम फास्फेट अथवा एक समाक्षारीय सोडियम फास्फेट खाने को मिला तो उनकी चारे में अभिरुचि शीघ्र ठीक हो गई। उनके शरीर भार अथवा दूध उत्पादन या दोनों में ही वृद्धि हुई।

फिलिपाइंस में, जहाँ घोडों में अस्थि-मृदुता रोग कैल्शियम की कमी के कारण होता है, किटनर और होल्ट[16] ने उनके राशन में महीन किया हुआ चूना पत्थर (36 ग्राम नित्य) मिलाकर खिलाने से आशातीत सुधार होते बताया। उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि जिस राशन में कैल्शियम-फास्फेट अनुपात 1 1 था उससे पशुओं की हालत में सुधार हुआ। जब यह अनुपात 1 25 था तो बीमारी और बढी यद्यपि कि अकेले कैल्शियम की आवश्यकता समुचित थी। अत जब कैल्शियम कार्बोनेट के स्थान पर नित्य 100 ग्राम की मात्रा में कैल्शियम फास्फेट दिया गया तो हालत में सुधार न हुआ। कैल्शियम तथा फास्फोरस के समुचित मात्रा में होने के बाद भी, कैल्शियम-फास्फोरस के निश्चित अनुपात के बारे में लोगों के विभिन्न मत हैं।

चूंकि दुधारू गायों को काफी मात्रा में कैल्शियम की आवश्यकता पड़ती है, अत ऐसा विचार किया जाता है कि इस पदार्थ को उनको दिए जाने वाले साधारण राशन में मिला देना चाहिए। अत मोलगार्ड[3] लिखते हैं कि डेन्मार्क में अनुभवों से यह पता चला है कि जिन गायों को दाना तथा 4 से 6 पौण्ड सूखी घास नित्य मिलती है उन्हें 60 से 70 ग्राम कैल्शियम कार्बोनेट की रोजाना आवश्यकता पडती है। यह कुछ असभव सा लगता है कि शरीर में खनिज लवणों की कमी से अधिक दुग्ध उत्पादन हेतु अच्छी खिलाई पिलाई गायों में बांझपन, जेर का न गिरना तथा प्रजनन संबंधी अन्य दोष उत्पन्न हो जाते हैं। फिर भी, ऐसी गायों की खनिज आवश्यकता आमतौर पर अनुमानित आवश्यकता से अधिक हो सकती है। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए व्यवसायिक डेरी खाद्य में प्राय 1 प्रतिशत अस्थिचूर्ण मिला दिया जाता है। हम लोगों को पालतू पशुओं की खनिज लवणों की आवश्यकता का पूर्ण ज्ञान नहीं है।

संदर्भ

1 Theiler, A , The pathological aspects of phosphorus and calcium deficiency in cattle, Vet , Rec , 1931, 11, N S 1143 Eleventh Inter. Vet Congress, 1930, 1, 447

2 Eckles, C H , Becker, R B , and Palmer, S , A Mineral Deficiency in the Rations of Cattle, Minn Agr Exp Sta Bull 229, 1926

3 Mollgaard, H , Grundzuge der Ernahrungsphysiologie der Haustiere, ed., 2, Berlin, Paul Parey, 1931

4 Schmidt, H , Calcium and phosphorus deficiencies in cattle and horses clinical picture, treatment, and prevention, J.A V.M A , 1940, 96, 441

5. Mitchell, M. M., and McClure, F. J., Mineral Nutrition of Farm Animals, Bull. of the National Res. Council, No. 90, National Academy of Sciences, Washington, 1937.
6. Forbes, F. B., and Johnson, S. R., Phsophorus Deficiency among cattle Pennsylvania, Penn. State Col. Agr. Exp. Sta. Bull. 371, 1939.
7. Sjollema, B., Nutrition Abs. and Reviews, 1932, 1, 625.
8. Reed, O. E. and Huffman, C. F., Feeding of concentrates to dairy cattle. Heavy feeding of concentrates without the proper quality of roughage is deterimental to the animal. Mich. Agr. Exp. Sta., Quar. Bull., 1926, 8, 118.
9. Bechdel, S. I., Landsburg, K. G., and Hill, O. J., Rickets in Calves, Penn. State College Bull. 291, State College, 1933.
10. Gullickson, T. W., Palmer, L. S., and Boyd, W. L., A Rickets Like Disease in Young cattle, Univ. Minn. Tech. Bull. 105, St. Paul, 1935.
11. Hibbs, J. W., Krauss, W. E., Monroe, C. F., and Pounden, W. D. A. report on the occurrence of rickets in calves under farm conditions, J. Dairy Sci., 1945, 28, 525.
12. Becker, R. B., Neal, W. M., and Shealy, A. L., Effect of calcium deficiency roughage upon the milk production and welfare of dairy cows, Fla. Sta. Bull. 262, 1933.
13. Morrison, F. B., Feeds and Feeding, ed. 20, 1936.
14. Maynard, L. A., Animal Nutrition, New York, Mc. Gra-Hill Co., 1951.
15. Miller, W. C., Agricultural rationalism and veterinary science, Vet. Rec., 1938, 60, 171.
16. Kintner, J. H., and Holt, R. L., Equine osteomalacia, Philippine J. Science, 1932, 49, 1.
17. Williams, W. L., Fisher, C., and Udall, D. H., The spavin group of lamenesses, proceedings of the Am. Vet. Med. Asso. 1095, p. 283.
18. Greenlee, C. W., The skeletal diseases of horses and their relation to nutrition, Cornell Vet., 1939, 29, 115.
19. Theiler, A., Phosphorus deficiency in the live stock industry, Reprint No. 18, J. Dept. Agr. Union South Africa, 1924.
20. Theiler, A., due Toit, P. J., and Malan, A. I., Studies in mineral metabolism xxxvii. The influence in the variations in the dietary phosphorus and in the Ca : P ratio on the production of rickets in cattle, Onderstepoort J. of Vet. Sci. and Animal Ind., 1937, 8, 375.

सूकरों में रिकेट्स, अस्थिमृदुता तथा अस्थिसुषिरता रोग

(पश्च पक्षाघात)

परिभाषा—सूकरों में खनिज लवणों की कमी की परिभाषा शाकाहारी पशुओं की भांति ही है। इनमें फास्फोरस की कमी से सूखा रोग तथा कैल्शियम की कमी से अस्थि-सुषिरता (osteoporosis) रोग उत्पन्न होता है। अन्य जातियों की भांति सूकरों

में भी शब्द रिकेट्स उस बीमारी के लिए लागू होता है जिसमें रिकेट्स के सलक्षण मौजूद हों।

कारण—दक्षिणी अफ्रीका में किए गए प्रयोगों में अस्थिक्षयता के रोग तभी उत्पन्न किए जा सके जबकि पशु द्वारा कैल्शियम अथवा फास्फोरस या दोनों की मात्रा कम ग्रहण की गई। सन् 1937 में थीलर आदि[1] ने उन खाद्य-परीक्षणों के निम्नलिखित परिणाम रिपोर्ट किए जिनमें कि कैल्शियम और फास्फोरस के विभिन्न समिश्रण सुअरियों को खिलाए गए थे 1 असामान्य अनुपात के साथ कम फास्फोरस से भयकर रिकेट्स उत्पन्न हुई जिसमें सीरम-फास्फोरस की भी मात्रा काफी कम थी। पशु पर प्रकाश का कोई प्रभाव न पड़ा। 2 असामान्य अनुपात के साथ कम कैल्शियम से अस्थि सुषिरता रोग उत्पन्न हुआ जिसमें रिकेट्स न होकर अस्थियों का अपक्षय था। इसमें सीरम-कैल्शियम की मात्रा नार्मल थी। प्रकाश का इस पर भी कोई प्रभाव न था। 3 नार्मल अनुपात के साथ कैल्शियम तथा फास्फोरस दोनों की कमी से अस्थियों का अपक्षय होकर रिकेट्स का अनुमान हुआ इसका विनाशकारी प्रभाव असामान्य अनुपात के साथ कैल्शियम अथवा फास्फोरस की कमी की अपेक्षा कम भयानक था। प्रकाश की अनुपस्थिति हानिकारक थी। 4 असामान्य अनुपात के साथ समुचित मात्रा में कैल्शियम तथा फास्फोरस के होने से कोई भी परिवर्तन न देखा गया।

सूकरों में, अन्य पशुओं की अपेक्षाकृत खनिज लवणों की कमी से होने वाले रोग अधिक होते हैं। ऐसा अनेक फार्मों पर उनकी खूराक सीमित होने के कारण होता है और विशेषकर छोटे फार्मों पर यह रोग सपरेटा, मक्का, गहूँ का दाना, जूठन आदि सस्ते पदार्थ खिलाने पर देखा जाता है। मिचेल और मक्लूर[2] ने यह पता लगाया कि वृद्धि करने वाले सूकरों को उनको खिलाए जाने वाले राशन का 0 3 प्रतिशत कैल्शियम तथा 0 35 प्रतिशत फास्फोरस चाहिए होता है।

सूकरों में सूखा रोग से सबधित अधिक आवश्यक तथ्यों को फोर्बेस[3] द्वारा प्रदर्शित किया गया। सन् 1914 में उन्होंने बताया कि वृद्धि करने वाली सुअरियों को दिए जाने वाले समस्त बीजयुक्त राशन कैल्शियम का अपूर्ण स्रोत थे। दूध तथा ओषधीयुक्त राशन खाने से सुअरों के शरीर में दाने की अपेक्षाकृत 9 से 10 गुना अधिक कैल्शियम भण्डारित हुआ। उन्होंने चरागाह, चारे की फसलों तथा सूखे विशेषकर फलीदार मोटे चारे का महत्व बताने के दृष्टिकोण से यह परिणाम प्रदर्शित किए। सन् 1915 में उन्होंने दिखाया कि मक्का तथा असमुचित मात्रा में खनिज पदार्थों के साथ प्रोटीन का समिश्रण करने पर भी रिकेट्स का विकास हुआ।

सन् 1922 में मक्कालम आदि[3] ने यह बताया कि दाने के राशन में अवक्षेपित कैल्शियम कार्बोनेट अथवा पिसा हुआ चूना पत्थर मिला देने पर शरीर में कैल्शियम, मैगनीशियम तथा फास्फोरस की वृद्धि हुई। दाने के राशन में चूना मिला देने पर हड्डी के घनत्व तथा शक्ति में वृद्धि हुई किन्तु, इसस उनकी वृद्धि पर कोई प्रभाव न पड़ा। प्रयोग किए गए विभिन्न पदार्थों में से जीवाणु रहित अस्थि-चूर्ण से अधिकतम कठोरता उत्पन्न हुई जबकि फास्फेट मिट्टी से कमजोर हड्डियाँ पैदा हुईं।

विटामिन 'डी' की कमी भी सूकरों में रिकेट्स का एक कारण है। इस विषय पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है। ऐसी कमी तब देखी जाती है जब सूकरों के राशन में विटामिन 'डी' का अभाव होता है तथा विशेषकर जाड़ों के महीनों में जब उन्हें अँधेरे बाड़ों में बंद करके सूर्य की रोशनी से वंचित रखा जाता है। यह अब आमतौर पर विश्वास किया जाने लगा है कि सूकरों में रिकेट्स का प्रमुख कारण कैल्शियम अथवा फास्फोरस, विशेषकर कैल्शियम, की कमी है और जब समुचित मात्रा में यह खनिज लवण सूकरों को खाने को मिलते हैं तो विटामिन' डी' के अभाव में भी उन्हें रिकेट्स तथा अस्थि-मृदुता रोग नहीं होने पाते। यदि समुचित मात्रा में यह खनिज लवण उपलब्ध नहीं हो पाते तो विटामिन 'डी' की उपस्थिति में भी यह बीमारियाँ विकसित होने लगती हैं। नेब्रास्का अन्वेषण-केन्द्र पर सूकरों में किए गए खाद्य-परीक्षणों से यह पता चला कि चारे में कैल्शियम की कमी होने पर उसमें 1 प्रतिशत मछली का तेल मिला देनें पर सूकरों को रिकेट्स से बचाया जा सकता है और ऐसे ही परिणाम अन्य लोगों द्वारा भी प्राप्त किए गए। इन प्रयोगात्मक अवलोकनों के अतिरिक्त, विटामिन 'डी' को इसका संभव कारक तभी समझना चाहिए जब राशन में कैल्शियम की कमी हो।

दक्षिणी अफ्रीका के उन क्षेत्रों में जहाँ 6-7 माह तक मौसम सूखा रहता है तथा दाना थोड़ा या बिल्कुल ही उपलब्ध नहीं होता, वहाँ विटामिन 'ए' की कमी को केलरमन[6] तथा उनके साथियों द्वारा वर्णन किया गया है। प्रयोगात्मक सुअरियों में रिकेट्स जैसे निम्न लक्षण उपस्थित थे : नेत्र श्लेष्मला शोथ, दौरे पड़ना, पिछले धड़ का पक्षाघात तथा धूल मिट्टी आदि अवांछित पदार्थ खाना। विटामिन 'ए' की कमी के कारण सूकरों में पश्च-पक्षाघात को हार्ट तथा गिल्बर्ट[7] (Hart and Gilwart) ने भी होते बताया।

विकृत शरीर रचना—ऊपर से दिखाई देने वाले क्षतस्थल पशु की सँधियों तथा अस्थियों तक ही सीमित रहते हैं। सबसे प्रमुख परिवर्तन लम्बी हड्डियों के सिरों में, तथा पसलियों में पाए जाते हैं। संधायक कार्टिलेजों (articular cartilages) में भी ऐसे परिवर्तन आमतौर पर पाए जाते हैं। अस्थि-तन्तु (bone tissue) इतना मुलायम हो जाता है कि वह चाकू अथवा आरी से आसानी से कट सकता है। लम्बी अस्थियों के सिरों पर की मज्जा में प्राय: रक्तयुक्त धब्बे मिलते हैं। कभी-कभी पसलियों के ठीक हुए अस्थि-भंग तथा हड्डियों की अति वृद्धि भी देखने को मिलती है।

अपने वितरण तथा प्रकार में संधायी परिवर्तन भिन्न-भिन्न होते हैं। इनके प्रमुख स्थान स्कंध-संधि तथा घुटना-संधि हैं। कंकाल के अन्य भागों में प्राय: विशिष्ट परिवर्तन नहीं मिलते। संधियों के अन्दर संधायक कार्टिलेज में झुर्रियाँ तथा नालियाँ सी पड़ सकती हैं तथा संधि-तल खुरदुरा एवं कटा-पिटा दिखाई दे सकता है। संधायक संपुट (articular capsule) मोटा हो जाता है तथा इसकी स्नेहक-सतह (synovial surface) पर अंकुर जैसी उठी हुई वृद्धि हो सकती है। स्नेहक-द्रव (synovial fluid) की मात्रा में कोई वृद्धि नहीं होती। रोग-ग्रसित हड्डियों के सिरों पर आसानी से चाकू घुसेड़ा जा सकता है। जब एक पसली रीढ़ की हड्डी पर 90 अंश का कोण बनाती हुई मुड़ती है तो वह मुड़कर दफ्ती के टुकड़े की भाँति टूटती है जबकि सामान्य पसली चटकती

तथा खण्डित होती है (कर्नकैम्प[7])। अति रोग-ग्रसित रोगियों में अन्य ककालीय भागों, विशेषकर सिर, में प्रमुख परिवर्तन मिलते है तथा अगला या पिछला घुटना खूब मुड़ा हुआ तथा लचीला दिखाई देता है। करोरुकाओ तथा लम्बी अस्थियों का अस्थि-भग हो सकता है।

लक्षण—पैरो के कार्य का ह्रास होना इसका प्रमुख लक्षण है। पशु लँगड़ाता अथवा चलने-फिरने में बिल्कुल ही असमर्थ हो जाता है। शरीर में खनिज लवणो की कमी शुरू होने के बाद एक से तीन माह में बीमारी के प्रारम्भिक लक्षण प्रकट होते है। दोनो अगले पैरों के रोग ग्रसित होने पर पशु की चाल में अकड़न होती है तथा खड़े होने पर उसके पैर

चित्र—63 दला हुआ गेहूँ खाने से उत्पन्न कैल्शियम स्वाल्पता' कैल्शियम रिकेट्स (एस॰ जे॰ रावर्ट्स के सौजन्य से प्राप्त फोटोग्राफ)।

थोड़ा पीछे की ओर बढे हुए तथा घुटने पर मुड़े हुए दिखाई देते हैं। गुम्ची सीधी हो सकती है जिसके कारण रोग-ग्रसित सुअर अपने खुरा के अगले किनारो पर खड़ा प्रतीत होता है। रोग की अधिक बढ़ी हुई अवस्था में सुअर जमीन पर पड़े रहते हैं तथा अपने घुटनो के बल चलते है। पिछले दोनो पैरों के रोग-ग्रसित होने पर पशु के कदम छोटे पड़ते, वह लँगड़ा हो जाता तथा उसकी चाल में अकड़न होती है। क्षतस्यला के सुविकसित होने पर पिछले पैर शरीर के अन्दर आगे को बढ़े हुए दिखाई पड़ते है तथा पिछले घुटने स्थायी रूप से काफी मुड़ जाते है। पिछल धड़ का पक्षाघात होना इसका एक प्रमुख लक्षण है। पशु झुका हुआ सा रहता तथा चलना नहीं चाहता है। रोग के अधिक बढ़ने पर पैरो के जोड़ बढ़ जाते है। पसलियों, फीमर तथा करोरुकाओ का अस्थि भग और कधे तथा जाँघ की मास-पेशियों का अपक्षय होना इसके अक्सर होने वाले अन्य लक्षण है। कर्नकैम्प[8] के अनुसार सुअर इस प्रकार से जमीन खोद-खाद कर मिट्टी खाते है जैसे वे अपनी खुराक में अनुपस्थित किसी वस्तु को ढूँढ रहे हो। कुछ रोगियों में सिर की हड्डियाँ इतनी बढ़ सकती हैं कि दूर से ही विकृतता का पता लग जाता है। कभी-कभी पूर्वसूचक ऐंठन होती है। अधिक निश्चित

लक्षणों के अग्रसर के रूप में त्वचा पर दाने निकलना भी वर्णन किया गया है। आंखों के चहुँतरफा तथा उदर-तल की त्वचा सूखी, मोटी और झुर्रियोंदार दिखाई देती है।

कम कैल्शियम युक्त खूराक खाने वाली प्रयोगात्मक सुअरियों में, जिनमें कि सीरम-कैल्शियम की मात्रा कम होकर 5 मिलि ग्राम प्रति 100 घ० सें० हो गई, पशु विशेष प्रकार से टिटैनीयुक्त हो गए। जैसा कि पेडर्सन[9] (Pederson) द्वारा वर्णन किया गया है "वे बहुत ही चिड़चिड़ी थीं, मांस-पेशियों में तनाव था, पैरों पर मांसल ऐंठन बहुत ही स्पष्ट थी, तथा उनकी पूंछ लगातार कांपती थी। जब सुअरियाँ अपने बाड़ों में खड़ी होती थीं तो वे इस प्रकार कांपती थीं कि उनके दरबे तक हिलते थे। दोनों ही सुअरियों को विशेष प्रकार के टिटैनी जैसे दौरे पड़ते थे, जिनमें वे कराहती हुई कुछ समय तक जमीन पर पड़ी रहती थीं।" 1 दसलक्ष यूनिट की मात्रा में विटामिन डी$_2$ देने पर हालत में शीघ्र सुधार होने लगा तथा सीरम-कैल्शियम नार्मल हो गया। 500 यूनिट की मात्रा में नित्य विटामिन डी$_2$ देने पर पशु टिटैनी के लक्षणों से मुक्त रहे, किन्तु सीरम में कैल्शियम की मात्रा तथा कैल्शियम का शोषण नार्मल से कम था।

यद्यपि कि यह एक दीर्घकालिक रोग है, फिर भी, इसका फलानुमान अच्छा होता है तथा यदि विकृतता अधिक नहीं है तो खूराक को ठीक कर देने पर पशु शीघ्र ठीक होने लगता है। प्रत्यक्ष रूप से यह इस तथ्य से स्पष्ट है कि पैरों में शरीर-रचनात्मक परिवर्तनों की अपेक्षाकृत लँगड़ाहट तथा पक्षाघात के लक्षण अधिक प्रमुख होते हैं। रोग का फलानुमान भी बड़े तथा धीरे-धीरे वृद्धि पाने वाले सुअरों में अधिक अच्छा होता है। अधिक विकृतता तथा जीर्ण-शीर्ण होने पर रोगी पशु असाध्य हो जाता है।

चिकित्सा—राशन का दो प्रतिशत महीन पिसा हुआ चूना पत्थर खिलाने से सूकरों में कैल्शियम की कमी शीघ्र ठीक हो जाती है। 9 भाग अस्थि-चूर्ण तथा 1 भाग ओझड़ी का मिश्रण खिलाने से रोग से बचाव किया जा सकता है। मछली के तेल अथवा सूर्य की किरणों के रूप में विटामिन 'डी' के प्रयोग पर अधिक जोर दिया गया है किन्तु, यदि समुचित मात्रा में खनिज लवण दिए जाते हैं तो विटामिन 'डी' देना अधिक अनिवार्य नहीं है। फलीदार घास खिलाने से पशु को अधिक कैल्शियम मिलता है। बोस्टेड[10] के अनुसार जाड़ों की खूराक में सूकरों को 5 प्रतिशत तथा सुअरियों को 10 प्रतिशत पिसी हुई लूसर्न घास मिलनी चाहिए। चरागाह की घास, फलीदार घास, सपरेटा तथा ओझड़ी जैसे पदार्थों में समुचित मात्रा में कैल्शियम होता है, अतः इन्हें खिलाने पर पशु को अलग से कैल्शियम देने की आवश्यकता नहीं पड़ती। कम वांछनीय कैल्शियम के प्रकार चिकनी मिट्टी तथा डोलोमाइटी चूना पत्थर में पाए जाते हैं। कैल्शियम के अवांछनीय तथा हानिकारक संमिश्रण फास्फेट मिट्टी तथा फास्फेटिक चूना पत्थर में पाए जाते हैं जिनमें फ्लोरीन मिली रहती है—मिचेल[11], मेनार्ड[12]।

संदर्भ

1. Theiler, A., du Toit, P. G., and Malan, A. I., Studies in mineral metabolism xxxviii. Calcium and phosphorus in the nutrition of growing pigs, Onderstepoort J. Vet. Sci. and Animal Ind., 1937, 9, 127.

2 Mitchell, M M, and McClure, F J, Mineral Nutrition of Farm Animals, Bull. of the National Res Council, No 99 National Academy of Sciences, Washington, 1937
3 Forbes, E B Beegle, F M, Fritz, C M, and Mensching, J E, Ohio Agr Exp. Sta Bull 271, 1914, A chemical study of nutrition of swine
4 McCollum, J, Simonds, N, Becker, J E and Shipley, P J, Studies on experimental rickets, J Biol Chem 1922, 53, 293
5 Loeffel, W J, and others, Studies of Rickets in Swine, Neb Agr Exp Sta Res Bull 58, 1931
6 Kellerman, J H, Schulz, K C A., and Thomas, A D, Paresis in pigs in relation to nutritional deficiencies, Onderstepoort J of Vet Sci and Animal Ind, 1943, 18, 225
7 Hart G H, and Guilbert, H R, Symptomatology of vitamin deficiency in domestic animals, J A V M A, 1937, 91, 193
8. Kernkamp, H. C H, A Study of a Disease of the Bones and Joints of Swine, Minn Agr Exp Sta Tech Bull 31, 1925
9 Pedersen, J G. A. Single dose therapy with vitamin D in cases of tetany in pigs, Acta Pharmacologica et Toxicologica, 1945, I, 219
10 Bohstedt, G, Nutritional diseases of swine, J A V M A, 1929, 74, 661
11 Mitchell H H, Mineral deficiencies in swine rations, J. A V M A, 1929, 74, 651
12 Maynard, L A, and Tolle, C, A Study of Phosphatic Limestone as a Mineral Supplement, N Y Agr Exp Sta Bull 283, 1915

आयोडीन स्वल्पता

(Iodine Deficiency)

(गल-गण्ड, बाल रहित सुअर, निर्बल बछड़े, निर्बल मेमने)

नवजात बछड़ों में थायरायड ग्रंथि बढ़ने (साधारण गल-गण्ड) तथा नवजात सुअरियों की बाल रहित त्वचा द्वारा शरीर में आयोडीन की कमी का पहचाना जाता है। एक विकीर्ण तथा स्थानिकमारी के रूप में यह बीमारी यूनाइटेड स्टेट्स में बहुविस्तरित है। इस देश में ग्रेट लेक्स (Great Lakes) तथा उत्तरी-पश्चिमी क्षेत्रों में यह रोग खूब पाया जाता है। समुद्र के किनारे के निकट यह रोग कम प्रकोप करता है। न्यूयार्क स्टेट में गल-गण्ड के अनेक रोगी रिपोर्ट किए जा चुके हैं। इस बीमारी को कैल्वस[1], वेल्श[2], स्मिथ[3] तथा स्टीनब्राक[4] द्वारा वर्णित किया गया है। माँ के चारे अथवा पानी में आयोडीन का अभाव होना इस रोग का प्रमुख कारण है। उन क्षेत्रों में जहाँ आयोडीन की अत्यधिक कमी होती है, जैसा कि वाशिंगटन के कुछ भागों में देखा जाता है, वहाँ के प्रौढ़ पशुओं में भी गल-गण्ड की सूजन पाई जाती है, किन्तु इससे उनके स्वास्थ्य पर कोई कुप्रभाव नहीं दिखाई देता। कुछ क्षेत्रों में यह अभाव इतना कम है कि कभी-कभी इस रोग के रोगी यत्र-तत्र देखने को मिलते हैं जबकि अन्य क्षेत्रों में प्रति वर्ष इस रोग से कुछ पशुओं का ह्रास होता है।

वाशिंगटन में ऐसा विश्वास किया जाता है कि लम्बी ठंडी वसंत की ऋतु इस बीमारी को और भी उग्र बना देती है तथा पतझड़ में ब्याए हुए बच्चों में इसका आक्रमण कम होता है। इसके प्रकोप में चक्रीय विभिन्नता भी होती है। ऐसा, विभिन्न ऋतुओं में चारे तथा पानी में आयोडीन की भिन्न मात्रा के कारण होता है।

चित्र—64 आयोडीन स्वल्पता से पीडित पशु (डब्ल्यू० जे० गिबस द्वारा लिया गया चित्र)

विकृत शरीर रचना—थायरायड ग्रंथि खूब सूज जाती है तथा इसके चारों ओर के टिसुओं में रक्त तथा सीरम भर जाता है। थायरायड बढ़ जाते, मुलायम हो जाते तथा देखने में जमे हुए रक्त की भाँति प्रतीत होते हैं।

लक्षण—बछड़े प्रायः जीवित पैदा होते हैं किन्तु, कुछ मरे हुए भी पैदा हो सकते हैं। वे बहुत ही निर्बल होते तथा अक्सर उनको उठने में कष्ट होता है। यदि पैरों में सहारा देने पर बछड़ा खड़ा हो जाता तथा दूध पीने लगता है तो उसकी हालत में शीघ्र सुधार हो सकता है। कैल्कस[1] के अनुसार सभी रोग ग्रसित बछड़ों में जुगुलर नाडी-गति बढ़ी हुई मिलती है। बाल रहित बछड़े यदा-कदा ही देखने को मिलते हैं। सूकरों में, आयोडीन की कमी के कारण बालरहित बच्चे पैदा होने के बाद शीघ्र मर जाते हैं। प्रायः एक यूथ के कुछ ही बच्चों को यह रोग होता है। रोग-ग्रसित बछेड़े तथा मेमने कमजोर होते हैं तथा ये कभी भी खड़े न हो पाकर परलोक सिधार जाते हैं।

बचाव—गर्भकाल के अंतिम तीन माह में मादा को थोड़ी मात्रा में आयोडीन देने से उससे पैदा होने वाले बच्चों को इस बीमारी से बचाया जा सकता है। सुअरियों के लिए रोजाना 1.5 से 2 ग्रेन (0.09 से 0.13 ग्राम) की मात्रा में पोटाशियम आयोडायड देना पर्याप्त होता है। कैल्कस[1] ने यह बताया कि त्वचा पर केवल टिंचर आयोडीन लगा देने से सामान्य प्रसव हो जाता है। गर्भकाल में शीघ्रातिशीघ्र इसे प्रारम्भ करके प्रति दो सप्ताह

बाद लगाना चाहिए। गायों तथा घोड़ियों के लिए एक चाय के चम्मच भर तथा छोटे पशुओं में इसका आधा भाग खाल की त्वचा पर अन्दर की ओर मल दिया जाता है। आयोडीन देने का आसान तरीका यह है कि नमक के साथ 1 3500 के अनुपात में पोटासियम आयोडाइड मिला कर दे दिया जाए।

वृद्धि करने वाले छोटे पशुओं के लिए आयोडीन की आवश्यकता अभी तक निर्धारित नहीं हुई है। इनका प्रयोगात्मक रूप से आयोडीन खिलाने के परिणामों पर लोगों के विभिन्न मत हैं (आयोवा, मिचल[5] केली[6])।

संदर्भ

1 Kalkus, J W, A Study of Goitre and Associated Conditions in Domestic Animals, Wash Agr Exp Sta Bull 156, Pullman, 1920
2 Welch, H, Prevention of goiter in farm animals, Montana Sta Cir 100, 1940
3 Smith, G E, Fetal athyreosis a study of the iodine requirement of the pregnant sow, J Biol Chem 1917, 29, 215
4 Hart E B, and Steenbock, H, Thyroid hyperplasia and the relation of iodine to the hairless pig malady, J Bio Chem, 1918, 33 313
5 Mitchell, H H, Mineral deficiency in swine rations, J A V M A, 1929, 74, 651 Proc Iowa Academy Sci, 1926, 31, 309
6 Kelly, F C, The influence of small quantities of potassium iodide on the assimilation of nitrogen, phosphorus and calcium in the growing pig Biochem. J 1925, 19, 559

ताम्र स्वल्पता

(Copper Deficiency)

(पशु स्थानिक गति विभ्रम, छेदन रोग)

विभिन्न देशों की रेतीली धूल युक्त तथा गंदी भूमि पर तांबे की कमी ने गो-पशु तथा भेड़ व्यवसाय को बुरी तरह प्रभावित किया है। यूनाइटेड स्टेट्स में यह स्वल्पता फ्लोरिडा[1] में पाई जाती है और ऐसी ही मिलती-जुलती बीमारी की सूचना न्यूजीलैंड[2], दक्षिणी अफ्रीका[3], आस्ट्रेलिया[4] तथा ब्रिटेन[5] से प्राप्त हुई है।

न्यूजीलैंड में ताम्र-स्वल्पता पर कार्य करके कनिंघम (Cunningham) ने यह निष्कर्ष निकाला कि 'पशुओं में इस लवण की कमी से दो बीमारियाँ हुआ करती हैं। पहला रोग साधारण ताम्र-स्वल्पता है जो छोटे-छोटे क्षेत्रों में होता है और यह मेमनों में स्थानिक गति विभ्रम, बछड़ों में गतिभ्रम तथा प्रौढ़ पशुओं में कमजोरी और प्रजनन वृत्ति में कमी उत्पन्न करता है।

'दूसरा रोग गंदे दस्त आना है जो कूड़ा-करकट युक्त गंदी भूमि पर रहने वाले पशुओं में अधिक प्रकोप करता है और जो सम्भवत चारे में तांबे की कमी तथा मालिब्डनम की अधिकता के कारण होता है। गो-पशुओं को बसंत के महीनों में दस्त आना, पशुओं

तथा बछड़ों का कमजोर हो जाना तथा मक्खन-वसा के उत्पादन में कमी हो जाना इसके प्रमुख लक्षण हैं। साधारण ताम्र-स्वल्पता तथा गंदे दस्तों के लक्षण पशु को ताम्र लवण खिलाने से पूर्णरूपेण ठीक हो जाते हैं।"

लक्षण—जैसा कि फ्लोरिडा में डेविस आदि[1] ने वर्णन किया है सफेद तथा धूसर मिट्टी वाले क्षेत्रों में साधारण ताम्र-स्वल्पता को वृद्धि में रुकावट, मोटा न हो पाना, मोटे खुरदरे बाल जो स्वतंत्रतापूर्वक गिरते हैं, बालों का रंग उड़ना तथा अति उग्र रोगियों में भयंकर रक्त-स्वल्पता आदि लक्षणों से पहचाना जाता है। वैसे तो यह लक्षण अधिकतर युवा पशुओं में ही हुआ करते हैं, किन्तु इन्हें बार-बार गायों में भी देखा गया। जब कभी चारे में ताँबे की मात्रा 5 भाग प्रति दसलक्ष से कम होती है तभी इन लक्षणों का विकास होता है। इसके अन्तर्गत बहुत से रेतीली मिट्टी वाले चरागाह आते हैं। साधारण ताम्र-स्वल्पता से मोलिब्डनम की भाँति उग्र अस्थि-परिवर्तन तथा दस्त उत्पन्न नहीं होते।

गंदी तथा धूलयुक्त मिट्टी पर जहाँ मिट्टी तथा चारे में मालिब्डनम की उपस्थिति से ताँबे की कमी होती है और पशु 1 भाग प्रति दसलक्ष से कम मालिब्डनम सहन कर पाते हैं, वहाँ इसके लक्षण अधिक उग्र होते हैं। अधिकांश रोगियों में पहले तेज दस्त आकर शरीर भार में कमी हो जाती है तथा चारे में उनकी रुचि सामान्य रहती है। 2 से 15 माह की आयु वाले गो-पशुओं में गुम्चा के ऊपर मेटाकार्पल तथा मेटाटार्सल हड्डियों में रिकेट्स जैसी अवस्था विकसित होती है तथा पसलियों, फीमर अथवा ह्यूमरस हड्डी की टूट के साथ पशु अस्थि-मृदुता से पीड़ित होता है। गंदी जमीन पर चरागाहों से कम फास्फोरसयुक्त चारा खाने वाले पशुओं में अस्थियों का असामान्य विकास होते अधिक देखा गया है। कुछ मोटे तथा स्वस्थ प्रौढ़ पशु शरीर में ताँबे तथा फास्फोरस की कमी से, अधिक काम करने पर दीर्घकालिक ताम्र-स्वल्पता के बिना लक्षण प्रकट किए ही एकाएक मर गए। न्यूजीलैंड में इसका नाम "गिरना रोग" (falling disease) रखा गया। हृदय का हिस्टॉलोजिकल-परीक्षण करने पर मासँल अपक्षय मिला। रेडियोऐक्टिव फास्फोरस तथा मालिब्डनम के साथ किए गए अतिरिक्त अध्ययनों से यह पता चला कि मालिब्डनम पशु के शरीर से फास्फोरस का ह्रास करता है और साथ ही यदि राशन में ताम्र लवण नहीं दिया जाता तो चारे में उपस्थित फास्फोरस का उपयोग नहीं होने देता। कुछ क्षेत्रों में कैल्शियम, फास्फोरस तथा लोह लवणों की कमी होने पर ताम्र-स्वल्पता और भी अधिक जटिल हो जाती है।

कन्ट्रोल—रोग-ग्रसित पशुओं को जब ताम्र तथा कोबाल्टयुक्त खनिज-पूर्ति दी जाती है, तो वे शीघ्र ठीक होने लगते हैं। जब चारे में 1 से 80 भाग प्रति दसलक्ष माल्बिडनम होता है तो 300 से 1000 पौण्ड शरीर भार वाले पशुओं को रोजाना 0·5 से 2 ग्राम की मात्रा में कॉपर सल्फेट देकर इस रोग से बचाया जा सकता है। प्रयोगों से पता चला है कि जब पशुओं को कोबाल्ट खाने को मिलता है तो वे चारे में उपस्थित ताम्र लवण का अपने शरीर में अधिक अच्छी तरह उपयोग कर लेते हैं। इस कारण ऐसा प्रतीत होता है कि राशन में सूक्ष्म मात्रा में कोबाल्ट उपस्थित होने पर शरीर में यह ताम्र के उपापचयन में

सहायक होता है। कूड़ा-करकट युक्त जमीन पर ताम्र लवण छिड़क कर चारा उगाने से चूंकि उपज बहुत अच्छी होती है अतः यह राय दी जाती है कि उर्वरक में थोड़ा कापर मिला लिया जाए। चूंकि समुचित मात्रा में फास्फोरस न मिलने पर शरीर में और भी अधिक ताम्र का अभाव हो जाता है अतः ऐसी जमीन पर डाले जाने वाले उर्वरकों में फास्फोरस भी मिला लेना चाहिए। आमतौर पर एक 0 8 24 उर्वरक जिसमें 10 प्रतिशत तूतिया होता है, जमीन पर 500 पौण्ड प्रति एकड़ के हिसाब से डाला जा सकता है। बाद में चारे की उपज स्थिर रखने के लिए प्रतिवर्ष ऐसी जमीन पर 200 से 300 पौण्ड उर्वरक प्रति एकड़ डालते रहना चाहिए। कूड़ा-करकट युक्त जमीन पर रहने वाले पशुओं को जब खनिज-पूर्ति में 5 प्रतिशत कापर सल्फेट मिलाकर खिलाया गया तो उन पशुओं में इस लवण का अभाव देखा गया। ताम्र विषाक्तता का कोई भी रोगी रिपोर्ट न किया गया। 0 5 औंस कोबाल्ट सल्फेट, 2 औंस ऐलूमीनियम सल्फेट तथा 2 से 4 औंस कॉपर सल्फेट एक गैलन पानी में मिलाकर भी प्रत्येक पशु को पिलाया जा सकता है। 300 पौण्ड से अधिक शरीर भार वाले किसी भी पशु को यह मिश्रण 6 औंस की मात्रा में सप्ताह में एक बार देकर तीन चार सप्ताह तक देना चाहिए। ऐलूमीनियम सल्फेट का मिलाना इच्छा पर निर्भर होता है। सफेद अथवा धूसर खनिजयुक्त भूमि के लिए (प्रायः लोह लवण में कम) निम्नलिखित मिश्रण प्रयोग किया जाता है 0 5 पौण्ड फेरिक अमोनियम साइट्रेट, 10 ग्राम कापर सल्फेट, 10 ग्राम कोबाल्ट सल्फेट तथा एक गैलन पानी। बछड़ों को यह तीन औंस तथा प्रौढ़ पशुओं के लिए 6 औंस की मात्रा में सप्ताह के अवकाश पर तीन बार दिया जाता है।

सन्दर्भ

1. Becker, R B, Dix Arnold, P T, Kirk, W G, Davis, G K., and Kidder, R W, Minerals for Dairy and Beef Cattle, Florida Bull, 513, Gainesville, 1953

2. Cunnigham, I J, Copper deficiency diseases in New Zealand and the relation thereto of dietary molybdenum, 14th Internat Vet. Congress, 1952, 3, 48

3. Schulz, K C A., Van der Merwe, P K, Van Rensburg, P. J J and Swart, J S, Studies in demyelinating diseases of sheep associated with copper deficiency, Onderstepoort J Vet, Res, 1952, 25, 35

4. McDonald, Ian W, Enzootic ataxia in lambs in southern Australia, Aust Vet J, 1942, 18 165

5. Jamieson, S, and Allcroft Ruth, Hypocraemic pining of calves in Caithness, Rep 14th Inter Vet Congress, 1919, 3, 55.

कोबाल्ट-स्वल्पता

(Cobalt Deficiency)

(लवण रोग, फ्लोरिडा; झाड़ी रोग, न्युजीलैंड; तटीय रोग, आस्ट्रेलिया; झील-तट रोग, मिशीगन; चीड़ रोग, स्काटलैंड; स्थानिक क्षीणता रोग; पौषणिक रक्त-क्षीणता) ।

कोबाल्ट-स्वल्पता एक लगातार होने वाली निर्बलता है जो पशुओं को कोबाल्ट की कमी वाली भूमि पर उगाए हुए मोटे चारे खिलाने अथवा उनको ऐसी भूमि पर चराने से उत्पन्न होती है। पालतू पशुओं में; यह अनेक क्षेत्रों में गो-पशुओं तथा भेड़ों में होती वर्णन की गई है। पशुओं के नार्मल पोषण के लिए आवश्यक 13 खनिज लवणों में से कोबाल्ट एक लवण है। यह विरल-तत्वों के अन्तर्गत आता है जो बहुत ही थोड़ी मात्रा में पशुओं के लिए आवश्यक होते हैं।

बाल्टजर और उनके साथियों[1] के अनुसार अनेक वर्षों से इस बीमारी को मिशिगन के उत्तरी भागों में गो-पशुओं में होते देखा गया है। जाड़े तथा वसंत के प्रारम्भ में यहाँ खासतौर पर इसका प्रकोप होता है तथा बाद में जब पशु चरागाहों पर चरने जाने लगते हैं तो उनकी हालत में सुधार होने लगता है। अभाव वाले फार्मों से प्राप्त सूखी घास के नमूनों में नार्मल 0.12 की अपेक्षा 0.03 से 0.06 भाग प्रति दसलक्ष कोबाल्ट मिला। एटलांटिक महासार के किनारे के मैदानों में गायों म होने वाला "लवण रोग" (Salt Sickness) थोड़ा कोबाल्ट तथा थोड़ा लोह लवण की कमी के कारण होता है। कोबाल्ट-स्वल्पता को उत्तरी न्यूयार्क, नयुहैम्पशायर[2], विस्कांसिन[3], टेनेसी तथा कनाडा[4] में होते बताया गया है। डेन्मार्क में यह बीमारी अन्य वर्षों की अपेक्षाकृत सन् 1945 में अधिक होती मालूम हुई। अल्बर्टा में निर्बलता से पीड़ित भेड़ों को 5 मि० ग्रा० प्रति भेंड़ के हिसाब से रोजाना कोबाल्ट खिलाकर वोस्टेड आदि[6] ने उनकी हालत में शीघ्र सुधार होते देखा। किन्तु, राशन में ताम्र तथा लोह लवणों का मिलाना हानिकारक सिद्ध हुआ। आस्ट्रेलिया तथा न्युजीलेंड में इस बीमारी का सघन अध्ययन किया गया तथा स्काटलैंड में भी इसे होते बताया गया—कार्नर तथा स्मिथ[7]।

लक्षण—जैसा कि मिशिगन[8] के गो-पशुओं में वर्णन किया गया है रोग-ग्रसित गायें लूसर्न घास तथा दाना खाना छोड़ देतीं हैं। वे जीर्ण-शीर्ण हो जातीं तथा कुछ की मृत्यु हो जाती है। निराशा, चारे में अभिरुचि तथा ब्याने के बाद जल्दी-जल्दी हालत का गिरना इसके सामान्य लक्षण हैं। जन्म के समय बछड़े प्रत्यक्ष रूप से नार्मल दिखाई देते है किन्तु, दो से छ: सप्ताह में उनकी मृत्यु हो जाती है। श्लेष्मल झिल्लियाँ पीली पड़ जातीं; बाल खुरदरे हो जाते तथा दुग्ध उत्पादन में काफी कमी हो जाती है। रोग-ग्रसित गायें तथा बछड़े सड़ा हुआ भूसा तथा बिछौना खाते, लकड़ी कुतरते, हड्डियाँ चबाते तथा बहुत ही थोड़ा अथवा बिल्कुल ही पानी नहीं पीते हैं। जीर्ण-शीर्ण गायों में हीमोग्लोबिन की मात्रा नार्मल 12 ग्राम की अपेक्षा 6 से 8 ग्राम प्रति 100 घ० सें० पाई जाती है। टालकुइस्ट हीमोग्लोबिनोमीटर का पाठ्यांक 40 प्रतिशत तक कम हो सकता है। फिल्मर[7] (Filmer)
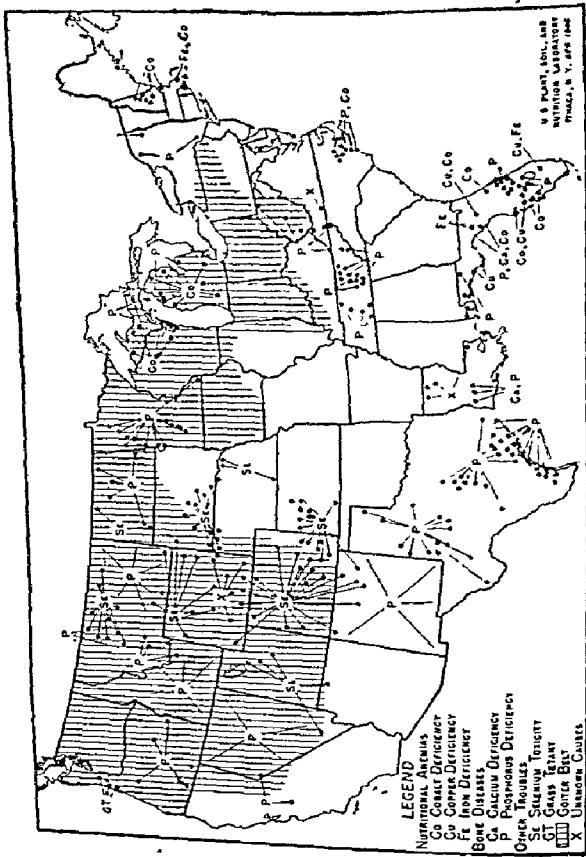
चित्र—65. यूनाइटेड स्टेट्स में खनिज लवणों की कमी वाले क्षेत्र (के० सी० बीसान के सौजन्य से)

लिखते हैं कि रोग-ग्रसित बछड़ों को चारे में अनिच्छा होती है, किन्तु भेड़ों में ऐसी अनिच्छा नहीं देखी जाती। मादा पशु कभी-कभी गर्म होते तथा 6–9 माह में गर्भित पशुओं के गर्भ गिर जाते हैं। पशु की नाड़ी-गति, श्वसन तथा तापक्रम नार्मल रहता है। 6 सप्ताह से लेकर 2 वर्ष में रोगी की मृत्यु हो जाती है। यकृत, गुर्दे तथा प्लीहा में लोह-लवण की मात्रा बढ़ जाती है। कोवाल्ट देने पर पशु पर क्या प्रभाव पड़ता है, इस तथ्य पर रोग का निदान आधारित होता है।

चिकित्सा—आस्ट्रेलिया में सन् 1935 में अंडरवुड तथा फिल्मर[8] (Underwood and Filmer) ने कोवाल्ट का रोगहर प्रभाव बताया। उन्होंने भेड़ को 0·1 से 2·0 मि० ग्रा० तथा गोपशु को 0·3 से 1·0 मि० ग्रा० की मात्रा में नित्य कोवाल्ट्स क्लोराइड खिलाकर उनकी हालत में शीघ्र सुधार होते देखा। मिशिगन में किल्हम[6] (Killham) द्वारा इसकी काफी बड़ी मात्रा स्वीकृत की गई। एक औंस (30 ग्राम) कोवाल्ट्स क्लोराइड को एक गैलन (4000 घ० सें०) पानी में घोला गया तथा इस घोल का 1/2 औंस (15 घ० सें०) पशु को रोजाना दिया गया। यह 2 ग्रेन कोवाल्ट के समतुल्य था। प्रति टन डेरी-खाद्य में 3 ग्राम कोबाल्ट सल्फेट अथवा अन्य घुलनशील कोबाल्ट लवण मिलाना गायों के लिए पर्याप्त होता है। खनिज-मिश्रण में इसे 0.5 औंस प्रति 100 पौण्ड मिश्रण के अनुपात से मिलाना चाहिए।

संदर्भ

1. Baltzer, A. C., Killham, B. J., Duncan, C. W., and Huffman, C. F., A cobalt deficiency disease observed in some Michigan dairy cattle, Mich. Sta. Quart. Bull. 1941, 24, 68.
2. Keener, H. A., Percival, G. P., and Morrow, K. S., Cobalt treatment of a nutritional disease in New Hampshire Dairy Cattle, N. H. Sta. Cir., 68, 1944, p. 8.
3. Geyer, R. P., Rupel, I. W., and Hart, E. B., Cobalt deficiency in cattle in the northeastern region of Wisconsin J. Dairy Sci., 1945, 28, 291.
4. Bowstead, J. E., and Sackville, J. P., Studies of deficient ration for sheep—I, Effect of various supplements; II, Effect of cobalt supplement, Canad. J. Res., 1939, 17, Sect. D, p. 15.
5. Corner, H. H., and Smith, A. M., The influence of cobalt on pine disease in sheep, Biochem. J., 1938, 32, 1900.
6. Killham, B. J., Cobalt deficiency in some Michigan cattle, J. A. V. M. A. 1941, 99, 279.
7. Filmer, J. F., Enzootic marasmus of cattle and sheep, Aust. Vet. J., 1933, 9, 163.
8. Underwood, E. J., and Filmer, J. F., Enzootic marasmus: The determination of the biologically potent element (cobalt) in limonite, Aust. Vet. J., 1935, 11, 84.

मेमनों का अकड़न रोग

(Stiff-lamb Disease)

(श्वेत-मांसपेशी रोग)

मेमनों का अकड़न रोग, मेमनों के शरीर में अकड़न तथा पक्षाघात का होना है जो एक से आठ सप्ताह की उम्र पर उनके चरागाह पर जाने से उत्पन्न होता है। पिछले पैरों की मांस पेशियों का अपक्षय होना इसका प्रमुख क्षतस्थल होता है।
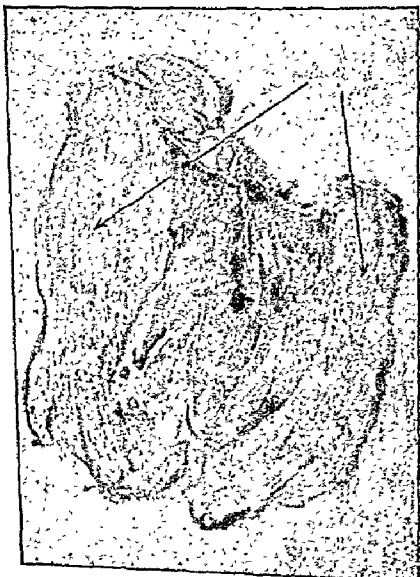
चित्र—60. "मेमना अकड़न रोग" से पीड़ित पशु का मांसल तन्तु। तीर द्वारा दिखाया गया श्वेत टिशु अपकर्षित मांसल तन्तु है। यह एक अत्यधिक पीड़ित रोगी से प्राप्त किया गया है। क्रियात्मक मांसल टिशु का अपकर्षण होकर उनके स्थान पर तन्तुमय लचीला टिशु बन गया है (मेट्स्गर और हेगन, कार्नेल वेटनेरियन, 1927, 17, 35)

कारण—इसका आवश्यक कारण अज्ञात है। अनेक वर्षों से इस बीमारी को न्यूयार्क में देखा गया तथा इसे पेंसिलवेनिया, मेरीलैंड, ओहायो, मिशिगन, विसकांसिन, मांटेना, ओरेगन, वाशिंगटन, तथा नेवादा में भी होते बताया गया। कुछ के अतिरिक्त, यूथ के के सर्वोत्तम मेमनों पर ही रोग का आक्रमण होता है। वाड़े में एक-आध पशु बीमार होने के बाद जब उन्हें चरने भेजा जाता है तो तेजी से प्रकोप होकर दूसरे दिन 10-15 प्रतिशत पशु इससे ग्रसित मिल सकते हैं। काँच के बने हुए घर में रखे गए मेमनों में यह रोग बिल्कुल ही नहीं देखा गया तथा मई या जून के अंतिम दिनों में पैदा हुए मेमनों में बहुत ही कम इस रोग का प्रकोप देखने को मिला। कुछ यूथों में इस रोग के आक्रमण कभी-कभी तथा अनेकों में प्रति वर्ष बार-बार हुआ करते है।

वे परिस्थितियाँ जो इस रोग को आमंत्रित करती हैं विलमैन और उनके साथियों[1] के अनुसार निम्न प्रकार है "एक मेमना-अकड़न" राशन, जो लूसर्न घास की दूसरी कटिंग, 3 भाग समूची जई, 3 भाग समूचे जौ तथा 4 भाग निकृष्ट फलियों के समिश्रण से बनता है।" "बरसीम तथा लूसर्न की पहली कटिंग के स्थान पर पशु को लूसर्न की दूसरी कटिंग से प्राप्त सूखी घास खिलाकर मेमनों का अकड़न रोग इस स्टेशन पर भी उत्पन्न किया गया गेहूँ का आटा खिलाने से इस बीमारी का विकास नहीं होने पाता कार्नेल स्टेशन पर किए गए अन्वेषण के परिणाम यह प्रदर्शित करते है कि इस रोग का कारण पोषण से संबंधित है। जन्म के समय मेमनों पर इसका आक्रमण नहीं होता। गर्भित भेड़ों को एक साथ पास-पास रखना भी इसके प्रकोप का प्रमुख कारण नहीं है। मेमनों को धीरे-धीरे बाहरी वातावरण के संपर्क में लाना सर्वोत्तम है। रोग-ग्रसित मेमनों को जब उनकी मादाओं के निकटतम संपर्क में रखा गया तो अधिकांश रोगी अच्छे हो गए। चूंकि विटामिन 'ई' इस रोग के बचाव तथा चिकित्सा में सहायक है, अतः यह संभव है कि यह कष्ट विटा-मिन 'ई' के अभाव के कारण ही होता हो।

चल-चिकित्सालय में देखे गए केवल दूध पीने वाले बछड़ों में से जिन्होंने सीस-विषा-क्तता के लक्षण प्रदर्शित किए उनका तथा इस पुस्तक में बछड़ों के टिटैनी रोग के अन्तर्गत पृष्ठ 408 पर वर्णन किए गए रोगियों का जब शव-परीक्षण किया गया तो उनमें श्वेत-मांस पेशी रोग के क्षतस्थल देखने को मिले। बछड़ों में इस अवस्था को वैव्टर तथा रिकार्ड्स[2] (Vawter and Records) द्वारा नेवादा में भी होते बताया गया।

विकृत शरीर रचना—शव-परीक्षण करने पर रोग-ग्रसित पैरों की मांस-पेशियों में एक समान स्थित मांसल अपक्षय की सफेद धारियों के रूप में इसके विशिष्ट क्षतस्थल पाए जाते है। जैसा कि मेट्स्लार और हेगन[3] द्वारा वर्णन किया गया है "इसमें होने वाले परि-वर्तन काफी भिन्न थे। रोग के हल्के प्रकोप में रोग-ग्रसित मांस-पेशियों पर पड़ी हुई सफेद धारियाँ तन्तुओं के समानान्तर थीं। यह रेखाएं 1 मिलिमीटर या कम लम्बाई की होकर काफी छोटी-छोटी थीं किन्तु, कभी-कभी काफी लम्बी भी दिखाई दीं। कभी-कभी यह रेखाएँ रोग-ग्रसित भाग पर बहुत अधिक संख्या में मौजूद मिलती थी। किसी-किसी मांस पेशी में यह अधिक तथा किसी में बिल्कुल ही अनुपस्थित थीं। रोग के पुराने हो जाने पर यह क्षेत्र एक दूसरे से इतना निकट हो गए थे कि मांस-पेशियों का कुछ भाग

अथवा कुछ मास-पेशियाँ पूरी ही सफेद दिखाई पड़ती थीं।" ऐसे ही परिवर्तन कभी-कभी हृदय में भी पाए जाते हैं। क्षतस्थल शोथयुक्त न होकर अपक्षयिक होते हैं। जिन रोग-ग्रसित मास-पेशियों में नगी आँख से कोई क्षतस्थल नहीं दिखाई पड़ते उन्हें माइक्रास्कोप में देखने से अनेकों क्षतस्थल मिलते हैं।

लक्षण—सबसे पहले रोग-ग्रसित मेमना उठने में कष्ट का अनुभव करता है तथा अपनी माँ के साथ नहीं चल पाता। तत्पश्चात् प्रारम्भिक अकड़न शीघ्र ही पक्षाघात में परिणित होकर पशु को उठने में असमर्थ कर देती है तथा तीन या चार दिन में भूखा रहने एव कमजोर हो जाने के कारण रोगी पशु की मृत्यु हो जाती है। पैरों की माँस पेशियों में सकुचन होकर टखने तथा पिछले घुटने के जोड़ सिकुड़ जाते हैं। पैर को बिना किसी कष्ट के खींचकर अपनी नार्मल अवस्था में लाया जा सकता है, किन्तु छोड़ने पर वह तत्काल ही पूर्ववत अवस्था धारण कर लेता है। निराशा, चारे में अरुचि तथा बुखार जैसे सामान्य लक्षण इस रोग में नहीं होते। यदि पक्षाघात से पीड़ित मेमनों को सहारा देकर थनों तक पहुँचा दिया जाए तो वे तेजी से दूध पीने लगते हैं। विशेषकर पिछले पैरों की माँस पेशियों पर ही इसका प्रभाव होता है, यद्यपि रोग का आक्रमण अगले पैरों तक भी सीमित रह सकता है अथवा सभी ककाल पेशियों (skeletal muscles) में देखा जा सकता है। रोग-ग्रसित मेमना मुश्किल से ही ठीक हो पाता है। कुछ झुण्डों में बीमारी बिल्कुल ही हल्केपन में प्रकोप करके अप्राणघातक रहती है किन्तु, इससे आक्रमणित पशु की वृद्धि मारी जाती है।

रोग का निदान करते समय मेमनों में नाभि-रोग अथवा पूँछ काटने या बधिया करने के बाद घाव-सदूषण से होने वाले पीवयुक्त दोषों पर भी विचार करना चाहिए। ऐसे रोगियों में पीवयुक्त सधिशोथ से लँगड़ाहट अथवा पीवयुक्त तानिका शोथ से एक या अधिक पैरों का पक्षाघात हो सकता है। नवजात बच्चों की रक्तपूतित बीमारियों से ग्रसित मेमना अत्यन्त निर्बलता के कारण उठने में असमर्थ हो सकता है। एक स्ट्रेन एरिसिप्लोथ्रिक्स रुसिओपैथिए (Erysipelothrix rhusiopathiae) जो सूकरों के लिए रोगोत्पादक नहीं होती, उसके द्वारा उत्पन्न मेमना-अकड़न रोग की एक प्रकार कैलिफोर्निया में हावर्थ[4] (Howarth) द्वारा वर्णन की गई। यह अवस्था बहुसंधि शोथ थी जिसकी छूत नाभि-रोग अथवा बधिया करने या पूँछ काटने के बाद बने घाव से फैली।

चिकित्सा—स्कोफील्ड[5] ने बताया कि पहले 24 घंटे तक दिन में तीन बार 2 ड्राम (8 घ० सें०) की मात्रा में हल्का गधक का अम्ल देकर तथा बाद में 1 ड्राम (4 घ० सें०) की मात्रा में दिन में तीन बार देने से यह रोग ठीक हो जाता है। विल्मैन आदि[6] (1946) लिखते हैं कि विटामिन 'ई' (अल्फा-ट्रोकोफेरौल) से रोगहर चिकित्सा करने पर 17 रोगियों में से किसी की भी मृत्यु न हुई तथा मार्श[7] (Marsh) ने देखा कि गेहूँ का तेल (10 घ० सें० तेल को 50 घ० सें० दूध में मिलाकर पायस बनाकर) एक से पाँच दिन के अवकाश पर देने से बड़ा अच्छा असर करता है। विल्मैन[6] द्वारा किए गए खाद्य-परीक्षणों में भेड़ों को सूखी टिमोथी घास, सूखी बरसीम अथवा मक्का की साइलेज तथा दो भाग जई

में एक भाग चोकर मिलाकर, राशन बनाकर देने से इस रोग से बचाया जा सका। इसके प्रकोप पर कार्य की मात्रा का थोड़ा अथवा बिल्कुल ही प्रभाव नहीं पड़ता।

संदर्भ

1. Willman, J. P., McCay, C. M., Morrison, F. B., and Maynard, L. A., The relation of feeding and management to the cause of stiff-lamb disease, Thirty-third Annual Proceedings of the Am. Soc. of Animal Production, 1940, p. 185.
2. Vawter, L. R., and Records, Edw., Muscular dystrophy or white muscle disease in calves, A. V. M. A., Abs. of papers, 1946, p. 9.
3. Metzger, H. J., and Hagan W. A., The so-called stiff lambs, Cornell Vet., 1927, 17, 35.
4. Howarth, J. A., Polyarthritis of sheep, North Am. Vet., September 1923, 14, 26.
5. Schofield, F. W., and Bain, A. F., Stiff lamb disease—an aphosphorosis, Rep. of the Ontario Vet. Col., 1939, p. 19.
6. Willman, J. P., Loosli, J. K., Asdell, S. A., Morrison, F. B., and Olafson, P., Vitamin E prevents and cures the "stiff-lamb disease", Cor. Vet., 1946, 36, 200; J. An. Sci. 1945, 4, 128.
7. Marsh, Hadley, Treatment of stiff lamb disease with wheat germ oil J. A. V. M. A., 1946, 108, 256.

उग्र बैक्टीरियल रोग

(ACUTE BACTERIAL DISEASES)

ऐंथ्राक्स

(Anthrax)

(प्लीहा का बुखार)

परिभाषा—बैसिलस ऐंथ्रासिस द्वारा होने वाली यह एक उग्र रक्तपूतित अवस्था है जिसमें रोगी पशु की प्लीहा बढ़ जाती है। इसीलिए इसे प्लीहा का बुखार भी कहते हैं। इस बीमारी के प्रति सभी पशु ग्रहणशील हैं।

इतिहास—ऐंथ्राक्स का इतिहास तीन प्रमुख घटनाओं से संबंधित है: यह पहली महामारी थी जिसे प्राचीन साहित्य में वर्णन किया गया। सन् 1876 में कोच (Koch) द्वारा किया गया इसका वर्णन आधुनिक जीवाणु विज्ञान का श्रीगणेश था, और जब पास्चर (Pasteur) ने सन् 1881 में ऐंथ्राक्स के प्रति पशुओं में प्रतिरक्षा उत्पन्न की तो यह उसी बीमारी के विशिष्ट कारक को कम शक्ति के माध्यम में उगाकर, इसी के द्वारा पशुओं में कृत्रिम प्रतिरक्षा उत्पन्न करने का प्रथम उदाहरण था।

वितरण—ऐंथ्राक्स पूरे संसार में और विशेषकर रूस, एशिया, अफ्रीका, उष्ण कटिबंध तथा सभी गर्म जलवायु वाले क्षेत्रों में प्रकोप करने वाला रोग है। दक्षिणी कैलीफोर्निया, नेब्रास्का, दक्षिणी डेकोटा, लॉउसियाना, मिसिसिपी, और टेक्सास नामक "पुराने ऐंथ्राक्स प्रान्तों" में इस बीमारी से भारी क्षति हो चुकी है। "ऐंथ्राक्स प्रान्तों" में यह रोग जुलाई तथा अगस्त में जब मक्खियाँ खूब होती हैं, अधिक प्रकोप करता है।

सन् 1952 में जैसा कि मई की फार्म-पत्रिका में रिपोर्ट किया गया है, न्यूयार्क में जनवरी के अंत में एक जहाज आया जिसमें बेल्जियम से लाया गया 100 टन कच्चा अस्थिचूर्ण भरा हुआ था। "एक ही महीने में यह अस्थिचूर्णयुक्त खाद्य खाकर मध्य-पश्चिमी भागों के लगभग आधा दर्जन सुअर मर गए।" अगस्त सन् 1952 में ए० वी० एम० ए० की पत्रिका में जून 9 के स० रा० पशु-उद्योग-ब्यूरो (यू० एस० ब्यूरो आफ एनीमल इण्डस्ट्री) का संदर्भ देते हुए लिखा कि अप्रैल और मई में 19 प्रदेशों में ऐंथ्राक्स के लगभग 330 प्रकोप हुए जिनमें कुल मिलाकर 232 गो-पशुओं, 381 सुअरों, 79 भेड़ों, 56 अन्य पशुओं तथा 2 खच्चरों की मृत्यु हुई। संक्रमण के अनुमानित स्रोत संदूषित चारे थे जिनसे संभवत 280 प्रकोप हुए। संदूषित स्थानों से 18 तथा मरे हुए पशुओं को खाने से इस बीमारी के 2 प्रकोप हुए। न्यूयार्क स्टेट में हेगन[1] ने बताया कि पहले की अपेक्षा ऐंथ्राक्स अब बहुत कम प्रकोप करती है और जहाँ यह पहले कभी नहीं हो चुकी होती है वहाँ प्राय एक ही पशु पर आक्रमण करती है। गर्मियों की भाँति यह कभी-कभी जाड़ों में भी हुआ करती है और संभवत व्यवसायिक-खाद्य ही इसके संक्रमण का स्रोत हुआ करते हैं।

उन स्थानों में जो "ऐंथ्राक्स के प्रान्त" कहलाते हैं इस महामारी के अवसर प्रकोप हुआ करते हैं तथा कुछ प्रदेश इसके प्रकोप से स्थायी रूप से मुक्त कहे जाते हैं। शाकाहारी पशुओं विशेषकर गाय-बैल, भेड़ों तथा घोड़ों में ही इसका प्रकोप होता है। कभी-कभी कुछ कम उग्रता के साथ इसका प्रकोप सुअरों, कुत्तों तथा मुर्गियों में भी देखा जाता है। इसकी छूत मनुष्यों को लगकर त्वचा, फेफड़ों अथवा अँतड़ी तक ही सीमित रहती है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि यूनाइटेड स्टेट्स में प्रतिवर्ष लगभग 150 मनुष्य इस बीमारी का शिकार हुआ करते हैं।

कारण—बैसिलस ऐंथ्रासिस : इस जीवाणु की वर्धी प्रकार (vegetative form) रोग-ग्रसित पशुओं के रक्त में तथा तत्काल मरे हुए पशुओं के तन्तुओं में पाई जाती है। 2-4 माइक्रान लम्बी यह एक गतिहीन छड़ है जो ऊपर से कैप्सूल द्वारा ढकी रहकर शारीरिक तन्तुओं में छोटी-छोटी जंजीरों के रूप में स्थित रहती है। टिसू अथवा रक्त से बनाए हुए स्लाइड में यह जीवाणु आसानी से मिल जाता है। संदूषित रक्त का त्वचा के नीचे अथवा शिरा में इंजेक्शन देने पर खरगोश, गिनीपिग तथा चुहियाँ एक से तीन दिन में मर जाती हैं। इसके स्पोर मिट्टी में स्थायी रूप से रहा करते हैं। मरे अथवा बीमार पशु के शरीर से गिरने वाले स्रावों में निकले हुए जीवाणुओं से स्पोर बनते हैं। रोगी पशु का मल स्पोर का प्रमुख स्रोत होता है तथा सदूषित प्रान्तों में ये स्पोर स्वस्थ किन्तु रोग-वाहक पशुओं के गोबर में भी बनते हैं। स्पोर का निर्माण केवल हवा की उपस्थिति में ही होता है। नमी तथा तापक्रम के अनुकूल माध्यम में इनका मिट्टी में विकास होता रहता है। चमड़ा, ब्रुश, पानी, मोटे चारे, दाने, वैक्सीन, अस्थि-चूर्ण, हड्डियों तथा अन्य पशु-उपजातों में स्पोर रहा करते हैं। सन् 1952 में यूनाइटेड स्टेट्स में इस रोग के बहुवितरित प्रकोप का कारण सदूषित अस्थि-चर्ण था।

छूत लगने के ढंग :

(अ) भूमि सदूषण—मिट्टी जब एक बार इस जीवाणु से संदूषित हो जाती है तो वर्षों तक दूषित बनी रहती है। स्वस्थ पशुओं में इसकी छूत ऐंथ्राक्स से मरे पशुओं को अथवा पशु-पदार्थों को चरागाहों पर फेंकने अथवा मास खाने वाले पशु-पक्षियों के द्वारा फैलती है जो इस रोग के जीवाणुओं को अपने गोबर अथवा पैरों में लगाए रहते हैं। पास्चर ने जमीन की उस सतह पर इसके स्पोर पाए जहाँ ऐंथ्राक्स से मरा हुआ पशु गाड़ा गया था। केंचुए इस छूत को जमीन के अन्दर से ऊपर लाने के लिए उत्तरदायी थे। गड़ी हुई लाश में स्पोर नहीं पाए जाते तथा टिसुओं की सड़न द्वारा जीवाणु भी शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। अतः जमीन की सतह पर इनका सदूषण संभवतः पशु को गाड़ने से पूर्व ही हो जाता है।

(ब) आहार-नाल द्वारा—गो-पशुओं तथा भेड़ों में इस बीमारी की छूत प्रायः सदूषित चरागाहों तथा तालाब आदि का गंदा पानी पीने से लगा करती है। मोटे चारे तथा दाने भी सदूषित हो सकते हैं, जो कभी-कभी बाड़े में इसकी एकाएक छूत फैलाते हैं। सुअर, कुत्ते, बिल्ली तथा मुर्गियाँ ऐंथ्राक्स से मरे पशु का मास खाकर तथा रक्त अथवा खाल

आदि चाटकर बीमार पड़ते हैं। सूखे तथा गरम मौसम, जिसमें पशु गदा पानी पीने तथा घास-पात चरने के लिए बाध्य हो जाते हैं इसका सक्रमण फैलाने में सहायक होते हैं।

(स) काटने वाले कीड़े—घोड़ो तथा गो-पशुओं को खून चूसने वाली मक्खियाँ तथा मच्छर काटा करते हैं। अत इनके द्वारा भी ऐंथ्राक्स की छूत फैलती है। ऐसा सक्रमण गर्दन तथा शरीर के निचले भागो जैसे मुतान, अयन, कोख तथा गले में जहाँ की त्वचा पतली होती है अधिक देखा जाता है। कटे हुए स्थान पर त्वचा में सूजन तथा परिगलन होती है।

(द) घाव-सक्रमण—पशुओं में ऐसा सक्रमण सदूषित हाथो तथा औजारो से घाव की शल्य चिकित्सा करते समय लग सकता है।

(य) ऐंथ्राक्स का टीका—डेकोटास के क्षेत्र में किसानो द्वारा ऐंथ्राक्स के टीके के लिए जीवाणु का जीवित सवर्धन प्रयोग करने से इस रोग के अनेक प्रकोप देखे गए। इस तथ्य के स्पष्टीकरण में शोनिग[2] ने यह विचार प्रकट किया कि बीमारी के तेज प्रकोपो में कोई भी जैविक-उत्पाद यदि टीका लगाने के लिए प्रयोग किया जाता है तो शरीर पर उसका उल्टा प्रभाव हो सकता है। ऐंथ्राक्स के तेज प्रकोप के समय टीका लगा देने से कोई ऐसा अज्ञात कारक गतिवान हो जाता है जो रोग को अधिक फैलाने में सहायक होता है और महामारी के समय थोड़े-थोड़े अवकाश पर लगाए जाने वाले प्रत्येक वैक्सीनेशन के बाद कुछ पशुओं की मृत्यु हो जाती है। काटन[2] (Cotton) द्वारा इस वैक्सीनेशन के परिणामो के प्रति कुछ अन्य ही विचार प्रकट किए गए जिन्होंने देखा कि इसके प्रयोग के बाद होने वाली ऐंथ्राक्स निकट के फार्मों पर नही फैली तथा इन्जेक्शन देने के बाद 7 दिन तक नही प्रकट हुई।

(र) मानव सक्रमण—यह सक्रमण अधिकतर उन मनुष्यो में होता है जो चम, बाल, ऊन अथवा हड्डियो का व्यवसाय करते हैं अथवा जो लोग ऐंथ्राक्स से मरे हुए पशु के सपर्क में आते हैं जैसे किसान, कसाई तथा पशु चिकित्सक आदि। कभी-कभी सस्ते किस्म के दाढ़ी बनाने वाले ब्रुश भी इस सक्रमण का स्रोत बनते हैं। त्वचा-सक्रमण, मनुष्यो में होने वाली ऐंथ्राक्स की प्रमुख प्रकार है जहाँ यह विपालु पीव फुसी (malignant pustule) के रूप में विकास करती है। मनुष्यो में आंत्रिक-ऐंथ्राक्स बहुत ही कम होती है। श्वसन-ऐंथ्राक्स केवल मनुष्यो में ही हुआ करती है जहाँ यह फेफडो की ऐंथ्राक्स अथवा "ऊन छाँटने वालो का रोग" के रूप में प्रकोप करती है।

विकृत-शरीर रचना—शव की अकडन बद हो जाती है तथा लाश शीघ्र ही सडने लगती है। वैसे तो त्वचा सामान्य रहती है किन्तु, कभी-कभी इसमें सूजन तथा परिगलित क्षेत्र मौजूद हो सकते हैं। शरीर के प्राकृतिक छिद्रा से बहुधा गहरा लाल रक्त निकलता है। त्वचा के नीचे, सीरमी तथा श्लेष्मल झिल्लिया में और मास पेशियो में अत्यधिक रक्तस्राव हो सकता है। शारीरिक-गुहाओ में रक्त मिश्रित सीरम पाया जाता है। प्लीहा खूब सूजकर रक्त-सकुलित हो जाती तथा सडने लगती है। यकृत तथा गुर्दे सूजे हुए, रक्तवर्ण और मुलायम प्रतीत होते हैं। ड्यूओडीनम तथा एबामसम में रक्तयुक्त सूजन

लगभग सदैव मौजूद रहती है। पशु का रक्त जमता नहीं है। फेफड़े रक्तवर्ण हो जाते हैं तथा श्वसन-तंत्र की श्लेष्मल झिल्ली पर छोटे-छोटे लाल दाने सर्वत्र फैले हुए दिखाई देते हैं। वैसे तो यह सब उग्र ऐंथ्राक्स से पीड़ित रोगी के विशिष्ट लक्षण हैं, किन्तु इनके अतिरिक्त अनेक अन्य लक्षण भी मौजूद हो सकते हैं। कभी-कभी ऐंथ्राक्स के अति उग्र प्रकार में नंगी आँख से दिखाई देने वाले टिसुओं में होने वाले परिवर्तन अनुपस्थित हो सकते हैं। आमतौर पर उग्र रक्त-पूतिता तथा रक्त-विषाक्तता के शव-परीक्षण करने पर पाए जाने वाले परिवर्तन एक समान होते हैं।

लक्षण—चरागाहों पर चरने वाले पशुओं में यह रोग प्रायः गरमी के महीनों में प्रकोप करता है किन्तु, बहुधा यह बीमारी स्तवलों में बँधे हुए काम न करने वाले घोड़ों पर भी आक्रमण करती है। पशुशाला में बँधे हुए अन्य पशुओं में भी इसके छुट-पुट आक्रमण होते देखे जाते हैं। प्राकृतिक अवस्थाओं में जीवाणु का उद्भवन काल ज्ञात करना आसान नहीं होता। आहार-नाल में पहुँचने के बाद यह संभवतः एक या दो सप्ताह का होता है तथा काटने अथवा घाव से प्रवेश पाने के बाद यह अवधि और भी कम हो सकती है।

ऐंथ्राक्स के प्रकार :

(अ) अति उग्र ऐंथ्राक्स (Peracute Anthrax)—यह सदैव शीघ्र प्राणघातक सामान्य संक्रमण है। रोग का यह प्रकार सबसे अधिक भेड़ों में, बहुधा गो-पशुओं में, तथा कभी-कभी घोड़ों में देखा जाता है। शरीर में ऐंठन होकर कुछ मिनटों से लेकर दो या तीन घंटों में रोगी की मृत्यु हो सकती है। ऐंठन, दाँत पीसना, हृदय की गति तीव्र हो जाना, श्लेष्मल झिल्लियों का रक्तवर्ण होना, कष्ट-प्रद श्वास-प्रश्वास तथा बेहोश होकर एकाएक मृत्यु हो जाना इसके अन्य लक्षण हैं। मुँह तथा नथुनों से अक्सर रक्तयुक्त झाग गिरती है तथा मल-मूत्र मार्ग से रक्त निकलता है। महामारी के आक्रमण के प्रारम्भ में रोग का यह प्रकार अधिक देखा जाता है।

(ब) उग्र ऐंथ्राक्स (Acute Anthrax) : 105 से 107° फारेनहाइट तक तेज बुखार के साथ इसकी प्रमुख विशेषताएँ सामान्य संक्रमण की भाँति ही होती हैं। निराशा, कानों का गिरना, श्लेष्मल झिल्लियों का संकुलन होकर उनसे रक्तस्राव होना, मांसल ऐंठन, दुग्ध उत्पादन में रुकावट, तीव्र नाड़ी-गति तथा तेज बुखार के साथ इस रोग का एकाएक आक्रमण होता है। उग्र रक्तपूतिता की भाँति, अन्य लक्षण शरीर के विभिन्न भागों में इसके वेग के अनुसार भिन्न-भिन्न होते हैं। इस प्रकार त्वचा की परिगलन तथा सूजन, मिश्रित दस्तों के साथ आंत्रार्ति, तानिका-शोथ के कारण उन्माद तथा उत्तेजना, गुर्दाशोथ के कारण हीमोग्लोबिनमेह तथा सूजी हुई लिम्फ ग्रंथियाँ आदि लक्षण देखने को मिल सकते हैं। सभी रोगियों में समस्त लक्षण एक जैसे नहीं होते। घोड़े तथा गोपशु मरने के कुछ देर पूर्व तक खाते-पीते रह सकते हैं। इस अवस्था के अंतिम लक्षण नार्मल अथवा नार्मल से भी कम तापक्रम के साथ अति उग्र प्रकार की भाँति होते हैं। रोग की अवधि 1 से 2 दिन की तथा कभी-कभी अधिक होती है।

जैसी सूजन घोड़ों में देखी जाती है वैसी गोपशुओं में कभी-कभी देखने को मिलती है तथा इनमें इसका कोर्स भी कम होता है—12 से 24 घंटे। यह शोथ गले, गर्दन, वक्ष, कोख अथवा पीठ पर प्रकट हो सकती है। पशु को रक्त-मिश्रित दस्तों के साथ आत्राति होती है। जीभ पर तथा मलाशय की श्लेष्मल झिल्ली पर सूजन होना भी वर्णन किया गया है। दूध यदि निकलता है तो प्राय. रक्त-मिश्रित होता है।

घोड़े, घोड़ियों में; मुतान अथवा अयन पर सूजन देखी जा सकती है। प्रारम्भ में यह गरम तथा दर्दयुक्त होकर 24 घंटे में इतनी उग्र हो जाती है कि पशु को चलना-फिरना दुश्वार हो जाता है। फिर भी; पशु देखने में चुस्त लगता, खाता-पीता रहता तथा उसे नार्मल अथवा 106° फारेनहाइट तक तापक्रम हो सकता है। कभी-कभी कुछ पशुओं में सूजन के काफी बढ़ जाने के बाद भी तापक्रम या तो बढ़ता ही नहीं अथवा नार्मल से थोड़ा अधिक हो जाता है। दूसरे दिन वह सूजन ठंडी तथा दर्द रहित हो जाती है। इसके ऊपर की त्वचा देखने में सामान्य प्रतीत होती है। पशु चारा कम खाता है, वह जल्दी-जल्दी साँस लेता है तथा उसका तापक्रम गिरकर 104 अथवा 102° फारेनहाइट हो जाता है। अंत में शूल वेदना होती, तापक्रम नार्मल से भी कम हो जाता तथा लगभग तीसरे दिन पशु की एकाएक मृत्यु हो जाती है, यद्यपि यह काफी पहले भी हो सकती है। जब घाव, ग्रसनी के क्षेत्र में होती है तो कण्ठद्वार में सूजन होकर, शीघ्र ही साँस लेने में कष्ट उत्पन्न हो जाता है। ऐसी ही शोथ उदर-तली तथा वक्षीय क्षेत्रों में हुआ करती है। कभी-कभी रोग के आक्रमण के साथ शूल वेदना, आत्राति तथा बिना सूजन के प्राणघातक रक्तपूतिता जैसे लक्षण भी देखे जाते हैं। जब घोड़ों को ऐंथ्राक्स होती है तो यह रोग फार्म पर प्राय एक या दो घोड़ों में ही प्रकोप करता है, जो इस बात का अनुमान कराता है कि इसकी छूत काटने वाली मक्खियों द्वारा लाई गई।

सुअरों में; गले पर सूजन आकर रक्तपूतिता तथा दम घुटकर उनकी मृत्यु हो जाती है। इन पशुओं को इसकी छूत मरे हुए जानवर का मांस खाने, मान के चारों ओर मक्खियों के काटने, तथा जर्मनी में बाहर से मँगाए गए अस्थि-चूर्ण को खिलाने से लगती देखी गई। ओठों पर रक्त-मिश्रित झाग, चेहरे तथा गले पर सूजन, गला रुँधना तथा त्वचा पर रक्तस्राव के धब्बे दिखाई पड़ते हैं। सुस्ती, चारे में अरुचि, यूथ के अन्य पशुओं से दूर रहना तथा तेज बुखार होना उग्र सामान्य संक्रमण के आमतौर पर होने वाले लक्षण हैं। वक्ष तथा उदर पर भी सूजन आ सकती है, जो छूने से गरम किन्तु दर्दयुक्त नहीं होती। जब रोग का जीवाणु ग्रसनी में न घुसकर अँतड़ी में प्रवेश पाता है तो रक्त-मिश्रित पेचिस के साथ उसे आत्राति हो सकती है। प्राय 12 से 36 घंटे में रोगी की मृत्यु हो जाती है, किन्तु कभी-कभी पशु ठीक भी होते देखा गया है। कुछ रोगियों में बाह्य क्षतस्थल अनुपस्थित होते हैं। रोग की पुरानी अवस्था में स्पष्ट लक्षण देखने को नहीं मिलते। क्षतस्थल केवल पशु-वधगृहों में ही देखे जा सकते हैं। यद्यपि कि सुअर, गोपशुओं की अपेक्षाकृत इस रोग के प्रति कम ग्रहणशील हैं, फिर भी, वे गंदे पदार्थ खाने से शीघ्र रोग-ग्रसित हो जाते हैं। सुअरों में यह रोग लगभग उन्हीं फार्मों तक सीमित रहता है जहाँ अन्य जातियाँ ऐंथ्राक्स से मर चुकी हों। रोग-ग्रसित मुर्गियों की 24 घंटे के अन्दर मृत्यु हो जाती है।

(स) कुछ उग्र ऐंथ्राक्स (Subacute Anthrax)—यह शब्द महामारी के अंतिम काल से ठीक होने वाले रोगी को तथा उस पशु को लागू होता है जिसमें इसके प्रति प्राकृतिक सहन शक्ति होती है। चूँकि गो-पशुओं तथा सुअरों दोनों में ही इस रोग के वाहक हुआ करते हैं, अतः कभी-कभी ऐसे पशु भी देखने को मिलते हैं जिनमें रोग का प्रकार तथा अवधि अविशिष्ट सी होती है।

(द) बाह्य तथा आन्तरिक ऐंथ्राक्स—मनुष्य में ऐंथ्राक्स; त्वचा (विपालु पीव फुन्सी तथा दुर्दम्य ऐंथ्राक्स शोथ), फेफड़ों (ऊन छाँटने वालों का रोग) अथवा अँतड़ी का स्थानीय संक्रमण है। त्वचा के प्रकार बाह्य, तथा अन्य ऐंथ्राक्स के आन्तरिक प्रकार कहलाते हैं। मनुष्य में दुर्दम्य ऐंथ्राक्सशोथ पशुओं की ऐंथ्राक्स शोथ से निकटतम मिलती-जुलती है।

फलानुमान—अति संक्रमणित तथा अधिक मक्खियों वाले प्रान्तों में यह बीमारी पालतू पशुओं की सभी जातियों के लिए अत्यन्त विनाशकारी है। रोग का हल्का प्रकोप होने पर यूथ के थोड़े ही पशुओं पर इसका असर होता है, किन्तु 90 से 100 प्रतिशत रोगी पशु परलोक सिधार जाते हैं। महामारी के समय सबसे अंत में स्थानीय बाह्य संदूषण से बीमार पड़ने वाले पशुओं की ही अच्छे होने की संभावना रहती है। बर्नेट[3] (Barnett) ने न्यूयार्क के सेंट-लारेंस प्रदेश में ऐंथ्राक्स के 192 रोगी देखे जिनमें से 14 गोपशु तथा 8 घोड़े ठीक हो गए।

निदान—लँगड़ी, गलाघोटू, तड़ित-आघात तथा सीस अथवा अन्य विषाक्तता जैसे दूसरे उग्र संक्रमणों से भी चरागाह पर चरते वाले पशुओं की एकाएक मृत्यु हो सकती है। ऐसे पशु विशेषकर वसंत ऋतु में चरागाहों पर मरने लगते हैं और भली भाँति निरीक्षण करने पर भी रोग का सही निदान नहीं हो पाता। ताजे मरे हुए पशु के टिसुओं अथवा बीमार पशु के रक्त में इस रोग का जीवाणु पाकर ही रोग का सही निदान संभव है। प्रारम्भ में निदान करने के महत्व के कारण मृत्यु से पूर्व रक्त का स्लाइड पर लेप बना लेना अधिक अच्छा है। किसी और बीमारी में ऐसे जीवाणु बहते हुए रक्त में नहीं पाए जाते। मृत्यु से थोड़ा पहले ही ये जीवाणु रोगी पशु के रक्त में पाए जा सकते हैं। नियम के अनुसार मृत्यु के तत्काल बाद इन्हें त्वचा के रक्तस्राव से आसानी से प्रदर्शित किया जा सकता है। यदि संदेह हो तो मूषक अथवा गिनीपिग में इसका इन्जेक्शन देना चाहिए। गरमियों के दिनों में होने वाला कोई भी उग्र, अनैदानिक, ज्वरयुक्त रोग ऐंथ्राक्स का अनुमान कराता है। बिना चुरचुराहट के सूजनों का होना इसका सूचक है। शव-परीक्षण करने पर प्राप्त होने वाले विशिष्ट क्षतस्थल निम्न प्रकार हैं: शव में अकड़न का अभाव होना, शरीर के प्राकृतिक छिद्रों से रक्त-मिश्रित झाग निकलना, पूरे शरीर में रक्तस्राव होना तथा प्लीहा का बढ़ा हुआ मिलना।

रोग के प्रयोगशाला-परीक्षण हेतु बर्फ में रखा हुआ ताजा रक्त, हृदय, प्लीहा अथवा यकृत भेजना चाहिए। ऋणात्मक रिपोर्ट सदैव निष्कर्षदायक नहीं होती क्योंकि गले हुए टिसुओं में इस रोग के जीवाणु शीघ्र मर जाते हैं तथा ये यातायात काल में भी नष्ट हो सकते हैं। परीक्षण हेतु सामान्य विधि यह है कि कान को जीवाणु रहित साफ रुई में लपेट कर भेजा जाए। निदान के लिए नमूना लेते समय जमीन में इसके संक्रमण को बचाने के

ए यह आवश्यक है कि या तो इन्जेक्शन पिचकारी की सहायता से जुगुलर-शिरा से रक्त
चि लिया जावे अथवा 9 वीं तथा 10 वीं पसली के बीच थोड़ा सा चीरा लगाकर प्लीहा
ा टुकड़ा प्राप्त कर लिया जावे। नमूने को यदि दूर भेजना हो तो पशु के रक्त को रुई
फाहे, सोख्ता-पत्र अथवा काँच के स्लाइड पर लेकर सुखा लेना चाहिए।

प्रतिरक्षण (Immunization)—पास्चर वैक्सीन: सन् 1881 में पास्चर द्वारा खोज किया हुआ वैक्सीन इस रोग के प्रतिरक्षण हेतु खूब प्रयोग किया जाता है। इससे बड़े अच्छे परिणाम मिले हैं। यह दो शक्तियों का एक जीवित बैसिलस युक्त पदार्थ है। जिस पशु में इसे प्रयोग करना होता है उसमें पहले कमजोर शक्ति वाला टीका देकर, 12 दिन बाद अधिक शक्ति वाला टीका दिया जाता है। इससे लगभग एक वर्ष के लिए पशु के शरीर में प्रतिरक्षा उत्पन्न हो जाती है, किन्तु संक्रमण के तेज तथा अधिक होने पर बीच में भी इस रोग का प्रकोप हो सकता है। अब, इसके बाद और भी अधिक शक्ति वाले वैक्सीन का प्रयोग होने लगा है। अत्यधिक वेगवान प्रकोपों से बचाने के प्रयासों से 1 से 4 श्रेणी के स्पोर वैक्सीन का अन्वेषण हुआ जिसमें अंत में प्रयोग होने वाले वैक्सीन के जीवाणु का थोड़ा अथवा बिल्कुल ही क्षीणन (attenuation) नहीं होता।

इस समय प्रयोग होने वाले ऐंथ्राक्स के जैविक उत्पादों के प्रकार कुछ भ्रामक हैं। गोचीलोअर और उनके साथियों[4] द्वारा प्रस्तुत एक हाल की रिपोर्ट में निम्नलिखित उत्पादों का वर्णन किया गया है :

ऐंटी ऐंथ्राक्स सीरम जो शीघ्र एवं अल्पकालीन प्रतिरक्षा उत्पन्न करता है।
ऐंटी ऐंथ्राक्स सीरम तथा ऐंथ्राक्स स्पोर वैक्सीन (एक साथ प्रयोग करना)।
ऐंथ्राक्स स्पोर वैक्सीन (अकेला इन्जेक्शन)।
ऐंथ्राक्स स्पोर वैक्सीन (2, 3 अथवा 4 इन्जेक्शन)।
ऐंथ्राक्स स्पोर वैक्सीन सैपोनिन घोल में।
ऐंथ्राक्स स्पोर वैक्सीन, अंत. त्वचा इन्जेक्शन।
ऐंथ्राक्स-बैसिलस बैक्टेरिन, मरा हुआ पूर्ण संवर्धन।
ऐंथ्राक्स-बैसिलस बैक्टेरिन, मरा हुआ घुला संवर्धन।
ऐंथ्राक्स ऐग्रेसिन (Anthrax aggressin)।

ऐंथ्राक्स जैविक-उत्पादों की स्वस्थ पशुओं में प्रतिरक्षा उत्पन्न करने की क्षमता पर पत्रिका 468[4] में प्रस्तुत एक रिपोर्ट से निम्नलिखित निष्कर्ष निकलता है :

"ऐंथ्राक्स स्पोर वैक्सीन (एक इन्जेक्शन) तथा ऐंथ्राक्स स्पोर वैक्सीन (अंत: त्वचा टीका) से उत्पादित प्रतिरक्षा 300 तथा 360 दिन तक रही। सैपोनिन घोल युक्त ऐंथ्राक्स स्पोर वैक्सीन से भी काफी दिनों की प्रतिरक्षा उत्पन्न हुई। ऐंटीऐंथ्राक्स-सीरम तथा ऐंथ्राक्स-स्पोर-वैक्सीन के एक साथ प्रयोग करने से पशुओं में अधिक अच्छी प्रतिरक्षा उत्पन्न न हुई।"

भेड़ों में ऐंथ्राक्स के प्रति टीका लगाने के शीघ्र बचावकारी परिणाम पत्रिका 468 में निम्न प्रकार रिपोर्ट किए गए :

"कंट्रोल ग्रूप में 25 प्रतिशत बचने वालों की तुलना में ऐंथ्राक्स स्पोर वैक्सीन (अंतः त्वचा) से 4,16 तथा 108 दिन पर 100 प्रतिशत पशुओं का बचाव हुआ। कंट्रोल ग्रूप में 17 प्रतिशत की तुलना में 155 दिन पर 83 प्रतिशत पशु जीवित बचे। कंट्रोल ग्रूप में 33 प्रतिशत की तुलना में 300 तथा 360 दिन पर 100 प्रतिशत पशु जीवित बचे।

"अच्छी प्रतिरक्षा उत्पन्न करने वाले जैविक-उत्पादों की सूची निम्न प्रकार है: ऐंथ्राक्स बैक्टेरिन (घुला हुआ सम्वर्धन); ऐंथ्राक्स स्पोर वैक्सीन (अंतः त्वचा); सैपोनिन घोल युक्त ऐंथ्राक्स स्पोर वैक्सीन; ऐंथ्राक्स स्पोर वैक्सीन (एक इन्जेक्शन); तथा ऐंथ्राक्स स्पोर वैक्सीन (दोहरा इंजेक्शन)। ऐंथ्राक्स ऐग्रेसिन ने कुछ कम प्रतिरक्षा उत्पन्न की तथा ऐंथ्राक्स बैक्टेरिन (पूर्ण संवर्धन) से अपेक्षाकृत और कम प्रतिरक्षा उत्पन्न हुई.........।

अंतः त्वचा ऐंथ्राक्स स्पोर वैक्सीन चार शक्तियों में प्राप्य है। सबसे कमजोर (नं० 1) विशेषकर घोड़ों तथा खच्चरों के लिए स्वीकृत है। नं० 2 अथवा 3 आने वाले मौसम में बचाव के प्रति पशुओं को टीका लगाने के लिए विशेषकर उन स्थानों में प्रयोग होता है जहाँ के चरागाहों पर इसकी छूत लगने का भय हो। यह ऐंथ्राक्स के प्रान्तों में प्रतिवर्ष प्रयोग किया जाता है। ऐंथ्राक्स स्पोर वैक्सीन (नं० 4) 50 घ० सें० ऐंटीऐंथ्राक्स-सीरम के साथ मिलाकर उन पशुओं को दिया जाता है जहाँ बीमारी पहले से ही मौजूद हो। सीरम से तत्काल ही लगभग दो सप्ताह के लिए प्रतिरक्षा उत्पन्न हो जाती है जो पूरे मौसम भर रहती है। अत्यन्त ग्रहणशील पशुओं में कभी-कभी स्पोर वैक्सीन के प्रयोग से घातक परिणाम प्राप्त होते हैं। ऐंथ्राक्स प्रान्तों में ऐंथ्राक्स स्पोर वैक्सीन (अंतः त्वचा) को अधिक पसंद किया जाता है। अधस्त्वक् स्पोर वैक्सीन भी उपलब्ध हैं और जब प्रयोग करने की यह विधि अधिक आसान समझी जाती है तो कभी-कभी इनका प्रयोग किया जाता है। पत्रिका 468 मे रिपोर्ट किए गए प्रयोगों में अधस्त्वक् की अपेक्षा इसका अंतः त्वचा इन्जेक्शन अधिक अच्छा बताया गया है। भेड़ों के लिए विशेष प्रकार के शक्ति कम किए गए वैक्सीन उपलब्ध है।

वाउटन[5] के अनुसार नियमित रूप से भेड़ों का वैक्सीनेशन करना आर्थिक दृष्टिकोण से अच्छा नहीं प्रतीत होता। किन्तु, रोग-ग्रसित यूथ में जब तक पशुओं का वैक्सीनेशन नहीं किया जाता, यह बीमारी लगातार बनी रहती है। अतः यूथ को बचाने के लिए टीका लगाना आवश्यक हो जाता है और विशुद्ध नस्ल के प्रजनक पशुओं में प्रायः बचाव के टीके लगाए जाते हैं।

किसी ऐसे फार्म पर जहाँ ऐंथ्राक्स से पहले कभी कोई पशु बीमार न हुआ हो, वहाँ केवल एक पशु के मरने पर यूथ के अन्य पशुओं को बचाव का टीका नहीं लगाना चाहिए।[1] जिन फार्मों तथा क्षेत्रों में इसकी छूत न फैली हो उन पर केवल जीवाणुगत-पदार्थ का ही प्रयोग करना चाहिए। संभवतः कोई भी कम शक्ति वाला वैक्सीन प्रचण्ड होकर नए स्थानों में इस महामारी की छूत फैला सकता है।

स्वच्छता—जमीन में इसका संदूषण बचाने के लिए बीमारी से मरे हुए पशुओं को बिना खाल उतारे ही गाड़ अथवा जला देना चाहिए। साथ ही शरीर से गिरने वाले

सन[2] (Mason) ने क्ला० शोभिआइ की एक टॉक्सिन का भी वर्णन किया है। इसके पोर टिसुओं में बनते हैं।

छूत लगने के ढँग :

(अ) भूमि संक्रमण—यह संक्रमण बहुत ही शीघ्र होता है क्योंकि इसके स्पोर शरीर के बाहर तथा अन्दर दोनों जगह बनते हैं। एक बार मिट्टी में इसकी छूत फैलने से यह फिर वर्षों तक स्थायी बनी रहती है।

(ब) आहार-नाल द्वारा—गदा पानी पीने अथवा संदूषित चरागाहों से घास चरने पर इसके स्पोर आहार-नाल में प्रवेश पा जाते हैं।

(स) घाव संक्रमण—प्राचीन लेखकों का ऐसा विचार था कि इस बीमारी की छूत त्वचा अथवा श्लेष्मल झिल्ली पर लगे हुए छोटे घाव से शरीर के अन्दर प्रवेश पाती है और यह तथ्य अब भी कुछ लोगों द्वारा सही माना जाता है। हेलर[3] (Heller) लिखते हैं कि "कभी-कभी घाव सदूषण के अतिरिक्त इसकी छूत लगने का ढंग अभी बिल्कुल ही अज्ञात है"। आस्ट्रेलिया के एलबिस्टन[4] (Albiston) ने आंत्र-विषाक्तता (enterotoxemia) के प्रति टीका लगाने के बाद लँगड़िया रोग को मेमनों में प्रकोप करते बताया।

विकृत शरीर रचना—रोग-ग्रसित मास-पेशी को छोड़कर पूरे शरीर में शीघ्र ही सड़न लग जाती है। इस कारण मृत्यु के तत्काल बाद रोगी पशु की लाश फूल जाती है। रोग-ग्रसित मास-पेशियों में मरने के बाद भी गैस बनती रहती है जिससे पशु का पेट फूल जाता है तथा ऊपर की ओर का पैर सीधा फैल जाता है। मुहँ, नाक तथा मलद्वार से प्रायः रक्तयुक्त झाग निकलती है। सूजन के ऊपर की त्वचा प्रायः नार्मल रहती है किन्तु, मध्य में यह सूखकर गल जाती है। काटने पर त्वचा के नीचे तथा मास-पेशियों के मध्य के संयोजी ऊतकों म गदे रंग का रक्तयुक्त सीरम तथा गैस भरी मिलती है। इसमें से भीनी-भीनी खट्टी अथवा सड़े मक्खन जैसी बदबू निकलती है। मास-पेशियाँ सूजकर फूल जातीं, उनका रंग काला अथवा गहरा पड़ जाता तथा वे भुरभुरी हो जाती हैं। गैस के तनाव के कारण सूजन उत्पन्न होती है। यह मास-पेशियों के बंडलों को अलग-अलग रखती है तथा काटे जाने पर उनमें संकुचन उत्पन्न नहीं होने देती और उन्हें फूले हुए स्पंज जैसा आकार प्रदान करती है। कभी-कभी ऐसी ही सूजन गाल की मास-पेशियों, जीभ, फेरिंक्स तथा डायाफ्राम में मिलती है और ला[5] के अनुसार प्लूरा, फेफड़ो तथा अमाशय एवं अँतड़ी की दीवालो में भी पाई जा सकती है।

उदर-गुहा को खोलने पर उदर-झिल्ली पर सीरम-रक्तस्राव, फाइब्रिनी स्राव तथा आघ्राति मिल सकती है। प्लीहा सामान्य रहती है, किन्तु यह सूजी हुई तथा रक्तयुक्त भी हो सकती है। यकृत सूजकर रक्तवर्ण हो सकता है। इस पर 1/4 से 1 इंच व्यास की गोले-गोल सूखी पीली फुंसियाँ भी मौजूद हो सकती हैं। गुर्दों में भी यकृत की भाँति ही परिवर्तन पाए जा सकते हैं। उदर-गुहा की भाँति वक्षीय-गुहा में भी रक्त-मिश्रित सीरम, रक्त-स्राव, सीरस झिल्ली पर फाइब्रिनयुक्त स्राव, हृतपेशी का अपक्षय तथा फेफड़ों के भीतरी टिसुओं में जिलेटिनयुक्त पदार्थ का भरा होना आदि परिवर्तन मिलते हैं। रेंवोना[6]

(Ravenna) के अनुसार बछड़ों में अक्सर अन्तर्हृद्‌पेशी शोथ (endocarditis) मिलती है। सूजन को छोड़कर शरीर के अन्य भागों का रक्त सामान्य रहता है और वह शीघ्र ही जम जाता है।

लक्षण—इस बीमारी का उद्भवनकाल 1 से 5 दिन का है। रोग का आक्रमण एकाएक होता है। बुखार अथवा बिना बुखार के पशु का लँगड़ाने लगना इस रोग का प्रारम्भिक लक्षण हैं, अथवा इसमें सामान्य संक्रमण की भाँति ही निराशा, बुखार तथा ऐंठन जैसे लक्षण मौजूद हो सकते हैं।

सूजन, इस बीमारी का सबसे प्रमुख लक्षण हैं। यह कंधे, नितम्ब, सीना, पीठ अथवा कोख तथा कभी-कभी गर्दन, फेरिंक्स, अथवा जीभ की मांस-पेशियों पर हुआ करती है। घुटनों के नीचे अथवा पूँछ पर कभी भी सूजन नहीं देखी जाती। प्रारम्भ में यह सूजन छोटी, गरम तथा दर्दयुक्त होती है। कुछ ही घंटों में यह बढ़कर चुरचुराहटयुक्त तथा कम संवेदना वाली होकर शीघ्र ही ठंडी तथा दर्दरहित हो जाती है। अंत में सूजन के मध्य की त्वचा सूखकर काली पड़ जाती है तथा छूने पर चर्मपत्र की भाँति प्रतीत होती है। इसके नीचे गैस भरी होने के कारण थपथपाने पर तनाव का अनुभव होता है। चाकू से चीरा लगाने पर झागयुक्त, काला, खट्टी महक वाला द्रव निकलता है। सूजन के निकट का संयोगी ऊतक भी सूजकर फूल जाता है तथा पास की लिम्फ ग्रंथियाँ भी सूजी हुई दिखाई देती हैं। चारे में पूर्ण अरुचि, शारीरिक क्षीणता, मांसल ऐंठन, रक्त वर्ण श्लेष्मल झिल्लियाँ, कष्टप्रद श्वास-प्रश्वास, तेज नाड़ी तथा तेज बुखार जो मृत्यु के पूर्व नार्मल से भी कम हो जाता है, बीमारी के सामान्य लक्षण हैं। पशु के पेट में शूल वेदना भी हो सकती है। अधिकांश रोगियों में यह बीमारी 12 से 24 घंटे में प्राणघातक सिद्ध होती है। रोग का हल्का प्रकोप कभी-कभी वृद्ध पशुओं में भी देखा जाता है किन्तु इससे पशु ठीक हो जाते हैं।

निदान—चरागाह पर चरने वाले गो-पशुओं में मांसल सूजन के साथ एकाएक प्राणघातक ज्वरयुक्त बीमारी का होना लँगड़िया के निदान का समुचित प्रमाण है। अपने विशिष्ट प्रकार में इसे अन्य रोगों से बिल्कुल ही अलग पहचाना जा सकता है। लेखक के चिकित्सालय में देखे गए लँगड़िया के कुछ रोगियों में पशुशाला में बँधे युवा पशुओं में इसका प्रारम्भ फरवरी अथवा मार्च के महीनों में हुआ। इनमें से एक रोगी में सूजन तथा बुखार के लक्षण अनुपस्थित थे तथा मरने के बाद शव-परीक्षण करने पर मांस-पेशियों में विशिष्ट परिवर्तन देखकर रोग का निदान किया गया।

लँगड़ाहट तथा त्वचा में सूजन मौजूद होने के कारण स्वीट क्लोवर (एक प्रकार की तिपतिया घास) विषाक्तता को भूल से लँगड़िया समझा जा सकता है, किन्तु स्वीट क्लोवर रोग की सूजन को दबाने पर उसमें चुरचुर की आवाज नहीं होती। ऐंथ्राक्स में प्रायः प्लीहा बढ़ जाती है, रक्त जमता नहीं है और यदि सूजन मौजूद हो तो उसमें चुरचुराहट की आवाज नहीं होती। ऐंथ्राक्स बैसिलस, मृत्यु के थोड़ा पहले बहते हुए रक्त में तथा मृत्यु के बाद त्वचा के नीचे होने वाले रक्तस्रावों में पाया जाता है। गलाघोटू रोग प्रायः सभी आयु के पशुओं को होता है, सूजन अधिकतर फेरिंक्स के क्षेत्र में ही पाई जाती है और इसमें फेफड़े भी क्षतिग्रस्त होते हैं।

सपर्क में आए हुए सभी वर्तनो तथा लकडी की वस्तुओ को साफ करके जीवाणु-रहित करना चाहिए। जमीन के ऊपर एक सतह भूसा की विछाकर उसमें आग लगा देनी चाहिए। ऐसा करने से भूमि भी जीवाणु-रहित हो जाती है। जीवाणुओ के स्पोर अधिक दिनो तक जीवित रह सकने के कारण खाली पडे हुए चरागाह वर्षों तक इसकी छूत से ग्रसित रह सकते हैं। उन क्षेत्रो में जहाँ भूमि में अधिक सक्रमण नहीं होता, चरागाहो को बदलकर बीमारी से बचाव हो सकता है। एक चरागाह पर चरने वाले सभी पशुओ को यदि समय पर टीका लगा दिया जाए तो कुछ वर्षों में ऐसा सक्रमणित चरागाह स्वत जीवाणु-रहित हो जाता है।

चिकित्सा—रोगी पशुओं को ऐंटि लैंगडी सीरम का इन्जेक्शन देना चाहिए। रोग-ग्रसित यूथ में इसका महत्व उन्ही पशुओ के लिए परिमित है जो देखने में नॉर्मल लगते हुए भी परीक्षण करने पर बुखार प्रदर्शित करते हैं। इसकी सामान्य मात्रा 100 200 घ०सें० है, यद्यपि इसकी दुगुनी मात्रा भी दी जा सकती है। पेनिसिलिन अकेले अथवा सल्फामेराजीन या ऐंटी-लैंगडी सीरम के साथ मिलाकर देना लाभप्रद है।[14]

सदर्भ

1 Breed, Frank, A study of blackleg and its complications, J A. V. M A, 90, 521 1937

2 Mason, J H., The toxin of Clostridium chauvoei, Onderstepoort, J. Vet. Sci, 1936, 7, 433

3 Heller, H H, Etiology of acute gangrenous infections of animals, a discussion of blackleg, braxy, malignant edema, and whale septicemia, J Inf Dis, 1920, 27, 422

4 Albiston, E, Blackleg in lambs following vaccination for enterotoxemia, Aust Vet, J, 1937, 13, 245

5 Law, James, Vet Medicine, ed 3, vol iv, p 242

6 Ravenna, E, The toxin of blackleg and toxic endocarditis, Clinica Veterinaria, 1921, 44, 237, abs Ex Sta Rec, 1922, 46, 481

7 Moore, V A., and Hagan, W, General and Pathogenic Bacteriology and Immunity, 1925, p 196

8 Meyer, K. F, The recognition of atypical forms of blackleg in the United States, Am Vet Rev, 1915, 47, 684

9 Schobl, Otto, Uber die Aggressinimmunisierung gegen Rauschbrand, Central bl. f Bacteriol., 1910, 56, 395, Weitere Versuche uber Aggressinimmunisierung gegen Rauschbrand, 1912, 62, 296

10 Hart, G H., Univ Calif Exp Sta Rep, 1918-19, p 7

11 Mohler, J R, Blackleg, its nature, cause and prevention, Farmer's Bull 1355, 1923

12. Nitta, N, Investigations of blackleg immunization, J A. V M A., 1918 53, 466

13 Leclainche and Vallee Compt Rend. Soc de biol, 1925, 92, 1273

14 Fox, F H. and Roberts, S J, Recent experiences in the ambulatory clinic blackleg. Cornell Vet., 1949, 39, 253

दुर्दम्य शोथ

(Malignant Edema)

(गैस शोथ, भेड़ों में ब्रैक्सी रोग)

क्लॉस्ट्रीडियम सेप्टिकम की विभिन्न प्रजातियों द्वारा उत्पन्न होने वाली दुर्दम्य शोथ एक शीघ्र प्राणघातक गैस कष्ट है। यूनाइटेड स्टेट्स में यह रोग खूब होता है।

घोड़ों में यह बीमारी कम मांसल जगह जैसे मुहँ अथवा पैरों में कील या लकड़ी आदि घुस जाने से उत्पन्न घाव द्वारा फैलती है। सूकरों में कभी-कभी यह रोग टीका लगाने अथवा वधिया करने के बाद उन्हें गंदे बाड़ों में रखने से फैलता है। भेड़ों में इसकी छूत वधिया करने, पूंछ काटने, अथवा ऊन काटने के बाद शरीर पर लगे घावों से फैलती है और इसी प्रकार यह रोग ढोरों में भी वधिया करने के बाद प्रकोप कर सकता है। चोट लगने के बाद कुछ घंटों से लेकर कुछ दिनों में ही उस स्थान पर चुरचुराहटयुक्त सूजन विकसित होकर घाव से गंदा, लाल, एवं पतला स्राव बहता है। रोगी को बुखार होकर विषाक्तता के लक्षण प्रकट होने लगते हैं। घोड़ों में; चेहरे के घाव से सूजन शीघ्र ही सिर, गर्दन और बहुधा फेफड़ों की ओर बढ़कर 24 से 48 घंटे में पशु को मौत के घाट उतारती है। रोग-ग्रसित घोड़े को तेज बुखार होता है तथा विषाक्तता के लक्षण दिखाई पड़ते हैं। सिर को प्रभावित करने वाले भीषण रक्तस्राव (परप्यूरा हैमोरेह्जिका रोग) में भी ऐसे ही लक्षण प्रकट होते हैं, किन्तु इसमें चुरचुराहट नहीं होती।

शव-परीक्षण करते समय सड़नयुक्त सूजन को काटने पर उसमें से गैस के बबूलेदार गंदा, लाल रंग का पदार्थ निकलता है। फेफड़ों की सूजन को छोड़कर अन्दरूनी परिवर्तन अन्य सेप्टिक अवस्थाओं की भांति ही होते हैं।

ब्रैक्सी रोग (Braxy)—क्ला० सेप्टिकम को ब्रैक्सी रोग का भी कारण माना जाता है। यह ग्रेट-ब्रिटेन के कुछ क्षेत्रों तथा किसी हद तक अन्य देशों में होने वाला भेड़ों की आहारनाल का एक रोग है। जैसा कि गेजर[1] (Gaiger) द्वारा वर्णन किया गया है स्काटलैंड में यह रोग प्रमुखतौर पर एबोमेसम (चतुर्थ आमाशय) की अति विस्तृत सूजन है जो युवा पशुओं में पतझड़ के अंत तथा जाड़ों के मौसम में प्रकोप करती है। यह बीमारी इतनी शीघ्र प्राणघातक है कि रोग-ग्रसित मेमने कठिनता से ही जीवित देखने को मिलते हैं। गेजर के अनुसार पाला से मारी हुई घास की रूमेन में उपस्थिति, इस रोग के फैलाने में सहायक होती है। उनका कहना है कि यह बीमारी घाव से छूत लगकर उत्पन्न होने वाली एक प्रकार की आमाशय की "गैस ग्रैंग्रीन" है जिसका प्रमुख कारण क्लॉस्ट्रीडियम सेप्टिकम प्रकार का जीवाणु है। उन्होंने यह भी बताया कि यदि पहले जाड़े में भेड़ों को संदूषित भूमि पर रखा जाए तो उनमें जीवन भर के लिए इस रोग के प्रति प्रतिरक्षा उत्पन्न हो जाती है। मेवेन[2] ने गिनी-पिग में इसकी निम्नलिखित दो विशेषताएँ बतलाईं जिनके आधार पर इस संक्रमण को पहचाना जा सकता है: (1) यकृत की सतह से तैयार किए गए रक्त के स्लाइड में जंजीर के रूप में जीवाणुओं की उपस्थिति, (2) आमाशय तथा विशेषकर अँतड़ी का अत्यधिक संक्रमण। जैसा कि भेड़ों के ब्रैक्सी रोग में वर्णन किया गया

काला रोग

(Black Disease)

(संक्रामक परिगलित यकृतशोथ)

परिभाषा—अधिकतर भेडो तथा कभी-कभी ढोरो में होने वाली यह एक छुतैली तथा अति प्राणघातक बीमारी है जो यकृत-फ्लूक के आक्रमण से उत्पन्न यकृत के परिगलित क्षेत्रो में शरीर में पहले से छुपे हुए क्ला० नोवाइ प्रकार बी (Cl novyi type B.) (क्ला० एडीमैटियस, बैसिलस आइगस) के स्पोरो के विकास से उत्पन्न होती है।

इस बीमारी के कारण का पहले पहल सन् 1927 में आस्ट्रेलिया में टर्नर और डैवेस्नी[1] ने पता लगाया। यूनाइटेड स्टेट्स में सबसे पहले इसे मार्श[2] ने मांटेना में देखा जहाँ इस रोग से इतनी अधिक क्षति हुई कि अनेक लोगो ने भेड-व्यवसाय करना ही छोड दिया। सन् 1929 में शा आदि[3] ने इसे फ्लूक युक्त चरागाहो में होने वाला ओरगन की भेडों का बहुवितरित रोग बताया। रोग-ग्रसित प्रान्तो की मिट्टी में इस बीमारी को फैलाने वाला जीवाणु रहता है तथा पशु के शरीर में यह यकृत की परिगलित फुसियों तक ही परिमित रहता है। यकृत-फ्लूक वाले क्षेत्रो में भेंडो की होने वाली भारी क्षति परोक्ष रूप से यकृत के खराब होने के कारण ही न होकर, फ्लूक संक्रमण के परिमाणस्वरूप उत्पन्न बैक्टीरियल प्रतिक्रिया के कारण होती है। फ्लूक से ग्रसित यकृत में क्ला० नोवाइ द्वारा उत्पादित विष के कारण पशु की मृत्यु हुआ करती है।

शव-परीक्षण करने पर पीठ तथा शरीर के किनारे वाले भागो पर त्वचा के नीचे अनेक स्थानो पर रक्त-स्राव मिलता है जिससे आस्ट्रेलिया में इस बीमारी को 'काला रोग' नाम दिया गया। हृदयावरण (पेरीकार्डियम) साफ द्रव से भरकर तना हुआ मिलता है। यकृत को काटने पर एक से कई सेंटीमीटर व्यास वाली एक या अनेक पीली-पीली परिगलित फुसियाँ पाई जाती हैं (टर्नर)[4] और यह इस बीमारी का प्रमुख क्षतस्थल है।

बहुधा बिना सुविकसित लक्षण प्रकट किए हुए ही पशु प्राय मरा हुआ मिलता है। इसे भूल से गलाघोटू तथा ब्रैक्सी-रोग भी समझा जा सकता है। फिटकरी से अवक्षेपित जीव विषाभ (alum precipitated toxoid) का 5 घ० सें० की मात्रा में एक बार टीका लगा देने से भेड़ा में क्ला० नोवाइ के प्रति कम से कम 17 महीने की प्रतिरक्षा उत्पन्न हो जाती है (टर्नीक्लिफ[5])।

सदर्भ

1. Turner, A. W , and Daveshe, J , Role du B. oedematiens dans l'etiologie de l'hepatite infectieuse necrosante du mouton australien, Ann. Inst. Pasteur, 1927, 41, 1078.
2. Marsh, H , Discussion of gas edema diseases, Twelfth Internat. Vet. Congress, 1934, 2, 217.
3. Shaw, J. N , Muth, O H., and Seghetti, L , Black Disease, Oregon Sta Bull. 360 , 1939.

4. Turner, A. W., Twelfth Inter. Vet. Congress, 1934, vol. II p. 173; Black Disease (Infectious Necrotic Hepatitis) of Sheep in Australia, Bull. 46, Council for Scientific and Ind. Res., Melbourne, 1930.
5. Tunicliff, E, A., Black disease immunization, J.A.V.M.A., 1940, 96, 105.

गोपशुओं का गलघोट्टू रोग

(Hemorrhagic Septicemia of Cattle)

(गो-जातीय पास्चुरेल्लोसिस; घुरका; घोटुआ)

परिभाषा—ढोरों, भेड़ों, सुअरों, चिड़ियों तथा खरगोशों में होने वाली यह छुतैली वीमारियों का एक समूह है जो पास्चुरेल्ला मल्टोसिडा द्वारा उत्पन्न होता है तथा अन्दरूनी अंगों में रक्तस्राव द्वारा इसे पहचाना जाता है।

ढोरों में तेज बुखार तथा निमोनिया और कभी-कभी जठर-आंत्र-शोथ के साथ अथवा केवल अन्दरूनी अंगों के रक्तस्राव द्वारा इस बीमारी का एकाएक संक्रमण होता है। इसका एक शोथयुक्त प्रकार भी वर्णित है, जिसमें त्वचा में सूजन आ जाती है।

कारण—सर्वं प्रथम सन् 1878 में वोलिंगर[1] ने इस रोग का म्युनिच में जंगली सुअरों, हिरनों तथा ढोरों में वर्णन किया। वाशवर्न[2] के अनुसार टेक्सास के ढोरों तथा हिरनों में गलघोटू रोग सन् 1896 में प्रकट हुआ। टेनेसी से फेनीमोर[3] द्वारा सन् 1898 में, तथा मिनेसोटा से रेनोल्ड्स[4] और ब्रिमहाल[5] द्वारा इस वीमारी को सन् 1902-1904 में रिपोर्ट किया गया। यद्यपि कि ढोरों में प्राकृतिक रूप से इसकी छूत बहुत शीघ्र लगती है, किन्तु पास्चुरेल्ला वोवीसेप्टिका के संवर्धन से कृत्रिम संक्रमण करने से कोई प्रभाव नहीं पड़ता। फिर भी, सन् 1912 में मोह्लर और इछोर्न[6] (Mohler and Eichhorn) ने एलोस्टोन-पार्क में भैंसे से पास्चुरेल्ला की एक प्रजाति प्राप्त की जो अधस्त्वक् इन्जेक्शन द्वारा देने पर ढोरों के लिए रोगजनक सिद्ध हुई। भसों में पाया जाने वाला इस वीमारी का जीवाणु, पास्चुरेल्ला बुबैलीसेप्टिका, इस ग्रूप का सबसे शक्तिशाली सदस्य है और यह अनेक व्यावसायिक जीवाणुगत-पदार्थ बनाने के काम आता है।

स्वस्थ, एवं गलाघोटू रोग से मरे हुए पशुओं के टिसुओं में पास्चुरेल्ला की एक असंक्रामक प्रजाति उपस्थित होने के कारण कुछ लोगों के मस्तिष्क में यह संदेह है कि पास्चुरेल्ला इस बीमारी का कारण नहीं है। मरी[7] लिखते हैं कि आयोवा में अनेक ऐसे फार्म हैं जहाँ यह बीमारी वर्षों से समय-समय पर प्रकोप करती आई है। वक्ले और गौचेनोअर[8] के अनुसार यह रोग नष्टकीय बीमारी के रूप में अक्सर प्रकोप करता है। मूर तथा मक्आलिफ[9] ने कोर्टलैंड, न्यूयार्क की लगभग 50 डेरियों में इसे होते बताया है। जोंस और लिटिल[10] ने न्यूजर्सी में डेरी गायों में निमोनिया के एक प्रकोप का कारण बैसिलस बोवीसेप्टिक्स बताया और उन्होंने इस बीमारी को बछड़ों में भी फैलाया। स्थानिक-मारी तथा विकीर्ण रोग के रूप में यह बीमारी यूनाइटेड स्टेट्स में खूब होती है किन्तु, इससे अधिकाश क्षति पानी के जहाज द्वारा यात्रा करने वाले पशुओं अथवा उन यूथों में देखी गई, जिनमें इन्हें शामिल किया गया। अभी कुछ वर्षों से यूनाइटेड स्टेट्स के उत्तरी-पश्चिमी

भागो में गलघोटू रोग के प्रकोप में कुछ वृद्धि हुई है। जिन भागो में अब से 10 या 20 वर्ष पहले यह बीमारी नही होती थी अब उन क्षेत्रो में भी खूब प्रकोप करती है। पूरब में यह डैरी पशुओ की एक भयकर बीमारी बन चुकी है तथा पश्चिम के मध्यवर्ती भागो में भी इसका प्रकोप बढता हुआ सा मालूम पडता है। जिन फार्मों पर नए पशु नहीं लाए जाते उन पर भी इस बीमारी का अक्सर प्रकोप होते देखा गया है। नार्वे के ढोरो में इस रोग का प्रकोप पहले-पहल सन् 1936 में हेलेस्नेस्[11] द्वारा वर्णन किया गया। रोग उत्पन्न करने वाला जीवाणु उससे निकटतम सबद्ध था जो बारहसिघा में पास्चुरेल्लोसिस उत्पन्न करता है। इसकी छूत प्रविष्ट करने के प्रयोग दो गायों में सफल सिद्ध हुए, एक में अत कठनाल इन्जेक्शन देने पर अस-अवस्था (pectoral form) तथा अधस्त्वक् इन्जेक्शन देने से शोथ अवस्था (edematous form) उत्पन्न हुई।

जब पशु की किसी कारणवश रोग सहन करने की शक्ति कम हो जाती है, उदाहरणार्थ, यातायात काल में, तो वह इसके आक्रमण के प्रति अधिक ग्रहणशील हो जाता है। जब बाहर से लाए गए पशु किसी नए यूथ में मिलाए जाते है तो यूथ के पुराने पशुओ को भी यह रोग लग जाता है। ऐसे पशुओ में बीमारी के प्रति सहनशक्ति कम होने का कोई प्रमाण नही मिलता। अत बीमारी को आमन्त्रित करने वाले अन्य कारणो की अनुपस्थिति में नए लाए गए पशु ही सक्रमण के वाहक का कार्य करते है।

जीवाणु विज्ञान (Bacteriology)—पास्चुरेल्ला ग्रुप का यह जीवाणु बहुरूपी वातापेक्षी (polymorphic aerobe) है। यह एक गतिहीन ग्राम-ऋणात्मक छड है तथा यह जीवाणु स्पोर नहीं बनाता। रोग-ग्रसित टिसुओ से तैयार किए गए स्लाइड में एनिलीन रग से रग कर देखने पर यह अकेला अथवा छोटी-छोटी जजीरो के रूप में द्विध्रुवी दिखाई देता है। क्षतस्थल से प्राप्त पदार्थ को यदि गिनी पिग अथवा खरगोश के शरीर में अधस्त्वक् इन्जेक्शन द्वारा पहुँचा दिया जाए तो वे शीघ्र ही मर जाते है, यद्यपि कि ढोरो से प्राप्त ऐसे पदार्थ खरगोशो के लिए प्राणघातक नही होते। स्वस्थ पशु की आहार-नाल तथा ऊपरी सांस-नली में ये जीवाणु निवास किया करते है। यह एक मृतोपजीवी एव वैकल्पिक रोगजनक परजीवी है जो हल्के जीवाणुनाशक-पदार्थों से भी शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। इसका वेग अत्यधिक परिवर्तनशील है जो थकावट आदि से पशु की बीमारी के प्रति सहनशक्ति क्षीण होने पर आधारित होता है। प्रीस्टली[12] के अनुसार इसका वेग आवरण की उपस्थिति पर आधारित होता है और प्रतिरक्षण के लिए केवल आवरण युक्त स्ट्रेन का ही प्रयोग करना चाहिए। जाति के अनुसार भी इनके वेग में विभिन्नता होती है। प्रत्यक्ष रूप से पास्चुरेल्ला बुबैलीसेप्टिका इस दृष्टिकोण से अन्य सबसे बढकर है। गरम जलवायु में रहने वाली भैंसो में यह बीमारी अधिक होती बताई गई है, जहाँ इसका सक्रमण अत्यधिक प्राणघातक होता है। इस जाति में यह बीमारी बारबोन (barbone) कहलाती है। सन् 1883 में किट ने बोलिगर द्वारा वर्णित द्विध्रुवी बैसिलस को इस बीमारी का कारण सिद्ध कर दिया। सन् 1880 में पास्चर ने इसे मुर्गियो में कालरा का कारण पाया। सन् 1881 में गैफ्की ने इसे खरगोशो में रक्तपूतिता का कारण बताया, तथा सन् 1886 में लोफ्लर ने इसे शूकर-प्लेग का कारण पाया। सन् 1886

में हुड्गी[13] ने यह देखा कि उक्त सभी रोगो का कारण एक जैसा ही है, अत. उन्होने पूरे ग्रूप को ही गलघोटू रोग नाम दे दिया। ये जीवाणु अब भी पास्चुरेल्ला मल्टोसीडा नाम के अन्तर्गत एक अकेली जाति के रूप में तथा अपने पाए जाने वाले स्रोत के अनुसार विभिन्न जातियो जैसे गायो में पा० बोवीसेप्टिका, सूकरो में पा० सुइसेप्टिका; भेडो में पा० ओवीसेप्टिका, तथा मुर्गियो में पा० एवीसेप्टिका आदि विभिन्न नामो के अन्तर्गत वर्गीकृत किए गए है। इस वर्गीकरण को जोस[14] (1921) की रिपोर्ट में प्रस्तुत किया गया है जिन्होंने लिखा कि "यह प्रदर्शित करना सभव हो सका है कि बोवीसेप्टिकस ग्रूप के मध्य कुछ सवर्धनीय एव सीरम सबधी ग्रूप भी हुआ करते है।" चूंकि इसकी छूत एक से दूसरी जाति में नही फैलती अत इसके विभिन्न नाम रखने की आवश्यकता स्पष्ट है।

विकृत शरीर रचना—शोथयुक्त अवस्था को छोडकर जिसमें सिर, गर्दन, गले, फेरिंक्स, स्वरयन्त्र तथा निकट की लिम्फ-ग्रंथियों में सूजन मिलती है, रोग की अन्य अवस्थाओ में लाश को विना खोले कोई परिवर्तन नही दिखाई पडते।

रुग्ण फुफ्फुस की अवस्था में शारीरिक-गुहाओ में द्रव भरा मिलता है। कभी-कभी प्लूरा में अत्यधिक अभिलाग भी देखने को मिलते है। फेफडो में अत्यधिक दृढीकरण मिलता है। काटने पर यह विभिन्न रग वाले निमोनिया युक्त क्षेत्र, अत खण्डज पर्त को शोथयुक्त मोटाई द्वारा एक दूसरे से अलग रहते है। इससे फेफडो की आकृति सगमरमर के टुकडो की भाँति दिखाई देती है। बीमारी की अवधि बढने पर परिगलन तथा फोडो का निर्माण पाया जाता है। ब्रोकाई सकुलित अथवा रक्तस्रवित होती तथा इनमें स्राव भरा रहता है। फुफ्फुस-वातस्फीति ही केवल इसका विशिष्ट क्षतस्थल हो सकता है। सामान्य रक्तपूतित क्षतस्थल कम अथवा अधिक हो सकते है। इनके अन्तर्गत, त्वचा एव अतर्मासल टिसुओ का रक्तस्राव, लिम्फ ग्रँथियो की सूजन तथा रक्तस्राव, पेरिटोनियम तथा प्लूरा का रक्तस्राव, तथा रक्तस्रवित जठर-आन्त्र-शोथ आदि परिवर्तन आते है। हृदय की ऊपरी झिल्ली प्राय रक्तस्राव से आच्छादित होती तथा इसमें लाल रग का सीरम भरा मिलता है।

बछडो की विशिष्ट छुतैली निमोनिया में, जिनके फेफडो से विशुद्ध सवर्धन में पास्चुरेल्ला जीवाणु प्राप्त होता है, उनमें निमोनिया के क्षतस्थल गलघोटू रोग में वर्णन किए गए क्षतस्थलो की भाँति नही होते। अत खण्डज टिसुओ में शोथ अनुपस्थित हो सकती है तथा कटी हुई सतह पर सगमरमर के टुकडो की भाँति आकृति नही मिलती। कटी हुई सतह पर छोटे-छोटे लाल अथवा धूसर क्षेत्रो के साथ लाल तथा धूसर रग की वहु-भुजाकार आकृति मिलती है। देखने में इसका स्वरूप स्ट्रेप्टोकाक्कि निमोनिया की भाँति लगता है।

लक्षण—

अस अवस्था : यूनाइटेड स्टेट्स के उत्तरी-पूर्वी भाग का यह एक प्रमुख प्रकार है जहाँ यह एक स्थायी बीमारी के रूप में प्रकोप करता है। बाहर से लाए गए पशुओ से इसकी छूत फैलती है। अत न्यूयार्क में यह बीमारी पश्चिम से लाए गए उन पशुओं से फैली जो यातायात के समय काफी जीर्ण-शीर्ण हो गए थे। नए लाए गए पशु

आने के समय या बाद में बीमार हो सकते हैं अथवा वे स्वस्थ दिखाई देकर जीवाणु-वाहक का काय कर सकते है। पशु-बाजारो अथवा नुमायशो में इकट्ठा होने अथवा इन स्थानो
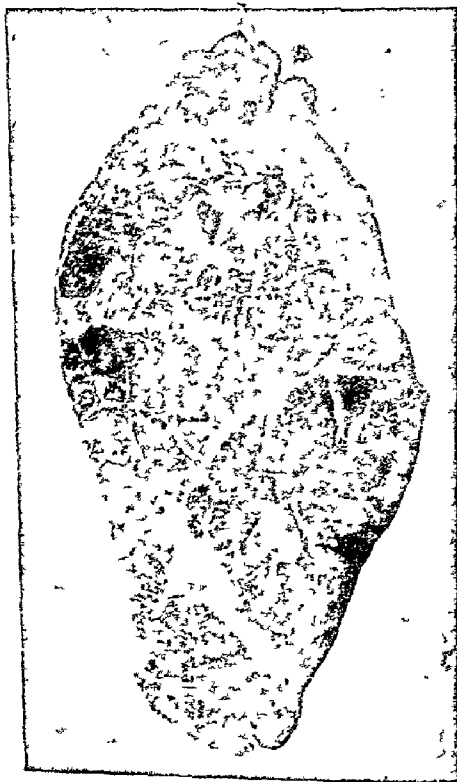
चित्र—67 गलघोटू रोग से मरी हुई गाय का न्यूमोनिया से ग्रसित फेफड़ा।

से काम पर वापस जाने पर कभी-कभी अधिक संख्या में पशु मरते दिखाई देते हैं। इसके विनाशकारी प्रकोप जाड़े अथवा पतझड़ के अंत में हुआ करते हैं। कभी-कभी पशुशाला में

बँधे रहने वाले ऐसे यूथ में भी इसका प्रकोप होते देखा जाता है जिसमें नए पशु न मिलाए गए हो तथा यह बीमारी चरागाह पर चरने वाले पशुओ में भी प्रकोप कर सकती है।

रोग का उद्भवनकाल 2 से 5 दिन का होता है। इसका प्रकोप प्राय एकाएक होता है। पहले दिन एक या अधिक गायो को खून मिले दस्त, निमोनिया तथा बुखार होता है। दूसरे या तीसरे दिन इसका अन्य पशुओ में हल्का अथवा भीषण प्रकोप होता है। पहले बीमार पड़े पशुओ में से कुछ की 24 घटे के अन्दर मृत्यु हो जाती है। प्रथम दो या तीन दिन में अधिकाश पशु मर जाते हैं। कभी-कभी महामारी के पूरे प्रकोप-काल में पशु मरते रहते है। हाल की ब्याई हुई गायो मे मृत्युदर अधिक होती है। यूथ के पशुओ का तापक्रम लेने पर स्वस्थ दिखाई देने वाले कुछ पशुओ में भी तेज बुखार मिलता है। अवसन्नता, गिरे हुए कान, रक्त-वर्ण अथवा रक्त-स्रवित श्लेष्मल झिल्लियाँ, लार बहना, तेज श्वास-प्रश्वास, तथा 104 से 106° फारेनहाइट तक तेज बुखार होना इसके विशिष्ट लक्षण है। कुछ रोगियो का तापक्रम सामान्य रह सकता है। चारे में पूर्णरूपेण अरुचि होकर दुधारू पशु का दूध कम हो जाता है। रोगी पशु सिर उठाकर, जीभ बाहर निकालकर तथा मुँह खोलकर साँस लेता है। प्रत्येक बार साँस छोड़ने पर घुर-घुर की आवाज होती है। पशु प्राय थोडा बहुत खाँसता है। वक्ष का परीक्षण करते समय थपथपाने पर रोग ग्रसित पशु दर्द का अनुभव कर सकता है तथा वहाँ भद्दे क्षेत्र प्रतीत होते है। अधिकाश रोगियो को रक्त मिश्रित दस्त आते है यद्यपि कि उन्हें कब्ज भी हो सकता है। कुछ पशुओ के पेशाब में खून भी आते देखा गया है। पहले आक्रमणित पशु शीघ्र ही मर जाते है, किन्तु बाद वाले कुछ दिनो में ठीक होने लगते है। अन्य सभी रक्तपूतिताओ की भाँति इसमें भी मस्तिष्क में क्षतस्थल विकसित होकर उन्माद तथा मस्तिष्कशोथ के अन्य लक्षण प्रकट कर सकते हैं, अथवा ऐसे लक्षण उन विषैले पदार्थों की उपस्थिति के कारण होते है जो उन्माद के प्रत्यक्ष क्षतस्थल उत्पन्न करने में असफल रहते है।

शोथ अवस्था : मूर तथा मक्आलिफ[9] द्वारा वर्णित रोग की शोथ-अवस्था में आँख के चारो ओर तथा कोख पर ज्वर-पित्ती की भाँति सूजन होती है तथा श्लेष्मल झिल्ली में थोड़े रक्तस्राव के साथ भीषण नेत्र-श्लेष्मलाशोथ मिलती है। फेरिक्स के क्षेत्र में तथा भग एव मलद्वार के चारो ओर भी सूजन आ जाती है अथवा यह पैरों से प्रारम्भ होकर शरीर पर फैल सकती है। इसके सामान्य लक्षण रक्तपूतित अवस्था की भाँति होते है।

उग्र रक्तपूतित प्रकार (acute septicemic type) : इस अवस्था में ऐंथ्राक्स तथा लँगड़िया की भाँति बिना किसी विशिष्ट क्षतस्थल के उग्र प्राणघातक रक्त-पूतिताओ की भाँति ही विशेषताऐं होती हैं। इसका वेगवान आक्रमण होकर 12 से 24 घटे में रोगी पशु की मृत्यु हो जाती है।

इस रोग के सेरिब्रल तथा आंत्रिक प्रकार भी वर्णित हैं और इनके सुविकसित प्रकोप के लक्षण रक्तविषाक्तता की भाँति ही होते हैं। इसकी एक दीर्घकालिक अवस्था का भी वर्णन किया गया है (हुटायरा) जिसमें निमोनिया, दस्त तथा क्षीणता के लक्षण देखे गए।

कुछ लोगों के विचार से गलघोटू रोग बछड़ो की निमोनिया का प्रमुख सक्रमण है। आग तथा लिटिल[15] ने एक प्रकोप का वर्णन किया जिसमें कुछ बछड़ों को निमोनिया था

तथा अन्य केवल जुकाम से पीड़ित हुए। बाद वालों से उन्होंने बोवीसेप्टिका ग्रुप 1 के संवर्धन प्राप्त किए। इन संवर्धनों को रुई में लगाकर अन्य बछड़ों की नाक में रगड़ कर बीमारी को प्रयोगात्मक रूप से उत्पन्न किया गया।

निदान—निम्नलिखित कारणों से गलघोटू रोग के निदान के बारे में लोगों में मतभेद है (1) स्वस्थ पशुओं की श्लेष्मल-झिल्ली में इस बीमारी का बैसिलस निवास करता है, अतः मरे हुए पशुओं के टिसुओं में इसकी उपस्थिति से यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि यह जीवाणु बीमारी उत्पन्न करता है। (2) इस बीमारी से मरे हुए पशु का जीवाणु-परीक्षण ऋणात्मक हो सकता है। (3) कुछ अस्पष्ट अवस्थाओं तथा अन्य प्रकार की बीमारियों को भी यही नाम दिया गया है। इससे कुछ लोगों का यह संदेह हो जाता है कि यह जीवाणु सदैव रोगजनक है अथवा नहीं। इन कठिनाइयों के होते हुए भी यह रोग एक विशिष्ट रोग है जो अक्सर प्रकोप करके विनाशकारी परिणाम प्रदर्शित करता है।

इस रोग में निमोनिया की वास्तविक अवस्था यूथ में नए लाए गए पशुओं को मिलाने के बाद देखी जाती है। प्रमुख तौर पर यह एक पशुशाला का रोग है तथा किसी भी आयु के पशुओं में प्रकोप कर सकता है।

जब बिना किन्हीं निश्चित क्षतस्थलों के इस रोग की रक्तपूतित अवस्था चरागाह पर चरने वाले पशुओं में प्रकोप करती है तो इसे ऐंथ्रावस अथवा लेंगड़िया की ऐसी ही अवस्थाओं से अलग पहचानना काफी कठिन हो जाता है। उसी क्षेत्र में पहले हुई महामारियों तथा रोगियों की आयु पर विचार करके विभेदी-निदान करने में सहायता मिल सकती है। रोग ग्रसित टिसुओं में बोवीसेप्टिका जीवाणु बहुधा मौजूद रहता है, किन्तु जीवाणु-परीक्षण इस रोग की अपेक्षा ऐन्थ्रावस तथा लेंगड़िया के लिए अधिक सही उतरते हैं। कभी-कभी पशु लेड (सीस) तथा सोडा के नाइट्रेट के रूप में विष खा जाते हैं जिससे उनकी एकाएक मृत्यु होकर रक्तपूतिता की भाँति ही क्षतस्थल दिखाई पड़ते हैं।

बचाव—यूनाइटेड स्टेट्स में गो-पशुओं में गलघोटू रोग के प्रति पहले-पहल टीका का प्रयोग मोह्लर तथा इछोर्न[8] द्वारा किया गया। उन्होंने एलोस्टोन पार्क में भैंसों को कम शक्ति वाला दोहरा टीका लगाया। हार्डनबर्ग तथा वार्नर[16] ने बाद में जीवित संवर्धनों का प्रयोग रिपोर्ट किया, किन्तु इनका प्रयोग सर्वमान्य न हो सका। सन् 1924 में बक्ले तथा गोचेनोअर[9] ने लिखा कि "कुछ भली-भाँति कंट्रोल किए गए प्रयोगों से हम लोगों ने यह सिद्ध कर दिया कि ग्रहणशील पशुओं में बैक्टेरिन, वैक्सीन तथा ऐग्रेसिन द्वारा गलघोटू रोग के प्रति सक्रिय प्रतिरक्षा उत्पन्न की जा सकती है। इन पदार्थों से उत्पन्न प्रतिरक्षा एक वर्ष या अधिक समय के लिए हो सकती है। सम्भवतः सक्रिय प्रतिरक्षा उत्पन्न करने के लिए सबसे आवश्यक ध्यान देने योग्य बात यह है कि उसके उत्पादन में कितना समय लगता है। गोपशुओं तथा प्रयोगशाला के अन्य पशुओं पर किए गए अनेक प्रयोग यह सिद्ध कर चुके हैं कि पहले दो दिनों के लिए, बिना टीका लगाए पशुओं की अपेक्षाकृत टीका लगे हुए पशु इस रोग के प्रति अधिक ग्रहणशील होते हैं। उन्होंने यह भी सिद्ध कर दिया कि टीका लगाने के बाद बीमारी के प्रति उत्पन्न प्रतिरक्षा को 6 से लेकर 9 दिन तक से पूर्व प्रदर्शित नहीं किया जा सकता। नवें तथा चौदहवें दिन के बीच गलघोटू रोग के प्रति

इतनी सहनशक्ति उत्पन्न हो जाती है कि टीका लगाए गए पशु रोग के भीषण प्रकोप का भी सामना कर सकते है। जिन पशुओं में 14 दिन अथवा इससे पूर्व टीका लग चुका होता है, उनमें वैक्टीरिया की सैकडो प्राणघातक मात्राएँ भी कोई असर नही कर पाती।" वक्ले और गोचीनोअर ने सन् 1924 में यह रिपोर्ट किया कि वैक्सीन अथवा वैक्टेरिन की अपेक्षाकृत ऐग्रेसिन से अधिक बचाव होता है। ढोरो के लिए ऐग्रेसिन की मात्रा 5 घ० सें० है। ढोरो के लिए गो-पशुओं के टिसुओं से तथा घोडों के लिए घोडों के टिसुओं से तैयार की गई ऐग्रेसिन का ही प्रयोग करना चाहिए। अन्य जातियों से तैयार की गई ऐग्रेसिन का पशुओं में बार-बार टीका देने से अवसन्नता तथा मृत्यु तक होते देखी गई है। मेला आदि में जाने से पूर्व पशुओं में ऐग्रेसिन का टीका लगा देने से उनमें बीमारी के प्रकोप होने का भय ही नही रहता।

सक्रिय प्रतिरक्षा उत्पन्न करने के लिए चूंकि अधिक समय की आवश्यकता पडती है, अत. रोग प्रारम्भ होने के कम से कम 10 दिन पहले ऐग्रेसिन तथा वैक्टेरिन का टीका देना चाहिए। जिन पशुओं में बीमारी चल रही हो अथवा जो बीमार पशुओं के सपर्क में हों, तथा यातायात के लिए तैयार अथवा यात्रा समाप्त करके आए हो उन पशुओं में इनका टीका नही देना चाहिए। विशुद्ध जाति के तथा अन्य मूल्यवान पशु जिनका तत्काल स्थानान्तरण करना हो उनमें इस रोग के बचाव के लिए गलघोटू रोग का ऐंटिसीरम (50 घ० सें० यात्रा प्रारम्भ करने के पूर्व तथा 30 से 50 घ० सें० निर्धारित स्थान पर पहुँचने पर) देना चाहिए। गिवस तथा फिचर ने ऐग्रेसिन तथा वैक्टेरिन के प्रयोग के बाद अनेक जटिलताएँ उत्पन्न होती रिपोर्ट की है। इनमें ऐग्रेसिन के प्रयोग के बाद ज्वर-पित्ती, शूल वेदना, शोथ तथा कष्टप्रद श्वास-प्रश्वास और जीवाणुगत पदार्थ (वैक्टेरिन) के इन्जेक्शन के बाद निराशा, कँपकपी, अत्यधिक श्वास-कष्ट तथा मृत्यु तक के कुपरिणाम देखे गए है।

व्यावसायिक यूथो में वैक्सीनेशन का परिणाम असतोषजनक रह सकता है। ऐसे वैक्सीनेशन के बाद यूथ में कोई नए पशु न मिलाए जाने पर भी एक सप्ताह बाद यह बीमारी एक महामारी के रूप में प्रकोप कर सकती है। ऐसे अनुभवों को समझाना बडा कठिन है और यह बडे कष्टदायक होते है। लेखक ने बछडो में निमोनिया की महामारी के प्रकोप के समय सीरम देने से कोई लाभ नहीं देखा। ऐसे प्रकापों में जीवाणुगत पदार्थों अथवा ऐग्रेसिन का टीका लगाए हुए बछडा में बीमारी उसी वेग स फैली जैसे यह बिना टीका लगाए बछड़ा में प्रकाप करती है।

चिकित्सा—बीमार ढोरों के लिए 100 से 250 घ० सें० की मात्रा में ऐंटि गलघोटू सीरम का टीका देना काफी लाभप्रद सिद्ध होता है। जब रोग पहले-पहल प्रकट होता है और दो या तीन गायें रोग-ग्रसित होती है तो यह निश्चय है कि अगले चौबीस घंटो में कुछ और पशुओं का तेज बुखार होगा। यदि रोग के प्रकोप करते समय ही यूथ के पशुआ का टीका लगा दिया गया तो जिन गायों में बीमारी गुप्तकाल में होगी उनमें टीका लग जाने पर और भी उग्र रूप धारण कर लेगी। वक्ले तथा गोचीनोअर की रिपोर्ट के अनुसार यदि जीवाणुगत-पदार्थ अथवा ऐग्रेसिन का पहला प्रभाव सक्रमण के प्रति ग्रहणशील बनाना है, तो महामारी के प्रारम्भ में इनका उपयोग बीमारी के फैलने में प्रोत्साहन देता है। ऐसे

पशुओं में बैक्टेरिन अथवा ऐग्रेसिन का प्रयोग नहीं करना चाहिए। बीमार पशु को अधिकतम तथा स्वस्थ पशु को कम मात्रा में (50 घ० सें०) सीरम या इन्जेक्शन देना अधिक अच्छा है। सीरम द्वारा बचाव की क्रिया पर चार दिन से अधिक आश्रित नहीं रहा जा सकता है। यूथ के सभी पशुओं का नित्य दो या तीन बार तापक्रम लेना चाहिए और यदि सम्भव हो तो अच्छे पशुओं को बीमार पशुओं से अलग रखना चाहिए।

इस तथ्य के होते हुए भी कि बक्ले तथा गोचीनोअर[8] ने टीका लगाने के प्रथम एक या दो दिन बाद पशुओं में रोग के प्रति अधिक ग्रहणशीलता पाई तथा 6 से 9वें दिन उनमें अधिकतम सहनशक्ति उत्पन्न हो जाती है, कुछ पशु चिकित्सकों का विश्वास है कि रोग-ग्रसित यूथ में रोगी तथा स्वस्थ दोनों ही प्रकार के पशुओं के लिए बैक्टेरिन अथवा ऐग्रेसिन लाभप्रद है। ऐसे इलाज के लिए कोई तर्कयुक्त आधार तो नहीं है और यह असम्भाव्य है कि समय तथा अनुभव इस ढंग को सही सिद्ध कर देगा। यह सम्भव है कि ऐसे रोगियों में ऊपर से दिखाई देने वाला सुधार पशुओं में रोग के प्रति उपस्थित प्राकृतिक सहन-शक्ति के कारण होता हो। इस बात के अनेक उदाहरण मौजूद हैं कि गलघोटू रोग से पीड़ित यूथ में जीवाणुगत-पदार्थ का टीका देने पर हजारों पशुओं की मृत्यु हो जाती है।

गलघोटू रोग की लाक्षणिक चिकित्सा पृष्ठ 49 पर वर्णित निमोनिया की भाँति ही है। कैल्शियम ग्लूकोनेट तथा कपूरयुक्त-तेल का प्रयोग लाभप्रद है। जहाँ अधिक मूल्यवान होने के कारण सीरम का प्रयोग वर्जित हो वहाँ इस मिश्रण पर ही आश्रित रहा जा सकता है। इस रोग की चिकित्सा में सल्फा-औषधियों का अत्यधिक प्रयोग होता है। इन्हें पहले दिन 3/4 से 1.5 ग्रेन की मात्रा में प्रति पौण्ड (0.09 से 0.18 ग्राम प्रति किलो) शरीर भार के हिसाब से मुहँ द्वारा देना चाहिए। दूसरे दिन इस मात्रा को 25 प्रतिशत तथा तीसरे दिन 50 प्रतिशत कम कर देनी चाहिए। इनको कई खुराकों में बाँट कर 8 घंटे के अवकाश पर देना चाहिए। सल्फा-औषधियों के ग्रुप में सल्फाथायाजोल, सल्फा डाया-जीन तथा सल्फामेराजीन अधिक गुणकारी हैं क्योंकि अन्य सल्फा-औषधियों की अपेक्षाकृत इनकी आधी ही मात्रा उतना काम करती है। रोग के भीषण प्रकोप में सल्फा-मेराजीन को 100000 यूनिट पैनिसलिन के साथ मिलाकर 3 घंटे के अवकाश पर अंत पेशी इन्जेक्शन द्वारा दीजिए। सल्फामेराजीन के प्रयोग से मक्आलिफ[18] ने गलघोटू तथा निमोनिया से पीड़ित 122 रोगियों में से 95 प्रतिशत को अच्छा होते बताया। उन्होंने बताया कि पहले दिन इसकी 1.5 ग्रेन (0.09 ग्राम) मात्रा प्रति पौण्ड शरीर भार की दर से बराबर भागों में विभाजित करके 8 घंटे के अवकाश पर पशु को देकर, बाद में 1.2 ग्रेन (0.03 ग्राम) प्रति पौण्ड शरीर भार की दर से दो बराबर भागों में विभाजित करके रोजाना दो या तीन दिन तक देनी चाहिए।

जान्सन तथा फाकसन[19] के अनुसार कोलोरेडो में गलघोटू रोग के रोगियों में पास्चु-रेल्ला जीवाणुओं की अपेक्षाकृत डिफ्थीरोइड, स्ट्रेप्टोकोकाइ और स्टैफिलोकोकाइ अधिक संख्या में पाए गए। बीमार पशुओं की चिकित्सा में निम्नलिखित औषधि का अंत शिरा इन्जेक्शन देकर उन्होंने बड़े अच्छे परिणाम रिपोर्ट किए हैं पोटासियम गुआयाकोल सल्फोनेट, 5 ग्राम; 95 प्रतिशत इथायल ऐल्कोहल 10 ग्राम, सोडियम आयोडायड, 5 ग्राम, जीवाणु

रहित पानी 90 ग्राम। 300 पौण्ड या कम भार वाले बछड़ों के लिए 75 घ० सें०, 400 से 600 पौण्ड शरीर वालों को 125 घ० सें० तथा बड़े पशुओं को 150 घ० सें० की मात्रा में इसका इंजेक्शन देना चाहिए। ब्रोंकोनिमोनिया के लक्षण प्रकट हो जाने पर चिकित्सा से अधिक अच्छे परिणाम नहीं निकलते।

ढोरों में निमोनिया (नाविक-ज्वर) की चिकित्सा के लिए लीज[20] ने 500 से 1000 घ० सें० नार्मल सलाइन में 200000 अथवा अधिक यूनिट की मात्रा में सोडियम पैनिसिलिन मिलाकर अंतःशिरा इन्जेक्शन दिया तथा 1 दसलक्ष यूनिट प्रोकेन पैनिसिलिन का अंतः पेशी इंजेक्शन दिया। $\frac{1}{2}$ से $\frac{3}{4}$ ग्रेन प्रति पौण्ड शरीर भार की मात्रा में मुहँ द्वारा अथवा जीवाणुरहित नार्मल सलाइन में घोलकर अंतः-पेरिटोनियल इन्जेक्शन द्वारा सोडियम सल्फामिराजोन का प्रयोग भी गुणकारी है। यह चिकित्सा तीन चार दिन तक, जब तक पशु का बुखार नष्ट होकर स्वास्थ्य-लाभ न होने लगे, रोजाना करनी चाहिए। निमोनिया की चिकित्सा की अधिक जानकारी के लिए पृष्ठ 49 पर ब्रोंकोनिमोनिया की चिकित्सा देखिए।

संदर्भ

1. Bollinger, Ueber eine neue Wild-und-Rinderseuche, Munich, 1878,
2. Washburn, H. J. Hemorrhagic Septicemia, U. S. Dept, Agr, Bull., 674, 1918.
3. Fenimore, H. D., Wild and cattle diseases, J. Comp, Med, and Vet. Archives, 1898, 19, 625.
4. Reynolds, M. H., Haemorrhagic septicaemia, Am. Vet. Rev., 1902-03, 26, 819.
5. Brimhall, S. D., Haemorrhagic septicaemia in cattle, Am. Vet. Rev., 1903-04, 27, 103.
6. Mohler, J. R., and Eichhorn, A., Immunization against hemorrhagic septicemia, 16th An. Rep. U.S. Live Stock San. Assoc., 1912, p. 38.
7. Murray, Chas., Hemorrhagic Septicemia, 22nd An. Rep. U.S. Live Stock Sanitary Assoc., 1918, p. 121.
8. Buckley, J.S. and Gochenour, Wm. S, Immunization against hemorrhagic septicemia, J.A.V.M.A., 1921, 66, 308.
9. Moore, E. V., and McAuliff, J. L., Hemorrhagic septicemia in Cortland county. Cornell Veterinarian, 1922, 12, 289.
10. Jones, F. S. and Little, R. B., An outbreak of pneumonia in dairy cows attributed to Bacillus bovisepticus, J. Exp. Med. 1921, 34, 541.
11. Hellesnes, P, Pasteurellose hos storfe, Skand. Vet. Tidskr., 1936, 26, 225; Abs. Hemorrhagic septicemia in cattle Vet. Bull., 1937, 7, 7.
12. Priestly, F.W., A note on the association of the virulence of Pasteurella infection, J. Comp. Path. and Ther., 1936, 49, 340.
13. Hueppe, Berl. klin. Wchnschr., 1886, 23, 753, 776, 794.
14. Jones, F. S., A study of Bacillus bovisepticus, J. Exp. Med., 1921, 34, 561.
15. Jones, F. S., and Little, R. B., An epidemiological study of rhinitis (coryza) in calves with special reference to pneumonia, J. Exp. Med., 1922, 36, 273.

16 Hardenbergh, J B, and Boerner, F, Vaccinations against hemorrhagic septicemia, J A V M A, 1916, 49, 55

17 Gibbons, W J, and Fincher, M G, Hemorrhagic septicemia Cornell Vet., 1937, 27, 52, Gibbons W J, Hemorrhagic septicemia, Cornell Vet, 1936, 26, 56, Fincher, M G, Hemorrhagic septicemia, Cornell Vet, 1936, 26, 51

18 McAuliff, J L, Clinical use of sulfamerazine in the treatment of hemorrhagic septicemia and pneumonia in cattle J A V M A, 1946, 109, 430

19 Johnson, H S, and Farquharson, J, Newer developments in the therapy of shipping fever in cattle, J A V M A, 1941, 99, 103

20 Lies, G W, Problems in handling feeder cattle, J A V M A, 1949, 115, 458

गो-पशुओं की फुफ्फुस वातस्फीति

(Pulmonary Emphysema of Cattle)

सन् 1925 में न्यूयार्क के कोर्टलैंड प्रदेश में गलघोटू रोग के वर्णन में मूर तथा मकआलिफ[1] ने यह बताया कि उन्होंने 85 रोगियों में से जिनमें कि 33 का शव-परीक्षण हुआ 'अस-अवस्था में इस रोग को निमोनिया प्रकार को नहीं देखा।" इनमें से अधिकांश में अस अवस्था थी तथा फुफ्फुस वातस्फीति इसका क्षतस्थल था।

न्यूयार्क में, विशेषकर पतझड के मौसम में, इस बीमारी का स्थानिकमारी तथा विकीर्ण रोग के रूप में खूब प्रकोप होता है। सक्रमण हेतु रोग-ग्रसित यूथ में नए मिलाए हुए पशुओं का इतिहास भी मिल सकता है। प्रत्यक्ष रूप में यह सक्रामक है क्योंकि प्राय स्थानिकमारी के रूप में ही इसका प्रकोप होता है और कोर्टलैंड प्रदेश के प्रकोपों में बाहर से लाए गए गोपशुओं में इसके सभी लक्षण गलघोटू निमोनिया से मिलते-जुलते थे। अन्तर केवल इतना था कि फेफडा में कठोरीकरण के स्थान पर अन्तरालीय वातस्फीति थी। फुफ्फुस वातस्फीति का यह प्रकार गलघोटू रोग के साथ इस कारण वर्णित है क्योंकि यह लक्षणों में इस बीमारी से मिलती जुलती है। हमारे मौजूदा ज्ञान से यह ज्ञात होना कुछ असभव सा है कि वातस्फीति एक स्वतन्त्र बीमारी है अथवा गलघोटू रोग का ही एक विशिष्ट क्षतस्थल है।

कारण—गायों में फुफ्फुस वातस्फीति के बारे में निम्नलिखित प्रश्न उठाए जा सकते हैं क्या वातस्फीति एक रोगजनक क्षतस्थल है जो फेफडा पर सक्रामक तथा विषैले पदार्थों की क्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न होता है अथवा यह कष्टप्रद श्वास प्रश्वास का बलकृत प्रभाव है ? सोस विषाक्तता, निमोनिया, थकान तथा आपरेशन के अन्तगत होने वाली मृत्यु में गायों में अत्यधिक फुफ्फुस वातस्फीति पाई जाती है। जब कभी कष्टप्रद श्वास प्रश्वास के बाद रोगी की मृत्यु होती है तो शव-परीक्षण करने पर यह रोग पाया जाता है और कभी कभी कष्टप्रद श्वास प्रश्वास की अनुपस्थिति में भी यह देखने को मिलता है। प्रत्यक्ष रूप से गोपशु के फेफडे में वल्कुन नियन्त्रता होती है जो टिसुओं के फटने का कारण बनती है।

गोपशुओं की ज्वरयुक्त स्थानिकमारी जिससे फेफडो की अत्यधिक वातस्फीति होकर, 24 से 48 घंटे में रोगी को दम घुटकर मृत्यु हो जाती है, सम्भवत गलघोटू रोग का

एक सामान्य संक्रमण है। फेफड़ों का क्षतिग्रस्त होना एक शोथ-युक्त क्षतस्थल न होकर कष्टप्रद श्वास-प्रश्वास से उत्पन्न एक बलकृत अवस्था है। वैसे तो अन्य संक्रामक रोगों में कष्टप्रद श्वास प्रश्वास तथा काफी अंश में वातस्फीति होती है, किंतु यही केवल एक ऐसी बीमारी है जिसमें दम घुटकर रोगी की मृत्यु हो जाती है।
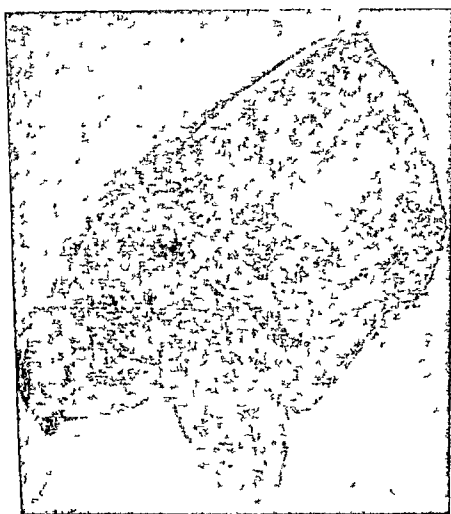
चित्र—68 फेफड़े की वातस्फीति, जैसी कि कभी-कभी "गलघोटू रोग" में पाई जाती है।

लेगर के अनुभव में, फुफ्फुस वातस्फीति से दम घुटकर पशु को मौत के घाट उतारने वाली दूसरी केवल अभिघातज-जालिकाशोथ नाम की ही बीमारी है जिसमें किसी बाह्य पदार्थ के छिद जाने से फेफड़े में चोट लग जाती है।

किसी अज्ञात कारणवश होने वाली फुफ्फुस वातस्फीति को कभी-कभी प्रकाश करने वाली दूसरी किस्म [illegible] मौसम में [illegible] हरे चरागाह पर भेजने से देखी जाती है। इसका [illegible] में स्ट्रालोव[12] द्वारा वर्णन किया गया है जहाँ आस्ट्रेलिया के [illegible] को छोड़ कर मोटे होने वाले पशुओं के लिए एक प्रकार की [illegible] तथा [illegible] की अधिक [illegible] पाये जाते हैं, वह बीमारी ही इन [illegible] जाती है। जैसा कि [illegible] में [illegible] किया है इसका प्रकार [illegible] जा रहा है [illegible] कुछ [illegible]

में यह पशुओं के ह्रास का सबसे बड़ा कारण है। सन् 1949 में, फाक्स तथा राबर्ट्स[4] ने बताया कि पशु-चिकित्सा विज्ञान महा-विद्यालय, न्यूयार्क के चल-चिकित्सालय में पिछले सात वर्षों में गो-पशुओं में उग्र फुफ्फुस वातस्फीति के 37 रोगी देखे गए जिनमें से 46 प्रतिशत की मृत्यु हो गई। माटेना से सन् 1943 में बटलर[5] ने यह रिपोर्ट किया कि इससे सात वर्ष पूर्व इस बीमारी को उस प्रदेश में कभी भी नहीं देखा गया।

लक्षण—कुछ प्राप्त वर्णनों के अनुसार चरागाह पर चरने वाले पशुओं में फुफ्फुस वातस्फीति के प्रकार के ही इसके लक्षण होते हैं। पश्चिम के मैदानी भागों में इसका प्रकोप पतझड़ की ऋतु में उस समय होता हुआ मालूम पड़ता है जब गर्मियों के पहाड़ी मैदानों से हटाने के बाद पशु तराई के हरे-भरे चरागाहों पर पहुँचते हैं। कभी-कभी यह बीमारी गरमी के मौसम में पशुशाला में बाँध कर खिलाई जाने वाली गायों में भी प्रकोप करती है। अधिकांश पशु, आने के बाद पहले सप्ताह में बीमार होते देखे जाते हैं जिनमें नर तथा मादा दोनों ही इसका शिकार होते हैं और यह 3 से 8 वर्ष के पशुओं में अधिक प्रकोप करती है। अत्यधिक श्वासकष्ट के साथ सिर फैलाकर तथा जीभ बाहर निकाल कर कराहने की आवाज करना इसके प्रमुख लक्षण हैं। पशु को भूख नहीं लगती तथा कब्ज रहता है अथवा अँतड़ी से सामान्य गोबर निकलता है। नाड़ी-गति तेज तथा कमजोर, तापक्रम सामान्य एवं दूध उत्पादन में कमी आ जाती है। पशु खड़ा रहता तथा चलना नहीं चाहता है। 6 घंटे से लेकर दो दिनों में रोगी की मृत्यु हो सकती है। दो से तीन दिन बाद गर्दन के निचले भाग अथवा कटि के क्षेत्र में सूजन आ सकती है। यदि तत्काल चिकित्सा न हो पाई तो अधिकांश रोगी पशुओं की मृत्यु हो जाती है।

चिकित्सा—ऐट्रोपीन, ऐड्रीनलीन तथा पेनिसिलिन के साथ पायरीबेंजामीन का प्रयोग करना इसके लिए स्वीकृत चिकित्सा है।[4] स्वीकृत मात्रा में ऐंटिहिस्टामिन पदार्थों का तथा 10 से 15 घ० सें० ऐड्रीनलीन घोल का प्रत्येक आठ घंटे के अवकाश पर पशु के पिछले धड़ में इन्जेक्शन भी दिया जा सकता है। ऐसा करने पर 48 में से केवल दो पशुओं को लाभ न हुआ।

बचाव के लिए; प्रारम्भ में पहले दो या तीन दिन तक केवल सूखी घास खिलाइए। इसके बाद जब पशुओं को हरे-भरे चरागाह पर भेजना हो तो पहले दिन केवल एक घंटे चराकर धीरे-धीरे समय बढ़ाते जाइए। कनाडा में पशुओं को सरसों और बदगोभी के साथ सूखी घास तथा भूसा मिलाकर खिलाया जाता है।

संदर्भ

1. Moore, E. V., and McAuliff, J. L., Hemorrhagic septicemia in Cortland County, Cornell Veterinarian, 1922, 12, 289.
2. Schofield, F. W., Acute pulmonary emphysema of cattle, J.A.V.M.A., 1948, 112, 254; Ann. Rpt. Ontario Vet. Col., 1924; 40; J.A.V.M.A., 1941, 99, 26.
3. Fuechsel, R. E., Pulmonary emphysema in cattle, Norden News, Nov-Dec. 1952, p. 7.

4. Fox, F. H., and Roberts, S. J., Bovine respiratory conditions of undetermined origin, Cornell Vet., 1949, 39, 258.
5. Farquharson, J., and Butler, W. J., Discussion on Pulmonary emphysema, 47th Report U.S. Livestock San. Asso., 1943, p. 224.

भेड़ों का गलघोटू रोग

(भेड़ जातीय पास्चुरेल्लोसिस)

मिसिस्पी घाटी के पश्चिमी मैदानों में भेड़ों में गलघोटू रोग खूब होता है। न्युसम[1] लिखते हैं कि भेड़ों में यह बीमारी एक "वास्तविक अस्तित्व है और उनके अनुभव से यह कोई बहुत ही कम होने वाला रोग नहीं है।" गो-पशुओं की भाँति भेड़ों में भी यह रोग यात्रा से उत्पन्न थकान के बाद प्रकोप करता है और प्रायः यह निमोनियाँ के प्रकार में हुआ करता है।

लक्षण—पहले मरने वाली भेड़ों में केवल सामान्य संक्रमण के लक्षण तथा शव-परीक्षण करने पर सीरस तथा श्लेष्मल झिल्लियों पर रक्तस्राव दिखाई पड़ता है। यदि पशु बच जाते है तो उनमें निमोनिया की अवस्था का विकास हो जाता है। सभी रोगी पशु सुस्त दिखाई देते हैं तथा उनकी आँखों और नथुनों से स्राव बहता है। आंत्रिक लक्षण अधिक स्पष्ट नहीं दिखाई देते। तापक्रम प्रायः सामान्य रहता है। बैक्टीरिओलोजिकल निदान के बारे में न्युसम का कहना है कि एक वर्ष से ऊपर के अवलोकन इस विचार से सहमत नहीं है कि विभिन्न बीमारियों से मरने वाली भेड़ों से पास्चुरेल्ला ओवीसेप्टिका नियमित रूप से प्राप्त किया जा सकता है।

बचाव तथा चिकित्सा—भेड़ों में इस रोग के बचाव तथा चिकित्सा के लिए गो-पशुओं वाले सिद्धान्त ही लागू होते हैं।

संदर्भ

1. Newsom, I. E. and Cross, F., An outbreak of hemorrhagic septicemia in sheep, J.A.V.M.A., 1923, 62, 759. Colorado Bull. 448, 1938 ; Sheep Diseases, Newson, Williams & Wilkins, 1952.

सूकरों का गलघोटू रोग

(सूकर-प्लेग, सूकर जातीय पास्चुरेल्लोसिस)

परिभाषा—बीमारी के प्रति कम सहन शक्ति वाले सूकरों की यह किर्णीर्ण तथा स्थानिकमारी के रूप में प्रकोप करने वाली निमोनिया है। अपने प्रकोप में यह उग्र अथवा दीर्घकालिक हो सकती है तथा फेफड़ों में मौजूद परिगलित फुंसियों के द्वारा इसे पहचाना जाता है।

कारण—पास्चुरेल्ला सुइसेप्टिका (Past. suiseptica) नामक जीवाणु इसका प्रमुख कारण है। सन् 1905 तक, सूकर कालरा वाइरस के अन्वेषण के पूर्व, सूकर प्लेग को सुअरों का एक विनाशकारी विशिष्ट रोग माना जाता था। इस अन्वेषण से यह

पता चला कि सूकर-प्लेग की भाँति होने वाला रोग वास्तव में सूकर-कालरा था। आजकल भी यूनाइटेड स्टेट्स में सुअरों की कुछ विनाशकारी महामारियों का कारण पास्चुरेल्ला सुइसेप्टिका ही बताया जाता है। कनाडा के कुछ भागों में जहाँ सूकर-कालरा बहुत ही कम होता है, सूकर-प्लेग निमोनिया की महामारी रूप प्रकोप करती कही जाती है।

विकृत शरीर रचना—रोग की अवधि पर आधारित होकर इसमें निमोनिया की विभिन्न अवस्थाएँ देखने को मिलती हैं। फेफड़ों में पीप तथा हृदखण्डों का विभाजन, खण्डान्तर सयोजी ऊतक (interlobular connective tissue) में सीरस अन्तःसरण तथा परिगलित फुंसियाँ आदि परिवर्तन पाए जा सकते हैं।

लक्षण—रोग का उद्भवनकाल 4 दिन से लेकर एक सप्ताह तक का होता है। चारे में अरुचि तथा तेज बुखार के साथ इस बीमारी का एकाएक आक्रमण होता है। आँखों से स्राव बह सकता है। पशु में खाँसने तथा श्वास-कष्ट के लक्षण प्रकट हो सकते है। कुछ दिनों बाद पशु की हालत में काफी गिरावट देखी जाती है। इसका सामान्य कोर्स तथा फलानुमान श्लेष्म-निमोनिया की भाँति होकर, वातावरण, संक्रमण के आवेग, तथा पशु की आयु एवं बीमारी के प्रति सहनशक्ति के अनुसार भिन्न होता है।

निदान—रोग का निदान निमोनिया का बैक्टीरियल कारण ज्ञात करने पर आधारित होता है। पास्चुरेल्ला सुइसेप्टिका युक्त रोग-ग्रसित टिसू का जलीय निलम्बन (aqueous suspensions) जब खरगोशों को अधस्त्वक् इन्जेक्शन द्वारा दिया जाता है तो यह कुछ ही घंटों में उन्हें प्राण-घातक सिद्ध होता है। मरे हुए खरगोश के हृदय के रक्त से स्लाइड बनाकर तथा कार्बोलफुक्सिन से रँग कर माइक्रास्कोप में देखने पर द्विध्रुवी जीवाणु दिखाई देते हैं। सीरस झिल्ली का रक्तस्राव, निमोनिया, यकृत तथा प्लीहा का अपकर्षण एवं रक्तस्राव, तथा लिम्फग्रंथियों का सूजकर लाल हो जाना आदि लक्षणों के साथ सुअरों में प्राणघातक महामारी के प्रकोप गलघोटू की अपेक्षाकृत सूकर-कालरा के सूचक हैं। यदि ब्रोंकाई के पदार्थ का परीक्षण न किया गया तो सूकर-प्लेग अथवा निमोनिया के अन्य प्रकारों की फेफड़ा-कृमि रोग से भ्रान्ति हो सकती है।

चिकित्सा—गंदी परिस्थितियों को ठीक कीजिए। सूकर-प्लेग जब किसी अन्य रोग के परिणामस्वरूप होता है तो इसे उसी रोग का क्षतस्थल माना जाता है तथा प्राथमिक बीमारी को ठीक करने पर यह स्वतः ठीक हो जाता है। सूकर-प्लेग के बचाव तथा चिकित्सा में वैक्सीन तथा अन्य जैविक-उत्पादों का प्रयोग कुछ सदेहात्मक सा जान पड़ता है। कुछ लोगों के विचार से रोग के उग्र प्रकार में ऐग्रेसिन का प्रयोग बीमारी को ठीक कर देता है, किन्तु यह कार्य ऐग्रेसिन अथवा वैक्सीन की ज्ञात प्रारंभिक क्रिया से विपरीत मालूम पड़ता है।

रक्तस्रावी रक्तचित्तिता

(Purpura Hemorrhagica)

(रुधिरांक ज्वर; विकृत चित्तिता)

परिभाषा—एन्फ्लूएंजा, निमोनिया तथा घाव सदूषण से लगने वाली बीमारियों के फलस्वरूप होने वाली घोड़ों की यह एक बिना छूत से फैल नेवाली बीमारी है। यह रक्त-

परिवहन-तंत्र की बीमारी है जो त्वचा, मांस-पेशियों, श्लेष्मल-झिल्लियों, सवम्यूकोजा तथा आन्तरिक अंगों की सूजन एवं रक्तस्राव द्वारा पहचानी जाती है।

कारण—इसका आवश्यक कारण अज्ञात है। वसंत की ऋतु में इसका विकीर्ण रूप से प्रकोप होता है। वैसे तो अधिकतर यह अन्य बीमारियों के परिणाम-स्वरूप ही हुआ करती है, किन्तु यह किसी विशिष्ट प्राइमरी रोग की अनुपस्थिति में भी प्रकोप कर सकती है। यह ऐसे घोड़ों के यूथों में अधिक देखी जाती है जिनमें नए पशु आते-जाते रहते हैं। घाव से छूत लगने वाली बीमारियों के संबंध में यह उन पशुओं में अधिक प्रकोप करती है जिनमें पीव भलीभाँति न निकल पाकर घाव सड़ता रहता है। इस प्रकार यह स्कंध-प्रदेश में नासूर होने तथा दंतकोष्ठिका पर्यस्थिशोथ (alveolar periostitis) में साइनसों की वातस्फीति के साथ होती है। छुतैली बीमारियों की भाँति यह पहले वर्ष खूब तेजी से प्राणघातक रूप में प्रकोप करके दूसरे वर्ष में हल्केपन में तथा कभी-कभी होते देखी जाती है। रक्तस्रवित शोथ इस बात का अनुमान कराती है कि बहते हुए रक्त में कोई विषैला रासायनिक पदार्थ रक्त-नलिकाओं की लचक कम कर देता है तथा उन्हें छिद्रयुक्त बना देता है। कुछ लोगों का ऐसा विश्वास है कि यह रोग एनाफिलैक्सिस के प्रकार का है और मारेक द्वारा किए गए प्रयोग इस तथ्य का समर्थन भी करते हैं। एक रोग-ग्रसित घोड़े में थोड़े-थोड़े अवकाश पर स्ट्रेप्टोकोकाइ का घोल बार-बार प्रविष्ट किया गया तथा एक माह बाद उसे दूसरा इन्जेक्शन दिया गया। सात दिन बाद घोड़े को प्राणघातक रक्तस्राव हो
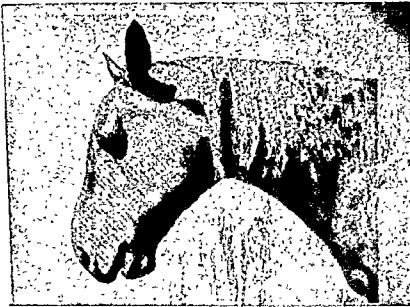
चित्र—69. रक्तस्रावी-रक्तचित्तिता से पीड़ित अश्व।

गया। क्रैमर[1] ने एक ऐसे रोगी का वर्णन किया जिसमें टेटनस ऐंटिटाक्सिन का दूसरा इन्जेक्शन देने के 20 दिन बाद यह रोग विकसित हुआ। यह तथ्य, कि इसका तात्कालिक कारण रक्त-केशिकाओं के अंतःकलीय कोशिकाओं (endothelial cells) का विनाश होना है फ्लेक्सनर के इस प्रदर्शन से समर्थित है कि सर्प-विष में एक पदार्थ हेमोरेजिन (hemorrhagin) होता है जो रक्तकेशिकाओं के अंतःकलीय कोशिकाओं को शीघ्र नष्ट

कर देता है। स्टीवेंस[3] (Stevens) के अनुसार यह सभव मालूम देता है कि परप्यूरा उत्पन्न करने वाले तथा रक्त-नलिकाओ में अपक्षयिव क्षतस्थल पैदा करने वाले कुछ अन्य विष भी हो सकते है। स्टीवेंस का यह भी कहना है कि रक्त में रुधिर-बिम्बाणुओं (blood platelets) का अभाव, परप्यूरा से पीडित मनुष्यो में रक्तस्राव के लिये उत्तरदायी है। विटमैन और कॉन्टिस[3] (Wittmann and Contis) ने भी यह प्रदर्शित किया कि घोडो के रक्तस्राव में रुधिर बिम्बाणु नष्ट होते है। यद्यपि यह रक्तस्राव किसी अकेले कारण अथवा किसी प्रकार के बैक्टीरिया की क्रिया पर आधारित नही होता, फिर भी, यह उन बीमारियो के साथ अधिक देखने को मिलता है जिनमें स्ट्रेप्टोकोकाइ अधिक क्रियाशील होते हैं।

विकृत शरीर रचना—मरे हुए पशु के सिर, पैरो तथा शरीर के निचले भागो पर विस्तृत सूजन होती है, यद्यपि कुछ रोगियों में मृत्यु के थोडा पहले यह बिल्कुल ही कम हो जाती है। त्वचा के नीचे सूजन होने पर पीलिया तथा रक्तस्रविन शोथ मिलती है जो अन्तर्पेशी तन्तुओ तक फैली रहती है। मासपेशियो में रक्तस्राव, परिगलन अथवा फोडा का निर्माण हो सकता है। जब इस बीमारी के साथ पैरा पर अत्यधिक सूजन होती है तो सधियो के क्षेत्र में टिसुओ की काफी क्षति हो सकती है। उदर में चीरा लगाने पर उदर झिल्ली के नीचे रक्तस्राव पाया जाता है। शरीर की बडी गुहाओ में लाल रग का सीरम अथवा बिना जमा हुआ रक्त मौजूद हो सकता है। ओमेण्टम तथा मेसेण्टरी में पीलिया तथा रक्तस्राव मिलता है। अँतडी में शोथ उत्पन्न हो जाने पर वह रक्तवर्ण तथा मोटी दिखाई देती है। उसकी श्लेष्मल सतह पर रक्तस्राव होता है तथा उस पर परिगलित क्षेत्र मौजूद हो सकते हैं। छोटी अँतडी का कष्टप्रद अन्तरयान (intussusception) पाया जा सकता है। सूजी हुई प्लीहा, तथा यकृत एव गुर्दों के कैप्सूल के नीचे प्राय रक्तस्राव मिलता है। वक्षीय-गुहा में प्लूरा के टिसुओ, हृदयावरण तथा फेफडो में सूजन तथा परिगलित फुसियाँ हो सकती है। श्वासनाल के ऊपरी भाग में फेरिक्स, स्वरयत्र तथा नाक की श्लेष्मल झिल्ली में सूजन मिलती है।

लक्षण—नाक की श्लेष्मल झिल्ली में रक्तस्राव होकर बीमारी का प्रारम्भ होता है। इसके कुछ ही देर बाद नथुनो, पैरों अथवा शरीर की निचली सतह पर सूजन आ जाती है। प्रारम्भ में थोडी सूजन आकर वह पैरो की त्वचाशोथ से मिलती जुलती है। पैरो की सूजन में ऊपरी किनारा इस प्रकार दिखाइ देता है जैसे कि रस्सी द्वारा कस कर बाँधने पर निशान पड जाता है। छूने पर यह ठडी तथा ददरहित होती है और दबाने पर उसमें गड्ढा पड जाता है। या तो इसका कई दिनो में धीरे धीरे विकास होता है अथवा चौबीस घटे में खूब तेज प्रकोप हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में पैर सामान्य से तीन गुना मोटा हो जाता है। त्वचा तनी हुई तथा चमकदार दिखाई देती है और छूने पर सख्त मालूम देती है। इसमें से सीरम बह सकता है तथा कुछ दिनो बाद सधियों के क्षेत्र में उचले हुए खुरट से दिखाई देते है। सूजन के कारण पशु को चलने में कठिनाई होती है। सिर पर शोथ के शीघ्र विकास के कारण नासिका-भाग अथवा कण्ठनाल में रुकावट उत्पन्न होकर पशु को साँस लेने में कष्ट होता है और अन्त में फेफडों में प्राणघातक शोथ

का विकास हो जाता है। कुछ रोगियों में उदर, मुतान, पीठ, ग्रीवा तथा कंधे आदि शरीर के किसी भी भाग पर पित्ती की भाँति सूजन आ जाती है, किन्तु अपेक्षाकृत सूजन का यह प्रकार कुछ कम होता है। आँखें; सूजन तथा रक्तस्राव का प्रमुख स्थान हो सकती है। आँख की श्लेष्मल झिल्लियाँ शोथपूर्ण तथा रक्तयुक्त दिखाई देती है। पलक बिल्कुल बंद हो जाते हैं। पलकों को शक्ति लगाकर खोलने पर लाल द्रव अथवा रक्त निकलता है। मुंह तथा नाक की श्लेष्मल-झिल्लियों में भी रक्तस्राव हो सकता है और कभी-कभी यह झिल्लियाँ पीली पड़ जाती है। नाक से बहुधा स्राव गिरता है जो रक्तस्राव तथा परिगलन के बढ़ जाने पर बदबूदार हो जाता है। पेट में दर्द होना अँतड़ी में रक्तस्राव, सूजन, परिगलन तथा आंत्रार्ति का सूचक है। रोग का स्थान एकाएक शरीर में एक ओर से दूसरी ओर को हो सकता है और ऐसा होना एक अशुभ लक्षण है। लेखक के एक रोगी में पैरों पर की सूजन रात भर में गायब हो गई। इसके बाद तुरन्त ही शूल वेदना तथा अँतड़ी में उग्र सूजन होकर आंत्रार्ति से रोगी की शीघ्र ही मृत्यु हो गई।

प्राइमरी रोग की प्रकृति तथा आवेग के अनुसार ही इसके सामान्य लक्षण होते हैं। रोग के हल्के प्रकोप में पशु भलीभाँति खाता-पीता रहता है। नाक तथा होठों की सूजन बढ़ जाने पर खाने में कठिनाई होकर पशु की हालत गिरने लगती है। तापक्रम नार्मल अथवा कुछ बढ़ा हुआ मिलता है। कुछ समय के लिए यह अधिक होकर बाद में102 अथवा 103° फारेनहाइट हो जाता है। इसके विपरीत नाड़ी-गति बढ़कर 50 से 80 अथवा 100 हो जाती है।

विटमैन तथा कॉन्टिस[3] द्वारा रक्त-परीक्षण का वर्णन किया गया है। प्रारम्भ में त्वचा तथा श्लेष्मल झिल्ली की उग्र रक्तसंकुलित शोथ के कारण लाल रक्त-कणों की संख्या में धीरे-धीरे कमी होती जाती है। लाल रक्त-कणों की संख्या 3 दसलक्ष तक कम हो सकती है तथा इसी के अनुसार हीमोग्लोबिन भी कम हो जाता है। बाद में इसमें पुनरोत्पादक परिवर्तन होकर पॉलिक्रोमैटोफिल (Polychromatophils) तथा रुधिर बिम्बाणुओं की संख्या बढ़ जाती है। रोग के आक्रमण के समय श्वेताणु तथा न्युट्रोफिल बढ़ जाते है। श्वेताणुओं की संख्या नार्मल 8000 की अपेक्षाकृत बढ़कर 40,000 तक हो सकती है। लिम्फोसाइट कम हो जाते हैं तथा इयोसीनोफिल गायब हो जाते है। जब इस अंश तक परिवर्तन हो जाता है तो रोगी की मृत्यु हो जाती है।

बीमारी की औसत अवधि लगभग दो सप्ताह की है, किन्तु यह कम अथवा अधिक भी हो सकती है। हालत में सुधार होने के बाद यदि रोगी को काफी दिनों तक आराम दिए बिना ही काम पर लगा दिया जाता है तो बीमारी का पुनः आक्रमण होकर वही लक्षण फिर प्रकट हो जाते है।

त्वचा की फूली हुई सूजन के साथ नाक की श्लेष्मल-झिल्ली में रक्तस्राव की उपस्थिति पर इस रोग का निदान आधारित होता है। ऐंथ्राक्स, एन्फ्लूएंजा, लसीकायनी शोथ (lymphangitis) तथा दुर्दम्य शोथ आदि छुतैली बीमारियों से इसकी संभ्रान्ति हो सकती है। इन रोगियों में अधिक तापक्रम, तात्कालिक इतिहास अथवा प्राइमरी रोग

की प्रकृति विभेदी-निदान करने के लिए काफी हैं। अन्य रोगों की अपेक्षाकृत इस बीमारी में सूजन अधिकतर एक समान होती है और उनके किनारे अधिक स्पष्ट होते हैं।

फलानुमान—रोग के अनिश्चित कोर्स तथा विभिन्न जटिलताओं के कारण इसका फलानुमान सदैव अनिश्चित सा रहता है। इससे लगभग 40 से 50 प्रतिशत मृत्युदर अनुमान की जाती है, किन्तु संभवतः यह अनुमान काफी कम है। यद्यपि इस बीमारी के लिए अनेक औषधियाँ स्वीकृत की जा चुकी हैं, फिर भी, यह सिद्ध करना शेष है कि इसका कोर्स इनमें से किसी के भी द्वारा भलीभाँति प्रभावित होता है। इस रोग के निम्नलिखित प्रतिकूल लक्षण हैं शीघ्र विकसित होने वाली अत्यधिक सूजन, त्वचा अथवा श्लेष्मल झिल्लियों का परिगलन, स्वर यंत्र, फेरिंक्स अथवा अँतड़ी की भयंकर शोथ; नथुनों में रुकावट, तेज बुखार, हृदय की कमजोरी, चारे में अरुचि, मूत्र में रक्त एवं ऐल्बूमिन आना, शूल वेदना, निमोनिया और अत्यधिक निराशा।

चिकित्सा—परोक्ष रूप से रक्त चढ़ाना इसका सर्वोत्तम इलाज है। यह रक्त-बिम्बाणुओं की कमी को पूरा करता है जिन पर रक्त का जमना आधारित होता है। एक से दो दिन के अवकाश पर इसको काफी अधिक मात्रा में (2000 से 3000 घ० सें०) अंत शिरा इन्जेक्शन द्वारा देना चाहिए। इसे 50 घ० सें० की लुअर प्रकार की (Luer type) पिचकारी द्वारा घोड़े की शिरा से निकाल कर रोगी को दिया जाना काफी सरल है। इन्जेक्शन को दुबारा देने में यदि कोई कठिनाई हो तो एक ही बार में 4000 घ० सें० तक रक्त दिया जा सकता है। साइट्रेटयुक्त (4.5 ग्रेन सोडियम साइट्रेट प्रत्येक 100 घ० सें० रक्त के लिए) रक्त का भी प्रयोग किया जा सकता है। रक्त चढ़ाकर इस रोग की चिकित्सा करने से बड़े अच्छे परिणाम प्राप्त हुए हैं, किन्तु इसका अधिक प्रयोग नहीं किया गया है। रक्त चढ़ाने का विशेष महत्व शरीर में रक्त-बिम्बाणुओं की पूर्ति करना है। इस रोग की चिकित्सा में रक्त चढ़ाने के मूल्यांकन की रिपोर्टों में मतभेद है। रक्तस्राव से पीड़ित फौजी घोड़ों की चिकित्सा में सीमोर तथा स्टीवेंशन[4] (Seymour and Stevenson) ने रक्त चढ़ाने तथा कैल्शियम ग्लूकोनेट दोनों का ही असंतोषजनक पाया। उन्होंने 120 घ० सें० डिस्टिल्ड वाटर में 10 घ० सें० फार्मलीन मिलाकर अंत शिरा इन्जेक्शन द्वारा देना अधिक अच्छा समझा। रोग के भयंकर प्रकोप में रोगी को पहले दिन इसकी दो खुराकें देकर बाद में जब तक ठीक न हो जाए नित्य एक खुराक देनी चाहिए। फार्मलीन द्वारा चिकित्सा किए गए 79 रोगियों में से 52 प्रतिशत पशु ठीक हो गए। ऐंटिस्ट्रेप्टोकाक्किक सीरम के परीक्षित मूल्यांकन के कारण, पूर्ण रक्त से भी समान लाभ की ही आशा की जा सकती है। घोड़ों में इस रोग की चिकित्सा के लिए ऐंटि गलघोटू सीरम के प्रयोग की भी राय दी गई है।

बर्लिन के फ्रोनर[5], डेन्मार्क के जेंसन तथा अन्य लोगों द्वारा ऐंटिस्ट्रेप्टोकाक्किक सीरम को इस रोग की चिकित्सा के लिए बड़ा उपयोगी बताया गया है। उन्होंने इसके प्रयोग से मृत्यु दर में कम से कम एक तिहाई की कमी होती बताई। एक से दो दिन के अवकाश पर 200 से 250 घ० सें० की मात्रा में इसे अंत शिरा इन्जेक्शन द्वारा दिया जाता है। एक घोड़े को अधिकतम यह 800 घ० सें० तक दिया जा चुका है। फ्रोनर

के अनुसार इसके प्रयोग से श्लेष्मल झिल्ली पर पड़े हुए रक्त के धब्बे 12 से 24 घंटे में कम होने लगते, तापक्रम गिर जाता, श्वेताणु-वृद्धि ठीक हो जाती तथा त्वचा के परिगलित क्षतस्थल शीघ्र भरना शुरू हो जाते हैं। प्राइमरी रोग यदि स्ट्रेप्टोकोकाइ के कारण हो तो ऐंटिस्ट्रेप्टोकाक्किक सीरम का प्रयोग विशेष लाभप्रद सिद्ध होता है।

अन्य उपचार—कुछ ऐसी बीमारियाँ हैं जिनके प्रति अनेक विभिन्न उपचार रोगहर किया करते हैं। इनमें से आधुनिकतम ऐक्रीफ्लेविन तथा रिवानोल हैं। ऐक्रीफ्लेविन को अंतः शिरा इन्जेक्शन द्वारा (75 घ० सें० 1:500 जलीय घोल) प्रत्येक चौबीस घंटे के अवकाश पर दिया जाता है। विटमैन[3] की रिपोर्ट के अनुसार इस रोग से पीड़ित 20 रोगियों में रिवानोल के प्रयोग का कोई भी असर न हुआ।

आन्तरिक रक्तस्राव को कट्रोल करने का गुण मौजूद होने के कारण जिलैटिन का भी इस रोग में प्रयोग किया गया है। स्किमडिट[6] ने 18 पशुओं पर इसकी सफलता रिपोर्ट की। लाक्षणिक चिकित्सा तथा 1 : 1000 (10 घ० सें०) अनुपात की ऐड्रिनलीन के साथ, अधस्त्वक् इंजेक्शन द्वारा इसका 200 घ० सें० जीवाणु रहित घोल (मर्क) दिया जाता है। साधारण जिलैटिन तैयार करने में खर्च होने वाले समय तथा जीवाणु रहित पदार्थ तैयार करने में अधिक खर्चा होने के कारण, इसका प्रयोग सीमित सा ही रहा है। फ्रोनर लिखते हैं कि वीना चिकित्सालय में इसे 11 रोगियों पर प्रयोग किया गया किन्तु कोई प्रत्यक्ष प्रभाव न देखा गया।

जैसा कि न्युपोर्ट न्यूज़ (Newport News) में रॉगर्स[10] द्वारा वर्णन किया गया है "अश्वीय एन्फ्लूएंजा के साथ होने वाले परप्यूरा की 1 : 1000 अनुपात का 10 घ० सें० ऐड्रिनलीन घोल का अधस्त्वक् इंजेक्शन देकर रोगी की चिकित्सा की गई। इस औषधि ने कभी-कभी बड़े चमत्कारी परिणाम दिखलाए। ऐसे परिणाम विशेषकर उस समय देखने को मिले जब सिर इतना सूजा हुआ था कि घोड़ा कुछ खा-पी न सकता था और कुछ रोगियों में सांस लेने में भी कठिनाई थी। ऐड्रिनलीन के प्रयोग से 24 घंटे में सूजन कम हो गई और सूजन के कम होने के साथ-साथ नथुनों से रक्तस्राव के दाने भी गायब हो गए। हमने फार्मलीन, आयोडायड तथा धिराधान का भी प्रयोग किया किन्तु, इनसे कभी-कभी ही रोगी पशु ठीक होते देखे गए।"

इस वाद पर आधारित होकर कि यह बीमारी एक प्रकार की एनाफिलैक्सिस है और कैल्शियम ऐंटिएनाफिलैक्टिक पदार्थ की भाँति कार्य करता है, लास[7] ने इस रोग की चिकित्सा में कैल्शियम का प्रयोग किया। उनकी रिपोर्ट के अनुसार दो वर्ष में 27 रोगियों की चिकित्सा की गई जिनमें से 26 पशु ठीक हो गए। उग्र प्रकोप में अंतः शिरा इन्जेक्शन द्वारा कैल्शियम ग्लूकोनेट (150–200 घ० सें० 7.5 प्रतिशत घोल) रोजाना तथा हल्के प्रकोप में हर दूसरे दिन दिया गया। पीने वाले पानी के साथ नित्य एक चाय के चम्मच भर लूगाल घोल मिलाकर पिलाया गया।

कुछ लोग फार्मलीन का अंतःशिरा इन्जेक्शन देने की राय देते हैं। इमरी[8] का

कहना है कि उन्होंने फार्मलीन के 2 से 3 प्रतिशत जलीय घोल को अंत शिरा इन्जेक्शन द्वारा 2 से 3 ड्राम (8 से 12 घ० सें०) की मात्रा में 20 वर्षों तक प्रयोग किया।

स्टील[9] (Steel) ने इसकी चिकित्सा में पोटाशियम डाइक्रोमेट को बड़ा उपयोगी बताया है। 10 से 25 ग्रेन (0 65 से 1 62 ग्राम) दवा को 250 घ० सें० जीवाणु रहित पानी में घोलकर अंत शिरा इन्जेक्शन द्वारा दिया जाता है। 48 घंटे के अवकाश पर इन्जेक्शन को दोहराना चाहिए।

सामान्य चिकित्सा—पशु को अच्छा बिछौना दीजिए तथा सूजन को दबने से बचाने के लिए उसका मुहेड़ा निकाल दीजिए। पशु को रोज की भाँति ही चारा-पानी दीजिए और यदि निगलने में कठिनाई हो तो उसे हरा चारा तथा मुलायम पदार्थ खाने को दीजिए। यदि सिर की सूजन बढ़ रही हो जिससे कि साँस रुक जाने का भय हो तो कठनाल में श्वासनली छेदक-नलिका (tracheotomy tube) घुसेड़ दीजिए। औषधि के रूप में स्ट्रिकनीन सल्फेट का प्रयोग गुणकारी है। रक्त-परिभ्रमण की निर्बलता को 4 ग्राम कैफीन तथा सोडियम बेंजोएट का अधस्त्वक इन्जेक्शन देकर ठीक किया जा सकता है। उत्तेजक पदार्थों के प्रयोग को छोड़कर, लाक्षणिक चिकित्सा कभी-कभी ही की जाती है। रेचक पदार्थों का प्रयोग हानिकारक है। जहाँ तक सम्भव हो रोगी पशु को मुँह द्वारा दवा नहीं पिलानी चाहिए क्योंकि इससे श्वासनली में अवांछित पदार्थ पहुँचकर पशु को निमोनिया होने का भय रहता है। रोगी को चटनी के रूप में, अथवा थोड़ी मात्रा में उत्तेजक घोल के रूप में औषधि देना अधिक अच्छा है।

संदर्भ

1 Kramer, E , Ein Fall von Morbus maculosus nach zweimaliger Infusion von Tetanus Antitoxin, Tier Rundschau, 1929 35, 619
2 Stevens A A., The Practice of Medicine, ed , 2 Philadelphia, Saunders, 1928
3 Wittmann, Fr , and Contis, G , Ein Beitrag Zur Druse und zum Petechial fieber des Pferdes, Berl Tier Wchnschr, 1921, 40, 609
4 Seymour, R T , and Stevenson, D S , Equine respiratory diseases in newly purchased animals, U S Army Veterinary Bull , 1942, 36, 81
5. Frohner E , and Zwick, W , Lehrbuch der spez Path u. Ther , ed 8, vol 2 Part 1, 1919, p 425
6 Schmidt, J Die spezifische Therapie des Morbus maculosus des Pferdes, Arch f wiss u prakt Tierheilkunde Suppl ement 1918, 44, 286
7 Laas, A , Beitrag zur Behandlung der Morbus maculosus equorum mit Calcium und Jod Archiv f Tierheilkunde, 1933 34, 67, 335
8 Imrie, D , Observations on purpura haemorrhagica and its treatment by formalin given intravenously, Vet Record, 1926, 6, 942
9 Steel, E R , Observations on the treatment of purpura hemorrhagica, J A.V M A., 1923, 62, 766
10 Rogers, A C , The treatment of equine influenza, Vet Med , 1947, 42, 363

अन्य पशुओं में रक्तस्रावी रक्तचित्तिता रोग

(Purpura Hemorrhagica in Other Animals)

यूरोपीय साहित्य में ढोरों में परप्यूरा रोग के अनेक वर्णन मिलते हैं तथा सूकरों में भी यह रोग प्रकोप करते बताया गया है। इंगलैंड अथवा यूनाइटेड स्टेट्स में इस बीमारी का कोई प्रत्यक्ष रिकार्ड उपलब्ध नहीं है। युवा पशुओं में यह रोग प्रमुख तौर पर होते देखा गया है। वे चारे में अरुचि, जुगाली न फेरना; तथा त्वचा, कंजंक्टाइवा, नाक और मुंह की श्लेष्मल-झिल्ली से रक्तस्राव होने के लक्षण प्रदर्शित करते हैं। उदरतली तथा पैरों पर शोथपूर्ण सूजन आ सकती है। पशु का तापक्रम नार्मल रहता है अथवा उसे तेज बुखार हो सकता है। एक से तीन सप्ताह में या तो पशु ठीक हो जाता है अथवा उसकी मृत्यु हो जाती है। शव-परीक्षण करने पर पाए जाने वाले परिवर्तन रोग-ग्रसित घोड़ों की भांति ही होते हैं।

लेखक ने अपने चल-चिकित्सालय में एक ढोर में यह रोग देखा। रोगी एक युवा शक्तिशाली गाय थी जो जून के माह में चरागाह पर बीमार पाई गई। उसकी त्वचा तथा अनेक स्थानों की श्लेष्मल झिल्लियों से रक्त-मिश्रित स्राव निकलता था। देखने के लगभग एक घंटे बाद 9 बजे प्रातः गाय मर गई। शव-परीक्षण करने पर उसके शरीर में अत्यधिक रक्तस्राव मिला। त्वचा के नीचे, मास पेशियों तथा सभी अन्दरूनी अंगों में अत्यधिक रक्तस्राव था। प्रयोगशाला में ले जाए गए पदार्थ का परीक्षण बिल्कुल ही ऋणात्मक निकला।

मेमनों का अतिसार

(Lamb Dysentery)

नवजात मेमनों की यह एक अति प्राणघातक छुतैली बीमारी है जो 1 से 6 दिन की आयु वाले मेमनों को हुआ करती है। दस्त आना, अवसन्नता तथा कुछ घंटों से लेकर तीन या चार दिन में रोगी की मृत्यु हो जाना आदि लक्षणों से इसे पहचाना जाता है। छोटी अँतड़ी की उग्र आंत्रार्ति इसका प्रमुख क्षतस्थल है। यूनाइटेड स्टेट्स में गन्दा वातावरण इसका प्रमुख कारण माना जाता है। इंगलैंड में इसे क्लास्ट्रीडियम वेल्चाइ का संक्रमण माना जाता है।

कारण—इंगलैंड तथा स्काटलैंड में इस बीमारी से प्रतिवर्ष भारी क्षति हुआ करती है जहाँ सन् 1920 से यह धीरे-धीरे विकास करती आई है। मांटेना तथा भेंड़ पालने वाले अन्य पश्चिमी प्रान्तों में इसे लगभग सन् 1927 से प्रकोप करते बताया गया है तथा रोग-ग्रसित यूथों में यह भीषण क्षति पहुँचाती है। सन् 1930 में इसका न्यूयार्क के इथाका क्षेत्र में निदान किया गया। जहाँ कहीं भेंड़-पालन का धंधा अधिक विकसित होता है वहाँ यह बीमारी देखी जाती है और धीरे-धीरे यह अपने वेग तथा महत्त्व में बढ़ती जा रही है। इंगलैंड में डालिंग और उनके साथियों [1,2,3,4] ने इस बीमारी पर विस्तृत रिपोर्टें प्रस्तुत की हैं। वेल्श[5] के विचार से माटेना में यह रोग इंगलैंड के मेमनों की अतिसार की भांति नहीं होता।

जीवाणु विज्ञान—सन् 1921 में गेजर तथा डालिंग[4] ने बताया कि यह बीमारी कोलाइ प्रकार के एक जीवाणु द्वारा उत्पन्न होती है जो अँतडी द्वारा शरीर में प्रवेश पाता है। सन् 1923 में उन्होंने बताया कि इस रोग का कारण क्लास्ट्रीडियम वेल्चाइ प्रकार का एनारोब तथा बैक्टीरियम कोलाइ (B coli) प्रकार का बैसिलस है जो एक साथ क्रिया करते हैं। सन् 1926 में डालिंग ने अकेले क्ला० वेल्चाइ को खिलाकर तथा क्ला० वेल्चाइ के जीवित संवर्धन का अंत शिरा इंजेक्शन देकर इस रोग को उत्पन्न किया। 36 से 48 घंटे में रोगी पशु की मृत्यु हो गई। इन प्रयोगों से यह स्पष्ट है कि इंगलैंड में इस रोग का प्रमुख कारण क्ला० वेल्चाइ (Cl welchii) है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि मादा भेंड इसका प्रमुख वाहक है तथा भूमि में इसका संक्रमण होकर कम से कम एक वर्ष तक जीवाणु छुपा रह सकता है। मेमने इसकी छूत को रोग-ग्रसित पशुओं अथवा संदूषित मिट्टी के सम्पर्क में आने या ऐसी भेंडों के थन चाटने से ग्रहण करते हैं जो मिट्टी अथवा, योनि या मलद्वार की जीवाणुयुक्त गंदगी से दूषित हो चुके होते हैं। प्राकृतिक रूप से बीमार हुए मेमनों की अँतडी से प्राप्त पदार्थ खिलाकर, स्वस्थ मेमनों में यह रोग उत्पन्न किया जा सकता है। नाभि-संक्रमण से इसकी छूत नहीं फैलती।

वेल्स[5] के अनुसार माटेना में इस बीमारी का कारण कोई विशिष्ट जीवाणु न पाया जा सका। फिर भी, माटेना के टनीक्लिफ[6] ने यह बताया कि क्ला० वेल्चाइ नामक जीवाणु नार्मल युवा मेमनों की अँतडी में निवास किया करता है। उन्होंने यह भी बताया कि क्ला० वेल्चाइ की अति विषैली प्रजाति माटेना में मेमनों की उग्र अतिसार का कारण थी। मार्श तथा टनीक्लिफ[8] ने एशेरिकिया की विभिन्न प्रकारों का संवर्धन खिलाकर प्राणघातक अतिसार उत्पन्न किया। यद्यपि इसकी बहुत सी प्रजातियाँ अतिसार उत्पन्न करने में असफल रहीं फिर भी नार्मल मेमनों की कई स्ट्रेन रोगजनक थीं। उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि "प्रतिकूल वातावरण में बैक्टीरियम की कुछ प्रजातियाँ, विशेषकर एशेरिकिया, जो आमतौर पर अँतडी में मौजूद रहती हैं, इस बीमारी को उत्पन्न कर सकती है।" इथाका में जाँच किए गए कुछ रोगियों में, बैक्टीरियम कोलाइ पाया गया।

रोग ग्रसित भेंडें—स्वस्थ पशुओं में यह बीमारी रोग ग्रसित भेडों से प्रवेश पाती है। ऐसी भेंडों से पैदा हुए बच्चे सबसे पहले बीमार पडते हैं। रोग ग्रसित भेडो का गोबर खिलाकर स्वस्थ पशुओं में रोग का संचार किया जा सकता है, किन्तु इनका दूध पिलाने से बीमारी उत्पन्न नहीं होती। यह भी देखा गया कि उन मेमनों में यह रोग शीघ्र होता है जो ऐसी भेंड के सम्पर्क में आते हैं जिसका अपना बच्चा पेचिश से मर चुका हो। गर्भकाल में इसकी छूत लगना सिद्ध न हो सका यद्यपि अनेक भेड-पालक यह विश्वास करते हैं कि बच्चे रोगग्रसित ही पैदा होते हैं।

रहन-सहन—इगलैंड से प्राप्त रिपोर्टों से यह स्पष्ट है कि फार्म पर सबसे पहले यह रोग बाडों में तथा ब्याने की ऋतु के अन्त में ही प्रकट होता है। आने वाले वर्षों में ब्याने की ऋतु प्रारम्भ होने के दो सप्ताह बाद यह बीमारी खुले बाडों में रहने वाली भेडों में देखी जाती है। वेल्स[5] के अनुसार माटेना में प्रत्यक्ष रूप से इसकी छूत बाडों में लगती है तथा अप्रैल और मई के बीच चरागाहों पर पैदा होने वाले मेमनों में यह बीमारी बहुत कम

प्रकोप करती है। उनके विचार से ठंडा तथा नम मौसम इसका प्रमुख कारक है तथा बाड़े की सफाई का इसके बाद महत्त्व है। मेमनों को छूना तथा उन्हें अधिक खिलाना इस रोग को आमन्त्रित करने वाले कारक हैं। मार्श और टनीक्लिफ[8] ने यह निष्कर्ष निकाला कि "नवजात मेमनों का अतिसार, जैसा कि यह उत्तरी पश्चिमी यूनाइटेड स्टेट्स में होता है, किसी विशिष्ट रोगोत्पादक जीवाणु से उत्पादित एक विशिष्ट रोग न होकर, अनेक कारणों के परिणामस्वरूप होता है। वे कारण निम्नलिखित हैं : कम तापक्रम के कारण मेमनों का शक्तिहीन हो जाना अथवा उनमें बीमारी के प्रति सहन शक्ति का अभाव होना, बाड़ों का गन्दा होना जिसके परिणामस्वरूप पैदा होने के तत्काल बाद मेमने अनेक जीवाणु निगल जाते है, तथा वातावरण में अँतड़ी के उन जीवाणुओं की उपस्थिति जो कुछ-कुछ रोगोत्पादक होते हैं। उनके विचार से यह अवस्था अपने लक्षणों तथा रोग-विज्ञान में इंगलैंड में होने वाले मेमनों के अतिसार से भिन्न है और इसका जीवाणु-विज्ञान भी भिन्न ही है।

विकृत शरीर रचना—बछड़ों के दस्त रोग की भाँति इसके क्षतस्थल कम अथवा अधिक हो सकते हैं। पेरिटोनियल-द्रव नार्मल अथवा गदा हो सकता है। गुर्दे, यकृत तथा प्लीहा या तो सामान्य रहते है अथवा इनका रंग हल्का पड़ जाता है। अति उग्र रोगियों में पूरी अँतड़ी रक्तवर्ण हो सकती है। जैसा कि ग्रेट-ब्रिटेन में वर्णन किया गया है, छोटी तथा बड़ी दोनों ही अँतड़ियों में 1/4 इंच व्यास के परिगलित क्षेत्र तथा इसके चौतरफा रक्तस्रवित किनारे मिलते हैं। इनको पेरिटोनियल सतह से देखा जा सकता है। निकट की लिम्फ ग्रंथियाँ बढ़ तथा सूज जाती हैं। वक्षीय-अंग नार्मल रहते हैं। इथाका के निकट शव-परीक्षित मेमनों के फेफड़ों में आमाशय की श्लेष्मल झिल्ली पर तथा यकृत के कैप्सूल के नीचे अत्यधिक रक्तस्राव मिला। आमतौर पर शव-परीक्षण करने पर प्राप्त होने वाले परिवर्तन देखने में बछड़ों के रक्तपूतिता रोग की भाँति ही होते हैं।

लक्षण—जब रोग पहले-पहल प्रकट होता है तो यह 48 घंटे से कम आयु वाले नवजात मेमनों में देखा जाता है किन्तु, बाद के वर्षों में दो सप्ताह तक की आयु के बच्चे भी इससे आक्रांत हो सकते हैं। इंगलैंड में भेड़ों की ब्याने की ऋतु के अंत में यह रोग अधिक होते बताया गया है। ऐसा सम्भवतः भेड़ों को बाड़ों में लाने के कारण होता है। यूनाइटेड स्टेट्स में जब भेड़ें खुले मैदानों पर ब्याती हैं तो ब्याने की ऋतु में यह रोग कम प्रकोप करता है। रोग के प्रकोप के समय रोग-ग्रसित मेमने बिना अतिसार के ही शीघ्र मरने लग सकते हैं। वे सुबह को मरे हुए पाए जाते हैं। रोग के कम उग्र प्रकोप में रोगी सुस्त हो जाता है, मृत्यु के कुछ पहले उसे दस्त आने लगते हैं तथा गोबर का रंग बादामी अथवा लाल हो जाता है। उन फार्मों पर जहाँ रोग स्थायी हो चुका होता है इसकी अवधि कुछ लम्बी होकर दो या तीन दिन की हो सकती है। कुछ रोगी अच्छे भी हो जाते हैं।

चिकित्सा—इथाका के निकट भेड़ों के यूथ में मेमना-अतिसार के एक प्रकोप में सफाई की अनेक सावधानियों के बाद भी प्रत्येक नवजात मेमने की जन्म के बाद 36 घंटे के अन्दर मृत्यु हो गई। शव-परीक्षित मेमनों से तैयार किए गए संवर्धनों में कोलन जीवाणु मिला। बछड़ों में श्वेत-दस्त रोग को कन्ट्रोल करने के सिद्धान्त अपनाने के प्रयास में खिलाने के निम्नलिखित प्रोग्राम से पूर्ण सफलता मिली : नवजात मेमना मां के साथ 12 घंटे तक

रहा। तत्पश्चात् इसे 8 से 12 घटे तक भूखा रखा गया। इसके बाद इसे तीन घटे के अवकाश पर तीन बार खाने के साथ अण्डे की सफेदी दी गई। तत्पश्चात् प्रति तीन घटे के अवकाश पर दो बार खाने के साथ माँ के आधे औंस दूध में अण्डे की सफेदी मिलाकर दी गई। फिर, मेमनो को माँ के साथ छोड दिया गया। सल्फार्थलीडीन का प्रयोग भी गुणकारी सिद्ध हुआ।

कंट्रोल—मेमनों के अतिसार के इलाज तथा रोकथाम के लिए शा तथा मथ[9] (Shaw and Muth) ने अम्लरागी दूध का प्रयोग बडा गुणकारी बताया। माँ का दूध पिलाने से पूर्व मेमनों को एक औंस अम्लरागी दूध दिया गया और यदि उन्हें दस्त आने लगे तो जब तक वे ठीक न हुए अथवा उनकी मृत्यु न हो गई तब तक उन्हें दो औंस की मात्रा में ऐसा दूध मिला। चूँकि रोग-ग्रसित पशुओं के मल से स्वस्थ पशुओं को इस बीमारी की छूत लग सकती है, अत इस रोग से पीडित प्रत्येक रोगी, विशेषकर प्रारम्भ में बीमार पडने वालो को, अवश्य ही नष्ट कर देना चाहिए। मार्श तथा टनीक्लिफ[6] के अवलोकनो के अनुसार जन्म के बाद एक से सात घटे के बीच ऐक्रीफ्लेविन (0 5 ग्रेन) को कैप्सूल में रखकर दे देने से इस रोग से होने वाली क्षति कम हो जाती है। लगभग आठ घटे बाद औषधि की दूसरी खूराक दी जा सकती है।

टीका लगाना—डालिंग और उनके साथियो[4] ने मेमनों के अतिसार के प्रति अतः गर्भाशयी प्रतिरक्षण की बडी ही सफल विधि का वर्णन किया है। इस कार्य के लिए उन्होंने कला० वेल्वाइ से तैयार की हुई एक टाक्सिन-ऐंटिटाक्सिन का प्रयोग किया। इसकी एक मात्रा भेडो को गाभिन होने के पूर्व अक्टूबर अथवा नवम्बर में इन्जेक्शन द्वारा दी गई तथा दूसरी खूराक का मार्च अथवा अप्रैल में ब्याने से लगभग दो सप्ताह पूर्व इन्जेक्शन दिया गया। क्ला० वेल्चाइ ("टाक्सिनयुक्त पूर्ण सवर्धन") से प्राप्त वैक्सीन से भी इतने ही अच्छे परिणाम प्राप्त हुए। उन्होने यह भी बताया कि "मेमना अतिसार एनारोब की ऐंटिटाक्सिन लगभग 99 प्रतिशत मेमनों में इस रोग को होने से रोकती है।" इसे मेमनो को 12 घटे की आयु से पूर्व ही दे देना चाहिए।

यूथ को मैदान अथवा ऐसे बाडो में रखने से जिसमें पहले कभी भेडें न रही हो, मेमना-अतिसार के प्रकोप से बचाया जा सकता है। भेड-बाडो को एक वर्ष तक खाली पडा रहने देने की आवश्यकता पड सकती है। इस अवधि में बाडो के आँगन को जोत देना चाहिए तथा बाडो की खूब सफाई करके उनको खुला छोड देना चाहिए जिससे उनमें अधिकतम धूप लग सके। ब्याने वाले कमरो को साफ तथा सूखा रखना चाहिए। भेड के अयन और जाँघो के बाल काट कर उन्हें भी साफ रखना चाहिए। बीमार पशुओं की देखभाल के लिए अलग परिचारक रखना चाहिए। बछडा-दस्त-रोग ऐंटिसीरम (anti calf scour serum) का प्रयोग भी मेमना-अतिसार रोग में काफी लाभप्रद बताया गया है।

संदर्भ

1. Gaiger, S. H , and Dalling, T , Bacillary dysentery in lambs, J. Comp Path and Ther., 1921, 34, 79.

2 Gaiger, S. H., and Dalling, T., Bacillary dysentery in lambs: A note on some recent research into the etiology and source of infection, J. Comp. Path. and Ther., 1923, 36, 120.
3. Dalling, T., Lamb dysentery: An account of some experimental field work in 1925 and 1926, J. Comp. Path. and Ther., 1926, 39, 148.
4. Dalling, T., Mason, J. H., and Gordon, W. S., Lamb dysentery prophylaxis in 1928, Vet. Journal, 1928, 84, 640.
5. Welch, H., Thirty-sixth An. Rep., Montana Agr. Exp. Sta. 1928-29, p. 79.
6. Tunnicliff, E.A., Bacterial flora of the intestinal tube of normal young lambs, J.A.V.M.A., 1932, 80, 615.
7. Tunnicliff, E. A., A strain of Clostridium welchii producing fatal dysentery in lambs, J. Inf. Dis., 1933, 52, 407.
8. Marsh, H., and Tunnicliff, E. A., Dysentery of New-Born Lambs, Mont. Agr. Exp. Sta. Bull. 361, 1938.
Shaw, J. N., and Muth, O. H., The use of acidophilus milk in the treatment of dysentery in young animals, J.A.V.M.A., 1937, 90, 171.

सुअरों में संचरणशील जठरान्त्रशोथ

(Transmissible Gastroenteritis in Pigs)

परिभाषा—सन् 1846 में ड्वायल और हचिंग्स[1] ने सुअरों के बच्चों में होने वाली प्राणघातक अतिसार को संचरणशील जठर-आंत्रशोथ कहा जिसे इण्डियाना में उन्होंने एक वाइरस के कारण होते पाया। सन् 1952 में बे[4] (Bay) ने लिखा कि "यद्यपि कुछ सुअर-उत्पादक क्षेत्रों में इसे सामुदायिक रोग रिपोर्ट किया गया है किन्तु, इंडियाना में इस बीमारी को 1951 तक इस रूप में नहीं देखा गया।"

कारण—सन् 1940 में बेबी-सूकर रोग अथवा त्रै-दिन सूकर रोग के बारे में अनेक लेख प्राप्त हुए जिनमें अल्पशर्करा रुधिरता, उग्र रक्तमूत्रता, आहार-नाल विषाक्तता, दूषित आहार तथा उल्टा एनाफिलैक्टिक धक्का आदि, इस रोग के कारण बताए गए। ये रिपोर्टें यह प्रदर्शित करती हैं कि नवजात सुअरों में दस्त रोग खूब होता है और यह एक से अधिक कारणों के फलस्वरूप उत्पन्न होता है। यद्यपि कि ड्वायल और उनके साथी "संचरणशील जठर-आंत्र-शोथ" को सुअरों के बच्चों की मृत्यु का प्रमुख कारण नहीं मानते, फिर भी, प्रत्यक्ष रूप से यही बीमारी अधिक प्रकोप करती है जिसका विशिष्ट कारण भी ज्ञात किया जा चुका है। व्यक्तिगत यूथों में रोग-ग्रसित बच्चों की 90 से 100 प्रतिशत तक मृत्यु होते देखी गई है। वह बीमारी एक ही सुअरी के बच्चों में ब्याने पर एक बार अथवा बार-बार हो सकती है तथा उम्र के बढ़ने के साथ इसकी ग्रहणशीलता कम होती जाती है। कुछ यूथों में यह बीमारी बड़े सुअर तथा सुअरियों में भी प्रकोप करते देखी गई तथा फार्म पर जब सुअरों के बच्चे न थे तब इस रोग को युवा सुअरों में भी होते देखा गया। रोग के उग्र प्रकोप के समय पैदा होने वाले सभी बच्चे मर सकते हैं।

स्वस्थ पशु को बीमार के संपर्क में रखकर, बीमार पशु के आमाशय तथा अँतड़ी से प्राप्त पिसे हुए टिसु खिलाकर, तथा टिसुओं एवं अँतड़ी के पदार्थ से प्राप्त बर्कफेल्ड एन

छनित (berkefeld N filtrates) पिलाकर 1 से 5 दिन की आयु वाले सुअरों के बच्चों में प्रयोगात्मक रूप से[1,2] संचरणशील जठर-आंत्र-शोथ का उत्पन्न किया गया। छनित के संपर्क में आने के बाद रोग का उद्भवनकाल कम होकर 18 घंटे रह गया तथा हिमशीत वाइरस (frozen virus) 70-80 दिन तक गतिवान रहा।

विकृत शरीर रचना—आमाशय शोथ, आंतों में तनाव का अभाव, तथा सफेद, पीले अथवा हरे रंग के अति पतले दस्त होना इसके शव-परीक्षण पर प्राप्त होने वाले प्रमुख परिवर्तन हैं। गुर्दों का अपक्षय हो सकता है। आमाशय तथा अंतड़ी में सदैव सूजन नहीं मिलती।

लक्षण—रोग ग्रसित पशु भूखे, कमजोर तथा कै करते हुए प्रतीत होते हैं। सफेद अथवा पीलापन लिए हरे बदबूदार पतले दस्त आना इसका प्रमुख लक्षण है। प्रायः तीन दिन से लेकर एक सप्ताह में रोगी की मृत्यु हो जाती है। सुअरियों में दस्त, कै तथा चारे में अरुचि के लक्षण प्रकट होकर तीन से दस दिन में वे ठीक हो जाती हैं।

कंट्रोल—जैसा कि बे[4] द्वारा रिपोर्ट किया गया है, एक फार्म पर सफाई की सभी सावधानियों के बाद भी मार्च के महीने में 40-60 सुअरियों के ब्याने से प्राप्त 100 बच्चों की मृत्यु हो गई। इनके लिए अलग परिचारक रखे गए, बाड़ों की खूब सफाई की गई तथा व्यक्तिगत रहने का स्थान देकर देख-रेख के लिए अलग-अलग परिचारक रखे गए थे। अंत में जितनी सुअरियाँ अप्रैल में ब्याने को थीं उन्हें बेच दिया गया, जच्चा घरों को खूब सफाई करके उन्हें खाली कर दिया गया तथा मई और जून में पैदा होने वाले बच्चों को इसकी छूत से बचाया गया। छोटे यूथों में जहाँ व्यक्तिगत कंट्रोल संभव हो, बीमार पशु को अलग कर देना लाभदायक सिद्ध होता है। जहाँ तक संभव हो सुअरों के बच्चों को तथा ब्याने वाली सुअरियों को बड़े क्षेत्र में फैलाकर दूर-दूर रखना चाहिए जिससे यदि किसी बच्चे में बीमारी हो भी जाती है तो वह अन्य पशुओं में न फैलने पावे। बीमारी की छूत फैलने के बाद यदि काफी सुअरियाँ ब्याने को रह गई हों तो अधिकांश पशुओं को बेचकर यूथ से निकाल देना चाहिए। ऐसा करने से 4 से 8 सप्ताह तक फार्म पर सुअरियों का ब्याना रुक जाने से बीमारी की रोक-थाम हो जाती है। यह प्रयोग उन यूथों के लिए और भी अच्छा है जिनमें वर्ष भर बच्चे होते रहते हैं।

इस बीमारी की कोई भी प्रभावकारी चिकित्सा नहीं है।

संदर्भ

1. Doyle, L P and Hutchings, L M, A transmissible gastroenteritis in pigs, J A.V M A., 1946, 108, 257
2. Bay, W W, Hutchings, L M, Doyle, L P, and Bunnell, Doris E, Transmissible gastroenteritis in baby pigs, J A.V M A., 1949, 115, 245
3. Bay, W W, Doyle, L P, and Hutchings, L M, The pathology and symptomatology of transmissible gastroenteritis Am J Vet Res, 1951, 12, 215
4. Bay, W. W, Transmissible gastroenteritis in swine—field herd studies, J A.V.M.A., 1952, 120, 283

सूकर अतिसार

(Pig Scours)

सूकर अतिसार जठर-आन्त्र-शोथ के साथ होने वाली कोलिबैसिलसरुग्णता (colibacillosis) है। यद्यपि इससे अनेक सुअरो की मृत्यु हुआ करती है, फिर भी, इस विषय पर कम साहित्य उपलब्ध है। किन्ले[1] के अनुसार यह दूध पीने वाले सुअर के बच्चों में खूब प्रकोप करने वाला एक प्राणघातक रोग है और यूनाइटेड स्टेट्स में प्रतिवर्ष इससे 7 से 10 दसलक्ष सुअरों का ह्रास हुआ करता है। मध्य-पश्चिम के सुअर-पालन क्षेत्रो में तथा उन फार्मों पर जहाँ गंदे वातावरण में अनेक सुअरियाँ रखी जाती है, यह रोग खूब प्रकोप करता है, किन्तु सफाई-युक्त स्थानों में भी यह कम नही फैलता। कर्नकैम्प[2] के अनुसार गरमी तथा पतझड की अपेक्षा यह जाडो तथा वसत के प्रारम्भ में ब्याने वाली सुअरियो के बच्चों में अधिक देखा जाता है। उनका यह भी विश्वास है कि इस बीमारी के फैलाने में खूराक की अपेक्षा वातावरण का प्रभाव अधिक महत्वपूर्ण है। गरमी से ठंड में एकाएक परिवर्तन होने से यह बीमारी अधिक फैलती है। शरीर की सतह पर ठंड लगने से आहार-नाल में कुछ क्रियात्मक परिवर्तन होने लगते है। एकाएक तापक्रम में परिवर्तन होने के बाद 7 से 10 घंटे में 75 प्रतिशत नवजात बच्चो में दस्तों का प्रकोप देखा गया।

हर्ट[3] के विचार से तीन से पाँच दिन की आयु पर मरने वाले सुअरो के बच्चो में नै-दिन रोग मा के आहार में गडबडी के कारण होता है, क्योकि इसके लक्षण दूध में निश्चित रूप से रक्त-विषाक्तता प्रकट करते है। पारस्परिक सम्पर्क, टीका लगाकर तथा आमाशय एव अँतडी का पदार्थ खिलाकर किए गए खाद्य-परीक्षणो द्वारा उनके एक पशु से दूसरे पशु में बीमारी फैलाने के प्रयास विफल रहे।

सन् 1948 में व्हाइटहेयर आदि[4] (Whitehair et al) ने विस्कासिन के एक यूथ में सूकर-दस्त-रोग का एक प्रकोप होते बताया जो घोटे हुए आन्तराग (viscera) को खिलाकर उत्पन्न किया गया था। सल्फाथायाजोल द्वारा सफल चिकित्सा को छोडकर, इसका वर्णन सचरणशील जठर-आन्त्र-शोथ से काफी मिलता-जुलता है। इसका ठनित सचरण नहीं रिपोर्ट किया गया और सक्रमण भी नही पाया गया।

कैलीफोर्निया में जूठन खिलाए गए सुअरो में उत्पन्न उग्र आनार्ति पर मक्ब्राइड[5] ने एक रिपोर्ट प्रस्तुत करके यह निष्कर्ष निकाला कि "बैक्टीरिआलोजिकल तथा हिस्टॉलोजिकल-परीक्षणों से यह पता चला कि यह बीमारी रोगजनक बैक्टीरियम कोलाइ की उपस्थिति के कारण थी। आनार्ति से पीडित प्रत्येक रोगी से प्राप्त सवर्धन में बैक्टीरियम कोलाइ मिला। मेसेण्टरिक ग्रथियो, गुर्दों, प्लीहा तथा हृदय के रक्त से प्राप्त सवर्धन में अक्सर इस जीवाणु की उपस्थिति देखी गई। इससे यह पता चला कि बैक्टीरियम कोलाइ केवल अँतडी में ही न रहकर शरीर के अन्य भागो में भी निवास किया करता है।" विभिन्न स्थानो के सूकरो तथा एक ही यूथ के भिन्न सुअरों की जाँच करने पर सक्रमण के गुण, वितरण तथा आवेग में विभिन्नता मिलती है, किन्तु आमतौर पर कोलन जीवाणु अधिक सख्या में पाए जाते हैं। अन्य जातियों के युवा पशुओं में दस्त-रोग की भाँति इस कथन पर सदेह व्यक्त किया गया

है कि बैक्टीरीयम कोलाइ सूकर-दस्त-रोग का प्राइमरी सक्रमण है। किन्तु जब तक अन्य प्रमाण उपलब्ध न हो इस प्रकार के सक्रमण को भुलाया नही जा सकता।

शव परीक्षण करने पर पशु की लाश जीर्ण शीर्ण मिलती है। मृत पशु का पिछला धड गोबर से सना हुआ मिलता है तथा अँतडी का पदार्थ पतला एव बदबूदार होता है। छोटी अँतडी में उग्र आन्त्राति मिलती है तथा विभिन्न अशो की फुफ्फुसार्ति, निमानिया तथा उदर झिल्ली शोथ मौजूद हो सकती है।

सूकर-दस्त-रोग की चिकित्सा में सल्फा-ओषधियो तथा प्रति-जैविक पदार्थों के प्रयोग ने अन्य सब औषधियो को हटा दिया है। 1 ग्रेन प्रति पौण्ड शरीर भार की दर पर सल्फाथैलीडीन का दैनिक प्रयोग लाभदायक है (ग्रैहम)।[6] ह्वाइटहेयर आदि[4] द्वारा वर्णन किए गए प्रकोप में 1 ग्राम प्रति 10 पौण्ड शरीर भार की दर पर सल्फाथायाजोल का प्रयोग अति गुणकारी सिद्ध हुआ जबकि सल्फाग्वानीडीन कुछ कम प्रभावकारी तथा पैनिसलिन बेकार रही।

फद्रोल—कैलीफोर्निया में कूडा-करकट खाने वाले यूथा में, सुअरियो को पूरक-आहार देने तथा ब्याने के पूर्व उन्हें चरागाह पर रखने से हालत में काफी सुधार देखा गया। जिन सुअरियो को 5 दिन या अधिक समय तक ब्याने वाले बाडो में अथवा एक साथ रखा गया उनके बच्चो का सदैव ही बेबी-सूकर रोग होकर ह्रास हुआ।[7] ब्याने के तत्काल पूर्व तथा बाद में पशु के आहार में एकाएक परिवर्तन नही करना चाहिए और जहाँ तक सभव हो सके उन्हें अधिक खाने से बचाना चाहिए। उनको रहने के लिए सूखे तथा गरम बाडे देना चाहिए। यदि उनमें बिजली से गरम होने वाले सुअर-सेनको (pig brooders) का प्रबंध हो तो और भी अच्छा है। इस बीमारी की रोकथाम में प्रतिजैविक पदार्थों का प्रयोग काफी गुणकारी सिद्ध हुआ है। कुन्हा[8] (1952) ने बताया कि आरोमाइसीन के प्रयोग से सुअरो के बच्चो को इस रोग से बचाया जा सकता है। ओ'रोक (1952) ने ब्याने के समय अथवा इसके थोडी देर बाद बैसिट्रेसिन का अधस्त्वक प्रयोग काफी महत्वपूर्ण बताया।

सदर्भ

1 Kinsley, A. T , Scour in pigs, Vet Med., 1928, 23, 444
2 Kernkamp, H C H , Gastroenteric disease in swine, J A V.M A., 1945, 106, 1 , Diseases of newborn and suckling pigs, Lederle Bull , May-June 1941, p 81
3 Hurt, L M , Report Los Angeles County Live Stock Dept , 1940 41, p. 41.
4 Whitehair, C K , et al , Gastroenteritis in pigs, Cornell Vet , 1948, 28, 33.
5 McBryde, C N , Acute enteritis in young pigs due to infection with colon group, J A.V M A., 1934, 84, 36
6 Graham, R , and associates, Studies on porcine enteritis—Sulfathalidine therapy in treatment of natural outbreaks, J.A.V M A., 1945, 106, 7
7 Hurt, L M , J A.V M A., 1948, 112, 123
8 Cunha, T J , Latest developments on vitamin B_{12}, APF, aureomycin, and related factors, for the pig Proceedings Book, Am. V Med Asso , 1950, p 65
9 O'Rouke, W. J , Experience with scouring pigs, Vet. Med , 1952, 47, 482.

बछेड़ों में पेचिस रोग

(Scours in Foals)

नवजात बछेडो की बीमारियो में से सबसे अधिक प्रकोप करने वाला रोग पूय-रक्त-पूतिता (pyosepticemia) है। किन्तु, अनेक बछेडो में कोलन-रक्तपूतिता अथवा आन्त्रार्ति बछडो की भाँति ही प्रकोप करती है। बछेडो का दस्त रोग पूय-रक्तपूतिता से सबद्ध नही है। इसका कारण बछडो के श्वेत-दस्त रोग की भाँति ही मालूम देता है। मल, भूसा, घास तथा अन्य अवाछित पदार्थ खाने से बछेडो को दस्त आने लग सकते है। चूँकि बछेडो में प्राय 9 दिन की आयु पर ही दस्त आने शुरू होते है, अत इसके कारण के बारे में विभिन्न स्पष्टीकरण दिए गए है। इनमें से एक के अनुसार नवें दिन घोडी को गाभिन करने के लिए हटाने के कारण उसका अयन दूध से भर जाता है जिससे बछेडा अनियमित रूप से अधिक दूध पी जाता है। विलियम्स[1] के अनुसार योनि-स्राव के खा जाने से बछेडो को दस्त आने लगते है। घोडियो में यह स्राव 9 वें दिन पहली बार गरम होने के कारण मात्रा में काफी अधिक होता है जो नीचे बहकर जांघो तथा अयन पर चिपक जाता है। बछेडे दूध पीने के समय इसे निगल जाते है।

दूसरे सप्ताह में रुक-रुक कर दस्त आने के रूप में इसके लक्षण प्रकट होते है। रोग ग्रसित अधिकाश बछेडे प्राय अच्छे हो जाते है। इनमें से कुछ की उग्र जठर-आन्त्र-शोथ होकर मृत्यु हो जाती है।

इलाज के लिए पहले रेंडी का तेल पिलाकर दिन में नित्य तीन बार 3 ड्राम (12 ग्राम) की मात्रा में विस्मथ सबनाइट्रेट देना चाहिए। अम्लरागी दूध अथवा पाचक मिश्रण का प्रयोग, जैसा कि पृष्ठ 171 पर बछडो के लिए वर्णन किया गया है, इस रोग में भी गुणकारी है। रोग के उग्र प्रकोप में नित्य 500 घ० सें० माँ के रक्त का अवस्त्वक् अथवा अत शिरा इन्जेक्शन देना लाभप्रद है। दूध पीते समय घोडी का दूध दुह लेने से बछेडे को अत्याहार से बचाया जा सकता है। यदि अवाछित पदार्थ खाने का भय हो तो बछेडे के मुंह में मुसीका लगाना चाहिए। सल्फाथैलीडीन भी दी जा सकती है।

सदर्भ

1. Williams, W. L , Genital diseases of horses, Cornell Vet , 1926, 16, 107.

बछेड़ों में नाभि-रोग

(Navel-ill in Foals)

(संधि-रोग, पूय रक्तपूतिता, नाभिशिरा शोथ)

परिभाषा—नवजात बच्चो का नाभि-रोग एक रक्तपूतित अवस्था है जिसे सधियो, टेंडन आवरणो, गुर्दो तथा शरीर के अन्य भागो में पीवयुक्त फुसियो की उपस्थिति द्वारा पहचाना जाता है। कुछ प्रकार के सक्रमणों में यह बीमारी स्थानीय न होकर एक रक्त-पूतिता की भाँति होती है। इनके कारण तथा क्षतस्थल निम्न होते है।

कारण—बछेडो में नाभि-रोग की छूत लगने के प्रमुख ढंग के बारे में दो विभिन्न मत है (अ) जन्म के बाद नाभि के द्वारा छूत लगना, (ब) अत गर्भाशयी सक्रमण। एम' फैडियन[1] और उनके साथियो के अनुसार अधिकतर इसकी छूत जन्म के बाद मिट्टी में मौजद रहने वाले स्ट्रेप्टोकोकाइ तथा अन्य जीवाणुआ के द्वारा फैलती है। ब्याने वाले बाडो की भलीभाँति सफाई न होना, इसकी छत फैलाने में सहायक है। विलियम्स[2] फिचर[3], डीमोक[4] तथा अश्व प्रजनक व्यवसाय के अन्य कुशल अनुभवी व्यक्तियो के विचार से इस रोग की छूत गर्भाशय के अन्दर ही लग जाती है। यह विचार इस कारण मान्य है कि ब्याने के समय खूब सफाई रखने के बाद भी इस बीमारी के प्रकोप को बचाया नही जा सकता, और दूसरे यह कि जन्म के समय ही बछेडे प्राय बीमार होत हैं। इसका और भी प्रमाण यह है कि जब घोडे तथा घोडिया को एक दूसरे स अलग रखकर प्रजनन से वचित रखा जाता है तो यह बीमारी नियँत्रति हो जाती है। गर्भपात हुए बच्चा से स्ट्रेप्टोकोकाइ का विशुद्ध सवर्धन प्राप्त किया जा सकता है जो उसी फार्म पर नाभि-रोग उत्पन्न करने वाले जीवाणुआ से मिलता जुलता है। फिचर के अवलोकन के अनुसार 'जिन घोडियो के बच्चे इस बीमारी से पीडित हुए अथवा मर गए, उनमें से एक तिहाई स भी कम घोडियाँ इस ब्याँत के बाद गाभिन हुई। इस तथ्य तथा व्यक्तिगत रोगिया के इतिहास से यह अनुमान होता है कि छूत ग्रसित गर्भाशय वाली घोडियो से रोगी बच्चे पैदा होते हैं।" जन्म से पूर्व छूत लगने की सभावना को लगभग सभी लोग मानते हैं।

जीवाणु विज्ञान—विभिन्न प्रकार के जीवाणु विशिष्ट क्षतस्थल उत्पन्न करते है। इनमें से स्ट्रेप्टोकोकाइ तथा बैक्टीरियम विस्कासम अश्व जातीय जीवाणु (Bact nephritidis equi, Bact equirulis) प्रमुख है। बैक्टीरियम कोलाइ को बहुधा नाभि रोग का कारण बताया जाता है किन्तु, प्रत्यक्ष रूप से इसका प्रमुख प्रभाव पहले चार दिनो में शीघ्र प्राणघातक सामान्य पूतिदोष (sepsis) उत्पन्न करना है। गुड और स्मिथ[5] ने बैक्टीरियम एबार्टिवो इक्वाइनस (Bact abortivo equinus) को उग्र पूतिदोष तथा नाभि रोग का आकस्मिक कारण बताया।

इनमें से प्रत्येक जीवाणु इस सक्रमण के विशिष्ट लक्षण तथा क्षतस्थल उत्पन्न कर सकता है बैक्टीरियम कोलाइ तथा स्ट्रेप्टोकोकाइ का मिश्रित सक्रमण भी हो सकता है। एक ही मा स पैदा विभिन्न बच्चों में उपस्थित जीवाणु एक साल से दूसरे वर्ष में भिन्न हो सकते है। विभिन्न कारणा में से सबसे अधिक यह रोग स्ट्रेप्टोकोकाइ जीवाणुओ के कारण होता है तथा ये दो से तीन सप्ताह की आयु के बडे बछेडा में कुछ कम उग्र अथवा दीर्घकालिक नाभि रोग उत्पन्न कर सकते हैं। विस्कासम का सक्रमण बछेडो को जन्म के कुछ ही घटा बाद लग जाता है। बछेडा प्राय पैदा होते ही बीमार होता है तथा इसे गुर्दों पर फोडा बनने अथवा विशिष्ट परिगलन के द्वारा पहचाना जाता है। कोलन सक्रमण में भी रोग शीघ्र ही प्रकट होकर पहले चार या पाँच दिन में रोगी की मृत्यु का कारण बनता है। वैसे तो अश्व जातीय बैक्टीरियम विस्कासम को यूरप में कम से कम 25 वर्षों से बछेडों में सधि रोग के कारण के रूप में पहचाना गया है, किन्तु इस देश में पहले पहल सन् 1925 में स्नाइडर[6] द्वारा इसका वर्णन किया गया। सन् 1928 में डिमोक[4] ने

बताया कि "इस समय इस जीवाणु के कारण यह रोग चरम सीमा पर पहुँच चुका है।" छोटी प्रयोगशाला पशुओं के लिए यह रोगजनक नहीं है। डीमोक[7] (1935) ने बताया कि केन्टुकी विश्वविद्यालय में जितने बछेड़ों का शव-परीक्षण तथा जीवाणु-परीक्षण किया गया उनमें से 40 प्रतिशत में यह जीवाणु मिला। गर्भित घोड़ी की आहारनाल में यह जीवाणु निवास करता विश्वास किया जाता है। सभी आयु के नर-मादा घोड़ों की गुटिका-गुहाओं (tonsillar crypts) से इसे आसानी से प्राप्त किया जा सकता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि यह जीवाणु माँ के रक्त द्वारा गर्भाशय में पहुँचकर भ्रूण पर आक्रमण करता है। डीमोक आदि[8] की रिपोर्ट के अनुसार 810 मरे हुए बछेड़ों में से 550 से प्राप्त सक्रमण में 25·8 प्रतिशत स्ट्रेप्टोकोकाइ, 21·48 प्रतिशत शिगेला एक्वाइरूलिस (shigella equirulis), 3·95%एशेरिकिया कोलाइ, 2 22%कोरिनेबैक्टीरियम एक्वाइ, 0·99%साल्मोनेल्ला टायफीमूरियम् (Salmonella Typhimurium), 0·74%साल्मोनेल्ला एवार्टिवो एक्वाइनस तथा 0·19% अश्वजातीय गर्भपात वाइरस (equine virus abortion) प्राप्त हुए। 32·1 प्रतिशत में कोई संक्रमण न मिला। 1074 गर्भपात हुए भ्रूणों में से 520 से प्राप्त संक्रमण के प्रकारों में 26·81 प्रतिशत अश्व-जातीय गर्भपात वाइरस, 17·03%स्ट्रेप्टोकोकाइ, 2·04%साल्मोनेल्ला एवार्टिवो एक्वाइनस, 0·93%एशेरिकिया कोलाइ, 0·74 प्रतिशत स्टैफिलोकोकाइ, 0·37 प्रतिशत शिगेला एक्वाइरूलिस, तथा 0·18 प्रतिशत कोरिनेबैक्टीरियम एक्वाइ का संक्रमण था। 51·5 प्रतिशत में कोई संक्रमण प्राप्त न हुआ।

डेन्मार्क से रिपोर्ट किए गए दीर्घकालिक प्राणघातक रोगियों में अधिकतर स्ट्रेप्टोकाक्कस का संक्रमण मौजूद मिला। इसकी दो किस्में पहचानी गईं: 'अ' घोड़ों की निमोनिया में पाये जाने वाले शट्ज (Schutz's) के स्ट्रेप्टोकोकस की भाँति थी तथा 'ब' गलग्रथिल रोग के स्ट्रेप्टोकोकस से मिलती-जुलती थी (मैगनूसन)[9]।

विकृत शरीर रचना—आमतौर पर संक्रमण के प्रकार के अनुसार ही इसके क्षतस्थल होते हैं, यद्यपि कि यह भिन्न भी हो सकते हैं।

स्ट्रेप्टोकाक्किक संक्रमण में, जहाँ इसका कोर्स दीर्घकालिक प्रतीत होता है, सपूय परिवर्तन दिखाई पड़ते हैं। एक या अधिक ग्रंथियों तथा टेंडन–आवरणों में पीव मिल सकता है। स्टेफिल संधि और पिछले घुटने के जोड़ इसके प्रमुख क्षतस्थल होते हैं। पशु की नाभि में सूजन आकर प्रायः फोड़ा बन जाता है जो नाभि-शिराओं अथवा यूरेकस तक बढ़कर बहुधा उदर-झिल्ली तक को संलग्न कर लेता है। प्लीहा, यकृत अथवा फेफड़ों में भी फोड़े पाए जा सकते हैं।

विस्कासम के सक्रमण में प्रायः नाभि तथा नाभि-नलिकाएँ संलग्न नहीं होतीं। मैंगनसन द्वारा देखे गए ऐसे संक्रमण में 73 रोगियों में से केवल 6 पशुओं की नाभि में पीवयुक्त शोथ मिली। स्टेफिल तथा घुटने के जोड़ प्रायः सूजे हुए मिलते हैं। कभी-कभी बिना स्थानिकीकरण के सामान्य पूतिदोष हो सकता है। संधियों तथा टेंडन-आवरणों में पाए जाने वाले पदार्थ का प्रकार काफी भिन्न होता है। प्रायः इनमें धूसर-पीला श्लेष्मा तथा पीवयुक्त स्राव भरा मिलता है। हड्डी अथवा कार्टिलेज में परिगलन नहीं होता। फेफड़े प्रायः

नार्मल रहते हैं। फुफ्फुस झिल्ली शोथ तथा हृदय झिल्लीशोथ बहुत ही कम होती हैं जबकि अंतड़ियाँ काफी रक्तवर्ण हो सकती हैं। सबसे प्रमुख परिवर्तन गुर्दों में हुआ करते हैं। ग्लामेरुलाई बढ जाती हैं तथा इनमें से अनेक फोडों में परिवर्तित हो जाती हैं। डीमोक की रिपोर्ट के अनुसार 24 से 48 घंटे में मरे 10 बछेड़ों में से केवल 1 में गुर्दे का परिगलन देखने को मिला, जबकि 72 से 96 घंटे में मरने वाले 7 बछेड़ों में से केवल 1 को छोड़कर, शेष सब में गुर्दों का परिगलन देखा गया।

गुर्दों, सभी संधियों तथा अन्य अंगों से प्राप्त विशुद्ध संवर्धन में विशिष्ट जीवाणु को देखा जा सकता है। घोड़ी के गर्भाशय से इसे प्राप्त करना बहुत ही कम संभव हो पाता है, यद्यपि यह देखा गया है कि शिगेला इक्वाइरूलिस से संक्रमणित बछेडों की माँ को गर्भाशय-शोथ हो सकती है।

बछेडों में कोलन संक्रमण के क्षतस्थलों पर उपलब्ध प्रचुर रिपोर्टें यह अनुमान कराती हैं कि इसका प्रमुख प्रभाव पाचन-तंत्र में निवास करके बछडों के श्वेत-दस्त रोग की भाँति उग्र रक्तपूतिता उत्पन्न कराना है। 236 शव-परीक्षणों पर आधारित मैगनूसन की रिपोर्ट में यह जीवाणु 27·1 प्रतिशत रोगियों की मृत्यु का कारण बताया गया। फिच[10] द्वारा तैयार किए गए मूल लेखों में अमिश्रित कोलन संक्रमण के चार रोगी वर्णन किए गए। संधि-संक्रमण केवल एक बार होते बताया गया। सामान्य रक्त-स्राव, उदर-झिल्ली-शोथ, हृदय-झिल्ली शोथ एवं आन्त्रार्ति इसमें पाए जाने वाले अन्य क्षतस्थल हैं।

लक्षण—वैसे तो संधि-रोग के तीन प्रमुख संक्रमणों में से प्रत्येक रोग की लाक्षणिक अवस्था उत्पन्न कर सकता है, किन्तु कुछ लाक्षणिक एवं शरीर रचनात्मक विशेषताएँ रोगोत्पादक जीवाणु की प्रगति के बारे में अनुमान कराती हैं।

बैक्टीरियम विस्कासम से आक्रमणित बछेडों के लक्षणों को डीमोक[1] ने निम्न प्रकार वर्गीकृत किया है

1· "वे जो जन्म के समय मरे अथवा जिन्होंने जन्म के समय अर्ध-मूर्छित अवस्था में बीमारी के विशिष्ट लक्षण प्रकट किए—यह प्रकार आमतौर पर 'सुप्त प्रकार' कहलाया।

2· "वे जिन्होंने जन्म के समय लक्षण तो प्रकट किए किन्तु, देखने में थोड़ा या बहुत क्रियाशील रहे।

3· "वे जो जन्म के समय देखने में सामान्य रहे, किन्तु बाद में 6 सप्ताह से 5 माह तक बीमार हुए।"

बैक्टीरियम विस्कासम अश्वजातीय के कारण उत्पन्न रोग को "एकाएक आक्रमण, अत्यधिक अवसन्नता, रोग के लक्षण प्रकट होने के बाद बीमारी की थोडी अवधि तथा मृत्यु आदि लक्षणों द्वारा पहचाना जाता है।"

कुछ को छोडकर, अधिकांश पशुओं में रोग का आक्रमण प्राय जन्म के बाद पहले तीन दिनों में होता है। मैगनूसन[9] द्वारा अवलोकित 73 में से 56 बछेड़े पहले दिन बीमार पड़े तथा 29 रोगियों में बछेड़े जन्म के समय कमजोर थे। दो दिन की आयु पर रक्तपूतिता

के लक्षण दिखाकर आधे से अधिक बच्चों की मृत्यु हो गई। केवल 9 बच्चे एक सप्ताह से ऊपर की आयु के थे जबकि उनमें संधि-शोथ, कण्डरापिधानशोथ (tendovaginitis) तथा अंत: मासपेशी फोड़ों के लक्षण विकसित हुए। रोगी को 103 से 105° फारेनहाइट तक बुखार होता है तथा पशु जल्दी-जल्दी सांस लेता है। पहले चौबीस घंटों के बाद जीवाणुओं का संधियों में स्थानिकीकरण प्रकट होता है।

स्ट्रेप्टोकाक्किक संक्रमण में रोग का उद्भवनकाल काफी लम्बा होता है। 10 से 14 दिन की आयु के बाद बछेड़ों में रोग प्रकट होता है तथा प्राणघातक रोगी दो से तीन सप्ताह में मर जाते हैं। स्टेफिल संधि अथवा पिछले घुटने में से किसी एक पर सूजन आ जाना इस रोग का प्रथम लक्षण है। इसके बाद कमजोरी तथा धीरे-धीरे हालत में गिरावट होकर अवसन्नता से पशु की मृत्यु हो जाती है। बार-बार पेशाब करना, संधि-रोग से पीड़ित सभी बछेड़ों का सामान्य लक्षण है। रोगी में सछिद्र यूरेकस तथा सपूय नाभिशोथ के लक्षण भी देखे जा सकते हैं।

कोलन संक्रमण में कभी-कभी संधियों तथा नाभि की सूजन के साथ उग्र रक्तपूतिता के लक्षण भी देखने को मिलते हैं। इसमें मृत्युदर भी अधिक होती है।

फलानुमान—जन्म के बाद कुछ घंटों में होने वाली रोग की उग्र अवस्था में मृत्यु दर काफी अधिक होकर 90-100 प्रतिशत तक हो सकती है। बिना सामान्य लक्षणों के नाभि संक्रमण अथवा लँगड़ाहट प्रदर्शित करने वाली दीर्घकालिक स्ट्रेप्टोकाक्किक प्रकार में कभी-कभी पशु ठीक हो जाते हैं। इसमें औसत मृत्युदर 30 से 75 प्रतिशत अनुमान की जाती है किन्तु, यह अनुमापन केवल ऊपरी अवलोकनों पर आधारित है।

सपूय रक्तपूतिता अथवा नाभिशोथ का निदान करना ठीक नहीं होता। नाभि, टेंडन-आवरण तथा जोड़ों की सूजन इसके नैदानिक लक्षण हैं। किन्तु, इन क्षतस्थलों की अनुपस्थिति में केवल लक्षणों द्वारा इसका निदान करना कुछ कठिन हो जाता है। जिन लोगों को बछेड़ों की इस बीमारी का विस्तृत अनुभव होता है (मैगनूसन, डीमोक) उनके अनुसार बच्चा पैदा होने के बाद से ही बिना किसी प्रत्यक्ष कारण के वह कमजोर होता जाता दिखाई देता है। इसमें से बहुत से बछेड़े अच्छे हो जाते हैं। मैगनूसन के अनुसार इनमें से बहुत से रोगी रक्तपूतिता के होते हैं जिनमें से रोगोत्पादक जीवाणु को अलग किया जा सकता है। फिर भी, उनके द्वारा किए गए 314 बछेड़ों के शव-परीक्षण में 7.3 प्रतिशत रोगी ऐसे निकले जिसमें वे शक्ति-क्षीणता के अतिरिक्त कुछ भी निदान न कर सके। बछेड़ों के दस्त रोग की सपूय रक्तपूतिता से संभ्रान्ति नहीं करनी चाहिए, यद्यपि कभी-कभी व्यक्तिगत रोगियों में इसी की भाँति लक्षण मिल सकते हैं।

बचाव तथा इलाज—मैंफेडियन[11] ने ऐंटिस्ट्रेप्टोकाक्किक सीरम तथा अन्य "जैविक उत्पादों का प्रयोग इस रोग में अप्रभावकारी बताया है। इनके प्रयोग के पूर्व तथा बाद फार्मों से 50 प्रतिशत मृत्युदर की रिपोर्ट प्राप्त हुई है। फिच[10] ने भी यही रिपोर्ट किया है कि बचाव तथा इलाज के रूप में सीरम अथवा जीवाणुगत पदार्थों का कोई विशेष महत्व नहीं है।

विभिन्न बैक्टीरियल कारणों तथा प्रजनन की विभिन्न परिस्थितियों द्वारा समस्या और भी जटिल हो जाती है। अनेक रोगियों में मृत्यु के पूर्व रोग के वास्तविक कारण का पता लगाना असंभव सा हो जाता है। उन क्षेत्रों में जहाँ किसी भी प्रकार का संक्रमण उपस्थित रहता है उसी के अनुकूल बचाव तथा इलाज का साधन अपनाना अधिक अच्छा है। सभी रोगियों में माँ के रक्त का अधस्त्वक इन्जेक्शन देना काफी लाभप्रद सिद्ध हुआ है। इसे 100 से 200 घ० सें० की मात्रा में दिया जाता है तथा बछेड़े के बीमार हो जाने पर इसकी मात्रा बढ़ा दी जाती है। सल्फानिलामाइड (5 ग्राम प्रति 100 पौण्ड शरीर भार नित्य) का प्रयोग लाभप्रद कहा जाता है।

सोह्नले[12] के अनुसार स्ट्रेप्टोकाक्किक संक्रमण में रोग ग्रसित बछेड़े को मां के रक्त (50 60 घ० सें०) के साथ स्थायी विशिष्ट ऐंटिस्ट्रेप्टोकाक्किक सीरम मिलाकर देना चाहिए। इसी कार्य के लिए जमेलिन[13] ने मा के रक्त तथा स्थायी-विशिष्ट वैक्सीन के प्रयोग करने की राय दी है। फिचर[3] लिखते है, "मैंने सभी रोगियों में रक्तपूतिता तथा संधि रोग के बचाव के लिए अश्वजातीय ऐंटि स्ट्रेप्टोकाक्कस सीरम का प्रयोग किया तथा इस इलाज के बाद मरे हुए किसी भी बछेड़े ने ऐंटिस्ट्रेप्टोकाक्कस का विशुद्ध संवर्धन प्रदर्शित न किया।"

उन फार्मों पर जहाँ अश्वजातीय बैक्टीरियम विस्कासम का प्रमुख संक्रमण होता है वहाँ हीनरिच[14] तथा अन्य लोगों के अनुसार इसी का ऐंटिसीरम देना काफी लाभप्रद है। माँ का गर्भकाल के छठे से आठवें महीने में तथा बछेड़े को जन्म के समय 30 घ० सें० सीरम देना चाहिए।

बैक्टीरियम एवार्टिवा इक्वाइनस् (अश्वजातीय) के प्रति बचाव के लिए माँ का विशिष्ट वैक्सीनेशन करना लाभप्रद सिद्ध हुआ है।

बछड़ा की भाँति, बैक्टीरियम कोलाइ के संक्रमण को बछड़ा दस्त रोग सीरम (calf scour serum) द्वारा कन्ट्रोल किया जा सकता है। खाने पर नियंत्रण रखना तथा मुसीके का प्रयोग भी गुणकारी है।

चूँकि जन्म के बाद गर्भनाल द्वारा इसकी छूत लगती है और यह अनेक फार्मों पर छूत का प्रमुख मार्ग है, अत नवजात बच्चे की प्रारम्भ से ही विधिवत देखभाल करनी चाहिए। ब्याने के लिए घोड़िया का साफ-सुथरा कमरा देना चाहिए। जन्म के तत्काल बाद नाल को काटने के उपरान्त उसे टिंचर आयोडीन में डुबा देना चाहिए। आस्ट्रिया के राजकीय अश्व-फार्म पर जैसे ही बछेड़ा पैदा होता है उसके नाल को 5 प्रतिशत फार्मलीन-ऐल्कोहल घोल से भीगे फाहे से तब तक दाब दिया जाता है जब तक उसकी तपकन बंद न हो जाए (मैला[15])। तत्पश्चात् इसे नाभि के थोड़ा नीचे से ऐंठ कर तोड़ देते हैं तथा लटकते हुए टुकड़े को 10 प्रतिशत टिंचर आयोडीन में डुबो देते हैं। जब बछेड़ा उठकर आधा खड़ा होने लगे तो उसे सहायता देकर माँ का थन चुसाते हैं। जैसे ही मादा की जेर गिरती है उसका अयन तथा पिछला धड़ गरम पानी से धोकर उसे बच्चे के सहित दूसरे साफ कमरे में भेज देते हैं।

नाभि-रोग तथा नवजात बच्चों के अन्य रोगों का कन्ट्रोल करने के लिए सबसे उपयुक्त उपाय परीक्षण तथा चिकित्सा के आधुनिक ढंग हैं जो नर-मादा के प्रजनन से पूर्व ही अपनाने चाहिए।

संदर्भ

1. M'Fadyean, J., and Edwards, J. T., Observations with regard to the etiology of joint-ill in foals, J. Comp. Path. and Ther., 1919, 32, 42 ; M'Fadyean, J., Joint-ill in foals, Vet. Record, 1918-19, 31, 460.
2. Williams, W. L., Genital diseases of horses, Cornell Veterinarian, 1926, 16, 107.
3. Fincher, M. G., Health control of breeding horses, Cornell Veterinarian, 1928, 18, 167.
4. Dimock, W. W., Edwards, P. R., and Bullard, J. F., Bacterium viscosum equi ; a factor in joint-ill and septicemia in young foals, J.A.V.M.A., 1928, 73, 163.
5. Good, E. S., and mith, W. V., The Bacillus abortivus equinus as an etiological factor in infectious arthritis of colts, J. Inf. Dis., 1914, 15, 347.
6. Snyder, E. M., Eberthella viscosa (Bact. viscosum equi) etiological factor in joint-ill, J.A.V.M.A., 1925, 66, 481.
7. Dimock, W. W., Breeding problems in mares, Cornell Veterinarian, 1935, 25, 165.
8. Dimock, W. W., Edwards, P. R., and Bruner, D. W., Infectious Diseases of Fetuses and Foals, Ky. Agr. Exp. Sta. Bull. No. 333, 1947, Lexington.
9. Magnusson, H., Joint-ill in foals: Etiology, J. Comp. Path. and Ther., 1919, 32, 143.
10. Fitch, C.P., A Study of abortion in mares and navel-ill or pyosepticemia of foals, Cornell Veterinarian, 1924, 14, 4.
11. M'Fadyean, J., and Edwards, J.T., Joint-ill in foals : Etiology and serum treatment, J., Comp. Path. and Ther., 1919, 32, 229 ; M'Fadyean, J. and Sheather, A. L., Joint-ill in foals : Treatment with vaccine, J. Comp. Path. and Ther., 1923, 36, 22.
12. Sohnle, Über Forhlenerkrankungen im Würff. Landgestüt Marbach, Deut. tier. Wchnschr., 1929, 37, 705.
13. Gmelin, Die Fohlenkrankheiten und ihre Bekampfung, Deut. tier, Wchnschr., 1929, 37, 699.
14. Heinrich, G., Über die Ätiologie der sogenannten Fohlenlähme und deren Bekämpfung in Staatsgestüt Tori, Jahresbericht, 1930, 50ii, 1162 (Abstract).
15. Mally, M., Dei Bundesgestüte Osterreichs, Agraverlag, Wien, 1929, abst. Cornell Veterinarian, 1930, 20, 96.

अन्य पशुओं में नाभि-रोग

(Navel-ill in other Species)

बछड़ों में संधि-रोग प्रायः बड़े यूथों में हुआ करता है जहाँ यह रुक-रुक कर विकीर्ण रूप में प्रकोप करता है। बछड़ों की भाँति, यह उन फार्मों पर अधिक होता है जहाँ गर्भपात तथा अन्य जननेन्द्रिय रोगों पर ध्यान नहीं दिया जाता। संभवतः अधिकांश बछड़ों को इस

रोग की छूत ब्याने के बाद ही लगती है। नाल को टिंचर आयोडीन में डुबो देने से इसके प्रकोप को बचाया जा सकता है।

बड़े-बड़े फार्मों पर मेमनो में नाभि-रोग कभी-कभी एक समस्या बन जाता है। वेल्श[1] के अनुसार इस रोग से मरने वाले अनेक पशुओं में इसका कारण ऐक्टिनोमायसीज़ नेक्रोफोरस नामक जीवाणु था तथा यकृत का परिगलन इसका क्षतस्थल था। एक से तीन सप्ताह के मेमनों में नाभि-रोग की छूत द्वारा सपूय संधि शोथ तथा अन्य मितस्थायी क्षतस्थल उत्पन्न हुआ करते हैं। इसके दो प्रमुख प्रकार हैं (1) रोग का उग्र प्रकार जिससे लगभग एक सप्ताह की आयु पर मेमनों की मृत्यु हो जाती है, (2) दीर्घकालिक प्रकार जो बड़े मेमनों में होता है तथा लँगड़ाना, अकड़न अथवा अवसन्नता आदि इसके लक्षण होते हैं। मेरु-रज्जु के ऊपर पीवयुक्त फोड़ों के दबाव के कारण पिछले धड़ का पक्षाघात हो सकता है। जन्म के समय गर्भ-नाल की भलीभाँति सफाई करके इस बीमारी को सरलता से कन्ट्रोल किया जा सकता है। प्रसव कक्ष की खूब सफाई करके उसमें साफ तथा गुदगुदा बिछौना डालना चाहिए। मार्श[2] के निर्देशन के अनुसार नाभि से लगभग 1 5 इंच नीचे से नाल को काटकर लटकते हुए टुकड़े का एक चौड़ी मुँह वाला आयोडीनयुक्त शीशी में डुबोना चाहिए। उसी लेख में उन्होंने शूकर-एरिसिपेलास के बैसिलस द्वारा होने वाली मेमनो में एक विशिष्ट संधिशोथ का वर्णन किया जिसमें गर्भनाल, या बधिया करने अथवा पूँछ काटने के बाद उत्पन्न होने वाले घाव छूत फैलाने के माध्यम थे।

संदर्भ

1 Welch, H , Prevention of disease in young lambs, Mont Agr. Exp. Sta Cir. 138, 1931

2 Marsh, H , Diseases in young lambs, J A V M A , 1932, 81, 187.

साल्मोनेल्ला-रुग्णता

(Salmonellosis)

यूरूप में साल्मोनेल्ला-रुग्णता पशु तथा मनुष्य दोनों में ही एक विस्तृत खोज तथा अध्ययन का विषय रहा है। इसके कुछ प्रकोप यूनाइटेड स्टेट्स में भी वर्णन किए गए हैं।

साल्मोनेल्ला ग्रूप के अन्तर्गत सा० कालरेसुइस (suipestifer) सा० इन्टेरिटाइडिस तथा सा० टाइफीमरियम आदि जीवाणु आते हैं।

सुअरों में संक्रामक परिगलित आन्त्रार्ति उत्पन्न करने वाले साल्मोनेल्ला कालरेसुइस का वर्णन पृष्ठ संख्या 193 पर किया गया है। यद्यपि यह संभव है कि सा० इन्टेरिटाइडिस तथा सा० टायफीमूरियम द्वारा होने वाले रोग यूरूप की भाँति इस देश के पशुओं में भी महत्वपूर्ण सिद्ध हो सकते हैं, फिर भी, अमरीकी साहित्य में इनके बहुत ही कम वर्णन प्रकाशित किए गए हैं। स्कोफील्ड[1] के अनुसार ऐसी रिपोर्टों की कमी का कारण गोपशुओं में आन्त्रिक संक्रमण के बैक्टीरियल अध्ययन पर कम ध्यान दिया जाना है।

गो-पशुओं में पैराटायफायड रोग

(Paratyphoid in Cattle)

(संक्रामक आंत्राति)

सन् 1916 में मेयर (Meyer), ट्राम (Traum) तथा रोढाउसे[2] ने बछड़ों में सा० इन्टेरिटाइडिस द्वारा होने वाले संक्रामक दस्त रोग की प्राणघातक महामारी का वर्णन किया। बछड़ों में श्वेत-दस्त रोग के विपरीत जो कि जन्म के बाद पहले सप्ताह में प्रकोप करता है, यह बीमारी 2 से 4 सप्ताह तथा अधिक आयु के बछडों में होती है। फिर भी, आयु को अधिक महत्व नहीं देना चाहिए क्योंकि युवा पशुओं की कोई भी महामारी अपने भीषण प्रकोप के समय विचित्र रूप धारण कर सकती है। स्कोफील्ड[1] ने बछियों तथा प्रौढ़ गायों में इसका प्रकोप होते बताया।

सन् 1902 में मोह्लर और बक्ले[3] ने प्रौढ़ ढोरों में इस महामारी को प्रकोप करते देखा। इनमें मस्तिष्क के लक्षण तथा ऐंठन बछड़ो की भाँति ही थे। रोग का कारण इन्टेरिटाइडिस ग्रूप का वैसिलस बताया गया।

सक्रमण का निवास स्थल बहुवितरित है। आहार-नाल द्वारा इसकी छूत लगती है तथा आमतौर पर ऐसा विश्वास किया जाता है कि पशुशाला में यह स्वस्थ–वाहकों अथवा दूध के द्वारा पहुँचता है। जेन्सन तथा अन्य लोगों का विश्वास है कि यह जीवाणु सामान्य तौर पर आहार-नाल में निवास किया करता है जबकि अन्य लोग इसे स्वस्थ बछड़े में न पा सके। मेयर[2] ने बताया कि "रोग-ग्रसित पशु से प्राप्त जीवाणु खरगोश तथा गिनी-पिग के लिए रोगोत्पादक होते है। वे बहुत बड़ी मात्रा में टॉक्सिन (जीव-विष) उत्पन्न करते हैं। इसकी कम से कम मात्रा को भी यदि बार-बार खरगोशों में प्रविष्ट किया जाता है तो उनका शरीर-भार कम हो जाता है तथा उन्हें गौण संक्रमण होने का भय रहता है।" बछड़ों को मासरस में उगाए गए जीवाणु खिलाने पर 24 घंटे में उन्हें बुखार होकर दस्त आने लगते हैं।

श्वेत-दस्त रोग की भाँति इसमें भी पुरः प्रवर्तक कारणों का काफी प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार मेयर[2] द्वारा वर्णन किए गए रोगियों में दस दिन की आयु पर बछड़ों को सूखी घास खाने को मिली तथा 1 पौण्ड नित्य की दर पर पूर्ण दूध से मखनियाँ दूध में परिवर्तन किया गया। इस परिवर्तन-काल में इस समूह में से चार बछड़ों की मृत्यु हो गई।

विकृत शरीर रचना—फाइब्रिनयुक्त अथवा रक्तस्रवित आंत्राति लगातार मौजूद रहती है। फोनर और जुड्रक[1] के अनुसार यह परिवर्तन एबोमेसम तथा छोटी अँतड़ी में अधिक स्पष्ट होते हैं। प्लीहा अपने नार्मल आकार से दो या तीन गुनी बढ़ जाती है और इसे सबसे प्रमुख क्षतस्थल कहा जाता है। प्रायः यकृत भी बढ़ जाता है तथा इसमें अनेक छोटी-छोटी फुंसियाँ सी मिलती हैं। गुर्दों तथा प्लीहा में भी ऐसी फुंसियाँ मौजूद हो जाती हैं। घुटने के जोड़ तथा स्टेफिल संधियाँ बढ़ जाती हैं। फेफड़ों में शोथपूर्ण परिवर्तन मिलते हैं। "हमारे अनुभव" मे लिखते हुए जोंस का कहना है कि "इनमें रक्त-स्रवित अथवा फाइब्रिनयुक्त आंत्राति के क्षतस्थल होते हैं जो इलियम के पिछले भाग, सीकम तथा छोटी अँतड़ी के ऊपरी भाग में विशेषकर देखे जा सकते हैं। रोगोत्पादक जीवाणुओं

को रोगी पशु के मल, रोग-ग्रसित श्लेष्मा तथा मेसेन्टरिक लिम्फ ग्रंथियों से प्राप्त किया जा सकता है।" स्कोफिल्ड[1] के अनुसार आमाशय, छोटी आँत, सीकम तथा कालन की श्लेष्मल-झिल्लिया में उग्र सूजन, रक्त तथा मल मिश्रित सीरमफाइब्रिनी स्राव, अति उग्र आर्त्राति, क्षेत्रीय लिम्फ ग्रंथियाँ सूजी हुई तथा कुछ-कुछ रक्तस्रवित, गुर्दे रक्त वर्ण तथा मूत्रकों में पुराने सालमोनेल्लोसिस रोग की भाँति कालन की सबम्यूकोजा में छोटे-छोटे फोड़े आदि क्षतस्थल मिलते हैं। इनमें सालमोनेल्ला टाइफीमूरियम का विशुद्ध संवर्धन प्राप्त हुआ तथा अँतड़ी, प्लीहा, यकृत के सीरमफाइब्रिनी स्राव एवं हृदय के रक्त में भी यह जीवाणु मिला।

लक्षण—इसका उद्भवन काल दो से आठ दिन का होता है। रोग हल्का अथवा अति प्राणघातक हो सकता है। निर्बलता, कभी-कभी मुँह से लार गिरना, जमीन पर पड़ा रहना तथा तेज बुखार आदि लक्षणों के साथ इसका आक्रमण होता है। पशु को तेज दस्त आते हैं, यद्यपि रोग की प्रारम्भिक अवस्था में यह दबे हुए हो सकते हैं। गोबर पतला, बादामीपन लिए हुए पीला, बदबूदार तथा प्रायः रक्तमिश्रित होता है। कभी-कभी पशु में खाँसने तथा श्वास-कष्ट के लक्षण भी देखने को मिलते हैं। स्टेफिल संधि तथा घुटने के जोड़ सूजे हुए हो सकते हैं। अनैच्छिक गति, इधर-उधर दौड़ने तथा ऐंठन के रूप में मानसिक लक्षण भी वर्णन किए गए हैं। रोग के अति उग्र आक्रमण में कुछ ही घंटा में रोग ग्रसित पशु की मृत्यु हो जाती है। जल्दी-जल्दी शारीरिक क्षीणता के साथ इस बीमारी की अवधि प्रायः एक से दो सप्ताह की होती है तथा कभी-कभी यह कार्स बढ़कर तीन से चार सप्ताह तक का हो सकता है।

कंट्रोल—श्वेत-दस्त रोग के अन्तर्गत वर्णित सिद्धान्तों के अनुसार ही इसका इलाज तथा बचाव करना चाहिए। स्कोफील्ड[1] ने इसके नियमण हेतु एक जीवाणुगत पदार्थ तथा सल्फाथैलीडीन का प्रयोग किया।

भेड़ों तथा बछेड़ों में पैराटायफायड रोग

सन् 1932 में डा० चार्ल्स ई० हैंगार्ड[6] ने बछेड़ा की एक उग्र छूतैली बीमारी का वर्णन किया। दस्त आना तथा बड़ी अँतड़ी की श्लेष्मल झिल्ली में सूजन एवं परिगलन होना इसके लक्षण थे। केन्टुकी प्रयोगात्मक केन्द्र पर किए गए टिशुओं के परीक्षणों से पता चला कि इसका कारण सालमोनेल्ला टाइफीमूरियम है। परिगलन, तथा घाव के साथ आर्त्राति के रूप में इसके क्षतस्थल प्रमुख तौर पर सीकम तथा बड़ी कोलन में स्थित थे। अँतड़ी की दीवाल काफी मोटी हो गई थी। कुछ रोगियों में उदर-झिल्ली-शोथ तथा छोटी अँतड़ी की सूजन भी मिली। बदबूदार दस्त तथा तेज बुखार इसके प्रमुख लक्षण थे। इसके अतिरिक्त श्लेष्मल झिल्लियों का रक्तवर्ण हो जाना, चारे में अरुचि, प्यास लगना, अनियमित लहरी गति, बेचैनी तथा अवसन्नता आदि इस बीमारी के अन्य लक्षण थे। प्राणघातक रोगियों में उग्र तथा लगातार ऐंठन के साथ इस बीमारी का कार्स 4 से 6 दिन तक का था तथा उनमें लगातार तेज ऐंठन होती थी। स्वजात जीवाणुगत पदार्थ के प्रयोग से रोग कंट्रोल होता कहा जाता था।

न्यूसम तथा क्रास[7] ने मेमनों में अतिसार के प्रकोप का वर्णन किया जिसका कारण

उन्होंने सालमोनेल्ला टाइफीमूरियम बताया। इसके क्षतस्थल चतुर्थ आमाशय तथा छोटी अँतड़ी की उग्र शोथ तक ही सीमित थे। दीवालों से रक्त निकलने के कारण आमाशय तथा अँतड़ी का पदार्थ लाल अथवा काले रंग का था।

सुस्ती, गिरे हुए कान, खाने में अरुचि तथा पानी जैसे पतले बदबूदार दस्त इसके लक्षण थे। प्रारम्भ में रोगी पशु को 106° फारेनहाइट तक तेज बुखार था। इसका कोर्स एक से लेकर दो या तीन सप्ताह तक का होकर मृत्युदर में काफी विभिन्नता थी। पशु का भूखा रहना इसका एक प्रमुख पुरःप्रवर्तक कारण था।

यूनाइटेड स्टेट्स में साल्मोनेल्ला इन्टेरिटाइडिस द्वारा मनुष्यों में भी सक्रमण की रिपोर्टें मिली है। जॉर्डन[8] के अनुसार साल्मोनेल्ला टाइफीमूरियम को अनेक खाद्य-विपाक्तताओं का कारण माना गया है। ऐल्वरेज[9] लिखते हैं कि बैक्टीरियल टॉक्सिन के कारण खाद्य-विपाक्तता का सर्वमान्य कारक खाद्य-पदार्थों का साल्मोनेल्ला ग्रूप के जीवाणुओं से संदूषित होना है। "बैसिलस इन्टेरिटाइडिस तथा बै० एयरट्रिके (B. aertrycke) इसमें पाए जाने वाले प्रमुख जीवाणु हैं। कभी-कभी बै० सुइपेस्टीफर भी इसके लिए दोषी सिद्ध होता है।"

संदर्भ

1. Schofield, F. W., Salmonella typhimurium, a case of acute fatal enteritis among cattle, Canad. J. Comp. Med., 1946, 10, 271.
2. Meyer, K. F., Traum, J., and Roadhouse, C. L., The Bacillus enteritidis as the cause of infectious diarrhea in calves, J.A.V.M.A., 1916, 49, 17.
3. Mohler, J. R., and Buckley, J. S., Report on an enzootic among cattle caused by a bacillus of the enteritidis group U.S.D.A. B.A.I., 19th Report, 1902, p. 297.
4. Frohner-Zwick, Kompendium der Spez. Path. und Ther., Stuttgart, Enke, 1938.
5. Jones, F. S., Infectious diarrhea (winter scours) of cattle, Cornell Vet., 1933 23, 117.
6. Hagyard, C. E., A costly disease, The Blood-horse, 1932, 18, 696.
7. Newsom, I. E., and Cross, F., Paratyphoid dysentery in lambs, J.A.V.M.A., 1924-25, 66, 289; 1930, 76, 91; 1935, 86, 534.
8. Jordan, E. O., General Bacteriology, ed. 14, Philadelphia, Saunders, 1946.
9. Alverez, Textbook of Medicine, Cecil, ed. 6, 1943, p. 546.

गल-ग्रंथिल रोग

(Strangles)

(डिस्टेम्पर, संक्रामक ग्रन्थिशोथ)

परिभाषा—यह टापधारी पशुओं का ज्वरयुक्त संक्रामक रोग है जिसे नाक की श्लेष्मल-झिल्ली में सूजन तथा निकटवर्ती लिम्फ ग्रंथियों के फोड़ों द्वारा पहचाना जाता है। यह अरजातीय स्ट्रेप्टोकाक्कस जीवाणुओं के द्वारा उत्पन्न होता है।

कारण—विशेषकर यह युवा पशुओं की बीमारी है। नई आयु वाले पशु इसके प्रति अधिक ग्रहणशील होते हैं। फौजी शिविरों, पशुशालाओं तथा प्रजनक फार्मों के पशुओं में होने वाले उग्र संक्रमणों में यह एक प्रमुख रोग है। प्रथम विश्व युद्ध के प्रारम्भिक काल में जर्मन फौज के घोड़ों में यह रोग खूब हुआ था। पास-पास रहने वाले घोड़ों की अपेक्षा विकीर्ण रूप से इस रोग का प्रकोप कुछ कम भयंकर होता है। 6 माह की आयु से ऊपर के बछेड़े तथा 2 से 5 वर्ष की उम्र तक के युवा घोड़े इसके प्रति अधिक ग्रहणशील होते हैं। छोटे बच्चों तथा वृद्ध घोड़ों में इसका प्रकोप कम होता है। नवजात बछेड़ों को भी यह बीमारी होती देखी गई है। दूषित चारा-पानी खाने से प्राकृतिक रूप से इसकी छूत फैलती है। बछेड़ों में, मेसेंटरिक ग्रंथियों को प्राइमरी ग्रंथिल-घाव रोग की छूत, रोग-ग्रसित माँ के अयन से दूध पीने वाले बच्चों में अंतड़ी की श्लेष्मल झिल्ली द्वारा लगती है। माँ के अयन में यह संक्रमण बछेड़े की नाक पर से पहुँचता है।

वैसे तो यह रोग वर्ष के किसी भी समय प्रकोप कर सकता है, किन्तु वसंत ऋतु में अधिक होता है। कुप्रबंध तथा ठंडे हवादार बाड़े प्रतिकूल प्रभाव डालते हैं। बीमारी से अच्छे हुए पशु स्थायी रूप से प्रतिरक्षित कहे जाते हैं तथा प्रौढ़ पशुओं में इसका पुनः आक्रमण नहीं होता। घुड़सवार फौजों में जहाँ युवा ग्रहणशील पशु बराबर आते रहते हैं, वहाँ संक्रमण अति वेगयुक्त होकर इस बीमारी का बार-बार प्रकोप करता है। रिचर्ट्स[1] के अनुसार तीन माह बाद, तत्पश्चात् 6 माह बाद इसका पुनः आक्रमण देखा जा सकता है यद्यपि यह बहुत ही हल्के रूप में होता है।

अश्व जातीय स्ट्रेप्टोकाक्कस (St equi)—फोड़ों के मवाद तथा नाक की श्लेष्मल झिल्ली के घावयुक्त स्राव में यह ग्राम धनात्मक जीवाणु लम्बी जंजीरों के रूप में पाया जाता है। प्रायः यह अन्य जीवाणुओं के साथ होता है। घोड़ों के अन्य स्ट्रेप्टोकाक्किय संक्रमणों से अलग पहचानने के लिए अश्व-जातीय स्ट्रेप्टोकाक्कस के स्वतंत्र गुणों पर अनेक रिपोर्टें उपलब्ध हैं। मौसनर[2] के विचार से स्ट्रैंगिल्स स्ट्रेप्टोकाक्कस एक स्वतंत्र प्रकार है जिसे इसकी कार्बोहाइड्रेट पर क्रिया द्वारा, अन्य से अलग पहचाना जा सकता है। फोनर तथा जुइक[3] लिखते हैं कि आकार, लम्बाई और लैक्टोज को फर्मेंट न कर सकने की विशेषता द्वारा इसे स्ट्रे॰ पायोजिनस (पीबोत्पादक स्ट्रेप्टोकाक्कस) से अलग पहचाना जा सकता है। ज्लैटोगोरोफ[4] (Zlatogoroff) ने बताया कि स्ट्रे॰ पायोजिनस न तो गल-ग्रंथिल रोग उत्पन्न कर पाता है और न इस रोग के प्रति प्रतिरक्षा। यह बीमारी केवल अश्वजातीय स्ट्रेप्टोकाक्कस द्वारा ही उत्पन्न हो सकती है। ओगुरा[5] ने यह निष्कर्ष निकाला कि अनेक अर्थ में तथा विशेषकर बाह्य गुणों, कार्बोहाइड्रेट पर क्रिया तथा रोग-जनकता में अश्व-जातीय स्ट्रेप्टोकाक्कस घोड़े के अन्य पीबोत्पादक स्ट्रेप्टोकोकाइ से भिन्न है। उन्होंने यह भी बताया कि यह जीवाणु नाक, गले, फेफड़े, बछेड़ों की नाभि तथा जोड़ों एवं मादा के जननांगों तथा अयन जैसे विभिन्न अंगों की उग्र सूजन का अक्सर कारण बनता है। एडवर्ड्स[6] ने यह पता लगाया कि गल-ग्रंथिल रोग के फोड़ों से स्ट्रेप्टोकोकाइ का विशुद्ध संवर्धन प्राप्त किया जा सकता है किन्तु वे सभी एक ही प्रजाति के नहीं होते।

जीवाणुयुक्त संवर्धन का चुहियों में अंतःत्वचा इन्जेक्शन देने पर उनमें त्वचा के नीचे तथा निकटवर्ती लिम्फ-ग्रंथियों में पीवोत्पादक एवं विक्षेपी फोड़ों का निर्माण होते देखा जाता है। खरगोश कम ग्रहणशील हैं तथा गिनी पिग में इसकी बहुत ही कम प्रतिक्रिया होती है।

रिचटर्स[1] के अनुसार पीव अथवा रक्त में यह जीवाणु अति सक्रिय रहता है। पानी में यह जीवाणु 6 से 9 दिन, बर्तनों, त्वचा तथा मोटे चारे में 3 से 4 सप्ताह, कमरे के तापक्रम पर 5 से 6 माह, और बंद किए हुए गोबर में 14 दिन तक जीवित रह सकता है। वृद्ध घोड़ों तथा पूर्णरूपेण स्वस्थ दिखाई देने वाले पशुओं की नाक की श्लेष्मल-झिल्ली से भी यह जीवाणु अपने सक्रिय रूप में प्राप्त किया जा चुका है। गले तथा नाक की श्लेष्मल-झिल्ली के संपर्क में पीव लाकर, कटी हुई त्वचा पर पीव लगाकर, छूत-ग्रसित धूल सुँघाकर तथा संदूषित पानी पिलाकर घोड़ों में प्रयोगात्मक रूप से इस बीमारी को उत्पन्न किया जा सकता है। अश्व-जातीय स्ट्रेप्टोकाक्कस के विशुद्ध संवर्धन का इन्जेक्शन देकर भी इसे उत्पन्न किया जा सकता है। यह बीमारी अति संक्रामक है। हवा से ये जीवाणु नाक की श्लेष्मल-झिल्ली में, अथवा चारे या पानी द्वारा अँतड़ी की श्लेष्मल-झिल्ली में पहुँचते हैं। त्वचा पर बने घाव, अयन, अथवा संभोग के समय योनि द्वारा भी इसकी छूत लग सकती है।

विकृत शरीर रचना—शव-परीक्षण परिवर्तन बहुत ही भिन्न होते हैं। जब मुख्य क्षतस्थल ऊपरी लिम्फ ग्रंथियों में मितस्थायी फोड़ों के रूप में होते हैं तो शरीर में अनेक स्थानों पर सूजन दिखाई पड़ती है। मेसेंटरिक तथा मध्यस्थानिक लसीका-ग्रंथियों में कई इंच के व्यास वाले फोड़े हो सकते हैं। मेरु-रज्जु अथवा मस्तिष्क में फोड़ा होने पर तानिकाशोथ होकर रोगी की मृत्यु हो सकती है। लेखक के एक रोगी की कटि के क्षेत्र की मांसपेशियों में फोड़ा बनकर मेरुरज्जु तक प्रवेश किया। प्रत्यग्रसनी लसीका ग्रंथि के फटने से नाक में पहुँचे हुए पीव के कारण शव-परीक्षण करने पर ब्रोंकोनिमोनिया जैसे परिवर्तन मिलते हैं। किसी भी अन्दरूनी अंग में एक अथवा अनेक फोड़े बन सकते हैं। रक्तपूतिता तथा सपूय रक्तपूतिता के लक्षण भी प्रायः मौजूद मिलते हैं।

लक्षण—इस रोग का उद्भवनकाल 4 से 8 दिन होता है। रोग के प्रभाव के अनुसार यह कम भी हो सकता है। निराशा, खाने में अरुचि तथा 104 से 106° फारेन-हाइट तक तेज बुखार के साथ इस रोग का एकाएक आक्रमण होता है। नाड़ी-गति थोड़ी सी बढ़कर 40 से 50 प्रति मिनट हो जाती है। सपूय अथवा रक्तपूतित अवस्था के विकसित होने पर यह काफी तेज हो जाती है। नाक की श्लेष्मल झिल्ली पर लक्षण पहले या दूसरे दिन प्रकट होते हैं। श्लेष्मल-झिल्लियाँ रक्तवर्ण हो जाती हैं तथा नाक से सीरम जैसा पतला स्राव बहता है। लगभग तीन दिन बाद यह पीवयुक्त अथवा श्लेष्मा एवं पीव मिश्रित होकर गाढ़ा हो जाता है। यह मात्रा में भी काफी होता है जिससे चारे तथा नादों में शीघ्र ही छूत लग जाती है। व्यक्तिगत रोगियों में नाक से निकलने वाला स्राव थोड़ा अथवा अनुपस्थित हो सकता है। फेरिंक्स के रोग-ग्रसित होने के कारण पशु खाँस सकता है। नासा-स्राव के साथ उपजम्भ लिम्फ ग्रंथियों पर सूजन आ जाती है। यह गर्म तथा दर्दयुक्त होकर शोथयुक्त किनारे से घिरी हुई प्रतीत होती है। कुछ दिन के बाद

फोड़ा बन जाता है तथा वहाँ पर एक या अधिक घटते-बढ़ते क्षेत्र मौजूद हो सकते हैं अथवा सूजन की ऊपरी त्वचा से पीले रंग का सीरम निकलता है। वहाँ पर के बाल गिर जाते हैं तथा त्वचा पर बने हुए एक परिगलित छिद्र से मवाद निकलता है। पीब का रंग कुछ पीलापन लिए हुए क्रीम जैसा होता है। एक साथ अनेक फोड़े बन सकते हैं। फोड़ा फटने के बाद सूजन शीघ्र ही कम हो जाती है तथा तापक्रम गिरकर नार्मल हो जाता है। सामान्य तौर पर इसका कोर्स दो से चार सप्ताह का होता है। रोग के हल्के प्रकोप में, रोगी को फोड़ा न होकर केवल नासार्ति ही हुआ करती है। रोग के साधारण आक्रमण में पशु की सामान्य हालत में कोई विशेष गड़बड़ी नहीं होती।

रोग की अविशिष्ट किस्में—गल-ग्रथिल रोग के मितस्थायी होने के कारण विभिन्न प्रकार की अनेक जटिलताएँ सम्भव हैं। इनमें से कुछ का वर्णन निम्न प्रकार है :

1. भीतरी लिम्फ ग्रंथियाँ : फेरिंक्स की श्लेष्मल झिल्ली पर स्थानीय सूजन हो सकती है अथवा यह नाक से फेरिंक्स पर फैलती हुई प्रतीत होती है। निगलने में कष्ट, प्रतिक्षेपण (regurgitation) तथा प्रत्यग्ग्रसनी लसीका ग्रंथि का सूज जाना इसके लक्षण हैं। सूजन स्वरयंत्र के ऊपर पैराटिड ग्रंथियों के क्षेत्र में स्थित होती है। फोड़ा प्रायः अन्दर ही फट जाता है तथा मुँह और नाक से पीब निकलता है। रोग की इस प्रकार में इसका कोर्स अधिक अनियमित होता है तथा पशु की हालत भी काफी गिर जाती है। कभी-कभी इसके साथ उप-पैराटिड लसीका ग्रंथियों में भी फोड़े बन जाते हैं। अनेक फोड़ों की उपस्थिति के कारण पूरा पैराटिड क्षेत्र सूजा हुआ प्रतीत हो सकता है। लेखक के एक रोगी में चर्वणी-मांसपेशियों में अनेक पीबयुक्त फुंसियाँ हो गई थीं जिससे उसकी मृत्यु हो गई। कभी-कभी गलगतों (guttural pouches) में फोड़े बनते तथा पीब निकलता है। इसके परिणामस्वरूप भीतरी कैराटिड धमनी का परिगलन होकर रक्तस्राव के साथ पशु की मृत्यु हो जाती है। फेरिंक्स में एकाएक पीब पहुँचने पर विगलित निमोनिया (gangrenous pneumonia) हो सकता है। फोड़े प्रायः बाहर की ओर फूटते हैं।

वर्थ[7] के अनुसार फेरिंक्स शोथ के कम से कम 90 प्रतिशत रोगियों में उप-पैराटिड तथा प्रत्यग्ग्रसनी लसीका ग्रंथियों तथा विशेषकर गलगतों की लिम्फ ग्रंथियों में फोड़े होते हैं। गलगतों की लिम्फ ग्रंथियाँ; गलगतों की श्लेष्मल झिल्ली तथा ग्रसनी की पिछली दीवाल के मध्य एरिटिनाइड कार्टिलेज के ऊपर स्थित रहती हैं। इन फोड़ों से प्राप्त पीब से काँच के स्लाइड पर बनाए गए लेप, *गल-ग्रंथिल रोग से प्राप्त लेपों की भाँति ही होते* हैं। इससे वर्थ इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि घोड़ों में फेरिंक्सशोथ लगभग सदैव ही गल-ग्रंथिल रोग होता है।

2. आँख, ओंठ, नाक, तथा गाल पर रोग का आक्रमण होने पर चेहरे की ऊपरी लसीकाओं पर फोड़े बन सकते हैं जिससे सिर तथा गर्दन की अन्दरूनी त्वचा पर विस्तृत पीबयुक्त सूजन आ जाती है।

3. रोग के उग्र प्रकोप में नासार्ति के लक्षणों के साथ निकट की लिम्फ ग्रंथियों में फोड़े बनकर अथवा न बनकर कभी-कभी फेरिंक्स, स्वरयंत्र, श्वासनली और ब्रोंकाई भी क्षतिग्रस्त हो सकती हैं।

4. कुछ रोगियो में ग्रैवीय, कक्षीय, वंक्षण (inguinal) तथा अन्य ऊपरी लिम्फ ग्रथियो में मितस्थायी फोडे हो सकते हैं। मध्यस्थानिका अथवा मेसेंटेरिक ग्रथियो के फोडे सबसे अधिक भयानक होते हैं। ऐसे फोडे शीघ्र ही वढकर तथा फूटकर कुछ ही घटो में रोगी पशु को मौत के घाट उतारते हैं अथवा ये अत्यधिक आन्त्रिक-अभिलाग उत्पन्न कर सकते हैं। रोग के असाध्य होने पर गुदा में हाथ डालकर परीक्षण करने पर मेसेंटेरिक लिम्फ ग्रथियाँ, अथवा श्रोणि-गुहा के चहुँतरफा या कटि के क्षेत्र की लिम्फ ग्रथियाँ काफी वढी हुई मालूम होती है। मस्तिष्क की झिल्लियाँ अथवा मेरुरज्जु, सधियाँ, टैंडन—आवरण, भीतरी मासपेशियाँ तथा यकृत, प्लीहा अथवा गुर्दे इसके अन्य क्षतस्थल हो सकते हैं।

5 रक्तपूतिता तथा रक्तपूतित पूय-विषाक्तता के कारण पशु की मृत्यु हो जाती है। रोग के भीषण प्रकोप से उत्पन्न अवसन्नता के समय रोगी पशु के शरीर से रक्तस्राव भी हो सकता हैं। कुछ पशुओ में सभोग-सक्रमण भी होते देखा गया है। इसमें सभोग के कुछ दिनो वाद योनि तथा भग की दीवालो में ग्रथियाँ तथा फोडे प्रकट होते हैं।

फोडो के उपजम्भ ग्रथियो अथवा कुछ ऊपरी ग्रथियो तक ही सीमित होने पर रोगी के अच्छे होने की सभावना रहती है।

प्रत्यग्रसनी ग्रूप के क्षतिग्रस्त होने पर इसका कोर्स कुछ लम्बा होता है किन्तु, जव तक निकटवर्ती सभी टिसुओ में अनेक फोडे नही वन जाते, रोगी के ठीक हो जाने की आशा की जाती हैं। शारीरिक गुहाओ के अन्दर फोडो की स्थिति सदैव खतरनाक होती हैं। मृत्यु दर 0·5 से लेकर 2 प्रतिशत तक होकर काफी कम होती है। वछेडो में इसकी विषम अवस्थाएँ अक्सर हुआ करती हैं, इस कारण मृत्युदर अधिक हो सकती है। ठडी, नमीयुक्त तथा तेज हवादार घुडसालो में रहने वाले घोडो में इसका प्रकोप अधिक भयकर होता है। कभी-कभी अधिक मृत्युदर के साथ इसके भीषण प्रकोप भी देखने में आते हैं। हाल के यातायात किए गए घोडो में जव यह रोग एन्फ्लूएजा अथवा सक्रामक अश्वीय निमोनिया के साथ होता हैं तो उनके ठीक होने की सभावना कम रहती हैं।

चिकित्सा—रोग के हल्के तथा विकीर्ण प्रकोप में विशेष चिकित्सा की आवश्यकता नही पडती। रोगी को पूर्ण आराम देकर सीमित आहार दीजिए तथा जाडा के मौसम में खिडकी तथा दरवाजा से घुसने वाली थपेडेदार ठडी हवा से वचाइए। प्रत्येक रोगी की दवा करने के लिए उस के सामने ताजे पानी की एक वाल्टी रखिए और इसमें आधा औंस पोटास क्लोरेट डाल दीजिए। नाक से गिरने वाले स्राव से यदि नादें तथा दीवालें गदी हो जाती हो तो उन्हें रोजाना भलीभाँति साफ कर दीजिए। आँख तथा नाक से निकलने वाले स्राव को साफ करके उन स्थानो को दिन में दो-तीन वार हल्के ऐंटिसेप्टिक घोल से घो दीजिए।

जव तक फोडे काफी वढकर खोलने योग्य न हो गए हो तव तक उनके विशेष इलाज की आवश्यकता नही पडती। यदि वाह्य चिकित्सा की आवश्यकता हो तो गले पर गर्म ऐंटिसेप्टिक घोल की पट्टी दीजिए। रोग की चिकित्सा में किसी भी प्रकार के ब्लिस्टर का प्रयोग हानिकारक हैं। फोडे के विकास तथा शोथ-पूर्ण सूजन के कारण फेरिंक्स में अवरोध

उत्पन्न होकर श्वास-कष्ट हो सकता है। कुछ रोगियों में भाप का वफारा देकर इसे शीघ्र ही ठीक किया जा सकता है। श्वास-नली में रुकावट का अंदेशा होने पर फोड़े में चीरा लगाकर उसका मवाद निकाल देना चाहिए, किन्तु यदि फोड़ा दिखाई न पड़े तो पहले गर्म भाप का वफारा देना चाहिए। रोग से ठीक होने के बाद जब पशु से काम लिया जाता है तो पैराटिड ग्रंथि के नीचे का फोड़ा श्वासकष्ट का कारण हो सकता है। इसे चीर कर मवाद निकालने की आवश्यकता पड़ सकती है। त्वचा के नीचे के टिसुओं में ऑपरेशन करने के लिए मोटे औजार अथवा अंगुली का प्रयोग करना चाहिए जिससे वहाँ की दबी हुई रक्त-नलिकाओं के फटने का भय न रहे। यह क्रिया उप-पैराटिड अथवा प्रत्यग्रसनी लसीका ग्रंथि के फोड़े के लिए अधिक उपयुक्त है। कंठनाल में श्वास-नली-छेदक नलिका घुसेड़ने की आवश्यकता पड़ सकती है। नजला के लिए प्रतिश्याय की चिकित्सा की भाँति अमोनियम क्लोराइड जैसी कफनाशक औषधियों का प्रयोग गुणकारी है। यदि पशु अधिक खाँस रहा हो तो प्रत्येक पिंट (20 औंस) सिरप में एक औंस अर्क बेलाडोना मिलाकर दीजिए। स्टेक[8] ने सल्फानिलामाइड का प्रयोग गुणकारी बताया है। उन्होंने प्रति 48 घंटे के अवकाश पर 80 ग्राम सल्फानिलामाइड को 2 लिटर पानी में मिलाकर नासा-कैथीटर द्वारा दिया। इसे दो या तीन बार दोहराया गया। सल्फाडायाजीन अथवा सल्फामेराजीन जैसी सुविकसित सल्फा-औषधियाँ सल्फानिलामाइड से अधिक अच्छी हैं। पहले दिन इन्हें 1 ग्रेन प्रति पौण्ड शरीर भार की दर पर देकर, बाद में इसकी आधी मात्रा रोजाना पाँच दिन से अधिक नहीं देनी चाहिए। सीमोर तथा स्टीवेंसन[9] ने मरीज के लक्षणों तथा प्रगति के अनुसार पशु को अंत शिरा इन्जेक्शन द्वारा 100 से 200 घ० सें० की मात्रा में रोजाना अति प्रतिरक्षित गल-ग्रंथिल सीरम देने की राय दी है। घुड़सवार केन्द्र में, उन्होंने इस रोग से पीड़ित घोड़ों की चिकित्सा में लगभग 100,000 घ० सें० सीरम का प्रयोग किया। अधिक निर्बलता में इसके साथ प्रत्येक तीसरे या चौथे दिन उन्होंने 200 घ० सें० की मात्रा में 23 प्रतिशत कैल्शियम ग्लूकोनेट घोल का इन्जेक्शन दिया तथा सपूय रक्तपूतिता होने पर रोजाना चार दिन तक 60 से 90 ग्राम की मात्रा में सल्फानिलामाइड का प्रयोग किया। रायट्रूस ने पैनिसिलीन तथा सल्फामेराजीन के प्रयोग से भी लाभ होते बताया।

प्रतिरक्षण—रोग से ठीक हुए पशु चूँकि सदैव के लिए इस बीमारी से मुक्त हो जाते हैं, अत इस आधार पर कृत्रिम प्रतिरक्षा उत्पन्न करने के अनेक प्रयास किए गए। यूरुप में अश्व जातीय स्ट्रेप्टोकाक्स से तैयार किया गया सीरम रोग के बचाव तथा चिकित्सा के लिए प्रयोग किया गया तथा इनसे प्राप्त परिणामों की रिपोर्ट विवादपूर्ण है। सीरम का प्रयोग अधिक से अधिक दो या तीन सप्ताह तक के लिए रोगी को बचा सकता है और फोड़ा बनने से पूर्व इसके प्रयोग से रोग ठीक हो सकता है। यूरुप तथा अन्य देशों में वैक्सीन के प्रयोग से भी काफी लाभ होते देखा गया है। भारत में घुड़सवार फौज में भर्ती किए गए युवा घोड़ों में 5 प्रतिशत मृत्युदर कम करने के प्रयास में एडवर्ड्स[6] ने सीरम तथा वैक्सीन का प्रयोग किया। उनके विचार से इनके प्रयोग से मृत्युदर में कुछ कमी अवश्य हुई। इसके बाद की रिपोर्ट में ऐलेन[11] ने इनके प्रयोग पर अपनी राय दी। वैक्सीन निम्न प्रकार तैयार किया गया था खोलने वाले फोड़े पर टिंचर आयोडीन लगाया गया। इसमें से 4

घ० सें० पीव लेकर एक साफ तथा जीवाणुरहित फ्लास्क में रखा गया जिसमें पहले से ही काँच के साफ टुकड़े डाले गए थे। इसमें 10 घ० सें० सल्फ्युरिक ईथर (मर्क का) धीरे-धीरे डालकर लगातार हिलाया गया। इस पदार्थ को बीच-बीच में बार-बार हिलाकर 12 घंटे तक रखा रहने दिया गया। तत्पश्चात् इसमें उबालकर ठंडा किया हुआ 5 घ० सें० नार्मल सलाइन घोल डाला गया और इस प्रकार लगभग एक समान पदार्थ तैयार हो गया। इस प्रकार तैयार किए गए वैक्सीन को जब तक आवश्यकता न पड़ी, स्वच्छ बोतल में बंद करके रखा गया। रोग-ग्रसित पशुओं में इसके प्रयोग से 2 प्रतिशत मृत्युदर की कमी हो गई।

रिचटर्स[1] ने इस रोग के कंट्रोल के लिए जर्मन की फौज में प्रयोग की गई एक विधि का वर्णन किया जिसे विशेष लाभप्रद बताया जाता है। आमतौर पर प्रयोग होने वाले सीरम तथा वैक्सीन प्रत्यक्षरूप से किसी भी काम के न सिद्ध हुए। अतः इनके स्थान पर सेना की पशु-चिकित्सा अनुसंधान प्रयोगशाला में तैयार किए गए बहुसंयोजी प्रतिरक्षित सीरम तथा बहुसंयोजी मेथिलीन ब्लयु वैक्सीन के सम्मिश्रण का प्रयोग किया गया। रोगहर-चिकित्सा में इसका प्रयोग अति उत्तम सिद्ध हुआ। दो वर्ष की अवधि में 1000 रोगियों की चिकित्सा की गई जिसमें 50 प्रतिशत मृत्युदर कम हो गई।

वेज़ली[12] ने गर्मी से मारे हुए कैप्सूलयुक्त जीवाणुओं से बने वैक्सीन द्वारा अश्व जातीय स्ट्रेप्टोकाक्कस के प्रति सक्रिय प्रतिरक्षा उत्पन्न होते बताई।

बीमारी से बचाव के लिए सभी अनुभवी लोगों ने यह राय दी है कि प्रारम्भ से ही बीमार पशु को स्वस्थ पशुओं से अलग करके इसके बचाव का पूरा प्रयास किया जाना चाहिए। इसके लिए रोग का शीघ्र ही निदान होना आवश्यक है। महामारी के समय पशुओं का यातायात नहीं करना चाहिए। पशु के शरीर पर तथा दीवाल आदि पर लगे हुए पीवयुक्त स्राव को एंटिसेप्टिक घोल से धोकर शीघ्रातिशीघ्र नष्ट कर देना चाहिए। सभी पशुओं को अलग-अलग पानी पिलाने का प्रबंध करना चाहिए। रोगी पशु के लिए परिचारक भी अलग रखना चाहिए। रोग का आक्रमण होते ही बहुसंयोजी सीरम तथा वैक्सीन का प्रयोग करना चाहिए। 5 दिन के अवकाश पर 2, 3 तथा 5 घ० सें० की मात्रा में अश्व-जातीय स्ट्रेप्टोकाक्कस के जीवाणुगत-पदार्थ का प्रयोग बछेड़ों के शरीर में इस बीमारी के प्रति प्रतिरक्षा उत्पन्न कर देता है।

संदर्भ

1. Richters, Neue Ergebnisse auf dem Gebiet der Erforschung und Bekämpfung der Druse der Pferde, Berl. tier. Wchnschr., 1930, 46, 793.
2. Miessner, H., Die praktischen Erfolge der Serotherapie in der Veterinämedizin, Deut. tier. Wchnschr., 1913, 21, 1.
3. Fröhner, E., Wirth, D., and Zwick, W., Komp. der spez. Path. u. Ther., ed. 5, Stuttgart, Enke, 1938.
4. Zlatogoroff, S., Kandyba, L., and Sadowsky, J., Zur Aetiologie der Druse. I. Mitteilung, Zentralbl. f. Bakteriol, Orig., 1930, 118, 346.

5 Ogura K., Uber Drusestreptococcus mit besondrer Berücksichtigung seiner Spezifität J Japanese Soc Vet Sci, 1929, 8, 175
6 Edwards, J T, The prevention of strangles, J Comp Path and Ther, 1925, 38, 256
7 Wirth, D, New knowledge of the nature and treatment of pharyngitis of the horse, abs Cornell Vet, 1936, 26, 128 from Wiener tier Monatschrift, 1934, 21, 753
8 Steck, W, Uber den Einfluss von grossen Sulfanilamidgaben auf den Verlauf der Druse des erwachsenen Pferdes, Schweizer Archiv fur Tierheikunde, 1940, 82, 313
9 Seymour, R T, and Stevenson, D S, Eguine respiratory diseases in newly purchased animals, Army Veterinary Bull Washington, 1942, 36, 81
10 Roberts, S J, Treatment of strangles in a horse with penicillin and sulfa merazine, Cor Vet, 1945, 35, 378
11 Allen, H., Strangles in a country bred remount depot in India, J. Comp. Path. and Ther, 1930, 43, 142
12 Bazeley, P L, Studies with equine streptococci, 2 Experimental immunity, Aust Vet J, 1940, 16, 243

धनुस्तम्भ

(Tetanus)

(टेटनस)

परिभाषा—बैसिलस टिटैनाइ (Clostridium tetani) द्वारा होने वाला पेशी-तनाव प्रमुख तौर पर एक घाव-सक्रमण रोग है जिसे मासपेशियो की तनावपूर्ण ऐंठन द्वारा पहचाना जाता है। टटनस बैसिलस की सन् 1885 में निकोलयर ने खोज की तथा सन् 1889 में किटैस्टैटो ने इसका विशुद्ध सवधन प्राप्त किया। धूल, खाद, मिट्टी की ऊपरी पर्तों, घोडो की लीद, शाकाहारी पशुओ के गोबर तथा कभी-कभी मनुष्य की टट्टी में यह जीवाणु पाया जाता है।

कारण—यूनाइटेड स्टेट्स में यह रोग दक्षिण में अधिक होता है जहां घाव एव घाव सदूषण से लगने वाले रोगो की चिकित्सा करते समय धनुस्तम्भ के प्रति सावधानियां बरतना एक दैनिक काय बन गया है। यूनाइटड स्टेट्स के सभी भागो में यह रोग प्रकोप करता है तथा ससार भर में वह वितरित है। घोडे इसके प्रति अधिक ग्रहणशील हैं। सुअरियों में भी यह रोग खूब होता है। गायों में भी कभी-कभी इसकी छूत ब्याने के समय लग जाती है। भेड-बकरिया में भी यह रोग होता है।

शरीर पर तथा विशेषकर खुरो और पैरों में हल्का घाव (कील चुभने) लग जाने के बाद यह बीमारी हुआ करती है। पैर में नाल तथा कील-कांटा आदि घुस जाने से बने हुए घाव अधिक खतरनाक होते हैं किन्तु फार्म यन्त्रों से लगी हुई हल्की खरोंच से भी इसकी छूत फैल सकती है। घोडों में प्राय बाहरी चोट बहुत कम देखने को मिलती है।

सूकरों में इसकी छूत नाभि में बने हुए घाव अथवा वधिया करने के बाद बने घावों से फैलती है। नाक में छल्ला डालने, ब्याने के समय लगी हुई चोटों अथवा सींग काटने से उत्पन्न घावों से यह रोग गायों में प्रकोप करता है। नाभि-रोग, पूँछ काटने तथा वधिया करने पर बने हुए घावों से इसकी छूत मेमनों को लगती है। कभी-कभी बिना किसी स्पष्ट घाव के ही टेटनस का प्रकोप देखा जाता है। इसे प्राथमिक धनुस्तम्भ कहते हैं, किन्तु ऐसे रोगियों में भी यह विश्वास किया जाता है कि शरीर पर कहीं न कहीं कोई घाव अवश्य होगा। रोग के आक्रमण से पूर्व घाव बहुधा ठीक हो जाया करता है।

टेटनस बैसिलस वैक्सीन, घाव सिलने वाले ताँत के धागे तथा जिलैटिन आदि पदार्थों में भी पाया जा सकता है तथा इन्जेक्शन लगाने वाली सुई से भी कभी-कभी इसकी छूत फैलती देखी गई है। अति संदूषित घावों में यह जीवाणु खूब पाया जाता है।

टेटनस बैसिलस एक स्पोर बनाने वाला जीवाणु है जो अनिश्चित काल तक मिट्टी तथा अँतड़ियों में जीवित रह सकता है। इसके स्पोर बहुत ही शक्तिशाली होते हैं। लोहे के निबों पर इसके संवर्धन 10 वर्ष तक जीवित रहते देखे गए हैं तथा इसके स्पोर शारीरिक टिसुओं में महीनों तक रह सकते हैं। इसकी टॉक्सिन बहुत ही तेज विष है जो कुचला के विष से सौ गुनी अधिक विषैली होती है। गेस्लर[1] के अनुसार टेटनस टॉक्सिन के तंत्रिका आवरण (nerve sheath) द्वारा ले जाए जाने के पुराने मत ने रक्तपरिभ्रमण द्वारा इसके यातायात के सिद्धांत को रद्द कर दिया है। जैसा कि फिरर[2] द्वारा वर्णन किया गया है "प्रवेश पाने के स्थान पर अथवा उसके निकट ही बैसिलस स्थित रहकर टॉक्सिन उत्पन्न करता है जो निकट की कंकाल-पेशियों के तांत्रिका पेशी अन्तागों (neuromuscular-end organs) पर अपनी क्रिया करती है। कुछ विषैला पदार्थ लसीकाओं तथा रुधिर-प्रवाह में पहुँच जाता है जहाँ से इसका कुछ भाग मेरुरज्जु के कोशाओं तथा मेडचुला द्वारा ले लिया जाता है। संभवतः यहाँ इससे कोई अन्य पदार्थ बन जाता है जो ऐंटिटेटनस-सीरम द्वारा भी उदासीन नहीं होता। यह गौण पदार्थ रक्त में चक्कर लगाता है तथा उसकी क्रिया में कुछ गड़बड़ी उत्पन्न करके रोगी पशु की मृत्यु का कारण बनता है। एक बार जब इस टॉक्सिन से प्राणघातक पदार्थ बन जाता है तो किसी भी चिकित्सा द्वारा रोगी पशु को बचाया नहीं जा सकता।"

विकृत शरीर रचना—इस रोग के कोई विशिष्ट क्षतस्थल नहीं दिखाई पड़ते। फेफड़ों में गौण शोथ, निमोनिया अथवा विगलन पाया जा सकता है।

लक्षण—रोग का उद्भवन काल एक से तीन सप्ताह का होता है तथा अधिकतम यह चार माह तक का हो सकता है। अकड़न के रूप में इसका आक्रमण धीरे-धीरे होता है जो स्थानीय अथवा बहुव्यापक हो सकता है। *स्थानीय अकड़न अधिकतर चर्वण-मास-पेशियों अथवा पिछले पैर की मासपेशियों में देखी जाती है।* कभी-कभी इसके लक्षण सबसे पहले घाव के निकट मांसपेशियों में प्रकट हो सकते हैं। लगभग 24 घंटे बाद इसके संलक्षण स्पष्ट होने लगते हैं।

रोग-ग्रसित पशु देखने में दयनीय सा लगता है किन्तु उसकी चेतना सामान्य रहती है।

प्रतिवर्ती क्रिया बढ़ जाती है तथा रोगी शीघ्र ही डर जाता तथा चौंक उठता है। लेखक के रोगियों में से एक गाय में, अपरिचित मनुष्यों पर आक्रमण करने का स्वभाव देखा गया। प्रारम्भ में नाडी-गति एवं तापक्रम नार्मल रहता है तथा प्राणघातक आक्रमण के अंत में पशु को 110° फारेनहाइट तक तेज बुखार हो जाता है, जो मृत्यु के बाद भी कई घंटों तक बढ़ता रहता है। इतना अधिक तापक्रम किसी और बीमारी में नहीं देखा जाता। रोग के हल्के प्रकोप में बीमारी की पूरी अवधि में नाडी गति तथा तापक्रम नार्मल रहता है। लहरी-गति कम हो जाती है तथा अँतड़ी में कब्ज हो जाता है।

घोड़ों में कंकाल-पेशियों में तनावपूर्ण अत्यधिक ऐंठन होती है। सिर अथवा पिछले पैरों की मांसपेशियों से यह तनाव प्रारम्भ होकर धीरे-धीरे अथवा शीघ्र ही पूरे शरीर में फैल जाता है। कभी-कभी यह ऐंठन किसी ग्रुप की मांसपेशियों तक ही सीमित रहती है, ऐसी दशा में इसे स्थानीय टेटनस कहते हैं। जबड़े की मांसपेशियों में ऐंठन होने के कारण पशु का चारा पकड़ने तथा चबाने में कष्ट होता है। सिर की अन्य मांसपेशियों के रोग ग्रसित होने पर पशु के कान अजीब तरह से खड़े दिखाई देते, पलक सिकुड़ जाते, तीसरा पलक उभर आता, नथुनों का प्रसार हो जाता और कभी-कभी पशु को निगलने में भी कष्ट हो जाता है। रोग-ग्रसित घोड़ा फर्श पर रखी हुई घास को नहीं खा पाता।

चित्र—70 टेटनस रोग से पीड़ित अश्व।

गर्दन, पीठ तथा पूँछ की मांसपेशियों में ऐंठन होने के कारण पशु के सिर तथा गर्दन में अकड़न होती है और पूँछ ऊपर उठ जाती है। कभी-कभी सिर तथा गर्दन पीछे की ओर मुड़ जाती है तथा पूँछ एक ओर को हो जाती है। पशु को मुड़ने में कष्ट होता है। पैरों की मांसपेशियों में अकड़न होने के कारण पशु को चलने में कष्ट होता है। कुछ रोगियों में पैर फैलकर दूर दूर हो जाते हैं। अकड़न अथवा पीछे हटने में कष्ट होना टेटनस का प्रथम लक्षण हो सकता है। रोग-ग्रसित मांसपेशियों में प्रायः पसीना आता तथा कम्पन होता है।

सम्पूर्ण शरीर अथवा श्वसन की मांसपेशियों के रोग-ग्रसित होने पर श्वसन तथा रुधिर-परिवहन में गड़बड़ी उत्पन्न होकर पशु तेजी से सांस लेता है। उसकी श्लेष्मल झिल्लियाँ रक्तवर्ण हो जाती हैं तथा अंतिम समय में हृदय की गति अति तीव्र हो जाती है। उदर की मांसपेशियों के सिकुड़ जाने के कारण पशु का पेट खिंचा हुआ सा प्रतीत होता है।

ढोरों में : सींग काटने, नाक में कड़ा डालने तथा ब्याने के उपरान्त इस बीमारी की छूत लगती देखी गई है। एक सांड में ऑपरेशन के लगभग एक सप्ताह बाद बीमारी का प्रकोप देखा गया। सिर तथा गर्दन का प्रसार, निक्टेटिंग झिल्ली का निकलना, सिकुड़ा हुआ उदर, ऐंठनयुक्त उठी हुई पूँछ तथा मुड़े हुए पैरों के रूप में इसके लक्षण काफी स्पष्ट थे। पशु के पूरे शरीर में ऐंठन थी। मांसपेशियों में कंपकपी हो सकती है। एकाएक गति करने एवं निकट में शोर होने पर रोगी पशु चौंक उठते हैं तथा उनका तीसरा पलक बाहर उभर आता है।

सूकरों में : यह रोग पूरे शरीर में प्रकोप करता है। रोग के आवेग पर इसका फलानुमान आधारित रहता है और संभवतः शोषित की हुई टॉक्सिन की मात्रा ज्ञात करके इसका पता लगाया जा सकता है। रोग के भीषण प्रकोप में दो या तीन दिन से लेकर (अति उग्र अवस्था) एक सप्ताह से दस दिन (उग्र अवस्था) में रोगी की मृत्यु हो जाती

चित्र—71. टेटनस रोग से पीड़ित सुअर।

है। रोग के हल्के प्रकोप में यदि पशु दो सप्ताह तक जीवित रह जाता है तो उसके अच्छे हो जाने की संभावना रहती है। ऐसे रोगी दीर्घकालिक कहलाते हैं। आंशिक टेटनस में तथा उद्भवन काल लम्बा होने पर भी फलानुमान अनुकूल रहता है। पशु का खाते-पीते रहना तथा शरीर में उग्र ऐंठन की अनुपस्थिति इसका अनुकूल लक्षण है। फलानुमान सदैव ही अनिश्चित सा रहता है क्योंकि कुछ रोगियों की हालत में सुधार होकर इसका

पुन. आक्रमण हो जाता है। अच्छा होने के लिए तीन से चार सप्ताह की आवश्यकता पड़ती है तथा 6 सप्ताह तक ऐंठन मौजूद रह सकती है। लगभग 75-80 प्रतिशत रोग-ग्रसित पशुओं की मृत्यु हो जाती है। लेखक के चल-चिकित्सालय में 15 वर्ष की अवधि में 60 प्रतिशत तक मृत्युदर देखी गई। ढोरों, भेड़ों तथा सुअरियों में यह 100 प्रतिशत तक रही। विभिन्न वर्षों में देश के विभिन्न भागों में मृत्युदर भिन्न-भिन्न रही।

चिकित्सा—अत्यधिक मात्रा में टेटनस ऐंटिटॉक्सिन का प्रयोग करने पर भी मृत्युदर पर कोई प्रभाव न पड़ा। फ्रोनर तथा जुइक[3] ने बताया कि पहले विश्वयुद्ध काल में जर्मन फौज के पशुओं में अधिक मात्रा में सीरम देकर टेटनस से पीड़ित 245 घोड़ों की चिकित्सा की गई। इसमें मृत्युदर 62 5 प्रतिशत रही। जिन पशुओं की चिकित्सा नहीं

चित्र—72. टेटनस रोग से पीड़ित गाय।

की गई उनमें मरने वाले पशुओं की संख्या 65 प्रतिशत थी। रोग-हर चिकित्सा के रूप में सीरम का प्रयोग बेकार सिद्ध हुआ। लेखक का कहना है कि अपने चल-चिकित्सालय में उन्होंने टेटनस की चिकित्सा में 100000 से 200000 यूनिट की मात्रा में सीरम का अंत. शिरा इन्जेक्शन देने के बाद भी औसत 60 प्रतिशत मृत्युदर में कोई परिवर्तन नहीं पाया। फिर भी, यह कहा गया कि रोग के आक्रमण के समय 30,000 से 50,000 यूनिट की मात्रा में पहली खुराक देकर 12 से 24 घंटे के अवकाश पर दोहरा देने से लगभग 10 प्रतिशत मृत्यु दर कम हो जाती है। ऐसे अनुकूल परिणाम उत्तरी प्रक्षेत्रों की जलवायु में ही सम्भव होते हैं जहाँ टेटनस का कम तथा हल्का प्रकोप होता है। ऐंटिटॉक्सिन को प्रायः अंतः शिरा इन्जेक्शन द्वारा दिया जाता है किन्तु कुछ लोग इसके अतिरिक्त इसे मांस पेशियों तथा मेरुरज्जु-नाल (spinal canal) में भी प्रविष्ट करना पसंद करते हैं।

ऐंटिटॉक्सिन का प्रमुख प्रभाव, केन्द्रीय तन्त्रिका-तन्त्र में पहुँचकर, स्थायी होने से पूर्व स्वतंत्र तथा अपरिवर्तित टॉक्सिन को शरीर में उदासीन करना है और यह कार्य बड़े पशुओं

में पहले दिन 150,000 से 200,000 यूनिट देकर सपन्न किया जा सकता है। ऐंठन से बचाने के लिए तन्त्रिका-तन्त्र को शिथिल करने वाले पदार्थ जैसे क्लोरल हाइड्रास देना चाहिए। बर्न्स[4] (Burns) ने 100-150 घ० सें० की मात्रा में प्रोकेन हाइड्रोक्लोराइड के 2.5 प्रतिशत घोल को अंतःशिरा इन्जेक्शन द्वारा पहले दो दिन तक रोजाना, तत्पश्चात् प्रत्येक दूसरे दिन दो या तीन बार देना उपयोगी बताया।

पशु को अँधेरे तथा शांतिमय कमरे में रखना लाभदायक है। रोगी पशु को फर्श से कुछ ऊँचे पर रखकर चारा पानी देते रहना चाहिए जिससे उसे अपने सिर को अधिक नीचे न झुकाना पड़े। उठने या खड़े होने में कष्ट होने पर, पशु को रस्सी का सहारा देकर लटकाना अधिक अच्छा है। चोट लगने पर संक्रमण के बाद पहले 72 घंटों के अन्दर पशु को 500 से 1500 यूनिट की मात्रा में टेटनस ऐंटिटॉक्सिन देना बचाव के लिए प्रभावकारी है। इससे निष्क्रिय प्रतिरक्षा उत्पन्न होती है जो लगभग 10 दिन तक रहती है।

टेटनस के प्रति सक्रिय प्रतिरक्षण रमन[5] (Ramon) द्वारा उत्पन्न किया गया। उन्होंने 30, 000 घोड़ों को टेटनस ऐंटिटॉक्सिन दिया तथा महीने के अंत पर इस मात्रा को दोहराया। एक वर्ष बाद इन घोड़ों के रक्त में प्राकृतिक रूप से टेटनस के बचाव के लिए काफी मात्रा में ऐंटिटॉक्सिन मौजूद थी। ग्लेनी, हैम्प और स्टीवेंस[6] ने जीव-विषाभ (टाक्सॉइड) के प्रयोग से इसके प्रति सक्रिय प्रतिरक्षा उत्पन्न की और टेटनस के बचाव की यह विधि अब सभी लोगों द्वारा लाभप्रद मानी जाती है।

संदर्भ

1. Gessler, C. N., A clinical study of tetanus, J.A.V.M.A., 1946, 130, 457.
2. Firor, Textbook of Medicine, Cecil, 1951, p. 196.
3. Frohner-Zwick-Wirth, Kompendium per spez. Path. und Ther., Stuttgart, Enke, 1938, p. 193.
4. Burns, C. C., Procaine hydrochloride intravenously, for tetanus in horses and mules, J.A.V.M.A., 118, 325.
5. Ramon, G. and Lemetayer, E., Sur l'aptitude a la production de l'antitoxine tetanique de chevaux anterieurement vaccines contre le tetantos, c. r. Soc. Biol., Paris, 1931, 106, 21, abs. Vet. Rec. 1930, 10, 579.
6. Glenny, A. T., Hamp, A. G., Stevens, M. F., Protection of horses against tetanus by active immunization with alum toxoid, Vet., J., 1932, 88, 90.

सूकर-एरिसिपेलस

(Swine Erysipelas)

परिभाषा—सूकर-एरिसिपेलस; एरिसिपेलस बैसिलस (Erysipelothrix rhusiopathiae suis) से होने वाली उग्र, कुछ कम उग्र अथवा दीर्घकालिक अवस्थाओं में प्रकोप करने वाली एक छुतैली बीमारी है। रोग-जनकता के आधार पर इसे जठर-आंत्र शोथ, प्लीहा शोथ, गुर्दाशोथ तथा हृदय, यकृत और मांसपेशियों के अपकर्षण द्वारा पहचाना

जाता है। प्रमुख रूप से यह बीमारी सुअरों में ही होती है किन्तु मनुष्य, मेमना, कबूतर, खरगोश, टर्की पक्षी तथा चुहियाँ भी ग्रहणशील हैं।

कारण—सन् 1882-83 में पास्चर तथा टुइलीर ने बैसिलस का पता लगाया तथा बैक्सीन तैयार किया। सन् 1879 में कोच द्वारा खोज किया गया मूषक-रक्तपूतिता बैसिलस (बै० मूरीसेप्टिकस) अब सूकर-एरिसिपेलस से मिलता-जुलता कहा जाता है। सन् 1885 में स्मिथ[1] ने तथा 1892 में मूर[2] ने सूकरों के ताजे टिसुओं से कुछ जीवाणु प्राप्त किए जिन्हें उन्होने मूषक-रक्तपूतिता रोग का बैसिलस कहकर पहचाना, किन्तु उन्होंने इन जीवाणुओं को सूकर-एरिसिपेलस का कारक नहीं माना। सन् 1920 के प्रारम्भ में विभिन्न प्रकार के क्षतस्थलों से पुन इन जीवाणुओं के प्राप्त होने की सूचनाएँ मिली। टेन्ब्रोयक[3] द्वारा सूकर-कालरा से ग्रसित सुअरियों के टासिल से, कोच[4] द्वारा हीरक-चर्म रोग के क्षतस्थलों से, वार्ड[5] द्वारा सूकरों में बहुसंधिशोथ से तथा गिल्टनर[6] द्वारा उग्र रक्त-पूतिता के रोगियों से इन्हें प्राप्त किया गया। तत्पश्चात् 10 वर्ष बाद सन् 1930 के प्रारम्भ में रोग की उग्र रक्तपूतित प्रकार, जिसने यूरोपीय यूथों को वर्षों से नष्ट किया, यूनाइटेड स्टेट्स के दूर-दूर स्थित अनेक क्षेत्रों में प्रकोप करते बताई गई (टेलर,[7] मस,[8] बेकर[9])। सन् 1933 में बेकर ने इस रोग को न्यूयार्क में पहचाना जहाँ सूकर-कालरा के प्रति टीका लगाने के बाद अनेक सूकरो की मृत्यु हो गई। सन् 1938 में ब्रीड[10] ने बताया कि 48 में से 28 प्रदेशों में इस संक्रमण को सूकर-रोगों का कारण माना जाता है। सन् 1931 से 1937 तक का इन अन्वेषणों का संक्षिप्त काल यह प्रदर्शित करता है कि अज्ञात रूप से यह संक्रमण काफी फैला हुआ है। यह संक्रमण किस हद तक फैला हुआ है इसका अनुमान वैन एस तथा मक्ग्रेथ[11] द्वारा नेब्रास्का में एक बीमारी पर प्रस्तुत सन् 1942 की रिपोर्ट द्वारा हो जाता है जिसमें लिखा है कि "इस कार्य के संबंध में उग्र सूकर-रोगों की 281 महामारियों का अध्ययन किया गया और इनमें से 24 प्रतिशत सूकर-एरिसिपेलस मिला।" सन् 1938 में ब्रीड[10] ने यह पता लगाया कि यूनाइटेड स्टेट्स के मध्य-पश्चिमी भाग में सूकरों में होने वाले उग्र संक्रामक रोगों में से 10 से 17 प्रतिशत सूकर-एरिसिपेलस ही होता है। सन् 1940 में पशु-उद्योग ब्यूरो ने सूकरों में विभिन्न अंशों का संधि-शोथ प्रदर्शित करने वाली 472 संधियों का परीक्षण किया। प्राप्त नमूनों में 75 प्रतिशत से अधिक में से सूकर-एरिसिपेलस का जीवाणु निकला और संक्रमण का सबसे अधिक प्रकोप कार्नबेल्ट (CornBelt) से प्राप्त नमूनों में मिला। सन् 1944 में बीमारी मध्य-पश्चिम में बढ़ती हुई तथा धीरे-धीरे अन्य भागों में फैलती हुई बताई गई। इस प्रकार सूकरों के ताजे टिसुओं में मूषक-रक्तपूतिता बैसिलस की महत्ता पर मूर द्वारा की गई आलोचना सिद्ध हो गई।

इस महामारी के प्रकोप में काफी विभिन्नता होती है। जिन फार्मों पर पहले से इसकी छूत नहीं होती वहाँ यह अपने प्रकार तथा वेग में सूकर-कालरा से मिलती-जुलती है अथवा यह दो या तीन पशुओं पर आक्रमण करके अदृश्य होती हुई सी प्रतीत होती है। इसके प्रारम्भिक आक्रमण के बाद पशु लाचार अथवा लँगड़ा हो सकता है जो सूकर-एरिसिपेलस के संक्रमण के कारण होता है। प्रयोगशाला-परीक्षण के उपलब्ध अभिलेखों को

देखने से यह ज्ञात होता है कि यह बीमारी चार पाँच वर्ष तक बढ़ने के बाद फिर कम होने लगती है। रुक-रुक कर आक्रमण करने तथा आकस्मिक प्रकोप के गुणों के कारण यह बीमारी शरीर में पहचानी जाने से पूर्व ही प्रवेश पाकर स्थायी हो चुकी होती है। ग्रैहम तथा डनलप[12] के अनुसार "जिस फार्म पर सूकर एरिसिपेलस का एक बार भीषण प्रकोप हो चुका होता है उस पर नए पैदा होने वाले सुअरों को भी रोग-ग्रसित सूअरों के संपर्क में आने अथवा संदूषित बाड़ों, यूथों तथा चरागाहों से इसकी छूत लगकर यह बीमारी फैलती रहती है।" जिन फार्मों पर रोग का उग्र प्रकार पहचाना नहीं जा पाता वहाँ इसकी दीर्घकालिक अवस्था भी हो सकती है। सूकर-कालरा की भाँति इसके नए प्रकोप जल्दी तथा बहु-वितरित नहीं होते।

सूकर-एरिसिपेलस का मौसमी प्रकोप निश्चित ढंग से होता है। जुलाई से सितम्बर तक इसका खूब प्रकोप होता है तथा वर्ष के अंत में यह काफी कम हो जाता है। पहले से चौथी तिमाही तक इसकी प्रतिशत 5, 25, 55 तथा 15 है। 3 से 12 माह की आयु अत्यधिक ग्रहणशील है यद्यपि यह बीमारी बड़ी आयु के पशुओं में भी कम प्रकोप नहीं करती। इलीन्वायस में अधिकांश प्रकोप प्रथम चार माह की आयु में हुए जिसमें कि पहले माह में लगभग 16 प्रतिशत थे (मोरिल)[13]।

दक्षिणी डकोटा में दूध पीने वाले सुअरों के बच्चों में हैरिंगटन[14] ने उग्र तथा अति प्राणघातक प्रकार में इसके अनेक प्रकोप देखे। वैन एस[11] ने बताया कि नेब्रास्का में एक सप्ताह से कम आयु वाले बच्चे भी कभी-कभी इसका शिकार होते हैं। सूकर-एरिसिपेलस बैसिलस की गति पर मिट्टी के प्रभाव को वैन एस[11] ने वर्णन किया। उन्होंने यह बताया कि चूना तथा खाद युक्त मिट्टी एवं क्षारीय प्रतिक्रिया वाली भूमि इसके विकास के लिए अति उत्तम है तथा अम्लीय भूमि में यह जीवाणु नहीं पनपता। कुछ क्षेत्रों में इस बीमारी के प्रकोप की प्रकृति के लिए मिट्टी की विभिन्नता उत्तरदायी है। रोग से अच्छे हुए पशुओं में सदैव के लिए प्रतिरक्षा उत्पन्न हो जाती है।

जीवाणु विज्ञान – सूकर एरिसिपेलस का बैसिलस बेलनाकार, पतला, सीधा अथवा टेढ़ी छड़ के रूप में 1 से 1·5 माइक्रान लम्बा होता है। सूकर-एरिसिपेलस से मरे हुए पशुओं की प्लीहा तथा गुर्दों से यह आसानी से प्राप्त किया जा सकता है। अक्सर यह श्वेताणुओं के बीच स्थित रहता है। यह ग्राम धनात्मक छड़ है जिसे एनिलीन रंग में रंग कर देखा जा सकता है। कबूतरों तथा सफेद चुहियों में इसका प्रयोगात्मक रूप से संचार किया जा सकता है। कबूतर इसके प्रति अत्यधिक ग्रहणशील हैं। संदूषित पदार्थ को खिलाकर अथवा टीका लगाकर सूकरों में यह रोग उत्पन्न करने के प्रयास प्रायः विफल रहे।

इस जीवाणु की बहुविस्तृत विभिन्नता और उसके परिणामस्वरूप होने वाली विभिन्न प्रकार की बीमारी का वैन एस द्वारा निम्न प्रकार वर्णन किया गया है[11] : "ऐसा देखा गया है कि सूकर-एरिसिपेलस का बैसिलस बिना हानि पहुँचाने वाली परजीवी प्रकार से एकाएक रोगजनक अवस्था में परिवर्तित हो सकता है। ऐसा किन कारणों से होता है, यह अज्ञात है।"

रोग के उग्र प्रकोप में यह जीवाणु शरीर भर में वितरित रहता है। कुछ कम उग्र तथा दीर्घकालिक रोगियों में इस रोग का जीवाणु संधियों, त्वचा, तथा हृदय के कपाटीय क्षतस्थलों जैसे रोग-ग्रसित भागों में पाया जाता है। स्वस्थ सुअरियाँ इस जीवाणु को अपने टॉसिलों तथा अँतड़ियों में छुपाए रख सकती हैं तथा रहने वाले स्थान में लगातार संक्रमण का स्रोत बनी रहती हैं।

शरीर के बाहर, कम से कम एक वर्ष तक यह जीवाणु मिट्टी में रह सकता है तथा अनुकूल परिस्थितियों में यह वहाँ अपना विकास भी कर सकता है। सड़न, गर्मी तथा सूर्य के ताप को यह सहन कर लेता है और मांस में यह सुखाने, गर्म करने तथा भण्डारित करने पर भी नष्ट नहीं होता। बैसिलस को पकाकर नष्ट करने के लिए एक 6 इंच मोटे मांस के टुकड़े को 2 5 घंटे तक उबालने की आवश्यकता पड़ती है। यह भी देखा गया है कि इसकी कुछ प्रजातियाँ जीवाणुनाशक पदार्थ जैसे फीनोल के मिश्रण में भी जीवित रह सकती हैं तथा अपना विकास तक कर सकती हैं। यह जानकारी सूकर-एरिसिपेलस बैसिलस को ऐसे नमूनों से अलग करने में भी सहायक सिद्ध हुई है जहाँ शीघ्र वृद्धि करने वाले संदूषण साधारण प्रयोगशाला विधियों द्वारा इसे अलग करने में बाधा डालते हैं—पशु-उद्योग ब्यूरो की रिपोर्ट (बी० ए० आइ० रिपो०) (1937)।[10] सूकर-कालरा वाइरस के लिए परीक्षा किए जाने वाले 400 सुअरों में से 4 प्रतिशत में जीवित सूकर-एरिसिपेलस जीवाणु मिले—संयुक्त राज्य पशु-उद्योग ब्यूरो (U S B A I) (1944)।[10]

छूत लगने का ढंग—रोग की छूत आहारनाल अथवा त्वचा द्वारा शरीर में प्रवेश पाती है। संभवतः यह बीमार पशुओं के मल से संदूषित चारा खाने अथवा पानी पीने से लगती है। इस बीमारी से मरे हुए सूकरों की अंतड़ी आदि खा जाने पर भी आहार-नाल में इसकी छूत पहुँच जाती है। रोग से अच्छे होने वाले पशुओं के शरीर में इसके जीवाणु छिपे रहते हैं, अतः असंक्रमणित स्थानों में इसकी छूत इन्हीं पशुओं द्वारा ले जाई जाती है तथा सामुदायिक बिक्री की प्रगति के साथ-साथ बीमारी लगने का यह ढंग बढ़ता ही चला जाता है। कभी-कभी रोग लगने का यह ढंग अस्पष्ट ही रहता है। ऐसा विचार किया जाता है कि पूर्ण शक्तिवान होने के लिए इन जीवाणुओं को एक सुअर से दूसरे सुअर के शरीर में चक्कर लगाने की आवश्यकता पड़ती है तथा विशिष्ट जीवाणु का केवल शरीर में प्रवेश पा लेना अधिक महत्वपूर्ण नहीं है।

विकृत शरीर रचना—उग्र सूकर-एरिसिपेलस के रोगजनक परिवर्तन उग्र रक्तपूतिता की अन्य प्रकारों की भाँति न होकर काफी भिन्न होते हैं। इसके केवल दो नैदानिक क्षतस्थल पहचाने गए हैं ज्वर पित्ती के रूप में त्वचा के क्षतस्थल, तथा दीर्घकालिक अंतर्हृद शोथ। त्वचा नार्मल अथवा कुछ क्षेत्रों में शोथपूर्ण मोटाई के साथ अत्यधिक लाल हो सकती है। आमाशय तथा छोटी अँतड़ी की रक्तस्रवित शोथ, यकृत तथा मसेंटरिक लिम्फ ग्रंथियों की सूजन तथा संकुलन, बड़ी हुई प्लीहा, रक्तस्रवित गुर्दा-शोथ तथा मूत्राशय का रक्त वर्ण अथवा रक्तस्रवित होना इसके प्रमुख आन्तरिक क्षतस्थल हैं। यकृत का रंग लाली लिए हुए बादामी हो जाता है। गुर्दे सूजकर, मुलायम तथा गीले प्रतीत होते हैं और

उनकी सतह पर रक्तस्राव के धब्बे मिल सकते हैं। पेरिटोनियल तथा प्लूरल-गुहाओं में थोड़ी मात्रा में द्रव भरा मिलता है। आमतौर पर मेसेण्टरिक ग्रूप की कुछ ग्रंथियों को छोड़कर, लिम्फ ग्रंथियों में रक्तस्राव नहीं होता। फेफ़ड़ों में अतिरक्तता तथा सूजन मौजूद हो सकती है।

चित्र–73. (*a*) अलिंद-निलय कपाटों पर प्रोद्भवन प्रदर्शित करता हुआ दीर्घकालिक सुकर-एरिसिपेलस रोग से पीड़ित रोगी का हृदय (कार्नेल वेटनेरियन, 1933, 23, 66, डी० डब्ल्यू० बेकर के सौजन्य से प्राप्त फोटोग्राफ)।

रोग की दीर्घकालिक अवस्था में हृदय के द्विकपर्दी कपाटिका (mitral valve) में रुकावट के साथ कीलकी अन्तर्हृद शोथ (verrucose endocarditis) होना इसका सबसे प्रमुख लक्षण है। संधियों में सूजन होती है तथा पेरिटोनियम और फेफड़ों में दीर्घकालिक शोथयुक्त परिवर्तन मिल सकते हैं।

लक्षण—वैसे तो बैसिलस के आवेग, पशु की सहन शक्ति तथा रोग की अवस्था के अनुसार सूकर एरिसिपेलस के लक्षण काफी भिन्न हो सकते हैं फिर भी इसकी उग्र रक्तपूतित तथा दीर्घकालिक, दो प्रमुख अवस्थाएँ होती हैं।

उग्र एरिसिपेलस आमतौर पर प्रकोप करने वाली रोग की प्रमुख प्रकार है जिसमें पशुओं की मृत्यु हुआ करती है। इसमें उग्र रक्तपूतिता की भाँति लक्षण होते हैं तथा प्रमुख

क्षतस्थल अंतड़ियों एवं त्वचा में देखे जाते हैं। एक साथ कई पशु बीमार पड़ते हैं तथा कुछ पशुओं की एकाएक मृत्यु होकर रोग पूरे यूथ में फैलने लगता है। फिर भी, कुछ पशुओं में इसका आक्रमण अति शीघ्र नहीं देखा जाता। इसका उद्भवन काल तीन से चार दिन का होता है। रोग का आक्रमण एकाएक होता है। पशु का 105 से 108° फारेनहाइट तक तेज बुखार होता है और यह रोगी के अच्छा होने अथवा मृत्यु तक बना रहता है। बीमार पशु बड़े ही निराश से दिखाई देते हैं। प्राय वे यूथ के अन्य पशुओं में छिपे रहते हैं। वे खाना-पीना छोड़ देते तथा चलाने पर पिछले धड़ में कमजोरी प्रदर्शित करते हैं। वे प्राय उल्टी करते हैं। पहले कब्ज रहकर, बाद में दस्त आने लगते हैं। छूने पर अथवा चलाने पर वे दर्द के कारण चिल्लाते हैं। सूकर-कालरा की तुलना में इसमें कम निराशा होती, पशु की खाने-पीने में अपेक्षाकृत अधिक रुचि रहती तथा छेड़ने पर वे अधिक सक्रिय प्रतीत होते हैं। दूसरे या तीसरे दिन शरीर की निचली सतह पर, पिछले पैरों में अन्दर की ओर, तथा गले और कानों पर लाल-लाल चकत्ते पड़ जाते हैं और बाद में यह चकत्ते आपस में मिलकर शरीर पर बड़े-बड़े गहरे लाल रंग के धब्बों में परिणित हो जाते हैं। वैसे तो इन चकत्तों के कारण त्वचा का यह लाल रंग इसका प्रमुख लक्षण माना जाता है किन्तु, सूकर-कालरा के रोगियों में भी कभी-कभी ऐसा होते देखा जाता है। वैसे तो इसका कोर्स दो से चार दिन का होता है किन्तु, रोग के अति उग्र प्रकार में चौबीस घंटे में रोगी की मृत्यु हो सकती है। फेफड़ों की शोथ तथा हृदय की निर्बलता के कारण श्वास कष्ट होना तथा शरीर का नीला पड़ जाना पशु की मृत्यु का सूचक है। वैन एस और मकग्रेथ[11] के अनुसार मृत्युदर 50 से 100 प्रतिशत तक होकर औसतन 75 प्रतिशत होती है। मृत्युदर के बारे में विभिन्न लोगों के विचार काफी भिन्न हैं। रोग का उग्र आक्रमण होने पर चार दिन तक जो सुअर जीवित रह जाते हैं उनके अच्छे होने की आशा की जा सकती है। इस अवधि में सुअरों की अधिकतम मृत्यु होती है, किन्तु रोग के आक्रमण के बाद दसवें से पन्द्रहवें दिन भी मृत्यु हो सकती है।

मर्स[8] तथा अन्य लोगों द्वारा इसकी एक माध्यमिक अथवा कुछ कम उग्र अवस्था भी वर्णन की गई है। चौथे से दसवें दिन तक रोगी का बच जाना इसके अन्तर्गत आता है। अत्यधिक कमजोरी तथा अवसन्नता के साथ सुअरों का एक करवट लेटे रहना इसके लक्षण हैं। उठाकर खड़ा करने पर वे उल्टे सीधे गिर पड़ते हैं। यदि चलने के योग्य हो तो उनकी चाल में अकड़न होती है तथा वे कुछ भी नहीं खाते। पैरों, कानों, पलकों तथा थूथन पर सूजन आ जाती है। उदर तथा अन्य पतली खाल वाले भागों की त्वचा लाल अथवा बैंगनी पड़ जाती है तथा कंधों, पीठ एवं किनारों की त्वचा मोटी हो सकती है। बार-बार होने वाली संधिशोथ भी हो जाती है।

दीर्घकालिक एरिसिपेलस प्रमुख तौर पर संधिशोथ के रूप में प्रकोप करती है। यह परोक्ष रूप से अथवा उग्र प्रकार के परिणामस्वरूप हो सकती है। अकड़न, सूजी हुई संधियाँ तथा जीर्ण-शीर्ण अवस्था इसके प्रमुख लक्षण हैं। रोग की उग्र प्रकार के परिणामस्वरूप अन्तर्हृद्शोथ का विकास हो जाता है। रोग-ग्रसित पशुओं को साँस लेने में कठिनाई होती है। वे शीघ्र ही थक जाते हैं तथा चलाने पर बेहोश होकर गिर पड़ते हैं। हृदय की

धड़कन बढ जाती है। यदि रोगी पूर्णरूपेण ठीक नही होता है। तो वह कमजोर रहता तथा उसकी वृद्धि मारी जाती है। प्रायः उनमें अकड़न तथा पक्षाघात देखने को मिलता है। यूनाइटेड स्टेट्स में इस महामारी के अनेकों प्रकोप यह प्रकट करते हैं कि सँधिशोथ इसकी अक्सर होने वाली कम उग्र तथा दीर्घकालिक अवस्था है और बहुधा यह बीमारी प्रारम्भ से ही कुछ कम उग्र अथवा दीर्घकालिक हुआ करती है।

हीरक चर्म रोग (diamond skin disease) सूकर-एरिसिपेलस का सबसे मंद प्रकार है और यूनाइटेड स्टेट्स में इसका खूब प्रकोप होते देखा गया है। इसके लक्षण ज्वर-पित्ती से मिलते-जुलते हैं। शरीर के विभिन्न भागों तथा पैरो की त्वचा पर गहरे लाल अथवा काले रग के चौकोर अथवा षटभुजाकार चकत्ते पाए जाते है। एक से दो सप्ताह में त्वचा पर से खुरट छूटकर घाव भरने लगते हैं। भयंकर प्रकोप में त्वचा में परिगलन होकर चमडे की भाँति पपड़ी सी बन जाती है। रोग की यह प्रकार बहुत ही कम प्राणघातक होती है।

निदान—उग्र एरिसिपेलस की रक्तपूतित प्रकृति होने के कारण केवल लक्षणों तथा क्षतस्थलों द्वारा इसे अन्य सामान्य सक्रमणों, जैसे सूकर-कालरा तथा उग्र साल्मोनेल्ला रक्त-पूतिता, से अलग नही पहचाना जा सकता। स्वीपेस्टीफर सक्रमण, सूकर-एरिसिपेलस की अपेक्षाकृत कम आयु के पशुओं में होता है। सूकर-कालरा में रोग का आक्रमण अधिक एकाएक होता, पशु की खान-पान में पूर्ण अनिच्छा रहती, कोर्स वेगवान होता, लक्षणों में अधिक समानता होती तथा आँखों के पलक चिपक जाते हैं जो सूकर-एरिसिपेलस में नही देखे जाते। सूकर-एरिसिपेलस में; अधिक दर्द होना, पशु की एकाएक मृत्यु हो जाना तथा तेज बुखार आदि लक्षण दिखाई पड़ते है और एरिसिपेलस ऐंटिसीरम देने पर रोगी शीघ्र ठीक होने लगता है। सूकर-कालरा में; लिम्फ ग्रंथियाँ अधिक रोग-ग्रसित होती हैं, इनसे गहरे रग का रक्तस्राव होता है तथा शरीर भर में जगह-जगह रक्तस्राव मिलता है। प्लीहा आकार में सामान्य रहती है किन्तु, उसकी भीतरी सतह पर रक्तस्राव होता है। एरिसिपेलस में प्लीहा में रक्तस्राव नही होता, वह प्रायः सूज जाती है तथा अमाशय की श्लेष्मल झिल्ली में विस्तृत लालामी पाई जाती है। सूकर-कालरा में, आन्तराग प्लूरा में रक्तस्राव होकर फेफड़े प्रायः न्युमोनियायुक्त हो जाते हैं। उग्र एरिसिपेलस में फेफड़ों में शोथयुक्त क्षतस्थल बहुत ही कम होते है। गुर्दे दोनों बीमारियों में क्षतिग्रस्त होते हैं किन्तु, एरिसिपेलस रोग में गुर्दा टर्की के अण्डे की भाँति नही दिखाई देता।

प्रयोगशाला-परीक्षण के लिए रोग के उग्र प्रकार में प्लीहा, गुर्दा तथा हृदय का रक्त; एवं दीर्घकालिक प्रकार में जोड़, हृदय अथवा अन्य रोग-ग्रसित टिसू भेजना चाहिए। वैन एस[11] लिखते है कि निदान के ढगों में से जीवाणु-परीक्षण सर्वोत्तम है, क्योंकि सुअरों में केवल सूकर-एरिसिपेलस ही एक ऐसा रोग है जिसमें एरिसिपेलस बैसिलस के विशिष्ट गुण जैसे आकार, प्रकार तथा अभिरजन गुण प्रदर्शित किए जा सकते हैं। ऐसे परीक्षण मैदानी परिस्थितियों में भी किए जा सकते हैं जहाँ मृत्यु के तत्काल बाद ग्राम विधि से रंगने के लिए प्लीहा, गुर्दा के कार्टेक्स तथा हृदय के रक्त से काँच के स्लाइड पर लेप बना लिए जाते है। लाश यदि सड़ गई हो तो लेप बनाने के लिए लाल-अस्थि मज्जा का प्रयोग किया जा सकता है।

जीवाणु यदि न मिलें अथवा अत्यधिक सड़न लग चुकी हो तो रोग-ग्रसित टिसुओं को नार्मल लवण द्रव में घोटकर, प्राप्त घोल का कबूतर में इन्जेक्शन देना चाहिए। इसे साफ रुई से छानकर 0·5 से 1 0 घ० सें० की मात्रा में पेक्टोरल मास पेशी में प्रविष्ट किया जाता है। रोग-ग्रसित कबूतरों की 3 से 5 दिन में मृत्यु हो जाती है तथा प्लीहा, गुर्दा अथवा हृदय के रक्त से धनात्मक लेप प्राप्त किए जा सकते हैं। शोनिंग, कीच तथा ग्रे[15] ने सूकर-एरिसिपेलस के लिए शीघ्र-प्लेट-ऐग्लुटिनेशन-परीक्षण (rapid plate agglutination test) की विधि वर्णन की है जो अभी तक विश्वासनीय न सिद्ध हो सकी है।

बचाव—रोग का आक्रमण होते ही बीमार पशुओं को स्वस्थ पशुओं से अलग कर दीजिए तथा नए रोगियों के लिए रोजाना जाँच कीजिए। यदि संभव हो तो स्वस्थ पशुओं को साफ स्थानों पर भेज दीजिए तथा जिस जगह यह बीमारी हो चुकी हो उस स्थान का प्रयोग न करिए। सूकर एरिसिपेलस के प्रति पशुओं में प्रतिरक्षा उत्पन्न करना लाभप्रद है। इस कार्य के लिए केवल सीरम, अथवा सीरम और वैक्सीन का एक साथ प्रयोग किया जा सकता है। यूनाइटेड स्टेट्स में पशु-उद्योग ब्यूरो के विशिष्ट निर्देश के अन्तर्गत अति संक्रमणित क्षेत्रों में अब सामूहिक टीके का प्रयोग किया जाता है।

इस देश में अभी तक रोग-प्रतिरक्षण हेतु केवल सीरम का ही प्रयोग होता रहा है। रोग-ग्रसित फार्मों पर प्रत्येक नवजात सुअर के बच्चे को सीरम का टीका देकर उन्हें खुला छोड़कर सक्रिय प्रतिरक्षा की प्रतीक्षा की जाती है। किन्तु, अति संक्रमणित क्षेत्रों में जहाँ प्रत्येक बार ब्याने के समय यह रोग प्रकोप करता है, कन्ट्रोल करने की यह विधि खर्चीली सिद्ध हो सकती है। रोग के उग्र प्रकोप में यूथ की सभी सुअरियों को सीरम का टीका देना चाहिए। वैन एस[11] के अनुसार "जन-विक्रय केन्द्र जो मांस बेचने के लिए इन यूथों से स्वस्थ सुअर खरीदते हैं, उन्हें चाहिए कि अपने ग्राहकों के हित के लिए वे सभी सुअरों को ऐंटिसूकर एरिसिपेलस सीरम का टीका लगवा लें। ऐसे साधारण एवं सस्ते ढंग के द्वारा काफी संभावित ह्रास को बचाया जा सकता है।" सीरम की मात्रा 50 पौण्ड शरीर भार तक के लिए 5 घ० सें०, 50-75 पौण्ड के लिए 10 घ० सें०, 75-100 पौण्ड के लिए 15 घ० सें० तथा 100 पौण्ड से ऊपर के लिए 20 घ० सें० है। इस प्रकार उत्पन्न निष्क्रिय प्रतिरक्षा आठ से पन्द्रह दिन तक रहती है।

सन् 1938[16], की सं० रा० पशु-उद्योग-ब्यूरो की प्रमुख वार्षिक रिपोर्ट में निम्न-लिखित अवलोकन रिकार्ड किए गए :

"सूकर-एरिसिपेलस की छूत लगने के ढंगों तथा कन्ट्रोल करने की विधियों का अध्ययन करने के लिए सूकर-एरिसिपेलस से ग्रसित 30 सुअरियों वाली यूथ से 100 बच्चे परिपक्व अवस्था तक पाले-पोषे गए। इन बच्चों को माँ का दूध छुड़ाकर साफ भूमि पर पाला गया। इनमें से किसी में भी सूकर एरिसिपेलस का कोई भी लाक्षणिक प्रमाण न पाया गया।

"पशुओं पर वैक्सीन का प्रभाव अध्ययन करने के लिए तीन प्रकार के जीवित जीवाणुयुक्त टीकों के साथ प्राथमिक परीक्षण किए गए। खुरदरे प्रकार के जीवित सूकर-एरिसिपेलस जीवाणुयुक्त एक पदार्थ का, जो प्राचीन अध्ययन के अनुसार ग्रहणशील

प्रयोगशाला पशुओं को हानिकारक न था, नौ सूकरों के टीका लगाया गया। साथ ही नौ सूकरों को (1) ग्रहणशील प्रयोगशाला पशुओं के लिए घातक, चिकने प्रकार के सूकर एरिसिपेलस के जीवाणु से बने हुए वैक्सीन का टीका तथा (2) सूकर-एरिसिपेलस सीरम दिया गया। अन्य नौ सूकरों को, जैसा कि यूरोपीय देशों में प्रयोग होता है, व्यवसायिक रूप से उत्पादित जीवित जीवाणु युक्त वैसीन का टीका लगाया गया और साथ ही प्रत्येक को सूकर-एरिसिपेलस सीरम का भी एक इन्जेक्शन दिया गया। इनमें से प्रत्येक ग्रूप में बराबर की सख्या में बिना टीका लगाए सुअर भी रखे गए। टीका लगाने के बाद 10 माह से भी अधिक तक के किए गए अवलोकनों से यह ज्ञात हुआ कि टीका लगे हुए तथा लगातार इनके सपर्क में रहने वाले पशुओं में सूकर-एरिसिपेलस का कोई संक्रमण न था। इन तीन टीका लगाए गए ग्रूपों की आपेक्षिक प्रतिरक्षा ज्ञात करने के लिए प्रत्येक समूह में प्रयोगात्मक रूप से सूकर-एरिसिपेलस उत्पन्न करने के बार-बार किए गए प्रयास विफल रहे।

प्रतिरक्षित सीरम तथा वैक्सीन का टीका एक साथ भी दिया जा सकता है। सूकर-कालरा के टीके की भाँति 50 से 75 पौण्ड वाली सुअरियों को कान की जड़ के पास अथवा कक्ष-स्थान में 5 घ० सें० सीरम का एक ओर तथा 0·5 घ० सें० वैक्सीन का दूसरी ओर इन्जेक्शन दिया जाता है। इससे 4 से 6 माह तक की रोग-प्रतिरक्षा उत्पन्न हो जाती है। जिन देशों में यह बीमारी अधिक प्रकोप करती है, उनके लिए यह विधि बड़ी अच्छी सिद्ध हुई है। लगभग दो सप्ताह बाद वैक्सीन का दूसरा इन्जेक्शन देकर अधिक दिनों के लिए प्रतिरक्षा उत्पन्न की जा सकती है। पशु-उद्योग-ब्यूरो के विशेष आदेश द्वारा(1944)[16] टीका लगाने की यह विधि अब अनेक प्रदेशों में खूब प्रयोग हो रही है और एक दशलक्ष से ऊपर टीका लगाए गए सूकरों में इसके परिणाम बहुत ही सतोषजनक रहे हैं। जिन यूथों में बीमारी पहले से ही चल रही हो उनमें प्रत्येक पशु को सीरम का टीका देकर, 8 से 10 दिन बाद सीरम तथा वैक्सीन का एक साथ प्रयोग (Sero-Vaccination) करना चाहिए।

पास्चर वैक्सीन का दोहरा टीका देने के लिए पहले बैसिलस के कम शक्ति वाले संवर्धन का टीका देकर, लगभग दो सप्ताह बाद अधिक शक्ति वाले सवर्धन का टीका लगाया जाता है। इस विधि से अधिक दिनों तक रहने वाली सक्रिय प्रतिरक्षा उत्पन्न हो जाती है किन्तु, यह खतरे से खाली नहीं है क्योंकि इससे पशुओं की मृत्यु भी हो सकती है तथा संक्रमण के नए केन्द्र स्थापित हो सकते हैं।

जुइक ने बताया कि जिन पशुओं में छुपी हुई अवस्था में सूकर-कालरा मौजूद होता है उनको टीका लगाना खतरनाक सिद्ध हो सकता है, क्योंकि इसके परिणामस्वरूप कालरा का उग्र प्रकोप हो सकता है। साथ ही सूकर-कालरा का जीवाणु इन्जेक्शन देने वाली सुई पर लग जाता है, अतः सूकर-एरिसिपेलस के प्रति टीका लगाने के बाद सूकर-कालरा की महामारी फैल सकती है। सीरम को खराब होने से बचाने के लिए जितनी मात्रा टीका लगाने के लिए प्रयोग करनी हो उसको किसी साफ बर्तन में उलट लीजिए तथा किसी दूसरे यूथ पर प्रयोग करने से पूर्व पिचकारी को भली भाँति जीवाणुरहित कर लीजिए।

चिकित्सा—लक्षण प्रकट होने के 6 से 12 घटे बाद प्रतिरक्षित सीरम (10–40 घ० सें०) देने से रोगी पशु ठीक हो जाता है। इसको त्वचा के नीचे भी लगाया जा सकता है किन्तु अत शिरा अथवा अत मासपेशी इन्जेक्शन देना अधिक अच्छा है। 2 से 4 दिन की आयु पर सुअरो के बच्चो को 10 घ० सें० सूकर एरिसिपेलस ऐंटिसीरम का पहला इन्जेक्शन देकर, 4 सप्ताह की आयु पर पुन दोहरा देने से वेल्ट्सविले पर सूकरो के राजकीय यूथ में बढे हुए तथा सूजे हुए जोडो की बीमारी, जो पहले खूब प्रकोप करती थी, समूल नष्ट होते देखी गई—स० रा० पशु-उद्योग-ब्यूरो (यू० एस० बी० ए० आई०) रिपोर्ट, 1941 [16]

आयोवा में सूकर-एरिसिपेलस के विषय पर ऐकेन[17] ने लिखा कि जब बीमारी का हल्का प्रकोप होता है तो बचाव तथा चिकित्सा, दोनो ही, अच्छा काम करते हैं। उन्होने यह भी बताया कि यह बीमारी कार्नबेल्ट में एक विवादपूर्ण विषय है। सूकर-एरिसिपेलस की चिकित्सा के बारे में उन्होने लिखा कि "मई सन् 1949 में एक सुअर-पालक की दो सुअरियाँ मर गई तथा दो सुअर और दो सुअरियाँ बीमार हुईं। सुअरियाँ केवल 1 से 4 सप्ताह की आयु की थी, अत पूरे यूथ को एरिसिपेलस सीरम तथा वैक्सीन का टीका दिया गया, किन्तु 89 दिन बाद चार सुअरियों पर पुन उग्र एरिसिपेलस का आक्रमण हुआ। काफी बडी होने के कारण सुअरियों को ऐंटिसूकर-कालरा-सीरम तथा वैक्सीन का टीका लगाया गया। इसके बाद न तो फिर एरिसिपेलस वैक्सीन का प्रयोग किया गया और न तब से अब तक वहाँ किसी पशु में इस बीमारी का प्रकोप हुआ।" उग्र एरिसिपेलस से ग्रसित एक दूसरे यूथ में, सीरम तथा वैक्सीन का टीका देने के 88 दिन बाद "हमने कालरा के प्रति टीका लगाया, किन्तु इस बार, जैसा कि इसके अधिक तीव्र होने पर हम अक्सर करते हैं, हमने कालरा सीरम में 1 से 6 भाग एरिसिपेलस-सीरम मिलाया। बीमार यूथों में एरिसिपेलस-सीरम तथा वैक्सीन का टीका देने के 24 से 36 घटे बाद जो पशु बीमार हुए उन्हें थोडे से सीरम में 1000 यूनिट प्रति पौण्ड शरीर भार की दर से रवेदार पैनिसिलिन मिलाकर इन्जेक्शन देने से 49 में से 46 सुअर बच गए। एक दूसरे यूथ में 100 पौण्ड शरीर भार वाली बीमार सुअरियो को 25 घ० सें० एरिसिपेलस सीरम के साथ 100,000 से 250,000 यूनिट पैनिसिलिन दी गई।

सदर्भ

1 Smith, Theobald, 2nd An Rep B.A.I , U S Dept Agr pp 184 246, 1886
2 Moore, V A , J Comp Med. and Vet Archiv , 1892, 13, 333
3 Ten Broeck, Carl, Studies on Bacillus murisepticus, or the Rotlauf bacillus, isolated from swine in the United States, J Exp Med., 1920, 32, 331.
4 Creech, G T , The bacillus of swine erysipelas isolated from urticarial lesions of swine in the United States, J A.V M A , 1921, 59, 139
5 Ward, A.R , The etiology of polyarthritis in swine, J A.V M A., 1922, 61, 155
6 Giltner, A T , A fatal disease of young pigs apparently caused by the bacillus of swiaue rysipelas, J A.V M A., 1922, 61, 540

7. Taylor, J.B., Swine erysipelas, J.A.V.M.A., 1931, 79, 813.
8. Munce, T.W., and Willey, L.E., Enzootic swine erysipelas, N. Am. Vet., Feb. 1932, 13, 29.
9. Baker, D.W., An account of the accurrence of hog erysipelas infection in New York State, Cornell Vet., 1933, 23, 66.
10. Breed, Frank, Swine erysipelas; its distribution, increasing importance and control, J.A.V.M.A., 1938, 92, 341.
11. Van Es, L., and McGrath, C.B., swine erysipelas, Univ. Neb. Agr. Exp. Sta. Res. Bull. 128, Lincoln, 1942.
12. Graham, Robert, and Dunlap, G.L., Swine erysipelas, Univ. Ill. Agr. Exp, Sta. Cir. 471, Urbana, 1937.
13. Morrill, C.C., Swine erysipelas, Proc. U.S.L.S.S.A., 1945, p. 92.
14. Harrington, C.F., Field observations on erysipelas in swine, J.A.V.M.A., 1932, 82, 492.
15. Schoening, H.W., Creech, G.T., and Grey, C.G., A laboratory tube test and a whole blood rapid agglutination test for the diagnosis of swine erysipelas, N. Am. Vet., Dec. 1932, 13, 19; J.A.V.M.A., 1933, 82, 503.
16. U.S.B.A.I. Reports, 1937, p. 45; 1938, p. 61; 1940, p. 59; 1941, p. 35; 1944, p. 26.
17. Aiken, W. A., Acute swine erysipelas in northwestern Iowa, J.A.V.M.A., 1950, 116, 41; N. Am. Vet., 1951, 32, 324.

लेप्टोस्पाइरा-रुग्णता

(Leptospirosis)

परिभाषा—गोजातीय लेप्टोस्पाइरा-रुग्णता एक स्पाइरोकीट लेप्टोस्पाइरा पॉमोना द्वारा उत्पन्न होने वाली एक उग्र सामान्य छूतैली बीमारी है। बीमारी के प्रकोप के अनुसार इसके लक्षण भिन्न हो सकते हैं। निराशा, ज्वर, मुलायम तथा लचीला अयन, कम दूध देना तथा पेशाब में खून आना आदि इसके प्रमुख लक्षण हैं। दूध पीलापन लिए हुए गाढ़ा होता है तथा यह गुलाबी अथवा लाल रंग का हो सकता है। बिना किन्हीं अन्य लक्षणों के गर्भपात हो जाना इसका एक विशिष्ट गुण है। शव-परीक्षण करने पर त्वचा के नीचे स्थान-स्थान पर रक्तस्राव पाया जा सकता है। रोगी के ठीक होने के बाद उसके रक्त तथा दूध से जीवाणु गायब हो सकते हैं, किन्तु गुर्दे में इसका संक्रमण बना रहकर मूत्र द्वारा छूत फैलाता रहता है।

कारण—ढोरों में यह रोग कम से कम 30 प्रदेशों में होते बताया गया है जिसमें विस्कांसिन तथा इलीन्वायस में सबसे अधिक रोगी रिकार्ड किए गए हैं।[1] यद्यपि लेप्टो-स्पाइरा-रुग्णता के संक्रमण में वृद्धि होते बताई गई है,[2] किन्तु यह अभी तक स्पष्ट न हो सका है कि यह रोग स्वतः बढ़ रहा है अथवा इसके बारे में हमारे ज्ञान में वृद्धि हो रही है। सन् 1944 में इस देश में सबसे पहले यह रोग कनेक्टीकट में देखा गया।[1] सन् 1948 में बेकर और लिटिल[3] ने लेप्टोस्पाइरा को कृत्रिम माध्यम में उगाया। सन् 1952 में

योर्क[4] ने पूरक-स्थिरीकरण (complement fixation) नामक इसकी प्रयोगात्मक नैदानिक प्रयोगशाला विधि का वर्णन किया। सन् 1953 में योर्क तथा बेकर ने वैक्सीन के उत्पादन के बारे में घोषणा की।[11] पहले, रोग का निदान वहीं तक सीमित रहता था जहाँ पशुओं में टीका देने तथा लेप्टोस्पाइरा के पहचानने की विस्तृत नैदानिक विधियाँ उपलब्ध थीं, अथवा इसका निदान बीमारी के लक्षणों पर ही आधारित होता था। इन परिसीमनों के होते हुए भी लेप्टोस्पाइरा-रुग्णता देश के लगभग सभी भागों के विस्तृत क्षेत्रों में होते बताई गई और योर्क[4] ने यह बताया कि इस रोग से बहुत ही कम क्षेत्र मुक्त हैं। इसकी छूत परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप से रोग-ग्रसित पशुओं के संपर्क द्वारा, गंदे तालाबों अथवा झरनों से पानी पीने तथा ढोरों और सुअरों के रोग-ग्रसित गुर्दों से निकलने वाले मूत्र से लग सकती है।

रोगी पशु के ठीक होने के बाद भी गुर्दों में इस रोग का जीवाणु निवास करता है तथा काफी समय तक मूत्र-संक्रमण का स्रोत बना रहता है।[9] ढोरों के मूत्र में इसका संक्रमण कम से कम तीन माह तक देखा गया है।[4] चूँकि लेप्टोस्पाइरा प्रशीतक तापक्रम पर जीवित नहीं रह सकते, अतः यह सम्भव प्रतीत होता है कि दीर्घकालिक संक्रमणयुक्त गुर्दों वाले गोपशु एक मौसम से दूसरे मौसम में इसकी छूत का वाहक बनते हैं। गिनीपिग चुहियों, खरगोशों, भ्रूणयुक्त अण्डों, दुधारू गायों, युवा बछड़ों तथा सूकरों में यह बीमारी शीघ्र प्रकोप करती है। यद्यपि इसके प्रकोप का कोई समय निश्चित नहीं है, फिर भी न्यू जर्सी में अधिकतर इसके प्रकोप गरम मौसम में होते हैं। यूथ में इसका औसत प्रकोप 50 से 70 प्रतिशत तक होता है।[4] लिटिल तथा बेकर[9] ने ढोरों में इसका प्रयोगात्मक संचारण करके "स्पाइरोकीट को रक्त, दूध तथा बुखार के समय कभी-कभी गायों के मूत्र से प्राप्त किया। इसके अतिरिक्त जब पशु को हीमोग्लोबिन मेह अथवा ऐल्बूमिन-मूत्रता रोग हुआ तो इसके बाद काफी समय तक उसके मूत्र में यह जीवाणु उपस्थित रहा। प्राकृतिक होस्ट में अधस्त्वक् अथवा अंतःनासा इन्जेक्शन द्वारा उत्पादित प्रयोगात्मक संक्रमणों में स्वस्थता से लेकर मृत्यु तक की विभिन्नता देखी गई। प्रौढ़ ढोरों में ज्वर, निराशा, दूध उत्पादन में कमी तथा कभी-कभी मूत्र में ऐल्बूमिन का आना आदि लक्षणों के अतिरिक्त अयन से निकला हुआ दूध गाढ़ा पीला तथा लसदार था। दुधारू गायों में संक्रमित पदार्थ का इन्जेक्शन देने से दूध में कभी खून नहीं आया। युवा बछड़ों में ऐल्बूमिन-मूत्रता के साथ इसका उग्र प्रकोप होता था अथवा कभी-कभी हीमोग्लोबिन-मेह होकर उनकी मृत्यु हो जाती थी। नाक के अन्दर इन्जेक्शन देने पर कुछ बछड़ों में प्रतिक्रिया हुई जब कि अन्य ने बीमारी के कोई भी लक्षण प्रदर्शित न किए। बाद में जब इन पशुओं को संदूषित पदार्थ का त्वचा के नीचे इन्जेक्शन दिया गया, तो वे सभी प्रतिरक्षित निकले।[9]"

अभी हाल में ही बर्न्सटीन और बेकर[10] ने उस क्षेत्र के सुअरों में, जहाँ लेप्टोस्पाइरा पोमोना अक्सर पाया जाता है किन्तु, यह बहुत ही कम लक्षण उत्पन्न करता है, इसके संक्रमण पर निम्न प्रकार बताया : "त्वचा के नीचे अथवा नाक में इन्जेक्शन दिए गए 17 पशुओं में से 14 के रक्त में लेप्टोस्पाइरा जीवाणु पाए गए। विभिन्न अवकाशों पर नष्ट की गई 34 रोग-ग्रसित सुअरियों के मूत्र की जाँच की गई जिनमें से केवल 3 को छोड़कर

शेष सब में लेप्टोस्पाइरा जीवाणु मिले। इन्जेक्शन देने के बारह दिन बाद कुछ सुअरियों के मूत्र में, यह जीवाणु देखे गए। इन्जेक्शन देने के बाद दो सुअरियों में से एक के गुर्दों तथा मूत्र में 159 दिन तक ये जीवाणु देखे गए तथा दूसरी के गुर्दों में सक्रमण के 140 दिन बाद लेप्टोस्पाइरा मौजूद थे। रोग-ग्रसित सुअरियों के संपर्क में आने वाले सभी बछड़ों तथा सुअरों में इसकी छूत फैली। छूत लगने तथा संक्रमण दर्शन के बीच का समय 12 से 45 दिन का रहा। रोग-ग्रसित बछड़ों के संपर्क में आने वाले सुअरों को इस बीमारी की छूत न लगी। अधस्त्वक एवं अंतःनासा इन्जेक्शन दिए हुए तथा संपर्क में आने वाले सभी पशुओं को इस रोग की छूत लगी। लेप्टोस्पाइरा को मुँह द्वारा देने से इसका संक्रमण असफल रहा। टीका लगाए गए 33 पशुओं में से, 10 दिन के उद्भवन काल के बाद 22 में थोड़े समय के लिए बुखार देखा गया। दो को छोड़कर शेष सुअरियों में बीमारी के कोई लक्षण न थे। वे बिल्कुल चुस्त थीं तथा सामान्य तौर पर अपनी खूराक खाती थीं। ताप-क्रिया के एक या दो दिन बाद रक्त में रोग-प्रतिकारक (antibodies) प्रदर्शित किए गए तथा लेप्टोस्पाइरा को अलग न किया जा सका। रोग-प्रतिकारकों का प्रदर्शन करते समय दो को छोड़कर शेष सभी सुअरियों के मूत्र में लेप्टोस्पाइरा पाए गए · लेप्टोस्पाइरा प्रायः बहुत बड़ी संख्या में मौजूद थे। 285 सुअरों से एक किए हुए सीरम का सीरम-मूलक-परीक्षण करने पर 63 (22 प्रतिशत) पशु इसके लिए धनात्मक पाए गए। होस्ट के अन्दर लेप्टोस्पाइरा की वृद्धि एवं विकास के आधार पर किए गए अध्ययनों से यह पता चलता है कि सुअरों में यह जीवाणु अधिक रहना पसंद करता है। गो-पशुओं में यह तीन माह से अधिक नहीं रहता। इससे यह प्रतीत होता है कि सुअर लेप्टोस्पाइरा पॉमोना के प्राकृतिक होस्ट हैं।"

विकृत शरीर रचना—क्योंकि यह बीमारी बहुत ही कम प्राणघातक सिद्ध होती है अतः शव-परीक्षण परिवर्तन भयंकर अवस्था तक ही सीमित रहते हैं। केन्सास में इस रोग के एक भीषण प्रकोप का वर्णन करते हुए रोडरिक[0] ने लिखा कि वहाँ रक्तमिश्रित मूत्र के अतिरिक्त कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण क्षतस्थल भी मौजूद थे। पशु की लाश बिल्कुल पीली तथा रक्तहीन थी। कभी-कभी सीरस-झिल्ली के नीचे रक्तस्राव तथा पीलिया भी देखने को मिलती थी। पैदा होने के तत्काल बाद मरे हुए एक बच्चे का शव-परीक्षण करने पर, जिसमें पहले ही रक्तमूनता के लक्षण देखे गए थे, त्वचा के नीचे रक्तस्राव तथा अत्यधिक पीलिया पाई गई। आमतौर पर त्वचा के नीचे तथा हृदय पर छोटे-छोटे रक्तस्राव के दाने तथा पीले उदरीय वसा की उपस्थिति तक ही इसके क्षतस्थल सीमित थे।[6] बेकर और लिटिल[3] ने देखा कि दूध उत्पादन कम करने के अतिरिक्त इस पदार्थ ने गुर्दों को क्षति पहुँचाई तथा अंतरालीय गुर्दाशोथ उत्पन्न की। शव-परीक्षण करने पर कुछ पशुओं के गुर्दों की सतह पर 1 मि० मी० व्यास के सफेद धब्बे फैले हुए मिले। हिस्टॉलोजिकल-परीक्षण करने पर गुर्दों के कार्टेक्स तथा कार्टिको-मेडुलरी जोड़ पर एक न्यूक्लियस वाले कोशाओं से भरे हुए टेढ़े-मेढ़े चकत्ते से दिखाई दिए।

लक्षण—लिटिल और बेकर[9] द्वारा इस बीमारी की दो लाक्षणिक प्रकार वर्णन की गई हैं। "उग्र प्रकार में निराशा, हीमोग्लोबिनमेह, खाने में अरुचि, श्वासकष्ट, दूध उत्पादन

म कमी तथा 103 से 107° फारेनहाइट तक तेज बुखार के साथ इसका एकाएक आक्रमण होता है तथा पूर्ण रोगकाल भर रोगी पशु का बुखार रहता है। एक या दो दिन में शरीर की दिखाई देने वाली सभी श्लेष्मल झिल्लियाँ रक्तहीन होकर पीली पड जाती हैं। सभी थनों से रक्त मिश्रित दूध निकलता है जिसका रंग गुलाबी, लाल अथवा बादामीपन लिए हुए होता है। कभी-कभी इसमें रक्त की फुटकें भी पाई जाती है। अयन मुलायम और लचीला होता है। सूखी गाय के अयन से मिलता-जुलता यह लचीला अयन नैदानिक महत्त्व का है। हीमोग्लोबिनमेह प्राय मौजूद रहता है तथा मूत्र का रंग चमकीला लाल अथवा गहरा बादामी होता है। गाभिन पशुओं का गर्भकाल की प्रारम्भिक अवस्था में अथवा रोग से अच्छे होते समय गर्भ गिर जाता है और प्राय बच्चे के साथ ही जेर भी गिर जाती है। मृत्यु के पूर्व इसके लक्षण काफी उग्र हो जाते हैं। अवसन्नता के अतिरिक्त नाडीगति तथा श्वसन बढ जाता है। मूत्र का रंग चमकीला लाल हो जाता है तथा गोबर कभी-कभी पीला प्रतीत होता है। यदि अति रोग-ग्रसित ढोर ठीक होने लगते हैं तो लगातार बुखार, कमजोरी, रक्तस्वल्पता और मुर्दाशोथ के कारण उन्हें स्वस्थ होने में काफी समय लगता है।

"रोग का हल्का प्रकोप कुछ कम उग्र तथा बहुत कम प्राणघातक होता है और यह दो से चार दिन तक रहता है। पशु में निराशा, चारे में अरुचि, श्वास कष्ट, गर्भपात तथा दूध उत्पादन में कमी के लक्षण देखे जाते हैं अथवा कम उत्पादन तथा मूत्र एवं दूध के गुणों में परिवर्तन होने के अतिरिक्त पशु नार्मल प्रतीत होता है। उसे दो-तीन दिन तक 102 से 105° फारेनहाइट तक बुखार रहता है। दूध रक्त-मिश्रित हो सकता है, किन्तु अधिकतर यह गाढा, पीला तथा लसदार होता है। दोहन के अंत में दूध में रक्त का पता लगता है। यह केवल एक ही बार देखा जाता है अथवा दो या दो से अधिक दिनों तक मौजूद रह सकता है अयन सदैव मुलायम तथा लचीला रहता है। रोग के उग्र प्रकार की भाँति इसमें उतना शीघ्र गर्भपात नही होता। रोग की प्रारम्भिक अवस्था अथवा गाय के ठीक होने के समय उसमें रक्तमूत्रता देखी जाती है तथा मूत्र का रंग प्राय गहरा बादामी होता है।

कुछ गायो, बैलो तथा साडो में तापक्रम का बढना तथा हीमोग्लोबिनमेह, इस सक्रमण के केवल दो ही लक्षण दिखाई पडते हैं। कभी-कभी रोग के हल्के प्रकोप का रोगी मर भी जाता है तथा हीमोग्लोबिनमेह से पीडित पशु सप्ताहों तक पूर्णरूपेण स्वस्थ नही हो पाते।

यद्यपि लक्षणों के इस उत्तम वर्णन में गो-जातीय लेप्टोस्पाइरा-रुग्णता के बहुत से मिलते-जुलते गुण सम्मिलित हैं, फिर भी, विभिन्न रिपोर्टों द्वारा इसकी लाक्षणिक विभिन्नताएँ प्रदर्शित की गई हैं। इस प्रकार हीमोग्लोबिनमेह अनुपस्थित हो सकता है अथवा एक या दो आकस्मिक मृत्युओ तथा कुछ काल तक दूध उत्पादन में कमी जैसे लक्षणों के साथ एक तिहाई से आधे यूथ में बढे हुए गर्भकाल में गर्भपात हो सकता है।[8] "कभी-कभी मूत्र में रक्त तथा दूध में पीलापन अनुपस्थित हो सकता है। मास के लिए पाले जाने वाले बछडों की लगभग दो माह की आयु पर इससे एकाएक मृत्यु हो जाती है।" 360 पशुओं के एक यूथ में तीन माह की अवधि में 6 से 9 माह के 17 गर्भपात हुए। नहलाने अथवा रक्तपरीक्षण करने के लिए जब बहुत से पशु एक साथ इकट्ठे हुए तो 10 दिन

से लेकर दो सप्ताह बाद इसके लक्षण प्रकट हुए तथा जब उनको अलग रखने की नीति अपनाई गई तो यह लक्षण अदृश्य हो गए।[5] बछड़ों में लेप्टोस्पाइरा-रुग्णता दस्तों के साथ होने वाली एक प्राणघातक रक्तपूतिता है। जो बछड़े 3 से 4 सप्ताह की आयु पर इसके आक्रमण से ठीक हो जाते हैं उनके शरीर में ऐंटिबाडी नहीं बनतीं तथा वे सीरम-मूलक-परीक्षणों के प्रति प्रतिक्रिया नहीं प्रकट करते। कभी-कभी इस प्राणघातक रक्तपूतिता से गायें भी आक्रमणित हुआ करती हैं। लेप्टोस्पाइरोसिस से होने वाले ह्रास का प्रजनन में गड़बड़ी, कम दूध उत्पादन, रुकी हुई शरीर वृद्धि तथा तत्काल मृत्यु द्वारा अनुमापन किया जाता है। इस बीमारी से प्रौढ़ पशुओं में अधिकतम मृत्युदर 10 प्रतिशत तथा बच्चों में 25 प्रतिशत होती है।

निदान—दुधारू गाय में निम्नलिखित लक्षण देखकर लेप्टोस्पाइरोसिस का निदान किया जा सकता है : बुखार, पेशाब में खून आना तथा मुलायम और लचीला अयन जिससे पीलापन लिए हुए लसदार दूध निकलता है जिसका रंग गुलाबी अथवा लाल हो सकता है। यूथ के रक्त को[4] अथवा दो या तीन सप्ताह पूर्व गर्भपात हुई गायों के रक्त की पूरक-स्थिरीकरण-जाच (complement fixation test) करके यूथ में लेप्टोस्पाइरोसिस रोग की उपस्थिति का पता लगाया जा सकता है। चूंकि पूरक-स्थिरीकरण ऐंटिबाडी पशु के शरीर में से लेप्टोस्पाइरा के संक्रमण के दो से चार माह बाद गायब हो जाती हैं, अतः यह परीक्षण केवल हाल के हुए संक्रमणों तक के लिए ही सीमित है।

कंट्रोल—कंट्रोल की समस्या उस बीमारी के लिए लागू होती है जिसमें रोग-ग्रसित यूथ में 2 प्रतिशत से भी कम स्पष्ट रोगी मिलते हैं तथा गुप्त अवस्था में बीमारी 50 प्रतिशत से भी अधिक पशुओं में मौजूद होती है। लेप्टोस्पाइरोसिस का आक्रमण वर्ष भर न होकर केवल एक ही मौसम तक सीमित रहता है। लेपटोस्पाइरा बहुत ही कम शक्ति का जीवाणु होता है तथा बर्फ जमने के तापक्रम पर जीवित नहीं रह सकता। रोग-वाहक पशु के शरीर पर यह जीवाणु काफी समय तक जीवित रहता मालूम पड़ता है। ढोर अथवा सूकर जैसे रोग-वाहक होस्ट के शरीर पर से अलग होकर यह जीवाणु बहुत ही थोड़े समय तक जीवित रह पाता है। इस बात का सही पता नहीं है कि गोपशु कितने दिनों तक इसके रोग-वाहक रहकर छूत फैलाने का स्रोत बने रहते हैं, किन्तु नए खरीदे हुए पशु की तीन माह तक अलग रखना यह अनुमान कराता है कि यह अवधि अल्पकालीन है। कंट्रोल की समस्या के अन्तर्गत पशु की रोग-वाहकों से रक्षा करना तथा उनके संपर्क में आए दूषित पदार्थों को खाने से बचाना आता है। चरागाहों के बदलने, यूथ की सही देखभाल करने अथवा बाहरी संपर्क से बचाकर इस बीमारी को कम करने की अनेक रिपोर्टें प्राप्त हैं। लिट्टिल ने बार-बार यह बताया कि प्रयोगात्मक पशुओं को अधस्त्वक टीका देने के बाद उनमें यह बीमारी नहीं होती। योर्क[4] द्वारा तैयार किया गया वैक्सीन भी इसके प्रति प्रतिरक्षा उत्पन्न करता है यद्यपि फील्ड पर अभी इसका अधिक प्रयोग नहीं हुआ है। जब तक अधिक जानकारी प्राप्त न हो रोग-ग्रसित यूथ में ऋणात्मक पशुओं को टीका देना चाहिए। अज्ञात स्थानों से खरीदे गए नए पशुओं को 90 दिन तक यूथ के पशुओं से अलग रखना चाहिए।

चिकित्सा—रोग के अति उग्र प्रकार की अन्य सामान्य संक्रमणों की भाँति ही चिकित्सा करनी चाहिए। टेरामाइसीन (2 मि० ग्रा० प्रति पौण्ड शरीर भार) का रोजाना तब तक अंतःशिरा इन्जेक्शन देना चाहिए जब तक हालत में सुधार न हो। 25 व 48 घंटे के अवकाश पर 1.5 से 3 दसलक्ष यूनिट की मात्रा में प्रोकेन पेनिसिलिन अथवा 12 घंटे के अवकाश पर 5 मि० ग्राम प्रति पौण्ड शरीर भार स्ट्रेप्टोमाइसीन का अंतःपेशी इन्जेक्शन देना लाभप्रद है। रोग नियंत्रण हेतु रोग ग्रसित यूथों से पैदा होने वाले बछड़ों को जन्म के तत्काल बाद तथा 6 माह में पुनः और प्रौढ़ पशुओं को वर्ष में एक बार टीका लगाना चाहिए।

संदर्भ

1. Woelffer, L. A., Leptospirosis, Hoard's Dairyman, March 10, 1953, p 253
2. Jungherr, E., Bovine leptospirosis J A V M A, 1944, 105, 276
3. Baker, J A, and Little, R B, Leptospirosis in cattle, J Expt Med, 1948, 88, 295
4. York, C J, A complement fixation test for leptospirosis in cattle, Am J Vet Res, 1952, 13, 117
5. Sippel, W L, Boyer, C I, and Chambers, E E, Bovine leptospirosis in Georgia, J A V M A, 1952, 120, 278
6. Roderick, L M, Bovine leptospirosis, Vet Med, 1948, 43, 365
7. Allam, M W, and Bock, J D, Meteorological hemoglobinuria in cattle, Univ Penn Bull, Vet Ext Quar, Jan, 1926, No 101, p 26
8. Bell, W B, An outbreak of leptospirosis in Virginia, Vet Med, 1953, 48, 87
9. Little, Ralph B, and Baker, J W, Leptospirosis in cattle, J A V M A, 1950, 116, 105
10. Burnstein T, and Baker, J A, Leptospirosis in swine caused by Leptospira pomona, J Inf Dis, 1954, 94, 25
11. York, C.J, and Baker, J A., Vaccination for bovine leptospirosis, Am. J Vet Res, 1953, 14, 5

वाइरस रोग

(VIRUS DISEASES)

सूकर-कालरा

(Hog-Cholera)

परिभाषा—एक वाइरस द्वारा उत्पन्न होने वाला यह एक उग्र सामान्य संक्रमण है जिसे त्वचा, गुर्दों, मूत्राशय, लिम्फ-ग्रंथियों तथा प्लीहा में रक्तस्राव द्वारा पहचाना जाता है। महामारी के प्रारम्भ में शव-परीक्षण परिवर्तन कम अथवा अनुपस्थित हो सकते हैं। तेज बुखार तथा अवसन्नता होना इसके प्रमुख लक्षण हैं। यूथ में, रोग के प्रारम्भ होने के समय बिना किसी चेतावनी के कई पशुओं की मृत्यु हो सकती है।

इतिहास—यूनाइटेड स्टेट्स में सूकर-कालरा का पहला प्रकोप सन 1833 में ओहायो में रिकार्ड किया गया। अगले 60 वर्षों में मध्य-पश्चिम के सूकरों में एक अज्ञात कारणवश होने वाली प्राणघातक बीमारी खूब प्रकोप करती रही। लगभग 1850 के बाद डेट्मर्स, ला तथा अन्य[1] वैज्ञानिकों द्वारा इस पर विभिन्न लेख तथा रिपोर्टें प्रकाशित की गई। उन्होंने इसे एक विशिष्ट संक्रामक रोग माना तथा इसके लक्षणों एवं क्षतस्थलों का वर्णन किया। सन् 1885 में सैल्मन तथा स्मिथ[2] ने इसके लक्षणों तथा क्षतस्थलों की विस्तृत चर्चा की। उन्होंने इस महामारी को निम्नलिखित प्रमुख बीमारियों का समिश्रण बताया : बैसिलस सुइसेप्टिकस द्वारा होने वाला सूकर-प्लेग तथा बैसिलस सुइपेस्टीफर द्वारा होने वाला सूकर-कालरा। सन् 1903 में डी श्वेनिट्ज डार्सेट्[3] ने इसके विशिष्ट कारक, एक वाइरस, की खोज की और इसी के आधार पर 1908 में प्रतिरक्षित सीरम का उत्पादन हुआ।[4]

कारण—(अ) सामान्य वितरण—डार्सेट् तथा हाक[5] ने इसके तीन प्रकोप वर्णन किए : पहला 1887 में, दूसरा 1897 में, तथा तीसरा 1914 में। उन्होंने 40 वर्ष तक की अवधि में 30,000,000 प्रतिवर्ष औसत ह्रास बताया। सन् 1925 में यूनाइटेड स्टेट्स के उन्नीस प्रदेशों में 77 प्रतिशत सुअरों की संख्या में से 2.4 से 6.5 प्रतिशत तक का ह्रास हुआ। कैलिफोर्निया को छोड़कर अन्य सभी प्रदेश मध्य-पश्चिम अथवा दक्षिण में थे। शेष 23 प्रतिशत सुअर उन्तीस प्रदेशों में वितरित थे तथा इनमें पशुओं की कुल संख्या की 0.6 से 2.2 प्रतिशत मृत्यु दर थी। अतः कुछ प्रदेशों के काफी बड़े-बड़े भागों में सूकर कालरा नहीं होता यद्यपि कि किसी भी क्षेत्र को इससे बिल्कुल ही रहित नहीं बताया जाता। वैसे तो यह वर्ष के किसी भी समय प्रकोप कर सकता है किन्तु, इसका प्रमुख मौसमिक प्रकोप गर्मी तथा पतझड़ के दिनों, विशेषकर, अक्तूबर तथा नवम्बर में होता है। दक्षिण में वर्ष की किसी भी ऋतु में इसका भीषण प्रकोप हो सकता है, तथा इसमें अधिकांश पशुओं की मृत्यु हो जाती है। प्रतिरक्षित सुअरियों के बच्चे रोग के प्रति अधिक सहनशील होते हैं, यद्यपि

कभी-कभी एक माह से कम की आयु में ही उन्हें कालरा होने लगता है (पिकेंस)[6]। कनाडा में बिना पकी जूठन आदि खिलाने अथवा यूनाइटेड स्टेट्स से सुअर मगाने के कारण इसके कभी-कभी छुटपुट प्रकोप होते देखे गए हैं। किन्तु शीघ्र अलगाव, वध तथा सीरम के प्रयोग द्वारा बहुविस्तृत प्रकोप भी कन्ट्रोल किए जा सकते हैं। यूरुप में यह रोग खूब प्रकोप करता है।

(ब) रोग ग्रसित सुअर —रोग-ग्रसित यूथ सक्रमण के प्रमुख स्रोत होते हैं। यह स्वास्थ्य-विज्ञान का मूल सिद्धान्त है कि जब किसी उग्र सक्रामक रोग का प्रकोप होता है तो रोग-ग्रसित पशुओं को स्वस्थ पशुओं से अलग कर देना चाहिए। किन्तु जब किसी यूथ में सूकर-कालरा प्रकोप कर रहा हो तो स्वस्थ पशुओं को बेच देने का आम रिवाज है। इससे मार्ग में तथा जहाँ-जहाँ इसका उत्पाद जाता है वहाँ-वहाँ छूत फैलती है। इस विषय पर सयुक्त-राज्य पशुधन-स्वास्थ्य सघ (यू० एम० एल० एस० एस० एसोसिएशन) ने यह प्रस्ताव पारित किया है कि "रोग-ग्रसित सुअरों अथवा उनकी उत्पाद को बाजार में न बेचा जाए। यह मानकर कि बीमार सुअर सक्रमण का मूल कारण है तथा इसके मास में सक्रिय वाइरस मौजूद रहता है, राष्ट्रीय तथा प्रादेशिक स्तर पर ऐसे अधिनियम बनाये जायें कि सूकर-कालरा से ग्रसित पशु का मास आदि बेचने वालों को कड़ी से कड़ी सजा मिले।" सन् 1933 में सूकरों के छूत से फैलने वाले रोगों पर नियुक्त कमेटी ने निम्न रिपोर्ट दी · "इस वर्ष, सूकर-कालरा के प्राचीन प्रकोपों की भाँति, अधिक सख्या में कालरा से रोग-ग्रसित सुअर बेचे गए। इन सुअरों को मास के लिए बेचना तथा इनको ऐसे स्थानों एव फार्मों पर ले जाना जहाँ पहले कभी यह बीमारी न फैली हो, इसकी छूत फैलने के प्रमुख कारक हैं। इसके नियत्रण हेतु अधिनियम न बनाने से सूकर-कालरा तथा अन्य ऐसे रोगों से देश को भारी आर्थिक क्षति होती है। बीमारी के प्रकोप के समय ठेलों द्वारा पशुओं के यातायात पर भी विशेष ध्यान रखना चाहिए। जिस ठेले में सुअर ले जाए जाते हों उसमें और पशु न ले जाए जायें।"

एथर्टन[8] द्वारा प्रस्तुत रिपोर्ट के अनुसार रोग-ग्रसित सूकरों के प्रवेश से ग्यारह मध्य-पश्चिमी प्रदेशों में इस बीमारी के 44 प्रतिशत नए तथा प्राथमिक प्रकोप हुए। मेरीलैंड में यह केवल 6 प्रतिशत हुए। प्राथमिक प्रकोप से रोग की छूत परोक्ष अथवा अपरोक्ष सपर्क द्वारा सुअरों को लगती है। जितनी ही अधिक सख्या में किसी स्थान पर सुअर होते हैं उतनी ही शीघ्र इसकी छूत फैलती है। किसानों, दर्शकों तथा खरीदारों के पैरों अथवा मशीनरी, ट्रक आदि यत्रों में चिपक कर इस रोग का वाइरस एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचता है। कुत्ते, चिड़ियाँ तथा अन्य जगली पशु बिना गाड़ी हुई लाश को नोच-नोच कर इसकी छूत फैलाते हैं। जब सुअरों को मेला, नुमायश आदि अथवा प्रजनन के लिए ले जाया जाता है तो सीधे सपर्क द्वारा यह रोग फैलता है। नदी-नालों के पानी द्वारा भी वाइरस एक स्थान से दूसरे स्थान पर जा सकता है। इसका गुप्त सक्रमण भी देखा गया है। हम लोगों को इस विषय पर बहुत ही थोड़ा ज्ञान प्राप्त है कि अनुकूल परिस्थितियों में यह वाइरस कितने समय तक शक्तिशाली रह सकता है। हमारे अनुभव से एक फार्म की पशुशाला पर यह कम से कम दो वर्ष तक सक्रिय रहा। प्राकृतिक

परिस्थितियों में यह बीमारी बहुत ही शीघ्र फैलती है, किन्तु प्रयोगात्मक संपर्क द्वारा बीमारी की छूत फैलाने के प्रयास असफल रहे–डार्सेट[9]।

(स) सुअर का कच्चा मांस खिलाना—सन् 1912 में मक्गिल्व्रे[10] ने कनाडा में बाजार से खरीदा हुआ संदूषित सुअर का मांस खिलाकर स्वस्थ सुअरों में सूकर-कालरा का प्रकोप होते बताया। सन् 1917 में बर्ज[11] ने एक प्रयोग के परिणाम प्रकाशित किए जिससे यह ज्ञात हुआ कि "जिन स्थानों पर मांस-परीक्षण किया जाता है वहाँ अत्यधिक तेज बुखार, लक्षणों तथा क्षतस्थलों के आधार पर भी बाजार से सूकर कालरा-वाइरस युक्त सूकरों के सभी शवों को हटा देना कुछ असंभव सा प्रतीत होता है।" संक्रमणित किन्तु बिना क्षतस्थल वाले 21 परीक्षित सुअरों के मांस में से केवल 12 में वाइरस पाया गया। यह अधिकतम 80 दिनों तक मौजूद रहा। संभवतः पूर्वी प्रदेशों में इस बीमारी के 85 से 90 प्रतिशत नए प्रकोप जूठन में वाइरसयुक्त सुअर का मांस खिलाने से हुआ करते हैं।

(द) रोग-ग्रसित सुअर को सीरम तथा वैक्सीन का टीका देना—सीरम तथा वैक्सीन से प्रतिरक्षण की खोज के बाद पहले कुछ वर्षों में केवल सीरम की अपेक्षा सभी परिस्थितियों में सीरम तथा वैक्सीन को एक साथ देने की विधि अधिक अच्छी मानी गई—कौयन[12]। किन्तु ऐसे प्रकोपों से बार-बार होने वाले ह्रासों से यह मानना पड़ा कि शक्ति क्षीण पशुओं में सीरम तथा वैक्सीन का एक साथ प्रयोग करना नए प्रकोपों का अक्सर कारण बनता है। इस अनुभव को संयुक्त राज्य-पशुधन-स्वास्थ्य-संघ (यू० एस० एल० एस० एस० ए०) की रिपोर्ट में निम्न प्रकार समझाया गया है: "जहाँ सूकर इन्फ्लूएंजा, अत्यधिक परजीविता तथा परिगलित आंत्रार्ति आदि रोग प्रकोप करते हों ऐसे समुदाय में क्या करना चाहिए ? सीरम तथा वैक्सीन एक साथ न दीजिए। जब तक रोगी अन्य चिकित्सा के योग्य न हो जाए उसे केवल सीरम ही दीजिए"—हाक, 1927। 'ग्यारह पश्चिमी-प्रदेशों के पशु-चिकित्सकों से प्राप्त सूचना यह प्रदर्शित करती है कि दोहरी चिकित्सा का प्रयोग उस क्षेत्र में कालरा के प्रकोप का दूसरा कारण था। वास्तव में इन सूचनाओं से प्राप्त आँकड़े यह प्रदर्शित करते हैं कि नए प्रकोपों में से लगभग 40 प्रतिशत प्रकोप इसी ढंग से शुरू हुए"—ऐंथर्टन, 1930। "कालरा के अतिरिक्त अन्य किसी रोग से पीड़ित सूकरों को जब सीरम तथा वैक्सीन का टीका दिया गया तो उनमें बीमारी के उग्र प्रकोप होकर अनेक पशुओं की मृत्यु हो गई"—कमेटी रिपोर्ट, 1931। अन्य लोगों का ऐसा विचार है कि बहुत से प्रकोप निष्क्रिय अथवा कम सीरम प्रयोग करने के कारण हुए—ब्रेनर[13]।

सीरम तथा वैक्सीन का एक साथ टीका लगाने के बाद होने वाले प्रकोपों से पशुओं की मृत्यु के कारण पर काफी वाद-विवाद हुआ। एक ग्रूप इस दोहरे टीके के समर्थन में रहा और उसका कहना है कि पशुओं की मृत्यु कालरा से न होकर किसी अन्य रोग के कारण हुई। दूसरा ग्रूप शक्तिहीन सूकरों में इस प्रकार दोहरा टीका देने के प्रयोग की अवहेलना करता है और यह विश्वास करता है कि ऐसा करने के बाद होने वाली मृत्यु कालरा के कारण हुई। तीसरे ग्रूप के अनुसार सीरम तथा वैक्सीन का एक साथ प्रयोग करने के बाद कालरा के प्रकोप होते हैं। यह सम्भवतः निष्क्रिय सीरम के कारण हो सकते हैं। यह रखा रहने के कारण शक्तिहीन हो गया हो, वह प्रारम्भ में ही खराब रहा हो

अथवा उसकी मात्रा बहुत ही कम रही हो। वैक्सीन के निष्क्रिय होने के कारण भी पशु की मृत्यु हो सकती है। आजकल सूकर-रोगों पर कार्य करने वाले लोग अधिकतर दूसरे विचार को सही मानते हैं। जब कोई सुअर कालरा-वाइरस का टीका देने से बीमार पड़ता तथा मर जाता है तो 'एस्केरिआसिस', 'फ्लू' तथा 'मिश्रित संक्रमण' को मृत्यु का कारण बताना गलत है। साथ ही कालरा अथवा किसी अन्य बीमारी से पीड़ित सुअर को कालरा का टीका देना भी उपयुक्त नहीं है।

(य) वाइरस—शरीर के अन्दर रोग के उद्भवन काल के प्रारम्भ में समस्त शारीरिक द्रवों तथा टिसुओं में वाइरस प्राय उग्र आक्रमण काल की पूरी अवधि में मौजूद रहता है। रोग की दीर्घकालिक अवस्था में रोगी पशु का रक्त वाइरस रहित हो सकता है और इस बात का भी सही ज्ञान नहीं है कि रोग से अच्छे हुए सुअर वाइरस वाहक बन सकते हैं। यह वाइरस गुप्त अवस्था में रहता है तथा लक्षण प्रकट होने के पूर्व ही शरीर से बाहर निकल जाता है। रोगी के शरीर से बाहर निकलने वाले सभी तरल पदार्थों में वाइरस मौजूद रहता है तथा मूत्र में यह विशेषकर अधिक मात्रा तथा शक्तिवान रूप में पाया जाता है। सुअरों में वाइरस का टीका लगाने के बाद उनको तब तक किसी ग्रहणशील यूथ में नहीं मिलाना चाहिए जब तक बीमारी के बिना लक्षण प्रकट किए हुए उन्हें तीन सप्ताह न बीत चुके हों।

शरीर के बाहर कालरा वाइरस के वेग का अधिक सही ज्ञान प्राप्त नहीं है। बर्च[11] के अनुसार "यह बहुत ही शक्तिशाली है तथा काफी समय तक प्राकृतिक अनिष्ट प्रभाव को सहन कर सकता है।" कर्नकैम्प[14] ने देखा कि सूकर-कालरा के वाइरस का यदि कार्बोलिक अम्ल के साथ मिलाकर निम्न तापक्रम पर रखा जाए तो इसका वेग तीन वर्ष की आयु तक कम अथवा नष्ट नहीं होता। सुअर के मांस में बर्च[11] ने इसे अस्सी दिनों तक जीवित पाया। सड़न लगने पर यह शीघ्र नष्ट हो जाता है। सुअरों के दरबे महीनों तक इसकी छूत से ग्रसित रहते हैं और यह संभव है कि कुछ रोगियों में वाइरस वर्षों तक जीवित रहे।

विकृत शरीर रचना—रक्तस्राव होना सूकर कालरा का प्रमुख क्षतस्थल है। सीरस तथा श्लेष्मल झिल्लियों, त्वचा, लिम्फ-ग्रंथियों तथा आन्तरिक अंगों में रक्तस्राव पाया जाता है। जैसा कि अन्य रक्तपूतित अवस्थाओं में देखा जाता है, महामारी के समय पहले मरे हुए कुछ पशुओं के शव-परीक्षण करने पर कोई परिवर्तन ही नहीं मिलते। किन्तु, रोग की आमतौर पर होने वाली उग्र अवस्था में शव-परीक्षण परिवर्तनों से बीमारी के प्रकार का स्पष्ट पता चल जाता है। कान, उदर तथा शरीर के अन्य भागों की त्वचा लाल दिखाई पड़ सकती है। कभी-कभी कान तथा भग के किनारों पर परिगलन के छोटे-छोटे क्षेत्र दिखाई पड़ते हैं। काटने पर लिम्फ ग्रंथियों में रक्त-स्राव तथा छोटे छोटे धब्बे से मिलते हैं तथा देखने पर उनकी सतह काली दिखाई देती है। उदराग की उदर झिल्ली, प्लीहा की भीतरी सतह, आहारनाल की श्लेष्मल झिल्ली (विशेषकर इलियोसीकल वाल्व के क्षेत्र में), बड़ी अतड़ी तथा फेफड़ों में आमतौर पर रक्तस्राव मिलता है। गुर्दे के कैप्सूल के

नीचे स्थान-स्थान पर रक्तस्राव मिलना इसका नैदानिक लक्षण है। मूत्राशय की श्लेष्मल झिल्ली पर रक्तस्राव होना तथा त्वचा का रंग नीला पड़ जाना भी बराबर महत्व का है यद्यपि ये लक्षण कम हुआ करते हैं। आमाशय की सीरस सतह पर फाइब्रिनयुक्त स्राव पाया जा सकता है, तथा बड़ी अंतड़ी में कभी-कभी छोटे-छोटे दाने से मिल सकते हैं। कभी-कभी होने वाली दीर्घकालिक अवस्था में यह दाने घाव का रूप धारण कर लेते हैं—"बटन घाव" (button ulcers)। ये सतह के ऊपर उठे दिखाई देते तथा रंग में काले अथवा पीले होते हैं। यह संभव है कि इन "बटन घावों" की उपस्थिति अधिकतर दीर्घकालिक सूकर-कालरा के कारण न होकर, पुरानी छुतैली आँत्रार्ति के कारण होती हो। क्षीणता, सिकुड़ी हुई प्लीहा, मूत्राशय की श्लेष्मल झिल्ली में घाव तथा बड़ी अँतड़ी में बटन की आकार के घाव होना दीर्घकालिक कालरा में शव-परीक्षण करने पर प्राप्त होने वाले प्रमुख परिवर्तन हैं। रक्तस्राव अनुपस्थित होता है। विभिन्न अंशों की निमोनिया तथा फुफ्फुसार्ति भी मिल सकती है।

लक्षण—रोग का उद्भवन काल 5 से 10 दिन का होता है। रोग की अति उग्र अवस्था में बिना विशिष्ट लक्षण प्रकट किए ही रोगी की मृत्यु हो जाती है। उग्र प्रकार ठंड लगकर तथा 105 से 108° फारेनहाइट तक तेज बुखार होकर शुरू होती है। बुखार बराबर बना रहता है तथा घटता-बढ़ता रहकर, अंत में नार्मल से भी कम हो जाता है। हाल के रोग-ग्रसित यूथ में कुछ पशुओं की मृत्यु हो चुकी होती है, कुछ बीमार दिखाई देते हैं तथा अन्य बिल्कुल ही स्वस्थ रहते हैं। पहले कुछ ही पशुओं पर इसका आक्रमण होता है किन्तु, धीरे-धीरे इसकी छूत यूथ के सभी पशुओं में फैलकर कुछ दिनों में उन्हें बीमार बना देती है। अत्यधिक निराशा अथवा अवसन्नता, चारा न खाना, शारीरिक थकड़न, चलने में अनिच्छा, सिर का नीचे तथा पूँछ का सीधे लटकना इसके सामान्य लक्षण हैं। प्रायः सुअरियाँ गन्दगी में छुपने का प्रयास करती हैं अथवा ठंडे मौसम में एक साथ इकट्ठा हो जाती हैं। कभी-कभी रोग की बढी हुई अवस्था में कान तथा उदर पर नीलापन लिए हुए रक्तस्रवित धब्बे दिखाई पड़ते हैं। ये केवल सूकर-कालरा तथा सूकर-एरिसिपेलस में ही होते हैं। कान, पूँछ तथा भगोष्ठ के किनारे पर छोटे-छोटे परिगलित क्षेत्र मिल सकते हैं। रोग-ग्रसित सुअर कभी-कभी खाँसता है। बलपूर्वक कार्य कराने पर वह अवसन्न हो जाता है। नेत्र-श्लेष्मला शोथ अक्सर मौजूद रहती है। पहले अपच रहकर, बाद में पशु को दस्त आने लगते हैं। चक्कर काटना, मासल ऐंठन, तथा मांस पेशियों के अनैच्छिक उग्र सकुचन के रूप में प्रेरक उत्तेजना देखी जा सकती है।

उग्र अवस्था में इसका कोर्स पाँच से सात दिन का तथा मृत्युदर 85 से 100 प्रतिशत होती है। रोग से बचे हुए पशु या तो बिल्कुल ही ठीक हो सकते हैं अथवा उन्हें कुछ कम उग्र या दीर्घकालिक रोग हो जाता है। बाद वाली अवस्था में रोग का संक्रमण फेफड़ों अथवा अँतड़ियों में स्थित रहकर कफ, श्वास कष्ट अथवा दस्त जैसे लक्षण उत्पन्न करता है। धीरे-धीरे पशु की हालत जीर्ण-शीर्ण होकर यह बिल्कुल ही असहाय अथवा बेकार हो जाता है। कालरा की प्रारम्भिक अवस्था में रक्त में श्वेताणुओं का काफी अभाव देखा जाता है।

रोग का इतिहास उपलब्ध होने तथा कालरा के विशिष्ट लक्षणों एवं क्षतस्थलों की उपस्थिति में सूकर-कालरा का निदान करना कठिन नहीं होता। जब तक निस्यदन प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध न हो जाए कि यह बीमारी सूकर-कालरा नहीं है तब तक गलघोटू रोग का निदान नहीं करना चाहिए। रक्तपूतिता के अधिकांश प्रकोप सूकर-कालरा होते हैं और आजकल यह बीमारी यूनाइटेड स्टेट्स में मौजूद तथा खूब फैल रही है। सही जांच के लिए बीमार पशु का छना हुआ रक्त लेकर, ग्रहणशील सुअर में इन्जेक्शन देना चाहिए। जब पशु की एकाएक मृत्यु हो जाए तथा शव-परीक्षण ऋणात्मक हो तो निदान को तब तक के लिए स्थगित कर देना चाहिए जब तक कोई सही प्रमाण न मिले। परिगलित आंत्रार्ति की प्रारम्भिक अवस्था के लक्षण सूकर-कालरा से निकटतम मिलते-जुलते हो सकते हैं।

एक साथ कई पशुओं का बीमार पड़ना इस बीमारी का अनुमान कराता है। यह भी पता करना चाहिए कि कूड़ा-करकट खिलाने, नए पशुओं के आगमन अथवा निकट में सूकर-कालरा के प्रकोप से तो यह संक्रमण नहीं हुआ है। बीमारी के प्रकोप की ऋतु तथा वर्ष पर भी ध्यान देना चाहिए। उग्र प्राणघातक प्रकोप, ठंड लगना, नीलापन, निराशा, तेज बुखार, तथा नेत्र श्लेष्मलाशोथ इसके सामान्य लक्षण हैं। तत्पश्चात् त्वचा में रक्तस्राव तथा परिगलन होना अथवा कै-दस्त के विशिष्ट लक्षण भी देखने को मिल सकते हैं। शव-परीक्षण करने पर सर्वोत्तम नैदानिक प्रमाण मिलता है। इसमें लिम्फ ग्रंथियों के किनारों पर रक्तस्राव, श्लेष्मल तथा सीरस झिल्लियों पर रक्तस्राव, तथा गुर्दों, प्लीहा एवं मूत्राशय की श्लेष्मल झिल्ली पर रक्तस्राव के धब्बे मिलते हैं। गुर्दों का रक्तस्राव लगभग सदैव ही निष्कर्षदायक होता है। पहले बीमार पडने वाले पशु शीघ्र ही मर जाते हैं तथा शव-परीक्षण करने पर कोई नैदानिक क्षतस्थल नहीं प्रदर्शित करते। अतः ऋणात्मक परिणाम के द्वारा निश्चित निष्कर्ष निकाल कर निदान में असफलता हो जाती है। सूकर-एरिसिपेलस के वर्णन के अन्तर्गत सूकर-कालरा तथा सूकर-एरिसिपेलस का विभेदी-निदान वर्णन किया गया है।

बचाव—(अ) प्रतिरक्षण कभी-कभी कुछ पशुओं में वैक्सीन का टीका लगाने से सूकर-कालरा का प्रकोप भी होते देखा गया है। अतः जिसके लिए बचाव करना हो उस यूथ की पूरी जानकारी होनी चाहिए। कालरा वाइरस से उत्पन्न खतरे का वर्णन करते हुए डार्सेट् तथा हाक[5] ने बताया कि "समुचित शक्ति का सीरम न होने अथवा मात्रा में कम होने या ठीक प्रकार कार्य न करने से इसका प्रयोग सूकर-कालरा उत्पन्न कर सकता है।" अभी हाल में प्रकाशित रिपोर्टों का सर्वेक्षण (कारण के अन्तर्गत संदर्भ देखिए) यह अनुमान कराता है कि शक्ति, मात्रा तथा कार्य के अतिरिक्त इसकी असफलता के अनेक अन्य कारण भी हो सकते हैं।

ऐंटिसीरम तथा वैक्सीन से प्रतिरक्षण करने की दो विधियां उपलब्ध हैं: सीरम अकेला, जिससे 2 से 6 सप्ताह तक की निष्क्रिय प्रतिरक्षा उत्पन्न होती है तथा सीरम-वैक्सीन, जो भलीभांति चुनी हुई सुअरियों में स्थायी प्रतिरक्षा उत्पन्न करता है। सीरम-वैक्सीन एक साथ प्रयोग करने की विधि में यह ध्यान रखना चाहिए कि वाइरस की प्रतिक्रिया से सुअर आंशिक रूप से सीरम द्वारा तथा थोड़ा सा प्राकृतिक सहनशीलता द्वारा बचा रहे।

प्रत्येक पशु में वाइरस थोडी-बहुत प्रतिक्रिया अवश्य उत्पन्न करता है। यदि पशु की प्राकृतिक सहन शक्ति कम हो गई है जैसा कि सक्रमण के सपर्क में आने, यातायात करने अथवा परजीविता के कारण होता है तो वाइरस, सीरम के बचावकारी प्रभाव को दमन करके कुछ दिनों में कालरा उत्पन्न कर देता है। इसे प्रकोप कहते हैं। पहले, प्रकोपो का कारण निष्क्रिय सीरम अथवा वैक्सीन बताया जाता था किन्तु, आजकल शक्तिहीन सूकरो में इनका टीका लगाकर इसका कारण स्पष्ट किया जाता है। यदि वाइरस निष्क्रिय हो जाता है तो सीरम तथा वैक्सीन का एक साथ टीका लगाने के कुछ दिनो से लेकर कुछ सप्ताह बाद तक कालरा का प्रकोप हो सकता है। न्यूयार्क में ऐसे प्रकोप बार बार होते देखे गए हैं।

पूर्णरूपेण स्वस्थ दिखाई देने वाली सुअरियों में टीका लगाने के बाद कालरा से मिलती-जुलती रक्तपूतित बीमारी का प्रकट होना प्रतिरक्षण की असफलता अथवा सूकर-टायफायड जैसे अन्य रक्तपूतित रोगो की उपस्थिति का सूचक है। सूकर-एरिसिपेलस तथा सूकर-कालरा के बीच विभेदी-निदान करना सूकर-एरिसिपेलस वाले पाठ में वर्णन किया गया है। टीका लगाने के बाद होने वाले प्रकोपो में अन्वेषण कार्यकर्त्ताओ तथा चिकित्सको द्वारा सा० सुईपेस्टीफर का प्रभाव बढता हुआ बताया गया है। अन वैन एस तथा ओल्ने लिखते हैं कि "सूकर-टायफायड उत्पन्न करने वाला जीवाणु सुअरों के बच्चो की अधिकतम मृत्युदर के लिए उत्तरदायी है और प्रत्यक्ष रूप से फार्म के सूकरो में यह तितर-बितर रूप में वितरित रहता है। इस कारण इसको इस प्रकार के प्रकोपो का कारण न मानना कुछ कठिन हो जाता है—यह बिल्कुल सभव है कि सूकर-कालरा वाइरस तथा सा० सुइपेस्टीफर दोनो की उपस्थिति में सा० सुइपेस्टीफर का प्रभाव अधिक रहता है।" उन क्षेत्रों में जहाँ सूकर-कालरा वैक्सीन का टीका देने के बाद परिगलित आँत्रार्ति के प्रकोप होने लगते हैं वहाँ सीरम तथा वैक्सीन का टीका देने से पूर्व सा० सुइपेस्टीफर जीवाणुगत-पदार्थ का प्रयोग किया जाता है। यद्यपि ऐसे टीके का महत्त्व सदेहपूर्ण हो सकता है, फिर भी, सन् 1943 की सयुक्त राज्य-पशु-उद्योग-ब्यूरो (यू० एस० बी० ए० आई०) की रिपोर्ट में यह कहा गया है कि "जीवाणुगत पदार्थ के प्रयोग से रोग प्रतिरक्षा सुदृढ होती है।" सूकर-कालरा के टीके के साथ सूकर-एरिसिपेलस ऐंटिसीरम भी मिलाया जा सकता है।

अकेले सीरम अथवा सीरम और वैक्सीन के सुरक्षित प्रयोग के बारे में बर्च[15] तथा अन्य ने निम्नलिखित निर्देश दिए हैं

सीरम वैक्सीन एक साथ देना—यह विधि निम्न परिस्थितियो में अपनाई जाती है : (1) स्वस्थ यूथा में जहाँ सक्रमण अवश्य होता है किन्तु, यह देर से हो सकता है, (2) सक्रमणित फार्मों पर स्वस्थ यूथो में, (3) उन फार्मों पर जहाँ कभी कालरा का प्रकोप हुआ हो, (4) बडे-बडे यूथो में जहाँ सूकरो का अक्सर क्रय-विक्रय किया जाता हो, (5) बडे-बडे सदूषित फार्मों पर जहाँ अधिक सख्या में पशु रखे जाते हैं, जो 104° फारेनहाइट से कम तापक्रम प्रदर्शित करते हैं, किन्तु लक्षण प्रकट नही करते, (6) कूडा-करकट खाने वाले सुअरो में, (7) उन सुअरियो में जिनका शरीर भार 40-50 पौण्ड से कम नहीं होता, (8) शीघ्र की गाभिन सुअरियो में, (9) प्रदर्शन के लिए रखे जाने वाले सूकरों में। या तो टीका लगाने वाले सूकरो को अलग कर लीजिए अथवा पूरे यूथ को टीका लगा दीजिए।

वाइरस का टीका देने से पूर्व प्रत्येक पशु का तापक्रम देख लीजिए। ऊपर से स्वस्थ दिखाई देने वाली यूथ में अनेक पशुओ को कालरा का 106° फारेनहाइट अथवा और अधिक बुखार हो सकता है। टीका लगाने के बाद पशुओ को साफ-सुथरा तथा सूखा स्थान दीजिए तथा दो सप्ताह तक उनके आहार पर नियन्त्रण रखिए। कम से कम तीन सप्ताह तक इन्हें बिना टीका लगे अथवा बिना प्रतिरक्षित सुअरो से अलग रखिए।

अकेला सीरम देना—निम्नलिखित परिस्थितियो में अकेले सीरम का प्रयोग किया जा सकता है (1) चार से पाँच सप्ताह वाली युवा सुअरियो में, (2) जहाँ सूकर कालरा प्रारम्भ हो चुका हो, (3) बिना दूध पीने वाली सुअरियो में, (4) जब कोई छूतदार रोग मौजूद हो, (5) जब यूथ बहुत कमजोर हो, (6) उन सुअरो को जो मौजूदा रहन-सहन तथा खान-पान के अभ्यस्त न हो, (7) जब पूरा यूथ प्रतिरक्षित न किया जा सकता हो, (8) जब यूथ अलग न किया जा सकता हो, (9) दूध छुड़ाने तथा बधिया करने के समय, (10) जब सुअर बिना साया के गदे वातावरण में रहते हो, (11) जब सुअरो को बाडे से कही बाहर भेजना हो, (12) अधिक दिनो की गाभिन सुअरियो में।

युवा सूकरो का प्रतिरक्षण करने हेतु बर्च[16] ने निम्नलिखित निर्देश दिए "कूड़ा-करकट खाने वाली तथा अन्य यूथो में जहाँ लगातार सक्रमण होने का भय हो वहाँ 4 से 6 सप्ताह की आयु वाली सुअरियो को केवल सीरम ही देना चाहिए। यदि वहाँ सूकर-कालरा के प्रकोप का भय हो तो यह क्रिया और भी शीघ्र करनी चाहिए। तत्पश्चात् जब सुअर 9 से 12 सप्ताह के हो जाएँ तो उन्हें सीरम तथा वैक्सीन का एक साथ टीका देना चाहिए। हमारे मौजूदा ज्ञान के अनुसार 12 सप्ताह का समय अधिक पसद किया जाता है, किन्तु यदि इससे पूर्व ही यूथ में रोग का प्रकोप होने लगे तो तत्काल ही सीरम का टीका देना चाहिए। यदि किसी यूथ में दो या तीन सप्ताह की आयु में सूकरो को सीरम का टीका देना जरूरी हो तो लगभग 4 सप्ताह बाद सीरम की दूसरी मात्रा देनी चाहिए तथा इसके बाद जब सुअरियों की आयु लगभग 12 सप्ताह की हो जाए तब उन्हें सीरम तथा वैक्सीन का एक साथ टीका-लगाना चाहिए।"

सीरम के द्वारा थोडे समय (2 से 6 सप्ताह) के लिए प्रतिरक्षा उत्पन्न होने तथा बार-बार इन्जेक्शन देने में अधिक धन व्यय होने के कारण इसका प्रयाग कुछ सीमित सा रहा है। प्रमुख सुअर-पालन प्रदेशा में सीरम वैक्सीन का एक साथ टीका लगाना अधिक प्रचलित है। टीका लगाना वास्तव में बीमारी के प्रति एक प्रकार का बीमा सा करना है। यह सक्रमण के क्षेत्र को सीमित नही करता। 1928 से 1940 तक की अवधि में यूनाइटेड स्टेट्स में सूकर-कालरा से प्रतिवर्ष कुल सूकर सख्या का 2 5 से 3 प्रतिशत तक का ह्रास हुआ।

विधि—सीरम अथवा वाइरस का प्रयोग करते समय, बोतल खोलने से पूर्व उसके मुँह पर 5 प्रतिशत फीनाल माल अथवा इसका समकक्ष पदार्थ लगा लेना चाहिए। सीरम तथा वैक्सीन का रखने के लिए साफ तथा जीवाणुरहित अलग-अलग ढक्कनदार बर्तन रखिए अथवा डाट लगी बोतल में से इसे एक नलिका द्वारा निकालिए। सीरम का इन्जेक्शन देने के लिए 50 घ० सें० वाली रिकार्ड पिचकारी तथा 16 न० की 1 5 इच वाली सुई प्रयोग

कीजिए। वैक्सीन के लिए 5 से 10 घ० सें० की रिकार्ड अथवा समकक्ष पिचकारी प्रयोग की जाती है। बड़े पशुओं को छोड़कर जहाँ यह कान के पीछे प्रविष्ट किया जाता है, प्रत्येक के कक्ष-स्थान में आधा सीरम प्रविष्ट कर दीजिए। वैक्सीन का टीका वक्षस्थल की माँस पेशियों में लगाया जाता है। टीका लगाने वाला स्थान खूब साफ करके जीवाणु रहित करना चाहिए। सुअर का सही भार अनुमान करके उसी अनुपात में उसे इन्जेक्शन की मात्रा दी जाती है। कमजोर पशुओं में सीरम की मात्रा दुगुनी करके दी जा सकती है।

संयुक्त राज्य-पशु-उद्योग-ब्यूरो (यू०एस०बी०ए०आई०) (1942-45) द्वारा सूकर-कालरा के कंट्रोल के लिए मणिभ बैंगनी (क्रिस्टिल वायलेट) वैक्सीन वितरित किया गया और इसका प्रयोग अब बढ़ता जा रहा है। ग्रेट ब्रिटेन में सब विधियों को छोड़कर इसे अपनाया गया है। वेब्रिज पशु-चिकित्सा विज्ञान प्रयोगशाला में प्रयोगात्मक रूप से इस वैक्सीन का प्रयोग करके यह देखा गया कि 3 सप्ताह से ऊपर किसी भी आयु की सुअरियों को इसका टीका देने से उनको बीमारी अथवा अन्य कोई गड़बड़ी नहीं होती तथा लगभग 12 महीनों के लिए उनके शरीर में उच्च किस्म की रोग-प्रतिरक्षा उत्पन्न हो जाती है। इसकी खुराक 5 घ० सें० है तथा इक्कीसवें दिन तक काफी प्रतिरक्षा उत्पन्न हो जाती है। चूंकि यह एक जीवाणु-रहित पदार्थ है, अतः इसके प्रयोग से यह संदेह भी समाप्त हो जाता है कि वैक्सीन के प्रयोग से रोग का प्रकोप होता है। सीरम तथा वाइरस की अपेक्षाकृत यह कम खर्चीला है और यह प्रतिक्रिया अथवा बीमारी उत्पन्न नहीं करता, किन्तु इससे प्रतिरक्षा का विकास धीरे-धीरे होता है।

ब्वायंटन टिसू वैक्सीन (B. T. V.) कालरा की उग्र अवस्था से पीड़ित सुअर से प्राप्त वाइरस युक्त टिसु का महीन पिसा हुआ साद्रण है। मणिभ बैंगनी वैक्सीन की भाँति, स्वस्थ सुअरों में इसका टीका कालरा उत्पन्न नही कर सकता तथा रोग-ग्रसित सूकरों में इसके प्रयोग से प्रतिक्रिया उत्पन्न नहीं होती। प्रतिरक्षण के लिए कम से कम तीन सप्ताह का समय चाहिए। ब्वायंटन के अनुसार यह कालरा के प्रति प्रतिरक्षण हेतु एक समुचित एवं सुरक्षित पदार्थ है और इसे बिना किसी भय के प्रयोग किया जा सकता है।

सन् 1949 तथा 50 के ग्रीष्मकाल में टीका लगाने के बाद होने वाले भीषण ह्रासों पर ए०बी० एम०ए० की पत्रिका[19] में बार-बार संपादकीय तर्क दिए गए। प्रतिक्रिया काल (6 से10वें दिन) में काफी प्रतिशत में संक्रमणित सुअरियाँ बीमार हुईं और उनमें से अधिकांश की मृत्यु हो गई। इस विनाश का सर्वमान्य स्पष्टीकरण यह था कि विभिन्न वाइरसों ने प्रतिरक्षा उत्पन्न करने वाले वाइरस को संदूषित कर दिया और इस तथ्य की संयुक्त राज्य पशु-उद्योग-ब्यूरो (यू० एस० ब्यूरो आफ एनीमल इण्डस्ट्री) द्वारा भी पुष्टि की गई।[20] सीरम की मात्रा 50 प्रतिशत तक बढ़ाकर वाइरस के कुप्रभाव को कम अथवा नष्ट किया जा सकता है। दूध पीना छुड़ाने के बाद टीका लगाई गई सुअरियाँ दूध पीने वालों की अपेक्षाकृत विभिन्न वाइरसों के प्रभाव के प्रति अधिक ग्रहणशील थीं। मणिभ-बैंगनी वैक्सीन तथा ब्वायंटन-टिसू-वैक्सीन वाइरस के खतरे से सुरक्षित पदार्थ हैं किन्तु, धीरे-धीरे प्रतिरक्षा उत्पन्न होने एवं उसकी अवधि निश्चित न होने के कारण इनका प्रयोग कम

होता है। उपान्तरित अथवा खरगोश के टिसुओं से तैयार किया गया वाइरस-वैक्सीन इसका आधुनिकतम वैक्सीन है जो सितम्बर सन् 1949 में उपलब्ध हुआ, किन्तु "जिन्होंने इसका प्रयोग किया है उनमें से अधिकांश लोग इसका टीका देने के बाद होने वाले कष्ट से निराश हुए। ऐसी आशा की जाती है कि इन उपान्तरित वैक्सीनों का आगे विकास करके तथा पशुओं में प्रयोग करके अधिक अनुभवों द्वारा इन्हें अधिक सुरक्षित एवं प्रभावकारी बनाया जा सकता है।[19]

स्वच्छता—रोग का प्रकोप समाप्त होने के बाद सुअरों के बाड़े साफ करके उन्हें कीटाणु-नाशक घोल से धोना चाहिए तथा मैदानों, चरागाहों और सुअरों को भी साफ रखना चाहिए। कुछ सुअरों को बाड़े में बन्द रखकर छूत लगने से बचाया जा सकता है। सुअर घर के दरवाजे पर एक बर्तन में कीटाणु-नाशक घोल भरकर रख देना चाहिए जिससे कि परिचारक बाड़े में घुसने से पूर्व अपने जूतों को उसमें डुबो लें। जब सुअर-पालन क्षेत्र में कालरा फैलने लगे तो प्रत्येक सुअर-पालक को इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि उसके फार्म में रोग-वाहक पशु न आने पावें। मरे हुए पशुओं को तत्काल ही गड्ढा खोदकर चूने में गाड़ देना चाहिए अथवा उन्हें जला देना चाहिए। चरागाहों को बदलते रहना चाहिए। सक्रामक रोगों की रोकथाम के लिए अपनाए जाने वाले उपायों की भाँति संक्रमण फैलाने वाले मार्गों को बंद करके, जैसे कूड़ा-करकट न खिलाना, रोग ग्रसित सुअरियों के यातायात पर रोक लगाना तथा वैक्सीन का अव्यवस्थित प्रयोग न करना, आदि साधनों द्वारा इस बीमारी को कंट्रोल किया जा सकता है।

चिकित्सा—सूकर-कालरा की चिकित्सा में सीरम का अत्यधिक प्रयोग किया जा चुका है किन्तु इससे कोई आशातीत लाभ न हुआ। रोग के उद्भवन काल अथवा आक्रमण की प्रारम्भिक अवस्था में दुगुनी मात्रा में सीरम देना कुछ लाभप्रद सिद्ध हो सकता है। जब टीका लगाई गई सुअरियों में रोग का प्रकोप होता है तो सीरम के शीघ्र प्रयोग से भारी क्षति को बचाया जा सकता है। किन्तु, यदि यूथ के आधे पशुओं के बीमार पड़ने तक सीरम का प्रयोग नहीं किया जाता तो इसका कोई महत्त्व नहीं रहता।

संदर्भ

1 Detmers, H J, Law, J and others Investigations of Diseases of Swine and Contagious Diseases incident to other Classes of Domesticated Animals, U S D A, Spec Rep No 12, 1879

2 Salmon, D E, An Reports, B A.I, U S D A., 1885 1889, Hog Cholera Its History, Nature, and Treatment, Special B A I, Rep, 1889

3 De Schweinitz, E A., and Dorset, M., A Form of Hog Cholera not Caused by the Hog Cholera Bacillus, U S D A, B A I, Cir No 41, 1903

3a Dorset, M Bolton, B M, and McBryde, C N, The Etiology of Hog Cholera, U.S D A., B A.I, Bull, 72, 1905

4. Dorset, M., McBryde, C N, and Niles, W B, Further Experiments Concerning the Production of Immunity from Hog Cholera, U.S D A., B.A.I, Bull. 102, 1908

5. Dorset, M., and Houck, V.G., Hog cholera, U.S.D.A. Farmer's Bull. 834, 1937.
6. Pickens, E.M., Reed, R.C., Welsh, M.F., and Poelma, L.J., The suscepti bility of suckling pigs to hog cholera, Cornell Veterinarian, 1928, 18, 305.
7. Report of Committee on Communicable Diseases of Swine U.S.L.S.S.A., J.A.V.M.A., 1931, 78, 363; Report of Committee on Transmissible Diseases of Swine, U.S.L.S.S.A., J.A.V.M.A., 1932, 80, 366.
8. Atherton, I.K., My experience with hogh cholera, J.A.V.M.A., 1931, 78, 355.
9. Dorset, M., McBryde, E.N., Niles, W.B., and Reitz, J.H., Observations Concerning the Dissemination of Hog Cholera by Insects, Rep. of 22nd An. Meeting U.S.L.S.S.A., 1918, p. 164.
10. McGilvray, C.D., Hog Cholera, Proceedings of the American Vet. Med. Assoc., 1912, p. 175.
11. Birch, R.R., Hog Cholera transmission through infected pork,J.A.V.M.A., 1917, 51, 303.
12. Koen, J.S., Hog Cholera Control in Iowa, Rep. 16th An. Meeting U.S.L.-S.S.A., 1916, p. 59.
13. Benner, J.W., Hog Cholera problems Cornell Veterinarian 1932, 22, 98.
14. Kernkamp, H.C.H., The longevity of the virus of hog cholera, Cornell Veterinarian, 1920, 10. 1.
15. Birch, R.R., Hog Cholera, Macmillan, 1922.
16. Birch. R.R., Observations in regard to immunizing young pigs, Cornell Veterinarian, 1919, 9, 75.
17. Boynton, W.H., Woods, G.M., and Wood, F.W., The role of the veterinarian in effective immunization against hog cholera with tissue vaccine, J.A.-V.M.A., 1940, 97, 427.
18. Boynton, W.H., Woods, G.M., and Wood, F.W., Immunological studies with hog cholera tissue vaccine, Vet. Med., 1942, 37, 214.
19. Editorial. The cholera vaccination conundrum, J.A.V.M.A., 1952, 120, 309; 1953, 122, 320.
20. Variant form of hog cholera found in Midwest, Rpt., Chief, Bur. An. Ind., U.S. Dept. Agr., 1950, p. 43; 1952, p. 41.

छुतैली अश्वीय रक्तस्वल्पता

(Infectious Equine Anemia)

(कर्दम-ज्वर, आवर्तक ज्वर)

परिभाषा—छुतैली रक्तस्वल्पता टापधारी पशुओं (घोड़ा, गधा, खच्चर) की एक उग्र अथवा दीर्घकालिक बीमारी है जो एक अल्ट्रामाइक्रास्कोपिक वाइरस द्वारा उत्पन्न होती है तथा रुक-रुक कर होने वाले ज्वर द्वारा पहचानी जाती है। कैरी तथा वेली[1] ने सन् 1904 में इसके विशिष्ट कारक का पता लगाया। यह मनुष्यों में होने वाली प्रणाशी रक्ताल्पता (pernicious anemia) की भाँति नहीं होती।

कारण—सर्व प्रथम सन् 1843 में फ्रांस में लिग्नी ने इस रोग का वर्णन किया। उत्तरी अमरीका में सन् 1880 में इसे मैनीटोबा में देखा गया। सन् 1900 से इसे यूनाइटेड स्टेट्स में मिसिसीपी नदी के पश्चिमी क्षेत्रों तथा कनाडा के कुछ भागों में पहचाना गया। सन् 1915 में इसे उडाल और फिच[2] ने उत्तरी न्यूयार्क में पहचाना, जहाँ यह कम से कम पिछले 20 वर्षों से फैल रही थी। सन् 1920 में यूनाइटेड स्टेट्स में इसका प्रकोप कुछ कम होता दिखाई दिया। सन् 1929 में यह बीमारी सतरह प्रदेशों से रिपोर्ट की गई और मिसिसीपी, अरकांसस तथा इदाहो को छोडकर, सभी में यह बहुत कम आर्थिक महत्त्व की मानी गई। मिसिसीपी के डेल्टा क्षेत्र में यह एक महत्त्वपूर्ण आर्थिक समस्या बनी-(स्टोन)[3]। नमीयुक्त तथा भलीभाँति पानी न निकलने वाली भूमि तथा गीला मौसम जबकि काटने वाले कीडों की संख्या अधिक होती है, इसके फैलाने में सहायक हैं। अधिकतर यह बीमारी गर्मी में प्रकोप करती है तथा ग्रीष्मकाल के मध्य में चरम सीमा पर पहुँच जाती है।

टेक्सास के किनारों के मैदानों तथा प्लैटी और मिसिसीपी नदियों की तराई की भूमि में इस बीमारी का प्रकोप होने के कारण इसका नाम कर्दम-ज्वर पड़ा। ऊँचे स्थानों तथा सूखी भूमि में, जहाँ पानी के सदूषण का सदेह ही नहीं किया जा सकता, वहाँ पर भी यह बीमारी प्रकोप करते देखी गई है। फुल्टन[4] ने देखा कि सस्केचवान (Saskatchwan) में यह बीमारी दलदली भूमि में कभी नहीं होती और जहाँ यह नियमित रूप से प्रकोप करती है वहाँ की भूमि भारी मिट्टी वाली अथवा बालू युक्त होती है। उन्होंने बताया कि उन तालाबों का पानी पीने से यह रोग खूब फैलता है जिनमें पेड़-पौधे अधिक उगे होते हैं। जुलाई से सितम्बर तक इसके उग्र तथा कुछ कम उग्र प्रकोप देखे जाते हैं। दीर्घकालिक रोगी जाडे तथा बसंत के मौसम में दिखाई देते हैं और यह प्रायः उन संक्रमणों के परिणामस्वरूप होते हैं जो पिछली गर्मी तथा पतझड़ में लग चुके होते हैं। यह एक चरागाहों की बीमारी है जो कुछ फार्मों पर स्थायी रूप से प्रकोप करती है, और स्काट[10] के अनुसार पशुशाला में इसकी छूत कभी नहीं लगती।

रोगी तथा बीमारी से ठीक हुए घोड़ों के रक्त में इसका वाइरस पाया जाता है। मूत्र तथा आँख से निकलने वाले स्राव में यह सदैव मौजूद रहता है तथा मल, लार और दूध में भी पाया जा सकता है। शाक तथा रोडरिक[5] ने बताया कि 'कृत्रिम रूप से उत्पादित संक्रामक आतंक-ज्वर घोड़ों में चौदह वर्ष तक बिना रक्त-स्वल्पता के लक्षणों के मौजूद रह सकता है। तत्पश्चात् बिना किसी उत्तेजक कारण के शीघ्र ही प्रकोप करके तेज रक्तस्वल्पता के साथ एक विशिष्ट रोगी की भाँति लक्षण प्रकट करता है।" प्रायः ऐसा देखा गया है कि संक्रमित क्षेत्रों में रोग-वाहकों की संख्या इतनी अधिक होती है कि केवल रोग रहित क्षेत्र अथवा फार्म पर के घोडे ही प्रयोगात्मक टीके के लिए उपयुक्त होते हैं। लूहर[6] ने वाइरस को गैस्ट्रोफिलस लार्वा, फाइलेरिया, काटने वाली मक्खियों तथा मच्छरों में भी प्रदर्शित किया। शरीर के बाहर यह सदूषित बिछौना तथा भूसा में सप्ताहों एवं महीनों तक सक्रिय रह सकता है। पशु-उद्योग-ब्यूरो[7] (Bureau of Animal Industry) द्वारा रिपोर्ट किए गए प्रयोगों में स्ट्रांगाइलस जाति के प्रौढ़ कीट

से तैयार किए गए तरल पदार्थ का टीका देकर तथा रोग-ग्रसित घोड़ी से दुग्धस्रावण द्वारा इस रोग का संचार किया गया और रोगी माँ का दूध पिलाने से पूर्व नवजात बछेड़े से प्राप्त किए हुए रक्त में भी यह वाइरस पाया गया। मूत्र द्वारा बीमारी फैलाने के प्रयास असफल रहे किन्तु, इस बात के प्रमाण मिले कि रोग-ग्रसित घोड़े के वीर्य में वाइरस होता है। गर्भाशय में बच्चे को इसकी छूत लगना स्टीन और मॉट[9] द्वारा बताया गया।

छूत लगने के ढंग के बारे में दो वाद प्रस्तुत हैं। सबसे पहले रोग का प्रयोगात्मक संचारण सन् 1904 में रक्त खिलाकर कैरी तथा वैली[1] द्वारा किया गया। इससे यह विश्वास हुआ कि दूषित चारा खाने तथा गंदा पानी पीने से इस रोग की छूत फैलती है। पशु-उद्योग-ब्यूरो (1938)[7] द्वारा किए गए उन प्रयोगों से भी इस तथ्य को समर्थन मिलता है जिनमें पशुशाला में परस्पर सम्पर्क[7] से यह बीमारी फैलाई गई। इन प्रयोगों के अन्तर्गत एक ही पशुशाला में अनेक पशु स्वतंत्रतापूर्वक आपस में मिले, उन्होंने एक ही नाद से पानी पिया तथा फर्श से चारा खाया। अलग-अलग बाड़ों में रखने तथा व्यक्तिगत रूप से चारा पानी देने से यह बीमारी रोग-ग्रसित घोड़ों से स्वस्थ पशुओं में नहीं फैली। स्काट[10] द्वारा किए गए प्रयोगों ने यह प्रदर्शित किया कि काटने वाली मक्खियों (स्टोमा-क्सिस कैल्सीट्रास), तथा गैडमक्खी (टैबेनस सीपेंट्रियोनैलिस) द्वारा इस बीमारी की छूत फैलती है। मच्छरों द्वारा भी इसकी छूत फैल सकती है।[11] फुल्टन[4] ने तालाब के गंदे पानी का अंतः शिरा इन्जेक्शन देकर इस रोग को प्रयोगात्मक रूप से उत्पन्न किया। यह अवलोकन लुहर[6] के मत का समर्थन करता है कि दूषित चारा-पानी खाने से रोग का प्राकृतिक सक्रमण हो सकता है। इन्जेक्शन लगाने वाली सुइयों तथा अन्य औजारों के द्वारा भी इसकी छूत एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचती है। सीधे संपर्क द्वारा प्रायः इसकी छूत नहीं लगती तथा घोड़े ही इस रोग के प्रति ग्रहणशील पशु हैं।

गर्मी, ठंड तथा सड़न को वाइरस सहन कर लेता है तथा 104° फारेनहाइट के ताप पर एक घंटे में नष्ट हो जाता है। सूखे रक्त में यह सात माह तक जीवित रह सकता है। इसकी छूत धीरे-धीरे फैलती है। ऐसा देखा गया है कि जब ग्रहणशील उत्तरी खच्चरों को मिसिसीपी के सक्रमण क्षेत्रों में ले जाया जाता है तो दूसरे वर्ष तक उनमें यह बीमारी नहीं प्रकट होती। प्रमाणों से सिद्ध हो चुका है कि एक स्थान के घोड़े कई वर्षों में इस बीमारी के प्रति सहनशील हो जाते हैं तथा धीरे-धीरे इसका प्रकोप कम होने लगता है। रोग संचारण की अनुकूल परिस्थितियों में संक्रांत घोड़ों के प्रवेश पाने से यह बीमारी फैलती है। इस प्रकार प्रथम विश्वयुद्ध के समय केन्द्रीय यूरुप में इसका खूब प्रकोप हुआ था। यह बीमारी पूरब में रूस तथा पश्चिम में फ्रांस से लाए गए घोड़ों (रोग-वाहकों) द्वारा प्रवेश पाई। यद्यपि अनेक पशु इसके प्रति *सहनशील मालूम पड़ते हैं, किन्तु उनमें* कोई निश्चित प्रतिरक्षा नहीं होती।

दूषित रक्त का अधस्त्वक् अथवा अंत.शिरा इन्जेक्शन देकर प्रयोगात्मक रूप से इस बीमारी को उत्पन्न किया जा सकता है। इसका उद्भवन काल एक से दो सप्ताह का होता है। जापानी आयोग[12] ने मूत्र पिलाने के बाद (100-200 घ० सें० नित्य) तीन

दिन में इसका संक्रमण पाया। गो पशुओं, भेंड़-बकरियां, सूकरों, कुत्तों, बिल्लियों, चुहियों, खरगोशों तथा गिनीपिग में यह बीमारी नहीं होती।

विकृत शरीर रचना—उग्र संक्रामक रक्तस्वल्पता से मरे हुए पशु का शव-परीक्षण करने पर रक्तपूतिता की भांति निम्नलिखित परिवर्तन देखने को मिलते हैं प्लीहा का काफी बढ़ जाना, बढ़ा हुआ यकृत, लिम्फ ग्रंथियों की अतिरक्तता, तथा पूरे शरीर में रक्तस्राव होना। हृदय में सीरस झिल्ली तथा हृदयावरण (पेरिकार्डियम) के नीचे रक्तस्राव मिलता है। हृदय की मांस पेशियों में भी रक्तस्राव के छोटे-छोटे दाने से पाए जा

चित्र—74 संक्रामक रक्ताल्पता रोग से पीड़ित अश्व
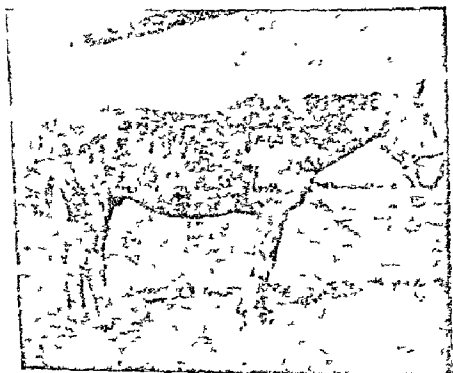
सकते हैं। कॉर्डी टेंडिनी तथा हृत्कपाट भी कभी-कभी सूजे हुए दिखाई देते हैं। हृत्पेशी में, अंतर्हृद तथा अधिहृद स्तर के नीचे तथा महाधमनी के रक्तवाहिनी अन्तस्तर में सफेद अथवा पीलापन लिए हुए सफेद दाने मिलते हैं। यह इस बीमारी के विशिष्ट क्षतस्थल माने जाते हैं। हृदय की मांस पेशी का अपकर्षण हो जाता है। यकृत की सतह पर प्रायः रक्तस्राव के छोटे-छोटे दाने मौजूद होते हैं और ये फेफड़ों की सतह पर भी देखे जाते हैं। गुर्दे व कार्टेक्स में छोटे-छोटे फोड़े हो सकते हैं तथा उसके टिसु का अपक्षय हो सकता है। उसकी बाहरी सतह प्रायः नार्मल प्रतीत होती है। अंतड़ियों में सीरस तथा म्यूकस झिल्ली के नीचे काफी रक्तस्राव होता है। उदर-गुहा में विभिन्न मात्रा में लाल रंग का द्रव भरा मिलता है। उदर झिल्ली संकुचित अथवा रक्तस्रवित हो सकती है। पुनरोत्पादक क्रियाओं से अस्थि मज्जा का रंग असामान्य लाल हो जाता है किन्तु, यह संक्रामक रक्तस्वल्पता का विशिष्ट परिवर्तन नहीं है।

रोग की दीर्घकालिक अवस्था में शव-परीक्षण पर प्राप्त होने वाले परिवर्तन रक्तस्वल्पता तथा [illegible] तक ही सीमित रह सकते हैं।

लक्षण—स्टीन[3] के अनुसार प्रयोगात्मक रूप से उत्पन्न किए गए रोग का उद्भवन काल सात से अट्ठाईस दिन होता है। संक्रामक रक्तस्वल्पता की तीन अवस्थाएँ वर्णन की गई है: उग्र, कुछ कम उग्र तथा दीर्घकालिक। प्रत्येक प्रकार अक्सर प्रकोप करती हैं, फिर भी, इनको अलग पहचानने की कोई विशिष्ट सीमा निर्धारित नहीं है। संक्रामक रक्तस्वल्पता के चक्रीय प्रकोप तथा कुछ घोड़ों में इसके प्रति सहनशीलता के कारण इसके लक्षणों तथा कोर्स में काफी विभिन्नता मिलती है। उग्र, कुछ कम उग्र तथा दीर्घकालिक, शब्द संलक्षण के वेग तथा अवधि के लिए प्रयोग किये गये हैं। रोग के उग्र प्रकोप में पशु की तीन दिन में मृत्यु हो सकती है अथवा पशु पर लगातार उग्र प्रकोप होते रहते हैं तथा सप्ताहों से महीनों में वे ठीक हो पाते हैं। अंतिम तथा प्राणघातक आक्रमण में रोग के लक्षण प्रायः उग्र होते हैं। जहाँ बीमारी फैलने की अनुकूल परिस्थितियाँ होती हैं और जहाँ अनेकों ग्रहणशील घोड़े होते हैं वहाँ इसके बार-बार उग्र प्रकोप हुआ करते हैं। उदाहरणार्थ, उडाल और फिच[2] द्वारा अवलोकित एक प्रकोप में घोड़े बार-बार अच्छे होते मालूम हुए, किन्तु अंत में शतप्रतिशत रोगियों की मृत्यु हो गई। जहाँ यह बीमारी स्थानिकमारी के रूप में लगातार प्रकोप करती है वहाँ प्रमुख ह्रास मृत्यु के कारण न होकर कमजोरी से हुआ करता है।

उग्र अथवा अति उग्र प्रकोप तीन दिन से लेकर तीन सप्ताह तक मौजूद रह सकता है। एकाएक तीव्र अवसन्नता, लगातार तेज बुखार (104 से 107° फारेनहाइट), नेत्र की श्लेष्मल झिल्ली का लालिमा लिए हुए पीला पड़ जाना तथा पैरों की अन्दरूनी त्वचा अथवा निचले भागों, विशेषकर मुतान, पर थोड़ी अथवा अधिक शोथ होना इसके विशिष्ट लक्षण हैं। निक्टेटिंग झिल्ली पर बुंदकीदार रक्तस्राव पाया जा सकता है। अत्यधिक कमजोरी के कारण कभी-कभी शरीर में टेटनस जैसी अकड़न देखने को मिलती है। चारे में पूर्ण रुचि रह सकती है किन्तु घोड़ा धीरे-धीरे खाता है। नाक तथा आँखों से थोड़ा स्राव बहता है तथा नासास्राव रक्त-मिश्रित हो सकता है। बीमारी की उग्रता में पशु के कान लटक जाते हैं तथा आँखें आधी बंद दिखाई देती है। तापक्रम की अपेक्षा नाड़ी-गति अधिक कम हो जाती है। रोग के अंतिम काल में नाड़ी-गति बढ़ जाती तथा पशु को साँस लेने में कष्ट होता है। पशु बार-बार पेशाब करता है, उसके मूत्र में ऐल्बूमिन निकलती है और उसको हल्के दस्त आ सकते हैं। रोग के पुनः आक्रमण भी हो सकते हैं। जब प्रकोपों के मध्य थोड़े दिनों का अवकाश होता है तो रोगी की मृत्यु होकर शीघ्र ही बीमारी का अंत हो जाता है।

रोग की कुछ कम उग्र अवस्था में ऐसे ही किन्तु कम वेगवान लक्षण महीनों तक मौजूद रह सकते हैं। लक्षण बहुत ही कम प्रकट होते अथवा वे महीनों तक अनुपस्थित (छुपे हुए) रह सकते हैं। ऐसे पशुओं से जब काम लिया जाता है तो लक्षण स्पष्ट हो जाते हैं। जहाँ बीमारी स्थायी रूप से तथा बार-बार प्रकोप करती है, वहाँ रोग के अनेक वाहक होते हैं।

रक्त-परीक्षण करने पर कम रोग-ग्रसित रोगियों में भी निश्चित परिवर्तन देखने को मिलते हैं। रक्त का नमूना लेने के लिए जब मुँह की श्लेष्मल झिल्ली काटी जाती है तो रक्त जमता नहीं है। हीमोग्लोबिन कम होकर 30 से 60 प्रतिशत तक हो सकता है

तथा लाल रक्त-कणों की संख्या 7 अथवा 8 दसलक्ष से कम होकर 2 या 3 दसलक्ष रह जाती है। इसके विपरीत रक्त नार्मल रह सकता है। वैन एस आदि[13] के अनुसार "लाल-रक्त-कणो की संख्या अधिक कम हुए बिना ही अनेक रोगी मृत्यु के घाट उतर सकते हैं। यह तथ्य इस कथन के विपरीत है कि यह प्रमुख रूप से एक रक्तस्वल्पता रोग है।" लुहर[6] ने भी यह बताया कि कुछ रोगियो में मृत्यु होने तक लाल रक्त-कणों की संख्या नार्मल रहती है।

निदान—अत्यधिक मृत्युदर, छुपी हुई अवस्था में रोग का संक्रमण होना तथा रोग-वाहकों के कारण छुतैली रक्तस्वाल्पता का निदान करना अति आवश्यक है। ग्रहणशील घोड़े में रक्त का टीका लगाकर इसका सही निदान किया जा सकता है। कृत्रिम रूप से संक्रात घोड़े में यह बीमारी छुपी हुई अवस्था में रह सकती है। न्यूयार्क में इसको एक्वि-सिटम (घोडे की पूँछ की आकार का एक पौधा) से संदूषित घास खाने से उत्पन्न विषाक्तता से सभ्रान्ति हो सकती है। स्टेक[14] के अनुसार कुछ क्षेत्रों में इस रोग के बड़े ही विचित्र तथा सीमित प्रकोप होते हैं। कभी-कभी एक फार्म पर एक ही घोड़ा बीमार पड़ता है। ऐसा स्विट्जरलैंड में अक्सर देखा गया है। स्टेक 50 अथवा अधिक अधोजिह्व रक्तस्रावों को काफी लाक्षणिक महत्त्व देते हैं जिनको उन्होंने बीमार तथा बीमार के साथ रहने वाले एव प्रत्यक्षरूप से स्वस्थ दिखाई देने वाले घोडो में देखा। उन्होंने यह वाद प्रस्तुत किया कि जितने समय में एक घोडा स्पष्ट रूप से बीमार दिखाई देता है उतने ही समय में उसके साथियों को भी इसकी छूत लग जाती है, किन्तु वे बीमार नही होते। उन्होंने यह भी बताया कि संक्रमण बहुत ही हल्का होता है जिससे पशु स्वतः ठीक हो जाता है। ऐसे अधोजिह्व रक्तस्राव अन्य छुतैली बीमारियों में नही पाये जाते। स्टेक ने ऐसे रक्तस्राव के स्वस्थ-वाहको से छना हुआ सीरम लेकर अतः शिरा इन्जेक्शन द्वारा, तथा रोग से अच्छे होने वाले पशुओ से छना हुआ सीरम लेकर अधस्त्वक् इन्जेक्शन द्वारा बिना अन्य लक्षणो के अधोजिह्व रक्तस्राव उत्पन्न किया। इस रक्तस्राव के घाव 1/4 से 1 मि० मी० व्यास के, कभी-कभी बड़े तथा छिछले होकर जीभ की अन्दरूनी सतह पर स्थित रहते हैं तथा ये सिरे की ओर अधिक होते हैं। स्टीन आदि ने यह भी बताया कि ग्रहणशील घोड़े में 1 . 100,000 वाइरस घोल का 1 घ० सें० की मात्रा में अधस्त्वक् इन्जेक्शन देकर संक्रामक रक्तस्वल्पता को छुपी हुई अवस्था में उत्पन्न किया जा सकता है। उन्होंने मच्छर द्वारा संचारित इस बीमारी की छुपी हुई अवस्था का भी एक रोगी देखा।

नैदानिक टीका लगाने के बाद पशु का दिन में दो बार नित्य तापक्रम लेना चाहिए। रोग-ग्रसित पशुओं में आठ से चौदह दिनो में तापक्रम काफी बढ़ा हुआ मिलता है तथा नाक से थोड़ा रक्त-मिश्रित स्राव भी गिर सकता है। लुहर ने प्रयोगात्मक टीका देने के बाद ज्वर की अनुपस्थिति देखी जिसके परिणामस्वरूप संक्रामक रक्तस्वल्पता से पशु की मृत्यु हो गई, किन्तु ऐसा बहुत ही कम होता है।

अभी हाल में ही इस रोग के विशिष्ट नैदानिक-परीक्षण ज्ञात हुए हैं। मर्क्यूरिक क्लोराइड-परीक्षण में मर्करी घोलों के विभिन्न बाईक्लोराइडो में 1 घ० सें० सीरम मिलाया

जाता है। 1 : 100,000 अनुपात पर समाक्षेपण (flocculation) होना धनात्मक माना जाता है। वैली ने रक्तस्वल्पता के 16 रोगियों में से 14 में, 58 नार्मल घोड़ों में से 13 में तथा गल-ग्रंथिल रोग के 5 रोगियों में इसको प्रतिक्रिया होती बताई। जापान में इकेडा ने 32 संक्रमणित घोडो में से केवल एक में ऐसी प्रतिक्रिया पाई। मोहलर[15] ने भी इस परीक्षण को अविश्वासनीय बताया।

अपर्मन[16] के अनुसार कबूतर भी इस रोग के वाइरस के प्रति ग्रहणशील हैं तथा रोग ग्रसित कबूतर का सीरम गिनीपिग के लाल-रक्त-कणों को ऐग्लूटिनेट कर देता है। इस मत को बहुत ही कम समर्थन मिला।

कंट्रोल—स्काट[10] का कहना है कि सभी रोगी तथा संक्रान्त घोड़ों को मार देना चाहिए। यद्यपि स्वच्छता के दृष्टिकोण से यह ठीक है किन्तु, वाहकों का पता लगाने में अनेक कठिनाइयाँ होती हैं। जिन क्षेत्रों में यह बीमारी प्रकोप करती है वहाँ के फार्मों के घोड़ों पर तब तक प्रतिबंध लगा देना चाहिए जब तक कम से कम दो वर्षों तक उस क्षेत्र में बीमारी के प्रकोप का प्रमाण न मिले। जैसा फुल्टन[4] ने प्रदर्शित किया है गंदे तालाबों के पानी में वाइरस हो सकता है, अतः पशुओं को साफ-सुथरा पानी ही पिलाना चाहिए। कर्दम-ज्वर के प्रान्तों में दलदले चरागाहों से पानी का निकास करना चाहिए अथवा उन पर घोड़ों को नहीं चराना चाहिए। संदेहयुक्त घोड़ों का नित्य तापक्रम लेना चाहिए। स्काट का कहना है कि यदि तापक्रम लेने का समय 15 जुलाई से 1 दिसम्बर के बीच का है तो तीन माह तक इसका अभिलेख रखने से बीमारी का कुछ प्रमाण मिलता है। यदि यह समय 1 दिसम्बर से 15 जुलाई के बीच का हो तो कम से कम पाँच माह तक तापक्रम लेना चाहिए। अधिक कार्य लेने से थोड़े-थोड़े समय के अवकाश पर ही इस ज्वर के आक्रमण होते हैं। बीमारी के प्रति कृत्रिम प्रतिरक्षा उत्पन्न करने के सभी प्रयास विफल रहे।

संदर्भ

1. Carre and Vallee, Sur l' anemie infectieuse du cheval, Compt. Rend. Acad. Sci., 1904, 26, 1229.
2. Udall, D.H., and Fitch, C.P., Preliminary report on the recognition of swamp fever or infectious anemia in New York State, Cornell, Vet., 1915, 5,69.
3. Stein, C.D., Infectious anemia or swamp fever in horses J.A.V.M.A., 1935, 87, 312.
4. Fulton, J.S., The prevalence of swamp fever in Saskatchewan in relation to soil type, J.A.V.M.A., 1930, 77, 157.
5. Schalk, A.L., and Roderick, A.M., History of a swamp Fever Virus Carrier, N. Dak, Agr. Exp. Sta. Bull. 168, Fargo, 1923.
6. Lühr, Die ansteckende Blutarmut der Pferde, Zeit. f. Tierheilk, 1919, 31, 369 ; 1921, 33, 66.
7. U.S. Dept. of Agriculture, Farmer's Bull. No. 1819, 1938, Infectious Anemia (Swamp Fever).

8 U S B A.I , 1912, p 28
9 Stein C D and Mott , L O , Studies on congenital transmission of equine infectious anemia Vet Med , 1912, 37, 370
10 Scott J W , Insect transmission of swamp fever or infectious anemia of horses Wyo Agr Exp Sta Bull 133 Laramie, 1922
11 Stein C D , Lotze, J C and Mott, L O , Evidence of transmission of inapparent (subclinical) form of equine infectious anemia by mosquitos (Psophora columbiae) and by injection of the virus in extremely high dilution J A V M A , 1943, 102, 163
12 Japanese Commission Committee Report, Tokyo, Vet J 1914, 70, 604
13 Van Es, L , Harris, E D and Schalk, A L , Swamp Fever in Horses, N Dak Agr Exp Sta Bul 94, 1911
14 Steck, W , Studien uber die infektiose Anamie der Pferde III Auftreten von Zungenbluten und Ausbreitung der Infektion Schweizer Archiv f Tierheilkunde, 1946, 88, 61 , IV Weitere Beobachtungen uber Zungenpunktblutungen und Ausbreitung der Infektion, 1946, 88, 389
15 Mohler J , Report of the Chief of the Bureu of Animal Industry, 1931.
16 Opperman, Deutsch tier Wchnschr , 1928 p 717

घोड़ों की संक्रामक श्वासनली शोथ

(Infectious Bronchitis of Equines)

(घोड़ों की संक्रामक खाँसी, छुतैली कण्ठ-श्वास प्रणाल शोथ, धसका आदि)

परिभाषा—वाइरस द्वारा उत्पन्न होने वाली यह एक अति संक्रामक श्वासनली शोथ है जिसे घरघराहट के साथ सूखी खाँसी द्वारा पहचाना जाता है।

यूरप के साहित्य में विभिन्न नामों से इस बीमारी को सम्बोधित किया गया है। डीकरहोफ[1] ने इसे स्कैल्मा (sk1lma) तथा हुटायरा और मारेक[2] ने घोड़ों की कण्ठ-श्वास प्रणाल शोथ की महामारी के रूप में इसका वर्णन किया। इसे विशेष प्रकार का एन्फ्लूएंजा माना गया और फिजी ने अपने प्रयोगों से भी यह बताया कि लक्षण के अनुसार भी यह घोड़ों के एन्फ्लूएंजा रोग से मिलता-जुलता है। घोड़ों के श्वसन अंगों की संक्रामक महामारी पर प्रस्तुत एक रिपोर्ट में थीलर[3] ने इस वर्गीकरण में होने वाली सम्भ्रान्ति को स्पष्ट कर दिया। अब तक ऐसे दो विशिष्ट संक्रामक रोग पहचाने गए हैं, एक तो अश्वीय एन्फ्लूएंजा और दूसरा अश्वीय निमोनिया। किन्तु उन्होंने फिजी का समर्थन करते हुए यह विचार प्रकट किया है कि डीकरहाफ का स्कैल्मा केवल एन्फ्लूएंजा की हल्की प्रकार थी। वाल्डमैन और कान ने इसे एक स्वाधीन वाइरस रोग बताया।

कारण—विशुद्ध जातीय घोड़ों की घुड़सालों में इस रोग का प्रकोप खूब देखा जाता है। लगभग सभी नस्ल के घोड़ों में यह महामारी प्रकोप करती है तथा संसार भर में बहुविस्तरित है। सामान्य आक्रमण के सभी रोगी ठीक हो जाते हैं किन्तु, गौण संक्रमण से

निमोनिया हो सकती है। बीमार पशु रोग की छूत फैलाने का प्रमुख स्रोत होते हैं तथा मध्यस्थ वाहकों द्वारा इसकी छूत किस अंश तक फैलती है, अभी ज्ञात नहीं है।

वाल्डमैन और कोव[1] द्वारा किए गए प्रयोगों में घुडसाल में दो बीमार घोड़ों के बीच रखे गए एक वर्षीय बछेड़े में इसकी छूत तीन दिन में फैली। फेफड़ों के टिशू से प्राप्त जीवाणु-रहित छनित जब घोडे के गले में रखा गया तो भी इसकी छूत फैली। वध किए गए रोग-ग्रसित प्रयोगात्मक पशुओं का जीवाणु-परीक्षण ऋणात्मक निकला। फिर भी, रोग के अधिक दिनों तक आक्रमणित रहने पर कभी-कभी गौण स्ट्रेप्टोकाकिक निमोनिया का विकास देखा गया। प्रत्यक्ष रूप से इसकी स्ट्रेप्टोकोकाइ शट्ज (Schutz) द्वारा प्राप्त सक्रामक अश्वीय निमोनिया की भाँति ही थी। जीवाणुरहित छनित का टीका देने के बाद केवल एक बार गौण स्ट्रेप्टोकाक्किक सक्रमण देखा गया। वैसे तो केवल वाइरस ही इसकी छूत फैलाने वाला कारक है किन्तु, प्राकृतिक सक्रमण में वाइरस तथा स्ट्रेप्टोकोकाइ दोनों ही पाए जाते हैं।

गो-पशुओं तथा सूकरों में प्रयोगात्मक टीका धनात्मक निकला।

लक्षण—प्राकृतिक अथवा कृत्रिम रूप से सक्रमण के बाद इसकी पहली प्रतिक्रिया नासार्ति तथा नेत्र-श्लेष्मलाशोथ है। नाक की श्लेष्मल झिल्ली लाल हो जाती है। स्वरयन्त्र तथा श्वासनली का पहला छल्ला दबाव के प्रति संवेदनशील होते हैं। इन प्रारम्भिक लक्षणों के 1 से 4 दिन बाद पशु खाँसने लगता है। खाँसी तेज, सूखी तथा दर्दयुक्त होती है। प्रारम्भिक लक्षणों अथवा खाँसी के आक्रमण के समय पशु को थोड़ा बहुत बुखार भी होता है। सामान्य अवलोकनों के समय ज्वर नहीं भी देखा जा सकता है और रोजाना केवल एक ही बार तापक्रम लेने पर भी यह अदृश्य हो सकता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि ज्वर, वाइरस के रक्त में चक्कर लगाने के साथ-साथ होता है। बुखार अथवा खाँसी के आक्रमण के समय गले की लिम्फ ग्रथियाँ सूजी हुई तथा दर्दयुक्त होती हैं। ये शोथयुक्त लक्षण श्लेष्मा की भाँति, केवल तीन या चार दिन तक रहते हैं। ज्वर की अवस्था में सुस्ती, खान-पान में अरुचि तथा कपकपी के लक्षण मौजूद हो सकते हैं। बुखार कम होने पर खाँसी रहते हुए भी पशु का स्वभाव तथा चारे में रुचि नार्मल रहती है। आगे चलकर खाँसी ही केवल इस बीमारी का लक्षण मात्र रह जाती है। यदि रोगी से काम नहीं लिया जाता तो खाँसना कम होकर एक से दो सप्ताह में पशु बिल्कुल ठीक हो जाता है। एक बार आक्रान्त पशु के शरीर में इस रोग के प्रति प्रतिरक्षा उत्पन्न हो जाती है।

बुखार का बढना, लगातार खाँसना तथा हालत का गिरना आदि लक्षणों से गौण सक्रमण शुरू होता है। नाक से पीला अथवा पीलापन लिए हुए श्लेष्मायुक्त हरा स्राव गिरता है जो पशु के खाँसने के समय काफी मात्रा में बाहर निकलता है। नेत्र की श्लेष्मल झिल्ली लाल तथा कभी-कभी पीलापन लिए हुए प्रतीत होती है। स्वरयन्त्र की लिम्फ ग्रथियाँ सूज जाती हैं, किन्तु उनमें फोडे कभी नहीं बनते। आला लगाकर जाँच करने पर फेफड़ों में कभी-कभी कुछ घरघराहट तथा तेज श्वास की आवाज सुनाई देती है। रोगी को कभी-कभी फुफ्फुसार्ति भी हो सकती है।

संदर्भ

1. Dieckerhoff, W, Die Krankheiten des Pferdes, ed 3, 1891.
2 Hutyra, F, and Marek, J, Special Pathology and Therapeutics, Eng. Trans, vol II, 1938, p 501
3 Theiler, A, Observations on an epizootic contagious catarrh of the respiratory organs of equines and its relation to purpura haemorrhagica, *Union of S Africa, Dept of Agr. 7th and 8th Reports*, 1918, p. 361.
4 Waldmann, O, Kobe, K, Der seuchenhafte Husten des Pferdes ("Hoppegartner Husten") Berl tier. Wchnschr, 1934, 50, 561.
4. Waldemen, O, Kobe, K, Der seuchenhafte Husten (infektiose Bronchitis) des Pferdes, Zentralbl f Bakteriol Orig, 1931 35, 133, 49.
4 Waldmann, O, Kobe, K, and Pape, J, The etiology of outbreaks of coughing in a racing center (Hoppegarten) in Germany preliminary communication, Vet Record, 1931, 14, 277

अश्वीय इन्फ्लूएंजा

(Equine Influenza)

(श्लेष्म ज्वर; गुलाबी नेत्र; पशुपदिक संयोजक ऊतिशोथ)

परिभाषा—घोडा को होने वाली यह एक अतिसंक्रामक सामान्य छूतैली बीमारी है। इसका संक्रमण प्राय श्वासनली की श्लेष्मल झिल्ली में तथा कभी-कभी आहार-नाल की श्लेष्मा तथा त्वचा के नीचे स्थित रहता है। बहुधा अनेक जटिलताएँ भी हो जाया करती हैं। इसका प्रमुख कारण एक वाइरस है जिसके साथ गौण संक्रमण भी हुआ करता है। अमरीका में सन् 1872–73 में इसका एक प्रकोप हुआ जिससे बड़े-बड़े शहरों में घोडो द्वारा यातायात का कार्य सप्ताहो तक ठप रहा। प्रथम विश्वयुद्ध के समय यह महामारी लगभग सभी फौजों के नए खरीदे गए घोडो तथा खच्चरों में लगातार मौजूद थी। बाडो, शिविरों, तथा घुड़सवार केन्द्रो में, जहाँ ग्रहणशील पशु एक साथ रहते हैं, यह बीमारी हुआ करती है। अपने एकाएक प्रकोप, तेज बुखार, विभिन्न प्रकार, शीघ्र फैलने तथा अनेक उग्र जटिलताओं में यह बीमारी मनुष्य में होने वाले इन्फ्लूएंजा से मिलती-जुलती है। कुछ चिकित्सकों से भी इन दोनो बीमारियों को एक मानने की सम्भ्रान्ति हो गई है।

कारण—इन्फ्लूएंजा के वाइरस की प्रकृति तथा वितरण के बारे में बहुत ही कम ज्ञान प्राप्त है। अभी हाल तक संक्रामक अश्वीय निमोनिया के साथ इसकी सम्भ्रान्ति होती रही है। विभिन्न अन्वेषण कर्त्ताओं (गैफ्की[2] और वर्गमैन[1]) ने रक्त, छने हुए रक्तसीरम तथा वीर्य द्वारा इसका कृत्रिम संचरण होते बताया है। अवस्तत्वक् इन्जेक्शन देने के बाद इसका उद्भवन काल दो से छ दिन का होता है। बीमार पशु के रक्त तथा अन्य शारीरिक द्रवों में वाइरस मौजूद रहता है जहाँ यह अनिश्चित काल तक रह सकता है। बैसेट ने रोग से ठीक होने के महीनो बाद इसे रक्त में पाया जाना बताया है तथा वर्गमैन की रिपोर्ट के अनुसार घोडे के वीर्य में यह वाइरस रोग से ठीक होने के $6\frac{1}{2}$ वर्ष बाद पाया गया।

यह तथ्य कि रोग से अच्छे हुए पशु बराबर बीमारी का संचार करते रहते हैं, कुछ अमान्य सा प्रतीत होता है।

बीमार पशुओं तथा उनके संपर्क में आने वाले पदार्थों जैसे नाद, पानी पीने की बाल्टी, बर्तन तथा खुरहरा करने वाले यंत्रों द्वारा इसकी छूत बहुत ही शीघ्र फैलती है। यह बीमारी इतनी तेजी से फैलती है कि एक बार ग्रहणशील पशुओं में इसका प्रकोप होने के बाद इसकी रोकथाम करना कठिन हो जाता है। लेखक को इस बात का निश्चित ज्ञान नहीं है कि कितने समय तक यह वाइरस संक्रमणयुक्त घुड़सालों तथा बाड़ों में जीवित रह सकता है। किन्तु, जब ग्रहणशील पशुओं को रोककर रखा जाता है तो यह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। शिविरों, घुड़सवार केन्द्रों तथा बाड़ों में जहाँ नए ग्रहणशील पशु बराबर आते-जाते रहते हैं और जहाँ वाइरस काफी बड़ी संख्या में लम्बे समय तक सक्रिय रह सकते हैं वहाँ इस महामारी का भीषण प्रकोप होता है। फार्म के पशुओं में इस रोग का विकीर्ण अथवा स्थानिकमारी के रूप में प्राय: हल्का प्रकोप होता है और सदैव उस घोड़े द्वारा इसकी छूत लगती है जो संक्रमणयुक्त बाड़े से शीघ्र ही निकल चुका हो। इसके एक आक्रमण से पशु के शरीर में स्थायी प्रतिरक्षा उत्पन्न हो जाती है। वैसे तो इन्फ्लूएंजा के प्रकोप के लिए वाइरस की उपस्थिति अनिवार्य है, फिर भी ठंड तथा थकावट आदि कारक पशु की प्राकृतिक सहनशक्ति पर काबू पाकर इसके आक्रमण को उत्तेजित करते हैं।

विकृत शरीर रचना—चूँकि प्रायः निमोनिया के परिणामस्वरूप पशु की मृत्यु होती है, अतः शव-परीक्षण करने पर इसी के क्षतस्थल प्राप्त होते हैं। फेफड़ों में अतिरक्तता, शोथ तथा रक्तस्रवित ब्रोंकोनिमोनिया के परिवर्तन मिलते हैं। आहार-नाल की श्लेष्मल झिल्ली लाल, रक्तस्रवित तथा सूजी हुई दिखाई देती है। फेरिंक्स के चारों ओर चिपचिपा पदार्थ भरा मिलता है। शरीर की लिम्फ ग्रंथियों, हृदय, गुर्दों, यकृत तथा मांसपेशियों का अपकर्षण होकर रक्तपूतिता की भाँति परिवर्तन देखने को मिलते हैं। त्वचा तथा सीरस झिल्ली के नीचे रक्तस्राव, लिम्फ ग्रंथियों की सूजन तथा शारीरिक-गुहाओं में सीरस-द्रव का भरा होना इसमें दिखाई देने वाले अन्य परिवर्तन हैं। रक्त संचार रुक जाने अथवा आघात के फलस्वरूप भी रोगी की मृत्यु हो सकती है।

लक्षण—रोग का उद्भवन काल 5 से 10 दिन का होता है। ठंड, तेज श्वास-प्रश्वास तथा खान-पान में पूर्ण अरुचि के साथ रोग का एकाएक आक्रमण होता है। कुछ पशु कान लटका कर तथा नाद के सहारे सिर रखकर अवसन्नता के लक्षण प्रकट करते हैं। अन्य रोगी बेचैन रहते हैं तथा अपनी स्थिति को बार-बार बदलते हैं जिससे उनकी संधियों में खटखट की आवाज सुनाई देती है। पशु को 103 से 106° फारेनहाइट तक तेज बुखार रहता है जो लगभग तीन दिन तक चलता है। नेत्र की श्लेष्मल झिल्लियाँ रक्त-संकुलित होकर पीलियायुक्त दिखाई पड़ती हैं।

ऊपरी श्वासनली में जीवाणु की प्रमुख स्थिति के कारण प्रारम्भ से ही पशु तेजी से खाँसता है। नाक की श्लेष्मल झिल्लियाँ लाल हो जाती हैं तथा दोनों नथुनों से पहले पतला स्राव बहता है जो बाद में पीवयुक्त होकर गाढ़ा हो सकता है। कुछ पशुओं में नाक से

थोड़ा अथवा विल्कुल ही स्राव नहीं होता। कुछ को छोड़कर अधिकांश रोगियों में खांसी मौजूद रहती है। दवी हुई दर्दयुक्त खांसी, गले की सूजन, तथा काफी मात्रा में पीवयुक्त नासास्राव के रूप में कभी-कभी ग्रसनीशोथ के लक्षण देखने को मिलते हैं। वक्ष का परीक्षण करने पर बढ़ी हुई छिद्रिल आवाज तथा श्वासकष्ट का अनुमान होता है।

इन्फ्लूएंजा निमोनिया इसकी एक भयंकर तथा प्राणघातक जटिलता है। पहले दो या तीन दिन के बाद, विशेषकर भलीभांति देखभाल न करने वाले खुले पशुओं में, यह किसी भी समय प्रकट हो सकती है। इसके साथ रोगी पशु को फाइब्रिनी फुफ्फुसार्ति भी हो सकती है।

दवी हुई लहरी-गति तथा थोड़ी अपच के बाद कभी-कभी हल्के वदबूदार दस्त आना इसके पाचन संबंधी लक्षण हैं। कुछ वर्षों में अति प्राणघातक जठर-आंत्र शोथ के रूप में इसकी आंत्रिक प्रकार देखने को मिलती है। रोग से अंत में आने वाले दस्तों से इसकी सम्भ्रान्ति नहीं करनी चाहिए।

पशुपदिक संयोजक ऊतिशोथ अथवा "गुलाबी नेत्र रोग" इन्फ्लूएंजा की वह प्रकार है जिसमें पैरों की त्वचा, शरीर के निचले भागों और वहुधा पलकों पर सूजन होती है। पैरों में एक समान व्यास की उनकी पूरी लम्बाई में सूजन होती है। फूली हुई सूजन के कारण आंख के पलक वंद हो सकते हैं तथा नेत्र श्लेष्मलाशोथ, कार्निया में धुंधलापन, नेत्र-गोलक में पुतली शोथ एवं मोतियाविन्दु जैसे क्षतस्थल मिल सकते हैं। गाभिन घोड़ियों का गर्भ गिर जाता है। घोड़ों में अण्डशोथ हो जाता है। विलियम्स[3] तथा अन्य (लकी)[4] के अनुसार "गुलावी-नेत्र रोग" एक स्वाधीन रोग है।

लंगड़ाना, टेण्डन-आवरणों तथा संधियों की सूजन, ज्वर-पित्ती, गुर्दाशोथ, मस्तिष्क अथवा मेरु-रज्जु के क्षतस्थलों के कारण अवसन्नता तथा मांसल ऐंठन इसकी अन्य अव्यवस्थित प्रकार हैं। रोगी में कोई विषमता उत्पन्न न होने पर तीसरे दिन बुखार कम होकर एक से दो सप्ताह में पशु ठीक हो जाता है। मृत्युदर 0.1 से 1.0 प्रतिशत तक अनुमान किया जाता है यद्यपि यह 4 प्रतिशत तक तथा आंत्रिक प्रकार में और भी अधिक हो सकता है।

निदान—इन्फ्लूएंजा की ग्रसनीशोथ तथा ऊपरी श्वसन-तंत्र के अन्य विकारों से सम्भ्रांति हो सकती है। तेज बुखार, अवसन्नता तथा छुतैली प्रकृति से इसे स्थानीय नजला-जुकाम से अलग पहचाना जा सकता है। निमोनिक प्रकार, जब संक्रामक निमोनिया के साथ प्रकोप करती है तो इसका विभेदी-निदान करना काफी कठिन हो जाता है। यदि रोगी पशुओं का भलीभांति अवलोकन किया जाए तो प्राइमरी निमोनिया का आक्रमण पहले होता प्रतीत होता है। बहुधा इन्फ्लूएंजा का निदान बिना उसकी विशेषताओं को ध्यान में रखकर लापरवाही से किया जाता है।

चिकित्सा—रोग के साधारण आक्रमण में जिसमें कोई विषमता न हुई हो पशु को पूर्ण आराम देकर ठंड, नमी तथा थपेड़ेदार वायु से बचाना चाहिए। रोगी को पीने के लिए बार-बार ताजा पानी देना चाहिए। फेरिंक्स के अधिक क्षतिग्रस्त होने पर भाप का वफारा

देने से आराम मिलता है। एक ग्रेन की मात्रा में दिन में तीन बार स्ट्रिकनीन सल्फेट देना रोगी पशु को अवसन्नता से बचाता है। बेलाडोना के साथ अमोनियम क्लोराइड तथा अमोनियम कार्बोनेट जैसी कफनाशक औषधियों का प्रयोग लाभप्रद है (प्रतिश्याय वाला पाठ देखिए)। अपच ठीक करने के लिए रोजाना चटनी के रूप में 1 से 2 औंस (30-60 ग्राम) की मात्रा में सोडियम सल्फेट अथवा 250 घ० सें० द्रव पैरेफिन देना चाहिए, अथवा पशु को गाजर खिलानी चाहिए। अलोइन तथा अन्य क्षोभक पदार्थ नहीं खिलाने चाहिए। रक्त-संचारी निर्बलता का, निमोनिया की भाँति, 2 से 4 ड्राम (8–16 ग्राम) की मात्रा में कैफीन सोडियम बेंजोएट अथवा 4 से 8 औंस (120–240 घ० सें०) कर्पूरयुक्त तेल द्वारा इलाज करना चाहिए। निमोनिया तथा अन्य जटिलताओं की समुचित चिकित्सा करनी चाहिए। जहाँ बहुत से पशु एक साथ रहते हों वहाँ बीमार पशुओं को अलग करने के लिए लगातार देख-भाल करना जरूरी है। स्वस्थ तथा रोग से अच्छे होने वाले पशुओं से उत्पन्न गड़बड़ी से दूर रखने के लिए प्रत्येक रोगी पशु को अलग-अलग बाँधना चाहिए। बीमार पशु को बँधे हुए स्थान पर ही चारा तथा पानी देना चाहिए। मार्शल तथा ली[5] (Marshall and Lee) ने अश्वजातीय पास्चुरेल्ला से तैयार किए हुए ऐंटिगलघोटू सीरम का विक्रय-स्तबल-परिस्थितियों के अन्तर्गत परिवहन रोग से पीड़ित 100 घोड़ों की चिकित्सा में प्रयोग किया। इसको 100 घ० सें० की मात्रा में अंतःशिरा इन्जेक्शन द्वारा दिया गया तथा अन्य कोई चिकित्सा न की गई। इससे उन्होंने निम्नलिखित निष्कर्ष निकाला : "विक्रय-स्तबल-परिस्थितियों से लेखक वर्षों से परिचित रहे हैं और उन्होंने इन 100 रोगियों के लिए बताई गई चिकित्सा से अच्छा कोई इलाज नहीं पाया।" उसी पत्रिका में उन्होंने प्रतिरक्षा उत्पन्न करने वाले पदार्थ के रूप में 5 घ० सें० की मात्रा में गलघोटू रोग की ऐग्रेसिन का प्रयोग लाभप्रद बताया। दौड़ने वाले घोड़ों तथा यातायात के पूर्व युवा पशुओं में एन्फ्लूएंजा से बचाव के लिए (200–250 घ० सें० मासिक) ऐंटि-गलघोटू सीरम का खूब प्रयोग किया गया है। इसकी चिकित्सा में वहाँ की जलवायु में रहने वाले अथवा इन्फ्लूएंजा के प्रकोप से ठीक हुए घोड़े से रक्त लेकर रोगी पशु में चढ़ाने से लाभ होते देखा गया।

हाल में यातायात किए गए फौजी घोड़ों में गल-ग्रंथिल रोग तथा इन्फ्लूएंजा के परिणामस्वरूप अथवा इनके साथ होने वाली गौण निमोनिया में सीमोर तथा स्टीवेंसन[6] ने नियोआर्सफेनामीन की अपेक्षाकृत सल्फानिलामाइड को अधिक उपयोगी पाया। सल्फा-निलामाइड को पहले तथा दूसरे दिन 90 ग्राम की मात्रा में तथा तीसरे और चौथे दिन 60 ग्राम की मात्रा में चार दिन तक दिया गया। सल्फानिलामाइड की विषाक्तता पर काबू पाने तथा अम्लीयता को कम करने के लिए प्रत्येक खूराक के साथ 30 ग्राम की मात्रा में सोडाबाइकार्ब दिया गया। इस मिश्रण को पानी में मिलाकर आमाशय-नलिका द्वारा दिया गया। जब ग्रसनी शोथ के कारण आमाशय-नलिका घुसेड़ी न जा सकी तो रोगी को 500 घ० सें० साइट्रेटयुक्त रक्त दिन में एक अथवा दो बार नित्य दिया गया। इन्फ्लूएंजा के साधारण आक्रमणों की चिकित्सा में सीमोर और स्टीवेंसन[6] ने 200 घ० सें० पानी में 3 ग्राम नियोआर्सफेनामीन घोलकर अंत:शिरा इंजेक्शन द्वारा देकर बड़े अच्छे

परिणाम निकाले। इस औषधि को तीन या चार दिन तक खाजाना दिया गया। इस रोग की चिकित्सा में प्रतिजैविक पदार्थों का प्रयोग भी गुणकारी बताया गया।

सदर्भ

1 Bergman, A M , Beitrage zur Kenntnis der Virustrager bei Rotlaufseuche, Influenza erysipelatosa, des Pferdes, Zeit f Infek , 1913, 13, 161
2 Gaffky, Prof Dr Bericht uber die vom 1 Juli 1909 bis 1 Juli 1911 im Konigl Institut for Infektionskrankheiten Untersuchungen fortge fuhrten uber die Brustseuche der Pferde, Zeit f Veterinärkunde, 1912, 24, 209
3 Williams W L , Diseases of the Genital Organs of Animals, ed 1, 1921, p 770
4 Luckey, D F , Equine pinkeye stages a comeback, Ft Dodge Bio-Chemic Rev , 1942, 13, No 1
5 Marshall C J , and Lee, W J , A preliminary report on the treatment of shiping sickness of horses with hemorrhagic septicemia serum, Univ of Pennysylvania Bull Vet Extension Quarterly, 1925, 26, No 13 , Final report on the treatment of shipping sickness in horses with hemorrhagic septicemia serum, Univ of Pennsylvania Bull Vet Extension Quarterly 1927, 27, No 29
6 Seymour, R T , and Stevenson, D S , Equine respiratory diseases in newly purchased animals, U S Army Veterinary Bull , 1942, 36, 81

घोड़ा की संक्रामक निमोनिया

(Contagious Equine Pneumonia)

(खण्डीय निमोनिया, कफपाक निमोनिया, पास्चुरेल्लोसिस)

परिभाषा—घोडा की खण्डीय निमोनिया एक उग्र सामान्य छुतैला बीमारी है जो निश्चित अवधि तथा तेज बुखार के साथ लगभग एक सप्ताह तक रहती है। इसमें फेफडो के क्षतस्थल, मनुष्य को खण्डीय निमोनिया की भाँति न होकर, अपने गुणों में भिन्न होते है।[1] यह अधिकतर उन यूथो में प्रकोप करती है जहाँ अनेक घोडे एक साथ रखे जाते हैं और जहाँ नए घोडे अक्सर मिलाए जाते है। अत यह घुडसवार केन्द्रो, फौजी शिविरो, जलयान तथा रेल द्वारा यातायात माल में, और बाडो तथा विक्रय-स्थलो में अधिक देखी जाती है। विश्व महायुद्ध के समय इस बीमारी से काफी क्षति हुई थी।

कारण—घोडा की निमोनिया के विशिष्ट कारण का पता लगाने का बहुतो ने प्रयास किया है। गैफकी तथा लुहर[2] ने इस विषय पर काफी कार्य किया। जर्मन फौज में लगभग 10 वर्ष तक उनके इस कार्य के लिए अनेक घोडे प्रयोग किए गए। अत में तीन चार दिन तक बीमार रहने के बाद मारे गए घोडा से फाइब्रिनयुक्त जीवाणु रहित स्राव लेकर ग्रहणशील पशुओ की नाक तथा मुँह की श्लेष्मल झिल्ली पर लेप कर, वे कृत्रिम

रूप से इस बीमारी को फैलाने में सफल हो सके। इन प्रयोगात्मक रोगियों में रोग का उद्भवनकाल 18 से 42 दिन का था। प्राकृतिक रूप से संक्रमणयुक्त पशु गैफकी के प्रयोगों की अपेक्षाकृत कम समय में बीमार पड़ते हैं। यह तथ्य किसी अन्य वाइरस की संभावना प्रकट करता है। सन् 1887 में शट्ज (Schutz) ने घोड़ों की संक्रामक निमोनिया का कारण स्ट्रेप्टोकाक्कस पायोजिनस (अश्व जातीय) तथा 1897 में लिग्नीरेस (Lignieres) ने अश्वजातीय पास्चुरेल्ला बताया। अब इनको गौण आक्रमणकारी माना जाता है। नए घोड़ों का यातायात करने के पश्चात् निमोनिया से होने वाली मृत्युदर काफी अधिक होती है। फार्म पर रखे गए प्रौढ़ घोड़ों के छोटे-छोटे समूहों में निमोनिया का कभी-कभी तथा हल्का प्रकोप होता है। किन्तु, इन घोड़ों को अधिक संख्या में एक साथ रखने से किसी भी मौसम में इनमें प्राणघातक प्रकोप देखा जा सकता है। अत्यधिक ठंड अथवा थकान के बाद 24 से 48 घंटे में निमोनिया का विकास हो सकता है। हुटायरा ने इसे संक्रामक प्रकार से अलग करके वास्तविक कफपाक निमोनिया बताया। जब तक निमोनिया के बैक्टीरियल कारण के बारे में हमें अधिक तथा पूर्ण ज्ञान न हो जाए तब तक इसके प्रत्येक प्रकोप को संक्रामक मानना चाहिए।

विकृत शरीर रचना—शव-परीक्षण करने पर प्राप्त होने वाले परिवर्तन भिन्न होते हैं। वे संक्रमण की उग्रता, मृत्यु होने की अवस्था तथा गौण परिवर्तनों के गुणों के ऊपर आधारित होते हैं। जब फुफ्फुसु संकुलन (pulmonary congestion) के समय रोग की प्रारम्भिक अवस्था में ही रोगी की मृत्यु हो जाती है, तो यही इसका प्रमुख क्षतस्थल होता है। नियम के अनुसार निमोनिया के सुविकसित होने के बाद ही रोगी की मृत्यु हो जाती है। कुछ में पालिका शोथ के रूप में इसका छोटा-सा क्षतस्थल होता है अथवा एक या दोनों फेफड़ों में अत्यधिक संपिंडन होकर यह पालिशोथ की भाँति विकास करता है। बहुधा फेफड़ों के निचले खण्डों में ही संपिंडन होता है तथा इसके ऊपर का भाग सूज जाता है। अत्यधिक संपिंडन होने पर कटी हुई लाल रंग की सुदृढ़ सतह पर धूसर क्षेत्र दिखाई देते हैं। लाल भागों का माइक्रास्कोपिक परीक्षण करने पर अतिरक्तता के साथ वायु-कोषाओं में फाइब्रिन अथवा श्वेताणुयुक्त स्राव भरा मिलता है। धूसर भागों का माइक्रास्कोपिक परीक्षण करने पर बहुत बड़ी संख्या में श्वेताणु भरे मिलते हैं। अनेक क्षेत्र ऐसे पाए जाते हैं जिनमें टिसुओं की आकृति विकृत होकर उनमें परिगलन होने लगता है। उदराग का प्लूरा सूजकर मोटा हो सकता है तथा भित्तिक प्लूरा पर कभी-कभी फाइब्रिनयुक्त स्राव के मोटे थक्के मिलते हैं। वक्षीय गुहा में बहुधा काफी मात्रा में लाल रंग का सीरम भरा मिलता है। शव-परीक्षण पर पाए जाने वाले अन्य परिवर्तन जैसे गुर्दों, यकृत, प्लीहा का अपकर्षण, तथा अंतड़ी की सूजन अथवा संकुलन आदि, रक्त-पूतिता की भाँति ही होते हैं।

लक्षण—बीमार के साथ रहने वाले ग्रहणशील घोड़ों में गैफ्की ने रोग का उद्भवन काल 22 से 24 दिन पाया। अन्य लोगों ने अधिक कार्य करने वाले तथा थके हुए घोड़ों में यह अवधि एक से तीन सप्ताह की बताई। संक्रमण के समय का पूर्ण ज्ञान न हो पाने के कारण प्राकृतिक परिस्थितियों में रोग का उद्भवन काल पता लगाना काफी

कठिन होता है। अति उग्र सामान्य संक्रमणों की अपेक्षाकृत यह अधिक होता है तथा रोग को भयानक रूप धारण करने में अधिक समय लगता है। रोग का संचरण परोक्ष संपर्क से होता मालूम देता है। ठंड लगकर 104 से 106° फारेनहाइट तक तेज बुखार, 50 से 100 के बीच नाड़ी-गति तथा 20 से 60 श्वसन के लक्षणों के साथ रोग का आक्रमण एकाएक होता है। रोग के हल्के प्रकोप में कभी-कभी दो या तीन दिन तक कुछ-कुछ नजला जैसे लक्षण प्रकट होते हैं। कभी-कभी पहले या दूसरे दिन नथुनों पर बादामी अथवा पीलापन लिए हुए थोड़ा-सा स्राव दिखाई पड़ता है। यह निमोनिया का सूचक है। गहरे रंग का स्राव सक्रिय फुफ्फुस संकुलन का केशिका-रक्तस्राव प्रदर्शित करता है। नीबू की भाँति पीला स्राव ब्रोंकाई से निकलने वाले फाइब्रिनयुक्त स्राव का भाग होता है। विशिष्ट पालिका शोथ में किसी भी अवस्था म नाक से बहुत ही थोड़ा स्राव गिरता है और अधिकांश रोगियों में यह बिल्कुल ही नहीं होता। खाँसी सदैव मौजूद रहती है जो स्वरयंत्र को दबाने पर तत्काल उभड़ आती है। यह धीमी, गीली तथा बहुधा कष्टप्रद एवं दबी हुई होती है।

फेफड़ों के ऊपर आला रखकर जाँच करने पर विभिन्न प्रकार की आवाजें सुनाई देती हैं जो रोग की अवस्था, क्षतस्थलों के प्रकार तथा फेफड़ों के संपिडन पर आधारित होती हैं। श्वासनली से निकलने वाले स्राव के प्रकार तथा वितरण के अनुसार यह आवाजें समय-समय पर भिन्न हो सकती हैं। प्रारम्भ में तेज छिद्रिल आवाज सुनाई देती हैं (रक्त संकुलित अवस्था)। रोग के आक्रमण के 12 से 24 घंटे बाद चुरचुराहट की आवाज सुनाई देती है। यह तेज श्वास खींचने के समय की आवाजें होती हैं जो वायु-कोषाओं तथा महीन ब्रोंकाई की चिपचिपी सतहों के एक दूसरे से अलग हो जाने के कारण उत्पन्न होती हैं। जैसे ही स्राव बढ़ता जाता है विभिन्न प्रकार की आवाजें सुनाई देती हैं। स्थिरता होने पर धीरे-धीरे यह आवाजें कम होकर नार्मल छिद्रिल आवाज सुनाई देने लगती हैं। अत्यधिक तथा पूर्ण संपिडन होने पर रोग-ग्रसित भाग पर आवाजों की पूर्ण अनुपस्थिति हो सकती है। अपूर्ण संपिडन होने पर ब्रोंकाई खुली रहती है जिससे ब्रोंकियल-श्वसन सुना जा सकता है। यह रुक-रुक कर होने वाली सीटी अथवा फूंकने जैसी तेज आवाज है जो फेफड़ों में होने वाले सभी रोगों से वेगवान होती है। यह ब्रोंकाई तथा संपिडित फेफड़ा तन्तु के बीच स्वरयंत्रीय तथा श्वासनलीय ध्वनि का संचारण है। एक फेफड़े में ऐसी आवाज होना जो दूसरे में न हो, इससे भी फेफड़ों के रोग को पहचाना जा सकता है।

वक्ष के ऊपर थपथपाने से दर्द अथवा खाँसी जैसे ऐसे लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं जो नार्मल परिस्थितियों में कभी नहीं होते। ढोल जैसी तेज अथवा भद्दी आवाजें भी सुनाई दे सकती हैं। अधिक मांसल भारवाहक घोड़ों में थपथपाने पर कोई विशिष्ट लक्षण नहीं मिलते। वक्ष-परीक्षण करने से रोग-ग्रसित फेफड़ों पर बढ़ी हुई आवाज सुनाई देती है। इसको, जब एक सहायक श्वासनली पर थपथपा रहा हो, वक्ष के ऊपर आला रखकर सुना जा सकता है। वक्ष के भौतिक परीक्षण के परिणाम रोगी के स्वभाव, रोगावस्था, पशु के प्रकार तथा परीक्षक की बुद्धिमता के अनुसार भिन्न-भिन्न होते हैं।

रोगी को विषैली परिसंचारी निर्बलता हो सकती है जिसे सामान्य कमजोरी, पसीना आना, निर्बल तथा मुलायम अनियमित नाड़ी गति, बढ़ी हुई हृदय की धड़कन तथा तनावपूर्ण

ऊपरी शिराओं द्वारा पहचाना जाता है। रोग में जटिलता उत्पन्न न होने पर बुखार शीघ्र ही अथवा धीरे-धीरे लगभग एक सप्ताह के अन्त में कम हो जाता है और इसके बाद पशु धीरे-धीरे ठीक होने लगता है।

प्रतिकूल वातावरण जैसे घुडसवार केन्द्रों तथा बाडों में रखे गए एक साथ अधिक पशुओं के समूहों में अक्सर भयकर जटिलताएँ देखने को मिलती हैं। इनमें से पाँचवें दिन होने वाली हृदय की कमजोरी सबसे प्रमुख है। आजकल के अर्थ के अनुसार यह एक जटिलता न होकर एक विषैली वाहिका-प्रेरक (vasomotor) अवसन्नता है जो इस बीमारी की विशेष पहचान है।

पशु के फेफड़ो में गैंग्रीन भी हो सकती है। वैसे तो यह किसी भी समय प्रकट हो सकती है किन्तु अक्सर यह सातवें से दसवें दिन हुआ करती है। आक्रमण काल में एकाएक ठंड लगना इसका सूचक है। मीठी-मीठी बदबूदार श्वास आना इसका नैदानिक लक्षण है और यह गंध पूरे बाडे में फैल सकती है। गैंग्रीन से पशु बहुत ही कम अच्छे हो पाते हैं।

फुपफुसार्ति—प्रत्येक प्रकार की निमोनिया में थोडी बहुत फुपफुसार्ति अवश्य होती है। किन्तु बीमारी के कोर्स के मध्य से अंतिम भाग में यह अति विस्तृत हो सकती है। लेखक के एक रोगी में फुपफुसार्ति प्रमुख क्षतस्थल था। कष्टप्रद श्वास-प्रश्वास, लगातार तेज बुखार, तेज नाडी-गति तथा वक्ष के ऊपर निचले एक तिहाई भाग पर भद्देपन के स्पष्ट क्षेत्र से इसे पहचाना जाता है। भद्दापन का क्षेत्र सीधी क्षैतिज रेखा के ऊपर मिलता है तथा थपथपाने पर होने वाली ध्वनि भद्देपन से एकाएक गूँजने वाली आवाज में परिवर्तित हो जाती है।

अत्यधिक पीलिया हीमोग्लोबिन-रक्तता को प्रदर्शित करती है। कुछ भयकर प्रकोपो के बाद अक्सर रक्तस्राव होते देखा जाता है। ज्वर-पिती, सधिशोथ, टेंडो-योनिशोथ, लँगडाना, मस्तिष्क शोथ और तानिकाशोथ इसके होने वाले अन्य दुष्परिणाम हैं।

कोर्स—रोग के एक विशिष्ट सामान्य प्रकोप में सात से दस दिन बाद बुखार कम होने लगकर रोगी धीरे-धीरे पूर्णतया स्वस्थ होने लगता है। फिर भी, अनेक रोगियो में असख्य जटिलताओ अथवा दुष्परिणामो, जैसे इन्फ्लूएंजा, के फलस्वरूप इस बीमारी का कोर्स बदल जाता है। ऐसी विषमताएँ तब विकसित होती हैं जब पूर्णतया स्वस्थ न हो पाने के पूर्व ही पशु से काम लिया जाने लगता है अथवा यातायात कराने से वह थक जाता है या अनिष्टकर मौसमो का शिकार हो जाता है। किन्तु, जो विषमताएँ प्रतिकूल वातावरण में हुआ करती हैं वे कभी-कभी सुव्यवस्थित देखभाल किए गए पशुओ में भी देखने को मिलती हैं।

फलानुमान—प्रतिकूल परिस्थितियो में जब बहुत से पशु एक साथ रहते हैं तो मृत्युदर 20 प्रतिशत तक हो सकती है। अक्सर यह प्रकोप धोखा देने वाले होते है। प्रारम्भ में थोडे घोडे ही बीमार पडते हैं तथा मृत्युदर काफी कम होती है। किन्तु एक से तीन माह की अवधि में इसका प्रकोप बहुवितरित होकर अति प्राणघातक हो सकता है।

दूर-दूर रहने वाले घोड़ो में मृत्युदर काफी कम होती है। 80 या अधिक नाडी-गति के साथ रक्त-सचारी निर्बलता, दोनो फेफड़ो में अत्यधिक निमोनिया अथवा फुफ्फुसार्ति, तेज श्वास, रक्त मिश्रित अथवा "जामुन के रस जैसा" नासा स्राव, सविराम अथवा एक सप्ताह से अधिक रहने वाला बुखार, दस्त होना तथा वक्षीय गुहा में से द्रव निकालने के बाद उसका पुन भर जाना इसके अशुभ लक्षण है।

चिकित्सा—निमोनिया के रोगी की चिकित्सा तथा सामान्य देखभाल पृष्ठ 49 पर ब्रोकोनिमोनिया तथा पृष्ठ 82 पर फुफ्फुसार्ति के अन्तर्गत वर्णन की गई है।

सदर्भ

1. Gaffky, Prof Dr , and Lührs, Weitere Untersuchungen über die Brustseuche der Pferde, Zeit f Veterinärkunde, 1913, 25, 1
2. Udall, D H , Contagious pleuropneumonia of horses (Brustseuche), Cornell Veterinarian, 1916, 6, 148.

सूकर इन्फ्लूएंजा

(Swine Influenza)

(सूकर-फ्लू)

परिभाषा—हीमोफिलस इन्फ्लूएजे सुइस (सूकर जातीय) (Hemophilus influenze Suis) तथा एक वाइरस के सयुक्त सक्रमण से होने वाला सूकर इन्फ्लूएजा एक विशिष्ट तथा अति सक्रामक रोग है। मध्य-पश्चिम में यह पतझड तथा जाडे के प्रारम्भ में प्रमुख रूप से प्रकोप करता है तथा बुखार, खांसी, एव फुफ्फुसशोथ के साथ ब्रोको निमोनिया द्वारा इसे पहचाना जाता है।

कारण—यद्यपि आयोवा तथा अन्य प्रदेशो में सूकर इन्फ्लूएजा को पहले ही पहचाना गया, किन्तु सन् 1918 में इसके बहुविस्तृत प्रकोप के कारण लोगो का इस ओर विशेष ध्यान आकर्षित हुआ। उसी समय मनुष्यों में फैले हुए इन्फ्लूएजा के लक्षणों से यह रोग काफी मिलता-जुलता था। इसी कारण इसका नाम "सूकर फ्लू" रखा गया। मध्य पश्चिम में यह रोग प्रत्येक पतझड के मौसम और अधिकतर नवम्बर तथा दिसम्बर में हर बार हुआ करता है। ठड लगना इसका एक आवश्यक पुर प्रवर्तक कारण है। फिले-डेल्फिया के सुअरो में ठड लगकर तथा यातायात करने पर पास्चुरेल्ला सुइसेप्टिका के सदूषण के साथ उत्पन्न हुआ यह रोग स्काट[1] द्वारा वर्णन किया गया है।

जीवाणु विज्ञान—सन् 1931 में लुइस तथा शॉप[2] ने सूकर इन्फ्लूएजा से पीडित सुअरों की श्वासनली से हीमोफिलिक बैसिलस के सवर्धन प्राप्त किए जिनको उन्होंने हीमो-फिलस इन्फ्लूएजे सुइस नाम दिया। विशुद्ध सवर्धन का नाक में इन्जेक्शन देकर लक्षण उत्पन्न करने के प्रयास विफल रहे। इसके कुछ ही दिनों बाद शॉप[3] ने बर्कफेल्ड छनित में एक वाइरस का प्रदर्शन किया जो नाक के अन्दर प्रविष्ट करने पर सुअरियो में हल्की बीमारी उत्पन्न करता था। जब इस वाइरस के विशुद्ध सवर्धन को हीमोफिलस इन्फ्लूएजे सुइस के विशुद्ध सवर्धन के साथ मिलाकर सुअर की नाक के अन्दर प्रविष्ट किया गया तो

लक्षणों तथा रोग-विज्ञान में सूकर-इन्फ्लूएंजा से मिलती-जुलती बीमारी उत्पन्न हुई। शॉप[3] ने यह निष्कर्ष निकाला कि इनमें से अकेला कोई भी संदूषण बीमारी उत्पन्न नहीं कर सकता। सूकर इन्फ्लूएंजा की प्रतिरक्षा के अध्ययन में शॉप[4] ने यह प्रदर्शित किया कि केवल वाइरस में प्रति-रक्षित गुण होते हैं और उन्होंने यह भी बताया कि सूकर इन्फ्लूएंजा वाइरस का जब अंतःपेशी इन्जेक्शन दिया जाता है तो उससे रोग उत्पन्न नहीं होता किन्तु, यह सुअरों के शरीर में सूकर-इन्फ्लूएंजा के प्रति प्रतिरक्षा उत्पन्न कर देता है। इससे यह प्रकट होता है कि संक्रमण उत्पादन हेतु सूकर-इन्फलूएंजा-वाइरस तथा श्वासनली के टिसुओं में एक विशिष्ट संबंध है।

शॉप के अन्य अन्वेषणों से यह ज्ञात हो गया है कि जब सुअरों की आबादी इन्फ्लूएंजा से रहित होती है तो वार्षिक प्रकोपों के मध्य आठ या नौ माह तक वाइरस कहाँ रहता है। हीमोफिलस इन्फ्लूएंजे सुइस रोग से अच्छे हुए सुअर की ऊपरी श्वास-नाल में अनिश्चित काल तक मौजूद रह सकता है, किन्तु वाइरस की इस प्रकार उपस्थिति प्रदर्शित नहीं की जा सकती। शॉप[5] ने यह भी प्रदर्शित किया कि सूकर इन्फ्लूएजा से पीड़ित सुअरों का फेफड़ा-कृमि लार्वा अपने पूरे विकास-काल में, अपने मध्यस्थ-पोषक केंचुआ, तथा निश्चित होस्ट-सुअर, दोनों में ही, सूकर-इन्फ्लूएंजा-वाइरस छुपाए रहता है।" फेफड़ा-कृमि लार्वा के द्वारा यह वाइरस श्वास-नली में पहुँचता है तथा समुचित उत्तेजना पाकर संक्रामी हो जाता है। शॉप ने ऐसी उत्तेजना हीमोफिलस इन्फ्लूएंजे सुइस का अंतःमांस पेशी इन्जेक्शन देकर तथा कैल्शियम क्लोराइड घोल का अंत.प्लूरल इन्जेक्शन देकर उत्पन्न की। कोब तथा फर्टिग[6] (Kobe and Fertig) ने सूकर-इन्फ्लूएंजा-वाइरस को मुर्गी के अण्डे की ऐलेन्टो-कोरिऑनिक झिल्ली पर उगाया। इस प्रकार उगाने के बाद सुअरी-इन्फ्लूएंजा-वाइरस सफेद चूहों के लिए संक्रामी न रहा जबकि सूकर-इन्फ्लूएंजा-वाइरस में यह गुण मौजूद रहा।

विकृत शरीर रचना—शव-परीक्षण-परिवर्तन प्रमुख तौर पर श्वासनली तक ही परिमित रहते हैं। प्राकृतिक रूप से मरे हुए पशुओं की प्लूरल-गुहाओं में लाल रंग का सीरम भरा मिलता है तथा वहाँ अभिलागी फाइब्रिनी फुफ्फुसार्ति हो सकती है। ग्रीवा की लिम्फ ग्रंथियाँ सूजकर लाल हो जाती हैं। श्वासनली तथा ब्रोंकाई में श्लेष्मायुक्त स्राव भरा रहता है और उनकी श्लेष्मल झिल्लियाँ रक्त-संकुलित हो जाती हैं। छोटी श्वस-निकाओं में यह स्राव रक्त-मिश्रित हो सकता है। फेफड़ो के अगले भाग में नीचे की ओर संपिंडन मिलता है जबकि ऊपरी तथा पिछले भाग फैले हुए, रक्तसंकुलित तथा शोथयुक्त होते हैं। कटी हुई सतह पर खण्डान्तर संयोजी ऊतक मोटा पड़ जाता है तथा उस पर रक्तमिश्रित झागदार तरल पदार्थ बहता है। ऊपरी श्वास-नाल की श्लेष्मल झिल्ली सूजकर रक्तवर्ण हो जाती है।

लक्षण—रोग का उद्भवन काल दो से सात दिन का होता है। रोग का एकाएक आक्रमण होकर शतप्रतिशत सुअरों में इसका प्रकोप हो सकता है। अत्यधिक अवसन्नता, खाने की अनिच्छा तथा तेज बुखार (104 से 107° फारेनहाइट) के रूप में इसके लक्षण काफी भयंकर होते हैं। मांसल पीड़ा के कारण सुअर छेड़ने पर दर्द से चिल्लाता है। कष्टप्रद उदरीय श्वसन, खाँसना तथा आँखों और नाक से श्लेष्मायुक्त स्राव बहना इसके

70

श्वसन संबंधी लक्षण हैं। इसका कोर्स 4 से 6 दिन का होता है तथा सामान्य रोगी शीघ्र ही ठीक होने लगते हैं। मृत्युदर 1 से 4 प्रतिशत है यद्यपि कुछ मौसमों में जब इस बीमारी का भीषण प्रकोप होता है, यह 10 प्रतिशत तक पहुँच सकती है। शॉप ने कृत्रिम टीका के प्रति रोग से अच्छे हुए पशुओं का प्रतिरक्षित पाया, किन्तु मक्ब्राइड का कहना है कि एक ही यूथ उसी मौसम में दो या तीन आक्रमणों से पीडित हो सकता है। बहुधा इसका प्रकोप हल्की अप्राणघातक खाँसी के रूप में हुआ करता है जिससे रोगी पशु की हालत गिर जाती है।

चिकित्सा—संभवत सूकर-इन्फ्लूएंजा तथा सुअरियों का इन्फ्लूएंजा दोनों मिलती-जुलती बीमारी है और अमेरिका में इस बीमारी का संक्षिप्त विवरण वृद्ध सूकरों के अवलोकनों पर आधारित है। युवा सुअरियों में अत्यधिक मृत्युदर की बिना रिकार्ड की गई रिपोर्ट इस तथ्य का समर्थन करती है। इसका सबसे प्रभावकारी इलाज यह है कि यूथ को गरम सूखे तथा साफ दरबों में रखा जाय और उनके खाने पर नियंत्रण रहे। सल्फामेजाथीन 1 5 ग्रेन प्रति पौण्ड शरीर भार दाने के साथ मिलाकर पहले दिन, तथा 1 ग्रेन प्रति पौण्ड दूसरे तथा तीसरे दिन देना चाहिए। साथ ही 1 ग्रेन प्रति पौण्ड शरीर भार की दर पर सल्फामेजाथीन के 25 प्रतिशत घोल का रोजाना तीन दिन तक लगातार इन्जेक्शन देकर सुअरों में निमोनिया के प्रकोप में तत्काल सुधार देखा गया।[7]

संदर्भ

1 Scott, J P, Swine influenza experiments, Proceedings of the U S Live Stock San Assoc, 1941, p 28, Univ Pa Vet Ext Quar, June, 1941

2 Lewis, P A, and Shope, R E, A hemophilic bacillus from the respiratory tract of infected swine, J Exp Med, 1931, 54, 361

3 Shope, R E, III, Swine influenza, filtration experiments and etiology, J Exp Med 1931, 54, 373

4 Shope, R E, Studies on immunity to swine influenza J Exp Med, 1932, 56, 575

5 Shope, R E, An intermediate host for the swine influenza virus, Science, 1939, 89, 441, J Exp Med, 1941, 74, 41.

6 Kobe, K., and Fertig, H, Die Zuchttung des Ferkelgrippe und Swine in fluenza Virus, Zbl f Bakt Orig, 1938, 141, 1

7. Harms, H F, and Langer, P H, Control of pneumonia in swine with sulfamethazine, J A V M A., 1947, 111, 846

सुअरियों का इन्फ्लूएंजा

(Pig Influenza)

जर्मनी में वाल्डमैन[1] ने सुअरियों में इन्फ्लूएंजा की एक प्रकार का वर्णन किया जो सूकर-इन्फ्लूएंजा से निकटतम संबंधित एक निमोनिया उत्पादक वाइरस द्वारा उत्पन्न होती है। उन्होंने बताया कि यह सूकर इन्फ्लूएंजा वाइरस की एक निर्बल किस्म हो सकती है। जर्मनी में इस बीमारी से सूकर-कालरा तथा सूकर-एरिसिपेलस के संयुक्त प्रभाव से भी

अधिक ह्रास होता बताया गया है। 6 सप्ताह की आयु वाली सुअरियो में इसका बहुत ही शीघ्र प्रकोप होता है तथा 50 प्रतिशत रोग-ग्रसित सुअरियों की मृत्यु हो जाती है। नेत्र श्लेष्मला शोथ, उदासीनता, खान-पान में अरुचि, खाँसी तथा दीर्घकालिक रोगियों की वृद्धि मारी जाना इसके लक्षण है। बड़ी सुअरियों में यह बीमारी हल्के रूप में प्रकोप करती है तथा मृत्युदर भी कम होती है। शव-परीक्षण करने पर ब्रोंकोनिमोनिया पाई जाती है। शरीर के अन्दर वाइरस केवल फेफड़ों तथा निकट की लिम्फ ग्रथियों में पाया जाता है। कभी-कभी यह रक्त में भी मौजूद हो सकता है। शरीर के बाहर यह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। इसकी छूत सुअरियों के पारस्परिक सपर्क से अथवा रोगी पशु के धाँसने के समय विंदुक-संक्रमण (droplet infection) द्वारा लगती है। इसके मध्यस्थ-वाहक नहीं होते।

संदर्भ

1. Waldmann, O., Epidemiologie und Bekämpfung der Ferkelgrippe, Deutsche tier. Wchnschr., 1936, 44, 847.

अश्वीय मस्तिष्क सुषुम्नाशोथ

(Equine Encephalomyelitis)

(वाइरस मस्तिष्क शोथ, निद्रालु रोग)

परिभाषा—न्युरोट्राफिक वाइरस द्वारा उत्पन्न होने वाली घोड़ों की यह एक छुतैली बीमारी है जिसे चेतना की गड़बड़ी, प्रेरक क्षोभण, अवसन्नता तथा अधिक मृत्युदर द्वारा पहचाना जाता है। रोग की सामान्य प्रकार में शव-परीक्षण करने पर नंगी आँख से दिखाई देने वाले कोई परिवर्तन नही प्रतीत होते, किन्तु मस्तुलुंग (encephalon) तथा किसी हद तक मेरुरज्जु में पारिवाहिक गोल कोशा अन्त सरण (perivascular round cell infiltration) मौजूद रहता है। यूनाइटेड स्टेट्स में दो प्रकार के वाइरस पहचाने गए हैं: एक तो अति वेगवान पूर्वी तथा दूसरी कुछ कम तेज पश्चिमी प्रकार। इस देश में इस बीमारी का प्राकृतिक सक्रमण विशेष कर घोड़ों में ही होता देखा गया है, किन्तु सन् 1938 में अश्वीय मस्तिष्क-मज्जा शोथ के दोनों प्रकार के वाइरसों के कारण यह बीमारी मनुष्य के बच्चों में भी प्रकोप करती पाई गई (यू० एस० बी० ए० आई)[1] तथा इसके प्राकृतिक प्रकोप कबूतरों तथा तीतरों में भी देखे गए।

कारण—घोड़ों की मस्तिष्क-मज्जा शोथ का यूरुप में सर्वप्रथम वर्णन किया गया जहाँ यह दक्षिणी जर्मनी में वर्षों से प्रकोप करती रही है। इस बीमारी (बोर्ना रोग) की यूरोपीय प्रकार और कहीं होती नही देखी गई। वैसे तो यह बीमारी घोड़ों में ही अधिक होती है किन्तु, मीसनर[2] (Miessner) तथा अन्य लोगों ने इसे भेड़ों तथा ढोरों में भी होते बताया है। सन् 1927 में जुइक[3] ने इसका कारण एक वाइरस बताया। यूनाइटेड स्टेट्स में होने वाली प्रकार के विपरीत, प्रयोगात्मक पशुओं में इस रोग का उद्भवन काल अधिक होता है। अमरीकी वाइरसों में त्रास-प्रतिरक्षण नही होता। इसका मौसमी प्रकोप अधिक होता है तथा कुछ तन्त्रिका-कोशाओं के न्युक्लियसों में अन्तःस्थ पिण्ड (inclu-

sion bodies) होते हैं, जो प्राय यूनाइटेड स्टेट्स के रोग-ग्रसित घोडो के मानसिक ततुओं में नही देखे जाते। अर्जेन्टाइना में पश्चिमी प्रकार के वाइरस से उत्पन्न होने वाला मस्तिष्क-मज्जा शोथ का एक प्रकोप वर्णन किया गया। वेनेजुएला में यह रोग वाइरस के एक ऐसे प्रकार द्वारा उत्पन्न होना है जो अन्य देशों में नहीं देखा जाता। इस प्रकार यह रोग चार प्रकार के वाइरसो द्वारा उत्पन्न होता है। पश्चिमी गोलार्द्ध में पाई जाने वाली इसकी तीनों प्रकारें मनुष्य में प्राणघातक मस्तिष्क शोथ उत्पन्न कर सकती हैं। रिवर्स[4] (Rivers) के अनुसार सन् 1941 में वाइरस की पश्चिमी प्रकार से डेकोटा, नेब्रास्का, माटेना और मैनिटोबा में 3000 मनुष्य ग्रसित हुए जिनमें से 200 की मत्यु हो गई।

सन् 1912 में केन्सास तथा निकटवर्ती प्रदेशो में मस्तिष्क-मज्जा शोथ का एक बहुत बडा प्रकोप हुआ जहाँ यह बीमारी अगस्त के प्रारम्भ से सितम्बर-अक्तूबर तक खूब प्रकोप करती थी। इस क्षेत्र में लगभग 35000 घोडो की मृत्यु हो गई। चेतना में गडबडी, प्रेरक उत्तेजना तथा अवसन्नता के रूप में इसके लक्षण मस्तिष्कशोथ की भाँति थे। शव-परीक्षण करने पर नगी आँख से दिखाई देने वाले कोई परिवर्तन न मिले। मस्तिष्क के टिशु का माइक्रोस्कोपिक परीक्षण करने पर उसमें परिवाहिक कोशीय अन्त:सरण मिला किन्तु बार्ना रोग की भाँति इसमें न्युक्लियस के अन्दर वाले परिवर्तन न मिले। रोग-विज्ञान, लक्षण तथा क्षतस्थल यह प्रकट करते हैं कि अपने गुणो में बार्ना रोग से मिलती-जुलती यह एक छूतैली बीमारी है। उडाल ने इसे सक्रमण से उत्पन्न होने वाली मस्तिष्क शोथ बताई। प्रकोप के समय इसे चारे से उत्पन्न होने वाली विषाक्तता का एक प्रकार माना जाता था किन्तु, इसके लक्षण तथा बहुवितरण किसी भी प्रकार की खाद्य-विषाक्तता के अनुरूप न थे। सन् 1931 में मेयर[5] ने बताया कि 1915-1920 की अवधि में कैली-फोर्निया, कोलरैडो, ओरेगन, नेवादा तथा माटेना नामक पाँच प्रदेशो में इस बीमारी से लगभग 3000 घोडो की मृत्यु हुई तथा हाल के कुछ वर्षों में मस्तिष्कशोथ के लक्षणों के साथ केन्सास के घोडो में भी इस महामारी के प्रकोप देखे गए। सन् 1931 में कैली-फोर्निया में मेयर[6] और उनके साथियो ने मस्तिष्क शोथ की महामारी से पीडित घोडो के मस्तिष्क से एक वाइरस प्राप्त किया और इस आधार पर इस वाद का खण्डन किया कि यह बीमारी एक प्रकार की खाद्य-विषाक्तता है, अथवा खान-पान में होने वाले परिवर्तन किसी भी प्रकार इसके कारण से सबधित हैं। मेरीलैंड में एटलाटिक महासागर के किनारे, डेलावेयर और वर्जीनिया नामक पूर्वी भागो में घोडा में इसके भयकर प्रकोप होने के कारण सन् 1933 में इसको अधिक महत्ता मिली।

सन् 1931 में कैलीफोर्निया के घोडो में भीषण प्रकोप के बाद यह महामारी बहुत ही वेग से पश्चिमी तथा मध्य-पश्चिमी प्रदेशों और पश्चिमी कनाडा में फैली तथा सन् 1938 में चरम सीमा पर पहुँचकर गर्मी तथा पतझड में इसके 184,662 रोगी रिपोर्ट किए गए। सन् 1938 से यह सख्या प्रति वर्ष 3000 से 45,000 के मध्य तथा औसतन लगभग 14,000 रही है। आमतौर पर पूर्वी प्रकार केवल अटलांटिक सागर के किनारे के प्रदेशो तथा पश्चिमी प्रकार केवल अप्लेचियन पहाड़ों के पश्चिमी प्रदेशो में प्रकोप करती है। फिर भी, पश्चिमी प्रकार को अलाबामा तथा पूर्वी प्रकार का

मिसोरी तथा टेक्सास में पाया गया। सन् 1951 में इसके केवल 742 रोगी रिकार्ड किए गए।

यूनाइटेड स्टेट्स में इसका मौसमी प्रकोप जून से नवम्बर अथवा तुषार के प्रकट होने तक देखा गया है। यूरुप में यह रोग मार्च से अगस्त तक अधिक होता है तथा गर्मी के मध्य में अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है, किन्तु यह किसी भी माह में प्रकोप कर सकता है। इसमें आयु प्रतिरक्षा नहीं होती। वातावरण में नमी की उपस्थिति तथा तराई वाले प्रदेश इस रोग के फैलाने में सहायक बताए जाते हैं। फिर भी, अमेरिका में यह बीमारी सैन जोआकुइन घाटी, नेवादा तथा पश्चिमी केन्सास जैसे अति शुष्क क्षेत्रों में खूब फैलती देखी गई है। इसका रोग-विज्ञान मनुष्य की अपरिपक्व अवसन्नता से मिलता-जुलता है। सभवतः रोग-ग्रसित पशुओं में बिना लक्षण प्रकट किए ही इसके प्रति प्रतिरक्षा उत्पन्न हो जाती है। केन्सास में इस बीमारी से एक यूथ में औसतन 20 प्रतिशत पशु बीमार पड़ते हैं। पहले बीमार पड़ने वाला पशु सप्ताहों से फार्म के बाहर न गया हुआ और मीलों तक रोगी पशु के संपर्क में न आया हुआ हो सकता है। आक्रमणों के बीच कई दिनों का अवकाश हो सकता है। बीमारी अधिकतर फार्म के घोड़ों तक ही सीमित रहती है। अपने बहु-विस्तृत प्रकोप के कारण यह बीमारी विभिन्न प्रकार के चारे खाने वाले तथा विभिन्न स्रोतों से पानी पीने वाले पशुओं में देखने को मिलती है।

वाइरस—सन् 1927 में जुइक[3] ने बताया कि बोर्ना रोग, मस्तिष्क के तन्तुओं, लार-ग्रथियों तथा लार एवं नाक की श्लेष्मा में स्थित वाइरस द्वारा उत्पन्न होता है। बोर्ना रोग से मरे हुए घोड़े के मस्तिष्क के तन्तुओं से प्राप्त पायस को खिलाकर तथा अन्त.करोटि अथवा शियाटिक नस में इन्जेक्शन देकर प्रयोगात्मक रूप से उन्होंने इस बीमारी को खरगोशों में उत्पन्न किया। गिनीपिग, चूहे, भेंड तथा मुर्गियाँ भी ग्रहणशील थीं। ढोरों में टीका देकर इसे उत्पन्न न किया जा सका। अंत.कपालीय (intra cranial) इन्जेक्शन देने के बाद घोड़ों में इसका उद्भवन काल सात सप्ताह तथा खरगोशों में तीन से चार सप्ताह का था। खरगोशों में एक साथ रहने से भी यह बीमारी फैलती देखी गई। यूनाइटेड स्टेट्स में सन् 1931 में मेयर और उनके साथियों[6] की खोज के पूर्व मस्तिष्कशोथ का वाइरस कभी नहीं देखा गया था। उनके अध्ययन ने संक्रामी वाइरस की उपस्थिति सिद्ध कर दी। यह मस्तिष्क में पाया जाने वाला एक वाइरस था जो मस्तिष्क के पदार्थ का अधोदृढ़तानिक (subdural) अथवा अत.सेरिब्रल इन्जेक्शन द्वारा घोड़ों, बंदरों, खरगोशों, गिनी-पिग, चूहों तथा चुहियों को संक्रामी था। मस्तिष्क-पायस को अंतः सेरिब्रल अथवा अतः नासा प्रवेश करने से 4 से 6 दिन में गिनी-पिग की मृत्यु हो जाती थी। खरगोश बहुत ही शीघ्र प्रतिरक्षित हो जाते थे। उन्होंने यह विश्वास किया कि यह संक्रमण बोर्ना रोग से मिलता-जुलता न होकर अमेरिका में पहले प्रचलित बीमारी की भाँति था। प्रयोगात्मक रूप से इन्जेक्शन देकर अनेक स्तनधारी पशुओं तथा चिड़ियों में इसकी छूत फैलाई जा सकती है।

रोग-ग्रसित घोड़ों में यह वाइरस प्रमुख तौर पर मस्तिष्क के टिसुओं में पाया जाता है। ज्वर के समय रुधिर-प्रवाह में, बीमार पशु की नाक की श्लेष्मल झिल्ली में और थूक तथा

लार ग्रंथियों में यह वाइरस पाया जाता है तथा रोग से अच्छे हुए पशु भी अपने शरीर में इसे छुपाए रह सकते हैं। फिर भी यह लगातार नहीं पाया जाता। मृत्यु के समय इस वाइरस को शरीर में प्रदर्शित करना असंभव हो जाता है तथा मृत्यु के कुछ घंटों बाद भी यह नहीं पाया जा सकता। रोग की बढ़ी हुई अवस्था में पशु को मारकर उसके शरीर में वाइरस देखा जा सकता है।

सन् 1933 में केल्सर[7] (Kelser) ने संक्रमणयुक्त मच्छरों द्वारा कटवाकर प्रयोगशाला पशुओं तथा घोड़ों में इसकी छूत फैलाई। कीड़े-मकोड़ों द्वारा इसके संचारण पर किया गया कार्य यह प्रदर्शित करता है कि घोड़ों में इस रोग के प्राकृतिक संक्रमण के लिए मच्छर उत्तरदायी हैं। सन् 1938 में टाइजर[8] (Tyzzer) तथा उनके साथियों ने यह पता लगाया कि घोड़ों की मस्तिष्क-मज्जा शोथ का वाइरस प्राकृतिक रूप से गोल गर्दन वाले तीतरों में पाया जाता है। कनेक्टीकट के मैदानों में इसके अनेक नमूने मिले जहाँ एक तूफान के बाद बहुत सी रोग-ग्रसित जंगली चिड़ियाँ मरी हुई पाई गई। संक्रमणयुक्त मस्तिष्क-टिसु का अंत सेरिब्रल इन्जेक्शन देने पर स्विट्जरलैंड की चुहियों में 48 घंटे बाद तथा अंत पेरीटोनियल इन्जेक्शन के बाद तीन से चार दिन में बीमारी का प्रकोप हुआ। प्रयोगात्मक टीकों में इस प्रजाति का 10 मार्गों द्वारा ले जाया गया। अपनी रिपोर्ट में टाइजर तथा उनके साथियों ने यह प्रश्न किया कि "इस वाइरस के बहुवितरण के लिए घोड़े उत्तरदायी हैं अथवा अन्य पालतू पशु।" उन्होंने बताया कि उड़ने वाली चिड़ियों द्वारा भी यह वाइरस एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जाता है। इस तथ्य का रीव्स तथा हॉरमन[9] (Reeves and Harmon) के अन्वेषणों द्वारा भी समर्थन हुआ जिन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि प्रशांत महासागर के किनारे वाले प्रदेशों में इसकी छूत क्यूलेक्स मच्छरों द्वारा फैलती है जो चिड़ियों से अपनी खूराक खाते हैं। वे संक्रमणयुक्त पालतू मुर्गी तथा जंगली चिड़ियों से इस वाइरस को घोड़ों तथा मनुष्यों तक पहुँचाते हैं। वाइरस के वाहक के रूप में किलनी, माइट, जूं, मक्खियाँ, खटमल आदि काटने वाले परजीवियों का भी परीक्षण किया गया, किन्तु केवल क्यूलेक्स मच्छर ही संक्रान्त पाए गए। फिर भी, यह संभव है कि संक्रमण के रोग-रहित "भंडार" तथा मध्यस्थवाहक एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में भिन्न-भिन्न होते हैं। सन् 1940 में किट्सेलमन तथा ग्रंडमन[10] ने इस वाइरस को एक रक्त चूसने वाले खटमल, ट्रियाटोमा सैनगुइसुगा, में प्रदर्शित किया। यह प्राकृतिक रूप से संक्रान्त कीट से वाइरस को अलग करने का प्रथम प्रयास था। सन् 1945 में सल्किन[11] (Sulkin) ने टेक्सास के एक फार्म पर मुर्गियों के माइट में इस वाइरस की उपस्थिति बताई। चिड़ियों की ग्रहणशीलता मुर्गी के अण्डों में मस्तिष्क-मज्जा-शोथ के वाइरस के अति संक्रमण के लिए उत्तरदायी है। सन् 1938 की महामारी में दक्षिणी-पूर्वी मैसाचुसेट्स में जाड़े के प्रारम्भ में अनेकों कबूतरों का ह्रास हुआ। एक मरे हुए कबूतर से, जिसमें एकाएक बीमारी का अतिक्रमण हुआ था, फादरगिल और डिंगिल[12] ने पूर्वी प्रकार की मस्तिष्क-मज्जा-शोथ का वाइरस प्राप्त किया।

सन् 1933 में टेनब्रोयक तथा मेरिल[13] ने देखा कि पूर्वी वाइरस, पश्चिमी प्रकार की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली था तथा बीमारी से अच्छे हुए पूर्वी घोड़ों से प्राप्त सीरम,

पूर्वी वाइरस की सभी प्रजातियों को उदासीन करने की क्षमता रखता था। किन्तु, यह पश्चिमी वाइरस की प्रजातियों को उदासीन नही कर पाता था। इस प्रकार इसमें क्रास प्रतिरक्षा नही होती।

चित्र—75 पशुस्थानिक मस्तिष्क सुषुम्नाशोथ। घ्राणपथ से ली गई आडीकाट अ, विसृत अतरालीय अत सचरण, व, पारिवाहिक अत सचरण X 90

छूत लगने का ढग—चूंकि यह प्रयोगात्मक रूप से प्रदर्शित किया जा चुका है कि यह बीमारी मच्छरो जैसे कीडो द्वारा फैलती है, अत यह आमतौर पर विश्वास किया जाता है कि वे इसकी छूत फैलाने का प्रमुख स्रोत है।

यद्यपि आमतौर पर ऐसा कहा जाता है कि रोग से ठीक हुए पशुओ में इसके प्रति प्रतिरक्षा उत्पन्न हो जाती है, फिर भी, उत्तरी डेकोटा में यह देखा गया कि सन् 1935 में 225 घाडो में यह बीमारी हुई तथा इससे अच्छे हुए घोडो में सन् 1937 में पुन इसका आक्रमण हुआ।

विकृत शरीर रचना—इसमें नगी आँख से दिखाइ देने वाले कोइ विशिष्ट परिवर्तन मौजूद नही होत। जोएस्ट[14] (Joest) ने बोर्ना रोग पर काम करते हुए, प्रमुख तौर पर प्रमस्तिष्क तथा कुछ कम हद तक मेडुला में इसके क्षतस्थल पाए। घ्राणकन्द (olfactory bulb) तथा घ्राणपथ (olfactory tract) में, तथा किसी हद तक न्यूक्लियस काडेटस तथा हिप्पोकैम्पस में लिम्फोसाइटिक परिवाहिक अन्त सरण (lympho cytic perivascular infiltration) मौजूद था। यह मस्तिष्क की एक उग्र बिना पीपयुक्त विसृत शाथ है। इसके अतिरिक्त, बोर्ना रोग में, गुच्छिका-कोशिकाओ में नाभ्यान्तर पिण्ड (intra nuclear bodies) पाए जात है। सन् 1912 में कैंसास

में मस्तिष्क शोथ के एक प्रकोप में प्राणकन्द में परिवाहिक अतःसरण देखा गया किन्तु बाना रोग में पाए जाने वाले नाभ्यान्तर पिण्ड नहीं दिखाई दिए। तन्त्रिका-कोशाणुओं का अपकर्षण नाभिकीय पदार्थों का बाना रोग एवं पोलियो की भांति दिखाई देना तथा विभिन्न अनुपात में एकरूप केन्द्रक तथा बहुरूप केन्द्रकों (polymorphonuclears) के साथ परिवाहिक अतःसरण आदि घोड़ों का मस्तिष्क मज्जा शोथ (पूर्वीय प्रजाति) के हर्स्ट[15] (Hurst) द्वारा देखे गए हिस्टोलोजिकल परिवर्तन थे। ये परिवर्तन सेरिब्रल कार्टेक्स में बहुविकसित तथा मस्तिष्क वृन्त एवं ग्रैव रज्जु (cervical cord) में अल्प विकसित थे। उन्होंने बताया कि पूर्वी प्रकार की मस्तिष्क मज्जा शोथ को हिस्टोलोजिकली
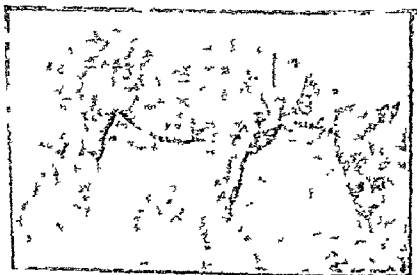
चित्र—76 मस्तिष्क-सुषुम्नाशोथ से पीड़ित अश्व की सुप्तावस्था जैसी प्रवृत्ति।

बहुविसरित तथा अत्यधिक उग्र सूजन द्वारा पहचाना जाता है जो केन्द्रीय तन्त्रिका-तन्त्र के अनेक भागों तथा विशेषकर धूसर पदार्थ (grey mass) में पाई जाती है। घोड़ों में वाइरस की पश्चिमी प्रकार द्वारा उत्पादित ऐसे परिवर्तन कुछ कम उग्र तथा प्रसारशील होते हैं।

जुङ्कर[20] तथा अन्य लोगों[21] के अनुसार दोनों रोग में मेरु रज्जु, मेरुरज्जु-गुच्छिका (spinal ganglia) तथा परिणाह-तन्त्रिकाओं विशेषकर प्रगंड (brachial) तथा गृध्रसी (sciatic) में क्षतस्थल मौजूद रहते हैं।

कैलीफोर्निया की महामारी में अवलोकित क्षतस्थलों का वर्णन करते हुए मेयर[6] ने लिखा कि शव-परीक्षण करने पर नंगी आँख से दिखाई देने योग्य कोई भी शरीर रचनात्मक क्षतस्थल न पाये गए। प्राणकन्द तथा मस्तिष्क वृन्त का चौतरफा की तन्त्रिकाओं में रक्ताधार होना प्रमुख माइक्रोस्कोपिक परिवर्तन थे। एक रूप तथा बहुरूप केन्द्रक कोशिकाओं के कारण परिवाहिक आवरणों तथा स्थानों का अतःसरण अपने ढंग में काफी भिन्न था। क्षयपूर्ण कृमियों का वितरण तथा आवेग भी विशिष्ट बाना रोग में देखे जाने वाले लक्षणों से काफी भिन्न था।

लक्षण—जुइक[20] द्वारा वर्णित टीका लगाकर कृत्रिम रूप से उत्पन्न किए गए संक्रमण में घोड़े में इसका उद्भवन काल सात सप्ताह का था। कैलीफोर्निया में इसका उद्भवन काल एक से तीन सप्ताह का बताया गया।

लगभग सभी प्रमुख लक्षण मानसिक गड़बड़ी, प्रेरक उत्तेजना तथा अवसन्नता के प्रकार के होते हैं। कुछ को छोड़कर अधिकांश रोगियों में तीनों लक्षण मौजूद हुआ करते हैं।
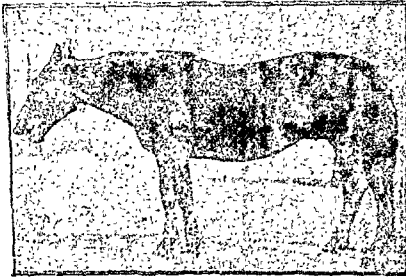
चित्र—77. अश्व द्वारा जभाई लेना इस बीमारी का सामान्य लक्षण है।
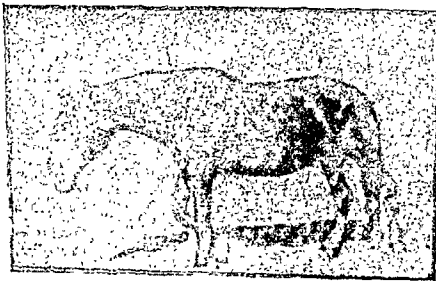
चित्र—78. मस्तिष्क-सुषुम्ना शोथ से पीड़ित अश्व की छेड़ने पर अवस्थिति।

रोग इतने हल्केपन में प्रकोप कर सकता है कि यह कठिनता से ही पहचाना जा पाता है और ऐसे हल्के प्रकोप अनेक पशुओं में प्रतिरक्षा उत्पन्न करते हैं। विशिष्ट तंत्रिकीय लक्षणों के प्रकट होने के पूर्व, निराशा तथा आँख के श्लेष्मपटल पर रक्तस्राव की छोटी-छोटी

चेहरे अथवा फुंसियाँ भी देखी जा सकती है। बीमारी का आक्रमण एकाएक हो सकता है। लेखक द्वारा अवलोकित एक बछेड़ा जो सामान्य दिखाई देता था, आध घंटे बाद बीमार हो गया तथा उसे एक खूंटे और पेड़ के बीच बांध दिया गया। यह अति उत्तेजना की परिस्थिति में रस्सी के प्रति आगे का जोर मारता था। इसके पसीना निकल कर टप-टप कर जमीन पर गिरता था। शरीर तथा पैरों की मांसपेशियों में ऐंठन थी तथा पशु बार-बार अनैच्छिक गति करता था जिससे उसके पास जाना खतरे से खाली न था। उसका तापक्रम 105° फारेनहाइट, नाड़ी-गति 90 थी तथा वह तेजी से श्वास लेता था। उसके मुंह से लार गिरती तथा चबाने जैसी गति होती थी। मांसपेशियों की ऐंठन के कारण ऊपरी ओठ ऊपर की ओर तथा निचला ओठ नीचे की ओर बार-बार खिंचता था। उसकी आंखें अनैच्छिक रूप से जल्दी-जल्दी घूमती फिरतीं, नेत्र-गोलक हिलता-डुलता तथा तारा बिल्कुल ही बंद हो जाता था। कभी-कभी अनैच्छिक रूप से थोड़ा-थोड़ा पेशाब हो जाने के साथ ये लक्षण एक विशिष्ट सलक्षण उत्पन्न करते थे। लगभग एक घंटे बाद पशु बिल्कुल ही चुपचाप तथा सुस्त सा हो गया।

चित्र—79. चेहरे के दाईं ओर के पक्षाघात से उत्पन्न होंठ की मरोड़।

चित्र—80. जैसा कि इस रोगी पशु में दिखाया गया है होंठों का ढीलापन इस बीमारी का प्रथम दिखाई देने वाला लक्षण हो सकता है।

चेतना की गड़बड़ी के लक्षण काफी प्रमुख होते हैं और यह मस्तिष्क का रोग-ग्रसित होना प्रकट करते है। चेतना की उत्तेजना में पशु बिना किसी उद्देश्य के चहार दीवारी, फार्म-यन्त्रों अथवा अन्य अवरोधक पदार्थों की ओर दौड़ने का प्रयास करता है। अधिकांश रोगियों में उत्तेजना नहीं दिखाई पड़ती और यदि यह मौजूद भी होती है तो बहुत ही थोड़ी देर रहती है। प्रारम्भ में सुस्ती से लेकर अंत में पूर्ण बेहोशी के रूप में मानसिक अवसन्नता होना लगभग एक लगातार होने वाला लक्षण है। इस प्रकार रोग-ग्रसित घोड़े अपना सिर नीचे झुकाए लगातार एक ही अवस्था में खड़े रहते है और अंत में उन्हें लकवा मार जाता है। चलाने पर वे मुश्किल से चलते, तथा लड़खड़ाते और गिर पड़ते हैं।

पशु का अनैच्छिक रूप से आगे बढ़ना अथवा चक्कर काटना तथा कुछ मांस पेशियों की ऐंठन के रूप में प्रेरक उत्तेजना बहुधा मौजूद रहती है।

रोग के अतिक्रमण के साथ अथवा कुछ देर बाद अवसन्नता प्रकट होकर यह लगातार बनी रहती है। गले में पक्षाघात होने के परिणामस्वरूप चारा तथा लार इकट्ठी होकर मुहँ से बदबूदार महक आने लगती है तथा नाक से स्राव बहने लगता है। ओठों के पक्षाघात पर विशिष्ट जोर दिया गया है। लहरी-गति तथा मल त्याग शुरू से ही कम होता है तथा रोगी पशु पर मृदुरेचक पदार्थों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। श्वसन-निमोनिया इसकी अक्सर होने वाली विषमता है।
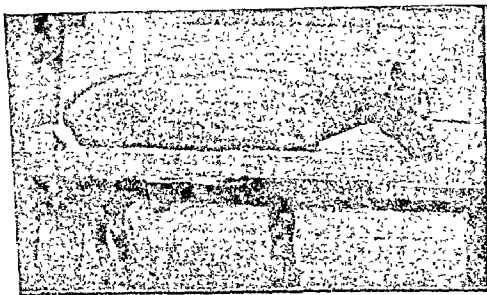
चित्र—81. रोगी पशु को खड़े रखने में सहायक यह एक सुदृढ़ अड़गड़ा है। इसमें पीछे की ओर एक मजबूत लट्ठा सा है तथा आगे की ओर चारा खाने की नाद इतनी ऊँचाई पर बनाई गई है कि पशु का सिर शरीर के समतल रहे। अधिक रोग-ग्रसित पशुओं के लिए ऐसे अड़गड़े तथा गोफन (स्लिंग) दोनो की ही आवश्यकता पड़ती है; अकेले स्लिंग का प्रयोग पर्याप्त नहीं होता।

बीमारी की अवधि कुछ घंटों से लेकर कुछ दिनों की होती है। प्रकोप के समय दो से चार दिनों में रोगी की मृत्यु हो जाती है। कुछ पशु बिना पूर्व लक्षण प्रदर्शित किए ही एकाएक मर जाते हैं तथा अच्छा होने के बाद पशु बेकार हो जाता है।

सन् 1912 में कैंसास में इस रोग से पीड़ित 90 प्रतिशत से अधिक पशुओं की मृत्यु हो गई। सन् 1931 में कैलीफोर्निया के प्रकोप में मृत्युदर लगभग 50 प्रतिशत था। सन् 1938 में पश्चिम में यह 20 प्रतिशत तथा पूरब में 90 प्रतिशत था।

निदान—बोटयुलिज्म में होने वाली अकेली अवसन्नता, तथा मस्तिष्क शोथ में चेतना की गड़बड़ी (उत्तेजना अथवा बेहोशी) अथवा प्रेरक उत्तेजना (ऐंठन, मांस पेशियों की तड़पन, चक्कर काटना, आगे को धक्का मारना) के लक्षणों के साथ उत्पन्न अवसन्नता

में विभेदी-निदान न कर पाने के कारण काफी भ्रान्ति उत्पन्न हुई है। बोटयुलिज्म अथवा अज्ञात प्रकार की खाद्य-विषाक्तता के कारण होने वाले दोष केवल एक फार्म अथवा छोटे से क्षेत्र तक ही परिमित रहते है। पशु में दूषित चारा खाने का इतिहास मिल सकता है। यह किसी भी ऋतु में प्रकोप कर सकती है और अधिकतर यह उन पशुओं में देखी जाती है जो चरागाहों पर चरने नहीं जाते। जैसा कि मेयर[6] ने कहा है, "यद्यपि कि चिकित्सा करने वाला पशु-चिकित्सक भी, कभी कभी इसके लक्षण, क्षतस्थल तथा वितरण नहीं देख पाता, फिर भी, उसे यह ध्यान में रखना चाहिए कि वर्ष के सबसे अधिक गरम महीनों में फार्म के घोडो में तन्त्रिकीय लक्षण प्रकट होकर बीमारी के यत्र-तत्र प्रकोप संभवत बोटयु-लिज्म के कारण न होकर किसी छूतैली बीमारी के कारण ही होते हैं। दूषित अथवा फफूँदीयुक्त चारे या विषैले पौधों की क्रिया का प्राणि-विज्ञानात्मक आधार पर अलग किया जा सकता है।" शव-परीक्षण करने पर मस्तिष्कशोथ से पीडित पशु के केन्द्रीय तन्त्रिका-तन्त्र में विशिष्ट माइक्रोस्कोपिक क्षतस्थल पाए जाते है जबकि बोटयुलिज्म में यह अनुपस्थित रहते हैं। एकांगी लकवा एक प्रकार का पक्षाघात है जो मस्तिष्क के क्षतस्थलो का अनुमान कराता है। ऐसा एक गोलार्ध के अपक्षयित परिवर्तनों, एक गोलार्ध को प्रभावित करने वाली मस्तिष्क की रसौलियों तथा कोलेस्टिएटोमा की उपस्थिति में होते देखा गया हैं। दाहिनी ओर का पक्षाघात सेरिब्रम के बायें गोलार्ध में क्षतस्थल का होना प्रकट करता है क्योंकि पक्षाघात सदैव क्षतस्थल की दूसरी ओर होता है।

पशु में टीका लगाकर संक्रामक मस्तिष्क शोथ का प्रयोगशाला में परीक्षण किया जा सकता है। इसके लिए ताजे मस्तिष्क का होना आवश्यक है। हर्ट[16] (Hurt) द्वारा अवलोकित एक बछडे में लक्षण तथा मस्तिष्क के माइक्रोस्कोपिक क्षतस्थल वाइरस मस्तिष्क शोथ की भाँति थे, किन्तु पशु में टीका लगाकर जाँच करने पर यह रोगी पागलपन से पीडित पाया गया।
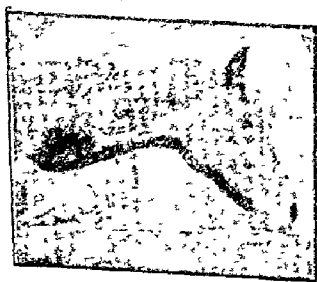
चित्र—82 सिर को शरीर के समतल रखने के लिए यहाँ दिए हुए चित्र की भाँति सहारा दिया जा सकता है।

बचाव सात से दस दिन के अवकाश पर भ्रूणीय-कुक्कुट-तन्तु-वैक्सीन के दो इन्जेक्शन देने से पशु में कम से कम 6 माह तक की रोग-प्रतिरक्षा उत्पन्न हो जाती है। संयुक्त-राज्य पशु-उद्योग-ब्यूरो द्वारा यह बताया गया है कि सन् 1938 में भ्रूणीय-कुक्कुट-तन्तु-वैक्सीन का टीका लगाए गए पशुओं में 4 5 प्रति हजार इसका प्रकोप हुआ जबकि बिना टीका लगे घोडो तथा खच्चरों में यह संख्या 36 6 प्रति हजार थी। आयोवा में यह संख्या 5 तथा 72 थी। कुक्कुट-तन्तु-वैक्सीन का मस्तिष्क-टिसू-वैक्सीन से अच्छा माना गया है। इस वैक्सीन

का उत्पादन वुडरफ तथा गुडपास्चर[7] (Woodruff and Goodpasture) की उस रिपोर्ट पर आधारित है जिसमें यह बताया गया है कि मुर्गी के अण्डों के विकास काल में जरायु-झिल्ली वाइरस के उगने के लिए एक आदर्श पदार्थ है। शोनिंग आदि[18] (1840) के अनुसार वैक्सीन का अंतः त्वचा इन्जेक्शन देने से अवांछित प्रतिक्रिया नहीं होने पाती तथा प्रतिरक्षा में कोई अन्तर नही पड़ता।

रोग के प्रकोप के समय वैक्सीन का टीका देने पर कुछ घोड़ों में प्रतिक्रिया होती देखी गई है तथा इन्जेक्शन देने के कुछ दिनों बाद कुछ पशुओं में बीमारी का उग्र प्रकोप भी होते देखा गया है। ऐसी प्रतिक्रिया उग्र प्राकृतिक संक्रमण होने पर जो कि उस समय पहचाना न गया हो, अथवा छुपी हुई अवस्था में संक्रमण मौजूद होने पर, वैक्सीन का टीका देने पर देखी जाती है। चूंकि प्रतिरक्षा उत्पन्न करने के लिए कम से कम 15 दिन की आवश्यकता पड़ती है, अतः महामारी के प्रकोप से पूर्व ही वैक्सीन का टीका लगा देना अधिक प्रभावकारी होता है और यह अवधि बीमारी के प्रकोप के समय से चार या छः सप्ताह पूर्व होनी चाहिए।

चित्र—83. रोग-ग्रसित प्यासे घोड़े को पानी पिलाने का प्रयास किया जा रहा है। कुछ पशु जो बाल्टी से पानी नहीं पी पाते उनके मुंह में जब नलिका द्वारा पानी पहुँचाया जाता है तो वे उसे बड़े चाव से पीते हैं।

घोड़ों को टीका देने की आवश्यकता के बारे में शोनिंग[18] द्वारा निम्नलिखित राय दी गई है : "जिन क्षेत्रों में बीमारी न फैली हो वहाँ के घोड़ों को तब तक टीका देने की आवश्यकता नहीं पड़ती जब तक कि वहाँ बीमारी न फैले। पिछले वर्ष अनुभव से यह पता चला कि 15 से 20 मील के अन्दर जैसे ही बीमारी का प्रकोप हुआ, कई दिनों के अवकाश पर पशुओं में दो बार टीका दे देने पर उनका बचाव हो गया तथा इससे होने वाले ह्रास नहीं के बराबर थे।"

घोड़ों को कीड़ों के काटने से बचाकर, इस रोग से बचाने के प्रयास संदेहात्मक हैं। एंटीसीरम से तत्काल बचाव होता है, किन्तु यह प्रतिरक्षा केवल दो या तीन सप्ताह

तक ही रहती है और ऐसा कहा जाता है कि इसके बाद पशु अधिक ग्रहणशील हो जाता है।

चिकित्सा—बीमार पशु का इलाज बिल्कुल ही लक्षणानुसार होता है। यदि पशु खड़ा होने के योग्य हो और उसके पैर न टिकते हो तो उसे रस्सी का सहारा देकर लटकाना चाहिए। ऐंटि अश्वीय मस्तिष्क-मज्जा शोथ सीरम (250 घ० सें०) का प्रयोग भी संदेहात्मक है। कैम्पवेल[19] का कहना है कि सन् 1937 में उन्होंने काफी मात्रा में इसका प्रयोग किया और सन 1938 में उन्होंने मृत्यु दर में कोई परिवर्तन नही पाया। पशु को साफ पानी पिलाया जाए तथा वह जो भी चारा पसंद करे खाने का दिया जाए। निगलने में कष्ट होने पर पशु को आमाशय-नलिका की सहायता से नित्य दो बार पानी दिया जाए और इसके साथ नार्मल सलाइन घोल (1000 घ० सें० नित्य अंत शिरा इन्जेक्शन द्वारा) अथवा 40 प्रतिशत डेक्सट्रोज घोल (250-500 घ० सें० की मात्रा में) दिया जावे। घोडो की मस्तिष्क मज्जा शोथ की कोई भी प्रभावकारी चिकित्सा अभी तक खोज न की जा सकी है। ऐसे प्रकोपो में जहाँ मृत्युदर 50 प्रतिशत अथवा कम होती है, व्यक्तिगत रोगियो में आराम देने, भलीभाँति पालन पोषण करने तथा सामान्य देखभाल से लाभ होते देखा गया है।

संदर्भ

1 U S Bureau of Animal Industry Report on the 1938 Outbreak of Infectious Equine Encephalitis in the United States, Feb 15, 1939, p 1

2 Miessner, H, Seuchenhafte Gehirn Ruckenmarksentzudung des Schafes, Meningoencephalomyelitis epidemica ovis Deutsch tier Wchnschr, 1926, 34, 637

3 Zwick, W, Seifried, O, and Witte, J, Weitere Beitrage zur Erforschung der Gehirn und Rückenmarksentzundung der Pferde (Borna Krankheit), Ztschr f Infektionskr, 1927, 30, 42

4 Rivers, T M, Virus encephalitis, J A.M A, 1946, 132, 428

5 Udall, D H, report on the outbreak of cerebrospinal meningitis" (encephalitis) in Kansas and Zebraska in 1912, Cornell Vet, 1913 14, 3, 17

6 Meyer, K F, Haring, C M, and Howitt, B, Newer knowledge of the neurotrophic virus infection of the horse, J A.V M.A., 1931, 79, 376, Calif Agr. Exp Sta Cir 322, 1931

7 Kelser, R A, Mosquitoes as vectors of the virus of equine encephalomyelitis, J A V M A, 1932, 82, 767

8 Tyzzer, E E, Sellards, A.W, and Bennett, E L, The occurrence in nature of "equine encephalomyelitis" in the ring necked pheasant, Science, 1938, 88, 505

9 Reeves, W C, Observations on the natural history of wsetern equine encephalomyelitis, Proc U.S L.S San Asso 1945 p. 150

10. Kitselman, C H., and Grundmann, A.W., Equine encephalomyalitis virus isolated from naturally infected Triatoma sanguisuga LeConte, Kansas Agr. Exp. Sta. Tech. Bull. 50.
11. Sulkin, S E , Recovery of equine encephalomyelitis virus (western type) from Chicken mites, Science, 1945, 101, 381.
12. Fothergill, L D , and Dingle, J.H , A fatal disease of pigeons caused by the virus of the eastern variety of equine encephalomyelitis, Science, 1938, 88, 549.
13. Ten Broeck, Carl, and Merrill, M H , A serological difference between eastern and western equine encephalomyelitis virus, Soc for Exp. Biol. and Med., 1933-34, 31, 217.
14 Joest, E , and Degen, K , Untersuchungen uber die pathologische Histologie, Pathogenese, und postmortale Diagnosis der seuchenhaften Gehirn-Rückenmarksentzundung (Bornasche Krankheit) des Pferdes, Ztschr. f. Infektionskr , 1911, 9, 1.
15. Hurst, E W , The histology of equine encephalomyelitis, J. Exp Med , 1934, 59, 529.
16. Hurt. L.M , Los Angeles County Live Stock Department, 1942-43, p. 20.
17. Woodruff, A M , and Goodpasture, E E , The susceptibility of the chorio-allantoic membrane of chick embryos to infection with the fowl-pox virus, Am J. Path , 1931, 7, 209.
18. Schoening, H.W., Schanan, M S , Osteen, O L , and Giltner, L T., Studies on the intradermal method of vaccination against equine encephalomyelitis, Vet. Med , 1940, 35, 377
19 Campbell, J N., Equine encephalomyelitis, N. Am. Vet , Dec 1938, 19, 31.
20. Zwick, W , Seifried, O , and Witte, J., Untersuchungen über die seuchenhafte Bornaschen Krankheit des Pferdes, Archiv f. Tk , 1929, 59, 511.
21. Nocolau and Galloway, Borna Disease and Enzootic Encephalomyelitis of Sheep and Cattle, Medical Research Council of Great Britain, Special Report Series, No. 121, 1928.

पागलपन

(Rabies)

(जल-सन्त्रास, उन्माद)

परिभाषा—यह एक उग्र प्राणघातक मस्तिष्क-शोथ है जिसे चेतना की गड़बड़ी तथा पक्षाघात द्वारा पहचाना जाता है। इस रोग का वाइरस निस्यंदी होता है तथा प्रमुख रूप से इसकी छूत कुत्ता काटने से लगती है।

कुछ वर्षों से इसकी छूत जंगली पशुओं में भी फैलने लगी है तथा लोमड़ी, अमेरिकन मांस-भक्षी पशु (skunks) एवं भेड़ियों द्वारा काटा जाना, पालतू पशुओं में इस बीमारी का अक्सर कारण बनता है।

कारण—कुत्तों, बिल्लियों तथा आमतौर पर मांसाहारी पशुओं, भेड़ियों, लोमड़ियों में पागलपन की बीमारी संसार भर में पाई जाती है और शाकाहारी पशुओं एवं मनुष्यों में इसकी छूत इन पशुओं के काटने से फैलती है। कुत्ता तथा लोमड़ी इसके दो प्रमुख रोग-वाहक पशु हैं। अधिक गहरा घाव करने के कारण कुत्तों की अपेक्षाकृत जंगली पशुओं द्वारा काटा जाना अधिक खतरनाक है।

निम्नलिखित देश पागलपन की बीमारी से मुक्त बताए गए हैं: ग्रेट-ब्रिटेन, आयरलैंड, डेन्मार्क, नार्वे, स्वीडन, हालैंड, आस्ट्रेलिया और हवाई। रोग का आवेग समाज के स्वच्छता के नियमों से सीधा संपर्क रखता है। रूस, निकटवर्ती यूरोपीय प्रदेशों तथा यूनाइटेड स्टेट्स में यह बीमारी आमतौर पर प्रकोप करती है।

यूनाइटेड स्टेट्स में प्रतिवर्ष प्रत्येक जाति में पागलपन के रोगियों की संख्या संयुक्त राज्य-पशु-उद्योग-ब्यूरो की वार्षिक रिपोर्ट में प्रकाशित की जाती है। इसके बारे में अतिरिक्त सूचना संयुक्त राज्य पशुधन-स्वास्थ्य-संघ की वार्षिक पत्रिका में छपती है। सन् 1947 से 50 तक की चार वर्ष की अवधि में निम्नलिखित आंकड़े इकट्ठे किए गए हैं

वर्ष	कुत्ता	मनुष्य	ढोर	भेड़	सूकर	बिल्ली	अन्य, अधिकतर जंगली पशु	योग
1947	6949	26	766	15	20	393	728	7597
1950	4979	9	948	48	85	428	1375	7910

प्रतिवर्ष पागल कुत्तों की संख्या में धीरे-धीरे कमी होना तथा मनुष्यों में पागलपन का कम प्रकोप होना इस रोग के प्रति राष्ट्रीय नियंत्रण प्रोग्राम तथा कुत्तों के सामूहिक टीका लगाने के कारण है। फिर भी समिति के अध्यक्ष ने सन् 1951 में पशुधन-स्वास्थ्य-संघ के समक्ष कहा कि "इस तथ्य के होते हुए भी कि पिछले वर्षों की अपेक्षाकृत इस वर्ष पागलपन रोग से कुछ कम पशु ग्रसित हुए, इस बीमारी की हालत या तो वैसी ही है अथवा दिन पर दिन खराब होती जा रही है। नए क्षेत्रों में इसका प्रकोप बढ़ता जा रहा है तथा अनेक प्रदेशों में जहाँ यह रोग वर्षों से होता आया है, अब भी काफी तेजी से प्रकोप करता है।" नए इंगलैंड को छोड़कर अटलांटिक, मैक्सिको की खाड़ी तथा मिसिसिपी नदी के निकटवर्ती क्षेत्रों के प्रदेशों में यह रोग प्रमुखतौर पर होता बताया गया है। टेक्सास, न्यूयार्क तथा केन्टुकी में इसका सबसे अधिक प्रकोप होता है। इस क्षेत्र के पश्चिम में ओक्लोहामा, कोलारैडो तथा कैलीफोर्निया में पागलपन की बीमारी खूब होती है। उत्तर-पश्चिम में इसका बहुत ही कम प्रकोप होते बताया गया है।

बीमारी से मरे हुए पशुओं के मस्तिष्क तथा मज्जका (medulla) में इस रोग का वाइरस बहुत ही आसानी से पाया जा सकता है तथा यह अश्रु-ग्रंथियों (lachrymal glands) नयन, अण्डकोषों और गुर्दों में भी मौजूद हो सकता है। जीवित पशुओं की लार ग्रंथियों तथा लार में यह वाइरस बीमारी के लक्षण प्रकट होने के एक या दो दिन पूर्व से लेकर मृत्यु तक मौजूद रहता है। हिप्पोकैम्पस (अश्वमीन) में नेग्री-पिण्डों (negri

bodies) की उपस्थिति रोग के निदान का सूचक है। वाइरस को उगाया तथा अलग न किया जा सका एवं नेग्री-पिण्डो की प्रकृति का पता न लगाया जा सका। तन्त्रिका-तन्तुओ को शीघ्र सुखा लेने पर वाइरस काफी शक्तिशाली हो जाता है। सडन लगने पर यह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है तथा ग्लेसरीन में काफी लम्बी अवधि तक अपनी उत्तेजना बनाए रखता है।

रोग विज्ञान—माइक्रॉस्कोपिक क्षतस्थल इसकी विशेष पहचान है। शीघ्र निदान के लिए बडे-बडे तन्त्रिका-कोशाओं के साइटोप्लाज्म में नेग्री-पिण्डो की उपस्थिति देखनी चाहिए। यह गोल अथवा अण्डाकार आकृतियाँ हैं जो हिप्पोकैम्पस मेजर में बहुतायत से पाई जाती हैं। सेरिब्रम तथा सेरिबेलम के कार्टेक्स वाले भाग तथा मेरु-रज्जीय-गुच्छिका में भी यह मौजूद रहती है। पागलपन से मरे हुए पशुओ मे गेहुचटेन और नेलिस द्वारा वर्णन किए गए परिधीय-सेरिब्रोस्पाइनल-गुच्छिका में होने वाले परिवर्तन इसके अन्य क्षतस्थल हैं जो प्रारम्भिक अवस्थाओ में अनुपस्थिति रहते हैं। इनके अन्तर्गत बडे बडे नार्मल तन्त्रिका-कोशाओ का विनाश होकर उनके स्थान पर छोटे छोटे गोल कोशा बन जाते हैं।

पागलपन से मरे हुए पशुओं में गैसेरियन-गुच्छिका इस रोग के विशिष्ट क्षतस्थल प्रकट करती है किन्तु यह रोग का नैदानिक लक्षण नही होती। गुच्छिका कोशाओ के कैप्सूल की सूजन से इन काशाओं के स्थान पर श्वेताणु, एपीथीलिऑयड, लसीका तथा मास्ट कोशिका बन जाते हैं। ऐसे ही परिवर्तन डिस्टेम्पर रोग से पीडित कुत्तो में देखने को मिलते हैं जबकि वे पागलपन की प्रारम्भिक अवस्थाओ में अनुपस्थित हो सकते हैं। चोट अथवा सडन लगकर मस्तिष्क के नष्ट हो जाने पर फ्राथिघम[2] ने इन क्षतस्थलो को नैदानिक महत्व का पाया।

लक्षण—घाव के केन्द्रीय तन्त्रिका-तन्त्र के निकट स्थित होने पर, टिसुओ में तन्त्रिकाओं तथा लसीकाओं के अधिक होने पर, वाइरस के उग्रता तथा सख्या में अधिक होने पर तथा युवा पशुओ अथवा बच्चो में इस रोग का उद्भवनकाल अपेक्षाकृत कम होता है। ओठो तथा नाक पर काटा जाना विशेषकर खतरनाक होता है। जाडे के अत तथा वसत में यह बीमारी अधिक फैलती कही जाती है क्योंकि इन दिनो में जगली कुत्ते अपने साथियो तथा खाने की तलाश में इधर-उधर अधिक घूमा करते हैं।

पागल कुत्ते के काटने पर परिमित सख्या में ही इस रोग का प्रकोप होते देखा गया है। मनुष्य में यह सख्या 15 प्रतिशत तथा पशुओं में 20 से 30 प्रतिशत होती है।

स्टैफोर्ड और फिलिप्स[3] (Stafford and Philips) ने बताया कि इस बीमारी के सपर्क में आए कुत्ते तो बच गए, किन्तु ढोरो तथा अन्य पशुओं में चिकित्सा के बाद भी 25 प्रतिशत मृत्युदर रही।

मनुष्य तथा पशुओ की विभिन्न जातियो में इस रोग का उद्भवन काल निम्न प्रकार है कुत्ता, 3-6 सप्ताह; घोडा और गाय, 2-10 सप्ताह; भेड-बकरी 3-4 सप्ताह; सूकर, 2-3 सप्ताह, मनुष्य 3-9 सप्ताह। कुछ उदाहरणो में उदभवनकाल तीन माह तक का भी होते देखा गया है। विभिन्न जातियों में यह भिन्न-भिन्न होता है।

पागलपन की दो प्रमुख पहचान हैं चेतना की गड़बड़ी और पक्षाघात। विभिन्न जातियों तथा व्यक्तिगत पशुओं में इसके लक्षण भी भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। कभी-कभी चेतना की गड़बड़ी के प्रारम्भिक काल का पता ही नहीं चल पाता तथा पशु केवल पक्षाघात ही प्रदर्शित करता देखा जाता है। इसे गूंगा-पागलपन (dumb rabies) कहते हैं जो अधिक उग्र अवस्था से बिल्कुल ही विपरीत होता है। इस रोग की तीन प्रमुख अवस्थाएँ हैं

(अ) पूर्व सूचक अवस्था—यह वह अवस्था है जिसमें कुत्ता निराश, बेचैन, तथा उत्तेजित मालूम पड़ता है और मनुष्य के सम्पर्क में नहीं आना चाहता। परिचित व्यक्तियों से वह अधिक दोस्ती करने लगता है तथा अनजाने मनुष्यों को काट खाता है। आहार में अनिच्छा होकर वह खाना-पीना छोड़ देता है तथा भूसा, धूल, लकड़ी, पत्थर, काँच आदि अवांछित पदार्थ खाता अथवा चाटता है। काटने के स्थान पर अत्यधिक खुजली पड़ती है जिससे वह उस स्थान को कटकटाता अथवा चाटता है। घोड़ा में ऐसा अधिक देखने को मिलता है। कभी-कभी पशु बिल्कुल ही सामान्य दिखाई देता है।

(ब) उत्तेजक अवस्था—उत्तेजना, बेचैनी तथा उग्रता अथवा बिना उद्देश्य के ही किसी भी चलते-फिरते पशु अथवा पदार्थ पर आक्रमण करना आदि लक्षणों द्वारा इसे पहचाना जाता है। कुत्ता गायब होकर बिना किसी उद्देश्य के इधर-उधर घूमता-फिरता है तथा अन्य कुत्तों, पशुओं अथवा किसी भी पशु को जो उसके सामने से निकलता है, काट खाता है। कभी-कभी पागल कुत्ते के आक्रमण का विशिष्ट लक्ष्य वह पशु बनता है जो उसके निकटतम सम्पर्क में रहा हो। ढोरों में इस अवस्था को रँभाने, शारीरिक ऐंठन तथा पैरों में झटकायुक्त गति आदि लक्षणों से पहचाना जाता है। कुत्ता मक्खियों को झूठे ही ख्याल करके उनको पकड़ने का प्रयास करता है। उसके भौंकने की आवाज में भी काफी परिवर्तन हो जाता है। इसे रुक्ष-गर्जन कहकर वर्णन किया गया है। यह अवस्था तीन या चार दिन तक रहती है तथा अंतिम समय में पक्षाघात के लक्षण प्रकट हो जाते हैं।

(स) पक्षाघात अवस्था—कुत्तों में निचले जबड़े का पक्षाघात होकर मुँह खुला रह जाना तथा लार गिरना इस अवस्था के प्रारम्भिक लक्षण हैं। उन क्षेत्रों में जहाँ पागलपन की बीमारी पहले-पहल हुई हो इस लक्षण ने इसे "लटका हुआ जबड़ा रोग" (drop Jaw disease) नाम दिया है। ऊपरी पलकों की अवसन्नता, तिरछी चितवन, बूढ़े जैसा स्वभाव तथा निगलने में कष्ट होना प्रारम्भिक अवसन्नता के अन्य लक्षण हैं। निगलने का प्रयास करने पर गले की मांस-पेशियों में ऐंठन होती है जो "जल-सन्त्रास" का उचित स्पष्टीकरण है। पक्षाघात जब प्रकट हो जाता है तो यह शीघ्र ही विकास करके पूर्ण शरीर, पिछले भागों, पूँछ, मूत्राशय तथा मलाशय पर अपना प्रभाव डालता है तथा प्रारम्भिक लक्षणों के प्रकट होने के पाँचवें से आठवें दिन थक कर रोगी की मृत्यु हो जाती है। पक्षाघात अवस्था में बिना पूर्वोत्तेजना के इस रोग का आक्रमण दूसरे अथवा तीसरे दिन प्राणघातक सिद्ध होता है। बाद की अवस्थाओं में पशु को हल्का बुखार रहता है तथा नाड़ी-गति तीव्र हो सकती है।

बिल्लियो में, इसके अतिरिक्त कि वे कम घूमती-फिरती हैं अन्य लक्षण कुत्तो की भाँति ही होते हैं।

घोड़े में, कटे हुए स्थान (ओठ, नाक) पर अत्यधिक खुजली मचना इसका पहला लक्षण है जिससे वह उस भाग को खूब रगडता है। पशु घबराया हुआ तथा बेचैन मालूम पडता है। रोगी टकटकी मार कर देखता, लात चलाता, नाद को दाँत से कटकटाता और अपने कानो को लगातार हिलाता है। उन्माद के विकास के साथ घोडा अन्य पशुओ तथा मनुष्य पर आक्रमण करता है और किसी विशिष्ट वस्तु पर सीधा आक्रमण कर सकता है। ऐसे आक्रमणो के मध्य का समय भिन्न होता है। वे खुद को काट सकते, अपना माँस नोचते अथवा घुडसाल के भागो को तेजी से काटते हैं जिससे उनके मुँह में चोट लग जाती तथा दाँत टूट सकते हैं। अन्य जातिया की भाँति इसमें भी रोग की प्रारम्भिक अवस्था मे बीमारी का निदान करना कठिन हो सकता है। ऐसा विशेषकर आक्रमण के समय, दो आक्रमणो के मध्य, तथा कभी-कभी पूर्ण रोगकाल (पक्षाघात प्रकार) में उत्तेजना की अनुपस्थिति के कारण देखा जाता है। अत में पूरे शरीर में पक्षाघात होकर कुत्ते की भाँति पाँचवें से आँठवें दिन रोगी का अत हो जाता है। एक घोडे में पागलपन को मस्तिष्क मज्जा-शोथ निदान किया गया। हर्ट[4] के अनुसार इसमें चेहरे का पक्षाघात, "घूमने" की प्रवृत्ति, ठोस पदार्थों से सिर को टकराना, निगलने में असमर्थता, तथा शीघ्र विकसित होने वाले सामान्य पक्षाघात के लक्षण थे। घोडो में उग्र प्रकार की छुतैली यकृत शोथ को भी पागलपन निदान किया गया है। इसे श्लेष्मल झिल्लियो के अत्यधिक पीले रग के द्वारा अलग पहचाना जा सकता है (छुतैली पीलिया)।

ढोर, बेचैन, उत्तेजित तथा भडकीले प्रतीत होते हैं यद्यपि कि प्रारम्भ में यह लक्षण अनियमित तथा कुछ-कुछ अनिश्चित से दिखाई पडते हैं। वे एक स्थान पर खडे होते, सिर को ऊपर नीचे उठाते, ऊपरी ओठ को सिकोडते, सीगो को दीवाल आदि से टकराते तथा एकाएक पैरो को झटककर उनकी मास पेशियो की ऐंठन प्रदर्शित करते हैं। उनमें उत्तेजना के बार-बार आक्रमण होते हैं जिससे वे पशुशाला में बँधी रस्सी या जजीर को तोडकर निरन्तर छूटने का प्रयास करते है। इन उत्तेजनाओ के बीच के अवकाश में वे नार्मल रहते हैं। अधिकाश रोगी गुर्राने जैसी लबी आवाज करते हैं। वे अपना शरीर रगडते तथा काटते, लार गिराते एव दाँत पीसते हैं। चारे में अरुचि, जुगाली न फेरना, अफरा, निगलने में असमर्थता तथा अत्यधिक ऐंठन के साथ रूमन का गुम्ब हो जाना इसके पाचन सबधी लक्षण हैं। अफरा तथा गला रुँधने के अन्य लक्षणो से गले में किसी वाह्य पदार्थ के अटकने का सदेह होता है। गर्दन की मास-पेशियो में रुक रुक कर ऐंठन होना, कामोत्तेजना तथा पूँछ को उठाना-गिराना इसके अन्य लक्षण हैं। गले अथवा पिछले भागो में पक्षाघात होकर 12 से 13 दिन की अवधि के बाद रोगी की मृत्यु हो जाती है। साँड में, नर लिंग बाहर निकल आता है। कुत्ता को देखकर पशु में रोग का उग्र प्रकोप हो सकता है।

कुशिग[5] (Cushing) ने गायो में पागलपन के अनेक रोगी देखे जिनमें उत्तेजना, प्रेरक क्षोभण अथवा अत तक पक्षाघात की अनुपस्थिति के कारण रोग का निदान करना काफी कठिन था। मस्तिष्क में धनात्मक नेग्री-पिण्ड पाई जाने वाली दो बछियो के बारे

में उन्होंने बताया कि "उनका तापक्रम नार्मल था, उनमें कोई भी मानसिक लक्षण न थे, वे समुचित रूप से अपने पैरों का उपयोग करती थीं तथा उनके रूमेन एवं अँतड़ी की गति नार्मल थी। सबसे प्रमुख लक्षण खान-पान में पूर्ण अरुचि होना था। ये पशु 3 या 4 दिनों तक जीवित रहे तथा बिना किसी थकान अथवा उत्तेजना के लक्षण प्रकट किए ही मर गए, यद्यपि कि अंतिम काल में वे उठने में असमर्थ हो गए थे।"

फाक्स और राबर्ट्स[15] (Fox and Roberts) ने गो-पशुओं में पागलपन के निदान में होने वाली कुछ कठिनाइयों का वर्णन किया।

भेड़ों में, इस बीमारी के लक्षण गो पशुओं की भाँति ही होते हैं यद्यपि उत्तेजना का प्रायः अभाव देखा जाता है। बेचैनी, पैरों का बार बार उठाना और रखना तथा अन्य पशुओं पर चढ़कर कामोत्तेजना की प्रवृत्ति या प्रदर्शन करना आदि लक्षणों द्वारा पशु की उत्तेजना को देखा जा सकता है। भेंड अपने घाव को चाटती तथा चबाती है।

सूकरों में, इस बीमारी का प्रकोप होने पर वे उत्तेजित होकर अन्य पशुओं तथा अपने बच्चों पर आक्रमण करते हैं। वे भूसा में छिपने का प्रयास करते, घाव को चबाते और शीघ्र ही अवसन्न हो जाते हैं।

कोर्स तथा फलानुमान—कुत्ता में इसका कार्स चार से सात दिन का होता है। दस दिन के बाद पागलपन से पीड़ित कुत्ता जीवित नहीं रह सकता। वे कुत्ते भी अच्छे होते बताए गए हैं जिनके काटे हुए पशु या मनुष्य पागल होकर मर जाते हैं, किन्तु ऐसा बहुत ही कम होते देखा गया है। रोग के आक्रमण के बाद खच्चर 18 से 36 घंटे में मर जाते हैं।

निदान—रोग का कोर्स यदि ठीक है तथा उसका भलीभाँति अवलोकन किया गया है तो निदान करना कठिन नहीं होता। कुत्ता में; बदला हुआ स्वभाव, बिना किसी उद्देश्य के इधर-उधर घूमना, अनैच्छिक आक्रमण तथा शीघ्र प्राणघातक कोर्स इस बीमारी के नैदानिक लक्षण हैं। इस रोग की पक्षाघातीय अथवा गूँगी अवस्था की मस्तिष्क शोथ की अन्य प्रकारों से सभ्रान्ति हो सकती है। निचले जबड़े का लटकना तथा आवाज में परिवर्तन होना इसके विशिष्ट लक्षण हैं। पेट में अवांछित पदार्थों की उपस्थिति के साथ शव-परीक्षण प्रायः ऋणात्मक सिद्ध होता है। सदेहयुक्त पशुओं का वध नहीं करना चाहिए। यदि दो सप्ताह तक एक सदेहयुक्त कुत्ता जीवित तथा स्वस्थ दिखाई पड़े तो उसमें पागलपन की बीमारी का अनुमान नहीं करना चाहिए।

मस्तिष्क के टिसुओं से तैयार किए गए स्लाइड में नेग्री पिण्डों की उपस्थिति इस बीमारी का धनात्मक प्रमाण है। नेग्री-पिण्डों के प्रयोगशाला-परीक्षण हेतु पूरे सिर को बर्फ में लपेट कर अथवा मस्तिष्क को ग्लैसरीन में सरक्षित करके परीक्षक के पास भेजना चाहिए। ऋणात्मक परिणाम पूर्णरूपेण निष्कर्षदायक नहीं होता क्योंकि यदि पशु को रोग की प्रारम्भिक अवस्था में ही मार दिया गया है तो नेग्री-पिण्ड अनुपस्थित हो सकते हैं यद्यपि कि प्रायः वे मौजूद रहते हैं। पागलपन के निदान की यह अति उत्तम विधि है। वेब्स्टर[6] द्वारा राकफेलर सस्था की प्रयोगशालाओं में तैयार किया गया मूषक-टीका परीक्षण (mou-

ce inoculation test) पागलपन रोग के वाइरस की पहचान करने के लिए नेग्री-पिण्ड परीक्षण की अपेक्षाकृत अधिक विश्वसनीय है। सन् 1937 में अलाबामा में माइक्रास्कोप में ऋणात्मक तथा मूषक-टीका पर धनात्मक सिद्ध होने वाले नमूनो की प्रतिशत 12.6 थी जबकि माइक्रास्कोप में धनात्मक तथा मूषक-टीका पर ऋणात्मक पाई जाने वाली प्रतिशत केवल 4 0 थी (डेमान और स्टेलर्स[7])। सक्रमण के सपर्क में आने के बाद 6 से 10 दिन में रोग के विशिष्ट लक्षणो का विकास होता है अत काटने के बाद एक सप्ताह के अन्दर ही टीका देना शुरू कर देना चाहिए।

कट्रोल—सन् 1916 में मूर[8] ने बताया कि "पागलपन के सक्रमण का दो विधियो द्वारा उन्मूलन किया जा सकता है (अ) सभी आवारा तथा बिना मालिक वाले कुत्तो को मार दिया जाए, तथा सडक पर आने-जाने वाले अथवा सामूहिक स्थानो पर खडे होने वाले सभी कुत्तो का मुसीका लगाया जावे। इस प्रकार वाइरस का विकास होना रोककर, जैसा कि जर्मनी तथा ग्रेट ब्रिटेन में प्राप्त परिणामो से प्रदर्शित होता है, बीमारी का उन्मूलन किया जा सकता है।" यूनाइटेड स्टेट में पागलपन की बीमारी को कट्रोल करने के लिए विभिन्न क्षेत्रा, शहरो तथा कस्बो में अलगाव केन्द्र खोले गए हैं। यहाँ कुत्तो को कम से कम 30 दिन तक अलग रखकर देखा जाता हैं। साथ ही छोडने के समय उन्हें नि शुल्क टीका दिया जाता हैं। बिना टीका लगे कुत्तो को तीन से छ माह तक अलग रखा जाता है तथा जगली एव आवारा कुत्तो को नष्ट कर दिया जाता है। चूंकि 6 माह से कम आयु के कुत्तो में शीघ्र प्रतिरक्षण नही होता अत उनको तब तक एक जगह रखा जाता है जब तक कि अलग रखकर उनकी परीक्षा नही कर ली जाती। ऐसा विश्वास किया जाता है कि आजकल उपलब्ध सुधरे वैक्सीन का एक टीका देने पर ही कुत्तो में एक वर्ष के लिए प्रतिरक्षा उत्पन्न हो जाती है। जैसा कि पागलपन रोग की समिति द्वारा बताया गया है,[9] "कुछ छेत्रो में इस रोग की तेज वृद्धि ने कट्रोल के अधिक सक्रिय उपायो का अपनाने के लिए बाध्य कर दिया है," किन्तु खतरा दूर होने पर ये उपाय शीघ्र ही शिथिल पड जाते हैं। जान्सन[10] का कहना है कि यूनाइटेड स्टेट्स से तब तक पागलपन का उन्मूलन नही किया जा सकता जब तक कि किसी एक एर्जेसी की देखभाल में एक समान प्रोग्राम नही चलाया जाता। जगली पशुओ में पागलपन के प्रकोप की वृद्धि होना एक आधुनिक तथा अतिरिक्त समस्या है।

बचाव—पागल कुत्ते द्वारा काटे गए मनुष्यो को सबसे पहले पास्चर ने सफलता पूर्वक टीका लगाया। पास्चर वैक्सीन शक्तिहीन वाइरस का बना होता है जिसे मेरु-रज्जु को सुखाकर तैयार किया जाता है। प्राकृतिक रूप से सक्रमणित कुत्ते से प्राप्त वाइरस सबल वाइरस (street virus) कहलाता है। यदि ऐसे वाइरस का अनेक खरगोशों के शरीर में होकर निकाला जाता है तो यह अधिक तथा निश्चित शक्ति प्राप्त कर लेता है (स्थिर वाइरस)। जब एक खरगोश को पागल कुत्ते के मस्तिष्क से प्राप्त पदार्थ (सबल वाइरस) या अधोदृक्तानिक टीका दिया जाता है तो रोग का उद्भवनकाल 15 से 20 दिन का होता है। जब स्थिर वाइरस का प्रयोग किया जाता है तो यह अवधि कम होकर केवल सात दिन ही रह जाती है। खरगोशो के मेरु-रज्जु में प्रविष्ट किए गए स्थिर वाइरस

को जब शुष्क वायु में सुरक्षित किया गया तो धीरे धीरे उसकी शक्ति क्षीण होती देखी गई और इस प्रकार से वाइरस की विभिन्न शक्तियाँ प्राप्त की गईं। पहले कम शक्ति वाले, तत्पश्चात् कुछ अधिक शक्तिशाली वाइरस का टीका देने से रोग के प्रति प्रतिरक्षा उत्पन्न हो जाती है।

पक्षीय वैक्सीन, वाइरस का मुर्गी के अण्डे में उगाकर तैयार किया जाता है जिसका सन् 1953 में कावस[11] द्वारा वर्णन किया गया। इसको इस शर्त के साथ वितरित किया गया कि यह अत्यधिक स्थायी है, इसके प्रयोग से टीका लगाने के बाद होने वाला पक्षाघात नहीं होता तथा इससे उच्च कोटि की प्रतिरक्षा उत्पन्न होती है। आजकल कुत्ता तथा मनुष्यों में इस रोग की कमी का कारण कुत्तों को खूब बचाव का टीका देना बताया जाता है।

कुत्ता तथा लोमड़ियों द्वारा काटी जाने वाली गायों का टीका लगाना काफी खर्चीला है और अभी तक इसकी निश्चित मात्राएँ भी नहीं निर्धारित की जा सकी हैं। रोलिंस[12] (Rollins) द्वारा प्रस्तुत एक रिपोर्ट में यह बताया गया कि 800 पौण्ड तक के शरीर भार वाले काटे गए आठ गो-पशुओं को 20 से 35 घ० सें० की मात्रा में टीका देकर दो दिन के अवकाश पर तीन बार दोहराया गया और इनमें से किसी को भी पागलपन का रोग न हुआ। उन्होंने बताया कि नाक में काटे गए अधिकांश पशुओं में 21 दिन में पागलपन का विकास हुआ तथा टीका लगाए गए 25 प्रतिशत तक रोगी मर गए। नाक में काटी गई चार गायों को जब पहले 100 घ० सें० तत्पश्चात् दो दिन के अवकाश पर 50 घ० सें० की दो मात्राएँ दी गईं तो वे पूर्णरूपेण स्वस्थ रहीं। वैक्सीन की यह मात्रा आमतौर पर देने की राय दी जाती है।

उन क्षेत्रों में मनुष्यों के इलाज के लिए वैक्सीन के कोर्स के साथ अतिप्रतिरक्षित ऐंटिपागलपन सीरम के प्रयोग की राय दी जाती है जहाँ कि वैक्सीन के अत्यधिक प्रयोग से 70 प्रतिशत से कम रोगियों का ही बचाव हो पाता है। ऐसा ईरान में भेड़ियों द्वारा काटने के बाद होते देखा गया है।[13]

इलीन्वायस के जन-स्वास्थ्य निदेशक डा० फ्रैंक जिरका[14] के निम्न कथन से यह स्पष्ट है कि पागलपन के प्रति टीका लगाना सदैव सफल नहीं होता "पागलपन के प्रति सघन तथा शीघ्र टीका लगाने के बाद भी पागल पशुओं द्वारा काटे गए मनुष्यों में 0 5 से 1 प्रतिशत लोगों में यह रोग होते देखा गया है। इससे यह स्पष्ट है कि मनुष्यों में इस रोग के प्रति टीका लगाना अत्यधिक लाभप्रद होते हुए भी यह शतप्रतिशत प्रभावकारी नहीं होता। पागलपन के उन्मूलन के लिए केवल यही विधि सर्वोत्तम है कि आवारा कुत्तों को पकड़वाया जाए तथा पालतू कुत्तों को तब तक नियंत्रित रखा जाए जब तक कि जन समुदाय से यह बीमारी बिल्कुल ही अदृश्य न हो जावे।"

संदर्भ

1 Starr, L E , Report of Committee on Rabies, Proc U S Livestock San Assoc , 1951, p 102

2. Frothingham, L , Something about glanders and rabies, Cornell Vet , 1920, 10, 163

3. Stafford, A.L., and Phillips, R.B., Rabies in Georgia, Proceedings, A.V.-M.A., 1950, p. 105.
4. Hurt, L.M., Los Angeles County Report, 1942-43, p. 20.
5. Cushing, E.R., Our common problems as regards cattle practice, Iowa Veterinarian, 1941, 12, Nov-Dec., p. 5.
6. Webster, L.T., Epidemiologic and immunologic experiments on rabies, N. Am. Vet., June, 1938, 19, 25 ; New Eng. J. Med.,1937, 217, 687.
7. Damon and Stellars, Vet. Med., 1942, 37, 253.
8. Moore, V. A., Pathology and Differential Diagnosis of Infectious Diseases of Animals, Ed. 4, New York, Macmillan, 1916.
9. Committee on Rabives, Proc. U.S. Live Stock Sanitary Assoc., 1945, p. 112.
10. Johnson, H. N., The present status of rabies vaccination, Proceedings U.S. Live Stock Sanitary Assoc., Dec. 1943, p. 190.
11. Cox, H. R., Proc. 43rd Ann. Meeting, U.S. Livestock San. Asso., 1949, p. 264, p. 257 also.
12. Rollins, J. H. Rabies in cattle, N. An. Vet., 1935, 26, 343.
13. Steele, J. H., Pub. Health Rep., Fed. Security Agency 1952, 67, 360.
14. Jirka, F., Repot of the Committee on Rabies, U.S. Livestock Sanitary Assoc., J.A.V.M.A., 1938, 92, 307.
15. Fox, F. H., and Roberts, S. J., Recent experiences in the ambulatory clinic, Cornell Vet., 1949, 39, 249.

कूट-पागलपन

(Pseudorabies)

(भीषण खुजली; संक्रामक कंद पक्षाघात; अउजेस्की रोग)

परिभाषा—यह एक वाइरस द्वारा उत्पन्न होने वाली, गो-पशुओं में कभी-कभी प्रकोप करने वाली एक असंक्रामक प्राणघातक महामारी है जिसे अत्यधिक खुजली, पक्षाघात तथा 12 से 18 घंटे में मृत्यु हो जाना आदि लक्षणों द्वारा पहचाना जाता है। सूकरों में यह रोग अपेक्षाकृत हल्केपन में तथा अतिसंक्रामक बीमारी की भाँति प्रकोप करता है। हंग्री, ब्राजील तथा साइबेरिया में यह रोग कुत्तों, बिल्लियों गोपशुओं, सूकरों तथा चूहों में होता वर्णन किया गया है। आयोवा में अगस्त सन् 1930 में इसका एक प्रकोप शॉप[1] द्वारा वर्णन किया गया जिन्होंने लिखा कि यह बीमारी इतनी कम होती है कि पशु-चिकित्सकों का ध्यान ही इधर आकर्षित नहीं होता। आयोवा स्टेट कालेज के मरी[2] के अनुसार अनेक वर्षों तक इस रोग को गलघोटू रोग की त्वचा-अवस्था समझा गया। यह तथ्य यह प्रकट करता है कि मध्य-पश्चिम में यह बीमारी काफी पुरानी है और इसके परिमित प्रकोप कभी-कभी होते रहे हैं। आयोवा के एक फार्म पर रॉसिंग[3] (Rossing) द्वारा किए गए इस बीमारी के एक प्रकोप के वर्णन से कई पशु-चिकित्सकों द्वारा ऐसी रिपोर्टें प्राप्त हैं जिन्होंने आयोवा में गो-पशुओं में इसके एक से लेकर एक दर्जन या अधिक प्रकोप देखे और ये प्रकोप सदैव उन पशुओं में देखे गए जो सूकरों के साथ मिलकर रहे।

कोब्स तथा हू[4] की रिपोट से यह अनुमान होता है कि सुअर इस बीमारी के फैलाने में महत्वपूण योगदान देते हैं क्योंकि कम से कम बीस वर्षों से इनमें अज्ञात रूप से इस रोग की छूत बहुवितरित रही है। रोग ग्रसित पशुओं में 40-60 प्रतिशत विकृतता होकर 5 प्रतिशत तक मृत्युदर हो सकती है। उनके अनुसार यह वाइरस शरीर में बहुवितरित रहता है रोग का उद्भवन काल तीन से पांच दिन का होता है तथा खान-पान में अरुचि, वमन, दस्त मासल ऐंठन, अनैच्छिक गतियाँ तथा लार गिरने के साथ फैरिंक्स का पक्षाघात होना इसके लक्षण है। शव-परीक्षण करने पर फुफ्फुसशोथ पाई जाती है तथा मस्तिष्क के टिसुआ में हिस्टोलोजिकल परिवतन मिलते हैं।

चित्र—84 कूट-पागलपन (पागल खुजली) (डा०चार्ल्स मरी, एम्स आयोवा, के सौजन्य से प्राप्त फोटोग्राफ)।

कारण—पहले-पहल कूट-पागलपन को हग्री में सन 1902 में अउजेस्की[5] द्वारा वणन किया गया जिन्होंने गाय तथा एक कुत्ते के मेडयूला से पदाथ लेकर खरगोश में इन्जक्शन देकर इस रोग को उत्पन्न किया। इनके अवलोकनो का अन्य लोगों द्वारा समथन किया गया जिन्होंने खरगोशों गिनीपिग, चूहों, मूषिकाओं, मांसाहारी पशुओं ढोरों, भेड तथा बकरियों को इस रोग के प्रति ग्रहणशील प्रदर्शित किया। घोडे इसके प्रति अधिक सहनशील पाए गए। इन्जक्शन देने के स्थान पर वाइरस सबसे अधिक संख्या में उपस्थित थे। ये रक्त तथा केंद्रीय तन्त्रिका-तन्त्र में भी पाए गए।

अगस्त सन् 1930 में आयोवा में शॉप[1] द्वारा किए गए अन्वेषणों मे उन्होंने 12 पशुओं के यूथ में मरे हुए 9 पशुओं में से 1 के मस्तिष्क में इस रोग का वाइरस पाया। रोग-ग्रसित मस्तिष्क को नामल संशोधन में घोलकर खरगोशों में जब अधस्त्वक् इन्जेक्शन दिया गया तो ढोरों की भांति उनमें भी इस बीमारी के स्पष्ट लक्षण दिखाई दिए।

अंत कपालीय विधि से सक्रमणित खरगोशों के मस्तिष्क भी सक्रामी निकले। चेम्बरलेंड एल3 तथा बर्कफेल्ड वी, एन, एवं डब्ल्यु निस्यन्दका के छिद्रों से वाइरस बाहर निकल जाता है। खरगोशों में इस रोग का उद्भवन काल एक से लेकर तीन दिन का हो सकता है तथा वाइरस को इन्जेक्शन देने के स्थान, फेफडो तथा मस्तिष्क से प्राप्त किया जा सकता है। हृदय, रक्त, यकृत, अथवा प्लीहा में यह नही पाया जाता। 50 प्रतिशत ग्लिसरोल में प्रशीतक के अन्दर 154 दिन तक रखा रहने के बाद भी वाइरस सक्रिय रहता है। खरगोश के मस्तिष्क से प्राप्त वाइरस का जब बछडे में अधस्त्वक् इन्जेक्शन दिया गया तो चार दिन के उद्भवन-काल के बाद उसमें इस बीमारी के विशिष्ट लक्षणों का विकास हुआ। शॉप[1]

चित्र—85 कूट-पागलनपन (पागल खुजली) (डा० चार्ल्स मरी, ऐम्स आयोवा, के सौजन्य से प्राप्त फोटोग्राफ)।

द्वारा सफलता पूर्वक टीका लगाए गए अन्य पशु बिल्ली, मूषक, बतख तथा सुअर थे। प्रयोग-शाला परिस्थितियों में इस बीमारी को सक्रामक न पाया गया। आयोवा के फार्म पर जहाँ इस महामारी का प्रकोप हुआ, अगले सप्ताह में चूहों में इसका प्राणघातक प्रकोप देखा गया। यूरोपीय लेखकों का कहना है कि कुत्तों, बिल्लियों तथा ढोरों में इस बीमारी के प्रकोप के साथ कभी-कभी चूहों में इस महामारी के प्राणघातक प्रकोप हुआ करते हैं। उन्होंने यह भी बताया कि चेहरे पर खुजली का आवेग इस बात का सूचक है कि यह बीमारी चूहों के काटने से फैलती है। शाप[3] ने यह बताया कि मध्य-पश्चिमी सूकरों में यह बीमारी एक हल्के सक्रामक रोग के रूप में खूब प्रकोप करती है। उन्होंने यह भी बताया कि इन पशुओं की नाक वाइरस के अन्दर घुसने तथा बाहर निकलने को मार्ग प्रदान करती है, तथा खरगोशों में कूट-पागलपन का प्राणघातक प्रकोप उनकी कटी-फटी त्वचा को रोग-ग्रसित सुअर की नाक के सपर्क में लाने से हो सकता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि सूकरों की थूथन पर से इस रोग का वाइरस गोपशुओं की कटी-फटी त्वचा के सपर्क में आकर उनमें

इस बीमारी का सचार करता है। एक बार आक्रमण होने के बाद पशुओं में इस रोग के प्रति प्रतिरक्षा उत्पन्न हो जाती है।

विकृत शरीर रचना—गो-पशुओं में, लगातार रगडने से जाँघों तथा नितम्बों की त्वचा बाल रहित होकर चमडे की तरह काली पड जाती है और यह रक्तयुक्त सीरम से सनी रहती है। रोग-ग्रसित भाग के ऊपर का अधस्त्वक टिशू सीरम तथा चिपचिपे पदार्थ के जमा हो जाने से मोटा पड जाता है, किन्तु उसके नीचे की मास-पेशी इसमें सलग्न नही होती। यदि पशु कुछ समय तक जमीन पर लेटा रहता है तो उसके फेफडो में सूजन आ सकती है। उदरीय एव वक्षीय अतरागो तथा केन्द्रीय तन्त्रिका-तन्त्र में कोई विशिष्ट क्षतस्थल नही दिखाई पडते।

लक्षण—कुछ को छोडकर, अत्यधिक खुजली पडना इसका पहले दिखाई देने वाला लक्षण है और इसके साथ चेहरे तथा गर्दन की मास-पेशियो में ऐंठन भी हो सकती है। रोगी पशु पिछडे धड पर रोग-ग्रसित भाग को बार-बार चाटता है जिसके परिणामस्वरूप दो से तीन घटे में वहाँ की त्वचा बाल रहित हो जाती है। जैसे-जैसे खुजली बढती है पशु अपने शरीर को दीवाल, काँटेदार तार अथवा अन्य किसी सुदृढ वस्तु के साथ तेजी से रगडता है। वह स्वय को ही काट अथवा चबा सकता है। चौबीस घटे के बाद रोगी जमीन पर गिर जाता है तथा पक्षाघात के कारण उठने में असमर्थ हो जाता है। कभी-कभी पशु के मुँह से लार गिरती है तथा वह अपने दाँत पीसता है। पहला लक्षण प्रकट होने के बाद दो या तीन दिन में रोगी की मृत्यु हो जाती है। पशु कुछ अवसन्न सा होकर रँभाता तथा तेजी से साँस खींचता है। मृत्यु के कुछ पहले थोडा सा बुखार हो जाता है। रॉसिग[3] द्वारा वर्णन किए गए रोगियो में पूँछ को ऐंठना तथा पिछले धड को झुमाना प्रार्थमिक लक्षण थे। एक से तीन घटे बाद मुँह से लार गिराना तथा सिर एव गर्दन के ऊपरी भागो का रगडना आदि अन्य लक्षण प्रकट हुए। खुजली इतनी भयकर थी कुछ पशु उन्माद में आकर परिचारको पर आक्रमण करने लगे। रोग-ग्रसित भागो को तब तक रगडा गया जब तक कि वहाँ घाव बनकर खून नही बहने लगा। लगभग 6 से 12 घटे बाद पिछले भागो का झूमना और भी तेज हो गया तथा पशु मृत्यु तक अवसन्न रहे, जो 18 से 24 घटे की अवधि के बाद हुई। अधिकाश रोगियो के सिर तथा ग्रीवा पर खुजली देखी गई। जिन खरगोशो को अधस्त्वक टीका दिया गया उनमें बुखार तथा इन्जेक्शन देने के स्थान पर छोटी सी खुरॅच देखी गई और लक्षणा के प्रकट होने के बाद 6 से 24 घटे में उनकी मृत्यु हो गई। अत सेरिब्रल इन्जेक्शन देने से चौबीस से पचास घटो में खरगोशो की मृत्यु हो जाती है। वे उत्तेजना प्रदर्शित करते, निकट की वस्तुओं पर एकाएक दौडते तथा उनके शरीर में अत्यधिक ऐंठन होती है। सेलर्स आदि[7] (Sellers et al) द्वारा वर्णन किए गए तीन छोटे सीगो वाले ढोरो में से दो में हल्की खुजली देखी गई तथा तीसरे का पेट फूलकर बिना खुजली प्रदर्शित किए ही 24 घटे के अन्दर उसकी मृत्यु हो गई। इसका निदान खरगोशो में दिए गए मस्तिष्क पायस के अधस्त्वक इन्जेक्शन के परिणामो पर आधारित था। पाँच दिन में खरगोशो की मृत्यु हो गई। इन्जेक्शन देने के स्थान पर कटे फटे निशान मौजूद थे तथा मस्तिष्क का हिस्टॉलोजिकल परीक्षण करने पर हर्स्ट[8] द्वारा वर्णित परिणाम मिले।

शॉप ने यह निष्कर्ष निकाला कि पागल खुजली तथा कूट-पागलपन एक ही रोग है तथा यूनाइटेड स्टेट्स में उनके द्वारा अवलोकित बीमारी, अउजेस्की तथा अन्य लोगों द्वारा वर्णित कूट-पागलपन की भाँति ही है, यहाँ तक कि इस देश में जाँच किए गए व्यक्तिगत पशुओं की अपेक्षाकृत प्रायोगिक पशुओं के शरीर में वाइरस अधिक बहुवितरित पाया गया। इसका कोई भी इलाज नहीं है। रोग प्रकट होने पर गो पशुओं को सुअरों से अलग रखना चाहिए।

संदर्भ

1. Shope, R. E., An experimental study of "mad itch" with special reference to its relationship to pseudorabies, J. Exp. Med., 1933, 54, 233.
2. Murray, Chas., Mad itch, Cornell Vet., 1933, 23, 303.
3. Rossing, T. E., A case of pseudorabies (mad itch,) Fort Dodge Biochemic Review, 1936, 7, 20.
4. Köves, J., and Hirt, G., Ueber die Aujeszkysche Krankheit der Schweine, Archiv f,. Tierheilkunde, 1934, 68, 1.
5. Aujeszky, A., Ueber eine neu Infektionskrankheit bei Haustieren, Centr. f. Bkt., 1902, 32, 353.
6. Shope, R. E., Experiments on the epidemiology of pseudorabies ; I. Mode of transmission of the disease in swine and its possible role in its spread to cattle, J. Exp. Med., 1935, 62, 85.
7. Sellers, A. F., Pomeroy, B. S., Sautter, J. H., Pint, L. H. and Schrafel, C. E., A typical pseudorabies and Listeriosis in Cattle, J. A. V. M. A., 1949, 114, 69.
8. Hurst, E. W., Studies on pseudorabies (Infectious bulbar paralysis ; mad itch), J. Exp. Med., 1933, 58, 415.

दुर्दम्य शीर्षार्ति

(Malignant Head Catarrh)

(दुर्दम्य श्लेष्म ज्वर)

परिभाषा—गो-पशुओं की यह एक उग्र तथा अतिप्राणघातक बीमारी है जिसे मुख-विवरों तथा नाक और गले के अन्दर के टिसुओं की सूजन द्वारा पहचाना जाता है। इसमें प्रायः आँखें भी क्षतिग्रस्त हुआ करती हैं। रोगी पशु में अक्सर तंत्रिकीय लक्षण देखने को मिलते हैं। यूरप तथा अमेरिका में भी इसका वर्णन किया गया, तथा यूनाइटेड स्टेट्स में इसे अक्सर होते देखा गया है। अफ्रीका में इस बीमारी को "गो-पशुओं की नासार्ति" कहा गया तथा यह यूरोपीय दुर्दम्य शीर्षार्ति से मिलती-जुलती है और संभवतः यह यूनाइटेड स्टेट्स में होने वाली प्रकार से भी मिलती-जुलती है।

कारण—दुर्दम्य शीर्षार्ति का वसंत के महीनों में पशुशाला में बँधी रहने वाली गायों में परिमित प्रकोप होता है। इयाका के क्षेत्र में, जहाँ यह चरागाह पर चरने वाली गायों में कभी-कभी विकीर्ण रूप से प्रकोप करती है, इसे मार्च से सितम्बर तक प्रत्येक माह में

देखा गया है। कुछ प्रान्तों में यह बीमारी स्थानिकमारी की भाँति प्रत्येक वसंत ऋतु म फैलती है। ऐसा ओंटेरिओ झील के क्षेत्र में होते देखा गया है। सन् 1926 में न्यूयार्क के सेंटलारेंस प्रदेश में इसका वृहत तथा भीषण प्रकोप होते बताया गया। पेंसिल-वैनिया से मार्शल[1] (Marshall) और उनके साथियों ने लिखा कि "यह देश के इस इस भाग में आमतौर पर होने वाली बीमारी है।" सन् 1913 से 1927 तक इसे न्यूयार्क स्टेट पशु-चिकित्सा विज्ञान महाविद्यालय के चल-चिकित्सालय में 6 विभिन्न अवसरों पर निदान किया गया तथा इसके यत्र-तत्र रोगी लगभग वर्ष भर मिलते हैं। गदा वातावरण, कम ऊँचे स्थान तथा नमी को इस बीमारी के विकास में सहायक बताया गया है। किन्तु, ऐसे विचार के समर्थन के बारे में अथवा यह प्रकट करने के बारे में कि इसके पुरः प्रवर्तक कारण भी होते हैं बहुत ही कम प्रमाण मिलते हैं। बहुधा रोगी-पशु पशुशाला के दूर-दूर भागों में देखे जाते हैं। यह अवस्था इस बात का अनुमान कराती है कि परोक्ष अथवा अपरोक्ष सपर्क से यह बीमारी नही फैलती। उत्तरी डकोटा में दुर्दम्य शीर्षार्ति से भारी क्षति होती बताई गई है।[2]

मेटम[3] (Mettam) ने इस बीमारी का पूर्वी अफ्रीका में सघन अध्ययन करके यह प्रदर्शित किया कि गो-पशुओं को इस बीमारी की छूत प्रत्यक्ष रूप से नार्मल दिखाई देने वाले जगली जानवरों से लगी। जब जगली जानवरों के बच्चों ने गाय के थन से दूध पिया तो उस गाय को बीमारी लग गई तथा इसके सपर्क में आने वाले सभी ढोर बीमार होकर मर गए। प्राकृतिक अवस्थाओं में रोग का उद्भवन काल लगभग एक माह का था तथा चार से दस दिन की अवधि के बाद रोगी की मृत्यु हो जाती थी। अपने प्रयोगों से उन्होंने निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले :

(1) इस रोग का कारक एक अतिसूक्ष्मदर्शी किन्तु अनिस्यदी वाइरस है जो लाल रक्त-कणों के निकटतम सपर्क में रहता है।

(2) ढोरो में इस रोग का सचार काफी मात्रा में (5-200 घ० सें०) सदूषित रक्त का टीका देने से हो सकता है।

(3) सीधे सपर्क द्वारा यह बीमारी रोगी से स्वस्थ पशु को नही लगती तथा संक्रमित पदार्थ के खाने पर भी इसकी छूत नही फैलती।

(4) यद्यपि कि जगली पशु वाइरस को अपने शरीर में छुपाए रह सकते हैं किन्तु उनमें कभी भी सक्रमण के लक्षण नहीं देखे गए। सभी जगली पशु अपने शरीर में वाइरस को भण्डारित नहीं करते तथा एक यूथ में कितने प्रतिशत रोगवाहक पशु होते हैं, यह भी ज्ञात नहीं है।

(5) प्राकृतिक परिस्थितियों में यह बीमारी जगली पशुओं से गो-पशुओं में रक्त चूसने वाले कीड़ों के द्वारा ले जाई जाती है। "फार्म के चारो ओर बाड़ा लगाने, जगली पशुओं के यातायात पर रोक लगाने, तथा जगली जानवरों के यूथों की सख्या में कमी होने पर दक्षिणी अफ्रीका से यह बीमारी अदृश्य सी होती प्रतीत हुई—डुटोइट और अलेक्जेन्डर[4] (Du toit and Alexander.)।

गोट्ज़े तथा लीस[5] (Gotze and Liess) ने बताया है कि जर्मनी में यह रोग गो-पशुओं में तब प्रकोप करता है जब वे किसी अज्ञात कारक की उपस्थिति में भेड़ों के साथ रहते हैं, यद्यपि कि भेड़ों को इसकी छूत नहीं लगती। गोट्ज़े ने बीमार पशुओं के रक्त का टीका देकर 34 में से 13 स्वस्थ ढोरों में इस रोग का संचार किया। रोग का उद्भवन काल सोलह दिन से लेकर दस माह तक का था। गोट्ज़े द्वारा प्रकट किया गया यह विचार कि दुर्दम्य शीर्षार्ति गो-पशुओं को भेड़ों के संपर्क से लगती है, अधिकांश लोगों द्वारा मान्य नहीं है। ड्टोइट के अनुसार "प्राप्य प्रमाण का सांख्यिकीय सर्वेक्षण यह प्रदर्शित करता है कि भेड़ों का इसमें कोई विशिष्ट महत्व नहीं है।" विस्मैन[6] (Wyssman) ने कारण के इस पहलू पर अत्यधिक आँकड़े एकत्रित करके यह निष्कर्ष निकाला कि भेड़ें इस संक्रमण का वाहक नहीं हैं।

सन् 1936 में डाब्नी तथा हड्सन[7] ने कीनिया (Kenya) संक्रमण की "हल्की" प्रजाति तथा एक "सिर और नेत्र" वाली प्रजाति के साथ संचारी प्रयोग किए। हल्की प्रजाति अपेक्षाकृत लम्बे उद्भवन काल के बाद रक्त के टीका द्वारा अनियमित रूप से संचरणशील थी। तीव्र सिर तथा नेत्र प्रजाति रक्त, मस्तिष्क तथा ग्रंथि टीका द्वारा संचरित हो जाती थी, "बीमारी एक समान नियमित रूप से तथा अत्यधिक मृत्युदर के साथ पुनरोत्पादित हो जाती थी।" 33 में से 23 गोपशुओं में रोग का उद्भवन काल 16 से 24 दिन का था तथा एक रोगी में इसकी अधिकतम सीमा 60 दिन की देखी गई। संपर्क से छूत लगने का केवल एक ही रोगी देखा गया। गो-पशुओं से खरगोशों में यह बीमारी मस्तिष्क टिसु के अधोदृढ़तानिक इन्जेक्शन तथा रक्त के अंतः पेरिटोनियल इन्जेक्शन द्वारा फैली। "खरगोश के शरीर में प्रविष्ट करके प्राप्त पदार्थ का इन्जेक्शन देकर गो-पशुओं में इस बीमारी को प्राणघातक रूप में उत्पन्न किया जा सका।" कीनिया (दक्षिणी अफ्रीका) में इस बीमारी के फैलाने के असंख्य असफल प्रयासों के बाद, अंत में प्यर्सी[8] इस कार्य में सफल हुए। उन्होंने प्लीहा, मस्तिष्क, गुर्दों तथा प्रीस्कैपुलर ग्रंथि में इन्जेक्शन दिया। रोग का उद्भवन काल 14 से 37 दिन का था। अंतःशिरा, अंतःत्वचा, अंतःपेशी तथा अधस्त्वक् मार्गों द्वारा भी पशुओं को इसकी छूत लगती थी। एक पशु को संक्रमणित करने के लिए 0·05 घ० सें० गाढ़े श्वेत-कोशा पदार्थ की आवश्यकता पड़ती थी जिससे यह अनुमान होता है कि शरीर में चक्कर लगाने वाला वाइरस श्वेताणुओं से चिपका रहता है। बीमारी रोकने के एक प्रयास में फार्मलीनयुक्त वैक्सीन का प्रयोग सफल रहा। प्रत्येक कारण यह अनुमान कराता है कि वाइरस लिम्फोसाइटिक श्रेणियों के कोशाओं से चिपका रहता है तथा इस बात को विश्वास करने के अनेक प्रमाण हैं कि इसका संचरण रक्त चूसने वाले कीटों के द्वारा होता है। प्राप्त सूचनाओं से यह निष्कर्ष निकाला जाना सही है कि यह बीमारी एक वाइरस द्वारा फैलती है जिसकी कुछ प्रजातियाँ अत्यधिक संक्रामी होती हैं। प्रयोगात्मक रूप से काफी मात्रा में संदूषित रक्त का टीका देकर इस बीमारी को एक पशु से दूसरे पशु में फैलाया जा सकता है तथा प्राकृतिक रूप से छूत लगने का ढंग अज्ञात है।

विकृत शरीर रचना—फेरिंक्स तथा नाक की श्लेष्मल झिल्ली खूब सूज जाती है। यह लगभग बिल्कुल ही काली पड़ जाती है, सूजकर मोटी हो जाती है तथा इससे रक्तस्राव

होने लगता है। इसकी सतह पर प्राय पीवयुक्त तथा चिपचिपा स्राव भरा रहता है। घाव बनकर त्वचा गलने लगती है। ये परिवर्तन नथुनो के बीच की दीवाल की श्लेष्मल झिल्ली, शुक्तिकास्थियो, एथमॉइड कोशिकाओ तथा मुख-विवरो की श्लेष्मल झिल्ली तक पहुँच सकते है। सिर के चहुँतरफा की लिम्फ ग्रंथिया सूजी हुई तथा रक्तवर्ण प्रतीत होती हैं। मस्तिष्क की झिल्लियाँ अति सकुलित होकर लाल हो जाती है। आँख की कार्निया धुँधली दिखाई पडती है तथा अग्र कक्ष में फाइब्रिन युक्त स्राव भरा मिलता है। शारीरिक-गुहाओ में कभी-कभी थोडा सा लाल रग का सीरम भरा मिलता है। गुर्दे तथा यकृत अपकर्षित होकर रक्तस्रवित हो सकते है। ओमेण्टम, मेसेण्टेरी तथा हृदय की सीरस झिल्ली में रक्त के धब्बे मिल सकते है। शरीर भर की लिम्फ ग्रथियाँ सूजी हुई तथा रक्त सकुलित हो सकती है। आहार-नाल तथा श्वसन-तत्र में विभिन्न अशो की सूजन मौजूद हो सकती है। शव-परीक्षण के परिणामो में विस्तृत विभिन्नता हो सकती है। रक्त-विषाक्तता तथा रक्तपूतिता को प्रदर्शित करने वाले कोई भी परिवर्तन मौजूद हो सकते हैं।

लक्षण—इस रोग का उद्भवन काल दो से चार सप्ताह का अनुमान किया जाता है। विशिष्ट प्रकार में रोग का आक्रमण एकाएक होता है। रात को पूर्णरूपेण स्वस्थ दिखाई देने वाली गाय सुबह को बुरी तरह बीमार हो सकती है। अत्यधिक निर्बलता, सूखे होठ, गले में घाव होने के कारण सिर का थोडा सा प्रसार, घूरने जैसा स्वरूप, चारे में अनिच्छा तथा दूध के बहाव का लगभग बिल्कुल ही रुक जाना इसके प्रारम्भिक लक्षण है। त्वचा सूखी, बाल खुरदरे, तथा कमर के क्षेत्र तक फैले हुए छोटे-छोटे फफोले से दिखाई पड़ते है जिन्हें स्थान-स्थान पर उठे हुए बालो से पहचाना जाता है। स्थानीय अथवा व्यापक कँपकपी प्राय मौजूद रहती है तथा रोगी का परीक्षण करने पर यह बढ जाती है। बाहर से दिखाई देने वाली श्लेष्मल झिल्लियाँ रक्तवर्ण हो जाती हैं तथा पलको पर सूजन एव अश्रुप्रवाह अक्सर मौजूद रहता है। नाडी-गति 70 से 100, श्वसन 25 से 30 तथा तापक्रम 105 से 107° फारेनहाइट तक रहता है। नासिका-मार्ग में रुकावट पडने के कारण प्राय साँस खींचते समय एक प्रकार की आवाज भी होती है। दोनो नथुनो से श्लेष्मा तथा पीव मिश्रित स्राव बहता है जो लाल अथवा पीले रग का होता है तथा एक या दो दिन में बदबूदार हो जाता है। भयकर शोथ थूथन तथा होठो तक बढ सकती है। पशु धीरे-धीरे खा-पी पाता है तथा अक्सर उसमें निगलने जैसी गतियाँ दिखाई पडती हैं। गालों के निचले क्षेत्र में बहुधा सूजन मौजूद होती है। निगलने तथा छूने पर गले में दर्द होता है, तथा पशु को दबी हुई दर्दयुक्त खाँसी आ सकती है। एक रोगी में आँखें सामान्य रहती, दूसरे में पलको पर खूब सूजन आ सकती है, तीसरे में नेत्र बद रहते तथा उपतारा आगे की ओर उभर आता है और उसे बिल्कुल ही दिखाई नहीं देता। गाय को छेड़ने पर उसकी मास-पेशियों में ऐंठन प्रकट होती है। उत्तेजना, मास पेशियो का अनैच्छिक उग्र सकुचन, सिर और ग्रीवा की त्वचा की अति सवेदनशीलता, एक कान अथवा एक पलक का एकागी पक्षाघात, अनिश्चित गति, अवसन्नता, दीवाल के सहारे सिर टकरा कर खडा होना तथा अन्य प्रकार के प्रेरक क्षोभण इसके विभिन्न तन्त्रिकीय लक्षण हैं। लेखक के रोगियो में से एक गाय ने अपने मालिक पर आक्रमण किया जिससे कि उसे काफी चोट पहुँची। गोबर

पतला होकर पशु को वदवूदार दस्त आने लगकर जठर-आन-शोथ के लक्षण प्रतीत होते है तथा अपच के साथ आहार-नाल का पक्षाघात भी हो सकता है । मार्शल द्वारा वर्णित रोगियो में श्वसन सबधी भयकर लक्षण मौजद थे । पशु की हालत जल्दी-जल्दी गिरती जाती है । नाडी-गति तथा श्वसन वढ जाता और तापक्रम कम हो जाता है । कभी-कभी पशु की हालत म सुधार होता मालूम पडता है किन्तु, अत में कमजोर होकर 24 घटे में उसकी मृत्यु हो जाती है । इसका कोर्स 3 से 7 दिन का है तथा वहुत की कम रोगी पशु ठीक हो पाते है ।

महामारी के अतिम समय में कुछ रोगी हल्के लक्षण प्रदर्शित करते है तथा 24 घटे में प्रत्यक्ष रूप से अच्छे दिखाई पडने लगते है । रोग की अविशिष्ट अवस्था में जव क्षतस्थल कम विकसित होते है तो इसका कोर्स वढकर एक माह अथवा अधिक समय का हो सकता है । पशु को वुखार आना, त्वचा पर फफोले से पडकर स्थान-स्थान पर बाल खडे हो जाना, भद्दे वाल, सूखी त्वचा, नेत्र रोग, दोनो नथुनो से स्राव गिरना, अत्यधिक कमजोरी, तथा हालत का जल्दी-जल्दी गिरना आदि लक्षण इस अवस्था का अनुमान कराते है । ऐसे रोगियो की मृत्यु के वाद शव-परीक्षण करने पर नाक तथा उसके निकट के भागो की श्लेष्मल झिल्ली पीवयुक्त तथा परिगलित दिखाई पडती है ।

निदान—इस वीमारी की गलघोटू रोग, नेत्र शोथ, खुजली, मस्तिष्क शोथ, तथा अधोजिह्व फोडे से सभ्रान्ति हो सकती है । यूनाइटेड स्टेट्स में इस वीमारी पर कम अध्ययन होने के कारण यूरुप में दुर्दम्य शीर्षार्ति तथा दक्षिणी अफ्रीका में नासार्ति से इसका सबध ज्ञात करना सभव न हो सका है । गोट्ज़े[5] ने जर्मनी में इसकी निम्नलिखित चार लाक्षणिक अवस्थाएँ वर्णन की है (1) अति उग्र प्रकार जिसमें कि तत्काल ही मृत्यु हो जाती है, (2) आन्त्रिक प्रकार जो प्राय दस दिन में प्राणघातक सिद्ध होती है, (3) सिर तथा नेत्र प्रकार जो एक से तीन सप्ताह तक रहती है और कभी-कभी आन्त्रिक अवस्था के साथ हुआ करती है, तथा (4) रोग की हल्की प्रकार जिसमें पशु अवश्य ही अच्छा हो जाता है ।

चिकित्सा—रोग की लाक्षणिक चिकित्सा वहुत ही कम महत्व की है, किन्तु अधिक मात्रा में पेनिसिलिन और स्ट्रेप्टामाइसीन का सीमित प्रयोग प्रत्यक्ष रूप से लाभदायक सिद्ध हुआ है ।

सवर्भ

1. Marshall, C J, Munce, T E, Barnes, M F, and Boerner, F, Malignant catarrhal fever, J A V. M A, 1919 20, 56, 570
2 Thirty-First and Thirty Second Annual Reports of the State Livestock Sanitary Board of North Dakota, 1937, and 1938
3 Mettam, R. W. M, Snotsiekte in cattle, 9th and 10th Rep. of the Dir. of Vet Ed and Res, Union of S Africa, 1923, p 393.
4 Duo Toit, P J, and Alexander, R A, Malignant catarrhal fever and similar diseases, Thirteenth Inter. Vet. Cong, 1938, vol. I, p 553
5. Gotze, R, and Liess, J, Erfolgreiche Übertragungsversuche des bösartigen Katarrhalfiebers von Rind zu Rind Identitat mit der Südafrikanischen Snotsiekte, Deut. tier. Wehnschr, 1929, 37, 433; 1930, 38, 194, and 487.

6 Wyssmann, E , Bosartiges Katarrhalfieber und ähnliche Krankheiten, Thirteenth Int Vet Cong , 1938, vol 1, p 560
7 Daubney, R , and Hudson, J R Transmission experiments with bovine malignant catarrh, J Comp Path and Ther , 1936, 49, 63
8 Piercy, S E , Studies in bovine malignant catarrh, British Vet J , 1952, 108, 35 and 214

घावयुक्त मुखार्ति तथा ग्रासनली शोथ

(Ulcerative Stomatitis and Esophagitis)

(वाइरस प्रवाहिका रोग)

मार्च सन् 1946 में इथाका के क्षेत्र में आठ फार्मों पर ढोरा में एक उग्र ज्वर युक्त रोग फैला जिसे दस्त, मुंह में छाले, लघु अवधि तथा कम मृत्युदर द्वारा पहचाना गया। डा० ओलैफसन और उनके साथियो ने[1] इसे "गो-पशुओं की एक नई छूतैली बीमारी" कह कर वर्णन किया। उन्होने बताया कि "ग्रहणशील पशुओं में यह बीमारी गोबर से सदूषित पदार्थ खिलाकर, अधिक बुखार के समय रोग-ग्रसित पशु का रक्त लेकर स्वस्थ पशु में अधस्त्वक इन्जेक्शन देकर, अथवा अधिक ज्वर-युक्त अवस्था में पशु को मार कर उससे प्राप्त प्लीहा का पायस देकर उत्पन्न की जा सकती है, और 'यदि भली भाँति देख भाल न की गई तो यह एक फार्म से दूसरे फार्म पर फैल जाती है।" गोबर से सदूषित पदार्थ खिलाने के बाद इस रोग का उद्भवन काल 22 दिन का था। 8 से 14 माह की आयु वाली बछियों को प्रयोगात्मक रूप से यह रोग 7 से 9 दिन में लगा तथा 4 स 5 दिन बाद उनमें श्वेताणु ह्रास (leucopenia) उत्पन्न हुआ।

विकृत शरीर रचना—जैसा कि ओलैफसन द्वारा वर्णन किया गया है मुंह की श्लेष्मल झिल्ली के किसी भी भाग पर घाव होना, इसके विशिष्ट क्षतस्थल है। कभी-कभी ये घाव थूथन तथा नथुनों पर और यदा-कदा विस्तृत ऊति-गलन के साथ ग्रसनी तथा कण्ठ में देखे जाते हैं। ग्रास-नली की श्लेष्मल झिल्ली विभिन्न प्रकार के टेढे-मेढे छेद युक्त घावों से आच्छादित मिलती है और चूकि यह अन्य किसी रोग में नही पाए जाते अत इन क्षतस्थलों को इस रोग का नैदानिक लक्षण माना जाता है। आमाशय, ओमेसम, छोटी आंत और सीकम में लालिमा अथवा रक्तस्राव तथा घाव मौजूद हो सकते हैं। शव की हालत बडी ही जीर्ण-क्षीण होती है तथा बिना घावो के विकास के भी बछडा मर सकता है।

लक्षण—हालत का गिरना, खान-पान में पूर्ण अरुचि, दूध न देना, 104 से 106° फारेनहाइट तक तेज बुखार, कुछ में 100 से 120 तक तेज नाडी-गति, तथा बादामी रंग के पानी जैसे पतले बदबूदार तेज दस्त आना आदि लक्षणो के साथ इस रोग का एकाएक भीषण प्रकोप होता है। इन सामान्य लक्षणो के तत्काल बाद, सभवत रात भर में मुंह, फेरिंक्स और कभी-कभी नाक की श्लेष्मल झिल्ली पर घावयुक्त छाले पड जाते हैं। निचले जबडे के सामने वाले दातो के मसूढ़े गुलाबी अथवा लाल रग के हो सकते हैं तथा रोगी के मुंह से अत्यधिक लार गिरती है। थूथन पर घाव बनकर सडन लग जाती है। यह अवस्था नाक से गिरने वाले श्लेष्मा तथा पीवयुक्त स्राव के साथ सयोजित होकर दुर्दम्य शीर्षार्ति का रूप

प्रकट करती है। रोग के उग्र आक्रमण में आँखों का धँस जाना, शरीर में निर्जलीकरण तथा कमजोरी देखने को मिल सकती है। दिखाई देने वाले घाव जीभ, मसूड़ों, तालू, गालों तथा फेरिंक्स पर बहुवितरित रहते हैं। इस बीमारी के भीषण प्रकोप ब्याने वाली गायों तथा कुछ सप्ताह की आयु वाले बछड़ों में देखे जाते हैं। किसी भी यूथ में कमजोरी, जीर्ण-शीर्णता तथा बीमारी के सभी स्पष्ट लक्षण प्रदर्शित करने वाले पशुओं की अपेक्षाकृत, नार्मल से कुछ कम चारा खाने वाले तथा कम दूध देने वाले पशुओ में यह बीमारी अपने वेग में काफी भिन्न होती है। विभिन्न यूथों मे बीमार होने वाले पशुओं की संख्या में भी काफी विभिन्नता होती है। यह कुछ से लेकर 90 प्रतिशत तक हो सकती है। साथ ही मुहँ के क्षतस्थल भी कभी-कभी केवल कुछ पशुओं में तथा कभी-कभी सभी रोग-ग्रसित पशुओं में उपस्थित होकर भिन्नता प्रकट करते हैं। अनेक न्युक्लियस वाले श्वेताणुओं का ह्रास होना रक्त में होने वाला प्रमुख परिवर्तन है। ठीक होने के बाद गर्भित पशुओं का गर्भ गिर जाना इस रोग का दुष्परिणाम है। इस रोग को कुछ छुपी हुई अवस्थाएँ भी होती हैं क्योंकि गर्भ गिरने वाले पशुओं में कुछ गाएँ ऐसी भी मिलती हैं जो पूर्व लक्षण नहीं प्रदर्शित करती। अच्छे होते समय अथवा रोग से छुटकारा पाने के बाद जब पशुओं का गर्भपात होता है उस समय उनमें प्राणघातक सेप्टिक गर्भाशय शोथ भी होते देखी गई है। गर्भपात कई महीनों में वितरित हो सकते हैं।

रोग का भीषण प्रकोप होने के बाद भी दो या तीन दिन के अन्दर रोग की भयंकर किस्म भी जल्दी ही ठीक हो जाती है तथा मुहं के क्षतस्थल जितना शीघ्र विकसित होते है उतना ही शीघ्र ठीक भी हो जाते हैं। दस्त शुरू होने के बाद रोगी का तापक्रम गिर जाता है तथा लगभग एक सप्ताह में बीमारी का अंत हो जाता है। यद्यपि इसका कोर्स भी बहुत ही कम है तथा पशु ठीक भी हो जाते हैं, फिर भी, रोगोन्मुक्त होते समय गर्भपात होते हैं तथा उत्पादन में कमी के कारण इस रोग से भारी क्षति पहुँचती है।

निदान—एक पशु-पालक के रोग-ग्रसित होने वाले पहले यूथ में निमोनिया के अनेक रोगी थे जो इस रोग की सामान्य अवस्था में प्रत्यक्ष रूप से नही पाए जाते। फिर भी, कुछ पशुओं में, अधिक बुखार तथा तेज श्वास-प्रश्वास का होना निमोनिया का सूचक है तथा रोग के प्रकोप के प्रारम्भ में विशेषकर गलघोंटू रोग की आन्त्रिक अथवा वक्ष अवस्था का निदान करना आवश्यक हो सकता है। इसे कुछ अज्ञात कारणवश होने वाली रासायनिक अथवा पौध-विषाक्तता भी निदान किया जा सकता है तथा यहां वर्णित प्रकोप में कुछ समय के लिए इसे पोंका रोग (Rinderpest) भी अनुमान किया गया। प्रारम्भ में इस बीमारी में आने वाले दस्त सर्दी के अतिसार के सूचक हो सकते हैं। ग्रासनली की श्लेष्मल झिल्ली पर उपस्थित घावों का नैदानिक महत्व भी विचार किया गया, किन्तु ग्रासनली की श्लेष्मल झिल्ली पर ऐसे घाव मुखार्ति तथा दुर्दम्य शीर्षार्ति में भी देखे गए। कुछ रोगी दुर्दम्य शीर्षार्ति के रोगियों से मिलते-जुलते हो सकते हैं, किन्तु दुर्दम्य शीर्षार्ति में मृत्युदर अधिक होती है और प्रायः कार्निया में धुंधलापन हो जाता है। कुछ लक्षणों (उदाहरणार्थ, निचले जबड़े के सामने के दांतों के मसूड़ों का रंग गुलाबी होना) में वाइरस-अतिसार तथा अतिकिरेटिनता (hyperkeratosis) की प्रारम्भिक अवस्थाओं में समानता हो सकती है।

6. Wyssmann, E., Bosartiges Katarrhalfieber und ähnliche Krankheiten, Thirteenth Int. Vet. Cong, 1938, vol. 1, p. 560.
7. Daubney, R., and Hudson, J. R., Transmission experiments with bovine malignant catarrh, J. Comp. Path and Ther., 1936, 49, 63.
8. Piercy, S. E, Studies in bovine malignant catarrh, British Vet. J., 1952, 108, 35 and 214.

घावयुक्त मुखार्ति तथा ग्रासनली शोथ

(Ulcerative Stomatitis and Esophagitis)

(वाइरस प्रवाहिका रोग)

मार्च सन् 1946 में इथाका के क्षेत्र में आठ फार्मों पर ढोरो में एक उग्र ज्वर युक्त रोग फैला जिसे दस्त, मुंह में छाले, लघु अवधि तथा कम मृत्युदर द्वारा पहचाना गया। डा० ओलेफसन और उनके साथियो ने[1] इसे "गो-पशुओ की एक नई छुतैली बीमारी" कह कर वर्णन किया। उन्होंने बताया कि "ग्रहणशील पशुओं में यह बीमारी गोबर से सदूषित पदार्थ खिलाकर, अधिक बुखार के समय रोग-ग्रसित पशु का रक्त लेकर स्वस्थ पशु में अधस्त्वक इन्जेक्शन देकर, अथवा अधिक ज्वर-युक्त अवस्था में पशु को मार कर उससे प्राप्त प्लीहा का पायस देकर उत्पन्न की जा सकती है," और "यदि भली-भाँति देख-भाल न की गई तो यह एक फार्म से दूसरे फार्म पर फैल जाती है।" गोबर से सदूपित पदार्थ खिलाने के बाद इस रोग का उद्भवन काल 22 दिन का था। 8 से 14 माह की आयु वाली बछियों को प्रयोगात्मक रूप से यह रोग 7 से 9 दिन में लगा तथा 4 से 5 दिन बाद उनमें श्वेताणु ह्रास (leucopenia) उत्पन्न हुआ।

विकृत शरीर रचना—जैसा कि ओलेफसन द्वारा वर्णन किया गया है मुंह की श्लेष्मल झिल्ली के किसी भी भाग पर घाव होना, इसके विशिष्ट क्षतस्थल हैं। कभी-कभी ये घाव थूथन तथा नथुनो पर और यदा-कदा विस्तृत ऊति-गलन के साथ ग्रसनी तथा कण्ठ में देखे जाते है। ग्रास-नली की श्लेष्मल झिल्ली विभिन्न प्रकार के टेढ़े-मेढ़े छेद युक्त घावो से आच्छादित मिलती है और चूंकि यह अन्य किसी रोग में नही पाए जाते अत. इन क्षतस्थलों को इस रोग का नैदानिक लक्षण माना जाता है। आमाशय, ओमेसम, छोटी आँत और सीकम में लालिमा अथवा रक्तस्राव तथा घाव मौजूद हो सकते है। शव की हालत बड़ी ही जीर्ण-शीर्ण होती है तथा बिना घावों के विकास के भी बछड़ा मर सकता है।

लक्षण—हालत का गिरना, खान-पान में पूर्ण अरुचि, दूध न देना, 104 से 106° फारेनहाइट तक तेज बुखार, कुछ में 100 से 120 तक तेज नाडी-गति, तथा बादामी रंग के पानी जैसे पतले बदबूदार तेज दस्त आना आदि लक्षणो के साथ इस रोग का एकाएक भीषण प्रकोप होता है। इन सामान्य लक्षणों के तत्काल बाद, सभवत. रात भर में मुंह, फैरिक्स और कभी-कभी नाक की श्लेष्मल झिल्ली पर घावयुक्त छाले पड जाते हैं। निचले जबड़े के सामने वाले दांतों के मसूढ़े गुलाबी अथवा लाल रंग के हो सकते हैं तथा रोगी के मुंह से अत्यधिक लार गिरती है। थूथन पर घाव बनकर सड़न लग जाती है। यह अवस्था नाक से गिरने वाले श्लेष्मा तथा पीवयुक्त स्राव के साथ सयोजित होकर दुर्दम्य शीर्पार्ति का रूप

प्रकट करती हैं। रोग के उग्र आक्रमण में आँखों का धँस जाना, शरीर में निर्जलीकरण तथा कमजोरी देखने को मिल सकती है। दिखाई देने वाले घाव जीभ, मसूड़ों, तालू, गालों तथा फेरिंक्स पर बहुवितरित रहते हैं। इस बीमारी के भीषण प्रकोप ब्याने वाली गायों तथा कुछ सप्ताह की आयु वाले बछड़ों में देखे जाते हैं। किसी भी यूथ में कमजोरी, जीर्ण-शीर्णता तथा बीमारी के सभी स्पष्ट लक्षण प्रदर्शित करने वाले पशुओं की अपेक्षाकृत, नार्मल से कुछ कम चारा खाने वाले तथा कम दूध देने वाले पशुओं में यह बीमारी अपने वेग में काफी भिन्न होती है। विभिन्न यूथों में बीमार होने वाले पशुओं की संख्या में भी काफी विभिन्नता होती है। यह कुछ से लेकर 90 प्रतिशत तक हो सकती है। साथ ही मुहँ के क्षतस्थल भी कभी-कभी केवल कुछ पशुओं में तथा कभी-कभी सभी रोग-ग्रसित पशुओं में उपस्थित होकर भिन्नता प्रकट करते हैं। अनेक न्युक्लियस वाले श्वेताणुओं का ह्रास होना रक्त में होने वाला प्रमुख परिवर्तन है। ठीक होने के बाद गर्भित पशुओं का गर्भ गिर जाना इस रोग का दुष्परिणाम है। इस रोग की कुछ छुपी हुई अवस्थाएँ भी होती हैं क्योंकि गर्भ गिरने वाले पशुओं में कुछ गाएँ ऐसी भी मिलती हैं जो पूर्व लक्षण नहीं प्रदर्शित करती। अच्छे होते समय अथवा रोग से छुटकारा पाने के बाद जब पशुओं का गर्भपात होता है उस समय उनमें प्राणघातक सेप्टिक गर्भाशय शोथ भी होते देखी गई है। गर्भपात कई महीनों में वितरित हो सकते हैं।

रोग का भीषण प्रकोप होने के बाद भी दो या तीन दिन के अन्दर रोग की भयंकर किस्म भी जल्दी ही ठीक हो जाती है तथा मुहँ के क्षतस्थल जितना शीघ्र विकसित होते हैं उतना ही शीघ्र ठीक भी हो जाते हैं। दस्त शुरू होने के बाद रोगी का तापक्रम गिर जाता है तथा लगभग एक सप्ताह में बीमारी का अंत हो जाता है। यद्यपि इसका कोर्स भी बहुत ही कम है तथा पशु ठीक भी हो जाते हैं, फिर भी, रोगोन्मुक्त होते समय गर्भपात होते हैं तथा उत्पादन में कमी के कारण इस रोग से भारी क्षति पहुँचती है।

निदान—एक पशु-पालक के रोग-ग्रसित होने वाले पहले यूथ में निमोनिया के अनेक रोगी थे जो इस रोग की सामान्य अवस्था में प्रत्यक्ष रूप से नहीं पाए जाते। फिर भी, कुछ पशुओं में, अधिक बुखार तथा तेज श्वास-प्रश्वास का होना निमोनिया का सूचक है तथा रोग के प्रकोप के प्रारम्भ में विशेषकर गलघोटू रोग की आन्त्रिक अथवा वक्ष अवस्था का निदान करना आवश्यक हो सकता है। इसे कुछ अज्ञात कारणवश होने वाली रासायनिक अथवा पौध-विषाक्तता भी निदान किया जा सकता है तथा यहाँ वर्णित प्रकोप में कुछ समय के लिए इसे पोका रोग (Rinderpest) भी अनुमान किया गया। प्रारम्भ में इस बीमारी में आने वाले दस्त सर्दी के अतिसार के सूचक हो सकते हैं। ग्रासनली की श्लेष्मल झिल्ली पर उपस्थित घावों का नैदानिक महत्व भी विचार किया गया, किन्तु ग्रासनली की श्लेष्मल झिल्ली पर ऐसे घाव मुखार्ति तथा दुर्दम्य शीर्षार्ति में भी देखे गए। कुछ रोगी दुर्दम्य शीर्षार्ति के रोगियों से मिलते-जुलते हो सकते हैं, किन्तु दुर्दम्य शीर्षार्ति में मृत्युदर अधिक होती है और प्रायः कार्निया में धुंधलापन हो जाता है। कुछ लक्षणों (उदाहरणार्थ, निचले जबड़े के सामने के दाँतों के मसूढ़ों का रंग गुलाबी होना) में वाइरस-अतिसार तथा अति-किरेटिनता (hyperkeratosis) की प्रारम्भिक अवस्थाओं में समानता हो सकती है।

किन्तु, अतिकिरेटिनता एक दीर्घकालिक राग है जिसमें त्वचा पर भीषण प्रकोप होकर अधिक पशु मरते हैं।

चिकित्सा—पैनिसिलिन, सल्फोनामाइड, तथा लक्षणो के अनुसार प्रयोग किए गए विभिन्न उपचारो में से केवल रक्त चढाना ही प्रत्यक्षरूप से लाभदायक सिद्ध हुआ।

सदर्भ

1 Olafson, Peter, McCallum, A D , and Fox, F. H , An apparently new transmissible disease of cattle, Cornell Vet , 1946, 36, 205

गोमसूरिका

(Cowpox)

(गोमसूरी, गोशीतला)

परिभाषा—यह गाय के अयन तथा थना की एक उग्र सक्रामक बीमारी है जिसकी निम्नलिखित चार अवस्थाएँ हुआ करती है पिटिका, छाला, फुन्सी तथा पपडीयुक्त अवस्था। इसी के समकक्ष मनुष्यो तथा भेडो में इस राग में पूरे शरीर पर फुन्सियाँ पडा करती है। घोडो में यह रोग स्थानीय रहता है। डी जॉग[1] की रिपोर्ट के अनुसार घोडों की सक्रामक फुन्सीयुक्त मुखार्ति जेनर के शीतला रोग की प्रमुख किस्म है। यूनाइटेड स्टेट्स में सुकर शीतला (swine pox) को मक्नट[2] मरी तथा वर्विन द्वारा युवा सुवरो का एक अति छूतला सक्रामक रोग वर्णन किया गया है। यह एक सुदम्य रोग है जिसमें कि गो-मसूरी तथा चेचक जैसे छाले तथा फुन्सियाँ नही पाई जाती। ऐसा विश्वास किया जाता है कि माता रोग की विभिन्न अवस्थाएँ (भेंड शीतला, गो मसूरी आदि) पशुओ की विभिन्न जातियो में बार-बार प्रविष्ट होकर एक ही स्रोत (वेरिओला) से ग्रहण की गई है।

यूनाइटेड स्टेट्स में गो-मसूरी रोग इस बीमारी की होने वाली प्रमुख किस्म है। इसका ऐतिहासिक महत्व इस कारण है कि गो-मसूरी रोग के वाइरस का मनुष्यो में टीका देकर उनको उन्नीसवी शताब्दी से पूर्व अत्यन्त भयानक रोग "चेचक" से बचाया जा सका। यह इस बीमारी के प्रति पहला सफल कृत्रिम वैक्सीनेशन था।

कारण—विशिष्ट गो-शीतला रोग यूनाइटेड स्टेट्स में कभी-कभी प्रकोप करता है जिसमें कभी-कभी निकट की कई यूथो में एक साथ इसकी छूत फैलती है और अक्सर यह विकीर्ण रूप से फैला करता है। अपने वेग में यह हल्की लाक्षणिक अवस्था से लेकर भयकर प्रकार का हो सकता है जिसमें यह स्थायी तथा बार-बार होने वाला होकर यूथ में एक या दो वर्षों तक प्रकोप कर सकता है। देखभाल करने वाले परिचारकों को इसकी छूत गायो से लग सकती है तथा चेचक के प्रति टीक लगवाने के बाद वे इस बीमारी का गायों में सचार कर सकते हैं।

इस रोग का वाइरस निस्यदी होता है। रोग-ग्रसित टिसुओ में इसकी उपस्थिति के बारे में बहुत ही थोडा ज्ञान प्राप्त है। शरीर के बाहर यह पशुशालाओ में अनिश्चित काल तक छुपा रहता प्रतीत होता है। हेस्[3] लिखते है कि स्विट्जरलैंड के अधिकाश

रोगियो में यह अनुमान लगाना असभव सा है कि गायो में इसकी छूत ग्वालो के शरीर से वाइरस के फैलने से लगती है। वैग के साथ उन्होने यह अध्ययन किया कि पशुशाला में यह वाइरस काफी समय तक सक्रामी रहता है जो नए लाए गए ग्रहणशील पशुओ में परोक्ष सपर्क से प्रवेश पाता है। छालो, फुन्सियो तथा पपडी में भी यह मौजूद रहता है तथा त्वचा के एपीथीलियल कोषाओ और श्लेष्मल झिल्लियो से इसका विशिष्ट सबध रहता है। टीका लगाई गई खरगोश की कार्निया में रोगजनक कोशिकातरगक (ग्वारनीरी पिंड—Guarnieri's bodies—Cytorrhyctes) पाए जा सकते है। गायो को इसकी छूत मनुष्यो में होने वाली चेचक अथवा गो-जातीय वैक्सीन के सपर्क में आने से लग सकती है।

गोमसूरी वाइरस के बारे में ओस्लर[4] का कहना है कि, "यह वाइरस अस्वाभाविक रहन-सहन का है तथा सक्रमणित क्षेत्रो में निवास किया करता है।" यह कहते हुए ला[5] (Law) ने भी यही विचार प्रकट किया कि "वसत का ही ऐसा समय है जबकि, दूधारू पशुओ को ग्वालो के हाथो द्वारा इसकी छूत लगने का भय रहता है क्योकि इसी समय असक्रमणित क्षेत्र से ऋतुकाल के दोहन के लिए गाय को सक्रमित पशुशाला में लाया जाता है।"

ताजे टीका लगे हुए परिचारक से जब किसी गाय को इस रोग की छूत लग जाती है तो शेष यूथ में यह बीमारी बहुत ही शीघ्र फैलती है। जब परिचारको को यह रोग गायो से लगता है तो यह उनमें भयकर रूप से प्रकोप करता है। ऐसे उदाहरण बोर्नर[6], रीस[7], जेनर[8] तथा कैथी[9] द्वारा वर्णन किए गए है।

चूँकि गो-मसूरिका रोग के प्राकृतिक प्रकोप के बारे में अभी हाल में किए गए अध्ययन गोशीतला वाइरस की प्राप्ति के लिए असफल रहे तथा कृत्रिम सचारण भी ऋणात्मक ही रहा, अत कुछ लोगो द्वारा ऐसा विश्वास किया जाता है कि विशिष्ट गो-मसूरिका रोग बहुत ही कम होता है और यह तभी प्रकोप करता है जब पशुओ का टीका लगे हुए परिचारको से सबध रहा हो (हेस्टर[10])। क्रिस्टेन[11] द्वारा भी उक्त तथ्य को समर्थन मिलता है जिन्होने यह बताया कि इस महामारी के पन्द्रह प्रकोपो में से केवल एक में गो-मसूरी रोग का वाइरस प्रदर्शित किया जा सका। अन्य प्रकोपो को विशिष्ट गो-मसूरिका रोग का प्राकृतिक अथवा गर्भपात प्रकार कहा गया। इस प्रकार हम देखते है कि इस रोग की प्राकृतिक तथा विशिष्टि दो अवस्थाएँ है तथा केवल लक्षणो द्वारा इनका विभेदी-निदान करना काफी कठिन होता है। यद्यपि कि प्राकृतिक गो मसूरिका रोग का प्रयोगात्मक सचारण न हो सका तथा आवश्यक कारण का अब तक प्रदर्शन न किया जा सका, फिर भी, रोग-ग्रसित यूथो में यह बीमारी अवश्य ही सक्रामक है। सक्रमण के स्रोत का भी अभी तक पता न लग सका है किन्तु, बाढ़ आने के बाद अयन के कीचड तथा गदगी के सपर्क में आने से इस महामारी के अनेको प्रकोप होते देखे गए है। रोग-ग्रसित यूथ में जब किसी स्वस्थ गाय को लाकर मिलाया जाता है तो उसमें रोग का उद्भवन काल नौ दिन का देखा जाता है और यही अवधि क्रिस्टेन[11] ने गोशीतला के प्रयोगात्मक सचारण में भी रिपोर्ट की है। महामारी के ऐसे भीषण प्रकोप में जहाँ कि सभी दुधारू गायें रोग-ग्रसित हो गई हो, उनमें स्ट्रेप्टोकोकाइ द्वारा उत्पन्न होने वाला भयकर गौण थैनला रोग देखा जाता है। प्राकृतिक गो-मसूरिका रोग में न तो टीका देने पर और न रोग स्वत ही प्रतिरक्षा उत्पन्न करता है।

लक्षण—रोग का उद्भवन काल तीन से छ दिन का होता है। पिटिका (papules), स्फोटिका (vesicles), फुसियाँ (pustules) तथा पपडी (scab) जैसे त्वचा के सभी क्षतस्थल एक ही साथ मौजूद हो सकते हैं और यह क्रमिक विकास महीनों तक चलता रह सकता है। आमतौर पर एक यूथ की सभी गायें रोग-ग्रसित पाई जाती हैं किन्तु, यह बीमारी विकीर्ण रूप से भी प्रकोप कर सकती है। सबसे पहले थनो पर 6 से 10 मिलिमीटर व्यास की लाल रग की दर्दयुक्त पिटिकाएँ सी प्रकट होती हैं। एक या दो दिन में यह स्फोटिकाओं में परिणित हो जाती है। इनका रग सफेद अथवा पीला, आकृति गोल अथवा कुछ-कुछ अण्डाकार, तथा बीचोबीच में गड्ढा सा होता है। जेनर द्वारा किए गए वर्णन में "फुन्सियो में प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देने वाले नीले अथवा कुछ कुछ बैगनी रग" पर अधिक जोर दिया गया है तथा यह रग थनों पर मौजूद अन्य फुन्सीयुक्त घावो में अनुपस्थित रहता है। इनकी आकृति एक जाली के आकार की होती है और ये त्वचा की ऊपरी सतह पर न होकर उसके अन्दर स्थित रहती हैं। दुहने पर यदि छूने से बच जाती है तो ये फुसियाँ आठ से दस दिन में पक कर फूटती है और इनके स्थान पर पपडी जम जाती है। ये छाले थनो तथा कभी-कभी अयन की निचली सतह पर हुआ करते हैं तथा केवल दूध देने वाली गायो में ही दिखाई देते हैं। रोग के हल्के प्रकोप में प्रत्येक थन पर एक से दस स्फोटिकाएँ बन सकती हैं। मिश्रित छाले होने पर थन के काफी बडे क्षेत्र पर कटी-फटी दरारयुक्त गीली अथवा रक्त बहती हुई सतह दिखाई पडती है। थन के सिरे पर रोग का सक्रमण होने पर पीवयुक्त घाव बन कर पशु को प्राणघातक थनैली हो सकती है। गो-शीतला के वाइरस से पुन सक्रमित होने के कारण रोग बहुत ही विकट रूप धारण कर सकता है। कभी-कभी सामान्य लक्षणों तथा हालत में गिरावट के साथ शरीर अथवा पैरो पर भी दाने पडते देखे गए हैं। रोग के इस प्रकार में प्राय भीषण थनैली का विकास होते देखा जाता है। गो मसूरिका रोग के विशिष्ट लक्षणो को कभी कभी पहचानना कठिन हो जाता है क्योंकि क्षतस्थल लगातार अवलोकन में नही रहते और जैसे ही थना पर छाले बनते हैं वे दूध दुहने के समय ग्वालों के हाथो द्वारा फूट जाते हैं। ग्वाला में इस रोग का सक्रमण प्राय हाथों अथवा भुजा के अगले हिस्से में देखा जाता है। नियम के अनुसार एक बार रोग का आक्रमण हो जाने पर दुबारा पशु इसके प्रकोप से बचा रहता है। किन्तु जेनर[8] ने अपने रोगी न० 9 में पन्द्रह वर्ष की अवधि में एक आदमी में चेचक के तीन आक्रमण देखे और उन्होने गाया में भी इसके दुबारा हल्के प्रकोप की चर्चा की। लेखक के अभिलेखा में एक गाय में एक वर्ष के बाद दो विभिन्न आक्रमणो की रिपार्ट मिलती है।

प्राकृतिक एव विशिष्ट गो-शीतला रोग के बीच विभेदी निदान करने में क्रिस्टेन[11] ने बताया कि रोग के प्राकृतिक प्रकार में स्फोटिकाएँ बहुत ही शीघ्र फुसिया में परिणत हो जाती है जा दस घटा में पूर्णरूपेण बन जाती हैं। छालो की सतह पर गड्ढा नहीं होता तथा उनके चौतरफा ललाई या तो बिल्कुल ही नही होती या बहुत ही कम होती है। रोग का यह प्रकार प्राय मनुष्या के लिए सक्रामक नही होता। रोग के विशिष्ट प्रकार में फुसियों का बहुत धीरे-धीरे विकास होकर वे लगभग नौ दिन में परिपक्व होती हैं। इसके

अतिरिक्त रोग के इस प्रकार में छालों के बीचोबीच एक स्पष्ट, दवा हुआ गड्ढा सा होता है तथा उनके चारो तरफ ललाई होती है। परिचारकों में इसकी छूत शीघ्र फैलती है।

चिकित्सा—आमतौर पर होने वाली रोग की हल्की किस्म में दूध दुहने में सफाई रखना, समुचित रूप से रोगी की देखभाल करना, तथा 3 प्रतिशत क्रियोलीन घोल का उपयोग करना इसका पर्याप्त उपचार है। यदि थनों में दरारें पड़ गई हों तथा दूध दुहने के समय उनमें संवेदना उत्पन्न होती हो तो उन्हें गरम क्रियोलीन घोल अथवा जिंक-तेल (जिंक आक्साइड तथा जैतून का तेल बराबर भाग) लगाकर मुलायम कर लेना चाहिए। ग्लेसरीनयुक्त सैलिसिलिक एसिड (3 प्रतिशत) अथवा निम्न प्रकार तैयार किया गया भिटफील्ड मरहम विशेष कर गुणकारी है: सैलिसिलिक एसिड 2 ड्राम (8 ग्राम); बेन्जोइक एसिड 1 ड्राम (4 ग्राम); लैनोलिन 6 ड्राम (24 ग्राम); तथा वैसलीन 7 ड्राम (28 ग्राम)। ग्लेसरीन एवं टिंचर आयोडीन (बराबर भाग) का प्रयोग भी लाभप्रद है। सल्फाथायाज़ोल मरहम गो-मसूरी रोग के प्राथमिक तथा गौण दोनो प्रकार के क्षतस्थलों के लिए एक प्रभावकारी औषधि है। एक बड़े यूथ में गो-शीतला रोग से पीड़ित अनेक रोगियों पर प्रयोग की गई कई औषधियों में से जिंक आक्साइड मरहम सबसे अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ। पिटमन-मूर के अनुसार सर्बिनोल द्रव (cerbinol liquid) भी इस रोग की चिकित्सा में काफी लाभप्रद सिद्ध हुआ।

बचाव के लिए; रोग-ग्रसित गायों को शीघ्र ही अलग करके उनकी देखभाल के लिए अलग परिचारक रखना चाहिए तथा अंतिम रोगी के ठीक होने के बाद पशुशाला की खूब सफाई करके उसे जीवाणु-रहित कर देना चाहिए। टीका लगाना केवल गो-शीतला के प्रति ही लाभदायक सिद्ध हुआ है।

थनों के सिरे पर दरारें, पपड़ी अथवा परिगलित क्षेत्र अक्सर पाए जाते हैं। वैसे तो आंशिक रूप से ऐसे क्षतस्थल थनों के गंदगी के संपर्क में आने से उत्पन्न हुआ करते हैं, किन्तु, ये एक अथवा अनेक पशुओं में ऐसे संक्रमण की अनुपस्थिति में भी देखे जा सकते हैं।

छाला पड़ने की अवस्था निकल जाने के बाद गो-मसूरिका रोग से इन अवस्थाओं को अलग पहचाना काफी कठिन हो सकता है। थनों के छालों में, प्रमुख महत्व क्षतस्थल की विशेषता की अपेक्षाकृत उनकी सिरे पर उपस्थिति को दिया जाता है। जब पपड़ी अथवा दरारें या अन्य क्षतस्थल थन के सिरे पर बनते हैं तो थन-नली में संक्रमण को रोकने तथा उसे थनैला रोग से बचाने के लिए शीघ्रता से सफाई करके जीवाणु-रहित करना चाहिए। इस कार्य के लिए रोग-ग्रसित भाग पर एक फुरहरी से कार्बोलिक एसिड लगाकर बाद में टिंचर मेटाफेन एवं सिंदूरी रंग के लाल तेल के प्रयोग करने की भी राय दी गई है। थनों पर के क्षतस्थल हाइड्रोजन परआक्साइड अथवा अन्य जीवाणुनाशक पदार्थ लगाने से शीघ्र ठीक हो जाते हैं। सल्फानिलामाइड 20 भाग, सल्फाथायाजोल 20 भाग तथा यूरिया 10 भाग का सम्मिश्रण भी लाभदायक है। इसे रीज़ोल आदि विभिन्न व्यापारिक नामों के अन्तर्गत वितरित किया जाता है। टायरोथ्रीसिन मरहम का प्रयोग सर्वोत्तम है।

संदर्भ

1 De Jong, D A, The relationship between contagious pustular stomatitis of the horse, equine variola (Horse Pox of Jenner) and vaccinia (Cow Pox of Jenner), J Comp Path and Ther, 1917, 30, 212
2 McNutt, S H, Murray, C, and Purwin, P, Swine pox, J A V M A., 1920, 74, 752
3 Hess, E, Erkrankungen des Euters, Vienna, Braumuller, 1911
4 Osler, W, The Principles and Practice of Medicine ed 10, p 235
5 Law, J, Veterinary Medicine, vol iv, ed 3, p 438
6 Boerner, F, An outbreak of cow pox, introduced by vaccination, involving a herd of cattle and a family, J A. V M A., 1923, 64, 93
7 Reece, R J, An account of the circumstances associated with an outbreak of disease among milch cows, horses, and their attendants, believed to be of the nature of ' Cow Pox", in the county of Somersetshire in the year 1909, and considerations arising therefrom, Vet Journal, 1922, 78, 81
8 Jenner, E, An Inquiry into the Cause and Effects of the Variolae Vaccinae Cow Pox, London, 1789
9 Cathie, D M, A case of cow pox or vaccinia, Brit Med. J, Jan 1932, p 99
10 Hestler, H R, Boley, L E, and Graham, R, Studies on cowpox I An outbreak of natural cowpox and its relation to vaccinia, Cornell Vet., 1941, 31, 360
11 Christen, P, Vakzinationsversuche gegen die Euterpocken des Rindes und ein Beitrag zu deren Diagnostik, Schweizer Archiv, 1939, 81, 53, 108

घोड़ों में संक्रामक फुन्सीयुक्त मुखार्ति

(Contagious Pustular Stomatitis in *Horses*)

(अश्व शीतला, अश्वीय मसूरिका)

परिभाषा—घोड़ों को संक्रामक फुन्सीयुक्त मुखार्ति को रक्तसंकुलित एवं सूजनयुक्त मुहँ की श्लेष्मल झिल्ली पर 1 से 5 मि० मी० व्यास की पुटिकाओं, छाला तथा फुंसिया द्वारा पहचाना जाता है। इनकी प्रमुख स्थिति होंठो, मसूड़ा, गालो, जीभ की श्लेष्मल झिल्ली तथा जीभ के किनारे एवं निचली सतह पर होती है। जुइक[1] तथा अन्य, चेचक की एक प्रकार को इसका कारण मानते हैं।

कारण—यूरुप में यह बीमारी अपेक्षाकृत बहुत ही कम प्रकोप करती है तथा अमेरिका में इसके प्रकोप का लेखक ने कोई भी प्रमाण नहीं पाया। पशुशाला की महामारी के रूप में यह विशेष कर युवा घोड़ो में प्रकोप करती देखी जाती है तथा इसके एक आक्रमण से प्रतिरक्षा उत्पन्न हो जाती है। अपने बहुवितरण के कारण यह बीमारी विशेष महत्व की है।

वाइरस—रोग के वाइरस की प्रकृति के बारे में दो विभिन्न मत हैं। फ्रांस के लेखकों ने इसे जेनर के शीतल रोग (Jenner's pox) का एक प्रकार माना है, जबकि

जर्मन अधिकारी इसे वाइरस का कोई अन्य प्रकार मानते हैं। वर्षों से इसे प्रयोगात्मक रूप से मनुष्यों, घोड़ों, गो-पशुओं, भेड़ों तथा सूकरों में संचरणशील जाना गया और फ्रीडबर्गर ने सफलता पूर्वक इसका मुर्गियों की कलंगी में संचारण किया। सन् 1916 में डी जांग[2] ने इस बात का प्रमाण प्रस्तुत किया कि घोड़े की संक्रामक फुंसीयुक्त मुखार्ति वास्तव में जेनर के अश्व-शीतला रोग का प्रमुख प्रकार है और यह भी बताया कि इस रोग का वाइरस चैम्बरलैंड बी तथा एफ निस्यन्दकों से बाहर निकल जाता है। ऐसे निस्यंदों से उन्होंने खरगोशों, गो-पशुओं तथा मनुष्यों में यह रोग उत्पन्न किया। जुइक द्वारा किए गए प्रयोगों में, उन्होंने घोड़े में फुन्सीयुक्त मुखार्ति के प्राकृतिक रोगी से वाइरस प्राप्त किया। एक प्रयोगात्मक घोड़े को यह रोग लगभग चार दिन में लगा। बछड़े की त्वचा पर पाँच से छः दिन में शीतला के विशिष्ट क्षतस्थल उत्पन्न किए गए। दो खरगोशों में भी इसका सफलतापूर्वक संचारण किया गया। बछड़े के शरीर पर निकले हुए दानों से एक भेड़, सुअरी, कुत्ता, दो खरगोशों, एक मनुष्य तथा एक मुर्गी में प्रयोगात्मक रूप से इस रोग का संचारण किया गया। एक खरगोश की रोग-ग्रसित कार्निआ के एपीथीलियल कोशिकाओं में ग्वार्नीरी-पिण्डों के पाए जाने पर वाइरस की विशिष्ट प्रकृति जानी जा सकी।

लक्षण—पिटिका, छालों तथा फुन्सियों का विकास एक क्रम में होता है। ओठों के किनारे तथा जीभ के नीचे जुड़न के पास इनकी संख्या विशेषकर अधिक होती है। ओंठ, गाल तथा उपजम्भ लसीका ग्रंथियाँ कुछ-कुछ सूजी हुई सी हो सकती हैं। रोग के आक्रमण के समय कुछ-कुछ बुखार के अतिरिक्त अन्य कोई सामान्य लक्षण नहीं होते। दर्द के कारण रोगी की चारे में रुचि कुछ मन्द पड़ जाती है। उसके मुहँ से थोड़ी लार गिरती तथा कभी-कभी कुछ गंध भी आती है। छाले; नाक की श्लेष्मल झिल्ली, विशेषकर नथुनों में फैल जाते हैं तथा त्वचा को भी संलग्न कर सकते हैं। कभी-कभी नेत्र-शोथ तथा कार्निआ का धुंधलापन भी देखा जाता है। कभी-कभी घोड़ी के बाह्य जननांगों तथा पैरों अथवा शरीर के विभिन्न भागों की त्वचा पर दाने प्रकट होते हैं। दस से चौदह दिन में रोगी पशु ठीक हो जाता है।

निदान—फफोलेदार मुखार्ति (vesicular stomatitis) से इस रोग की बहुत ही शीघ्र संभ्रान्ति हो जाया करती है। छालायुक्त मुखार्ति में गिल्टियाँ तथा पीब और फुंसियाँ नहीं होतीं।

चिकित्सा—इस रोग की चिकित्सा के लिए पोटाशियम् क्लोरेट (2-3 प्रतिशत), फिटकरी, बोरिक एसिड आदि हल्के ऐंटिसेप्टिक पदार्थों का प्रयोग किया जाता है।

संदर्भ

1. Zwick, W., Über die Beziehungen der Stomatitis pustulosa contagiosa des Pferdes zu den Pocken der Haustiere und des Menschen, Berl. tier. Wchnschr., 1924, 40, 757.
2. De Jong, D. A., The relationship between contagious pustular stomatitis of the horse, equine variola, (Horse-Pox of Jenner) and vaccinia (Cow-Pox of Jenner), J. Comp. Path. and Ther., 1917, 30, 242, Translated from Folia Microbiologica, 1916, 4, 239.

भेड़ों की संक्रामक पूयस्फोटिका

(Contagious Ecthyma of Sheep)

(मुखदाह, संक्रामक फुंसीयुक्त त्वचा-शोथ)

परिभाषा—भेडो के बच्चो तथा मेमनो की यह एक उग्र छुतैली बीमारी है जिसे एक वाइरस द्वारा उत्पन्न ओठो की त्वचा पर पडे फफोलो द्वारा पहचाना जाता है। ये फफोले पुटिका के रूप में प्रकट होकर बाद में छाले, पीवयुक्त फुसियो तथा खुरट का रूप धारण करते है। इनके फलस्वरूप ऐक्टीनोमाइसीज नेक्रोफोरस द्वारा गौण सक्रमण भी हुआ करता है। पश्चिमी टेक्सास में बाउटन तथा हार्डी[1] द्वारा वर्णित इस बीमारी का सबसे भयानक प्रकार सूजे हुए होठो का स्क्रूकीट (कोचलिओमिया मैसीलैरिया) के लार्वा से सक्रात होना है। बीमारी के भयकर प्रकोप में मेमने दूध नही पी पाते जिसके परिणामस्वरूप उनकी हालत निरन्तर गिरती चली जाती है। मनुष्यो में भी यह बीमारी हल्केपन में प्रकोप करते देखी गई है।

कारण—यह रोग ससार भर में प्रकोप करता है। अमेरिका में इसे डकोटा से लेकर मैक्सिको तक मिसिस्पी के पश्चिमी भेंड-पालक प्रदेशो में प्रमुखतौर पर होता बताया गया है। किन्तु यह पूरे देश में बहुव्याप्त है तथा न्यूयार्क स्टेट में भी होते देखा गया है। टेक्सास में वसत की ऋतु में यह रोग प्रकट होता है तथा पतझड में ठडे मौसम के प्रारम्भ होते ही मद पड जाता है। न्यूयार्क के एक प्रदेश में मेमनो के होठो तथा भेडो के थनो पर दानो के रूप में यह रोग प्रकट हुआ। न्युसम[2] ने बताया कि कोलोरेडो में कुछ वर्षों से लगभग सभी मेमने इस बीमारी के लक्षण प्रदर्शित करते है तथा जलयान द्वारा यातायात करने के बाद यह रोग शीघ्र ही प्रकट होते देखा जाता है। मेढ़े तथा मेमने प्रमुख रूप से इसका शिकार होते है किन्तु, बडे पशुओ में भी तब तक इसके प्रति प्रतिरक्षा उत्पन्न नही होती जब तक कि वे बीमार नही हो चुके होते है। फिर भी, एक वर्ष से अधिक आयु की भेडा में इसका प्रकोप सदैव ही हल्का होता है।

इस रोग का वाइरस होठ पर बनने वाले खुरट पर निवास करता है तथा शरीर के किसी भी भाग की त्वचा में टीका देने पर विशिष्ट क्षतस्थल उत्पन्न कर सकता है। शरीर के अन्दर त्वचा पर बने क्षतस्थलो तक ही यह वाइरस परिमित रहता है। शरीर के बाहर यह छाला में मौजूद रहकर जाडो भर जीवित रहता है। वाइरस कितने दिनो तक जीवित रह सकता है यह तथ्य अज्ञात है, किन्तु यह काफी शक्तिशाली होता है तथा प्रयोगशाला में इसे पन्द्रह महीनों तक सक्रिय रहते देखा गया है। एक जाति से दूसरी जाति में आमतौर पर इसकी छूत नहीं फैलती तथा छोटे प्रयोगात्मक पशुओ में भी इसका सचारण नही किया जा सकता। जब किसी कटी-फटी त्वचा पर सक्रात खुरट रख दिए जाते हैं तो 48 स 72 घटे में इसके क्षतस्थल प्रकट हो जाते है। इसके अतिरिक्त सक्रमण की कोई अन्य विधि सफल न हो सकी। वाइरस का बहुत बडी सख्या में नहीं पाया जाता है। छाले तथा फुन्सियाँ लगभग एक सप्ताह के समय में ही विकसित हो जाती है।

रोग-ग्रसित मेमने के शरीर से गिरने वाले छाले के पदार्थ के परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष रूप में संपर्क में आने पर पशु में इस बीमारी का प्राकृतिक संक्रमण हो जाता है तथा बिना टूटी त्वचा से भी इसकी छूत फैलती कही जाती है। टीका लगाने पर बहुत ही कम मात्रा में वाइरस शरीर के अन्दर पहुँचता है और यह भी विश्वास किया जाता है कि इसकी छूत पानी द्वारा भी लग सकती है। यूथ के एक बार रोग-ग्रसित होने पर शीघ्र ही इस बीमारी का प्रसार होता है। बीमारी के एक आक्रमण से प्रतिरक्षा उत्पन्न हो जाती है।

लक्षण—रोग का उद्भवन काल चार से सात दिन का होता है। मस्से की भाँति गीले, बादामीपन लिए हुए धूसर रंग के फफोलों से आच्छादित सूजे हुए होंठ इसके प्राथमिक लक्षण हैं। बाद में यह फफोले सुदृढ़ होकर फटते हैं तथा इनको हटाने पर उस स्थान से रक्त बहता है। पश्चिमी-टेक्सास में इसी समय मेमनों के होठों पर मक्खियाँ अपने अण्डे देती हैं। साधारण परिस्थितियों में यह छाले धीरे-धीरे सूखकर खुरंट बनकर गिर जाते हैं तथा उस स्थान पर सामान्य त्वचा दिखाई देने लगती है। रोग के हल्के प्रकार को छोड़कर इन छालों के निकलने का समय लगभग तीन सप्ताह का होता है। पुटिका से छाले, फुंसी तथा खुरंट बनने के परिवर्तन देखने के लिए पशु का सघन अवलोकन करने की आवश्यकता पड़ती है। नथुनों में तथा आँखों के चारो ओर भी दाने निकल सकते हैं। दानों का प्रकट होना वर्णन करने के लिए बाउटन तथा हार्डी[1] लिखते हैं कि "क्षतस्थल के विकास में यह देखा गया है कि छोटे-छोटे छाले प्रायः अकेले ही होते हैं तथा वे परस्पर बहुत ही कम मिलते देखे जाते हैं। वे असंख्य तथा एक दूसरे के निकटतम हो सकते हैं किन्तु, वे तब तक आपस में मिलकर एक बड़ा क्षतस्थल नहीं बनाते जब तक कि छालों से फफोले बनकर तथा फटकर अपना पदार्थ नहीं निकालते।"

ऐक्टिनोमाइसीज़ नेक्रोफोरस के संक्रमण के कारण उत्पन्न होने वाली जटिलताएँ टेक्सास में होती नहीं बताई गई तथा टेक्सास में बाउटन और हार्डी द्वारा किए गए अवलोकनों में वे कभी भी नहीं देखी गई। किन्तु, वायोमिंग तथा कोलोरैडो में नेक्रोफोरस के गौण संक्रमण बार-बार देखे गए तथा अन्य देशों से प्राप्त रिपोर्टें यह प्रदर्शित करती हैं कि ऐसे संक्रमण अपेक्षाकृत अक्सर हुआ करते हैं। मार्श तथा टनीक्लिफ[3] ने 3-4 माह की आयु के मेमनों में इस बीमारी का एक प्रकोप वर्णन किया जिसमें मुहँ की श्लेष्मल झिल्ली पर ऐक्टिनोमाइसीज़ नेक्रोफोरस तथा संक्रामक मुखार्ति वाइरस दोनो की सामूहिक प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप क्षतस्थलों का विकास हुआ था।

रोग के हल्के प्रकोपों में होंठों के किनारों पर ही दाने निकलते देखे जाते हैं। जैसा कि कोलोरैडो में देखा गया है यह बीमारी मेमनों के आने के बाद शीघ्र ही प्रारम्भ होकर दो या तीन सप्ताह में गायब हो जाती है। अच्छे मौसम में होने वाले रोग के साधारण प्रकोपों से न तो पशु मरते हैं और न उनके शरीर भार में ही विशेष कमी होती है।

संदर्भ

1. Boughton, I. B., and Hardy, W. T., Contagious ecthyma (sore mouth) of sheep and goats, J. A. V. M. A., 1934, 85, 150; Immunization of Sheep and Goats Against Sore Mouth (Contagious Ecthyma), Texas, Agr. Sta. Bull. 501, 1935; Bull. 457. 1932.

2 Newsom I E, and Cross, F, Sore mouth in feeder lambs due to a filterable virus, J A V M A, 1934, 84, 233
2 Newsom I E, Sheep Diseases p 110, Williams & Wilkins, 1952
3 Marsh, H, and Tunnicliff, E A., Stomatitis in young lambs involving Actinomyces necrophorus and the virus of contagious ecthyma, J A. V M. A. 1937, 91, 600

जलस्फोटी मुखपाक

(Vesicular Stomatitis)

(विकीर्ण मुखार्ति, कूट खुरपका-मुहँपका रोग)

परिभाषा—अधिकतर घोडो में तथा किसी हद तक गो पशुओ और सुअरो में होने वाला यह एक सक्रामक रोग है। भेडो में इसका प्राकृतिक सक्रमण होते नही देखा गया। जीभ की ऊपरी सतह पर बडे-बडे फफोले होना इसकी पहचान है। इस रोग का वाइरस फिल्टर पत्र से छन जाता है तथा इसकी तीन किस्में वर्णन की गई हैं।

कारण—यूनाइटेड स्टेट्स में फफोलेदार मुखार्ति घोडो तथा गो-पशुओ में कभी-कभी होते देखी जाती है। किन्तु, सन् 1916 तक इसकी ओर लोगो का विशेष ध्यान आकर्षित न हुआ, जबकि मध्य-पश्चिम के घुडसवार शिविरों में हजारो घोडो में इसका प्रकोप हुआ। फिर यह बीमारी अटलांटिक महासागर के किनारे-किनारे फैला तथा फ्रास के लेखको द्वारा इस देश के घोडो में होती वर्णन की गई। गो-पशु भी किसी हद तक इसका शिकार हुए। सन् 1916 में कुछ पशु यातायात काल मे इस रोग से पीडित पाये गए, जहा कुछ लोगो ने इसे खुरपका-मुहँपका रोग समझा। तब से यह बीमारी टक्सास, अलाबामा, इण्डियाना और न्यू जर्सी के गोपशुओ में होती बताई गई।[1] वैसे तो फफोलेदार मुखार्ति को सूकरों का प्राकृतिक रोग नहीं बताया गया, फिर भी, अगस्त सन् 1943[1] में केन्सास नगर के सूकर-कालरा सीरम उपकरण के पशुओ के एक उस समूह में यह बीमारी उत्पन्न हुई जिसे बारह दिन पूर्व अति प्रतिरक्षित किया गया था। पशुओ में टीका देकर इस न्यू जर्सी प्रकार की फफोलेदार मुखार्ति के रूप में पहचाना गया और प्रत्यक्ष रूप से इसे वाइरस का अत शिरा इन्जेक्शन देकर उत्पन्न किया गया। इस बीमारी से कई स्थानीय सक्रमण तथा प्राणघातक रक्त विषाक्तता तक उत्पन्न हुई।

वाइरस—सन् 1926 में ओलिट्स्काई, ट्राम तथा शोनिंग[2] ने बताया कि इस रोग का वाइरस बर्कफेल्ड वी तथा एन फिल्टरो, सीट्ज एस्बस्टस डिस्को तथा एल 3 एव एल 7 नम्बर की चैम्बरलैंड वत्तियो के छिद्रो से होकर निकल जाता है। गिनी पिग, गो-पशुओं तथा सूकरों में कृत्रिम टीका देकर खुरपका-मुहँपका रोग के वाइरस से अलग न पहचाने जा पाने वाले क्षतस्थल उत्पन्न किए जा सकते हैं। फिर भी, गो पशुओ में इसका कोर्स कुछ भिन्न होता है तथा वाइरस का अत शिरा इन्जेक्शन देने पर मुहँ में क्षतस्थल नही उत्पन्न होते, जबकि खुरपका-मुहँपका रोग का वाइरस इसके लिए धनात्मक होता है। मुहँ द्वारा घोडों में इसकी छूत बहुत शीघ्र लगती थी किन्तु वे खुरपका मुहँपका रोग के वाइरस के प्रति बिल्कुल ही सहनशील थे। फफोलेदार मुखार्ति के वाइरस के बारे में ऐसे ही परिणाम

उस समय काटन[3] द्वारा भी रिपोर्ट किए गए। सन् 1927 में काटन[4] ने बताया कि मई सन् 1925 में इण्डियाना में इस महामारी के प्रकोप में जो वाइरस मिला वह अपने प्रकार में सितम्बर सन् 1925 में होने वाले अधिक तेज नए जर्सी प्रकोपों में पाए जाने वाले वाइरस से बिल्कुल भिन्न था। "इस अध्ययन से कुछ लाभकारी जानकारी प्राप्त हुई और यह स्पष्ट हो गया कि इस देश से फफोलेदार मुखार्ति के वाइरस की दो प्रमुख जातियाँ हैं जिनमें से प्रत्येक अपने प्रकोप के प्रति प्रतिरक्षा उत्पन्न करती है परन्तु; इनमें से कोई भी एक दूसरे के प्रति प्रतिरक्षा उत्पन्न नही कर सकती।" सन् 1926 में काटन[4,5] ने यह भी बताया कि बडे पशुओं की अपेक्षाकृत गिनीपिग इस रोग के प्रति ग्रहणशील तथा अधिक सवेदनशील है। अन्य पशुओं में इस वाइरस की रोगोत्पादक शक्ति का वैगनर[6] द्वारा वर्णन किया गया जिन्होने इसे इन्जेक्शन तथा परोक्ष रूप से सपर्क, दोनो विधियों, द्वारा सुअरों में धनात्मक पाया। इन्जेक्शन द्वारा इस रोग को जगली तथा सफेद चूहों में, अनिश्चित रूप से खरगोशों में तथा कुछ बिल्लियों में उत्पन्न किया जा सका। किन्तु, मुर्गियों तथा कबूतरों में यह प्रयोग ऋणात्मक रहा। घोडे तथा गाय में ताजे वाइरस को जीभ की उपरी सतह पर छिले हुए क्षेत्र में रखकर इस रोग को शीघ्र उत्पन्न किया जा सकता है। 36 से 72 घटे में जीभ पर छाले प्रकट हो जाते हैं। इन पशुओं में अतः शिरा इन्जेक्शन धनात्मक, किन्तु अधस्त्वक इन्जेक्शन ऋणात्मक होता है। पिछले पजे की गद्दी को खुरेंच कर उस पर रुई के छोटे फाहे से वाइरस मलने पर गिनीपिग में यह जीवाणु प्रवेश कर जाता है। 30 से 48 घटे में प्राथमिक छाले निकल आते हैं। सयुक्त राज्य पशु-उद्योग-ब्यूरो द्वारा रिपोर्ट किए गए इन्जेक्शन के प्रयोग यह प्रदर्शित करते हैं कि फफोलेदार मुखार्ति के वाइरस के प्रति भेडें ग्रहणशील नही हैं।

मोह्लर[7] के अनुसार रोग का प्राकृतिक सक्रमण परोक्ष सपर्क, अथवा हाल के सक्रमित पानी तथा चारे की नादो, लगामों अथवा बाल्टियो के द्वारा लगता मालूम पड़ता है। पशु-परिचारको द्वारा इसकी छूत नही फैलती तथा पूर्णरूपेण स्वस्थ होने से पूर्व ही रोग-ग्रसित शरीर को यह वाइरस छोड़ सकता है।

लक्षण—इस रोग का उद्भवन काल दो से पाँच दिन का होता है। सुस्ती, थोड़ा बुखार, चारे में अरुचि तथा लार गिराना एव डोरे की भाँति होंठो से लार का टपकना इसके प्रारम्भिक लक्षण हैं। गो-पशु; खुरपका-मुहँपका रोग की भाँति चपचपाहट की आवाज कर सकते हैं। इन हल्के सामान्य लक्षणो के साथ अथवा इनके प्रकट होने के तत्काल बाद मुहँ में विशेष प्रकार के दाने निकल आते हैं। घोडो में सबसे पहले जीभ के ऊपर लाल-लाल चकत्ते से पडते हैं जो शीघ्र ही 1/2 से 2 इच व्यास के छालों से आच्छादित हो जाते है। चौबीस घटे में फफोले फटकर वहाँ लाल दानेदार सतह चमकने लगती है जो फफोले के अवशेष, सफेद धारी से घिरी हुई हो सकती है। कभी-कभी ये छाले आपस में मिलकर पूरी जीभ के ऊपर एक घाव सा बना देते हैं। यदा-कदा ये छाले होठों तथा मसूडों पर भी पाये जाते हैं। क्षतस्थल बहुत ही छिछले होते है तथा एक से दो सप्ताह में घाव भर जाते हैं।

गायों में; हालत में गिरावट होकर उनका दूध उत्पादन कम हो जाता है। जीभ, तालू, होठों तथा मसूडों पर दाने निकल आते है। न्यूजर्सी के अति भीषण प्रकोप में मुहँ

के लक्षणो के अतिरिक्त अनेक गो-पशुओ के थनो तथा पैरो पर भी क्षतस्थल देखे गए। डाक्टर काटन[4] ने इस अवस्था का निम्न प्रकार वर्णन किया "अनेक पशुओं में सबसे पहले थनों पर ही छाले प्रकट हुए और इसके बाद मुहँ में फफोलो का विकास हुआ—अधिकाश गायो के एक या अधिक थनो पर काफी बडी सख्या में बडे-बडे फफोले देखे गए। बहुत से फफोले थन की पूरी लम्बाई में फैल गए और उनमें से कई में थनो की पूरी ही खाल उचड गई—प्राकृतिक सक्रमण से गो-पशुओ के पैरो पर उत्पन्न होने वाले क्षतस्थल खुरों के बीच, ऐंडी तथा सुमशीर्ष पर फफोलो के रूप में थे।" यहाँ वर्णन किए गए पैर के क्षतस्थल खुरपका मुहँपका की भाँति न होकर केवल एक ही पैर तक सीमित होते हैं। गो-पशुओ में, प्रमुख तौर पर प्रौढ पशुओ पर ही इसका आक्रमण होता है। यूथ के 50 प्रतिशत से अधिक पशुओ पर इसका प्रकोप नही होता और यह शीघ्र ही समाप्त हो जाता है। रोग के एक आक्रमण से पशु के शरीर में प्रतिरक्षा उत्पन्न हो जाती है।

सूकरो[8,9] में फफोलेदार मुखार्ति के लक्षण खुरपका-मुहँपका रोग की भाँति ही होते हैं।

विभेदी निदान—खुरपका-मुहँपका रोग की तुलना में यह बीमारी कम भयकर तथा कम सक्रामक है। गो-पशुओ के पैरा तथा अयन पर आमतौर पर इसका आक्रमण नहीं होता। घोडो में यह खासतौर पर प्रकोप करती है तथा कुछ ही दिना में फफोले प्रकट हो जाते है। कई दिनो के पुराने हो जाने के बाद क्षतस्थला से रोग का निदान करना असभव सा हो जाता है, क्योकि वाइरस गायब हो चुका होता है।

चिकित्सा—सूखी घास न खिलाकर पशु को दला हुआ चारा-दाना दीजिए तथा काफी मात्रा में ताजा पानी पिलाइए। क्षतस्थलो पर हल्के जीवाणुनाशक पदार्थ जैसे फिटकरी (3 प्रतिशत) अथवा पोटाशियम परमैंगनेट (2 प्रतिशत) लगाइए। रोगी पशुओं को अलग रखिए तथा पशु बाँधे जाने वाले स्थान की सफाई करके उसे जीवाणु रहित कीजिए।

संदर्भ

1. Report of the Chief of the Bureau of Animal Industry, 1914, p. 20
2. Olitsky, P. K., Traum, J , and Schoening, H W , Comparative studies on vesicular stomatitis and foot-and mouth disease, J A. V M A., 1926, 70, 147
3. Cotton, W. E , The causal agent of vesicular stomatitis proved to be a filter passing virus, J A. V M A., 1926, 70, 168
4. Cotton, W. E , Vesicular Stomatitis, Vet Med., 1927, 22, 169
5. Cotton, W E , Vesicular stomatitis in its relation to the diagnosis of foot-and mouth disease, J. A. V. M A , 1926, 69, 313
6. Wagener, K., Investigation on the pathogenicity of vesicular stomatitis virus, Cornell Veterinarian, 1931, 21, 344
7. Mohler, J R , Vesicular Stomatitis of Horses and Cattle U S Dept. Agr , Dept. Bull., No 662, 1918

8. Schoening, H. W., and Crawford, A. B., Outbreak of vesicular stomatitis in swine and its differential diagnosis from vesicular exanthema and foot-and-mouth disease, U. S. D. A., Cir. 734, 1945.
9. Shahan, M. S., Frank, A. H., and Mott, L. O., Studies of vesicular stomatitis with special reference to a virus of swine origin, J. A. V. M. A., 1946, 108, 5.

सूकरों का फफोलेदार स्फोटाभ
(Vesicular Exanthema of Swine)

सूकरों का फफोलेदार स्फोटाभ एक उग्र अति संक्रामक वाइरस रोग है जिसमें कि फफोलेदार मुखार्ति तथा सुअरों के खुरपका-मुहँपका रोग की भाँति लक्षण प्रकट होते हैं। किन्तु, इन्जेक्शन देने पर यह वाइरस गो-पशुओं तथा गिनी-पिग दोनों को ही ऋणात्मक सिद्ध होता है जबकि खुरपका-मुहँपका रोग तथा फफोलेदार मुखार्ति का वाइरस दोनो को ही घनात्मक होता है। इन्जेक्शन देने पर प्रकट होने वाली विभेदी विशेषताएँ, जो इस बीमारी की अलग पहचान कराती हैं, ट्राम [1,2,3] द्वारा देखी गई जिन्होंने सन् 1934 में यह प्रस्ताव रखा कि इस रोग का नाम फफोलेदार स्फोटाभ रखा जाए। यूनाइटेड स्टेट्स के बाहर इस बीमारी को प्रकोप करते नहीं देखा गया।

कारण—बीमारी को केवल कैलीफोर्निया में ही देखा गया जहाँ यह प्रमुख तौर पर कूड़ा-करकट खाने वाले, कभी-कभी दाना खाने वाले, तथा मांस के लिए वध किए जाने वाले बाहर से मँगाए गए सूकरों में हुआ करती है। इसे सबसे पहले अप्रैल सन् 1932[4] में जाना गया जबकि इसकी खुरपका-मुहँपका रोग की भाँति देख भाल की गई, यद्यपि यह गो पशुओं, भेड़ों तथा बकरियों को रोग-ग्रसित न कर सका। दो वर्ष बाद इसकी वास्तविक प्रकृति का सही बोध हो गया और तब से इसका कंट्रोल प्रदेश द्वारा लागू किए गए अधिनियमों के अनुसार ही परिमित रहा। सन् 1940 से यह रोग लगातार प्रकोप करते देखा गया है। दिसम्बर सन् 1939 से जून 1940 तक प्रदेश के लगभग एक चौथाई सुअर-गृहों को सम्मिलित करके 222,500 सूकरों में इस रोग का प्रकोप हुआ।[5,6,7] यद्यपि कि यह बीमारी अत्यधिक नहीं फैलती और एक बाड़े के कुछ ही सूकरों पर आक्रमण करती है। फिर भी, जब एक बार इसका वाइरस ग्रहणशील पशुओं के शरीर में प्रवेश पा लेता है तो यूथ के अन्य पशुओं में बहुत ही शीघ्र प्रकोप करता है। अनेक उदाहरणों में एक समूह के शत-प्रतिशत पशुओं में इसका प्रकोप देखा जाता है। रोग की प्रारम्भिक उग्र अवस्थाओं में इसका वाइरस पशु के रक्त तथा वध किए गए सूकरों के कूल्हे में पाया जाता है। जूठन में उपस्थित कच्चे मांस के माध्यम से इसकी छूत अधिक लगती समझी जाती है। इसकी तीन अथवा चार प्रतिरक्षित किस्में प्रदर्शित की जा चुकी हैं।

जून सन् 1952[8] में वायोमिंग में चेइने के निकट कैलीफोर्निया से आने वाले रेल-मार्ग से एकत्रित की गई कच्ची जूठन तथा कूड़ा-करकट आदि के खिलाने से फफोलेदार स्फोटाभ का एक भयंकर प्रकोप हुआ। 11 जून को यह ग्रैंड द्वीप, नेब्रास्का में चेइने के जूठन आदि खिलाए गये यूथ से खरीदे गए सूकरों के एक प्रतिरक्षित यूथ में पाया गया। दो माह के

अन्दर अनेक यूथो, नौ सीरम-उपकरणो तथा कई बड़े-बड़े समूहों का अलग रखकर अवलोकन करना पड़ा तथा एक वर्ष में यह रोग लगभग 40 प्रदेशों में पाया गया।

लक्षण—यह एक उग्र ज्वरयुक्त बीमारी है जिसमें खुर की निचली सतह, खुरो के बीच के टिसू तथा खुर के सुमशीर्ष क्षेत्र में मिले-जुले छाले लगातार प्रकट होते रहते हैं। विशेषकर भारी सूकरों में, खुरों में सड़न लग जाने तथा तली और दीवाल के कट जाने के परिणामस्वरूप उग्र लँगड़ाहट देखी जा सकती है। बहुधा थूथन, नाक होठों तथा मुहँ व नाक की श्लेष्मल झिल्लियों और दूध पिलाने वाली सुअरियों के अयन तथा थनो पर भी छाले पड़ जाते हैं। वैसे तो रोग-ग्रसित पशु सामान्य रूप से खाते-पीते रहते हैं किन्तु, क्षतस्थल इतने बढ़े हुए हो सकते हैं कि चारा न खा पा सकने के कारण पशु का शरीर-भार कम हो जाता है। छाले पड़ने के साथ तथा बाद में पशु को बुखार होता है। फटने के पूर्व ये छाले अत्यधिक संवेदनशील होते हैं तथा भारी परिपक्व पशुओं में इसके अधिक उग्र प्रकोप देखे जाते हैं। दूध पीने वाली सुअरियों में नाक की श्लेष्मल झिल्ली में सूजन आकर प्राणघातक श्वास-कष्ट हो जाता है तथा इनमें प्राणघातक गौण आर्त्तात्ति भी होते देखी गई है। थोड़ी अवधि तथा मृत्युदर कम होते हुए भी हालत में गिरावट, अलगाव करने तथा दैनिक दिनचर्या में गड़बड़ी उत्पन्न हो जाने के कारण काफी आर्थिक क्षति होती है। बीमारी के हल्के प्रकोपो में यूथ के कम पशुओं पर ही रोग का आक्रमण होता है। रोग के भीषण प्रकोपों में विकृतता अधिक हो सकती है। 5 प्रतिशत से अधिक पशुओं की मृत्यु नहीं होती तथा विशेषकर दूध पीने वाले बच्चे ही इसका शिकार होते हैं। कुछ प्रकोपों में थूथन के क्षतस्थलो की प्रधानता हो सकती है, जबकि अन्य में पैर के क्षतस्थल अधिक होते हैं। केवल चार दिन की आयु वाले सुअर के बच्चो की थथन पर भी क्षतस्थल देखे गए हैं। कभी-कभी ये क्षतस्थल मुहँ अथवा नाक की श्लेष्मल झिल्ली तक ही सीमित रहते हैं, जिससे फफोलों तथा सूजन के कारण पशु को साँस लेने में कठिनाई होती है तथा दूध पीने वाले बच्चों का दम घुटने लगता है। सूकरो के बच्चो की मृत्यु हो जाने, गर्भपात होने, अलगाव अधिनियम अपनाने, तथा दैनिक कार्यक्रम में गड़बड़ी पड़ने से सुअर-पालक को आर्थिक क्षति होती है। पशुओं में कमजोरी इतनी अधिक हो जाती है कि रोग से ठीक हुए सूकरों को बाजार में बेचने को तैयार करने के लिए लगभग एक माह अधिक खिलाना पड़ता है।

निदान—चूँकि सुअरों में खुरपका-मुहँपका रोग, फफोलेदार मुखार्ति तथा फफोलेदार स्फोटाभ एक ही प्रकार के लक्षण तथा क्षतस्थल उत्पन्न करते हैं, अत इस जाति में फफोलेदार रोग के किसी भी नए प्रकोप में निदान को विशेष महत्व दिया जाता है। ऐसे रोगियों में निश्चित निदान के लिए ग्रहणशील पशुओं में टीका देने की आवश्यकता पड़ती है। परीक्षण हेतु गो-पशु सुअर, गिनी-पिग तथा घोड़ों का प्रयोग किया जाता है। चूँकि वाइरस शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, अत इन्जेक्शन के लिए केवल बिना फटे अथवा हाल के फटे हुए फफोलो का लिम्फ तथा आच्छादन ही प्रयोग किया जाता है। गो पशुओं में अंत त्वचा पिचकारी द्वारा मुहँ की किसी भी श्लेष्मल झिल्ली में इस पदार्थ का टीका दिया जाता है अथवा खुरचे हुए क्षेत्र में वाइरस का लेप कर दिया जाता है। अन्य पशुओं में शिरा अथवा मांस-पेशी में यह टीका लगाया जाता है। गो-पशुओं में ऐसे टीके खुरपका-मुहँपका रोग में

धनात्मक किन्तु, फफोलेदार मुखार्ति में ऋणात्मक सिद्ध होते हैं। फफोलेदार स्फोटाभ के लिए गो-पशु ऋणात्मक होते हैं। सुअरों में अंतः शिरा, अंतः मांसपेशी या अंतः त्वचा इन्जेक्शन देने अथवा थूथन, मुहँ या पैरों की खुरची हुई सतह पर वाइरस का लेप करने से शीघ्र ही फफोलेदार स्फोटाभ विकसित हो जाता है। घोड़ों में, जीभ की ऊपरी सतह पर फफोलेदार स्फोटाभ के वाइरस का टीका देने पर लगभग 50 प्रतिशत पशुओं में हल्के क्षतस्थल प्रकट होते हैं। इन्जेक्शन दिए गए स्थान से एपीथीलियम को उठाया जा सकना इसकी प्रतिक्रिया है। उठाए हुए एपीथीलियम के नीचे बहुत ही थोड़ी मात्रा में द्रव भरा मिलता है। घोड़े की फफोलेदार मुखार्ति में, 36 से 72 घंटे में जीभ पर टीका लगाने के स्थान पर उठा हुआ एपीथीलियम मिलता है जो शीघ्र ही स्वच्छ, भूसा के रंग जैसे द्रव से भर जाता है। यह क्षेत्र परस्पर मिलकर एक बड़ा फफोला बनाते हैं जिसमें 5 से 10 घ0सें0 द्रव भरा रहता है। अगले 24 घंटों में फफोले फूट कर उस स्थान पर गहरे, लाल घाव बन जाते हैं जो धीरे-धीरे भरते हैं।

निम्नलिखित तालिका विभिन्न प्रजातियों में वाइरस के टीका के प्रति प्रतिक्रिया प्रदर्शित करती है :

	फफोलेदार स्फोटाभ	जलस्फोटी मुखपाक	खुरपका-मुहँपका रोग
सुअर	+	+	+
घोड़ा	±	+	−
गो-पशु	—	+	+
गिनीपिग	—	+	+
भेंड़	—	—	+

कंट्रोल—चूंकि इस बीमारी के प्रकोप से सन् 1952-53 में भारी क्षति होते देखी गई है और इस बात का ज्ञान होने के बाद कि ओझड़ी को पकाकर खिलाने से इसे रोका जा सकता है, अधिकांश प्रदेशों में ऐसे अधिनियम बना दिए गए हैं जो कच्ची ओझड़ी तथा जूठन आदि को खिलाने से मना करते हैं।

संदर्भ

1. Traum, J., Foot-and-mouth disease: specific treatment eradication, and differential diagnosis, Twelfth International Veterinary Congress, 1934, 2, 87.
2. Traum, J., Vesicular exanthema of swine, J. A. V. M. A., 1936, 88, 316.
3. Traum, J. and Schoening, H. W., Vesicular Exanthema in swine, J. A. V. M. A., 1915, 106, 30.
4. Mohler, J. R., and Snyder, R., The 1932 Outbreak of Foot-and-Mouth Disease in Southern California, U. S. Dept. Agr., Miscell. Pub. No. 163, 1933.
5. Duckworth, C. U., and White, B., B., Twleve years of vesicular exanthema, Proc., U. S. Live Stock Sanitary Assoc., Dec. 1943, p. 79.

6. Hurt, L. M., An Rep. Los Angeles Live Stock Dept., 1940-41, p. 28 ; 1942-43, p. 23.
7. Report of the Chief of the B. A. I., 1944, p. 21.
8. Vesicular exanthema declared a national emergency, J. A. V. M. A., 1952, 221, 169.

खुरपका-मुहँपका रोग

(Foot and Mouth Disease)

(पशुपदिक एप्था; एप्थस ज्वर)

परिभाषा—सभी खुरीदार पशुओं और विशेषकर गो-पशुओं, सूकरों तथा भेड़-बकरियों में होने वाली यह एक उग्र अति सक्रामक बीमारी है जिसमें मुहँ तथा पैरों में छालेदार घाव बन जाते हैं। घोड़ों को यह रोग नहीं होता। यह रोग एक अति सूक्ष्म-दर्शीय वाइरस के द्वारा होता है।

कारण—वितरण : यह बीमारी यूरुप, एशिया, जापान, फिलिपाइस, अफ्रीका एवं दक्षिणी तथा केन्द्रीय अमेरिका में लगातार होते देखी गई है। न्यूजीलैंड अथवा आस्ट्रेलिया में इसे होते नहीं बताया गया। सभी सावधानियों के बाद भी ग्रेट-ब्रिटेन में इस रोग का अक्सर प्रकोप होता है। यूनाइटेड स्टेट्स में इसके नौ प्रकोप वर्णन किए गए हैं : 1870, 1880, 1884, 1902, 1908, 1914, 1924 (2), 1929। सन् 1946 से 1952 तक यह बीमारी मैक्सिकों में तथा 1952-53 में कनाडा में प्रकोप करती देखी गई। सन् 1959 में पुनः इसका मैक्सिको में प्रकोप हुआ। जिन देशों में स्थायी रूप से इसका सक्रमण रहता है वहाँ के लगभग सभी ग्रहणशील पशुओं को इसकी छूत लगती है। प्रत्येक यूरोपीय महायुद्ध के बाद इस बीमारी की छूत फैली। पशु-प्लेगों में खुरपका-मुहँपका रोग सबसे अधिक सक्रामक है तथा सपर्क में आने वाले सभी पशु बहुधा इसका शिकार होते हैं। इस महामारी के प्रकोप पर आयु, नस्ल, जलवायु अथवा मौसम का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। हाँ इतना अवश्य होता है कि इन प्रभावों से पशुओं का आवागमन कुछ कम हो जाता है।

उग्रता में विभिन्नता—निस्यंदी वाइरस द्वारा होने वाली अन्य बीमारियों की भाँति खुरपका-मुहँपका रोग भी अपने वेग में काफी भिन्न होता है। डाक्टर ला[4] (Law) ने अनेक उग्र प्रकोपों की चर्चा करते हुए कहा कि वे कभी-कभी होते हैं। सन् 1918 में इसका एक दुर्दम्य प्रकार इटली से यूरुप में फैला जिससे कुछ यूथों में 50 प्रतिशत तक पशुओं की मृत्यु हो गई। यूनाइटेड स्टेट्स में जहाँ कि अधिकाश पशु ग्रहणशील हैं यह बीमारी अपेक्षाकृत अधिक तेजी से फैलती है। सुअरों तथा भेड़ों में प्रायः इसका हल्का प्रकोप हुआ करता है।

प्रतिरक्षा—'खुरपका-मुहँपका रोग आयोग' के सदस्यों की रिपोर्ट के अनुसार[5], "यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि नियम के अनुसार प्रायः सभी पशु इस बीमारी के प्रति कम से कम तीन माह के लिए पूर्णरूपेण प्रतिरक्षित होते हैं; अधिकाश पशुओं में

स्थानीय सहनशक्ति सात माह बाद नष्ट हो जाती है किन्तु, इनमें शारीरिक प्रतिरक्षा मौजूद रहती है। सक्रमण के अठारह माह बाद प्रयोगात्मक रूप से लगभग सभी पशुओं में स्थानीय सहनशक्ति नही रहती तथा कुछ सख्या में सामान्य प्रतिरक्षा भी नही होती।"

वाइरस—प्रारम्भ में बुखार के समय यह वाइरस रोगी पशु के दूध तथा रक्त में बहुतायत से पाया जाता है और इसके बाद यह छालो में मौजूद रहता है। एक फफोले का ताजा द्रव लेकर यदि किसी स्वस्थ गो-पशु के मुहँ की छिली हुई श्लेष्मल झिल्ली के सपर्क में लाया जाए अथवा रक्तप्रवाह में टीका दिया जाए तो उसे यह बीमारी हो जाती है। **वाल्डमैन, ट्राटवीन** तथा **पाइल**[6] ने बताया कि इन्जेक्शन देने के 246 दिन बाद तक इस रोग का वाइरस रक्त द्वारा ले जाया जाकर मूत्र के साथ बाहर निकलता है। इस प्रकार उन्होंने खुरपका-मुहँपका रोग के वाहकों की उपस्थिति सिद्ध की। मोह्लर ने बताया कि "एक उदाहरण में इस रोग का वाइरस कैलीफोर्निया के क्षेत्र में 345 दिनों तक जीवित रहा।" पास्चुरीकरण द्वारा यह नष्ट हो जाता है, किन्तु ठड को यह सहन कर लेता है। चूहो तथा खरगोशों को भी इसका इन्जेक्शन दिया जा सकता है, किन्तु लगातार नहीं। कृत्रिम इन्जेक्शन के प्रति घोड़े बिल्कुल ही ऋणात्मक होते हैं। गिनीपिग अत्यधिक ग्रहणशील है। इनको पजे के नीचे पिछले पैर की गद्दी में अतः त्वचा इन्जेक्शन दिया जाता है। वाइरस का इन्जेक्शन देने के बाद 24 घंटे में टीका देने के स्थान पर तथा 2 से 3 दिन में मुहँ में इसके क्षतस्थल प्रकट हो जाते हैं, तथा 24 से 48 घटे में शरीर का रक्त दूषित हो जाता है। हेके[7] ने खुरपका-मुहँपका रोग के वाइरस को सफलता पूर्वक उगाया। इस वाइरस के कम से कम तीन प्रकार है: ए, ओ तथा सी और एक का सक्रमण दूसरे के प्रति प्रतिरक्षा उत्पन्न नही करता। मैक्सिकन वाइरस की प्रजातियों को "ए" प्रकार कहा गया तथा एक प्रजाति "ओ" प्रकार की पाई गई। बीमारी के क्षतस्थल प्रकट होने के पूर्व ये वाइरस रक्त तथा लार में छुपे रहते हैं। ट्राम ने बताया कि फफोले के द्रव तथा फटे अथवा बिना फटे छालों के आच्छादन में वाइरस की प्रतिक्रिया जल्दी-जल्दी कम होने लगती है। क्षतस्थलों के प्रकट होने के 6 दिन बाद इसकी उपस्थिति प्रदर्शित न की जा सकी। सही निदान के लिए केवल ताजे फफोलों से, जो दो दिन से अधिक पुराने न हों, प्राप्त पदार्थ ही प्रयोग करना चाहिए।

फफोले से परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष सपर्क द्वारा यह वाइरस बहुत ही तेजी से फैलता है। सन् 1924 में मेयर द्वीप के नौ सेना क्षेत्र (Mare Island Navy yard) से प्राप्त गदे खाद्य के खाने से इस रोग का एक प्रकोप सूकरों में देखा गया। संभवतः यह खाद्य-पदार्थ ओरियट से खरीदे जाने वाले माल से सदूषित हुआ था। सन् 1914 की महामारी के प्रकोप के अध्ययन से यह पता चला कि "इसका सक्रमण दक्षिणी अमरीका से नाइल्स (Niles) तथा मिशिगन लाए गए पशुओं में प्रवेश पाया जिससे थोड़े समय बाद सूकरों के यूथ में इस बीमारी का विकास हुआ और ये बीमार पाये जाने वाले पहले पशु थे" (मोह्लर)[1]। सन् 1914 की महामारी के प्रकोप में सक्रमण के निम्नलिखित स्रोत बताए गए। सक्रामक पशुशाला, पशुशाला के पशु अथवा स्थानीय विक्रेताओं के यूथ, निकट के यूथों का चरागाहों पर सपर्क, प्रजनन, रेल, कार, डेरी का सदूषित दूध, सूकर-खाद्यरा

वाइरस तथा सीरम, दर्शक के रूप में मनुष्य, परिचारक, पशु-चिकित्सक, निरीक्षक, खरीदार कुत्ता, मुर्गी, चिड़िया, जनमार्ग, संदूषित झरने तथा पीने का पानी, जूठन तथा अज्ञात कारण। वेगनर[8] का कहना है कि "इंगलैंड में जंगली चूहे खुरपका-मुंहपका रोग के प्रति ग्रहणशील पाए गए जिससे इस बारे में कोई संदेह न रह गया कि इसके फैलाने में चूहों का भी हाथ होता है।" डाक्टर ला[4] ने बताया कि सन् 1902 में जापानी लेबिल युक्त गो-मसूरी वैक्सीन का टीका देकर बछड़ों में इस बीमारी को प्रयोगात्मक रूप से उत्पन्न किया गया। सन् 1908 में संदूषित गो-शीतला वैक्सीन में इसका पता लगाया गया (मोह्लर)[9]। ऐसा विचार किया गया कि सन् 1925 में टेक्सास[20] में यह बीमारी नाविकों द्वारा लाई गई। वध किए गए पशुओं में शव की अकड़न शुरू होने पर मांस-पेशियों में उपस्थित सभी वाइरस नष्ट हो जाते हैं, किन्तु लिम्फ ग्रंथियों, अन्तरांग तथा रक्त में ये अपनी क्रियाशीलता को प्रशीतन के बाद भी बनाए रखते हैं।

विकृत शरीर रचना—मुंह, पैरों तथा अयन में स्थानीय क्षतस्थलों के अतिरिक्त ऊपरी श्वासनली में रक्त संकुलन तथा अधिहृत् स्तर (एपीकार्डियम) में रक्तस्राव पाया जाता है। ड्यूओडीनम की श्लेष्मल झिल्ली में भी बुंदकीदार रक्तस्राव मौजूद हो सकता है। पैरों में सुमशीर्ष के स्थान पर प्रायः गौण संक्रमण मिलता है। रक्तपूतित क्षतस्थल शीघ्र प्राणघातक प्रकारों की पहचान हैं। रोग के दुर्दम्य प्रकार में, तथा विशेषकर युवा पशुओं में जहाँ सबसे अधिक मृत्युदर होती है, हृदय की मांस पेशियों का अपकर्षण मिल सकता है।

लक्षण—रोग का उद्भवन काल अठारह घंटे से लेकर तीन सप्ताह तक का हो सकता है। वाइरस जब टिसुओं में घुसने से पूर्व शरीर पर मौजूद रहता है तो इसका उद्भवन काल अधिक लम्बा होता है। अधिकांश पशुओं में, स्थानीय लक्षणों का आभास होने से कुछ घंटे पूर्व पशु का तापक्रम 2 से 3 डिग्री फारेनहाइट अधिक हो जाता है। प्रारम्भ में मुंह के लक्षण उग्र पीड़ायुक्त मुखार्ति की भांति निम्न प्रकार के होते हैं: चारे में अरुचि, अत्यधिक लार बहना, जीभ चपचपाना, दांत पीसना तथा मुंह की श्लेष्मल झिल्ली का लाल हो जाना। विशिष्ट क्षतस्थल दूसरे दिन दिखाई पड़ते हैं। मुंह में छाले तथा दाने पाए जाते हैं। छोटे-छोटे फफोले पतली दीवाल वाले होते हैं तथा यह होठों, गालों एवं ऊपरी जबड़े की दंत-गद्दी (dental pad) की श्लेष्मल झिल्ली पर प्रकट होते हैं। 1 से 2 इंच व्यास के, बड़े फफोले मोटी दीवाल वाले होकर जीभ की ऊपरी सतह पर प्रकट होते हैं। ये शीघ्र ही, प्रायः उसी दिन, फटकर कटे-फटे किनारेदार लाल तथा दर्दयुक्त घाव बन जाते हैं। अब मुखार्ति और भी भीषण रूप धारण कर लेती है जिससे पशु कुछ भी नहीं खा पाता। लार की मात्रा अधिक बढ़कर बद होठों से टपकने लगती है। कटे-फटे किनारेदार घाव लगभग एक सप्ताह में भर जाते हैं तथा साधारण रोगी दस से बीस दिन में बिल्कुल ठीक हो जाते हैं। पैरों पर मुंह के साथ ही अथवा बाद में छाले पड़ते हैं।

चित्र—86. खुरपका-मुंहपका रोग से पीड़ित पशु में खुर के क्षतस्थल।

लँगडाना, अत्यधिक दर्द होना, गरमी, ललाई तथा सुमशीर्ष के वल्वो पर सूजन होना इसके प्रारम्भिक लक्षण है। एक या दो दिन में दोनो खुरी के बीच, विशेषकर अगले किनारे पर छाले प्रकट हो जाते है। भीतरी अगो पर कुप्रभाव डालने वाले गौण सक्रमणो के कारण घाव भरने में देर हो सकती है। पशु लगातार झुका सा रहता है। मादा पशुओ में छाले पडने के बाद अयन पर दाने निकल आते है। छाले अधिकतर थनो तक ही सीमित रहते है तथा दूध दुहने पर फट जाते है। अयन प्राय सूजा हुआ रहता है। थननली में भी सक्रमण पहुँचकर दूध दूषित हो सकता है। एक के बाद एक करके यूथ के सभी पशु रोग-ग्रसित होते है तथा मुहँ के सभी छाले एक ही साथ प्रकट होते है। दर्द होने तथा कुछ खा न पा सकने के कारण रोग-ग्रसित पशु शीघ्र ही दुबला हो जाता है।

सूकरों में; पैरो के क्षतस्थल काफी उग्र होते है, यद्यपि कि थूथन पर भी छाले पड सकते है। रोग का आक्रमण ढोरो की अपेक्षा कुछ हल्का होता है तथा परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाली लँगडाहट शीघ्र ही ठीक हो जाती है। पैरो के क्षतस्थल सर्वप्रथम खुर की निचली सतह में वल्व के अगले भाग में प्रकट होते है।

चित्र—87 खुरपका-मुहँपका रोग से पीडित पशु के मुहँ में पडे हुए छाले।

विभेदी-निदान—फफोलेदार मुखार्ति, खुरपका-मुहँपका रोग से काफी मिलती-जुलती है। यूनाइटेड स्टेट्स में फफोलेदार मुखार्ति स्थानिकमारी के रूप में बहुत ही कम प्रकोप करती है। यह घोडा, गो-पशुओ तथा सुअरा में हुआ करती है। सन् 1917 में मध्य-पश्चिम में फफोलेदार मुखार्ति का एक भीषण प्रकोप हुआ जिसमें अधिकतर सवारी वाले घोडे तथा किसी हद तक गो-पशु बीमार हुए। इसी समय बाहर से लाए गए गो-पशु एक प्रकार की मुखार्ति से रोग-ग्रसित पाए गए जा खुरपका-मुहँपका की भाँति न होकर उससे

वाइरस तथा सीरम, दर्शक के रूप में मनुष्य, परिचारक, पशु-चिकित्सक, निरीक्षक, खरीदार, कुत्ता, मुर्गी, चिड़िया, जनमार्ग, सदूषित झरने तथा पीने का पानी, जूठन तथा अज्ञात कारण। वेगनर[8] का कहना है कि "इंग्लैंड में जंगली चूहे खुरपका-मुंहपका रोग के प्रति ग्रहणशील पाए गए जिससे इस बारे में कोई संदेह न रह गया कि इसके फैलाने में चूहों का भी हाथ होता है।" डाक्टर ला[4] ने बताया कि सन् 1902 में जापानी लैविल युक्त गो-मसूरी वैक्सीन का टीका देकर बछड़ों में इस बीमारी को प्रयोगात्मक रूप से उत्पन्न किया गया। सन् 1908 में सदूषित गो-शीतला वैक्सीन में इसका पता लगाया गया (मोह्लर)[9]। ऐसा विचार किया गया कि सन् 1925 में टेक्सास[10] में यह बीमारी नाविकों द्वारा लाई गई। वध किए गए पशुओं में शव की अकड़न शुरू होने पर मांस-पेशियों में उपस्थित सभी वाइरस नष्ट हो जाते हैं, किन्तु लिम्फ ग्रंथियों, अन्तरांग तथा रक्त में ये अपनी क्रियाशीलता को प्रशीतन के बाद भी बनाए रखते हैं।

विकृत शरीर रचना—मुंह, पैरों तथा अयन में स्थानीय क्षतस्थलों के अतिरिक्त ऊपरी श्वासनली में रक्त संकुलन तथा अधिहृद् स्तर (एपीकार्डियम) में रक्तस्राव पाया जाता है। ड्यूओडीनम की श्लेष्मल झिल्ली में भी बुंदकीदार रक्तस्राव मौजूद हो सकता है। पैरों में सुमशीर्ष के स्थान पर प्रायः गौण संक्रमण मिलता है। रक्तपूतित क्षतस्थल शीघ्र प्राणघातक प्रकारों की पहचान हैं। रोग के दुर्दम्य प्रकार में, तथा विशेषकर युवा पशुओं में जहाँ सबसे अधिक मृत्युदर होती है, हृदय की मांस पेशियों का अपकर्षण मिल सकता है।

लक्षण—रोग का उद्भवन काल अठारह घंटे से लेकर तीन सप्ताह तक का हो सकता है। वाइरस जब ऊतकों में घुसने से पूर्व शरीर पर मौजूद रहता है तो इसका उद्भवन काल अधिक लम्बा होता है। अधिकांश पशुओं में, स्थानीय लक्षणों का आभास होने से कुछ घंटे पूर्व पशु का तापक्रम 2 से 3 डिग्री फारेनहाइट अधिक हो जाता है। प्रारम्भ में मुंह के लक्षण उग्र पीड़ायुक्त मुखार्ति की भांति निम्न प्रकार के होते हैं: चारे में अरुचि, अत्यधिक लार बहना, जीभ चपचपाना, दाँत पीसना तथा मुंह की श्लेष्मल झिल्ली का लाल हो जाना। विशिष्ट क्षतस्थल दूसरे दिन दिखाई पड़ते हैं। मुंह में छाले तथा दाने पाए जाते हैं। छोटे-छोटे फफोले पतली दीवाल वाले होते हैं तथा यह होठों, गालों एवं ऊपरी जबड़े की दंत-गद्दी (dental pad) की श्लेष्मल झिल्ली पर प्रकट होते हैं। 1 से 2 इंच व्यास के, बड़े फफोले मोटी दीवाल वाले होकर जीभ की ऊपरी सतह पर प्रकट होते हैं। ये शीघ्र ही, प्रायः उसी दिन, फटकर कटे-फटे किनारेदार लाल तथा दर्दयुक्त घाव बन जाते हैं। अब मुखार्ति और भी भीषण रूप धारण कर लेती है जिससे पशु कुछ भी नहीं खा पाता। लार की मात्रा अधिक बढ़कर वह होठों से टपकने लगती है। कटे-फटे किनारेदार घाव लगभग एक सप्ताह में भर जाते हैं तथा साधारण रोगी दस से बीस दिन में बिल्कुल ठीक हो जाते हैं। पैरों पर मुंह के साथ ही अथवा बाद में छाले पड़ते हैं।

चित्र—86. खुरपका-मुंहपका रोग से पीड़ित पशु में खुर के क्षतस्थल।

लँगड़ाना, अत्यधिक दर्द होना, गरमी, ललाई तथा सुमशीर्ष के बल्बों पर सूजन होना इसके प्रारम्भिक लक्षण हैं। एक या दो दिन में दोनों खुरों के बीच, विशेषकर अगले किनारे पर छाले प्रकट हो जाते हैं। भीतरी अंगों पर कुप्रभाव डालने वाले गौण संक्रमणों के कारण घाव भरने में देर हो सकती है। पशु लगातार झुका सा रहता है। मादा पशुओं में छाले पड़ने के बाद अयन पर दाने निकल आते हैं। छाले अधिकतर थनों तक ही सीमित रहते हैं तथा दूध दुहने पर फट जाते हैं। अयन प्रायः सूजा हुआ रहता है। थननली में भी संक्रमण पहुँचकर दूध दूषित हो सकता है। एक के बाद एक करके यूथ के सभी पशु रोग-ग्रसित होते हैं तथा मुहँ के सभी छाले एक ही साथ प्रकट होते हैं। दर्द होने तथा कुछ खा न पा सकने के कारण रोग-ग्रसित पशु शीघ्र ही दुबला हो जाता है।

सूकरों में, पैरों के क्षतस्थल काफी उग्र होते हैं, यद्यपि कि थूथन पर भी छाले पड़ सकते हैं। रोग का आक्रमण ढोरों की अपेक्षा कुछ हल्का होता है तथा परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाली लँगड़ाहट शीघ्र ही ठीक हो जाती है। पैरों के क्षतस्थल सर्वप्रथम खुर की निचली सतह में बल्ब के अगले भाग में प्रकट होते हैं।

चित्र—87 खुरपका-मुहँपका रोग से पीड़ित पशु के मुहँ में पड़े हुए छाले।

विभेदी-निदान—फफोलेदार मुखार्ति, खुरपका-मुहँपका रोग से काफी मिलती-जुलती है। यूनाइटेड स्टेट्स में फफोलेदार मुखार्ति महामारी के रूप में बहुत ही कम प्रकोप करती है। यह घोड़ा, गाय-बैल तथा सुअरों में हुआ करती है। सन् 1917 में मध्य-पश्चिम में फफोलेदार मुखार्ति का एक भीषण प्रकोप हुआ जिसमें अधिकतर सवारी वाले घोड़े तथा किसी हद तक गाय-बैल बीमार हुए। इसी समय बाहर से लाए गए गाय-बैलों में एक प्रकार की मुखार्ति व रोग-प्रतिरोध पाए गए जो खुरपका-मुहँपका की भाँति न होकर उनसे

काफी मिलती-जुलती थी। सन् 1917 के बाद कभी-कभी ऐसी कई दुघटनाएँ हाती बताई गईं। खुरपका-मुहँपका रोग तथा फफोलेदार मुखार्ति के बीच विभेदी-निदान करने के बारे में ओलिट्स्काइ और उनके साथियो[5] ने लिखा कि, 'सदेहयुक्त रोगियों में और विशेषकर महामारी के प्रकोप के प्रारम्भ में, जब निदान करना कठिन हो तो ग्रहणशील पशु में टीका लगाकर जाँच करनी चाहिए। ऐसा देखा गया है कि खुरपका-मुहँपका रोग तथा फफोलेदार मुखार्ति का वाइरस रोग-ग्रसित पशु के शरीर में बहुत ही शीघ्र मर जाता है, अत परीक्षण करने वाले पदार्थ की उग्रता जानने के लिए केवल लिम्फ अथवा ताजे फफोला का सुरट ही प्रयोग करना चाहिए। इसको एक जीवाणुरहित सरल एव मूसली की सहायता से नार्मल

चित्र—88 खुरपका-मुहँपका रोग से पीडित गो-पशु के लक्षण।

सलाइन घोल में मिलाना चाहिए। एक या अधिक ग्रहणशील गो-पशु को अत त्वचा विधि से मसूडे के ऊपर दंत पिचकारी द्वारा इन्जेक्शन देना चाहिए अथवा खरोच कर यह द्रव उस पर मल देना चाहिए। लेखक के अनुभव के अनुसार इस बाद वाले ढग के द्वारा फफोलेदार मुखार्ति में गो-पशुओ में क्षतस्थल नही उत्पन्न हुए जबकि खुरपका मुहँपका रोग के वाइरस के द्वारा यह शीघ्र ही उत्पन्न होते देखे गए। एक या अधिक घोडो में सदेहयुक्त पदार्थ को जीभ

की ऊपरी सतह पर खुरचकर लगा देना चाहिए। फफोलेदार मुखार्ति के लिए घोड़े अत्यधिक ग्रहणशील होते हैं, किन्तु खुरपका-मुहँपका रोग इनमें नही होता। इसी आधार पर घोड़ों में खुरपका-मुहँपका रोग तथा फफोलेदार मुखार्ति के बीच विभेदी-निदान किया जाता है।" परीक्षण हेतु पशुओं का चुनाव करते समय प्राकृतिक रूप से प्रतिरक्षित पशुओं का प्राप्त करना आवश्यक है। ऐसा देखा गया है कि 12 से 24 घंटे के अन्दर खुरपका-मुहँपका रोग के सभी छाले एक साथ निकल आते है जबकि फफोलेदार मुखार्ति के छाले धीरे-धीरे लगभग एक सप्ताह से भी अधिक समय लेते हैं। यह विभिन्नता भी कुछ महत्व की है, किन्तु यह पूर्णरूपेण विश्वसनीय नही है।

मैक्सिको में खुरपका-मुहँपका रोग के एक हाल के प्रकोप में मैदानी वाइरस की प्रजातियों का अलग-अलग अध्ययन करके दोनो बीमारियों में विभेदी-निदान करने के हेतु एक सहज तरीका निकाला गया[10]।

सुअरों में फफोलेदार स्फोटाभ भी खुरपका-मुहँपका रोग की भाँति ही लक्षण तथा क्षतस्थल उत्पन्न करता है। कैलीफोर्निया में जहाँ यह सन् 1952 तक परिमित रहा कुछ दिनों तक इसे खुरपका-मुहँपका रोग ही निदान किया गया जिसके लिए रोगी पशु के मालिकों को क्षति की पूर्ति भी दी गई। इस प्रकार की किसी भी बीमारी के प्रकोप को प्रादेशिक अधिकारियों को सूचित करना चाहिए। महामारी के प्रारम्भ में खुरपका-मुहँपका रोग का अधिकारक निदान कई बार गलत रहा।

सुअरों तथा भेड़ों में लँगडाहट की भलीभाँति जाँच करनी चाहिए। इन पशुओं मे खुरपका-मुहँपका रोग में पैर प्रमुख तौर पर रोग-ग्रसित होते हैं। लक्षण कुछ हल्केपन में विद्यमान रहते है तथा बीमारी अनपहचाने ही शीघ्र समाप्त हो सकती हैं।

मुखार्ति यूथ के कुछ ही प्रौढ़ पशुओं को होती हैं, तथा बिना फफोलेदार मुखार्ति की अन्य प्रकारों की भाँति, यह खुरपका-मुहँपका रोग से बहुत ही कम मिलती-जुलती प्रतीत होती हैं।

फलानुमान—जिन देशों में स्थायी रूप से यह बीमारी प्रकोप करती है वहाँ इससे भारी क्षति हुआ करती है। यह क्षति उत्पादन में कमी, अपूर्ण स्वस्थता तथा अलगाव की कठिनाइयो के कारण अधिक होती है। पशुओं की प्रायः मृत्यु भी हो जाया करती है तथा बीमारी की दुर्दम्य प्रकार में मृत्यु दर 50 प्रतिशत तक हो सकती है।

कंट्रोल—यूनाइटेड स्टेट्स में इस महामारी के प्रकोप के समय रोकथाम के उपाय राष्ट्रीय पशु-उद्योग-ब्यूरो द्वारा ही अपनाए जाते हैं। अलगाव के कठोर नियमों के अन्तर्गत वध तथा सफाई की रीति द्वारा इस बीमारी का उन्मूलन किया जाता है। यूरुप में इस बीमारी को कंट्रोल करने के लिए बनाए गए अधिनियमों का वर्णन तकनीकी पत्रिका 76 में किया गया है। मैक्सिको में 1946-52 के प्रकोप में टीका लगाना काफी लाभदायक बताया गया।

सन् 1938 में वाल्डमैन और कोब[11] ने खुरपका-मुहँपका रोग के प्रति सक्रिय प्रतिरक्षण की विधि की खोज की घोषणा की। इसमें प्रयोग होने वाला वैक्सीन निम्नलिखित

आवश्यकताओ की पूर्ति करता बताया जाता है 1, गो-पशुओ में खुरपका मुहँपका रोग उत्पन्न करने की अयोग्यता, 2, थोडी स्थानीय तथा सामान्य प्रतिक्रिया उत्पन्न करना, तथा 3, प्रतिरक्षा उत्पन्न कर देना। टीका देने के बाद चौथे या पाँचवें दिन प्रतिरक्षा उत्पन्न होने लगती है और मौजूदा अवलोकना के अनुसार यह कम से कम चार पाँच माह तक रहती है। जहाँ रोग-ग्रसित पशुओ का वध करना आर्थिक दृष्टिकोण से सभव नही होता उन देशो में इस बीमारी के नियत्रण हेतु टीका लगाने की विधि अपनाई जाती है।

सदर्भ

1 Mohler J R, Foot-and Mouth Disease, with Special Reference to the Outbreak of 1914, U S Dept Agr, Dept Cir 325, 1924

2a Mohler, J R Foot-and Mouth Disease with Special Reference to the Outbreaks in California, 1924, and Texas, 1924, and 1925, U S Dept Agr, Dept Cir 400, 1926

2b Mohler, J R, and Snyder, R, The 1929 Outbreak of Foot-and Mouth Disease in Southern California, U S Dept Agr, Miscell Pub No 68, 1930

3 Mohler, J R, Foot-and Mouth Disease, U S Dept Agr, Farmer's Bull 666, 1938 Revised, 1952

4 Law, J, History of foot and mouth disease, Cornell Veterinarian, 1915, 4, 224

5 Olitsky, P K, Traum, J, and Schoening, H W, Report of the Foot-and Mouth Disease Commission of the United States Dept of Agriculture, U S Dept Agr, Tech Bull 76, 1928

6 Waldmann, O, Trautwein, K, and Pyl G, Die Persistenz des Maul und Klauenseuchevirus im Korper durchgeseuchter Tiere and seine Ausscheidung Zentralbl f Bakteriol I Orig 1931, 121, 19

7 Hecke F, Zuchtungsversuche des Maul und Klauenseuchevirus im Gewebskulturen, Zentralbl f Bakteriol, I Orig, 1930, 116, 386

8 Wagener K, Foot-and Mouth disease and vesicular stomatis, J A V M A., 1932, 80, 39

9 Mohler, J R, and Rosenau, M J, The Origin of the Recent Outbreak of Foot-and Mouth Disease in the United States, U S Dept Agr, B A. I Cir 147, 1909

10 Report of the Chief of the Bureau of Animal Industry U S D A, 1949, p 37

11 Waldmann, O, and Kobe, K, Die aktive Immunisierung des Rindes gegen Maul und Klauenseuche, Berl tier Wchnschr 1939, No 22, p, 319, June 3, abs Vet Bull 1939, 9, 17

11 Waldmann, O, Riemser Maul und Klauenseuche (M K. S) Vakzine, Deutsche tier Wchnschr, 1938, 46, 569, abs Vet Bull, 1939, 9, 17

संभोगीय फफोलेदार स्फोटाभ

(Coital Vesicular Exanthema)

(जननांगी अश्व शीतला, विस्फोटक जननेन्द्रिय रोग)

परिभाषा—संभोगीय फफोलेदार स्फोटाभ वाह्य जननेन्द्रिय तथा निकट की त्वचा का एक अति सक्रामक फफोलेदार रोग है। यूनाइटेड स्टेट्स में यह रोग घोड़ों में यदा-कदा तथा गो-पशुओं में बहुत ही कम होते देखा जाता है। यूरुप में यह गो-पशुओं में खूब होता है। भेड़-बकरियाँ बहुत ही कम इसका शिकार होती हैं। इस रोग का कारण एक वाइरस है।

कारण—जिन देशो में यह रोग प्रकोप करता है वहाँ यह प्रजनन-काल में अधिक होता है। यूनाइटेड स्टेट्स में यह अधिक प्रचलित क्यों नही हो सका, इसका कोई स्पष्टीकरण नही है। पिछले वीस वर्षों में लेखक ने अपने चल-चिकित्सालय में दो या तीन यूथों की गायों में इसका निदान किया और इस बात का भी पता लगाया कि न्यूयार्क स्टेट में इसकी एक भीषण तथा कष्टदायक महामारी फैली। सभवतः, इस देश की गायों में यह रोग जितना रिपोर्टों से विदित है, उससे अधिक फैलता है।

रोग के सक्रिय काल में इस बीमारी का वाइरस छालों अथवा फफोलों तथा जननेन्द्रिय से निकलने वाले स्रावों में मौजूद रहता है। पशु को इसकी छूत सभोग करते समय लगती है। इसके क्षतस्थल मादा को गरम होने के लिए उत्तेजित करते है और इस प्रकार रोग के फैलाने में सहायक होते है। कभी-कभी बछियों तथा बछेड़ियों पर भी इसका आक्रमण होता है। ऐसे पशुओं में इसकी छूत बिछावन अथवा परिचारकों से लगती है। रोग के एक आक्रमण से प्रतिरक्षा उत्पन्न नही होती तथा एक जाति से दूसरी जाति के पशुओं में इसकी छूत नही फैलती।

रीसिंगर तथा रीनमन[1] ने सन् 1928 में यह बताया कि इसका कारण एक निस्यंदी वाइरस है। इस तथ्य को स्थापित करने के जुइक तथा गेमिंडर[2] द्वारा किए गए प्रयास विफल रहे। फिर भी गायों से प्राप्त फफोलेदार योनिशोथ के वाइरस का इन्जेक्शन देकर घोड़ों, भेड़ों तथा बकरियों में फुंसीयुक्त जननेन्द्रिय रोग के क्षतस्थल पुनः उत्पन्न करने के प्रयास विफल रहे।

लक्षण—गो-पशुओं में रोग का उद्भवन काल दो से छः दिन का होता है। गो-पशुओं को कृत्रिम रूप से टीका देने के बाद लगभग चौवीस घंटे में इसके लक्षण प्रकट हो जाते हैं।

गायों में; प्रायः रोग-ग्रसित सांड़ से प्रजनन कराने का इतिहास मिलता है। पैर थपथपाना, बेचैनी, पूंछ चवाना, पीठ खलाना, बार-बार पेशाब करना, भग का लाल होकर सूज जाना तथा योनि की रक्तवर्ण श्लेष्मल झिल्ली पर 1 से 3 मि0मी0 व्यास के पीलापन लिए हुए सफेद तथा चपटे फफोले से मिलते हैं। एक से दो दिन में ये फट जाते हैं तथा परस्पर मिलकर जेलीदार पीली झिल्ली की भाँति मालूम पड़ते हैं। यह झिल्ली शीघ्र ही अलग होकर उस स्थान पर कट-पिटे किनारेदार छिछले घाव छोड़ देती है, जिनकी सतह से

खून बहता है। लगभग दो सप्ताह की अवधि में इनसे पीव बहने लगता है। तत्पश्चात् उस स्थान पर गाँठ अथवा दाग पड़े बिना ही घाव भर जाते हैं।

नर पशुओं में ऐसे ही क्षतस्थल नर लिंग तथा मुतान पर पाए जा सकते है।

घोड़ियों में, बाह्य जननाग सूजकर तथा लाल होकर उन पर चकत्ते, छाले, तथा फफोले से बन जाते है। लक्षण तथा कोर्स गायों की भाँति ही होता है किन्तु, घाव भरने के बाद कई दिनों अथवा सप्ताहों तक त्वचा पर लगभग 1/2 इंच व्यास के सफेद दाग मिलते है। ऐसे ही दाग नर पशु के मुतान पर भी मौजूद हो सकते है।

चिकित्सा—इलाज के लिए बोरिक एसिड (4 प्रतिशत), क्लोरीन घोल (1 से 2 प्रतिशत) जैसी हल्की स्तम्भक तथा जीवाणुनाशक औषधियों का प्रयोग करना चाहिए। बराबर-बराबर मात्रा में आधा प्रतिशत तूतिया तथा फिटकरी का घोल मिलाकर तैयार किए गए ऐंटिसेप्टिक घोल के प्रयोग करने की अधिक राय दी जाती हैं। डा० विलियम्स के अनुसार 1 औंस कार्बोलिक एसिड, 2 औंस टैनिन तथा 6 औंस ग्लेसरीन को एक गैलन गरम पानी में मिलाकर ऐंटिसेप्टिक के रूप में धोने के लिए प्रयोग करना काफी लाभप्रद हैं।

सदर्भ

1. Reisinger, L , and Riemann, H , Beitrag zur Ätiologie des Bläschenausschlages der Rinder, Wiener tier. Monatsschrift, 1928, 15, 249.
2. Zwick, W., and Gminder, Untersuchungen über den Bläschenausschlag (Exanthema vesiculosum coitale) der Rinder, Berl. tier. Wchnschr, 1913, 29, 637.
2. Zwick, W , and Ginder, Bestehen zwischen dem ansteckenden Scheidenkatarrh und dem Blaschenausschlag der Rinder ursächliche Beziehungen ?, Berl. tier. Wchnschr. 1913, 29, 417.
3. Williams, W. L , Diseas of the Genital Organs of Animals published by the author, 1943

पशु-प्लेग

(Rinderpest)

(रिन्डरपेस्ट; मालमारी)

परिभाषा—गो-पशुओं का यह एक बहुत ही सक्रामक असाधारण रोग है जिसे शीघ्र प्राणघातक ज्वर, स्थानीय सूजन तथा श्लेष्मल झिल्लियों (विशेषकर पाचनतन्त्र) की ऊति गलन द्वारा पहचाना जाता है। इस रोग का कारण एक निस्यदी वाइरस है।

इतिहास—पाँचवी शताब्दी से लेकर रोग-नियन्त्रण के आधुनिक ढगों के विकास तक पशु-प्लेगों में विशेष महत्व की बीमारी होने के नाते मालमारी एक ऐतिहासिक महत्व का रोग है। पहली शताब्दी के लगभग, मगोलियन लोगो द्वारा यह रोग चीन से पश्चिमी एशिया में आया। तत्पश्चात् यह कैस्पियन सागर तथा ब्लैक सागर के चौतरफा स्थायी रूप से प्रकोप करने लगा। तब से यह रोग यूरुप में लगातार फैलकर पशुओं का विनाश

करता आया है। पाँचवीं शताब्दी के प्रारम्भ से हूंस (Huns) के आक्रमणों से लेकर अठारहवीं शताब्दी में नेपोलियन के आक्रमणों तक प्रत्येक युद्ध के बाद इसका प्रकोप हुआ। सन् 1920 में बेल्जियम में हल्के प्रकोप के अतिरिक्त यूरुप से सन् 1880 में ही इसका उन्मूलन हो गया। डा० ला[1] लिखते हैं कि सन् 1841 में रूमानियाँ से लाए गए पशुओं से यह बीमारी अलेक्जेंडरिआ में प्रवेश पाई तथा लगभग दो वर्ष में कुछ को छोडकर मिश्र के सभी गो-पशु नष्ट हो गए। रोबल्ज[2] के अनुसार सन् 1886 में यह बीमारी फ्रेंच इण्डोचाइना से फिलिपाइंस के प्रजनक पशुओं में आई और सन् 1941 में यह पूर्ण-रूपेण उन्मूलित होती समझी गई। एशिया तथा अफ्रीका में यह बीमारी खूब प्रकोप करती है।

कारण—जीवाणु विज्ञान : सन् 1902 में निकोली तथा ऐडेल्बे[3] द्वारा यह वाइरस छनने योग्य पाया गया। शरीर के अन्दर रक्त, टिसू द्रव, तथा रोगी पशु के शरीर से निकलने वाले सभी स्रावों एव मलमूत्र में यह वाइरस मौजूद रहता है। रोग के उद्भवन काल में तथा अच्छा होने के बाद भी रोगी के शरीर में यह पाया जाता है। उन पशुओं के शरीर भी इसका वाहक कहे जाते हैं जो इसके आक्रमण को सहन कर लेते हैं, किन्तु कुछ लोग इस मत के विरुद्ध हैं। बीमारी के फैलाने में ऐसे वाहकों का प्रभाव महत्वपूर्ण नहीं है।

रोगी पशु के सीधे सपर्क में आने अथवा उसके मास, खाल आदि से इस बीमारी की छूत लगती है। यह असभव सा जान पडता है कि यह बीमारी अधिकतर मध्यस्थ-वाहक जैसे चारा, पानी, बर्तनों, परिचारकों, जलयानों, कारों आदि के द्वारा फैलती है। रोग की छूत आहार-नाल द्वारा फैलती है तथा पशुओं के यातायात के मार्ग की ओर इसका प्रमुख प्रकोप होता है।

शरीर के बाहर इस रोग का वाइरस जल्दी ही नष्ट हो जाता है। वायु, सूर्य के प्रकाश, सडन, 140° फारेनहाइट के तापक्रम तथा हल्के जीवाणुनाशक पदार्थों द्वारा भी यह वाइरस नष्ट हो जाता है।

युवा पशु इस रोग के प्रति अधिक ग्रहणशील होते हैं। गो-पशुओं से यह रोग भेड-बकरियों, सुअरों तथा जुगाली करने वाले जगली पशुओं को लग सकता है यद्यपि ये पशु गो-पशुओं की अपेक्षा कम ग्रहणशील होते हैं।

विकृत शरीर रचना—मुहँ, एबोमेसम तथा छोटी अतडी की श्लेष्मल झिल्ली पर विशष्ट परिवर्तन पाये जाते हैं। मुहँ की श्लेष्मल झिल्ली रक्तवर्ण हो जाती है। गालों, होठों तथा जीभ की निचली सतह पर पीलापन लिए हुए धूसर रग के सड़े हुए चकत्ते तथा घाव बन जाते हैं और ऐसे ही क्षतस्थल फॅरिक्स में भी पाये जा सकते हैं। एबोमेसम की श्लेष्मल झिल्ली अति सकुलित दिखाई देती है और छोटे-छोटे चपटे एव सड़े हुए घावों से आच्छादित रहती है। छोटी अँतडी की श्लेष्मल झिल्ली सूजकर रक्तवर्ण हो जाती है और इस पर स्थान-स्थान पर चूने की भाँति जमा हुआ गाढा मवाद मिलता है। पेयर्स पैच (Poyer's patches) द्रवयुक्त, सूजे हुए तथा घावयुक्त दिखाई देते हैं। सीकम की सबम्यूकोसा में रक्तस्राव मिलता है।

रेक्टम, योनि, मूत्राशय, गर्भाशय, नासा मार्ग, ग्रसनी, कंठ, श्वासनली तथा ब्रोंकाई की श्लेष्मल झिल्ली पर भी ऐसे ही परिवर्तन मिलते हैं। नस्ल, आयु, खान-पान तथा रोग के आक्रमण के आवेग के अनुसार लक्षण तथा शव-परीक्षण परिवर्तन काफी भिन्न होते हैं। किन्तु, आहार-नाल में पाये जाने वाले स्थायी क्षतस्थल इसकी विशिष्ट पहचान हैं।

लक्षण—जैसा कि गोमेज[4] द्वारा वर्णन किया गया है "बीमारी के लक्षण प्रकट होने से पूर्व पशु को तेज बुखार आता है। पशु को पहले कुछ घबराहट सी होती है जो गो-पशुओं में अधिक देखी जाती है। पशु बेचैन होता, अपनी जंजीर खड़खड़ाता, तथा उग्र होकर काट एवं मार सकता है। बुखार बढ़ने के दूसरे या तीसरे दिन पशु काफी सीधा हो जाता है तथा शीघ्र ही चारा खाना छोड़ देता है। वह कान नीचे गिराकर, सिर नीचे लटकाता है तथा चेहरे की शिराएँ रक्तसकुलित दिखाई देती हैं। उसकी हालत गिरी हुई सी प्रतीत होती है। मांस पेशियों में कंपन होता है। तापक्रम बढ़ने के तीसरे या चौथे दिन बाद पशु को दस्त आने लगते हैं। लक्षणों के दूसरे दिन से श्लेष्मल झिल्ली पर सूजन के विशिष्ट परिवर्तन दिखाई देने लगते हैं। कंजक्टाइवा सूज जाता है तथा पलकों में सूजन आकर आँखों के भीतरी नेत्र-कोणों से स्राव बहने लगता है जो पहले पानी जैसा पतला रहकर, बाद में श्लेष्मा तथा पीव मिश्रित हो जाता है। कुछ उदाहरणों में, प्रकाश से भय तथा घावयुक्त स्वचाशोथ भी देखी जाती है। नाक से चमकीला, पारदर्शक, गाढ़ा तथा बाद में पीवयुक्त स्राव बहता है। नाक की श्लेष्मल झिल्ली पहले लाल होकर रक्तस्राव के बाद में धब्बेदार हो जाती है। रोग के बाद वाली अवस्था में नाड़ी-गति तेज तथा कमजोर हो जाती है। मुँह की श्लेष्मल झिल्ली स्थान-स्थान पर रक्तवर्ण होकर शीघ्र ही छोटे-छोटे दानों से आच्छादित हो जाती है। बाद में पटुआ अथवा मसूर के बीज के आकार के छोटे-छोटे धब्बे प्रकट होते हैं। ये परस्पर मिलकर मिथ्या-झिल्ली सी बनाते हैं तथा फाड़े जाने पर उन स्थानों पर कच्चे लाल घाव दिखाई देते हैं। मुँह के किनारों से लार टपकती है और बहुधा पशु अपने होंठों से चपचपाहट की आवाज करता है। थोड़ा दर्द होने के बाद पशु को कब्ज हो जाता है तथा शीघ्र ही उसको पानी जैसे पतले बदबूदार दस्त आना शुरू हो जाते हैं। मल में रक्त भी मौजूद हो सकता है। मलाशय की श्लेष्मल झिल्ली सूजकर लाल हो जाती है। गर्दन के ऊपर, कंधों के पीछे तथा पीठ की त्वचा पर खुजली सी प्रकट होती है। गाभिन पशुओं का गर्भ गिर सकता है। रोगी पशु शीघ्र ही कमजोर हो जाता है तथा तीन से दस दिन में उसकी मृत्यु हो जाती है।"

लगातार तेज बुखार, मुँह में सड़े हुए छाले, भीषण आन्त्रिक आक्रमण तथा हालत का शीघ्र गिरना इस रोग के प्रमुख लक्षण हैं। विकीर्ण रूप से प्रकोप करने वाली दुर्दम्य शीर्षार्ति, खुरपका-मुँहपका रोग तथा कॉक्सीडिओसिस से इसकी भ्रान्ति हो सकती है। कॉक्सीडिओसिस में, गोबर का परीक्षण करने पर परजीवी कीट मिल जाता है तथा पशु में टीका लगाकर बीमारी का उत्पन्न नहीं किया जा सकता।

पशु प्लेग के उन्मूलन में, बीमारी के नियंत्रण हेतु टिसू-वैक्सीन द्वारा प्रतिरक्षण करना लाभकारी सिद्ध हुआ है। इसे सर्वप्रथम क्यूरासन[5] ने तैयार किया तथा सन् 1922 में फिलिपाइन्स में इसका खूब प्रयोग किया गया। मूल वैक्सीन, पिसे हुए टिसुओं के साथ ग्लैसरीन

तथा फीनोल का समिश्रण था जिसे गरम करके शक्तिहीन किया गया था। बाद में टिसू वैक्सीन का विकास किया गया तथा इसके प्रयोग को केल्सर[6] (Kelser) ने और भी अधिक साधारण बना दिया जिन्होंने वाइरस को मारने के लिए क्लोरोफार्म का प्रयोग किया। क्लोरफार्म से मारे गए टिसू-वैक्सीन का अकेला एक इन्जेक्शन प्रतिरक्षा उत्पन्न कर देता है—रोडिअर[7]। सन् 1932 में रोबल्ज[2] ने बताया कि "क्लोरोफार्म युक्त सुघरे वैक्सीन के प्रयोग से इस बीमारी के प्रति अधिक अच्छा बचाव होकर टीका लगी हुई 70 प्रतिशत भैंसें तथा 90 प्रतिशत गो-पशु बच जाते हैं.. ..... टीका लगाए गए पशु कम से कम तीन माह के लिए रोग के कृत्रिम संक्रमण के प्रति काफी प्रतिरक्षित रहते हैं।" वैक्सीन को सूखे चूर्ण के रूप में तैयार करके और भी अधिक अच्छा बनाया गया जिसे बिना प्रशीतन के ही बहु-वितरित किया जा सका। सन् 1941 की गर्मियों में फिलिपाइन द्वीप समूहों को पशुप्लेग रोग से मुक्त घोषित किया गया।

भारतवर्ष में पशप्लेग के प्रतिरक्षण हेतु बकरी-टिसू वाइरस वैक्सीन का बहुतायत से प्रयोग किया जाता है। यह कम खर्चीला तथा अधिक प्रभावकारी कहा जाता है। भारत में इसके प्रयोग पर 14 जनवरी सन् 1939 के पशुचिकित्सा अभिलेख (वेटेनरी रिकार्ड) में संपादकीय आलोचना में निम्नलिखित वर्णन मिलता है: "ऐसा मालूम देता है कि रोग-नियंत्रण की भीषण समस्या जिसके हल करने के सभी प्रयास विफल रहे अब विधिवत की गई खोज द्वारा सफलता पूर्वक हल हो रही है।" डी' कोस्टा[8] के अनुसार भारतवर्ष में बकरी-टिसू वाइरस वैक्सीन का प्रयोग इस क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण तथा लाभदायक कदम है। बाद की रिपोर्टों से यह पता चलता है कि भारत वर्ष में इसका काफी अधिक प्रयोग होने लगा है। यहाँ यह बचाव तथा महामारी के समय प्रयोग किया जाता है। कभी-कभी प्रतिक्रिया को रोकने के लिए वक्सीन के साथ सीरम का टीका भी दिया जाता है तथा बकरी-रक्त वाइरस का भी प्रयोग किया जाता है। फिर भी सन् 1950 में यह पढ़ने को मिला कि भारतवर्ष में पशु प्लेग प्रथम महत्वपूर्ण बीमारी है जहाँ प्रभावकारी सीरम तथा वैक्सीन की उपलब्धता के बाद भी 93 प्रतिशत ढोर बिना किसी बचाव के इस महामारी का शिकार होते हैं तथा भारतीय किसानों के ऋणी होने के कारणों में से एक कारण पशु-प्लेग भी है।[10]

शरीर के बाहर इस रोग का वाइरस अधिक समय तक जीवित नहीं रह सकता। इस कारण उन स्थानों को छोड़कर जहाँ पशुधन को बहुत ही गंदी परिस्थितियों में रखा जाता है, पशु-प्लेग को कंट्रोल करना अपेक्षाकृत आसान है।

संदर्भ

1. Law, J., Veterinary Medicine, ed. 3, vol. iv, 1912, p. 731.
2. Robles, M. M., An evaluation of the data on rinderpest in the Philippines, Bureau of An. Ind. Gazette, Manila, August, 1932, p. 5.
3. Nicollo, M., and Adel-Bey, Etudes sur la peste bovine, Experiences sur la filtration du virus, Ann. Inst. Pasteur, 1902, 16, 56.
4. Gomes, A. K., Eradication and the control of rinderpest in the Philippine Islands, J. A. V. M. A., 1948, 113, 109.

5 Boynton, W H, Rinderpest, with special references to its control by a new method of prophylactic treatment, Phil J Scic, 1928, 36, 1
6 Kelser, R A, Youngberg, S, and Tapacio, T, An improved vaccine for immunization against rinderpest, Phil J Sci, 1928, 36, 373
7 Rodier, E H, A single injection method of immunization against rinder pest, Phil J Sci, 1928, 36, 397
8 D'Costa, Rao Sahib J, Rinderpst—methods of immunization, Indian Vet J, 1937, 14, 120 and 331
9 Symposium on rinderpest control in India, Indian Vet J, 1941, 17, 201, abs Vet Bull, 1942, 12, 20
10 Zargar, S L, Major contagious diseases in India, J. A V M A, 1950, 116, 271

गो-पशुओं की संक्रामक प्लूरोन्युमोनिया

(Contagious Pleuropneumonia of Cattle)

(फुफ्फुस-प्लेग)

परिभाषा—गो-पशुओ के फेफडो की यह एक सक्रामक बीमारी है जिसमें अत खण्डकीय सयोजी ऊतक में काफी रिसाव होता, विसृत न्युमोनिया होती तथा सीरमफाइ-ब्रिनी फुफ्फुस झिल्ली शोथ होती है। यह रोग एक निस्यदी वाइरस द्वारा उत्पन्न हुआ करता है।

इतिहास—यद्यपि आजकल फुफ्फुस-प्लेग प्रमुख रूप से अफ्रीका, आस्ट्रेलिया तथा एशिया में प्रकोप करता है, किन्तु इतिहास में गो-पशुओ का एक बहुत ही महत्वपूर्ण रोग रहा है। यह कथन उनीसवी शताब्दी में उस सदर्भ में विशेपकर सही उतरा है जब केन्द्रीय यूरुप से स्कैंडेनेवियन देशो, इगलैंड, आयरलैंड, अमेरिका, आस्ट्रेलिया तथा अफ्रीका के लिए पशुओ का स्थानान्तरण किया गया। यनाइटेड स्टेट्स में सन् 1843 में इस बीमारी का प्रवेश हुआ तथा 1892 तक इसका पूर्णरूपेण उन्मूलन न हो सका। विश्वयुद्ध से पूर्व अनेक वर्षों तक यूरुप इस बीमारी से मुक्त रहा। तत्पश्चात् वहाँ रूस अथवा रूमानियाँ के पशुओ द्वारा इसका पुन प्रवेश हुआ। फिर भी, किसी प्रकार शीघ्र ही इसका उन्मूलन किया गया और यूरुप में इसकी उपस्थिति अब केवल पूर्वी भाग तक ही सीमित है।

कारण—इस रोग को उत्पन्न करने वाला कारक एक बहुरूपी जीवाणु है जिसे 1500 से 2000 के आवधन में अपारदर्शक बिन्दुओ, लोलाणुओ तथा शाखादार रूपो (Asterococcus mycoides) में देखा जा सकता है। नोकार्ड तथा रॉक्स द्वारा इसका सवर्धन किया गया। रोग-ग्रसित, तथा रोग से ठीक हुए पशुओ के शरीर में यह वाइरस निवास किया करता है। बीमार पशुओ के मूत्र तथा दूध में और ब्याने के समय गर्भाशय से निकलने वाले स्राव में भी वाइरस मौजूद रहता है। रोग की छूत बीमार अथवा रोग से ठीक हुए कमजोर पशु के सीधे सपर्क में आने से लगती है। अपरोक्ष रूप से मनुष्यो, जुगाली करने वाले छोटे पशुओं, कुत्तो, बिल्लियों, दूध तथा शरीर से निकलने वाले स्रावो के द्वारा भी यह वाइरस एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जाता है। उग्र रोगी तथा

ग्रहणशील ढोरो के बीच सीधा सपर्क होने से इसका सचार बहुत जल्दी होता है। शरीर के बाहर भी यह वाइरस काफी समय तक अपनी शक्ति सचित रखता है। 100 दिन से अधिक सुखाए जाने पर भी यह जीवित रहता देखा गया है।

गो-पशुओ के अतिरिक्त इस रोग का शिकार होने वाले अन्य पशु भैंस, वाइजन (bison), याक, भेड तथा बकरियाँ है।

विकृत शरीर रचना—अत. खण्डकीय सयोजी ऊतक तथा प्लूरा को सलग्न करने वाला फुफ्फुस-प्लेग एक प्राथमिक ब्राकोन्युमोनिया है। गो-पशुओ की न्युमोनिया की अन्य प्रकारो की भाँति इसके भी क्षतस्थल दीर्घकालिक हो सकते हैं।

रोग की उग्र अवस्था में वक्षीय-गुहा में प्राय. गदा स्राव भरा मिलता है तथा प्लूरा फाइब्रिनी स्राव से आच्छादित रहता है। अत खण्डकीय सयोजी ऊतको में द्रव भरा होने के कारण फेफडे सगमरमर के छोटे-छोटे टुकडो की भाँति दिखाई देते है तथा कटी हुई सतह पर ये विशेषकर देखने योग्य होते हैं। इसके अतिरिक्त कटी हुई सतह पर धूसर अथवा लाल रग के सपिंडित क्षेत्र मौजूद मिलते हैं—खण्डीय-न्युमोनिया (labar pneumonia)। ब्रोकिअल तथा मध्यस्थानिका लसीका ग्रथियाँ सूजी हुई मिलती हैं।

कम प्रकोप करने वाली रोग की दीर्घकालिक अवस्था में वक्षीय दीवाल को हटाने पर आसजक फुफ्फुस झिल्ली शोथ पाई जा सकती है। फेफडो में दीर्घकालिक न्युमोनिया के क्षेत्र तथा सयोजी ऊतक की दीवालो के साथ सडनयुक्त फुन्सियाँ सी मिलती हैं जिनमें जमा हुआ मवाद भरा रहता हैं।

लक्षण—रोग का आक्रमण धीरे-धीरे होता है। पहले दो या तीन सप्ताहो तक खाँसी तथा बुखार होना इसके लक्षण है। इस प्रारम्भिक दीर्घकालिक अवस्था के विकास काल में खण्डकीय न्युमोनिया होकर हालत में धीरे-धीरे सुधार होता है, यहाँ तक कि परिश्रवण एव परिताडन भी ऋणात्मक होता है। फेफडो के क्षतस्थल जब काफी बढ जाते है तो उग्र ब्रोकोन्युमोनिया के लक्षण स्पष्ट दिखाई पडने लगते हैं। पशु खाना-पीना और जुगाली करना छोड देता है। वह दूध कम देता है तथा भीषण प्लूरो-निमोनिया के लक्षण प्रकट होने लगते है। इनके अन्तर्गत पशु को तेज बुखार (104 से 106° फारेनहाइट) साँस लेने में कठिनाई, नाक से श्लेष्मा तथा पीव-मिश्रित स्राव बहना जो कभी-कभी रक्त-मिश्रित भी हो सकता है, दर्दयुक्त खाँसी, पसलियो के ऊपर दबाने से दर्द, थपथपाने पर भद्दापन तथा विभिन्न प्रकार की आवाजें सुनाई देना आदि लक्षण आते है। 30 से 50 प्रतिशत रोगियो की तत्काल मृत्यु हो जाती है तथा इसके अतिरिक्त 30 प्रतिशत पशु थोडा-बहुत ठीक हो जाते हैं। उग्र अवस्था के प्रकोप करने के बाद लगभग एक सप्ताह के अत तक पशु की मृत्यु हो सकती है, किन्तु अधिकतर यह दो से चार सप्ताह के बाद हुआ करती है। अधिक आयु वाले पशुओ में इसका कोर्स दीर्घकालिक होता मालूम देता है तथा इसके लक्षण बढे हुए फुफ्फुस क्षय की भाँति होते है।

निदान—फुफ्फुस क्षतस्थलो के मिलते-जुलते होने के कारण फुफ्फुस-प्लेग की गलघोटू रोग की अस अवस्था से सभ्रान्ति हो सकती है। निमोनिया की अन्य प्रकारो में ऐसा अतराखण्डक मोटापा नही होता और वे प्राय सक्रामक नही होती।

जीग्लर[1] के अनुसार अन्तरालीय तथा पेरीब्रोंकियल टिसुओं का हिस्टालोजिकल परीक्षण करके रोग का सही निदान किया जा सकता है। ब्रोंकाई की रक्त-नलिकाओं के चहुँतरफा जाली-ऊतक का बना हुआ एक हल्का भीतरी क्षेत्र होता है जिसमें कुछ लिम्फोसाइट भरे रहते हैं तथा बाहर की ओर एक गहरा किनारा सा होता है जो टूटे-फूटे श्वेताणुओं का बना होता है। यह रोग का नैदानिक लक्षण है। छने हुए फुफ्फुस स्राव से बछडो को टीका दिया जा सकता है।

कंट्रोल—सभी रोग-ग्रसित तथा सदेहयुक्त पशुओं को मार देना तथा सदूषित बाडो एव क्षेत्रो की सफाई करना अथवा नष्ट करना रोग-नियत्रण की सर्वोत्तम विधि है। यद्यपि बीमारी के प्रति प्रतिरक्षा उत्पन्न करना सभव है फिर भी बचाव का यह ढग सभी टीका लगे पशुओं को लागू नही होता। पर्चेज[2] ने कीनिया कालोनी में "सवर्धन-वाइरस" (culture virus) के टीका देने पर एक विस्तृत रिपोर्ट लिखी है।

सदभ

1 Ziegler, M , Histologische Untersuchungen uber die Lungenseuche des Rindes, Zeit f infektionskr , 1921, 22, 37

2 Purchase, H C , Vaccination against contagious bovine pleuropneumonia with "culture virus", Vet Rec , 1939, 51, 31, and 67

मानसिक अवसन्नता

(Louping Ill)

(भेड़ों की मस्तिष्क-सुषुम्ना-शोथ)

परिभाषा—न्यूरोट्राफिक निस्यदी वाइरस से उत्पन्न होने वाली स्काटलैंड तथा उत्तरी इगलैंड में यह भेडो की एक छूतैली मस्तिष्क सुषुम्ना-शोथ है जिसे अतिसम्वेदिता तथा प्रेरक क्षोभण जैसे तत्रिकीय लक्षणो द्वारा पहचाना जाता है।

वैसे तो अनेक वर्षो से इसे भीषण महमारी के रूप में पहचाना गया तथा इक्सोडेस् रीसिनेस (Ixodes ricines) नामक किलनी को काफी समय से इस बीमारी के सचारण का माध्यम समझा गया। किन्तु, इस बीमारी का सही ज्ञान अभी हाल में ही स्काटलैंड में विभिन्न वैज्ञानिको द्वारा किए गए अन्वेषणों द्वारा प्राप्त हुआ।[1,2,3,4,5] उन्होंने बताया कि रोग-ग्रसित मस्तिष्क तथा मेरु-रज्जु के पदार्थ का प्रमस्तिष्क में टीका देकर इस बीमारी को भेडो, सूकरो तथा चुहियो में उत्पन्न किया जा सकता है। उन्होंने यह भी बताया कि इसका कारण एक निस्यदी वाइरस है तथा इसका अत त्वचा अथवा अधस्त्वक् इन्जेक्शन देकर सक्रिय प्रतिरक्षा उत्पन्न की जा सकती है। प्राकृतिक परिस्थितियों में किलनियो (इक्सोडेस रीसिनेस्) द्वारा भी यह बीमारी फैलाई जा सकती है।

कारण—प्रमुख रूप से एक अन्तर्देशीय रोग के रूप में यह बीमारी वसत ऋतु तथा गरमी के प्रारम्भ में मेमनों तथा कुछ पर्वतीय फार्मों के चरागाहो पर चरने वाली एक वर्षीय भेड़ों में हुआ करती है। स्थायी रूप से सक्रमणित यूथ में जन्म के तत्काल बाद मेमना में

रोग का हल्का आक्रमण हो जाने के कारण आयु-प्रतिरक्षा उत्पन्न हो जाती है। किन्तु, यदि भेड़ों को किसी रोग-रहित स्थान से मस्तिष्क-मज्जा शोथ युक्त क्षेत्र में लाया जाता है तो उनको अवश्य ही यह बीमारी हो जाने की संभावना रहती है।

रोग-ग्रसित भेंड़ के मस्तिष्क से प्राप्त पदार्थ का अंतः कशेरुकीय (intravertebral), अन्तर्मेरुनाल (intraspinal) तथा अधस्त्वक् इन्जेक्शन देकर भेड़ों, बन्दरों, सुअरियों, गो-पशुओं तथा चुहियों में इस बीमारी को उत्पन्न किया जा सकता है तथा इन पशुओं से अत: प्रमस्तिष्कीय (intracerebral) टीका द्वारा इस बीमारी का पुनः संचारण किया जा सकता है। प्राकृतिक परिस्थितियों में भेडें, गो-पशु तथा संभवतः सुअर इसके प्रति ग्रहणशील होते हैं (ब्राउन्ली)।[8] उन किलनियों द्वारा भी इसकी छूत फैलती है जो पहले इस रोग से पीड़ित पशु का रक्त चूसकर बाद में स्वस्थ भेड़ों का खून पीती हैं। ज्वरयुक्त आक्रमण के समय रोग-ग्रसित पशु का रक्त निकालकर स्वस्थ पशु में टीका देकर भी इस बीमारी को उत्पन्न किया जा सकता है। किन्तु भेड़ों में इस बीमारी के विशिष्ट लक्षण उत्पन्न करने की केवल एक ही विश्वासनीय विधि है कि वाइरस को सीधा तंत्रिका-तंत्र में ही प्रविष्ट किया जाए। ब्राउन्ली लिखते हैं कि, यद्यपि इस रोग का वाइरस विशेषकर तंत्रिका-तंत्र पर आक्रमण करता है, किन्तु यह तत्क्षण ऐसा नहीं करता। तंत्रिका-तंत्र पर आक्रमण करने से पूर्व ये वाइरस पहले रक्त में अपना विकास करते हैं तथा लिम्फ ग्रंथियों एवं प्लीहा में भी प्रवेश करते हैं। अंतः प्रमस्तिष्क इन्जेक्शन देने के बाद दो से तीन दिन में पशु को थोड़ा बुखार होकर चौथे अथवा पांचवे दिन अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है और इसके बाद यह शीघ्र ही कम होने लगता है। रोगी पशु का तापक्रम गिरने के साथ ही रक्त से वाइरस भी गायब हो जाता है। उन रोगियों में जिनमें ज्वर के बाद तंत्रिका-तंत्र की गड़बड़ी के लक्षण उत्पन्न होते हैं, ये पांचवें अथवा छठे दिन प्रकट होते हैं तथा टीका लगाने के बाद छठे अथवा सातवें दिन रोगी की मृत्यु हो जाती है। इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि सीधे संपर्क द्वारा भी यह रोग फैलता है। भेंड़ के मस्तिष्क तथा मेरु-रज्जु से तैयार किए गए फार्मलीनयुक्त वैक्सीन का अधस्त्वक् टीका रोग प्रतिकारक उत्पन्न करता है जो रक्त परिभ्रमण में पहुँचे हुए वाइरसों को उदासीन करने की क्षमता रखते हैं और इस प्रकार यह वैक्सीन रोग उत्पन्न करने वाले कारक को मस्तिष्क तथा मेरुरज्जु में घुसने से रोकता है। गॉर्डन[7] का कहना है कि मस्तिष्क-मज्जाशोथ के नियंत्रण हेतु बचाव का टीका लगाने की विधियों पर विचार करने पर यह पाया गया कि केन्द्रीय तंत्रिका-तंत्र प्रतिरक्षण हेतु एक सख्त टिसू है। "जीवित वाइरस का अधस्त्वक इन्जेक्शन देने के बाद टीका लगे पशु को ज्वर आने से उसका केन्द्रीय तंत्रिका-तंत्र प्रतिरक्षित हो जाता है, किन्तु इस विधि से पशु को बीमारी हो जाने का भी भय रहता है।" प्रयोगात्मक रूप से उत्पन्न प्रतिरक्षा लगभग ग्यारह माह तक रहती है।

यह भी देखा गया कि संदूषित चरागाहों से किलनियाँ इकट्ठा करके जब किसी स्वस्थ भेंड़ पर छोड़ दी जाती है तो भी उनमें ज्वर की प्रतिक्रिया उत्पन्न हो जाती है। साथ ही किलनियों से युक्त भेंड़ का रक्त निकाल कर स्वस्थ भेंड़ में इन्जेक्शन देकर भी बीमारी के लक्षण उत्पन्न किए जा सकते हैं। किन्तु, यह प्रतिक्रिया पशु की मस्तिष्क-मज्जा

शोथ वाइरस के अगले आक्रमणों से रक्षा नहीं करती। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यह कोई अन्य बीमारी है जिसे चीचड़ी-ज्वर (tick borne fever) कहा जाता है।

विकृत शरीर रचना—सामान्य क्षतस्थल प्राय. अनुपस्थित होते हैं। इस बीमारी के ऊतक विकृति परीक्षा के वर्णन में ब्राउनली तथा विल्सन[6] ने यह लिखा कि बीमारी के प्राकृतिक तथा कृत्रिम दोनों प्रकार के रोगियों में सेरिबेलम के परकिंजे कोशिकाओं (purkinje cells) की लगातार टूट-फाट मिलती है। साथ ही मेड्यूला के तंत्रिका कोषाणुओं तथा मेरुरज्जु के सभी भागों में काफी टूट-फाट होती है। उन्होंने यह भी बताया कि सूकरों में तंत्रिका ऊतकों का अत्यधिक कोषा अन्त.सरण होता है तथा तंत्रिका कोषाणुओं का बहुत ही कम ह्रास होता है। चूहों में पाया जाने वाला प्रमुख क्षतस्थल मेड्यूला तथा मेरुरज्जु के बड़े-बड़े तंत्रिका कोषाणुओं का परिगलन था। उन रोगियों में कोई भी क्षतस्थल न मिला जिनके लक्षण मस्तिष्क-मज्जा शोथ से मिलते थे, किन्तु जिनमें इसका वाइरस मौजूद न था।

लक्षण—इस रोग का उद्भवन काल 6 से 18 दिन का होता है। रोग-ग्रसित फार्म पर अधिकांश पुरानी भेड़ें तथा 20 प्रतिशत एक वर्षीय मेमने प्रतिरक्षित हो सकते हैं। सुस्ती तथा 106° फारेनहाइट तक तेज बुखार के साथ इस बीमारी का प्रारम्भ होता है। प्राय: बीमारी के अन्य कोई लक्षण प्रारम्भ में नहीं पाये जाते। इसके बाद अति सम्वेदिता, प्रेरक क्षोभण तथा भय एव उत्तेजना के रूप में चेतना की गड़बड़ी के लक्षण प्रकट होते हैं। छूने पर भेंड़ कांपने लगती है, उसकी मास पेशियों में ऐंठन होती है तथा वह अपने सिर को पीछे अथवा एक ओर को खींचकर रखती है। उसके मुहँ से लार गिरती, होंठों से चपचपाहट की आवाज होती तथा आँखें घूमती हुई सी दिखाई दे सकती हैं। पैरों की गति ऐंठन युक्त अथवा झटकेदार होकर टनकना रोग (stringhalt) से मिलती-जुलती है तथा एक अथवा अधिक पैरों के पक्षाघात का कारण बनती है। कुछ ही घंटों अथवा एक या दो दिन में पशु कमजोर होकर शीघ्र ही मर जाता है। पूल के अनुसार बीमारी की विभिन्न अवस्थाओं में काफी विभिन्नता होती है तथा रात को प्रत्यक्ष रूप से स्वस्थ दिखाई देने वाले पशु कभी-कभी सुबह को बेहोश अथवा मरे हुए मिलते हैं। कभी-कभी कुछ पशु तंत्रिका-तंत्र के रोग का एक भी लक्षण प्रकट किए बिना ही मर जाते हैं। जहाँ किलनियों का प्रकोप अधिक होता है वहाँ इस बीमारी से पीड़ित पशु बहुत ही कमजोर हो जाते हैं तथा मृत्युदर भी अधिक होती है। पशु-सेवक द्वारा अनुमानित ह्रास 2 से 3 प्रतिशत होता है।

फार्मलीनयुक्त मस्तिष्क तथा मेरु-रज्जु से तैयार किये गये वैक्सीन तथा प्लीहा की पायस का प्रयोग करके ब्राउनली और गॉर्डन ने बड़े उत्साहवर्धक परिणाम निकाले हैं। स्काटलैंड के मॉरडन इस्टीट्यूट में किया गया प्रयोगात्मक वेक्सीनेशन यह प्रदर्शित करता है कि प्रतिरक्षा उत्पन्न करने हेतु 1 : 1000 अनपात का पाउडर किए हुए मस्तिष्क की पायस का 10 घ० सें० घोल काफी सुरक्षित तथा प्रभावकारी पदार्थ है। किन्तु, फील्ड में इसका प्रयोग करने से अनेकों भेड़ों में मस्तिष्क-सुषुम्ना शोथ उत्पन्न होकर, उनकी मृत्यु हो गई।

संदर्भ

1. Pool, Brownlee, and Wilson, The Etiology of Louping-Ill. J. Comp. Path. and Ther., 1930, 43, 253.
2. Greig, Brownlee, Wilson, and Gordon, The Nature of Louping-Ill, Vet. Record, 1931, 11, 325.
3. Greig, Trans. of the Highland and Agr. Soc. of Scotland, 1932.
4. Gordon, Brownlee, Wilson, and MacLeod Studies in Louping Ill, J. Comp. Path. and Ther., 1932, 45, 106.
5. MacLeod and Gordon Studeis in Louping-Ill, II, Transmission by the Sheep tick, J., Comp. Path. and Ther., 1932, 45, 240.
6. Brownlee and Wilson, Studies in the Histopathology of Louping-Ill, J. Comp. Path. and Ther., 1932, 45, 67.
7. Gordon, Louping-Ill, Proc. of the Roy, Soc. of Med., 1934, 27, 11.
8. Brownlee, Agricultural Progress, 1935, 12, 118.

आखुरण

(Scrapie)

परिभाषा—भेड़ों में यह बीमारी वाइरस द्वारा उत्पन्न होने वाली एक दीर्घकालिक तानिका-मस्तिष्क शोथ है जो होंठों, कानों तथा पैरों के कंपन द्वारा प्रारम्भ होकर बाद में अत्यधिक खुजली, क्षीणता तथा लम्बी अवधि के बाद मृत्यु होना आदि लक्षणों द्वारा पहचानी जाती है।

कारण—ब्रिटेन में इस बीमारी को काफी वर्षों से जाना गया। सन् 1938 में स्कोफील्ड[1] ने कनाडा में स्काटलैंड से लाई गई एक तीन वर्षीय भेंड़ में इस रोग का वर्णन किया तथा सन् 1945 में यह बताया गया कि "पिछले 6 वर्षों में इस रोग का कनाडा के तीन यूथों में निदान किया गया। यूनाइटेड स्टेट्स में सर्व प्रथम अक्तूबर सन् 1952 में इसे कैलीफोर्निया में देखा गया तथा सन् 1953 में ओहायो के पाँच तथा इलीन्वायस के एक यूथ में यह बीमारी होती बताई गई। सन् 1950 मे विल्सन, ऐन्डसर्न तथा स्मिथ[3] ने रोग-ग्रसित मस्तिष्क, मेड्युला तथा मेरु-रज्जु के छने हुए जीवाणु रहित पायस का सेरिब्रम में टीका देकर इस रोग का प्रयोगात्मक रूप से संचारण किया। इसका उद्भवन काल चार से पाँच माह तथा औसत अवधि 7·7 सप्ताह की थी। सुखाने पर महीनों तक वाइरस जीवित रहा। ग्रेग[4] द्वारा किए गए एक प्रयोग में यह दिखाया गया कि बिना परोक्ष संपर्क के ही यह बीमारी ऐसे चरागाह से लग सकती है जिसमें रोगी तथा स्वस्थ भेंड़ें बारी-बारी से सप्ताह में दो बार चराई जाती हैं। उन्तालीस महीनों के बाद इस प्रकार के अपरोक्ष संपर्क से यह बीमारी एक स्वस्थ भेंड़ में प्रकट हुई तथा बाद के तीन महीनों में नौ अन्य भेंड़ों में इस बीमारी का प्रकोप हुआ।

विकृत शरीर रचना—मेड्युला तथा मेरु-रज्जु के तंत्रिका कोषाणुओं में बड़े-बड़े रिक्त स्थान मिलना केवल इसकी लगातार होने वाली असामान्यता है।

लक्षण—इसके लक्षणों में काफी समानता होती है। प्राकृतिक संक्रमण में सिर तथा गर्दन में ऐंठन के साथ इसका एकाएक आक्रमण होता है जिसके कारण सिर कुछ हिलने लगता है। सिर तथा गर्दन ऊपर उठकर अकड से जाते हैं तथा रोगी पशु घूरकर अथवा टकटकी मारकर देखता है। उत्तेजना के कारण जाँघों तथा कोख पर भी ऐंठन होती है तथा शारीरिक प्रतिरोध से मांस-पेशियों का अनैच्छिक उग्र संकुचन होता है। खुजली के कारण रोग-ग्रसित भेंडें अपने शरीर के किसी भी भाग को लगातार काटती हैं। वे अपने शरीर तथा गर्दन को कांटेदार तार अथवा चहारदीवारी से इतना रगडती हैं कि उस स्थान के बाल झड जाते हैं तथा ये क्षेत्र थोडा सा छूने पर भी अति संवेदनशील प्रतीत होते हैं। रोग-ग्रसित पशु अपने दाँत पीसता है तथा उसे खूब प्यास लगती है। धीरे-धीरे हालत गिर कर वह जीर्ण-शीर्ण हो जाता है। बीमारी का कोर्स 6 सप्ताह से लेकर 6 माह तक का होता है तथा अधिकतर प्राणघातक कहा जाता है। पशुओं के यूथ में इसका प्रकोप 4 से 20 प्रतिशत के मध्य होकर काफी भिन्न होता है। एक यूथ में कई वर्षों बाद कभी-कभी एक-आध पशु बीमार हो सकता है अथवा अधिकतम 50 प्रतिशत तक पशु रोग-ग्रसित हो सकते हैं।

कंट्रोल—रोग-ग्रसित यूथ का पूर्णरूपेण वध कर देना ही केवल इसके नियंत्रण की सफल विधि है और यह भी सदैव प्रभावकारी नहीं सिद्ध होती। रोग का अचानक प्रकोप करना, लम्बा उद्भवन काल तथा चरागाह से छूत फैलना आदि गुणों के कारण सभी रोग-ग्रसित तथा संपर्क में आए हुए पशुओं को यूथ से अलग हटा देना सर्वोत्तम उपचार है।

संदर्भ

1 Schofield, F W , Scrapie, Report of the Ontario Veterinary College, 1938, p 34.
2 Wagner, A. R , Goldstein, H E , Doran, J E , and Hay, J. R , Scrapie: a study in Ohio, J A. V. M A., 1954, 124, 136
3 Wilson, D R , Anderson, Ruth, and Smith, W , Studies in scrapie, J. Comp Path and Ther , 1960, 60, 267
4 Greig, J R , Scrapie observations on the transmission of the disease by mediate contact, Vet Journal, 1940, 96, 203

नीली-जिह्वा रोग

(Blue tongue)

परिभाषा—नीली जिह्वा एक वाइरस द्वारा उत्पन्न होने वाली भेंडों की उग्र मुखार्ति है जो काटने वाले कीडों द्वारा एक पशु से दूसरे पशु में फैलती है। रोग के भयंकर प्रकोप में इसका बहुव्यापक आक्रमण होकर पाचन तथा श्वसन-तंत्रों, मांसपेशियों और खुरों में इसके क्षतस्थल दिखाई पडते हैं।

कारण—विकट समस्या के रूप में दक्षिणी अफ्रीका में इसका प्रमुख महत्व है जहाँ यह पिछले पचास वर्षों से प्रकोप करती आई है। साइप्रस में 1924[1], टर्की में 1945[2],

तथा इजराइल में सन् 1951[3], में यह बीमारी होती बताई गई। सन् 1949 में गैम्बुल्ज[4] ने लिखा कि सन् 1943 तक, जब नीली-जिह्वा रोग को साइप्रस तथा फिलिस्तीन (Palestine) में पहचाना गया, इसे अफ्रीका के बाहर नही देखा गया था। सन् 1952 में टेक्सास में हार्डी और प्राइस[5] ने "भेड के मुखदाह" के रूप में इसका वर्णन किया जिसे सन् 1948 से पूर्व यूनाइटेड स्टेट्स में कभी नही देखा गया था। सन् 1949 तथा 1950 में इसका कोई भी रोगी नही देखा गया, किन्तु जून 1951 में इसे पुन होते बताया गया तथा चार सप्ताहो में इसे 20 बाडो में देखा गया। 2000 फिट की ऊँचाई तक यह विकीर्ण तथा स्थानिकमारी दोनो ही रूपो में प्रकोप करती थी तथा उन पशुओ में प्रकोप करती देखी गई जो दस महीनो तक चरागाह पर चरने नही गए थे। सन् 1952 में यह कलीफोर्निया में प्रकट हुई जहाँ नवम्बर तक यह सभी भेड-पालन क्षेत्रो में फैल गई जिससे 325,000 भेडें रोग-ग्रसित हुई तथा 5 प्रतिशत की मृत्यु हो गई। मक्कर्चर आदि[7] ने इस रोग का कारण एक वाइरस बताया जिसे दक्षिणी अफ्रीका के एलेक्जेंडर ने नीली-जिह्वा वाइरस की हल्की प्रजाति कहकर पहचाना। सन् 1953 में पुन इस बीमारी का खूब प्रकोप हुआ तथा एरिजोना, नेवादा और उटह[8] में इसका निदान किया गया। यह एक मौसमिक बीमारी है जिसका क्युलीक्वाइडेरा (culicoides)[9] के टीका द्वारा प्रयोगात्मक रूप से सचारण किया गया। इन काटने वाले कीडो से इसकी छूत फैलती कही जाती है। दक्षिणी अफ्रीका में इस वाइरस की ग्यारह प्रजातियाँ ढूँढ निकाली गई जबकि इस देश में केवल दो या तीन प्रजातियाँ ही पहिचानी जा सकी।[8]

विकृत शरीर रचना—रोग-ग्रसित पशु के मुहँ तथा नाक की श्लेष्मल झिल्ली पूर्णतया रक्तवर्ण मिलती है। तालू, जीभ के सिरे तथा सामने वाले दाँतो के ठीक पीछे छालेयुक्त घाव मिलते है। नथुनें, थूथन तथा नथुनो के बीच की दीवाल सूज जाती है। मास-पेशियो के छोटे-छोटे अपकर्षित क्षेत्र पूरे शरीर पर फैले हुए मिलते है तथा फुफ्फुस धमनी और महा-जड पर भारी रक्तस्राव होता है। जबडे के नीचे का क्षेत्र तथा फेफडे सूजे हुए मिलते है। धमनी की शारीरिक-गुहाओ तथा हृदयावरक थैली (pericardial sac) में तरल पदार्थ भरा रहता है। आत्रांति, तथा सुमशीर्ष के क्षेत्र पर सूजन होना इसके अन्य क्षतस्थल है। सफेद पैर वाले पशुओ में इस सूजन को सुमशीर्ष पर पडी लाल धारियो अथवा लालाई के क्षेत्र से पहचाना जा सकता है। पशु का शव जीर्ण-शीर्ण मिलता है।

लक्षण—यह रोग हल्के तथा उग्र दोनो ही रूपो में प्रकोप करता वर्णन किया गया है। भीषण प्रकोप में इसका उद्भवन काल तीन से सात दिन का होना है। प्रौढ पशुओ की अपेक्षा दूध पीने वाले बच्चे इसके प्रति कम ग्रहणशील होते है तथा परिपक्व मेढ़े सबसे अधिक ग्रहणशील कहे जाते है। होठो की सूजन तथा नाक से पानी जैसा पतला स्राव गिरना इसका प्रथम लक्षण है जो बाद में गाढ़ा तथा पीवयुक्त होकर नीचे की लाल तथा सवेदनशील त्वचा पर चिपक जाता है। तत्पश्चात् पशु कमजोर होता जाता है, उसके मुहँ से लार गिरती है तथा शरीर भार कम हो जाता है। रोगी पशु को 102 से 104 5° फारेनहाइट तक तेज बुखार होता है। तालू तथा जीभ के सिरे पर घाव हो जाते है तथा पशु को अक्सर दस्त आने लगते है। रोगी पशु अस्थायी रूप से लँगडाता देखा जाता है। रोग की उग्रता पर

आधारित होकर तीन दिन से लेकर तीन सप्ताह तक का इसका कोर्स होता है तथा अनुमानित मृत्युदर 5 से 10 प्रतिशत है जो काफी अधिक भी हो सकती है। इससे होने वाली विकृतता अधिकतम 30 प्रतिशत तथा औसतन 10 प्रतिशत होती है। रोगी की मृत्यु के निकट उसके द्वारा साँस लेते समय आवाज सुनाई देती है, नथुनों से झागदार स्राव बहता है तथा मुहँ खोलकर साँस लेते हुए गौण निमोनिया तथा कमजोरी एवं क्षीणता के कारण एक से छः दिन में उसकी मृत्यु हो जाती है। रोग से ठीक हुए पशु निरन्तर कमजोर रहते हैं।

कंट्रोल—जहाँ बीमारी प्रकोप करती है उस क्षेत्र से प्राप्त वाइरस की प्रजाति से तैयार किए गए अण्ड-भ्रूण-वैक्सीन (egg embryo vaccine) का टीका देकर बीमारी से बचाव किया जा सकता है। दक्षिणी अफ्रीका, साइप्रस तथा टर्की में ऐसे वैक्सीन का सफलता पूर्वक प्रयोग किया गया है।

संदर्भ

1. Vet. Bull., 1951, 21, 592.
2. Vet. Bull., 1961, 21, 672.
3. Vet. Bull., 1952, 23, 324.
4. Gambles, R. M., Bluetongue of sheep in Cyprus, J. Comp. Path. & Ther., 1949, 59, 176.

4. Gambles, R. M., Bluetongue of sheep in Cyprus, J. Comp. Path. & Ther., 1949, 59, 176.

5. Hardy, W. T., and Price, A. D., Sore muzzle of sheep, J. A.V.M.A., 1952, 120, 23.
6. McGowan, Blaine, An epidemic resembling sore muzzle or bluetongue in California sheep, Cornell Vet., 1963, 43, 213.
7. McKercher, D. G., McGowan, B., Howarth, J. A., and Saito, J. K., a preliminary report on the isolation and identification of the bluetongue virus from sheep in California, J. A. V. M. A., 1953, 122, 300.
8. Stuart, J. E., Bluetongue in sheep, J. A. V. M. A., 1953, 123, 496.
9. Price, D. A., and Hardy, W. T., Progress with bluetongue in sheep, J. A.-V. M. A., 1952, 123, 440.
10. U. S. D. A., Bluetongue in sheep, J. A. V. M. A., 1953, 123, 50.
11. Thomas, A. D., and Neitz, W. O., Pathology, of bluetongue, Onderstepoort, J. Vet. Sci., 1927, 22, 47.

दीर्घकालिक संक्रामक रोग
(CHRONIC INFECTIOUS DISEASES)

क्षय रोग
(Tuberculosis)

परिभाषा—माइकोबैक्टीरियम ट्युबर्क्युलोसिस द्वारा उत्पन्न होने वाला यह एक दीर्घकालिक संक्रामक रोग है जिसे कणिकायन तन्तु के ग्रंथिल विकास अथवा ट्युर्वकिलों द्वारा पहचाना जाता है जिनमें सूखना, कैल्शियम का जमना तथा फोड़े बनने जैसे परिवर्तन होते हैं। प्रमुख तौर पर यह बीमारी लिम्फ ग्रंथियों पर प्रभाव डालती है। रोग-ग्रसित अंग तथा व्यक्तिगत सहनशीलता के अनुसार यह बीमारी अपने प्रकोप में काफी भिन्न होती है। चौथी शताब्दी ईसा पूर्व से अनेक लोगों द्वारा यह बीमारी संक्रामक समझी जाती है तथा सन् 1867 में विल्लेमिन[1] ने इस तथ्य का समर्थन किया। सन् 1882 में कोच[2] ने ट्युर्वकिल बैसीलस तथा सन् 1890 में ट्युबर्क्युलिन की खोज की।

सामान्य वितरण—यूरप तथा इंगलैंड के डेरी प्रान्तों के गो-पशुओं में क्षयरोग की प्रतिशत इतनी अधिक है कि इसके उन्मूलन के प्रति ठोस कदम नहीं उठाए जा सके हैं। क्षयरोग से अति पीड़ित पशुओं को यूथ से निकाल देना तथा बछड़ों का इस ढंग से पालन-पोषण करना कि उनको इसकी छूत न लगने पावे इन्ही दो उपायों तक इस रोग के नियंत्रण के साधन सीमित हैं। यूनाइटेड स्टेट्स में आमतौर पर गो-पशुओं में क्षय रोग की प्रतिशत काफी कम है, किन्तु कुछ पुराने डेरी अनुभागों में 50 से 100 प्रतिशत तक इसकी छूत मिलती है। यूनाइटेड स्टेट्स में सरकारी तौर पर यह अनुमान किया गया है कि सन् 1918 में 4·9 प्रतिशत से इसका प्रकोप कम होकर सन् 1951 में 0·14 प्रतिशत ही रह गया। वैसे तो सभी पालतू पशु इसका शिकार होते हैं किन्तु गो पशुओं, सूकरों तथा कुक्कुटों में यह बीमारी विशेष आर्थिक महत्व की है। कुक्कुटों में यह रोग मध्य-पश्चिमी तथा उत्तरी केन्द्रीय प्रदेशों में अधिक होता है।

कारण—ट्युर्वकिल बैसीलस एक गोल छड़ के रूप में 2 से 4 माइक्रान लम्बा जीवाणु होता है। यह एक विशेष अभिरंजक लेकर "एसिड स्थायी" गुण प्रदर्शित करता है तथा कृत्रिम माध्यमों में विशिष्ट प्रकार से बढ़ता है। इसकी गोजातीय, पक्षी जातीय तथा मानव जातीय तीन किस्में होती हैं। सभी विशिष्ट संक्रमणों की भाँति व्यक्तिगत प्रजातियों की रोगोत्पादक शक्ति भिन्न-भिन्न होती है।

इस जीवाणु की गो-जातीय प्रकार सभी स्तनधारी पशुओं में क्षयरोग उत्पन्न करने की क्षमता रखती है। प्रयोगात्मक पशुओं (खरगोशों, गिनीपिग) में इसकी रोगोत्पादक शक्ति सबसे अधिक होती है। जीवाणु की मानव जातीय प्रकार के अतिरिक्त केवल यही एक प्रकार मनुष्यों में महत्व की है जहाँ रोग-ग्रसित गाय का दूध पिलाने से यह बच्चे में संधियों तथा लिम्फ ग्रंथियों का क्षयरोग उत्पन्न करती है। ग्रीफिथ और मुनरो[3] के अध्ययन

से यह स्पष्ट हो गया है कि स्काटलैंड में फुफ्फुस क्षय के 2769 रोगियों में से 100 रोगी गोजातीय प्रकार के थे तथा इसकी छूत प्रमुख रूप से आहार-नाल द्वारा लगी थी। मनुष्य के लिए इसका गोजातीय प्रकार उतना ही खतरनाक है जितना कि मानव जातीय। गो जातीय प्रकार का जीवाणु यदा-कदा घोड़ों में, किसी हद तक भेड़-बकरियों में तथा अधिकतर सूकरों में क्षयरोग उत्पन्न करते देखा गया है। तोतों को छोड़कर अन्य चिड़ियाँ इसके प्रति ग्रहणशील नहीं होती।

सूकरों में अधिकतर हल्के प्रकार के क्षयरोग के लिए इस जीवाणु की पक्षी जातीय प्रकार उत्तरदायी होती है, तथा सन् 1937 की अन्तर्राष्ट्रीय रिपोर्ट के अनुसार इस रोग से ग्रसित सूकरों में किसी हद तक यह प्रजाति "उत्तरोत्तर सामान्य क्षय रोग उत्पन्न करने की क्षमता रखती है।" मुर्गियाँ इसके प्रति अति ग्रहणशील हैं। यूनाइटेड स्टेट्स में पक्षी जातीय प्रकार को गो-पशुओं के लिए बहुत ही कम रोगोत्पादक बताया गया है। स्लाक[4] ने देखा कि पक्षीजातीय संक्रमण के सपर्क में आए 75 प्रतिशत गोपशु पक्षीय जीवाणुओं के प्रति संवेदनशील हो गए तथा उन्होंने दो से पाँच माह की अवधि तक पक्षी जातीय ट्यूबर्कुलिन के प्रति प्रतिक्रिया प्रदर्शित की। फार्गो, उत्तरी डकोटा में पक्षी जातीय ट्यूबर्क्युलिन से परीक्षित 507 गो-पशुओं में से 15.5 प्रतिशत ने प्रतिक्रिया प्रदर्शित की तथा केवल दो पशु गो-जातीय ट्यूबर्क्युलिन के प्रति धनात्मक निकले। उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि पक्षीजातीय क्षय रोग गो-पशुओं में एक अधिक समस्या नहीं है। प्लम[5] के अनुसार डेनमार्क के गो-पशुओं में 2 प्रतिशत से अधिक गर्भपात इसी जीवाणु के कारण होते हैं। खरगोशों के लिए यह प्रजाति रोगोत्पादक है किन्तु, गिनी-पिग के लिए नहीं। भेड़ों में पक्षी जातीय क्षयरोग को हार्शफील्ड तथा रोडरिक[6] ने होते बताया तथा पक्षीजातीय ट्यूबर्किल बैसिलस को बछड़ों में ट्यूबर्क्युलिन परीक्षण की प्रतिक्रिया का कारण बताया गया—अन्तर्राष्ट्रीय रिपोर्ट, 1938, पृष्ठ 63।

मानव जातीय प्रकार प्राकृतिक तौर पर पालतू पशुओं, मुर्गियों, अथवा खरगोशों के लिए रोगजनक नहीं है। गिनीपिग इसकी छूत के प्रति ग्रहणशील होती है।

शरीर के अन्दर ट्यूबर्किल बैसिलस अपना विकास करते हैं तथा संपर्क में आने वाले क्षतस्थलों एवं शारीरिक-गुहाओं में पाए जाते हैं। कोच के अनुसार फुफ्फुस क्षय का अधिक प्रकोप करना श्वासनली द्वारा उतना ही अधिक संक्रमण होने का सूचक है। फिर भी, अनेकों प्रयोग यह सिद्ध कर चुके हैं कि पालतू पशुओं में क्षय रोग के जीवाणु चाहे किसी भी स्रोत से क्यों न आएँ, अधिकतर आहार-नाल द्वारा ही उनके शरीर में प्रवेश पाते हैं। अँतड़ी से पार होकर वे रुधिर-प्रवाह में पहुँचते हैं तथा यहाँ से अपनी वृद्धि एवं विकास हेतु लसीका ग्रंथियों, फेफड़ों, सीरस झिल्लियों तथा जननांगों आदि भागों में पहुँचते हैं। आहार-नाल द्वारा छूत लगना इस बात से सिद्ध होता है कि फेफड़ों के क्षय से पीड़ित गाय को काफी समय तक ग्रहणशील पशुओं के बीच बाँध कर, यदि उनकी चारा खाने की नाँदे अलग-अलग रखी जायें तो यह रोग नहीं फैलता। लेखक ने उत्तरी नए इंगलैंड में लकड़ी की बनी हुई पशुशालाओं में, जिनमें तख्तों के विभाजन द्वारा नाँदों को एक दूसरे से बिल्कुल

अलग रखा गया था, इस प्रकार के अनेकों उदाहरण देखे। फेफड़ों के क्षतस्थलों से क्षय रोग के जीवाणु बहुत बड़ी संख्या में निकलते हैं तथा यहाँ से आहार-नाल के सभी भागों में लगातार जाते रहते हैं। गाय के फेफड़े में एक छोटा सा क्षतस्थल मौजूद होने पर भी ग्रास-नली से प्राप्त श्लेष्मा के नमूने में लगातार जीवाणु मिलते हैं। ऐसे पशुओं के गोवर में भी ट्युवर्किल बैसिलस मौजूद रहते हैं। इसी प्रकार वे रोग-ग्रसित गर्भाशय से योनि तथा उससे निकलने वाले स्रावों के साथ बाहर निकलते हैं। इस प्रकार ये मल-मूत्र की नाली, चरही, अथवा पानी की नाँद में छोटे या बड़े क्षययुक्त क्षतस्थल से लगातार प्रवेश पाते रहते हैं। वाटसन[7] के अनुसार, "यह बार-बार सिद्ध किया जा चुका है कि क्षय रोग के जीवाणु ऐसे अयन से प्राप्त दूध में भी शरीर से बाहर आते हैं जिनमें न तो क्षयरोग का कोई लक्षण दिखाई पड़ता है और न क्षयरोग के क्षतस्थलों का कोई माइक्रास्कोपिक प्रमाण मौजूद होता है। साहित्य में ऐसे बहुत से रोगी होते बताए गए हैं और इनमें से कुछ में शव-परीक्षण करने पर बहुत ही छोटा सा क्षतस्थल मिला जो एक या अधिक लिम्फ ग्रंथियों तक ही सीमित था......हम लोगों ने यह पता लगाया कि गो-पशुओं के शरीर में क्षय रोग का शक्तिशाली जीवाणु काफी समय तक छिपा हुआ रह सकता है अथवा शारीरिक-स्रावों के साथ बाहर निकल सकता है तथा शव-परीक्षण करने पर क्षयरोग का बहुत ही कम प्रमाण मिलता है...... । ऐसा अक्सर देखा गया है कि रोगोत्पादक ट्युवर्किल बैसिलस लिम्फ ग्रंथियों के कुछ ऐसे समूहों में मौजूद रहते हैं जो देखने में बिल्कुल नार्मल प्रतीत होती हैं—न०दि० क्ष० (न दिखाई देने वाले क्षतस्थल)। इन ग्रंथियों में इनकी उपस्थिति, गिनीपिग पर जैविक-परीक्षण करके ज्ञात की जाती है। अवलोकन तथा प्राप्य प्रयोगात्मक आँकड़े यह सिद्ध करते हैं कि इस वर्ग के पशुओं में सक्रिय रोग के प्रति काफी सहनशक्ति होती है।"

शरीर के बाहर क्षय रोग का जीवाणु, चरही, तथा बाल्टियों एवं पानी पीने वाली उन नाँदों में पाया जाता है जिनमें लगातार दबाव वाला पानी नहीं बहता। जिन नाँदों में किसी भी स्रोत से लगातार पानी बहता रहता है उनमें इसका संक्रमण नहीं के बराबर होता है। किन्तु, जिन नाँदों में केवल पीकर ही पानी को हटाया जाता है उनमें लगातार जीवाणु प्रवेश पाता रहकर वहाँ भारी संक्रमण उत्पन्न कर देता है। पानी के गढ्ढों के बारे में भी यही सच है। ट्राम[8] ने संक्रमण के 687 दिनों बाद पानी के गढ्ढे में जीवित जीवाणु पाए। उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि रोगी पशुओं के शरीर से गिरने वाले स्रावों से संदूषित पदार्थ नमी रहित होने के शीघ्र बाद संदूषण से मुक्त हो जाते हैं। चरागाहों पर उपस्थित जीवाणु सूर्य के ताप से शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। क्षय ग्रसित पशुओं से प्राप्त दूध सदैव ही संदूषित होता है तथा क्रीमरी का छाछ तथा सपरेटा "पास्चुरीकृत" होने के बाद भी संदूषित रहता है। ऐसा दूध भली प्रकार गर्म न किया हुआ हो सकता है। इस बात का कोई सही प्रमाण उपलब्ध नहीं है कि पशुशाला की हवा तथा धूल में टी०बी० के गोजातीय जीवाणु बीमारी उत्पन्न करने वाली संख्या में मौजूद रहते हैं। शरीर के बाहर ये जीवाणु प्रमुख तौर पर सामूहिक पानी पीने की नाँदों, चारा खाने की चरही, तथा दूध में निवास किया करते हैं।

पूर्वानुकूलता (Predisposition) : आयु, जलवायु, पोषण, सूर्य के प्रकाश, व्यक्तिगत पूर्वानुकूलता तथा आनुवंशिकता के प्रभाव का क्षय रोग के जीवाणु पर बहुत ही

कम असर होता है। यदि पशु पानी की नांदों, चरही, तथा दूध आदि सामान्य सदूषित स्रोतों से नित्य ही टी०बी० का जीवाणु निगल जाते हैं तो ऐसे कुछ ही पशु बीमारी के प्रकोप से बच पाते हैं। कैलीफोर्निया के उन भागों में भी टी०बी० खूब होती है तथा कन्ट्रोल करना कठिन है जहां पशु कभी वाड़े में नहीं घुसते। ऐसा वर्मोंट में भी देखा गया है जहाँ वे आधे वर्ष से अधिक रखे जाते हैं।

चारा खिलाने तथा पानी पिलाने के ढंग: कुछ लोगों का ऐसा विश्वास है कि पशुशाला में प्रकाश तथा सफाई की कमी गायों में इस बीमारी की छूत फैलाने का प्रमुख कारण है। किन्तु इसमें नांदों की बनावट तथा पानी पिलाने का ढंग और भी अधिक महत्वपूर्ण है। यदि पानी धीरे-धीरे आता हो तथा भरा रहता हो तो कक्रीट की बनी हुई नांद में सामूहिक रूप से पशुओं को पानी नहीं पिलाना चाहिए। ऐसे पानी पीने वाले यूथ में यदि एक भी पशु क्षय ग्रसित है तो बहुत ही शीघ्र अन्य पशुओं में इसकी छूत फैल सकती है। वे नांदें भी उतनी ही खतरनाक होती हैं जिनमें पानी भरने के बाद केवल पीने द्वारा ही खर्च होता है। यदि यूथ के एक भी पशु में टी०बी० का खुला हुआ क्षतस्थल मौजूद है तो केवल एक ही गर्मी में ऐसी पानी पीने की नांद के द्वारा सारा यूथ रोग-ग्रसित हो सकता है। पानी पीने के व्यक्तिगत प्यालों से भी उस समय नष्टकीय परिणाम निकलते हैं जब इनकी बनावट इस प्रकार की होती है कि इनकी तली में बचा हुआ पदार्थ पानी के पाइप में चला जाता हो। एक ही नांद में सब पशुओं को चारा खिलाना कम खतरनाक है, किन्तु इस प्रयोग से अनेक पशुओं का ह्रास हो चुका है जिसके कारण व्यक्तिगत अथवा एक साथ दो या तीन गायें खिलाने वाली नांदें बनाई जाने लगीं। यह आमतौर पर देखा जाता है कि उन कक्रीट की बनी हुई आधुनिक पशुशालाओं में क्षय रोग अधिक तेजी से फैलता है जहाँ गायों को सामूहिक नांद में चारा खिलाया जाता तथा पानी पिलाया जाता है। लकड़ी की बनी हुई उन प्राचीन पशुशालाओं में यह रोग कभी नहीं फैला जहाँ प्रत्येक पशु का व्यक्तिगत नांद की व्यवस्था थी तथा हर गाय अपना-अपना स्थान ही ग्रहण करती थी। दूध तथा डेरी उपजात बछड़ों में इसके सदूषण का प्रमुख स्रोत होते हैं। सदूषित उपकरण द्वारा अयन धोने के परिणामस्वरूप क्षययुक्त थैनली का एक प्रकोप मक्फार्लेन[9] द्वारा वर्णन किया गया तथा टाइस[10] ने मनुष्य से पशुओं में गो-जातीय प्रकार का सक्रमण फैलते बताया।

क्रय एक क्षेत्र में क्षय रोग का अधिक प्रकोप होना तथा दूसरे में अपेक्षाकृत न होना पशु के प्राप्त करने की विधि द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। जहाँ पर नए पशु दूसरों से न खरीद कर अपने ही फार्म पर तैयार किए जाते हैं वहाँ इसकी छूत फैलने का बहुत ही कम भय रहता है। जहाँ बाहर से खरीद कर ही पशु संख्या को बढ़ाया जाता है वहाँ खरीदी हुई गायों का यदि ट्यूबर्क्युलिन जाँच पास करने की भी आवश्यकता पड़ती है तो भी इस रोग की छूत से बचना काफी कठिन होता है। अभी हाल के कुछ वर्षों में, क्षयरोग रहित क्षेत्रों की स्थापना होने से, ट्यूबर्क्युलिन जाँच पास की हुई गायों को खरीदने में क्षय रोग से ग्रसित होने की कम संभावना रहती है।

रोग विज्ञान—(अ) ट्यूबर्किल (Tubercle) ओस्लर[11] का कहना है कि "एक 'ट्यूबर्किल' प्रारम्भिक विकास काल में अपने अवयवों में कुछ भी विशिष्टता प्रकट नहीं

करती ।" इसके विकास में टी०बी० के जीवाणुओं की संख्या बढ़ती है, स्थिर कोशाओं का विकास होता है, तथा उपकला कल्प (epithelioid) एवं भीम कोशिकाओं (giant cells) का निर्माण होता है। बहुत से न्युक्लियस वाले कोशा एक साथ इकट्ठे होते हैं, किन्तु शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं तथा तन्तुमय टिसू की एक बाहरी भीति बन जाती है। ट्युबर्किल के अपकर्षण में केसिएशन तथा कैल्सीकरण के साथ केन्द्रीय परिगलन नष्ट होता है तथा इसके चारो तरफ बाहर की ओर एक तन्तुमय टिसू की दीवाल ही शेष रह जाती है। व्यक्तिगत ट्युबर्किलों से दिखाई देने वाली होती हैं। वे आपस में मिलकर बाजरे की दाने की भाँति छोटी-छोटी ट्युबर्किलें बनाती है जो परस्पर संयोजित होकर एक बड़े क्षतस्थल का निर्माण करती हैं।

ट्युबर्किलों के जल्दी बढ़ने तथा बचाव की दीवाल न बनने के कारण आवश्यक अंग इसका शिकार होते हैं तथा उनका कार्य नष्ट हो जाता है। फेफड़ों तथा प्रत्यग्रसनी लसीका ग्रंथियों में फोड़े बनने लगते हैं। वैसे तो इस क्रिया में अनेकों विभिन्नताएँ होती हैं, किन्तु रोग-ग्रसित पशुओं में निम्न लिखित तीन प्रक्रियाएँ होती हैं: (1) शरीर में घुसने पर जीवाणु शीघ्र ही नष्ट होते है। (2) कुछ विकास होने के बाद ट्युबर्किल की वृद्धि रुक जाती है। (3) जब तक पशु की मृत्यु नही हो जाती तब तक इनका धीरे-धीरे अथवा जल्दी-जल्दी लगातार विकास होता रहता है।

(ब) **ट्युबर्किल का वितरण**—ट्युबर्क्युलिन जाँच की प्रतिक्रिया के कारण शव-परीक्षण प्रायः दैनिक पशुवध-गृहों के निरीक्षण काल में ही किया जाता है। ऐसा बहुत ही कम देखा गया है कि जब तक बीमारी से मृत्यु न हो जाए तब तक गोजातीय क्षयरोग से ग्रसित रोगी को विकसित होने दिया जाए। लिम्फ ग्रंथियाँ संक्रमण का प्रमुख स्थान होती है। फेफड़ों तथा अन्य अंगों में इसकी छूत बाद में लगती है। वैसे तो लसीका-तंत्र के किसी भी भाग में क्षतस्थलों का विकास हो सकता है, किन्तु विशेषकर प्रत्यग्रसनी, ब्रोंकियल, मध्यस्थानिका ग्रंथियों में तथा कुछ कम हद तक मेसेण्टेरिक अथवा पोर्टल ग्रंथियों में पाए जाते हैं। ट्युबर्कुलस वृद्धि का आकार छोटे दाने से लेकर कई पौण्ड भार वाले कैलसीकृत पदार्थ की भाँति हो सकता है।

फेफड़ों के क्षय का उग्रता में रोग के ग्रंथिल प्रकार से दूसरा नम्बर है। बिना कटे हुए फेफड़े को अँगूठे तथा अँगुलियों के बीच दाबकर उसमें उपस्थित छोटी-छोटी ट्युबर्किलों को आसानी से महसुस किया जा सकता है। वैसे तो ये फेफड़े के किसी भी भाग में पाई जा सकती हैं, किन्तु बड़े खण्डों में अधिकतर होती हैं। यदि ब्रोंकाई को सावधानी से काटा जाए तो उससे गाढ़ा-गाढ़ा तथा चिपचिपा पदार्थ बहता दिखाई देता है तथा वायु-नली एवं अपक्षयित ट्युबर्कुलस पदार्थ के मध्य छोटा या बड़ा छिद्र मिलता है। इसे "खुला हुआ" क्षतस्थल कहा जाता है। फेफड़े के "खुले" तथा "बन्द" क्षतस्थल में विभिन्नता होती है, किन्तु लेखक यह कभी भी न जान सका कि इनको अलग-अलग किस तरह पहचाना जाता है। भित्तिक-प्लूरा में हाल की अगम्य टूट-फाट अथवा अत्यधिक वृद्धि मिलती है—"मुक्ता रोग" (pearl disease)।

पेरिटोनियम, विशेषकर ओमेण्टम तथा उदरांगों पर, एक समान छोटे-छोटे, गहरे पीले दानों से आच्छादित रहती है जो हिस्टॉलोजिकल परीक्षण करने पर ट्यूबर्किल सिद्ध होते हैं। रोग की बढ़ी हुई अवस्था में विशेष प्रकार की ट्यूबर्कुलस वृद्धि मौजूद मिलती है। यह अवस्था अधिकतर खूब बढी हुई क्षयग्रसित फैलोपीनली तथा कभी-कभी गर्भाशयी श्लेष्मल झिल्ली के क्षय के साथ संयोजित मिलती हैं। इसकी श्लेष्मल सतह कैल्सीकृत पदार्थ से आच्छादित होती है तथा गुहा में बालू की भाँति बजरी भरी मिलती है।

त्वचा का क्षय—(skin tuberculosis) : कभी-कभी पैरों की अवस्त्वक् लसीका वाहिकाएँ गाँठों अथवा रस्सी के टुकड़े की भाँति मोटापा प्रदर्शित करती हैं। ये कन्धे, पिछले घुटने तथा टखने के क्षेत्र में पाई जाती हैं। इनमें एसिड स्थायी छड़ होती हैं जो अभी तक क्षय रोग के जीवाणुओं के लिए निर्धारित आवश्यक मान्यताओं की पूर्ति नहीं करती, क्योंकि ये कृत्रिम माध्यम में नहीं उगतीं तथा गिनीपिग के लिए रोगोत्पादक नहीं होती। ट्यूबर्क्युलिन के प्रति ये प्रतिक्रिया उत्पन्न करती मालूम देती हैं और आधिकारिक तौर पर "त्वचा का क्षय" कहलाती हैं। मोह्लर[12] ने बताया कि" इस अवस्था को उत्पन्न करने वाले जीवाणु का संवर्धन करने तथा बैक्टीरिया का प्रयोगशाला पशुओं में संचारण करने के प्रयास में यूनाइटेड स्टेट्स के विभिन्न भागों से इस प्रकार कहलाने वाले अनेकों त्वचा के क्षतस्थल प्राप्त हो चुके हैं। सभी प्रयासों से ऋणात्मक परिणाम प्राप्त हुए। "हेस्टिंग्स[13] के अनुसार अनेकों कार्यकर्ताओं द्वारा एकत्र किए गए प्रमाण यह सिद्ध करते हैं कि त्वचा के क्षतस्थल क्षययुक्त नहीं होते।"

क्षतस्थल पाए जाने वाले अन्य अंग निम्न प्रकार हैं . यकृत, अण्डकोष, अयन, प्लीहा गुर्दे, सेरिअस झिल्लियाँ, जोड़ (स्टेफिल संधि) तथा अँतड़ी की श्लेष्मल झिल्ली। जब क्षतस्थल किसी एक क्षेत्र तक ही सीमित रहते हैं तो यह बीमारी स्थानीय कहलाती है। इसके विपरीत जब संक्रमण रुधिर-प्रवाह में पहुँच जाता है तथा शरीर में अनेक भागों पर ट्यूबर्किलें विकसित होती हैं तब यह रोग स्थानीय न रहकर व्यापक अथवा सामान्य कहा जाता है।

लक्षण—शरीर में ट्यूबर्किलों के वितरण में काफी विभिन्नता होने के कारण गोजातीय क्षयरोग विभिन्न प्रकार के लक्षण प्रदर्शित करता है। कुछ को छोड़कर इसका कोर्स दीर्घकालिक होता है। यूथ का इतिहास अथवा नये खरीदे गए पशुओं की उपस्थिति रोग का निदान करने में सहायक होती है। जिन क्षेत्रों में क्षय रोग अधिक प्रकोप करता है वहाँ कोई भी दीर्घकालिक रोग इस संक्रमण का सूचक होता है।

पशु की गिरी हुई हालत प्रायः क्षय रोग का सूचक है। बीमारी के विस्तीर्ण होने अथवा श्वसन, पाचन या स्तन-संस्थान में गड़बड़ी होने पर यह प्रकट होती है। यूथ के औसत पोषण, आयु तथा गर्भाशय शोथ, अभिघातज आमाशय-शोथ, दीर्घकालिक आन्त्रार्ति, पैरों अथवा जोड़ों की दर्दयुक्त अवस्था, तथा पुराना कीटाणु अतिसार जैसी अन्य कमजोरी उत्पन्न करने वाली बीमारियों के अनुसार ही इसे पहचाना जाता है। रोग-ग्रसित पशु का तापक्रम प्रायः नार्मल रहता है।

गो-पशुओं में लाक्षणिक क्षयरोग का प्रमुख स्थान प्रायः श्वसनतंत्र होता है। रोग की फुफ्फुस तथा सामान्य प्रकारों में श्वास-कष्ट तथा जल्दी-जल्दी साँस लेना अक्सर मौजूद होता है। प्रत्यग्रसनी लसीका ग्रंथियों की सूजन फेरिंक्स में दवाव डालकर अवरोध उत्पन्न करके साँस लेने में से कष्ट पैदा करती है। गाय को साँस लेने में कष्ट होना लगभग सदैव ही प्रत्यग्रसनी लसीका ग्रंथियों के क्षय ग्रसित होने के परिणामस्वरूप होता है। फेफड़ों के क्षतस्थलों से पशु प्रायः घाँसने लगता है। प्रारम्भ में खाँसी तेज तथा सूखी होती है, किन्तु वाद में यह मुलायम, गीली तथा धीमी हो जाती है। जब कोई मनुष्य पशुशाला में ऐसे पशु के साथ रहता है तो उसे पशु के खान-पान के समय के अतिरिक्त अनियमित अवकास पर घाँसता सुनाई पड़ता है। यह प्रातःकाल काफी तेज होता है। पशुशाला के परिचारक यह सूचित कर सकते हैं कि ऐसा पशु सप्ताहों से "ठंड" से पीड़ित है। श्वासनली के दवाने पर पशु घाँसता है और यह फेफड़े के सुविकसित क्षतस्थल का एक सामान्य लक्षण है। कमजोर, गीला तथा मद होने पर यह विशेष महत्व का होता है क्योंकि इसे सरलता से वार-वार उत्पन्न किया जा सकता है। फेफड़े के क्षतस्थल का यह सवसे प्रमुख लक्षण है। परिश्रवण करके यह देखा जा सकता है कि एक फेफड़े में दूसरे की अपेक्षाकृत छिद्रिल आवाज अधिक होती है। इस आवाज में इतनी अधिक नार्मल विभिन्नता होती है कि आसानी से घोखा हो सकता है। थोड़ा सा तेज व्यायाम कराने पर ऐसी आवाजें प्रारम्भ हो जाती हैं जो वैसे कभी उत्पन्न नही होतीं। फेफड़ों में इन शुष्क आवाजों की उपस्थिति बीमारी का प्रमाण है, किन्तु कभी-कभी फेफड़े में सुविकसित खुला हुआ क्षतस्थल होने पर भी केवल एक वार परीक्षण करने पर खाँसी अथवा असामान्य आवाजों का पता नही लग पाता। वृद्ध पशुओं में वातस्फीति जैसे अन्य कारणों से भी असामान्य श्वसन आवाजें उत्पन्न हो सकती हैं। क्षयरोग से पीड़ित गायों में एक दिन यह आवाजें विल्कुल स्पष्ट सुनाई देती है तथा दूसरे दिन अनुपस्थिति हो सकती है। वक्ष को थपथपाने से सपिंडित क्षेत्र तथा दर्द का अनुमान होता है अथवा पशु घाँसता है। बाद वाला लक्षण विशेष महत्व का है। श्वासनली से कफ का नमूना लेकर गिनीपिग में टीका देकर खुले हुए एवं असंदेहात्मक रोगियों का भी पता लग जाता है।

अयन—खुले हुए क्षयरोग से पीड़ित अधिकांश रोगियों में क्षतस्थल अयन अथवा फफड़ों में हुआ करते हैं। संदेहयुक्त पशुओं का पता लगाने के लिए उनके दूध का गिनीपिग में इन्जेक्शन देना चाहिए। व्याने के बाद अन्य अंगों की भाँति अयन के क्षतस्थलों की भी वृद्धि होती है। हेस् के अनुसार क्षयरोग अधिकतर पिछले बाएँ थन पर तथा बहुत ही कम एक साथ दोनों पिछले थनों पर आक्रमण करता है। अयन का लाक्षणिक क्षयरोग प्रायः ऊर्ध्व-चूचक लसीका ग्रंथियों (supra mammary lymph glands) की सूजन के साथ हुआ करता है और रोग के अगले थनों में प्रकोप करने पर भी यह सूजन मौजूद हो सकती है। विना गरमी अथवा दर्द के धीरे-धीरे विकसित होने वाली ग्रंथिल, परिगत अथवा विसृत सूजन के रूप में इसके स्थानीय लक्षण होते हैं और ये दीर्घकालिक स्ट्रेप्टोकोकिक थनैली से मिलते-जुलते हैं। रोग-ग्रसित थन से पहले थोड़ा कम दूध आता है किन्तु इसके गुण में कोई परिवर्तन नही होता। कुछ सप्ताहों के बाद यह पतला तथा पनीला हो जाता है।

लिम्फ ग्रंथियाँ—अपनी स्थिति के कारण ऊपरी लिम्फ ग्रंथियाँ क्षय रोग के निदान के लिए अधिक महत्वपूर्ण होती हैं। बछियों में इन ग्रंथियों की बीमारी अधिक होती मालूम पड़ती है जहाँ अक्सर केवल यही क्षतस्थल पाया जाता है। वैसे तो कोई भी लिम्फ ग्रंथि बढ़ सकती है किन्तु, अधिकतर प्रत्यग्रसनी, उपजम्भ तथा उसी क्षेत्र की प्रीस्कूरल एवं ऊर्ध्व चूचक लिम्फ ग्रंथियाँ ही प्रभावित होती हैं। बढ़ी हुई प्रत्यग्रसनी लसीका ग्रंथि को स्वरयंत्र के ऊपर अँगुलियाँ रखकर महसूस किया जा सकता है अथवा मुहँ में मुख-खोलनी डालकर, गले में हाथ घुसेड़कर फेरिक्स में ऊपर की ओर इस ग्रंथि को टटोला जा सकता है। गुदा में हाथ डालकर परीक्षण करने पर बढ़ी हुई लसीका ग्रंथियाँ श्रोणि-मेखला तथा कटि के निचले क्षेत्र में पाई जा सकती हैं। किसी भी लिम्फ ग्रंथि की पुरानी दर्द रहित सूजन को जब तक कुछ अन्य सिद्ध न हो जाए इसे क्षयरोग का सही प्रमाण मानना चाहिए। मध्यस्थानिका लसीका ग्रंथियों की क्षययुक्त वृद्धि, ग्रासनली पर दबाव डालकर उसमें अवरोध उत्पन्न करके रूमेन का अफारा रोग पैदा कर सकती है।

जननेन्द्रिय—मादा की जननेन्द्रिय के क्षय में फैलोपी-नली प्रायः बढ़कर सख्त हो जाती है। शीघ्र ही गर्भाशय के क्षय का विकास हो सकता है। लेखक द्वारा अवलोकित एक रोग-ग्रसित बछिया ने मार्च में बच्चा दिया तथा उसके गर्भाशय से कुछ रक्तस्राव हुआ। आने वाले पतझड़ में यह अंग चिकने कंकड़ जैसे चूनेयुक्त पदार्थ से भर गया। विस्तृत क्षययुक्त उदर-झिल्ली-शोथ तथा क्षय रोग के व्यापक प्रकार में फैलोपी-नली बहुधा रोग-ग्रसित मिलती है। योनि से निकला हुआ स्राव गिनीपिग के लिए धनात्मक होता है। विलियम्स[15] का कहना है कि उन्होंने क्षययुक्त अण्डशोथ अथवा एपिडिडिमिसशोथ नहीं देखी, किन्तु प्राथमिक मैथुन प्रकार के उन्हें कई रोगी मिले। उनके अनुसार शुक्र-वाहिनी, शुक्राशय तथा प्रोस्टेट के भी क्षयग्रसित होने की संभावना हो सकती है किन्तु, प्रत्यक्ष रूप से ऐसा बहुत कम होता है। मैथुन-क्षय प्रमुख तौर पर शिश्नमुण्ड की सबम्यूकोसा, मुडचर्म तथा मुतान और निकट की लसीकाओं पर आक्रमण करता है। गाय के जननांगों का कोई भी भाग रोग-ग्रसित हो सकता है यद्यपि कि अडाशयी प्रकार बहुत कम होता है।

केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र—मस्तिष्क में केसिएशन एवं कठोरीकरण के साथ सेरिब्रम की सतह पर क्षय ग्रसित तानिका-प्रमस्तिष्कशोथ (meningoencephalitis) का विकास होता है। बढ़ती हुई जीर्ण-शीर्णता तथा पक्षाघात, अति सम्वेदिता तथा प्रेरक क्षोभण जैसे चक्कर काटना, आदि इसके लक्षण हैं। लेखक के रोगियों में से एक गाय ने पागलपन रोग की भाँति उन्माद के लक्षण प्रदर्शित किए।

पाचन लक्षण—अँतड़ी में घावयुक्त क्षतस्थल रोगी पशु में दस्त तथा कमजोरी उत्पन्न करते हैं। बढ़ी हुई मध्यस्थानिका लसीका ग्रंथि ग्रासनली पर दबाव डालती है जिसके परिणामस्वरूप पशु द्वारा चारा खाने के बाद रूमेन में अफारा होकर उसका पेट फूल जाता है। यकृत में जब क्षयरोग ग्रसित अनेकों फोड़े होते हैं तो थपथपाने पर उसमें दर्द होता है। मलाशयी-परीक्षण करने पर उदर-झिल्ली खुरदरी प्रतीत होती है तथा मेसेण्टेरिक लसीका ग्रंथियाँ बढ़ी हुई मिलती हैं। विसृत उदर-झिल्लीशोथ के एक

रोगी में धीरे-धीरे हालत का गिरना तथा थपथपाने पर उदर में दर्द होना आदि लक्षण भूल से अभिघातज अमाशय शोथ के निदान की ओर ले गए।

कोर्स तथा फलानुमान—जब क्षय रोग का अधिक प्रकोप होता है तो मृत्यु, थनैली, संधि-रोग, बाँझपन तथा कुपोषण आदि से पशुओं की काफी क्षति होने लगती है। किन्तु, कभी-कभी बिना भीषण ह्रास के ही यह रोग एक पशुशाला में खूब प्रकोप कर सकता है। किसी भी समुदाय में जहाँ इसकी दर 15 प्रतिशत तक होती है, कुल ह्रास काफी अधिक होता है। लेखक के चल-चिकित्सालय के पहुँच के एक क्षेत्र में पहले इस बीमारी की दर लगभग 15 प्रतिशत थी और उस समय की चिकित्सा का अभिलेख यह प्रदर्शित करता है कि क्षयरोग से पीड़ित अनेक रोगियों की चिकित्सा की गई। आजकल वर्ष भर में मुश्किल से लेखक को एक रोगी मिलता है। बीमारी द्वारा होने वाली स्थायी क्षति इसके उन्मूलन के मूल्य से कहीं अधिक है।

रोग वाहक—गो-जातीय के क्षयरोग की यह एक विशेषता है कि जब किसी अंग में क्षय रोग के क्षतस्थल शरीर के किसी भी खुले द्वार से सीधा संपर्क रखते हैं तो उनसे लगातार इस रोग के जीवाणु बाहर निकलते रहते हैं। उडाल तथा बर्च[16] द्वारा परीक्षित 262 क्षयग्रसित गायों में से 20 प्रतिशत में टी० बी० का जीवाणु ग्रासनली में मिला जबकि 10·30 प्रतिशत में कोई भी लक्षण न मिले। यह तथ्य टी० बी० के "खुले हुए" तथा "बंद" क्षतस्थलों वाले रोगियों के मध्य विभेदी-निदान करने अथवा रोग-ग्रसित पशुओं को अलहदा करके संदूषण को कम करने के प्रयास की निरर्थकता को प्रदर्शित करता है। जब तक संक्रमण के मार्ग खुले रहते हैं, अपने चारो ओर छूत फैलाने के लिए एक रोग-वाहक भी काफी होता है।

ट्युबर्क्युलिन जांच (tuberculin test)—ट्युबर्क्युलिन-कोच की पुरानी ट्युबर्क्यु-लिन क्षय रोग के जीवाणुओं को ग्लेसरीनयुक्त माध्यम में उगाकर तैयार की जाती है। इन जीवाणुओं को इस माध्यम में तब तक उगाया जाता है जब तक कि उनकी वृद्धि होना रुक नहीं जाता। संश्लिष्ट माध्यमों पर संवर्धनों को उगाकर भी ट्युबर्क्युलिन को बनाया जा सकता है। पोर्सलीन फिल्टर से छानकर इसे ताप द्वारा जीवाणुरहित किया जाता है तथा मूल आयतन का 10 प्रतिशत भाग वाष्पीकृत कर दिया जाता है।

कोच ने मनुष्यों में क्षयरोग की चिकित्सा के लिए ट्युबर्क्युलिन का प्रयोग किया तथा आज भी यह इस बीमारी की कुछ प्रकारों के प्रति चिकित्सा के लिए प्रयुक्त होती है। पशु-आयुर्विज्ञान में इसे केवल निदान के लिए ही प्रयोग किया जाता है।

आर्म्सबाइ तथा पियर्सन[17] (Armsby and Pearson) के अनुसार, "इस देश में गोपशुओं पर ट्युबर्क्युलिन को सबसे पहले पेंसिलवेनिया विश्वविद्यालय के पशु-चिकित्सा-विज्ञान विभाग के क्षयरोग आयोग द्वारा प्रयोग किया गया जिसके अध्यक्ष प्रोफेसर जुइल थे और इस पदार्थ के प्रति उनकी रिपोर्ट अनुकूल थी।"

यदि क्षयरोग से पीड़ित पशु को ट्युबर्क्युलिन का अधस्त्वक टीका दिया जाता है तो कभी-कभी स्थानीय तथा रचनात्मक प्रतिक्रिया के साथ पशु को बुखार आता है। यदि यह

लिम्फ ग्रंथियाँ—अपनी स्थिति के कारण ऊपरी लिम्फ ग्रंथियाँ क्षय रोग के निदान के लिए अधिक महत्वपूर्ण होती हैं। बछियों में इन ग्रंथियों की बीमारी अधिक होती मालूम पड़ती है जहाँ अक्सर केवल यही क्षतस्थल पाया जाता है। वैसे तो कोई भी लिम्फ ग्रंथि बढ सकती है किन्तु, अधिकतर प्रत्यग्रसनी, उपजम्भ तथा उसी क्षेत्र की ग्रीकूरल एवं ऊर्ध्व चूचक लिम्फ ग्रंथियाँ ही प्रभावित होती हैं। बढ़ी हुई प्रत्यग्रसनी लसीका ग्रंथि को स्वरयंत्र के ऊपर अँगुलियाँ रखकर महसूस किया जा सकता है अथवा मुहँ में मुख-खोलनी डालकर, गले में हाथ घुसेड़कर फैरिक्स में ऊपर की ओर इस ग्रंथि को टटोला जा सकता है। गुदा में हाथ डालकर परीक्षण करने पर बढ़ी हुई लसीका ग्रंथियाँ श्रोणि-मेखला तथा कटि के निचले क्षेत्र में पाई जा सकती हैं। किसी भी लिम्फ ग्रंथि की पुरानी दर्द रहित सूजन को जब तक कुछ अन्य सिद्ध न हो जाए इसे क्षयरोग का सही प्रमाण मानना चाहिए। मध्यस्थानिका लसीका ग्रंथियों की क्षययुक्त वृद्धि, ग्रासनली पर दबाव डालकर उसमें अवरोध उत्पन्न करके रूमेन का अफारा रोग पैदा कर सकती है।

जननेन्द्रिय—मादा की जननेन्द्रिय के क्षय में फैलोपी-नली प्राय. बढ़कर सख्त हो जाती है। शीघ्र ही गर्भाशय के क्षय का विकास हो सकता है। लेखक द्वारा अवलोकित एक रोग-ग्रसित बछिया ने मार्च में बच्चा दिया तथा उसके गर्भाशय से कुछ रक्तस्राव हुआ। आने वाले पतझड़ में यह अग चिकने कंकड़ जैसे चूनेयुक्त पदार्थ से भर गया। विसृत क्षययुक्त उदर-झिल्ली-शोथ तथा क्षय रोग के व्यापक प्रकार में फैलोपी-नली बहुधा रोग-ग्रसित मिलती है। योनि से निकला हुआ स्राव गिनीपिग के लिए घनात्मक होता है। विलियम्स[15] का कहना है कि उन्होंने क्षययुक्त अण्डशोथ अथवा एपिडिडिमिसशोथ नहीं देखी, किन्तु प्राथमिक मैथुन प्रकार के उन्हें कई रोगी मिले। उनके अनुसार शुक्र-वाहिनी, शुक्राशय तथा प्रोस्टेट के भी क्षयग्रसित होने की सभावना हो सकती है किन्तु, प्रत्यक्ष रूप से ऐसा बहुत कम होता है। मैथुन-क्षय प्रमुख तौर पर शिश्नमुण्ड की सवम्यूकोसा, मुडचर्म तथा मुतान और निकट की लसीकाओं पर आक्रमण करता है। गाय के जननांगों का कोई भी भाग रोग-ग्रसित हो सकता है यद्यपि कि अंडाशयी प्रकार बहुत कम होता है।

केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र—मस्तिष्क में केसिएशन एवं कठोरीकरण के साथ सेरिब्रम की सतह पर क्षय ग्रसित तानिका-प्रमस्तिष्कशोथ (meningoencephalitis) का विकास होता है। बढ़ती हुई जीर्ण-शीर्णता तथा पक्षाघात, अति सम्वेदिता तथा प्रेरक क्षोभण जैसे चक्कर काटना, आदि इसके लक्षण हैं। लेखक के रोगियों में से एक गाय ने पागलपन रोग की भाँति उन्माद के लक्षण प्रदर्शित किए।

पाचन लक्षण—अँतड़ी में घावयुक्त क्षतस्थल रोगी पशु में दस्त तथा कमजोरी उत्पन्न करते हैं। बढ़ी हुई मध्यस्थानिका लसीका ग्रंथि ग्रासनली पर दबाव डालती है जिसके परिणामस्वरूप पशु द्वारा चारा खाने के बाद रूमेन में अफारा होकर उसका पेट फूल जाता है। यकृत में जब क्षयरोग ग्रसित अनेकों फोड़े होते हैं तो थपथपाने पर उसमें दर्द होता है। मलाशयी-परीक्षण करने पर उदर-झिल्ली खुरदरी प्रतीत होती है तथा मेसेन्टेरिक लसीका ग्रंथियाँ बढ़ी हुई मिलती हैं। विसृत उदर-झिल्लीशोथ के एक

रोगी में धीरे-धीरे हालत का गिरना तथा थपथपाने पर उदर में दर्द होना आदि लक्षण भूल से अभिघातज अमाशय शोथ के निदान की ओर ले गए।

कोर्स तथा फलानुमान—जब क्षय रोग का अधिक प्रकोप होता है तो मृत्यु, थनैली, संधि-रोग, बाँझपन तथा कुपोषण आदि से पशुओं की काफी क्षति होने लगती है। किन्तु, कभी-कभी बिना भीषण ह्रास के ही यह रोग एक पशुशाला में खूब प्रकोप कर सकता है। किसी भी समुदाय में जहाँ इसकी दर 15 प्रतिशत तक होती है, कुल ह्रास काफी अधिक होता है। लेखक के चल-चिकित्सालय के पहुँच के एक क्षेत्र में पहले इस बीमारी की दर लगभग 15 प्रतिशत थी और उस समय की चिकित्सा का अभिलेख यह प्रदर्शित करता है कि क्षयरोग से पीड़ित अनेक रोगियों की चिकित्सा की गई। आजकल वर्ष भर में मुश्किल से लेखक को एक रोगी मिलता है। बीमारी द्वारा होने वाली स्थायी क्षति इसके उन्मूलन के मूल्य से कहीं अधिक है।

रोग वाहक—गो-जातीय के क्षयरोग की यह एक विशेषता है कि जब किसी अंग में क्षय रोग के क्षतस्थल शरीर के किसी भी खुले द्वार से सीधा संपर्क रखते हैं तो उनसे लगातार इस रोग के जीवाणु बाहर निकलते रहते हैं। उडाल तथा वर्च[16] द्वारा परीक्षित 262 क्षयग्रसित गायों में से 20 प्रतिशत में टी० बी० का जीवाणु ग्रासनली में मिला जबकि 10·30 प्रतिशत में कोई भी लक्षण न मिले। यह तथ्य टी० बी० के "खुले हुए" तथा "बंद" क्षतस्थलों वाले रोगियों के मध्य विभेदी-निदान करने अथवा रोग-ग्रसित पशुओं को अलहदा करके संदूषण को कम करने के प्रयास की निरर्थकता को प्रदर्शित करता है। जब तक संक्रमण के मार्ग खुले रहते हैं, अपने चारों ओर छूत फैलाने के लिए एक रोग-वाहक भी काफी होता है।

ट्यूबर्क्युलिन जांच (tuberculin test)—ट्यूबर्क्युलिन-कोच की पुरानी ट्यूबर्क्युलिन क्षय रोग के जीवाणुओं को ग्लेसरीनयुक्त माध्यम में उगाकर तैयार की जाती है। इन जीवाणुओं को इस माध्यम में तब तक उगाया जाता है जब तक कि उनकी वृद्धि होना रुक नहीं जाता। संश्लिष्ट माध्यमों पर संवर्धनों को उगाकर भी ट्यूबर्क्युलिन को बनाया जा सकता है। पोर्सलीन फिल्टर से छानकर इसे ताप द्वारा जीवाणुरहित किया जाता है तथा मूल आयतन का 10 प्रतिशत भाग वाष्पीकृत कर दिया जाता है।

कोच ने मनुष्यों में क्षयरोग की चिकित्सा के लिए ट्यूबर्क्युलिन का प्रयोग किया तथा आज भी यह इस बीमारी को कुछ प्रकारों के प्रति चिकित्सा के लिए प्रयुक्त होती है। पशु-आयुर्विज्ञान में इसे केवल निदान के लिए ही प्रयोग किया जाता है।

आर्म्सबाइ तथा पियर्सन[17] (Armsby and Pearson) के अनुसार, "इस देश में गोपशुओं पर ट्यूबर्क्युलिन को सबसे पहले पेंसिलवेनिया विश्वविद्यालय के पशु-चिकित्सा-विज्ञान विभाग के क्षयरोग आयोग द्वारा प्रयोग किया गया जिसके अध्यक्ष प्रोफेसर जुइल थे और इस पदार्थ के प्रति उनकी रिपोर्ट अनुकूल थी।"

यदि क्षयरोग से पीड़ित पशु को ट्यूबर्क्युलिन का अधस्त्वक टीका दिया जाता है तो कभी-कभी स्थानीय तथा रचनात्मक प्रतिक्रिया के साथ पशु को बुखार आता है। यदि यह

इन्जेक्शन त्वचा में से दिया जाता है तो केवल स्थानीय प्रतिक्रिया ही होती है। रोग-ग्रसित पशु पर ट्यूबरक्युलिन का प्रभाव एक उग्र प्रतिक्रिया के रूप में होता है। ट्यूबरक्युलस प्रक्रिया रोगी को ट्यूबरक्युलिन में उपस्थित प्रोटीन के प्रति अति संवेदनशील बना देती है।

सन् 1890 में कोच द्वारा ट्यूबरक्युलिन की खोज के थोड़े दिनों बाद यूनाइटेड स्टेट्स में अधस्त्वक् जाँच (subcutaneous test) का श्री गणेश हुआ। मार्च सन् 1920 तक पशु-उद्योग-ब्यूरो द्वारा केवल यही परीक्षण मान्य था : ट्यूबरक्युलिन टेस्टिंग आफ लाइवस्टाक, सर्कुलर 249, यू० एस० डिपार्टमेंट आफ ऐग्रीकल्चर, 1936।[18] आजकल अतः त्वचा जाँच (intradermic test) ने इसे बिल्कुल ही हटा दिया है। इसमें अनेकों त्रुटियाँ हैं : (1) कभी-कभी क्षयरोग से ग्रसित पशु प्रतिक्रिया प्रदर्शित नहीं करते। ऐसा पशु को पहले ट्यूबरक्युलिन का टीका देने के कारण हो सकता है। जब 2 घ० सें० तक की मात्रा में ट्यूबरक्युलिन देकर प्रति 6 माह बाद पशुओं की जाँच की जाती है तो रोग-ग्रसित गायों की कुछ प्रतिशत तापक्रम प्रतिक्रिया प्रदर्शित नहीं करती। अतः में पशु-उद्योग-ब्यूरो ने 4 घ० सें० की मात्रा देना शुरू की और कभी-कभी इसे बढ़ाकर 10 से 20 घ० सें० तक दिया। कभी-कभी बेचने वाले पशुओं में प्रतिक्रिया रोकने के लिए जानबूझकर इसका इन्जेक्शन दिया जाने लगा। जब अधस्त्वक् जाँच का आमतौर पर प्रयोग होता था तो गायों में अन्तर्देशीय यातायात के लिए यह परीक्षण किया जाता था। तत्पश्चात् 60 से 90 दिनों में इसी ढंग से उनकी पुन जाँच की जाती थी। इसकी प्राकृतिक कठिनाइयों के साथ अधस्त्वक ढंग का यह दुर्पयोग अनेकों सम्भ्रान्ति तथा निराशाओं में परिणत हुआ। उडाल तथा वर्च[16] द्वारा किए गए प्रयोगात्मक कार्य के अन्तर्गत क्षयरोग ग्रसित पशुओं में किए गए 55 व्यक्तिगत अधस्त्वक् परीक्षणों में से 27·7 प्रतिशत में प्रतिक्रिया नहीं हुई। यह असफलता पशु की आयु तथा उसमें रोग के विकास की अवस्था से संबन्धित न थी। पशुओं को 2 घ० सें० की मात्रा में इन्जेक्शन देकर प्रति 6 माह बाद जाँच की गई। अन्य ढगों का प्रयोग करने से पूर्व, प्रत्येक 6 माह अथवा वार्षिक जाँच पर यूथों में 10 प्रतिशत प्रतिक्रिया मिलती थी तथा कभी-कभी कोई भी प्रतिक्रिया नहीं होती थी। प्रत्यक्ष रूप से खूब स्वस्थ एवं बिना प्रतिक्रिया प्रदर्शित करने वाले रोग-वाहक पशु की लार जब पशुशाला की नाँदों तथा चरही में लगती है तो यूथ में लाए गए नए पशुओं को इस रोग की छूत शीघ्र ही लग जाती है। (2) स्वस्थ गायों को बहुधा तेज बुखार हो जाया करता है और जब यह इन्जेक्शन के बाद वाले अवलोकनों से मिलता-जुलता है तो पशुओं को क्षय रोग से ग्रसित समझा जाकर बेकार में ही यूथ से निष्कासित किया जा सकता है।

अधस्त्वक् जाँच प्रारम्भ करने से पूर्व, पशु-पालक से खिलाने, रखने तथा परीक्षण करने वाली पशु सख्या के बारे में पूर्ण जानकारी कर लीजिए। परीक्षण हेतु कम से कम 12 उच्च कोटि के थर्मामीटर प्रयोग कीजिए। थर्मामीटर अच्छे किस्म के, पाँच इंच लम्बे तथा अन्त में छल्लेदार होने चाहिए जिससे कि उनमें 6 इंच लम्बा धागा, $\frac{3}{4}$ इंच वाला पर्दे का छल्ला तथा $\frac{1}{8}$ इंच चौड़ा $3\frac{1}{2}$ इंच का रबर बैंड बाँधा जा सके। थर्मामीटर, इन्जेक्शन पिचकारी तथा परीक्षण-चार्टों को अधिक सख्या में रखिए। सभी जाँच करने वाले पशुओं को बाँधकर परिचित वातावरण में रखिए। उनको थोड़ा मोटा चारा खिलाकर खूब पानी

पिलाइए। जिन पशुओ को पिछले एक दो वर्षों में ट्युवर्क्युलिन की अधिक माना दी गई हो उनसे अधिक सही परिणामो की आशा न कीजिए। इन्जेक्शन देने से पूर्व कम से कम तीन बार पशु का तापक्रम लीजिए तथा उन पशुओ को इस जाँच में न शामिल कीजिए जिन्हें 103° फारेनहाइट अथवा अधिक बुखार रहता हो। नियम के अनुसार गायो के लिए इसकी माना 2 से 4 घ० सें० होती है। इन्जेक्शन देने के आठवें घटे बाद पशु का तापक्रम लेना शुरू कर दीजिए तथा 18 वें घटे तक यह क्रिया जारी रखिए। यदि 18 वें घटे पर पशु अधिकतम तापक्रम प्रदर्शित करे तो जब तक तापक्रम गिर न जाए प्रति दो घटे पर इसे रिकार्ड करते रहिए।

अन्तर्राष्ट्रीय पशु-उद्योग-ब्यूरो के निर्देशनो के अनुसार "ट्युवर्क्युलिन का इन्जेक्शन देने के पूर्व लिए गए अधिकतम तापक्रम के ऊपर 2° फारेनहाइट या अधिक बुखार होना अथवा 103 8° फारेनहाइट से अधिक तापक्रम हो जाना क्षय रोग का सूचक है। तापक्रम का ग्राफ बनाने पर धनुष की भाँति टेढी रेखा मिलती है।"

तापक्रम का दो डिग्री फारेनहाइट अथवा 103 8° फारेनहाइट से ऊपर बढना क्षयरोग का सूचक है।

अत' त्वचा जाँच (Intradermic test)—सन् 1907 में पिर्कुएट (Pirquet) ने यह दिखाया कि त्वचा की ऊपरी पर्त के नीचे थोडी मात्रा में ट्युवर्क्युलिन का टीका देना स्थानीय सूजन तथा लालाई उत्पन्न करता है। तत्पश्चात् अत त्वचा विधि यूनाइटेड स्टेट्स में सरकारी परीक्षण के रूप में प्रयुक्त होने लगी। इससे बहुत ही कम खर्च पर अधिक पशुओ की जाँच हो जाती है। इसके प्रमुख लाभ निम्न प्रकार है (1) इसके प्रयोग करने की विधि इतनी साधारण है कि थोडे ही मूल्य पर देश अथवा प्रदेश के सभी पशुओ की जाँच हो सकती है, (2) अधिक सक्रमणित यूथो में, जहा अधस्त्वक् विधि द्वारा ट्युवर्क्युलिन का काफी माना में टीका दिया जा चुका हो, उनमें बीमारी के निदान के लिए यह विधि सर्वोत्तम है। गायें बहुत ही शीघ्र सवेदना से रहित हो जाती है क्योकि इसमें प्रयोग होने वाली माना काफी कम होती है। इस परीक्षण में जानबूझ कर गडबडी उत्पन्न करना आसान नही है।

विना क्षतस्थल वाले पशु—जब परीक्षण करके किसी क्षेत्र के अधिकाश रोग-ग्रसित पशु निकाल दिए जाते है, तब अतः त्वचा जाँच अपनाने से पूँछ पर सूजन विकसित हो सकती है जिसके कारण बीमारी से रहित गायें भी यूथ से निकाली जा सकती है। ऐसे क्षेत्र में "विना क्षतस्थल" वाले पशुओ की प्रतिशत अधिक होती है और जब किसी शुद्ध नस्ल के यूथ से कुछ ऐसे पशु निकल जाते है तो परिणाम की आलोचना की जाती है। इस कारण ऐसे यूथो में, उन यूथो की अपेक्षाकृत जो अधिक क्षय ग्रसित होते है, परीक्षण का अर्थ लगाने पर अधिक सचेत रहना पडता है। यद्यपि यह कथन कि "एक बार प्रतिक्रिया प्रदर्शित करने वाला पशु सदैव क्षयग्रसित होता है" सत्य है, किन्तु इसका यह अभिप्राय नही है कि सभी "प्रतिक्रियाएँ' ठीक ही होती है। हेस्टिंग्स[13] के अनुसार विस्कासिन में 30,010 गोपशुओ की जाँच की गई जिनमें से 1 12 प्रतिशत ने प्रतिक्रिया प्रदर्शित की और इनमें 22 ५ प्रतिशत विना क्षतस्थल वाले पशु मिले। यह सिद्ध हो चुका ह कि क्षय रोग के बैसिलस से सबधित कुछ सैप्रोफाइटिक जीवाणु होते है जो टिसुओ में घुसकर पशु को

ट्युबर्क्युलिन के प्रति सवेदनशील वना देते है तथा विना क्षतस्थल वाले कुछ रोगी छिपी हुई अवस्था में विद्यमान क्षय रोग के कारण होते है इनमें क्षतस्थल या तो प्रथमावस्था में होते है अथवा वे शरीर के ऐसे भागो में पाये जाते है जो प्राय रोग प्रसति नही होते, अथवा वे नगी आँख से दिखाई देने वाले नही होते। कुछ प्रतिशत भली भाँति परीक्षण न कर पाने अथवा प्रत्येक रोग-ग्रसित पशु का पता लगाने के लिए 'सघन अध्ययन" करने के कारण होती है। जिन यूथो में सक्रमण कम अथवा अनुपस्थित होता है, उनमें "सघन अध्ययन" हानिकारक सिद्ध हो सकता है।

जब यूथ की बार-बार अत त्वचा विधि द्वारा जाँच करने पर भी प्रतिक्रिया प्रदर्शित करने वाले पशु अथवा नगी आँख से दिखाई देने वाले क्षतस्थल न मिलें, तो अत त्वचा जाँच के प्रति धनात्मक सिद्ध होने वाले पशुओ को नष्ट करने से पूर्व सभी सभव प्रमाणों पर विचार कर लेना चाहिए। ऐसे समय में अवस्त्वक् जाँच बहुत ही लाभदायक सिद्ध होती है। बीमार गायें जो अत त्वचा अथवा नेत्र प्रतिक्रिया सदेहात्मक प्रदर्शित करती है, अधस्त्वक् परीक्षण के प्रति तेजी से प्रतिक्रिया दिखाती है। जब किसी प्रमाणित यूथ में अत त्वचा परीक्षण करने पर कई पशु सदेहात्मक मालूम होते है तथा अधस्त्वक् जाँच पर कोई भी पशु बढा हुआ तापक्रम नहीं प्रदर्शित करता है तो परिणाम ऋणात्मक होता है। सभवत प्रमाणित यूथो के बिना क्षतस्थलो वाले अधिकाश पशु अधस्त्वक् परीक्षण करने पर प्रतिक्रिया प्रदर्शित नही करते। जब तक कि प्रमाणित यूथो में कोई बिना क्षतस्थल वाले अधिकाश रोगी पशुओ को लेने के लिए तैयार न हो जाए, पशुओ को यूथ से निकालने से पूर्व सभी प्राप्य प्रमाणो पर विचार कर लेना चाहिए। हेस्टिंग्स[13] ने यह बताया कि विभिन्न यूथो में से निकाली हुई 1,063 गायो में से जिनमें केवल एक प्रतिक्रिया प्रदर्शित करने वाली गाय थी, 44 प्रतिशत बिना क्षतस्थल वाले रोगी मिले। बूनर[19] के अनुसार जैसे-जैसे प्रतिक्रिया प्रदर्शित करने वाले पशुओ की सख्या घटती है, बिना क्षतस्थल वाले पशुओ की सख्या बढती जाती है।

मोह्लर[12] ने बताया "कि अधिकाश पशु जिन्होने ट्युबर्क्युलिन के प्रति प्रतिक्रिया प्रदर्शित की तथा जिनमें शव-परीक्षण करने पर क्षय रोग के क्षतस्थल नही देखे जा सकें, उन यूथो के थे जिनमें क्षयरोग उपस्थित था। अत यह सभव मालूम देता है कि अधिकतर ऐसे पशु गो-जातीय क्षयरोग से पीडित होते हैं, यद्यपि नगी आँख से दिखाई देने योग्य उनमें बीमारी के क्षतस्थलो का विकास नही हो पाता। कुछ ऐसे उदाहरण भी प्राप्य है जिनमें ट्युबर्क्युलिन के प्रति प्रतिक्रिया प्रदर्शित करने वाले पशु उन यूथो में मिलते है जिनमें क्षय रोग का इतिहास ही नही मिलता। पिछले वर्ष इस प्रकार के तिकर्मियो (reactors) के अध्ययन का बडा अच्छा अवसर मिला। गूरेन्जी द्वीप से कुछ क्षय रोग रहित पशुओ का यातायात किया गया तथा जब इनकी बाल्टी मोर, मेरीलैंड में पुन. जाँच की गई तो उनमें सात पशु तिकर्मी मिले।" तीन में कोई भी क्षतस्थल न पाए गए। टीका दी गई गिनीपिग की प्लीहा में से एक पक्षी-जातीय क्षय का जीवाणु प्राप्त किया गया। इस रिपोर्ट में मोह्लर ने यह बताया कि मनुष्य का क्षय युक्त कफ खिलाए गए 6 गोपशुओ में से दो ने प्रतिक्रिया प्रदर्शित की। हेस्टिंग्स और उनके साथियो[14] ने अपने अध्ययन ने ' निष्कर्ष

निकाला "कि किए गए अवलोकन यह प्रकट करते हैं कि ट्युबवर्यलिन के प्रति धनात्मक सिद्ध होना क्षयरोग के जीवाणुओं के संक्रमण का शत-प्रतिशत प्रमाण नहीं है। कुछ अन्य माइकोबैक्टीरिया टिसुओं में घुसकर पशु को ट्युबर्युलिन के प्रति संवेदनशील बना देते हैं।

अंतः त्वचा जांच करने के कुछ निर्देश—आवश्यक सामग्री : पूंछ के पुटक को साफ करने के लिए रुई तथा ऐल्कोहल, 1/4 इंच वाली 25 नं० की पेचदार सुई के साथ 35–मिनिम की टीका देने वाली पिचकारी। पूंछ में टीका देने वाले स्थान को धोकर, ऐल्कोहल में भीगी रुई से साफ कीजिए। पूंछ के अन्दरूनी भाग पर त्वचा के अन्दर 1 मिनिम ट्युबर्युलिन का टीका दीजिए। न्यूयार्क स्टेट पशु-उद्योग-ब्यूरो[20] की राय के अनुसार 2 घ० सें० (30 मिनिम) की मात्रा में 50 से 60 इन्जेक्शन लगाने चाहिए। परीक्षण काल में पशुओं पर विशेष नियन्त्रण रखना चाहिए।

अंतः त्वचा जांच को पढ़ना—इन्जेक्शन देने के लगभग 72 घंटे बाद परिणाम देखिए तथा निम्न संकेत के अनुसार वर्गीकरण कीजिए : "—" ऋणात्मक; "×" 3/16 से 3/8 इंच सूजन के साथ कुछ प्रतिक्रियाएँ; "××" 9/16 से 15/16 इंच सूजन के साथ अधिक प्रतिक्रियाएँ; $1\frac{1}{8}$ से $1\frac{7}{8}$ इंच सूजन के साथ अत्यधिक प्रतिक्रियाएँ।

दोहरी अतः त्वचा ट्युबर्युलिन जांच—अतः त्वचा विधि का अन्वेषण होने के बाद अनेकों वर्षों तक इसे नेत्रीय-जाँच के साथ प्रयोग किया जाता था। अभी कुछ दिनों से ही इसका अकेले अथवा भग के अतः त्वचा इन्जेक्शन के साथ प्रयोग किया जाने लगा है। यह परीक्षण बायें भगोष्ठ के निचले भाग को बाएँ हाथ के अँगूठे तथा अँगुली से पकड़ कर तथा ऊपरी व निचले किनारों के मध्य त्वचा तथा श्लेष्मल झिल्ली को अलग करने वाली रेखा पर ट्युबर्युलिन का इन्जेक्शन देकर किया जाता है।

ऐसी यूथो में, जहाँ रोग-ग्रसित पशु सामान्य परीक्षणों के प्रति प्रतिक्रिया प्रदर्शित नहीं करते उनमें गर्दन के क्षेत्र जैसे "अति सवेदनशील" भागों में ट्युबर्युलिन का इन्जेक्शन दिया जाता है। इसे ग्रैवीय परीक्षण (cervical test) कहते हैं। स्विन्डिल आदि[25] (Swindle et al) लिखते हैं कि "जानी हुई रोग-ग्रसित यूथों में क्षयरोग के रोगियों का पता लगाने के लिए ग्रैवीय-जांच विशेष महत्व की है और इसका प्रयोग ऐसे यूथो तक ही परिमित रखना चाहिए।

नेत्र सबंधी ट्युबर्युलिन जांच—कैल्मीटी की नेत्र संबंधी प्रतिक्रिया सन् 1907 में प्रारम्भ हुई। इस जांच के लिए गाढ़ी ट्युबर्युलिन की एक बूंद आँख में डाली जाती है। लगभग दो घटे बाद दुबारा इसे डाल दिया जाता है तथा 6 घटे बाद परिणाम देखते हैं। कजंक्टाइवा की लालाई, पलकों की सूजन तथा भीतरी नेत्र कोण से पीव निकलने के लक्षणों द्वारा प्रतिक्रिया प्रदर्शित होती है। जाड़ों के दिनों में बड़ी-बड़ी पशुशालाओं में ट्युबर्युलिन डालने से पहले तथा बाद में कई पशुओं की आँखों से घूसर अथवा पीले रंग का श्लेष्मा बहता देखा जाता है। दवा डालने के परिणामस्वरूप चार से छः घटे बाद उनकी आँखों से गिरने वाला पदार्थ घूसर तथा गाढ़ा होकर कुछ-कुछ प्रतिक्रिया से मिलता-जुलता है, किन्तु यह अल्पकालीन होकर लगभग दो घटे बाद गायब हो जाता है। स्थायी

नत्र श्लेष्मला शोथ तथा पीवयुक्त गाढ़े स्राव के साथ विशिष्ट नेत्र सबधी प्रतिक्रिया होना क्षयरोग का द्योतक है। विशिष्ट रोगियो में नेत्र सबधी जाँच का कुछ महत्व अवश्य है, किन्तु इसका सामान्य प्रयोग लगभग समाप्त सा कर दिया गया है।

उत्सर्जित तथा स्रवित पदार्थों की जाँच—टघुबर्क्युलिन जांच के पूरक के रूप में थूक की जाँच के प्याले (sputum cup) द्वारा पशु की श्वासनली से श्लेष्मा लेकर गिनी-पिग में इन्जेक्शन देने पर कभी-कभी क्षयरोग के खुले हुए उन रोगियो का पता लग जाता है जो टघुबर्क्युलिन के प्रति प्रतिक्रिया प्रदर्शित नही करते। इस विधि के प्रयोग की तब आवश्यकता पडती है जब बार-बार जांच करने के बाद भी तिर्कमियो की प्रतिशत अधिक रहती है। जब अधस्त्वक् परीक्षण आमतौर पर प्रयोग होता था तो भी बहुत से पशुओं में टघुबर्क्युलिन की प्रतिक्रिया नही होती थी। अधस्त्वक् जाँच के प्रति प्रतिक्रिया प्रदर्शित करने वाले सभी पशुओं को निकालने के बाद भी लेखक ने यूथ में बार-बार एक या अधिक क्षयरोग के "खुले हुए" रोगी पाए। इस विषय पर उडाल तथा बर्च[16] ने एक रिपोर्ट भी प्रस्तुत की। योनि से उत्सर्जित पदार्थ, गोबर, दूध तथा सीधे श्वासनली से लिए गए निस्स्राव (exudate) से भी गिनीपिग को टीका दिया जा सकता है। ऐसे परीक्षण ओस्टर्टग योजना (Ostertag plan) के अन्तर्गत क्षय रोग के "खुले हुए" रोगियो का पता लगाने के लिए प्रयोग होते हैं।

क्षय रोग के नियत्रण की विधियाँ—सन् 1882 में क्षयरोग के जीवाणु तथा 1890 में टघुबर्क्युलिन की खोज के बाद डेरी व्यवसाय करने वाले देशो में क्षयरोग नियत्रण हेतु विभिन्न विधियाँ अपनाई गईं। यूनाइटेड स्टेट्स में सन् 1917 में कट्रोल की राष्ट्रव्यापी योजना चलाने से पूर्व ही क्षयरोग का अनेक व्यक्तिगत यूथो से उन्मूलन कर दिया गया था। किन्तु रोग के सामान्य वितरण पर इसका बहुत ही कम प्रभाव पडा। गो-पशुओ के अदल-बदल तथा फार्मों की अध्यक्षता में परिवर्तन के कारण इसका सक्रमण अपनी पूर्वावस्था पर वापस आ जाता था। प्रदेश एव राष्ट्रीय विनियोग द्वारा समर्थित "प्रमाणित यूथ योजना" (Accredited Herd Plan) को अपनाने के बाद, क्षेत्र परीक्षण, तिर्कमियो को शीघ्र हटाना, समुचित सफाई तथा ढोरो के यातायात को नियत्रित करके इसके सक्रमण को काफी कम कर दिया गया। सयुक्त राज्य पशुधन-स्वास्थ्य-सघ की क्षय रोग समिति की दिसम्बर सन् 1938 की रिपोर्ट के अनुसार "सभी प्रदेशो के समस्त क्षेत्र दिसम्बर सन् 1939 तक विकसित प्रमाणित क्षेत्र घोषित कर दिए गए।" इन विकसित प्रमाणित क्षेत्रो में क्षयरोग का प्रकोप 1 प्रतिशत के आधे से अधिक नही होता है। अब तक प्रयास किए गए प्रोग्रामों में से यह सबसे विस्तृत पशु रोग-नियत्रण प्रोग्राम है।

अनेक उदाहरणों में उन मार्गों पर, जिनसे क्षयरोग का जीवाणु चलता है, ध्यान न देने के परिणामस्वरूप रोग के कट्रोल करने में असफलता मिली है। इस कारण जहाँ क्षयरोग से ग्रसित गायो का पूर्ण रूपेण उन्मूलन करना अत्यन्त कठिन प्रतीत हुआ वहाँ पशुओं को पानी पीने तथा चारा खाने के लिए व्यक्तिगत नाँदें तथा चरही बनानी पडी। इस विधि द्वारा इस बीमारी को कुछ ही क्षेत्र तक सीमित रखना तथा प्रतिक्रिया न प्रदर्शित करने वाले "खुले हुए" रोगियो का पता लगाने से पूर्व इसके सक्रमण के प्रसार का रोका जाना सभव हो सका।

यूरुप में स्कैंडेनेवियन देशों में इस रोग के कंट्रोल करने की बैंग विधि काफी सफल द्ध हुई है। इस योजना के अन्तर्गत यूथ की प्रतिवर्ष ट्युवर्क्युलिन जाँच की जाती है ा क्षयरोग के लक्षण प्रदर्शित करने वाले सभी पशुओं को नष्ट कर दिया जाता है। ना लक्षण प्रकट करने वाले तिकर्मियों को यूथ से अलग कर दिया जाता है। बछड़ों जीवाणु रहित अथवा प्रतिक्रिया न प्रदर्शित करने वाली गायों का दूध पिलाया जाता । चूंकि बिना लक्षण प्रदर्शित करने वाले क्षयरोग के तिकर्मी पशु बहुधा इसकी छूत लाते हैं, अतः इस योजना की सफलता अधिकतर मनुष्य की बुद्धिमता तथा ज्ञान पर और ाथ-ही-साथ उसी फार्म पर प्रतिक्रिया प्रदर्शित तथा न प्रदर्शित करने वाले पशु-समूहों को लग रखने के ऊपर आधारित होती है।

ओस्टर्टग विधि बिना ट्युवर्क्युलिन की सहायता के क्षयरोग के खुले रोगियों को यूथ से तिम्राति शीघ्र निकाल देने पर आधारित है। चूँकि खुले तथा गुप्त रोगी के बीच सही पहचान करना असंभव सा है अतः यह विधि बहुत ही कम महत्व की है। रोग नियंत्रण हेतु प्रत्येक ंक्रमणित गाय को, चाहे वह लक्षण प्रकट न करती हो, क्षयरोग का खुला रोगी मानना चाहिए।

"क्षय रोग के बैसिलस का स्रोत तथा मार्ग जिनके द्वारा वे एक पशु से दूसरे के शरीर में प्रवेश पाते हैं सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि क्षय रोग की रोकथाम जितनी आवश्यक है उतनी ही आवश्यकता इस बात की रोकथाम की है कि क्षयग्रसित पशु के शरीर से स्वस्थ पशु अथवा मनुष्य में इसके जीवित जीवाणु न पहुँचने पावें" (वाट्सन)।[21]

क्षय रोग के प्रति प्रतिरक्षण—कोच ने इस बात का पता लगाया कि जब एक गिनी-पिग को पहला अधस्त्वक् इन्जेक्शन देने के बाद दूसरा इन्जेक्शन दिया जाता है तो पहला क्षतस्थल भरकर वह ठीक हो जाती है। इन अवलोकनों से यह आशा हुई कि क्षय-रोग की रोगहर चिकित्सा का पता लग गया है तथा मनुष्य में होने वाली कुछ प्रकारों के लिए इसे प्रत्यक्ष रूप में देखा भी गया। सन् 1890 से पशुओं के बचाव के लिए टीका लगाने की एक या अन्य प्रकार लगातार खोज होती रही है किन्तु समय के अनुसार कोई भी सही नहीं उतरी। इनमें से तेज तथा अउत्तेजित मनुष्य के क्षय रोग बैसिलस की विभिन्न विकसित प्रकारें निम्नलिखित हैं (वेहरिंग, क्लिमर, कोच) : ट्युबर्किल बैसिलस की उपापचयिक उपजात (हेमैन), पित्तयुक्त माध्यम की वृद्धि द्वारा शक्ति क्षीण किया हुआ ट्युबर्किल बैसिलस (कैलमीटी और गुइरिन)। इस समय मनुष्य तथा ढोर दोनों के लिए यूरुप में कैलमीटी विधि का लोग अधिक समर्थन करते हैं। कैलमीटी विधि (बी० सी० जी०) के साथ किए गए प्रयोग काटन और क्राफोर्ड[22], वाट्सन[23] तथा हैरिंग, ट्राम, हेज और हेन्री[24] द्वारा रिपोर्ट किए गए। उनके परिणाम अमरीका में इस वैक्सीन के प्रयोग के समर्थन में नहीं हैं। वाट्सन ने यह निष्कर्ष निकाला कि "5 या 6 वर्षों तक किया गया तुलनात्मक अध्ययन इस बात की पुष्टि नहीं करता कि बी० सी० जी० वैक्सीन गोजातीय क्षयरोग के प्रति बचाव के लिए सर्वोत्तम है। जैसे-जैसे पशुओं की आयु बढ़कर वे लैंगिक परिपक्वता की ओर बढ़ते हैं, उनमें क्षयरोगीय प्रतिक्रियाओं के विकास करने की प्रतिशत बढ़ती जाती है तथा पशु को पुनः टीका देने से बहुत से पशुओं में बढ़ती हुई बीमारी

संदर्भ

1. Villemin, J. A., Recueil de Med. Vet. (Alfort), 1867, vol. 5.
2. Koch, R., Die Aetiologie der Tuberkulose, Eng. trans. by Mrs. and Dr. M. Pinner, New York, Nat'l. Tuberculosis Ass'n, 1932.
3. Griffith, A. S., and Munro, W. T., Human pulmonary tuberculosis of bovine origin in Great Britain, J. Hyg. (London) 1944, 43, 229.
4. Schalk, A. F., Resuls of some avain tuberculosis studies, Rep. U. S. Livestock San. Assoc., 1927, p. 852.
5. Plum, N., Tuberculous abortiondisease in cattle, Cornell Vet., 1926, 16, 237.
6. Harshfield, G. S., and Roderick, L. M., Avian tuberculosis of sheep, J. A. V. M. A., 1934, 85, 597.
7. Watson, E. A., The excreation of tubercle bacilli from the udder, 12th An. Rep. International Assoc. of Dairy and Milk Inspectos, 1931, O. 242.
8. Traum, J., Making cattle environs free from infection eliminated by tuberculous cattle, J. A. V. M. A., 1917-18, 52, 289.
   —Rep. Univ. of Calif. College of Agr. and Agr. Exp. Sta., 1918-19, p. 83.
9. McFarlane, D., Garside, J. S., Walts, P. S., and Stamp., and J. T., An outbreak of udder tuberculosis due to udder irrigation, Vet. Rec,. 1944, 56, 369.
10. Tice, F. J., Man a source of bovine tuberculosisin cattle, Cornell, Vet., 1944, 34, 363.
11. Osler, Principles and Practice of Medicine, ed. 13, 1938, 198.
12. Mohle, J., An. Rep. of Chief, U. S. B. A. I., 1931 ; 1937, p. 6.
13. Hastings, E. G., Beach, B. A., and Weber, C. W., No lesion and skin-lesion tuberculin-reacting cattle, J. A. V. M. A., 1924-25, 66, 36.
14. Hastings, E. G., B. A., and Thompson, I., The sensitization of cattle to tuberculin by other than tubercle bacilli, Am. Rev. Tuberc., 1039, 22, 218.
15. Williams, W. L., The Diseases of the Genital Organs of Domestic Animals, 1921.
16. Udall, D. H., and Birch. R. R., The diagnosis of open cases of tuberculosis, An. Rep. N. Y. State Vet. Col., 1914, p. 55.
17. Armsby, H. P., and Pearson, Leonard, The Koch test for tuberculosis, Penna, State Col. Agr. Exp. Sta. Bull. No. 21, 1892.
18. Lash, E., Tuberculin testing of livestock, U. S. Dept. Agr. Cir. No. 249, 1936.
19. Bruner, S. E., Eradicating tuberculosis in Pennsylvania, J. A. V. M. A., 1920-21, 58, 147.
20. Faulder, E. T., Instructions for Veterinarians engaged in disease control work. Albany, N. Y., Dept. of Agr. and Markets, 1935.
21. Watson, E. A., The Calmette-Guerin, B. C. G. vaccine, Rep. of the Director Veterinary General, Ottawa, 1929, p. 31.

22. Cotton, W. E., and Crawford, A. B., Second report on the Calmette-Guerin method of vaccinating animals against tuberculosis, J. A. V. M. A., 1932, 80, 18.
23. Watson, E. A., A comparative study of vaccination with living tubercle bacilli with special rference to B. C. G., 11th. Internationol Vet. Congress, London, 1930, 2, 104.
24. Haring, C. M., Traum, Hayes, F. M., and Henry, B. S., Vaccination of calves against tuberculosis with calmette-Guerin culture (B. C. G.), Hilgardia, 1930, 4, 307.
25. Swindle, B. C., Baisden, L. A., Johnson, H. W., and Henley, R. R., Studies of tuberculin. I. The comparison of various types of tuberculin tests on reactor cattle, Proc., U. S. Livestock San. Assoc., 1950, p. 110.

जोने-रोग

(Johne's Disease)

(पुराना कीटाणु अतिसार, दीर्घकालिक असत ट्युवर्क्युलस आंत्रार्ति, पैराट्युवर्क्युलोसिस)

परिभाषा—जोने रोग गो-पशुओं का एक अति प्राणघातक संक्रामक रोग है जिसमें लगातार दस्त होना तथा हालत का गिरते जाना महीनों तक देखा जाता है। शव-परीक्षण करने पर अँतड़ी की श्लेष्मल झिल्ली नार्मल से कई गुनी मोटी तथा झुर्रियों दार दिखाई पड़ती है। यह रोग एक विशिष्ट एसिड स्थायी जीवाणु के द्वारा उत्पन्न होता है जो देखने में क्षयरोग के जीवाणु से मिलता-जुलता है। गो-पशुओं में यह रोग प्रमुख महत्त्व का है, तथा भेड़ों को भी यह बीमारी हो सकती है (ईवलेय[1], टेलर[2])।

इतिहास—प्रत्यक्ष रूप से इस बीमारी को अठारहवीं शताब्दी में जाना गया, किन्तु बीसवीं सदी के प्रारम्भ तक इस पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। सन् 1895 में जोने और फ्रोथिंघम[3] ने अँतड़ी के क्षतस्थलों में एसिड स्थायी जीवाणु की उपस्थिति बताई। उन्होंने इस बीमारी को एक प्रकार का क्षयरोग तथा एसिड स्थायी छड़ को पक्षी-जातीय ट्युबर्किल बैसिलस माना। डेन्मार्क में सन् 1906 से पूर्व वर्षों तक ढोरों में एक पुरानी न ठीक होने वाली आंत्रार्ति को होते देखा गया जबकि बैंग[4] ने यह घोषणा की कि इसके क्षतस्थल में पाया जाने वाला एसिड स्थायी जीवाणु न तो पक्षी-जातीय ट्युबर्किल बैसिलस था और न स्तनधारीय ट्युबर्किल बैसिलस की अपकर्षित प्रकार, बल्कि इनसे भिन्न यह एक विशिष्ट जीवाणु था। बीमारी का नामाकन करने हेतु, जिसें पहले क्षय रोग का विशिष्ट प्रकार समझा जाता था, उन्होंने ढोरों की दीर्घकालिक असत ट्युबर्कुलस आंत्रार्ति (enteritis chronica bovis pseudotuberculosis) अथवा पैराट्युबर्कुलोसिस नाम दिया। रोग ग्रसित अँतड़ी की श्लेष्मल झिल्ली खिलाकर बैंग ने इस बीमारी का प्रयोगात्मक रूप से पशुओं में संचार किया। विकृत शरीर रचना तथा लक्षणों का उन्होंने पूर्ण रूपेण वर्णन किया। उनके अनुसार इस बीमारी का उद्भवन काल लम्बा होता है, यह धीरे-

धीरे फैलती है, बार-बार लक्षण उत्पन्न होते है, कभी-कभी तेजी से मांस बढ़ता है, हल्के प्रकोप से पशुओं के अच्छे होने की सभावना रहती है तथा उग्र रूप में इसकी कोई चिकित्सा नहीं है। बाद में अध्ययन करने वाले वैज्ञानिकों ने बैंग के लक्षणों तथा क्षतस्थलों के वर्णन में थोड़ी-बहुत और वृद्धि कर दी। सन् 1907 में मे' फैडियन[5] ने इस बीमारी को इंगलैंड में होते बताया। विशिष्ट कारण तथा रोग की प्रकृति के बारे में उन्होंने बैंग के कार्य की पुष्टि की तथा इसे जोने रोग नाम दिया। बैसिलस को सबसे पहले ट्वार्ट[6] (Twart) ने सन् 1911 में विशुद्ध संवर्धन में उगाया। यूनाइटेड् स्टेट्स में सबसे पहले इस रोग का वर्णन लेवनार्ड पियर्सन[7] (Leonard pearson) द्वारा किया गया।

कारण—यूरुप तथा इंगलैंड में जोने रोग खूब प्रकोप करता है। बीच (Beach) तथा उनके साथियों[8] के अनुसार इंगलैंड में इसकी अनुमानित छूत एक प्रतिशत है। उन्होंने यह भी बताया कि अमेरिका के 27 प्रदेशों में यह बीमारी फैलती है जिसमें कृषि महाविद्यालय के आठ यूथ तथा विस्कासिन के 76 यूथ भी सम्मिलित हैं। सन् 1930 में लैश तथा मोह्लर[9] ने लिखा कि "इसमें कोई सदेह नहीं कि इस बीमारी की छूत लगभग प्रत्येक देश में फैल चुकी है" तथा सन् 1945 में जान्सन[10] ने बताया कि बीमारी जो पहले से ही बहुव्यापक है, अपने प्रकोप में और बढ़ती जा रही है। अपने वितरण में, कुछ यूथों में यह भीषण स्थानिकमारी की भाँति प्रकोप करती है। इस देश के किसी भी क्षेत्र की यूथों में यह बहुव्यापक नहीं है।

सन् 1949 में यूनाइटेड स्टेट्स में इसके निम्नलिखित प्रमुख केन्द्र बताए गए : न्यु जर्सी, ओहायो, इण्डियाना, विस्कासिन, वाशिंगटन तथा ओरेगन, सेन्ट्रल मिनीसोटा तथा कैलीफोर्निया का उत्तरी पश्चिमी भाग। दक्षिणी डकोटा, मिसौरी, कैन्सास, ओक्लाहामा, उटह, इदाहो, एरिजोना और वायोमिंग के क्षेत्र इससे मुक्त हैं। अन्य स्थानों में भी थोड़ा-बहुत इसका सक्रमण फैला हुआ है।[24]

स्थायी रूप से बिना लक्षण प्रकट करने वाले रोग-ग्रसित तथा संक्रमणित पशुओं की उपस्थिति के कारण इसका अनुमानित वितरण संभवतः काफी कम है।

क्षारीय मिट्टी वाले क्षेत्रों की अपेक्षा अम्लीय भूमि पर रहने वाले पशुओं में इस बीमारी के लक्षण अधिक सक्रिय होते हैं।

हेस् (बर्न) के अनुसार गरमी के दिनों में इसका मौसमिक प्रकोप अधिक होता है। उनका कहना है कि यह रोग चरागाहों पर चरने वाले पशुओं में अधिक देखा जाता है। गरमियों में इसकी प्रत्यक्ष बढ़ोत्तरी के कारण जो कि बसंत और पतझड़ में किए गए प्रयोगों से स्पष्ट है, हेगन[11] ने बताया कि चरागाह से इसका पुनः सक्रमण होने की भी सभावना रहती है।

दो से छह वर्ष की आयु के पशुओं में इस रोग का अधिक प्रकोप होता है। कम आयु के पशुओं को इसकी छूत शीघ्र लगती है किन्तु 6 माह से 1 वर्ष का लम्बा उद्भवन काल होने के कारण भौतिक लक्षण प्रायः तभी देखने को मिल पाते हैं जब पशु परिपक्व होने लगता है। बछड़े प्रायः जोनिन के प्रति प्रतिक्रिया प्रदर्शित करते हैं। अर्नेस्ट[12]

द्वारा किए गए एक परीक्षण में "काफी बड़ी संख्या में युवा पशुओं ने प्रतिक्रिया प्रदर्शित की। तीन सप्ताह से छ माह की आयु वाले इक्कीस बछड़ों के एक यूथ में सत्तरह पशु तिकर्मी तथा दो धनात्मक पाए गए।" संवारण प्रयोगों के परिचालन में मेयर[13] को तब अधिक सफलता मिली जब युवा पशुओं का प्रयोग किया गया और उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि "संभवतः इस बीमारी का प्राकृतिक संक्रमण संदूषित वातावरण अथवा रोग-ग्रसित मादाओं के संपर्क द्वारा बछड़ों को जीवन के प्रारम्भ काल में ही लग जाता है। उन चरागाहों से भी इसकी छूत लगने की संभावना रहती है जहाँ माइकोबैक्टीरियम पैराट्युबर्कुलोसिस एक मृतोपजीवी जीवन व्यतीत करता है और यह छूत प्रौढ़ पशुओं के लिए संभवतः अधिक महत्वपूर्ण है।" ट्वार्ट तथा इंग्रम[14] द्वारा तैयार किए गए मानोग्राफ में चेनल द्वीपसमूहों (Channel Islands) से यह रिपोर्ट किया गया है कि परिपक्व स्वस्थ गायों को (5 से 6 वर्ष आयु की) जब संक्रमणित फार्मों पर रखा जाता है तो उनको यह बीमारी नहीं होती तथा इसका प्रकोप विशेषकर तराई के क्षेत्र वाले प्रान्तों तक ही परिमित रहता है। न्यूयार्क के एक यूथ में जहाँ पिछले पाँच वर्षों में जोने रोग से पाँच पशु मरे, उडाल ने 20 प्रौढ़ पशुओं तथा 8 बछड़ों वाले पूरे यूथ की जोनिन का अंतःशिरा इन्जेक्शन देकर जाँच की। इनमें से 9 ने प्रतिक्रिया प्रदर्शित की जिनमें से 6 की आयु 2 वर्ष की थी। अन्य पशुओं की आयु 3,4 तथा 7 वर्ष की थी। लगभग सभी तिकर्मियों ने भौतिक लक्षण प्रदर्शित किए। पशुओं में इस रोग के प्रति आयु प्रतिरक्षा भी होती है।

जीवाणु विज्ञान—माइकोबैक्टीरियम पैराट्युबर्क्युलोसिस (जोने बैसिलस) क्षय रोग के जीवाणु से इतना अधिक मिलता-जुलता है कि माइक्रास्कोप के अन्दर इसे अलग पहचानना काफी कठिन हो जाता है। किन्तु, आकार में छोटा होने तथा टिसुओं तथा गोबर में समूह बनाकर रहने के गुणों द्वारा इसे पहचाना जा सकता है। इसके एसिड स्थायी तथा एल्कोहल स्थायी गुण ट्युबर्किल बैसिलस की भाँति ही होते हैं। इसको कृत्रिम माध्यम में उगाना काफी कठिन होता है तथा इसकी उत्क्रामक प्रजातियाँ भी अक्सर देखने को मिलती हैं। हेस्टिंग्स आदि[8] का कहना है कि जोने रोग के अनुमानित क्षतस्थलों से पक्षी-जातीय ट्युबर्किल बैसिलस से मिलते-जुलते जीवाणुओं का अलगाव करने पर भी ध्यान देना चाहिए और उन्होंने इस कारण इनमें और भी अधिक सम्बन्ध पाया कि पक्षी जातीय ट्युबर्क्युलिन को जोने रोग के निदान के लिए प्रयोग किया जाता है।

पशु के शरीर में यह जीवाणु रोग-ग्रसित श्लेष्मल झिल्ली तथा मेसेण्टेरिक लिम्फ ग्रंथियों में निवास करता है। रोग-ग्रसित टिसुओं का हिस्टालोजिकल परीक्षण करने पर ये जीवाणु काफी बड़ी संख्या में पाए जाते हैं। रेक्टम की श्लेष्मल झिल्ली की खरोंच का स्लाइड पर लेप बनाकर माइक्रास्कोप में देखने पर अनेकों जीवाणु दिखाई पड़ते हैं। पशु वर्षों तक अपने शरीर में इसके जीवाणु छुपाए रख सकते हैं और फिर भी बीमारी के लक्षण नहीं प्रदर्शित करते। ढोरों, खरगोशों तथा सूकरों की ग्रंथियों का संवर्धन करके हेस्टिंग्स आदि[8] ने यह देखा कि शरीर की सभी ग्रंथियों में तथा प्रत्यक्ष रूप से पूर्णरूपेण स्वस्थ दिखाई देने वाले पशुओं में एसिड स्थायी जीवाणुओं को पाया जा सकता है।

जहाँ तक ज्ञात है इस रोग के जीवाणु अन्य किसी ढंग से न निकल पाकर केवल गोबर में ही शरीर से बाहर निकलते हैं। संभवतः लक्षण प्रकट होने से बहुत पहले ही वे शरीर से बाहर निकलने लगते हैं। ऐसा अनुमान किया जाता है कि 40 से 50 प्रतिशत रोग-ग्रसित पशुओं के गोबर में ये जीवाणु बाहर निकलते हैं। शरीर के बाहर ये जीवाणु कहाँ रहते हैं, यह तथ्य अज्ञात है। जोने बैसिलस के जीवित रहने पर लॉवेल (Lovell), लेवी (Levi) तथा फ्रांसिस[21] (Francis) द्वारा किए गए प्रयोगों से यह पता चला कि प्राकृतिक रूप से संक्रमणित गोबर को वातावरण की परिस्थितियों में खुला रखने पर 246 दिनों तक यह जीवाणु जीवित रहा किन्तु, 284 दिनों तक नहीं। बैंग के अनुसार, कभी-कभी यह बीमारी एकाएक गायब हो जाती है। इसके विपरीत यह बहुत जल्दी फैल सकती है।
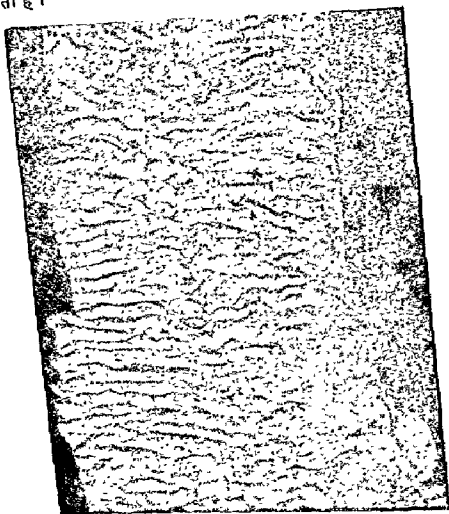
चित्र—89. जोने रोग (पुराना कीटाणु अतिसार) से पीड़ित पशु की इलियम की श्लेष्मल झिल्ली (हैगन और जीसिंग, रिपोर्ट न्यूयार्क स्टेट वेटनेरी कालेज, 1927-28)।

कृत्रिम टीका आमतौर पर किसी भी प्रयोगशाला पशु में सफल नहीं होता यद्यपि कि अधिक मात्रा में देने से इसकी छूत फैल सकती है। हैगन और मसफील्ड[15] ने बैसिलस का उदर झिल्ली में इन्जेक्शन देकर गिनी-पिगों में लगातार बृहत् ओमेण्टम के पेरिटोनियल

क्षतस्थल उत्पन्न किए। अंतः शिरा इन्जेक्शन देकर अथवा बैसिलस का संवर्धन या क्षतस्थल का पदार्थ खिलाकर ढोरों में भी इस बीमारी को उत्पन्न किया जा सकता है। रोग का प्राकृतिक संक्रमण आहार-नाल द्वारा होता है। वैसे तो शरीर के बाहर किसी भी स्रोत से यह बैसिलस नहीं प्राप्त किया जा सका फिर भी, रहन-सहन तथा देख-भाल की विभिन्न परिस्थितियों में रोग का बहुवितरण यह सिद्ध करता है कि जहाँ कहीं भी मल संदूषण होता है वहाँ यह जीवाणु जीवित रहता है।

विकृत शरीर रचना—इस बीमारी से मरे हुए पशु का शव बहुत ही जीर्ण-शीर्ण दिखाई पड़ता है। वसीय तन्तु बहुत ही कम होकर चिपचिपे से हो जाते हैं। उदर-गुहा

चित्र—90. जोने रोग से पीड़ित पशु।

को खोलने पर छोटी आँत मोटी दिखाई पड़ती है। यह मोटाई भिन्न-भिन्न भागों में होकर सामान्य भागों द्वारा अलग रहती है तथा अँतड़ी के अंतिम भाग में यह सबसे अधिक होती है। छोटी अँतड़ी के रोग-ग्रसित भाग को खोलने पर, उसकी श्लेष्मल झिल्ली अपनी सामान्य मोटाई से तीन चार गुनी मोटी तथा झुर्रियोंदार पाई जाती है। झुर्रियों की सतह पर श्लेष्मल झिल्ली चिकनी प्रतीत होती है किन्तु, गहराई में यह कुछ-कुछ खुरदरी तथा कट-फटी मालूम देती है, यद्यपि इसके पदार्थ का ह्रास नहीं होता। कभी-कभी पूर्ण आहार-नाल रोग-ग्रसित मिलती है फिर भी पुराने रोगियों में अँतड़ी की दीवाल में होने वाले परिवर्तन इतने कम होते हैं कि उनका पता लगाना ही कठिन हो जाता है। सीकम पर प्रायः चकत्ते के रूप में धारियाँ मिलती हैं। बीच तथा हेस्टिंग्स[8] ने अपने लेख में इलियोसीकल वाल्व की सूजन पर अधिक जोर देते हुए यह बताया कि यह अधिक सूजकर अपने सामान्य आकार से पन्द्रह बीस गुना मोटा हो जाता है। प्रतिक्रिया प्रदर्शित करने वाले उन पशुओं में जिनमें कोई अन्य लक्षण नहीं दिखाई पड़ते केवल इलियोसीकल वाल्व ही काफी बढ़ा हुआ तथा सूजा मिलता है। मेसेण्टेरिक लिम्फ ग्रंथियाँ प्रायः बढ़ जातीं तथा गीली हो जाती हैं। किन्तु, इनमें नंगी आँख से दिखाई देने वाले

कोई अन्य प्रमाण न दिखाई देने पर, एसिड स्थायी बैसिलस को माइक्रास्कोप द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है। किन्तु, आधुनिक विचार धारा के अनुसार पूर्णरूपेण स्वस्थ दिखाई देने वाले पशुओं की ग्रंथियों में मृतोपजीवी रूप में एसिड स्थायी जीवाणु पाए जाने के कारण, केवल इनकी उपस्थिति पर ही इस बीमारी का निदान करना सही नहीं मालूम पड़ता।

माइक्रास्कोपिक परिवर्तन—अँतड़ी की श्लेष्मल झिल्ली में विशिष्ट परिवर्तन मिलते हैं। इसमें एक अथवा अनेक न्यूक्लियस वाले बड़े-बड़े एपिथीलिअल कोशिकाओं के समूह मिलते हैं। इन समूहों के चौतरफा श्वेताणुओं तथा लिम्फोसाइटों की एक पट्टी मिलती है। लिम्फ ग्रंथियों में भी ऐसी ही एपिथीलिअल अथवा भीम कोशिकाएँ पाई जाती हैं। अँतड़ी की दीवाल अथवा लिम्फ ग्रंथियों से स्लाइड तैयार करके जील्-नील्सन विधि द्वारा अभिरंजन करके समूह में स्थित अनेकों एसिड स्थायी जीवाणुओं को देखा जा सकता है। ऊति गलन तथा कैसिएशन बिल्कुल ही नहीं होता। यह परिवर्तन ट्युबर्किल की प्रारम्भिक अवस्था की भाँति ही होते हैं और ट्युबर्किल की भाँति "यह प्रारम्भिक निर्माण में अपने अवयवों अथवा प्रबंध में कोई भी विशिष्टता अथवा विचित्रता नहीं प्रदर्शित करते"—ओस्लर।[16]

लक्षण—इस रोग का उद्‌भवन काल 6 माह से लेकर एक वर्ष तक का अनुमान किया जाता है तथा अनेकों उदाहरणों में यह इससे भी अधिक मिलता है। 2 से 3 वर्ष की आयु के बछड़ों में यह बीमारी अधिक होती है। गो-जातीय क्षयरोग की अपेक्षाकृत इसकी छूत धीरे-धीरे फैलती है। एक फार्म पर एक वर्ष में प्रायः एक या दो पशुओं को यह बीमारी हुआ करती है। बीच[3] ने इस बीमारी का एक उदाहरण प्रस्तुत करते हुए यह बताया कि सन् 1910 में एक यूथ में तीन नए पशु बाहर से लाकर सम्मिलित किए गए। इनमें से जोने रोग के लक्षणों के कारण दो को सन् 1912 में तथा तीसरे को सन् 1913 में बेच दिया गया। सन् 1913 से 1921 की अवधि में पन्द्रह पशु हटाए गए। एक दूसरे यूथ में रोग-ग्रसित पशु के प्रवेश के दो वर्ष बाद अन्य पशुओं में बीमारी के लक्षण देखे गए। बिना मरोड़ के लगातार बदबूदार दस्त होना इसका प्रथम विशिष्ट लक्षण है। पशु की खान पान में रुचि सामान्य रहती है तथा देखने में वह पूर्ण स्वस्थ लगता है। दुधारू पशु में दूध का उत्पादन कम हो जाता है। रोगी पशु का तापक्रम सामान्य रहता है तथा उसकी हालत धीरे-धीरे गिरती जाती है। नाड़ी-गति नार्मल से कुछ अधिक हो जाती है। सूखा चारा अथवा दवा खिलाकर यदि दस्तों को रोक दिया जाता है तो वे शीघ्र ही पुनः होने लगते हैं। बिना किसी चिकित्सा के ही दस्त आना महीनों तक बन्द हो सकता है तथा पशु सामान्य गोबर करने लगता है। ऐसे रोगियों में अच्छे खान-पान के कारण ऐसा होता देखा जाता है। बँग[4] ने एक रोगी को एक माह में 50 पौण्ड बढ़ते देखा। बँग तथा हेस् ने इन रोगियों में विशेष प्रकार के तन्त्रिकीय लक्षणों की भी चर्चा की। पशु को चरागाह पर चराने अथवा हरा चारा देने से और भी तेज दस्त आने लगते हैं। अन्त में पशु अत्यन्त ही जीर्ण-शीर्ण हो जाता है, उसकी आँखें अन्दर को ओर धँस जाती हैं तथा वह लगातार पीठ झुकाकर खड़ा होता है।

बहुधा यह बीमारी पशुओं के ब्याने के बाद सक्रिय होती दिखाई देती है। इससे यह स्पष्ट है कि यह महीनों तक पशु के शरीर में गुप्त रूप से मौजूद रहती है तथा बच्चा

देने के बाद प्रकट हो जाती है। ऐसी गायों की भी जोने रोग से मृत्यु होती देखी गई है जिनका गोबर सदैव ही सामान्य रहा।

निदान—धीरे-धीरे शारीरिक क्षीणता के साथ पशु को दस्त होना पैराट्युबर्कुलोसिस का सूचक है। उन यूथों में जिनमें इस बीमारी का संक्रमण मौजूद हो, ब्याने के बाद उक्त लक्षणों का प्रकट होना इस रोग की पुष्टि करता है। मलाशयी-परीक्षण करके मलाशय की श्लेष्मल झिल्ली पर पड़ी हुई झुर्रियों को महसूस किया जा सकता है, किन्तु यह अस्वाभाविक है। अँगुली के नाखून से रेक्टम की श्लेष्मल झिल्ली की खरोंच लेकर माइक्रास्कोप में देखने से एसिड स्थायी जीवाणु मिलते हैं, तथा "अनुभवी दर्शक जीवाणु को देखकर बीमारी की पहचान कर लेता है।"[23] यदि बीमारी का कोई अन्य प्रमाण उपलब्ध नहीं है तो एसिड स्थायी छड़ के महत्त्व को अनिश्चित समझना चाहिए है। ऋणात्मक परिणाम संक्रमण की सम्भावना को निष्कासित नहीं करते।

बैसिलस को विशुद्ध संवर्धन में उगाने के बाद जोनिन (पैराट्युबर्क्युलिन) को सबसे पहले ट्वार्ट तथा इंग्रम[9] द्वारा तैयार किया गया। ट्युबर्क्युलिन निर्माण करने की विधि के अनुसार इसे जोने बैसिलस से तैयार किया जाता है। कृत्रिम माध्यम में समुचित रूप से उगाने की कठिनाई के कारण इसे बनाना काफी खर्चीला पड़ता है। अर्नेस्ट[12] के अनुसार क्षयरोग में ट्युबर्क्युलिन की भाँति ही, इस बीमारी में जोनिन अपनी तापक्रम प्रतिक्रियाएँ प्रदर्शित करती हैं। बीच[8] ने विस्कांसिन में जोनिन का खूब प्रयोग किया तथा यह बताया कि यह पक्षी-जातीय ट्युबर्क्युलिन से अधिक उपयोगी है। जोनिन के बारे में ऐसा कहा जाता है कि क्षय रोग से पीड़ित पशुओं में यह प्रतिक्रिया उत्पन्न नहीं करती। सन् 1945 में जान्सन[10] ने यह बताया कि अब मैमेलियन ट्युबर्क्युलिन की बराबर की शक्ति की अंतः त्वचा जोनिन भी तैयार की जाने लगी है तथा उन्होंने यह भी बताया कि पिछले दिनों में प्रयोग होने वाली जोनिन अधिक शक्तिशाली नहीं थी। किन्तु, हैगन और जीसिग[17] का कहना है कि जोनिन उन गो-पशुओं में प्रतिक्रिया उत्पन्न करती है जो पक्षी-जातीय ट्युबर्किल बैसिलस के प्रति संवेदनशील होते हैं। हैगन[11] ने जोनिन के सभी उत्पादों को अंतः शिरा इन्जेक्शन द्वारा दी गई पक्षी जातीय ट्युबर्क्युलिन से निम्नकोटि का पाया। वैसे तो जोनिन अनेकों संक्रमणित पशुओं को स्पष्ट कर देती है किन्तु, इसके प्रयोग से संक्रमणित यूथों से बीमारी का उन्मूलन करना संभव नहीं हो सका है। ऐसा जोनिन की रोग-ग्रसित पशुओं का पता लगाने की असफलता के कारण अथवा मनुष्य द्वारा संक्रमण के स्रोतों पर काबू न पा सकने के कारण होता है, यह अभी तक ज्ञात न हो सका है। अंतः शिरा जोनिन जाँच की विधि निम्न प्रकार है :

जोनिन का इन्जेक्शन देने से पूर्व दो घंटे के अवकाश पर पशु का तीन बार तापक्रम लीजिए। जिन पशुओं को 103° फारेनहाइट अथवा अधिक बुखार हो उन्हें इस जाँच से निकाल दीजिए। तीसरी बार तापक्रम लेने के तत्काल बाद जोनिन की निश्चित मात्रा अंतः शिरा इन्जेक्शन द्वारा दे दीजिए। इन्जेक्शन देने के एक घंटे बाद पशु का तापक्रम लेना शुरू कर दीजिए तथा बारह घंटे तक प्रति घंटा लेते रहिए। इन्जेक्शन देने के एक घंटे बाद पशु का तापक्रम बढ़ सकता है किन्तु, अधिकांश प्रतिक्रियाएँ तीन से आठ घंटे

में देखी जाती है। इन्जेक्शन देने से पूर्व लिए गए तापक्रम के ऊपर 1.5° अधिक बुखार होना प्रतिक्रिया का सूचक है। किन्तु, यह बढ़ोत्तरी कम से कम तीन घंटे तक लगातार होती रहनी चाहिए तथा बारह घंटे या अधिक समय तक मौजूद रहनी चाहिए। आमतौर पर क्षयरोग में ट्यूबरक्यूलिन जाँच की अपेक्षाकृत इसमें तापक्रम की बढ़ोत्तरी कम होती है, किन्तु शारीरिक प्रतिक्रिया अधिक होती है। जोनिन का इन्जेक्शन पाने के बाद एक से चार घंटे में अधिकांश त्रिकर्मियों के शरीर पर के बाल खुरदरे प्रतीत होते हैं। प्रतिक्रिया की चरम सीमा पर पशु को प्रायः बार-बार दस्त आते हैं। बीच[8] के अनुसार ऐसा 25 प्रतिशत रोग-ग्रसित गायों में देखा जाता है। कभी-कभी इन्जेक्शन देने के बाद पन्द्रह से तीस मिनट में पशु में कँपकपी तथा श्वास कष्ट होता है और यह एक से दो घंटे तक रह सकता है।

प्रतिक्रियाओं का विकृत शरीर रचना से संबंध—हेस्टिंग्स, बीच तथा मैंसफील्ड[8] ने जोनिन जाँच के प्रति 24 त्रिकर्मियों के शव-परीक्षण की रिपोर्ट की जिसके परिणाम निम्नलिखित थे :

अँतड़ी के क्षतस्थल सुविकसित, नार्मल इलियोसीकल वाल्व	2
इलियोसीकल वाल्व तथा अँतड़ी का खूब रोग ग्रसित होना	7
इलियोसिकल वाल्व तथा अँतड़ी का हल्का संक्रमणित होना	4
केवल इलियोसीकल वाल्व का खूब रोग ग्रसित होना	4
केवल इलियोसीकल वाल्व का थोड़ा सा संक्रमणित होना	3
कोई परिवर्तन न होना	4

इस प्रकार 45.7 प्रतिशत में अँतड़ी में नंगी आँख से दिखाई देने वाले कोई परिवर्तन मौजूद नहीं थे। इसके विपरीत बीच ने प्रतिक्रिया प्रदर्शित करने वाले 37 पशुओं में से 36 में एसिड स्थायी जीवाणु पाए।

सन् 1938 की न्यूजीलैंड की रिपोर्ट[18] में नैदानिक पदार्थ के रूप में जोनिन की निम्न प्रकार कठिनाइयाँ प्रदर्शित की गईं : "कंट्रोल के मामले में ढोरों का यह दीर्घकालिक बैक्टीरियल संक्रमण अनेकों कठिनाइयाँ उपस्थित करता है। इसकी सबसे निराशाप्रद कठिनाई यह है कि कुछ फार्मों पर जोनिन से पूरे यूथ का वर्ष में दो बार परीक्षण करने के बाद भी नए पशु रोग ग्रसित हो जाते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि कुछ फार्मों पर इसका उन्मूलन भीषण कठिनाइयाँ उपस्थित करता है।"

पक्षीजातीय ट्यूबरक्यूलिन—पक्षीजातीय ट्यूबर्किल बैसिलस का जोने बैसिलस से मिलता-जुलता होने के कारण सन् 1908 में ओलेफ बैंग[19] (Olaf Bang) ने पक्षी जातीय ट्यूबरक्यूलिन का नैदानिक जाँच के लिए प्रयोग किया। इसके परिणामों से वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि उन्होंने क्षयरोग की जाँच के तुलनात्मक एक नैदानिक विधि पा ली है। सन् 1910 में 1700 ढोरों पर उन्होंने इसका प्रयोग किया तथा जैसा कि 50 शव-परीक्षणों से विदित हुआ इसमें उन्हें 7 प्रतिशत असफलता मिली। किन्तु यह भलीभाँति विदित है कि जोने रोग के कंट्रोल में पक्षीजातीय ट्यूबरक्यूलिन ने तब से काफी योगदान

किया है, जब से इसे लगभग 25 वर्ष पूर्व नैदानिक पदार्थ के रूप में पहली बार प्रयोग किया गया था। हैगन और जीसिंग[17] ने पक्षीजातीय ट्युबर्क्युलिन तथा जोनिन को पशुओं की विभिन्न जातियों में भिन्न-भिन्न विधियों द्वारा प्रविष्ट करके इनकी संवद्धि प्रतिक्रियाओं की चर्चा की। उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि "प्राकृतिक अथवा कृत्रिम रूप से जोने रोग के जीवाणुओं से संक्रमणित ढोरों अथवा अन्य पशुओं में यदि इसका प्रयोग किया जाता है तो पक्षीजातीय ट्युबर्क्युलिन प्रत्यक्ष रूप से जोनिन की भाँति ही परिणाम प्रदर्शित करती है।" बीमारी की अधिक बढ़ी हुई अवस्था में पक्षीजातीय ट्युबर्क्युलिन तथा जोनिन दोनों का प्रयोग करने से प्रतिक्रिया उत्पन्न करने में जितनी सफलता मिली उसकी अपेक्षाकृत उन्हें असफलता अधिक प्राप्त हुई।

नियंत्रण की विधियाँ—वैसे तो जोनिन तथा पक्षीजातीय ट्युबर्क्युलिन अनेक वर्षों से प्रयुक्त हो रही हैं फिर भी मैदानी परिस्थितियों में नैदानिक पदार्थ के रूप में इनकी यथार्थता प्रकट करने के लिए अपेक्षाकृत कम शव-परीक्षण परिणाम प्राप्त हैं। आगे, इस बारे में भी बहुत ही कम जानकारी प्राप्त है कि संक्रमणित पशुओं में किस हद तक प्रतिक्रिया नहीं होती। ऐसा अनुमान किया गया है कि यह बीमारी यूनाइटेड स्टेट्स में भी उसी हद तक पहुँच जावेगी जितना कि युरुप के कुछ भागों में फैल चुकी है। सरकार के इस नियम के अंतर्गत कि तिकर्मियों की क्षति की पूर्ति का पैसा दिया जाएगा, इस संबंध में बहुत ही कम माँग हुई है और यह सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है कि 25 वर्ष पूर्व जैसी बीमारी फैलती थी उसकी अपेक्षाकृत अब इसका प्रकोप कम होता है या अधिक। यह संभव हो सकता है कि गो-जातीय क्षयरोग का कंट्रोल करने के लिए सफाई आदि में जो सुधार हुए हैं उनसे जोने बैसिलस के अन्तःयूथ वितरण में कुछ रोक हुई हो।

इस बात के अनेक प्रमाण उपलब्ध है कि बछड़े नए संक्रमणों का प्रमुख स्रोत होते हैं तथा जीवन के प्रथम वर्ष में इनमें बीमारी के नए बीज उगते हैं। अतः बीमारी पर काबू पाने के अनेक उपायों के साथ यह भी जोड़ देना चाहिए कि जन्म के बाद बछड़ों को उनकी माँ से अलग करके, उन्हें प्रौढ़ पशुओं से तब तक अलग रखा जाए जब तक वे प्रजनन की आयु पर न पहुँच जाएँ।

जोने रोग के बैसिलस के शरीर से बाहर निकलने के लिए उतने मार्ग नहीं हैं जितने कि क्षयरोग के जीवाणु के लिए होते हैं, क्योंकि यह केवल गोबर में ही बाहर निकलता है। अपने प्रकोप तथा वितरण में यह बीमारी इतनी धीमी है कि उपस्थिति ज्ञात होने के पहले ही यह यूथ में प्रवेश करके अपना घर कर चुकी होती है। नए खरीदे हुए पशुओं द्वारा इस रोग के स्वस्थ्य-वाहक यूथ में मिल सकते हैं। अतः इस बीमारी में पशुशाला तथा चरागाहों की स्वच्छता पर, क्षय रोग के बचाव के लिए निर्देशित सावधानियों से भी अधिक ध्यान देने की आवश्यकता पड़ती है जिससे गोबर में पहुँचे हुए जीवाणु भी पशु द्वारा निगले न जा सकें। मूल रूप से चारे तथा पानी को गोबर से संदूषित होने से बचाना चाहिए। तालाबों तथा नालों का गन्दा पानी पशुओं को नहीं पिलाना चाहिए। चरही तथा पानी पीने की नांदें ऐसी बनवानी चाहिए जिससे कि प्रत्येक पशु अपना-

अपना चारा एवं पानी पावे तथा फर्श के झाड़ने से उनमें गंदगी न पहुँचे। कोई भी नैदानिक परीक्षण इस बीमारी के कंट्रोल में प्रयोग होने वाले स्वच्छता सम्बंधी उपायों को कभी भी हटा पावेगा यह कुछ असम्भव सा प्रतीत होता है।

विस्कासिन, जहाँ इस बीमारी के उन्मूलन के प्रति किए गए प्रयास विशेष रूप से सक्रिय रहे हैं, वहाँ जोने रोग उन्मूलन योजना की असफलता के कारण लार्सन, बोच, तथा विल्सिकी[20] के अनुसार निम्न प्रकार हैं :

जोने रोग के कंट्रोल एवं उन्मूलन के प्रति मैदानी अनुभव उत्साहवर्धक नहीं है। मौजूदा नैदानिक पदार्थ, जोनिन, द्वारा भी जो अब पहले से कहीं अच्छी बनने लगी है, यूथ से इस बीमारी का उन्मूलन करना अत्यन्त कठिन है। शायद यह परीक्षण स्वयं में तो इतना अच्छा है जैसा कि एक नैदानिक जाँच को होना चाहिए। किन्तु, वास्तव में अपने मौजूदा परीक्षण और ऐसे ज्ञान के साथ जो कि बीमारी के बारे में हमें प्राप्त है तथा यूथ से उन्मूलन करने के लिए अपनाई जाने वाली विधि से, हम इसे यूथ से समूल नष्ट करना अत्यन्त कठिन तथा कभी-कभी असम्भव सा पाते हैं। अनेक यूथों में अपने किए गए कार्य की समीक्षा करने में हम केवल एक अधिक संक्रमणित उस यूथ का ध्यान रखते हैं जिसमें, मौजूदा समय में, हमारे पास यह मानने के लिए समुचित प्रमाण रहता है कि बीमारी का उन्मूलन हो चुका है। रोगी पशु को यूथ के अन्य पशुओं से अलग रखने में भी कठिनाई होती है क्योंकि पशुपालक को यह विश्वास नहीं दिलाया जा सकता कि ऐसा करने से बीमारी से छुटकारा मिल सकता है...। रोग-ग्रसित यूथ को बीमारी फैलाने से भी नहीं रोका जा सकता। अतः पूरे यूथ को ही अलग कर देना हितकर है किन्तु, ऐसी जानकारी प्राप्त होने तक काफी देर हो चुकी होती है। रोग ग्रसित यूथ के पशुओं को बेंच दिया जाता है। बिक्री के समय खरीदारों द्वारा इस बीमारी पर कभी ध्यान नहीं दिया जाता।

लॉवेल, लेवी तथा फ्रांसिस[21] द्वारा प्रस्तुत रिपोर्ट में भी बीमारी के कंट्रोल की विधि बताई गई है। इसके अन्तर्गत; प्राकृतिक रूप से संक्रमणित गोबर जब प्रयोगात्मक रूप से वातावरण की परिस्थितियों में खुला रखा जाता है तो उसमें 284 दिनों पर जीवाणु गतिवान नहीं रहते। इस आधार पर मार्श[22] ने एक संक्रमणित पशुशाला से सभी पशुओं को हटा दिया तथा इसे लगभग एक वर्ष तक खाली रखा। परिणामों से पता लगा कि इस विधि द्वारा पशुशाला को इन जीवाणुओं से रहित किया जा सकता है। इसके बाद भेड़ों पर एक प्रयोग किया गया जिसका सारांश निम्न प्रकार है "भेड़ों में जोने रोग के इस प्रकोप का इतिहास यह प्रकट करता है कि जहाँ कहीं भेड़ें यूथ के रूप में रहती हैं वहाँ जोने रोग का अधिक प्रकोप होता है। सभी भेड़ों को अलग करके तथा उस क्षेत्र को वर्ष भर खाली पड़ा रखकर वहाँ से इसकी छूत को दूर किया जा सकता है।[22]

संदर्भ

1. Eveleth, D. F., Gifford, R., and Anthony, C. H., Johne's disease of sheep, Vet. Med., 1942, 37, 241.
Taylor, A. W., Ovine paratuberculosis (Johne's disease in sheep), J. Comp. Path. and Ther., 1945, 55, 41.

3. Johne and Frothingham, Ein eigenthumlicher Fall von Tuberkulose beim Rind, Zeit. f. Tiermedizin, 1859, 21, 438.
4. Bang, B., Chronische pseudotuberculose Darmentzüdung beim Rind, Berl. tier. Wchnschr., 1906, 22, 759.
5. M'Fadyean, Sir John Johne's disease : a chronic bacterial enteritis of cattle J. Comp. Path. and Ther., 1907, 20, 48.
6. Twort, F. W., and Ingram, G. L. Y., A monograph on Johne's Disease, London, Bailliere, Tindall and Cox, 1913, p. 11.
7. Pearson, L., A note on the occurrence in America of chronic bacterial dysentery of cattle, Am. Vet. Rev., 1908, 32, 602.
8. Beach, B. A., and Hastings, E. G., Johne's disease, a cattle menance, Wis. Agr. Exp. Sta. Bull. 343, 1922, Wis. Agr. Exp. Sta. Res. Bull. 81, 1927.
9. Lash, E. and Mohler, W. M., Johne's disease (paratuberculosis) of livestock, U. S. D. A., Cir. 104, 1930.
10. Johnson, H. W., The Johnes disease problems and the relation of Johne's disease to the tuberculosis no visible lesion problem, Proc. U. S. L. S. S. Assoc., 1945, p. 137 ; Studies on Johnin, Am. J. Vet. Res., 1944, 5, 179.
11. Hagan, W. A., Problems in controlling and eadicating Johne's disease, discussion, J. A. V. M. A., 1932, 80, 463.
12. Ernest, I. B., Recent developments in the control of John'es disease, J. A.-V. M. A., 1927, 71, 742.
13. Meyer, K. F., The specific paratuberculous enteritis of cattle in America, J. Med. Res., 1913-14, 24, 147.
14. Twort, F. W., and Ingram, G. L. Y., A method for isolating and cultivating the Mycobacterium enteriditis chronicae pseudotuberculosae bovis, Johne, and some experiments on the preparation of a diagnostic vaccine for pseudotuberculous enteritis of bovines, Roy, Soc., London, Proc., B., 1912, 84, 517.
15. Hagan, W. A., and Mansfield, H. L., The lesions produced by the bacillus of Johne's disease in the peritoneal cavity of the guinea pig, J. A. V. M. A., 1930, 76, 182.
16. Osler, W., and Christian, H. A., Principles and Practice of Medicine, ed. 13, New York, Appleton, 1938, p. 198.
17. Hagan, W. A., and Zeissig, A., Johnin versus avian tuberculin as a diagnostic agent for paratuberculosis (Johne's disease) of cattle, J. A. M. V. A., 1928-29, 74, 985.
18. New Zealand Dept. Agr. An. Rep., 1937-38, p. 10.
19. Bang. O., Das Geflugeltuberkulin als diagnostisches Mittel bei der chronisschen pseudotuberkulosen Darmentzündung des Rindes (Johne's disease), Zentralbl. f. Bakt., 1909, 51, 450.
20. Larson, W. S., Beach, B. A., and Wisnicky, W., Problems, in controlling and eradicating Johne's disease, J. A. V. M. A., 1932, 80, 446.

21. Lovell, R., Levi, M., and Francis, J., Studies on the survival of Johne's bacillus, J. Comp. Path. and Ther., 1944, 54, 120.
22. Marsh, Hadleight, Johne's disease in an experimental flock of sheep and its elimination, J. A. V. M. A., 1952, 120, 20.
23. Hagan, A. W., and Bruner, D. W., The Infectious Diseases of Domestic Animals, 1951, ed. 2. p. 352.
24. J. A. V. M. A., 1949, 115, 457.

ऐक्टिनोमाइसीज़ता

(Actinomycostis)

(कठ-जीभी, वृहत् शीर्ष, जकड़ा जबड़ा)

परिभाषा—ऐक्टिनोमाइसीजाता प्रमुख तौर पर गो-पशुओं तथा सूकरों में प्रकोप करने वाली एक दीर्घकालिक संक्रामक बीमारी है जो एक बैक्टीरिया ऐक्टिनोमाइसीज बोविस (Actinomyces bovis) द्वारा उत्पन्न होती है। गो-पशुओं में यह सिर की हड्डियों पर आक्रमण करके विरल-अस्थि-शोथ उत्पन्न करती है तथा सूकरों में थनैली का कारण बनती है। ऐक्टिनोबैसिलोसिस एक दीर्घकालिक संक्रामक रोग है जो विशेषकर ढोरों के सिर के मुलायम भागों पर प्रभाव डालता है। इसे फोड़ों तथा मोटे संयोजी ऊतक की दीवालों युक्त नलिकाकार गर्त द्वारा पहचाना जाता है तथा इसका कारण ऐक्टिनोबैसिलस लिग्नीरेसाइ (Actinobacillus ligncresi) है। रोग-ग्रसित टिसू से प्राप्त मवाद में 0·5 से 1 मि॰मि॰ व्यास के विशेष प्रकार के पीले रंग के दाने से पाए जाते हैं जो विकीर्ण रूप से छड़ के आकार के भागों से घिरे रहते हैं।
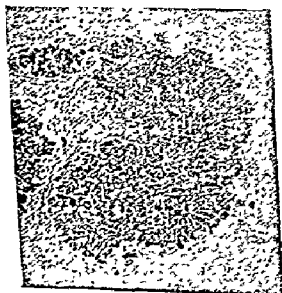
चित्र—91. ऐक्टिनोबैसिलोसिस से ग्रसित लसीका-ग्रंथि से प्राप्त पीव में मुद्गरयुक्त स्तवक ×360 (एल॰ आर॰ वेंव्टर के सौजन्य से)[5]।

कारण—सामान्य वितरण—यूनाइटेड स्टेट्स में ऐक्टिनोमाइसीजाता मिसिस्पी घाटी के शुष्क पश्चिमी मैदानों में तथा राकी पर्वतों के पश्चिमी प्रदेशों में खूब होती है। विकीर्ण तथा स्थानिकमारी के रूप में यह बीमारी पूरे देश में प्रकोप करती है। कुछ फार्मों पर तथा कुछ क्षेत्रों में यह विशेष रूप से हुआ करती है। पशुचिकित्सा विज्ञान महाविद्यालय न्यूयार्क के चल-चिकित्सालय में प्रतिवर्ष इस बीमारी से पीड़ित कई रोगियों का इलाज किया जाता है और संभवतः अपने सामान्य वितरण में यह बीमारी यूनाइटेड स्टेट्स के सभी भागों में समान रूप से पाई जाती

है। तराई के प्रान्तों में यह अधिक होती कही जाती है किन्तु, इस कथन के समर्थन में बहुत ही कम प्रमाण उपलब्ध हैं। उक्त कथन पश्चिमी मैदानों में लागू नहीं हो सकता है जहाँ के चरागाह काफी ऊँचे तथा सूखे होते हैं और जहाँ कठ-जीभी अक्सर प्रकोप करती कही जाती है। यह कथन कि मोटा चारा खाने वाले पशुओं को यह बीमारी अधिक लगती है, संदेहपूर्ण है। कुछ भागों तथा फार्मों पर अपने चक्रीय प्रकोप में यह आमतौर पर छुतैली बीमारियों से मिलती-जुलती है। प्रत्यक्ष रूप से यह बीमारी पूरब की अपेक्षा पश्चिम तथा दक्षिण-पश्चिम में अधिक होती है। मैगनूसन[1] (Magnusson) के अनुसार माल्मों के पशु-वधगृह में 25 प्रतिशत वृद्ध सुअरियाँ थनों की ऐक्टिनोमाइसीजता से पीड़ित पाई गईं। प्रमुखतौर पर 2 से 5 वर्ष की आयु के पशु इसका अधिक शिकार होते हैं।

जीवाणु विज्ञान—ऐक्टिनोमाइसीज बोविस (किरण-कवक) को सबसे पहले सन् 1891 में में वोल्फ तथा इसराइल[2] ने वर्णन किया। सन् 1938 में ईमस[3] ने मनुष्यों की 200 जोड़ी निकाली गई टांसिलों में से 37 प्रतिशत में ऐक्टिनोमाइसीज बोविस नामक जीवाणु पाया। उन्होंने लिखा "संभवतः ऐक्टिनोमाइसीज बोविस नामक जीवाणु मुहँ तथा गले में आमतौर पर मौजूद रहते हैं तथा केवल असाधारण परिस्थितियों में रोग-जनक हो जाते हैं। टांसिल की गुहाएँ इस रोगोत्पादक कवक के मृतोपजीवी प्रकार को अपने में छिपाए रखने के लिए एक भण्डार का कार्य करती हैं।" यह भी संभव है कि ऐक्टिनोमाइसीज बोविस स्वस्थ पशुओं के मुहँ तथा गले में आमतौर पर मौजूद रहते हैं और ये अंग इसके प्रमुख निवास-स्थल हैं। आँख से देखने पर ऐक्टिनोमाइकोटिक पीव गाढ़ा तथा पीला प्रतीत होता है तथा इसमें पीलापन लिए हुए दाने (गंधक जैसे दाने) मौजूद होते हैं जो आकार में छोटे टुकड़े से लेकर 4 मि०मि० व्यास तक के होकर बिना आवर्धक के ही देखे जा सकते हैं। ऐक्टिनोबैसिलोसिस के क्षतस्थलों से प्राप्त मवाद भी देखने में ऐक्टिनोमाइसीजता जैसा ही होता है, किन्तु इसके दाने छोटे होते तथा प्रायः बिना आवर्धक के नहीं दिखाई देते। मैगनूसन के अनुसार ऐक्टिनोमाइसीज ग्राम-धनात्मक तन्तुमय जीवाणु होते हैं जो शाखाओं में विभाजित होने तथा छोटे-छोटे खण्डों एवं दानों में आसानी से टूटने की क्षमता रखते हैं। ऐक्टिनोमाइसीज बोविस के दानों का वर्णन करते हुए मैगनूसन ने यह लिखा कि "ग्राम की विधि द्वारा अभिरंजन करने पर इनका सबसे विशिष्ट रूप देखने को मिलता है। हमने छोटी तथा बड़ी कोकाइ
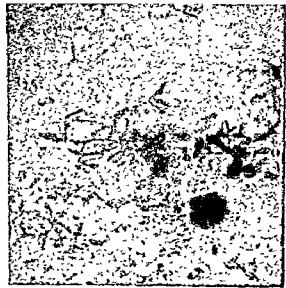
चित्र—92. ऐक्टिनोमाइकोसिस से ग्रसित अस्थि से प्राप्त पीव में उपस्थित गोलाणु तथा शाखा-युक्त तन्तु, ग्राम-अभिरंजक, ×900 (एल० आर० वैब्स्टर के सौजन्य से)[5]।

(cocci) एव छोटे तथा लम्बे, पतले तथा मोटे तन्तु देखे। जजीर की भाँति एक साथ पडे हुए छोटे-छोटे दाने स्ट्रेप्टोकोकाइ से मिलते-जुलते है किन्तु ये अलग-अलग छोटी-छोटी छडो के रूप में भी हो सकते हैं। प्राय. माइसीलिया के आकार के विशिष्ट प्रकार के शाखायुक्त तन्तु मिलते है। किन्तु, निकटतम परीक्षण से यह ज्ञात होता है कि असख्य कोकाइ तथा छोटे-छोटे दाने और कुछ न होकर केवल टूटे हुए तन्तु होते हैं।"

मैगनूसन न अपने 25 प्रतिशत प्रयोगों में कृत्रिम रूप से पीव तथा सवर्धन या टीका देकर इस बीमारी की छूत फैलाने में सफलता प्राप्त की। जबडे में इसकी छूत दत कोष्ठिका अथवा मुहँ के अन्दर उपस्थित घाव के द्वारा पहुँचती है। दाँतो के स्थायी होने से पूर्व विशेषकर इस बीमारी का युवा पशुओ में प्रकोप होने के कारण इस तथ्य को समर्थन मिलता है। लसीका-तन्त्र द्वारा इसकी छूत नही फैलती तथा यह रोग लिम्फ ग्रथियो पर आक्रमण नही करता।

ऐक्टिनोबैसिलस लिग्नीरेसाइ (लिग्नीरेस तथा स्पिट्ज[4]) सिर के मुलायम भागो में ऐक्टिनोमाइकोसिस उत्पन्न करता है। इसमें जीभ (कठजीभी), होठ, मसूडे, तालू तथा निकट की लिम्फ ग्रथियाँ शामिल होती है। इसके अतिरिक्त यह जीवाणु स्वरयन्त्र, श्वास-नली, रूमेन तथा रेटिकुलम, यकृत, फेफडो तथा सीरस झिल्लिया में भी क्षतस्थल उत्पन्न कर सकता है। मुहँ इसका नार्मल निवास-स्थल है। यह एक ग्राम-ऋणात्मक छड है जो पीव के दानो में लम्बी जजीर के रूप में दिखाई देता है। इन दानो में केन्द्रीय विकीर्ण तन्तु (central radiating filaments) नही होते। इसका केन्द्र ग्राम-ऋणात्मक जीवाणुओ के गुच्छो का बना होता है तथा ऐक्टिनोमाइसीज बोविस की अपेक्षा इसके विकीर्ण तन्तु छोटे तथा सख्या में अधिक होते है। पीव अथवा सवर्धन का कृत्रिम रूप से टीका देकर इस बीमारी को आसानी से उत्पन्न किया जा सकता है तथा प्राकृतिक सक्रमण श्लेष्मल झिल्ली द्वारा प्रवेश पाता है।

चित्र–93 ऐक्टिनोमाइकोसिस से ग्रसित मैंडिबल (निचले जबडे की अस्थि) से प्राप्त पीव में मुद्‍गर तथा स्तवक, ×360 (एल० आर० वैन्टर के सौजन्य से)[5]।

इस प्रकार जबडे की हड्डियो की ऐक्टिनोमाइकोसिस तथा सुअरियो के अयन के ऐक्टिनोमाइसीजता के अधिकाश रोगी वास्तव में यथार्थ ऐक्टिनोमाइसीजता के उदाहरण हैं तथा गो पशुओं के सिर के मुलायम भागों एव पाचन तथा श्वसन-तत्र पर आक्रमण करने वाला इस श्रेणी का रोग वास्तव में ऐक्टिनोबैसिलोसिस है।

छूत लगने का ढंग—मुहँ की श्लेष्मल झिल्ली पर तथा दंत-कोष्ठिका के चहुँतरफा बने हुए घाव के द्वारा ऐक्टिनोमाइसीज बोविस जीवाणु जबड़े की हड्डियों में प्रवेश पाता है। सामान्य तौर पर मुहँ में इसकी उपस्थिति तथा युवा पशुओं में दाँतों में परिवर्तन होते समय इस बीमारी का अधिक प्रकोप होना इस मत का समर्थक है। एक ही फार्म पर तीन से पाँच वर्ष के अवकाश पर युवा गो-पशुओं में इस बीमारी का बार-बार प्रकोप होना इसके संक्रमण का अनुमान कराता है। मैगनूसन के संचारण प्रयोगों के धनात्मक परिणामों तथा लिग्नीरेस और स्पिट्ज़[4] द्वारा वर्णित ऐक्टिनोवैसिलोसिस की महामारी से इस विचार की और भी पुष्टि होती है। फिर भी, ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जहाँ बीमारी यूथ के केवल एक ही पशु को होती है।

उपजम्भ तथा गले के क्षेत्र की निचली त्वचा, जीभ, तथा ग्रसनी जैसे मुलायम भागों की ऐक्टिनोमाइकोसिस में, दाँत गिरने के समय होने वाली कोष्ठिका पर्यस्थि शोथ (alveolar periostitis) को इसका पुर-प्रवर्तक कारण नहीं माना जा सकता। आयु की सीमा इसमें भी 2 से 5 वर्ष ही है।

सुअरों के अयन में इसकी छूत लगने का प्रमुख कारण इस अंग का संदूषित भूसा से निकटतम संपर्क होना है। चूंकि ऐसा प्रदर्शित किया जा चुका है कि सुअरियों के अयन को रोग-ग्रसित करने वाली ऐक्टिनोमाइसीज की प्रजाति अनाज के सींकुरों तथा भूसा पर मृतोपजीवी न होकर मुख-गुहा में परजीवी-बनकर रहती है, अतः अयन में इसकी छूत दूध पीने वाले बच्चों के नुकीले दाँतों से बने घाव के द्वारा लगती है।

रोगजनक परिवर्तन—ऐक्टिनोमाइसीजता में रचनात्मक परिवर्तनों के निम्नलिखित दो समूह होते हैं, एक तो वे जो बीमारी की लाक्षणिक प्रकारों से संबद्धि रहते है तथा दूसरे वे जो प्रत्यक्ष रूप से स्वस्थ दिखाई देने वाले पशु में शव-परीक्षण करने पर पाए जाते हैं।

गो-पशुओं में क्षतस्थलों का प्रमुख स्थान जबड़े की हड्डियाँ होती है। जब इन क्षतस्थलों की अत्यधिक वृद्धि के कारण गाय की मृत्यु हो जाए अथवा उसको यूथ से हटाना पड़े, उस समय उसके ऊपरी तथा निचले दोनो ही जबड़े काफी फूले हुए दिखाई पड़ते हैं। उनकी सतह पर अनेकों नलिकाकार छिद्र हो सकते हैं जो नीचे की स्पंज जैसी हड्डी से संबद्धि रहते हैं। सतह पर एक या अधिक मुलायम टिसुओं की दानेदार पीवयुक्त वृद्धि भी हो सकती है। मुख-गुहा में मसूड़े तथा तालू अत्यधिक सूजे हुए, तथा ढीले दिखाई पड़ते है और उनकी कोष्ठिका-पर्यस्थि-शोथ को अनेक लोग संक्रमण का प्रारम्भिक क्षतस्थल मानते हैं। जब अस्थिमय सूजन को आरी द्वारा काटा जाता है तो उसके अन्दर का भाग स्पंज जैसी हड्डी का बना हुआ पाया जाता है (अस्थिसारकोमा) जिसमें पीव भरा रहता है। इसके क्षतस्थल बिल्कुल स्थानीय होते हैं। जब लिम्फ ग्रंथियों में क्षतस्थल मौजूद हों तो यह संक्रमण ऐक्टिनोमाइसीजता का न होकर ऐक्टि-नोवैसिलोसिस का होता है।

सिर तथा गर्दन के मुलायम भागों की ऐक्टिनोवैसिलोसिस के रोगजनक प्रकार के क्षतस्थल प्रमुख रूप से संक्रामक दानेदार रसौली के प्रकार के होते है जिनमें पीवयुक्त दाने

पाए जाते हैं अथवा वहाँ विशिष्ट प्रकार के फोडो का निर्माण होता है। इन वृद्धियों को उपजम्भ क्षेत्र में कहीं पर भी पाया जा सकता है।

अपेक्षाकृत कम होने वाले, किन्तु अधिक भयानक, क्षतस्थलों की स्थिति ग्रसनी के छल्ले के अन्दर अथवा बाहर होती है। फैरिंक्स अथवा स्वरयन्त्र की दीवाल के बाहर

चित्र—94 ऐक्टिनोमाइकोसिस से पीड़ित पशु।

के मुलायम टिसुओं के ऐक्टिनोमाइकोटिक फोड़े छोटे, अनेक तथा मोटी दीवालयुक्त होते हैं। स्वरयन्त्र तथा फैरिंक्स की श्लेष्मल झिल्ली पर ये बहुत बडी संख्या में पीव से भरे हुए छोटे-छोटे दाने के रूप में पाए जाते हैं। जीभ की ऐक्टिनोमाइकोसिस पिछले भाग में हुआ करती है। यह ऊपरी सतह पर बढ़कर घावयुक्त दिखाई पडती है। जीभ का मांसल-तन्तु प्रायः मोटा होकर सख्त हो जाता है (कठ-जीभी)। किनारे की सतह पर असंख्य छोटी-छोटी ऐक्टिनोमाइकोटिक ग्रन्थियाँ मौजूद हो सकती हैं। इसके अतिरिक्त वहाँ बड़े-बड़े तथा गहरे फोडे भी हो सकते हैं। मुहँ तथा गले के क्षतस्थलों के साथ उपजम्भ तथा प्रत्यग्ग्रसनी लसीका ग्रंथियाँ भी अक्सर क्षतिग्रस्त पाई जाती हैं। यह फूली हुई दिखाई पड़ती हैं तथा इनमें धूसर अथवा लाल रंग की मुलायम दीवाल वाली अनेकों ऐक्टिनोमाइकोटिक फुंसियाँ होती हैं जिनके अन्दर गाढ़ा-गाढ़ा क्रीम जैसा पीव भरा रहता है। मुलायम टिसुओं में यह सब परिवर्तन ऐक्टिनोबैसिलोसिस के कारण होते कहे जाते हैं। पीव में छोटे-छोटे असंख्य दाने पाए जाते हैं जो सुविकसित शाखाओं के साथ फूल जैसी आकृति उपस्थित करते हैं, किन्तु इन दानों में ग्राम-धनात्मक तत्त्व नहीं होते।

सुअरियों के अयन में सघन संयोजी ऊतकों के क्षेत्रों के अन्दर अनेक छोटे-छोटे फोड़े होते हैं। रोग-ग्रसित टिसुओं में चीरा लगाने पर एक चौथाई से एक इंच व्यास की ग्रंथियाँ दिखाई पड़ती हैं। इनमें कैल्सीकृत, दानेदार पीव भरा रहता है। स्तन ग्रंथियों की सतह पर नलिकाकार छिद्र तथा दानेदार घाव होते हैं।

आन्तरिक ऐक्टिनोमाइसीजता वध किए हुए उन पशुओं में मिलती है जो रोग के लक्षण प्रदर्शित नहीं करते। इसका कारण ऐक्टिनोबैसिलस है। इसके क्षतस्थल रूमेन, रेटिकुलम, फेफड़ों, प्लूरा, उदर-झिल्ली, यकृत तथा निकट की लिम्फ ग्रंथियों में पाए जाते हैं। डैविस और टोरेंस का कहना है कि केवल नंगी आँख से देखकर इन क्षतस्थलों का क्षयरोग से अलग पहचानना असंभव सा हो जाता है। सन् 1921 में बीवर[7] ने बताया कि दक्षिणी सेंट पाल (South St. Paul) के पशु-वध गृहों में मारे गए गो-पशुओं में क्षयरोग के बाद, ऐक्टिनोमाइसीजता की विशिष्ट रोगजनक अवस्था ही सबसे अधिक देखी गई तथा यह भी देखा गया कि वैसे तो यह प्रायः सिर के क्षेत्र में ही अधिक प्रकोप करती है किन्तु यह जीभ अथवा फेफड़ों में भी कम नहीं होती। ओमेण्टम की ऐक्टिनोमाइसीजता का भी एक रोगी वर्णन किया गया। मूर[8] (Moore) ने फुफ्फुस ऐक्टिनोमाइसीजता की क्षयरोग के साथ संभ्रान्ति हो जाने की ओर ध्यान आकर्षित किया और इस वास्तविकता पर प्रकाश डाला कि ऐक्टिनोमाइसीजता शरीर के किसी भी अंग पर आक्रमण कर सकती है।

लक्षण—लेखक के चल-चिकित्सालय में आए हुए इस बीमारी से ग्रसित रोगियों में से दो तिहाई पशुओं में जबड़े की अस्थियों की ऐक्टिनोमाइसीजता देखी गई और इनमें से कम-से-कम तीन चौथाई पशु 2 से 5 वर्ष की आयु के थे। डैविस और टोरेंस के अनुसार गो-पशुओं में 70 से 80 प्रतिशत तक लाक्षणिक ऐक्टिनोमाइसीजता का कारण ऐक्टिनोबैसिलस होता है।

हड्डी की ऐक्टिनोमाइसीजता सर्वप्रथम ऊपरी तथा निचले जबड़े की हड्डियों पर गोल-गोल सूजन के रूप में प्रकट होती है। नियम के अनुसार यह शोथ तीसरे अथवा चौथे दाढ़ के दाँत के पास होती है। लेखक द्वारा अवलोकित रोगियों में यह अधिकतर बाएँ निचले जबड़े पर मिली। पशु-पालक प्रायः यह सोचता है कि यह सूजन चोट लग जाने के कारण उत्पन्न हुई है। एक से दो महीने में ऐक्टिनोमाइकोटिक वृद्धि पूरे चेहरे पर फैल कर काफी बड़ी हो सकती है। ऐसे रोगियों के मुहँ का परीक्षण करने पर सख्त तालू सूजा हुआ मिलता है तथा कुछ रोगियों में दाढ़ के दाँत भी ढीले हो जाते हैं। नांक की हड्डियों में सूजन आकर पशु को साँस लेने में कठिनाई हो सकती है। पशु को चारा खाने में कष्ट होता है। नियमानुसार हड्डी को खोखला करने वाली अस्थि-शोथ धीरे-धीरे विकसित होती है। 6 से 18 माह बाद वृद्धि बिल्कुल ही रुक सकती है तथा उस स्थान पर 2 से 6 इंच अथवा अधिक व्यास वाली सूजन शेष रह जाती है। नालिकाकार छिद्र तथा कणिकाकार सूजन प्रायः सतह पर मौजूद रहती है तथा खाल हड्डी से चिपक जाती है। ऐक्टिनोमाइकोटिक नलिकाकार गर्त, तथा हड्डी और सिर के मुलायम भागों पर मौजूद फोड़ों से प्राप्त पीव गाढ़ा, क्रीम जैसा अथवा चिपचिपा और पीला या सफेद रंग का

पाऐ जाते हैं अथवा वहाँ विशिष्ट प्रकार के फोडा का निर्माण होता है। इन वृद्धिया को उपजम्भ क्षेत्र में कहीं पर भी पाया जा सकता है।

अपेक्षाकृत कम होने वाले, किन्तु अधिक भयानक, क्षतस्थला की स्थिति ग्रसनी के छल्ले के अन्दर अथवा बाहर होती है। फेरिंक्स अथवा स्वरयत्र की दीवाल के बाहर

चित्र—94 ऐक्टिनोमाइकोसिस से पीडित पशु।

के मुलायम टिसुओ के ऐक्टिनोमाइकोटिक फोडे छोटे, अनेक तथा मोटी दीवालयुक्त होते हैं। स्वरयत्र तथा फेरिंक्स की श्लेष्मल झिल्ली पर ये बहुत बडी सख्या में पीव से भरे हुए छोटे-छोटे दाने के रूप में पाए जाते है। जीभ की ऐक्टिनोमाइकोसिस पिछले भाग में हुआ करती है। यह ऊपरी सतह पर बढ़कर घावयुक्त दिखाई पडती है। जीभ का मासल-तन्तु प्राय मोटा होकर सख्त हो जाता है (कठ-जीभी)। किनारे की सतह पर असख्य छोटी छोटी ऐक्टिनोमाइकोटिक ग्रथियाँ मौजूद हो सकती हैं। इसके अतिरिक्त वहाँ बडे-बडे तथा गहरे फोडे भी हो सकते हैं। मुहँ तथा गले के क्षतस्थलो के साथ उपजम्भ तथा प्रत्यग्रसनी लसीका ग्रथियाँ भी अक्सर क्षतिग्रस्त पाई जाती हैं। यह फूली हुई दिखाई पडती है तथा इनमें धूसर अथवा लाल रग की मुलायम दीवाल वाली अनेकों ऐक्टिनोमाइकोटिक फुसियाँ होती हैं जिनके अन्दर गाढ़ा-गाढा क्रीम जैसा पीव भरा रहता है। मुलायम टिसुओ में यह सब परिवतन ऐक्टिनोबैसिलोसिस के कारण होते कहे जाते हैं। पीव में छोटे-छोटे असख्य दाने पाए जाते है जो सुविकसित शाखाओं के साथ फूल जैसी आकृति उपस्थित करते हैं, किन्तु इन दानों में ग्राम-धनात्मक तत्त्व नहीं होते।

सुअरियों के अयन में सघन संयोजी ऊतकों के क्षेत्रों के अन्दर अनेक छोटे-छोटे फोड़े होते हैं। रोग-ग्रसित टिसुओं में चीरा लगाने पर एक चौथाई से एक इंच व्यास की ग्रंथियां दिखाई पड़ती हैं। इनमें कैल्सीकृत, दानेदार पीव भरा रहता है। स्तन ग्रंथियों की सतह पर नलिकाकार छिद्र तथा दानेदार घाव होते हैं।

आन्तरिक ऐक्टिनोमाइसीजता वध किए हुए उन पशुओं में मिलती है जो रोग के लक्षण प्रदर्शित नहीं करते। इसका कारण ऐक्टिनोबैसिलस है। इसके क्षतस्थल रूमेन, रैटिकुलम, फेफड़ों, प्लूरा, उदर-झिल्ली, यकृत तथा निकट की लिम्फ ग्रंथियों में पाए जाते हैं। डैविस और टोरेंस का कहना है कि केवल नंगी आँख से देखकर इन क्षतस्थलों का क्षयरोग से अलग पहचानना असंभव सा हो जाता है। सन् 1921 में वीवर[7] ने बताया कि दक्षिणी सेंट पाल (South St. Paul) के पशु-वध गृहों में मारे गए गो-पशुओं में क्षयरोग के बाद, ऐक्टिनोमाइसीजता की विशिष्ट रोगजनक अवस्था ही सबसे अधिक देखी गई तथा यह भी देखा गया कि वैसे तो यह प्रायः सिर के क्षेत्र में ही अधिक प्रकोप करती है किन्तु यह जीभ अथवा फेफड़ों में भी कम नहीं होती। ओमेण्टम की ऐक्टिनोमाइसीजता का भी एक रोगी वर्णन किया गया। मूर[8] (Moore) ने फुफ्फुस ऐक्टिनोमाइसीजता की क्षयरोग के साथ संभ्रान्ति हो जाने की ओर ध्यान आकर्षित किया और इस वास्तविकता पर प्रकाश डाला कि ऐक्टिनोमाइसीजता शरीर के किसी भी अंग पर आक्रमण कर सकती है।

लक्षण—लेखक के चल-चिकित्सालय में आए हुए इस बीमारी से ग्रसित रोगियों में से *दो तिहाई पशुओं में जबड़े की अस्थियों की ऐक्टिनोमाइसीजता देखी गई* और इनमें से कम-से-कम तीन चौथाई पशु 2 से 5 वर्ष की आयु के थे। डैविस और टोरेंस के अनुसार गो-पशुओं में 70 से 80 प्रतिशत तक लाक्षणिक ऐक्टिनोमाइसीजता का कारण ऐक्टिनोबैसिलस होता है।

हड्डी की ऐक्टिनोमाइसीजता सर्वप्रथम ऊपरी तथा निचले जबड़े की हड्डियों पर गोल-गोल सूजन के रूप में प्रकट होती है। नियम के अनुसार यह शोथ तीसरे अथवा चौथे दाढ़ के दाँत के पास होती है। लेखक द्वारा अवलोकित रोगियों में यह अधिकतर बाएँ निचले जबड़े पर मिली। पशु-पालक प्रायः यह सोचता है कि यह सूजन चोट लग जाने के कारण उत्पन्न हुई है। एक से दो महीने में ऐक्टिनोमाइकोटिक वृद्धि पूरे चेहरे पर फैल कर काफी बड़ी हो सकती है। ऐसे रोगियों के मुहँ का परीक्षण करने पर सख्त तालू सूजा हुआ मिलता है तथा कुछ रोगियों में दाढ़ के दाँत भी ढीले हो जाते हैं। नाक की हड्डियों में सूजन आकर पशु को साँस लेने में कठिनाई हो सकती है। पशु को चारा खाने में कष्ट होता है। नियमानुसार हड्डी को खोखला करने वाली अस्थि-शोथ धीरे-धीरे विकसित होती है। 6 से 18 माह बाद वृद्धि बिल्कुल ही रुक सकती है तथा उस स्थान पर 2 से 6 इंच अथवा अधिक व्यास वाली सूजन शेष रह जाती है। नालिकाकार छिद्र तथा कणिकाकार सूजन प्रायः सतह पर मौजूद रहती है तथा खाल हड्डी से चिपक जाती है। ऐक्टिनोमाइकोटिक नलिकाकार गर्त, तथा हड्डी और सिर के मुलायम भागों पर मौजूद फोड़ों से प्राप्त पीव गाढ़ा, क्रीम जैसा अथवा चिपचिपा और पीला या सफेद रंग का

होता है। रोग-ग्रसित भाग को गाय छूने देना नहीं चाहती है। इससे यह स्पष्ट है कि प्रारम्भिक अवस्थाओं में छोटे क्षतस्थल तक दर्दयुक्त होते हैं। अतः बढ़ती हुई सूजन के आधार पर अनुमानित इस रोग का कोर्स काफी भिन्न होता है। कुछ रोगियों में अस्थिशोथ दुर्दम्य आकार धारण करके शीघ्र नष्टकीय होती है। जबकि दूसरों में न देखा जाने वाला छोटा सा घाव ही इसका प्रमुख लक्षण होता है। सूजन की वृद्धि होना रुक जाने के बाद नलिकाकार गर्त तथा कणिकाकार शोथ ठीक हो जाती है, किन्तु कुछ महीनों बाद ये क्षतस्थल पुनः सक्रिय हो सकते हैं। जब तक क्षतस्थल छोटे तथा परिगत रहते हैं तब तक पोषण में गड़बड़ी नहीं उत्पन्न होती और उनका व्यास कई इंच का हो जाने पर भी पशु की सामान्य दशा अच्छी रह सकती है। ऊपरी अथवा निचले जबड़े की अस्थि-शोथ के साथ दंत-कोष्ठिकाओं के क्षतिग्रस्त होने पर पशु को चारा चबाने में कष्ट होता है।

रोग का फलानुमान अच्छा नहीं होता, क्योंकि अस्थिमय वृद्धि को न तो आपरेशन करके निकाला जा सकता है और न इसका पुन शोषण ही होता है। रोग-ग्रसित पशु का मूल्य बहुत ही कम हो जाता है। नगर-पालिका की डेरियों में ऐसे पशुओं को रखने की आज्ञा नहीं है। वैसे तो इस बात का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है कि यह रोग परोक्ष रूप से पशुओं से मनुष्यों में फैलता है, फिर भी, इस बात की सभावना कि ऐसा भी हो सकता है रोगी पशुओं को अलग रखना तथा उनका वध करना न्याय संगत बताती है। एक स्थानिकमारी के रूप में इस बीमारी का बार-बार प्रकोप करना इस तथ्य का समर्थन नहीं करता कि यह एक घाव सक्रमण से उत्पन्न होने वाला रोग है। युवा बछियों के समूह में छह से बारह माह की अवधि में यह बीमारी 10 प्रतिशत पशुओं के चेहरे की हड्डियों पर आक्रमण कर सकती है। इसके बाद चार-पाँच वर्षों तक फार्म पर यह रोग न होकर, पुनः इसका ऐसा ही प्रकोप हो सकता है। यह इसके संक्रामक होने का अनुमान कराता है।

सिर तथा गले के मुलायम भागों की ऐक्टिनोमाइसीजता में बीमारी की स्थिति तथा वेग के अनुसार इसके लक्षण भी भिन्न-भिन्न होते हैं। उपजम्भ तथा पैराटिड क्षेत्र के अधस्त्वक् टिसुओं में गोल-गोल, विसृत अथवा बहुरूपी सूजनें पाई जाती हैं। टटोलने पर न तो वे गरम लगती है और न दर्दयुक्त और अक्सर ये हड्डी से जुड़ी हुई नहीं रहती। यह तथ्य कि ये चलायमान होती हैं रोग के इस प्रकार की, यथार्थ ऐक्टिनोमाइसीजता से अलग पहचान कराता है। कुछ रोगियों में निकटवर्ती लिम्फ ग्रंथियाँ भी खूब सूज जाती है। इनकी प्रमुख स्थिति उपजम्भ-क्षेत्र तथा पैराटिड क्षेत्र का निचला किनारा होता है। कभी-कभी आँख तथा होंठ के कोने के बीचोबीच चेहरे पर त्वचा के नीचे सुदृढ़, परिगत तथा गोल-गोल गाँठ मौजूद हो सकती है।

जीभ की ऐक्टिनोमाइसीजता को लार गिरने तथा कष्टप्रद चर्वण से पहचाना जाता है। अंकुरक (Papillae) के नीचे एक ओर के किनारे को टटोलने पर, विशेषकर पिछले अर्द्ध भाग में, गिल्टी को महसूस किया जा सकता है। इस भाग का टिसू छूने में सख्त होता है—"कठोला" तथा जीभ को चलाने में दर्द होता है।

ग्रसनी के छल्ले को आक्रांत करने वाली ऐक्टिनोमाइसीजता ऊपर बताई हुई किस्मों की अपेक्षा बहुत कम होती है, किन्तु प्रत्यग्ग्रसनी अथवा उपजम्भ लसीका-ग्रंथियों के क्षय-रोग के संबंध में यह महत्त्वपूर्ण है। दोनो ही रोगों में पशु को साँस लेने में कष्ट हो सकता है। इस लक्षण का दीर्घकालिक होना आमतौर पर प्रत्यग्ग्रसनी लसीका-ग्रंथियों के क्षय-रोग का सूचक माना जाता है। किन्तु, फेरिंक्स अथवा स्वरयंत्र में फोड़ों या ऐक्टिनोमाइकोटिक फुंसियों का होना अथवा फेरिंक्स की सबम्यूकोजा में ऐक्टिनोमाइकोटिक फोड़ों की उपस्थिति, प्रत्यग्ग्रसनी लसीका ग्रंथियों के क्षय की भाँति ही लक्षण उत्पन्न कर सकती है। लिम्फ-ग्रंथियों अथवा इस क्षेत्र की श्लेष्मल झिल्ली के बाहर निकले फोड़ों का बढ़कर श्वासावरोध उत्पन्न करने के बाद भी उनका स्थान निर्धारण करना कठिन हो जाता है।

मुलायम भागों की ऐक्टिनोमाइसीजता में रोग का फलानुमान अच्छा होता है। कुछ के अतिरिक्त, फोड़ों का बहाव संभव है तथा पूर्ण रोगावस्था, खोखला करने वाली अस्थिशोथ से कम जटिल होती है।

चिकित्सा—सिर के क्षेत्र में अधस्त्वक् टिसुओं की ऐक्टिनोमाइसीजता उचित शल्य-क्रिया से ठीक हो जाती है। स्थानीय निश्चेतन (local ansthesia) के अन्तर्गत फोड़ों को खोलकर परिगत वृद्धि को काटकर अलग किया जा सकता है। घाव में टिंचर आयोडीन का फाहा रखना चाहिए। चौबीस से अड़तालीस घंटे बाद इन फाहो को हटाकर उसकी खुले घाव की चिकित्सा की भाँति मरहम-पट्टी शुरू कर देनी चाहिए। संक्रमण के पूर्णरूपेण नष्ट न हो सकने के कारण घाव भरने के निकट वहीं धीरे-धीरे सूजन आ सकती है। ऐसे मामले में सूजे हुए टिसुओं में सीधे लूगाल घोल (5 से 20 घ० सें०) भर देना चाहिए। इसका तत्क्षण प्रभाव तो यह होता है कि सूजन काफी बढ़ जाती है किन्तु, धीरे-धीरे यह नष्ट होकर पुनः सक्रिय नहीं होती।

ऐक्टिनोबैसिलोसिस के बहुत से रोगियों में पोटाशियम आयोडायड विशिष्ट रोग-हर प्रभाव दिखाता है। इसकी दैनिक मात्रा 1.5 से 2.5 ड्राम (6 से 10 ग्राम) है। यदि आयोडीन-विपाक्तता होती दीख पड़े तो एक सप्ताह के लिए चिकित्सा स्थगित कर देनी चाहिए। आँखों से आँसू बहना, अत्यधिक रूसी झड़ना तथा खान-पान में अरुचि होना आयोडीन-विपाक्तता के लक्षण हैं। इसके अतिरिक्त टिंचर अथवा लूगाल घोल के रूप में आयोडीन को ऊपर से भी लगाया जा सकता है। हड्डी के अधिक क्षतिग्रस्त होने पर आयोडीन का भीतरी प्रयोग अधिक लाभकारी नहीं होता। सूजन की जड़ पर तथा रोग-ग्रसित टिसू में कई स्थानों पर आयोडीन के लूगाल घोल का अधस्त्वक टीका दिया जा सकता है। मुलायम भागों के रोग-ग्रसित होने पर आयोडीन के प्रयोग से लाभ होते देखा गया है। हड्डी की ऐक्टिनोमाइकोसिस में लेखक ने बार-बार पोटाशियम आयोडायड देने पर भी कोई विशेष लाभ नहीं पाया। यदि हड्डी की वृद्धि बहुत थोड़ी हुई है और यह तेजी से नहीं बढ़ रही है तो आयोडीन के भीतरी तथा बाहरी दोनो प्रयोगों से उसकी वृद्धि को रोका जा सकता है। विकास रुक जाने के बाद निचले जबड़े पर स्थित बढ़ी हुई हड्डी का आपरेशन करके, घाव भर

कर उसे ठीक किया जा सकता है। मुलायम भागों की ऐक्टिनोमाइसीजता की चिकित्सा में 18 दिन के अवकाश पर सोडियम आयोडायड का अंतः शिरा इन्जेक्शन (30 ग्राम प्रति 500 घ० सें० पानी) देना काफी लाभदायक सिद्ध हुआ है।

मानव-चिकित्सा में कुछ रोगियों को टीका देने से प्रत्यक्ष लाभ होते देखा गया है।

ऐक्टिनोमाइकोटिक वृद्धि पर अपने विशिष्ट प्रभाव के कारण आयोडीन के विभिन्न प्रकारों के प्रयोग करने की राय दी गई है। इनमें से कुछ को अंत.पेशी अथवा अंत.शिरा इन्जेक्शन द्वारा दिया जा सकता है। इसका कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है कि उनका कार्य आयोडिन के साधारण प्रकारों से भिन्न होता है। दस रोगियों की चिकित्सा तक सीमित एक प्रयोग में किंगमन और पैलेन[9] ने यह निष्कर्ष निकाला कि "गोपशुओं में हड्डी की ऐक्टिनोमाइसीजता में स्ट्रेप्टोमाइसीन का प्रयोग अत्यधिक उत्साहवर्धक रहा है।" इसमें 5 ग्राम स्ट्रेप्टोमाइसीन को 10 घ० सें० डिस्टिल्ड वाटर में घोलकर रोग-ग्रसित क्षेत्र के ऊपर चर्तुतरफा तीन दिन तक रोजाना अधस्त्वक् इन्जेक्शन के रूप में दिया गया।

संदर्भ

1. Magnusson, H., The commonest forms of actinomycosis in domestic animals and their etiology, Acta Path. et Microbiol. Scandinav., 1928, 5, 170.
2. Wolff, M., and Israel, J., Ueber Reinculter des Actinomyces and seine Uebertragbarkeit auf Thiere, Arch. Path. Anat., Physiol. Klin. Med. (Virchow), 1891, 126, 11.
3. Emmons, C. W., The isolation of Actinomyces bovis from tonsillar granules, U. S. Public Health Reports, Treas. Dept., 1938, 53, 1967.
4. Lignieres and Spitz, L'Actinobacillose, Bull. de la Soc. Centr. de Med. Vet., 1902, N. S. 20, 487.
5. Vawter, L. R., A study of actinomycosis, Cornell Vet., 1933, 23, 126.
6. Davies, G. O. and Torrance, H. L., Observations regarding the etiology of actinomycosis in cattle and swine, J. Comp. Path. and Their. 1930, 43, 216.
7. Beaver, D. C., A case of actinomycosis of the omentum, Cornell, Vet., 1921, 11, 217.
8. Moore, V. A., Actinomycosis mistaken for tuberculosis at post-mortem following the tuberculin test, Am. Vet. Rev. 1906, 30, 181.
9. Kingman, H. E., and Palen, J. S., Streptomycin in the treatment of actinomycosis, J. A. V. M. A., 1951, 118, 29.

ग्लैंडर्स

(Glanders)

(मेलियस, फार्सी रोग)

परिभाषा—टापधारी पशुओं का यह एक दीर्घकालिक संक्रामक रोग है जो बैसिलस मेलियाइ (Malleomyces mallei) द्वारा उत्पन्न होता है। फेफड़ों, त्वचा तथा

नाक की श्लेष्मल झिल्ली में फुंसियों तथा घावों के निर्माण द्वारा इसे पहचाना जाता है। कभी-कभी मनुष्य को भी इसकी छूत लग जाती है।

इतिहास—400 ई० पू० ग्लैंडर्स का वेगेटियस (Vegetius) द्वारा वर्णन किया गया था। एरिसटोटल (Aristotle) ने इसका ग्रीक नाम "मेलियस" रखा। विश्वयुद्ध के समय तक घोड़ों में यह एक महत्त्वपूर्ण रोग था। चौथी शताब्दी में इसे छुतैला रोग कहकर पहचाना गया। तब से अठारहवीं शताब्दी तक के शांतिकाल में नियंत्रण के उपायों द्वारा इसकी थोड़ी-बहुत रोकथाम हुई। अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भकाल में अल्फोर्ट पशु-चिकित्सा-विज्ञान-महाविद्यालय के अधिकारियों ने इसको छुतैला नहीं माना। युद्ध काल और इसके तत्काल बाद इसका प्रकोप उच्च सीमा पर रहा जबकि संक्रमण के वितरण हेतु परिस्थितियाँ अनुकूल थीं। अतः फौजों, शहरों तथा शिविरों में जहाँ अधिक संख्या में घोड़े इकट्ठे होते थे वहाँ इस रोग का विशेषकर प्रकोप हुआ। ऐसे केन्द्रों से घोड़ों के वितरण द्वारा यह बीमारी पूरे देश में फैली। युद्धकालीन परिस्थितियों में प्रथम विश्वयुद्ध के समय तक इसके कंट्रोल के प्रभावकारी उपाय न पाए जा सके। शताब्दियों तक यूरुप में यह बीमारी रूस से फैलती रही जहाँ पशुपालन एक प्रमुख धन्धा है। सन् 1912 में बुडापेस्ट से लेकर कोपेनहैगेन तक अनेक नैदानिक प्रयोगशालाओं की स्थापना हुई और इन सब में रूस से प्रवेश पाने वाले घोड़ों में ग्लैंडर्स की जानकारी हेतु रक्त की जाँच की जाती थी।

कारण—वितरण : मैलीन के प्रयोग के संबंध में बढ़ती हुई जानकारी तथा घोड़ों का शहरों में अभाव होते जाने के साथ-साथ इस देश में ग्लैंडर्स की बीमारी लगभग अज्ञात सी हो गई है। प्रथम महायुद्ध के प्रकोप के समय तथा बाद में जर्मनी और केन्द्रीय यूरुप के अन्य क्षेत्रों में इसका भीषण प्रकोप हुआ। किन्तु, अब केवल उन देशों को छोड़कर जहाँ स्वास्थ्य-रक्षा के सुविकसित साधन नहीं अपनाए जाते, बीमारी के प्रकोप पर प्रतिबंध सा लग गया है।

मनुष्य को इसकी छूत रोगी पशु के परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष रूप से संपर्क में आने से लग सकती है, यद्यपि यह किस्म अपेक्षाकृत बहुत कम होते देखी जाती है। कृत्रिम टीका द्वारा यह रोग गिनी-पिग, खरगोशों, कुत्तों, बकरियों, ऊँटों, चुहियों तथा चूहों को लग सकता है। भेंड़, सुअर तथा कबूतरों में इस रोग के प्रति अधिक सहनशीलता होती है। कृत्रिम रूप से गो-पशुओं में भी यह बीमारी उत्पन्न की जा सकती है, किन्तु प्राकृतिक संक्रमण से उनको यह रोग कभी नहीं लगता। ओस्लर का कहना है कि अन्य जीवाणुओं की अपेक्षाकृत बैसिलस मैलिआइ द्वारा प्रयोगशाला में काम करने वाले लोगों की अधिक मृत्यु हुई है और उन्होंने यह भी बताया कि इसके साथ कार्य करते समय विशेष सावधानियों को ध्यान में रखना चाहिए। अनुकूल परिस्थितियों में इस रोग से पीड़ित घोड़े अच्छे भी हो सकते हैं।

बैसिलस मैलिआइ 2 से 5 माइक्रान लम्बा, सीधा अथवा कुछ मुड़ा हुआ, न चल सकने वाला एक ग्राम ऋणात्मक जीवाणु है। इसके सिरे प्रायः गोल तथा आकृति विकृत होती है। नाक से निकलने वाले स्रावों तथा ग्लांडर्स से पीड़ित घोड़ों की नाक, फेफड़ों तथा त्वचा के क्षतस्थलों में यह जीवाणु निवास किया करता है। क्षतस्थलों से तैयार किए

गए स्लाइडो में इसे आसानी से नही पहचाना जा पाता, क्योंकि इसके लिए कोई विशिष्ट अभिरंजक (stain) नहीं है। आलू के संवर्धनों पर यह शहद के रंग का पदार्थ जमा करता है। संवर्धन के लिए नमूना लेते समय लिम्फ ग्रंथियों तथा फोडा में चीरा नहीं लगाना चाहिए। शरीर के बाहर यह जीवाणु दो-तीन माह से अधिक जीवित नहीं रहता।

छूत लगने के ढंग—रोगी पशुओं से स्वस्थ पशुओं को इस बीमारी की छूत फेफडो, नाक अथवा त्वचा से निकलने वाले पदार्थों के माध्यम द्वारा लगती है। ये पदार्थ बाल्टियों, चरही, पानी पीने की नांदो, काठी, बर्तनों, खाद्य-पदार्थों तथा बिछावन आदि को संदूषित कर देते हैं। प्राय ग्रास नली द्वारा इस रोग का जीवाणु शरीर में प्रवेश पाता है, यद्यपि इसकी छूत श्वास नली द्वारा अथवा कटी-फटी त्वचा द्वारा भी लग सकती है। मांसाहारी पशु रोग-ग्रसित घोडे का कच्चा मांस खाकर संक्रमणित होते हैं। मनुष्य को भी इसी प्रकार अथवा प्रयोगशाला में अथवा कभी-कभी घुडसालों में त्वचा या श्लेष्मल झिल्ली में खरोंच द्वारा इसकी छूत लगती है। सेना तथा शिविरों में जहाँ बहुत से घोडे एक साथ रहते हैं, पानी पीने की सामूहिक नांदो तथा चारा खाने की चरही द्वारा इसका संक्रमण होता है।

संक्रमण के प्रकार—संदूषित चारे अथवा पानी के साथ आहार नाल में प्रवेश पाने के बाद यह संक्रमण फेरिंक्स अथवा अँतडी की श्लेष्मल झिल्ली से शोषित होकर रक्त के साथ फेफडा में पहुँचता है। यहाँ यह स्थिर होकर प्राथमिक क्षतस्थल बनाता है। कृत्रिम रूप से खिलाने के बाद तत्काल ही ज्वर के विकास द्वारा रक्त प्रस्थान में संक्रमण की उपस्थिति को प्रदर्शित किया जा सकता है। वैसे तो कुछ लोगों का ऐसा विचार है कि अँतडी, प्लीहा

चित्र—95 चित्र—96

चित्र—95 उग्र ग्लैंडर्स से ग्रसित फुफ्फुस, 1 श्वेताणु तथा नाभिकीय मलबा, 2 न्यूमोनिया ग्रसित क्षेत्र 3 रक्तस्रावी क्षेत्र (×30)-फोर्थिघम।

चित्र—96 चिरकारी ग्लैंडर्स से ग्रसित फुफ्फुस 1 केन्द्रीय परिगलन, 2 कोष्ठिक भीति के अवशेष के साथ उपकलाकल्प प्रक्षेत्र 3 संयोजी ऊतक कैप्सूल (×30)-फोर्थिघम।

तथा यकृत इसके क्षतस्थलो के प्रमुख स्थान होते है किन्तु, अधिकाश लोगो के अनुसार इनका प्राथमिक विकास फेफडो में होता है। प्रत्यक्ष रूप से स्वस्थ दिखाई देने वाले अनेक घोडो के फेफडो में विशिष्ट परिवर्तन होने से इस विचार को और भी अधिक समर्थन मिलता है। फेफडो में प्राथमिक क्षतस्थलो के अतिरिक्त नाक की श्लेष्मल झिल्ली (नासिका ग्लैंडर्स) तथा त्वचा (फार्सी) में भी इसकी छूत स्थित हो सकती है।

विकृत शरीर रचना—फेफडो के क्षतस्थल इस बीमारी के सबसे प्रमुख क्षतस्थल फेफडो में पाए जाते है। उनमें ट्युबर्किल की भाँति गाँठें (फुन्सीयुक्त ग्लैंडर्स) अथवा पालिका शोथ (विसृत ग्लैंडर्स) हो सकती है। गाँठें प्राय बहुवितरित रहती है। वे बाहर से धूसर तथा बीच में पीली होकर शोथयुक्त पट्टी से घिरी रहती है। रोग की निमोनिया जैसी किस्म में 1/4 इच व्यास तक की बादामीपन लिए हुए लाल रग की ग्रथियाँ मिलती है जो परस्पर मिलकर एक बडा क्षतस्थल बना सकती है।
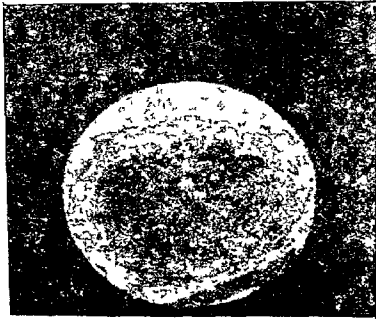
चित्र—97 परजीवी पर्विका इसमें केन्द्र के निकट एक परजीवी का कुछ भाग दिखाई दे रहा है 1 (×40)—फोथिघम।

फेफडो की पर्विल ग्लैंडर्स उग्र अथवा दीर्घकालिक दो प्रकार की हो सकती है। फोथिघम[1] द्वारा इन दो प्रकारो का निम्न प्रकार वर्णन किया गया है :

उग्र पर्विका में रक्तस्रावी निमोनिया की गहरे लाल रग की छोटी-छोटी फुंसियाँ होती हैं। इसका आकार 1 से 4 मि० मी० का हो सकता है। रोग की अधिक बढ़ी हुई अवस्था में पर्विका देखने में धूसर, बीच में पीली तथा बाहर से लाल पट्टी से घिरी हुई दिखाई देती है—चित्र 95। उग्र प्रकार की भाँति दीर्घकालिक पर्विकाएं सख्या में कम अथवा अधिक हो सकती हैं। ट्युबर्किल की भाँति निर्मोनिक क्षतस्थल-उपकलीय कोशिकाओं, भीम कोशिकाओं तथा संयोजी ऊतक का बना होता है। कैल्सीकरण के साथ यहाँ केन्द्रीय

ऊतिगलन होती है। इसके चारो ओर उपकला क्षत्र तथा बाद में संयोजी ऊतक की दीवाल होती है, जिसके आगे फेफड़ा नार्मल होता है – चित्र 96.

मैलीन जांच के प्रति प्रतिक्रिया प्रदर्शित करने वाले जिन घोड़ों को कडम किया गया अथवा मारा गया उनके फेफड़ों में छोटी-छोटी गाँठें थीं जिनके कारण यह विवाद उत्पन्न हो गया कि वे परजीवी कीट युक्त थीं अथवा ग्लैंडर्स से ग्रसित। हिस्टॉलोजिकल काट का माइक्रास्कोपिक परीक्षण करके इस प्रश्न का शीघ्र ही उत्तर दिया जा सकता है। हीमैटाक्सिलिन से अभिरंजन करने पर परजीवी कीट युक्त ग्रथियाँ रंग में नीली तथा बनावट में एक समान दिखाई पड़ती हैं क्योंकि वे अधिकतर लसीकाभ कोशिकाओं (lymphoid cells) की बनी होती हैं। इओसिनोफिल (eosinophils) काफी बड़ी संख्या में होते हैं, जबकि ग्लैंडर्स से ग्रसित पर्विका में ये बहुत ही कम अथवा अनुपस्थित रहते हैं—चित्र 97।

रोग का विसृत प्रकार भी उग्र अथवा दीर्घकालिक हो सकता है। फेफड़ों की ग्लैंडर्स प्रायः दीर्घकालिक ही हुआ करती है।

त्वचा के क्षतस्थलों में 1/4 से 1/2 इंच तक की ग्रथियाँ होती हैं। इनका केन्द्रीय भाग मुलायम होता है तथा बीच में शहद की भाँति पीव भरा हुआ हो सकता है। त्वचा के नीचे बड़ी-बड़ी ग्रथियाँ तथा फोड़े होते हैं। दानेदार पदार्थ के रूप में इसके प्रमुख क्षतस्थल होते हैं जो फटकर घाव बन जाते हैं। घावों के किनारे मोटे तथा कटे-फटे होते हैं तथा इनकी सतह लाल एवं चमकीली होकर लाल अथवा पीले रंग के मवाद से आच्छादित रहती है। लसीकाएँ (lymphatics) सूजी हुई तथा सुदृढ़ होती हैं तथा उनके मार्ग में ग्लैंडर्स के विशिष्ट फोड़े मौजूद हो सकते हैं।

नाक के क्षतस्थल जब ताजे बने होते हैं तो इनमें 1 से 2 मि० मी० व्यास की पीलापन लिए हुए धूसर ग्रथियाँ मिलती हैं। इनके चारों ओर की श्लेष्मल झिल्ली लाल तथा सूजी हुई प्रतीत होती है। जब ये फोड़े फटते हैं तो उस स्थान पर गोल-गोल घाव बन जाते हैं। बाद में यह परस्पर मिलकर कटे-फटे तथा मोटी दीवाल वाले किनारेदार बड़े घाव बनाते हैं। इनकी सतह पीलापन लिए हुए चमकीली होती है। घाव के भर जाने पर दाग पड़ जाते हैं जो टेढ़े-मेढ़े किनारेदार होते हैं। ये नाक की शुक्तिकास्थियों पर सबसे अधिक हो सकते हैं। किसी हद तक ऐसे ही परिवर्तन श्वसनतंत्र की श्लेष्मल झिल्ली के किसी भी भाग पर जैसे स्वरयंत्र, श्वासनली तथा ब्रोंकाई में मिल सकते हैं।

ग्लैंडर्स की फुंसियों की निकटवर्ती लिम्फ-ग्रथियाँ जैसे उपजम्भ, परिश्वसनी (peri-bronchial), कक्षीय तथा वंक्षण लसीका ग्रथियाँ इस रोग के क्षतस्थलों का प्रमुख स्थान होती हैं। रोग की उग्र अवस्था में ये खूब सूज जाती हैं तथा दीर्घकालिक अवस्था में ये अपने चौतरफा के टिशुओं से चिपक जाती है तथा इनमें पीवयुक्त फुंसियाँ होती हैं।

अन्य अंग जिनमें ग्लैंडर्स के क्षतस्थल मौजूद हो सकते हैं आहार-नाल की श्लेष्मल झिल्ली, यकृत, प्लीहा, गुर्दे, अण्डकोष, मस्तिष्क, मेरु-रज्जु तथा हड्डियाँ हैं।

लक्षण—रोग के वेग के अनुसार बीमारी का उद्भवनकाल भिन्न हो सकता है। कृत्रिम टीका देने के बाद रोगी को बुखार होकर तीन से पाँच दिन में स्थानीय क्षतस्थल

प्रकट हो सकते हैं। वैलिट ने केवल सात दिन के उद्भवनकाल के बाद प्राकृतिक संक्रमण का एक रोगी देखा। प्राकृतिक संक्रमण में रोग का उद्भवनकाल कई सप्ताहों तथा महीनों तक का हो सकता है।

फेफड़ों की दीर्घकालिक ग्लैंडर्स : रोग का यह प्रकार इस कारण अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि इससे पीड़ित घोड़े बिना लक्षण प्रदर्शित किए ही इस बीमारी की छूत फैलाते रहते हैं। जब घोड़ों अथवा खच्चरों के समूह में कोई गुप्त रूप से फेफड़े की ग्लैंडर्स से पीड़ित रोगी लाकर शामिल किया जाता है तो पानी की नादों तथा चरही के संदूषण द्वारा इसकी छूत यूथ के अन्य पशुओं में शीघ्र ही फैल जाती है। विधिवत तापक्रम लेते रहने से बुखार का पता लग जाता है तथा रक्त-परीक्षण करने पर श्वेताणुओं की संख्या में वृद्धि हुई मिलती है। रोगी की गिरी हुई दशा तथा टूटी हुई साँस जैसे लक्षण इसके बाहर से दिखाई देने वाले प्रथम लक्षण हो सकते हैं।

नाक की दीर्घकालिक ग्लैंडर्स : इसमें पहले एक ओर के नथुने से लिम्फ की भाँति पतला स्राव बहता मिलता है। घाव के विकसित होने के साथ यह स्राव पीवयुक्त हो जाता है तथा इसमें रक्त के छीछड़े मिलते हैं। नाक की श्लेष्मल झिल्ली का निरीक्षण करने पर विशिष्ट प्रकार के घाव अथवा फुंसियाँ सी मिल सकती हैं। एक ओर की उप-जम्भ लसीका ग्रंथियों में सूजन हो जाना अनिवार्य है। हाल की बनी हुई ग्लैंडर्स की पर्विका गोल, धूसर अथवा धूसर-लाल, कुछ-कुछ अपारदर्शक, लगभग 1 मि० मी० व्यास की तथा लाल धारी से घिरी हुई होती है। एक या दो दिन में यह पीली तथा पीवयुक्त हो सकती है। ग्लैंडर्स के घाव गहरे, तथा कटोराकार होते हैं और इनके किनारे उठे हुए तथा सतह मोटी होती है। ये परस्पर मिलकर कटे-पिटे किनारे दार बड़े घाव बनाते है। पुजे हुए घाव टेढ़े-मेढ़े अथवा तारे की आकृति के दाग उपस्थित करते हैं। बार-बार बुखार आना तथा हालत का गिरते जाना इसके सामान्य लक्षण हैं। त्वचा की दीर्घकालिक ग्लैंडर्स प्रायः इसकी नासिका प्रकार के साथ हुआ करती है।

नासा-ग्लैंडर्स की भाँति, दीर्घकालिक त्वचा-ग्लैंडर्स की छूत भी प्रायः फेफड़ों से ही लगती है। इसे प्रायः गिल्टियों द्वारा पहचाना जाता है जो त्वचा के अन्दर तेजी से प्रकट होती हैं और शीघ्र ही फोड़ों तथा घावों में परिवर्तित हो जाती हैं। त्वचा की ग्रंथियाँ 1/4 इंच (6 मि० मी०) व्यास की होती हैं और शीघ्र ही ये छिछले अथवा गहरे घावों में परिणित हो जाती हैं। बहुधा ये फूली हुई लिम्फ-नलिकाओं द्वारा एक दूसरे से मिली रहती हैं। गहरी अधस्त्वक् ग्रंथियाँ काफी बड़ी होती हैं—1 से 1·5 इंच। वे या तो एक आवरण से आच्छादित रहती है अथवा फटकर बंद नालीदार मार्ग बनाती है। त्वचा के फोड़ों का मवाद रंग तथा गाढ़ेपन में शहद जैसा होता है जो बैसिलस मैलिआइ की विशेषता प्रकट करता है। त्वचा-ग्लैंडर्स का सबसे प्रमुख क्षतस्थल पिछले पैरों की भीतरी सतह पर होता है, किन्तु यह कहीं पर भी प्रकट हो सकता है।

उग्र ग्लैंडर्स (acute glanders) ठंड तथा 106 से 108° फारेनहाइट तेज बुखार के साथ प्रारम्भ होती है। इसे नाक की श्लेष्मल झिल्ली पर तेजी से फैलने वाले घावों तथा उनमें पीव बहने से पहचाना जाता है। नाक से बहने वाला स्राव पीव-मिश्रित

श्लेष्मा से बदल कर रक्तयुक्त तथा पानी जैसा पतला हो जाता है। उपजम्भ लसीका ग्रंथियाँ खूब सूज जाती हैं। कण्ठ-द्वार में सूजन आ जाने के परिणामस्वरूप पशु को साँस लेने में कठिनाई हो सकती है। तत्पश्चात् शीघ्र ही ग्रंथियाँ, एवं फोड़े बनकर तथा पैरों पर सूजन आकर पशु को गौण उग्र त्वचा ग्लैंडर्स हो जाती है। कुछ दिनों में तथा कभी-कभी एक सप्ताह के अन्दर रोगी की मृत्यु हो जाती है। रोग का यह प्रकार गधे तथा खच्चर में आमतौर पर प्रकोप करते देखा जाता है।

कोर्स तथा फलानुमान—उग्र ग्लैंडर्स से कुछ दिनों में रोगी की मृत्यु हो जाती है तथा इसके लक्षण विशेष प्रकार के होते हैं। दीर्घकालिक गुप्त ग्लैंडर्स का केवल मैलीन अथवा सीरमीय परीक्षण करने पर ही पता लग पाता है। चरागाहों पर चरने वाले रोग-ग्रस्त घोड़े प्राय अच्छे हो जाते हैं, किन्तु ऐसे पशु संक्रमण का भयानक स्रोत होते हैं।

निदान—चूंकि यूनाइटेड स्टेट्स में ग्लैंडर्स रोग अपेक्षाकृत अब बहुत ही कम होता है, अत इसके गुप्त फुफ्फुस प्रकारों का पता लगाना एक समस्या है। घोड़ों में केवल यातायात-काल में अथवा बड़े-बड़े समूहों में एक साथ खिलाने तथा पानी पिलाने पर ही इसका प्रकोप देखा जा सकता है।

मैलीन जाँच (Mallien test) : ट्युबरक्युलिन की भाँति इस रोग की नैदानिक जाँच के लिए मैलीन को सर्वप्रथम अवस्त्वक् विधि द्वारा प्रयोग किया गया। इन्जेक्शन के स्थान पर सूजन तथा बाद में बुखार होकर इसकी प्रतिक्रिया प्रदर्शित होती है। अवस्त्वक् मैलीन जाँच का अब प्रयोग नहीं किया जाता तथा जर्मनी में सीरमी-निदान के साथ गड़बड़ी उत्पन्न करने के कारण इसका प्रयोग नहीं होता।

नेत्र-सबंधी मैलीन जाँच (Ophthalmic mallien test) : इस परीक्षण ने अवस्त्वक् विधि का प्रयोग बिल्कुल ही बंद कर दिया है। यह अधिक उपयुक्त है तथा इसे बड़ी ही सरलता से प्रयोग किया जा सकता है। इसे बार-बार दुहराया जा सकता है और यह सीरमी-निदान के साथ गड़बड़ी नहीं उत्पन्न करता। ऐसे अवसरों पर यह विशेषकर लाभदायक है जहाँ हजारों घोड़ों का शीघ्र निदान करना होता है। जाँच करने वाले पशुओं को पूर्ण आराम मिलना चाहिए तथा इन्हें इन्फ्लूएंजा, ठंड अथवा नेत्र-रोगों से मुक्त होना चाहिए। रोगी पशु की सामान्य आँख में मैलीन डालने से एक विशेष प्रकार की पीवयुक्त नेत्र-श्लेष्मला-शोथ उत्पन्न हो जाती है। यह तीन से छः घंटे में प्रकट होकर, 8 से, 12 घंटे पर अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है तथा 1 से 2 दिन तक मौजूद रहती है। एक काँच की छड़ अथवा आँख में दवा डालने वाली पिचकारी (ड्रापर) से बाईं आँख में इसके दो या तीन बूँद डाल दिए जाते हैं। दोपहर के बाद अथवा शाम को यह औषधि डाली जाती है। तत्पश्चात् वे रगड़ कर आँख खराब न कर लें, इस कारण घोड़ों को छोटी रस्सी से बाँध दिया जाता है। रात में उनको सूखी घास खिलाई जाती है। तत्पश्चात् जब तक अवलोकन पूरा नहीं हो जाता उन्हें कुछ भी नहीं दिया जाता। दूसरे दिन प्रात काल, लगभग बारह घंटे बाद पहला अवलोकन किया जाता है। 6 घंटे के अवकाश पर दो और अवलोकन किए जा सकते हैं। फिर परिणामों को निम्न प्रकार अंकित किया जाता है (सैनिक अधिनियम 40, 1921) :

नेत्र अपरिवर्तित	ऋणात्मक
श्लेष्मा मिश्रित स्राव	संदेहयुक्त
श्लेष्मा मिश्रित स्राव के साथ अथवा बिना ही किसी भी अंश की नेत्र-श्लेष्मला-शोथ	संदेहयुक्त
पीवयुक्त फोड़ों के साथ श्लेष्मा एवं पीव मिश्रित स्राव अथवा श्लेष्मा का बहना	धनात्मक
पीवयुक्त स्राव बहना	धनात्मक
पलकों की सूजन अथवा परस्पर चिपक जाने के साथ पीवयुक्त स्राव बहना	धनात्मक

जर्मन लेखकों के अनुसार बिना पीव के सीरम एवं श्लेष्मा मिश्रित अथवा सीरस-स्राव, धूसर सफेद स्राव, अथवा श्लेष्मा का एक साथ निकलना ऋणात्मक परिणाम का सूचक है।

इस जाँच के बारे में ऐसा कहा जाता है कि इससे 90 से 100 प्रतिशत ग्लैंडर्स के गुप्त रोगियों का पता चल जाता है। जब तक किसी समूह में एक भी इस रोग का गुप्त रोगी रहता है, रोग लगातार फैलता रहता है तथा रोग का उद्भवन-काल कम हो सकता है।

अंतः त्वचा जांच—सन् 1915 में दक्षिणी अफ्रीका की घुड़सवार फौज के कप्तान गूडाल[2] (Goodall) ने अंतः त्वचा जाँच को अच्छा बताया। उन्होंने देखा कि यद्यपि मैलीन को आँख में डालने से कुछ अच्छे परिणाम निकलते हैं, फिर भी इसमें निम्नलिखित त्रुटियाँ हैं : "अक्सर प्रतिक्रिया थोड़ी देर के लिए होती है जिसके कारण कभी-कभी यह देखने से भी रह जाती है, नार्मल पशु की आँखों में भी थोड़ा स्राव बहता हुआ पाया जा सकता है, पशु अथवा उनके परिचारक उस निकले हुए स्राव को रगड़ कर पोंछ सकते हैं। जिन पशुओं की नेत्र-संबंधी जाँच बार-बार की जा चुकी होती है उनमें अंतः त्वचा जाँच विशिष्ट प्रतिक्रिया प्रदर्शित करती है। अपनी इस अच्छाई के कारण यूनाइटेड स्टेट्स की फौज में यह एक मानक-परीक्षण हो गया है। इस जाँच को लागू करके फौजी घोड़ों में ग्लैंडर्स की महामारी का उन्मूलन करना संभव हो सका है। परीक्षण हेतु 0·1 c.c. गाढ़ी मैलीन का निचली पलक में अंतः त्वचा इन्जेक्शन देना पड़ता है। यह इन्जेक्शन काँच की 1 c.c. वाली पिचकारी को पानी में उबालकर जीवाणुरहित करके दिया जाता है। प्रत्येक इन्जेक्शन के बाद सुई को ऐल्कोहल में डाल दिया जाता है। जिन पशुओं की आँख में खुजली अथवा उत्तेजना हो उन्हें यह इन्जेक्शन नही दिया जाता। इन्जेक्शन को बाहरी तथा भीतरी नेत्र-कोणों के लगभग बीचोंबीच तथा पलक के समानान्तर, पलक के किनारे से लगभग एक चौथाई इंच दूर त्वचा में दिया जाता है। इन्जेक्शन प्रायः दाहिनी आँख में लगाया जाता है। इससे यह लाभ होता है कि पशु अपने सिर को यदि हिलाना-डुलाना चाहता है तो उसे दाएँ हाथ से रोका जा सकता है। दो या तीन घंटे में एक अस्थायी सूजन प्रकट हो सकती है, किन्तु चालीस से अड़तालीस घंटे से पूर्व विशिष्ट प्रतिक्रिया नहीं देखी जाती। यह दोनो पलकों की विस्तृत सूजन के रूप में होती है। पलकें लगभग बिल्कुल ही बंद सी हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त रोगी को पीवयुक्त नेत्र-श्लेष्मला-शोथ,

प्रकाश सन्त्रास (photophobia) तथा निराशा हो सकती है। यह एक संयुक्त नेत्र तथा त्वचा-जांच है। प्रतिक्रिया 48व घटे से पूर्व प्रकट होकर तीन चार दिन तक रह सकती है। केवल निचले पलक पर अथवा उसके थोड़ा नीचे तक बढ़ी हुई हल्की फूली हुई सूजन का कोई महत्त्व नहीं है।

पूरक-स्थिरीकरण जांच सीरम-मूलक निदान का सबसे सही तरीका है और इसका खूब प्रयोग होता है। 5 से 10 प्रतिशत सत्रात पशुओं का इस जांच द्वारा पता ही नहीं चल पाता। इसके विपरीत गल-ग्रथिल रोग, एन्फ्लूएजा, तथा परप्यूरा जैसी छुतैली बीमारियों के परिणाम स्वरूप तथा रक्ताल्पता, एव रोग से अच्छे होते समय गर्भित घोड़ियों तथा खच्चरो और गधों के नार्मल रक्त में भी इसकी प्रतिक्रिया हो सकती है—जुइक[3]।

सदेहयुक्त पदार्थ, प्राय पीव, का त्वचा के नीचे अथवा उदर झिल्ली में टीका देने पर नर गिनी-पिग में अण्डशोथ उत्पन्न हो जाती है। टीका देने के स्थान पर विशेष प्रकार की सूजन आ जाती, फोड़ा बन जाता तथा घाव हो जाता है। निकट की लिम्फ ग्रथियों में भी फोडे बन सकते हैं। तीन से चार सप्ताह में रोग-ग्रसित गिनीपिग की मृत्यु हो जाती है। कुछ दो से चार माह तक जीवित रह कर अच्छी भी हो सकती है। केवल धनात्मक परिणाम ही निष्कर्षदायक होता है, क्योंकि ताजे ग्लैंडर्स पदार्थ का टीका लगाई हुई केवल 20 से 25 प्रतिशत गिनीपिगो में यह रोग होता है।

सदेहयुक्त पदार्थ से तैयार किए गए स्लाइडों का जीवाणु-परीक्षण बहुत ही कम नैदानिक महत्त्व का है।

कंट्रोल—बार-बार मैलीन जांच करके (प्रति दो से तीन सप्ताह बाद) तथा विर्रमियों को नष्ट करके ग्लैंडर्स को कंट्रोल किया जाता है। यदि बहुत से पशुओं की जाँच करनी हो तो उन्हें छोटे-छोटे समूहों में बांट लेना अधिक अच्छा है। रोग-ग्रस्त पशुओं द्वारा प्रयोग की गई चरहो तथा नांदो की खूब सफाई करके उन्हें जीवाणुरहित करना चाहिए।

संदर्भ

1. Forthingham L , Something about glanders and rabies, Cornell Veterinarian, 1920. 10, 163.
2. Goodall, Captain, The Intrapalpebral mallein test, J. Comp. Path. and Ther., 1915, 28, 231.
3. Frohner-Zwick, Komp. d. spez. Path. u. Therapie, 1938.

पशुपदिक लसीकायनी शोथ

(Epizootic Lymphangitis)

(अफ्रीकी ग्लैंडर्स, कूटग्लैंडर्स)

पशुपदिक लसीकायनीशोथ घोड़ो तथा खच्चरों की एक विशिष्ट बीमारी है जो एक फंगस सैकोमाइसीज (क्रिप्टोकाकस) फार्सीमिनोसस द्वारा उत्पन्न होती है। पीव से तैयार किए गए स्लाइडों में 3 से 4 माइक्रान लम्बी तथा 2.5 से 3.5 माइक्रान चौड़ी

अपारदर्शक यीस्ट जैसी कोशिकाएँ दिखाई पड़ती हैं। यूरप मे यह रोग अक्सर प्रकोप करता है जहाँ प्रथम विश्वयुद्ध काल में इसे काफी महत्त्व मिला। चीन, जापान तथा दक्षिणी अफ्रीका में भी यह रोग खूब प्रकोप करते बताया गया है।

इसकी छूत त्वचा पर लगी हुई खरोंचो तथा घावो द्वारा लगती है। बिछावन, वर्तन, काठी तथा सभवत मक्खियो द्वारा भी इसका सक्रमण होता है।

लक्षण—6 से 8 सप्ताह के उद्भवन-काल के बाद फगस के प्रवेश करने के स्थान के निकट ही लिम्फ-नलिकाओ पर ग्रथिल सूजन होकर वहाँ फोडे बन जाते ह। अधिकतर ये क्षतस्थल पिछले पैरो पर घुटनो के निकट पाए जाते हैं, किन्तु यह शरीर अथवा पैरो के किसी भी भाग पर प्रकट हो सकते हैं। ग्रथियो तथा फोडो के विकास के पश्चात् निकटवर्ती लिम्फ-नलिकाएँ तथा लिम्फ-ग्रथियाँ सूज जाती हैं और यह सूजन काफी बढ सकती है। कभी-कभी नाक की श्लेष्मल झिल्ली में भी गाँठें तथा घाव दिखाई देते हैं। इसका कोर्स एक माह से अधिक का होता है। रोग-ग्रसित पशु बहुत कमजोर हो जाते हैं तथा इससे मरने वाले पशुओ की सख्या 10 से 25 प्रतिशत है।

विभेदी-निदान के लिए ग्लैंडर्स, सव्रण लसीकायनी शोथ, फोडा बनने के साथ भद्दी सूजन तथा छुतैली स्फोटपूर्ण त्वचाशोथ पर विचार करना चाहिए। पीव से तैयार किए गए स्लाइडो में कवक को पहचाना जा सकता है।

चिकित्सा—क्षतस्थलो की शीघ्र चिकित्सा हो जाने पर ही रोगी ठीक हो पाता है। रोग-ग्रसित टिसुओ को काटकर निकाल दिया जाता है तथा इस प्रकार के घाव को दाग दिया जाता है। पुराने तथा विस्तृत क्षतस्थलो की कोई चिकित्सा नही है। रोग नियत्रण की सर्वोत्तम विधि यह है कि रोग-ग्रसित पशुओ को मार दिया जाए तथा पशुशाला की सफाई करके उसे कवक रहित कर दिया जाए।

गो-पशुओं में ब्रूसेल्लोसिस रोग

(Brucellosis in Cattle)

(संक्रामक गर्भपात, बैंग रोग)

परिभाषा—ब्रूसेल्ला एबार्टस (बैंग बैसिलस) द्वारा उत्पन्न होने वाला ढोरों का सक्रामक गर्भपात पशुओ की बहुव्यापक नष्टकीय बीमारी है जो विशेषकर डेरी नस्लो में प्रकोप करती है। विकृति विज्ञान के आधार पर इसे गर्भित गर्भाशय, भ्रूण तथा जेर (fetal membranes) में शोथयुक्त एव नष्टकीय परिवर्तनो द्वारा पहचाना जाता है। बच्चे के गर्भाशय से बाहर निकलने अथवा उसकी अन्दर ही मृत्यु हो जाने के बाद मादा पशु को विभिन्न अश की गर्भाशय शोथ हो जाती है। इससे कभी-कभी उग्र रक्त-विषाक्तता होकर पशु की शीघ्र ही मृत्यु हो जाती है अथवा जननांगों में भीषण क्षतस्थलों का विकास होकर, अधि-शोथ तथा सामान्य गडबडी के कारण पशु बिल्कुल ही बेकार हो जाता है। अधिकतर में क्षतस्थल गर्भाशय तक ही सीमित रहकर पशु में अस्थायी, बार-बार होने वाला अथवा स्थायी बाँझपन उत्पन्न करते हैं। अधिकांश पशुओं में इन क्षतस्थलों का प्रत्येक

बार ब्याने के बाद जेर (placenta) पर देखकर पहचाना जा सकता है। दैहिक प्रतिक्रिया के साथ अथवा बिना प्रतिक्रिया के ही बच्चे का गर्भाशय से बाहर निकलना इसका विशिष्ट तात्कालिक लक्षण है। बाद में गर्भकाल पूरा न हो पाने के पूर्व ही बच्चे के निष्कासन के कारण दूध-उत्पादन में कमी तथा बाँझपन होना इसके अन्य लक्षण हैं। बैंग रोग के लक्षण तथा क्षतस्थल विशिष्ट होने के बाद भी ये रोग के नैदानिक लक्षण नहीं होते क्योंकि अन्य संक्रमणों द्वारा भी ऐसी ही प्रतिक्रिया उत्पन्न हो सकती है।

नर पशुओं में ब्रूसेल्ला एबार्ट्स का संक्रमण होने पर अण्डकोष तथा एपिडिडिमिस में फोड़े बनते देखे जाते हैं।

कुछ लोगों के अनुसार ब्रूसेल्ला एबार्टस प्रौढ़ गायों के लिए रोगजनक नहीं होता। गायें इसमें निष्क्रिय रहती हैं, तथा विकृत परिवर्तन भ्रूण तथा उसकी झिल्लियों तक ही सीमित रहते हैं। यह विचार उस तथ्य को निराधार करता है कि ऐसे ही क्षतस्थल भ्रूण तथा माता के प्लैसेंटा में भी मौजूद रहते हैं। यह इस तथ्य पर आधारित है कि गाय में परिचारक गर्भाशयशोथ तथा अन्य क्षतस्थलों के लिए ब्रूसेल्ला एबार्टस जिम्मेदार न होकर कुछ अन्य संक्रमण उत्तरदायी होते हैं। इस तथ्य की यथार्थता को ध्यान में रखकर मानव चिकित्सा के विशेषज्ञ गौण संक्रमण द्वारा की गई क्षति के लिए प्रारम्भिक संक्रमण को मुक्त नहीं करते। इस विचार पर ध्यान न देकर कि एक संक्रमण समाप्त तथा दूसरा शुरू होता है, इस बीमारी से प्रमुख क्षति माँ को होती है।

इस संदर्भ में प्रोफेसर बैंग[1] के मूल निष्कर्ष विशेष महत्व के हैं: "यह अन्वेषण यह प्रकट करता है कि गर्भपात की महामारी को एक विशिष्ट गर्भाशयी क्लेश मानना चाहिए जो एक विशेष बैक्टीरिया द्वारा उत्पन्न होता है। यह सम्भव है कि गर्भाशय की श्लेष्मल झिल्ली में कोई विशिष्ट परिवर्तन न हो किन्तु दीर्घकालिक क्लेश का रचनात्मक परिवर्तनों के साथ होना अनिवार्य नहीं है। मेरे विचार से काफी मात्रा में निकलने वाला स्राव जिसमें एपिथीलियल कोशिकाएँ, पीव-कोशिकाएँ तथा अन्य गंदगी होती है पतली जरायु से न निकल कर गर्भाशय की श्लेष्मल झिल्ली से निकलता है और इस कारण इस बीमारी को गर्भाशयी क्लेश मानना चाहिए।"

कारण : सामान्य वितरण—संक्रामक गर्भस्राव संसार भर में प्रकोप करता है तथा कुछ को छोड़कर, जहाँ कहीं भी अच्छी नस्लों का प्रवेश किया गया वहाँ बैंग बैसिलस पहुँच गया। अत. चैनल द्वीप समूहों को छोड़कर यूनाइटेड स्टेट्स तथा अन्य देशों के सभी सुविकसित डेरी प्रान्तों में यह बीमारी खूब होती है। संक्रामक गर्भपात केवल खूब फैलने वाला ही रोग न होकर, यह बहुविस्तरित है। औसत दर्जे की अधिकांश डेरी यथे कभी न कभी इस रोग से अवश्य ही ग्रसित होती है। उन भागों में जहाँ पशुओं को बेचने के लिए पाला जाता है और जहाँ ढोरों का अन्तर यूथ-परिवर्तन आवश्यक नहीं है, वहाँ इस संक्रमण का वेग सम्भवतः कम होता है। फिर भी इन क्षेत्रों में कभी-कभी यह इतना बहुव्यापक हो जाता है कि लगभग एक महामारी जैसा रूप धारण कर लेता है। एक बहुविकसित प्रकोप के बाद इसका वेग धीरे-धीरे कुछ कम होने लगता है, किन्तु अधिकांश यूथों में विशेषकर

पहली वार ब्याने वाली वछियों में यह लगातार प्रकोप करते देखा गया है। स्वस्थ यूथ को निकट के पशुओं से अलग रखकर कुछ दिन तक इस बीमारी की छूत से बचाया जा सकता है। अनेकों वर्षों से इस बीमारी का प्रकोप होता रहा है तथा इससे भीषण क्षति हुई है। आधुनिक रोग-नियंत्रण-योजना के अन्तर्गत यूथ का रक्त-परीक्षण करके तथा वछड़ों को टीका लगाकर डेरी यूथों में यह बीमारी काफी कम कर दी गई है। जैसा कि मक्आ-लिफ[2] द्वारा वताया गया है न्यूयार्क में इस योजना में दो तिहाई गायों तथा वछड़ों को शामिल करके सन् 1945-1950 तक की अवधि में गर्भपात के प्रकोपों को वहुत ही कम कर दिया गया। जैसा कि संयुक्त राज्य पशु-उद्योग-ब्यूरो की सन् 1952 की रिपोर्ट में प्रकाशित है[3], गत वर्ष के लिए राष्ट्रीय योजना निम्न प्रकार थी : रक्त का ऐग्लूटिनेशन किए जाने वाले गोपशुओं की संख्या, 7,491,327, तिर्कमियों का प्रतिशत 4·2, टीका लगे वछड़ों की संख्या 3,179,251; ब्रूसेल्लोसिस रहित क्षेत्र (1 प्रतिशत से अधिक नहीं), 18 प्रदेशों, मेन, उत्तरी कैरोलिना (Narth Carolina) और न्यु हैम्पशायर में 345 प्रान्त। 454,732 यूथों में ब्रूसेल्लोसिस का वलय-परीक्षण (ring test) किया गया जिसमें से 135,967 धनात्मक निकले। इस जाँच का प्रयोग ऋणात्मक यूथों में रक्त-परीक्षण की आवश्यकता को अस्थायी रूप से हटा देता है। सन् 1951 की तुलना में तिर्कमियों की संख्या में वृद्धि होना विस्कांसिन में एक प्रसार-योजना के कारण थी जहाँ जाँच किए गए 1,469,320 गो-पशुओं में तिर्कमियों का प्रतिशत 10.3 था।

आयु—जब किसी ऋणात्मक यूथ में यह बीमारी सक्रिय हो जाती है तो सभी आयु की मादाओं का गर्भपात होने लगता है। पहले अथवा दूसरे वर्ष के वाद जब शेष वचे हुए पशुओं में इसके प्रति प्रतिरक्षा उत्पन्न हो जाती है तो यह बीमारी अधिकतर पहली वार ब्याने वाली वछियों में देखी जाती है। इनमें से काफी वड़ी संख्या में प्रति वर्ष गर्भपात होता है। एक वर्ष से कम की आयु वाले पशु वहुत ही कम ग्रहणशील कहे जाते हैं और इनको यदा-कदा ही इसका स्थायी संक्रमण होता है। इस विचार को वहुत ही अधिक सही नहीं मान लेना चाहिए। लेखक ने वार-वार ऐसा देखा है कि जहाँ कहीं वछियों के वड़े-वड़े समूह संदूषित दूध पर पाले जाते हैं उनमें से कुछ पशु अत्यन्त ही तिर्कमी होते हैं तथा जनन की आयु पर संक्रांत हो जाते हैं और इसके वाद गर्भ धारण करने के उपरान्त उनका अक्सर गर्भपात हो जाता है।

प्रतिरक्षा—जैसा कि वहुत से संक्रामक रोगों में देखा जाता है, कुछ पशु सभी संक्रमणों को सहन करके कभी भी रोग-ग्रस्त नहीं होते। दूसरे समूह में वे पशु आते हैं जो गर्भपात होने के वाद कभी भी गाभिन नहीं होते। तीसरे ग्रुप के पशुओं का वार-वार गर्भपात होता है तथा वे कठिनता से गर्भ धारण करते हैं। चौथे समूह के अन्तर्गत जैसा कि वर्च ने वताया है "साधारण ग्रहणशील" पशु आते हैं। इनका एक या दो वार गर्भपात होता है तथा वे अस्थायी प्रजनन-काल से निकल कर, अपेक्षाकृत सहनशील हो जाते हैं और गर्भकाल पूरा होने के वाद वच्चा देते हैं। यह समूह सबसे वड़ा होता है। इस प्रकार प्राप्त प्रतिरक्षा काफी पर्चीली होती है और पहले से यह जानने का भी कोई तरीका नहीं है कि यह भी प्राप्य हो सकेगी। प्रतिरक्षा, शब्द जैसा कि इस बीमारी के लिए प्रयोग होता है, कुछ-कुछ

गलत सा मालूम होता है। यदि गाय नियमित रूप से बच्चा देने वाली होकर गर्भकाल पूरा होने के बाद बच्चा देती है तो उसे "प्रतिरक्षित" कहा जाता है। इन गायों, विशेषकर अति विकर्मियों, के जीवन पर किए गए अवलोकन यह प्रदर्शित करते हैं कि उनका बार-बार गर्भपात होना बंद होने के उपरान्त भी उनकी प्रजनन वृत्ति फार्म पर उपस्थित ऋणात्मक गायों की अपेक्षा 20 प्रतिशत कम हो जाती है। इस प्रजनन-वृत्ति को प्रत्येक बार ब्याने के बाद गर्भ धारण करने के लिए आवश्यक समय, संभोग तथा जीवित बच्चों की संख्या के आधार पर नापा जाता है। तुलना के लिए आवश्यक सूत्र यह है कि जो गाय ब्याने के बाद 6 माह के अन्दर गाभिन हो जाती है उसे प्रत्येक बार गाभिन होने के लिए तथा 265 दिन या अधिक समय में प्रत्येक जीवित बच्चा पैदा करने के लिए "अ" ग्रेड दिया जाए, अन्य को "ब" दिया जाए। एक गाय का गर्भपात होने के बाद प्रमुख ध्यान उसके नष्ट हुए टिसुओं पर देना चाहिए न कि उस प्रतिरक्षा पर जो अगले होने वाले ह्रास के लिए हो। पशु की भिन्न सहन-शक्ति, संक्रमण के आवेग में विभिन्नता अथवा पालन-पोषण और देखभाल के ढंगों में विभिन्नता होने के कारण बीमारी इतनी अस्थायी है कि प्रजनन-काल समाप्त होने के पूर्व किसी भी गाय में क्षति का सही अनुमान लगाना कठिन हो जाता है। ऋणात्मक गायों का एक समूह जो बछड़ों की तरह ही बीमार तथा कमजोर हो और उनकी कोई विशेष रूप से देखभाल न की जाती हो, वे सुविकसित धनात्मक ग्रुप के पशुओं की अपेक्षाकृत कम उत्पादक हो सकती हैं।

जीवाणु विज्ञान—(अ) सामान्य गुण : ब्रूसेल्ला एबार्टस 1 से 2 माइक्रान लम्बा तथा 0 5 माइक्रान चौड़ा एक छोटी सी छड़ की आकार का जीवाणु है। गर्भाशय से निकलने वाले स्राव अथवा जरायु से तैयार किए गए स्लाइड पर यह कोकाइ की भांति गुच्छों के रूप में प्रकट होता है। गर्भाशयी स्राव में इस जीवाणु की विशिष्टता का सन् 1897 में बैंग[1] द्वारा निम्न प्रकार वर्णन किया गया : "गर्भाशय से निकलने वाले पीले रंग के स्राव का स्लाइड पर पतला लेप बनाकर लोफ्लर के मेथिलीन ब्ल्यू घोल से अभिरंजन करके माइक्रास्कोप में देखने से जीवाणु दिखाई पड़े। ये जीवाणु कुछ तितर-बितर तथा अधिकतर गुच्छों के रूप में काफी बड़ी संख्या में मौजूद थे। निकटतम परीक्षण करने पर पता लगा कि ये गुच्छे कोशिकाओं के अन्तर्गत थे, इस कारण उनके शरीर काफी फैल गए थे—घने गुच्छों में ये बैक्टीरिया कोकाइ जैसे प्रतीत होते थे, किन्तु कुछ अलग-अलग रहने वाले जीवाणु आकृति में लम्बे थे। इन्हें पहले छोटा तथा अण्डाकार आकार का समझा जाता था, किन्तु अत्यधिक आवर्धन वाले माइक्रास्कोप से इनकी निकटतम जांच करने पर यह पता चला कि वास्तव में यह बैसिलस बहुत ही छोटा है।"

ब्रूसेल्ला एबार्टस की जीवन शक्ति को भी बैंग द्वारा पहचाना गया जिन्होंने देखा कि भ्रूण की मृत्यु के बाद गाय के गर्भाशय में यह जीवाणु कम से कम नौ माह तक तथा बर्फ के बक्से में रखी ऐगर-सीरम की परखनली में कम से कम सात माह तक जीवित रहा। कैमरल[2] द्वारा किए गए प्रयोगों से यह ज्ञात हुआ कि 24.8° फारेनहाइट के तापक्रम पर रखे गए नल के पानी में ये जीवाणु 114 दिन तक, जमीन के अन्दर रखे गए ढोरों के गीले गोबर में 100 दिन तक, प्रयोगशाला की अलमारी में परख नलियों में रखे गए तथा

धीरे-धीरे सुखाए जाने वाले गो-पशुओं के गोबर में 120 दिन तक, जमीन के अन्दर भण्डारित गीली मिट्टी में 66 दिन तक, सूर्य के प्रकाश में 4-5 घंटे तक, तथा पोषक-तत्वों के साथ सुखाने में अधिकतम 121 दिन तक जीवित रहे। इससे स्पष्ट है कि य जीवाणु शरीर के बाहर रहकर भी काफी दिनों तक जीवित रह सकते हैं।

(ब) शरीर में वितरण—गर्भाशयी स्राव, जेर तथा गर्भपात करने वली गायों के भ्रूण में ये बैसिलस काफी बड़ी संख्या में पाये जाते हैं। रोग-ग्रसित झिल्लियों की जरायु वाली सतह से तैयार किए गए स्लाइडों में ये जीवाणु स्वतंत्र तथा एपीथीलियल कोशिकाओं के अन्दर, दोनो ही रूपों में, पाए जाते हैं। बहुधा ये जीवाणु रोग-ग्रसित गाय के सामान्य ढंग से ब्याने के बाद उसकी जेर अथवा गर्भाशय से निकलने वाले स्राव में पाये जाते हैं। ऐसी गायें या तो पहले ब्यांतों में गर्भपात कर चुकी होती हैं अथवा उनको इस गर्भकाल में काफी दिनों बाद पहली बार इसकी छूत लगती है। गर्भकाल में देर से छूत लगने पर यह बैसिलस रक्त में ऐग्लूटिनों के प्रकट होने के पूर्व ही तथा प्राकृतिक संक्रमण होने से पूर्व ही तथा प्राकृतिक संक्रमण होने के एक माह बाद भ्रूण की झिल्लियों से प्राप्त किया गया। जब हाल की संदूषित यूथ में सभी गायों के प्लैसेंटा की दैनिक जांच की जाती है तथा गिनी-पिग के टीका लगाया जाता है, तो अधिकतम 50 प्रतिशत रोग-ग्रसित प्लैसेंटा बैग रोग के नंगी आँख से दिखाई देने वाले क्षतस्थलों से रहित हो सकते हैं और यह उन गायों से आते हैं जो गर्भकाल पूरा होने के बाद बच्चा देती हैं। कभी-कभी सामान्य रूप से बच्चा देने वाली तथा ऋणात्मक रक्त-प्रतिक्रिया प्रदर्शित करने वाली गाय की जेर में भी यह जीवाणु पाया जाता है। ऐसे एक रोगी पशु में गिनी-पिग में बीमारी उत्पन्न करने के अतिरिक्त, प्लैसेंटा में झागयुक्त क्षेत्र के रूप में नंगी आँख से दिखाई देने वाले क्षतस्थल भी मौजूद थे। गर्भित गर्भाशय में ये जीवाणु विशेषकर भ्रूणीय जरायु (embryonal chorion) के एपीथीलियम में रहकर अपना विकास करते हैं। निगले हुए ऐम्निऑटिक द्रव द्वारा ये जीवाणु भ्रूण के शरीर में प्रवेश पाते हैं तथा उनकी आहार नाल एवं फेफड़ों में पाए जाते हैं।

गर्भाशय से निकलने वाले स्राव का दैनिक परीक्षण करने पर यह पता चला कि गर्भपात होने के बाद दो माह से अधिक समय तक ये जीवाणु गर्भाशय में नहीं पाए जाते और इससे यह अनुमान होता हैं कि ये यहाँ अधिक समय तक नहीं रहते। फिर भी, लेखक के चिकित्सालय में ये जीवाणु गर्भपात होने के चार तथा पाँच माह बाद दो गायों के अगर्भित गर्भाशय से प्राप्त किए गए। गर्भाशयी टिसू का टीका देकर गिनीपिग को भी रोग-ग्रसित किया गया। बर्च तथा गिलमन[5] ने पिछले गर्भपात के एक वर्ष बाद तीन पशुओं के गर्भाशय से ब्रूसेल्ला एबार्टस जीवाणु प्राप्त किए तथा गर्भाशयी टिसुओं से गिनी-पिगों को सफलता पूर्वक टीका दिया गया। इन अवलोकनों से यह अनुमान होता है कि गर्भाशय में ये जीवाणु अनिश्चित काल तक मौजूद रह सकते हैं। थामसन[6] द्वारा किए गए अवलोकनों के अनुसार संभोग न कराई गई संक्रमणित बछियों के गर्भ होने के समय, उनकी योनि से प्राप्त श्लेष्मा में यह जीवाणु नहीं पाया जाता।

मादा पशु के अयन में अनिश्चित काल तक रोग का जीवाणु छुपा रह सकता है किन्तु

यह उसके टिशु को अधिक क्षति नहीं पहुँचाता। इस अंग को बैसिलस का निवास-स्थल माना जाता है। यहाँ इसकी उपस्थिति अपेक्षाकृत उच्च रक्त-अनुमापनाक (high blood titer) के साथ होती है। गिलमन[7] ने बताया कि उनके अन्वेषण कार्य में "किसी भी उदाहरण में 1 : 320 से कम के रक्त अनुमापनाक वाले गाय के दूध में कभी भी जीवाणु न मिला······अन्य लोगों ने कम अनुमापनाक पर भी जीवाणु की उपस्थिति बताई, किन्तु वे बिलकुल ही अस्वाभाविक है तथा किसी भी प्रकार विघ्न के कारण नहीं है।" इस विषय पर काटन और वक[8] का कहना है कि "इन परीक्षणों के परिणामों ने खासतौर पर उस पहले किए गए कार्य की पुष्टि की है जिसमें यह कहा गया था कि 1:100 अथवा कम के रक्त अनुमापनाक पर प्रतिक्रिया प्रदर्शित करने वाली गायों के दूध में ब्रूसेल्ला एवार्टस का संक्रमण नही पाया जाता, किन्तु ये जीवाणु उन 86 प्रतिशत गायो में मौजूद थे जिनका रक्त अनुमापनाक 1:120 या अधिक था—हमारे अनुभव यह विश्वास दिलाते हैं कि जब 1 : 200 या अधिक का अनुमापनाक प्रयोग होता है, तो ये रक्त-परीक्षण अयन संक्रमण का द्योतक होते हैं तथा 1 : 100 या कम वाले अनुमापनाक यह प्रदर्शित करते है कि अयन में इसका संक्रमण नहीं है। ऐग्लूटिनेशन के लिए अलग-अलग थनों से प्राप्त दूध की जाँच करने की अपेक्षाकृत इस प्रकार किए गए रक्त-परीक्षण अयन के संक्रमण के बारे में अधिक विश्वसनीय सूचना देते हैं।"

उडाल, कुशिंग और फिचर[3] द्वारा एक लेख में उन चार गायों के दूध को धनात्मक बताया गया जिनके रक्त ने 1 : 60 पर आंशिक अथवा पूर्णतयः ऋणात्मक प्रतिक्रिया प्रदर्शित की। ग्वाट्किन[10] ने भी यह बताया कि कम रक्त-सीरम प्रतिक्रियाओं वाली गायों के अयन सदूषित हो सकते हैं। उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि "यह पता लगाने में सीरम अनुमापनाक सहायक नहीं है कि प्लैसेंटा या अयन संक्रमणित होने वाला है अथवा नहीं" और यह भी बताया कि "इन गायो के अयन, जितना कि इनके लिए पिछले कुछ वर्षों में बताया गया है उससे अधिक संक्रमण फैला सकते हैं। दुर्भाग्यवश सीरम अनुमापनाक इस बात का पथप्रदर्शक नहीं है कि अयन में इस रोग का संक्रमण उपस्थित है अथवा नही।"

ब्रूसेल्ला एवार्टस युक्त दूध वाली 20 गायों पर जोलैफ वैग और वेंडिक्सन[11] द्वारा किए गए अवलोकनो ने यह प्रदर्शित किया कि इनमें से 85 प्रतिशत को उन गायों में शामिल किया जायेगा जो 1 : 100 पर प्रतिक्रिया प्रदर्शित करती है। 20 में से तीन गायों ने इस अनुमापनाक पर प्रतिक्रिया प्रदर्शित नहीं की। जब एक गाय को इस रोग की छूत लग जाती है तो अनिश्चित काल तक उसके शरीर में जीवाणु छिपा रह सकता है। वैसे तो प्रमुख रूप से इनका निवास-स्थल अयन तथा जननाग हैं किन्तु, ये लिम्फ-ग्रंथियों, प्लीहा, हड्डियों तथा जोड़ों में भी पाए जा सकते हैं। नर पशु में यह जीवाणु अण्डकोषो, शुक्राशय, तथा एपिडिडिमिस में मौजूद रह सकता है। ब्रायड[12] और उनके साथियों ने गायों के सूजे हुए घुटनो में इसकी उपस्थिति बताई।

ब्रूसेल्ला एवार्टस को नर जननेन्द्रियों में बार-बार पाया गया। श्रोइडर और काटन ने इसे एपिडिडिमिस में पाया तथा बक और क्रीच[13] ने इसे शुक्राशय से

प्राप्त किया। राष्ट्रीय पशु-उद्योग-ब्यूरो की रिपोर्टों के अनुसार प्रतिक्रिया प्रदर्शित करने वाले 10 प्रतिशत सांड़ों के वीर्य में यह जीवाणु पाया जाता है।

(स) शरीर के बाहर बैसिलस का वितरण : बैंग,[1] कैमरन[4] तथा अन्य लोगों के अवलोकनों से यह स्पष्ट है कि नमी तथा तापक्रम की विभिन्न अवस्थाओं में शरीर के बाहर बैंग-बैसिलस के जीवित रहने की क्षमता ग्रहणशील पशुओं में इसके पहुँचने के अनुकूल है। ट्युबर्किल बैसिलस की भांति चारा खाने की नांदों तथा पानी पीने के स्थानों में इसके पाए जाने के बारे में बहुत ही कम परोक्ष ज्ञान प्राप्त है। किन्तु, क्षयरोग तथा अन्य संक्रामक रोगों की भांति इससे भी पशुशालाएँ संदूषित हो सकती हैं तथा कुछ पशु इसके वाहक भी हो सकते हैं। संक्रमणित पशुओं के दूध में यह जीवाणु सदैव ही मौजूद रहता है। रोग-ग्रसित गायों से प्राप्त दूध जनस्वास्थ्य के दृष्टिकोण से अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि यह मनुष्यों में ब्रूसेल्लोसिस का स्रोत बनता है। गाय की अपने शरीर में तीनों प्रकारों के संक्रमण के वहन करने, दूध को संदूषित करने, तथा मनुष्य में इसकी छूत फैलाने की क्षमता, जन स्वास्थ्य अधिकारियों की मौजूदा इस माँग के लिए उत्तरदायी है कि कुल दूध का पास्चुरीकरण किया जाए और बाजार के लिए दूध उत्पादन हेतु केवल उन्हीं गायों का प्रयोग किया जाए जो ऐग्लूटिनेशन जाँच में ऋणात्मक सिद्ध हो चुकी हों। गर्भाशयी स्राव, जेर, गर्भपात हुआ बच्चा, संक्रमणित गर्भाशय से निकाला हुआ नवजात बछड़ा, कच्चा दूध तथा कच्चे दूध से बनाया गया पनीर आदि शरीर के बाहर इस संदूषण के प्रमुख स्रोत होते हैं।

कृत्रिम संचारण (Artificial transmission)—जीवाणु के विशुद्ध संवर्धन का योनि में इन्जेक्शन देने पर गर्भित ग्रहणशील गायों का पाँच से दस सप्ताह में गर्भपात हो जाता है। अधस्त्वक् अथवा अंतःशिरा इन्जेक्शन द्वारा भी इसकी छूत शीघ्र लगती है। थन-नली में प्रविष्ट किए गए जीवाणु भ्रूण की झिल्लियों में प्रकट होते हैं और सप्ताहों तथा महीनों तक दूध के साथ बाहर निकलते हैं। ब्रूसेल्ला एबार्टस के घोल को आँख में डालकर तथा गाय की त्वचा पर लगाकर काटन और बक[14] ने इस बीमारी का सफलतापूर्वक संचारण किया। गिनीपिग में संदूषित पदार्थ का टीका देने पर उनके फेफड़ों, यकृत तथा गुर्दों में ट्युबर्किल की भांति छोटी-छोटी गाँठें पड़कर, प्लीहा तथा लसीका ग्रंथियों में सूजन उत्पन्न होकर उन्हें एक दीर्घकालिक बीमारी हो जाती है। निदान के लिए टीका लगाई गई सुअरियों को परीक्षण हेतु प्रायः 6 सप्ताह बाद मारा जाता है। खरोंच लगी हुई तथा स्वस्थ त्वचा पर ब्रूसेल्ला एबार्टस के घोल को लगाकर काटन, बक तथा स्मिथ[15] ने इस बीमारी का गर्भित गायों में सफलतापूर्वक संचारण किया।

संक्रमण के प्रकार—तीन प्रकार के संक्रमण अभी तक पहचाने गए हैं : ब्रूसेल्ला एबार्टस, ब्रूसेल्ला सुइस, और ब्रूसेल्ला मेलिटेंसिस (Br. abortus, Br. suis and Br. melitensis)। हडेल्सन[16] की रिपोर्ट के अनुसार ब्रूसेल्ला सुइस तथा मेलिटेंसिस दोनों ही जीवाणु दक्षिणी प्रदेशों के गो-पशुओं में इस रोग की छूत फैलाते हैं। हचिन्स आदि[30,31] की आधुनिक तथा हाल की रिपोर्टों से यह पता चलता है कि रोग-ग्रसित सुअरों से गो-पशुओं में ब्रूसेल्ला सुइस (सुकर जातीय) का संचारण कभी-कभी प्राकृतिक रूप से हुआ करता है और सुकरों, ढोरों तथा मनुष्यों में इसका संक्रमण-चक्र विशेष महत्त्व का है।

जार्डन[30] के अनुसार "जब सूकरों तथा डेरी पशुओं को एक साथ रखा जाता है तो कभी-कभी ढोरों से प्राप्त दूध भी ब्रूसेल्ला सुइस से सदूषित हो जाता है," और "जब रोग-ग्रसित सुअर से इसकी छूत एक या अधिक गायों को लगती है तो ब्रूसेल्लोसिस के अनेकों रोगी देखे जाते है।" गो जातीय प्रकार के जीवाणु अपनी रोगोत्पादक शक्ति में बिना हानि पहुंचाने वाले से लेकर अनेकों रोग-ग्रसित गायों को बेकार बना देने वाले तक होते हैं।

छूत लगने के ढंग—रोग ग्रसित गर्भाशय से बच्चे अथवा भ्रूण के बाहर निकलने के बाद गर्भाशयी स्राव, भ्रूण, तथा जेर जिस वस्तु के सपर्क में आती है उसे सदूषित कर देती है। बर्च तथा गिलमन[5] ने देखा कि हाल की सक्रमणित गायें ब्याने के समय अपनी जननेन्द्रिय से बैसिलस को बाहर निकालकर 75 प्रतिशत पशुओं में इसकी छूत फैलाती हैं जब कि दीर्घकालिक सक्रमणित गायों द्वारा इस प्रकार इसकी छूत 20 प्रतिशत या और भी कम फैलती है। अतः गर्भाशय से निकलने वाला पदार्थ यूथ में इस बीमारी की छूत फैलाने का प्रमुख स्रोत होता है। इस स्रोत से विशेषकर तब और भी अधिक भय होता है जब हाल की सक्रमणित गाय गर्भकाल पूरा होने पर प्रत्यक्ष रूप से सामान्य ढग से बच्चा देती है क्योंकि ऐसे समय में इस बीमारी के बारे में संदेह करने के लिए कुछ भी प्रमाण नहीं मिलता। नवजात बछड़े के बालों तथा गोबर में भी यह जीवाणु मौजूद रहता है अतः जब इसको अन्य पशुओं के साथ मिलाया जाता है तो सक्रमण और भी अधिक फैलता है। ऐसी दुर्घटनाएँ उन मेलों, पशु बाजारों तथा अन्य स्थानों पर अधिक देखी जाती हैं जहाँ विभिन्न स्थानों से आए हुए पशु एक साथ एकत्र होते हैं। जब कोई रोग-ग्रसित गाय पशुशाला अथवा चरागाह पर ब्याती है तो अन्य पशुओं को इसकी छूत लगने की संभावना अधिक रहती है। ढोरों की ऐसी वस्तुओं को चाटने की खराब आदत होने के कारण चरागाह पर बच्चा देने अथवा गर्भपात होने से वहाँ उपस्थित सभी पशुओं को इसकी छूत लग सकती है। किराए के चरागाहों में जहाँ हर आयु, लिंग या अन्य प्रकार के पशु आते हैं तथा जहाँ बिना दूध देने वाली गर्भित गायें रखी जाती हैं वहाँ सभी ग्रहणशील पशुओं को इस रोग की छूत लगने की पूरी-पूरी संभावना रहती है। जहाँ पानी का निकास अच्छा होता है वहाँ संदूषित पदार्थ एक चरागाह से दूसरे चरागाह पर आसानी से जा सकता है। यह संदूषण कुत्तों तथा अन्य पशुओं के द्वारा भी ले जाया जा सकता है, अथवा स्वस्थ गायें स्वतः ही ऐसे सक्रमणित चरागाहों पर जाकर इसकी छूत ग्रहण कर सकती हैं। सामान्य परिस्थितियों में यूथ को रोग रहित रखने में, चरागाहों पर चराना तथा नए खरीदे गए पशुओं को यूथ में मिलाना, रोड़ा अटकाता है। ब्याने के बाद रोग-ग्रसित गाय तब तक इसकी छूत फैलाती रहती है जब तक कि उसके गर्भाशय से स्राव गिरता रहता है तथा गर्भाशयशोथ होने पर यह अनिश्चित काल के लिए हो सकता है।

चिकित्सकों तथा पशु-प्रजनकों द्वारा साँड़ को, विशेषकर यूथ के अन्दर, आमतौर पर इस रोग की छूत फैलाने वाला माना जाता है। अनेकों ऐसे उदाहरण मिलते हैं जहाँ स्वस्थ यूथों में साँड़ ही इस रोग की छूत फैलाते देखा जाता है। ऐसा सक्रमण उन यूथों में अधिक देखा जाता है जहाँ एक ही साँड़ रोग-ग्रसित तथा स्वस्थ दोनो ही प्रकार की गायों को गाभिन करने के लिए प्रयोग किया जाता है। साँड़ की रोग-ग्रसित जननेन्द्रिय में स्थायी रूप से यह

जीवाणु छुपा रहता है अथवा यह अस्थायी रूप से कहीं से लाया गया है, यह तथ्य अधिक महत्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि वास्तविकता यह है कि वह स्वस्थ गाय की योनि में संक्रमण पहुँचाता है। यह उन औसत यूथों में विशेषकर हो सकता है जहाँ प्रजनन के समय सफाई पर बहुत ही कम ध्यान दिया जाता है तथा जहाँ गरम होने वाली गायों को जननेन्द्रिय की जांच किए बगैर ही साँड़ से मिला दिया जाता है। हमारे चल-चिकित्सालय द्वारा देखा गया एक बड़ा यूथ ब्रूसेल्ला एवार्टस से बिल्कुल ही मुक्त था। अधिकांश पशुओं का सभी तनूकरणों (dilutions) पर रक्त ऋणात्मक था। कुछ वर्षों बाद इस यूथ के साँड़ का दो मील की दूरी पर स्थित एक रोग-ग्रसित यूथ की गायों में प्रयोग किया गया। यह गायें साँड़-घर के निकट ले जाई जाती थीं तथा बिना किसी पशुशाला में घुसे ही इन्हें गर्भित करा दिया जाता था। बार-बार प्रयास करने के बाद इस साँड़ के वीर्य का गिनी-पिग में इन्जेक्शन देना धनात्मक सिद्ध हुआ। इसके थोड़े ही दिनों बाद पहले वाले स्वच्छ एवं रोग-ग्रसित यूथ में भी गर्भपात तथा धनात्मक रक्त प्रतिक्रियाएँ मिलने लगीं। अपनी मूल रिपोर्ट में बैंग[1] ने लिखा कि, "इन दोनों प्रयोगों से हमने इस बात का पूरा प्रमाण दे दिया है कि हमारे द्वारा खोज किया गया बैसिलस पशुओं में गर्भपात की इस महामारी का कारण है। हमने यह भी सिद्ध कर दिया कि योनि में इस बैसिलस की केवल उपस्थिति ही रोग उत्पन्न कर सकती है।" उन्होंने यह भी बताया कि "एक कृषक जिसके पास 16 गायें थीं जिनमें से किसी का कभी भी गर्भपात न हुआ था, उसने नौ वर्ष पूर्व अपनी सात गायों को निकटवर्ती ऐसे फार्म के साँड़ से गर्भित कराया जहाँ कुछ वर्षों से गर्भपात होते देखा गया था। इसमें से इन सातों गायों का गर्भपात हो गया···मेरे विचार से प्रत्येक व्यक्ति यह मानने को तैयार होगा कि ऐसे रोगियों में साँड़ ही इस संक्रमण का वाहक रहा होगा···मुझे इस बात का पूर्ण विश्वास है कि साँड़ बहुधा इस संक्रमण का वाहक होता है और रोग के प्रति लड़ने में इस भय को रोकने के लिए आवश्यक साधन जुटाना अत्यन्त अनिवार्य है। इसके विपरीत मुझे अनेक ऐसे उदाहरण भी ज्ञात हैं जहाँ इस प्रकार संदूषण को बताना असंभव सा है।" ऐसे उदाहरण हमारे चल-चिकित्सालय में तथा अन्य लोगों द्वारा भी देखे गए। फिर भी, कुछ कार्यकर्ताओं ने इस पर आपत्ति की कि साँड़ भी संक्रमण का वाहक होता है क्योंकि प्रयोगात्मक रूप से ऐसे संचारण को वे पुनः उत्पादित न कर सके। यह संभव हो सकता है कि साँड़ ब्रूसेल्ला एवार्टस का कभी-कभी ही वाहक होता हो, किन्तु सूचित किए गए ऋणात्मक प्रयोगात्मक परिणामों के आधार पर यह नहीं माना जा सकता कि वह संक्रमण का स्रोत ही नहीं है। ब्रूसेल्ला के गुण तथा रोगोत्पादक शक्ति के अन्तरों को मैदानी परिस्थितियों के अन्तर्गत नियंत्रित प्रयोग द्वारा आसानी से नहीं नापा जा सकता है। बैंग बैसिलस की खोज के बहुत पहले से ही साँड़ को इस रोग की छूत फैलाने का स्रोत माना जाता था। कृत्रिम गर्भाधान केन्द्रों पर 1 : 50 रक्त अनुमापनांक वाले साँड़ को प्रजनन के लिए अयोग्य समझा जाता है। उग्र दोष के समय रोग-ग्रसित साँड़ से ब्रूसेल्ला जीवाणु अधिक निकलते हैं। प्रतिक्रिया प्रदर्शित करने वाले 37 साँड़ों में से, बक और मीच[13] द्वारा 4 की जननेन्द्रिय में इसका संक्रमण पाया गया। उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि ऐग्लूटिनेशन जांच के प्रति उच्च प्रतिक्रिया प्रदर्शित करने वाले साँड़ों में इसका

संक्रमण अधिक पाया जाता है। ऐसा अक्सर देखा गया है कि प्रतिक्रिया प्रदर्शित करने वाली गायों को वर्षों तक गर्भित करते रहने के बाद भी सांड ऐग्लूटिनशन जांच के प्रति ऋणात्मक रहता है।

आयु—प्रयोगात्मक कार्यकर्ताओं का यह कहना गलत है कि एक वर्ष से कम आयु वाले पशुओं में इसका मुश्किल से ही स्थायी संक्रमण पाया जाता है। अनुभवों से यह सिद्ध हो चुका है कि ऐसा संक्रमण कम नहीं होता। जब सदूषित दूध पर 20 से 30 बछियों को एक साथ पाला जाता है तो इनमें से कुछ को इसका संक्रमण तभी से लगकर प्रजनन की आयु तक पहुँचता है जिससे गर्भित होने के बाद उनका गर्भपात हो जाता है। जब तक ऐसे पशुओं का प्रजनन से पूर्व ही रक्त का परीक्षण नहीं किया जाता, संक्रमणित पशु का गर्भपात होकर वह दूसरों में छूत फैलाने का स्रोत बना रहता है। रोग-ग्रसित गायों को दुहने से ग्वाला के हाथ में इसका जीवाणु लग जाता है तथा स्वस्थ गायों को ऐसे ही हाथों से दुहने पर थन-नली द्वारा यह जीवाणु उनके शरीर में प्रवेश पा सकता है। किन्तु इसके बारे में बहुत ही कम प्रमाण प्राप्त हैं कि इस प्रकार भी यह बीमारी फैलती है। अधिकांश पशु-पालक इस बात को बिल्कुल ही नहीं मानते कि पशुओं में दूध द्वारा भी इसकी छूत फैल सकती है।
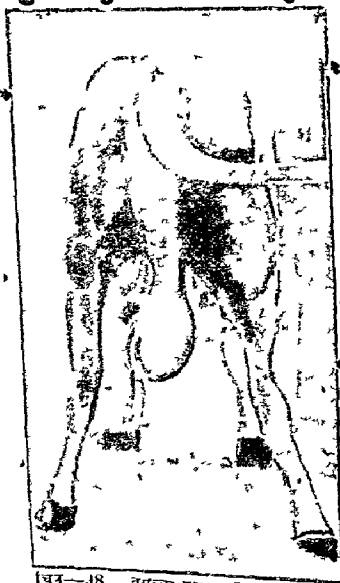
चित्र—38 ब्रूसेल्ला एबार्टस के कारण अण्डकोष का फोड़ा।

नए खरीदे गए पशु इस बीमारी के संक्रमण का प्रमुख स्रोत होते हैं। जब किसी रोग-ग्रसित यूथ में नए खरीदे हुए संक्रमित पशु मिलाए जाते हैं तो आमतौर पर ऐसा विचार किया जाता है कि इससे अधिक संक्रमण नहीं फैलता। इसके विपरीत नए लाए गए पशुओं के साथ ब्रूसेल्ला एबार्टस का अधिक सक्रिय प्रकार आकर जननेन्द्रिय रोग को और भी अधिक जटिल बना सकती है। रोग ग्रसित पशुओं को खरीदने से जनन-तंत्र के अन्य संक्रामक रोगों के फैलने का भी भय रहता है क्योंकि रोग ग्रसित जननांगों वाली गायें अपने में ऐसे जीवाणु भी

छुपाए रख सकती हैं जो ब्रूसेल्ला एबार्टस से भी अधिक नष्टकीय होते हैं। जो गायें रक्त-परीक्षण पर प्रतिक्रिया प्रदर्शित नहीं करतीं अथवा गर्भपात नहीं करतीं, वे भी संक्रमण को फैला सकती हैं। अतः ऐसे यूथ में यदि खरीदे हुए पशु सम्मिलित किए जाते हैं तो उनको रोग रहित रखना काफी कठिन होता है।

रोग विज्ञान—सन् 1897 में बैंग ने अपने एक लेख में इस रोग से ग्रसित गर्भित गर्भाशय का निम्न प्रकार वर्णन किया : "गर्भाशय की बाहरी सतह नार्मल थी। श्लेष्मा तथा भ्रूण की झिल्लियों के बीच काफी मात्रा में बिना महक वाला चिकना, गंदा, पीला, कुछ-कुछ पतला तथा चिपचिपा पदार्थ भरा हुआ था। कुछ जगहों पर जहाँ तरल पदार्थ के अवयव बाहर निकल गए थे वहाँ यह अर्ध ठोस प्रतीत होता था···ऐम्निआटिक द्रव में कोई भी असामान्यता नहीं पाई गई।"

सन् 1914 में वाल[17] ने इस बीमारी के रोग-विज्ञान में महत्वपूर्ण योगदान किया। उन्होंने यह बताया कि गर्भाशय की श्लेष्मल झिल्ली में होने वाले परिवर्तन हल्की ऊतिगलन के रूप में होते हैं। गर्भाशय के बीचोबीच तथा गर्भाशय एवं जरायु झिल्लियों के बीच प्रायः स्राव भरा हुआ पाया जाता है। यह स्राव अनुपस्थित अथवा अधिक से अधिक एक गैलन तक हो सकता है। पीवोत्पादक संक्रमण की अनुपस्थिति में यह स्राव गंधहीन होता है। देखने में यह पीला अथवा बादामी होता है और इसमें बहुआकृतीय लिम्फोसाइट, लाल रक्त-कण तथा जरायु की टूटी-फूटी एपिथीलियल कोशिकाएँ भरी रहती हैं। गर्भाशय की श्लेष्मल झिल्ली तथा काटीलीडन दोनों में ही क्षतस्थल मौजूद होते हैं। वाल के अनुसार प्राथमिक क्षतस्थल गर्भाशय में होते हैं तथा इसके परिणामस्वरूप भ्रूण में भी क्षतस्थल पाए जाते हैं।

दस वर्ष बाद हालमन[18] (Hallman) ने रोग-जनक परिवर्तनों पर अपने अवलोकनों का वर्णन किया। वे इस प्रचलित विचार धारा से सहमत नहीं है कि गर्भपात रोग प्राइमरी तथा अनिवार्य रूप से एक जरायु झिल्लियों की बीमारी है, किन्तु वाल के मत के साथ इस बात में विश्वास करते हैं कि इसके प्राथमिक क्षतस्थल गर्भाशय में होते हैं। उन्होंने लिखा कि "अध्ययन किए गए समस्त रोगियों में—माँ के प्लैसेंटा में सभी परिवर्तन उसी प्रकार के थे जैसे कि भ्रूण के गर्भनाल में—अनेक उदाहरणों में जरायु के परिवर्तन गर्भाशयी श्लेष्मा में होने वाले परिवर्तनों की अपेक्षाकृत कम स्पष्ट होते हैं।"

जरायु की झिल्लियों तथा गर्भाशय की श्लेष्मल झिल्ली में होने वाले परिवर्तन इस अंग को पहुँची हुई क्षति को स्पष्ट करते हैं। विशिष्ट बैंग गर्भपात में झिल्लियों में होने वाले परिवर्तन अन्य कारणों से होने वाले गर्भपात में और भी अधिक उत्तजक हो सकते हैं, किन्तु लेखक के अनुभव के अनुसार अधिकांश रोगियों में वे क्षतस्थल मिलते हैं जो अवश्य ही इस संक्रमण की पहचान कराते हैं। असाधारण परिस्थितियाँ निम्नलिखित हैं: (1) गर्भाशयी काटीलीडनों पर तथा किसी हद तक जरायु के अन्य भागों पर गाढ़ा बादामी अथवा पीला स्राव मिलना, (2) काटीलीडनों की ऊपरी सतह पर पीली ऊतिगलन, ललामी तथा रसांकुरों (Villi) का एकत्रीकरण, (3) जरायु में प्रायः सूजन होना, (4) कुछ अथवा अनेक काटीलीडनों का गायब हो जाना तथा उस स्थान पर जरायु के खाली क्षेत्र दिखाई पड़ना।

अंत गर्भनाल जरायु पर अत्यधिक वृद्धि का मौजूद होना, (5) जरायु पर ऊतिगलन के चिकने क्षेत्र मिलना, विभिन्न क्षतस्थलों में यह परिवर्तन सबसे अधिक होता है। लेखक के वल चिकित्सालय में किसी अन्य संक्रमण में ऐसे परिवर्तन बहुत ही कम देखे गए।

अंत गर्भाशयी प्रवाहिका के परिणामस्वरूप भ्रूण पीले मल से आच्छादित दिखाई दे सकता है। त्वचा के नीचे और अंत मांसल टिसुओं में रक्तयुक्त सीरम (serohemorrhagic) अन्तःसरण हो सकता है। शारीरिक-गुहाओं में लाल रंग का तरल पदार्थ भरा मिल सकता है तथा सीरस एवं श्लेष्मल झिल्लियाँ थोड़ी-बहुत रक्त-संकुलित हो सकती हैं। पशु को बहुधा आनाति होते देखी जाती है।

मादा पशु में इसके पश्चात् होने वाले रोगजनक परिवर्तन अस्थायी होते हैं। अधिकांश पशुओं में, जनन क्रिया में स्थायी अथवा अल्पकालीन गड़बड़ी उत्पन्न हो जाती है। लोगों का यह कहना कि बिना जेर के रुके हुए पशु का गर्भपात हो जाना गाय को सामान्य हालत में छोड़ता है, अच्छे अवलोकनों द्वारा समर्थित नहीं है। यदि उसको प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देने वाली गर्भाशय शोथ नहीं होती, तो भी सामान्य प्रसव के बाद जैसे गाभिन होना चाहिए, उतनी शीघ्र न होकर या तो वह देर में गाभिन होती है अथवा गाभिन होना बंद हो जाता है। पीवोत्पादक संक्रमण के साथ रुकी हुई जेर तथा क्षतस्थल इस बीमारी के आवश्यक भाग हैं, किन्तु रोगजनक अवरोध का गर्भाशयी ग्रीवा के अन्य बैक्टीरिया के प्रवेश हेतु खुलने के पूर्व ही पता लग जाता है। जननेन्द्रिय में बांझपन उत्पन्न करने वाले रोगजनक परिवर्तनों के अतिरिक्त, पशु का दूध उत्पादन कम हो जाता है तथा नितम्ब-संधि, स्टेफिल एवं पिछले घुटने के जोड़ों में चिरस्थायी संधि शोथ हो जाती है। इन वास्तविकताओं को ध्यान में रखकर यह कहना बड़ा कठिन है कि बैंग रोग केवल भ्रूण और उसकी झिल्लियों की ही बीमारी है तथा इन टिसुओं को अलग करके हम रोगी को रोगोन्मुक्त कर सकते हैं।

लक्षण—रोग की छूत लगने के बाद दो सप्ताह से पूर्व रोगी का रक्त इसके लिए धनात्मक हो सकता है तथा लगभग चार सप्ताह में पशु का गर्भ गिर सकता है। नियम के अनुसार तीन से आठ सप्ताह में प्रतिक्रिया होती है तथा वास्तविक गर्भपात आठ सप्ताह से पूर्व अधिक संख्या में नहीं होते। हाल की संक्रांत यूथों में न तो रक्त-परीक्षण और न गर्भपात ही संदूषण के वितरण के सही निर्देशक होते हैं। जिन गायों को इसकी छूत गर्भकाल में देर से लगती है उनका प्रसव तथा जेर का निष्कासन सामान्य रूप से हो सकता है, किन्तु गिनीपिग में टीका देकर यह सिद्ध किया जा चुका है कि इनमें बैंग बैसिलस मौजूद रहता है।

एक ऋणात्मक यूथ में, जिसके प्लेसेंटा की हम दैनिक जांच करते थे सितम्बर के महीने में पशु-मेला से फार्म पर वापस आने के एक माह के अन्दर एक गर्भपात तथा धनात्मक प्लेसेंटा का अवलोकन किया गया। जनवरी और फरवरी में नार्मल प्रसव करने वाली पाँच गायों के प्लेसेंटा इसके लिए धनात्मक निकले, जिसमें से केवल एक में नंगी आँख से दिखाई देने वाले क्षतस्थल मौजूद थे। उसी अवधि में एक गर्भपात भी हुआ। अक्तूबर से दिसम्बर तक प्रत्यक्ष रूप से तीन नार्मल प्रसव तथा एक गर्भपात होने के बाद प्राप्त होने

वाले प्लैसेंटा में ब्रूसेल्ला एबार्टस निकला। एक सामान्य प्रसव करने वाली गाय में जरायु कुछ-कुछ चमड़े जैसी थी तथा टीका देना धनात्मक था। फिर भी, गाय के रक्त ने 1 : 100 से ऊपर प्रतिक्रिया प्रदर्शित नहीं की तथा ब्याने के पाँच माह बाद यह सभी तनुकरणों में ऋणात्मक था। पाँच प्रसव तथा एक गर्भपात हुए पशु में प्रसव के ठीक बाद तक रक्त ने प्रतिक्रिया प्रदर्शित न की तथा दो उदाहरणों में प्रसव के बाद ऐसा आठ माह तक न हुआ। वैसे तो यह व्यक्तिगत अनुभव हो सकता है किन्तु, यह हाल की संक्रमणित यूथ में इसकी संभावनाएँ प्रदर्शित करता है।

ऋणात्मक यूथों में अथवा जहाँ कंट्रोल प्रोग्राम चल रहा होता है वहाँ के लिए गर्भपात के भौतिक लक्षण विशेषकर महत्वपूर्ण हैं। गर्भित पशु का गरम होना गर्भपात का सूचक है। पहली बार ब्याने वाली बछियों तथा प्रायः सूखी गायों के अयन में समय से पूर्व सूजन आ जाना इसका प्राथमिक लक्षण है। गर्भपात होने के कुछ घंटे पूर्व त्रिक स्नायु (sacral ligaments) नीचे बैठने लगते हैं तथा प्रसव के सामान्य लक्षण प्रकट हो जाते हैं। गर्भाशयी-ग्रीवा के प्रसार के साथ योनि से विशेष प्रकार का गर्भपात का स्राव बहता है। जब गर्भकाल के प्रारम्भ में गर्भपात होता है, अथवा जब सात माह तक का बच्चा हो चुका होता है, तो बिना पूर्व लक्षणों के प्रकट किए ही यह गर्भाशय से बाहर निकल सकता है। सुबह को पशुशाला में मरा हुआ भ्रूण मिलना इस रोग का पहला प्रमाण हो सकता है। जब गर्भकाल के प्रारम्भ में ही भ्रूण की मृत्यु हो जाती है तो यह गर्भाशय से योनि में आकर वहाँ कई दिनों तक पड़ा रह सकता है। ऐसे समय में गाय *गर्म होने के लक्षण भी प्रकट कर सकती है। मुझे एक ऐसी रोग-ग्रसित गाय का भी पता* है जिसने एक दिन साँड़ के साथ संभोग किया तथा उसके दूसरे दिन योनि से एक छोटा सा भ्रूण गिरा। बच्चा गर्भाशय में ही मरकर वहाँ महीनों तक मौजूद रह सकता है। इसे "सड़ा-सूखा भ्रूण" (mummified fetus) कहते हैं। ऐसे रोगी में गर्भाशयी-ग्रीवा का मुहँ बंद ही रहता है। गर्भपात होने के बाद योनि से एक से कई सप्ताहों तक गँदला स्राव बहता रहता है तथा ऐसा महीनों तक जारी रह सकता है। अपनी सभी विषमताओं तथा कुपरिणामों के साथ जेर का रुकना देखा जाता है। कुछ प्रकोपों में जेर का रुकना बहुत ही कम तथा कुछ में अत्यधिक देखा जाता है। गाय पर तब इस बीमारी का असर और अधिक खराब होता है जब गर्भकाल के अंतिम दिनों में मरा हुआ बच्चा पैदा होता है। यदि रोग-ग्रसित बच्चा जीवित पैदा हो जाता है तो वह कुछ ही घंटों बाद मर जाता है। बर्च ने देखा कि कंट्रोल ग्रूप की अपेक्षाकृत प्रयोगात्मक समूह के रोग-ग्रसित पशु कम जीर्ण-शीर्ण होते हैं।

कोर्स तथा फलानुमान—सामान्यतया ऐसा कहा जाता है कि प्रतिक्रिया प्रदर्शित करने वाली अधिकांश गायें अंत में नियमित रूप से प्रजनन करने लगती हैं। बर्च के अनुसार लगभग 50 प्रतिशत गायों का गर्भपात हो जाता है। हुटायरा लिखते हैं कि गाय इसमें केवल निष्क्रिय रूप से कार्य करती है और यदि गर्भपात के बाद जेर गिर जाती है तो उसे कोई हानि नहीं पहुँचती। रोग की अस्थायी प्रकृति, प्रजनन के ढंगों तथा सफाई संबंधी सावधानियों में विभिन्नता होने के कारण इसकी औसत अवधि तथा अंत का अनुमान

करना असंभव होता है। पशुपालक की प्रमुख हानि जनन कार्यों में विघ्न पड़ने के कारण होती है। व्यक्तिगत पशुओं में हुए ह्रास का केवल पशु के प्रजनन काल का अभिलेख देखकर ही पता लगाया जा सकता है किन्तु ऐसी जानकारी आमतौर पर उपलब्ध नहीं होती। 100 से 150 दुधारू पशुओं के यूथ में लेखक ने 50 रोग-ग्रसित गायों में पूर्ण प्रजनन काल का सर्वेक्षण किया जिसके परिणाम निम्न प्रकार हैं :

यह जानने के लिए कि अपने ब्यातकाल में गायों ने (अ) कितनी बार नार्मल प्रसव करके सामान्य रूप से बच्चा दिया, (ब) इसके बाद समुचित समय में ही दुबारा गाभिन हो गईं, 50 रोग-ग्रसित गायों का अभिलेख देखा गया। 50 रोग-ग्रसित गायों के समूह में कुल मिलाकर वे 150 बार ब्याईं तथा निम्न प्रकार परिणाम प्रदर्शित किए :

(अ) गर्भकाल पूरा होने के बाद सामान्य बच्चा देना (ब) बाद में शीघ्र ही गाभिन हो जाना	36
(अ) तथा (ब) आवश्यकताओं की पूर्ति में कम से कम एक बार असफलता	31
गर्भपात	32
एक बार से अधिक गर्भपात होना	12
तीन बार गर्भपात होना	3
गर्भाशयशोथ के कारण मृत्यु	4
जीर्ण-शीर्ण अथवा कमजोर	5

36 नार्मल अभिलेखों में से 20 को 5 गायों में वितरित किया गया। गर्भपात न होने वाले यूथ में प्रसवकालीन रोग स्पष्ट था। जेर का न गिरना, गर्भाशयशोथ तथा बांझपन इसके प्रमुख लक्षण थे। एक गाय ने चार वर्षों में चार बच्चे दिए, किन्तु उनमें से तीन की नाभि-रोग (Navel-ill) होकर मृत्यु हो गई। तेरह गायों में गर्भकाल पूरा हो जाने के बाद गर्भपात हुआ। 33 बार जेर का रुकना अभिलेखित किया गया। एक गाय में पाँच बार तथा दूसरी में चार बार जेर रुकी। 100 बच्चे पैदा हुए तथा 50 का गर्भपात हुआ। जो गायें गर्भकाल पूरा होने के बाद ब्याईं उनमें 22 बार जेर का रुकना देखा गया।

गायों की प्रजनन क्षमता का अनुमापन करने के लिए एक सही तरीका यह है कि जो बछियाँ तीन वर्ष की आयु में बच्चा दे देती हैं, जो गायें ब्याने के बाद 6 माह के अन्दर पुनः गाभिन हो जाती हैं, तथा जो गायें 265 या अधिक दिनों में जीवित बच्चा देती हैं उन्हें "अ" ग्रेड दिया जाए। शेष को "द" दिया जाए। इस नियम के अनुसार लेखक ने ऐसे यूथों में 600 से अधिक अवलोकन करके जहाँ बैंग-रोग मौजूद था 200 से अधिक गायों की जाँच की। 1:160 से 1:640 पर प्रतिक्रिया प्रदर्शित करने वाले ग्रुप में 70 प्रतिशत "द" ग्रेड के पशु मिले तथा पूर्णरूपेण ऋणात्मक से लेकर 1:80 तक के समूह में 90 प्रतिशत "अ" ग्रेड के पशु पाए गए। ऋणात्मक समूह में लगभग वे सब पशु थे जिनको दस अथवा अधिक बार "अ" ग्रेड मिला। वे सब पशु धनात्मक ग्रुप में रखे गए जिनको दो या दो से

अधिक बार "ब" मिला। तीन बार "ब" पाने वाली गायें प्रजनन के दृष्टिकोण से निम्न कोटि की थीं। आमतौर पर ऐसा देखा गया कि जैसे ही रक्त प्रतिक्रिया बढ़ती है पशु का ग्रेड कम हो जाता है किन्तु, यह कमी सबसे अधिक 1:160 से1:640 तक के ग्रूप में होती है। वैसे तो धनात्मक पशुओं तथा समूहों में भी अच्छे प्रजनक पशुओं के उदाहरण मौजूद मिलते हैं किन्तु किसी भी यूथ में पाँच वर्ष के बाद इनका औसत काफी कम हो जाता है। इस प्रकार इस नियम का प्रयोग यूथ में खतरे के प्रारम्भ की सूचना देता है, चाहे इसका कारण बैंग रोग हो अथवा कुछ अन्य प्रभाव।

उच्च प्रतिक्रिया प्रदर्शित करने वाली गायों की प्रजनन क्षमता की जब ऋणात्मक तथा कम प्रतिक्रिया प्रदर्शित करने वाली गायों से तुलना की गई तो पता लगा कि धनात्मक पशुओं में ऋणात्मक तथा निम्न कोटि के तिर्कामियों की अपेक्षाकृत तीन गुनी असफलताएँ अधिक होती हैं। फिर भी, उन अभिलेखों को मानना ही पड़ता है कि संक्रांत गायों के कुछ समूह संतोपजनक ढंग से प्रजनन कर सकते हैं। किन्तु, ऐसे ग्रूप की प्रजनन क्षमता का अनुमापन करने के लिए उन पशुओं को भी शामिल करने की आवश्यकता पड़ती है जो बच लिए गए हों, जो जीर्ण-शीर्ण हो चुके हों, जो मर चुके हों, जो बाँझ हो गए हों, तथा जो कभी भी न ब्याये हों। साथ ही संभव "विप्लव" से हुई क्षति को शामिल करने के लिए यह अवलोकन कम से कम पाँच वर्ष तक जारी रखना चाहिए। प्रतिक्रिया प्रदर्शित करने वाली गाय द्वारा संतोपजनक प्रक्रिया का अभिलेखन करना कठिन कार्य नहीं है किन्तु यह भविष्य वाणी करना असंभव है कि रोग-ग्रसित पशुओं का कौन सा समूह नार्मल ढंग से बच्चे देगा। सामूहिक रूप से वे ह्रास का स्रोत होते हैं। उनके द्वारा दूध उत्पादन तथा बच्चा देने की क्षमता के आधार पर मूल्यांकन करने पर यह पता लगता है कि वे अपनी वृद्धि की कीमत तक नहीं चुका पाते।

वैसे तो धनात्मक यूथ वर्षों तक संतोपजनक ढंग से बच्चे देते रह सकते हैं किन्तु इससे सदैव ही रोग के भीषण प्रकोप होने की संभावना रहती है।

निदान—गर्भपात के रोगी में प्लैसेंटा के क्षतस्थल इतना प्रमुख हो सकते हैं कि केवल नंगी आँख से देख कर ही रोग का निदान संभव हो जाता है। जरायु की चमड़े जैसी अवस्था निदान के प्रति विशेष महत्वपूर्ण है। किसी अन्य संक्रमण में ऐसा बहुत ही कम होता है। जरायु के किनारे पर के परिगलित क्षेत्र अथवा गर्भाशयी स्राव से तैयार किए गए स्लाइडों को माइक्रास्कोप में देखने से इस रोग के विशिष्ट, स्वतंत्र तथा कोशाओं में बंद दोनो ही प्रकार के जीवाणु दिखाई देते हैं। काटीलीडन से प्राप्त टिशु का गिनीपिग में टीका लगाकर इसकी और भी अधिक पुष्टि की जा सकती है। यूथ के प्लैसेंटा का नियमित रूप से परीक्षण करते रहने से रोग के संक्रमण तथा गर्भाशय में उपस्थित क्षतस्थलों के बारे में महत्वपूर्ण सूचना प्राप्त हो जाती है।

बार-बार गर्भपात तथा विभिन्न कारणोंवश जननेन्द्रिय-रोग होने के कारण सभी गायों में बैंग रोग के संदेह का प्रश्न लगातार उपस्थित रहता है। प्लैसेंटा के टिशु का नियमित रूप से गिनीपिग में इन्जेक्शन देते रहने से, प्लैसेंटा में नंगी आँख से दिखाई देने वाले क्षतस्थलों के प्रकट होने तथा रक्त के एग्लुटिनेशन जाँच के प्रति प्रतिक्रिया प्रदर्शित

अधिक बार "व" मिला । तीन बार "व" पाने वाली गायें प्रजनन के दृष्टिकोण से निम्न कोटि की थी । आमतौर पर ऐसा देखा गया कि जैसे ही रक्त प्रतिक्रिया बढती है पशु का ग्रेड कम हो जाता है किन्तु, यह कमी सबसे अधिक 1:160 से1 640 तक के ग्रूप में होती है । वैसे तो धनात्मक पशुओं तथा समूहों में भी अच्छे प्रजनक पशुओं के उदाहरण मौजूद मिलते हैं किन्तु किसी भी यूथ में पाँच वर्ष के बाद इनका औसत काफी कम हो जाता है । इस प्रकार इस नियम का प्रयोग यूथ में खतरे के प्रारम्भ की सूचना देता है, चाहे इसका कारण बैंग रोग हो अथवा कुछ अन्य प्रभाव ।

उच्च प्रतिक्रिया प्रदर्शित करने वाली गायो की प्रजनन क्षमता की जब ऋणात्मक तथा कम प्रतिक्रिया प्रदर्शित करने वाली गायो से तुलना की गई तो पता लगा कि धनात्मक पशुओ में ऋणात्मक तथा निम्न कोटि के तिर्कमियो की अपेक्षाकृत तीन गुनी असफलताएँ अधिक होती हैं । फिर भी, उन अभिलेखो को मानना ही पडता है कि सक्रात गायो के कुछ समूह सतोपजनक ढग से प्रजनन कर सकते है । किन्तु, ऐसे ग्रूप की प्रजनन क्षमता का अनुमापन करने के लिए उन पशुओ को भी शामिल करने की आवश्यकता पडती है जो बच लिए गए हो, जो जीर्ण-शीर्ण हो चुके हो, जो मर चुके हो, जो बाँझ हो गए हो, तथा जो कभी भी न ब्याये हो । साथ ही सभव "विप्लव" से हुई क्षति का शामिल करने के लिए यह अवलोकन कम से कम पाँच वर्ष तक जारी रखना चाहिए । प्रतिक्रिया प्रदर्शित करने वाली गाय द्वारा सतोपजनक प्रक्रिया का अभिलेखन करना कठिन कार्य नही है किन्तु यह भविष्य वाणी करना असभव है कि रोग-ग्रसित पशुओ का कौन सा समूह नार्मल ढग से बच्चे देगा । सामूहिक रूप से वे ह्रास का स्रोत होते हैं । उनके द्वारा दूध उत्पादन तथा बच्चा देने की क्षमता के आधार पर मूल्याकन करने पर यह पता लगता है कि वे अपनी वृद्धि को कीमत तक नही चुका पाते ।

वैसे तो धनात्मक यूथ वर्षों तक सतोपजनक ढग से बच्चे देते रह सकते हैं किन्तु इससे सदैव ही रोग के भीषण प्रकोप होने की सभावना रहती है ।

निदान—गर्भपात के रोगी में प्लैसेंटा के क्षतस्थल इतना प्रमुख हो सकते है कि केवल नगी आँख से देख कर ही रोग का निदान सभव हो जाता है । जरायु की चमडे जैसी अवस्था निदान के प्रति विशेष महत्वपूर्ण है । किसी अन्य सक्रमण में ऐसा बहुत ही कम होता है । जरायु के किनारे पर के परिगलित क्षेत्र अथवा गर्भाशयी स्राव से तैयार किए गए स्लाइडो का माइक्रास्कोप में देखने से इस रोग के विशिष्ट, स्वतत्र तथा कोशाओं में बद दोनो ही प्रकार के जीवाणु दिखाई देते हैं । काटीलीडन से प्राप्त टिसु का गिनीपिग में टीका लगाकर इसकी और भी अधिक पुष्टि की जा सकती है । यूथ के प्लैसेंटा का नियमित रूप से परीक्षण करते रहने से रोग के सक्रमण तथा गर्भाशय में उपस्थित क्षतस्थलो के बारे में महत्वपूर्ण सूचना प्राप्त हो जाती है ।

बार-बार गर्भपात तथा विभिन्न कारणोंवश जननेन्द्रिय-रोग होने के कारण सभी गायो में बैंग रोग के सदेह का प्रश्न लगातार उपस्थित रहता है । प्लैसेंटा के टिसु का नियमित रूप से गिनीपिग में इन्जेक्शन देते रहने से, प्लैसेंटा में नगी आँख से दिखाई देने वाले क्षतस्थलों के प्रकट होने तथा रक्त के ऐग्लूटिनेशन जाँच के प्रति प्रतिक्रिया प्रदर्शित

करने के पूर्व ही, ब्रूसेल्ला एवार्टस का पता लग जाता है। इस प्रकार सामान्य रूप से इसकी छूत फैलने से पूर्व ही इसे हाल की सक्रमणित यूथो में ज्ञात किया जा सकता है। ब्रूसेल्ला एवार्टस भ्रूण में विशेपकर आमाशय के पदार्थ अथवा फेफडो म भी पाया जाता है। इसे गिनीपिग में इन्जेक्शन देकर अथवा आमाशय से प्राप्त पदार्थ का सवर्धन करके आसानी से पहचाना जा सकता है। रोग-ग्रसित गायो के दूध में भी यह जीवाणु पाया जाता है, किन्तु गाय में सक्रमण का पता लगाने के लिए दूध की जांच करने की विधि निदान की अन्य विधियो की अपेक्षाकृत निम्न कोटि की है।

रक्त-सीरम की ऐग्लूटिनेशन जाँच की विधि सर्वमान्य है तथा रोग-ग्रसित गायो का निदान करने के लिए आमतौर पर इसका प्रयोग होता है। रोग-नियत्रण हेतु रोग-ग्रसित पशुओ को स्वस्थ पशुओ से अलग करने के लिए निदान करने की यह एक सतोपजनक विधि है। किन्तु, कुछ ऐसी परिस्थितियाँ भी होती हैं जो ऐग्लूटिनेशन जांच के महत्व को सीमित कर देती हैं। हाल की सक्रात यूथा में जहाँ बीमारी तेजी से फैल रही हो वहाँ रक्त सीरम के ऐग्लूटिनेशन उत्पन्न करने के योग्य होने से पूर्व ही, यह जीवाणु गर्भाशय में विकास करके गर्भपात करा सकता है। ऐसे यूथा में प्लैसेंटा की नियमित जांच करना तथा गिनीपिग में टीका लगाना रोग-ग्रसित पशुओं का पता लगाने में सहायक होता है। कुछ उदाहरणो में, उन गायो के प्लैसेंटा से बैसिलस प्राप्त किया जा सकता है जो परीक्षण करने पर सीरम में कोई भी परिवर्तन नही दिखाती और सभवत ऐसी गायें रोग की छूत फैलाने का स्रोत होती है। कुछ पशु जो धनात्मक हो जाते है, अत में कम अनुमापनाक प्रदर्शित कर सकते हैं। ऐसा विशेपकर बिना गाभिन हुई बछियो, टीका लगे पशुओ तथा उन गायो में देखा जाता है जिनकी प्रतिक्रियाएँ कभी भी 1 200 से ऊपर नही होती। जब प्रतिक्रिया 1 300 पर पहुँच जाती है तो यह प्राय और भी अधिक ऊपर होकर मुश्किल से ही नीचे आती है। हाल की सक्रात यूथो में महीने में एक बार यह परीक्षण करने पर भी पूरे यूथ में इसकी छूत को फैलने से रोकना असभव हो सकता है। ऋणात्मक यूथा में गर्भपात हुए तथा सदेहयुक्त पशुओ के अतिरिक्त शेप की वार्षिक जांच करना पर्याप्त होता है।

जैसा कि पशु-उद्योग ब्यूरो[3] द्वारा सूचित किया गया है "पशुओ को रोग रहित अथवा ब्रूसेल्ला एवार्टस से सक्रात होना सिद्ध करने के लिए सीरम तथा पनीर-जल ऐग्लूटिनेशन जाँच और सम्पूर्ण दुग्ध वलय-परीक्षण (ए बी आर, एवार्टस बैग रिंग) तथा प्लेट-जाँच आदि सभी विधियाँ काफी अच्छी थीं।" इस परीक्षण के मैदानी प्रयोग पर रोप्की आदि[9] द्वारा विस्तृत रिपोर्ट प्रस्तुत की गई है। व्यक्तिगत यूथो के मालिको द्वारा इसके प्रयोग की राय नहीं दी जाती।

रोग का विभेदी निदान करते समय यह सोचने की भी आवश्यकता पडती है कि अन्य कारणों से भी अक्सर गर्भपात हुआ करते हैं। इस सदर्भ में स्मिथ और लिटिल[20] के सन् 1923 के लेख की यहाँ चर्चा कर देना आवश्यक है "हाल के कुछ वर्षों से अपरिपक्व भ्रूण के गर्भपात होने का कारण बैसिलस एवार्टस ही बताया जाता है।" बडे-बडे ऋणात्मक यूथो में गर्भपात की दर प्राय 5 से 10 प्रतिशत होती है। बहुधा ये गर्भपात गर्भकाल के प्रारम्भिक दिनो में ही होते हैं, किन्तु यह किसी भी समय हो सकते है। प्लैसेंटा का परीक्षण करने

पर, स्लाइड पर विशिष्ट ब्रूसेल्ला एवार्टस जीवाणु नहीं मिलता। बैंग रोग की छूत का शीघ्रातिशीघ्र पता लगाने के लिए भ्रूण तथा जेर दोनों से ही स्लाइड बनाकर तथा गिनी-पिग में टीका देकर जांच करनी चाहिए। प्रायः परिणाम ऋणात्मक होते हैं, किन्तु जब धनात्मक परिणाम मिले तो तत्काल ही पूरे यूथ में अन्य परीक्षण भी करने चाहिए।

आमतौर पर, ब्रूसेल्ला एवार्टस के अतिरिक्त अन्य किसी कारणवश होने वाले गर्भपात, गाय पर इतना कुप्रभाव नहीं डालते जितना की बैंग रोग। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि एक ऋणात्मक गाय बार-बार गर्भपात करती रहकर कभी भी जीवित बच्चे को जन्म नहीं देती। रुकी हुई जेर को प्रायः बैंग रोग का प्रमाण माना जाता है किन्तु, यह अवस्था गायों के समूहों में इतनी अधिक होती है कि अकेले विचार करने पर इसका बहुत ही कम महत्व है। अन्य कारणों से होने वाले जननेन्द्रिय-रोग में, प्रायः या तो संक्रमण का कोई प्रमाण ही नहीं मिलता अथवा यह बहुत ही धीरे-धीरे फैलता है।

लेखक के चल-चिकित्सालय में प्राप्य जननेन्द्रिय रोगों का सर्वेक्षण यह प्रदर्शित करता है कि गर्भपात करने वाले 253 पशुओं में से 38·7 प्रतिशत ब्रूसेल्ला एवार्टस के प्रति ऋणात्मक थे। बच्चा देने के बाद रुकी हुई जेर के लिए निदान किए गए 160 पशुओं में से 80.6 प्रतिशत ऋणात्मक थे। केवल गर्भाशयशोथ से पीड़ित 68 गायों में से 80 प्रतिशत ऋणात्मक थीं तथा कष्टार्तव प्रसव (dystokia) के लिए चिकित्सा किए गए 43 रोगियों में से 83 प्रतिशत पशु ऋणात्मक थे।

एक रोग-ग्रसित यूथ में, जहाँ बैंग रोग के नियंत्रण की योजना चल रही हो वहाँ एक भी गर्भपात होने के बाद जेर, अथवा भ्रूण या दोनो की गिनी-पिग में टीका देकर जांच करनी चाहिए। लेखक के प्रयोगों में चल-चिकित्सालय से संकलित रोगियों में से 50 प्रतिशत गायें जिनमें गर्भपात के समय 1 : 80 पर रक्त ने प्रतिक्रिया प्रदर्शित की उनके दूध, प्लैसेंटा तथा भ्रूण में ही यह जीवाणु उपस्थित था। वे गायें जिन्होंने गर्भपात के समय 1 : 40 पर प्रतिक्रिया प्रदर्शित की, अन्य परीक्षणों पर 16.6 प्रतिशत धनात्मक निकलीं। वे गायें जिनके रक्त ने गर्भपात के समय बिल्कुल ही प्रतिक्रिया प्रदर्शित न की अन्य परीक्षणों के लिए 0.6 प्रतिशत धनात्मक थी। संभवतः गर्भपात के समय कम रक्त अनुमापनांक प्रदर्शित करने वाली गायों का गर्भस्राव हाल के रोग-ग्रसित यूथ में से होता है। वैसे तो बहुधा ऐसा कहा जाता है कि प्रतिक्रिया प्रदर्शित करने वाली गाय का रक्त बढ़े हुए गर्भकाल तथा प्रसव के समय ऋणात्मक रूप धारण कर सकता है, किन्तु इस विचार के समर्थन में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। कम अनुमापनांक पर प्रतिक्रिया प्रदर्शित करने वाली गायों का रक्त समय-समय पर भिन्न हो सकता है, किन्तु यह विभिन्नता प्रसव द्वारा प्रभावित नहीं होती।

कंट्रोल—रोग-नियंत्रण की दो प्रमुख विधियाँ उपयोग होती हैं: पहली तो इस बात पर आधारित है कि रोग-ग्रसित पशुओं का ऐग्लूटिनेशन जाँच द्वारा निदान करके रोगियों को स्वस्थ पशुओं से अलग कर दिया जाए तथा दूसरी विधि इस बात पर आधारित है कि जीवित ब्रूसेल्ला एवार्टस का टीका लगाकर पशुओं में कृत्रिम प्रतिरक्षा उत्पन्न कर दी जाए।

प्रतिरक्षण—सन् 1897 में बैंग द्वारा ब्रूसेल्ला एबार्टस की खोज के बाद प्रतिरक्षा उत्पन्न करने हेतु जीवाणु के जीवित अथवा मृत संवर्धन का निरन्तर प्रयोग किया गया है किन्तु, अभी तक यह बताने के लिए बहुत ही कम जानकारी प्राप्त हो सकी है कि रोग के प्रति कृत्रिम प्रतिरक्षण भी संभव है। फिर भी बैंग[12] द्वारा प्रस्तुत रिपोर्ट में यह भविष्य सूचक वाक्य मिलता है कि "मै यह नहीं कहता कि मैंने गर्भपात के प्रति टीका के प्रश्न को हल कर दिया है किन्तु, मैं यह सोचता हूँ कि मेरे प्रयोगों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि इस प्रकार प्रभावकारी परिणाम प्राप्त करना सभव हो सकेगा...भविष्य में संक्रामक गर्भपात के प्रति टीका प्रमुख उपचार होगा अथवा नहीं, यह समय ही बतावेगा।"

सन् 1924 में हुडेल्सन[21] ने ब्रूसेल्ला एबार्टस के बिना शक्ति वाले जीवित संवर्धन के प्रयोग के बारे में एक रिपोर्ट प्रस्तुत की जिसमें उन्होंने यह बताया कि एक बार पूर्णरूपेण नष्ट हो जाने के बाद यह जीवाणु अपने रोगोत्पादक गुणों को पुनः वापस नहीं ले सकता और इसके लिए प्रमाण प्रस्तुत किए कि उनके द्वारा तैयार किए गए शक्ति क्षीण संवर्धन के प्रयोग से गर्भपात नहीं हो सकता और यह शरीर में रक्षात्मक पदार्थों के निर्माण को उत्तेजित करता है।

सन् 1930 में बक[22] ने यह पता लगाने के लिए कि क्या बचपन में टीका लगाकर गो-पशुओं में अधिक समय के लिए प्रतिरक्षा उत्पन्न की जा सकती है, एक अन्वेषण का वर्णन किया। उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि मध्यम शक्ति का एक वैक्सीन (स्ट्रेन 19) इसके लिए उपयुक्त है और यह ऐसी प्रतिरक्षा उत्पन्न करता है जो दूसरे गर्भकाल तक मौजूद रहती प्रतीत होती है। इसके बाद बक[23] और उनके साथियों द्वारा किए गए अन्वेषणों ने इस विचार का समर्थन किया कि स्ट्रेन 19 से तैयार किया गया बछड़ों का टीका (calfhood vaccination) 6 से 8 माह की आयु वाले बच्चों में मैदानी तथा प्रयोगशाला दोनों ही परिस्थितियों में बैंग रोग के प्रति संतोषजनक प्रतिरक्षा उत्पन्न करता है। 5 घ० सें० की मात्रा में इसका एक अवस्त्वक् इन्जेक्शन देना काफी है अथवा 0.2 घ० सें० की मात्रा में यह अतः त्वचा विधि द्वारा दिया जाता है।

सन् 1948 में हुडेल्सन[24] ने बताया कि "सूकर जातीय ब्रूसेल्ला के कुछ श्लेष्मल वृद्धि प्रकार जब टीका के रूप में तैयार करके (ब्रूसेल्ला एम वैक्सीन) नार्मल गिनीपिग के शरीर में प्रविष्ट किए गए तो इनसे इन पशुओं में ब्रूसेल्ला की तीनो प्रजातियों के प्रति उच्च प्रकार की सहन शक्ति उत्पन्न हो गई।" टीका के बाद हल्की तथा क्षणिक प्रतिक्रिया उत्पन्न करना और गर्भपात होने वाली यूथों में व्यक्तिगत पशुओं की रक्षा करना इस वैक्सीन से होने वाले लाभ हैं। इसे गर्भकाल की सभी अवस्थाओं में दिया जा सकता है तथा 90 से कम दिनों में ऐग्लूटिनेशन अदृश्य हो जाता है।

बछड़ों को टीका देना (Calfhood Vaccination) : उन यूथों में जहाँ पहली बार ब्याने वाली बछियों में गर्भपात अधिक होता है और दूध तथा संतति के अभाव से भारी क्षति होती है वहाँ बचपन के टीका द्वारा व्यवसायिक यूथों में ऐसे ह्रासों को बचाया जा सकना इसके प्रयोग को प्रोत्साहन देता है। इसके प्रयोग से पहली बार ब्याने वाली

बछियों के गर्भपात को बचाया जा सकता है। उनका रोगोत्पादक तथा रक्त-परीक्षण के प्रति प्रतिक्रिया प्रदर्शित करने वाली रहना अथवा न रहना कम महत्व की बात है क्योंकि वे दूध उत्पादन तथा बछड़े की बढ़ोत्तरी को कम नहीं करतीं। इसका अंतिम उद्देश्य यह रहता है कि टीका लगा हुआ ऋणात्मक एवं प्रतिरक्षित यूथ बन जावे। इस यूथ को आधिकारिक तौर पर प्रमाणित भी किया जा सकता है और इसके लिए इस बात की आवश्यकता पड़ती है कि टीका लगे उन पशुओं को यूथ से निकाल दिया जाए जो 30 माह की आयु पर भी धनात्मक रहते हैं। आमतौर पर ऐसा कहा जाता है कि 4 तथा 8 माह की आयु पर टीका लगाए गए बछड़े 4 से 8 अथवा 3 से 12 माह में ऋणात्मक हो जाते हैं।[25] "यदि 30 दिन बाद पुनः जाँच करके पता कर लिया जाए कि प्रतिक्रिया स्थिर हो चुकी है अथवा 1 से 100 के आंशिक तनुकरणों पर कम हो गई है तो संशोधित ढंग के अन्तर्गत, बचपन में टीका लगाए जाने के बाद भी रक्त-सीरम प्रतिक्रिया प्रदर्शित करने वाले पशु 30 माह की आयु के बाद भी प्रमाणित यूथ के सदस्य बने रह सकते हैं।" कैलीफोर्निया में जहाँ व्यावसायिक यूथों में प्रतिरक्षा के ऊपर प्रमुख ध्यान दिया जाता है वहाँ बछियों को इस आशा से 7 से 12 माह की आयु पर टीका दिया जाता है कि पहले प्रसव के अंत में वे रक्त-परीक्षण के लिए ऋणात्मक हो जाएँगी। रोग-ग्रसित मादाओं से प्राप्त बछियों में से टीका लगाने के चार माह बाद 100 प्रतिशत 1 : 25 तक के निम्न तनुकरणों में ऋणात्मक थीं तथा रोग-रहित मादाओं से प्राप्त टीका लगी बछियों में से 61 प्रतिशत ने 1 : 200 का औसत अनुमापनांक प्रदर्शित किया (बी० ए० आई० रिपोर्ट 1945)। रोग-ग्रसित गायों के संपर्क में रहने वाले टीका लगे बछड़ों के एक समूह में से 22.22 प्रतिशत बच्चे लगातार तिकर्मी रहे (बर्न आदि)[26]। आयु की बढ़ोत्तरी के साथ-साथ, वैक्सीनेशन द्वारा प्रतिरक्षा तथा रक्त-प्रतिक्रिया दोनों ही बढ़ जाती हैं। अतः 6 माह की आयु इस कार्य के लिए सर्वोत्तम बताई गई है। चूँकि यह संदेहपूर्ण है कि 4 माह की छोटी आयु पर टीका लगाया गया पशु दो वर्ष के बाद इस बीमारी के प्रकोप को सहन कर सकता है अथवा इस वैक्सीन से उत्पादित प्रतिरक्षा उच्च शक्ति वाले संक्रमण का मुकाबला कर सकती है, अतः कुछ लोग पशु को दुबारा टीका देना अधिक अच्छा समझते हैं। बड़े यूथों में जो वर्षों से निरोगी रहे हों तथा जिनमें बछड़ों को टीका देना विचाराधीन हो, बर्न (1946)[27] के अनुसार ऐसे बच्चों को टीका देने से पूर्व यूथ से निकाल कर उनको तब तक अलग रखना चाहिए जब तक कि वे प्रतिक्रिया प्रदर्शित करते रहें। ऐसा उन प्रतिक्रियाओं को दूर रखने के लिए किया जाता है जो बछड़ों को टीका देने के बाद कभी-कभी बड़े पशुओं में होते देखी जाती हैं।

जिन बछड़ों को अंतः त्वचा विधि से टीका दी जाती है उनमें रक्त-प्रतिक्रिया, अधस्त्वक् विधि से दी गई टीका की अपेक्षाकृत शीघ्र ही समाप्त हो जाती है। अंतः त्वचा इन्जेक्शन के लिए स्ट्रेन 19 से तैयार किए गए वैक्सीन की मात्रा 0.2 घ० सें० है। पहली तथा दूसरी बार ब्याने वाली गायों में गर्भपात के प्रति प्रतिरक्षा उत्पन्न होने, रक्त प्रतिक्रिया के ऋणात्मक हो जाने, ब्रूसेल्लोसिस रहित प्रमाणित यूथ बन जाने तथा ग्राहकों द्वारा टीका लगाए हुए पशुओं को क्रय करने की बढ़ती हुई प्रवृत्ति के कारण बचपन में

टीका देने की विधि (काफहुड वैक्सीनेशन) को अधिक अच्छा समझा जाता है। अनेक शहरों में दुग्ध-अधिनियम लागू हो गए हैं जिनके अन्तर्गत इस बात की आवश्यकता पड़ती है कि निश्चित तिथि के बाद बिक्री के लिए आने वाला दूध उन यूथों से आना चाहिए जिनको प्रादेशिक तथा राष्ट्रीय पशुधन स्वास्थ्य अधिकारियों द्वारा ब्रूसेल्लोसिस रहित वर्गीकृत किया जा चुका हो। संयुक्त राज्य जनस्वास्थ्य मानक अध्यादेश तथा संहिता (यूनाइटेड स्टेट्स पब्लिक हेल्थ स्टैंडर्ड आर्डीनेंस ऐण्ड कोड) से यह ज्ञात होता है कि अधिनियम लागू होने के बाद तीन वर्ष के अन्दर पास्चुरीकरण के लिए दूध उत्पादन करने वाली सभी यूथें "अ" योजना (जाँच तथा वध) अथवा "ब" योजना (यूथ परीक्षण, बछड़ों के टीका लगाना तथा वध के लिए बेचे जाने तक मालिक का बिना अधिक ह्रास के तिकर्मियों का रोक कर रखना) के अन्तर्गत आ जानी चाहिए।

30 माह[26,29] की आयु पर ऋणात्मक पशुओं का यूथ स्थापित करने में स्ट्रेन 19 के समर्थन में किए गए प्रयोगात्मक प्रोग्राम की असफलता के बाद भी, मैदानी परिस्थितियों में इसका प्रयोग बहुत ही सफल सिद्ध हुआ है। इसने गो-पशुओं में संक्रामक गर्भपात के प्रकोपों को बहुत ही कम कर दिया है तथा यह इस बीमारी का पूर्णरूपेण उन्मूलन कर सकता है।

प्रौढ़ पशुओं को टीका लगाना (Adult Vaccination) दिसम्बर सन् 1914 में राष्ट्रीय ब्यूरो के अध्यक्ष डा० मिलर ने रोग-ग्रसित यूथों में ऋणात्मक प्रौढ़ पशुओं को काफहुड वैक्सीनेशन के लिए स्वीकृति दी। प्रत्यक्ष रूप से यह स्वीकृति कैलीफोर्निया से प्राप्त उस रिपोर्ट पर आधारित थी जिसमें यह बताया गया था कि अन्य रोगों की भाँति ब्रूसेल्लोसिस में टीका लगाना युवा पशुओं की अपेक्षाकृत प्रौढ़ पशुओं में अधिक सफल होता है। रक्त-प्रतिक्रिया का अधिक समय तक रहना, तथा क्रय-विक्रय एवं यातायात पर प्रतिबन्ध आदि प्रौढ़ पशुओं में टीका देने के प्रमुख परिसीमन हैं। किन्तु, रोग-ग्रसित यूथों में यह परिस्थितियाँ पहले से ही मौजूद रहती हैं तथा गर्भपात द्वारा होने वाले ह्रास से छुटकारा मिलना प्रमुख महत्व का होता है। इस योजना के अन्तर्गत गर्भपात होने वाली यूथों के उन सभी ऋणात्मक पशुओं के टीका लगा दिया जाता है जो चार माह से अधिक के गाभिन नहीं होते। ऐसा इसलिए किया जाता है कि जिन पशुओं को अब तक इस रोग की छूत न लगी हो उनके शरीर में इसके प्रति प्रतिरक्षा उत्पन्न हो जाए। यदि टीका लगाने के बाद गर्भपात हो जाता है तो प्रायः ऐसा कहा जाता है कि गाय अधिक दिनों की गाभिन थी, अथवा इन्जेक्शन देने के समय पहले से ही रोग-ग्रसित थी अथवा प्रतिरक्षा के विकास का समय समाप्त हो चुका था। गर्भपात काल में टीका लगाने से तात्कालिक लाभ कम होता दिखाई पड़ता है किन्तु, ऐसा कहा जाता है कि पहले साल के बाद गर्भपात की संख्या में भारी कमी हो सकती है। ऐसा बिना टीका लगे पशुओं में भी होते देखा जाता है। दक्षिण में कुछ प्रदेशों को छोड़कर जहाँ बैंग रोग कभी-कभी प्रकोप करता है, काफहुड (calfhood) तथा प्रौढ़ वैक्सीनेशन दोनों का ही बहुधा एक ही यूथ में खूब प्रयोग किया जाता है। प्रौढ़-वैक्सीनेशन के बारे में लोगों के विभिन्न मत रहे हैं, किन्तु, इसके मौजूदा प्रयोग से इसका स्वतः मूल्यांकन किया जा सकता है। कोई भी उपाय जो पशुओं में गर्भपात की संख्या कम कर देगा, वह रक्त-प्रतिक्रिया के लिए पशुओं की संख्या बढ़ा देने पर भी ख्याति पावेगा। जैसा कि वर्णन

आदि[28] द्वारा बताया गया है ब्याने के समय ब्रूसेल्ला के लिए जीवाणु-परीक्षण तथा सीरम-मूलक जाँच करने पर प्राप्त ऋणात्मक गायों को 60 दिन के अन्दर पुनः टीका दिया गया। इसके परिणामस्वरूप ऐग्लूटिनेशन अनुमापनांक में शीघ्र वृद्धि होकर उतनी ही जल्दी कमी हो गई। पुनः टीका लगाने के एक वर्ष बाद 10 प्रतिशत से कम पशु तिकर्मी निकले। गर्भ-काल में टीका लगाए गए पशुओं की अपेक्षाकृत जब अगर्भित प्रौढ़ गायों को टीका लगाया गया तो वे शीघ्र ही ऋणात्मक हो गईं।

जाँच तथा वध—ऐग्लूटिनेशन जांच के प्रति प्रतिक्रिया प्रदर्शित करने वाले पशुओं को अलग कर देना, अनेक यूथों से वैंग रोग समाप्त करने का सफल तरीका सिद्ध हो चुका है। इस प्रयास को जनस्वास्थ्य अधिकारियों की उस आवश्यकता से उत्तेजना मिली कि कच्चा दूध ऋणात्मक गायों से आना चाहिए। बड़े फार्मों पर जहाँ गायों को विभिन्न समूहों में बाँटकर अलग रखना कठिन नहीं होता, इस संक्रमण से छुटकारा पाया जा सकता है। छोटी यूथों में जहाँ केवल एक ही पशुशाला उपलब्ध होती है वहाँ हाल की संक्रमणित यूथों से इसका उन्मूलन करना कठिन हो जाता है। प्रारम्भिक जाँच पर यूथ में पाए जाने वाले रोग-ग्रसित पशुओं की प्रतिशत संख्या तथा रोग की तात्कालिक प्रक्रिया के अनुसार इसका फलानुमान भिन्न-भिन्न होता है। संक्रमण की प्रतिशत चाहे कम हो अथवा अधिक, सफलता अलगाव की आवश्यकताओं की प्राप्ति की योग्यता पर निर्भर रहती है। यदि चरागाह पर चरते हुए निकट के पशुओं से सम्पर्क स्थापित रहता है, यदि ब्याने के समय गायों को ब्याने के कमरे देना असम्भव है तथा यदि पशु-पालक आवश्यक सावधानियों को लागू करने के योग्य नहीं है तो रोग-रहित यूथ तैयार करना बहुत ही कठिन हो जाता है।

महामारी के सक्रिय होने के समय रक्त-परीक्षण बिलकुल ही असफल हो सकता है। आज जो गायें ऋणात्मक रक्त प्रतिक्रिया प्रदर्शित करती हैं उनका कल को गर्भपात हो सकता है। यदि प्रति दो सप्ताह के अवकाश पर रक्त का नमूना लेना तथा उसकी जाँच करना सम्भव हो तो सक्रमण को दूर करने की संभावना हो सकती है। सामान्यतयः प्रारम्भिक जाँच के बाद रक्त-परीक्षण प्रतिमाह किया जाता है, किन्तु जहाँ बीमारी सक्रिय नहीं होती वहाँ 6 माह में एक बार रक्त-परीक्षण करना पर्याप्त होता है। फिर भी, यह आवश्यक है कि प्रारम्भ में कम से कम दो या तीन बार मासिक जाँच कर ली जाए। ऐसा करने से रक्त की प्रतिक्रिया का पता लग जाता है। एक बार जब यूथ ऋणात्मक हो जाए तो यह जांच 6 माह से लेकर 1 वर्ष में एक बार करना पर्याप्त होता है। पुनः जाँच करने की आवश्यकता यूथ के रहन-सहन पर आधारित होती है। बहुत सी छोटी-छोटी यूथें ऐसे स्थानों पर रहती हैं जहाँ इसका सक्रमण बहुत ही कम होता है। यूथ चाहे धनात्मक हो अथवा ऋणात्मक इसमें बछड़ों तथा युवा पशुओं की अच्छी वृद्धि, नर मादा के लिए समुचित व्यायाम की व्यवस्था, ब्याने के लिए स्वच्छ जच्चा-गृहों का प्रयोग, ब्याने के बाद पुनः गर्भित होने के मध्य कम से कम तीन माह का अवकाश तथा रुकी हुई जेर अथवा गर्भाशयशोथ के अन्य किसी प्रमाण के साथ चार माह का अवकाश होने पर उस यूथ का कार्य अच्छा माना जाता है।

नई खरीदी हुई गायों को 60 दिन तक अलग रखना चाहिए तथा यूथ में मिलाने से पूर्व उनकी पुनः जाँच करनी चाहिए। किन्तु, इससे प्रतिक्रिया न प्रदर्शित करने वाले रोग-

वाहक पशुओं से बचाव नहीं हो पाता। जब तक यूथ ऋणात्मक अथवा प्रमाणित न हो जाए वहाँ से लाए गए नए खरीदे पशुओं से इस बीमारी की छूत फैल सकती है। वैसे तो प्रतिक्रिया न प्रदर्शित करने वाला रोग-वाहक पशु प्रायः धनात्मक हो जाता है, किन्तु महीनों तक यह ऋणात्मक रह सकता है, तथा कुछ अज्ञात एवं न पहचाने जाने वाले पशु लगातार ऋणात्मक बने रह सकते हैं।

जब ऐग्लूटिनेशन-जाँच के लिए परखनली विधि अपनाई जाती है तो प्रायः 1:25, 1 50, 1:100 तथा 1:200 अनुपात के घोल तैयार किए जाते हैं। 1·100 पर पूर्णरूपेण ऐग्लूटिनेशन होना धनात्मक माना जाता है। 1·50 से कम पर पूर्णरूपेण ऐग्लूटिनेशन होना ऋणात्मक परिणाम का सूचक है। आधिकारिक जाँच के अन्तर्गत तथा क्रय के लिए जाँच करने पर, जहाँ यूथ के प्रारम्भ होने तथा व्यक्तिगत पशुओं के प्रजनन अभिलेख के बारे में कोई जानकारी उपलब्ध न होने पर केवल अकेले एक परीक्षण द्वारा निर्णय लेना पड़ता है, वहाँ रक्त-सीरम के1:25अनुपात पर ऐग्लूटिनेशन प्रदर्शित करने वाले पशुओं को प्रायः अस्वीकृत कर दिया जाता है। वैसे तो ऐग्लूटिनेशन-जांच को समझने के लिए एक स्थिर-मानक आवश्यक अथवा वाछनीय होता है, फिर भी, जिन यूथों का प्रजनन अभिलेख ज्ञात हो तथा उनका प्लैसेंटा देखने का अवसर मिला हो तो वहाँ जिन पशुओं की रक्त-प्रतिक्रिया निम्न धनात्मक जैसे 1:100 से 1:160 अनुपात के बीच होती है, उन्हें ऋणात्मक माना जाता है। काटन[14] (1932) के अनुसार कोई भी ऐसा निश्चित अनुमापनाक नहीं है जिस पर सभी पशुओं से संक्रमण अदृश्य हो जाता हो। मासिक परीक्षणों पर ऋणात्मक इतिहास वाली गायों में उसी भाँति नए धनात्मक पशु मिलते हैं जैसे कि 1 : 25 से लेकर आंशिक रूप से 1 : 100 तक के अनुमापनाक पर धनात्मक पशु मिला करते हैं।

निदान के लिए प्लेट विधि द्वारा ऐग्लूटिनेशन जाँच करना सही सिद्ध हुआ है तथा हाल की संक्रमणित यूथों में इस विधि द्वारा, रक्त के परखनली विधि द्वारा धनात्मक पाए जाने के पूर्व ही, रोग-ग्रसित पशुओं का पता चल जाता है। बहुधा एक ही नमूने की प्लेट तथा परखनली जाँच के बारे में लोगों का विभिन्न मत है तथा रक्त के एक नमूने को धनात्मक सूचित किया जाने के बाद 60 दिन के अन्दर वह ऋणात्मक हो सकता है ("झूठी प्रतिक्रिया")। ऐसा अनुभव धनात्मक तथा ऋणात्मक दोनों ही यूथों में होता है।

बीमारी के वेग में विभिन्नता होने के कारण, जो अलगाव के ढग एक यूथ में सफल सिद्ध होते हैं वे ही दूसरे में असफल हो सकते हैं। सबसे प्रभावकारी विधि यह है कि प्रतिक्रिया प्रदर्शित करने वाले सभी पशुओं को फार्म से निकाल दिया जाए। जहाँ ऐसा करना तत्क्षण सभव न हो तो उन्हें उसी फार्म पर दूसरी पशुशाला में रख देना चाहिए। जहाँ कहीं दोनों समूहों की देखभाल के लिए अलग-अलग परिचारकों की व्यवस्था नहीं हो पाती, वहाँ भी इस बात का बहुत ही कम प्रमाण मिलता है कि परिचारकों द्वारा इसकी छूत धनात्मक से ऋणात्मक पशुओं में फैलती है। इससे कुछ कम लाभकारी विधि यह है कि रोग-ग्रसित पशुओं को पशुशाला में एक ओर रख दिया जाए तथा उनको ऐसे बाड़ों एवं चरागाहों पर न जाने दिया जाए जहाँ स्वस्थ पशु जाते हों। धनात्मक यूथ में गर्भपात होने पर, यह विधि

तब तक असफल रहती हैं जब तक कि परिचारक इस संभावना को समझ कर गर्भपात होने वाले पशु को मुख्य पशुशाला से हटाकर अलग नहीं कर देता।

ऋणात्मक यूथ बनाने अथवा पहले से ही बने ऋणात्मक यूथ को स्थिर रखने में होने वाली असफलता के दो प्रमुख स्रोत हैं। एक तो चरागाह पर अथवा खरीदे हुए पशुओं के द्वारा बाहरी सम्पर्क के नियंत्रण में कमी तथा दूसरे पशुशाला में, विशेषकर ब्याने अथवा गर्भपात के समय, रोगी तथा निरोगी पशुओं के मध्य समुचित अलगाव का अभाव।

संदर्भ

1. Bang. B, The etiology of epizootic abortion, J. Comp. Path. and ther. 1897, 10, 125.

1a. Bernard Bang. Selected Works Oxford univ, press 1936 P. 122.

2. McAuliff J. L., Brucellosis in reletion to sanitary milk control, J.A.V.M. A., 1950, 117, 473.

3. U. S. B. A. I., 1952, p. 99.

4. Cameron, H.S., The viability of Brucella abortus, Cornell Vet., 1932, 22, 212.

5. Birch, R.R., and Gilman H.L., The agglutination test in relation to the persistence of Bact. abortus in the body of the cow, Rep. N.Y. State Vet. Col., 1929-30, p. 56.

6. Thomson, W.M., The elimination of Brucella abortus from the genital tract of unbred heifers during the estrum, Rep. N.Y. State Vet. Col., 1930-31. p. 123.

7. Gilman, H.L., Further studies on the relation of the milk agglutination titre to the elimination of Bact. abortus from the udder of the cow. Cornell Vet., 1931, 21, 243.

8. Cotton, W.E., and Buck, J.M., Further researches on Bang's disease, J.A. V.M.A., 1932, 80, 342.

9. Udall, D.H., Cushing, E.R., and Fincher, M.G., Vital statistics of diseases of the genital organs of cows, Cornell Vet., 1925, 15, 121.

10. Gwatkin, R., Incidence of Brucella abortus in the fetal membranes of full time, reacting cows, Cornell Vet., 1932, 22, 62.

11. Bang. O., and Bendixen, H. Chr., Untersuchungen über latente Euterinfektionen beim Rind, hervorgerufen durch Abortusbakterien, Zeit. f. Infectionskr., 1932, 42, 81.

12. Boyd, W.L., Delez, A.L., and Fitch, C.P., The association of Bacterium abortus Bang with hygroma of the knee of cattle Cornell Vet., 1930, 20, 263.

13. Buck, J.M., Creech, G.T., and Ladson, H.H., Bacterium abortus infection of bulls, J. Agr. Res., 1919, 17, 239.

14. Cotton, W.E., Proceedings of the Third Eastern States conference on Bang's Disease, New Jersey Dept. of Agr., Cir. 229, 1932.

15. Cotton, W.E., Buck, J.M., and Smith, H.E., Studies of the skin as a portal of entry for Brucella bortus in pregnant cattle, J.A.V.M.A., 1933, 83, 91.

16. Huddleson, I F , Progress made in the study of brucellosis during the past 25 years, J.A V M A , 1941, 98, 181
17 Wall, S , The alterations in the uterus in epizootic abortion and in some other infectious metrites in cows, Tenth Inter. Vet. Congress, 1941, Vol. II p. 292
18. Hallman, E T , The pathology of Bact abortus (Bang) infection in the bovine uterus, Cornell Vet 1924, 14, 262.
19 Roepke, M H , Clausen, L B , and Walsh, A L , The milk and cream test for brucellosis, Proc 52nd An Meeting, U S L S S A , 1948, p 147, A J.-V R , 1950, 11, 199
20. Smith, T , and Little, R B , Studies in vaccinal immunity towards disease of the bovine placenta due to Bacillus abortus (infectious abortion), Rockefeller Inst for Med Res , Monograph No. 19, 1923
21 Huddleson, I F , Studies on a nonvirulent living culture of Bact. abortus towards protective vaccination of cattle against bovine infectious abortion, Agr Exp Sta Mich Agr Col , Tech , Bull , 65, 1924
22. Buck, J M , Studies on vaccination during calfhood to prevent bovine infectious abortion, J Agr Res , 1930, 41, 667
23 Cotton, W E , Buck, J M , and Smith, H E , Further studies of vaccination during calfhood to prevent Bang's disease, J A.V M A , 1934, 85, 389. Ibid , Vaccination of calves and yearlings against Bang's disease, U S D A , Tech Bull 658, 1938
24 Huddleson, I F , and Bennett, G R , The immunizing value of a mucoid-growth phase of Brucella suis against brucellosis in cattle, Mich Agr Exp Sta Quar Bull , 31, 1948, p 139
25 Miller, A W , Wight, A.E , and Crawford, A B , Report of cooperative brucellosis control in the United States, Proc U S L S S Assoc , 1944, p 48
26 Birch, R R , Gilman, H L , and Stone, W S , The immunity created by vaccination of calves with brucella strain 19, Proc U S L S S , Asso , 1944, p 32
27 Birch, R R , Abstracts of Papers, A V M A , Aug , 1946
28 Berman, D T , Jones, L M , and Beach, B A , Studies on repeated vaccination of cattle, with Br abortus strain 19, Proceedings Book A.V M A , 1950, p 17
29 Manthei, C A , Mingle, C K , and Carter, R W , Comparison of immunity and agglutinen response in cattle vaccinated with Brucella abortus strain 19 by the intradermal and subcutaneous methods, Pro U S L.S.S A , 1952, p 100.
30 Washko, F.V , Hutchings, L M , and Donham, C R., Studies on the pathogenicity of Brucella suis for cattle, A.J.V R , 1948, 9, 342
31 Hutchings, L.M., Swine brucellosis—its importance to human health, Proc. Book A.V.M.A., 1952, p 388.

सूकरों में ब्रूसेल्लोसिस रोग

(Brucellosis in Swine)

परिभाषा—सूकरों में ब्रूसेल्लोसिस एक अकस्मात होने वाली बीमारी है जिसके लक्षण तथा क्षतस्थल प्राय: गुप्त रूप में होते है अथवा बिना दिखे ही रह जाते हैं। एक बीमारी के रूप में सूकरों में यह रोग यदाकदा गर्भपात, अंडशोथ तथा संधिशोथ का कारण बनता है। नंगी आँख से दिखाई देने वाले प्रमुख क्षतस्थल जननांगों, हड्डियों तथा संधियों तक ही परिमित रहते हैं। ट्राम के अनुसार ब्रूसेल्ला सुकर-जातीय (Brucella Suis) जीवाणु द्वारा यह बीमारी होती है। ब्रूसेल्ला सूकर-जातीय मनुष्य में लगभग 50 प्रतिशत अन्ड्युलेंट ज्वर (undulant fever) का कारण बनता है तथा गाय के दूध में ब्रूसेल्ला संक्रमण में यह 1 से 4 प्रतिशत तक मौजूद रहता है।

कारण—यूनाइटेड स्टेट्स में ब्रूसेल्ला सूकर-जातीय संक्रमण अधिक व्यापक नहीं है। वोक तथा कारपेन्टर[1] ने न्यूयार्क स्टेट से प्राप्त 1,054 रक्त के नमूनों में 0.19 प्रतिशत तथा मध्य पश्चिम से प्राप्त 2,735 नमूनों में से 1.89 प्रतिशत धनात्मक सीरमीय (serological) प्रतिक्रियाएँ पाईं। जान्सन तथा हुडेल्सन[2] ने बताया कि यह रोग मिशिगन में बहुवितरित है तथा आयोवा में अक्सर हुआ करता है और जितना इसके बारे में हमें पूर्व ज्ञान प्राप्त है उससे कहीं अधिक प्रकोप करता है। मक्नट[3] ने बताया कि आयोवा में कुल सूकरों में से 2.5 प्रतिशत पशु ऐग्लूटिनेशन जाँच के प्रति प्रतिक्रिया प्रदर्शित करते हैं। स्पिक[4] ने लिखा कि "मिनेसोटा तथा विस्कांसिन में मनुष्यों में होने वाले अधिकांश रोगी ब्रूसेल्ला एबार्टस के कारण होते है, किन्तु आयोवा में मनुष्यों में इस रोग का सामान्य कारण ब्रूसेल्ला सूकर-जातीय जीवाणु है। मध्य-पश्चिम के मक्का उत्पादित प्रदेशों (आयोवा, इलीन्वा-यस, मिसौरी) तथा कैलीफोर्निया में सूकर-ब्रूसेल्लोसिस रोग अधिक प्रकोप करते देखा गया है। प्राकृतिक रूप से पाए जाने वाले ब्रूसेल्ला एबार्टस तथा ब्रूसेल्ला मेलिटेन्सिस जीवाणु भी सूकरों में पाए जाते बताए गए हैं। इसी कारण सूकरों को मनुष्यों तथा पशुओं में ब्रूसेल्लोसिस फैलाने का स्रोत माना जाता है। डा० जॉर्डन[6] ने बताया कि मनुष्यों में अण्ड्युलैंट-ज्वर के अधिकाश रोगी संदूषित डेरी-उत्पादों के सम्पर्क में आने के कारण हुआ करते है।

चूँकि रोग-ग्रसित सुअरियाँ न तो कोई लक्षण प्रकट करती हैं और न इनमें गर्भपात होता है अतः संक्रमण का वितरण होते नहीं देखा गया है।

रोग के रूप में सूकरों में ब्रूसेल्ला संक्रमण कुछ फार्मों पर केवल एक स्थानिकमारी की भाँति होता है। अत: इसे कैलीफोर्निया में विश्वविद्यालय के डेविस फार्म पर एक गर्भपात के रूप में हावर्य तथा हेज[7] द्वारा होते बताया गया जिससे दो मनुष्यों को भी इसकी छूत लगी। जेम्स[8] ने इसे लँगड़ापन तथा गर्भपात का कारण बताया। स्विटज़रलैंड में फ्रे[9] ने इसे सूकरों में नर-जननेन्द्रिय के भीषण कष्ट, सुअरियों में गर्भपात तथा मनुष्यों में अण्ड्युलैंट-ज्वर का कारण बताया। डेन्मार्क में थामसन[10] ने यह बताया कि सूकरों का यह एक जननेन्द्रिय रोग है तथा सुअरियों में गर्भपात का कारण है। आयोवा में

वोर्ट्स, मक्नट तथा जॉर्डन[11] द्वारा सन् 1946 में की गई सूकरों में ब्रूसेल्ला मेलिटेन्सिस की खोज, मनुष्यों में इसके संक्रमण के प्रति तथा जनस्वास्थ्य अधिकारियों के बढ़ते हुए इस विचार के प्रति कि ब्रूसेल्ला को खाद्य उत्पादित करने वाले पशुओं से अलग रखना चाहिए, अत्यन्त महत्वपूर्ण है। साहित्य में कहीं-कहीं इस रोग के बारे में कुछ ऐसा वर्णन मिलता है कि जहाँ कहीं यह बीमारी रोगावस्था में नहीं होती वहाँ इससे ग्रसित पशु ठीक हो जाते हैं क्योंकि ऐसे पशु ब्रूसेल्ला सुकर जातीय जीवाणु के केवल स्वस्थ वाहक ही रहते हैं। मादा की अपेक्षा नर सूकरों को यह रोग अधिक तथा उग्र रूप में होता है तथा युवा सूकरों की अपेक्षाकृत अधिक आयु वाले सुअर इससे अधिक पीड़ित होते हैं। यह तथ्य कि सूकरों में ब्रूसेल्लोसिस विशेषकर नर पशुओं का रोग है तथा नर सूकरों द्वारा ही इसका संचारण होता है, जबकि गोजातीय ब्रूसेल्लोसिस प्रमुख तौर पर गायों में ही होती देखी जाती है, दोनों प्रकार के संक्रमणों के बीच स्पष्ट विभिन्नता प्रदर्शित करता है—थामसन[10]।

शरीर में इस रोग का जीवाणु (ब्रू० सूकर जातीय) गर्भाशयी स्राव, वीर्य, मूत्र अथवा रोग-ग्रसित पशुओं के गोबर से चारा, पानी अथवा मिट्टी के संदूषित होने के बाद मुँह द्वारा प्रवेश पाता है। किन्तु, सुअरियों में संदूषण का प्रमुख स्रोत रोग-ग्रसित सूकर से प्रजनन कराना होता है।

जीवाणु विज्ञान—सूकरों के शरीर के अन्दर ब्रूसेल्ला जीवाणु लिम्फ ग्रंथियों, प्लीहा, यकृत, अयन, गुर्दा, अण्डकोषों नर-जननेन्द्रिय के सहायक उपांगों तथा गर्भित गर्भाशय एवं भ्रूण में निवास किया करता है। रोग के सक्रिय होने पर यह रक्त-संस्थान में मौजूद रहता है तथा हड्डियों और अण्डकोषों में यह वर्षों तक स्थित रह सकता है। नर जननेन्द्रिय के रोग-ग्रसित होने पर इसे शुक्राशय, एपिडिडिमिस तथा प्रोस्टेट ग्रंथियों से प्राप्त किया जा सकता है। गर्भपात होने के बाद, हेज और ट्राम[12] ने इस जीवाणु को गर्भपात हुए भ्रूणों के आमाशय से तथा गर्भपात करने वाली मादाओं के जरायु से प्राप्त किया। संक्रमण होने के बाद यह जीवाणु अयन, योनि-स्राव तथा मूत्र के साथ बाहर निकलकर 6 माह अथवा अधिक दिनों तक इस रोग की छूत फैला सकता है। रोग-ग्रसित मादाओं से पैदा हुई सुअरियों का दूध पीना छुड़ाने के बाद 12 माह तक ब्रूसेल्ला सूकर जातीय जीवाणु उनके रक्त में पाया गया (सं० रा० प० उ० ब्यू०, रिपोर्ट, 1941)। मक्कुलफ आदि[13] ने 0.07 प्रतिशत (5000 में से 35 सूकरों में) उपजम्भ लसीका ग्रंथियों में ब्रूसेल्ला जीवाणु पाया जिसे "इन पशुओं में कुल संक्रमण नहीं माना जाना चाहिए। इनमें से 10 पशु ब्रूसेल्ला एबार्टस, 11 ब्रूसेल्ला मेलिटेन्सिस तथा 14 ब्रूसेल्ला सूकर-जातीय जीवाणु से ग्रसित थे।" इस अवलोकन से यह पता लगता है कि ब्रूसेल्ला की विभिन्न प्रजातियों का भिन्न जाति के पशुओं में संचारण जैसा कि प्रयोगों द्वारा दिखाया गया है, उससे अधिक होता है।

शरीर के बाहर यह जीवाणु संदूषित मिट्टी, पानी अथवा अन्य पदार्थों में लगभग तीन माह तक जीवित रह सकता है। इस गुण में यह ब्रूसेल्ला एबार्टस की भाँति ही है। पास्तुरीकरण द्वारा यह नष्ट हो जाता है। सूकरों के टिशुओं में ब्रूसेल्ला सुइस 10° फारेनहाइट पर 30 दिनों तक जीवित रह सकता है। स्वस्थ सूकरों को इसकी छूत रोग-ग्रसित सुअरियों के सम्पर्क द्वारा लगती है। मनुष्यों का इस रोग की छूत संदूषित गाय का दूध पीने अथवा

सुअर का संदूषित मांस खाने अथवा छूने से लग सकती है। जैसा कि आमतौर पर ब्रूसेल्ला के संक्रमण में देखा जाता है बहुत से सुअर प्रत्यक्ष रूप से स्वयं रोग-ग्रसित न होकर ब्रूसेल्ला सूकर-जातीय जीवाणु का स्वस्थ वाहक होते हैं। थामसन[10] द्वारा वर्णन किए गए इस रोग के भीषण प्रकोपों में, एक रोग-ग्रसित सुअरी को गाभिन करने के बाद एक सुअर सांड ने संभोग द्वारा 33 यूथों में से 19 में यह बीमारी फैलाई। जैसा कि फ्रे[9] द्वारा वर्णन किया गया है यह बीमारी एक रोग-ग्रसित सुअरी से तीन में से एक सुअर सांड को लगी और इसके बाद यह सांड इस रोग के संक्रमण का प्रमुख स्रोत बन गया।

विकृत शरीर रचना—जान्सन तथा हुडेल्सन[3] की रिपोर्ट के अनुसार बाहर से स्वस्थ दिखाई देने वाली किन्तु प्रतिक्रिया प्रदर्शित करने वाली सुअरियों में प्लीहा का बढ़ जाना, प्लीहा की आमाशयिक सतह पर रक्त-स्रवित क्षेत्र होना, कंकाल लसीका पर्वों (skeletal lymph nodes) में लालामी तथा सूजन होना, गुर्दों के टिसू का अपकर्षण तथा अपक्षय होना, सपूय गर्भाशयशोथ तथा हल्की आंत्रर्ति आदि इसके प्रमुख परिवर्तन थे। थामसन[10] ने निम्नलिखित शव-परीक्षण परिवर्तन बताए: रोग-ग्रसित सुअर के जननांगों में सपूय अथवा परिगलित शोथ तथा कभी-कभी कैलसीकरण दिखाई पड़ता है। ऐसे परिवर्तन अण्डकोषों तथा शुक्राशय और अधिकतर एपिडिडिमिस में पाए जाते हैं। आमतौर पर अण्डकोष छोटे हो जाते अथवा बढ़ जाते हैं। सुअरियों में विशिष्ट रोगजनक परिवर्तनों का प्रमुख स्थान गर्भाशय है और ये गर्भित तथा अगर्भित दोनों ही प्रकार के पशुओं में मौजूद हो सकते हैं। गर्भाशय की श्लेष्मल झिल्ली पर बहुधा 2 से 4 मि० मि० व्यास की अनेकों सफेदीयुक्त पीली गाँठें सी दिखाई पड़ती हैं तथा गर्भाशय की दीवाल भी मोटी पड़ सकती है। गर्भाशय की इस अवस्था को सुअरियों में गर्भाशय की विकिरित ब्रूसेल्लोसिस (miliary brucellosis) कहा गया है। गो-पशुओं की भाँति इसका प्लैसेंटा ललाई, रक्तस्राव तथा शोथ प्रदर्शित करता है। मादा-सूकरों में गर्भपात हुआ भ्रूण रोग-विज्ञान तथा जीवाणु-विज्ञान सम्बन्धी गुणों में गो-पशुओं के भ्रूण की भाँति ही होता है। जननेन्द्रिय को छोड़कर अन्य अंगों में रोगजनक परिवर्तन बहुत ही कम होते हैं। इनमें से थामसन[10] के अनुसार प्लीहा, वक्ष की दीवाल तथा शरीर के अन्तिम भागों पर फोड़े होना तथा पैरों की संधियों एवं टेण्डन-आवरणों में सूजन होना और पशु का जीर्ण-शीर्ण होना प्रमुख हैं।

लक्षण—सूकरों में रोग-ग्रसित जननांगों तथा सुअरियों में गर्भपात एवं बांझपन के परिणामस्वरूप इसके प्रमुख लक्षण हुआ करते हैं। सुअर में; संभोग की वृत्ति में कमी, एक अथवा दोनों अण्डकोषों की सूजन, तथा दीर्घकालिक प्रकार में अण्डकोषों का बिल्कुल ही सूख जाना आदि लक्षण मिलते हैं। निरीक्षण करने तथा हाथ से टटोलने पर अण्डकोष प्रायः नार्मल प्रतीत होते हैं। संधिशोथ अथवा अण्डशोथ के उग्र आक्रमण में सुअर अकड़ा हुआ अथवा लँगड़ा हो सकता है, खान-पान में अरुचि हो जाती है तथा उसका शरीर भार कम होने लगता है। जोड़ बढ़े हुए दिखाई दे सकते हैं। मादा पशुओं में गर्भपात के प्रकोप में काफी भिन्नता हो सकती है। गो-पशुओं की अपेक्षा सुअरियों में यह कम होता है तथा बिल्कुल अनुपस्थित भी हो सकता है। मक्नट[3] के अनुसार आयोवा में सुअरियों में होने वाले अधिकांश

गर्भपातों का कारण ब्रूसेल्ला नहीं होता। व्यक्तिगत भ्रूण बिना प्रसव पीड़ा के ही झिल्लियों में लिपटा हुआ 72वें दिन गर्भाशय से बाहर आ जाता है—थामसन। शीघ्र तथा अन्जाने में होने वाले गर्भपात अक्सर हुआ करते हैं। सुअर अथवा सुअरी में प्रजनन शक्ति का ह्रास होना बाँझपन के कारण हो सकता है।

गो-जातीय ब्रूसेल्लोसिस की अपक्षाकृत इसमें रक्त ऐग्लूटिनेशन जाँच का कम महत्व है। अनेकों ऐसी सुअरियाँ जो अपने शरीर में इस रोग का जीवाणु छुपाए रहती हैं, ऐग्लूटिनेशन जाँच के प्रति ऋणात्मक सिद्ध होती हैं और ऐसे ही पशु रोग-ग्रसित प्रौढ़ मादा सुअरियों में पाए जाते हैं। गो-पशुओं की अपेक्षाकृत रोग ग्रसित सूकरों में ऐग्लूटिनेशन अनुमापनांक भी शीघ्र घटता मालूम पड़ता है। इसके आधार पर व्यक्तिगत रोगी पशुओं का यूथ से नहीं निकाला जा सकता, किन्तु यूथ में संक्रमण मौजूद है अथवा नहीं, यह जानने के लिए यह परीक्षण ठीक है। एक संक्रमणित यूथ में 1 25 से 1 100 तक का अनुमापनांक होना संक्रमण का सूचक है (स० रा० प० उ० ब्यू० रिपार्ट, 1914)।

रोग-ग्रसित पूर्ण प्रजनक यूथ को हटाकर, खरीदे हुए स्वस्थ पशुओं द्वारा इनकी पूर्ति करने पर ही कंट्रोल आधारित होता है। संक्रमणित यूथ के बच्चों को दूध छुड़ाते समय अलग करके साफ-सुथरे स्थान में रखकर तथा संक्रमण जानने के लिए उनका बार-बार परीक्षण करते रहने के द्वारा भी नया स्वस्थ एवं रोग-ग्रसित यूथ तैयार किया जा सकता है। यूथ को ऋणात्मक कहने के लिए यह आवश्यक है कि यह तीन बार जाँच करने पर ऋणात्मक सिद्ध हो चुका हो। होम आदि[14] ने इस विधि का अपनाने के साथ-साथ जब तक यूथ ऋणात्मक न हो गया (लगभग 6 माह सुअरियों के लिए तथा 9 माह सुअरों के लिए) प्रजनक पशुओं को प्रजनन कार्य से वंचित रखा। जब इनसे प्रजनन पुन प्रारम्भ किया गया तो ये पशु तथा इनकी संतति रोग के प्रति ऋणात्मक थी। इससे ब्रूसेल्ला एबार्टस वैक्सीन से प्रतिरक्षा उत्पन्न होने की संभावना का अनुमान हुआ तथा सूअरों के 262 बच्चों को ब्रूसेल्ला एबार्टस प्रजाति 19 का टीका लगाया गया। टीका लगाने के बाद प्रतिक्रिया में दूध पीना छुड़ाने के समय से 60 दिन पर 1 25 से लेकर 100 दिन और अधिक पर 1 125 तक विभिन्नता थी तथा लगभग दो माह में यह ऋणात्मक हो गई। प्रयोगात्मक तथा परिमित मैदानी अवलोकनों, दोनों में ही, टीका देने के परिणाम प्रत्यक्ष रूप से लाभदायक थे। टीका लगे हुए प्रयोगात्मक पशुओं में से कंट्रोल ग्रुप में 22 2 प्रतिशत के विपरीत 88 8 प्रतिशत पशुओं ने नार्मल बच्चे दिए।

सन्दर्भ

1. Boak, R A., and Carpenter, C M., Brucella abortus agglutinins in porcine blood, J Inf Dis, 1930, 46, 425
2 Johnson, H.W, and Huddleson, I F, Natural brucella infection in swine, J A V M.A., 1931, 78, 849
3. McNutt, S H, Brucella infection in swine, Proc 42nd An. Meeting, U S.-L S S Assoc, 1938, p. 90
4. Spink, W W, Textbook of Medicine, Cecil and Loeb, Saunders, ed. 8, p 228

5. Hutchings, L.M., Swine brucellosis—its importance to human helath, Proc. Book A.V.M.A., 1952, p. 389; 1951, p. 54.
6. Jordan, C.F., Undulant fever in Iowa, Proc. 46th Ann. Meet U.S. Livestock San. Asso., 1942, p. 137.
7. Howarth, J.A., and Hayes, F.M., Brucelliasis in the swine herd of the University of California, J.A.V.M.A., 1931, 78, 830.
8. James, W.A., Brucella suis, a cause of lameness in swine, Vet. Med., 1931, 26, 379.
9. Frei, W., An epizootic of abortion in brood sows with transmission of Bang's bacillus to people—an abstract, Cornell Vet., 1932, 22, 381.
10. Thomsen, A., Epizootic brucella bortion of pigs in Denmark—and abstract, Vet. Bull. (Weybridge), 1932, 2, 3.
11. Borts, I.H., McNutt, S.H., and Jordan, C.F., Brucella melitensis isolated from swine tissues in Iowa, J. Am. Med. Asso., 1946, 130, 966.
12. Hayes, F.M., and Traum. J., Preliminary report on abortion in swine caused by B. abortus (Bang), N. Am. Vet., 1920, 1, 58.
13. McCullough, N.B., Eisele, C.W., and Pavelchek, E., Survey of brucellosis in slaughtered hogs, U.S. Public Health Rep. 66, 1951, p. 205, 1949, 64, 537. Abs. J.A.V.M.A., 1951, 119 144.
14. Holm, G.C., Ardrey, W.B., and Beeso, W.M., A vaccination program for the control of swine brucellosis, Proc. U.S.L.S.S. Asso., 1945, p. 191.

दीर्घकालिक थनैली

(Chronic Mastitis)

(स्तनशोथ, एगैलैक्सिआसिस)

परिभाषा—दीर्घकालिक थनैली अयन की धीरे-धीरे बढ़ने वाली शोथ है जिसे बहुधा अथवा कभी-कभी उग्र सक्रियता द्वारा पहचाना जाता है। रोग-ग्रसित पशु से प्राप्त दूध में क्षारीयता बढ जाती है। उसमें लगातार या रुक-रुक कर छीछड़े दिखाई देते हैं। वह विभिन्न जैविक-परीक्षणों के प्रति प्रतिक्रिया प्रदर्शित करता है तथा रक्त-ऐगर प्लेटों पर स्ट्रेप्टोकोकाइ अथवा स्टैफिलोकोकाइ जीवाणु प्रदर्शित करता है। अयन का भौतिक परीक्षण करने पर हर समय तन्तुमयता मिलती है। ग्रंथिल टिशू का अपक्षय, तन्तुमयता तथा कुछ पशुओं में फोड़ा बनना अथवा सपूय अन्तर्गलन होना इसके रोगजनक परिवर्तन हैं। स्ट्रेप्टोकाक्कस एगैलैक्शिए जीवाणु (Streptococcus agalactiae) को इसका प्रमुख कारक बताया जाता है। न्यूयार्क स्टेट पशु-चिकित्सा विज्ञान महाविद्यालय से प्राप्त नमूनों के सवर्धनों का परीक्षण करने पर यह पता चला कि यह स्ट्रेप्टोकाक्कस 892 बिना चुनी हुई गायों के अयन संदूषण में 57 प्रतिशत, तथा चोट लगने के बाद संक्रमणित 283 गायों के अयन में 24 प्रतिशत मौजूद था (फरगूसन[1] 1943)। हाल के अवलोकन यह अनुमान कराते हैं कि अधिकांश रोग-ग्रसित यूथों में स्टैफिलोकोकाइ की प्रधानता रहती है।

इतिहास—सन् 1884 में नोकार्ड तथा मोलेरिआउ[2] ने एक संक्रामक प्रकार की थनैली के अवलोकन रिपोर्ट किए, जिसमें उन्होंने अयन से निकलने वाले स्राव से स्ट्रेप्टोकाक्कस का विशुद्ध सवर्धन प्राप्त किया तथा इस सवर्धन को थन-नली में प्रविष्ट करके पुन रोग उत्पादित किया। जैसा कि थनैली के कारण पर बैंग[3] द्वारा सन् 1888 में दिए गए भाषण से स्पष्ट है, "उनमें से एक के बारे में सन् 1884 में पेरिस के गाय रखने वाले एक पशु पालक की राय ली गई जो अपने यूथ में पिछले 6 वर्षों से थनैली के भीषण प्रकोप के कारण बिल्कुल ही निराश हो गया था ·· । गाय को पशुशाला में बाँधने के बाद 3 से 4 सप्ताह के अन्दर अयन की एक ग्रंथि के निचले भाग पर एक सख्त तथा दर्द रहित क्षेत्र का विकास हुआ। लेखकों ने इस एक दृढीकरण (induration) वर्णन किया। अयन के एक तिहाई से आधे भाग तक प्रसार करने में इस शोथ को महीनों का समय लगा अन्त में इससे निकलने वाला दूध पानी जैसा पतला तथा पीला हो गया।" नोकार्ड तथा मोलेरिआउ ने यह माना कि इस बीमारी की छूत को ग्वाले ने एक गाय से दूसरी में फैलाया क्योंकि उसने एक गाय को दुहने के बाद दूसरी को दुहने से पूर्व अपने हाथ नहीं धोए थे। दूध दुहने से पूर्व उसने बाल्टी में रखे दूध में अँगुली डुबोकर कई बार थनों को गीला किया और थन के सिरे में लगा हुआ यह दूध ही अयन में इस बीमारी के संक्रमण का प्रारम्भिक बिन्दु था। सन् 1885 में थनैली के जीवाणु-विज्ञान पर किट[4] (Kitt) ने ऐसे ही अवलोकन रिपोर्ट किए। थनैली युक्त दूध में उन्होंने एक ही प्रकार के जीवाणु पाए। इनको उन्होंने अलग करके विशुद्ध सवर्धन में उगाया तथा थननली में प्रविष्ट करके इस बीमारी को अन्य पशुओं में पैदा किया और देखा कि अयन के अन्दर का नार्मल दूध सदूषित न हुआ। यह विशेष महत्व की बात है कि जिन अन्वेषण कर्ताओं ने ये खोजें कीं उन्होंने अयन तथा दूध में तदनुसार परिवर्तनों का भी अध्ययन किया। उन्होंने इसके एकाएक प्रकोप, प्रारम्भिक तन्तुमयता, शुरू में दूध के नार्मल रहने और इस तथ्य का भी अनुभव किया कि यह रोग उग्र न होकर दीर्घकालिक था। जैसा कि बैंग ने सबोधित किया है "नोकार्ड तथा मोलेरिआउ ने इन बातों पर जोर देकर बीमारी पर काबू पा लिया कि बीमार गायों को सबसे अन्त में दुहा जाए, रोग ग्रसित गाय के स्वस्थ थनों को अस्वस्थ से पहले दुहा जाए, रोग-ग्रसित गाय के दूध को अलग इकट्ठा करके सुअरों को खिलाया जाए, तथा दूध निकालना प्रारम्भ करने से पूर्व ग्वाला अपने हाथों एवं गाय के थनों को 3 प्रतिशत फीनोल घोल से धोवे। मेरे द्वारा अवलोकित पशुओं में ऐसे उपायों को लागू करने के बाद इस रोग का प्रसार वास्तव में रुक गया।"

यह ध्यान देने योग्य बात है कि इन पशु चिकित्सकों द्वारा पचास वर्ष पूर्व देखे गए दीर्घकालिक लक्षण आधुनिक अन्वेषणकर्ताओं द्वारा "गुप्त" अथवा "छुपे" हुए कहे जाते हैं। अलगाव तथा नियंत्रण हेतु नोकार्ड, बैंग तथा अन्य लोगों द्वारा रोग-ग्रसित तथा स्वस्थ थनों के बीच सफलता पूर्वक किया गया विभेदी निदान आजकल अब असम्भव सा मालूम पड़ता है। किसी भी साधारण मनुष्य का यह विचार कि एक अयन "प्रत्यक्ष रूप से नार्मल" है बहुधा सही मान लिया जाता है।

संक्रमण के प्रकार, लक्षणों तथा अयन में होने वाले टिसु परिवर्तनों के अनुसार दीर्घ-कालिक थनैली की विभिन्न प्रकारों का वर्णन किया गया है। किन्तु, जब कोई मनुष्य आने वाले ब्यात में अनेक रोगियों को देखता है तो लगभग सभी एक जैसे मालूम पड़ते हैं। प्रमुख विभिन्नता गुणों में न होकर अंश में हुआ करतो है। डेरी यूथों में यह बीमारी पूरे ससार में बहुवितरित है। ऐसा आमतौर पर मान लिया गया है कि डेरी-उद्योग में यह अनिवार्य रूप से होने वाली बीमारी है और इसे नियंत्रित करने हेतु कुछ प्रयास किए जाते हैं।
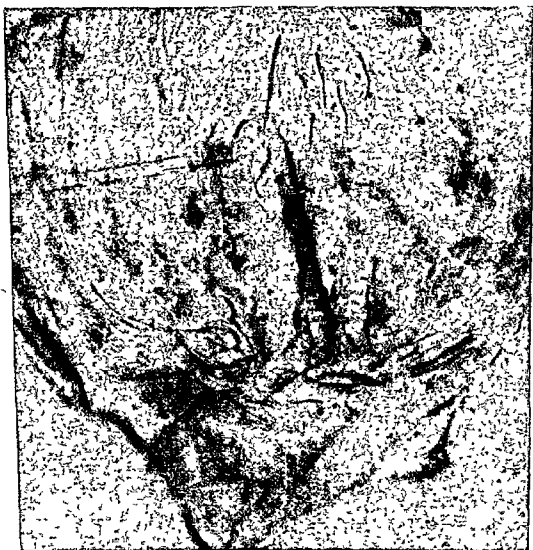
चित्र—99. बढ़ी हुई अवस्था में दीर्घकालिक थनैली। संगमरमर के टुकड़ों की भाँति दिखाई देने वाले सफेद चकत्ते अत्यधिक तन्तुमयता का द्योतक हैं। थन की जड़ के पास थन-कुण्डिका के चौतरफा अत्यधिक प्रोद्भवन दिखाई पड़ रहा है। थन-नली की दीवाल पर प्रोद्भवन तथा थन-वाहिनी पर संयोजी ऊतक का मोटापा दिखाया गया है।

कारण—थनैली के कारण दो समूहों के अन्तर्गत आते हैं : (अ) बुरी तरह रोग-ग्रसित गाय, तथा (ब) अयन रक्षा सम्बन्धित अस्वस्थ दोहन तथा गंदा बाड़ा।

(अ) रोग ग्रसित गाय—जब कई रोग-ग्रसित गायों को स्वस्थ पशुओं के साथ एक ही बाड़े में बांधा जाता है तो दोहन के समय नित्य ही इसकी छूत ग्वाले के हाथों द्वारा रोगी पशु से स्वस्थ पशुओं के अयन में पहुँचती है। इस प्रकार थन के सिरे पर लगातार संदूषित दूध के लगते रहने से इस रोग का जीवाणु थननली द्वारा उसके अयन में प्रवेश पा लेता है। छूत लगने के प्राकृतिक ढंगों से इस रोग के प्रयोगात्मक संचारण की रिपोर्ट लगभग ऋणात्मक रही है। ऐसे प्रयोगों में पहले अति रोग-ग्रसित अयन से दूध निकालकर बाद में उन्हीं गीले हाथों से स्वस्थ गाय के नार्मल थनों से दूध निकाला जाता है। प्रयोगात्मक रूप से इस ढंग से लेखक ने थनैली की बीमारी एक पशु से दूसरे में फैलाई और प्रत्येक रोगी में लगभग तीन माह बाद निम्न लक्षण देखे : अयन में तन्तुमयता, दूध में छोटी-छोटी फुटकें, तथा रक्त-ऐगर प्लेट में कुछ जीवाणु। इस प्रारम्भिक काल में ब्रोमोथाइमोल-नील (Bromthymol-blue) परीक्षण ऋणात्मक था। वैसे तो यह प्रमाण निष्कर्षदायक नहीं है किन्तु, यह मैदानी अनुभवों से मिलता-जुलता है। सीलमन[5] (Seelemann) ने 18 पशुओं में संचारण प्रयोगों का वर्णन किया जिनमें उन्होंने प्राकृतिक संक्रमण को दोहराना चाहा और इनमें से केवल एक सफल हुआ। जब गाय को लगातार ऐसे बिछावन पर रखा गया जिस पर नित्य ही संदूषित दूध छिड़का जाता था तो लगभग एक माह बाद उसे थनैला रोग हुआ। चूँकि उनके अधिकांश प्रयोग दो से चार सप्ताह की अवधि पर ही ऋणात्मक करके समाप्त हो गए, अतः ऐसा लगता है कि समय कम रहा होगा। बेन्डिक्सन[6] ने थन के अन्तिम सिरे पर कटे हुए घाव के सम्पर्क में संदूषित दूध लाकर इस रोग का प्रयोगात्मक रूप से संचारण किया तथा क्लिमर[7] (Klimmer) ने स्ट्रेप्टोकाक्कस एगैलैक्शिए से संपृक्त पदार्थ पर अयन को रात भर रखकर इस रोग को प्रयोगात्मक रूप से उत्पन्न किया।

सामान्य पशुशाला परिस्थितियों में एक स्वस्थ गाय को जब रोग-ग्रसित गायों के मध्य रखा जाता है तो उसमें शीघ्र ही इस बीमारी का प्राकृतिक संक्रमण देखा जाता है। दो से तीन माह में अयन को थपथपाने पर प्रारम्भिक तन्तुमयता को पहचाना जा सकता है तथा एक वर्ष की अवधि में अयन के क्षतस्थल स्पष्ट हो जाते हैं। इस सिद्धान्त को ऐसे यूथों में लागू करने पर जहाँ 50 प्रतिशत या अधिक गायों का अयन अति रोग-ग्रसित होता है, यूथ की बची हुई स्वस्थ गायों को भी 6 माह से 1 वर्ष में यह रोग लग जाता है। अन्त में लगभग प्रत्येक पशु का रोग-ग्रसित हो जाना यह अनुमान कराता है कि प्राकृतिक अथवा कृत्रिम प्रतिरक्षा असम्भाव्य है। यह तथ्य कि स्वस्थ गायों को रोग-ग्रसित गायों से अलग रखकर काफी समय तक रोग रहित रखा जा सकता है इस बात का अतिरिक्त प्रमाण है कि ग्वालों द्वारा इसकी छूत फैलती है।

संचारण प्रयोगों के ऋणात्मक होने के आधार पर थनैली के फैलने के ढंग को अमान्य नहीं करना चाहिए। सामान्य पशुशाला परिस्थितियों में गाय अपने दुग्धकालों में लगातार अनेकों संक्रमित पदार्थों तथा असंख्य पुरःप्रवर्तक कारणों के सम्पर्क में आती है। ये प्रभाव प्रयोगात्मक प्रयोग में रखे गए कुछ पशुओं तथा सीमित समय के कारण उतना प्रभावकारी नहीं हो पाते।

जो बछड़े तथा बछियाँ एक दूसरे का थन चूसते हैं ऐसे यूथ में से पहली बार ब्याने वाली बछियों में इस आदत को थनैली के संक्रमण का कारण समझा जाता है तथा बुरी तरह संदूषित यूथों में पहली बार ब्याने वाली बछियों में अक्सर थनैला रोग हुआ करता है। शाम[8] द्वारा किए गए प्रयोग निश्चित रूप से यह सिद्ध कर चुके हैं कि संदूषित दूध पिलाए गए साथियों का थन चूसकर स्ट्रेप्टोकाक्कस एगेलेक्शिए बछियों के अयन में पहुँच सकता है तथा यह जीवाणु उसके पहली बार ब्याने के समय तक वहाँ मौजूद रहकर, दूध के साथ बाहर निकलता है।

जिन बछड़ों को बाल्टी से दूध पीना सिखाया जाता है उनमें परस्पर एक दूसरे के थन चूसने की आदत को तब तक नहीं छुटाया जा सकता जब तक कि उन्हें अलग-अलग
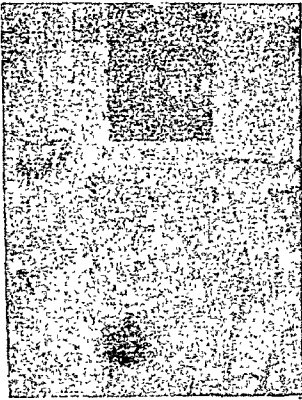
चित्र 100.

चित्र 101.

चित्र—100. ऊँची देहल भी थनैली का एक कारण है।
चित्र—101. इस कीचड़ युक्त बाड़े ने थनैली से भारी क्षति पहुँचाई है (एस०डी० जान्सन के सौजन्य से प्राप्त फोटोग्राफ)
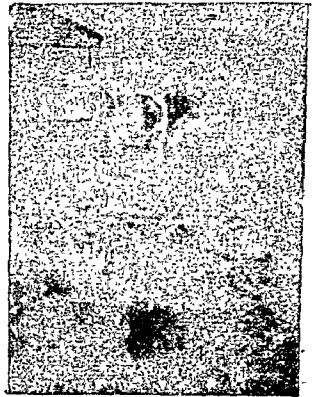
कमरों में न रखा जाए। दूध पिलाने के बाद, आधा से एक घंटे तक उन्हें अलग-अलग बाँधकर इस आदत को आंशिक रूप से कंट्रोल किया जा सकता है। परिचारिका-गाय पर पाले गए बछड़े एक दूसरे का थन नहीं चचोरते। वैसे प्रायः ऐसा विश्वास किया जाता है कि बछियों को संदूषित दूध पिलाने से उनके अयन में थनैली की छूत पहुँच जाती है, किन्तु प्रयोगात्मक रूप से ऐसा दूध पिलाकर इसे उत्पन्न न किया जा सका।

खरीदे हुए पशु—बहुधा उन यूथों में थनैली अधिक होती है जहाँ नए खरीदे हुए पशु अधिक रखे जाते हैं। दूध न देने वाले खरीदे गए पशुओं में से 50 प्रतिशत या अधिक पशु अगले आने वाले ब्यांत में रोग-ग्रसित सिद्ध हो सकते हैं। इस तथ्य को निम्न दो प्रकार

से समझाया जा सकता है : पहला यह कि सूखी गाय के अयन में जब तक बहुत ही अधिक कड़ापन नहीं है तब तक शोथयुक्त परिवर्तनों को आसानी से नहीं पहचाना जा सकता, और दूसरे, अनुभवी डेरी पुरुष यह जानते हैं कि थनैली के एक आक्रमण के बाद, बीमारी या तो बार-बार होती है या स्थायी रूप से हो जाती है, यहाँ तक कि उग्र लक्षण अदृश्य हो सकते है और इसी ग्रूप की गायों को दूसरों के हाथ बेचा जाता है।

(ब) अस्वस्थ दोहन तथा गंदी पशुशाला एवं अयन पर लगी हुई चोटें या तो स्वयं ही थनैली का कारण बनती हैं या इसकी छूत को और अधिक फैलाती है।

अयन में चोटें; पशुशाला के गलत निर्माण, काँटा छिदने अथवा बछियों में परस्पर थन चसने से लग सकती हैं। बहुत ही छोटी, संकीर्ण, बिना विभाजन वाली अथवा फिसलन-

चित्र—102. बाईं ओर : पशु बाँधने के लिए सकरा स्थान है। दाईं ओर : पशु बाँधने के लिए समुचित चौड़ाई। बड़ी गायों के बाँधने के लिए कम स्थान। चलने-फिरने की स्वतन्त्रता से अयन या तो बैठने वाले प्लेटफार्म के किनारे पर लटक जाता है अथवा मल-मूत्र नाली तक पहुँच जाता है।
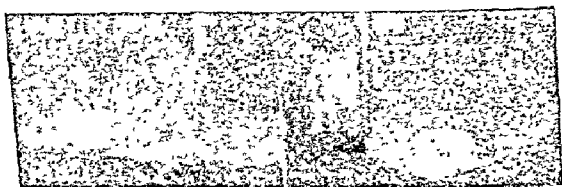
दार पशुशाला में पशु को बाँधना चोटों का प्रमुख कारण बनता है। एक ही कतार में छोटी बड़ी गायों को बाँधना तथा जर्सी गायों के लिए बनी पशुशाला में हौलसटिन नस्ल की गायों को बाँधने की सामान्य प्रथा है। कभी-कभी पशुशाला अधिक संकीर्ण तथा छोटी हो सकती है। इन परिस्थितियों में पशु को चोट लग जाती है तथा फर्श भी संदूषित हो जाता है। काँटा छिद जाने अथवा सींग लग जाने या दूसरी गायों के खुरों से अयन के कुचल जाने पर कभी-कभी उसमें काफी चोट लग जाती है। सभी सावधानियों को ध्यान में रखने के बाद भी ऐसी चोटें पशुओं को अक्सर लगा करती हैं। पशुशाला में घुसते समय उसके दरवाजे के पास ऊँचा पत्थर पड़ा होने पर अयन में चोट लगकर यूथ में थनैली का प्रकोप होते देखा गया है। ऐसी ही दशा मशीन से दोहन करने वाले यूथों में प्यालों को काफी समय तक थनों में लगाए रहने अथवा उच्च शून्यक (high vaccum) पर दोहन करने से उत्पन्न हो सकती है। पशु-चिकित्सकों द्वारा दैनिक निरीक्षित यूथों में ऐसा अनुमान किया जाता है कि यूथ में से थनैली से पीड़ित पशुओं को निकाल देने के बाद नए रोग-ग्रसित पशुओं में 85 प्रतिशत रोगी अयन अथवा थनों में लगी हुई चोटों के कारण होते हैं। जहाँ रोग का संक्रमण अधिक होता है वहाँ भी नए रोगियों की अधिकांश प्रतिशत चोट लगकर ही प्रारम्भ होती है और ऐसे थनों में चोट लगने के परिणामस्वरूप थनैली हुआ करती है। एक चोट जो

थन-नली को संलग्न नहीं करती वह भी थनैली रोग के लक्षण उत्पन्न कर सकती है तथा ऐसे थन से प्राप्त दूध असामान्य होने पर भी प्रयोगशाला-परीक्षणों पर संक्रमण प्रदर्शित नहीं करता।

बिछावन—साधारण परिस्थितियों में थनैली उन यूथों में अधिक प्रकोप करती देखी जाती है जहाँ गायों को समुचित बिछावन नहीं मिलता, क्योंकि इससे अयन में ठंड ,नमी तथा गन्दगी लगने का अधिक भय रहता है।

दोहन—प्रायः ऐसा देखा गया है कि जहाँ मशीन से दूध निकाला जाता है वहाँ यही मशीनें इस रोग की छूत फैलाती हैं। भली-भाँति सफाई तथा जीवाणुरहित न करने पर दोहन-मशीनें लगातार अपने में जीवाणु छिपाए रहती हैं और जिन यूथों में इनका प्रयोग किया जाता है वहाँ की रोग-ग्रसित गायों में इसका संक्रमण हस्त-दोहन की अपेक्षाकृत बगैर दिखा ही रह जाता है। पारा के 12 से 15 इंच ऊपर दोहन-मशीन के उच्च शून्यक पर अयन में चोट लगकर पशु को थनैली हो जाती है। एक यूथ में 18 इंच के शून्यक पर दोहन-मशीन के प्रयोग करने के परिणामस्वरूप गायों को थनैली हो गई, जिसमें अधिकांश गायों का दूध "छीछड़ेयुक्त" हो गया। संक्रमण काफी कम था तथा दबाव कम करने पर अयन की हालत में शीघ्र ही सुधार हुआ। अपूर्ण अथवा अनियमित दोहन, विशेषकर उन गायों में जिनको पहले से ही इस रोग का कुछ संक्रमण होता है, हानिकारक है। ग्वाला किसी थन से पूरा दूध निकालने में असफल हो सकता है जैसा कि उसके द्वारा दुही गई प्रत्येक गाय के उसी थन में तन्तुमयता होने से प्रतीत होता है। एक अधिक दूध देने वाली गाय एक "धीमी दोहक" हो सकती है तथा उच्च अभिलेख प्रदर्शित करने के बाद अपूर्ण-दोहन द्वारा उसको अयन के रोग हो सकते हैं। थन अथवा दुग्ध-कुंड में रुकावट पड़ने के परिणामस्वरूप भी थनैली विकसित हो सकती है। अतः पूर्ण दूध निकालने के लिए सावधानी तथा धैर्य की आवश्यकता पड़ती है। जब दोहन के लिए अयन की विशेष देख-रेख की आवश्यकता पड़ती है तो ग्वाले को बदल देने से थनैली का उग्र आक्रमण हो सकता है।

दोहन की निम्नलिखित परिस्थितियाँ थनैली के विकास को उत्तेजित करती हैं: अँगूठा अथवा चुटकी विधि से गो-दोहन करने पर थन को आघात पहुँचना। गीला-दोहन करना (wet milking) दूध के गुण तथा गाय के अयन के प्रति इतना बड़ा अपराध है कि ऐसा करने वाले ग्वाले को पशुशाला से निकाल देना चाहिए। फर्श पर दोहन दो प्रकार से किया जाता है: या तो बुरी तरह रोग-ग्रसित अयन से जब दूध निकाल कर फेंकना होता है अथवा जब ग्वाला बाल्टी में दूध दुहने में असावधानी बरतता है। रोग-ग्रसित थनों से दूध न निकालने से इस रोग का और भी भयंकर आक्रमण होता है। प्रत्यक्ष रूप से सामान्य दिखाई देने वाला दूध तो नियमित रूप से दुह लिया जाता है किन्तु, रोग-ग्रसित थन का पीवयुक्त स्राव ग्वाले द्वारा बाहर न निकाल कर अयन में ही छोड़ दिया जाता है। उग्र थनैली में ऐसा करना गाय तथा दूध पीने वाले बछड़े दोनों के लिए खतरनाक है। ग्वालों द्वारा दोहन-नलिकाओं तथा विस्फारकों (milking tubes and dilators) का प्रयोग या तो स्वस्थ पशुओं में इसकी छूत फैलाता है अथवा पहले से मौजूद संक्रमण को और भी अधिक बढ़ा देता है। उग्र थनैली में अयन से सारा दूध निकालने के लिए बछड़ों के साथ दोहन

करने का आम रिवाज है जिसमें एक गाय से दो या तीन बछड़ों को दूध पिलाया जाता है। "प्राकृतिक" ढंग से बछड़ा-पालन के लिए भी यही विधि अपनाई जाती है। वैसे तो यह देखा गया है कि बछड़ों को थन से दूध पिलाने पर अधिक दूध देने वाली गायों का अयन सख्त हो जाता है किन्तु, प्रति 10 पौण्ड दूध उत्पादन हेतु एक बच्चा पिलाने से ऐसा होने से बचाया जा सकता है। जहाँ .बछड़ा-पालन हेतु इस ढंग से परिचारिका गायों का प्रयोग किया जाता है, उनके अयन में इस प्रकार बहुत ही कम दूध इकट्ठा होता है। अतः रोग की छूत यदि मौजूद होती है तो भी कम हो जाती है तथा दूसरे आने वाले ब्यांत में थनैली में काफी सुधार हो जाता है। परिचारिका-गाय पर पाले गए बछड़े माँ का थन छुड़ाने के पहले अथवा बाद में एक दूसरे का थन भी नहीं चचोरते। जब कोई बछिया दूध पीने के बाद अपने साथी का थन चूसने लगती है तो भी कभी-कभी इस रोग की छूत लग जाती है। प्रायः इस संक्रमण को पहली बार ब्याने वाली बछियों में प्रसव के समय अयन पर बुरी तरह फोड़ों के निर्माण से पहचाना जाता है। अयन को धोकर गीला ही छोड़ देना अथवा पशु को ठंडी पशुशाला में रखना जहाँ उसमें ठंड तथा थपेड़ेदार हवा लग सकती हो, थनैली के विकास को प्रोत्साहन देता है। साथ ही बिना जीवाणुरहित किए कपड़े का अनेक गायों के अयन पोंछने के लिए एक के बाद एक पर प्रयोग करने से सबको इस बीमारी की छूत लग सकती है।

दुग्ध-काल (Lactation period)—दुग्ध-काल का प्रारम्भ एवं अंत होते समय अयन पर काफी जोर पड़ता है और ऐसे समय में अयन में मौजूद थोड़ा सा संक्रमण भी सक्रिय हो सकता है। ऐसे समय में अयन की विशेष देखभाल करने की आवश्यकता पड़ती है जो बड़ी डेरी यूथों में दैनिक दोहन के समय प्रायः बिना ध्यान दिए ही रह जाते हैं। गाय जब दूध सुखा रही हो तो उसे दाने के स्थान पर सूखी घास खिलानी चाहिए। यदि दूध का बहाव कम न होता हो तो उसे पानी की मात्रा कम करके नित्य केवल एक ही बाल्टी पानी पिलाना चाहिए। कभी-कभी बिल्कुल ही दूध न निकालना चाहिए। गाय सुखाने के लिए नित्य एक बार अथवा प्रति दूसरे दिन एक बार दूध निकालने का प्रायः आम रिवाज है। जितना दूध गाय के अयन में मौजूद हो, दोहन के समय वह पूरा ही निकाल लेना चाहिए और जब दूध दुहना बन्द हो जाए तो कभी-कभी इस बात का निरीक्षण करना चाहिए कि वह पुनः तो दूध में नहीं आ जाती है। थनैला का अधिक प्रकोप होने पर बिना उग्र सक्रियता के अयन को सुखाना असम्भव सा हो जाता है। ऐसी गायों का दूध थोड़ा-थोड़ा करके लगातार निकालते रहना चाहिए। ब्याने के तत्काल बाद पूरा दूध न निकालने पर भी अयन को क्षति पहुँच सकती है। जब दूध निकालना बछड़े पर ही छोड़ दिया जाता है और वह सामान्य रूप से दूध पीने के लिए काफी कमजोर सिद्ध होता है तो अयन में अधिक दूध भरा रह जाने से वहाँ अति उग्र सूजन उत्पन्न हो सकती है। ऐसी ही क्षति तब देखी जाती है जब प्रदर्शनी आदि में भाग लेने वाली ताजी ब्याई हुई गायों का अयन बिना दुहा हुआ ही छोड़ दिया जाता है। गायों के सूखे रहने की अवधि में अयन में पीव मौजूद होने से भयंकर क्षति हो सकती है जबकि सूजन तथा मवाद धीरे-धीरे बढ़ता जाता है। गाय को सुखाते समय उसका दुहना बन्द करने के कई दिनों बाद अयन एवं उससे निकलने वाले स्राव का निरीक्षण करके इस परिस्थिति से बचाया जा सकता है। यदि पीव मौजूद मिले तो गाय का दुहना पुनः शुरू

कर देना चाहिए। जिन यूथों में अयन का मासिक परीक्षण किया जाता है उनमें सूखी गायों को भी शामिल कर लेना चाहिए।

यूथ का आकार—समुचित देख-भाल का अभाव तथा व्यक्तिगत पशु पर कम ध्यान दे पाने के कारण बड़ी यूथों में थनैली का प्रकोप अधिक देखा जाता है।

अधिक प्रोटीन युक्त राशन—लोगों का ऐसा विश्वास है कि अधिक प्रोटीन युक्त राशन थनैली उत्पन्न करता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि ऐसी खुराक पहले से मौजूद
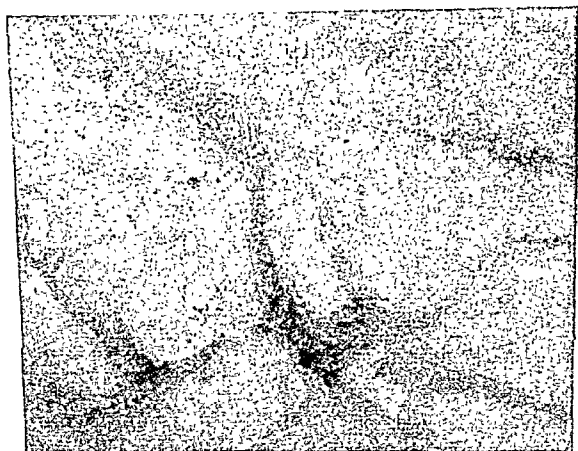
चित्र—103. बाईं ओर, नॉर्मल थन-रन्ध्र; दाईं ओर, थोड़ा विस्फारण (स्पष्ट थन-रन्ध्र)।

थनैली को और भी अधिक बढ़ा देती है किन्तु, इस बात में संदेह है कि अधिक खिलाने से सामान्य अयन पर भी कोई कुप्रभाव पड़ता है। इस बात पर विचार करने की आवश्यकता है कि लगभग प्रत्येक यूथ में कुछ पशु निम्न कोटि की थनैली से रोग-ग्रसित होते हैं। उन्हें कुछ अधिक प्रोटीन युक्त राशन मिलने पर यह बीमारी जोर पकड़ लेती है। जब निम्न कोटि की थनैली से पीड़ित गायों के एक समूह को 12 प्रतिशत दाना दिया जाता है तो ऐसी खुराक के परिणाम शीघ्र देखे जा सकते हैं। जैसा कि स्ट्रिप-कप से देखने से पता लगता है, ऐसी गायों के दूध में फुटकों तथा छीछड़ों की कमी होकर उसके गुण में काफी सुधार हो जाता है।

सहलग्नी रोग—प्रोसकोल्ट[9] तथा अन्य के सिद्धान्तों के अनुसार गर्भपात संक्रमण "धीरे-धीरे विकास करने वाले स्ट्रेप्टोकोकाइ जीवाणुओं" से लड़ता मालूम देता है और अभी हाल

में ही कुछ लेखक यह कह चुके हैं कि इस बीमारी के साथ अयन में बैंग बैसिलस की उपस्थिति उससे दूध का बहाव और भी कम कर देती है। चिकित्सकों के अनुसार गर्भाशय के उग्र तथा भयंकर रोगों एवं अयन की सूजन के बीच एक विशिष्ट सम्बन्ध होता है। कभी-कभी थनैला रोग सेप्टिक गर्भाशयशोथ के साथ होते देखा जाता है किन्तु, हमें इस अवस्था के जीवाणु विज्ञान सम्बन्धी अध्ययन का कहीं भी अभिलेख नहीं मिला। आमतौर पर थनैली तथा गर्भपात के कंट्रोल के मध्य कोई सम्बन्ध नहीं होता है। वैसे तो अयन पर बैंग बैसिलस निवास किया करता है किन्तु इस बात का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है कि यह जीवाणु भी थनैली का परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप से कारण हो सकता है। गो-मसूरी के प्रकोप में यदि थनों के सिरों पर छाले पड़ जाते हैं तो इनसे भी पशु को तीव्र थनैला हो सकती है।
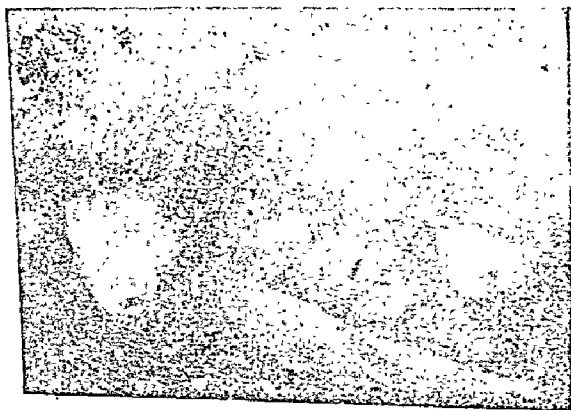
चित्र—104. थन-अपरदन : बाईं ओर, स्पष्ट एवं खुला हुआ थन-रन्ध्र; दाईं ओर स्पष्ट, बन्द तथा प्रफली थन-रन्ध्र। (एस० डी० जान्सन के सौजन्य से प्राप्त फोटोग्राफ)

आयु—प्रायः ऐसा देखा जाता है कि यह बीमारी अधिक आयु वाली गायों में बहुत होती है। अधिक उत्पादक कुछ वृद्ध गायों का अयन तन्तुमयता से बिल्कुल ही रहित हो सकता है। जब किसी बुरी तरह रोग-ग्रसित यूथ में वृद्ध तथा युवा पशु एक ही साथ रखे जाते हैं तो इसका संक्रमण युवा समूह में कम पाया जाता है। केवल आयु के प्रभाव से ही पशु को थनैली नहीं हो सकती। कंट्रोल प्रोग्राम के अन्तर्गत यूथों में वृद्ध तथा युवा दोनों ही प्रकार के पशुओं के अयन स्वस्थ हो सकते हैं, किन्तु जहाँ थनैलो मौजूद होती है वहाँ प्रतिवर्ष इसका संक्रमण बढ़ता जाता है।

स्पष्ट थन रन्ध्र—थन-नली का कम खुला होना या तो जन्मजात होता है अथवा ऐसा थन में चोट लगने से हो सकता है। वैसे तो दोनो में विभिन्नता की कोई विशिष्ट सीमा निर्धारित नहीं है किन्तु, यह शब्द "आसानी से दूध निकालने वाली" गायों की अपेक्षाकृत अधिक सकीर्ण थन-नली वाले पशुओं के लिए प्रयुक्त होता है। ऐसा देखा गया है कि थन नली के सकीर्ण होने पर रोग का संक्रमण धीरे-धीरे प्रवेश पाता है। जिन गायों की थन-नली इतनी बडी होती है कि थोड़ा सा थन छूने पर ही उसमें से दूध निकलने लगता है, उनमें रोग का जीवाणु आसानी से प्रवेश पाकर दीर्घकालिक थनैली उत्पन्न करता है। ऐसे पशुओं में सक्रमण के प्रकार में भिन्नता होती है। बहुधा इसमें स्टैफिलोकाक्कस जीवाणु होता है और दूध के भिन्न नमूनों में यह भिन्न-भिन्न हो सकता है।

थन का कट जाना—इसके अन्तर्गत थन के सिरे पर थन-नली तक दोहन मशीन द्वारा लगी हुई चोटें आती है। थन के निचले सिरे पर चोट लगकर थन-नली के छिद्र का बड़ा हो जाना और इसके चारो ओर सफेद छल्ला सा पड़ जाना अक्सर होने वाला क्षतस्थल है। इस क्षतस्थल के किनारे पर मस्से की भांति छोटे-छोटे तथा खुरदरे दाने से दिखाई पड़ते है जिन्हें हाथ फेरकर आसानी से महसूस किया जा सकता है। कुछ रोगियों में ये दाने थन-नली में रुकावट डाल देते हैं तथा थन के सिरे पर फटकर घाव का रूप धारण कर लेते हैं। थन कटे हुए लगभग सभी रोगियों में थन का सिरा लाल प्रतीत होता है जो थन पकड़ने पर और भी स्पष्ट दिखाई देता है। कभी-कभी कुछ पशुओं में थन-नली का छिद्र सकीर्ण तथा खुला हुआ होता है। कभी-कभी यह बिल्कुल ही बंद हो जाता है तथा यदा-कदा थन-नली और अयन भी क्षतिग्रस्त हो सकते हैं। दोहन-मशीन का प्रयोग करने के बाद कुछ ही दिनों में इन क्षतस्थलों का विकास होने लगता है और गाय का दूध सूख जाने पर ये प्राय. गायब हो जाते है। दोहन के लिए जहाँ 15 इंच का उच्च शून्यक प्रयोग होता है वहाँ ऐसे क्षतस्थल अधिक होते है किन्तु, निम्न शून्यक पर ये कम होते प्रतीत होते हैं। कुछ यूथों में उच्च शून्यक पर भी थनों में कटाव नही होता। काफी समय तक मशीन के प्यालों को थन पर लगा हुआ छोड़ देने से अयन की दशा और भी खराब हो जाती है। जो गायें ऐसे भयानक क्षतस्थलों से रोग-ग्रसित होती हैं उनका हाथ अथवा दोहन-नली से दूध निकालना पड़ता है। थन के कटाव का थैनली से क्या संबंध है, इसका कोई निश्चित प्रमाण उपलब्ध नही है। फिर भी, ऐसा अनुमान किया जाता है कि यह परिवर्तन प्रायः ब्रोमथाइमोल-नील प्रतिक्रिया तथा विभिन्न अशों की दीर्घकालिक स्टैफिलोकाक्कस थैनली से सबंधित हैं। वह ढग जिससे दोहन मशीन का प्याला थन को चोट पहुँचाता है, एस्प[10] द्वारा वर्णन किया गया है। दोहन-प्याले के क्षेत्र तथा दवाव के अश को मशीन के चलते समय प्याले में अँगूठा घुसेड़कर अनुभव किया जा सकता है तथा विभिन्न प्रकार की मशीनों का क्या प्रभाव पड़ता है, इस पर अभी अनुसंधान होना है।

जीवणु-विज्ञान—स्ट्रेप्टोकाक्कस एगैलैक्शिए (mastitidis) लैंसफील्ड ग्रूप बी, जैसा नाम अब विशुद्ध संवर्धन में अलग किए तथा सन् 1880 में नोकार्ड[2] एवं अन्य लोगों द्वारा वर्णित स्ट्रेप्टोकाक्कस जीवाणुओं को लागू होता है। दारमन[11] लिखते हैं कि इसकी सविशिष्ट पहचान ऐयर्स और उनके साथियों द्वारा किए गए सन् 1918–1922 तक के कार्य से संबद्ध

है। जैसा कि (पृष्ठ 27 पर) शरमन[11] द्वारा वर्णन किया गया है "इन अन्वेषणताओं ने मानव संक्रमण के रुधिर-सलायी स्ट्रेप्टोकाकाइ से थनैली के स्ट्रेप्टोकाक्कस का विभेदन करने में ग्लूकोज घोल में निम्न पी-एच० उत्पादन, सीमित तथा विभिन्न रुधिर सलायी शक्ति, और सोडियम हिप्युरेट का जल-विश्लेपित (hydrolyse) करने की क्षमता का समन्वय किया. . अपने विशिष्ट गुणों के कारण सोडियम हिप्युरेट-प्रतिक्रिया जीवाणु-विज्ञान में एक अद्भुत विभेदी परीक्षण रही है दूसरा गुण जो थनैली के जीवाणु को अन्य रुधिरसलायी स्ट्रेप्टोकोकाइ से अलग रखता है इसकी स्वक्युलिन (एक खाद्य-पदार्थ) पर आक्रमण करने की पूर्ण अयोग्यता है। शाम[9] के अनुसार, 'यह जीवाणु टिसुओं पर आक्रमण नहीं करता, तथा स्रविक कोशिकाओं पर इसका प्रभाव दूध में एक क्षोभक पदार्थ बनने के कारण होता है।" लैंसफील्ड के योगदान पर शरमन[11] ने यह लिखा (पृष्ठ 13) कि "स्ट्रेप्टोकोकाइ के वर्गीकरण के ढंग के लिए सबसे बड़ा योगदान लैंसफील्ड (1933) की सीरमीय विधि (serological technique) है जो एक अवक्षेपी प्रतिक्रिया द्वारा रुधिर सलायी स्ट्रेप्टोकाकाइ को विभिन्न समूहों में विभाजित कर देती है । वैज्ञानिक तथा प्रयोगात्मक परिणामों के आधार पर केवल एक मनुष्य द्वारा किए गए लैंसफील्ड कार्य को आधुनिक जीवाणु विज्ञान में सर्वोच्च स्थान दिया गया है।"

शब्द 'रुधिर सलायी स्ट्रेप्टोकाक्कस' जैसा कि थनैली के सम्बन्ध में प्रयोग किया जाता है अक्सर भ्रमात्मक सिद्ध होता है। एक बीटा-रुधिर-सलायी स्ट्रेप्टोकाक्कस (स्ट्रेप्टोकाक्कस एगैलेक्शिए), लैंसफील्ड ग्रूप बी होता है जो केवल गायों में ही थनैली उत्पन्न करता है तथा बीटा रुधिर सलायी स्ट्रेप्टोकाक्कस (स्ट्रे०पायोजिनस), लैंसफील्ड ग्रूप ए मनुष्यों में सेप्टिक गलदाह (septic sore throat) का कारण बनता है। कभी-कभी स्ट्रेप्टोकाक्कस पायोजिनस जीवाणु मनुष्य से गाय के अयन में पहुँचकर थनैला रोग उत्पन्न करते हैं। ऐसा दूध पीने से मनुष्यों के गले में छाले पड़ जाते हैं। किन्तु प्रत्यक्ष रूप से यह संक्रमण एक पशु से दूसरे को नहीं लगता। यदि दुग्ध वाहक स्वयं ही स्ट्रे० पायोजिनस को अपने शरीर में छुपाए हुए हैं तो वे जीवाणु सीधे ही दूध में मिलकर उसे संदूषित कर सकते हैं।

रक्त ऐगर प्लेटों पर प्रदर्शित वृद्धि एवं विकास के अनुसार स्ट्रे०एगैलेक्शिए की निम्नलिखित तीन प्रकारें पहचानी गई हैं अरुधिर-सलायी समूह, संकीर्ण क्षेत्र वाले रुधिर-सलायी समूह (चित्र 105), तथा विस्तीर्ण क्षेत्र वाले रुधिर-सलायी समूह (चित्र 106)[26] पृष्ठ 160। रोग-ग्रसित यूथ में इनमें से कोई न कोई प्रजाति प्रधान होती है और कभी-कभी यूथ के दूध के नमूने में केवल एक ही प्रजाति पाई जाती है। अरुधिर-सलायी अथवा हरी कालोनी बनाने वाले जीवाणु कभी कभी तथा संकीर्ण क्षेत्र बनाने वाले जीवाणु अधिकतर मौजूद रहते हैं। इस प्रकार एक यूथ में किसी विशिष्ट प्रजाति की अधिकता संपर्क द्वारा इसके फैलने, यूथ में स्थायी रूप से रहने के लिए अयन पर आश्रित होने, तथा रोग ग्रसित अयन वाली गाय द्वारा इसके प्रवेश करने का प्रमाण है। स्ट्रे० एगैलेक्शिए की विभिन्न प्रजातियों में से अरुधिर सलायी प्रकार कम शक्तिशाली मालूम देती है।

दीर्घकालिक थनैली में स्ट्रे० एगैलेक्शिए का प्रमुख संक्रमण होते देखा गया है[25] और बहुत से लोग इन यूथों में अब भी इसी को प्रमुख संक्रमण मानते हैं जहाँ नियंत्रण के

विशिष्ट उपाय नहीं लागू किए गए हैं। इसके ऐतिहासिक प्रकोप ने इसे अयन का एक विशिष्ट संक्रामक रोग सिद्ध कर दिया है। जहाँ अयन की चिकित्सा में प्रतिजैविक पदार्थों अथवा अन्य जीवाणुनाशक औषधियों का प्रयोग किया जाता है वहाँ स्ट्रेप्टोकाक्कस एगैलैक्शिए तो शीघ्र नष्ट हो जाता है किन्तु अन्य किस्में, विशेषकर स्टैफिलोकोकाइ, प्रकोप करती रहती हैं। स्ट्रे० एगैलैक्शिए अयन में बिना थनैली उत्पन्न किए ही मौजूद रह सकता है अथवा ऐसे कहे जाने वाले निवास-स्थलों में रोगजनक अवस्था उपस्थित होते हुए भी अज्ञात ही रह सकती है। इस तथ्य पर अनेकों वाद-विवाद हो चुके हैं। ऐसे अनेक उदाहरण मिले हैं जहाँ गायों से प्राप्त दूध के नमूनों का प्रयोगशाला-परीक्षण करने पर स्ट्रे० एगैलैक्शिए जीवाणु प्राप्त हुए किन्तु, अनुभवी चिकित्सकों द्वारा देखे जाने पर पशुओं में थनैली के कोई भी लक्षण न मिले। लेखक के अनुभव के अनुसार जब दूध के नमूनों से प्राप्त इस जीवाणु की "परिमित तथा परिवर्ती रुधिर सलायी शक्ति" को अरुधिर संलायी, अथवा संकीर्ण क्षेत्रीय अथवा विस्तीर्ण क्षेत्रीय रुधिर संलायी जाना गया तो यह संदेह होने लगा कि रुधिर संलायी प्रजातियाँ अरोगोत्पादक (nonpathogenic) हो सकती हैं। जब तक इस विषय पर और अधिक जानकारी प्राप्त नहीं हो जाती तब तक इस प्रश्न का कोई भी उत्तर नहीं दिया जा सकता।

निवास स्थल—स्ट्रे० एगैलैक्शिए का प्रमुख निवास-स्थल रोग-ग्रसित अयन है और इनकी संख्या क्षतस्थल के प्रकार पर निर्भर होती है। सामान्य गायों में भी अक्सर इनकी उपस्थिति देखी गई है। इस विचार की सन् 1885 में किट[4] द्वारा तथा सन् 1932 में सीलमन[5] द्वारा अवहेलना की गई। जिन पुराने अधिकारियों को भौतिक निदान तथा स्वस्थ एवं रोग-ग्रसित अयन में विभेदी-निदान करने का प्रशिक्षण दिया गया था उनमें से किसी ने यह नहीं बताया कि अयन के अन्दर सामान्य दूध में भी यह संक्रमण मौजूद रह सकता है। लेखक के अनुभव के अनुसार बुरी तरह रोग-ग्रसित यूथों में, जहाँ एक तिहाई से लेकर आधी गायों को यह रोग हो चुका हो, किसी-किसी ऐसी गाय के दूध में भी यदा-कदा स्ट्रे० एगैलैक्शिए पाया गया जिसका अयन भौतिक परीक्षण करने पर नार्मल था। जहाँ संक्रमण बहुत अधिक होता है वहाँ इसे कभी-कभी उद्भवन काल में ही जाना जा सकता है। किन्तु, इस बात का निश्चय नहीं हो सकता कि ऐसे पशुओं को थनैली होगी क्योंकि दैनिक जाँच करने वाली गायों में कभी-कभी एकाएक संक्रमण-अदृश्य होते भी देखा गया है। इस बात पर मतभेद होने को संभवतः अयन के परीक्षणों में विस्तृत विभिन्नता होने के आधार पर समझाया जा सकता है। ग्वाले के यह कहने पर कि अयन सामान्य है, अथवा अयन का भली-भाँति परीक्षण न करने, अथवा ऐसे मनुष्य द्वारा अयन का परीक्षण किया जाना जिसे उसके थपथपाने का पूरा अनुभव ही न हो, ऐसे आधारों पर आधारित निष्कर्ष विश्वसनीय नहीं होते। क्षतस्थलों के बढ़ जाने पर थनैली के जीवाणु लगातार दूध के साथ बाहर निकलते रहते हैं। कुछ पशुओं में ऐसा रुक-रुक कर हो सकता है तथा कभी-कभी अति रोग-ग्रसित थन से प्राप्त दूध भी सप्ताहों तक रक्त-ऐगर प्लेटों पर स्ट्रेप्टोकोकाइ प्रदर्शित नहीं करता। एक ही पशु के विभिन्न दुग्धकालों में इसका बहाव भी भिन्न-भिन्न हो सकता है।

बहुत से लोग थोड़े से संक्रमणित अयन को इसकी छूत का प्रमुख स्रोत मानते हैं और इस बात से सहमत नहीं हैं कि अति रोग-ग्रसित अयन इसकी छूत अधिक फैलाता है। इस विचार के अनुसार लक्षण देखकर रोग का निदान करना जैसा कि नोकार्ड, बैंग तथा अन्य लोगों द्वारा प्रयोग किया गया है, अपर्याप्त है। अत दूध का जीवाणु-परीक्षण भी करना चाहिए। एडवर्ड्स[12] ने इस विचार को निम्न प्रकार प्रकट किया : "इस बीमारी पर प्रगाढ अध्ययन द्वारा यह मान लिया गया है कि संक्रमणित पशुओं में से अधिकांश पशु
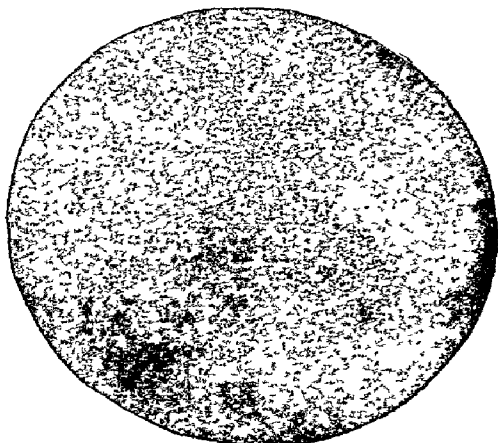
चित्र—105 स्ट्रेप्टोकोकस एगैलैक्टिआए का संकीर्ण-क्षेत्र रक्तसंलयन।

रोग की छुपी हुई अवस्था से ग्रसित होते हैं और इसके कंट्रोल में सबसे प्रमुख समस्या यह है कि ऐसे पशुओं का किस प्रकार पता लगाया जाए।" यह विचार उस तथ्य का कुछ विकसित स्वरूप है जिसमें यह बताया गया था कि नार्मल अयन भी स्ट्रे० एगैलैक्टिआए का निवास स्थल हो सकता है। इस प्रकार "गुप्त" कहलाने वाले थनैला रोग के अधिकांश रोगी अयन का भली-भांति परीक्षण न कर पाने के कारण होते हैं।

स्ट्रे० एगैलैक्टिआए का अयन में उपस्थित अन्य जीवाणुओं से संबंध परिवर्तनशील होता है। दैनिक परीक्षण की जाने वाली कुछ यूथों में ऐसा देखा गया कि उन थनों से काफी बड़ी संख्या में स्टैफिलोकोकाइ प्राप्त किए गए जिनसे बाद में केवल स्ट्रेप्टोकोकाइ जीवाणु ही निकले। हल्की आक्रमणित यूथा में अथवा थनैली के कंट्रोल करने के ढंग के अन्तर्गत स्ट्रे० एगैलैक्टिआए की प्रतिशत अपक्षाइत कुछ कम रही है जबकि स्टैफिलोकोकाइ तथा अन्य प्रकार की थनैली की स्ट्रेप्टोकोकाइ काफी अधिक रही है। कंट्रोल प्रोग्राम के प्रभाव के अन्तर्गत

एगैलैक्टिए धीरे-धीरे अदृश्य हो जाता है तथा बाद वाले संक्रमणों की बढ़ती हुई प्रतिशत में स्टैफिलोकोकाइ अथवा अन्य प्रकार के स्ट्रेप्टोकोकाइ जीवाणु होते हैं—यह वे जीवाणु हैं जो वातावरण तथा पशु के रहने के स्थान में लगातार मौजूद रहते हैं। स्ट्रे० एगैलैक्टिए से संक्रमणित यूथ में यह जीवाणु अयन के बाहर पनपने की भी क्षमता रखता है और जहाँ थन का मवाद फर्श पर ही दुह दिया जाता है उन स्थानों में इसका संक्रमण अधिक होता है। शरीर के बाहर यह कितने दिनों तक जीवित रह सकता है इसके बारे में बहुत ही कम ज्ञान प्राप्त है, किन्तु इस प्रकार यह अधिक दिनो तक स्थायी नही रहता। इस विचार को इस अवलोकन से और अधिक समर्थन प्राप्त है कि जहाँ स्ट्रे० एगैलैक्टिए का हल्का संक्रमण होता है वहाँ चोटों से उत्पन्न थनैली में कुछ अन्य प्रकार का संदूषण भी मिलता है। जहाँ
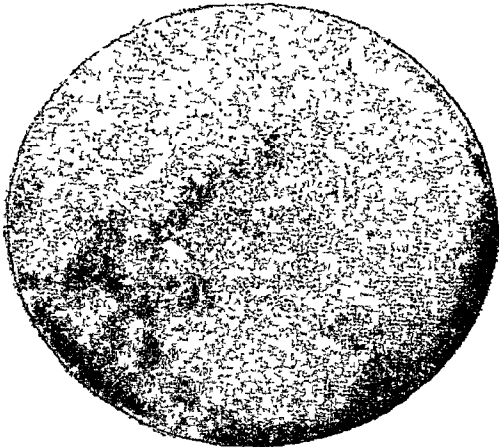
चित्र—106 स्ट्रेप्टोकोकस एगैलैक्टिए का विस्तीर्ण क्षेत्र रक्तसलयन।

से स्ट्रे० एगैलैक्टिए निकाल दिया गया है वहाँ यह थनो में लगी हुई चोटो में नही पाया जाता। स्ट्रेप्टोकाक्किक तथा स्टैफिलोकाक्किक थनैली जैसे शब्दो का लगभग संसार भर में प्रयोग होता है और जीवाणु-वैज्ञानिको द्वारा भी यह राय दी गई है कि थनैली शब्द को संक्रमणित जीवाणु के नाम से बदल देना चाहिए। फिर भी, थनैली से ग्रसित गाय के जीवन भर के उत्पादन का किया गया सर्वेक्षण दूध के किसी एक नमूने में अयन की विभिन्न ग्रंथियो में उपस्थित जीवाणुओ, तथा एक ही थन से प्राप्त विभिन्न ब्यांतो अथवा एक ही दुग्ध-काल के दूध में उपस्थित जीवाणुओं में विभिन्नता प्रदर्शित करता है। वैसे तो कुछ ऐसे रोगी भी हो सकते है जिनके अयन में एक ही प्रकार का जीवाणु बहुत दिनो तक मौजूद

रहता है किन्तु, सैकड़ों गायों की लेखक द्वारा एकत्र की गई पूर्ण जीवन काल की प्रयोगशाला रिपोर्ट यह प्रदर्शित करती है कि विभिन्नता होना एक नियम है तथा दूध के नमूने के उत्पादन के अनुसार जीवाणु को पहचानना प्रायः मितस्थायी होता है।

बाजार के दूध में थनैली स्ट्रेप्टोकोकाइ कच्चे अथवा पास्चुरीकृत किए गए दूध के लगभग सभी नमूनों में पाई जा सकती है—ब्राउन[13]। शरमन तथा निवेन[14] ने व्यावसायिक दूध के 313, कच्चे दूध के 68, तथा पास्चुरीकृत दूध के 245 नमूनों की जांच की। "स्ट्रेप्टोकाक्कस मैस्टीटाइडिस की विशिष्ट किस्म—रक्त-ऐगर में संकीर्ण क्षेत्र उत्पादक रुधिर-सलायी प्रकारों, पर विचार न किया गया। केवल 8·5 प्रतिशत पास्चुरीकृत दूध के नमूनों में रुधिर-संलायी स्ट्रेप्टोकोकाइ जीवाणु मिले जबकि कच्चे दूध के 18 प्रतिशत नमूनों में विस्तीर्ण क्षेत्र रुधिर-सलायी प्रकार के जीवाणु पाए गए।" इनमें से कोई भी मनुष्यों में पाए जाने वाले "लैंसफील्ड के" ए ग्रुप के जीवाणु न थे। कच्चे दूध में पाए जाने वाले रुधिर संलायी स्ट्रेप्टोकोकाइ, स्ट्रे॰ एगैलैक्टिआए जीवाणु थे। इन रिपोर्टों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि लगभग सभी प्रकार के दूध में ऐसे रुधिर-सलायी स्ट्रेप्टोकोकाइ जीवाणु मौजूद रहते हैं जो मनुष्यों के लिए रोगजनक नहीं होते।

प्रतिरोध (resistance)—इस विषय पर अभी बहुत ही थोड़ा ज्ञान प्राप्त है। सीलमन[15] ने यह पता लगाया कि स्ट्रे॰ एगैलैक्टिआए 85° सेंटिग्रेड (150° फारेनहाइट) के तापक्रम पर जीवित रह जाता है। श्वेताणुओं के मध्य रह कर ये जीवाणु अधिक प्रतिरोधी होते हैं।

स्ट्रे॰ डिस्गैलैक्टिआए और स्ट्रे॰ यूबेरिस को हरी स्ट्रेप्टोकोकाइ कहा जाता है क्योंकि ये जीवाणु रक्त-ऐगर प्लेटों पर अरुधि-संलाइ हरी कालोनी प्रदर्शित करते हैं तथा थन में चोट लगने के बाद प्रायः इन्हीं का सक्रमण अधिक हुआ करता है। फर्गूसन[1] के अनुसार 24 प्रतिशत स्ट्रे॰ एगैलैक्टिआए की तुलना में यह सख्या 38 प्रतिशत होती है। ठीक प्रकार प्रयोग न की गई दोहन—मशीनों से थनों में लगने वाली चोटों तथा गो-मसूरी के प्रकोप के बाद होने वाली थनैली में हरी स्ट्रेप्टोकोकाइ का सक्रमण अधिक होता है। जब दूध के अनेक नमूनों में हरी स्ट्रेप्टोकोकाइ मिलें तो समझना चाहिए कि थन में कहीं चोट लगी है। ऐसी चोट को थननली का मोटा हो जाना, थन-छिद्र का उभर आना तथा थन के सिरे पर गोल-गोल फफोले या लाल क्षेत्र होना आदि लक्षणों से पहचाना जाता है।

हरी स्ट्रेप्टोकोकाइ (स्ट्रे॰ यूबेरिस और डिस्गैलैक्टिआए) पशुशाला में निवास किया करती हैं, जहाँ चोट लगने के बाद अथवा किसी अज्ञात प्रकार से इनका संक्रमण होता है। इस बात का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है कि पशुओं में परोक्ष अथवा अपरोक्ष सपर्क से इनकी छूत फैलती है, किन्तु ऐसा सक्रमण समवतः बुरी तरह रोग-ग्रसित थयन से हो सकता है। ये जीवाणु एक ऐसे प्रकार की थनैली उत्पन्न करते हैं जिसे लक्षणों के आधार पर स्ट्रे॰ एगैलैक्टिआए से होने वाली थनैली से अलग नहीं पहचाना जा सकता। कभी-कभी ऐसा कहा जाता है कि ये जीवाणु केवल रोग का हल्का उग्र प्रकोप उत्पन्न करते हैं जो कुछ दिनों में स्वतः ठीक हो जाता है तथा यह सक्रमण अल्पकालीन होता है। ऐसे बहुत से रोगी देखे गए हैं किन्तु, कभी-कभी इसका उग्र प्रकोप अयन को बिल्कुल ही बेकार कर देता है। जैसा कि

नित्य किए जाने वाले भौतिक तथा प्रयोगशाला परीक्षणों से विदित है हमारे अनुभव के अनुसार थनैली के अधिकाश रोगी दीर्घकालिक होते हैं। कुछ दीर्घकालिक रोगियों में संक्रमण एकाएक गायब हो जाता है तथा बुरी तरह क्षतिग्रस्त अयन अथवा थन ठीक होकर सामान्य हो जाता है। फिर भी, कभी-कभी बुरी तरह क्षतिग्रस्त नं० 4 अयन में केवल स्ट्रे० डिस्गैलेक्शिए अथवा स्ट्रे० यूबेरिस नामक जीवाणु ही पाए जाते हैं।

स्टैफिलोकोकाइ जीवाणु अयन में दीर्घकालिक शोथ उत्पन्न करते हैं। वे रुधिर-संलायी अथवा अरुधिर-संलायी हो सकते हैं। वे अकेले अथवा स्ट्रेप्टोकोकाइ के साथ पाए जाते हैं तथा यूथ में प्रमुख संक्रमण के रूप में मौजूद हो सकते हैं। रक्त-ऐगर प्लेट पर थोड़े स्टैफिलोकोकाइ जीवाणुओं की उपस्थिति का कोई महत्व नहीं है और बहुधा नार्मल अयन पर कुछ समय तक अनेकों स्टैफिलोकोकाइ जीवाणु रह सकते हैं। किन्तु, जब किसी थन से लगातार बहुत से स्टैफिलोकोकाइ निकलते रहते हैं तो उस पशु को किसी अंश तक थनैली हो सकती है। कभी-कभी अति क्षति-ग्रस्त नं० 4 अयन में केवल स्टैफिलोकाक्कस का ही सक्रमण पाया जाता है। काँटा आदि से थन में चोट लगने के बाद उस थन से केवल स्टैफिलोकोकाइ जीवाणु ही प्राप्त होते हैं जो बाद के दो या तीन ब्यात बाद बिल्कुल ही नष्ट हो जाता है। संभवत: दीर्घकालिक थनैली के कारण के रूप में स्टैफिलोकोकाइ के प्रभाव को पूरी तरह नहीं जाना जा सका है। बहुत से रोगियों में अयन के नार्मल से लेकर तन्तुमयता होने तक किए गए दूध के परीक्षण में केवल स्टैफिलोकोकाइ जीवाणु ही रक्त-ऐगर प्लेटों पर प्रकट होते देखे जाते हैं। संभवत: केवल चोटें ही इस संक्रमण का कारण होती हैं। किन्तु, संक्रमण की ग्रहणशीलता में बहुविकसित विभिन्नता होती है और यह सक्रमण किसी भी प्रकार का क्यों न हो, अति-रोग-ग्रसित अयन वाली गाय को दुधारू पशुओं के बीच रखना उचित नहीं है।

आयोवा में थनैली के प्रयोगशाला निदान के 6 वर्षीय अध्ययन से पैकर[27] ने बताया कि दूध के 15,693 नमूनों में संक्रमण के प्रतिशत निम्न प्रकार थे :

स्टैफिलोकाक्कस ऑरियस	72·60
स्ट्रेप्टोकाक्कस एगैलेक्शिए	7·78
स्ट्रेप्टोकाक्कस डिस्गैलैक्शिए	4·4
स्ट्रप्ट्रोकाक्कस यूबेरिस	5·5
एशेरिया कोलाइ	4·25
सिउडोमोनास पायोसायानियस	2·75

जैसा कि लिटिल और प्लास्ट्रिज[26] द्वारा वर्णन किया गया है, अरुधिर-संलायी स्टैफिलोकोकाइ को अरोगोत्पादक माना जाता है तथा रुधिर-संलायी स्टैफिलोकोकाइ दीर्घकालिक थनैली उत्पन्न कर सकते हैं जो स्ट्रे० एगैलेक्शिए द्वारा उत्पादित थनैली से कुछ कम भयानक होती है। फिर भी, यह एक प्रचलित धारणा है कि स्ट्रेप्टोकोकाइ कम तीव्र प्रकार की थनैली उत्पन्न करते हैं। ऐसा शाम आदि[29] द्वारा प्रदर्शित किया गया है जिन्होंने लिखा कि "डेरी के लोगों द्वारा किए गए पैनिसिलिन तथा अन्य ऐंटिबायोटिकों के अत्यधिक

प्रयोग ने थनैली रोग में स्ट्रेप्टोकोकाइ के महत्व को कम कर दिया है। कारणीय परिवर्तन अब यह इंगित करते हैं कि माइक्रोकाक्कस पायोजिनस (रुधिर-संलायी स्टैफिलोकोकाइ) दीर्घकालिक थनैली का प्राथमिक कारण है क्योंकि यह जीवाणु अंतः-स्तनीय चिकित्सा के प्रति अधिक प्रतिरोधी है तथा स्ट्रे० एगेलेक्टिए की अनुपस्थिति में अन्य जीवाणुओं पर शीघ्र प्रभुत्वकारी होता है।" जब तक स्ट्रे० एगेलेक्टिए अथवा किसी अन्य संक्रमण को नष्ट करने की योजना के साथ पशुशाला की सफाई तथा स्वच्छ दुग्ध-उत्पादन पर ध्यान नहीं दिया जाता, जो कि प्रधान कारक होते हैं, तब तक एक या अधिक संक्रमण मौजूद ही रहता है। पशुओं के रहन-सहन, भवनों के प्रकार तथा दुहने के ढंगों की अपेक्षाकृत संक्रमण का प्रकार कम महत्व रखता है। विभिन्न यूथों में जीवाणु सर्वेक्षण करने पर स्ट्रेप्टोकोकाइ अथवा स्टैफिलोकोकाइ की प्रधानता मिल सकती है। एक बड़े सुप्रबंधित यूथ में से उडाल द्वारा संकलित 100 गायों के जीवनकालीन ब्यातकालों के आँकड़ों से भी कुछ ऐसी ही संभावना का अनुमान होता है। उनके इस प्रयोग में प्रत्येक संभव संयोजन तथा अनुक्रम के साथ स्टैफिलोकोकाइ तथा स्ट्रेप्टोकोकाइ के बीच लगभग बराबर विभाजन मिला। आधे से अधिक पशुओं में, प्रायः एक ही दुग्ध-काल में अथवा विभिन्न थनों से प्राप्त एक ही पशु के दूध के नमूने में, दोनों ही प्रकार के जीवाणु पाए गए। चिकित्सा अथवा बिना चिकित्सा के ही संक्रमण आया और चला गया। ऐसा अवलोकन इस तथ्य का समर्थन करता है कि बैक्टीरिया के अतिरिक्त कुछ अन्य कारक प्रबल हैं। थन के सिरे के कुचल जाने अथवा गो-मसूरी से रोग ग्रसित होने, अथवा अन्य किसी प्रकार चोट लगने से यह कारक स्वयं ही स्पष्ट हो जाता है।

अभी हाल में ही सिउडोमोनास पायोसायानियस जीवाणु उन अयनों में पाया गया है जिनकी पेनिसिलिन द्वारा चिकित्सा की गई। टकर[28] ने इस जीवाणु को पशुशाला में रखी खाली शीशियों तथा इन्जेक्शन पिचकारियों को संदूषित करता हुआ पाया जहाँ इनके प्रयोग से सिउडोमोनास थनैली का प्रकोप हुआ। कैलीफोर्निया से शाम[29] ने लिखा कि सिउडोमोनास एरुजिनोसा (Pseudomonas aeruginosa) तथा बाह्य जीवाणुओं के साथ होने वाली थनैली आजकल अधिक प्रकोप करते देखी जाती है तथा ऐसा प्रतिजैविक पदार्थों के अधिक प्रयोग तथा दुरुपयोग दोनों के ही परिणामस्वरूप हो सकता है।

एशेरिया कोलाइ जीवाणु प्रायः अति उग्र तथा प्राणघातक थनैली उत्पन्न करता है जो ब्याने के ठीक पहले अथवा कुछ देर बाद जब अयन बड़ा तथा तना हुआ होता है, देखी जाती है। रोग की ऐसी ही एक अन्य प्रकार कोरिनेबैक्टीरियम पायोजिनस द्वारा उत्पन्न होती है जो इस देश में बहुत ही कम मिलता है। किन्तु, ग्रेट ब्रिटेन में यह भीषण क्षति का कारण है जहाँ यह दुधारू तथा सूखे दोनों ही प्रकार के पशुओं और यहाँ तक कि बछियों में प्रकोप करता है और इससे उत्पादित थनैली को आमतौर पर "ग्रीष्म थनैली" (summer mastitis) कहा जाता है।

दूध की माइक्रास्कोपिक जाँच—थनैली का पता लगाने के लिए दूध का माइक्रास्कोपिक परीक्षण निम्नलिखित विभिन्न ढंगों द्वारा किया जाता है : बिना उद्भवित किए हुए दूध का स्लाइड पर सीधे लेप बना लेना, उद्भवित किए हुए दूध का स्लाइड पर लेप बनाना, तथा

अपकेन्द्री पदार्थ (centrifugal sediment) का लेप बनाना। इन ढंगों द्वारा अलग-अलग थनों से प्राप्त दूध के नमूनों, प्रत्येक गाय के अयन से प्राप्त दूध के संयुक्त नमूनों, अथवा एक यूथ के मिले-जुले दूध के नमूनों की जाँच की जाती है।

विना उद्भवित किए दूध का स्लाइड पर लेप बनाकर तथा अभिरंजन करके स्ट्रेप्टोकोकाइ जीवाणुओं, एपिथीलियल कोशिकाओं तथा श्वेताणुओं की जाँच की जाती है। थनैली रोग के स्ट्रेप्टोकोकाइ जीवाणुओं का पता लगाने के लिए यह विधि रक्त-ऐगर प्लेटों पर संवर्धन तैयार करने की अपेक्षाकृत कम अच्छी है। जब अलग-अलग थनों से प्राप्त दूध-के नमूनों को विना उद्भवित किए हुए परोक्ष रूप से तैयार किए गए लेपों में स्ट्रेप्टोकोकाइ जीवाणु पाए जाते हैं तो ये पूरे यूथ के अयन में रोग के भीषण प्रकोप के सूचक होते हैं। नियम के अनुसार थनैली रोग के स्ट्रेप्टोकोकाइ अलग-अलग थनों से प्राप्त विना उद्भवित किए हुए थनैली ग्रसित दूध से परोक्ष रूप से तैयार किए गए स्लाइडों में नहीं दिखाई देते। यहाँ तक कि प्रत्यक्ष रूप से दूध में परिवर्तन दिखाई देने पर भी वे नहीं पाए जा सकते। कभी-कभी बुरी तरह रोग-ग्रसित यूथों में ऐसा भी नहीं होता। 10 वर्ष से ऊपर के अपने दैनिक अनुभव में लेखक को इस प्रकार की केवल दो यूथें मिलीं। मिनेट, स्टेबिलफोर्थ और एडवर्ड्स[16] ने 223 संवर्धनीय धनात्मक पशुओं में से अपकेन्द्री दुग्ध-तलछट के माइक्रास्कोपिक-परीक्षण द्वारा इस रोग का निदान केवल 52.5 प्रतिशत में किया।

थनों से अपूतिदूषित (aseptic) सावधानियों के साथ निकाले हुए तथा 37° सें० पर 12 से 24 घंटे तक उद्भवित किए हुए दूध से स्लाइड पर लेप बनाकर माइक्रास्कोप में देखकर स्ट्रेप्टोकोकस थनैली के निदान करने की सामान्य प्रथा है। चूँकि इस विधि की प्रयोगशाला आवश्यकताएँ बहुत ही सामान्य हैं अतः इसका आसानी से प्रयोग किया जा सकता है। दूध के नमूने बहुधा संदूषित हो जाया करते हैं तथा उन्हें इकट्ठा करके प्रयोग-शाला तक पहुँचाने की अवधि में दूध में संदूषण का विकास होकर उसे परीक्षण के अयोग्य बना सकता है। ऐसा तब होने का अधिक भय रहता है जब विना प्रशीतन के ही दूध के नमूनों का यातायात किया जाता है। जीवाणुओं की वृद्धि रोकने के लिए प्रत्येक नमूने के शीशी में ब्रिल्लिएंट ग्रीन (brilliant green) रख दी जाती है : 0.1 ग्राम ब्रिल्लि-एण्ट ग्रीन को 100 घ० सें० डिस्टिल्ड वाटर में घोलकर जीवाणुरहित किया जाता है तथा प्रत्येक 25 घ० सें० दूध के लिए इसका 0.5 घ० सें० घोल प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार 1:50,000 अनुपात का घोल बन जाता है। डाक द्वारा भेजे जाने पर प्रयोगशाला तक पहुँचने के लिए आवश्यक समय के लिए दूध के नमूनों को पाँच से सात दिन तक कमरे के तापक्रम पर रखकर ब्रायन[17] (Bryan) द्वारा रिपोर्ट किए गए अवलोकन यह प्रकट करते हैं कि 0.2 ग्राम ब्रिल्लिएण्ट ग्रीन, 0.75 ग्राम सोडियम एजाइड तथा 10 ग्राम डेक्सट्रोज को 200 घ० सें० पानी में मिलाकर सबसे अच्छा दुग्ध-परिरक्षक तैयार हो जाता है। इस घोल को भाप-विसंक्रमित (autoclaved) करके 0.1 घ० सें० की मात्रा में प्रति 5 घ० सें० दूध में मिलाया जाता है। दूध अथवा अयन की दशा को ध्यान में न रखकर लिए गए दूध के नमूनों के दैनिक परीक्षणों में जब दूध में कोई अन्य संक्रमण नहीं मिलता तो कभी-कभी स्ट्रेप्टोकोकाइ एगैलैक्टिए अथवा अन्य स्ट्रेप्टोकोकाइ की उपस्थिति की रिपोर्ट

मिलती है और अयन पूर्णतया स्वस्थ दिखाई पड़ता है : ऐसी सूचनाएँ उद्भवित किए हुए लेपों अथवा रक्त-ऐगर प्लेटों के प्रयोग के परिणामस्वरूप हो सकती हैं। ऐसी रिपोर्टों पर एक कंट्रोल का नमूना बहुधा ऋणात्मक होता है, जबकि अल्पकालीन संक्रमण अथवा संदूषण का अनुमान किया जा सकता है। जब स्ट्रेप्टोकोकाइ असंख्य तथा कोशा-गणना (cell count) अधिक होती है तो निदान में कोई संदेह नहीं हो सकता।

वास्तव में स्लाइड पर बने लेप में स्ट्रे० एगैलैक्शिए अथवा अन्य थनैली स्ट्रेप्टोकोकाइ को निश्चित रूप से पहचानना असंभव सा होता है। किन्तु, यह तब संभव हो जाता है जब उद्भवित किए गए नमूनों से प्राप्त दूध का रक्त-ऐगर प्लेटों पर संवर्धन किया जाता है तथा बैक्टीरिया के समूहों को विभेदी माध्यमों में उगाया जाता है।

तोलक-बाल्टी (weigh can) से प्राप्त दूध के नमूने सदैव ही संदूषित तथा कुछ-कुछ उद्भवित होते हैं। इन नमूनों में श्वेताणुओं अथवा बिना श्वेताणुओं के साथ लम्बी जंजीरों के रूप में स्ट्रेप्टोकोकाइ जीवाणुओं की उपस्थिति थनैली का प्रमाण है। इस बात पर ध्यान देने की आवश्यकता है कि ऐसे नमूने संदूषित होते हैं और इन्हें उद्भवित करने पर संदूषक सबसे पहले अपना विकास करके स्ट्रेप्टोकोकाइ की लम्बी-लम्बी जंजीरों के रूप में प्रकट होते हैं जिन्हें स्लाइड पर बने लेपों में थनैली के स्ट्रेप्टोकोकाइ से अलग पहचानना कठिन हो जाता है। वैसे तो ऐसे नमूनों से तैयार किए गए लेप दूध में असामान्य अवयव प्रदर्शित कर सकते हैं किन्तु, इससे यह सिद्ध नहीं होता कि जहाँ से दूध प्राप्त किया गया है वे अयन असामान्य हैं। तोलक-बाल्टियों से लिए गए दूध के नमूनों से तैयार किए गए लेपों में थनैली का प्रमाण प्रदर्शित करने के लिए एक यूथ अति रोग-ग्रसित होना चाहिए और जब बुरी तरह रोग-ग्रसित यूथ से प्राप्त दूध भलीभाँति ठंडा किया जाता है तो ऐसे नमूनों से बनाए गए लेपों में थनैली के स्ट्रेप्टोकोकाइ का पाया जाना अनिवार्य नहीं है। तोलक-बाल्टियों से प्राप्त नमूनों के लेपों में उपस्थित स्ट्रेप्टोकोकाइ तथा कोशिकाओं, एवं दूध के नमूने प्राप्त करने वाले अयनों के मध्य स्थित संबंध के बारे में बिना किसी विशिष्ट अध्ययन के ही एक नियम बन चुका है जिसके आधार पर प्रयोगशाला में स्लाइड पर लेप बनाकर यूथ में थनैली का निदान किया जाता है। बाजार के सभी दूधों में स्ट्रेप्टोकोकाइ तथा सभी यूथों में थोड़ी-बहुत थनैली की उपस्थिति, ऐसे निर्णय की यथार्थता अथवा त्रुटि के बीच अलग पहचान करना कठिन बना देती है। बुरी तरह रोग-ग्रसित तथा कुप्रबंधित यूथों से प्राप्त दूध इतना संक्रमणित हो सकता है कि तोलक-बाल्टी से नमूना लेकर परोक्ष रूप से तैयार किए गए लेप में थनैली स्ट्रेप्टोकोकाइ दिखाई दे सकते हैं। तोलक-बाल्टियों के नमूनों से तैयार किए गए लेपों में स्ट्रेप्टोकोकाइ की उपस्थिति प्राय. दूध की समुचित देखभाल न करने के कारण हुआ करती है।

कभी-कभी बिना किसी प्रत्यक्ष कारण के ही उच्च कोशा-गणना लाखों में तथा अल्पकालीन हो सकती है और आमतौर पर ऐसा अंतिम दुग्धकाल में अधिक देखा जाता है। दुग्धकाल को ध्यान में रखकर कोशा-गणना अयन में उपस्थित सूजन और उसके प्रकार का पता लगाने में सहायक होती है। रोग के कारण गायों के दूध उत्पादन में शीघ्र कमी होने पर यह अधिक हो जाती है जैसा कि जाड़ों के अतिसार में देखा जाता है। बहुधा

हल्के अल्पकालीन अथवा स्थायी स्टेफिलोकाक्कस संक्रमणों में यह विशेषकर अधिक हुआ करती है। थनैली के वेग तथा फलानुमान को कुछ-कुछ इस आधार पर जाँचा जा सकता है कि यह गणना दो दसलक्ष, पाँच दसलक्ष अथवा दस दसलक्ष है। फिर भी, इसमें व्यक्तिगत विभिन्नता होती है जिसके कारण किसी भी निश्चित संख्या को केवल अकेले ही थनैली का निदान नहीं माना जा सकता। सीलमन[5] के अनुसार सामान्यतः श्वेताणुओं की संख्या तथा स्तन-ग्रंथियों की संवेदनशीलता में इतनी अधिक विभिन्नता होती है कि निदान के रूप में इसकी कोई एक संख्या निर्धारित करना त्रुटिजनक होगा। उनका कहना है कि दूध के संगठन में इतनी अधिक विभिन्नता होती है कि कोई निश्चित सीमाएँ नहीं निर्धारित की जा सकतीं। उच्च कोशा-गणना का सही महत्व ज्ञात करने के लिए संदेहयुक्त गाय के अयन-परीक्षण की आवश्यकता पड़ती है।

दूध में श्वेताणुओं के महत्व पर जान्सन तथा ट्रडेल्[18] द्वारा प्रस्तुत विवरणी में यह देखा गया कि "जिन गायों के अयन का नं० 1 तथा 2 के रूप में वर्गीकरण किया जाता है उनके दूध में दुग्धकाल के अंतिम समय में कोशाणुओं की संख्या बढ़ जाती है। थनैली में कोशाणुओं की इस प्रकार वृद्धि अयन का भौतिक परीक्षण करने पर पाए जाने वाले परिवर्तनों, दूध में पाए जाने वाले परिवर्तनों, तथा जीवाणु–विज्ञान संबंधी परिणामों के अनुसार होती है। थनैला रोग में श्वेताणुओं की संख्या में भी वृद्धि होती मालूम पड़ती है जो दूध में स्ट्रेप्टोकोकाइ अथवा स्टैफिलोकोकाइ के विकास के पूर्व ही प्रकट हो जाती है।" हमारे अवलोकन यह प्रदर्शित करते हैं कि 2 तथा 3 नं० के अयन के बीच विभाजन रेखा खीचने में कोशा-गणना सहायक होती है। जब वृद्धि लगातार होती रहती है तो ये शीघ्र ही नं० 3 में चले जाते हैं। जब कोशा-गणना दशलक्ष प्रति घ० सें० पर पहुँच जाती है और स्थिर रहती है तब यह संक्रमण की उपस्थिति, बढ़ी हुई थनैली, तथा अयन में पीब का सूचक होती है।

परोक्ष माइक्रास्कोपिक परीक्षण के लिए थन से सर्वप्रथम निकलने वाले दूध का अपूति-दूषित सावधानियों के साथ नमूना लेना चाहिए। ऐसा करने के लिए थन को पहले ऐल्कोहल में भिगोई हुई रुई से खूब साफ किया जाता है और इसके बाद जीवाणु रहित की गई शीशियों में दूध दुह लिया जाता है। स्लाइड पर लेप बनाने के लिए या तो यह दूध ही प्रयोग कर लेते हैं अथवा इसका अपकेन्द्रण करके नीचे बचे तलछट का प्रयोग किया जाता है। अभिरंजन करने के लिए वैसे तो अनेकों अभिरंजक उपयुक्त हैं, किन्तु इसमें न्युमन (Newman) अभिरंजक का अधिक प्रयोग किया जाता है। यह अभिरंजक 1 से 1.5 ग्राम मेथिलीन ब्ल्यु पाउडर, 54 घ० सें० 95 प्रतिशत इथायल ऐल्कोहल, 40 घ० सें० तकनीकी टेट्राक्लोरीथेन (ईस्टमैन कोडक कं०), तथा 6 घ०सें० ग्लेसिअल एसिटिक एसिड का बना होता है। एक फलास्क में टेट्राक्लोरीथेन लेकर उसमें ऐल्कोहल मिलाया जाता है तथा इसे 70° सेंटिग्रेड से कम के तापक्रम पर गरम किया जाता है। यह घोल अब मेथिलीन ब्ल्यु पाउडर में मिलाया जाता है। जब तक यह घुल न जाए बर्तन को तेजी से हिलाते रहना चाहिए। तत्पश्चात् घोल को ठंडा करके उसमें बहुत धीरे-धीरे ग्लेसिअल एसिटिक एसिड मिलाना चाहिए। निर्देश : 1. स्लाइड पर दुग्ध-लेप तैयार कीजिए; 2. सूखने के

पश्चात् स्लाइड को इस घोल में डालकर तुरन्त ही निकाल लीजिए और सुखाइए; 3. पानी से धोइए; 4. सुखाकर देखिए। लम्बी तथा छोटी जंजीरों के रूप में श्वेताणुओं के साथ स्ट्रेप्टोकोकाइ का होना थनैली का सूचक है। भूतकाल में, थनैली के स्ट्रेप्टोकोकाइ का वर्गीकरण स्लाइड पर इनकी स्थिति में मौजूद विभिन्नताओं पर आधारित रहा है उदाहरणार्थ; लंबी जंजीर वाले स्ट्रेप्टोकोकाइ, छोटी जंजीर वाले स्ट्रेप्टोकोकाइ, डिप्लो कोकाइ आदि। सीलमन[9], रसेल[10] तथा अन्य लोगों के आधुनिक अन्वेषणों के अनुसार ये विभिन्नताएं स्ट्रेप्टोकोकाइ अथवा उनके द्वारा उत्पादित थनैली में तदनुसार अन्तर प्रकट नहीं करती।

लक्षण—थनैली के बहुवितरित होते हुए भी, विशेषकर इस देश में, इसके लक्षणों तथा कोर्स के बारे में बहुत ही थोड़ा ज्ञान प्राप्त हो सका है। उग्र लक्षणों के समाप्त होने पर रोगी को अच्छा कहा जाना पशु-चिकित्सकों द्वारा भी मान्य है। डेरी-निरीक्षक इस रोग को तब अच्छा हुआ समझता है जब दूध देखने में नार्मल हो जाता है। प्रयोगशाला परीक्षण द्वारा पशु तब रोगरहित माना जाता है जब उसके प्रत्यक्ष रूप से सामान्य दिखाई देने वाले दूध में थनैली की स्ट्रेप्टोकोकाइ नहीं रहती। अन्य रोगों की भांति थनैली में भी टिसुओं में रोगजनक परिवर्तनों के प्रकार तथा वेग के अनुसार रोग-ग्रसित अंग की हालत का पता लगाया जा सकता है।

थनैली के लक्षण अपने वर्णन में काफी भिन्न होते हैं किन्तु यदि कोई मनुष्य व्यक्तिगत रोगियों को प्रत्येक ब्यात में देखता रहता है तो प्रमुख लक्षण एक ही प्रकार के सिद्ध होते हैं। नियम के अनुसार इसका आक्रमण दीर्घकालिक होता है, किन्तु यह उग्र भी हो सकता है और जैसे जैसे टिसु-परिवर्तनों का विकास होता है खिलाने तथा दुहने के ढंगों के अनुसार रोग का सक्रिय तथा गुप्त-काल भिन्न होता जाता है। जब तक दूध असामान्य होकर अयन में तन्तुमयता का विकास नहीं हो जाता तब तक यह रोग छुपी हुई अवस्था में बिना दिखे ही रह जाता है। यह जाँच दूध तथा अयन के दैनिक परीक्षण द्वारा की जा सकती है। ब्याने के समय अथवा किसी पिछले ब्यात में इसके उग्र आक्रमण का इतिहास मिल सकता है। प्रायः ऐसी रिपोर्ट मिलती है कि दुग्ध-उत्पादन कम हो गया है अथवा गाय ने कम दिनों दूध दिया है। नई खरीदी हुई गायें रोग ग्रसित हो सकती हैं। ग्वाला यदि देखता रहा हो तो उसे अयन में सूजन अथवा दूध में छीछड़ों की उपस्थिति मिल सकती है।

जब रोग का प्रारम्भिक आक्रमण उग्र प्रकार का होता है तो दूध का सामान्य बहाव एकाएक रुक कर उसके स्थान पर थोड़ा सा पानी जैसा पतला स्राव थन से बाहर निकलता है। अयन में गर्म तथा दर्दयुक्त सूजन का भी विकास हो सकता है। कभी-कभी उग्र सामान्य लक्षण भी देखने को मिलते हैं। ये बहुविकसित हो सकते हैं और कभी-कभी पशु की मृत्यु भी हो सकती है। रोग की कुछ कम उग्र प्रकार में एक या अधिक थनों से निकले हुए दूध में छीछड़े मौजूद हो सकते हैं। ये पहले एक थन के दूध में होते हैं, तत्पश्चात् एक के बाद एक के क्रम से चारों थन रोग-ग्रसित हो जाते हैं। भली-भांति चिकित्सा करने पर अयन तथा दूध में दिखाई देने वाले उग्र तथा स्पष्ट परिवर्तन धीरे-धीरे एक सप्ताह से लेकर दस दिन में ठीक हो जाते हैं और अयन "बिल्कुल सामान्य सा" दिखाई

पड़ता है तथा रोगी "ठीक हुआ" कहा जाता है। रोग से पूर्णरूपेण छुटकारा न मिलने पर भी ऐसा परिणाम संभव है और अयन में स्थायी रूप से कड़ापन मौजूद रह सकता है। ऐसी कम उग्र तथा गुप्त अवस्थाओं का पता लगाना कभी-कभी ही कठिन होता है, यद्यपि कि रूमेन में अतानता तथा पशु के चारा न खा पाने के कारण उग्र थनैली का अपच कहकर भी निदान किया गया है।

थनैली रहित गायों के एक समूह में कभी-कभी रोग का उग्र आक्रमण हो सकता है जबकि ऐसे ही अन्य समूह में ऐसी घटनाएँ बहुत ही कम हो सकती हैं। जिन रोगियों में प्रारम्भिक उग्र आक्रमण के समय तक अयन नॉर्मल रहता है उनमें इसका एकाएक प्रकोप होता है। ऐसे पशुओं का अयन सूजकर दर्दयुक्त हो जाता है तथा दूध असामान्य दिखाई देता है। किन्तु, रक्त-ऐगर प्लेटों में दूध रखकर देखने से बिल्कुल ही ऋणात्मक परिणाम मिलते हैं। विधिवत चिकित्सा करने पर ऐसे रोगी पूर्णतया ठीक हो जाते हैं। जो यूथ रोग की दीर्घकालिक अवस्था से अपेक्षाकृत मुक्त होते हैं उनमें उग्र थनैली बहुत ही कम होती देखी जाती है और ऐसे आक्रमणों का कोर्स अति संक्रमणित यूथों की अपेक्षाकृत अधिक अनुकूल होता है।

इन अनियमित रूप से होने वाले उग्र आक्रमणों की अपेक्षाकृत दीर्घकालिक थनैली अधिक महत्वपूर्ण है जिसमें दूध निकालने के बाद भौतिक परीक्षण करने पर अनेक अयनों में तन्तुमयता मिलती है। रोग की इस अवस्था के छुपी हुई, अप्रत्यक्ष तथा गुप्त थनैली आदि अनेक नाम रखे गये हैं जिसका तात्पर्य यह है कि इन अवस्थाओं में यह रोग जन साधारण को नहीं दिखाई पड़ता, यद्यपि ग्वाले तथा पशुपालक इसे अक्सर पहचान लेते हैं। प्रायः दूध के खराब हो जाने तथा पशुपालक को आर्थिक क्षति पहुँचने के कारण इस बीमारी पर नियंत्रण पाना बहुत ही महत्वपूर्ण है। रोग का वेग अयन में तन्तुमयता की उपस्थिति के अनुसार होता है। फिर भी, अयन में थोड़े परिवर्तन होने का कोई विशेष महत्व नहीं है। रोग के हल्के प्रकोप के बाद अयन सामान्य रह सकता है अथवा इसमें थोड़ी सी तन्तुमयता हो जाती है जो अपरिवर्तित तथा न बढ़ने वाली होती है। उग्र शोथ से न प्रारम्भ होने वाली थोड़ी तन्तुमयता की वृद्धि रुक जाती है। जब रोग-ग्रसित अयन वर्गीकरण के अनुसार ग्रूप 3 अथवा 4 के अन्तर्गत आ जाता है तब एक दुग्ध-काल से दूसरे ब्यातों में इसके क्षतस्थल बढ़ते चले जाते हैं। जहाँ पशुओं को भलीभाँति खिलाकर सफाई पर अधिक ध्यान न देकर दूध निकाला जाता है वहाँ यह बीमारी जल्दी-जल्दी बढ़ती है। जब अति रोग-ग्रसित पशुओं को यूथ से अलग रखा जाता है तो रोग की हल्की किस्में कम सक्रिय होती मालूम पड़ती हैं। इससे यह स्पष्ट है कि इस प्रकार का अलगाव करने से रोग के पुनः होने वाले नए संक्रमण कम हो जाते हैं।

विभिन्न यूथों में अनेक रोगियों के रखे गए रोग संबंधी पूर्ण अभिलेख के आधार पर अयन में उपस्थित तन्तुमयता के अनुसार लेखक ने अयन के क्वार्टरों का नार्मल, कुछ-कुछ रोग-ग्रसित, स्पष्ट रूप से रोग-ग्रसित, अति रोग-ग्रसित, तथा रोग संबंधी प्राप्य प्रमाणों के अनुसार अयनों का नं० 1, 2, 3 तथा 4 में वर्गीकरण किया है। आमतौर पर नं० 1

और 2 का अयन नार्मल तथा 3, 4 को थनैली ग्रसित माना जाता है और जहाँ रोक-थाम के उपाय अपनाए जाते हों वहाँ नं० 3, 4 वाले पशुओं को यूथ से अलग रखना चाहिए।

अयन का भौतिक परीक्षण—यह कार्य दोहन के तत्काल बाद सबसे अच्छा होता है। अयन में दूध भरा होने अथवा ब्याने के पूर्व या बाद इसके रक्तवर्ण होने या सूज जाने पर यह जाँच सतोषजनक नहीं होती क्योंकि ऐसे समय में अयन के टिशु के लचीलेपन का पता ही नहीं चल पाता।

अयन के अवलोकन तथा थपथपाने की विधियों को चित्र 107 में समझाने का प्रयास किया गया है।

(1) अपक्षय की उपस्थिति तथा थनों की आकार एवं स्थिति में विभिन्नता के लिए अयन के पिछले थनों को देखिए।

(2) पिछले थनो को ऊपर तथा पीछे की ओर उठाकर, अगले थनों का अपक्षय के लिए अवलोकन कीजिए। यह भी देखिए कि थनों के सिरे एक ही क्षैतिज समतल (horizontal plane) में है अथवा नहीं।

(3) थनकुंडों (cysterns) का थपथपाना : सभी थनों को एक साथ उठाकर थनकुंडों के क्षेत्र के टिसुओं को अंगुलियों के सिरे से थोड़ा उठाते हुए टटोलकर चारों थनों के आकार तथा भार की परस्पर तुलना कीजिए। जिस थन में नार्मल तथा मुलायम तन्तु न मिलकर वह सख्त तथा विभिन्न भार वाला हो तो समझना चाहिए कि इसमें तन्तुमयता का विकास हो चुका है। थनों में विभिन्नता होना थनैली का सूचक है।

(4) तथा (5) अयन के निचले भाग में तन्तुमयता के परिगत क्षेत्रों के पता लगाने की विधि : एक हाथ से थन को पकड़कर दूसरे हाथ से उसके टिसु को दबाइए। ऐसा करने से सामान्य लचीले थन में अंगूठे तथा अंगुली के बीच केवल थन की पतली त्वचा ही रह जाती है जबकि रोग-ग्रसित थन के मध्य मोटा तन्तुमय टिसु महसूस होता है। अयन में कितनी तन्तुमयता है इसका पता दोनो पिछले थनो तथा दोनों अगले थनों के बीच, आगे तथा पीछे मौजूद विभिन्नता को देखकर लग जाता है। किन्तु, अगले थनों की पिछले थनों से तुलना न कीजिए।

(6) अयन की सतह को ऊपर से टटोलना : ऐसा करने के लिए थोड़ा सा दबाव देकर त्वचा को ऊपर उठाते हैं तथा इसके अन्दर अंगुली के सिरे से टटोलकर चिकनाहट का पता लगाते हैं।

प्रत्येक क्वार्टर सामान्यतय: चिकना अथवा पालिकायुक्त हो सकता है। सामान्य तौर पर पालिकायुक्त सतह देखने में एक समान लगती है और यदि इसमें कोई प्रसार होता है तो वह भी छोटा सा तथा एक जैसा होता है। रोगजनक पालिभवत का एक समान वितरण नहीं होता तथा यह पालिभवन आकार में भी एक जैसा नहीं होता। जब एक नार्मल थन की सतह पर अंगूठा तथा अंगुली फेरते हैं तो उसकी त्वचा चिकनी प्रतीत होती है, जबकि रोग-ग्रसित थन में यह पालिकायुक्त होकर, तन्तुमयता प्रदर्शित करती है।

(7) असमानता के लिए थपथपाना : प्रत्येक थन के ऊपरी भाग को दोनो हाथों

द्वारा कसकर पकड़िए। इन पर दवाव डालते हुए आगे पीछे खींचकर पालिभवन तथा संघनता का पता लगाइए। इस कार्य के लिए टिसुओं को एकान्तरतः दवाया तथा छोड़ा

चित्र—107. थनैली से प्रभावित अयन का भौतिक-परीक्षण
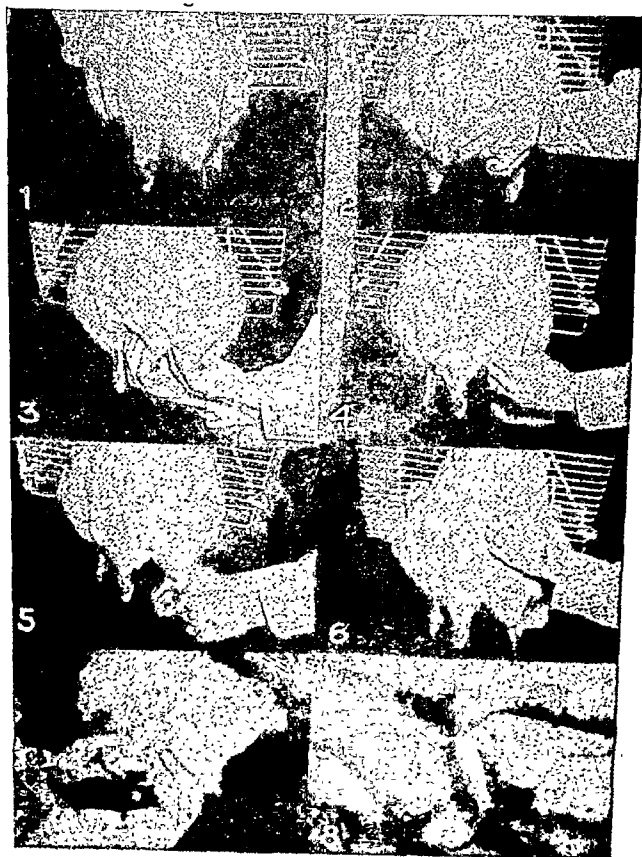
जाता है। अपक्षय तथा संघनता को, प्रत्येक थन को दोनों हाथों से उठाकर तथा साथ वाले थन से भार, लचीलेपन तथा आकार में तुलना करके भी जाना जा सकता है। एक समान वितरित पतले पालिभवन की अपेक्षाकृत, खुरदरे तथा असमान पालिभवन अधिक महत्वपूर्ण हैं। जब आकार में अन्तर पाया जाता है जैसे एक थन बड़ा तथा मुलायम हो और दूसरा छोटा तथा कड़ा हो तो छोटे वाले को उग्र थनैली से ग्रसित समझना चाहिए जिससे कि दूध के बहाव में कमी होकर गाय के थन का टिसु भी सिकुड़ जाता है। यह कितना क्षति-ग्रस्त है यह जानना अगले आने वाले ब्यात तक संभव नहीं होता। यदि छोटे वाले थन की सतह गोल तथा चिकनी न होकर गठीली हो तो यह समझना चाहिए कि सामान्य टिसु के स्थान पर संयोजी ऊतक होकर वह कड़ा हो गया है। दुग्धकाल में रोग-ग्रसित थन अपने साथी थन की अपेक्षाकृत काफी बड़ा हो सकता है जैसा कि एक पिछला थन काफी बड़ा होता है। इससे यह संदेह हो जाता है कि या तो बढ़े हुए थन में मौजूद परिवर्तन रोगजनक अंश तक है अथवा जो थन छोटा दिखाई देता है वह रोग के कारण अपक्षयित हो गया है। नियम के अनुसार रोग-ग्रसित थन में असमान तन्तुमयता की उपस्थिति द्वारा अथवा दूध की ब्रोमथाइमोल नील के प्रति प्रतिक्रिया या क्लोरीन जांच द्वारा इस प्रश्न का उत्तर मिल जाता है।

(8) दूध के बहाव, थन-छल्ले के प्रसार तथा खुले हुए थन-रंध्र के लिए [चित्र 107 (8) दाहिनी ओर का थन] थन के सिरों की जाँच करना।

तन्तुमयता का महत्व विभिन्न थनों में तन्तुओं के वितरण के अनुसार होता है। परिगत तन्तुमयता एक अथवा अनेक स्थान पर तथा बड़ी अथवा छोटी हो सकती है जबकि विसृत तन्तुमयता में पूरा थन ही क्षतिग्रस्त होता है। अयन में इन तन्तुओं की उपस्थिति इतनी कम हो सकती है कि इनका कोई महत्व ही न हो अथवा इतनी अधिक हो सकती है कि गाय को दूध उत्पादन की दृष्टि से बिल्कुल ही बेकार कर देती है। जब अयन के किसी थन पर 2 इंच व्यास तक के एक अथवा दो परिगत क्षतस्थल मौजूद होते हैं अथवा जब उनकी आकार-प्रकार में असमानता की थोड़ी विभिन्नता होती है तो ऐसे थन को थोड़ा रोग-ग्रसित अथवा संदेहयुक्त कहा जाता है। जब इस पर 3 इंच व्यास के तन्तुमय कड़े क्षेत्र होते हैं अथवा केवल ऊपर से टटोलने पर ही स्पष्ट विभिन्नता मिलती है, अथवा जब तन्तुमयता के साथ स्पष्ट अपक्षय मौजूद होता है, तब ऐसे थन को रोग ग्रसित कहा जाता है। विसृत तथा विस्तृत अथवा परिगत एवं बहुव्यापक तन्तुमयतायुक्त थन अति रोग-ग्रसित कहलाता है। यदि कोई थन अधिकतर मुलायम तन्तु का बना होता है तो इसे अति रोग-ग्रसित नहीं कहा जाता। अधिक मुलायम टिसु के साथ बड़े-बड़े अयनों पर अनेक परिगत तन्तुमय क्षेत्रों का होना इन्हें रोग-ग्रसित ग्रुप के अन्तर्गत वर्गीकृत करवाता है। यह अवस्था वृद्ध गायों में अक्सर देखी जाती है। सभी थनों में विस्तृत कड़ापन होने से अयन बुरी तरह रोग-ग्रसित हो सकता है जो देखने में "प्रत्यक्ष रूप से सामान्य" प्रकट होता है।

इन तीन समूहों के मध्य विभाजन की कोई स्पष्ट सीमा निर्धारित नहीं है तथा इस सीमा के समीपवर्ती रोगियों के लिए आख्यान एस+अथवा डी+(S+or D+) प्रयोग

किया जाता है। जिन लोगों को अयन-परीक्षण का ज्ञान प्राप्त हो जाता है वे इनका सही वर्गीकरण कर सकते हैं।

प्रत्येक क्वार्टर के परिणामों को निम्न प्रकार अंकित किया जाता है :

—, बिल्कुल ही नार्मल अयन।

एस (S), अयन में थोड़ा कड़ापन होना।

डी (D), स्पष्ट कड़ापन; डी$_{ए}$ (D_a), थोड़ा अपक्षय; डी ए (D A), सुविकसित अपक्षय; डी$_{ए}$ लोब (D_a lob), थोड़ा पालिभवन; डी+ए लोब पी (D+A lob P), काफी अपक्षय, पालिभवन तथा प्रसरित संवरणी (sphincter) के साथ स्पष्ट रूप से रोग ग्रसित होना। इसमें लगभग 2 से 3 इंच व्यास की व्यापक तन्तुमयता अथवा केवल कड़ापन होता है। पी (P), खुला हुआ थन-रंध्र।

एम (M) सुविकसित तन्तुमयता अर्थात् ग्रंथिल टिसु के स्थान पर बहुवितरित अथवा विसृत तन्तुमयता होना।

धन का चिन्ह, उदाहरणार्थ एस+, डी+, बीच की अवस्था को संबोधित करता है। समुचित अभ्यास करने के बाद बिना दूध देने वाली गायों के अयन को भी वर्गीकृत किया जा सकता है। प्रसव काल में जब अयन रक्तवर्ण, तना हुआ तथा शोथयुक्त होता है उस समय यह परीक्षण के लिए उपयुक्त नहीं होता। यदि एक अयन सूजा हुआ अथवा भद्दा है तथा प्रसव से संबंधित नहीं है तो यह अत्यधिक क्षतिग्रस्त कहा जाता है।

अयनों का वर्गीकरण—अयन का भौतिक-परीक्षण करके पशुशाला में प्राप्त प्रमाण के आधार पर अयनों का वर्गीकरण किया जाता है। कम संक्रमणित एवं सुव्यवस्थित यूथों की अपेक्षा बुरी तरह रोग-ग्रसित यूथों में इसका अर्थ अधिक विषम लगाना चाहिए।

नम्बर 1 का अयन प्रत्येक दृष्टिकोण से नार्मल होता है अथवा प्रत्येक थन में एक छोटा सा तन्तुमय क्षेत्र होता है, अथवा अगले या पिछले थनों में एक समान थोड़ा कड़ापन हो सकता है। नम्बर 1 के अयन अपेक्षाकृत बहुत ही कम होते हैं। ऐसे अयन से प्राप्त दूध नार्मल होता है।

नम्बर 2 में कुछ हल्के कड़े क्षेत्र मौजूद होते हैं (S) अथवा एक अकेला स्पष्ट क्षतस्थल होता है (D)। यदि दो थनों को स्पष्ट रूप से रोग-ग्रसित कहा गया है तथा इनसे प्राप्त दूध ब्रोमथाइमोल-नील परीक्षण के प्रति कोई प्रतिक्रिया प्रदर्शित नहीं करता तो यह अयन नम्बर 2 के अन्तर्गत वर्गीकृत किया जावेगा। ब्याने के बाद 24 से 48 घंटे तक ब्रोमथाइमोल-नील जाँच के प्रति दूध नार्मल रहता है। कभी-कभी उसकी क्षारीयता में अल्पकालीन वृद्धि हो सकती है।

जैसा कि भौतिक-परीक्षण करके पता लगाया गया है, निम्नलिखित तालिका अयन नं० 2 के लिए लागू किए गए आख्यान प्रदर्शित करती है :

थन (क्वार्टर)

	पिछला बाया	अगला बाया	पिछला दाया	अगला दाया	
1. भौ० प०	Da	S	S+	S	
2. भौ० प०	D	—	D	—	
3. भौ० प०	Da	D	S	S	
4. भौ० प०	S	D	S	S	
5. भौ० प०	D*	S	S+	S+2+	* स्टैफिलोकाक्कस
6. भौ० प०	D+	S	S+*	D*	* स्टैफिलोकाक्कस
7. भौ० प०	D	D	D	D,	पहली बार ब्याने वाली बछिया
8. भौ० प०	S+	S	Da lob	S 2+	
9. भौ० प०	S+	S	D	S+	
10. भौ० प०	S	S	S+a	S+A	

नम्बर 3—न० 3 के अयन को निम्न प्रकार वर्गीकृत किया जाता है :

(अ) जब दो या दो से अधिक थनों में अपक्षय के साथ स्पष्ट तन्तुमयता (D) हो अथवा दूध ब्रोमयाइमोल-नील प्रतिक्रिया को प्रदर्शित करता हो। बहुधा दोनों ही गुण उपस्थित होते हैं।

(ब) जब अकेले थन में अत्यधिक तन्तुमयता (D+) हो। बहुधा यह अवस्था पालिभवन, अपक्षय (a or A), दूध के रंग एवं प्रकार में परिवर्तन (dc) जैसा कि परख-नली में देखा जाता है, तथा असामान्य थन सवरणी—तन्तुमय मोटापा अथवा दाग अथवा खुला हुआ थन-रन्ध्र (p) अथवा सकुचन (दूध दुहने पर एक साथ कई धारें बाहर निकलना) के साथ हुआ करती है।

जैसा कि अयन के भौतिक-परीक्षण से ज्ञात किया गया है निम्नलिखित तालिका में न० 3 के अयनों के लिए लागू होने वाले आख्यानों का उल्लेख किया गया है :

थन (क्वार्टर)

	पिछला बायाँ	अगला बायाँ	पिछला दायाँ	अगला दायाँ	
1. भौ० प०	Da	D+	D	D+*	* स्ट्रे० एगैलैक्टिइए
ब्रो० नील	—	—	—	—	
2. भौ० प०	DA*	—	D	S+	* स्ट्रे० एगैलैक्टिइए
ब्रो० नील	slg	—	slg	slg	
3. भौ० प०	Da	D*	D	Da*	* स्ट्रे० एगैलैक्टिइए
ब्रो० नील	lg	slg	lg	lg	

	पिछला बायाँ	अगला बायाँ	पिछला दायाँ	अगला दायाँ	
4. भौ० प०	Da*	S	D*	S	* स्ट्रे० एगैलैक्शिए
ब्रो० नील	G	—	lg	—	
5. भौ० प०	Da	S	D+*	D	* स्टैफिलोकाक्कस
ब्रो० नील	slg	—	lg	—	
6. भौ० प०	D	—	D+**	D*	* स्ट्रे० एगैलैक्शिए ** स्टैफिलोकाक्कस
ब्रो० नील	slg	—	G	lg	
7. भौ० प०	S+	—	S+	D+P*	* स्टैफिलोकाक्कस
ब्रो० नील	—	—	—	G	
8. भौ० प०	S+	D+a*	S+	S+	* स्टैफिलोकाक्कस
ब्रो० नील	—	dkG		—	
9. भौ० प०	D+	D	D+	D	संक्रमण की अनुपस्थिति
ब्रो० नील	—	—	G		
10. भौ० प०	D+*	S	S+	S	* स्ट्रे० एगैलैक्शिए
ब्रो० नील	—	—	—		

यहाँ भौ० प०, भौतिक परीक्षण तथा ब्रो० नील, ब्रोमथाइमोल-नील प्रतिक्रिया संबोधित करता है।

पशु पर रोग के बार-बार प्रकोपों का इतिहास मिल सकता है। उत्पादन प्रायः ठीक ही रहता है। कभी-कभी रोग-ग्रसित थनों से प्राप्त दूध में छीछड़े अथवा फुटक मिलते हैं तथा दूध देखने में पतला अथवा भूसे के रंग जैसा होकर ब्रोमथाइमोल-नील परीक्षण के प्रति प्रतिक्रिया प्रदर्शित करता है। 2 से 4 सप्ताह में दूध के गुणों में काफी परिवर्तन मिलता है। यदि अयन के तीन थन ठीक हों, उनमें काफी मुलायम तन्तु मौजूद हों तथा लगभग नार्मल हों तो उसे इस समूह में रखा जा सकता है। यदि अयन का एक थन ठीक हो तथा अन्य तीन में हल्का संक्रमण हो तथा दूध असामान्य हो (चित्र 107-7) तो इसे 3+अथवा 4 में वर्गीकृत किया जावेगा।

दैनिक भौतिक-परीक्षण करने पर दूध की बगैर जाँच किए ही अयनों को वर्गीकृत किया जा सकता है। दूध का स्वरूप तथा ब्रोमथाइमोल-नील प्रतिक्रिया समय-समय पर बदलती रहती है। किन्तु, तन्तुमयता या तो स्थिर अथवा बढ़ती हुई रहती है। उग्र शोथ के कम होने तथा रोग-ग्रसित थनों के अधिक मुलायम होने पर इसके अतिरिक्त परिवर्तन देखे जाते हैं।

नम्बर 4—ऐसे अयन में स्पष्ट तथा बहुव्यापक अथवा अत्यधिक तथा विसृत तन्तु-मयता होती है। आमतौर पर रोग-ग्रसित थनों का अपक्षय होकर वे छोटे पड़ जाते हैं। अतः चारो थनों में असमानता आ जाती है। किन्तु, चारो थनों के रोग-ग्रसित होने पर

वे एक ही समान रहते हैं। यदि दो थन अधिक खराब हो तो दूध के नार्मल होने पर भी अयन को न० 4 के अन्तर्गत वर्गीकृत किया जाता है। इसमें रोग के बार-बार आक्रमण का इतिहास मिलता है तथा उत्पादन गिरकर नार्मल से भी कम हो जाता है और प्रायः यह कम रहता है। दूध में छीछड़े तथा फुटक मौजूद हो सकते हैं अथवा यह पानी जैसा पतला होता है। ब्रोमथाइमोल-नील परीक्षण धनात्मक प्रतिक्रिया प्रदर्शित करता है।

थन (क्वार्टर)

		पिछला बायाँ	अगला बायाँ	पिछला दायाँ	अगला दायाँ	
1	भौ० प०	Da	MA	D	D	
	ब्रो० नील	—	dkG*	—	—	* पीव
2.	भौ० प०	D+*	D+**	D+	D+	* स्ट्रे० एगैलेक्टिआए
	ब्रो० नील	—	—	—	—	** स्ट्रे० डिस्गैलैक्टिआए
3	भौ० प०	D+p*	Dp*	Dp*	D*	* स्ट्रे० एगैलेक्टिआए
	ब्रो० नील	slg	lg	lg	—	
4	भौ० प०	M	D*	D**	Da**	* स्ट्रे० डिस्गैलैक्टिआए
	ब्रो० नील	—	lg	lg	G	** स्ट्रे० एगैलेक्टिआए
5	भौ० प०	D	S*	M**	S*	* स्ट्रे० एगैलेक्टिआए
	ब्रो० नील	—	lg	dkG	lg	** स्ट्रे० डिस्गैलैक्टिआए

कभी-कभी अधिक दुधारु गायों का दूध ब्याने के बाद प्रथम दो या तीन सप्ताहों तक नार्मल हो सकता है, किन्तु अधिकतर इस अवधि में उसमें विशेष प्रतिक्रिया देखी जाती है।

केवल एक सर्वेक्षण के आधार पर किए गए वर्गीकरण में 2+ अथवा 3+ समूह के कुछ ही पशु मिलते हैं। किन्तु यूथ के कुछ परीक्षण करने के बाद दुग्ध-प्रतिक्रिया तथा उत्पादन के साथ तन्तुमयता की तुलना करके गाय को निश्चित रूप से वर्गीकृत करने की क्षमता प्राप्त हो जाती है। इस विधि को एक ऐसी सूची न मानकर जिसमें प्रत्येक अयन का वर्गीकरण करने के लिए विशेष सूत्र लिखे हों, केवल एक पथप्रदर्शक मानना चाहिए। रोग के आक्रमण के आवेग के अनुसार प्राप्त प्रमाणों को निम्न क्रम में लिखा जा सकता है : 1. इतिहास तथा दुग्ध उत्पादन सहित अयन का भौतिक परीक्षण, 2 दूध का रासायनिक तथा भौतिक परीक्षण, 3. श्वेताणुओं की संख्या, 4. जीवाणु परीक्षण।

वर्गीकरण करके सामान्य तथा स्वस्थ गायों को रोग के संदूषण से बचाया जा सकता है। तुलनात्मक परीक्षणों से यह पता लगता है कि न० 4 वाले अयनों से इस रोग के जीवाणु लगातार, तथा न० 3 से अपेक्षाकृत कम निकलते रहते हैं और न० 2 के अयन से प्राप्त दूध में थनैली या जीवाणु-विज्ञान सबंधी प्रमाण बहुत ही कम मिलता है। यद्यपि कि 3 तथा 4 नम्बर के अयन से प्राप्त दूध में कभी कभी थनैली के जीवाणु नहीं भी मौजूद रहते हैं, फिर भी, इस प्रमाण से उनके वर्गीकरण में कोई परिवर्तन नहीं होता।

दुग्ध-परीक्षण—गोशाला में दूध की जाँच करके इस रोग संबंधी काफी जानकारी प्राप्त की जा सकती है तथा इसे पूर्ववर्णित संवर्धनीय तथा माइक्रास्कोपिक परीक्षणों द्वारा (स्लाइड पर लेप बनाकर) और भी अधिक उपयोगी बनाया जा सकता है। प्रमाणित दूध उत्पादित करने वाली यूथों में स्ट्रिप-कप (Strips cups) का आमतौर पर प्रयोग किया जाता है तथा जहाँ कही थनैली के नियंत्रण के उपायों का प्रयोग होता है वहाँ यह प्याला किसी हद तक अन्य लोगों द्वारा भी दूध की जाँच के लिए इस्तेमाल होता है। यह एक टीन का बना हुआ लगभग एक पिंट (20 औंस) समाई वाला प्याला होता है जिसके ऊपर $1\frac{1}{4}$ इंच गहरा ढक्कन लगा रहता है। इस अनुभाग की लगभग आधी तली एक इंच में 100 खानों वाली महीन जाली की बनी होती है। इस कार्य हेतु महीन काला कपड़ा भी प्रयोग किया जा सकता है। डेरी उपकरण बनाने वाली फैक्टरियाँ विभिन्न प्रकार के स्ट्रिप-कप बेचती है। स्ट्रिप-कप परीक्षण (strip cup test) उस समय किया जाता है जब दूध दुहने से ठीक पहले अयन दूध से खूब भरा हो। परीक्षण के लिए प्रत्येक थन से पहली दो-तीन धारें सीधे प्याले की जाली पर दुह कर छीछड़े तथा फुटक देखे जाते हैं। सही जाँच के लिए प्रत्येक बार परीक्षण करने के बाद प्याले के ढक्कन को हटाकर पानी से धो लेना चाहिए। अयन में उग्र शोथ की प्रारम्भिक अवस्था का पता लगाने के लिए स्ट्रिप-कप का दैनिक प्रयोग करना काफी लाभप्रद है। ऐसा करने से रोगी की बीमारी का प्रारम्भिक अवस्था में ही पता लगा जाता है जिससे स्वस्थ पशुओं से अलग करके उसकी अच्छी चिकित्सा की जा सकती है। चूँकि प्रत्यक्ष रूप से दीर्घकालिक थनैली से पीड़ित अधिकांश गायें ऐसा दूध देती है जिसमें छीछड़े अथवा फुटक नही होते, अतः इस रोग का निदान करने के लिए स्ट्रिप-कप का केवल एक बार प्रयोग करना अधिक लाभदायक नहीं है। दूध में छीछड़ों की उपस्थिति को आमतौर पर थनैली का सूचक माना जाता है, किन्तु यह छीछड़े थन में चोट लगने के बाद अल्पकाल के लिए असामान्य रंग वाले दूध में भी देखे जाते हैं। दूध के रंग रूप में भी परिवर्तन होना संभव है। यह रंग में हल्का अथवा पानी जैसा पतला या पीलापन लिए हुए हो सकता है और स्ट्रिप-कप से जाँच करने पर इसमें छीछड़े नही मिलते। इसे परखनली में भरकर सामान्य दूध से तुलना करके अथवा चिकनी काली सतह पर एक दो धार डालकर इसकी असामान्यता को पहचाना जा सकता है। इस कार्य के लिए लम्बाई में मुड़ी हुई बैकेलाइट की चद्दर का छोटा-सा टुकड़ा अच्छा है और इसने जालीदार तली वाले टीन के प्याले का चलन काफी उठा दिया है। इसकी पालिश की हुई चिकनी सतह पर दुहा गया दूध रंग में थोड़ा परिवर्तन प्रदर्शित करता है (dc) अथवा यह नार्मल दूध के रंग से बिल्कुल ही भिन्न (DC) होता है या इसमें छीछड़े तथा फुटक मौजूद होते हैं।

सूखी गायों के अयनस्राव का परीक्षण—सूखी गायों में विशेषकर दूध सुखाने के प्रारम्भ काल में अथवा गाभिन गायों में आने वाले ब्यात के लिए अयन के फुलाव के पूर्व, अयन का भौतिक परीक्षण थनैली का निदान करने में प्रायः लाभप्रद सिद्ध होता है। सूजे हुए कड़े थनों में पीब भरा हो सकता है तथा उसमें से स्ट्रे० एगैलैक्टिए जीवाणु निकलते हैं। ऐसी गायों में ब्याने के समय शीघ्र चिकित्सा करने तथा बार-बार दूध निकालने से उन्हें इस

रोग के भीषण प्रकोप से बचाया जा सकता है। यूथ में थनैली के नियंत्रण हेतु सभी सूखी गायों का, एवं उनके अयन-स्राव का दैनिक परीक्षण करना काफी महत्वपूर्ण है। दुग्ध-काल में दूध की जाँच करने की अपेक्षाकृत सूखी गाय के अयन-स्राव की जाँच करना अधिक लाभप्रद होता है। क्रय के लिए डेरी गायों के निरीक्षण में यह अवलोकन विशेष महत्वपूर्ण है।

गाय का दूध सुखाने के प्रारम्भ काल में अयन से प्राप्त स्राव रंग तथा रूप में एक समान होकर उसे छीछड़े अथवा फुटक रहित होना चाहिए। साथ ही यह किसी भी प्रकार पीव से न मिलता-जुलता हो। दूध सुखाने के बाद रोग-ग्रसित थन में पीव भरा हुआ हो सकता है। गाय के सूखे रहने की अवधि में यह मात्रा में बढ़ता रहकर ब्याने के समय तक काफी इकट्ठा हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप ब्याने के बाद गाय का यह थन अति रोग-ग्रसित मिलता है। दूध दुहना बंद करने के लगभग 6 सप्ताह बाद नार्मल अयन का दूध शहद की तरह का होता है। इसमें कोई गँदलापन अथवा तलछट नहीं होता तथा देखने में यह साफ तथा हल्के पीले रंग का (ऐम्बर वर्ण) होता है। स्टैफिलोकोकाइ से संक्रमित थन से प्राप्त स्राव प्राय. गदला एवं दूधिया होता है। स्ट्रेप्टोकाक्किक संक्रमण में यह स्राव दूधिया तथा तलछट युक्त होता है। सूखी गायों के अयन-स्राव का प्रयोगशाला परीक्षण करने पर, दुग्ध-काल में दूध की भाँति, संक्रमण की उपस्थिति अथवा अनुपस्थिति मिल सकती है। अयन से निकलने वाले स्राव की मात्रा भी परिवर्तनशील होती है।

दूध की स्थिरता के गुण—37° सें० पर दूध को 24 घंटे तक भण्डारित रखने पर अयन के बारे में लाभप्रद जानकारी प्राप्त हो जाती है। इस कार्य के लिए 4 इंच ऊँचे तथा $1\frac{1}{8}$ इंच व्यास के जीवाणुरहित काँच के सिलिन्डरों में प्रत्येक थन से अलग अलग दूध का नमूना लिया जाता है। इनमें जीवाणुरहित की गई रबर की डाट लगाई जाती है। इस कार्य के लिए काँच का बना हुआ तथा जीवाणु रहित किया गया कोई भी छोटा सा बर्तन उपयुक्त है। जीवाणु-परीक्षण की भाँति, थन को ऐल्कोहल में भीगी हुई रुई से साफ करके दूध का नमूना लिया जाता है। इस प्रकार रखा गया नार्मल दूध, एक निश्चित दूध तथा क्रीम रेखा प्रदर्शित करता है तथा इस बर्तन को उलट देने पर उसकी तली तथा किनारों पर तलछट लगा हुआ नहीं मिलता। थनैलीयुक्त दूध में दूध तथा क्रीम रेखा के मध्य पीले सीरम की एक पतली सी सतह बनी हुई दिखाई देती है, दूध देखने में पतला प्रतीत होता है तथा शीशी में तलछट जमा हो जाता है। ताप के प्रभाव से खराब दूध में ये परिवर्तन 6 घंटे में विकसित हो सकते हैं जबकि नार्मल दूध 48 घंटे के बाद भी सामान्य ही दिखाई देता है। नार्मल थन से प्राप्त दूध जब प्रशीतक (refrigerator) में रखा जाता है तो यह दो सप्ताह तक अपना नार्मल स्वरूप स्थिर रख सकता है। अनुभवी व्यक्तियों द्वारा किया गया यह परीक्षण ब्रोमथाइमोल नील जाँच से भी अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि इसे गलत नहीं समझा जा सकता।

ब्रोमथाइमोल नील (थाइब्रोमोल) जाँच द्वारा दूध की क्षारीयता अथवा पी-एच० (pH) का ज्ञान होता है। थनैली युक्त दूध प्राय. क्षारीय तथा स्वाद में नमकीन होता है। स्विट्जरलैंड में अयन-परीक्षण के समय दूध को चख कर जाँच करने का आम रिवाज रहा है।

मिनेट के अनुसार लगभग नवें दिन दूध की प्रतिक्रिया नार्मल हो जाती है। लेखक के अवलोकन यह प्रदर्शित करते हैं कि जब अयन नार्मल होता है (1 और 2) तो ब्याने के बाद 24 से 48 घंटे तक ब्रोमथाइमोल नील परीक्षण करने पर नार्मल पीलापन लिए हुए हरी प्रतिक्रिया होती है तथा पहले दिन दूध की क्षारीयता भी सामान्य रहती है। थनैली युक्त दूध में ब्याने के तत्काल बाद इस जाँच से हरी अथवा हल्की हरी प्रतिक्रिया होती है। इस समय दूध में बढ़ी हुई क्षारीयता थनैली का सूचक है तथा इसके नार्मल होने तक का आवश्यक समय इसमें उपस्थित सूजन के अंश का द्योतक है। नं० 3 तथा 4 के अयन में यह प्रतिक्रिया एक या दो माह और इससे भी अधिक समय तक चल सकती है। नार्मल अयन से प्राप्त दूध दुग्धकाल के मध्य कभी-कभी अल्पकालीन उच्च पी-एच (pH) प्रदर्शित करता है और कभी-कभी रोग-ग्रसित थन से प्राप्त दूध की पी-एच नार्मल भी हो सकती है। फिर भी, आमतौर पर एक विशिष्ट हरी प्रतिक्रिया थनैली का सूचक है। ब्रोमथाइ-मोल नील यह सूचना तब देता है जब इसके परिणामों की अन्य गायों से तुलना की जाती है। थोड़ा हल्का हरा, हल्का हरा, हरा, गहरा हरा तथा नारंगी (अम्ल प्रतिक्रिया) रंग की इसकी विभिन्न प्रतिक्रियाएँ होती हैं। कुछ को छोड़कर थनैली के अधिकांश रोगियों में विभिन्न थनों से प्राप्त दूध में रंग प्रतिक्रिया भिन्न-भिन्न होती है। कुछ नमूने जीवाणु-परी-क्षण पर ऋणात्मक निकले किन्तु, इनमें रंग-प्रतिक्रिया के कारण संभ्रान्ति उत्पन्न हुई जबकि दूसरों में "प्रत्यक्ष रूप से थनैली न होने पर भी" रंग प्रतिक्रिया के कारण संभ्रान्ति हुई। पूर्ण रूप से रोग की लाक्षणिक परीक्षा करना ब्रोमथाइमोल नील जाँच के पुष्टिकरण में सहायक होती है। बहुधा लोग यह भूल जाते हैं कि थनैली से ग्रसित प्रत्येक रोगी के दूध में समय-समय पर विभिन्नता मिलती है तथा इसके रासायनिक एवं जीवाणु-विज्ञान संबंधी गुण भी उतने ही भिन्न होते हैं। इसका कोई स्पष्टीकरण नहीं है कि रासायनिक तथा जीवाणु परीक्षण दोनों एक ही समय ऋणात्मक अथवा धनात्मक क्यों होने चाहिए। रोग का क्षत-स्थल दूध में न होकर अयन में होता है और दूध की किसी भी जाँच की प्रतिक्रिया का महत्व अयन में उपस्थित क्षतस्थलों से संबद्ध होता है।

1 ग्राम ब्रोमथाइमोल-नील चूर्ण को 500 घ० सें० 47·5 प्रतिशत एल्कोहल में घोलकर ब्रोमथाइमोल-नील घोल तैयार किया जाता है। इसको क्षारीय माध्यम प्रदान करने के लिए 1·5 घ० सें० 5 प्रतिशत सोडियम हाइड्राक्साइड मिलाया जाता है। यदि यह घोल अधिक क्षारीय जान पड़े तो 5 प्रतिशत हाइड्रोक्लोरिक अथवा सल्फ्युरिक एसिड की कुछ बूँदें मिलाकर इसे पुनः उदासीन किया जा सकता है। यह आवश्यक है कि यह सूचक थोड़ा सा अम्लीय अथवा क्षारीय होना चाहिए। ब्रोमथाइमोल नील का अम्लीय घोल यदि अधिक क्षारीय है तो नार्मल दूध में भी यह हरा रंग उत्पन्न कर देता है। 1 ग्राम ब्रोमथाइमोल नील को 160 घ० सें० एक-सौवाँ नार्मल सोडियम हाइड्राक्साइड घोल में घोलकर तथा इसमें इतना डिस्टिल्ड वाटर मिलाकर कि कुल आयतन 750 घ० सें० हो जाए, उतना ही अच्छा घोल बनाया जा सकता है। परीक्षण हेतु प्रत्येक थन से दूध की पहली तीन चार धारें अलग निकाल दीजिए। तत्पश्चात् प्रत्येक जाँच किए जाने वाले थन से 5 घ० सें० दूध जीवाणु-रहित परखनली अथवा शीशी में दुह लीजिए तथा इनके रंग

रूप की परस्पर तुलना कीजिए। यदि अच्छे प्रकाश में यह तुलना की जाती है तो दूध के बदले हुए रंग एवं पतलेपन को आसानी से पहचाना जा सकता है। परीक्षण हेतु 5 घ० सें० दूध में 0 5 से 1 घ० सें० ब्रोमथाइमोल-नील घोल मिलाया जाता है। नार्मल दूध थोड़ा सा पीलापन लिए हुए हरा अथवा हरापन लिए हुए पीला रंग प्रदर्शित करता है। प्रतिक्रिया का अंश नार्मल (6·2 से 6·5) से ऊपर मौजूद क्षारीयता के अंश पर निर्भर करता है।

थनैली पर कार्य किए हुए अनेक कार्यकर्ताओं द्वारा **क्लोराइड-जांच** को अयन में तन्तुमयता की उपस्थिति ज्ञात करने के लिए अति उत्तम माना जाता है। नार्मल दूध में 0.09 से लेकर 0·14 प्रतिशत क्लोराइड होते हैं। थनैली का पता लगाने के लिए हैंडेन द्वारा एक फील्ड क्लोराइड परीक्षण का विकास किया गया। जब दूध में क्लोराइड की प्रतिशत 0·14 से अधिक होती है तब यह जाँच उसकी उपस्थिति प्रदर्शित करती है। हैंडेन[20] का परीक्षण निम्न प्रकार है: **अभिकर्मक**–1·3415 ग्राम विशुद्ध नाइट्रेट को एक लिटर डिस्टिल्ड वाटर में घोलिए। पोटाशियम क्रोमेट का डिस्टिल्ड वाटर में 10 प्रतिशत घोल बनाइए। **क्रिया विधि**: एक परखनली में ठीक 5 घ० सें० सिल्वर नाइट्रेट घोल डालिए। इसमें दो बूंद क्रोमेट घोल मिलाइए। ऐसा करने पर तत्काल ही उस परखनली में लाल रंग आ जाएगा। इस सम्मिश्रण में 1 घ० सें० दूध मिलाइए। यदि दूध में क्लोराइड की मात्रा 0·14 प्रतिशत या इससे अधिक है तो इसमें एक मिनट या उससे कम समय में पीला रंग आ जाएगा। क्लोराइड की मात्रा अधिक होने पर पीला रंग बहुत ही जल्दी आता है। यदि क्लोराइड की मात्रा 0 14 प्रतिशत से कम है तो उसमें लाल रंग रहेगा।

हॉटिस परीक्षण (Hotis Test)—रोग-ग्रसित थनों से प्राप्त दूध में स्ट्रे० एगैलैक्शिए का पता लगाने के लिए यह जांच सर्वोत्तम है। इसका सन् 1936 में हॉटिस तथा मिलर[21] द्वारा वर्णन किया गया। इस परीक्षण में स्वच्छता की सभी सावधानियों के साथ निकाले गए दूध में से 9·5 घ० सें० लेकर, उसमें 0·5 घ० सें० 0·5 प्रतिशत ब्रोमक्रीसोल नील लोहित (Bromcresol purple) मिलाया जाता है। दूध में यदि थनैली की स्ट्रेप्टोकोकाइ मौजूद होती हैं तो इसे 37° सेंटिग्रेड पर 24 से 48 घंटे तक उद्भवित करने पर उसमें विशिष्ट परिवर्तन दिखाई देता है। मर्फी[22] (Murphy) ने बताया कि "रक्त-ऐगर में संवर्धनीय परीक्षण के साथ दूध के 753 नमूनों में इस जांच का उपयोग 95 प्रतिशत सही उतरा—इससे यह पता लगा कि ग्रुप 1 की थनैली स्ट्रेप्टोकोकाइ (स्ट्रे० एगैलैक्शिए) की उपस्थिति के लिए दो प्रकार की प्रतिक्रियाएँ हुआ करती हैं।" इस विशिष्ट प्रतिक्रिया में परखनली की तली में मोटी, पीली तह जमी हुई पाई जाती है अथवा परखनली की दीवालों में पीली कॉलोनी चिपकी हुई मिलती हैं। चूंकि इसके लिए इन्क्यूबेटर के प्रयोग की आवश्यकता पड़ती है अतः यह एक मैदानी जाँच न होकर प्रयोगशाला परीक्षण है।

निदान—थनैली के निदान में रोगी का इतिहास, अयन तथा दूध की हालत, तथा कोई अन्य लक्षण जो उपलब्ध हो इसके वर्गीकरण में सहायक होता है। लेखक का अनुभव यह प्रदर्शित करता है कि पशुशाला में लाक्षणिक परीक्षण द्वारा अथवा प्रयोगशाला में दूध की जांच के द्वारा इस रोग का सही निदान करना संभव है। यह सीलमन[5] द्वारा अव-

लेकिन उस व्यक्त किए गए सामान्य विचार के विपरीत है जिसमें लिखा है कि अक्सर अयन के क्वार्टर में स्ट्रेप्टोकोकाइ पाई जाती है और वह असामान्य होता है जबकि भलीभांति परीक्षण करने पर भी टिसुओं में परिवर्तनों को महसूस नहीं किया जा सकता। थनैली के नियंत्रण हेतु यह बात अत्यन्त महत्वपूर्ण है। चूंकि थनैली उत्पादक जीवाणु अयन से रुक-रुक कर बाहर निकलते हैं, अतः यह आवश्यक है कि इनकी प्राप्ति के लिए बार-बार परीक्षण किया जाए। केवल इसी विधि द्वारा गायों का अलगाव करना काफी खर्चीला होता है।

यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि प्रयोगशाला में काम करने वाले आधुनिक कार्यकर्ता जो यह निश्चय कर चुके हैं कि बैंग, नोकार्ड तथा अन्य लोगों द्वारा अपनाए गए लाक्षणिक तरीके प्रभावकारी नहीं हैं, वे क्या इस जांच करने तथा निर्णय लेने के लिए योग्य हैं। वैसे तो यह विधि साधारण मालूम होती है किन्तु अयन के वर्गीकरण करने का ज्ञान काफी अभ्यास के बाद प्राप्त होता है। इसमें केवल अयन के कड़ेपन का ही जान लेना पर्याप्त नहीं है क्योंकि इसके अन्तर्गत सभी प्राप्य प्रमाणों के आधार पर न्यायोचित निर्णय लेना तथा अनुभव भी शामिल है।

निर्णय लेते समय इस बात पर विचार करना चाहिए कि यह तन्तुमयता स्थायी है अथवा प्रगामी और यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि दूध में असमान्यताएँ, विशेषकर ग्रूप 2 और 3 के अयन में, अपनी स्थिरता तथा वेग में भिन्न-भिन्न होती हैं। इन समूहों में जीवाणु परीक्षणों के ऋणात्मक होने पर रासायनिक (पी-एच, क्लोरीन) तथा कोशीय (श्वेताणु) परिवर्तन मौजूद होते हैं। क्षतस्थलों के बढने के बाद अधिकाश रोगियों का दूध स्थायी रूप से असामान्य हो जाता है। रोग का निदान करते समय पशु की आयु, पिछली बार ब्याने की तिथि तथा यह ज्ञात कीजिए कि उसको पहले कभी थनैली तो नहीं हुई है। थनैला रोग पशुओं में कम दूध उत्पादन का अक्सर कारण बनता है और जब कभी कोई पशु-पालक यह सूचित करे कि उसकी गाय कम दूध देने लगी है तो इसका संदेह अवश्य करना चाहिए। फिर भी एक बड़े अयन वाली अधिक दुधारू गाय अयन में कई विशिष्ट क्षतस्थल होने के बाद भी अधिक दूध दे सकती है।

नियंत्रण की विधियां—थनैली के नियंत्रण हेतु रोग के कारणों के अन्तर्गत बताए गए दो प्रमुख कारकों पर ध्यान देना जरूरी है : रोग-ग्रसित गाय तथा अयन की रक्षा। एक विचार धारा के अनुसार जिस प्रकार क्षय रोग का कन्ट्रोल ट्युबरर्कुलिन जांच द्वारा रोग-ग्रसित गाय की पहचान करने पर निर्भर है, ठीक उसी प्रकार थनैली का कन्ट्रोल दूध का जीवाणु-परीक्षण करके रोग-ग्रसित गाय का पता लगाने पर निर्भर होता है। निदान की यह विधि वाछनीय है किन्तु, यह आमतौर पर उपलब्ध नहीं हो पाती और यह अनिवार्य भी नहीं है।

अनेक यूथों में यह प्रदर्शित किया जा चुका है कि थनैली से ग्रसित गाय को स्वस्थ पशुओं से अलग करके तथा स्वच्छ वातावरण में उसका दूध दुहकर एवं पशुशाला की सफाई का ध्यान रखकर शीघ्रता से इस बीमारी पर काबू पाया जा सकता है। ऐसा बैंग द्वारा अनेक वर्ष पूर्व ही बताया जा चुका है। इस विचार के समर्थन में पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध हैं कि अयन की रक्षा करना निदान से भी अधिक महत्वपूर्ण है। बहुत से नए रोगी थन

में चोट लगने से प्रारम्भ होते ह जहाँ से धीरे-धीरे इस रोग की छूत चारो थनों में पहुँच जाती है। लेखक की छोटी सी प्रयोगात्मक यूथ में प्रत्येक दूसरी गाय स्ट्रे० एगैलैक्टिइए से बुरी तरह संक्रमणित थी और जिसमें कोई भी विशेष सावधानियाँ नही ली गई थीं। इस यूथ में बिना किसी पूर्व चोट के तीन वर्षों में केवल एक नया रोगी देखा गया। इससे यह कहा जा सकता है कि कुछ रोग-ग्रसित अयन जो 3 तथा 4 समूह के अन्तर्गत नही आते, वे उस जगह संक्रमण फैलाने का स्रोत नही बनते जहाँ सफाई आदि का विशेष ध्यान रखा जाता है। इन परिस्थितियो में श्रेणी 3 के समूह में संक्रमणित तथा असंक्रमणित पशुओं के मध्य जल्दी ही इसकी छूत नही फैलती। बुरी तरह रोग-ग्रसित श्रेणी 4 की गाय संक्रमण फैलाने का प्रमुख स्रोत होती है और ऐसा पशु सदैव ही कम उत्पादक होता है।

समुचित स्थान, थनों को पैरो द्वारा कुचलने से बचाने के लिए स्थान विभाजन, तथा पर्याप्त बिछावनयुक्त सूखे फर्शों का होना न्यूनतम आवश्यकताएँ हैं। पशुशाला के बिछौने को छोड़कर फर्श तथा नालियों पर सुपर फास्फेट डालना वांछनीय है। यह एक हल्का ऐंटिसेप्टिक है और नमी को शोषित करने का इसमें विशेष गुण होता है।

सभी रोग-ग्रसित गायों को एक जगह रखना चाहिए और रोग के संक्रमण के अनुसार पशुशाला में बाँधने के इनके स्थान भी निश्चित कर देने चाहिए। इस प्रकार न० 4 ग्रूप की सभी गायें पशुशाला में एक निश्चित स्थान पर रहेंगी और कभी भी अन्य स्थानों में नही घुसेंगी। इसी प्रकार न० 3 की गायें भी एक साथ रहेंगी। नं० 1 तथा 2 को एक इकाई माना जाता है और इन्हें 3 या 4 न० के अयन वाले पशुओं के साथ नही बाँधा जाता। यह सम्भव है कि प्रमुख तौर से इसकी छूत न० 4 के अयन वाली गायों से ही फैलती है किन्तु 3 या 4 के अन्तर्गत वर्गीकृत सभी पशुओं को 1 तथा 2 से अलग बाँधना चाहिए। ऐसा करना तब कठिन हो जाता है जब एक पशुपालक यह मानने को तैयार नहीं होता कि अमुक गाय रोग-ग्रसित है अथवा जब वह यह निश्चित कर लेता है कि न० 4 अयन वाली गाय "ठीक हो गई" है। सामान्य परिस्थितियों में एक गाय से दूसरी गाय में इस रोग की छूत धीरे-धीरे फैलती है। किन्तु, अन्त में 50 प्रतिशत अथवा अधिक अयनो में थोड़ा-बहुत कड़ापन हो सकता है तथा यूथ बुरी तरह क्षतिग्रस्त हो जाता है। सबसे अच्छा अलगाव गाय को अलग रखने तथा अलग दुहने से प्राप्त होता है, किन्तु यह कठिनता से ही सम्भव हो पाता है। सभी ग्रूपों को एक ही पशुशाला म अलग रखने तथा स्वस्थ पशुओं का दूध पहले निकलवा लेने से समुचित अलगाव हो जाता है।

स्ट्रिप-कप के दैनिक प्रयोग से ग्वाले को उग्र रोगावस्था का समय से ही पता लग जाता है जिससे रोगी की भली-भाँति चिकित्सा करके रोग की रोकथाम की जा सकती है। यह अयन के वर्गीकरण में भी सहायक होता है। जब किसी गाय का दूध पानी जैसा पतला हो अथवा उसमें बार-बार छीछड़े, फुटक या पीव आता हो तो उसे तत्काल ही यूथ के स्वस्थ पशुओं के समूह से हटाकर अलग बाँधना चाहिए। ऐसे रोगी को चिकित्सा म उसे दाना देना कम कर दीजिए तथा थन में प्रतिजैविक पदार्थ (2 दशलक्ष यूनिट पैनिसिलिन 20 घ० सें० पनिबिल, तथा 1/2 से 1 ग्राम स्ट्रेप्टोमाइसीन) चढ़ाइए।

अयन को धोने के लिए एक विशेष प्रकार की 10¾"×11" की एक बार प्रयोग होने वाली कागज़ की तौलिया ("Kotawl") प्रयोग की जाती है। प्रयोग करने के पूर्व इस तौलिया को 200 भाग प्रति दसलक्ष क्लोरीन घोल अथवा 130° फारेनहाइट पर रखे साबुन के पानी में थोड़ा-सा भिगोकर निचोड़ लिया जाता है। तत्पश्चात् अयन को साफ करके इसे फेंक दिया जाता है। प्रत्येक थन से दूध की कुछ धारें निकाल दी जाती हैं और इसके बाद उन पर सीधे दोहन-मशीन लगा दी जाती है। इस प्रकार मशीन के प्रयोग से पूर्व ही परिचारक दो गायों के अयन को साफ करके उन्हें दुहने के लिए तैयार करता जाता है। वैसे तो अयन का धोना वांछनीय है, किन्तु यदि ठीक से किया जा सके तो बिना धोए ही दोहन प्रारम्भ करने से पूर्व चुटकी से कुछ धारें निकालकर दूध के बहाव को उत्तेजित किया जा सकता है। दूध की अंतिम धारें दोहन-मशीन से ही निकाली जानी चाहिए तथा थनों को चोट से बचाने के लिए इनका प्रयोग कम से कम समय में करना चाहिए। यदि गाय का दूध पहले हाथ से निकाला जाता है तो यह स्पष्ट है कि दोहन मशीन के प्रयोग का समय अपने आप कम होगा और इसके परिणामस्वरूप इस बात की राय दी जाती है कि गाय को चुटकी-विधि से दुहना चाहिए। वैसे तो मशीन को न्यूनतम समय के लिए प्रयोग करके अयन से पूर्ण दूध निकाला जा सकता है, किन्तु अनेक पशुओं में इसके अतिरिक्त भी होते देखा जाता है। एक या अधिक थनों में दूध की विभिन्न मात्रा शेष रह सकती है और अनेकों प्रयोग यह प्रदर्शित कर चुके हैं कि अपूर्ण दोहन से गाय को किसी भी अंश की थनैली हो सकती है। इसके अतिरिक्त चुटकी से निकाले गए दूध में चिकनाई की मात्रा अधिक होती है और इसके अभाव में पूरे यूथ का मक्खन-वसा-परीक्षण कम हो जाता है।

प्रत्यक्ष रूप से रोग-ग्रसित दिखाई देने वाले थनों पर दोहन-मशीन का प्रयोग न करके, उन्हें हाथ से ही दुहना चाहिए। सामान्य परिस्थितियों में मशीन की अपेक्षाकृत हाथ से दुही जाने वाली यूथों में थनैली का प्रकोप कम तथा धीरे-धीरे होता है। किन्तु, यदि भली-भाँति देखभाल की जाती है तथा रोग-ग्रसित थनों पर इसका प्रयोग नहीं किया जाता है तो दोहन-मशीन का प्रयोग अच्छा है। यदि केवल स्वस्थ गायों पर इसके प्रयोग करने में कुछ कठिनाई हो तो प्रत्येक गाय को दुहने के बाद मशीन के प्यालों को खूब साफ कर लेना चाहिए। इसकी सर्वोत्तम विधि यह है कि पहले इन प्यालों को एक साफ पानी से भरी बाल्टी में डुबोइए और उसके बाद इन्हें 200 भाग प्रति दसलक्ष वाले क्लोरीन घोल से धोइए। इन प्यालों तथा थनों को इस प्रकार डुबोने के प्रति लोगों ने आपत्ति की है क्योंकि क्लोरीन घोल में ऐसा करने से वह संक्रमण लगा ही रह जाता है जिसे प्रयोगशाला-परीक्षण करके देखा गया है। त्वचा अथवा दोहन उपकरण के सभी भागों के पूर्णरूपेण जीवाणुरहित न हो पाने से चिकित्सकों का ऐसा विचार नहीं है कि सफाई के सामान्य नियमों पर ध्यान नहीं देना चाहिए। थनैली के कारण के बारे में कोई भी वाद क्यों न हो, ऐसा आमतौर पर देखा गया है कि जहाँ सफाई आदि का विशेष ध्यान रखा जाता है वहाँ इससे होने वाली क्षति कम होती है। दोहन-मशीनों को जीवाणुरहित करने की जानकारी के लिए प्रादेशिक कृषि महाविद्यालय, इथाका, न्यूयार्क की पत्रिका 492 देखिए।

हाथ से दूध निकालने में यह वांछनीय है कि ग्वाला प्रत्येक गाय को दुहने के बाद अपने हाथ भलीभाँति धो लेवे। प्रत्येक गाय को दुहने से पहले उसे चाहिए कि वह अपने हाथों को साबुन और पानी से धोकर उन्हें क्लोरीन घोल (100–200 भाग प्रति दसलक्ष) से धोवे और किसी साफ तौलिया (कागज की तौलिया) से पोंछ कर सुखा ले। दूध को फर्श पर न दुहा जाए और न गीला दोहन किया जाए।

थनों को साफ करने के लिए, दुहने के बाद थनों के सिरों को डुबोने के लिए थोड़े से क्लोरीन घोल (1/2 से 1 पिंट 200 भाग प्रति दसलक्ष वाला घोल) की आवश्यकता पड़ती है। 20 से 30 गायों के थन डुबोकर इस घोल को फेंक देना चाहिए। डुबोने के लिए काँच, पोर्सलीन अथवा तामचीनी का बना हुआ एक इतना बड़ा बर्तन लेना चाहिए जिसमें घोल भरने पर एक ही साथ चारो थनों के सिरे डूब जाएँ।

सप्ताह में एक बार फर्श पर से कूड़ा-करकट को हटाकर, उसे खुरचकर उस पर जीवाणुहनक पदार्थ (3 से 5 प्रतिशत सज्जीखार का गर्म घोल, 400-500 भाग प्रति दसलक्ष क्लोरीन घोल) छिड़कना चाहिए। प्रत्येक गाय को समुचित फर्श स्थान, विभाजन तथा गुदगुदा बिछौना देना चाहिए। अधिक दूध देने वाली गायों को नित्य तीन बार हाथ से दुहना चाहिए। स्ट्रिप-कप तथा ब्रोमथाइमोल-नील-परीक्षण करने पर यदि दूध नार्मल निकले तो पहली बार ब्याने वाली बछियों तथा रोग रहित समूह की ताजी ब्यायी हुई गायों को स्वस्थ समूह के साथ बाँधा जा सकता है। अन्य यथों से लाए गए पशुओं को तब तक अपने स्वस्थ यूथ में नहीं मिलाना चाहिए जब तक उनको अलग रखकर यह न देख लिया जाए कि उनका दूध नार्मल है।

चिकित्सा—दीर्घकालिक थनैली की चिकित्सा में दो समस्याएँ मिलती हैं : (1) गायों का वह समूह जिनके अयन क्षतिग्रस्त हो चुके होते हैं किन्तु, फिर भी वे दूध उत्पादन के योग्य रहते हैं, और (2) सक्रिय थनैली से पीड़ित गाय जिसके दूध में छीछड़े अथवा थक्के निकलते हैं।

क्षतिग्रस्त समूह में नं० 3 और 4 वाले अयन शामिल हैं। इन रोग-ग्रसित गायों को पशुशाला में इस क्रम से बाँधना चाहिए कि ग्वाला दोहन के समय कम क्षतिग्रस्त अयनों से अधिक रोग-ग्रसित की ओर बढ़ता जावे। रोग-ग्रसित थनों से पूरा दूध निकालने पर विशेष ध्यान देना चाहिए। ऐसी गायों को सुखाते समय अधिक सावधानी तथा देखभाल करने की आवश्यकता पड़ती है। कुछ गायों को रोग के उग्र आक्रमण के बिना प्रकोप किए नहीं सुखाया जा सकता, अतः ऐसी गायों को लगातार दुहते रहना चाहिए। इनको अधिक दाना नहीं खिलाना चाहिए। कम खुराक खिलाकर तथा सावधानी से दूध दुहकर ऐसे समूह से अच्छा उत्पादन लिया जा सकता है और कम रोग-ग्रसित पशुओं की हालत में सुधार हो सकता है। अधिकतम उत्पादन के लिए अत्यधिक खिलाने से नष्टकोथ उग्र प्रतिक्रिया उत्पन्न हो सकती है।

बीमारी के प्रति टीका लगाने का काफी प्रयोग किया गया है किन्तु, इस बात का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है कि यह रोग के उन्मूलन अथवा रोकथाम में सहायक होता है।

यदि अयन पहले नार्मल रहा हो तो उग्र थनैली चिकित्सा करने से ठीक हो जाती है। किन्तु, तेज बुखार तथा उग्र सामान्य लक्षणों के साथ उग्र पूतिदूषित थनैली (acute

septic mastitis) प्राणघातक सिद्ध हो सकती है। उग्र थनैली से ग्रसित 54 थनों में से 22 कोलीफार्म जीवाणुओं, 8 रुधिर-संलायी स्टैफिलोकोकाइ तथा 9 थन हरे स्ट्रेप्टोकोकाइ (स्ट्रे० डिस्लैक्शिए तथा यूबेरिस) से संदूषित थे—फर्गूसन[33]। इसके बाद वाली श्रेणियों में रुधिर-संलायी स्टैफिलोकोकाइ प्रधान थे।

जब से इस रोग की चिकित्सा में प्रतिजैविक पदार्थों का प्रयोग होने लगा है तब से उग्र पूतिदूषित थनैली से मरने वाले पशुओं की संख्या में काफी कमी हो गई है। वैसे तो औषधि के प्रयोग का विवरण कुछ भिन्न हो सकता है किन्तु, निम्नलिखित विधि इसका एक उदाहरण है: अयन में दवा भरने से पूर्व दूध का बहाव उत्तेजित करने के लिए पशु को 5 घ० सें० पश्च पिट्युटरी सत्व का अंतः शिरा इन्जेक्शन दीजिए। तत्पश्चात् अगले पन्द्रह मिनट में जितना दूध निकाला जा सके निकाल लीजिए। फिर उस थन में 500,000 यूनिट रवेदार पैनिसिलिन, तथा 1/2 से 1 ग्राम स्ट्रेप्टोमाइसीन को 50 घ० सें० डिस्टिल्ड वाटर, अथवा सलाइन घोल या सल्फामेराजीन अथवा सल्फामेथाजीन के जलीय घोल में घोल कर चढ़ा दीजिए। अयन के ऊपर एक पट्टी की सहायता से बर्फ का टुकड़ा बांध दीजिए। रोगी को अंतः पेशी इन्जेक्शन द्वारा 1 से 3 दसलक्ष यूनिट पैनिसिलिन, तथा 1/2 ग्राम स्ट्रेप्टोमाइसीन दीजिए तथा मुहँ द्वारा सल्फामेराजीन के 1 औंस वाले दो कैप्सूल खिलाइए। तत्पश्चात प्रत्येक चौबीस घंटे के बाद एक कैसूप्ल देते रहिए। पैनिसिलिन नित्य दी जा सकती है।

अयन को जीवाणु रहित करना—अनेक वर्षों से दीर्घकालिक थनैली की चिकित्सा में जीवाणुनाशक पदार्थों को अंतः स्तनीय इन्जेक्शन द्वारा थन-नली में चढ़ाने का प्रयोग होता रहा है। सन् 1934 में स्टेक[24] ने बताया कि एगैलेक्शिऑसिस (agalactiosis) के कंट्रोल में रसायनी-चिकित्सा (chemotherapy) बहुत ही महत्वपूर्ण सिद्ध हुई है और वे रोगी जो बिल्कुल ही ठीक नहीं हो सकते वह भी कीटाणुओं की संख्या में कमी हो जाने के कारण कम खतरनाक हो जाते हैं।

प्रयोगात्मक रूप से थनैली की चिकित्सा तब प्रारम्भ की जाती है जब दुधारू गायों के दूध में छीछड़े, फुटक अथवा पीव निकलने लगता है और यह संक्रमण के प्रकार का बिना पता लगाए ही शुरू कर दी जाती है। वैसे तो यह जानकारी वांछनीय है, किन्तु अनुभव यह प्रदर्शित कर चुके हैं कि लक्षण प्रकट होते ही चिकित्सा प्रारम्भ कर देना अत्यधिक गुणकारी है।[35] इस प्रकार इलाज करने के बाद ऐसे रोगियों से प्राप्त दूध की जब प्रयोगशाला में जाँच की जाती है तब उसमें संदूषण नहीं पाया जाता। ऐसा पहली बार ब्याने वाली बछियों तथा उन युवा गायों में विशेषकर देखा जाता है जिन पर पहले कभी थनैली का आक्रमण न हुआ हो। अनेक पशु-चिकित्सकों ने दूध के प्रयोगशाला परीक्षण के बिना केवल भौतिक-परीक्षण द्वारा ही रोग का निदान करके थनैली की चिकित्सा में सफलता प्राप्त की है। उन सूखे थनों की चिकित्सा के बाद, जिनमें दुग्धकाल में अधिक बैक्टीरिया नहीं पाए गए, दूध में सुधार होते देखा गया। गाय के सूखे रहने की अवधि में अयन की चिकित्सा में अधिक लाभ होता है। इसके अन्तर्गत वे थन शामिल हैं जिनसे प्राप्त दूध के नमूनों में रोगोत्पादक जीवाणु मिलते हैं अथवा जिनमें पहले दुग्धकाल में बार-बार थनैली होने का इतिहास मिलता है, अथवा सूखे रहने के दिनों में जिनका परीक्षण करने पर असामान्य

छीस निकलता है और उनमें कड़ापन मौजूद होता है। जब कभी उपलब्ध हो सके प्रयोगशाला परीक्षण से प्राप्त परिणाम के अनुसार ही सूमे अयन की चिकित्सा करनी चाहिए।

जीवाणु-हनक पदार्थों का चुनाव करते समय यह वाछनीय है कि ऐसा पदार्थ प्रयोग किया जाए जो अयन में क्षोभण तथा दूध के गुणों में स्थायी परिवर्तन उत्पन्न न करे। आधुनिक प्रतिजैविक पदार्थों में से कई में ऐसे गुण पाए जाते हैं। पैनिसिलिन तथा स्ट्रेप्टोमाइसीन का पानी युक्त तैलीय समिश्रण खूब प्रयोग होने वाली एक प्रभावकारी दवा है। 100,000 यूनिट प्रोकेन पैनिसिलिन का जलीय घोल 20 घ० सें० पैनिकिल, 1/5 ग्राम स्ट्रेप्टोमाइसीन (100-20 1/5) इसके उदाहरण हैं। रोग के भीषण प्रकोप में निम्नलिखित औषधियों का समिश्रण लाभप्रद है : 500,000 यूनिट प्रोकेन पैनिसिलिन जी का जलीय घोल, 40 घ० सें० पैनिकिल, 1 ग्राम (500-40-1) स्ट्रेप्टोमाइसीन। गाय यदि दूध दे रही हो तो इस दवा को प्रति चौबीस घंटे के अवकाश पर देना चाहिए। बिना दूध देने वाली गायों के संक्रमित अयन की चिकित्सा हेतु इसे रोग के वेग अथवा संक्रमण के प्रकार (स्टैफिलोकाक्कस, सिउडोमोनास) के अनुसार एक या अधिक बार दिया जा सकता है।

चिकित्सा की सफलता का सबसे प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि दूध के गुणों का सुधार हो अथवा चिकित्सा के बाद प्राप्त दूध के नमूनों की जाँच करने पर उनमें इस रोग के जीवाणु न मिलें। कुछ दिनों अथवा सप्ताहों में संक्रमण गायब हो सकता है अथवा धीरे-धीरे जीवाणु कम होकर महीनों का समय लग सकता है, जैसा कि स्टैफिलोकाक्कस थनैली के कुछ रोगियों में होते देखा जाता है। स्टैफिलोकाक्कस की चिकित्सा करने के बाद स्ट्रे० एगैलैक्शिए संक्रमण ठीक हो सकता है, तथा स्टैफिलोकाक्कस के स्थान पर प्रायः स्ट्र० एगैलैक्शिए हो सकता है। एक बार संक्रमण पर काबू पाने के बाद पुनः इसका प्रकोप हो सकता है और यदि ऐसा नहीं भी होता है तो भी दूध असामान्य रह सकता है। पुनः छूत लगने तथा दूध के सामान्य न होने की प्रवृत्ति तन्तुमयता वाले अथवा काफी अपक्षयित थनों में देखी जाती है। गाय को अधिक दिनों तक सूखा रखने से दूध के गुणों में सुधार तथा संक्रमण से छुटकारा मिलते देखा जाता है। थनैली के भयंकर प्रकोप से पीड़ित थन चिकित्सा करने पर सूख सकते हैं और लगभग बिल्कुल ही काम करना छोड़ देते हैं।

प्रत्येक रोगी में संक्रमण के प्रकार की पहचान करना वाछनीय है किन्तु, इस आवश्यक जानकारी के लिए सभी चिकित्सकों को सुविधाएँ उपलब्ध नहीं हैं। यदि लेखक के अवलोकन तथा विचार सही हैं तो रोग का फलानुमान जानने के लिए संक्रमण के प्रकार की जानकारी की अपेक्षाकृत रोग-ग्रसित थन के भौतिक गुणों का सही ज्ञान करना अधिक आवश्यक है और यह जानकारी सभी को प्राप्य है। अयन का वर्गीकरण करने के लिए यह सीखने में अधिक कठिनाई नहीं होती कि थोड़ी, स्पष्ट अथवा अधिक तन्तुमयता को तथा उसमें हुई अपक्षयता का प्रत्येक थन में किस प्रकार पहचाना जाए।

अधिक स्टैफिलोकाक्कस से युक्त स्तनीय संक्रमणों की चिकित्सा में शाम तथा वुड[31] ने 90 प्रतिशत दुधारू तथा 73 प्रतिशत सूखे थनों को एक लाख यूनिट पैनिसिलिन तथा 1 ग्राम डाइहाइड्रोस्ट्रेप्टोमाइसीन को 50 घ० सें० पानी में घोलकर 24 घंटे के अवकाश पर चार बार देकर ठीक किया। 7.5 ग्राम की मात्रा में दबाने वाली शीशियों

में उपलब्ध टेरामाइसीन को बिना दूध देने वाली गायों के थनों में डालने से स्ट्रेप्टोकोकाइ तथा स्टैफिलोकोकाइ दोनों ही प्रकार के जीवाणु नष्ट हो जाते हैं।

गो-जातीय थनैली के लिए स्वीकृत चिकित्सा

न्यूयार्क स्टेट थनैली अन्वेषण तथा नियंत्रण योजना

न्यूयार्क स्टेट पशु-चिकित्सा विज्ञान महाविद्यालय, कार्नेल यूनिवर्सिटी, इथाका, न्यूयार्क

	दुधारू गायें	सूखी गायें
	लाक्षणिक थनैली—दीर्घकालिक अथवा हल्की	
ज्ञात स्ट्रेप्टोकाक्कस ज्ञात रुधिर-संलायी स्टैफिलोकाक्कस अज्ञात संक्रमण।		
पैनिसिलिन[1]-200 या अधिक हजार यूनिट+$\frac{1}{6}$ से $\frac{1}{3}$ ग्राम डाइहाइड्रोस्ट्रेप्टोमाइसीन जल युक्त तैलीय पायस में।[2]	रोग की उग्रता के अनुसार जैसा बताया गया है बार-बार दिया जाए।	पूर्ववत
प्रोकेन पैनिसिलिन-200 या अधिक हजार यूनिट[3]+1/5 1/2 ग्राम डाइहाइड्रोस्ट्रेप्टोमाइसीन व्यवसायिक रूप से तैयार किए गए मूंगफली के तेल में। (कुछ में सल्फास भी हो सकता है)	10-20 घ० सें० (अथवा अधिक) 1 से 2 बार 48-72 घंटे के अवकाश पर।	पूर्ववत
पैनिसिलिन[1]-200 हजार यूनिट 50-80 घ० सें० सल्फोनामाइडों के जलीय घोल में।[3,5]	2 से 4 बार 12-24 घंटे के अवकाश पर	अस्वीकृत
टेरामाइसीन-400 या अधिक मिलिग्राम वाली मरहम ट्यूब।	1 से 2 बार 24-48 घंटे पर अथवा जिस प्रकार बताया गया है दुबारा दिया जाए।	पूर्ववत
नियोमाइसिन-0·5+100-200 हजार यूनिट पैनिसिलिन जल युक्त तैलीय पायस में।	जैसा बताया गया है दोहराया जाए।	पूर्ववत
टाइरोथ्रीसिन-20-40 घ० सें० तेल अथवा अन्य मिश्रणों में।[4] यह 200 या अधिक हजार यूनिट पैनिसिलिन के साथ संयोजित हो सकती है।[5]	जब तक दूध सुखाना न हो इसका प्रयोग नहीं किया जाता।	अयन में कुछ स्राव मौजूद होना चाहिए। यदि सूजन मौजूद रहे तो 48 घंटे बाद दुह दीजिए।

रोग के नैदानिक लक्षणों के साथ अथवा बिना, ज्ञात स्ट्रेप्टोकाक्कस एगैलिक्टिइए

पैनिसिलिन[1]–100-200 या अधिक हजार यूनिट 10-20 घ० सें० जल युक्त तैलीय पायस में।[2,3]	रोग के वेग के अनुसार 24-72 घंटे के अवकाश पर 1 से 3 बार।	सुखाने के 7-10 दिन बाद आमतौर पर 1 बार। यदि रोग उभड़ रहा हो तो इसे दोहराया जा जा सकता है।
आरोमाइसिन मरहम–400 अथवा अधिक मिलिग्राम वाली ट्यूब।	24-48 घंटे के अवकाश पर 1 से 3 बार।	24-48 घंटे के अवकाश पर 1 से 2 बार जब गायें सुखाई जा रही हों अथवा जब सूख चुकी हों।

कोलीफार्म
(Coliform)

डाइहाइड्रोस्ट्रेप्टोमाइसिन 1/2-1 ग्राम+200 हजार यूनिट पैनिसिलिन या तो जलीय घोल में, अथवा जल युक्त तैलीय पायस में।[2]	यदि जलीय घोल है तो 12-24 घंटे पर और यदि पायस का प्रयोग किया जाता है तो 24-72 घंटे पर 1-3 बार। अयन में पीव पड़ने पर प्रति 12 घंटे के अवकाश पर इसका प्रयोग कीजिए।	1 बार जब गाय सुखाई जा रही हो। 1 बार जब रोग उभड़ रहा हो।

[1] प्रोकेन पैनिसिलिन जी जलीय घोल में।
पैनिसिलिन जी—रवेदार—प्रोकेन नहीं।

[2] उत्तम परिणामों के लिए उदासीन पी-एच वाले वाहकों का प्रयोग कीजिए।

[3] उग्र रोगियों पर प्रयोग करने के लिए सुरक्षित।

[4] उग्र रोगियों पर प्रयोग करने के लिए अति क्षोभक।

[5] प्रयोग करने के तत्काल पूर्व सल्फास में पैनिसिलिन मिलाइए।

सिउडोमोनैस प्रकारें
(Pseudomonas Types)

सोडियम आयोडायड के 20 घ० सें० 20 प्रतिशत घोल में पचास मिलिग्राम पॉलीमिक्सिन बी मिलाकर 24 से 72 घंटे के अवकाश पर 2 से 3 बार देने से चिकित्सा किए गए रोगियों में से 40 प्रतिशत रोगी पशु ठीक हो जाते हैं। जल युक्त तैलीय पायस, अथवा जलीय घोल में 0.5 ग्राम नियोमायसिन के प्रयोग से भी लगभग इतने रोगी ठीक हो जाते हैं। ज्ञात पैराकोलाइ (Paracoli) के लिए इन दोनों औषधियों तथा 0.5 ग्राम डाइहाइड्रोस्ट्रेप्टोमाइसिन का मिश्रण प्रयोग किया जाता है।

सक्रमण के उन्मूलन के लिए चिकित्सा असफल हो सकती है, किन्तु इससे रोगी की हालत में सुधार अवश्य होता है।

उग्र थनैली (Acute mastitis)—रोग-ग्रसित थन में कम से कम 200 हजार यूनिट पैनिसिलिन तथा 1/4-1/2 ग्राम डाइहाइड्रोस्ट्रेप्टोमाइसिन को 50 घ० सें० डिस्टिल्ड

वाटर, सलाइन अथवा सल्फामेराजीन या सल्फामेथाजीन के जलीय घोल में घोलकर चढ़ाइए। यह चिकित्सा तब और भी अधिक प्रभावकारी सिद्ध होती है जब 2.5 घ० सें० पश्च पिट्यूटरी सत्व (Posterior pituitary extract) को अंतःशिरा इन्जेक्शन देकर अयन में का सारा दूध निकाल लिया जाता है। (थनों में दवा चढ़ाने से पूर्व प्रत्येक बार यह क्रिया दोहराइए)।

जब तक अयन की सख्त सूजन कम न हो जाए उस पर बर्फ के टुकड़े बाँधते रहिए। जब थन पर बर्फ बँधा रहता है तो दूध का बहाव अधिक होता है, अतः 8-12 घंटे के अवकाश पर उसमें का दूध निकालकर, ऊपर बताई गई विधि से दवा चढ़ाते रहिए। कुछ परिस्थितियों में अयन को ठंडे पानी से तर करने तथा 20-30 मिनट के अवकाश पर दूध निकालते रहने से उग्र सूजन में काफी कमी होती देखी जाती है। जब यह विधि अपनाई जाती है तो गाय की विधिवत चिकित्सा हो जाती है किन्तु आमतौर पर, जब तक उसका बार-बार दुहना बंद नहीं किया जाता, अयन में दवा नहीं चढ़ाई जाती।

इसमें दैहिक-चिकित्सा करने की अक्सर राय दी जाती है। 1.5 से 3 अथवा अधिक दसलक्ष यूनिट पैनिसिलिन तथा 1 से 5 ग्राम डाइहाइड्रोस्ट्रेप्टोमाइसिन का अंतःमास पेशी इन्जेक्शन दिया जाता है (दोनों औषधियों को एक साथ मिलाकर दिया जा सकता है)। कुछ चिकित्सक 1 से 5 ग्राम डाइहाइड्रोस्ट्रेप्टोमाइसिन रोग-ग्रसित थन में चढ़ाना अधिक पसंद करते हैं। थन में औषधि की समुचित मात्रा बनाए रखने के लिए 6 घंटे के अवकाश पर डाइहाइड्रोस्ट्रेप्टोमाइसिन के अंतःपेशी इन्जेक्शन को दोहराते रहना चाहिए। 3/4 ग्रन प्रति पौण्ड शरीर भार की दर पर सल्फोनामाइड के जलीय घोल का अंतःशिरा इन्जेक्शन दिया जा सकता है जिसके पश्चात् दो दिन तक मुहँ द्वारा सल्फा औषधियाँ (सल्फाथायाजोल, सल्फामेथाजीन अथवा अन्य सल्फा औषधियाँ) खिलाई जाती हैं। कम पानी पीने वाली गायों में इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि उनमें सल्फोनामाइड-विषाक्तता न होने पावे। कभी-कभी सलाइन घोल अथवा रक्त चढ़ाने की भी आवश्यकता पड़ सकती है।

कुछ रोगी, नित्य 5 ग्राम की मात्रा में आरोमाइसिन अथवा टेरामाइसिन का अंतःशिरा इन्जेक्शन देने से ठीक होते देखे गए हैं। प्रतिहिस्टामिन-चिकित्सा का प्रयोग भी किया जा सकता है।

टिप्पणी —ज्ञात अथवा अज्ञात संक्रमणयुक्त अति रोग-ग्रसित रोगियों में 3 लाख यूनिट प्रोकेन पेनिसिलिन तथा 1 से 5 ग्राम डाइहाइड्रोस्टेप्टोमाइसिन का अंतः पेशी इन्जेक्शन लाभप्रद होता है।

उग्र सेप्टिक थनैली में थन में दवा चढ़ाने के अतिरिक्त सल्फा-औषधियों के 10 से 20 प्रतिशत घोल का अंतःशिरा इंजेक्शन देना और भी अधिक गुणकारी है। (इनकी मात्रा 3/4 ग्रेन प्रति पौण्ड शरीर भार है)।

रुधिरांशलायी स्टैफिलोकाक्कस तथा स्ट्रेप्टोकाक्कस (एगैलैक्टिए को छोड़कर) की चिकित्सा केवल तब की जाती है जब या तो अयन में असामान्य स्राव मौजूद हो अथवा उसमें हाल में ही कष्ट होने का इतिहास मिलता हो।

अभिलेखों से यह पता चलता है कि ऊपर से सामान्य दिखाई देने वाले थनों में, किन्तु प्रयोगशाला-परीक्षण द्वारा उनमें निदान किए गए स्ट्रेप्टोकाक्कस एगेलेक्टिआए के सक्रमण में 100 हजार यूनिट पेनिसिलिन चढ़ाना अति लाभप्रद सिद्ध हुआ है। किन्तु, लाक्षणिक थनैली की चिकित्सा में सभी प्रकार के रोगियों पर काबू पाने के लिए एक ही प्रकार का इलाज करना पर्याप्त नहीं है। थनों में कितनी बार दवा चढ़ाई जाए यह निर्णय स्वयं ही लेना चाहिए। अनेक रोगियों में केवल एक ही बार दवा चढ़ाने से अनुकूल परिणाम प्राप्त हो जाते हैं, किन्तु अधिक खराब थनों में दो बार ऐसा करना अधिक अच्छा है। थन में तन्तुमयता (कड़ापन) होने पर काफी मात्रा में प्रतिजैविक-पदार्थों का प्रयोग करना चाहिए। रोगी की दशा तथा चिकित्सा की अनुकूलता के आधार पर बीमार गाय (सेप्टिक अथवा विषैली थनैली) को कई बार दवा देने की आवश्यकता पड़ सकती है।

सूखी गायें—यदि गाय को सुखाते समय उसमें थनैली के लक्षण उभड़ते दिखाई पड़ें तो उसका उसी क्षण इलाज करना चाहिए। गायों के थनों में दवा चढ़ाने के बाद कई दिनों तक उनकी इस बात के लिए निकटतम देखभाल करनी चाहिए कि अयन में सूजन आदि तो नहीं आती। यदि सूजन अथवा शोथ हो गया हो तो उनके थनों को दुह कर दुधारू गायों की भांति ही देखभाल करनी चाहिए।

पशु-पालकों को यह बता देना चाहिए कि चिकित्सा किए हुए थनों से प्राप्त दूध को 72 घंटे तक अथवा जब तक वह नार्मल न हो जाए, बाजार में न बेचें।

इस सूची का यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि इस रोग की चिकित्सा की केवल यही मान्य औषधियां हैं। इसके अन्तर्गत वे सब इलाज आते हैं जिनके प्रयोग से प्रयोगशाला में निदान की गई अथवा लाक्षणिक थनैली की चिकित्सा में लगातार अच्छे परिणाम प्राप्त हुए हैं।

पशु-चिकित्सकों द्वारा बिना अपूतिदूषित सावधानियों के तथा डेरी में काम करने वाले लोगों द्वारा समुचित रोकथाम के उपाय अपनाए बिना किया गया थनैली का इलाज बहुत ही कम स्थायी महत्व रखता है।

पशु-चिकित्सकों के लिए इसका प्रयोजन यह है कि वे जीवाणुरहित पदार्थ, पिचकारियां तथा व्यक्तिगत थन-साइफन प्रयोग करें।

डेरी के लोगों के लिए इसका अर्थ है 'यूथ का सुप्रबन्ध' जिसके साथ सफाई तथा स्वच्छ एवं सुचालित दोहन-मशीनों के प्रयोग पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

सदर्भ

1. Ferguson, A.J., A Bacterial Study of the Role of Udder Injuries in Establishing the Various Infections of Bovine Mastitis, Thesis Cornell University, 1943.

2. Nocard, E., and Mollereau, V., Sur une mammite contagieuse des vaches laitieres, Instit. Pasteur, Annales, 1887, 1, 109; Bul. et mem. soc. centr. Med. Vet. 1884, 308.

3. Bang, B., *Causes of mastitis in cattle; address given before the Scandinavian Congress of Agriculture at Copenhagen, 1888.* From Bernhard Bang Selected Works, Copenhagen Levin & Munksgaard, 1936, p. 17.
4. Kitt, Th., Untersuchungen ueber die verschiedenen Formen der Euterentzündung, Deutsche Zeitschrift f. Thiermedicin, 1885, 12, 1.
5. Seelemann, M., *Die Streptokokkeninfektionen des Euters* insbesondere der gelbe, Galt, Hannover, Schaper, 1932.
6. Bendixen, H.C., Systematic investigations into the spread of some frequent infections of the cow's udder elucidated by examination of a large Danish herd and some conclusions drawn there from, Cornell Vet., 1935, 25, 371.
7. Klimmer, M., and Haupt, H., Untersuchungen über den *gelben Galt*, Archiv. f. Tierheilk., 1934. 68, 81.
8. Schalm, O.W., Streptococcus agalactiae in the udders of heifers at parturition traced to sucking among calves, Cornell Vet., 1941, 32, 49.
9. Pröscholdt, O., Beitrag zur Streptokokkenmastitis, Archiv. f. Tierheilk., 1928, 58, 485.
10. Espe, Dwight, and Cannon, C.Y., The anatomy and physiology of the teat sphincter, J. Dairy Sci., 1942, 25, 155.
11. Sherman, J.M., The streptococci, Bacteriological Reviews, 1937, 1, 1, p. 27.
12. Edwards, J.S., Discussion of a paper by Udall, Johnson and Ferguson on the control of mastitis in New York State, The Vet. Record, 1938, 50, 1429.
13. Brown, J.H., Relation of the streptococcus to milkborne infection, Twentieth An. Rep. Inter. Assoc. of Milk and Dairy Inspectors, 1931, p. 269.
14. Sherman, J.M., and Niven, C.F., The hemolytic streptococci of milk, J. Inf. Dis., 1938, 62, 190.
15. Seelemann, M., Fünf Jahre tierarztliche Mitarbeit an der Preussichen Versuchsund Forschungsanstalt für Milchwirtschaft in Kiel (1925 bis 1929) Deutsch. Tier. Wchnschr., 1930, 38, 433.
16. Minett, F.C., Stableforth, A.W., and Edwards, S.J., Studies on bovine mastitis. III. The diagnosis of streptococcus mastitis, J. Comp. Path. and Ther., 1930, 43, 163.
17. Bryan, C.S., Devereux, E.D., Hirschey, W.C., and Corbett, A.C., The use of brilliant green, sodium azide, and dextrose, in the microscopic and Hotis tests for streptococcic mastitis, N. Am. Vet., Sept. 1939, 20, 41.
18. Johnson, S.D., and Trudel, F.G., Observations on the significance of leucocytes in milk, Cornell Vet., 1932, 22, 354.
19. Rosell, J.M., The bacteriology of chronic streptococcic mastitis, Cornell Vet., 1931, 21, 317.
20. Hayden, C.E., Field tests for chlorine in milk for the detection of mastitis, Cornell Vet., 1932, 22, 277.

93

21. Hotis, R.P., and Miller, W.T., A Simple Method of Detecting Mastitis Streptococci in Milk, U.S.D.A. Cir. 400, 1936.
22. Murphy, J.M., The value of the Hotis test in detecting mastitis streptococci in milk, Cornell Vet., 1939, 29, 279.
23. Ferguson, Jean, The bacteriology of acute mastitis, Cornell, Vet., 1940, 30, 299.
24. Steck, W., The control of streptococcus agalactiae mastitis, Twelfth Inter. Vet., Congress, 1934, II, 494.
25. Udall, D.H., Johnson S.D., and Ferguson, J., Observations on the treatment of mastitis, Cornell Vet., 1943, 33, 209.
25. Ferguson, Jean, The distribution of the mastitis streptococci in diary herds, Cornell Vet., 1938, 28, 211.
26. Little,R.B., and Plastridge, W.N., Bovine Mastitis, 1946, McGraw-Hill Book Co., 1946.
27. Packer, R.A., Six year summary of laboratory diagnosis of mastitis in Iowa, N. Am. Vet., 1952, 33, 777.
28. Tucker, E.W., Case report, Cornell Vet., 1950, 40, 95.
29. Schalm, O.W., and Woofs, G.M., The mastitis complex, J.A.V.M.A, 1953, 122, 462.
30. Fincher, M.G., The etiology, prevention and treatment of bopine mastitis, Internat. Vet. Congrress Stockholm, 1953.
31. Schalm, O.W., and Wood, G.M., Effect of massive doses of penicillin and dihydrostreptomycin employed singly or in combination on Staphylococcus pyogenes mammary infections, Am. J. Vet., Res., 1952, 13, 26.

प्रोटोजोअन रोग

(PROTOZOAN DISEASES)

पाइरोप्लाज़्मता

(Piroplasmosis)

पाइरोप्लाज्मता एक रक्त की बीमारी है जो पाइरोप्लाज्मा की विभिन्न प्रजातियों द्वारा उत्पन्न होती है। इस जीवाणु का जातीय नाम वर्ग हीमोस्पोरीडिया (Hemosporidia) के अन्तर्गत आता है। इसकी निम्नलिखित तीन प्रजातियाँ पशुओं में रोग फैलाती हैं: (1) पाइरोप्लाज्मा बाईजेमिनम (P. bigeminum) जो यूनाइटेड स्टेट्स, आस्ट्रेलिया, दक्षिणी अमेरिका, दक्षिणी अफ्रीका के कुछ भागों, बाल्कन प्रदेशों तथा आमतौर पर उष्ण कटिबंधीय क्षेत्रों में टेक्सास-ज्वर (Texes fever) फैलाता है; (2) पाइरोप्लाज्मा बोविस (P. bovis) जो यूरुप के ढोरों में हीमोग्लोबिनमेह उत्पन्न करता है; तथा (3) पाइरोप्लाज्मा पारवम (P. parvum) जो पूर्वी अफ्रीकी समुद्र-तटीय-ज्वर (East African Coast fever) का कारण बनता है। बैब्स (बैबेसिया) तथा थीलर (थीलेरिया) के नाम पर पाइरोप्लाज्म का नामांकन किया गया है। पाइरोप्लाज्म लाल रक्तकणों के अन्दर नाशपाती के आकार के होकर प्रायः जोड़े के रूप में स्थित रहते हैं। वे गोल अथवा छड़ के आकार के भी हो सकते हैं। इनके बीच में एक न्युक्लियस होता है तथा ये अमीबा की भांति गति करते हैं। किलनी द्वारा काटने से इनकी छूत फैलती है। पशुओं के रक्त अथवा टिसु-कोशिकाओं में ये अपना विकास करते हैं तथा किलनी इनका एक मध्यस्थ-पोषक है। लाल रक्तकणों को तोड़कर ये जीवाणु पशु में रक्ताल्पता, पीलिया तथा हीमोग्लोबिनमेह उत्पन्न करते हैं।

टेक्सास-ज्वर

(Texas Fever)

(चीचड़ी ज्वर, पाइरोप्लाज्मता, प्लीहा का बुखार, रक्तमूत्र रोग, बैबेसिआरुग्णता)।

कारण—वितरण—पहले-पहल सन् 1868 में यूनाइटेड स्टेट्स में टेक्सास-ज्वर की ओर लोगों का ध्यान तब आकर्षित हुआ जब टेक्सास से लाए गए पशुओं ने इलिनायस तथा इण्डियाना के मूल निवासी ढोरों में पाइरोप्लाज्मता की छूत फैलाकर हजारों पशुओं को मौत के घाट उतारा। इसके बाद संक्रमणित तथा असंक्रमणित क्षेत्रों के बीच एक टेक्सास-ज्वर रेखा (Texas fever line) की स्थापना हुई। इसका भौगोलिक वितरण उन्हीं क्षेत्रों तक सीमित है जिनमें बूफिलस ऐनुलेटस किलनी (Margaropus annulatus) जाड़ों भर जीवित रह सकती है। राजकीय किलनी उन्मूलन योजना के लागू होने के बाद सन् 1906 से सन् 1938 तक सोलह संक्रमणित प्रदेशों में से केवल दो प्रदेशों, फ्लोरिडा तथा टेक्सास, में इसका संक्रमण शेष रह गया है। संक्रमणित क्षेत्रों में रहने

वाले पशुओं के शरीर में इसके प्रति प्रतिरक्षा उत्पन्न हो जाती है तथा प्रौढ़ पशुओं की अपेक्षाकृत 15 माह से कम आयु वाले ढोरों में यह बीमारी कम फैलती है।

एक वर्ष से कम आयु वाले पशुओं में इसका संक्रमण इतना हल्का होता है कि लक्षण ही दिखाई नहीं पड़ते। जाड़ों की अपेक्षा गरमी में इसका प्रकोप अधिक तेज होता है तथा टेक्सास के संक्रमणित क्षेत्रों में भेजे जाने वाले ग्रहणशील ढोरों में इसके प्रति प्रतिरक्षण नवम्बर तथा मार्च के बीच किया जाता है—स्किमिडिट[1]।

टेक्सास ज्वर के कारक, बैबेसिया बाइजेमिना, का सन् 1889 में स्मिथ तथा किल्बोर्न[2] ने पता लगाया। उनकी रिपोर्ट के संबंध में सैल्मन ने लिखा कि "पशुपालकों द्वारा बहुत दिनों से ऐसा अनुमान किया गया है कि उत्तरी ढोरों में इस बीमारी का प्रकोप किसी न किसी प्रकार दक्षिणी ढोरों द्वारा किलनियों के वितरण से संबद्ध है। फिर भी, आमतौर पर वैज्ञानिकों द्वारा इस तथ्य को न माना गया।" डा० स्मिथ की रिपोर्ट के अनुसार "सन् 1889 की गरमियों में डा० एफ० एल किल्बोर्न जब प्रयोगात्मक केन्द्र पर वहाँ के निवासी पशुओं को टेक्सास-ज्वर से संक्रमणित होने के संदर्भ में विभिन्न बाड़ों का प्रबंध कर रहे थे उस समय उनके मस्तिष्क में, किलनियों का इस बीमारी से क्या संबंध है, यह जाँच करने का विचार उत्पन्न हुआ। इस कार्य को करने के लिए उन्होंने दक्षिणी (उत्तरी कैरोलाइना) ढोरों को स्थानीय पशुओं के साथ मिलाकर एक ही बाड़े में रखा तथा जैसे ही दक्षिणी पशुओं में किलनियाँ अपना विकास करके बड़ी हो गईं उनको उन्होंने पशुओं के शरीर पर से पकड़ा। ऐसा करने से किलनियाँ परिपक्व न हो सकीं अतः उनके अण्डों द्वारा चरागाह का संदूषण न हो सका और इस प्रकार कोई भी किलनी स्थानीय पशुओं में रोग न फैला सकी। उसी समय एक दूसरे बाड़े में किलनियों को दक्षिणी ढोरों पर ही छोड़ दिया गया। ऐसा करने पर बाद वाले समूह के स्थानीय पशु टेक्सास-ज्वर से मरने लगे, किन्तु पहले वालों में बीमारी का एक भी लक्षण दिखाई न पड़ा।" अन्य निष्कर्षों में स्मिथ ने लिखा कि "बिना किलनियों वाले दक्षिणी पशु चरागाह को संदूषित नहीं कर सकते", "तथा किसी चरागाह पर फैली हुई किलनियाँ अकेले ही रोग उत्पन्न कर सकती हैं।" सन् 1893 में स्मिथ और किल्बोर्न[3] ने एक विस्तृत विवरणी प्रकाशित की जिसमें उन्होंने टेक्सास-ज्वर के प्रोटोजोअन कारण का वर्णन किया और उसका नाम पाइरोसोमा बाइजेमिनम (Pyrosoma bigeminum) रखा। उन्होंने यह भी बताया कि रोग ग्रसित पशु के रक्त का टीका देकर स्वस्थ पशु में यह बीमारी उत्पन्न की जा सकती है।

शरीर के अन्दर बैबेसिआ (पाइरोप्लाज्मा) बाइजेमिना, रोग की ज्वरयुक्त अवस्था में लाल रक्त-कणों में पाया जाता है। इसकी लम्बाई 2 से 4 माइक्रान, चौड़ाई 1 से 2 माइक्रान तथा आकार गोल अथवा नाशपाती जैसा होता है। ग्रहणशील पशुओं में यह बीमारी रोगी पशु के रक्त का अंतःशिरा इन्जेक्शन देकर उत्पन्न की जा सकती है। अधस्त्वक, अंतःत्वचा अथवा अंतः पेरिटोनियल इन्जेक्शन भी उतने ही प्रभावकारी हैं। इस रोग का उद्भवनकाल लगभग एक सप्ताह का होता है। रोग से अच्छे हुए पशु का रक्त स्थायी रूप से संदूषित रहता है। किलनियाँ भी इन पाइरोप्लाज्मों का एक स्थान से दूसरे स्थान

पर ले जाती हैं। जब ऐसी किलनियाँ किसी स्वस्थ पशु के शरीर पर चिपककर उसका रक्त चूसती हैं तो इस मार्ग से ये जीवाणु उसके शरीर में प्रवेश पा लेते हैं। पशु का रक्त चूसकर मादा किलनी जमीन पर गिर जाती है और दो से चार हजार की संख्या में अण्डे देती है। दो से तीन सप्ताह में इन अण्डों से लार्वा अथवा युवा किलनियों का विकास होता है जो घास-पात पर चढ़कर अंत में पशु के शरीर पर पहुँचते हैं, जहाँ परिपक्व अवस्था में इनका विकास होता है। पाइरोप्लाज्म, किलनियों के अण्डों में तथा उनकी विकासकाल की सभी अवस्थाओं में मौजूद रहते हैं। ग्रहणशील पशुओं के शरीर में ये किलनियाँ संदूषित चरागाहों पर चरने अथवा रोगी पशुओं के संपर्क में रहने से पहुँचती हैं। रोग-ग्रसित क्षेत्रों में रहने वाले स्थानीय पशु या तो प्रतिरक्षित होते हैं अथवा उनमें इसका बहुत ही हल्का आक्रमण होता है तथा रोग से अच्छे हुए पशु बिल्कुल ही प्रतिरक्षित होते हैं। चूंकि पाइरोप्लाज्म रोग से ठीक हुए पशुओं के शरीर में भी मौजूद रहते हैं अतः ऐसे पशु संक्रमण का स्रोत बने रह सकते हैं। जब से यूनाइटेड स्टेट्स में एनाप्लाजमोसिस की खोज हुई है तब से यह देखा गया कि टेक्सास-ज्वर में एनाप्लाजमा मार्जिनेल (Anaplasma marginale) भी मौजूद रहता है।

विकृत शरीर रचना—मरने के बाद पशु का शव शीघ्र ही सड़ने लगता है। जांघों के बीच की त्वचा तथा अयन पर किलनियाँ चिपकी मिलती हैं। त्वचा के नीचे रक्तहीनता, पीलापन तथा शरीर की निचली सतह पर सूजन हो सकती है। उदर-गुहा को खोलने पर ओमेण्टम पर रक्त-संकुलित क्षेत्र मिल सकते हैं। प्लीहा बढ़कर नार्मल आकार से दो से चार गुनी अधिक बड़ी दिखाई पड़ती है। रक्त पतला तथा पानी जैसा हो जाता है। मोह्लर[4] ने लिखा कि "संभवतः यकृत में सबसे अधिक रोगजनक परिवर्तन पाए जाते हैं। यह अंग बहुत ही अधिक बढ़ जाता है तथा अपने में उपस्थित पित्तरस के कारण इसका रंग पीला अथवा बादामीपन लिए हुए कत्थई सा दिखाई देता है। स्राव काफी मात्रा में होकर पित्तवाहिनी में जम कर उसका मार्ग बंद कर देता है। इस कारण पीला रंग उत्पन्न होता है। ऐसा पूरे अंग में एक समान नहीं होता जिसके फलस्वरूप उसका आकार संगमरमर के टुकड़ों की भाँति प्रतीत होता है।" मूत्राशय में मूत्र भरा रहता है जो रक्तमिश्रित अथवा साफ हो सकता है। आमाशय, अँतड़ी, हृदय अथवा फेफड़ों में विशिष्ट क्षतस्थल नहीं पाये जाए।

लक्षण—रोग का उद्भवन-काल एक से दो सप्ताह का होता है तथा संक्रमण के संपर्क में आए हुए सभी ग्रहणशील पशु एक ही साथ बीमार पड़ते हैं। रोग की दो विशिष्ट प्रकारों का वर्णन किया गया है: (1) रोग की उग्र अवस्था जो ग्रीष्म ऋतु में अथवा अतिग्रहणशील ढोरों में होती है, तथा (2) रोग की दीर्घकालिक अवस्था जो पतझड़ के अंतिम दिनों में संक्रमणित अप्रतिरक्षित ढोरों तथा आंशिक रूप से प्रतिरक्षित दक्षिणी पशुओं में देखी जाती है।

रोग की उग्र प्रकार में बीमारी का आक्रमण एकाएक होता है। पशु निराश दिखाई पड़ता है। उसकी भूख मारी जाती है तथा उसे 104 से 107° फारेनहाइट तक तेज बुखार होता है। अन्य लक्षण प्रकट होने के एक दो दिन पहले से ही पशु को ज्वर हो

सकता है। आँख से दिखाई देने वाली सभी श्लेष्मल झिल्लियाँ पीलियायुक्त प्रतीत होती हैं यद्यपि रोग की दीर्घकालिक अवस्था में ये पीली पड़ जाती हैं। प्रारम्भ में पशु को सदैव कब्ज रहता है, किन्तु इसके बाद उसे दस्त आने लगते हैं। श्वसन तथा नाड़ी-गति बढ़ जाती है। हीमोग्लोबिनमेह प्रायः मौजूद रहता है तथा लाल रक्त-कणों की नष्ट होने की संख्या के अनुसार मूत्र का रंग हल्का लाल से लेकर काला तक हो सकता है। रक्त का रंग हल्का हो जाता है तथा यह धीरे-धीरे जमता है। रोग के भीषण प्रकोप में लाल रक्त-कण-गणना 7 से 8 दसलक्ष से गिरकर 1 अथवा 2 दसलक्ष रह जाती है तथा माइक्रोस्कोपिक-परीक्षण करने पर लाल रक्त-कणों में अनेकों पाइरोप्लाज्म मिलते हैं। गरमी के गरम महीनों में रोग-ग्रसित परिपक्व पशुओं की प्रायः एक सप्ताह के अन्दर ही मृत्यु हो जाती है तथा मृत्यु दर 90 प्रतिशत के लगभग होती है। नौ माह से कम आयु वाले पशुओं में इसका कोर्स प्रायः कम दिनों का तथा कभी-कभी ही प्राणघातक होता है। एक वर्षीय बच्चों में मृत्युदर 25 प्रतिशत तथा अठारह माह से दो वर्ष वालों में 50 प्रतिशत होती है—मोह्लर[4]।

रोग के उग्र आक्रमण के ठीक होने के बाद तीन से छ. सप्ताह में हल्की अथवा दीर्घकालिक अवस्था में इसका पुन. प्रकोप हो सकता है जिसमें लाल रक्त-कणों का दुबारा विनाश होता है। यह दूसरा आक्रमण सम्भवतः साथ में एनाप्लाज्मा का संक्रमण होने के कारण होता है।

टक्सास-ज्वर वाले क्षेत्रों में इस रोग की दीर्घकालिक किस्म प्राकृतिक परिस्थितियों में पतझड़ के अंत अथवा जाड़े के प्रारम्भ में प्रकोप करती है तथा ग्रहणशील ढोरों के शरीर पर कुछ किलनियाँ छोड़कर इसे प्रयोगात्मक रूप से भी उत्पन्न किया जा सकता है।

वेग के अतिरिक्त इसके सभी लक्षण उग्र अवस्था की भाँति ही होते हैं। लाल रक्त-कणों की कम अथवा धीरे-धीरे टूट-फूट होने के कारण मूत्र के रंग में प्रायः कोई परिवर्तन नहीं होता। श्लेष्मल झिल्लियाँ पीली पड़ जाती हैं तथा पशु की हालत धीरे-धीरे गिरती जाती है और उसे 103° फारेनहाइट तक बुखार रहता है। इसका कोर्स अनियमित होता है। मृत्युदर कम होती है तथा प्रायः अपूर्ण रूप से रोगी पशु ठीक होते देखा जाता है। पशु को सप्ताहों से लेकर महीनों तक बुखार आ सकता है।

• कंट्रोल—स्थानीय पशुओं में स्थायी एवं लगातार होने वाले ह्रास तथा बाहर से मँगाई गई विदेशी सुविकसित नस्लों में अधिक मृत्यु दर के कारण किसी भी पशु पालने वाले देश में टेक्सास-ज्वर की उपस्थिति इस व्यवसाय के लिए बहुत ही हानिकारक है। यूनाइटेड स्टेट्स में कार्यान्वित राजकीय किलनी-उन्मूलन योजना के कारण दक्षिण में संक्रमणित क्षेत्र सन् 1906 से बराबर कम होते जा रहे हैं। जैसा कि ग्रेविल[5] द्वारा वर्णन किया गया है किलनियों को नष्ट करने की दो विधियाँ अपनाई जाती हैं : (अ) चरागाह का बदलना, जिसके अन्तर्गत किलनी ग्रस्त चरागाह पर से 8 से 10 माह के लिए सभी पशुओं को हटा लिया जाता है, अत. इस अवधि में भूख के कारण सारी किलनियां मर जाती हैं, तथा (ब) पशुओं की ऐसी औषधियों से चिकित्सा करना जिससे

उनके शरीर पर उपस्थित सभी किलनियाँ नष्ट हो जाएँ। इसके अन्तर्गत टॉक्साफेन (Toxaphen), आर्सेनिक युक्त पानी में डुबोना (arsenical dips) तथा कच्चे पेट्रोलियम पदार्थों का प्रयोग शामिल है।

प्रतिरक्षण—रोग-ग्रसित पशु के रक्त का स्वस्थ पशु में टीका देकर, जिससे कि रोग का हल्का आक्रमण होता है अथवा कुछ किलनियों के प्रयोग द्वारा, जो हल्का टेक्सास-ज्वर उत्पन्न करती है, इस बीमारी के प्रति कृत्रिम प्रतिरक्षा उत्पन्न की जा सकती है। फ्रांसिस[6] ने बाहर से 4 से 6 सप्ताह की आयु वाले युवा बछड़े मँगाकर टेक्सास में ग्रहणशील ढोरों के प्रवेश करने में सफलता प्राप्त की। बछड़ों को विशेषकर जाड़ों के महीने में तत्काल ही परिचारिका गाय पर रखा जाता है। एक वर्ष से अधिक आयु के पशुओं में टीका लगाना सफल सिद्ध न हुआ। जैसा कि स्किमडिट द्वारा वर्णन किया गया है "अधिकांश पशुओं को 1 नवम्बर से 1 मार्च के बीच तथा कुछ पशुओं को मार्च के अंतिम दिनों में टीका लगाया गया। टीका के लिए अधिकतर किलनियों से ग्रसित पशु के शरीर से संदूषित रक्त निकाल कर प्रयोग किया गया। कुछ में, ऐसे पशु से भी रक्त निकाला गया जो एक से पांच वर्ष तक किलनियों से मुक्त रहा अथवा उसके शरीर पर कभी भी किलनियां नहीं देखी गईं, किन्तु इसे कम से कम एक वर्ष पूर्व एनाप्लाज्मेटा तथा पाइरोप्लाज्मेटा युक्त रक्त का टीका दिया गया था। प्रतिरक्षित किए गए सभी पशु किलनी रहित क्षेत्र तथा देश के विभिन्न प्रदेशों से आए थे। टेक्सास में एनाप्लाज्मोसिस तथा पाइरोप्लाज्मोसिस के बहुविस्तृत प्रकोप होने तथा किलनियों के संक्रमणों के कारण उन्हें वास्तव में इन दोनों बीमारियों के प्रति प्रतिरक्षित करना आवश्यक है।" दोनो के प्रति एक साथ टीका देने पर ज्वर की दो प्रतिक्रियाएँ होती हैं, पहली पाइरोप्लाज्म के कारण तीसरे से सोलहवें दिन, और दूसरी एनाप्लाज्म के कारण सतरहवें से अड़तालीसवें दिन शुरू होती है। ज्वरयुक्त प्रतिक्रिया एक दिन से लेकर दो सप्ताह अथवा अधिक दिनों तक रहती है तथा यह अपने प्रकार एवं प्रकोप में भिन्न होती है।

पाइरोप्लाज्म की प्रजातियों में विभिन्नता होने तथा एनाप्लाज्म की उपस्थिति के अनुसार चीचड़ी-ज्वर के प्रति प्रतिरक्षण विभिन्न देशों में भिन्न-भिन्न होता है। उदाहरणार्थ, आस्ट्रेलिया में लेग्[1] ने बैबेसिया बाइजेमिना (बड़े पाइरोप्लाज्म), बैबेसिआ (बैबेसीला) अर्जेन्टाइनम् (छोटे पाइरोप्लाज्म) तथा एनाप्लाज्मा मार्जिनेल की उपस्थिति बताई। बै० बाइजेमिना के वाहकों में बै० अर्जेन्टाइनम का कृत्रिम संक्रमण नहीं होता किन्तु किलनियों द्वारा उनमें इनका प्राकृतिक संक्रमण हो सकता है। लेग् ने लिखा कि "एनाप्लाज्मा मार्जिनेल के प्राकृतिक संक्रमण पर काबू पाने के लिए वैक्सीन में एनाप्लाज्मा सेन्ट्रेल (द० अफ्रीका) मिलाया गया और दोनो जीवाणुओं (पा० बाइजेमिनम तथा ए० सेन्ट्रेल) का एक साथ टीका दिया गया। पाइरोप्लाज्म-प्रतिक्रिया के मंद पड़ने के तत्काल बाद बैबेसीला का टीका देना फार्म पशुओं के लिए संतोषप्रद विधि है।" प्रतिरक्षण की इस विधि में एक तकनीक होती है जिसे थीलर ने खोजा तथा डु टोइट द्वारा इसका निम्न प्रकार वर्णन किया गया : "थीलर[8] ने सन् 1912 में एनाप्लाज्मा की एक प्रजाति (ए० मार्जिनेल वार० सेन्ट्रेल अथवा ए० सेन्ट्रेल) पाई... तब थीलर ने प्रतिरक्षण की एक विधि बताई जिसमें

सेन्ट्रेल से पीड़ित रोगी का ताजा रक्त (5 घ० सें०) लेकर पशुओं को टीका दिया जाता था। इस प्रकार इन ढोरों को एनाप्लाज्मोसिस का हल्का संक्रमण हो जाता था तथा रक्त में ए० सेन्ट्रेल मिलता था जो उन्हें ए० मार्जिनेल के सदूषण से बचाता था।"

ब्राजील में पाइरोप्लाज्मता तथा एनाप्लाज्मता के संयुक्त प्रतिरक्षण हेतु एक वर्ष तक किलनियों से मुक्त रखे गए रोग-वाहक पशुओं के रक्त का टीका दिया जाता है। 15 से 31 दिन के अवकाश पर 19 घ० सें० की मात्रा में तीन बार टीका लगाया जाता है। प्रयोग करने से पूर्व पहली मात्रा को 15 दिन तक तथा दूसरी को 12 दिन तक प्रशीतक में रखा जाता है। तीसरी मात्रा ताजे रक्त की बनी होती है—डुपोंट[9]।

चिकित्सा—किसी भी पाइरोप्लाज्म से उत्पन्न चीचड़ी-ज्वर के इलाज में रसायनी-चिकित्सा लाभप्रद होती है। लेग् ने प्राकृतिक अथवा कृत्रिम रूप से होने वाली पाइरोप्लाज्मोसिस तथा बैबेसीलोसिस के संयुक्त आक्रमण के प्रति एकैग्निन (बेयर) को बहुत ही अधिक लाभप्रद बताया है। इदनैनी[10] के अनुसार इसका प्रयोग करने के बाद 48 घटे के अन्दर पशु का रक्त बै० बाइजेमिना से मुक्त हो जाता है। 0.5 से 1 ग्राम की मात्रा में ट्रिपाफ्लेविन (एक्रीफ्लेविन) के 1:1000 घोल का अंत: शिरा इन्जेक्शन देने से सभी प्रकार के बैबेसिआ से छुटकारा मिल जाता है।

संदर्भ

1. Schmidt, H., Anaplasmosis in cattle, J.A.V.M.A., 1937, 90, 723.
2. Smith, T., Investigations of Texas cattle fever, Sixth and Seventh Annual Reports of the B.A.I., U.S. Dept. of Agr. 1889-90, p. 93.
3. Smith, T., and Kilborne, F.L., Investigations into the nature, causation, and prevention of Texas or southern cattle fever, Bul. No. 1, B.A.I., U.S. Dept. of Agr., 1893.
4. Mohler J.R., Texas or tick fever, Farmer's Bull. No. 569, U.S. Dept. of Agr., 1914.
5. Graybill, H.W., Methods of exterminating the Texas-fever tick, Farmer's Bul. No. 498, U.S. Dept. of Agr., 1912.
6. Francis, M., Texas Fever, Texas Agr. Exp. Sta. Bul. No. 111, 1908.
7. Legg, John, Recent observations on the premunization of the cattle against tick fevers in Queensland, Aust. Vet. J., 1939, 15, 46.
8. Du Toit, P.J., Anaplasmosis, Twelfth Inter. Vet. Congress, 1934, III, 325.
9. Dupont, O., abs. Vet. Bull., 1938, 8, 84.
10. Idnani, J.A., Treatment of Babesia bigemina infection of cattle in India, Indian J. Vet. Sci. and An. Husb., 1937, 7, 273, and The Indian Vet. J., 1938, 14, 311.

पूर्वी अफ्रीकी तटीय ज्वर

(East African Coast Fever)

(रोडेसिया ज्वर, रोडेसियन रक्तमूत्र रोग)

कारण—पूर्वी तटीय ज्वर ढोरों में होने वाली एक प्रकार की पाइरोप्लाज्मता है जो विशेषकर पूर्वी तथा दक्षिणी अफ्रीका में हुआ करती है। यह एक छोटे पाइरोप्लाज्म थीलेरिया पार्वा (पाइरोप्लाज्मा पारवम) द्वारा होता है तथा इस ग्रुप के किसी अन्य सदस्य की अपेक्षाकृत यह कीट संभवतः अधिक आर्थिक क्षति के लिए उत्तरदायी है—डाब्नी[1]। इसकी छूत राइपीसिफैलस अपेन्डीकुलेटस (Rhipicephalus appendiculatus) तथा अन्य किलनियों द्वारा फैलती है। एक वर्ष से कम आयु वाले पशुओं को चरागाहों से उस समय इसकी छूत लगती है जब घास ऊँची तथा गीली होती है। चूँकि इस रोग का जीवाणु रक्त-संस्थान में न रहकर यकृत, प्लीहा तथा लसीका ग्रंथियों की अंतःकलीय कोशिकाओं (endothelial cells) में अपना विकास करता है, अतः इसे रक्त का टीका देकर एक पशु से दूसरे पशु में संचारित नहीं किया जा सकता।

लक्षण—रोग का उद्भवनकाल 10 से 12 दिन का होता है। तेज बुखार, लार गिरना, रक्त मिश्रत गोबर, तथा उपरिस्थ लसीका ग्रंथियों की सूजन के साथ इस रोग का आक्रमण होता है। तत्पश्चात् रोगी शीघ्र ही जीर्ण-शीर्ण तथा निर्बल हो जाता है। लाल रक्त-कणों में अनेकों छोटे-छोटे पाइरोप्लाज्म मिलते हैं। रक्ताल्पता तथा हीमोग्लोबिनमेह प्रायः अनुपस्थित रहता है तथा पशु अंत तक खाता-पीता रहता है। इस रोग से मरने वाले पशुओं की संख्या 60 से 100 प्रतिशत है। पुर्विस[2] के अनुसार "रोग के एक आक्रमण के बाद पशु बहुत दिनों तक स्वस्थ रहता है, किन्तु इसका पुनः प्रकोप भी हो सकता है।"

प्रतिरक्षण द्वारा बचाव तथा रसायनी-चिकित्सा द्वारा रोगी का इलाज करना असफल सिद्ध हुआ है। रोग को दवा देने से दक्षिणी अफ्रीका में इसके प्रकोपों की संख्या सन् 1921 में 290 से घटकर 1936 में 40 के लगभग रह गई। डि काक[3] ने बताया कि "रोग नियंत्रण हेतु निम्नलिखित तीन विधियों में से एक पर उनके विभाग को आधारित रहना पड़ा: रोगी पशुओं का वध करना, अलग रखकर जाँच करके पशुओं को हटाना, तथा औषधियुक्त घोल में नहलाना। उन्होंने यह भी बताया कि यदि बाहर से नया संक्रमण यूथ में प्रवेश न पा सके तो इन विधियों द्वारा राष्ट्र से इस रोग का उन्मूलन करना भी संभव हो सकता है।"

संदर्भ

1. Daubney, R., Newer researches regarding tropical and sub-tropical diseases,. Thirteenth Inter. Vet. Congress, 1938, Heft. 9, p. 21.
2. Purvis, G.B., The control of East Coast fever in Africa, with some remarks on colonial office policy, Vet. Rec., 1937, 49, 119.
3. De Kock, G., Recent researches concerning tropical and subtropical diseases in the Union of South Africa, Thirteenth Inter. Vet. Congress, 1938, Heft 9, p. 1.

यूरोपीय ढोरों में पाइरोप्लाजमता

(Piroplasmosis in European Cattle)

(मई रोग, रक्तमेह रोग, मूर रोग)

कारण—यूरुप के बहुत से भागों में हीमोग्लोबिनमेह रोग पाया जाता है जो पाइरोप्लाज्म (बैवेसिआ) बोविस द्वारा उत्पन्न होता है। यह बीमारी प्रमुख तौर पर इक्सोडस रिसिनस (Ixodes ricinus) नामक किलनी द्वारा एक पशु से दूसरे पशु के शरीर में पहुँचती है। वसंत ऋतु के महीनों में ये किलनियाँ विशेषकर झाड़ियों तथा दलदलयुक्त चरागाहों में मौजूद रहती हैं जहाँ से ये पशुओं के शरीर पर पहुँचती हैं। पहले इसका कारण अधिक तारपीन युक्त पेडों का खाया जाना बताया जाता था। चरागाह पर चरने वाले ढोरों तथा युवा पशुओं में स्थानिकमारी की भाँति इसका प्रकोप होता है। कभी-कभी जब किलनियाँ चारे तथा बिछावन के साथ पशुशाला में आ जाती हैं तो विकीर्ण रूप में इसका प्रकोप पशुशालाओं में भी हुआ करता है। बसत तथा गरमियों के प्रारम्भ में इसका प्रकोप खूब होता है। कभी-कभी पतझड़ की ऋतु में भी यह बीमारी फैलती देखी जाती है। गीले तथा दलदले स्थानों पर उगी हुई घास पर तथा झाड़ियो में किलनियाँ पाई जाती हैं जहाँ वे स्थायी रूप से रहकर "रक्त-मूत्र क्षेत्र" बनाती है। स्थानीय पशुओं की अपेक्षाकृत असक्रमणित क्षेत्रो के ढोर इस रोग के प्रति कम सहनशील होते हैं।

लक्षण—रोग का उद्भवन-काल लगभग दस दिन का होता है। पशु को दस्त आना तथा तेज बुखार होना इस बीमारी के प्रारम्भिक लक्षण है। एक या दो दिन बाद मूत्र का रग गहरा लाल अथवा कोलतार जैसा काला पड़ जाता है। ऐसा लाल रक्त-कणों के नष्ट होने की सख्या के अनुसार होता है। श्लेष्मल झिल्लियाँ प्रारम्भ में लाल रहकर बाद में पीली तथा रक्तहीन हो जाती हैं। अति रोग ग्रसित रोगियों में कमजोरी, अत्यधिक क्षीणता तथा त्वचा शोथ के लक्षण देखने को मिलते हैं। रक्त पतला तथा पानी जैसा हो जाता है। लाल रक्त-कणो का माइक्रास्कोपिक-परीक्षण करने पर अनेक पाइरोप्लाज्म पाए जाते हैं। रोग के प्रारम्भ काल में यदि रोग-ग्रसित पशुओं को पशुशाला में बाँधकर उनकी सब किलनियाँ छुटा दी जाएँ तो रोगी के अच्छे होने की सभावना रहती है। इसका कोर्स लगभग दो सप्ताह का होता है। यदि बीमारी पुरानी हो जाती है तो क्षीणता एव कमजोरी के कारण रोग ग्रसित पशु की मृत्यु हो जाती है।

चिकित्सा—रोग-ग्रसित पशुओ को पशुशाला में बाँधकर क्रियोलीन तथा फिनाइल युक्त पानी से नहला कर सभी किलनियो को नष्ट कर देना चाहिए। सभी पशुओ को खूब चारा, दाना खिलाना चाहिए। एक ग्राम ट्रिपन ब्लयु (Trypan blue) का अत शिरा इन्जेक्शन देना रोग के हल्के प्रकोप में विशेष लाभप्रद बताया गया है। एकैप्रिन और ट्रिपाफ्लेविन, ट्रिपन ब्लयु से अधिक प्रभावकारी औषधियाँ हैं। रोग से बचाव तथा रोकथाम के लिए जमीन को जोत देना चाहिए तथा पशुओ को सक्रमणित चरागाहो पर नही चराना चाहिए। बीमारी से बच्चे हुए पशुओ के रक्त का टीका देकर ढोरों का प्रतिरक्षण किया

जा सकता है, किन्तु यह विधि वहीं अपनाने की राय दी जाती है जहाँ वार्षिक क्षति 1 प्रतिशत से अधिक होती है।

घोड़ों की पाइरोप्लाज़्मता

(Piroplasmosis of Equines)

(अश्वीय मलेरिया, बैबेसिआ-रुग्णता, नटैलिआ-रुग्णता, पैत्तिक-ज्वर)

कारण—फ्रांस, इटली, मैसीडोनिया, रूस, भारत, अफ्रीका, मिश्र, मध्य अमरीका तथा दक्षिणी अमरीका के घोड़ों में यह बीमारी खूब होती है। यह बीमारी बैबेसिआ कैबेलाइ (Babesia caballi) तथा अश्वजातीय बैबेसिआ (नटैलिया) (Babesia equi) नामक पाइरोप्लाज्म द्वारा उत्पन्न होती है। यूरुप में डर्मासेंटर रेटिकुलेटस तथा हायलोमा इजिप्टिकम और अफ्रीका में राइपीसिफैलस इवर्ट्साइ नामक किलनियों के काटने से यह बीमारी एक पशु से दूसरे पशु के शरीर में पहुँचती है। घोड़ों के अतिरिक्त, गधे, खच्चर तथा जेब्रा भी इसके प्रति ग्रहणशील हैं। प्रतिरक्षित पशुओं के रक्त द्वारा प्रयोगात्मक रूप से इसकी छूत फैलाई जा सकती है तथा स्थायी रूप से सक्रमणित देशों में लाए गए घोड़े विशेष कर ग्रहणशील होते हैं।

लक्षण—रोग का उद्भवनकाल एक से तीन सप्ताह का होता है। सविराम ज्वर, हृदय की निर्बलता, तेज नाड़ी-गति, पीलिया तथा नेत्र की श्लेष्मल झिल्ली में रक्तस्राव होना इसके प्रमुख लक्षण हैं। अत्यधिक निराशा, श्वांस कष्ट, प्रारम्भ में अपच होकर बाद में दस्त आने लग जाना, त्वचा के नीचे सूजन, बहुमूत्र तथा मूत्र का रंग पीलापन लिए हुए काला दिखाई देना इसके अन्य लक्षण हैं। उग्र रोगियों के 50 प्रतिशत लाल रक्तकणों में पाइरोप्लाज्म पाए जाते हैं तथा लाल रक्तकणों की संख्या गिरकर 3 दसलक्ष रह जाती है। इसके कोर्स में काफी विभिन्नता होती है। एक सप्ताह के अन्दर अथवा सप्ताहों या महीनों के बाद रोगी की मृत्यु हो सकती है। जो घोड़े पहले कभी इस रोग का शिकार नहीं हो चुके होते हैं उनमें मृत्युदर अधिक होती है। अतः संक्रमणित पशुओं को मगांने के बाद, बैसेट[1] तथा आगर ने दक्षिणी पूर्वी फ्रास में बिना चिकित्सा प्राप्त घोड़ों में 100 प्रतिशत मृत्यु होते बताई। रोग से अच्छे हुए पशु प्रायः प्रतिरक्षित होते हैं। शव-परीक्षण करने पर प्लीहा काफी बढ़ी हुई मिलती है। लसीका ग्रंथियाँ प्रायः रक्त-स्रवित तथा सूजी हुई मिलती हैं। दक्षिणी अफ्रीका में थीलर[2] ने इस बीमारी पर विस्तृत विवरणी प्रस्तुत की है।

चिकित्सा—1 ग्राम ट्रिपाफ्लेविन को 1000 घ० सें० डिस्टिल्ड वाटर में घोल कर अंतः शिरा इन्जेक्शन देने तथा एकैप्रिन (प्रति 100 किलोग्राम शरीर भार पर 1.2 घ० सें० 5 प्रतिशत घोल) के प्रयोग से अति उत्तम परिणाम प्राप्त हुए हैं। बीजमन[3] के अनुसार पनामा में सप्ताह में एक बार नियोआर्सफेनामीन (3 ग्राम 30 घ० सें० डिस्टिल्ड वाटर में) का अंतः शिरा इन्जेक्शन देना अति लाभप्रद सिद्ध हुआ।

संदर्भ

1. Bassot, J., and Auger, L., Piroplasmose vraie du Cheval (p. caballi) dans le Sud. Est., c.r. Soc. de Biol., 1931, 107, 629.

2. Theiler, A., Transmission of equine piroplasmosis by ticks in South Africa, J. Comp. Path. and Ther., 1906, 19, 283.
2. Theiler, A., Report of the Government Veterinary Bacteriologist of Transvaal, 1905-06; 1906-07.
3. Weisman, L.G., Comments and field observations, Vet. Bull., U.S. Army, 1933, 27, 167.

गो-पशुओं की एनाप्लाज्मता

(Anaplasmosis of Cattle)

कारण—टेक्सास-ज्वर के हल्के तथा दीर्घकालिक प्रकार का वर्णन करते समय मूर[1] ने स्मिथ तथा किलबोर्न[2] द्वारा वर्णित गोल अथवा कावकस प्रकार को पाइरोप्लाजमा बाइजेमिनम की एक भिन्न प्रजाति बताई जिसे टेक्सास-ज्वर के हल्के प्रकोप का कारण समझा गया। उन्होंने थीलर[3] के उस विचार की भी चर्चा की कि यह पा० बाइजेमिनम की प्रकार न होकर, एक नया कुटुम्ब एनाप्लाजमा है। इन छोटी-छोटी प्रोटोजोअन प्रकारों के संबंध के बारे में तब से कोई सदेह न रहा जब से यूनाइटेड स्टेट्स के विस्तृत क्षेत्रों जैसे माटेना और वायोमिंग तथा 24 अन्य प्रदेशों में, जहाँ टेक्साज-ज्वर को कभी होते न देखा गया था, वहाँ एनाप्लाज्मोसिस का प्रकोप हुआ। किन्तु एनाप्लाज्मोसिस का भीषण प्रकोप प्रमुखतौर पर टेक्सास-ज्वर के प्रदेशों में ही अधिक होता है। सन् 1928 की रिपोर्ट में ब्यायटन[4] ने लिखा कि इस बीमारी का सबसे पहले सन् 1925 में कैलीफोर्निया में अनुमान किया गया तथा सन् 1927 में पशु-उद्योग-ब्यूरो के प्रमुख डा० मोह्लर ने केन्सास तथा लुइसियाना में इस की उपस्थिति बताई। यूनाइटेड स्टेट्स में यह बीमारी तभी से होती देखी गई है जब से टेक्सास-ज्वर का प्रकोप हुआ। स्टाइल्स[5] ने 21 प्रदेशों में इसकी उपस्थिति बताई और यह विचार व्यक्त किया कि यह उत्तरी प्रदेशों में भी फैल सकती है। ओक्लेहॉमा में इस रोग से भीषण क्षति होती बताई गई है। सन् 1949 में विभिन्न पश्चिमी प्रदेशों से लाये गए हियरफोर्ड पशुओं के द्वारा यह रोग मिनेसोटा में आया। गरम जलवायु वाले भागों में यह बीमारी खूब होती है तथा अफ्रीका, एशिया, दक्षिणी यूरुप एवं दक्षिणी अमरीका के विभिन्न भागों में इसे होते बताया गया है। केन्सास और मिसौरी में इसकी उपस्थिति यह प्रदर्शित करती है कि यह रोग ठंडी जलवायु में भी प्रकोप कर सकता है। टेक्सास-ज्वर की भाँति एनाप्लाज्मता प्रौढ़ पशुओं पर आक्रमण करती है। एक वर्ष से कम आयु के बछड़ों में इसका बहुत ही कम तथा हल्का प्रकोप होता है। जुलाई के प्रारम्भ से अक्तूबर-नवम्बर के अन्त तक इसका प्रकोप अधिक होता है। रोग से अच्छे हुए पशुओं में सदैव के लिए इसके प्रति प्रतिरक्षा उत्पन्न हो जाती है। विभिन्न रोग-वाहक पशुओं के रक्त के मध्य रोगोत्पादक शक्ति में काफी विभिन्नता होती है।[6]

लक्षण—थीलर[3] ने सबसे पहले एनाप्लाज्मा मार्जिनेल को इसका स्वतंत्र परजीवी बताया। यह देखकर कि यह जीवाणु अपने शारीरिक प्लाज्मा को खो चुके हैं तथा केवल रक्त-कणों वाले रक्त में इनका संचारण होता है, उन्होंने इनका नाम एनाप्लाज्मा रखा। ये गोल अथवा अण्डाकार अवर्णाभिकी जीवाणु हैं जिनका व्यास 0.1 से 0.6 माइक्रान

होता है। शरीर के अन्दर ये केवल लाल रक्त-कणों में पाए जाते हैं। रोग की ज्वर कालीन अवस्था में इनमें से 50 प्रतिशत संक्रमणित हो सकते हैं। रोग से अच्छे हुए पशु के रक्त में भी ये अनिश्चित काल तक मौजूद रहते हैं।

शरीर के बाहर ये कहाँ रहते हैं इस बात का अभी पूर्ण ज्ञान नहीं है। ब्रायंटन ने बताया कि कैलीफ़ोर्निया के जिन भागों में यह बीमारी अधिक होती है वहाँ के अनेकों संक्रमणित फार्मों पर रहने वाले पशु किलनियों से रहित थे। घोड़ों की बड़ी-बड़ी मक्खियों को इस परजीवी का वाहक माना जाता है। सन् 1941 में लोट्ज़ और यींग्स्ट[20] ने घोड़े की मक्खी (टैबैनस) द्वारा एनाप्लाज्मता का प्रयोगात्मक रूप से संचारण होते बताया और इसी वर्ष मच्छरों द्वारा भी प्रयोगात्मक रूप से इसकी छूत फैलायी गई।[16] जिन क्षेत्रों में टेक्साज-ज्वर होता है, वहाँ पाइरोप्लाज्मा तथा एनाप्लाज्मा दोनों ही परजीवी एक किलनी बूफिलस ऐनूलेटस द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाए जाते हैं। आमतौर पर किलनियाँ एनाप्लाज्मा का वाहक होती हैं तथा ब्रायंटन[7] के अनुसार इनकी 19 प्रजातियाँ इसका वाहक सिद्ध हो चुकी हैं। सन् 1933 में स्टाइल्स[8] ने बताया कि यूनाइटेड स्टेट्स में घोड़ों की मक्खियों की चार विभिन्न प्रजातियाँ एनाप्लाज्मता की छूत फैलाती देखी गई हैं। डिक्मेंस[1] ने इस बात का प्रयोगात्मक प्रमाण दिया है कि किलनियों की 15 विभिन्न प्रजातियाँ, मक्खियों की 10 प्रजातियाँ तथा मच्छरों की 3 प्रजातियाँ संसार के विभिन्न भागों में इस रोग के संचार करने की क्षमता रखती हैं। टैबेनिडी (अश्व मक्खी) इसका सबसे प्रमुख प्राकृतिक वाहक है।[6] सींग काटने के बाद इस बीमारी का बार-बार संचारण होते देखा गया है। यह तथ्य इस बात को जाहिर करता है कि संक्रमणित क्षेत्र में ढोरों का आपरेशन करने अथवा रक्त निकालने के बाद टीका लगाने वाली सुइयों तथा अन्य औजारों को भली भाँति जीवाणु रहित करना चाहिए। यूनाइटेड स्टेट्स में इस बीमारी की छूत लगने के ढंगों का पता लगाने के लिए अभी और अधिक अध्ययन करने की आवश्यकता है। ब्रायंटन[10], के अनुसार "कैलीफोर्निया में इसके प्रकोपों का इतिहास देखने पर यह पता चला है कि उन मनुष्यों द्वारा इसकी छूत फैली जिन्होंने सीग काटते, बधिया करते, कान में नम्बर डालते तथा अन्य ऑपरेशन करते समय सफाई की सावधानियों को ध्यान में नहीं रखा। इस बारे में काफी प्रमाण उपलब्ध है कि एक ही सुई से पूरे यूथ को ऐंथ्राक्स, गलघोटू तथा लँगड़िया के वैक्सीन का टीका देने के बाद उसमें एनाप्लाज्मा का प्रकोप हुआ।" गर्भपात के परीक्षण हेतु पशुओं का रक्त लेने पर इस रोग के कई प्रकोपों का पता चला। पशुओं को पशुशाला में एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने वाले लोहे के नुकीले यंत्र जैसे नाक में लगाने की चिमटी, सिरे पर कील लगी हुई लकड़ी आदि, इसके अन्य वाहक हैं।

विकृत शरीर रचना—त्वचा तथा सभी श्लेष्मल झिल्लियाँ रक्तहीन होकर पीली पड़ जाती हैं तथा गर्दन और वक्ष के निचले भाग में त्वचा के नीचे सूजन आ सकती है। प्लीहा बढ़कर अपकर्षित हो जाती है। यकृत सूजकर पीलिया युक्त हो जाता है। पित्ताशय सूराग्न लिए हुए बादामी रंग के गाढ़े पित्त से भरकर तना हुआ दिखाई देता है। केन्द्रीय तन्त्रिका-तन्त्र के सहित शरीर के सभी अंगों में काफी पीलिया होती है। रोग की दीर्घकालिक अवस्था में प्लीहा बढ़कर अपनी सामान्य अवस्था से दो गुना बड़ा तथा बुरी तरह अपकर्षित

हो जाता है। पशु का रक्त पानी जैसा पतला तथा अस्थि-मज्जा पीली दिखाई देती है। फ़ेफड़ों में रक्त की कमी होकर वे पीले पड़ जाते हैं। कभी-कभी इनमें सूजन होती है तथा प्लूरा पर रक्त के छोटे-छोटे धब्बे पाए जाते हैं। गुर्दे नार्मल रहते हैं तथा आहार-नाल में बहुत ही थोड़ा परिवर्तन पाया जाता है।

लक्षण—प्रयोगात्मक रूप से रक्त का टीका देकर उत्पन्न किए गए रोग का उद्भवन-काल 20 से 40 दिन का होता है। ब्रायटन[10] ने इस बीमारी के निम्नलिखित चार प्रकार वर्णन किए हैं : हल्का, अति उग्र, उग्र, तथा दीर्घकालिक।

रोग का हल्का प्रकोप प्रायः बछड़ों में देखा जाता है। सुस्ती, खुरदरे बाल, चारे में अरुचि, थोड़ी अपच, तथा हालत का गिरना इसके सामान्य लक्षण हैं। रोगियों की आँखों तथा नथुनों से सफेद रंग का श्लेष्मा एवं पीव मिश्रित स्राव बहता है। कुछ ही दिनों में रोगी पशु ठीक हो जाता है। लाल रक्त-कणों में मार्जिनल पिंड मौजूद रहते हैं।

रोग का अति उग्र प्रकोप प्रमुख तौर पर दूध देने वाली गायों में देखा जाता है। अत्यधिक बेचैनी, दूध का बहाव बंद हो जाना तथा तेज बुखार जैसे लक्षणों के साथ रोग की इस प्रकार का आक्रमण एकाएक होता है। रोगी के कान लटके हुए, थूथन सूखी तथा होठों से लार टपकती दिखाई देती है। कुछ ही घंटों में रोगी की मृत्यु हो जाती है। लाल रक्त-कणों में मार्जिनल पिंड पाने पर इसका निदान आधारित रहता है। 50 के 75 प्रतिशत तक ये रक्तकण संक्रमणित हो सकते हैं।

रोग के उग्र प्रकोप में पशु को 104° फारेनहाइट से अधिक बुखार होकर वह बहुत कमजोर हो जाता है। ब्रायटन[10] के अनुसार पशु को कष्टप्रद तथा तेज सांस आती, नाड़ी-गति 80 से 100 के मध्य होती, नेत्र की श्लेष्मल झिल्ली रक्तहीन होकर पीली दिखाई देती तथा कुछ रोगियों की नाक से श्लेष्मायुक्त स्राव बहता है। मांस-पेशियों में ऐंठन होती है। जैसे-जैसे पशु की मृत्यु निकट आती है उसकी त्वचा तथा श्लेष्मल झिल्लियाँ रक्तहीन होकर पीली पड़ती जाती हैं। पशु बार-बार पेशाब करता है किन्तु टेक्सास-ज्वर की भाँति मूत्र का रंग लाल नहीं होता। पशु को अपच होकर रूमेन का पक्षाघात हो जाता है तथा गाभिन गायों में अक्सर गर्भपात होते देखा जाता है। मृत्युदर काफी अधिक होती है तथा दो या तीन दिन के बाद रोगी की मृत्यु हो जाती है। रोग से अच्छे होने वाले पशु बहुत धीरे-धीरे स्वास्थ्य लाभ करते हैं तथा वे मिट्टी खाने की इच्छा प्रदर्शित करते हैं।

ब्रायटन[10] लिखते हैं कि रक्त-कणों की संख्या तीन या चार दसलक्ष तथा हीमोग्लोबिन 40 तक कम हो जाने के बाद, यदि पीलिया प्रकट होने से पूर्व इन रक्तकणों का पुनः निर्माण प्रारम्भ हो जाता है तो कुछ ही सप्ताहों में रोगी ठीक हो जाता है। 175 रोगियों में स्मिथ तथा हावेल[11] ने 30 प्रतिशत से कम हीमोग्लोबिन (टालकुइस्ट) वाले पशुओं की मृत्यु अधिक होते देखी तथा 30 प्रतिशत से अधिक हीमोग्लोबिन वाले पशु ठीक हो गए। रक्त में मेगालोसाइटों (megalocytes) के प्रकट होने से रक्त-कणों के पुनः निर्माण का पता चलता है। यदि पुनः निर्माण नहीं होता तो लाल रक्त-कण गणना एक दसलक्ष तथा हीमोग्लोबिन 15 प्रतिशत कम हो जाता है। नाड़ी-गति 130 से 170, प्यास, पीलिया, अवसन्नता, मांसल ऐंठन तथा लार गिरना इसके लक्षण हैं।

भयंकर उग्र प्रकोप यदि ठीक नहीं होता तो वह रोग की दीर्घकालिक प्रकार में परिणत हो जाता है जिसमें लाल रक्त-कणों की संख्या एक या दो दसलक्ष कम हो जाती है। रक्त में नये रक्त-कणों के प्रकट होने पर मार्जिनल पिंडों की संख्या शीघ्र कम होने लगती है। लगातार हल्का बुखार रहना, भूख न लगना, प्यास, हालत का गिरना, तेज नाड़ी, अधिक पीलिया, तथा कभी-कभी हीमोग्लोबिनमेह होना इसके प्रमुख लक्षण हैं। पूर्ण रूपेण रोग से छुटकारा पाने के लिए तीन चार माह का समय लगता है। अत्यधिक रक्ताल्पता होने पर पशु के सम्पूर्ण शरीर में तीव्र पीलिया होकर उसकी मृत्यु हो जाती है।

विभिन्न यूथों में मृत्युदर भिन्न-भिन्न होती है। औसतन यह 30 से 50 प्रतिशत है।

निदान—टेक्सास-ज्वर वाले प्रान्तों में प्रायः इस रोग को टेक्साज-ज्वर के साथ ही होते देखा गया है। इन क्षेत्रों के बाहर इसकी ऐंथाक्स, गलघोटू, लँगड़िया तथा विपाक्तता आदि रोगों से संभ्रान्ति हो सकती है। वैसे तो अधिकांश रोगियों में लक्षणों तथा क्षतस्थलों को देखकर एनाप्लाज्मता का निदान किया जा सकता है, किन्तु रक्त का माइक्रास्कोपिक परीक्षण करने पर कुछ समय तक रोगोत्पादक मार्जिनल पिंडों को देखा जा सकता है। रोग के ठीक होने के बाद एनाप्लाज्म प्रायः रक्त में नहीं मिलते।[16] मोह्लर आदि[17] ने पूरक-स्थिरीकरण विधि (complement fixation procedure) का प्रयोग करके बड़े अच्छे परिणाम निकाले। इस विधि को उन्होंने मलेरिया के निदान में प्रयोग होने वाले ढंग का थोड़ा सा विकास करके प्रयोग किया। भीषण, उग्र तथा व्यापक संक्रमणों में एनाप्लाज्मोसिस में देखी गई रक्ताल्पता तथा पीलिया के विपरीत इसमें सीरस तथा श्लेष्मल झिल्लियों में लालामी और रक्तस्राव मिलता है।

एक अन्तर्राष्ट्रीय विवरणी[12] में यह कहा गया है कि "1 से 3 माह की आयु के बच्चों की यदि प्लीहा निकाल दी जाए तो वे एनाप्लाज्मता के प्रति अत्यधिक ग्रहणशील हो जाते हैं। इनके लाल रक्त-कणों में बहुत बड़ी संख्या में मार्जिनल पिंड पाए जाते हैं तथा रक्ताल्पता एवं तेज बुखार के लक्षण प्रकट होते हैं·····प्लीहा निकाले हुए ये छोटे बछड़े एनाप्लाज्मता की जाँच के लिए अति उत्तम सिद्ध हुए हैं।"

चिकित्सा—बीमार पशुओं को चलाने-फिराने से बचाकर शान्तमय स्थान में रखिए। उनको खूब चारा पानी दीजिए तथा मक्खियों के काटने से बचाइए। स्ट्रिकनीन, कपूर अथवा कैफीन जैसे उत्तेजक पदार्थ देकर कमजोरी को दूर किया जा सकता है। पशु को कमजोर बनाने वाली औषधियों तथा मृदुरेचक पदार्थों का सेवन न कराइए। ट्रिपन ब्ल्यू से कोई लाभ नहीं होता। कोई भी औषधीय चिकित्सा इस बीमारी पर अनुकूल प्रतिक्रिया प्रदर्शित करती है, यह संदेहात्मक है। ब्रायंटन[13] और उनके साथियों ने डेक्सट्रोज से इस रोग को ठीक होते बताया है (एक लिटर 5 प्रतिशत घोल जिसमें 30 ग्रेन प्रति 100 पौण्ड शरीर भार की दर पर सोडियम कैकोडायलेट मिलाया गया हो)। इस घोल को अन्तःशिरा इन्जेक्शन द्वारा दिया जाता है। श्मिड्ट[14] लिखते हैं कि "इस समय कोई भी ऐसी औषधि नहीं है जो एनाप्लाज्मोसिस की चिकित्सा में सन्तोषजनक परिणाम प्रदर्शित कर सके।" लिगन तथा हावेल[15] द्वारा बताई गई चिकित्सा में निओआर्सफेनामीन, ट्रिपार्सामाइड,

कोबाल्ट क्लोराइड तथा सोडियम सल्फाथायाजोल को काफी मात्रा में डेक्सट्रोज के साथ मिलाकर देने पर बड़े अच्छे परिणाम प्राप्त हुए हैं।

बचाव—रोग-ग्रसित क्षेत्रों में इस बात पर विशेष ध्यान देना चाहिए कि सदूषित इंजेक्शन पिचकारियों तथा यंत्रों के प्रयोग से इसकी आकस्मिक छूत न फैलने पावे। इंजेक्शन लगाने तथा रक्त आदि निकालने के लिए सदैव जीवाणुरहित की गई सुइयों का ही प्रयोग करना चाहिए।

पाइरोप्लाज्मता तथा एनाप्लाज्मता के प्रति बचाव के टीके—इस ग्रुप की बीमारियों के प्रति और विशेषकर शुद्ध नस्ल के पशुओं को पाइरोप्लाज्मता से बचाने के लिए सफल टीका का विकास किया गया है। इसके लिए निम्नलिखित दो विधियों का प्रयोग किया जाता है (1) रोग ग्रसित क्षेत्रों में ग्रहणशील पशुओं को जाड़े के महीनों में भेजना जबकि किलनियाँ निष्क्रिय होती हैं। ऐसा करने से प्राकृतिक रूप से रोग का हल्का सक्रमण होकर पशुओं में सदैव के लिए प्रतिरक्षा उत्पन्न हो जाती है। (2) ऐसे पशु जिनके रक्त में बीमारी का कुछ हल्का अंश मौजूद हो उन्हें किलनियों से मुक्त रखा जाता है और इनके रक्त को कृत्रिम टीका देने के लिए प्रयोग किया जाता है। इस रोग के परजीवों की विभिन्न प्रजातियां होती हैं अत यह आवश्यक है कि जहाँ पशुओं को भेजना हो वहाँ के एक पशु के रक्त से सब का टीका दिया जाए। जैसा कि दक्षिणी अफ्रीका में प्रचलित है, ज्ञात शक्ति का रक्त पशु चिकित्सा विज्ञान प्रयोगशालाओं से प्राप्त किया जाता है और इसे पशु के शरीर से निकाले जाने के बाद 48 घटे के अन्दर ही प्रयोग कर लिया जाता है। अधिक तेज प्रतिक्रिया होने पर ट्रिपन-ब्ल्यू से पशु की चिकित्सा की जाती है—(एडमाइस)।[18] लेग[19] ने उन स्थानों पर पशुओं के प्रतिरक्षण में होने वाली कठिनाई को बताया है जहाँ एनाप्लाज्मा तथा पाइरोप्लाज्मा दोनों एक ही साथ प्रकोप करते हैं। स्किमडिट[14] ने बताया कि "15 माह अथवा इससे कम की आयु पर प्रतिरक्षित किए गए एक हजार से अधिक पशुओं में मृत्यु दर 1 3 प्रतिशत थी। बड़े पशुओं में अधिक ह्रास की आशा की जा सकती है। इस प्रकार एनाप्लाज्मा की विशुद्ध प्रजाति द्वारा टीका लगे दो वर्ष की आयु वाले 13 साडों में से, चार की एनाप्लाज्मासिस के कारण मृत्यु हो गई।"

सदर्भ

1. Moore, V A , Pathology and Differential Diagnosis of Infectious Diseases of Animals, ed 4, New York, Macmillan, 1916, p. 334.
2 Smith, T., and Kilborne, F.L , Investigations into the nature causation and prevention of Texas southern cattle fever, U S D A., B A I. Bull. No. 1, 1893
3 Theiler, A., Further investigations into anaplasmosis of South African cattle, First Report of the Director of Veterinary Research, Union of South Africa Dept of Agr , 1911, p 7
4 Boynton, W H , Observations on Anaplasmosis marginale (Theiler) in cattle of California, Cornell Vet , 1928, 18, 28

4. Boynton, W.H., Studies on anaplasmosis in cattle with special reference to (1) susceptibility of calves born to recovered cows, and (2) the length of time recovered animals may remain carriers, Cornell Vet., 1929, 19, 387.
5. Stiles, G.W., Jr., Anaplasmosis in cattle, U.S. Dept. of Agr. Circ. No. 154 1939.
6. Piercy, P.L., The incidence of anaplasmosis and related factors in veterinary practice, Proc. Book, A.V.M.A., 1950, p. 43.
7. Boynton, W.H., Comp. Rep. U.S.L.S.S.A., 1945, p. 17.
8. Stiles, G.W., Jr., Anaplasmosis diagnosed in Colorado N. Am. Vet., Feb. 1933, 14, 47.
9. Dickmans, G., The transmission of anaplasmosis, Am. J. Vet. Res., 1950, 11, 5.
10. Boynton, W.H., Further observations on anaplasmosis, Cornell Vet., 1932, 22, 10.
11. Smith, H.C., and Howell, D.E., Hemoglobin tests on 175 cases of anaplasmosis, Vet. Med., 1945, 40, 272.
12. U.S.D.A., B.A.I. Report 1937, p. 45.
13. Boynton, W.H., Wood, F.W., and Wood, G., A note on treatment of anaplasmosis, N. Am. Vet., 1937, 18, No. 5, 29.
14. Schmidt, H., Anaplasmosis in cattle, J.A.V.M.A., 1937, 90, 723.
15. Smith, H.C., and Howell, D.E., The chemotherapy of 275, cases of anaplasmosis, vet. Med., 1944, 39, 377.
16. Howell, D.E., Stiles, G.W., and Moe, L.H., The transmission of anaplasmosis by mosquitoes (Culicidae), J.A.V.M.A., 1941, 99, 107.
17. Mohler, Wm. M., Eichhorn, A., and Rogers, H., A complement fixation test for serum diagnosis of bovine anaplasmosis, Vet. Med., 1949, 44, 155.
18. Edmonds and Walker, Diseases of Animals in Tropical Countries, ed. 2, 1929.
19. Legg, J., The occurrence of Anaplasma marginale, Theiler 1910, in Northern Queensland, Council for Scientific and Industrial Research Pamphlet No. 38, Melbourne, 1933.
20. Lotze, J.C., and Yiengst, M.J., Am. J. Vet. Res,. 1941, 2. 323.
21. Griffiths, H.J., and Hadlow, W.J., Anaplasmosis in Minnesota, J.A.V.M.A., 1951, 118, 158.

ट्रिपेनोसोमता

(Trypanosomiasis)

ट्रिपेनोसोम जीवाणु सचल प्रोटोजोआ का एक समूह हैं जो रक्त-प्लाज्मा तथा अन्य शारीरिक द्रवों में पाए जाते हैं। इनकी लम्बाई 20 से 25 माइक्रान तथा चौड़ाई 1.5 से 3 माइक्रान होती है और ये कोशिका विभाजन द्वारा अपना विकास करते हैं। हार्नबाइ[1] के अनुसार ट्रिप्नोसोमों को विभिन्न प्रजातियाँ पालतू पशुओं में कम से कम 12 सुविकसित रोग उत्पन्न करती देखी गई हैं। डूरिन (dourine) को छोड़कर मक्खियों के काटने से इनकी छूत फैलती है। सबसे प्रमुख रोगोत्पादक ट्रिपेनोसोम तथा ट्रिपेनोसोमिक रोग निम्न प्रकार हैं: ट्रिपेनोसोमा एक्वीपरडम (T. equiperdum), घोड़ों में डूरिन रोग;

ट्रिपेनोसोमा ब्रूसिआइ, नेगाना अथवा सेत्सी-मक्षिका रोग; ट्रि० इवांसाइ (Tr. evansi) सर्रा रोग; ट्रि० इक्वाइनम (Tr. equinum), दक्षिणी अमरीका में माल डे कैडेरस (mal de caderas) रोग; तथा ट्रिपेनोसोमा गैम्बीन्जी (Tr. gambiense) मनुष्यों में निद्रालु रोग उत्पन्न करता है।

संदर्भ

1. Hornby, H.E., Control of animal trypanosomiasis, Eleventh International Vet. Cong., 1930, Vol. III, p. 614.

डूरिन रोग

(Dourine)

परिभाषा—डूरिन टापधारी पशुओं को एक छूतैली बीमारी है जो संभोग द्वारा एक पशु से दूसरे पशु में फैलती है। पहले वाह्य जननांगों में सूजन होना, तत्पश्चात् परिणाह तंत्रिकाओं तथा अन्तराकशेरुक गुच्छिका (intervertebral ganglia) के क्षतस्थलों के कारण पक्षाघात उत्पन्न होना और त्वचा पर विशिष्ट प्रकार के दाने पड़ना आदि लक्षणों द्वारा इसे पहचाना जाता है। इस रोग को उत्पन्न करने वाला परजीवी ट्रिपेनोसोमा एक्वीपरडम है।

कारण—डूरिन उन पशु-प्लेगों के समूह के अन्तर्गत आती है जो आधुनिक स्वास्थ्य-विज्ञान के प्रभाव से अधिकतम अदृश्य हो गए हैं। यूनाइटेड स्टेट्स में इसका इतिहास सन् 1882 में फ्रांस से लाए गए कार्य करने वाले घोड़े के प्रवेश से, तथा सन् 1886 में विलियम्स[1] द्वारा इलीन्वायस में इसके प्रकोप के पहचाने जाने से प्रारम्भ होता है। इलीन्वायस में इसके मूल प्रकोप के अतिरिक्त नेब्रास्का, आयोवा, उत्तरी डकोटा, दक्षिणी डकोटा, एरिजोना, न्यू-मैक्सिको तथा वायोमिंग में भी इस महामारी के स्थानिक प्रकोप होते देखे गए हैं। सन् 1920 में मोह्लर[2] ने लिखा कि निकट भविष्य में इसके पूर्णरूपेण उन्मूलन की आशा की जाती है। यदि आजकल यह बीमारी मौजूद है तो पश्चिम के आवारा अथवा कुछ-कुछ आवारा घोड़ों तक ही इसका प्रकोप सीमित है। विश्व युद्ध काल में रूस से इस बीमारी ने जर्मनी में प्रवेश पाया तथा सन् 1921 में जर्मनी के 237 फार्मों पर इसे प्रकोप करते बताया गया। 10 वर्ष बाद इस देश से इसका बिल्कुल ही उन्मूलन हो गया। रूस, रूमानियाँ, अल्जेरिया, स्पेन, भारत तथा एशिया के विभिन्न भागों में यह रोग प्रकोप करता है।

ट्रिपेनोसोमा एक्वीपरडम—यद्यपि कि घोड़े के रक्त में यह ट्रिपेनोसोम रहता कहा जाता है, किन्तु यह वहाँ बहुत ही कम पाया जाता है। त्वचा पर ताजी सूजनों के अन्दर उपस्थित द्रव में, मूत्रनली तथा योनि से निकलने वाले श्लेष्मल स्राव में, तथा अण्डकोष में छेद करके प्राप्त द्रव में यह पारजीवी पाया जा सकता है। सम्भोगकाल में रोग-ग्रसित घोड़े तथा घोड़ियों के मूत्रमार्ग से निकलने वाले स्राव तथा योनिश्लेष्मा से इसकी छूत फैलती है। ट्रिपेनोसोम स्वस्थ श्लेष्मल झिल्लियों में घुस जाने की क्षमता रखते हैं। घोड़ों, कुत्तों, बिल्लियों, भेड़ों, सफेद चुहियों, चूहों तथा खरगोशों में प्रयोगात्मक रूप से इस बीमारी का संचारण किया जा सकता है। चुहियों को इसका अतः पेरिटोयिनल इन्जेक्शन देने पर

रक्त-विपाक्तता होकर दो से पाँच दिन में उनकी मृत्यु हो जाती है। दो से तीन माह बाद कुत्तों की मृत्यु हो जाती है। उनमें सव्रण स्वच्छपटलशोथ तथा निःस्रावी परितारिका-शोथ देखने को मिलती है।

लक्षण—घोड़ों को प्रयोगात्मक रूप से टीका देने पर इस रोग का उद्भवनकाल एक से चार सप्ताह का होता है तथा यह और भी अधिक हो सकता है।

रोग की दो प्रमुख अवस्थाएँ होती हैं : (1) प्राथमिक अवस्था जो जननेन्द्रिय के स्थानीय संक्रमण के अनुसार होती हैं, तथा (2) त्वचा में स्थानीयकरण, तंत्रिकीय लक्षणों और जीर्णशीर्णता के साथ गौण सामान्य संक्रमण। मुतान, नर लिंग तथा अण्डकोषों की फूली हुई सूजन, मूत्रमार्ग की श्लेष्मल झिल्ली का सूजकर लाल हो जाना, थोड़ा सा श्लेष्मा एवं पीव मिश्रित स्राव होना तथा वंक्षण लसीका ग्रंथियों (inguinal lymph glands) का सूज जाना घोड़ों में इस रोग के प्राथमिक लक्षण हैं। भगशोथ, योनि की श्लेष्मल झिल्ली का सूजकर लाल हो जाना तथा उससे श्लेष्मा एवं पीव मिश्रित स्राव बहना घोड़ियों में इस बीमारी के प्रारम्भिक लक्षण हैं। नर तथा मादा दोनो ही पशुओं में संभोग की अधिक इच्छा देखी जाती है। विलियम्स[3] के अनुसार यूरोपीय लेखकों द्वारा बताए गए छाले तथा फफोले डूरिन रोग के लक्षण के रूप में कभी नहीं देखे गए और ये किसी भी प्रकार की ट्रिपेनोसोमिआसिस के परिणामस्वरूप नहीं होते।

रोग की गौण अवस्था त्वचा पर ज्वर-पित्ती की भाँति चकत्ते पड़ने से प्रारम्भ होती है। ये चकत्ते एक से दो इंच व्यास के सुदृढ़, गोल तथा चपटी सूजन वाले होकर गर्दन अथवा शरीर के किसी भी भाग पर स्थित रहते हैं। ये डूरिन रोग के नैदानिक लक्षण हैं तथा प्रकट एवं लुप्त होते रहते हैं। बाह्य जननांगों की त्वचा का रंग भी उड़ सकता है। चेहरे का पक्षाघात, पिछले पैरों की संधियों की खटखटाहट, पैरों का घसीटना तथा टांगों के फैल जाने के साथ पिछले धड़ की अवसन्नता (त्रिक पक्षाघात) होना इसके तंत्रिकीय लक्षण हैं। नर लिंग का पक्षाघात होकर वह बाहर निकल आता है। पशु का जीर्ण-शीर्ण होना इसका विशिष्ट गौण लक्षण है। प्रायः यह नितम्ब की मांसपेशियों से प्रारम्भ होकर शीघ्र ही शरीर भर में फैल जाता है। उपजम्भ लसीका ग्रंथियों की सूजन, नासार्ति, गर्भपात तथा सविराम-ज्वर आदि लक्षण भी देखने को मिल सकते हैं।

उष्ण प्रदेशों में इसका कोर्स उग्र तथा ठंडी जलवायु वाले भागों में दीर्घकालिक होता है। यूनाइटेड स्टेट्स में महीनों तथा वर्षों तक इसके लक्षण बार-बार प्रकट होते हैं तथा ठीक होते देखे जाते हैं। रोगी पशु प्रायः पूर्णरूपेण स्वास्थ्य लाभ नहीं कर पाते। इस रोग से मरने वाले पशुओं की संख्या 50 से 57 प्रतिशत है। रक्त का पूरक-स्थिरीकरण परीक्षण करके गुप्त रोगियों में भी इस रोग का सही निदान किया जा सकता है। यूनाइ-टेड स्टेट्स में जहाँ ट्रिपेनोसोम की केवल एक ही प्रजाति पाई जाती है वहाँ जांच की इस विधि द्वारा संक्रमण का उन्मूलन संभव हो सका है।

संदर्भ

1. Williams, W.L., Ann. Rep. Board of Live Stock Commissioners for the State of Illinois, 1887, p. 31.

2. Mohler, J.R., and Schoening, A.W., Dourine of horses, Farmer's Bull. No. 1146, U.S.DA., 1920.
3. Williams, W.L, The Diseases of the Genital Organs of Domestic Animals, Ithaca, Williams, 1939, p. 305.

नगाना रोग
(Nagana)
(सेत्सी-मक्षिका रोग)

यह अफ्रीका में होने वाला ट्रिपेनोसोमता रोग है जो ट्रिपेनोसोमा ब्रूसिआइ द्वारा उत्पन्न होता है। ग्लॉसिना मोर्सीटान्स (Glossina morsitans) नामक सेत्सी-मक्षिका के काटने से इस रोग की छूत एक पशु से दूसरे में फैलती है। हार्नबाइ के अनुसार इस मक्खी की अनुपस्थिति में भी यह बीमारी विशेषकर ढोरों तथा सूकरों में कृत्रिम रूप से संचारित की जा सकती है। इस लेखक का यह भी कहना है कि "सेत्सी-मक्षिका क्षेत्र में कुक्कुटों को छोड़कर अन्य पालतू पशुओं की संख्या भी अपेक्षाकृत काफी कम है...सभी वन्य अथवा अन्य बड़े पशुओं में यह रोग नहीं होता।" अभी हाल के कुछ वर्षों से केन्द्रीय तथा दक्षिणी अफ्रीका में इसका संक्रमण कुछ क्षेत्रों तक ही सीमित रह गया है। घोड़ों तथा गो-पशुओं में यह रोग अधिक होता है और कुछ कम हद तक भेड़-बकरियों, सूकरों तथा कुत्तों में भी पाया जाता है। रोग का उद्भवन काल दो से दस दिन का होता है। तेज बुखार, श्लेष्मल झिल्लियों का लाल हो जाना तथा टाँगों, उदर तली, पलकों एवं उपजम्भ क्षेत्र में फूली हुई सूजन होना इस बीमारी के प्रारम्भिक लक्षण हैं। एक से कई माह का होकर इस बीमारी का कोर्स दीर्घकालिक होता है। इस अवधि में अनियमित ज्वर, रक्ताल्पता, पीलिया, अत्यधिक कमजोरी तथा कुछ रोगियों में ज्वर-पित्ती के लक्षण मिलते हैं। रक्त में अनेकों ट्रिपेनोसोम मौजूद रहते हैं। रोगी पशु मुश्किल से ही ठीक हो पाता है। सन् 1941 में हार्नबाइ ने यह निष्कर्ष निकाला कि अभी तक प्रतिरक्षण की कोई भी ऐसी विधि नहीं निकल पाई है जो पूर्वी अफ्रीका के पालतू पशुओं को सेत्सी-मक्षिका वाले क्षेत्रों में रोग रहित रखकर जीवित रख सके।

चिकित्सा—इसके इलाज के लिए बेयर 205 का अतः शिरा इन्जेक्शन दिया जाता है। सघन झाड़ियों वाले क्षेत्र, जहाँ इन कीटों का प्रमुख रूप से प्रजनन होता है, उन पर हवाई जहाज से डी.डी.टी. तथा बेन्जीन हेक्साक्लोराइड छिड़कने से सेत्सी-मक्षिका इतनी कम हो जाती हैं कि वहाँ से इन परजीवियों का पूर्णरूपेण उन्मूलन करना सम्भव हो जाता है।

सरा रोग
(Surra)

फिलिपाइस, अन्य एशियाई देशों तथा भारतवर्ष में सरा रोग खूब होता है। इसका कारण ट्रिपेनोसोमा इवान्साइ है तथा टैबेनस, स्टोमाक्सिस आदि विभिन्न मक्खियों द्वारा यह रोग एक पशु से दूसरे पशु में फैलता है। घोड़ा, गधा, खच्चर, ऊँट, हाथी तथा कुत्तों में यह रोग खूब प्रकोप करता है। गो-पशु तथा अन्य जानवर जो इस रोग के प्रति बहुत ही कम ग्रहणशील होते हैं, इसके परजीवी अपने शरीर में छुपाए रख सकते हैं। इसका

उद्भवन काल सात से तेरह दिन का होता है। तेज बुखार, श्लेष्मल झिल्लियों की रक्ताल्पता, त्वचा पर फूली हुई सूजन तथा ज्वर-पित्ती आदि इसके प्रारम्भिक लक्षण हैं। एक से दो माह या अधिक होकर इसका कोर्स दीर्घकालिक होता है जिसमें जीर्ण-शीर्णता, गतिविभ्रम, निद्रालुता, अनियमित ज्वर, पीलिया तथा अत्यधिक कमजोरी के लक्षण दिखाई पड़ते हैं। आमतौर पर इसके लक्षण नेगाना रोग की भाँति ही होते हैं तथा नेगाना की भाँति रोग की प्रारम्भिक अवस्था में पशु के रक्त में असंख्य ट्रिपेनोसोम मौजूद हो सकते हैं। बिना चिकित्सा किए हुए घोड़े प्राय: मर जाते हैं, किन्तु गो-पशु स्वत: ठीक हो जाते हैं। निदान के लिए हार्नबाइ का कहना है कि "घोड़े के सीरम के साथ फार्मोलगल (formolgel) परीक्षण करने पर कुछ सफलता मिल सकती है। ऊँटों के लिए यह एक विशिष्ट परीक्षण रहा है किन्तु अभी कुछ दिनों से और भी अच्छी तथा अधिक उपयोगी मर्क्यूरिक क्लोराइड जाँच ने इसका उपयोग कम कर दिया है। बीनेट तथा केनो ने इस जाँच की खोज की। इसके अन्तर्गत 1:25,000 मर्क्यूरिक क्लोराइड घोल की 1 घ० सें० में 1 बूँद सीरम मिलाकर धुँधलेपन को देखा जाता है, जो संक्रमण का सूचक है।"

चिकित्सा—हार्नबाइ[1] के अनुसार "प्राकृतिक रूप से अधिक सहनशक्ति रखने वाले पशुओं में इसकी रोगहर चिकित्सा आसान है। भेंड़-बकरियों तथा भैंसों में ट्रिपेनोसोम को नष्ट करने वाली किसी भी औषधि की केवल एक ही खुराक देना आमतौर पर पर्याप्त होता है। ऊँट भी शीघ्र अच्छे हो जाते हैं। अधिक ग्रहणशील पशुओं, विशेषकर घोड़ों तथा कुत्तों, की चिकित्सा करना काफी कठिन होता है। बेयर 205 को अकेला अथवा अन्य औषधियों जैसे टारटार इमेटिक, एंटिमोसान, सल्फार्सेनोल आदि के साथ देने से अति उत्तम परिणाम प्राप्त होते हैं।" जिन देशों में यह बीमारी बहुवितरित है वहाँ बचाव के अन्तर्गत वे सब उपाय आते हैं जो अधिक क्षति ग्रस्त पशुओं को बचाने के लिए किए जाते हैं। अत: एँग्लो इजिप्टियन सूडान में सेना के ऊँटों को नियमित रूप से मर्क्यूरिक क्लोराइड जाँच, अलगाव तथा रोगियों की चिकित्सा द्वारा बचाया जाता है। जावा में भैंस-वाहकों (buffalo carriers) की उपस्थिति के कारण इसका उन्मूलन करना असंभव सा दिखाई पड़ता है, अत: बाकर ने घोड़ों में इसके प्रकोप का निम्न प्रकार इलाज किया: "जब सरा रोग प्रकट हुआ तो प्रान्त के सब घोड़ों को 1 ग्राम की मात्रा में बेयर 205 का टीका दिया गया तथा बाहर से लाए गए घोड़ों को तब तक यूथ में न मिलाया गया जब तक उनके टीका न लग चुका हो। कार्यभारी पशुओं का बराबर प्रयोग किया गया जिससे कि साधारण काम पर कोई कुप्रभाव न पड़ा तथा एक माह के लिए उन्हें संक्रमण से बचाया गया। जब तक रोग का प्रकोप कम नहीं हो गया, दो या तीन माह तक प्रति माह उन्हें टीका दिया गया। दक्षिणी अमरीका में भी, उन्मूलन की कठिनाई पर जोर देते हुए रसायनी-चिकित्सा की आवश्यकता पर अधिक ध्यान दिया गया।"

बवरमैन[3] के अनुसार रोग के आक्रमण के प्रारम्भ में की गई चिकित्सा काफी प्रभावकारी होती है। उन्होंने प्रति 150 से 200 कि० ग्रा० शरीर भार पर 3 से 3.5 ग्राम नेगानोल तथा 3 से 3.5 ग्राम एण्ट्रासिल का एक साथ इन्जेक्शन देना लाभप्रद बताया। इस चिकित्सा के बाद 80 प्रतिशत रोगी पशु ठीक होते देखे गए। गुहक[4]

का कहना है कि फिलिपाइन्स में नेगानाल-एटाक्सिल का प्रयोग घोड़ों के सरा की चिकित्सा में बेकार सिद्ध हुआ। जब नेगानाल को सोडियम एंटिमनी टारट्रेट के साथ मिलाकर अप्राणघातक किन्तु कुछ-कुछ विषैली मात्रा में पशु को दिया गया तो कृत्रिम रूप से संक्रमित 5 घोड़ों में से 2, तथा प्राकृतिक रूप से रोग-ग्रसित 3 पशुओं में से 1 इस बीमारी से अच्छे हो गए। सन् 1938 में गर्मियों के महीनों में ब्रिटिश नार्थ बोर्निओ में किए गए मैदानी परीक्षणों में प्राकृतिक रूप से संक्रमित 100 घोड़ों में से नेगानाल सोडियम एंटिमनी टारट्रेट सम्मिश्रण देने से सरा रोग के 63 रोगी ठीक हो गए।

माल डे कैडेरस (mal de caderas) एक दक्षिणी अमरीका में होने वाली ट्रिपेनोसोमता है जो ब्राजील, अर्जेन्टाइना तथा पराग्वए में हुआ करती है। यह बीमारी ट्रिपेनोसोमा इक्वाइनम (Tr equinum) द्वारा उत्पन्न होती है तथा प्रमुखतौर पर टापधारी पशुओं पर आक्रमण करती है। इसके संक्रमण की प्राकृतिक विधि अज्ञात है। बढ़ती हुई दुर्बलता, पिछले पैरों की कमजोरी तथा लड़खड़ाती हुई चाल इसके लक्षण हैं। इस रोग के लक्षण तथा क्षतस्थल नेगाना तथा सरा रोग की भाँति ही होते हैं।

संदर्भ

1 Hornby, F E, Control of animal trypanosomiasis, Eleventh Inter Vet. Cong, 1930, Vol III, 614

2 Hornby, H E, Immunization against bovine trypanosomiasis, Trans R Soc Trop Med Hyg, 1941, 35, 165

3 Bubberman, D C, Bekampfung von Trypanosomiasen in Niederlandisch—Indian, Eleventh International Vet Cong, 1930, Vol III, p 600

4 Yutuc, M, Experimental studies on the curative treatment of surra in native horses in the Philippines, III, with a report on the results obtained in British North Borneo, Philippine Jour Sci, 1941, 75, 105 abs Vet. Bull., 1942, 12, 407

मरीना रोग

(Murrina)

मरीना रोग एक दक्षिणी अमरीका का ट्रिपेनोसोमता रोग है जो सरा से निकटतम मिलता-जुलता है। नहरी क्षेत्र पनामा, तथा सम्भवत अन्य मध्यवर्ती अमरीकी प्रदेशों में यह बीमारी हुआ करती है। इसका कारण ट्रिपेनोसोमा हिप्पिकम है जिसे सरा रोग उत्पादक ट्रिपनोसोमा इवासाइ से अलग नहीं पहचाना जा सकता। मक्खियों तथा रक्त चूसने वाले कीटों के द्वारा यह रोग एक पशु से दूसरे पशु को लगता है। गो-पशु इसका शिकार नहीं होते किन्तु ये अपने रक्त में ट्रिपेनोसोमों को छुपाए रख सकते हैं। रोग का उद्भवनकाल पाँच दिन का होता है तथा निराशा, कमजोरी और ज्वर के साथ यह बीमारी प्रारम्भ होती है। शोथ तथा बुखार बार-बार होता देखा जाता है। पशु के मूत्र में प्राय रक्त मिला होता है तथा दो से तीन माह में रोगी की मृत्यु हो जाती है। ऐसी ही मिलती जुलती बीमारी वेनेजुएला में भी होती है।

मेटाज़ोअन संक्रमण
(METAZOAN INFECTIONS)
ट्रिचिनारुग्णता
(Trichinosis)

सूकरों में ट्रिचिना स्पाइरेलिस अपने विकासकाल की दो अवस्थाओं में मिलता है : लैंगिक रूप से परिपक्व अंतड़ी का ट्रिचिनी तथा मांसपेशियों के अन्दर स्थित लार्वल ट्रिचिनी। प्रौढ़ परजीवी 1.5 से 4 मिलिमीटर लम्बाई का नुकीले सिर तथा कुछ-कुछ गोल पूंछ वाला एक गोल कीड़ा है। यह कीट सूकरों, चूहों, चुहियों तथा मनुष्यों एवं अन्य स्तनधारी पशुओं की अंतड़ी में निवास किया करता है। इसकी लार्वल अवस्था 0.6 से 1 मिलीमीटर लम्बी होती है। जब लार्वायुक्त मांस किसी मनुष्य अथवा ऐसे पशु द्वारा खाया जाता है जिसमें कि इसका विकास होना संभव हो तो कैप्सूल (मांसल आवरण) का पाचन होकर ट्रिचिनी उससे बाहर निकल आते हैं। लगभग तीसरे दिन छोटी अंतड़ी में वे लैंगिक परिपक्वता ग्रहण कर लेते हैं तथा सातवें दिन से इनकी मादाएँ अंतड़ी की ग्रंथियों की गुहाओं में जीवित भ्रूण जमा करना प्रारम्भ कर देती हैं। ये भ्रूण रक्त-प्रवाह द्वारा मांस-पेशियों में ले जाए जाते हैं जहाँ लगभग चार सप्ताहों में इन पर कैप्सूल बनना प्रारम्भ होकर तीन माह तक जारी रहता है। तीसरे से छठे महीने कैप्सूलयुक्त ट्रिचिनी का कैल्सीकरण होना शुरू होकर अठारह माह तक जारी रहता है। इस परिवर्तन से सिस्ट दिखाई देने लगता है। डायाफ्राम, फेरिंक्स तथा जीभ के मांसल भागों में ये लार्वा अधिकतर स्थित रहते हैं तथा कुछ कम हद तक पर्शुकान्तर (intercostal) तथा उदरीय मासपेशियों में भी पाए जाते हैं।

सूकरों में रोग का प्राकृतिक संक्रमण लक्षण प्रदर्शित नहीं करता। किंतु कृत्रिम रूप से भारी संक्रमण के बाद पशु में ज्वर, दस्त, अकड़न, शूल-वेदना, खाने-पीने में कष्ट, श्वास-कष्ट तथा शोथ के लक्षण देखे जाते हैं। सूकरों तथा चूहों को इसकी छूत ऐसा कच्चा मास खाने से लगती है जिसमें सिस्ट युक्त परजीवी कीट मौजूद हों। सूकर इसके संक्रमण का प्रमुख स्रोत होते हैं। श्वार्ट्ज[1] ने बताया कि सन् 1933 से 1937 तक दाना खिलाए गए सूकरों से प्राप्त डायाफ्राम की मांसपेशी के टिशु के 6662 नमूनों की जाँच करने पर, कच्ची ओझड़ी खिलाए गए सूकरों में 4.41 प्रतिशत सक्रमण की अपेक्षाकृत, 0.91 प्रतिशत सक्रमण मिला। सन् 1938 की विवरणी[2] में प्रस्तुत आंकड़े यह प्रदर्शित करते हैं कि "ओझड़ी आदि खाने वाले सूकरों में, न खाने वालों की अपेक्षा इस बीमारी का प्रकोप दसगुना अधिक होता है। वे यह भी प्रकट करते हैं कि ओझड़ी आदि खाने वाले सूकरों में, दाना खाने वाले सूकरों की अपेक्षाकृत ट्रिचिनी का प्रकोप अधिक वेगवान होता है।" ऐसा विश्वास किया जाता है कि ओझड़ी का खिलाना ही सूकरों में ट्रिचिनी के संक्रमण का प्रमुख स्रोत होता है। जीवित सूकरों में इस बीमारी का पता लगाने के लिए त्वचा-जाँच समुचित रूप से सही नहीं सिद्ध होती (यू० एस० बी० ए० आई०)।

मनुष्य में ट्रिचिनारुग्णता रोग भयकर तथा प्राणघातक हो सकता है। मनुष्यों में इसकी छूत समुचित रूप से न पकाए गए ट्रिचिनोयुक्त सूकर का मास खाने से लगती है। ऐसे सक्रमण का पता लगाने के लिए बाहर भेजे जाने वाले सुअर के मास का निरीक्षण करना सघीय पशु-उद्योग-ब्यूरो (Federal Bureau of Animal Industry) की स्थापना का प्रमुख कारण था। ऐसा कहा जाता है कि यूनाइटेड स्टेट्स से बाहर भेजे जाने वाले खाने वाले सुअर के मास में कभी भी ट्रिचिनारुग्णता का सक्रमण न मिला। साविट्ज[3] की रिपोर्ट के अनुसार सन् 1915 से 36 तक यूनाइटेड स्टेट्स जन-स्वास्थ्य विभाग को रिपोर्ट किए गए ट्रिचिनारुग्णता के रोगियों की सख्या 2968 है तथा इस रोग के प्रकोप की वार्षिक बढोत्तरी बीमारी पर बढती हुई रुचि के कारण है। इससे मरने वाले पशुओं की सख्या 4 4 प्रतिशत है। "मध्य पश्चिमी तथा अन्य क्षेत्रों में जहाँ जर्मनी तथा इटली के लोग रहने लगे हैं वहाँ इस बीमारी का अधिक प्रकोप करना उन लोगों के खाना बनाने के स्थानीय रीति रिवाजो के कारण है शव-परीक्षण से यह पता चलता है कि लगभग 16 प्रतिशत आबादी इससे सक्रमणित है।"[4]

भलीभाँति पकाने, 5° फारेनहाइट तक के तापक्रम पर कम से कम 20 दिन तक लगातार प्रशीतन करने तथा 131° फारेनहाइट तक गरम करने से सुअर के मास में उपस्थित ट्रिचिना का नष्ट किया जा सकता है—श्वार्ट्ज।

रोग से बचाव के लिए, खाने से पूर्व सुअर के मास को भलीभाँति पकाना चाहिए।

संदर्भ

1. Schwartz, B , Trichinosis in swine and its relationship to public health, J.A.V.M.A., 1938,92, 317.
2. U.S.D.A., B A.I , Report, 1938, p. 80.
3. Sawitz, W., Prevalence of Trichinosis in the United States, U.S. Treas. Dept , Public Health Reports, 1938, 53, 365.
4. Cecil & Loeb, Textbook of Medicine, 1951.

टीनियारुग्णता

(Taeniasis)

टीनिया सैजिनेटा (गो-मास का टेप वर्म) उत्तरी अमरीका में मनुष्यों में पाया जाने वाला प्रमुख टेपवर्म (फीताकृमि) है। प्रौढ़ परजीवी कीट मनुष्य की अँतड़ी में छुपा रहता है। यह एक चपटा, सफेद रग का, खण्डों वाला कीट है जिसकी लम्बाई 12 से 25 फिट या और अधिक होती है और प्राय: अकेला एक ही कीट उपस्थित मिलता है। रोग-ग्रसित मनुष्य के मल में उपस्थित अण्डो से सदूषित चारा या पानी जब कोई पशु खा लेता है तो इनका लार्वल अवस्था (सिस्टीसर्कस बाविस) उसके शरीर में पहुँच कर उसे सक्रमणित कर देती है। ये लार्वा अँतड़ी की दीवाल में घुसकर मास अथवा अन्य अगो में पहुँचते हैं जहाँ इनसे सिस्टीसर्काइ का विकास होता है। इनका प्रमुख निवास-स्थल गाल तथा हृदय की मास-पेशियाँ है। इन सिस्टों की उपस्थिति शरीर में खतरा उत्पन्न करती है।

पशुओं में इस रोग के नैदानिक लक्षण नहीं होते। मनुष्यों को इसकी छूत सिस्टीसर्काइ युक्त कच्चा अथवा अधपका मांस खाने से लगती है।

टीनिया सोलियम (सुअर के मांस में पाया जाने वाला टेपवर्म) यूनाइटेड स्टेट्स में अधिक नहीं पाया जाता। यूरुप तथा एशिया में यह अधिक पाया जाता है। प्रौढ कीट 6 से 12 फिट लम्बा होता है। सूकरों को इसकी छूत रोग-ग्रसित मनुष्य के मल में उपस्थित अण्डों से सदूषित चारा पानी खाने से लगती है। इस प्रकार खाए गए लार्वा उसकी अँतडी से मांस पेशियों तथा भीतरी अंगो में पहुँच कर परिपुटित हो जाते हैं जिन्हें सिस्टीसर्कस सेल्यूलोसी कहते हैं। ये सिस्ट सफेद रंग के अण्डाकार शरीर वाले, 1/8 से 1/4 इंच व्यास के होते हैं। मनुष्य को इसकी छूत सिस्टीसर्काइ युक्त अथवा भली-भांति न पका हुआ सुअर का मांस खाने से लगती है। लार्वा तथा प्रौढ कीट दोनो ही मनुष्य के शरीर में विकास कर सकते हैं।

मनुष्य में टीनियारुग्णता के लक्षण इस परजीवी के अँतड़ी में उपस्थित होने के कारण होते हैं और प्रायः यह काफी उग्र होते हैं। चूँकि टीनिया सोलियम की लार्वल अवस्था मनुष्य की मांस-पेशियों को भी क्षति पहुँचा सकती है अत. यह परजीवी और भी उग्र लक्षण उत्पन्न कर सकता है।

ऐलर्जी के रोग
(DISEASES OF ALLERGY)
ऐनाफिलैक्सिस
(Anaphylaxis)
(अतिसंवेदनशीलता, तीव्रग्राहिता, द्रुतग्राहीकरण, संवेदन वैशिष्ट्य)

परिभाषा—ऐलर्जी एक प्रतिक्रिया है जो एक ऐसे पशु को ऐंटिजन का टीका देने से उत्पन्न होती है जिसकी कोशिकाएँ इस विशिष्ट ऐंटिजन के प्रति संवेदनशील हो चुकी होती हैं।

कारण—कोशिकाओं की संवेदनशीलता अर्थात् ऐलर्जिक अवस्था बैक्टीरिया और उनकी उत्पाद, सीरम, औषधियों, खाद्य पदार्थ, तेल, रेज़िन तथा बहुत से अन्य ऐसे ही विभिन्न प्रकार की ऐंटिजनों के संपर्क में आने से उत्पन्न होती है। प्रायः ऐसा कहा जाता है कि प्रोटीन ही केवल ऐसे पदार्थ हैं जो ऐनाफिलैक्टिक अवस्था उत्पन्न करने की क्षमता रखते हैं तथा बड़े पशुओं में अधिकांश रोगियों में यही संवेदनशीलता का कारण बनते हैं। साथ ही ग्रहण करने वाले पशुओं को यह प्रोटीनयुक्त पदार्थ अवांछित होने चाहिए। खाने, सूंघने तथा इन्जेक्शन द्वारा अथवा संक्रमण के केन्द्र से ये ऐंटिजन शरीर में शोषित होते हैं। संपर्क द्वारा संवेदनशीलता उत्पन्न होने पर कोशिकाओं में ऐंटीबाडी बन जाती है। इसके बाद ऐंटिजन का इन्जेक्शन देने पर कोशिकाओं का ऐंटिजन से संबंध घटता जाता है जिसके परिणामस्वरूप बहुत ही तेज प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है, जिसे ऐनाफिलैक्टिक धक्का (anaphylactic shock) कहते हैं। पशुओं में होने वाली इस रोग की यह सामान्य प्रकार है और यह इन्जेक्शन देने के तत्काल बाद अथवा कुछ देर बाद हुआ करती है। ऐसी "सीरम दुर्घटनाएँ" बहुत से लोगों द्वारा ऐनाफिलैक्सिस का उदाहरण मानी जाती हैं। यह कृत्रिम संवेदनशीलता सन् 1904 में थेवाल्ड स्मिथ द्वारा रिपोर्ट की गई जिन्होंने यह देखा कि उनके बहुत से प्रयोगात्मक पशु समुचित अवकाश के बाद सीरम का दूसरा इन्जेक्शन देने के तत्काल बाद मर गए। यह पशु की संवेदनशील अवस्था है जिसके परिणामस्वरूप उसे ऐनाफिलैक्टिक धक्का लगता है क्योंकि नार्मल पशु के लिए ऐंटिजन स्वतः हानिकारक नहीं होती। ऐलर्जी की क्रिया एक आश्चर्य चकित प्रक्रिया है। कोई भी यह नहीं जानता कि एक ऐंटिबाडी क्या है और न इस उत्तेजक प्रक्रिया के बारे में किसी को कोई वास्तविकता ज्ञात है।

बहुत से रोगियों में संवेदनशीलता को पूर्व ऐंटिजन से संपर्क सिद्ध करना असंभव हो जाता है। साथ ही ऐसे संपर्क की अनुपस्थिति सिद्ध करना भी असंभव होता है जो परोक्ष अथवा अंतः गर्भाशयी या जन्मजात होता है। पहली बार इन्जेक्शन दिए गए पशुओं में ऐनाफिलैक्सिस के प्रकोप को स्पष्ट न कर पाने की घबराहट रीचेल[1] द्वारा वर्णन की गई है जिन्होंने यह बताया कि जहाँ तक पशुओं में ऐनाफिलैक्सिस देखी जाती है ये पशु

विदेशी प्रोटीन के लिए "प्राकृतिक रूप से संवेदनशील" होते हैं। मैकेन्जी[3] ने मनुष्य में होने वाली पहली सीरम इन्जेक्शन दुर्घटना का "एकाएक अति संवेदनशील व्यक्तियों" में होना वर्णन किया है। मनुष्य तथा पशु दोनों में ही अधिकांश सीरम दुर्घटनाएँ पहला इंजेक्शन देने के बाद ही हुआ करती हैं। इसका दूसरा स्पष्टीकरण इस तथ्य में पाया जा सकता है कि इंजेक्शन देने के बाद लगने वाला धक्का ऐनाफिलैक्टिक नहीं होता, किन्तु यह सीरम में उपस्थित किसी अज्ञात विषैले पदार्थ द्वारा उत्पन्न होता है। जून सन् 1943 में गो-पशु के रक्त से तैयार किया गया ऐंटि-गलघोटू-सीरम उपलब्ध था जो निश्चित मात्रा में अधस्त्वक् अथवा अंतःशिरा इंजेक्शन द्वारा देने पर पशुओं के लिए शीघ्र ही प्राणघातक सिद्ध होता था। 5 घ० सें० सीरम का अधस्त्वक् इन्जेक्शन देने पर दो वर्षीय बछिया की मृत्यु हो गई तथा उसका शव-परीक्षण करने पर विस्तृत फुफ्फुसशोथ मिली। 40 घ० सें० सीरम का अधस्त्वक इंजेक्शन देने के बाद एक युवा बछड़े की मृत्यु हो गई तथा उसका शव-परीक्षण करने पर फेफड़ों में रक्त-स्राव के साथ फुफ्फुस शोथ मिली। एक दूसरा बछड़ा 15 घ० सें० की मात्रा में अन्तःशिरा इन्जेक्शन देने से बिल्कुल ही मरणासन्न हो गया किन्तु, अंत में वह ठीक हो गया। एक अन्य युवा बछड़ा अंतःशिरा इन्जेक्शन द्वारा 50 घ० सें० सीरम देने के बाद 10 मिनट के अन्दर मर गया। जहाँ तक ज्ञात है इस श्रेणी के सीरम का जिस पशु को भी इन्जेक्शन दिया गया उसकी या तो मृत्यु हो गई अथवा उसमें तीव्र प्रतिक्रिया हुई। ऐसे मामलों में यह अनुमान करना गलत है कि "ऐंटिजन स्वतः ही हानिरहित है"।

58° अथवा 59° सें० पर 30 मिनट तक समजात सीरम का पास्चुरीकरण करके फीनोल युक्त प्रतिरक्षी मिलाने पर ऐसे परिवर्तन उत्पन्न होते हैं जिनके बाद ऐनाफिलैक्सिस होने की संभावना उसी सीरम के बिना गर्म किए गए प्रयोग किए जाने की अपेक्षाकृत अधिक रहती है (रीचेल)। वाइरस संक्रमणों को कंट्रोल करने के लिए पास्चुरीकरण का अत्यधिक प्रयोग किया जाता है। रीचेल द्वारा यह अवलोकन रिकार्ड किया गया कि फीनोल युक्त प्रतिरक्षी में 30 दिन से अधिक सीरम को रखने पर उसकी संक्रमणता तथा कर्दम-ज्वर का वाइरस नष्ट हो जाता है, अतः यह संभव है कि अन्य संक्रमण भी इसी प्रकार नष्ट हो जाते हों। कुक्कुट-भ्रूण अश्वीय मस्तिष्क सुषुम्नाशोथ वैक्सीन (chick embryo-equine encephalomyelitis vaccine) का दूसरा इन्जेक्शन देने के बाद घोड़ों में भीषण प्रतिक्रिया तथा ह्रास होते देखा गया। शोनिंग[7] द्वारा प्रस्तुत विवरणी में यह बताया गया है कि "वैक्सीन को अधिक दिनों तक रखा रखने पर उसमें कुछ अति ऐंटिजनी पदार्थों के विकास होने की संभावना रहती है जिससे विदेशी प्रोटीन के प्रति संवेदनशील कुछ पशुओं में जब इसकी दूसरी मात्रा प्रविष्ट की जाती है तो भयंकर प्रतिक्रिया तथा मृत्यु तक हो सकती है। "कुक्कुट-भ्रूण-वैक्सीन का अधस्त्वक इन्जेक्शन देने पर ऐसी प्रतिक्रियाएँ नहीं होतीं।

सीरम अथवा ऐंटेसिन तथा सीरमयुक्त अन्य जैविक उत्पादों का चुनाव करते समय इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि जहाँ तक संभव हो इन पदार्थों को उसी जाति के पशुओं से तैयार किया जाए जिनमें इनका प्रयोग करना हो (समजात) उदाहरणार्थ, गो पशुओं में ऐंटिगलघोटू उत्पाद का प्रयोग करने में, घोड़ों से प्राप्त पदार्थों का इस्तेमाल

नहीं करना चाहिए। फिचर[4], तथा फिचर और गिवंस[5] ने यह बताया कि "हमारे रोगियों में ज्वर-पित्ती जैसी सूजन केवल उन्हीं पशुओं में देखी गई जिनमें घोड़ों से प्राप्त सीरम अथवा ऐंप्रेसिन का इन्जेक्शन दिया गया था।" जीवाणुगत पदार्थ के प्रयोग करने के बाद काफी ऐनाफिलैक्सिस हुआ करती है और यह प्रतिक्रिया कभी-कभी इतनी तेज होती है कि रोगी की मृत्यु तक हो जाती है। ऐसे धक्के संवर्धन अथवा एगर माध्यम को सुदृढ़ बनाने के लिए प्रयोग किए जाने वाले घोड़े के सीरम के कारण हो सकते हैं। ऐनाफिलैक्सिस की प्रतिक्रिया से बचाने के लिए जीवाणुगत पदार्थ वास्तविक जीवाणुओं को नार्मल सलाइन में घोलकर तैयार किए जाने चाहिए तथा इन्हें विषैले अथवा अन्य अवांछित प्रोटीन युक्त पदार्थों से रहित होना चाहिए।

हमारे अनुभव के अनुसार जीवाणुगत पदार्थ तथा वैक्सीन ऐनाफिलैक्सिस प्रतिक्रिया के अक्सर कारण हुआ करते हैं। बछड़ों में बदबूदार दस्त रोग की चिकित्सा तथा बचाव हेतु जीवाणुगत पदार्थों का प्रयोग करने से अनेक बच्चों की मृत्यु होते देखी गई है। एक उदाहरण में, 6 से 8 माह की आयु वाले दो बछड़ों को रोग से बचाव हेतु 5 घ० सें० की मात्रा में गलघोटू जीवाणुगत पदार्थ का टीका दिया गया। लगभग तीन घंटे बाद उन्हें साँस लेने में बहुत ही कष्ट होने लगा। वे मुँह खोलकर तेजी से हाँफने लगे जिसे कम से कम 30 फिट की दूरी से सुना जा सकता था। लगभग दस मिनट बाद दोनों बछड़ों की मृत्यु हो गई। उनका शव चीर कर देखने पर फेफड़े अति रक्तयुक्त तथा अत्यधिक सूजे हुए मिले। गलघोटू रोग से बचाव हेतु प्रतिवर्ष दिए जाने वाले जीवाणुगत पदार्थ के टीके से दूध की एक मूल्यवान गाय की मृत्यु इन्जेक्शन देने के बाद एक घंटे के अन्दर ही गई। वह पशुशाला में बैठ गई और बिना कोई विशिष्ट लक्षण प्रदर्शित किए ही मर गई। बछड़ों को प्रवाहिका ऐंटिसीरम अथवा माँ के रक्त का इन्जेक्शन देने से उनके शरीर में उग्र प्रतिक्रिया उत्पन्न हो सकती है। परिपक्व पशुओं में रक्त चढ़ाना, सुअरियों को ऐंटिसूकर-एरिसिपेलस सीरम का इन्जेक्शन देना, तथा गाय को गर्भित घोड़ी के सीरम (gonadin) का इन्जेक्शन देना जिससे कि ज्वर-पित्ती जैसे लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं, इसके अन्य उदाहरण हैं। सम्भवतः गायों में अज्ञात कारणवश कभी-कभी फेफड़ों की सूजन का प्राणघातक आक्रमण ऐनाफिलैक्सिस ही होता है। वार्बल मक्खी के लार्वा से उत्पन्न ज्वर-पित्ती तथा अज्ञात कारणवश गरमियों में छींकें आना गायों में ऐनाफिलैक्सिस के अन्य उदाहरण हैं। कभी-कभी कैल्सियम ग्लूकोनेट, नियोआर्सफेनामीन तथा फार्मेलीन का अंतःशिरा इन्जेक्शन देने पर भी ऐसी प्रतिक्रिया उत्पन्न होते देखी जाती है। वैसे तो यह प्रतिक्रिया प्रायः अधिक तेज नहीं होती, किन्तु कभी-कभी इससे मृत्यु तक होते देखी गई है।

लक्षण—गलाघोटू-जीवाणुगत पदार्थ का इन्जेक्शन देने के बाद पशु में श्वासकष्ट तथा कंपकपी के लक्षण उत्पन्न हो सकते है। इसका आक्रमण तत्काल अथवा एक घंटे के अन्दर हो सकता है। श्वास-कष्ट तथा फुफ्फुस शोथ के लक्षण चौबीस घंटे तक विद्यमान रह सकते है। थूथन एवं आँखों के चौतरफा सूजन तथा पूर्ण शरीर पर ज्वर-पित्ती की भाँति चकत्ते दिखाई पड़ते हैं। पशु के शरीर में अत्यधिक खुजली मचती है, शूल-वेदना

के लक्षण प्रकट होते हैं तथा श्वास-कष्ट होकर वह हाँफने लगता है। ऐसी सूजन तत्काल अथवा चौबीस घंटे के बाद उत्पन्न हो सकती है। रोग के भीषण प्रकोप में पशु मुंह खोलकर सांस लेता है तथा फेफड़ों में सूजन एवं वातस्फीति होकर कई दिन तक मौजूद रह सकती है। इन्जेक्शन देने के तत्काल बाद पशु बेहोश होकर या तो ठीक हो जाता है अथवा कुछ ही मिनटों में उसकी मृत्यु हो जाती है। आँखों से आँसू बहना, खाँसी आना, तथा नथुनों पर रक्तयुक्त झाग के साथ फेफड़ों से खून बहना इसके अन्य लक्षण हैं। शव-परीक्षण करने पर फुफ्फुस-शोथ तथा वातस्फीति मिलती है अथवा कुछ रक्तस्रवित धब्बों को छोड़कर अन्य क्षतस्थल अनुपस्थित हो सकते हैं।

चिकित्सा—सीरम दुर्घटनाओं के लिए 3 से 8 घ० सें० की मात्रा में इपीनेफरीन (एड्रीनलीन 1:1000 घोल) का अधस्त्वक् इन्जेक्शन देना विशिष्ट इलाज है और जहाँ जीवाणुगत-पदार्थ अथवा सीरम का प्रयोग करना हो वहाँ इस औषधि को साथ रखना चाहिए। यदि आवश्यकता हो तो पहला इन्जेक्शन देने के उपरान्त कुछ ही मिनटों में दूसरा इन्जेक्शन दिया जा सकता है। बचाव के रूप में, इन्जेक्शन देने के पूर्व ही एड्रीनलीन को सीरम में मिलाया जा सकता है। सीरम के 1:10 घोल को पशु की आंख में डालकर अथवा इसकी स्थानीय ऐनाफिलैक्टिक प्रतिक्रिया ज्ञात करने के लिए इसका अंतःत्वचा इन्जेक्शन देकर संवेदनशील पशुओं का पता लगाया जा सकता है। बचाव अथवा चिकित्सा हेतु सीरम का प्रयोग करने से पूर्व पशु की संवेदनशीलता का पता लगाने की दूसरी विधि यह है कि उसे 5 घ० सें० सीरम का अधस्त्वक् इन्जेक्शन देकर अवलोकन कर लिया जाए।

संदर्भ

1. Reichel, John, Anaphylaxis as related to biologic prophylaxis and treatment of animals, J.A.V.M.A., 1939, 94, 418.
2. Mackenzie, Textbook of Medicine, Cecil, ed. 5, p. 561.
3. Schooning, H.W., Reactions following administration of equine encephalo, myelitis vaccine, J.A.V.M.A., 1940, 97, 39.
4. Fincher, M.G., Hemorrhagic septicemia, Cornell Vet., 1936, 26, 51.
5. Gibbons, W.J., and Fincher, M.G., Hemorrhagic septicemia, Cornell Vet. 1937, 27, 52.

विषाक्तता
(POISONING)

किसी अज्ञात कारणवश जब पशु एकाएक बीमार पड़ते हैं तो उनमें विषैले पौधों, दूषित चारे तथा जहर खिलाने अथवा लापरवाही से किसी विष का प्रयोग करने से उत्पन्न "संदेहयुक्त विषाक्तता" का निदान किया जाता है। जहर खिलाने अथवा धोखे से खा जाने से अनेक पशुओं की मृत्यु हो जाया करती है। संदेहयुक्त रोगियों में सही निदान करने तथा किसी व्यक्ति को उत्तरदायी ठहराने के लिए पशु-चिकित्सक को कानूनी तथा रोग विज्ञान संबंधी दोनो ही पहलुओं का ज्ञान होना आवश्यक है। यदि विद्वेषपूर्ण जहर देने का संदेह हो तो पशु-चिकित्सक को चाहिए कि निदान करते समय प्रमाण के रूप में प्रयोग होने वाले किसी पदार्थ अथवा टिसुओं को व्यक्तिगत अधिकार में रखने के लिए किसी जन-अधिकारी को बुला ले। यह इस बात के प्रति बचाव करता है कि अभियोगी अथवा उसके किसी आदमी ने उपर्युक्त प्रकार बरामद किए पदार्थ को रसायनज्ञ के पास भेजते समय यातायात काल में उसमें विष न मिला दिया हो।

पहले कभी प्रयोग न किए गए खाद्यों अथवा पूरक-खाद्य पदार्थों के प्रवेश के संबंध में खाद्य-विषाक्तता का विशेष महत्व है। स्वीट क्लोवर, विलायती मटर तथा भारतीय मटर का पशुओं के आहार में प्रवेश पाना; मोटे चारे का एक्विसेटम (equisetum) अथवा चटरी-मटरी जैसे विषैले पौधों से सदूषित होना; खनिज पूर्ति के रूप में राक-फास्फेट अथवा फास्फेट युक्त चूना पत्थर का प्रयोग करना; तथा सड़न लगकर नष्ट हुए ऐसे चारे का प्रयोग करना जिसमें विषैले पदार्थ पाए अथवा अनुमान किए जा सकते हैं (बोट्युलिज्म) इसके उदाहरण हैं।

बहुधा लोग प्रत्येक अज्ञात रोग का कारण "किसी प्रकार की विषाक्तता" बता देते हैं। इस कारण प्रत्येक पशु-चिकित्सक को उसके क्षेत्र में पाए जाने वाले प्रमुख विषैले पदार्थों के बारे में पूर्ण जानकारी होनी चाहिए। पूर्वी यूनाइटेड स्टेट्स के अनेक भागों में ये धातुगत विष होते हैं तथा पश्चिम के अधिकांश भागों में पौधों के विष अधिक प्रमुख होते हैं। सूखे चरागाहों को अधिक दिनों तक सुरक्षित रखने पर प्रायः पशु आमतौर पर न खाए जाने वाले पौधे जैसे चटरी-मटरी, सेनेकियो (senecchio) तथा झाड़ी आदि खा जाते हैं। किन्हीं भी परिस्थितियों में अध-खाए रहने पर यह बीमारी हो सकती है।

आधुनिक कृषि की आवश्यकताओं के साथ-साथ फार्मों पर अनेक ऐसे विषैले पदार्थ आ गए हैं जिनका कृषकों को पहले कोई ज्ञान न था। उर्वरक के लिए नाइट्रेट आफ सोडा, पौधों के कीड़े नष्ट करने के लिए लेड आर्सेनेट, कठकीटों (wood chucks) को मारने के लिए कैल्सियम सायनाइड, परजीवियों को नष्ट करने के लिए अन्य सायनाइड पदार्थों तथा अनेक व्यापारिक नामों के अन्तर्गत क्रीसोल तथा अन्य विषों का प्रयोग आदि इसके अनेक उदाहरण हैं। इन पदार्थों का ज्ञान होने से निदान सही हो जाता है तथा यह भी

अनुमान हो जाता है कि पशु को विष खिलाया गया है अथवा उसने धोखे से उसे खा लिया है। सस्ते साहित्य में वर्णित तथा आसानी से उपलब्ध होने वाले एवं चिकित्सा में प्रयोग होने वाले ऐसे खतरनाक पदार्थ कार्बन टेट्राक्लोराइड, टेट्राक्लोरेथेलीन और तूतिया हैं। कुछ औपचारिक औषधि के रूप में पेटेन्ट दवाओं के नाम से ये किसानों के हाथ बेचें जाते हैं। एक ऐसा उदाहरण प्राप्त है जिसमें एक कम्पनी ने तूतिया तथा टेट्राक्लोरेथेलीन के समिश्रण के ऐसे अनेक कैप्सूल वितरित किए जिनसे नष्टकीय परिणाम निकले।

लापरवाही अथवा पूर्णरूपेण जानकारी न होने के कारण कभी-कभी पशु-चिकित्सकों को भी विषाक्तता की संभ्रान्ति हो जाती है। एरिकोलीन, इसेरिन, बेरियम क्लोराइड, स्ट्रिकनीन, कापर सल्फेट, एलोइन, डिजीटैलिस, गर्भाशय को धोने के लिए लायसोल तथा क्रियोलीन और गले में अवरोध होने पर तेल पिलाना आदि दवाओं को "खतरनाक औषधियों" की सूची में शामिल किया जा सकता है।

विषाक्तता के लक्षण पदार्थ की मात्रा, आमाशय के भरे होने, खाए जाने की दर, विषैले पदार्थ का प्रकार तथा पशु की जाति एवं आयु के अनुसार भिन्न-भिन्न हुआ करते है।

खाद्य-विषाक्तता

(Food Poisoning)

वैसे तो चारा अथवा पानी के खाने से उत्पन्न विषाक्तता में प्रायः यह समझा जाता है कि खाद्य-पदार्थ में कोई विषैला पदार्थ मौजूद है किन्तु, ऐसे पदार्थ की उपस्थिति एवं प्रकृति का निश्चित प्रमाण मिलना कठिन हो जाता है। मनुष्य में अधिकतर खाद्य-विषाक्तता बैक्टीरिया अथवा उनके द्वारा उत्पादित विषैले पदार्थों के कारण हुआ करती हैं। इनमें से पैराटायफायड इन्टेरीटाइडिस ग्रूप तथा क्लास्ट्रीडियम बोट्युलिनम द्वारा उत्पादित विषैले पदार्थ सबसे प्रमुख हैं। पशुओं में केवल बोट्युलिजम ही एक ऐसी खाद्य-विषाक्तता है जिसके बारे में निश्चित ज्ञान प्राप्त है तथा इस रोग से पीड़ित मैदानी पशु में इसका निदान करने में अनेकों कठिनाइयाँ मिलती हैं। फिर भी, विशेषकर घोड़ों में, कुछ ऐसे उदाहरण मिलते हैं जहाँ दूषित चारा पानी खाने से पशुओ की मृत्यु हो जाती है तथा भलीभाँति जाँच करने पर भी आवश्यक कारक का पता नही चलता। पशुओं में सदेहात्मक चारा-विषाक्तता के विषय पर अभी विस्तृत अन्वेषण की आवश्यकता हैं।

पशुओं में चारा खाने से उत्पन्न पक्षाघात को "चारा विषाक्तता" (Forage Poisoning) कहा जाता है। इसमें ऐसा अनुमान किया जाता है कि चारे अथवा पानी में ही इसका कारक मौजूद रहता हैं।

सन् 1900 में पियर्सन[1] ने फफूंदी लगी साइलेज के खाने से घोड़ों में विषाक्तता के कुछ रोगी रिपोर्ट किए। दो घोड़ों में प्रयोगात्मक रूप से ऐसी साइलेज खिलाकर बीमारी उत्पन्न की गई। उनमें "मानसिक लक्षण न होकर" ग्रसनी के पक्षाघात तथा सामान्य पक्षाघात के लक्षण मौजूद थे। इस समय तक इस प्रकार के पक्षाघात प्रदर्शित करने वाली सभी अवस्थाओं को प्रमस्तिष्क मेरु-तानिकाशोथ (cerebrospinal meningitis)

कहा जाता था। चूंकि इसमें मानसिक लक्षण न थे तथा शव-परीक्षण करने पर मस्तिष्क अथवा मेरुरज्जु में कोई भी क्षतस्थल न पाए गए, अतः पियर्सन ने इसके प्रमस्तिष्क मेरुतानिकाशोथ नाम पर आपत्ति की और इसका नया नाम "चारा-विपाक्तता" रखा जो चारे में उपस्थित एक अज्ञात विषैले पदार्थ के प्रदर्शन पर आधारित था। यह नाम इस लिए चुना गया क्योंकि ऐसे रोगी मनुष्य में होने वाली खाद्य-विपाक्तता (बोट्युलिज्म) से मिलते-जुलते थे। इस नाम के आविष्कृत होने के बाद यह शब्द बिना शव-परीक्षण किए हुए तथा बिना यह जाने कि वास्तव में चारा विषयुक्त है अथवा नहीं ऐसे पक्षाघात प्रदर्शित करने वाले सभी रोगियो में लागू होने लगा। कोई भी तंत्रिकीय लक्षण, विशेष कर मानसिक लक्षण प्रदर्शित करने वाली प्रत्येक अवस्था में यह शब्द लागू होने लगा और इसका ऐसा प्रयोग लेखक द्वारा बताए गए प्रयोग के बिल्कुल ही विरुद्ध रहा। आजकल लक्षणों अथवा कारण को ध्यान में न रखकर इस शब्द को प्राय: पहचानने के लिए प्रयोग किया जाता है। जैसा कि पियर्सन द्वारा प्रयोग किया गया है शब्द चारा-विपाक्तता का अर्थ है चारे में बने विषैले पदार्थों के खाने से उत्पन्न पक्षाघात। इसमें "मानसिक लक्षण नहीं होते", और न केन्द्रीय प्रेरक क्षोभण होता है तथा शव-परीक्षण करने पर मस्तिष्क अथवा मेरुरज्जु में कोई क्षतस्थल नहीं मिलते। पियर्सन के अनुसार "मानसिक लक्षण न होना" का तात्पर्य है चेतना में गड़बड़ी उत्पन्न न होना। गले का पक्षाघात होना किसी भी प्रकार की मस्तिष्कशोथ का सामान्य लक्षण है। इस संदर्भ में ओस्लर का यह कथन कि "अनेक कारणों से तत्काल ही मृत्यु" हो सकती है, सर्वथा उचित है। जहाँ तक पशुओं का संबंध है इनमें से केवल एक कारण, बोट्युलिनस टॉक्सिन, का पता चल सका है और बोट्युलिज्म के लक्षण इसकी पहचान है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि खाद्य-पदार्थों के सड़ने, बैक्टीरियल प्रतिक्रिया, सड़ते हुए कार्बनिक पदार्थों से रिसाव होने, नांद में सप्ताहों तक पड़े हुए पानी अथवा दलदली भूमि और तालाबों में रुके हुए पानी के द्वारा विषैले पदार्थ पशु के चारा पानी में प्रवेश पा सकते हैं। वैसे तो ऐसे उदाहरणों में विशिष्ट रोगोत्पादक पदार्थ का कोई ठोस प्रमाण नहीं मिलता, फिर भी, इस बारे में काफी प्रमाण उपलब्ध है कि ऐसे स्रावों से प्राप्त चारा-पानी का उपभोग पशुओं के लिए प्राणघातक सिद्ध हो सकता है। पशुओं में खाद्य-विपाक्तता का वेग, लक्षण तथा रोग-विज्ञान जानने के लिए अत्यधिक अन्वेषण की आवश्यकता है। संभवतः इस प्रकार कहलाने वाली चारा-विपाक्तता के अधिकांश विकीर्ण तथा कुछ-कुछ स्थानीय प्रकोप वास्तव में मस्तिष्कशोथ के होते हैं। चेतना की गड़बड़ी तथा पक्षाघात प्रदर्शित करने वाले रोगियो के लिए यह विशेषकर सही है। चेतना की गड़बड़ी के साथ रोग के भीषण प्रकोप में किसी भी प्रकार की चारा-विपाक्तता असम्भाव्य है। जब तक कि वास्तविकता का पता न चले केवल चारा अथवा पानी में उपस्थित अनुमानित कारण की अपेक्षाकृत स्पष्ट लक्षणों अथवा क्षतस्थलों के आधार पर रोग का निदान करना कुछ कम भ्रान्तिपूर्ण है।

पियर्सन के अवलोकनों के कुछ दिनों बाद, मकार्थी तथा रैवनेल[2] ने घोड़ों में ऐसी ही बीमारी होते बताई तथा पशु-चिकित्सा साहित्य में ऐसे अनेक वर्णन मिलते हैं। किन्तु, अधिकतर ऐसे प्रकोप कभी भी रिपोर्ट नहीं किए जाते। जैसा कि आजकल प्रयोग किया

जाता है। पशुओं में शब्द "चारा-विपाक्तता" मनुष्य की खाद्य-विपाक्तता से निकटतम मिलता-जुलता है किन्तु, चारा-विपाक्तता के आवश्यक कारण प्रयोगात्मक रूप से अज्ञात हैं।

पक्षाघात के लक्षणों के साथ यह बीमारी पशु-चिकित्सकों द्वारा अक्सर देखी जाती है। पक्षाघात की स्थानिकमारी में गंदी नांदों, कच्चे कुओं की तली में सड़े हुए पानी अथवा दलदले चरागाहों में इस अपरिचित बीमारी का कारण विद्यमान हो सकता है। अन्य रोगियों में फफूंदी युक्त अथवा सड़े-गले चारे को संदेहपूर्ण माना जाता है। कभी-कभी चारा अथवा पानी को संदेहयुक्त माना जाता है जबकि लक्षण स्पष्ट रूप से केन्द्रीय तन्त्रिका-तंत्र का संक्रमण या धातुगत-विपाक्तता प्रकट करते हैं। ऐसी त्रुटि के लिए प्रायः बहुत ही कम छूट होती है। प्रत्येक मामले में चारे अथवा पानी के स्पष्ट रूप से संदूषित होने पर भी "चारा-विपाक्तता" का निदान करने में काफी सतर्क रहना चाहिए।

इस तथ्य पर भी विचार करना आवश्यक है कि पशुओं, विशेषकर घोड़ों, में बिना वाइरस वाली मस्तिष्कशोथ (पृ० 293) भी खूब होती है। इसके कारण के बारे में बहुत ही कम ज्ञान प्राप्त है अथवा विभिन्न प्रकार के कारण इसके लिए उत्तरदायी हैं।

संदर्भ

1. Pearson, L., A preliminary report upon forage poisoning of horses (so-called cerebro-spinal meningitis), J. Comp. Med. and Vet. Arch., 1900, 21, 654.
2. McCarthy, D.J., and Ravenel, M.P., A pathology for forage poisoning, or the so-called epizootic cerebro-spinal meningitis of horses, J. Med. Res., 1903-04, N.S. 5, 243.

बोटयुलिज्म

(Botulism)

परिभाषा—बोटयुलिज्म एक प्रकार का शीघ्र प्राणघातक प्रेरक पक्षाघात है जो सड़े-गले मास अथवा वानस्पतिक पदार्थों में उपस्थित क्लास्ट्रीडियम बोटयुलिनम (वँ० बोटयुलिनस) की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न विषैले पदार्थों के खाने से हुआ करता है। पशुओं में केवल यही एक खाद्य-विपाक्तता है जिसके बारे में निश्चित जानकारी प्राप्त है। इसके रोगजनक परिवर्तन अज्ञात हैं।

घोड़े इस रोग के प्रति विशेषकर ग्रहणशील होते हैं। दक्षिणी अफ्रीका के कुछ भागों में हड्डियों के खाने से गो-पशुओं में इसके प्रकोप होते देखे गए (लैमसीवटे[1]) तथा टेक्सास में गो-पशुओं में ऐसी ही बीमारी का स्किमडिट[2] द्वारा वर्णन किया गया। पश्चिमी आस्ट्रेलिया में भेड़ों तथा ढोरों में बोटयुलिज्म का बेनेट्स तथा हाल[3] ने निम्न प्रकार वर्णन किया है: "अनेक वर्षों तक यह बीमारी गो-पशुओं तथा घोड़ों की मृत्यु का प्रमुख कारण रही है। भेड़ों में सन् 1928 में इसे पहले-पहल देखा गया और अगले आने वाले वर्षों में पशु-धन अधिकारियों ने भेड़ों की आर्थिक क्षति का इसे सबसे बड़ा कारण माना।" गिनीपिग इसके प्रति अत्यधिक ग्रहणशील हैं। विकीर्ण तथा मन्द-उग्र पक्षाघात के प्राणघातक प्रकोपों में निदान करने की कठिनाई के कारण बोटयुलिज्म-'विषन से उत्पन्न घोड़ों में इस बीमारी

के सामान्य प्रकोप के बारे में बहुत ही कम ज्ञान प्राप्त हो सका है। मेयर और उनके साथियों[4] द्वारा प्रस्तुत एक विस्तृत विवरणी में आयोग ने पशुओं में इस रोग के प्रकोप के बारे में यह लिखा कि "आयोग द्वारा संकलित अथवा प्रकाशित विचारों को घोड़ों तथा खच्चरों में चारा-विपाक्तता के लिए लागू करने में यह निष्कर्ष निकाला जाना चाहिए कि बै० बोटयुलिनस की टॉक्सिन संभवत. निम्नलिखित चार उदाहरणों में अश्वीय बोटयुलिज्म का कारण थी"। कोलोरैडो में टीन के डिब्बों में बन्द पतली सेम अथवा सोया के साग-युक्त जूठन खाकर 5 गधों में, केन्टुकी में साइलेज खाकर 40 खच्चरों में, इलीनवायस में मक्का की साइलेज खाकर 9 घोड़ों तथा खच्चरों में और कैलीफोर्निया में घर में बंद की हुई एक डिब्बा मक्का खाकर 2 घोड़ों में यह रोग उत्पन्न हुआ। वैसे तो बोटयुलिज्म का अक्सर संदेह किया जाता है किन्तु संदेहात्मक खाद्य-पदार्थों में बोटयुलिज्म टॉक्सिन का पता लगाने की प्राप्त प्रचुर रिपोर्टें यह अनुमान कराती हैं कि यह बीमारी पशुओं में बहुत ही कम होती है।

कारण—क्लो० बोटयुलिनम एक स्पोरयुक्त एनारोबिक जीवाणु है जिसकी सन् 1897 में वैन इरमेन्गन ने खोज की। इस देश में इसकी दो विभिन्न किस्मों को पहचाना गया। प्रकार "अ" कैलीफोर्निया तथा प्रकार 'ब" यूनाइटेड स्टेट्स के मध्यवर्ती एवं पूर्वी भागों की प्रमुख किस्म है। जुती हुई तथा ऊसर दोनों प्रकार की भूमि में यह जीवाणु खूब पाया जाता है तथा मेयर[5] के प्रयोगों में इसे जीवाणुरहित तथा बिना जीवाणु रहित नमूनों में विकास करते देखा गया। इसके स्पोर स्वस्थ घोड़ों, गो-पशुओं तथा कूड़ा-करकट खाने वाली सुअरिओं के मल में पाए गए। उन्होंने लिखा कि 'यह जीवाणु राष्ट्र के लगभग सभी प्रदेशों की मिट्टी तथा पौधों में पाया जाता है।" 'पिछले वर्ष भर (1921) हमने संदेहयुक्त चारे से बैसिलस बोटयुलिनस का विष प्राप्त करने का बार-बार प्रयास किया किन्तु हमको कभी भी सफलता न मिली · संदेहयुक्त चारे में विष की उपस्थिति प्रदर्शित करने के लिए हम बिल्कुल ही असफल रहे।" प्रयोगात्मक रूप से मेयर ने नमीयुक्त सूखी घास में बैसिलस बोटयुलिनस, प्रकार "अ" के 500 दसलक्ष स्पोर प्रविष्ट किए तथा इसे 27 दिनों के लिए उद्भवित किया। इस अवधि के बाद यह देखा गया कि बादामी रंग की कुछ-कुछ सड़ी घास गिनी-पिगों के लिए अत्यधिक विषैली थी। इसे खाने से 24 से 36 घंटे और अधिकतम 5 दिन में उनकी मृत्यु हो जाती थी। इन अवलोकनों ने यह सिद्ध कर दिया कि कस कर बंद की गई नमीयुक्त सूखी घास में जब बै० बोटयुलिनस को प्रविष्ट किया जाता है तो वह वायु तथा अन्य एरोबिक अथवा एनारोबिक जीवाणुओं की उपस्थिति में भी विषैली हो जाती है। विषैली घास को टीन के बर्तनों में भर कर 20 दिन तक धूप तथा वर्षा के पानी में रखने के बाद जब गिनी-पिग को खिलाया गया तो भी यह जहरीली सिद्ध हुई। मेयर ने यह निष्कर्ष निकाला कि "इन प्रयोगों के आधार पर भण्डारित सूखी घास की ढेरियों में बै० बोटयुलिनस की टॉक्सिन की उपस्थिति बिल्कुल संभव है।"

पश्चिमी आस्ट्रेलिया में इस जीवाणु की प्रकार "स" सड़े हुए मांस में बहुतायत से प्रकोप करती है। खरगोशों के शव में यह जीवाणु अधिकतर मिट्टी से तथा कुछ कम

हद तक मरने से पूर्व अंतड़ी में पहुँचे हुए स्पोरों के द्वारा प्रवेश पाता है, और 6 माह के बाद भी वे अति विषाक्त रहते हैं। जीवाणु से संदूषित पानी 25 दिन बाद भेड़ों के लिए हानिप्रद नहीं रहता तथा 0.2 प्रतिशत चूना डालकर इसे टॉक्सिन से रहित किया जा सकता है। संदेहयुक्त पानी का प्रयोगशाला-परीक्षण करने पर निष्कर्षदायक परिणाम नहीं निकले।

सन् 1917 में ग्रैहम और उनके साथियों[6] ने जई की सूखी घास पर प्रयोग करके यह देखा कि इससे चारा-विषाक्तता के बिकीर्ण प्रकोप उत्पन्न होते हैं। घास को एक डोल में रखकर पानी भर दिया गया और यह पानी घोड़ों को पिलाया गया। इसके परिणामस्वरूप चार घोड़ों की पक्षाघात होकर मृत्यु हो गई। इस पानी से एनारोबिक जीवाणुओं का संवर्धन किया गया, तथा घोल में उगाए गए इस बैसिलस का जीवाणुरहित छनित पिलाए जाने पर घोड़ों को वह प्राणघातक सिद्ध हुआ। बोटयुलिज्म-ऐंटिटॉक्सिक सीरम का जब ऐसे घोड़ों में अंतः शिरा इन्जेक्शन दिया गया तो वे बच गए। ऐसा ही एक दूसरा प्रयोग साइलेज के साथ ग्रैहम ने वर्णन किया।

थीलर तथा राबिन्सन[7] ने दक्षिणी अफ्रीका में खच्चरों में बोट्युलिज्म का वर्णन किया जहाँ कम से कम तेरह वर्षों से भी अधिक समय तक इस बीमारी के प्रकोप होते देखे गए। मरे हुए चूहेयुक्त चारे में इसका विष पाया गया। ये चूहे चारा काटते समय बिना देखे ही मशीन से होकर निकल गए थे। ऐसा चारा खाकर मरे हुए एक खच्चर का रक्त लेकर दो घोड़ों तथा दो खच्चरों में टीका देने पर चारों पशुओं की मृत्यु हो गई। लेखक इस परिणाम को इस तथ्य के द्वारा स्पष्ट करते हैं कि पशु केवल टॉक्सिन ही नहीं खाते बल्कि वे टॉक्सिन उत्पन्न करने वाले बैक्टीरिया भी निगल जाते हैं और मरे हुए पशुओं में ये जीवाणु शीघ्र ही अपना विकास करके अधिक टॉक्सिन उत्पन्न करते हैं। बोट्यूलिनस जीवाणु पशु के जीवन काल में रक्त-संस्थान में प्रवेश नहीं करता। मांस-रस संवर्धन में तैयार की गई टॉक्सिन के बर्कफेल्ड छनित (Berkefeld filtrate) का 0.0001 घ० सें० की मात्रा में गिनी-पिग को अवस्त्वक् इन्जेक्शन देने पर उनकी मृत्यु हो जाती है। मुँह द्वारा टॉक्सिन खिलाकर लक्षण उत्पन्न करने के लिए 0.1 से 1 घ० सें० छनित की आवश्यकता पड़ती है। घोड़ों में लक्षण उत्पन्न करने के लिए या तो 20 घ० सें० मांस-रस संवर्धन अथवा 200 घ० सें० छनित खिलाने की आवश्यकता पड़ती है। 36 घंटे तक धूप में रखने अथवा 60° सें० पर एक घंटे तक गरम करने पर टॉक्सिन का वेग कम नहीं होता। 80° सें० पर आधा घंटे तक गरम करने पर यह निष्क्रिय हो जाती है।

विकृत शरीर रचना—इसमें कोई भी रोगजनक परिवर्तन नहीं पाए जाते। लक्षणों तथा ऋणात्मक शव-परीक्षण द्वारा ही इसका निदान किया जाता है। शरीर के विभिन्न भागों पर छोटी-छोटी चोटें अक्सर मौजूद मिलती हैं। श्वासनली में यत्र-तत्र रक्तस्राव तथा फेफड़ों में सूजन एवं विभिन्न अंगों की अतिरुधिरता मौजूद हो सकती है। हृदयावरण पर कभी-कभी रक्तयुक्त दाने पाए जाते हैं तथा मस्तिष्क की झिल्लियाँ प्रायः रक्त-संकुलित हो जाती हैं। केन्द्रीय तन्त्रिका-तन्त्र में माइक्रास्कोपिक अथवा नंगी आँख से दिखाई देने वाले कोई भी परिवर्तन नहीं पाए जाते। यदि रोगी कई दिनों तक जीवित रह जाता है तो उसको गौण निमोनिया हो सकती है।

लक्षण—प्रयोगात्मक रूप से बोट्युलिनस टॉक्सिन देने के बाद घोड़े अथवा गिनी पिग में पक्षाघात का विकास होकर 24 घंटे में उसकी मृत्यु हो जाती है। टॉक्सिन खाने के बाद कुछ घंटों से लेकर चार या पाँच दिन में रोग के लक्षण प्रकट होते हैं तथा कुछ रोगियों में यह अवधि एक सप्ताह से दस दिन तक की हो सकती है।

प्रायः एक ही समय में कई पशुओं पर रोग का आक्रमण होता है। मांसल निर्बलता तथा पक्षाघात होना इसके प्रधान लक्षण हैं और नियम के अनुसार पक्षाघात शीघ्र ही बढ़कर कुछ घंटों से लेकर तीन या चार दिन में रोगी को मौत के घाट उतारता है। ग्रसनी तथा जीभ का पक्षाघात होकर घोड़ा कुछ निगल नहीं पाता तथा जीभ मुँह से नीचे लटक जाती है। रोग के वर्णन किए गए कुछ प्रकोपों में कुछ दिनों तक सामान्य रूप से कमजोरी रहकर पूर्णरूपेण पक्षाघात देखा गया। केन्टुकी में 40 खच्चरों के बीच इस बीमारी के प्रकोप में मांसल असमन्वय, निर्बलता, फेरिंक्स की अवसन्नता तथा उठने में असमर्थता आदि पक्षाघात के विभिन्न लक्षण थे। एक खच्चर की लगभग बीस घंटे में मृत्यु हो गई जबकि अन्य धीरे-धीरे ठीक होने लगे। तीन रोग-ग्रसित पशुओं में लगभग 6 सप्ताह तक लड़खड़ाती हुई चाल देखी गई।

थीलर ने खच्चरों में इस बीमारी को उग्र अथवा अति उग्र, तथा किसी हद तक कुछ कम उग्र अथवा दीर्घकालिक अवस्थाओं में होता बताया। बाद वाली किस्मों में रोगी सहायता देने से खड़ा हो जाता है तथा कुछ कठिनाई के साथ थोड़ा बहुत चलता-फिरता है, किन्तु शीघ्र ही वह धराशायी हो जाता है। चेतना बिल्कुल सामान्य रह सकती है तथा मस्तिष्क और मेरु-रज्जु में प्रारम्भ होने वाले तिवर्त (reflexes) अपने कार्य को स्थिर रखते हैं। पशु के जमीन पर गिरने के बाद भी रोगी की आँखें तथा कान अपना कार्य सुचारु रूप से करते रहते हैं। त्वचा में संवेदना पूर्ववत रहती है तथा अपच को छोड़कर मल-मूत्र का सामान्य रूप से त्याग होता रहता है। थीलर इस सिद्धान्त को मानते हैं कि टॉक्सिन का पक्षाघातीय प्रभाव प्रेरक तन्त्रिकाओं की सिरा-प्लेटों (end plates) पर होता है। यह क्रिया क्युरेर (दक्षिणी अमरीका के एक पौधे से प्राप्त विषैला पदार्थ) की भाँति ही होती है। जैसा कि क्युरेर-विषाक्तता में देखा जाता है, बोट्युलिज्म में श्वसन-गति पहले की अपेक्षाकृत बढ़ जाती है और यह धीरे-धीरे बढ़ती रहकर अंत में ऑक्सीजन की कमी से पशु की मृत्यु का कारण बनती है।

आस्ट्रेलिया में रोग-ग्रसित भेड़ों में देखे गए लक्षणों का निम्न प्रकार वर्णन किया गया है: "सभी रोगियों की गति में गड़बड़ी देखी जाती है, किन्तु यह संदेहपूर्ण है कि क्या कभी गति करने वाली मांसपेशियों का वास्तविक पक्षाघात भी होता है। रोग के उग्र प्रकोप में भेड़ खड़ी होकर चल सकती है अथवा मृत्यु के कुछ घंटे पूर्व तक दौड़ भी सकती है। रोग की बढ़ी हुई तथा दीर्घकालिक अवस्था में भेड़ें उठ नहीं पातीं किन्तु ऐसा, शारीरिक निर्बलता के कारण होता प्रतीत होता है। प्रारम्भ में कुछ उत्तेजना भी देखी जाती है जबकि भेड़ें आँखें बंद करके चहारदीवारी आदि की ओर दौड़ती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मस्तिष्क भी रोग-ग्रसित हो गया है। रोग से ठीक होते हुए पशु भी यूथ के साथ न चल पाकर उससे अलग चलते हैं। रोगी पशु का सिर एक ओर को हो सकता है, उसकी

चाल में अकड़न होती है तथा कुछ दूर चलने पर निश्चित असमन्वय का पता चल जाता है'''पूंछ एक ओर को हो जाती है। रोगी की नाक से स्राव बहता तथा मुंह से लार गिरती है।"

पशु का सामान्य परीक्षण करने पर रोग के अंत तक नाड़ी-गति तथा तापक्रम एवं श्लेष्मल झिल्लियां सामान्य दिखाई देती हैं। पशु को पसीना आ सकता है। विभिन्न प्रकोपों में बीमारी का कोर्स भिन्न-भिन्न होता है। रेकार्ड्स और उनके साथियों[8] के अनुसार इसका कोर्स लगभग 7 या 14 दिन का होता है। रोग से मरने वाले पशुओं की संख्या 70 से 100 प्रतिशत तक होती है। बीमारी का विभेदी-निदान करने में बोट्यूलिज्म को केन्द्रीय तंत्रिका-तंत्र के रोग प्रकट करने वाली अवस्थाओं जैसे चेतना की गड़बड़ी, प्रेरक क्षोभण तथा संवेदना की गड़बड़ी आदि लक्षणों से अलग पहचान लेना अत्यधिक महत्वपूर्ण है। बोट्यूलिज़्म का सही निदान करने के लिए यह आवश्यक है कि संदेहयुक्त चारे में टॉक्सिन की उपस्थिति प्रदर्शित की जाए। यह जानकारी प्राप्त करने की सबसे सरल विधि यह है कि किसी दूसरे फार्म से पशु मँगाकर उसे संदेहयुक्त चारा खिलाया जाए। नियम के अनुसार घोड़े जब बोट्यूलिज़्म के लक्षण प्रकट करके मरने लगते हैं तो उनमें टॉक्सिन की उपस्थिति का कोई प्रमाण नहीं मिलता।

कंट्रोल—इस बीमारी का कोई भी लाभदायक उपचार नहीं है। बचाव के लिए ऐंटिटॉक्सिन प्रभावकारी है। बोट्यूलिज़्म टॉक्सॉइड का टीका देने से उच्च श्रेणी की प्रतिरक्षा उत्पन्न हो जाती है जो कम से कम एक वर्ष तक रहती है।

संदर्भ

1. Theiler, Sir Arnold, Lamsiekte (Parabotulism) in cattle in South Africa, 11th and 12th Rep., Part II, Director of Vet. Ed. and Res., Dept. of Agr., Union of South Africa, 1927.
2. Schmidt, H., Loin disease of cattle, Texas Agr. Exp. Sta. Rep., 1940, p. 7.
3. Bennetts, H.W., and Hall, H.T.S., Botulism of sheep and cattle in Western Australia: Its cause and its prevention by immunization, Aust. Vet. J., 1938, 14, 105.
4. Meyer, K.F., The epidemiology of botulism, Treas. Dept. U.S. Public Health Bull. 127, 1922.
5. Meyer, K.F., Botulism, a discussion, Univ. Calif. Veterinary Practioners Week, Jan. 1922, p. 58.
6. Graham, R., Brueckner, A.L., and Pontius, R.L., Studies in Forage Poisoning. VI. An Anaerobic Organism Isolated from Ensilage of Etiologic Significance, Thirteenth An. Rep. Ky. Agr. Exp. Sta., Bull. 207 p. 47 ;- Bull. 3[illegible], p. 115.
7. Theiler, A., and Robinson, E.M., Botulismus (Parabotulismus bei Pferden)' Münch. tier. Wchnschr., 1930, 81, 32.
8. Records, E., and Vawter, L.R. Equine Encephalomyelitis, Bul. No. 132, Nevada Agr. Exp. Sta. 1933, p. 12.

संखिया विषाक्तता

(Arsenical Poisoning)

उग्र विषाक्तता—पालतू पशुओं में पाई जाने वाली विषाक्तता की यह सामान्य प्रकार है। यह पेरिस ग्रीन (कॉपर एसिटोआर्सेनाइट), अथवा श्वेत संखिया (आर्सेनिक ट्राइआक्साइड), अथवा सोडियम आर्सेनाइट या सोडियम आर्सेनेट के कारण हुआ करती है। कीट-नाशक परजीवी नाशक, चूहों के लिए विष, खर-पतवार नाशक तथा एक स्थायी औषधि के रूप में प्रयोग होने के कारण भूतकाल में संखिया आकस्मिक तथा द्वेषपूर्ण विषाक्तता का अक्सर कारण रही है। प्राचीन काल में दमा को अच्छा करने के लिए तथा गिरी हुई हालत को सुधारने के लिए अश्व-पालक फाउलर घोल (Fowlers solution) के रूप में संखिया का घोड़ा में खूब प्रयोग करते थे। धातु गलाने वाली भट्टियों के निर्माण में सुधार होने से पूर्व, इनके प्रयोग से कभी-कभी मैदान संखिया युक्त धुओं से संदूषित हो जाया करते थे तथा हरी पत्तियों पर संखिया का जम जाना दीर्घकालिक विषाक्तता उत्पन्न करता था। आजकल अन्य औषधियों ने संखिया के प्रयोग को लगभग हटा सा दिया है जिसके फलस्वरूप अब यह पशुओं की बीमारी तथा मृत्यु का बहुत ही कम कारण रह गई है। पेरिस ग्रीन नामक पदार्थ अपेक्षाकृत अब भी विषाक्तता का अक्सर कारण हुआ करता है। जहाँ कहीं आलू का खेत चरागाह से मिला होता है वहाँ इसे धोखे से खाया जा सकता है। यदि आलू के खेत में हाल में इसे छिड़का गया है तो बाड़े के किनारे किनारे चरने से भी पशु के पेट में इसकी प्राणघातक मात्रा पहुँच जाती है। मैदान में लापरवाही के साथ फेंके हुए पेरिस ग्रीन के डिब्बे, रंग मिलाई जाने वाली बाल्टियों तथा चरागाह पर कूड़ा-करकट में फेंके गए पदार्थ के सम्पर्क में आकर पशु पेरिस ग्रीन खा जाया करते हैं। जब कोई मनुष्य इसे जानबूझ कर पशु को खिलाना चाहता है तो वह इसे दाना रखने वाले पात्रों तथा नांदों में अथवा मैदान पर डाल देता है।

एक प्रतिशत श्वेत संखिया युक्त घोल यूरुप में जूँ तथा त्वचा पर उपस्थित अन्य वाह्य परजीवी कीटों का मारने के लिए बहुतायत से प्रयोग होता रहा है। एक समय में 500 घ० सें० से अधिक घोल प्रयोग करने पर तथा खरोंच लगी हुई त्वचा पर लगाने से अनेक पशुओं में विषाक्तता उत्पन्न होते देखी गई। वातावरण तथा घोल के गरम होने पर तथा लगाकर मालिश कर देने पर ऐसी संखिया युक्त औषधियाँ अधिक खतरनाक सिद्ध होती हैं। श्वेत संखिया को कभी-कभी नमक के धोखे भी खाया जा सकता है। संखिया की आमतौर पर प्रयोग होने वाली मात्रा की अपेक्षा दुगुनी औषधि मिलाकर पशुओं को नहलाने तथा बाद में रेल द्वारा यातायात कराने पर किन्सले[1] द्वारा 200 ढोरों की मृत्यु होती बताई गयी। पोलॅक[5] ने भी संखिया युक्त घोल में पशुओं को स्नान कराकर संखिया विषाक्तता की चर्चा की। उन्होंने लिखा कि वैसे तो संखिया का त्वचा के द्वारा भी शोषण हो जाता है किन्तु उनके विचार से अधिकांश पशु संखियायुक्त घोल पीकर ही विषाक्तता से पीड़ित हुआ करते हैं। व्हाइट[2] ने गायों में संखिया विषाक्तता के 12 रोगी देखे जिनमें से 10 गायों की 10 प्रतिशत सोडियम आर्सेनेट का घोल छिड़के गए कनाडियन

गोखुरू खान से मृत्यु हो गई। लेमाण्ट[3] ने ऐसे कई घोड़ों तथा गो-पशुओं की मृत्यु होते देखी जिन्होंने एक ऐसे तालाब का पानी पी लिया था जिसे पहले संखिया का घोल भरकर पशुओं को तैराने के लिए प्रयोग किया जाता था। हमारे निजी अनुभव के अनुसार अधिकतर संखिया विपाक्तता पेरिस ग्रीन के द्वारा ही हुआ करती है। पेंट (खनिज हरा, कॉपर आर्सेनाइट, मरकत हरित) और एनिलीन रंग संखिया के अन्य संभव स्रोत हैं। ऐसे भी उदाहरण देखे गए हैं जिनमें विष खाई हुई माँ का दूध पीकर बछड़ों में प्राण-घातक विषाक्तता उत्पन्न हो गई। ऐंटिमनी तथा टारटार इमेटिक जैसी औषधियों में भी सखिया होती है। लेड आर्सनेट बहुत ही विषैला एवं खनिज-विषाक्तता का एक प्रमुख प्रकार है, किन्तु इसके प्रधान लक्षण तथा क्षतस्थल लेड की उपस्थिति के कारण हुआ करते हैं। एड्स[10] द्वारा वर्णित संखिया-विषाक्तता के रोगियों में, निकटवर्ती कपास के खेत पर छिड़काव करने से लूसर्न घास संदूषित हो गई थी। इनमें से एक गाय दवा छिड़के जाने वाले खेत के निकटवर्ती मैदान पर चरी, एक घोड़ा लेड आर्सनेट छिड़के हुए खेत पर चरा, और एक गाय तथा बछड़ा ऐसे खेत में चरा जहाँ टिड्डियों को मारने के लिए टॉक्साफीन तथा संखिया का प्रयोग किया गया था।

सखिया की प्राणघातक मात्रा उसकी विशुद्धता, प्रकार (घोल अथवा चूर्ण) तथा आमाशय के भरे होने के अनुसार भिन्न-भिन्न हुआ करती है। घोल तथा महीन चूर्ण के रूप में यह शीघ्र ही सामान्य विपाक्तता उत्पन्न करती है। रूमेन में काफी चारा भरा होने के कारण जुगाली करने वाले पशु अन्य पशुओं की अपेक्षाकृत अधिक सहनशील होते हैं। संखिया में अशुद्धता भी मिली हुई हो सकती है जिसमें कि सबसे प्रमुख जिप्सम् लवण है। इन विभिन्नताओं के कारण इसकी न्यूनतम प्राणघातक मात्रा के बारे में लोगों के विभिन्न मत रहे हैं। फ्रोनर[4] के अनुसार एक घोड़ा 3 ग्राम सखिया खाने से मर सकता है अथवा 30 ग्राम तक खाकर जीवित रह सकता है। उन्होंने श्वेत सखिया की प्राणघातक मात्रा ग्रामों में निम्न प्रकार अंकित की है :

	मुँह द्वारा दिया जाना	घावों से शोषण
गाय	15-30 ग्राम	2-0 ग्राम
घोड़ा	10-15	2-0
भेंड़ तथा बकरी	10-15	0.2
सूकर	0.5-1.0	0.2
कुत्ता	0.1-0.2	0.02
मुर्गी	0.05-0.1	0.005

पोलेक[5] का कहना है कि 32 ग्रेन सोडियम आर्सनेट युक्त एक क्वार्ट घोल अधिकांश पशुओं को 48 घंटे के अन्दर मौत के घाट उतार देता है। मुँह द्वारा देने पर आर्सेनियस ऑक्साइड की प्राणघातक मात्रा वल्फ[6] के अनुसार निम्न प्रकार है : घोड़े के लिए 150 से 700 ग्रेन (10 से 47 ग्राम) तथा बैल के लिए 225 से 700 ग्रेन। उन्होंने यह भी

बताया कि ग्रीन तथा डिक्कमन ने एक घोड़े को 15 ग्रेन तथा दूसरे को 30 ग्रेन (2 ग्राम) की मात्रा में दो सप्ताह तक रोजाना सखिया देकर भी कोई कुप्रभाव नहीं पाया। एक अन्य घोडे को 60 ग्रेन आर्सेनिक नित्य दी गई और 300 ग्रेन शरीर में पहुँचने के बाद उसकी मृत्यु हो गई। घोल में सोडियम आर्सेनाइट के रूप में 15 ग्रेन पशु को मार सकते हैं, 35 ग्रेन मारने वाले होते हैं तथा 45 ग्रेन अवश्य ही प्राणघातक होते हैं।

विकृत शरीर रचना—इसमें प्रमुख क्षतस्थल भयकर रक्तस्रवित जठरान्त्रशोथ के होते हैं। जब रोग का आक्रमण एकाएक प्राणघातक होता है तो नगी आंख से दिखाई देने वाले कोई क्षतस्थल नहीं मिलते। आमाशय की श्लेष्मल झिल्ली सूजकर लाल हो जाती है और उससे खून बहता है तथा उस पर कटे-फटे क्षेत्र दिखाई पड़ते हैं। पेरिस ग्रीन खाने के बाद यह पदार्थ आमाशय में पाया जा सकता है। गो-पशुओं में इसकी तेज प्रतिक्रिया रूमेन अथवा एवोमेसम को फाड सकती है। प्लीहा, यकृत तथा गुर्दे नार्मल दिखाई पडते हैं। पोलैंक ने यकृत में विभिन्नता पाई। यह कुछ कुछ पीला, खूब पीला अथवा पीलापन लिए हुए बादामी रग का होकर नार्मल से हल्का हो सकता है। माइक्रोस्कोपिक परीक्षण करने पर अँतडी तथा आमाशय की ग्रंथियों,प्लीहा, यकृत तथा गुर्दों में वसीय अपकर्षण मिलता है।

एक यूथ, जिसमें सन् 1943 की गरमियों में कई गायें सखिया विषाक्तता से मर गईं, डा० फिंचर ने ग्रीष्मकाल की गरमी के सपर्क में आने से गुर्दे तथा यकृत के टिसुओं का अस्वाभाविक परिरक्षण देखा। सभवतः यह विशेषता रोग का निदान करने में सहायक हो सकती है। आमाशय तथा अँतडी की दीवालों में अन्दर की ओर शोथ मिल सकती है।

लक्षण—थोडा बीमार होने के बाद या तो एक दो पशुओं की मृत्यु का इतिहास मिलता है अथवा एक दो पशु मरे हुए पाए जाते हैं। अन्य पशु अत्यधिक बीमार हो सकते हैं। तीव्र अवसन्नता, लडखडाना, कांपना तथा मासल ऐंठन जैसे लक्षणों के साथ रोग का आक्रमण एकाएक होता है। तेज श्वास, बेचैनी, शूल वेदना तथा कराहना इसके अन्य लक्षण हैं। जुगाली करने वाले पशुओं में लार गिराने तथा वमन के लक्षण भी मौजूद हो सकते है। तीन चार घटे में रोगी पशु की मृत्यु हो जाती है। यदि बहुत ही थोडा विष खाया गया है तो उग्र दर्द युक्त जठर-आन्त्रार्ति तथा दस्त आने के लक्षणों के साथ यह रोग दो तीन दिन से लेकर एक सप्ताह तक चल सकता है। ऐसे रोगी का परीक्षण करने पर खाने में पूर्ण अरुचि, अवसन्नता, गोपशुओं में दांत पीसना, श्लेष्मल झिल्लियों का लाल हो जाना, आँख की पुतलियों का फैल जाना, नाडी-गति 100 से अधिक, श्वसन 30 के लगभग तथा नार्मल तापक्रम अथवा 103 से 104° फारेनहाइट तक तेज बुखार के लक्षण मिलते हैं। गोबर पतला, रक्तयुक्त तथा बदबूदार होता है। लहरी-गति कम हो जाती है तथा कुछ रोगियों में बढी हुई प्यास देखी जाती है।

रैम्से तथा मेडॉन[7] ने मक्के की सूखी तथा पिसी हुई ऐसी पत्तियाँ खिलाकर पशुओं में विषाक्तता उत्पन्न की, जिन पर आठ माह पूर्व सखिया का घोल छिडका गया था। रासायनिक विश्लेषण हेतु उन्होंने देखा "कि जो पशु सखिया-विषाक्तता के लक्षण प्रदर्शित

करते हैं (उदाहरणार्थ दस्त रोग) उनके मल-मूत्र तथा बड़ी अँतड़ी में एकत्र पदार्थ से नमूना लेकर विश्लेषण करने पर अपेक्षाकृत अधिक संखिया मिलती है।" विष खाए पशुओं के भीतरी अंगों में से आमाशय, बड़ी अँतड़ी, यकृत तथा गुर्दों में अधिक संखिया मिलती है।

चिकित्सा—द्वितीय विश्व युद्ध काल में आर्सेनिकयुक्त तीखी गैसों के प्रति तैयार किया गया प्रतिकारक बाल (BAL) (British-anti-lewisite, Dimercaprol) संखिया-विषाक्तता के लक्षणों की चिकित्सा के लिए अति उत्तम है। यह 10 प्रतिशत घोल में तैयार किया जाता है तथा प्रति 50 पौण्ड शरीर भार पर 1 घ० सें० की मात्रा में अंतः पेशी इन्जेक्शन द्वारा पहले दो दिन इसे प्रति चार घंटे के अवकाश पर दिया जाता है। तीसरे दिन चार इन्जेक्शन तथा इसके बाद दस दिन या अधिक समय तक रोजाना दो इन्जेक्शन दिए जाते हैं। इस प्रकार चिकित्सा करने पर एड्स[10] द्वारा बताए गए दस रोगियों में से 6 पशु बिल्कुल ठीक हो गए।

औषधीय-चिकित्सा में बिस्मथ सबनाइट्रेट अथवा टैनिक एसिड जैसे संरक्षी पदार्थों का प्रयोग किया जाता है। रक्त-संस्थान की निर्बलता तथा अवसन्नता पर काबू पाने के लिए 2 से 4 ड्राम (8-16 ग्राम) की मात्रा में कैफीन सोडिओबेंजोएट अथवा कपूरयुक्त तेल या काली काफी दी जानी चाहिए। अँतड़ी की ऐंठन तथा दर्द को कंट्रोल करने के लिए 1/4 ग्रेन (0.0162 ग्राम) ऐट्रोपीन देना चाहिए।

पशुओं में दीर्घकालिक संखिया-विषाक्तता बहुत ही कम होती है। हकिंस और स्वेन[9] द्वारा प्रस्तुत विवरणी में धातु गलाने वाली भट्टियों के धुएँ से चरागाहों के संदूषित होने की विस्तृत चर्चा की गई है। डा० डी० ई० सैलमन द्वारा वर्णित घोड़ों तथा ढोरों में अधिक प्रमुख लक्षणों की निम्नलिखित रूप रेखा इनमें से एक विवरणी से उद्धृत है :

"घोड़े—काटने वाले दाँतों की जड़ के पास उठी हुई लाल रेखा; साँस में लहसुन जैसी गंध; गति, उत्तेजना तथा धैर्य का ह्रास; बालों का गिरना; पुराने बालों का न झड़ना; नाक में घाव; निर्बल तथा अगोचर नाड़ी; मसूड़ों के बाहरी भाग पर घाव; आँखों के ऊपर भद्दापन; बिना चमक के खुरदरे बाल; पिछले पैरों का आंशिक पक्षाघात; रोग के अधिक उग्र प्रकार के साथ (अ) कष्टप्रद श्वास-प्रश्वास, (ब) हृदय की असामान्य गति, (स) आँखों की पुतलियों का प्रसार (द) डायाफ्राम का आंशिक पक्षाघात तथा पसली चलना।

"गो-पशु -चरागाहों पर संखियायुक्त धुएँ की उपस्थिति के एक दो दिन बाद दूध उत्पादन में कमी; मुँह से लार गिरना; अपच; खुरदरी तथा रूसीयुक्त त्वचा; आँखें लाल, सूजी हुई तथा आँसूयुक्त; भूख न लगना; रोग के अधिक विकसित होने पर दस्त आना; तना हुआ पेट; शारीरिक क्षीणता; कमजोरी; उत्तेजना का ह्रास; खाँसी; साँस में लहसुन जैसी गंध, गोबर का श्लेष्मा से आच्छादित होना, गर्भपात तथा बाँझपन।"

संदर्भ

1. Kinsley, A.T., Arsenical poisoning, Vet. Med., 1929, 24, 445.
2. White, C.B., Sodium arsenate poisoning in livestock, Vet. Med., 1929, 24, 24.

3. Lamont, H, G, Arsenical poisoning, Vet. J., 1929, 85, 121.
4. Frohner, E., Lehrbuch der Toxicologie fur Tierarzte, ed. 5, Stuttgart, Enke, 1927.
5. Pollack, N.F., Arsenical poisoning in the field, Aust. Vet. J., 1929, 5, 97.
6. Clough, G.W., Arsenical poisoning among domestic animals Vet. Rec., 1929, N.S. 9, 922.
7. Ramsay, A.A., and Seddon, H.R., Arsenical poisoning in stock from the ingestion of vegetation sprayed with arsenic, Rep. No. 6, Parts I and II, of the Director of Vet. Res., Dept. of Agr., New South Wales, 1930, p. 58.
8. Steyn, D.G., Treatment of arsenical poisoning in stock, abs., Aust. Vet. J., 1937, 13, 257.
9. Harkins, W. D., and Swain, R.E., Papers on smelter smoke.
   I. The determination of arsenic and other solid constituents of smelter smoke, with a study of the effects of high stacks and large condensing flues, J. Am. Soc. Chem., 1907, 29, 970.
   II. Arsenic in vegetation exposed to smelter smoke, J. Am. Soc. Chem., 1908, 30, 915.
   III. The chronic arsenical poisoning of herbivorous animals, J. Am. Soc. Chem., 1908, 30, 928.
10. Edds, G.T., BAL, antidote for arsenic and other metals, Proc. Book, A.V.M.A., 1950, p. 149.

सीस-विपाक्तता

(Lead Poisoning)

कारण—पशुओं में होने वाली धातुगत-विपाक्तता में सीस-विपाक्तता सबसे प्रमुख है। सीस के बहुवितरित होने, कृषि कार्यों में अनेक प्रकार प्रयोग होने, पशुओं को इसकी प्रतिक्रिया के प्रति अधिक ग्रहणशील होने तथा पौधों के साथ कार्बनिक यौगिक बनाने की इसकी क्षमता के कारण यह विपाक्तता अधिक होते देखी जाती है। लेड आक्साइड, लेड की लाल आक्साइड, सफेद लेड एसिटेट (Sugar of Lead) तथा लेड आर्सनेट आदि लेड सम्मिश्रण-विष-विज्ञान में प्रमुख महत्व रखते हैं। चूंकि लेड की क्रिया धीरे-धीरे बढ़ने वाली होती है अतः जब दैनिक मात्रा थोड़ी-थोड़ी करके शरीर में जमा होकर एक विषैली मात्रा के बराबर हो जाती है तब इसकी विपाक्तता के लक्षण प्रकट होते हैं।

श्लेष्मल झिल्लियों के सीधे सम्पर्क में आने से सीस एक सक्षारक (corrosive) के रूप में काम करता है। शरीर में शोषित होने के बाद यह तन्त्रिका केन्द्रों, विशेषकर सेरिब्रल गोलार्द्धों के कार्टेक्स के मनोवैज्ञानिक तथा प्रेरक केन्द्रों, तथा वाहिका-प्रेरक केन्द्रों (vasomotor centres) पर एक क्षोभक का कार्य करता है। परिसर प्रेरक तन्त्रिका अन्तांगों (peripheral motor nerve endings) में यह अपकर्षित अपक्षय उत्पन्न करता है जिसके परिणामस्वरूप रेखित पेशियों का पक्षाघात हो जाता है। घोड़ों की दीर्घकालिक सीस-विपाक्तता में आवर्तक कण्ठ-तन्त्रिका (recurrent laryngeal

nerve) पर यह प्रभाव काफी तेज होता है। घुलनशील सीस लवण शरीर में शीघ्र ही शोषित हो जाते हैं, किन्तु शरीर से बाहर ये बहुत धीरे-धीरे निकलते हैं। पालतू पशुओं में गो-पशु इनके प्रति अधिक सवेदनशील होते है। बछड़ों में बहुत कम मात्रा में सीस खाने से ही प्राणघातक विषाक्तता उत्पन्न हो सकती है।

लेड आर्सनेट; सीस-विषाक्तता का प्रमुख कारण है। वैसे तो इस यौगिक में आर्सेनिक (संखिया) होती है, किन्तु इसका विषैला प्रभाव लेड (सीस) के कारण होता है। पशु प्रायः ऐसी नादों तथा बर्तनों के संपर्क में आ जाया करते है, जिन्हें छिड़कने वाली दवा बनाने के लिए प्रयोग किया जा चुका होता है और ऐसे बर्तन पशुओं को चारा खिलाने के लिए भी प्रयोग होते हैं। मुझे स्वयं ही ऐसे दो उदाहरणों का ज्ञान है जिनमें ऐसी बाल्टियों द्वारा चारा खिलाने से बछड़ों में सीस-विषाक्तता के लक्षण उत्पन्न हुए। ऐसे बर्तन चरागाहों पर फेंके जा सकते है अथवा पशुशाला में ऐसी जगह रखे जा सकते है जहाँ से पशु उन पर पहुँच सकें। बगीचे में लगी हुई घास को दवा छिड़कने के तत्काल बाद यदि कोई पशु खा लेता है तो चौबीस घंटे के अन्दर उसकी मृत्यु हो सकती है। पतझड़ और जाड़े की ऋतु में बगीचों में पशु चराने से उनको दीर्घकालिक सीस-विषाक्तता हो सकती है। दवा छिडके गए बगीचों अथवा मैदानों से काटी गई सूखी घास दीर्घकालिक सीस-विषाक्तता उत्पन्न कर सकती है जो संदूषित घास को खिलाना प्रारम्भ करने के बाद 6 से 8 माह में विकसित होती है—मेकिन्टोश[1]। लेड आर्सनेट के छिड़कने से उत्पन्न भय का पता लगाने के लिए गो-पशु में किए गए एक प्रयोग में पेगी[2] ने देखा कि एक गाय को रोजाना 1 ग्राम लेड आर्सनेट खिलाने से 26 दिन बाद उसमें विषाक्तता के लक्षण उत्पन्न हुए तथा 29 ग्राम लेड आर्सनेट खाए जाने के बाद 40 दिन में उसकी मृत्यु हो गयी। एक 540 पौण्ड शरीर भार वाली गाय को रोजाना 0.5 ग्राम की मात्रा में यह लवण देने के बाद 23 दिन में विषाक्तता के लक्षण उत्पन्न हुए तथा कुल 16 ग्राम लवण शरीर में पहुँचने के बाद उसे तेजी से दस्त आने लगे। एक तीसरी गाय को एक कैप्सूल में रखकर एक खुराक में 28.35 ग्राम यह लवण दिया गया जिससे उसमें अप्राणघातक उग्र तथा भयंकर विषाक्तता का प्रकोप हुआ। एक चौथे पशु को 56.7 ग्राम लेड आर्सनेट कैप्सूल में रखकर खिलाया गया जिसकी लगभग 70 घटे बाद मृत्यु हो गई। पेगी[3] ने यह पता लगाया कि 0.9 पौण्ड सूखा लेड आर्सनेट एक मौसम में तीन बार छिड़कने से प्रत्येक पेड़ के नीचे की जमीन में पहुँच जाता है। सेडन और रैम्से[6] के अनुसार 60 ग्रेन लेड आर्सनेट खाकर एक भेंड़ की मृत्यु हो गई।

कभी-कभी पशु-चिकित्सकों से ऐसा प्रश्न पूछा जाता है कि किसी बगीचे में यदि लेड आर्सनेट छिड़का जाए तो उसके निकटवर्ती मैदान की सूखी अथवा हरी घास खिलाने से पशु को क्या भय रहता है? यह स्पष्ट है कि छिड़कते समय इस घोल का कुछ भाग हवा में उड़कर निकटवर्ती मैदान की घास पर भी पहुँच जाता है। यह जानने के लिए कि इस प्रकार पहुँची हुई लेड आर्सनेट की मात्रा खतरनाक है अथवा नहीं, संदेहयुक्त चारे अथवा पदार्थ का रासायनिक-विश्लेषण करने की आवश्यकता पड़ती है। चूंकि लेड आर्सनेट का घोल आमतौर पर बगीचे में उगने वाली गोभी आदि तरकारियों पर छिड़का

जाता है अत ऐसे बगीचे से प्राप्त कूडा-करकट खिलाना सीस-विषाक्तता का स्रोत होता है। धातु पिघलाने वाली भट्टियो अथवा खानो से सीस बहाकर लाने वाला नदी नालो का पानी तथा धातु पिघलाने वाली भट्टियो से प्राप्त धुआँ भी चारे को कभी-कभी सदूषित कर देता है। सदूषित नाले से पानी पीने अथवा सदूषित चरागाह की घास चरने से पशुओ में इसकी विपाक्तता हो सकती है। इस अवस्था पर हेरिंग तथा मेयर और होम्स एव उनके साथियों[4] द्वारा भी रिपोर्ट प्रस्तुत की गई है। एक मकान जिस पर छिडककर रग किया गया था काटन[5] के अनुसार उसके चहुँतरफा की घास काटकर खिलाने से कई प्रयोगात्मक पशुओ की मृत्यु हो गई।

हमारे चल-चिकित्सालय में सीस-विषाक्तता का प्रमुख कारण पेंट ही रहा है। एक फार्म पर सफेद लेड युक्त वर्तन निकट के मैदान पर ही फेंक दिया गया जहाँ इसके ऊपर अनेको लकडियो का ढेर जमा हो गया। यह मैदान रात में गायो को चराने के लिए प्रयुक्त होता था। जब लकडियाँ हटा ली गयी तो पडे हुए वर्तन से सूखे लेड को चाटकर कई गायो में उग्र सीस-विषाक्तता के लक्षण उत्पन्न हुए। अन्य उदाहरण में पुराने पुते हुए एक छोटे से तख्ते का बछडा-घर के विभाजन में प्रयुक्त कर लिया गया था। इस तख्ते से जो कि तीन इच से अधिक चौडा न था और पुराना होने के कारण काला सा पड गया था बछडे को प्राणघातक विषाक्तता हो गई। लेड पेंट किए गए एक छोटे से कमरे में, जिसमें पहले वर्षों तक प्रौढ पशु रह चुके थे एक बछडे को रखा गया। लगभग एक माह में उसने इसकी दीवालो से इतना पेंट चाट लिया कि उसकी मृत्यु हो गई। लेड पेंट की हुई खिडकी की चौखट जिस तक बछडे मुश्किल से ही पहुँच पाते थे, उसे चाटने से भी उनकी मृत्यु हो गई। पशुशाला में विभाजन की दीवालो को लेड से पुतवाने पर सीस-विषाक्तता के अक्सर प्रकोप होते देखे जाते हैं। एक उदाहरण में, एक गैस स्टेशन को रँगकर रग के डिब्बे को निकट के चरागाह पर फेंक दिया गया जिसे चाटकर अनेक विशुद्ध नस्ल की गायों की मृत्यु हो गई। मैदानो पर लगी हुई प्रचार करने वाली पट्टिकाओ के रग को चाटने से गो पशुओ की मृत्यु होते देखी गई। एक पानी पीने की नाँद में पुराने बैटरी के बक्से धोने के बाद उसमें पानी पीकर एक फार्म की अनेको गायें मर गयी। नाँद की नाली में भरी हुई गदगी में विशुद्ध लेड आक्साइड मौजूद थी। लेड एसिटेट की नमक के साथ सभ्रान्ति भी हो सकती है।

विकृत शरीर रचना—उग्र विषाक्तता में गो-पशुओ में सबसे प्रमुख तथा लगातार होने वाला परिवर्तन उग्र रक्तस्रवित जठर-आँत्राति के रूप में एबोमेसम तथा छोटी अँतडी में होता है। यकृत का रग पीला पडकर तथा उसका अपकर्षण होकर रोग के नैदानिक लक्षण प्रकट होते हैं। पैरकाइमेंटस अपकर्षण इतना तेज होता है कि कटी हुई सतह हाथ धोने वाले स्पज की भाँति प्रतीत होती है। कोर्स के अति उग्र होने पर यकृत में नगी आँख से दिखाई देने वाले कोई परिवर्तन नही होते। माइक्रास्कोप में देखने पर यकृत तथा गुर्दों में पैरकाइमेटस अपकर्षण मिलता है। नगी आँख से दिखाई देने वाले सबसे उग्र परिवर्तन आमाशय तथा ड्यूओडेनम में पाए जाते हैं। सेडन[6] द्वारा वर्णित एक बीमार भेड के एबोमेसम में छिद्र देखा गया। दीर्घकालिक सीस-विषाक्तता से मरे हुए घोडो में

कुछ कम उग्र अथवा दीर्घकालिक न्युमोनिया के क्षतस्थल मिलते हैं। फेफड़ों में फोड़े होकर तथा सड़न लगकर रोगी पशु की मृत्यु हो जाती है। स्वरयंत्र की मांस-पेशियों का अपक्षय हो जाता है।

लक्षण—सामान्य लक्षण कुछ-कुछ भिन्न होते हैं। सभी उग्र अवस्थाओं में रोग का आक्रमण एकाएक होता है तथा इसका कोर्स कम होता है। भीषण विषाक्तता में शारीरिक अवसन्नता, लड़खड़ाना अथवा उठने में असमर्थता आदि लक्षण प्रमुख होते हैं। श्लेष्मल झिल्लियाँ रक्तवर्ण अथवा सामान्य हो सकती हैं। नियमानुसार पशु का तापक्रम नार्मल रहना चाहिए, किन्तु विषाक्तता के बाद 48 घंटे के अन्दर यह 104° फारेनहाइट के बीच था। नाड़ीगति सदैव ही तेज तथा कमजोर होती है। श्वसन नार्मल अथवा तेज तथा हल्का हो सकता है। पशु के शरीर के अंतिम भाग ठंडे पड़ जाते हैं।

उग्र सीस-विषाक्तता में लक्षणों के दो विभिन्न समूह होते हैं: श्लेष्मल झिल्ली पर रसायन की तेज प्रतिक्रिया के कारण जठर-आंत्रार्ति तथा तंत्रिका-तंत्र पर सीस की क्रिया से उत्पन्न सेरिब्रल लक्षण। पशु प्रायः चेतना की उत्तेजना एवं प्रेरक क्षोभण के लक्षण प्रकट करते हैं और ये रोग के निदान में बहुत सहायक होते हैं। विष खाए पशु चक्कर काटते हैं तथा अंधे से होकर इधर-उधर की वस्तुओं पर दौड़ते हैं और प्रायः इस प्रकार चिल्लाते हैं जैसे कि डर गए हों। उनकी आवाज में भी कुछ परिवर्तन हो जाता है। ये संलक्षण हमने विशेषकर सीस-विषाक्तता से पीड़ित पशुओं में ही देखे। वैसे तो ये संलक्षण अन्य बीमारियों में भी मौजूद हो सकते हैं, किन्तु हमारे विचार से जब तक कोई अन्य निश्चित कारण न मिले, इनकी उपस्थिति सीस-विषाक्तता का ही सूचक है। पशु अपने सिर को दीवाल अथवा नांद से टकरा कर खड़ा होता है। कभी-कभी मिर्गी जैसे दौड़े अथवा मांसल ऐंठन भी देखी जाती है। सेरिब्रल लक्षणों को देखकर तांत्रिका शोथ का अनुमान होता है तथा मरने के बाद शव-परीक्षण करके तंत्रिका में उपस्थित लालामी तथा रक्तस्राव के धब्बों को देखकर इस निदान की पुष्टि की जा सकती है। दाँत पीसना, जल्दी-जल्दी जुगाली फेरना, तथा एक ओर की ग्रैवीय मांस पेशियों के संकुचन के कारण गर्दन का ऐंठ जाना इसके अन्य तंत्रिकीय लक्षण हैं। एक रोगी पशु की रीढ़ की हड्डी तथा गर्दन एक ओर मुड़ गई थी। अन्य पशु एकाएक गिर जाते, पैरों में अकड़न होती तथा मांस पेशियों में अनैच्छिक उग्र संकुचन होता है। ऐसे आक्रमण प्रति मिनट पर बार-बार हो सकते हैं। जबड़ों में चपचपाहट की आवाज होती है तथा आँखों के पलक बराबर झपकते देखे जाते हैं। आँख की पुतलियों का प्रसार हो जाता है। बछड़ों में टिटैनी के तंत्रिकीय लक्षण उग्र सीस-विषाक्तता से मिलते-जुलते हो सकते हैं।

भूख का बिल्कुल न लगना तथा आहार-नाल का पक्षाघात हो जाना इसके पाचन-तंत्र संबंधी लक्षण हैं। जमीन पर बैठना अथवा झुककर खड़ा होना, अवसन्नता, दयनीय दशा, प्रत्येक चार सांस छोड़ने पर कराहना, दाँत पीसना तथा मुँह से लार गिराने के रूप में जठर-आंत्र क्षोभण के लक्षण प्रकट होते हैं। पशु पानी जैसा पतला तथा कभी-कभी बदबूदार गोबर करता है। कुछ लेखकों के अनुसार मल का समुचित रूप से त्याग न हो पाना सीस-विषाक्तता का एक लक्षण है। मैंने केवल एक बार यह अवस्था देखी

और यह एक गाय में उपस्थित थी जो सूखे सफेद लेड को चाटकर रोग के अप्राणघातक किन्तु उग्र आक्रमण से पीडित हुई थी।

घोड़ों में उग्र सीस-विषाक्तता गो-पशुओं की अपेक्षाकृत कम हुआ करती है और इसके लक्षण भी कुछ-कुछ भिन्न होते हैं। घोडों के एक समूह में जिनको दाने में रखकर जान बूझकर लेड आर्सेनेट खिलाया गया था, पहला लक्षण खाने में पूर्ण अरुचि होना था। 48 घंटे बाद उनकी जाँच करने पर पशु सिर को नीचा किए हुए खड़ा मिला जैसे कि वह अर्द्ध सुप्तावस्था में हो। पशु नार्मल ढग से मल त्याग करता था। अँतडी की लहरी-गति बढी हुई तथा गडगडाहट का शब्द करने वाली थी। नाडी-गति 60, तथा श्लेष्मल झिल्लियाँ नार्मल थी। रोगी में दर्द अथवा विनाशता के कोई भी लक्षण मौजूद न थे। चौबीस घटे के अन्दर घोडे की मृत्यु हो गई। इसी प्रकार एक दूसरा घोडा भी मर गया। शव-परीक्षण करने पर आमाशयशोथ तथा अँतडी की दीवाल पर रक्तस्रवित धब्बे मिले। इन घोडो का हल्की अपच के लिए इलाज किया गया और इनको मृत्यु की आशा न की जाती थी। मैकिन्टोश[1] ने उन तीन घोडो के बारे में बताया जो दोपहर के बाद सीस छिडके गए चरागाह पर चरने गए। दूसरे दिन सुबह एक घोडा उठने में असमर्थ हो गया तथा अन्य दो को लँगडाने के रूप में आंशिक पक्षाघात हो गया। आमतौर पर पक्षाघात के साथ उग्र दर्दयुक्त आमाशयशोथ के लक्षण मौजूद थे। इनमें गो-पशुओं की भाँति मास-पेशियो का अनैच्छिक उग्र सकुचन भी हो सकता है।

मैकिन्डो[7] के अनुसार घोड़ों में **दीर्घकालिक सीस-विषाक्तता** अनेकों बार होते देखी गई। प्रमुख तौर पर यह उन भागों में अधिक प्रकोप करती है जहाँ धातु पिघलाने वाली भट्ठियाँ अथवा लेड की खानें होती हैं। चारे अथवा पानी के साथ यह लवण शरीर में प्रवेश पाता है, अथवा यह धूल के कणों के साथ नासिका मार्ग द्वारा शरीर में पहुँचता है। स्वर-यन्त्रीय मास-पेशियो का पक्षाघात होना तथा साँस लेते समय आवाज करना इसका सलक्षण है जिस पर विशेष महत्व दिया जाता है। घोडो में स्वरयन्त्रीय पक्षाघात दीर्घ-कालिक सीस-विषाक्तता का सबसे प्रमुख लक्षण है, किन्तु अक्सर वहाँ अन्य लक्षण भी मौजूद हुआ करते हैं। उदाहरणार्थ; मेकिन्टोश द्वारा वर्णन किए गए पशुओं में यह विषाक्तता पतझड और जाडो के महीनों में दवा छिडके हुए चरागाहों पर चराने तथा उस पर की काटी हुई सूखी घास खिलाने से उत्पन्न हुई। लक्षणों के विकसित होने से पूर्व 6 से 8 माह तक पशुओ को सूखी घास खिलाई गई थी। इस अवस्था को सबसे पहले गले के पक्षाघात से उत्पन्न अवरोध, अथवा मास पेशियो के अनैच्छिक उग्र सकुचन द्वारा पहचाना जाता है। जब ऐसे घोड़े चलाए जाते हैं तो उन्हें सास लेने में और भी अधिक कष्ट होता है, तथा सास लेते समय गर्जन (roaring) की आमतौर पर होने वाली प्रकार के विपरीति, घोडों को आराम देने पर इसमें तत्काल लाभ नही होता। मेकिन्टोश ने निचले होठ के पक्षाघात की भी चर्चा की तथा यह अवस्था हेरिंग और मेयर द्वारा प्रस्तुत विवरणी में भी वर्णन की गई है (रोगी 10, पृ० 488)। लेखक द्वारा अव-लोकित एक रोगी में काम करने के पश्चात् सास लेने में कठिनाई होने के कारण उसकी हालत बहुत ही खराब हो गई। दूसरा महत्वपूर्ण लक्षण, जिस पर समुचित ध्यान नही

दिया जाता, यांत्रिक न्युमोनिया है। यह फेरिंक्स अथवा स्वरयंत्र के पक्षाघात हो जाने के परिणामस्वरूप हुआ करती है (वेगस न्युमोनिया) और यह फेफड़ों में बने फोड़े अथवा उसमें लगी सड़न के रूप में होती है। इसके क्षतस्थल फेफड़े के बड़े खण्ड में स्थित रहते हैं तथा इस न्युमोनिया का कोर्स सामान्य श्वसन प्रकार की न्युमोनिया की अपेक्षाकृत कुछ लम्बा होता है। रोग-ग्रसित पशु निर्बल तथा दयनीय हो जाते हैं। मेकिन्टोश का कहना है कि इस प्रकार की विषाक्तता पतझड़ तथा जाड़ों में बगीचों में चरने वाले घोड़ों में हुआ करती है और अन्य किसी प्रकार की अपेक्षा इससे अधिक मृत्यु होती है। पशु की ग्रसनी का पक्षाघात होकर नथुनों से हरे रंग का स्राव बहता है और अक्सर उसका गला रुँध जाता है। मेकिन्टोश द्वारा संवेदी पक्षाघात की चर्चा भी की गई है जिसने बिना संवेदनाहारी (anesthetic) के ही श्वासनली का आपरेशन किया।

उग्र सीस-विषाक्तता में मृत्युदर अधिक होकर 100 प्रतिशत तक हो सकती है। लेखक ने इस रोग से पीड़ित बछड़े को कभी भी ठीक होते नहीं देखा। प्रौढ़ पशु जब बहुत थोड़ा सा विषयुक्त पदार्थ खाता है तो उसके ठीक होने की संभावना रहती है। उग्र सीस-विषाक्तता का निदान, विशेषकर गोपशुओं में, अपेक्षाकृत सरल होता है। इसकी तानिका शोथ, अपच तथा "चारा-विषाक्तता" से संभ्रान्ति हो जाती है। लेखक ने आँखों से न दिखाई देने तथा चक्कर काटने के लक्षणों के कारण एक बछड़े में सीस-विषाक्तता का निदान किया, किन्तु रसायनज्ञ ने इसे सायनाइड-विषाक्तता (संभवतः कैल्शियम सायनाइड) बताया। रासायनिक विश्लेषण के लिए कई पौण्ड यकृत की आवश्यकता पड़ती है।

सीस-विषाक्तता का लाक्षणिक निदान करने के बाद तथा रसायनज्ञ से ऋणात्मक रिपोर्ट पाने के बाद यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि बछड़े को मारने के लिए सीस की मात्रा इतनी कम हो सकती है कि रासायनिक विश्लेषण करने पर उसका पता ही न लगे। लेखक[8] द्वारा अवलोकित एक रोगी में सीस-विषाक्तता के स्पष्ट लक्षण मौजूद होने पर भी रासायनिक परीक्षण ऋणात्मक निकला। यह एक ऐसा अनुभव है जो प्रो० डब्ल्यु० एल० विलियम्स के अनुसार बिल्कुल संभव है।

चिकित्सा—सोडियम अथवा मैगनीशियम सल्फेट जैसे सल्फेटों का पतला किया हुआ गंधक का अम्ल उग्र सीस-विषाक्तता का रासायनिक प्रतिकारक है। यह लेड का अघुलनशील सल्फेट बना देता है। उत्तेजना को रोकने के लिए क्लोरल हाइड्रास अथवा अन्य नशीली औषधियाँ देनी चाहिए। पक्षाघात की परिस्थितियों में कपूर तथा स्ट्रिकनीन देने की राय दी जाती है। रोग की लाक्षणिक चिकित्सा में सबसे अधिक ध्यान जठर-आंत्रार्ति तथा अवसन्नता पर देना चाहिए। इसके लिए प्रयोग होने वाले संरक्षी पदार्थ द्रव पैराफिन, बिस्मथ सबनाइट्रेट तथा टैनिक एसिड हैं। काफी मात्रा में बार-बार एरोमैटिक अमोनिया स्प्रिट देना लाभप्रद है। उग्र लक्षणों की चिकित्सा में एट्रोपीन सल्फेट (1/4 ग्रेन) का प्रयोग गुणकारी बताया जाता है। मनुष्यों में सीस-विषाक्तता की चिकित्सा में फेटो तथा लेटोनोफ[9] ने सोडियम साइट्रेट को लाभकारी बताया है जहाँ कि इसके प्रयोग से

विषाक्त लक्षण शीघ्र ही अदृश्य हो गए, रक्त में सीस की कमी हो गई तथा मूत्र के साथ अधिक सीस निकला। गो-पशुओं के लिए इसकी मात्रा 4 से 8 औंस (120-240 ग्राम) है और इसे दिन में तीन बार देना चाहिए।

सन् 1953 में हॉम आदि[10] ने उन सात में से चार बछड़ों को अच्छा होते बताया जिन्हें मुंह द्वारा लेड एसिटेट खिलाया गया था तथा इसकी चिकित्सा के लिए कैल्शियम वर्सेनेट (calcium disodium salt of ethylenediaminetetraacetic acid-Ca EDTA) का प्रयोग किया गया था। विष देने के बाद चौथे से सातवें दिन चिकित्सा शुरू की गई। सभी बछड़े अंधे हो गए थे तथा मांसपेशियों का अनैच्छिक उग्र संकुचन, अति सम्वेदिता, खड़ा न हो पाना तथा सुस्ती आदि इसके अन्य लक्षण थे। इलाज करना प्रारम्भ करने के तत्काल बाद रोगी की हालत में सुधार होते देखा गया। इसकी प्रारम्भिक मात्रा 1 ग्राम प्रति 30 पौण्ड शरीर भार थी जिसे एक लिटर सलाइन घोल में घोलकर रोजाना अधस्त्वक् इन्जेक्शन द्वारा दिया जाता था।

संदर्भ

1. MacKintosh, P.G., Clinical manifestations and surgical treatment of lead poisoning in the horse, J.A.V.M.A., 1928-29 74, 193.
2. Paige, J.B., Cattle poisoning from arsenate of lead, Twenty-first Ann. Rep. Mass. Agr. Exp. Sta. 1908, p. 183.
3. Haring, C M., and Meyer, K.F., Investigation of live stock conditions and losses in the Selby Smoke Zone, Government Printing Office, Washington, 1915.
4. Holmes, J.A., Franklin, E C., and Gould, R.A., Report of the Selby Smelter Commission, Bul. No. 98, Bureau of Mines. U.S. Dept. of Interior, 1915.
5. Cotton, W.E., and Crawford, A.B., Death of experimental animals from lead poisoning, p. 28 of article of Calmette-Guerin method of vaccinating, J.A.V.M.A., 1932, 80, 18.
6. Seddon, H.R., and Ramsay, A.R., Toxicity of certain arsenic and lead compounds, Rep. 6, Part III, of the Director of Vet. Res , Dept. of Agr., New South Wales, 1930 p. 113.
7. Macindoe, R H.F., Poisoning of horses by lead, J. Aust. Vet. Med. Assoc., 1925, 1, 32.
8. Udall, D.H., Fincher, M.G., and Gibbons, W.J., Lead poisoning, Cornell Vet., 1928, 18, 289.
9. Kety, S.S., and Letonoff T.V., Treatment of lead poisoning with sodium citrate, Soc. for Exp. Biol. and Med., 1941, 46, 476.
10. Holm, L.W., Rhode, E.A., Wheat, J.D., and Gladys Firch, Treatment of acute lead poisoning in calves with calcium disodium ethylenediaminetetraacetate, J.A.V.M.A., 1953, 123, 528.

शोरा-विषाक्तता

(Saltpeter Poisoning)

(शोरा, पोटाशियम नाइट्रेट, सोडियम नाइट्रेट)

कारण—पिछले वर्षों में नमक के धोखे अधिक मात्रा में पोटाशियम नाइट्रेट खा जाने से विषाक्तता को अनेक रिपोर्टें मिली हैं। चिकित्सा के लिए प्रयुक्त होने वाली इसकी मात्रा 10 से 20 ग्राम है तथा 50 ग्राम की मात्रा में यह घोड़ों में तेज विषाक्तता उत्पन्न करता है। अभी पिछले कुछ वर्षों में धोखे से सोडियम नाइट्रेट खा जाने से इसकी विषाक्तता से अनेकों पशु पीड़ित हुए हैं। यह रसायन उर्वरक के रूप में प्रयोग होने के लिए बोरे में बंद करके अनेक फार्मों पर रखा जाता है। यदि कोई पशु धोखे से ऐसे स्थान पर पहुँच जाता है जहाँ इसके बोरे भण्डारित हों तो थोड़ी ही देर में बोरे को काटकर वह इतना लवण खा लेता है जिससे कुछ ही घंटों में उसकी मृत्यु हो जाती है। एक फार्म के चरागाह पर एकत्र कूड़ा-करकट पर इस लवण का एक पूरा बोरा ही फेंक दिया गया तथा इसका पता लगने के पूर्व वहाँ अनेक गायों की मृत्यु हो गई। एक दूसरे किसान ने नीलाम में नमक के कुछ बोरे खरीदे तथा उसमें सोडियम नाइट्रेट का एक बोरा धोखे से वह अपने घर ले आया। जब इस बोरे में से पशुओं को नमक खिलाया गया तो वे शीघ्र ही मरने लगे। पानी पिलाने वाली नांदों में उर्वरक के खाली बोरों को धोने से अनेक पशुओं की मृत्यु हो गई। जिन मैदानों पर उर्वरक के रूप में यह लवण छिड़का जाता है वहाँ पशुओं को चराने से भी उनकी मृत्यु हो सकती है। एक पशुपालक की अनेकों भेड़ें इस प्रकार नष्ट हो गईं। उन्होंने केवल जुते हुए खेत के किनारे की घास खाई थी। वे सोडियम नाइट्रेट के लिए इतना क्षुधातुर हो गई थी कि उन्होंने नमक खाना छोड़कर जमीन पर पड़े हुए इस लवण के अंतिम कण तक चाट लिए। फ्रोनर के अनुसार इसकी प्राणघातक मात्रा घोड़ों तथा गो-पशुओं के लिए 100 से 250 ग्राम तथा भेड़ों और सुअरियों के लिए 30 ग्राम है।

कोलोरैडो तथा वायोमिंग[1] में जई की सूखी घास तथा नाइट्रेट युक्त अन्य पौधों को खाने से पशुओं में शोरा-विषाक्तता की अनेक सूचनाएँ प्राप्त हुई हैं। बछड़ों में, 25 ग्राम पोटाशियम नाइट्रेट प्रति 100 पौण्ड शरीर भार पर देने से मेट्हीमोग्लोबिन-रक्तता (methemoglobinemia) होकर उनकी मृत्यु हो जाती है। यह अवस्था आहार-नाल में उपस्थित नाइट्रेट के नाइट्राइट में परिवर्तित होने से उत्पन्न होती है। प्राणघातक विषाक्तता उत्पन्न होने के लिए एक 500 पौण्ड शरीर भार वाले पशु को 5 प्रतिशत नाइट्रेटयुक्त लगभग $5\frac{1}{2}$ पौण्ड सूखी घास खाने की आवश्यकता पड़ती है। जिन बछड़ों को पानी में घुला हुआ विशुद्ध पोटाशियम नाइट्रेट मिला वे जई-घास-विषाक्तता के विशिष्ट लक्षण प्रदर्शित करके मर गए। हीमोग्लोबिन का मेट्हीमोग्लोबिन में परिवर्तित होना पशु की मृत्यु होने तक तब तक जारी रहा जब तक कि इसकी मात्रा कुल रक्त के पिगमेण्ट को 80 प्रतिशत न हो गई। 6 पौण्ड जई की सूखी घास से निथारा हुआ पानी पिलाने पर 275 पौण्ड शरीर भार वाले बछड़े की तीन घंटे में मृत्यु हो गई। श्वास-कष्ट, तेज

नाड़ी, लड़खड़ाना तथा मृत्यु हो जाना इसके लक्षण थे। एक इन्जेक्शन देने वाली पिचकारी से पशु का रक्त निकाल कर उसका गहरा कत्थई बादामी रंग देखकर इसका आसानी से निदान किया जा सकता है। 2 ग्राम प्रति 500 पौण्ड (225 कि० ग्राम०) शरीर भार की मात्रा में मेथिलीन ब्लू का अंत:शिरा इन्जेक्शन देना मेट्हीमोग्लोबिन को हीमोग्लोबिन में बदलकर नाइट्रेट के कुप्रभाव को नष्ट करता है। इस बीमारी का कनाडा में भी वर्णन किया गया है।[2]

शव-परीक्षण करने पर एबोमेसम तथा छोटी अँतड़ी की श्लेष्मल झिल्ली गहरी लाल, नारंगी अथवा कत्थई रंग की मिलती है और यह नाइट्रेट की तीव्र प्रतिक्रिया के कारण कटी-पिटी हो सकती है। अँतड़ी का पदार्थ रक्तयुक्त अथवा बादामी रंग का होता है। कभी-कभी गुर्दों तथा मूत्राशय में ललाई एवं रक्तस्राव पाया जाता है। रक्त का रंग चमकीला लाल अथवा बादामीपन लिए हुए लाल होता है। रोग की अति उग्र अवस्था में विशिष्ट परिवर्तन अनुपस्थित हो सकते हैं। रसायनज्ञ के पास परीक्षण हेतु रक्त, आमाशय और उसमें का पदार्थ भेजना चाहिए। जई-घास-विषाक्तता से मरने वाले गो-पशुओं में सबसे प्रमुख नैदानिक लक्षण रक्त का गहरा कत्थई बादामी रंग होता है जिसमें कि अधिकांश हीमोग्लोबिन, मेट्हीमोग्लोबिन में परिवर्तित हो चुका होता है।

लक्षण—नाइट्रेट की दोनों किस्में भीषण जठर-आन्त्रशोथ उत्पन्न करती हैं। इसका कोर्स शीघ्र प्राणघातक होता है। चरागाह पर प्रातःकाल भेजी गई गायें शाम को मरी हुई पाई जाती हैं तथा जो गायें शाम को बिल्कुल स्वस्थ तथा सामान्य दिखाई देती हैं वे प्रातःकाल मरी हुई मिलती हैं। तेज शूल वेदना, लार गिराना, वमन, कभी-कभी पेट फूलना तथा बहुमूत्र जैसे लक्षणों के साथ इसका एकाएक प्रकोप होता है। शीघ्र ही निराशा, कमजोरी तथा अवसन्नता के लक्षण प्रकट हो जाते हैं। पशु का तापक्रम नार्मल रहता है। कुछ ही घंटों में रोगी पशु की मृत्यु होकर विषाक्तता का अंत हो जाता है। बिना किसी प्रत्यक्ष कारण के जब पशु मैदान में मरा हुआ पाया जाता है तो उस पर बिजली गिरने अथवा एँथ्राक्स के प्रकोप का अनुमान किया जा सकता है।

चिकित्सा—2 ग्राम प्रति 500 पौण्ड (225 कि० ग्रा०) शरीर भार की मात्रा में मेथिलीन ब्लू का इन्जेक्शन मेट्हीमोग्लोबिन को हीमोग्लोबिन में बदल कर नाइट्रेट के कुप्रभाव को तत्काल नष्ट कर देता है। विष की तीव्र प्रतिक्रिया को रोकने के लिए पशु को पर्याप्त मात्रा में खनिज तेल अथवा चिकने पदार्थ खिलाने चाहिए जो एक संरक्षी के रूप में कार्य करते हैं। अवसन्नता पर काबू पाने के लिए रोगी पशु को कपूर, कैफीन अथवा ऐड्रीनेलीन जैसे उत्तेजक पदार्थ देने चाहिए।

संदर्भ

1. Bradley, W.B., Eppson, H.F., and Beath, O.A., Livestock poisoning by oat hay and other plants containing nitrate, Univ. Wyoming Agr. Exp. Sta., Bull. 241, July 1940, Laramie.
2. Davidson, W.B., Doughty, J.L., and Bolton, J.L., Nitrate poisoning of live stock, Canad. J. Compar. Med. and Vet. Sci. 1941, 5, 303.

पारद-विपाक्तता

(Mercurial Poisoning)

कारण—पारद-विपाक्तता अपेक्षाकृत कम हुआ करती है। इसका प्रमुख कारण पारायुक्त औषधियों का दुर्पयोग करना है। गो-पशु इसका अधिक शिकार होते हैं क्योंकि वे पारे के किसी भी प्रकार के प्रति अति संवेदनशील होते हैं। पारा को सुअर की चर्बी में मिलाकर एक मरहम के रूप में जुओं को नष्ट करने के लिए गो-पशुओं के शरीर पर लगाया जाता है। यूरुप के कुछ भागों में इसका घरेलू चिकित्सा के रूप में प्रयोग होता है तथा वहाँ हाल में आए हुए किसान इसका कभी-कभी प्रयोग करते हैं। इथाका के निकट एक यूथ में इसे पीठ पर लगाया गया जिसके फलस्वरूप कई गायें बीमार पड़ीं तथा एक की मृत्यु हो गई। स्टीवेंस[4] ने एक वर्ष की आयु वाले पाँच बछड़ों में इसकी विपाक्तता का वर्णन किया। ऐसा जुओं को नष्ट करने के लिए बाड़े में छोटे-छोटे सूराखों में घूसर पारद मरहम रखने से हुआ था। एक दूसरे यूथ में दो गायें पारद-विपाक्तता से मर गईं। ऐसा उनमें जुओं को नष्ट करने के लिए सिर पर कैलोमल मलने के परिणामस्वरूप हुआ। ताजी जीवाणु-रहित की गई पशुशाला का प्रयोग करने पर भी गो-पशुओं की मृत्यु हो गई। कैलोमल गो-पशुओं के लिए विशेषकर विषैला पदार्थ है। फ्रोनर का कहना है कि नेत्र-रोग से पीड़ित बछड़ों में कैलोमल का प्रयोग पारद-विपाक्तता उत्पन्न कर सकता है तथा 8 से 10 ग्राम खिलाने पर विपाक्तता के भयंकर लक्षण उत्पन्न होते हैं। कुत्तों पर किया गया प्रयोगात्मक कार्य यह प्रदर्शित करता है कि जब 4 मिलि ग्राम या अधिक बाईक्लोराइड प्रति किलोग्राम शरीर–भार पर शारीरिक तन्तुओं में प्रवेश पाता है तो पशु की मृत्यु हो जाती है। कवकनाशी पारा छिड़की हुई मक्का को पशुओं को खिलाने से उत्पन्न पारद-विपाक्तता का बोले आदि[1] द्वारा वर्णन किया गया है। कवकनाशी के रूप में प्रयोग किए गए पारे से संदूषित बीज खाकर उत्पन्न होने वाली विपाक्तता को टेलर[2] तथा मेकन्टी[3] ने वर्णन किया।

विकृत शरीर रचना—एक ही यूथ के पीड़ित पशुओं में इसके क्षतस्थल भिन्न-भिन्न होते हैं। धातुगत विपाक्तता के अन्य प्रकारों की भाँति इसमें भी कभी-कभी आमाशय में बने घावों के साथ रक्त-स्रवित जठर-आंत्रार्ति मिलती है। श्लेष्मल झिल्ली बहुधा सूजी हुई मिलती है। अधोपेरिटोनियल संयोजी ऊतक सूज जाता है तथा उस पर रक्त की छींटें दिखाई पड़ती हैं। यकृत और गुर्दे सूज जाते हैं तथा गुर्दे में कैप्सूल के नीचे रक्तस्राव मिलता है। फेफड़े रक्तवर्ण होकर उनसे खून बहता है तथा उनमें फोड़ा बनने के साथ ब्रांकोन्युमोनिया के क्षतस्थल मौजूद मिलते हैं। त्वचा तथा उसके नीचे की पर्त में रक्त की कमी हो जाती है और मांस-पेशियाँ पीली पड़ जाती हैं। रक्त का रंग गहरा लाल होता है तथा वह धीरे-धीरे जमता है। त्वचा पर बहुधा परिगलित क्षेत्र पाए जाते हैं। शव-परीक्षण करने पर आँख से दिखाई देने वाले परिवर्तन कम अथवा अनुपस्थित होते हैं।

लक्षण—कैलोमल तथा घूसर पारद मरहम तत्काल ही पारा-विपाक्तता के सामान्य लक्षण उत्पन्न करते हैं, जबकि मरक्यूरिक क्लोराइड तथा मरक्यूरिक आयोडाइड पहले संक्षारण क्रिया उत्पन्न करके, बाद में सामान्य पारा-विपाक्तता उत्पन्न करते हैं। जब मरक्यू-

क्लोराइड आहार-नाल में पहुँचता है तो यह शीघ्र ही प्राणघातक जठर-आन्त्रशोथ उत्पन्न करता है। जब त्वचा अथवा गर्भाशय की श्लेष्मल झिल्ली से इसका शोषण होता है तो यह सामान्य पारा-विषाक्तता उत्पन्न करता है। पारद-विषाक्तता के सामान्य लक्षण यथा; खाने में अरुचि, तथा तापक्रम, नाड़ी-गति एवं श्वसन का बढ़ जाना है। पारा के बाह्य प्रयोग से उत्पन्न त्वचा के क्षतस्थलों में खुजली, बालों का ह्रास तथा मोटी पर्त का बनना शामिल है। ये क्षतस्थल गुदा तथा भग के चारों ओर एवं अयन पर स्थित होते हैं। स्टीवेंस के रोगी में कमर के क्षेत्र में दर्दयुक्त छाले निकल आए थे। सभी पशुओं के उग्र प्रकोपों में प्रायः श्वसन-तंत्र संबंधी लक्षण प्रकट होते हैं। रोगी पशु में खाँसने, घरघराहट सांस आने और अंत में न्यूमोनिया के स्पष्ट लक्षण मिलते हैं। स्टीवेंस[4] द्वारा वर्णित कोमल विषाक्तता से पीड़ित एक गाय के फेफड़ों से रक्तस्राव होते देखा गया तथा दूसरी की नाक से खून निकला। कभी-कभी कमजोरी, पक्षाघात, कँपकँपी तथा उन्माद के लक्षण भी पाए जाते हैं। सभी अंगों और विशेषकर नाक, फेफड़े तथा अँतड़ी की श्लेष्मल झिल्ली से रक्तस्राव होता है। मरक्यूरिक क्लोराइड खाने के बाद इसका कोर्स संक्षिप्त तथा प्राणघातक होता है। बाह्य प्रयोग के बाद सामान्य पारा-विषाक्तता का कोर्स एक से दो सप्ताह का होता है तथा रोग-ग्रसित पशु ठीक हो जाते हैं।

हार्वे[5] ने पारा के मरहम के प्रयोग से उत्पन्न विषाक्तता का वर्णन किया जिसमें कि त्वचा पर लगाने के बाद दो या तीन सप्ताह में इसके लक्षण प्रकट हुए। ऐसे रोगियों में पक्षाघात, लार गिराना, मांसल अपक्षय तथा पैरों का फैल जाना आदि लक्षण प्रमुख थे।

पारायुक्त कवकनाशी छिड़के हुए दाने को जिन सुअरियों ने खाया उनमें कमजोरी, वमन, खाने में अरुचि, अंधापन तथा पीछे हटना, लगातार चलते रहना एवं मांस पेशियों के अनैच्छिक उग्र संकुचन के साथ तन्त्रिकीय लक्षण देखे गए। रोगी का तापक्रम नार्मल रह सकता है तथा एक सप्ताह की अवधि में पक्षाघात होकर बीमार पशु की मृत्यु हो जाती है।

चिकित्सा—मरक्यूरिक क्लोराइड निगले जाने के तत्काल बाद शरीर में पहुँचे हुए पारा को अवक्षेपित करने के लिए रोगी को अण्डे की सफेदी अथवा पर्याप्त मात्रा में दूध पिलाना चाहिए। पशुओं की चिकित्सा में रोगी प्रायः इतनी देर बाद चिकित्सक के पास पहुँचता है कि उपर्युक्त इलाज मुश्किल से ही हितकर हो पाता है। त्वचा पर यदि कोई पारा युक्त औषधि लगाई गई हो तो उसे तत्काल ही धो देना चाहिए। पारायुक्त मरहम के प्रयोग से उत्पन्न विषाक्तता में लोह अथवा गंधक के सल्फेट जैसे रासायनिक पदार्थों का सेवन कराना चाहिए। ये पदार्थ पारा के साथ मिलकर अघुलनशील यौगिक बनाते हैं। निराशा तथा पक्षाघात पर काबू पाने के लिए रोगी को कपूर, काफी अथवा ऐट्रोपीन देना चाहिए। दीर्घकालिक पारद-विषाक्तता में पोटाश आयोडायड का सेवन गुणकारी बताया गया है।

मैसाचुसेट्स अस्पताल के मिट्ज[6] ने मनुष्यों में बाईक्लोराइड विषाक्तता की चिकित्सा किए गए 21 रोगियों पर प्रस्तुत अपनी विवरणों में यह लिखा कि "प्रयोगात्मक तथा लाक्षणिक आँकड़े यह निष्कर्ष निकालते हैं कि बाईक्लोराइड-विषाक्तता में औषधियों के

प्रयोग से बहुत ही कम लाभ की आशा की जा सकती है। अभी तक इस विष को उदासीन करने के लिए कोई भी विशिष्ट प्रतिकारक नहीं पाया जा सका है ······· इस विषाक्तता पर काबू पाने के लिए सोडियम थायोसल्फेट का बहुत दिनों से प्रयोग होता आया है। किन्तु, यह निश्चित रूप से सिद्ध हो चुका है कि यह औषधि इस विष में कोई भी लाभ नहीं पहुँचाती। मेल्विले और ब्रूगर ने देखा कि प्राणघातक मात्रा में बाईक्लोराइड खाए हुए कुत्तों को सोडियम थायोसल्फेट का इन्जेक्शन देकर भी बचाया न जा सका।" इस बात पर अधिक जोर दिया जाता है कि विष को रक्त-संस्थान में पहुँचने देने से पूर्व ही आहार-नाल से यान्त्रिक विधि द्वारा निकाल दिया जाए। ब्लेस्डल[7] ने उग्र पारा-विषाक्तता से पीड़ित दस मनुष्यों को बिना मृत्यु पाए ठीक होते बताया। इसमें रोगियों को काफी मात्रा में सोडियम थायोसल्फेट दिया गया था। सेनीनी[8] ने भी डेक्सट्रोज के साथ मिलाकर अंत: शिरा इन्जेक्शन द्वारा तथा बिस्मथ सबनाइट्रेट के साथ मिलाकर मुहँ द्वारा देने से सोडियम थायोसल्फेट के प्रयोग को लाभप्रद बताया।

संदर्भ

1. Boley, L.E., Morril, C.C., and Graham, R , Evidence of mercury poisoning in feeder calves, North Amer. Vet., 1941, 22, 161.
2. Taylor, E.L., Mercurial poisoning in swine, J.A.V.M.A., 1947, 111, 46.
3. McEntee, K., Mercuiral poisoning in swine, Cornell Vet., 1950, 40, 143.
4. Stevens, G.G., Mercurial poisoning in bovines, Cornell Vet., 1921, 11, 222.
5. Harvey, F.T., Mercurialism in cattle, Vet. Rec., 1932, N.S. 21, 328.
6. Mintz, E.R., Some remarks on the treatment of bichloride poisoning with a presentation of twenty-one cases, New Eng. J. of Med., 1933, 208, 1180.
7. Blaisdell, E.R., Use of the large doses of sodium thiosulphate in acute poisoning; 10 cases with no deaths, Maine, Med. J., 1932, 25, 3. Refer to Quar. Cum. Index, 1932, 11, 753.
8. Canini, E., Therapy of acute mercuric chloride poisoning by intravenous injection of sodium thiosulphate and dextrose and by peroral administration of bismuth subnitrate and carbonate; case with recover, Gazz. d. osp., 1932, 53, 515. Refer to Qur. Cum. Index, 1932, 12, 880.

सायनाइड-विषाक्तता

(Cyanide Poisoning)

(प्रूसिक अम्ल; हाइड्रोसायनिक अम्ल)

कारण—हाइड्रोसायनिक अम्ल रंगहीन, वाष्पशील द्रव है जिसमें आड़ू के फूल की भांति खुशबू आती है। यूनाइटेड स्टेट्स के मान्य औषधि—कोष के अनुसार इस अम्ल का 2 प्रतिशत घोल दवा के रूप में प्रयोग होता है। कैल्शियम, सोडियम तथा पोटाशियम जैसे लवणों के रूप में सायनाइड का व्यापारिक रूप से भी प्रयोग होता है। कैल्शियम सायनाइड (सायनोगैस) का कीटनाशक के रूप में तथा पशु परजीवियों, विशेषकर

कठफोड़ों (woodchucks) को नष्ट करने के लिए प्रयोग किया जाता है। बहुत से उगाए हुए अथवा जंगली पौधों में भी हाइड्रोसायनिक अम्ल उत्पन्न करने की क्षमता होती है। इनमें यह अम्ल विभिन्न ग्लूकोसाइडों से बनता है। ज्वार, पशुओं में सायनाइड-विषाक्तता का अक्सर कारण बनता है। इसके बारे में ऐसा विश्वास किया जाता है कि इसमें उपस्थित ग्लूकोसाइड एक एन्जाइम पायस द्वारा हायड्रोसायनिक अम्ल, डेक्सट्रोज तथा बेंज-ऐल्डीहाइड में टूट जाता है। कन[1] ने निम्नलिखित पौधों को हाइड्रोसायनिक अम्ल उत्पन्न करने वाला बताया है :

चोकचरी (जंगली), प्रूनस विर्जीनिआना

ब्लैकचरी (जंगली), प्रूनस सेरोटाइना

ज्वार, सोरघम वल्गैरी

जान्सन घास, सोरघम हैलीपेन्जी

फ्लैक्स, लाइनम यूसीटैटिसिमम

तीर घास, ट्रिगलोचिन मैरिटिमा तथा ट्रि० पैलुस्ट्रिस

मखमली घास, होल्कस लैनेटस

क्रिसमसबेरी, फोटीनिआ फैलिसीफोलिया

सूडान घास, होल्कस सोरघम, सूडैनेसिस

ज्वार के पौधों में हाइड्रोसायनिक अम्ल की उपस्थिति सन् 1902 में विनल[2] ने खोज की। सामान्यतया ऐसा कहा जाता है कि सूखा, पाला, कुचलने, कुचलने, मुर्झाने हिलने-डुलने अथवा अन्य कारणों के द्वारा पौधों की वृद्धि व विकास रुक जाने या कम हो जाने पर उनमें हाइड्रोसायनिक अम्ल उत्पन्न हो जाता है। युवा पौधों की अपेक्षाकृत परिपक्व पौधों में इसकी मात्रा कम होती है। अधिक अच्छी मिट्टी में उगे हुए पौधों में खराब मिट्टी में उगे हुए पेड़-पौधों की अपेक्षाकृत यह अम्ल अधिक होता है। उर्वरक के रूप में नाइट्रेट का प्रयोग होने पर पौधों में इसकी प्रतिशत मात्रा अधिक बढ़ जाती है। भलीभाँति सुखाई गई घास में या तो बहुत ही कम अम्ल होता है, अथवा होता ही नहीं। लूसर्न की सूखी घास, ग्लूकोज, दाना, तथा स्टार्चयुक्त खाद्य-पदार्थों की उपस्थिति में आमाशय में इसका विकास कम हो जाता है। चरागाहों पर पशुओं में विषाक्तता उत्पन्न करने वाले पौधों के विषय पर लिखते हुए मार्श[3] ने यह बताया कि "ऐसा देखा गया है तथा आमतौर पर लोगों का यह विचार है कि अशुद्धता के कारण मुर्झाई हुई चरी की पत्तियाँ विशेषकर खतरनाक होती हैं।"

पशुओं में यह विषाक्तता सायनाइडयुक्त पौधे अथवा धोखे से या जान बूझकर सायनाइड यौगिक, विशेषकर कैल्शियम सायनाइड, खाने से उत्पन्न हुआ करती है। चूँकि यह यौगिक पशुओं के शरीर में उपस्थित कठफोड़ों (woodchucks) तथा अन्य कीट मारने के लिए आमतौर पर प्रयोग होता है तथा फार्म पर आमतौर पर पाए जाने वाले विषों की सूची में इसका नाम शामिल है, अतः कुछ लोग इसे जान बूझकर पशुओं को

मारने के लिए प्रयोग करते बताए गए हैं। मैंने स्वयं ही एक वर्ष के अन्दर इस कारण से लगभग 15 गो-पशुओं की मृत्यु होते देखी।

सायनाइडयुक्त घास तथा ज्वार का यदि भलीभाँति विकास नहीं हो पाता तो वे अपने पहले या दूसरे वृद्धिकाल में खेत में खड़ी हरी अवस्था में ही विषैली हो जाती है। चरागाह पर चरने से होने वाले ह्रास यूनाइटेड स्टेट्स में पूर्वी तथा दक्षिणी भागों की अपेक्षा पश्चिम में अधिक होते हैं। कैलीफोर्निया में इस रोग की चर्चा करते हुए हेरिंग[4] ने यह बताया कि जान्सन घास खाने से गो-पशु तथा भेड़ें अधिक मरती हैं किन्तु, ज्वार-विषाक्तता की शिकायत यहाँ कम मिलती है तथा काफी नमी के साथ उगाए जाने पर यह चारा खतरनाक सिद्ध नही होता। पश्चिमी क्षेत्र में चरी की पत्ती खाने से भेड़ों में उत्पन्न विषाक्तता का मार्श[3] ने वर्णन किया है यद्यपि कि बहुत से प्रयोगों से कोई भी परिणाम न निकला। भेड़ों में यह विषाक्तता उन स्थानों पर अधिक होती है जहाँ जगली चरी के अतिरिक्त और कुछ खाने को नहीं मिलता। 'पश्चिम की चोकचेरी की पत्तियाँ (Prunus demissa) गरमी के प्रारम्भ से पतझड़ तक अत्यधिक विषैली रहती है" (नेवादा)।[5] पीटर्स[6] और उनके साथियों ने मध्य-पश्चिम में ज्वार तथा शुष्क क्षेत्र में उगी मक्का (Kaffir corn) द्वारा पशुओं में उत्पन्न होने वाली विषाक्तता की चर्चा की है। यहाँ की शुष्क जलवायु पौधों में विष उत्पन्न करने के अनुकूल है।

ऐवरी[6] के अनुसार 0.4 ग्राम प्रूसिक एसिड पशु को बीमार बनाने के लिए पर्याप्त होता है। इससे यह स्पष्ट है कि प्रौढ़ पशुओं में इसकी प्राणघातक मात्रा 0.5 से 0.6 ग्राम के लगभग है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि 18.9 पौण्ड सूडान घास अथवा 7.6 पौण्ड ज्वार खाने से पशु के शरीर में उपर्युक्त मात्रा पहुँचकर उसकी मृत्यु का कारण बनती है।

पिछले कुछ वर्षों में, यूरुप में अलसी की खली तथा अलसी का चूर्ण खाने से पशुओं में सायनाइड विषाक्तता की अनेकों रिपोर्टें मिली हैं। अलसी-चूर्ण बनाने की विधि में काफी गरमी उत्पन्न होती है जिससे कि सायनामड उत्पादक गुण नष्ट हो जाते हैं। बर[7] ने दो यूथों में सायनाइड विषाक्तता का संदेह किया। दो बछियाँ एकाएक मर गईं तथा तीसरी बहुत ही अधिक बीमार थी। पहले ऐंथ्राक्स का सदेह किया गया। चारे का विश्लेषण करने पर उसमें काफी मात्रा में सायनाइड मिला। शव-परीक्षण करने पर जठर-आंत्रशोथ तथा फेफड़ो की अत्यधिक रक्त-वर्णता के साथ न्युमोनिया के क्षतस्थल मिले। कैम्पबेल[8] ने अलसी का चूर्ण खिलाए गए तीन घोड़ों में ऐसे ही प्रकोपों का वर्णन किया। शरीर में पसीना आना, श्वास-कष्ट, मुहँ से लार बहना, अँतड़ी का पक्षाघात तथा तेज नाड़ी आदि इसके लक्षण थे। इनमें से एक अश्व की 15 घंटे बाद तथा दूसरे की तीन दिन बाद मृत्यु हो गई। शव-परीक्षण करने पर फेफड़ों में गहरा लाल रक्त भरा हुआ मिला तथा जो अश्व तीन दिन तक जीवित रहा उसको उग्र आन्त्रार्ति हुई। क्लेन्टिन[9] के अनुसार सायनाइड को अलसी के बीजों में प्रदर्शित किया जा सकता है तथा अलसी की खली का रासायनिक परीक्षण करके इसका पता लगाया जा सकता है। मायल ऐंठन, श्वास कष्ट, तन्द्रा, अवसन्नता तथा एकाएक मृत्यु हो जाना आदि इसके अनेक लक्षण हैं। प्रायः

जठर-आन्त्रशोथ मौजूद रहती है। शव-परीक्षण करने पर एबोमेसम में उग्र सूजन, फेफड़ों का अत्यधिक रक्तवर्ण होना तथा न्युमोनिया जैसे क्षतस्थल मिलते हैं। जैसा कि विभिन्न लेखकों द्वारा लिखा गया है लक्षणों तथा क्षतस्थलों के वर्णन में काफी समानता मिलती है। क्वेन्टिन[9] ने सोडा को इसका प्रतिकारक बताया। नेब्रास्का की पत्रिका न० 77 में यह वर्णन मिलता है कि एक कृषक ने सोडा तथा सिरका देकर सायनाइड विषाक्तता से पीड़ित प्रत्येक रोगी को बचा लिया। उडाल ने बछड़ों को प्रयोगात्मक रूप से "सायनो गैस" दिया। इसमें 40 से 50 प्रतिशत कैल्शियम सायनाइड होता है। इसके परिणाम निम्न प्रकार थे

बछड़ा न० 1 यह लगभग 4 दिन की आयु का था। 11 नवम्बर को इसे 0.1 ग्राम की मात्रा में कैप्सूल में रखकर मुहँ द्वारा यह लवण दिया गया किन्तु इसका उस पर कोई प्रभाव न हुआ। 12 नवम्बर को इसी ढंग से 0.2 ग्राम लवण उसे खिलाया गया। इससे उसके शरीर में सुस्ती तथा खाने में अरुचि उत्पन्न हुई। 13 नवम्बर को कैप्सूल में रखकर 0.3 ग्राम लवण खिलाया गया। इससे अवसन्नता, कंपकपाना, श्वास कष्ट तथा मांस पेशियों का अनैच्छिक उग्र संकुचन आदि लक्षण उत्पन्न हुए। 18 नवम्बर को यह बछड़ा पहली वाली मात्रा से ही पीड़ित था। इसको 0.4 ग्राम की मात्रा में कैप्सूल में रखकर मुहँ द्वारा यह लवण देने पर कोई भी परिणाम नहीं निकला। 29 नवम्बर को शव-परीक्षण करने पर दोनों फेफड़ों में छोटे-छोटे सुविकसित फोड़े मिले।

बछड़ा नं० 2 इस बछड़े को 18 नवम्बर को एक कैप्सूल में रखकर मुहँ द्वारा 0.2 ग्राम सायनोगैस खिलाया गया, जिसके तत्काल बाद भीषण लक्षणों का विकास हुआ। 19 नवम्बर को इसी ढंग से 0.3 ग्राम देने पर बीस मिनट के अन्दर बछड़े की मृत्यु हो गई। इस बछड़े की आयु लगभग 4 दिन की थी। एक तीसरे बछड़े को 0.5 ग्राम सायनोगैस कैप्सूल में रखकर खिलाया गया, किन्तु इसमें विषाक्तता का कोई भी प्रमाण न मिला। जब 0.5 ग्राम सायनोगैस का एक पिंट दूध में मिलाकर 4 दिन की आयु वाले बछड़े को 2 औंस की पिचकारी द्वारा दिया गया तो दो औंस पीने के बाद वह मरणासन्न हो गया, किन्तु ठीक होने की अवस्था में रहा।

सायनाइड की प्रतिक्रिया—सायनाइड प्रोटोप्लाज्म पर अपनी प्रतिक्रिया करके सभी प्रकार के जीवित पदार्थों की क्रिया भंग कर देता है। शारीरिक तन्तुओं एवं रक्त के बीच गैसों का समुचित आदान प्रदान न हो पाने के कारण पशु का दम घुटने लगता है। यदि सायनाइड की प्रतिक्रिया हटा ली जाती है तो तन्तुओं की क्रिया पुन. कार्यान्वित हो जाती हैं। चूंकि सायनाइड-विषाक्तता में शारीरिक तन्तु रक्त से आक्सीजन का शोषण नहीं कर पाते अत. शिराओं में उपस्थित रक्त, धमनी के रक्त की भाँति चमकीला लाल होता है। रक्त में, सायनाइड बहुत ही शीघ्र अविषैले प्रकार में बदल जाते हैं जो मूत्र तथा लार के साथ शरीर के बाहर निकलते हैं। इस परिवर्तन के कारण शारीरिक तन्तुओं में सायनाइड बहुत कठिनता से मिलता है। सायनाइड लवणों के गाढ़े घोल श्लेष्मल झिल्ली को काट देते हैं। इस प्रकार सायनाइड यौगिकों से विष खाया हुआ पशु सायनाइड गैस के तात्कालिक प्रभाव से अच्छा हो सकता है किन्तु इसकी क्षोभक प्रतिक्रिया अथवा अन्य अपरोक्ष परिणामों

का शिकार हो सकता है। पहले बताए गए प्रयोगात्मक पशुओं तथा रसायनज्ञ द्वारा निदान किए गए सायनाइड विषाक्तता के अन्य रोगियों में एबोमेसम का कट जाना देखा गया अथवा कभी-कभी उनके फेफड़ों में फोड़े पाए गए। यह स्पष्ट है कि सायनाइड यौगिकों की प्रतिक्रिया परिवर्तनशील होती है।

विकृत शरीर रचना—सायनाइड युक्त पौधे खाकर उत्पन्न सायनाइड-विषाक्तता से मरे हुए पशुओं के शव-परीक्षण के विवरण में शव की असामान्यता की चर्चा नहीं मिलती। वायु के संपर्क में आते ही रक्त का रंग चमकीला लाल दिखाई देना शव-परीक्षण करने पर पाया जाने वाला प्रमुख परिवर्तन है। सायनाइड-विषाक्तता से पीड़ित हमारे सभी रोगियों में यह लक्षण देखा गया। कई घंटे तक वायु के संपर्क में रहने के बाद काली रबड़ अथवा अन्य काली सतह पर यह रंग और भी अधिक स्पष्ट दिखाई देता है। सायनाइड विषाक्तता से मरे हुए पशुओं की लाश चीरने पर उसमें से प्रूसिक अम्ल की स्पष्ट गंध निकलती कही जाती है, किन्तु इसका हम लोग कभी भी पता न लगा सके।

कैल्शियम सायनाइड की क्षोभक प्रतिक्रिया एबोमेसम में छेद कर सकती है। 12 से 48 घंटे बीमार रहने के बाद मरने वाली दो गायों तथा एक बछड़े में रसायनज्ञ ने सायनाइड-विषाक्तता का निदान किया। इनमें से प्रत्येक रोगी में लेखक ने एबोमेसम का फटना तथा विसृत उदर-झिल्ली शोथ पाई। एक बछड़ा जिसे 0.2 ग्राम कैल्शियम सायनाइड (सायनो-गैस) एक कैप्सूल में रखकर दिया गया था उसके ग्रास-नलीय गर्त की श्लेष्मल झिल्ली में विशिष्ट जलन भी पाई गई। इनमें से प्रत्यक रोगी में एबोमेसम और ड्यूओडीनम को प्रभावित करने वाली भीषण जठर-आंत्रशोथ मौजूद थी।

प्रत्यक्ष रूप से कैल्शियम सायनाइड फेफड़ों पर क्रिया कर सकता है। ऐसा सबसे पहले हमारे चल-चिकित्सालय में रसायनज्ञ की एक रिपोर्ट के द्वारा पता चला जिसमें सायनाइड-विषाक्तता का प्रमाण उस गाय के शारीरिक तन्तुओं से प्राप्त किया गया जिसकी पाँच दिन बाद न्युमोनिया से मृत्यु हो गई। उसके दोनों ही फेफड़ों में अनेक फोड़े थे, किन्तु शव-परीक्षण के समय हमने किसी भी प्रकार की विषाक्तता का संदेह नहीं किया। लगभग एक वर्ष बाद 3 माह का एक बछड़ा 48 घंटे तक सायनाइड-विषाक्तता के लक्षण प्रदर्शित कर मर गया। शव-परीक्षण करने पर उसके दोनों फेफड़े कड़े दिखाई दिए तथा हिस्टालो-जिकल परीक्षण करने पर ब्राकोन्युमोनिया मिली। लेखक के प्रयोगात्मक बछड़ा नं० 1 में भी अनेक फुफ्फुस फोड़ों का विकास हुआ। इससे यह बिल्कुल स्पष्ट है कि सायनाइड विषाक्तता से फुफ्फुस क्षतस्थल उत्पन्न हो सकते हैं तथा शव-परीक्षण पर प्राप्त होने वाले परिवर्तन भिन्न होते हैं। दो रोगियों में आँख की पुतली में धुंधलापन मिला। यदि लक्षण प्रकट होने के कुछ ही मिनट बाद रोगी की मृत्यु हो जाती है तो केवल रक्त के चमकीले लाल रंग के अतिरिक्त उसके शारीरिक तन्तुओं में कोई अन्य विशिष्ट परिवर्तन नहीं दिखाई देते।

लक्षण—चरागाह या खेत पर पहुँचने के बाद जब सायनाइड युक्त पौधे को कोई पशु खाता है तो दस से पन्द्रह मिनट में लक्षण प्रकट हो जाते हैं तथा कुछ ही मिनटों में

पशु को मृत्यु हो सकती है। नेब्रास्का की बुलेटिन न० 77 में प्रस्तुत एक रिपोर्ट में यह बताया गया है कि कम वृद्धि प्राप्त ज्वार को खाकर एक घंटे के अन्दर 32 पशुओं के एक यूथ में से इक्कीस की मृत्यु हो गई। ऐसे पशुओं में सुस्ती, आंखों से आंसू बहना, मांस-पेशियों की ऐंठन, पैरों का लड़खड़ाना तथा खड़ा न हो पाना आदि लक्षण देखने को मिलते हैं। सांस लेने में कष्ट होता है। रोग के आक्रमण के समय पशु को प्राय. हल्के दस्त आते है। इसे महक द्वारा भी पहचाना जाता है।

जब कैल्शियम सायनाइड की विषैली मात्रा किसी पशु को दी जाती है तो सायनाइड गैस की प्रतिक्रिया के कारण उसमें तत्काल विषाक्तता उत्पन्न हो जाती है। होठों से झाग गिरने तथा मुंह खोलकर सांस लेने के साथ अत्यधिक श्वास कष्ट होना इसका प्रधान लक्षण है। अधिकांश पशु जमीन पर गिरकर उठने में असमर्थ हो जाते है। बार-बार अत्यधिक मांसल ऐंठन तथा मांस पेशियों का अनैच्छिक उग्र संकुचन होता है। भीषण लक्षण प्रकट होने के कुछ मिनट बाद पशु निराशाप्रद आवाज करता है। कराहने जैसी आवाज अधिकांश पशुओं में मृत्यु के समय होती है तथा यह मनुष्यों एवं सभी पशुओं में सायनाइड विषाक्तता की विशेषता कही जाती है। जब पशु जमीन पर पड़ा रहकर कठिनाई से सांस लेता है तो वह अगले पैर फैलाकर अपने उरोस्थि के सहारे बैठता है। कभी-कभी दुग्ध-ज्वर की भांति पशु अपने सिर को एक ओर मोड़कर तथा आंखें बंद करके बैठता है। किन्तु, कुछ ही मिनटों में दम घुटने जैसे लक्षणों के साथ विनाशता के सक्रिय चिह्न प्रकट हो जाते हैं। ऐसे समय में विष खाया पशु अपने सिर तथा गर्दन को आगे की ओर फैलाकर खड़ा होता है। वह अपने मुंह को खोलता तथा बन्द करता अथवा चबाने जैसी गति करता या दांत पीसता है। कुछ रोगियों में अक्षिदोलन भी होता देखा गया है। एक रोग ग्रसित पशु कंठ अवरोध से पीड़ित समझा गया तथा उसके फेफड़ों के ऊपर स्टेथॉस्कोप रखने से बुद्बुदाहट का शब्द सुनाई दिया। रोग के आक्रमण के समय अंतड़ी में द्रव की गति की भी चर्चा की गई, किन्तु ऐसा हमारे रोगियों में केवल एक ही बार देखा गया। यदि पशु गैस की तात्कालिक क्रिया से बच जाता है तो बीमारी का उग्र प्रकोप कम हो जाता है तथा कुछ ही घंटों में वह बिल्कुल ठीक हो सकता है। कभी-कभी ऐसा भी कहा जाता है कि यदि पशु एक घंटे तक जीवित रह गया तो वह अवश्य ठीक हो जाता है, किन्तु यह कथन सायनाइड यौगिकों के खाए जाने से उत्पन्न विषाक्तता पर लागू नहीं होता। प्रारम्भ में दम घुटने के बाद लक्षणों में काफी विभिन्नता हो सकती है। एक रोग-ग्रसित बछड़ा सीसा-विषाक्तता की भांति अंधा हो गया तथा चक्कर काटने लगा और यही उसका लाक्षणिक निदान था। लगभग अड़तालीस घंटे बाद रोगी की मृत्यु हो गई। 48 घंटे के बाद एक दूसरा बछड़ा श्वास कष्ट से मर गया। एबोमेसम में छिद्र होने वाले रोगियों में इसका कार्य 12 से 24 घंटे रहा जिसमें भयंकर उग्र उदर-झिल्ली शोथ के लक्षण मौजूद थे। आहार-नाल का पक्षाघात होने से पशु गोबर करना बन्द कर देता है। न्यूमोनिया का विकास होने पर अड़तालीस घंटे से लेकर कई दिनों में रोगी की मृत्यु हो सकती है। नेत्र में धुंधलापन आ जाता है तथा आंख की पुतली का प्रसार हो जाता है। बीमारी का

कोर्स संक्षिप्त तथा मृत्युदर अधिक होती है। हमारे अवलोकन में केवल दो रोगी अड़तालीस घंटे से अधिक जीवित रहे।

चिकित्सा—*सायनाइड विषाक्तता की प्रयोगात्मक चिकित्सा* बन्ये[10] द्वारा बताई गई है जिन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि पहले सोडियम नाइट्राइट (10 घ० सें० 20 प्रतिशत घोल) देकर तुरंत ही सोडियम थायोसल्फेट (30 घ० सें० 20 प्रतिशत घोल) का अंतः शिरा इन्जेक्शन देना इसका सर्वोत्तम इलाज है। गो-पशुओं में यह मात्रा सायनाइड की दो प्राणघातक मात्राओं के प्रति लाभकारी सिद्ध हुई। भेड़ों में ऐसे ही परिणाम पहले 10 घ० सें० 10 प्रतिशत सोडियम नाइट्राइट का घोल देकर, बाद में 20 घ० सें० 10 प्रतिशत सोडियम थायोसल्फेट घोल देकर प्राप्त किए गए। स्टैंटन[11] ने नेब्रास्का में गो-पशुओं में ज्वार-विषाक्तता के कई रोगियों का इलाज किया और यह बताया कि यदि श्वास रुकने से पूर्व किसी भी समय 40 से 80 घ० सें० 20 प्रतिशत सोडियम थायोसल्फेट घोल का अंतः शिरा इन्जेक्शन दे दिया जाए तो इस विषाक्तता से पीड़ित प्रत्येक पशु ठीक हो सकता है।

संदर्भ

1. Couch, J.F., Poisoning of livestock by plants that produce hydrocyanic acid, Leaflet No. 88, U.S. Dept. Agr., B.A.I., 1932.
2. Vinall. H.N., A study of the literature concerning poisoning of cattle by the prussic acid in sorghum, sudan grass and Johnson grass, J. Am. Soc. of Agronomy 1921, 13, 267.
3. Marsh, C.D., Stock poisoning plants of the range, Dept. Bull. No. 1245, U.S. Dept. of Agr., 1929.
4. Haring, C.M., Precaution against poisoning by Johnson grass and other sorghums, Univ. of Calif. Agr. Exp. Sta. Cir. (Unnumbered emergency circular) berkeley, 1917.
5. Nevada Station Report, 1924.
6. Peters, A.T., Slade, H.B., and Avery, S., Poisoning of cattle by common sorghum and kaffir corn. Bul. No. 77, Neb. Agr. Exp. Sta., 1903.
7. Barr, A. Some obscure cases of poisoning of cattle (suspected hydrocyanic acid in linseed cake), Vet. J., 1926, 82, 264.
8. Campbell, W.A., Ground linseed poisoning, Vet. Rec., 1930, N. S. 10, 1172.
9. Quentin, M., Sur la toxicite des tourteaux de lin generateurs d'acide cyanhydrique, Rev. d. Zootechine 1928, 7, No. 6, p. 383; No. 7, p. 33; No. 8, p. 91. Refer to Jahresbericht. 1928, 48, 387.
10. Bunyea, H., Treatments for cyanide poisoning of sheep and cattle, J.A.-V.M.A., 1935, 86, 656.
11. Stanton, J.E., Sodium hyposulphite in cane (hydrocyanic acid) poisoning, a prompt specific used intravenously, Vet, Med., 1934, 29, 437.

लवण-विपाक्तता

(Salt Poisoning)

(सोडियम क्लोराइड)

न्यूयार्क स्टेट पशु-चिकित्सा विज्ञान महाविद्यालय में किए गए हाल के अन्वेषणों से यह निश्चय हो गया है कि नमक-विपाक्तता आसानी से पहचानी जाने वाली एक रोगजनक एवं लाक्षणिक अवस्था है। इसके लक्षण तथा क्षतस्थल दोनों ही तन्त्रिका तंत्र से संबंधित होते हैं।*

कारण—प्रोफेसर स्मिथ द्वारा सूकरो पर किए गए अवलोकनो में लवण-विपाक्तता के 7 प्राकृतिक प्रकोप, 266 पशु तथा 64 मृत्युयें शामिल हैं। इनमें या तो यह सोचकर कि "यह सूकरों के लिए अच्छा है" तथा उनका शरीर भार बढाता है, उन्हें अधिक नमक खिलाया गया, अथवा यह धोखे से पानी तथा चारे में मिल गया, या सूकरो को जूठन तथा कूड़ा-करकट जैसा अज्ञात रासायनिक संगठन वाला आहार दिया गया। इन पशुओं को अलग से ताजा पानी भी पीने को न दिया गया।

इस विपाक्तता के अध्ययनकाल में निम्नलिखित तथ्य स्थिर किए गए:

(अ) यदि पानी कम पिया जाता है तो आहार में 2 प्रतिशत नमक होने पर भी सूकरो में नमक-विपाक्तता उत्पन्न हो सकती है।

(ब) यदि इच्छानुसार ताजा जल पीने को मिले तो 180 पौण्ड शरीर भार वाला एक सुअर बिना किसी कष्ट के 250 ग्राम तक खाने वाला नमक खा सकता है।

(स) चार माह की आयु के सूकरों को आमाशय-नलिका द्वारा सोडियम क्लोराइड का 20 प्रतिशत जलीय घोल देने पर यह सिद्ध हुआ कि 1 ग्राम प्रति पौण्ड शरीर भार के ऊपर इसकी कोई भी मात्रा इनके लिए प्राणघातक होती है। 0.8 से 1 ग्राम प्रति पौण्ड शरीर भार की मात्रा में सूकरों को नमक खिलाने पर उनमें मिरगी रोग जैसे दौड़े पडते देखे जाते हैं।

(द) खाद्य-पदार्थ में मौजूद 3.2 प्रतिशत सोडियम प्रोपायोनेट, सोडियम क्लोराइड की भांति ही रोगजनक नैदानिक लक्षण उत्पन्न करता है। ऐसे लक्षण उत्पन्न करने के लिए सोडियम क्लोराइड विपाक्तता की भांति इसमें भी सूकरो को पानी नहीं पिलाना चाहिए। 2.7 प्रतिशत पोटासियम क्लोराइड तथा कैल्सियम क्लोराइडयुक्त खाद्य-पदार्थ खिलाने पर सूकरों में नमक-विपाक्तता के कोई भी लक्षण उत्पन्न नही हुए। ये तथ्य यह प्रदर्शित करते हैं कि क्लोराइड की अपेक्षा सोडियम आयन इस बीमारी के लिए अधिक उत्तरदायी है।

---

* यह वर्णन अधिकतर डी० एल० टी० स्मिथ, एसोसिएट प्रोफेसर, पशु-चिकित्सा विज्ञान महाविद्यालय, ओटरियो, के अवलोकनों पर आधारित है, जिन्होंने कार्नल विश्वविद्यालय में सूकरो पर नमक-विपाक्तता के कुछ प्रयोग किए।

गो-पशुओं में अधिक नमक खाने के प्रभाव का एरिजोना में पिस्टर आदि[1] ने वर्णन किया "जहाँ चरागाह पर चरने वाले पशुओ को 30 प्रतिशत नमक तथा 70 प्रतिशत खाद्य-पूर्ति का मिश्रण खिलाया जाता है। ये पशु चरागाह में चरने के दिनों में 2 से 3 पौण्ड मिश्रण नित्य खा लेते हैं·· प्रत्येक वर्ष नमक-विषाक्तता के कारण अनेक गो-पशुओं की मृत्यु हो जाती है तथा अधिकाश ऐसे रोगी उन मैदानो पर देखे जाते हैं जहाँ पानी का अभाव रहता है···यदि पर्याप्त मात्रा में पानी उपलब्ध है तो जुगाली करने वाले पशु अधिक लवण सहन कर सकते हैं।"

विकृत शरीर रचना—इस रोग के परिणाम परिवर्तनशील तथा अविशिष्ट होते हैं। आहार-नाल थोड़ी सी लाल हो सकती है। कभी-कभी पशु को खूब दस्त आते हैं। जिन सूकरों को मिरगी जैसे दौड़े पड़ते ह उनके पेट में घाव देखे जाते हैं। तानिका मस्तिष्क शोथ (meningo-encephalitis) इसके हिस्टो-पैथालोजिकल परिवर्तन हैं जिन्हें इयोसीनोफिल अंत: सरण, परिगलन, मस्तिष्कार्ति तथा केशिका प्रचुरोद्भवन (capillary proliferation) द्वारा पहचाना जाता है। सेरिब्रल कॉर्टेक्स के ग्रे-मैटर में क्षतस्थल अधिक स्पष्ट होते हैं। रोग की बाद वाली अवस्थाओं में गोल कोशा इसमें पाए जाने वाले प्रमुख शोथ युक्त तत्व हो सकते हैं।

लक्षण—खुजली, अपच, निराशा, अँधापन, तथा अड़ोस-पड़ोस की वस्तुओं का ज्ञान न होना, सूकरों में इस बीमारी के प्रारम्भिक लक्षण हैं। रोग की अति उग्र अवस्था में अवसन्नता तथा बेहोशी के लक्षण उत्पन्न होकर चौबीस घटे में पशु की मृत्यु हो जाती है। कुछ कम रोग-ग्रसित सूकरों में चक्कर काटने के साथ अन्धापन, थूथन की अनैच्छिक ऐंठन तथा ग्रीवा की मास-पेशियो में एक-एक कर ऐंठन होना आदि लक्षण देखने को मिलते हैं। रोगी पशु अपने सिर अथवा थूथन को दीवाल से दबाकर घटों खड़ा रहता है। मिरगी की भाँति मास-पेशियों का अनैच्छिक उग्र सकुचन होना इसका प्रमुख लक्षण है। थूथन का झटके के साथ खिचाव होना; गर्दन, धड, अगले पैरों तथा अत में पिछले पैरों की मास पेशियो की खिचावपूर्ण ऐंठन इन विस्फोटो के पूर्वसूचक लक्षण हैं। सुअर तेजी से पीछे की ओर मुड़कर कुत्ते की भाँति बैठता है अथवा पीछे को उलट सकता है। ऐसा दौरा एक मिनट तक रहता है तथा कुछ रोगियों में अत्यधिक लार गिरना, पूर्ण थकान तथा मृत्यु के साथ समाप्त होता है। पशु खाना-पीना छोड़ देता है। कई प्रयोगात्मक रोगियों में ऐसा देखा गया कि ये दौरे प्रत्येक सात मिनट के अवकाश पर पड़ते हैं। रोग-ग्रसित सुअर या तो इन दौरो में ही दम घुटने से जाते हैं अथवा एकाएक दौरे बद होकर वे बिल्कुल ही ठीक हो जाते हैं।

चिकित्सा—बाउटी[2] द्वारा दिए गए आकड़े यह प्रदर्शित करते हैं कि नमक-विषाक्तता से पीड़ित पशु के रक्त में कैल्शियम की मात्रा कम हो जाती है, अतः पशु को कैल्शियम देना इसका विशिष्ट इलाज है। हम इन दो बातों में से किसी को भी सही सिद्ध न कर सके। सदूषित चारे को अलग हटा देना चाहिए तथा पहले थोड़ा-थोड़ा करके रोगी को ताजा पानी पिलाना चाहिए। जहाँ तक हो सके पशु को नाल से दवा नहीं पिलानी चाहिए क्योंकि अर्धचेतन अवस्था में पशु को दमयन-न्यूमोनिया होने का अधिक भय रहता

। हमने यह देखा कि रोगियों को पर्याप्त स्थान तथा समुचित बिछावन देकर चोटों से बचाए रखने पर अधिकांश पशु ठीक हो जाते हैं।

बचाव—सूकरों को खुराक में नमक की मात्रा पर पूर्ण नियंत्रण रखना चाहिए जिससे यह स्वीकृत मात्रा से अधिक न होने पावे। सूकरों को पीने के लिए हर समय ताजा जल उपलब्ध होना चाहिए। ऐसा विशेषकर तब आवश्यक होता है जब पशुओं को जूठन तथा कूड़ा-करकट जैसे अज्ञात मिश्रण वाले पदार्थ खाने को दिए जाते हैं।

संदर्भ

1 Pistor, W J , Nesbitt, J C , and Cardon, B P , The influence of high salt intake on the physiology of ruminants Proceedings Book, A V M A , 1950, p 154

2 Wauttie M., Contribution a le'tude de l'Intoxication par les sels de sodium les saumures, Annales de Med Vet , 1939, 84, 349

कॉपर सल्फेट-विषाक्तता

(Copper Sulphate Poisoning)

(तूतिया, नीला थोथा)

कारण—ताम्र लवण से विषाक्तता अपेक्षाकृत बहुत ही कम होती है किन्तु, इस धातु से होने वाली विषाक्तता कॉपर सल्फेट से सबसे अधिक होती है। तूतिया का घोल छिड़के हुए दाने तथा पौधों को खाने से भी पशुओं में विषाक्तता होती देखी गई है। मुझे तीन ऐसे उदाहरणों का ज्ञान है जिनमें आमाशय कीट रोग से पीड़ित भेड़ों को आमाशय-नलिका द्वारा कॉपर सल्फेट का गाढ़ा घोल पिलाने पर विषाक्तता उत्पन्न हुई। इसके लिए प्राय 1 प्रतिशत घोल प्रयोग होता है तथा अधिक प्रतिशत वाला घोल विनाशकारी हो सकता है। श्लेष्मल झिल्लियों को काटकर कॉपर सल्फेट घोल भीषण तथा प्राणघातक प्रवाहिका रोग उत्पन्न करता है। बार्डिआक्स मिश्रण (Bordeaux mixure) छिड़के हुए बगीचों में चरने वाली भेड़ों में उत्पन्न कॉपर सल्फेट-विषाक्तता का मथ[3] ने वर्णन किया है। दो भेड़ों से प्राप्त यकृत के नमूनों में शुष्क भार के आधार पर 1,078 तथा 1,340 भाग प्रति दसलक्ष कॉपर सल्फेट मिला। अंतिम बार मिश्रण छिड़कने के तीन माह बाद बरसीम घास के लिए गए नमूने में इसकी मात्रा 42 भाग प्रति दसलक्ष थी जिसमें से अधिकांश भाग इन पौधों द्वारा जमीन से शोषित किया गया था। आस्ट्रेलिया[4] से ऐसा रिपोर्ट किया गया है कि 12.8 भाग प्रति दसलक्ष कॉपर युक्त भूमिगत घास का चरागाह भेड़ों के लिए विषैला होता है। नार्मल यकृत में कम से कम 16 भाग प्रति दसलक्ष कॉपर होता है तथा 500 भाग प्रति दसलक्ष[5] से अधिक मात्रा कभी कभी ही देखने को मिलती है। चूँकि कॉपर खाने के बाद पाँच माह तक पशुओं का ह्रास होता रहता है अत विषाक्तता के स्रोत का पता लगाना कठिन अथवा असंभव सा हो जाता है।[1]

विकृत शरीर रचना—जैसा कि भेड़ों में देखा गया है एबोमेसम (चतुर्थ आमाशय) तथा छोटी अँतड़ी में अत्यधिक सूजन आ जाती है। लैंडर[2] ने चार बछेड़ों में पाई जाने वाली अवस्था का वर्णन किया। आमाशय तथा अँतड़ी में रक्तस्राव के अतिरिक्त, यकृत सूजा हुआ, बादामीपन लिए हुए पीला तथा आसानी से टूटने वाला था। प्लीहा बढ़ गई थी तथा गुर्दे रक्तवर्ण थे। गुर्दों में सूजन आ सकती है और उनकी नलिकाओं में रक्त के छीछड़े भरे हो सकते हैं।

लक्षण—कॉपर सल्फेट का गाढ़ा घोल (10 प्रतिशत) पीने के थोड़ी देर बाद भेंड़ में एकाएक कै, दस्त, तथा पेट में दर्द होते देखा जाता है। कुछ समय बाद वह अवसन्न सी होकर बेहोश हो जाती है। नाड़ी-गति तथा तापक्रम अधिक होता है और श्लेष्मल झिल्लियाँ रक्तवर्ण दिखाई देती हैं। रोगी पशु चारा खाना छोड़ देता है और उसे प्यास बहुत लगती है। यदि पशु जीवित रहा तो उसे पीलिया हो सकती है। घोड़ों में कॉपर सल्फेट विषाक्तता से डायाफ्राम में ऐंठन तथा श्वास-कष्ट उत्पन्न होता है।

बाउटन तथा हार्डी[2] ने पश्चिमी टेक्सास में भेड़ों में होने वाली दीर्घकालिक कॉपर-विषाक्तता का वर्णन किया है। यह उन व्यापारिक खनिज-मिश्रणों के लगातार खिलाने से उत्पन्न हुई जिनमें कॉपर सल्फेट, सोडियम क्लोराइड तथा तम्बाकू चूर्ण मिला हुआ था। लक्षण प्रकट होने के एक या दो दिन बाद रोगी की मृत्यु हो गई। चारे में अरुचि, मूत्र में खून मिला होना, पीलिया तथा अत्यधिक कमजोरी आदि इसके लक्षण थे। नाड़ी-गति तथा श्वसन बढ़ा हुआ और तापक्रम नार्मल था। पीला यकृत, गहरे बादामी अथवा काले गुर्दे, "काली बेरी के मुरब्बे की भाँति" सूजी हुई प्लीहा, तथा सामान्य पीलिया आदि शव-परीक्षण पर पाए जाने वाले प्रमुख परिवर्तन थे।

चिकित्सा—मैगनीशियम आक्साइड, गंधक, अण्डे की सफेदी, दूध तथा डेक्सट्रोज इस विष के प्रतिकारक हैं। इसका कोर्स कुछ घंटों से लेकर एक या दो दिन का होता है तथा मृत्युदर काफी अधिक होती है। अति रोग-ग्रसित रोगियों को द्रव पैराफिन अथवा दूध में मिलाकर बिस्मथ सबनाइट्रेट जैसे प्रतिरक्षी पदार्थ दिए जा सकते हैं। कमजोरी के लिए उत्तेजक औषधियाँ दी जानी चाहिए।

संदर्भ

1. Boughton, I.B., and Hardy, W.T., Chronic copper poisoning in sheep, Tex. Agr. Exp. Sta. Bul., 499, 1934.
2. Lander, G.D., Veterinary Toxicology, ed. 3, Chicago, Eger.
3. Muth, O.H., Chronic copper poisoning in sheep, J.A.V.M.A., 1952, 120, 148.
4. Grahame, Edgar, Albiston, H.E., Bull. L.B., Investigations into the etiology and control of enzootic (toxaemic) jaundice of sheep, Aust. Vet. J., 1949, 25, 203.
5. Albiston, H.E., et. al., Aust. Vet. J., 1940, 16, 233.

स्ट्रिकनीन-विषाक्तता

(Strychnine Poisoning)

कारण—पशुओं में स्ट्रिकनीन-विषाक्तता अपेक्षाकृत अधिक हुआ करती है। यह या तो एक ही मात्रा में अधिक कुचला खाने के तत्काल बाद होती है अथवा थोड़ा-थोड़ा करके कई बड़ी खुराकें खाने के पश्चात हुआ करती है। दवा के रूप में इसकी स्वीकृत मात्रा विषैली मात्रा से कुछ ही कम हुआ करती है और इसी कारण औषधि के रूप में इसका प्रयोग करने पर पशुओं में बहुधा विषाक्तता होने का भय रहता है। फ्रोनर का कहना है कि पुराने घोल का प्रयोग करने से स्ट्रिकनीन-विषाक्तता हो सकती है। ऐसा या तो पानी के भाप बनकर उड़ने अथवा स्ट्रिकनीन के रवे बनने के कारण होता है। एक बार लेखक ने औषधि के रूप में 0.5 प्रतिशत आर्सेनिक तथा स्ट्रिकनीन युक्त घोल पशु को देने की राय दी और जब पशु का मालिक दुबारा दवा लेने आया तो उसे एक मिश्रण दिया गया जिसमें 2 भाग नमक तथा एक-एक भाग जेन्शियन चूर्ण और कुचला मिला हुआ था। उसने दोनों ही औषधियों को आधे औंस की मात्रा में अपने घोड़े को दिन में तीन बार खिलाया और तीन दिन के अन्दर स्ट्रिकनीन-विषाक्तता के स्पष्ट लक्षण प्रकट हो गए। लेखक के औषधालय की एक दवा में 0.5 प्रतिशत स्ट्रिकनीन, घोल में मिली होती है। एक बार इसकी मात्रा बढ़ाकर 1 प्रतिशत कर दी गई। इस औषधि के प्रयोग से कुछ ही दिनों में दो घोड़ों में विषाक्तता के लक्षण उत्पन्न हुए जिसमें से एक मर गया। यद्यपि ऐसा कहा जाता है कि गायें अन्य पशुओं की अपेक्षाकृत स्ट्रिकनीन की अधिक मात्रा सहन कर सकती हैं किन्तु लेखक ने अधस्त्वक् विधि से दवा के रूप में स्ट्रिकनीन का प्रयोग करने पर उनमें विषाक्तता उत्पन्न होते देखी। स्ट्रिकनीन के अधस्त्वक् इन्जेक्शन के प्रति गायों की ग्रहणशीलता में काफी विभिन्नता होती है। प्रत्यक्ष रूप से साधारण ढोरों की अपेक्षा विशुद्ध जातीय गो-पशु अधिक ग्रहणशील होते हैं। अधस्त्वक् इन्जेक्शन द्वारा देने पर घोड़ों के लिए इसकी प्राणघातक मात्रा 3 से 4.5 ग्रेन तथा ढोरों के लिए 3 से 6 ग्रेन होती है। अपने अनुभव के आधार पर मैं बड़े पशु को मुँह द्वारा 3.5 ग्रेन से अधिक मात्रा में नित्य यह औषधि देने की राय नहीं देता।

क्रिया तथा लक्षण—मेरु-मज्जा स्ट्रिकनीन-विषाक्तता के विषैले प्रभाव का प्रमुख स्थान है। आवर्ती प्रतिक्रिया इतनी अधिक बढ़ जाती है कि रोगी पशु के पास बोलने, देखने अथवा छूने से उसमें उत्तेजना होती है। मिरगी की भाँति इसका आक्रमण एकाएक होता है तथा शरीर के किनारे के अंगों की मांस-पेशियों पर इसका प्रभाव पहले होता है। कुछ ही देर बाद पूरे शरीर पर इसका असर होकर पैर, गर्दन, पीठ तथा पूँछ में अकड़न होती है। आँखें उभड़ कर पशु का रूप डरावना हो जाता है। स्ट्रिकनीन-विषाक्तता की ऐंठन के दौरे टिटैनी रोग से मिलते-जुलते हैं किन्तु ये अधिक एकाएक होकर तीन या चार मिनट तक रुकते हैं तथा उनके बीच काफी समय तक पशु की हालत सामान्य रहती है। टिटैनी के विपरीत इसमें जबड़े की मांसपेशियाँ बहुत ही कम क्षतिग्रस्त होती हैं। अधस्त्वक् इन्जेक्शन देने के बाद कुछ ही सेकेण्डों में इसके लक्षण प्रकट हो जाते हैं। मुँह

द्वारा देने के बाद आधे से छः अथवा आठ घंटे में लक्षण दिखाई देते हैं। रोग के आक्रमण के दो घंटे के अन्दर रोगी पशु की मृत्यु हो जाती है। शव-परीक्षण प्रायः ऋणात्मक सिद्ध होता है। शव की अकड़न शीघ्र ही प्रारम्भ हो जाती है तथा लाश को कई दिनों तक सुरक्षित रखा जा सकता है।

चिकित्सा—स्ट्रिकनीन-विषाक्तता की चिकित्सा में आमतौर पर क्लोरल हाइड्रास तथा मारफीन जैसी नशीली दवाओं का प्रयोग किया जाता है। अभी हाल में ही केम्फ, मेक्कालम, तथा ज़र्फास[1] ने सोडियम एमिटाल को इसका अति उत्तम प्रतिकारक बताया है। इसका अंतः शिरा इन्जेक्शन देकर ग्यारह रोगियों की चिकित्सा की गई जिसमें से सभी ठीक हो गए। इसकी मात्रा 7.5 से लेकर 27 ग्रेन तक थी और प्रभाव तात्कालिक था। कुत्तों में सोम्नीफेन के प्रयोग से लीड्रेट[2] ने ऐसी ही प्रतिक्रिया उत्पन्न होते बताई।

संदर्भ

1. Kempf, G.F., McCallum, J.T.C., and Zerfas, L.G., A successful treatment for strychnine poisoning, J.A.M.A., 1933, 100, 548.
2. LeDret, M., De l'emploi du "Somnifene Roche" dans le traitement du l'intoxication strychinque accidentelle du chien, en clientele rurale, Rev. Vet., 1928, 80, 673.

कीटनाशी

(Insecticides)

पशुओं, पदार्थों, फसल तथा पशुशालाओं के परजीवियों को नष्ट करने के लिए संश्लिष्ट कीटनाशी पदार्थों के विकास तथा सामान्य प्रयोग के कारण इनका गलत उपयोग करने से कभी-कभी प्राणघातक दुर्घटनाएँ होती देखी जाती हैं। ऐसी दुर्घटनाएँ इन औषधियों के डिब्बों पर बेकार के व्यवसायिक नाम लिखने, उनके अन्दर के पदार्थ को लेबिल पढ़कर भली भाँति समझ न पाने, तथा सभी खरीदारों द्वारा उनकी स्वतत्रता पूर्वक खरीद एवं उपयोग करने के कारण हुआ करती है। पशुओं पर अधिक प्रयोग होने वाले कीटनाशी पदार्थ अधिकतर क्लोरीनयुक्त हाइड्रोकार्बनों के वर्गीकरण के अन्तर्गत आते हैं जो अपनी विषाक्तता के अनुसार यहाँ आरोही क्रम में वर्णन किए जा रहे हैं।

डी डी टी (DDT)—8 प्रतिशत सांद्रण में यह औषधि जानवरों पर सुरक्षापूर्वक छिड़की जा सकती है और मक्खियों के नियंत्रण हेतु इसका बहुतायत से प्रयोग होता है। डी डी टी के प्रति सहन शक्ति वाली मक्खियों की प्रजातियों के विकास के बाद इसका प्रभाव काफी कम हो गया है। चूँकि यह औषधि पशु के शरीर में भण्डारित होकर दूध के साथ बाहर निकलती है अतः डेरी पशुओं में इसका प्रयोग नहीं करना चाहिए। ऐसी ही अन्य औषधियाँ टी डी ई (TDE) तथा मिथाक्सीक्लोर हैं।[2]

क्लोर्डेन (Chlordan)—इसकी अनुमानित प्राणघातक मात्रा 1 ग्राम प्रति कि० ग्रा० शरीर भार होती है।

बछड़ों में 1.0 प्रतिशत, युवा डेरी बछड़ों के लिए विषैली है।[1]

गो-पशुओं में 0 5 प्रतिशत, आमतौर पर प्रयोग होती है।[4]

गो-पशुओं में 4 0 प्रतिशत, अधिक हानिकारक नहीं है [4]

सूकरो में 4 0 प्रतिशत, सहन की जा सकती है।[4]

टॉक्साफीन (Toxaphene)—इसकी अनुमानित प्राणघातक मात्रा 60 मि० ग्रा० प्रति कि० ग्रा० शरीर भार होती है।

बछडो में 1 0 प्रतिशत, छोटे बछडा को मार सकती है।[1]

गो-पशुओं में 0 5 प्रतिशत, आमतौर पर प्रयोग होती है।[4]

गो पशुओं में 0 4 प्रतिशत, अधिक हानिकारक नही है।[4]

सूकरा में 0 5 प्रतिशत, खुजली का उन्मूलन करती है।[3]

सुअरिया (Pigs) में 4 0 प्रतिशत, सहन की जा सकती है।[4]

बी एच सी[3] (BHC) के 0 06 प्रतिशत गामा समावयव (gama isomer) युक्त पानी में स्नान कराने की अपेक्षाकृत 1 प्रतिशत सान्द्रण का टॉक्साफीन तथा क्लोर्डेन भेडो के लिए कम हानिकारक है।

डील्ड्रिन (Dieldrin)—यह एक नवविकसित कीटनाशी पदार्थ है[1], पृ० 52।

बछडा में 0 25 प्रतिशत, 1 से 2 सप्ताह की आयु वाले जर्सी नस्ल के बछडों के लिए कभी-कभी प्राणघातक है।

गो-पशुओं में 0 5 प्रतिशत, दो सप्ताह के अवकाश पर इसका तीन बार प्रयोग करना विषकारक होता है।

गो-पशुओं में 2 0 प्रतिशत, एक बार प्रयोग करना विषकारक होता है।

गो-पशुओं में 1 0 प्रतिशत, एक बार प्रयोग करना अविषैला होता है।

दूध पीने वाली सुअरिया में 4 0 प्रतिशत, सहन किया जा सकता है।

भेडो में 4 0 प्रतिशत, विषैला होता है।

दूध पीने वाले मेमनो में 2 0 प्रतिशत, सहन किया जा सकता है।

दूध पीने वाले मेमना में 3 0 प्रतिशत, विषैला होता है।

लिंडेन (Lindane)—बी एच सी, बेन्जीन हेक्साक्लोराइड 99 प्रतिशत गामा समावयव, आइसोटेक्स।

बछडा में 0 05 से 1 प्रतिशत, 1 से 2 सप्ताह वाले जर्सी नस्ल के बछडों के लिए विषैला है।[1]

बछड़ों में 0 1 प्रतिशत बहुत छोटे हियरफोर्ड नस्ल के बछडा के लिए अविषैला है।[1]

बछड़ों में 0 02 से 0 06 प्रतिशत, अविषैला होता है।[1]

0 03 प्रतिशत आमतौर पर प्रयोग किया जाता है।[4]

गो-पशुओं में 0.25 प्रतिशत, 2 सप्ताह के अवकाश पर 12 बार प्रयोग करना अविषैला होता है।

गो-पशुओं में 0.75 प्रतिशत, दो बार छिड़कने से खाज का विनाश करता है।[2]

गो-पशुओं में 0.06 प्रतिशत, 10 दिन के अवकाश पर दो बार छिड़कना अविषैला होता है।

गो-पशुओं में 0.12 प्रतिशत, एक बार छिकड़ने से खाज का उन्मूलन करता है।[3]

सूकरों में 1.0 प्रतिशत, सहन किया जा सकता है।

दूसरे समूह में कार्बनिक फास्फेटयुक्त कीटनाशी पदार्थ आते हैं जो अत्यधिक विषैले होते हैं। इनमें से अधिक प्रयोग होने वाले यौगिक का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है :

पैराथायोन (Parathion)—(TEPP; थायोफास 3422; E605; निरान: ऐल्क्रान; टेट्राइथाइल पाइरोफास्फेट) यह बहुत ही विषैला यौगिक है जिसका शरीर में धीरे-धीरे जमा होते रहने के बाद कुप्रभाव पड़ता है। इसे सूँघने से तथा त्वचा का संदूषण बचाने के लिए विशेष सावधानी की आवश्यकता पड़ती है। परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप से यह अनेक पशुओं की मृत्यु का कारण बनता है। शरीर पर लगाने, अथवा ऐसी पशुशाला में पशु बाँधने से जहाँ मक्खियों को मारने के लिए पैराथायोन छिड़का गया हो, अथवा ऐसे चरागाहों पर चराने से जिस पर यह कीटनाशी के रूप में छिड़का गया हो, पशुओं में इसका कुप्रभाव होते देखा जाता है।

विकृत शरीर रचना—पशुशाला में कीटनाशी के रूप में छिड़के गए पैराथायोन को खाकर पैराथायोन-विषाक्तता से मरे हुए एक बैल में फेफड़ों की सूजन तथा वातस्फीति के साथ तेज उग्र न्युमोनिया देखी गई।

लक्षण—रोग का आक्रमण होने के बाद आधे से अड़तालीस घंटे के अन्दर रोग के लक्षण प्रकट हो जाते हैं। मांस पेशियों की ऐंठन, अत्यधिक लार गिराना, दाँत पीसना, आँखों का घूमना, अँधापन तथा निराशा अथवा उत्तेजना इसके विशिष्ट लक्षण हैं। रोग के भीषण प्रकोप में तीव्र नाड़ी एवं तेज श्वसन के साथ पशु को सांस लेने में कठिनाई होती है। पशु का तापक्रम बढ़कर 114° फारेनहाइट तक हो सकता है। बार-बार मांसपेशियों का अनैच्छिक उग्र संकुचन होकर रोगी की शीघ्र ही मृत्यु हो जाती है।

चिकित्सा—पहले रोग-ग्रसित पशु को तन्द्रा लाने वाली औषधियाँ[1] (barbiturates) देकर मांस-पेशियों की ऐंठन कंट्रोल करनी चाहिए तथा बचे हुए कीटनाशी पदार्थ से छुटकारा पाने के लिए पशु को संश्लिष्ट अपमार्जकों से नहलाना चाहिए। 1/10 से 1/4 ग्रेन की मात्रा में ऐट्रोपीन का अधस्त्वक् टीका पशु को रोग की प्रारम्भिक अवस्था में देकर आवश्यकतानुसार दोहरा देने पर गोपशुओं के लिए विशेष लाभप्रद सिद्ध हो सकता है। मनुष्य में इसके प्रयोग से निराशाप्रद रोगी भी ठीक होते देखे गए हैं।[3]

संदर्भ

1. U.S. Dept. Agr., Report Chief, Bur. Ani. Ind. 1950.
2. U.S. Dept. Agr., Report Chief, Bur. Ani. Ind. 1951.
3. U.S. Dept. Agr., Report Chief, Bur. Ani. Ind. 1952.
4. Radeleff, R. D., Insecticide toxicology for veterinarians, Proceedings Book, A.V.M.A., 1950, p. 68.
5. Fincher, M. G., Chemical insecticides and poisoning of livestock, Conference, New York State Veterinary College, Jan. 8, 1951.

गोजातीय अतिकिरेटिनता
(Bovine Hyperkeratosis)
(एक्स-रोग)

सन् 1941[1] में न्यूयार्क के दूर-दूर क्षेत्रों में गायों तथा युवा पशुओं में एक प्राणघातक बीमारी फैली जिसमें क्षीणता, मुंह में छाले, ग्रसनी शोथ, आंत्राति तथा बालों के ह्रास के साथ मोटी सूखी त्वचा आदि विभिन्न लक्षण थे। इस बीमारी की दो प्रमुख अवस्थाएँ देखी गईं: कुछ कम प्रकोप करने वाली शीघ्र प्राणघातक उग्र अवस्था, तथा आमतौर पर होने वाली रोग की दीर्घकालिक प्रकार जो या तो उग्र अवस्था के बाद होती है अथवा प्रारम्भ से ही दीर्घकालिक हुआ करती है। यह बीमारी खुजली की बढ़ी हुई अवस्था से मिलती-जुलती थी। किन्तु, इसमें खुजली उत्पन्न करने वाले कीट मौजूद न थे और पहचान
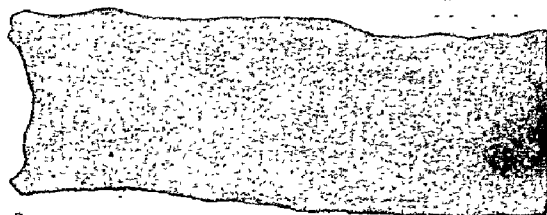
चित्र—108. ग्रासनली पर प्रफली परिगत उठे हुए क्षतस्थल; ऐसे ही क्षतस्थल मुंह तथा ग्रसनी की श्लेष्मल झिल्ली पर प्रकट होते हैं। (पीटर ओलेपसन के सौजन्य से प्राप्त फोटोग्राफ)

के लिए इसका नाम एक्स-रोग रखा गया तथा अन्वेषणकर्ताओं द्वारा यह एक वाइरस रोग समझा गया। अंत में इसे कम से कम 35 प्रदेशों में, और प्रमुख तौर पर दक्षिण तथा मध्य-पश्चिम में, प्रकोप करते पाया गया। न्यू इंगलैंड अथवा प्रशान्त महासागर के किनारे इसका एक भी रोगी न देखा गया।

कारण—सन् 1949 में पशु-उद्योग-ब्यूरो के सहयोग से रोग के लक्षणों तथा कारणों का अध्ययन करने के लिए 18 प्रदेशों में एक अनुसंधान योजना चलाई गई।

सन् 1950 में ओल्सन तथा कुक[2] ने यह सिद्ध कर दिया कि 150 बछड़ों को खिलाई जाने वाली खाद्य-गुलिकाओ में एक विषैला पदार्थ मौजूद था जिसके कारण 130 बछडो में गो-जातीय किरेटिनता उत्पन्न हुई तथा 47 बछडो की मृत्यु हो गई। यह भी देखा गया कि रोग-ग्रसित गाय का दूध पीने से भी यह रोग बछडो को लगा।[2] सन् 1952 में, वर्जिनिया में पहले-पहल "बेल्[5] ने एक पेट्रोलियम पदार्थ से गो पशुओ में यह रोग उत्पन्न किया।"[2] उन्होंने यह देखा कि बक्सो के स्प्रिंग से कुछ बछडे एक चिकना पदार्थ चाट रहे थे और उन्होने फार्म से प्राप्त ऐसा चिकना पदार्थ खिलाकर बछड़ों में यह भी सिद्ध कर दिया कि विषैला पदार्थ एक रासायनिक योगज, अति क्लोरीनयुक्त नैफ्थलीन यौगिक था जो इस पेट्रोलियम पदार्थ के निर्माण में प्रयोग किया जाता था। ऐसे ही परिणाम साइकेस् तथा ब्रिजेज[4] और ओलेपसन[2] द्वारा भी प्राप्त किए गए। सन् 1953 में सघीय पशु-उद्योग-ब्यूरो[3c] ने एक विज्ञप्ति में यह बताया कि एक्स-रोग का केवल एकमेव कारण अति क्लोरीनयुक्त नैफ्थलीन है जिसे विशिष्ट प्रकार के चिकने पदार्थ तथा अन्य उत्पादो के निर्माण में डालकर अथवा सदूषण के रूप में प्रयोग किया जाता है।

चित्र—109 कृशता तथा खुजली की भाँति त्वचा का मोटा पड जाना।
(पीटर ओलैफ्सन के सौजन्य से प्राप्त फोटोग्राफ)

"व्यक्तिगत पशु-पालकों को पिछले कुछ वर्षों में अति क्लोरीनयुक्त नैफ्थलीन यौगिक मिश्रित चिकनाई से सदूषित गुलिका खाद्य खिलाने से उत्पन्न बीमारी से भीषण क्षति पहुँची। खाद्य निर्माणकर्ता तथा तेल बनाने वाली कम्पनियाँ ऐसे चिकने पदार्थों को खाद्य-पदार्थों से अलग रखने में अब अपना सहयोग देने लगी हैं और ऐसा करने से एक्स-रोग अथवा गो-पशुओं में होने वाली अति किरेटिनता से होने वाले ह्रास अब काफी कम हो गए हैं।

"जब तक ग्रीस में अधिक क्लोरीनयुक्त नैफ्थलीन नहीं मिली होती तब तक गो पशुओ में यह रोग नही उत्पन्न होता। घोलक से निस्सारित बिनौले अथवा सोयाबीन

खाद, देश में तैयार किए गए व्यापारिक काष्ठ सरक्षी, अथवा गो-पशुओं में तथा चारे में प्रयोग होने वाले मान्यता प्राप्त एव इस देश में बेचे जाने वाले कीटनाशी पदार्थों के द्वारा यह रोग उत्पन्न नहीं होता। ऐसी अनेक वस्तुएँ उपलब्ध हैं जिनके त्वचा पर बार बार लगाने से स्थानीय क्षोभण उत्पन्न होता है जिसकी एक्स-रोग से सभ्रान्ति हो सकती है।"

विकृत शरीर रचना—शरीर की सतह पर केरैटिनीकृत पदार्थों के एकत्रित होने के कारण गर्दन, कंधे एव दोनों जांघो के बीच की त्वचा का मूना, झुर्रियोंदार, तथा खाज की भाँति माटा दिखाई देना तथा क्षीणता होना इसमें पाए जाने वाले सामान्य परिवर्तन हैं।[7] थूथन, मसूडो, तालू, जीभ तथा ग्रसनी में मस्से की भाँति गोल-गोल सूजन मौजूद हो सकती है तथा लार ग्रंथियां निर्जीव सी हो जाती हैं। छोटी अँतडी की दीवालो में रक्तस्राव के क्षेत्र, एबोमेसम में घाव, आमाशय, ड्यूओडीनम तथा अँतडी की ग्रंथियो का तनाव, आमाशय शोथ, तथा छोटी अँतडी अथवा सीकम की आंत्रार्ति होना, इसके वर्णन किए गए अन्य क्षतस्थल हैं।[6] 'गुर्दे के कार्टेक्स की नलिकाओं का सिस्टिक तनाव सबसे प्रमुख परिवर्तन था जिसे प्रत्येक रागी में देखा गया।"[6] एपिडिडिमिस, शुक्राशय, तथा गार्टनर की नलिकाओं का निर्जीवीकरण[3α], पित्ताशय तथा बडी-बडी पित्त वाहिनियो की श्लेष्मल झिल्ली में टूट-फाट, अग्न्याशय में तन्तुमयता तथा नलिका-प्रोद्भवन, छोटी छोटी पित्त नलिकाओ का प्रोद्भवन, यकृत की तन्तुमयता तथा अण्डकापा का अपक्षय इसके अवसर पाये जाने वाले क्षतस्थल हैं।[3α]

लक्षण—"यह एक एकाएक प्रकाप करने वाला दीर्घकालिक रोग है जिसका कोर्स कई सप्ताह से लेकर तीन माह का अथवा अधिक हो सकता है। रोग की प्रारम्भिक अवस्थाओं का देखने का मुश्किल से ही अवसर लग पाता है। पशु-पालक सबसे पहले रागी पशु की आँख तथा नथुनो से पानी जैसा पतला स्राव गिरता बताता है। इसके बाद स्वास्थ्य का गिरना, भूख कम लगना, निराशी तथा चमडी का धीरे-धीरे मोटा होते जाना इसके अन्य लक्षण हैं। त्वचा में होने वाले परिवर्तन स्कध प्रदेश, गर्दन के दोनों ओर, गालों पर तथा कधो के पीछे प्रारम्भ होते हैं। अत में शरीर का ऊपरी दो तिहाई भाग थोडा-बहुत रोग-ग्रसित हो जाता है। शरीर पर के बाल झडकर त्वचा सूखी, चमडे जैसी तथा झुर्रीदार हो जाती है। या तो इस परिवर्तन से-पशु को थोडा सा कष्ट होता है अथवा वह अत्यधिक परेशान हो जाता है। पशु अपने शरीर को चाटता, अथवा रगडता नहीं है तथा उसके खुजली भी नहीं मचती। त्वचा में होने वाले परिवर्तन कभी-कभी अगले पैरों के बीच अधरवक्ष तक फैल हुए तथा अयन के क्षेत्र में जांघों के बीच पाए जाते हैं। इसके अतिरिक्त शरीर के निचले एक तिहाई भाग की त्वचा में कोई परिवर्तन नहीं होता। टांगो, पैरों तथा चेहरे पर भी कोई परिवर्तन नहीं देखा जाता। पशु के मुँह से लार गिरती है तथा जीभ, गाला, अथवा तालू की सतह पर उठे हुए अकुरक पाए जाते हैं त्वचा के क्षतस्थल प्रदर्शित करने वाले लगभग सभी पशु जीर्ण-शीर्ण होकर मर जाते हैं।"[7]

नथुना, होटों तथा मसूडा पर लाल क्षेत्र, रुक-रुक कर दस्त आना, दूध उत्पादन में कमी तथा गर्भपात हाना इसके अन्य लक्षण हैं। नर पशुआ की एपिडिडिमस बढकर

प्रायः सख्त हो जाती है। शरीर में विटामिन "ए" की कमी हो जाना, इसका लगातार दिखाई देने वाला लक्षण है। विस्कांसिन में इस रोग की उग्र प्रकार से अनेक बछड़ों की मृत्यु होते बताई गई है। इस तथ्य की अनेक रिपोर्टें प्राप्त है कि ऐसे बछड़े जिनको और कुछ न खिलाकर केवल रोग-ग्रसित गाय का दूध ही दिया जाता है, उनको यह रोग लग जाता है।[2,8] युवा पशुओं में जाड़ों के दिनों में इस रोग का भीषण प्रकोप होता है। रोग का विभेदी-निदान करते समय इसकी खाज अथवा दुर्दम्य शीर्षार्ति से संभ्रान्ति हो सकती है। इसका कोई भी लाभदायक उपचार नहीं है।

संदर्भ

1. Rep. N. Y. S., Vet. Col., 1942-43, p. 21 ; 1944-45, p. 25.
2. Lee, A.M., Our newer knowledge of bovine hyperkeratosis (X-disease), Fiftysixth Ann. Meeting, U.S.L., Sanitary Asso., 1952, p. 175.

3a. Fifth Research Conference on Bovine Hyperkeratosis (X-disease), May 4, 1953.

3b. U.S.D.A. letter, 5-25-53.

3c. U.S.D.A., Mimeograph Report, 3007, U.S.D.A. 1369-53.

4. Sikes, Dennis, Wise, J. C., and Bridges, Mary E., The experimental production of "X-disease" (hyperkeratosis) in cattle with chlorinated naphthalenes, J.A.V.M.A., 1952, 121, 307.
5. Bell, W. B., Production of hyperkeratosis by the administration of a lubricant, Va. Jour. Sci. (New Series) 1952, 3, 71. January.
6. Bell, W. B., Further studies on the production of bovine hyperkeratosis by the administration of a lubricant, Va. Jour. Sci. (New Series), 1952, 3, 169. July.
7. Olafson, Peter, Hyperkeratosis (X-disease) of cattle, Cornell Vet., 1947, 37, 279.
8. U.S.B.A.I., Report, 1952.
9. Olson, Carl, Jr., Cook, H. H., and Brouse, E.M., The relation of feed to an outbreak of bovine hyperkeratosis, Am. J. Vet. Res., 1950, 11, 355.

ट्राइक्लोरेथिलीन निस्सारित सोयाबीन खाद्य-विषाक्तता[1]

(Trichlorethylene Extracted Soyabean meal Poisoning)[1]

परिभाषा—सोयाबीन खाद्य-विषाक्तता गो-पशुओं की एक उग्र रक्तस्रावी बीमारी है जो व्यवसायिक रूप से तैयार किए गए ट्राइक्लोरेथिलीन निस्सारित सोयाबीन खाद्य खिलाने से उत्पन्न हुआ करती है। रोग-ग्रसित पशु की नाक से तथा गोबर के साथ खून आता है। इसका मुख्य कारण अज्ञात है।

कारण—सबसे पहले इस बीमारी को स्टाकमैन[2] ने इंगलैंड में देखा। यूरुप में इसके प्रकोप पर अत्यधिक साहित्य उपलब्ध है तथा मध्य-पश्चिम के विभिन्न प्रदेशों में इसे पिचार्ड आदि[3] ने देखा जिन्होंने लिखा कि युवा, सुप्रजनित तथा अधिक उत्पादक पशु इसके

प्रति अधिक ग्रहणशील होते हैं और विषाक्तता, खिलाए गए चारे, ग्रहणशील युवा पशुओं की संख्या तथा अधिक दिनों के गर्भित पशुओं की संख्या के अनुसार इस बीमारी के प्रकोप में काफी विभिन्नता होती है। जहाँ 6 माह से कम आयु वाले बछड़ों को यह खाद्य खिलाया गया, उनमें सबसे पहले इस बीमारी का प्रकोप देखा गया तथा प्रौढ़ पशुओं में यह बीमारी प्रत्येक पशु को नित्य 1 से 3 पौण्ड सोयाबीन खाद्य मिलाकर उत्पन्न की गई। बछड़ों को रोजाना 1/4 से 1/2 पौण्ड खाद्य खिलाने से पांच सप्ताह बाद उनकी मृत्यु हो गई। इसे खिलाना शुरू करने के 30 से 270 दिनों बाद पशु मरने लगे तथा पहले पशु के मरने के बाद अधिकांश मृत्युयें अगले 30 दिनों में हुई। यह खाद्य खिलाना बंद करने के कई महीनों बाद भी पशुओं की मृत्यु हो सकती है। विषाक्तता कम या अधिक हो सकती है। स्टाकमैन द्वारा वर्णित यूथ में 10 प्रतिशत औसत के साथ 1 से 19 प्रतिशत तक ग्रहणशील पशु रोग-ग्रसित थे।

विकृत शरीर रचना—पशु का शव-परीक्षण करने पर आहारनाल, श्वसन तंत्र, श्लेष्मल झिल्लियों, गुर्दे, यकृत, हृदयावरण, प्लीहा, मूत्राशय तथा मस्तिष्क आदि शरीर के सभी भागों में अत्यधिक रक्तस्राव मिलता है। लसीका ग्रंथियाँ तथा पित्ताशय सूज जाते हैं।

लक्षण—1 से 6 माह तक रोगी पशु जीवित रह सकते हैं तथा रोग के अंतिम समय में इसके लक्षण एकाएक प्रकट होते हैं। पहले एक या दो पशुओं में ही बीमारी के लक्षण दिखाई पड़ते हैं। स्वास्थ्य का गिरना, भूख न लगना, 106 से 108° फारेनहाइट तक तेज बुखार, ठंड लगना, खड़े बाल, जुगाली न करना तथा अक्सर लार गिराना आदि लक्षणों के साथ रोग का आक्रमण होता है। दुधारू पशुओं में दूध का उत्पादन एकाएक कम होकर नथुना से खून टपकता है अथवा उनके गोबर के साथ रक्त आता है। कुछ यूथों में आँख से दिखाई देने वाला रक्तस्राव अनुपस्थित रहता है। आँख, मुँह, भग तथा मुखान से निकलने वाले स्राव में रक्त आ सकता है तथा नाक से खून निकल सकता है। रक्तस्राव होना इसका सबसे प्रमुख लक्षण है। रोग-ग्रसित पशु के पेट में दर्द हो सकता है जिसके कारण वह अपने पैर पटकता तथा उदर-तल पर मारता है। मांसपेशियों में रक्तस्राव होने के कारण पशु की चाल में अकड़न होती है। प्रायः पशु की पेशाब में भी खून आता है। रोग के लक्षण प्रकट होने के बाद चार पांच दिन में पशु की मृत्यु हो जाती है।

रुधिर बिम्बाणुओं का बढ़ता हुआ ह्रास रक्त में होने वाला पहला परिवर्तन है। सोयाबीन खिलाना प्रारम्भ करने के दो सप्ताह बाद से रक्त में श्वेताणुओं का ह्रास होने लगता है जो इसे खिलाना बंद करने के ग्यारह माह बाद तक जारी रहता है। रक्त में हीमोग्लोबिन कम हो जाता है तथा खून के जमने का समय नार्मल (10-15 मिनट) की अपेक्षा बढ़कर दो घंटे तक का हो सकता है।

इतिहास तथा लक्षणों के आधार पर इस बीमारी को स्वीटक्लोवर (तिपतिया घास) रोग, गलाघोटू तथा ब्रैकेन फर्न-विषाक्तता (bracken fern poisoning) से अलग पहचाना जा सकता है। इस रोग की कोई भी चिकित्सा नहीं है।

संदर्भ

1. Picken, J. C., Jr., Biester, H. E., and Covault, C. H., Trichlorethylene extracted soybean oil meal poisoning, Iowa State Col. Vet., 1952, 14, 137.
2. Stockman, Stewart, Cases of poisoning in cattle by feeding on meal from soybean after extraction of the oil. J. Comp. Path. and Ther., 1916, 29, 95.
3. Pritchard, W. R., Rehfeld, C. E., and Sauter, J. H., Aplastic anemia of cattle associated with ingestion of trichlorethylene extracted soybean oil meal (Stockman disease, Duren disease, Brabant disease), I. Clinical and laboratory investigation of field cases, J.A.V.M.A., 1952, 121, 1, II. Necropsy findings in field cases, 73.

फ्ल्यूरिन-विपाक्तता
(Fluorosis)

परिभाषा—गो-पशुओं तथा भेड़ों में होने वाला यह रोग एक दीर्घकालिक आकस्मिक तथा संचयी विपाक्तता है जो एन्जाइम सिस्टम पर आक्रमण करके कोशीय-श्वसन में विघ्न डालती है।[8,10,4,23] यह विपाक्तता बहुत दिनों तक लगातार फ्ल्यूरिन खाते रहने से उत्पन्न होती है। पशु की वृद्धि रुक जाना, रुक-रुक कर लँगड़ाहट होना, दाँतों पर पीली पर्त जमना तथा उनकी टूट-फूट होना, खुरदरे बाल, कम दूध देना, प्रारम्भ में पशु का स्वास्थ्य गिरना, बाद में स्थायी रूप से लँगड़ा हो जाना, क्षीणता तथा अस्थि-मृदुता के कारण उठने में कष्ट होना आदि लक्षणों के द्वारा इसे पहचाना जाता है। जैसे-जैसे रोग बढ़ता है मैंडिबल, पसलियों, टाँगों के निचले भाग तथा खुरों पर हड्डी की मोटाई कुछ बढ़ी हुई सी प्रतीत होती है। अस्थि-छिद्रता के कारण पसलियाँ टूट सकती हैं तथा हड्डी में फ्लोरिन की मात्रा नार्मल (500 से 1000 भाग प्रति दशलक्ष) से बढ़कर 5000 भाग प्रति दशलक्ष अथवा अधिक हो सकती है।[3]

कारण—भू-पटल में पाए जाने वाले तत्वों में फ्ल्यूरिन का बीसवाँ नम्बर है और यह बाक्साइट, फेल्डस्पार, क्रियोलाइट तथा फास्फेटयुक्त चूना पत्थर आदि लवणों के मिश्रण में ही पाया जाता है। छोटी-छोटी पानी की बूँदों में फैक्टरियों से निकला हुआ हाइड्रोफ्लोरिक अम्ल घोल कोहरे के साथ जाकर चरागाहों पर जमा होकर वहाँ की घास को विषैली बना देता है।[11] फैक्टरी से निकला हुआ फ्लोराइडयुक्त (सिलिकन फ्लोराइड) धुआँ कोहरे तथा धूल के साथ मिलकर शीघ्र ही लम्बी दूरी पर फैल जाता है[3] और इस प्रकार ऐल्यूमीनियम के निर्माण से वायु मंडल में निकले हुए हाइड्रोफ्लोरिक एसिड का संदूषण होता है (मेक्इन्टायर [27] पृ० [57])। इसमें होने वाली विस्तृत विभिन्नताओं के कारण औद्योगिक-उपजातों से संदूषित चारे में विष को सहन कर लेने वाली सुरक्षित मात्रा का स्थिर करना काफी कठिन हो जाता है (हफमैन[27] पृ० [60])। "इस बात का निश्चित पता नहीं है कि मुँह द्वारा कोई भी फ्लोरिनयुक्त यौगिक खाए जाने पर कहाँ अथवा किस रूप में फ्लोरीन् का शोषण होता है।"[1] पृ० [103] बिना संदूषित क्षेत्रों की घास के शुष्क पदार्थ

में फ्लूरिन की नार्मल मात्रा लगभग 2 भाग प्रति दशलक्ष, मूत्र में 2 से 10 भाग प्रति दशलक्ष तथा हड्डी में 500–1000 (0 5–0 10 प्रतिशत) होती है।[3] सदूषण होना रुकने के बाद पौधो में परिवर्तन जल्दी जल्दी होने लगता है, मूत्र में परिवर्तन होन में महीने लग सकते है तथा हड्डियो के सुधार में वर्षो का समय लग जाता है। मिट्टी में उपस्थित फ्लूरिन अधिकतर निष्क्रिय होती है।[2]

सन् 1920 म पशुओ के राशन में फास्फेट मिट्टी अथवा फास्फेटयुक्त चूना पत्थर के रूप में फास्फोरस पूरक का प्रवेश होन के बाद यह देखा गया कि "इससे दाँतो का असामान्य अपक्षय हुआ, तथा हड्डियो एव सामान्य स्वास्थ्य पर भी कुप्रभाव पडा।"[7] कुछ दिना बाद यह पता चला कि यह अवस्था फ्लूरिन-विषाक्तता थी जो खनिज लवणो में उपस्थित फ्लूरिन के कारण उत्पन्न हुई।[6,7]

गो पशु तथा भेंडें दाने के राशन की 009 प्रतिशत तक फ्लूरिन अधिकतम सहन कर सकती है। चूँकि चारे में खनिज लवण यौगिको को मिलाकर फ्लूरिन-विषाक्तता का बचाव करना भली-भाँति विदित है तथा आमतौर पर प्रयोग में भी लाया जाता है, अत उन क्षेत्रो का विशेष महत्ता दी जाती है जहाँ औद्योगिक प्रक्रियाएं वायुमण्डल को दूषित कर सकती हैं। ऐसा सुपर फास्फेट, ऐल्यूमीनियम, ईंटें, तामचीनी आदि बनाने वाले तथा बाक्साइट, क्रियोलाइट, फेल्डस्पर अथवा सोडियम फ्लोराइड को वाहक के रूप में प्रयोग करने वाले कारखानो से होने का भय रहता है। कम से कम 25 उद्योग-धंधे ऐसे खतरे के सभव स्रोत है।[10] खनिज-पूर्ति से उत्पन्न विषाक्तता के विपरीत, इसमें यौगिक के प्रकार, वितरण, मात्रा, पशुधन को पहुँचने वाली क्षति अथवा इसकी उपस्थिति की सभावना का पता ही नहीं चल पाता। इस प्रकार, कृषि प्रक्रियाएँ वहाँ के पशुओ, फसल तथा फार्म के विक्रय पर कुप्रभाव डालती है जहाँ इसका सक्रमण होने का भय रहता है। फ्लूरिन युक्त यौगिको के औद्योगिक विकास की बढती हुई आपदाओ को लर्नर[4], वाड तथा मरी[5], मरी तथा विल्सन[10] और फ्लोरोसिस कमेटी[12] द्वारा प्रदर्शित किया गया है जिन्होंने मनुष्यों तथा पशुओं दानो में होने वाली फ्लूरिन-विषाक्तता का वर्णन किया।

रोग विज्ञान—ककाल-तन्त्र तथा दाँतो में होने वाले विशिष्ट परिवर्तनो के अतिरिक्त फ्लूरिन विषाक्तता के रोग-विज्ञान पर बहुत ही कम साहित्य उपलब्ध है। लिगामेंट तथा टेंडना का कैल्सीकृत होना तथा 'सिस्टेमिक प्रतिक्रिया" जिसके अन्तर्गत बाँझपन, अवरुद्ध वृद्धि, गिरी हुई हालत, भूख कम लगना, कम दूध देना शामिल हैं, इसका अन्य अवस्थाएँ हैं। इसका प्रमुख लक्षण अकडन तथा लँगडाना है जो प्राय रुक रुक कर होते देखा जाता है। मनुष्या तथा पशुओ दाना में ही लाक्षणिक तथा एक्स रे परीक्षण करने पर उनके जोड बढे मिलते है।[1,3 पृ 279,10]

असाद्यता एव विशिष्ट ककालीय परिवर्तन उत्पन्न होने से पूर्व फ्लूरिन विषाक्तता का प्रभाव प्रदर्शित करने के प्रयास में वाड तथा मरी[5] ने देखा कि गुर्दे की क्रिया पर इसका तत्काल प्रभाव पडता है ग्लोमरुलस की अपेक्षाकृत उनकी नलिकाओं की क्रिया पर अधिक प्रभाव पडता है तथा नलिकाओं का कार्य अधिकतर एन्जाइमिक प्रतिक्रिया

पर निर्भर होता है। सन् 1935 में फिक आदि[24] ने लिखा कि "सूकरों के राशन में 1 प्रतिशत फास्फेट मिट्टी मिलाकर खिलाने से उनके गुर्दों में तन्तु-मयता का विकास हुआ तथा लहरदार नलिकाओं के एपिथीलियम का अपक्षय उत्पन्न हुआ।"

ब्लैकमूर[3] तथा अन्य लोगों[1] द्वारा वर्णित उरोस्थि तथा मेक्सिला का बढ़ना; टाँगों में घुटनों के नीचे, खुरों पर तथा पसलियों के ऊपरी एक तिहाई भाग पर पर्यस्थीय मोटापा (periosteal thickening) होना आदि लक्षण बढ़ी हुई फ्ल्यूरिन-विपाक्तता के शव-परीक्षण पर पाए जाने वाले क्षतस्थल हैं। पसलियाँ भँगुर होकर आसानी से टूट जाती हैं। देखने में हड्डियाँ अधिक भारी दिखाई देती हैं, किन्तु इनका आपेक्षिक गुरुत्व नार्मल से कम होता है (अस्थि छिद्रता)। मलने पर वे हल्की सफेद तथा छोटे-छोटे छिद्रयुक्त दिखाई पड़ती हैं। इनमें नार्मल की अपेक्षा 5 से 20 गुनी फ्ल्यूरिन अधिक हो सकती है। अस्थि विश्लेषण के सही परिणाम तब प्राप्त होते हैं जब संदूषित क्षेत्र तथा स्वस्थ क्षेत्रों के कई पशुओं की अस्थियों का परीक्षण करके उनकी परस्पर तुलना की जाती है। पशु की आयु, पहले खाई गई खनिज-पूर्ति, तथा पानी में फ्ल्यूरिन की उपस्थिति के आधार पर[1, पृ. 54] व्यक्तिगत पशुओं से प्राप्त नमूनों में फ्ल्यूरिन की मात्रा नार्मल (500 से 1000 भाग प्रति दशलक्ष) से कई गुनी अधिक हो सकती है।[3]

चित्र—110. फ्ल्यूरिन-विपाक्तता से उत्पन्न दाँतों का अपक्षय।

लक्षण—फ्ल्यूरिन-विपाक्तता की जटिल तथा गूढ़ प्रकृति का रोहोम[1] ने निम्न प्रकार वर्णन किया है: "दीर्घकालिक विपाक्तता के विभिन्न लक्षणों को धीरे-धीरे पहचाना गया, किन्तु बहुत सी बातों के बारे में हमारा ज्ञान अब भी त्रुटिपूर्ण है" और, "फ्ल्यूरिन का प्रभाव, उसकी मात्रा, खाए जाने की अवधि, पशु की आयु, जाति, राशन के संगठन

एवं अभी तक अज्ञात कुछ अन्य परिस्थितियों पर निर्भर होता है। विषाक्तता की विभिन्न प्रकारों में से केवल कुछ का ही ज्ञान अभी प्राप्त हो सका है।" फिलिप्स, हार्ट तथा बोस्टेड[3] ने लिखा कि 'दीर्घकालिक फ्लूरिन विषाक्तता में सामान्य से असामान्य प्रक्रियाओं में परिवर्तन बहुत धीरे धीरे होता है। यह आकस्मिक विकास प्रयोगात्मक महत्व का है।" व्यक्तिगत सहनशक्ति में विस्तृत विभिन्नता के द्वारा भी फ्लूरिन के प्रभाव पर असर पड़ता है। यह जानने के लिए दो बछड़ों का एक साथ पालन-पोषण किया गया, जिसमें से एक की तो सामान्य वृद्धि हुई तथा दूसरा छोटा तथा कमजोर रह गया। सदूषित क्षेत्रों में पशु पालने वाले किसानों ने यह देखा कि इसी क्षेत्र से खरीदे गए स्वस्थ पशुओं की अपेक्षा दूर से लाए गए पशुओं में इस विषाक्तता के लक्षण शीघ्र विकसित होते हैं। युवा पशुओं में इसके प्रति अपेक्षाकृत कम सहनशक्ति होती है तथा पशुओं की जाति के अनुसार भी विभिन्नता हो सकती है। चूहों में 20 मिलिग्राम प्रति कि० ग्रा० शरीर भार की दर पर रोजाना यह लवण खिलाने पर उनकी वृद्धि तथा सामान्य हालत पर कुप्रभाव पड़ता है जबकि गो-पशु प्रति कि० ग्रा० शरीर भार पर 2 3 मि० ग्रा० फ्लूरिन को सहन कर पाते हैं। सुअर तथा भेड़ें गो पशुओं से कम सवेदनशील होती हैं तथा चूहों की अपेक्षा मनुष्य अधिक सवेदनशील है।

दांत—'दीर्घकालिक फ्लूरिन विषाक्तता के सभी लक्षणों में से दांतों में होने वाले परिवर्तनों को आसानी से उत्पादित किया एवं पहचाना जा सकता है।"[1] सामने के स्थायी दांतों पर निकलने समय यदि फ्लूरिन विषाक्तता का हल्का सा असर हो जाता है तो उन पर धब्बे से पड़े हुए दिखाई देते हैं। प्रारम्भ में ये धब्बे खड़िया की भांति सफेद होते
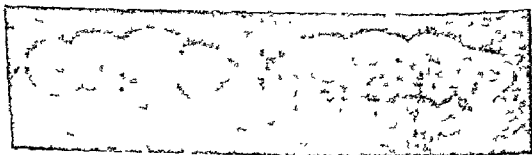
चित्र—111 30 मई सन 1950 (बायीं ओर) से 26 अक्तूबर सन् 1950 (दायीं ओर) तक एक पशु के दांतों पर पड़े हुए धब्बे।

हैं जो बाद में बादामी अथवा काले पड़ जाते हैं और इनमें गड्ढे पड़ जाते हैं। आमतौर पर इनका रंग पीला दिखाई देता है, किन्तु यह बादामी अथवा काला भी हो सकता है। रोग की बढ़ी हुई अवस्था में खोखलेपन के कारण ये अधिक घिसकर छोटे पड़ जाते हैं तथा उनकी ऊपरी सतह गोल दिखाई देती है। गो-पशुओं में दांतों की सामने वाली सतह पर धारियां पड़कर खुरदरी हो जाती हैं जबकि नार्मल दांत चमकीले, सफेद तथा चिकने होते हैं। सामने की सतह की खुरदराहट को दांत पर नाखून फेरकर पहचाना जा सकता है। बढ़ी हुई फ्लूरिन-विषाक्तता में दाढ़ के दांतों की ऊपरी सतह परस्पर नहीं मिलती और यह इतनी अधिक टेढ़ी-मेढ़ी हो सकती है कि चारा चबाना कठिन हो जाता है (चित्र110)।

जिन फार्मों पर स्थायी दाँत निकलने के समय ही पशुओं को हल्की फ्ल्यूरिन विषाक्तता हो जाती है, उनमें सामने के अधिकांश दाँतों में धब्बे तथा खुरदराहट मिलते हैं। कुछ दाँत बिल्कुल ही सामान्य दिखाई देते हैं तथा कुछ बहुत गंदे होते हैं (चित्र 111) निकट के यूथ की तुलना में धब्बेयुक्त तथा खुरदरे दाँतों वाले पशुओं की संख्या अधिक हो सकती है अथवा दाँत अधिक सामान्य दिखाई पड़ सकते हैं। फ्ल्यूरिन-विषाक्तता के बढ़े हुए प्रकोप में दाँतों का भीषण अपक्षय होता है। ऐसा प्रयोग करके दिखाया जा चुका है कि अन्य कोई लक्षण न उत्पन्न करने वाली मात्रा में भी फ्ल्यूरिन देने से चूहों के दाँतों

चित्र—112. यूथ में तीन वर्ष रहने के बाद एक सात वर्षीय जर्सी नस्ल की गाय के अगले खुरों की दशा।

में धब्ब पड़ जाते हैं। ऐसे अवलोकन कभी-कभी यह अनुमान कराते हैं कि दाँतों में धब्ब तथा अस्थायी सूजन की अनुपस्थिति में फ्ल्यूरिन-विषाक्तता नहीं होती। किन्तु, कुछ पशुओं में दाँत निकलन के समय फ्ल्यूरिन-विषाक्तता होने पर भी दाँत नार्मल रह सकते हैं। यह बात मानने योग्य है कि दाँतों अथवा हड्डियों में परिवर्तन होने के समय से पूर्व फ्ल्यूरिन की अति विषैली प्रकार का प्रभाव दैनिक हो सकता है। आमतौर पर ऐसा देखा गया है कि पशु फ्ल्यूरिन की प्रतिक्रिया के प्रति काफी भिन्न होते हैं। जब स्थायी दाँत निकलने वाले पशुओं को स्वस्थ क्षेत्र से फ्ल्यूरिन से संदूषित क्षेत्र में ले जाया जाता है तो स्वस्थ

क्षेत्र में निकले हुए दांत सामान्य रहते हैं तथा अन्य गंदे दिखाई देते हैं। ऐसी विभिन्नता बार-बार देखी गई है। स्थायी दांत निकलते समय मसूड़ों में दर्द होने के कारण बछड़ों के मुंह से पानी गिरता है। दो से पांच वर्ष की आयु के मध्य, स्थायी दांत निकलते समय फ्लूरिन के संपर्क में आने पर उनमें धब्बे तथा दूषित विकास शुरू हो जाता है और ये खराबियां फ्लूरिन-विषाक्तता का रोग-सूचक लक्षण हैं। अस्थायी दांतों पर इसका बहुत ही कम आक्रमण होता है और यदि लगभग पांच वर्ष की आयु तक अथवा स्थायी दांतों के परिपक्व होने तक इस विषाक्तता का आक्रमण नहीं होता तो अगले आक्रमणों में भी ये नार्मल रहते हैं। यदि किसी यूथ के सभी पशुओं के सामने वाले दांत चमकीले, चिकने तथा सफेद होते हैं तो इस यूथ को इस विषाक्तता से मुक्त समझा जाता है।

चित्र—113 यूथ में तीन वर्ष रहने के बाद एक 4½ वर्षीय गाय के खुरों की दशा; ऊपर : अगले खुर, नीचे : पिछले खुर।

लँगड़ापन—फ्लूरिन-विषाक्तता की बढ़ी हुई अवस्था में लँगड़ापन तथा अस्थि शोथ के अतिरिक्त, गो-पशुओं तथा भेड़ों का ठीक होते समय लँगड़ाना इसका प्रमुख लक्षण है। रोग-ग्रसित यूथ में लगभग सभी पशुओं के किसी न किसी समय लँगड़े होने का इतिहास मिलता है। फ्लूरिन विषाक्तता के सामान्य लक्षणों के साथ विभिन्न यूथों में तथा एक

ही यूथ में विभिन्न समय पर लँगडाहट में काफी विभिन्नता होती है और एक समय पर लँगडे पाए जाने वाले पशुओं की अपेक्षा अधिक पशु रोग-ग्रसित होते हैं। इसमें पशु के पैरो में स्थायी रूप से अकडन होना, प्रत्येक बार ब्याने पर लँगडाहट होना, चाल में असतुलन, पीठ खलाना, तथा अधिक बढ़े हुए टेढे-मेढे खुर आदि लक्षण देखने को मिलते है (चित्र 113)। स्लैगसवोल्ड[25] के अनुसार रोग-ग्रसित पशु अधिक समय तक धराशायी रहते है तथा वे मुश्किल से उठ पाते हैं। उनके पैरो में घाव हो जाते है तथा चाल में अकडन होती है। फिर भी जोड तथा टेंडन प्रत्यक्ष रूप से सामान्य रह सकते हैं। बोस्वर्थ आदि[26] का कहना है कि "सदूषित चरागाह पर भेजने के बाद कुछ सप्ताह के अन्दर पशुओं की हालत खराब होने लगती है तथा गोबर पतला होकर वे कमजोर हो जाते हैं। तीन या चार सप्ताह मे लँगडाहट के लक्षण दिखाई देने लगते है और धीरे धीरे ये बढते जाते हैं। जब पशुओं को पशुशाला में बाँधकर उनके राशन में थोडा दाना शामिल किया जाता है तो उनकी हालत म कुछ सुधार होता दिखाई देता है। किन्तु, चरागाह पर वापस भेजे जाने पर उनकी हालत पुन खराब होने लगती है।" लँगडी गायो को चरागाह से हटा लेने के बाद उनके ठीक होने में लगभग एक माह का समय लगता है।[21] लँगडाहट के अस्थायी होने पर रोग-विज्ञान की प्रकृति के लिए कोई स्पष्टीकरण नही है तथा बीमार मनुष्यो की लँगडाहट के लिए किए गए एक्स-रे ऋणात्मक सिद्ध हुए हैं।[10]
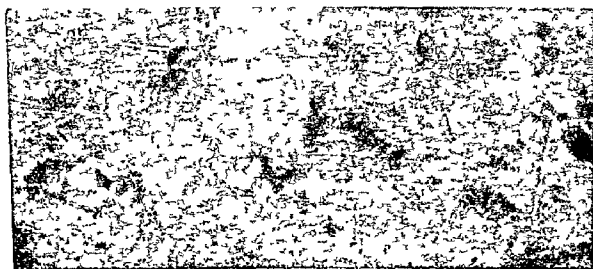
चित्र—114 एक 9 वर्षीय होलसटिन नस्ल की गाय के पिछले खुरो की दशा।

चलते समय पशु के पैरो में कभी कभी खटखट की आवाज सुनाई दे सकती है। ऐसा खुरो के अधिक बढ़ जाने तथा उन पर चलते समय दबाव पडने के कारण होता है। मनुष्य के टखने में ऐसी आवाज का कारण लिगामेंट तथा टेंडनो का कैल्सीकृत होना बताया जाता है और सभवत गो-पशुओं के पैरो से होने वाली खट-खट की आवाज के लिए भी यही स्पष्टीकरण लागू होता है। गो-पशुओं में, रोग की प्रारम्भिक अवस्था में खुर चपटा होकर पृथ्वी के साथ न्यून-कोण बनाता है जिसे कभी-कभी "फावडा खुर (shovel hoof) अथवा बतख खुर (duck hoof) कहा जाता है।' दो वर्ष बाद

देखे गए ऐसे पशु में, उसके खुर दीर्घकालिक लँगड़ाहट से पीड़ित घोड़े से मिलते-जुलते थे। लँगड़ाहट अब भी काफी अधिक थी फिर भी, दूध उत्पादन सदैव अच्छा रहा था तथा पशु की सामान्य हालत में काफी सुधार हो गया था। पी० एल० हँक्स, एम० आर० सी० वी० एस०, जिन्होंने इंगलैंड में योर्कशायर नस्ल के सूकरों में फ्लूरिन-विषाक्तता का पता लगाया, उनके लेख में यह लिखा है कि चित्र 112 की भाँति जिन पशुओं के खुर होते हैं, उनमें खुर की हड्डी या तो ताजी टूटी हुई होती है अथवा टूटकर ठीक हो चुकी होती है। खुरों की यह विकृतता मैसेना, न्यूयार्क की गायों में भी फिचर[14] द्वारा देखी गई। स्लैगमबोल्ड[20] के अनुसार फ्लूरिन-विषाक्तता में पथरीले चरागाहों पर चरने से भी (जहाँ पशुओं के खुर घिस जाया करते हैं) पशुओं के खुर बढ़े हुए मिलते हैं। चित्र 114 में एक ऐसी 9 वर्षीय गाय के पिछले खुर दिखाए गए हैं जो दर्द तथा एठन के कारण मुश्किल से ही चल पाती थी। चलते समय वह अपनी एड़ी पर बल रखकर चलती थी। दूसरे प्रकार की लँगड़ाहट घुटने के जोड़ के पास विस्तृत सूजन होकर पैर के अधिकांश भाग को संलग्न करने से होती है। लँगड़ाहट तथा सूजन, दोनों ही, बार-बार होती देखी जाती है तथा अन्त में टखने के नीचे थोड़ी सी सूजन रहकर यह कम हो जाती है अथवा खुर के ठीक ऊपर हड्डी में गोल-गोल सूजन हो सकती है।

वृद्धि—सभी लेखकों के अनुसार फ्लूरिन-विषाक्तता से पशु की वृद्धि रुक जाती है।[15] यह तथ्य विशेषकर उन लेखकों के लिए लागू होता है जिन्होंने फार्मों पर गो-पशुओं तथा भेड़ों दोनों में फ्लूरिन-विषाक्तता पाई। इस प्रकार ब्लैकमूर आदि[3] की रिपोर्ट में यह वर्णन मिलता है कि "पशु के सामान्य स्वास्थ्य पर फ्लूरिन-विषाक्तता के विशिष्ट प्रभाव का ज्ञात करना काफी कठिन है, किन्तु युवा पशुओं की वृद्धि मारी जाती है।" चार माह की आयु पर दूध छुड़ाए गए बछड़े जब संदूषित चरागाह पर चरने के लिए भेजे गए तो उनकी वृद्धि कम हुई, वे उचित आयु पर प्रजनन के योग्य न हो सके तथा इस यूथ की बछियों को ब्याने में एक वर्ष का समय अधिक लगा। साथ ही निकट के स्वस्थ चरागाह पर जब ऐसे ही बछड़ों का एक अन्य समूह भेजा गया तो उनकी वृद्धि एवं विकास सामान्य रूप से हुआ। जब एक यूथ को अधिक मात्रा में संदूषित खनिज लवण खिलाए गए तथा उसको वायु संदूषित क्षेत्र में रखा गया, तो परीक्षण करने पर उसमें कुछ पशु ऐसे मिले जो स्वस्थ वातावरण में पाले गए अपने साथियों की अपेक्षा कद में बहुत छोटे रह गए। फास्फेटयुक्त चूना पत्थर खिलाने से उत्पन्न बढ़ी हुई फ्लूरिन विषाक्तता में "एक वर्षी तथा दो वर्षी बछड़े जो बाड़े में एक साथ थे सभी एक ही कद के रह गए तथा प्रौढ़ गायों का कद दो वर्षीय बछियों जैसा था।"[13] फिचर[14] द्वारा मैसेना, न्यूयार्क क्षेत्र के गो-पशुओं पर लिखी गई टिप्पणी के अनुसार 'सभी पशुओं की हालत में गिरावट तथा कुछ में क्षीणता देखी गई। कई युवा पशुओं के सिर बढ़ गए थे और उनके शरीर का विकास रुक गया था। 30 प्रौढ़ पशुओं के एक यूथ में केवल तीन गायें नार्मल कद की थीं।" "0.025 प्रतिशत फ्लूरिन खिलाए गए चूहों की आने वाली पीढ़ी ने उत्पादन तो ठीक किया किन्तु उनकी वृद्धि सामान्य ढंग से न हुई।"[17] पृ० 35

जनन—फ्लूरिन-विषाक्तता से पीड़ित पशुओं में बार-बार बांझपन देखा जाता है। कुछ यूथों में अधिकांश पशु बाँझ मिलते हैं तथा कुछ में जनन सामान्य रूप से होता देखा जाता है। पूरक के रूप में 0.15 प्रतिशत (1500 भाग प्रति दश लक्ष) सोडियम

चित्र—115. प्रवाहिका के लक्षणों के साथ वृद्धि रुका हुआ बछड़ा।
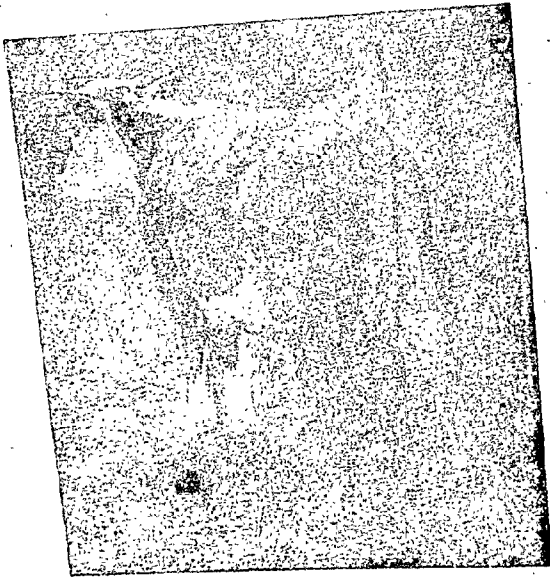
फ्लोराइड मिलाए गए चूहों में अण्डकोषों का अपक्षय तथा वीर्य में शुक्रकीटों की अनुपस्थिति देखी गई।[9] 0·0025 प्रतिशत फास्फेट मिट्टी खाई हुई गायों के नवजात बछड़ों का शरीर भार कम था तथा ब्याने के बाद वे देर से गर्म हुईं।[8] 0·10 प्रतिशत सोडियम फ्लोराइड मिलाए गए चूहों में प्रजनन शक्ति का ह्रास तथा कम वृद्धि होते देखी गई।[18] जिन चूहों को सात पीढ़ियों तक थोड़ा सा सोडियम फ्लोराइड देकर पाला गया उनमें प्रजनन की क्रिया काफी मंद रही।[17] चूहों में दैहिक प्रतिक्रियाएँ प्रजनन पर प्रतिकूल प्रभाव डालकर,[1] जनन तथा दुग्धकाल को कम कर देती हैं।[10] गायों को चार वर्ष तक 2 प्रतिशत फास्फेटयुक्त चूना पत्थर खिलाकर उन्हें प्रति नौ दिन के अवकाश पर गर्म होते देखा गया।[13]

ाने में मिलाकर 3 प्रतिशत फास्फेट मिट्टी जिन गायों को खिलाई गई उनमें या तो गर्भपात [ह]आ या कमजोर बच्चे पैदा हुए।[7]

पशु की दशा—"दीर्घकालिक फ्लूरिन-विषाक्तता से पीडित पशु जीर्ण-शीर्ण होते हैं⋯180 घंटे तक मूत्र एकत्रित करके हम लोगों ने मूत्र में निकलने वाली नाइट्रोजन की मात्रा ज्ञात की जिससे यह पता चला कि किसी हद तक पशु के जीर्ण-शीर्ण होने का कारण बढ़ा हुआ उपापचयन है (कुल नाइट्रोजन 44–56 थी, जो 120–134 मि० ग्रा० तक बढ़ गई)।"[5] "फ्लूरिन-विषाक्तता में दैहिक प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप दुग्ध उत्पादन कम हो जाता है।"[8]

पाचन तंत्र—खनिज पदार्थ खिलाकर फ्लूरिन-विषाक्तता पर रिकार्ड किए गए प्राचीन अवलोकन यह प्रदर्शित करते हैं कि ऐसे पशुओं में खान-पान में अरुचि तथा स्वास्थ्य गिरना आदि लक्षण देखे जाते हैं। सदूषित चरागाहों पर घास चरने भेजने के बाद कुछ ही सप्ताहों में पशु निर्बल हो जाते हैं तथा उनका गोबर भी कुछ पतला हो जाता है।[20,12] "गायों का गोबर पतला होकर उन्हें दस्त तक आ सकते हैं। उन्हें भूख नहीं लगती है। उनका शरीर भार कम होने लगता है और वे बहुत ही कम दूध देती हैं।"[25] रोग की बढ़ी हुई अवस्था में दाढ़ के दाँतों में विकृति उत्पन्न होकर पशु को चबाने में कष्ट हो सकता है। ओरेगन[20] के एक यूथ में युवा बछड़ों को दस्त आना इस विषाक्तता का प्रमुख लक्षण था (चित्र 115)। पशु का मल काला, कोलतार जैसा तथा चिपचिपा था जो पिछले पैरों, नितम्बों तथा पूँछ की पूरी लम्बाई पर चिपका हुआ था। पशु के मालिक ने बताया कि वर्षा अथवा कोहरा पड़ने के बाद स्वच्छ मौसम में पशु के दस्त में सुधार होते देखा गया। अन्य लोगों द्वारा भी ऐसे ही अवलोकन किए गए तथा पशु-चिकित्सों ने बताया कि इस क्षेत्र के पशुओं के दस्तों की चिकित्सा में सफलता प्राप्त न हो सकी।

मूत्र तंत्र—"प्रयोगात्मक रूप से उत्पन्न की गई फ्लूरिन-विषाक्तता में पशुओं की कई जातियों में अधिक पानी पीना तथा बार-बार पेशाब करना प्रमुख लक्षण था।"[1] पृ॰ 271 मैदानी परिस्थितियों में बड़े पशुओं में इन लक्षणों का पहचान करना कठिन होता है किन्तु ओरेगन के एक बड़े यूथ में ये प्रत्यक्ष रूप से मौजूद थे।[20] ब्लैकमोर आदि[3] पृ॰ 279 ने लिखा कि "बार-बार पेशाब करना तथा अत्यधिक प्यास के लक्षण जो फ्लूरिन-विषाक्तता में अधिकतर रिकार्ड किए गए, हम लोगों द्वारा नहीं देखे गए तथा पशुओं को दस्त भी नहीं आए।"

मूत्र—फ्लूरिन का पता लगाने के लिए मूत्र-विश्लेषण का महत्व ब्लैकमोर आदि[3] द्वारा रिपोर्ट किया गया है जिन्होंने यह पता लगाया कि "फ्लूरिन-विषाक्तता का अनुमापन करने के लिए सबसे प्रमुख ढंग मूत्र में फ्लूरिन निकलने की मात्रा ज्ञात करना है। मूत्र को मूत्र-नलिका (कैथीटर) द्वारा आसानी से निकाल कर उचित विधि द्वारा शीघ्रता से विश्लेषण किया जा सकता है। यह विधि केवल रोग के निदान के लिए ही लाभदायक न होकर, फ्लूरिन-विषाक्तता उत्पन्न करने वाले क्षेत्रों की जानकारी कराने तथा इसके प्रकोप की उग्रता का बोध कराने में भी लाभप्रद है⋯फ्लूरिन-विषाक्तता के बड़े

हुए प्रकोप में मूत्र में इसकी मात्रा 16 से 68 भाग प्रति दशलक्ष हो सकती है तथा नार्मल 2 से 6 भाग प्रति दशलक्ष की अपेक्षा अधिकांश रोगियों के मूत्र में यह 25 भाग प्रति दशलक्ष से अधिक मिलती है ·········अतः ऐसा प्रतीत होता है कि नैदानिक दृष्टिकोण से मूत्र में 10 भाग प्रति दशलक्ष इसकी मात्रा होना कुछ-कुछ आलोचनात्मक है।"

निदान—"फ्लूरिन-विषाक्तता के बढ़े हुए प्रकोप में उपस्थित लक्षण निदान के लिए पर्याप्त होते हैं। दाँतों में परिवर्तन मौजूद होने पर इस बीमारी की अन्य किसी अवस्था से संभ्रान्ति नहीं होने पाती।" विषाक्तता की बार-बार होने वाली प्रारम्भिक अवस्थाओं में और विशेषकर फैक्टरी वाले क्षेत्रों में पूरे यूथ, संदूषण के सम्भव स्रोतों से दूरी, चलने वाली हवाओं की दिशा, प्रजनन की दर, पशुओं की आयु, पशुओं के विक्रय अथवा हटाने के कारणों, समुचित मात्रा में खनिज लवणों (कैल्शियम तथा फास्फोरस) की पूर्ति तथा यूथ और पड़ोस के यूथों के इतिहास पर विचार करने की आवश्यकता होती है। वैसे तो मूत्र, हड्डियों तथा चारे का विश्लेषण वांछनीय है, किन्तु मैदानी परिस्थितियों में इन साधनों को प्राप्त करना तथा केवल एक बार के विश्लेषण से सही परिणामों को अंकित करना काफी कठिन हो सकता है। फिलिप्स के अनुसार बिना किसी घातक परिणाम के गो-पशुओं की हड्डियाँ 400 भाग प्रति दशलक्ष तक फ्लूरिन ग्रहण कर सकती हैं। ब्लैकमोर[3] की रिपोर्ट के अनुसार 5900 भाग प्रति दशलक्ष फ्लूरिन की उपस्थिति से पसलियाँ इतनी भँगुर हो गईं कि उन्हें शरीर से निकालने के बाद हाथों से तोड़ा जा सका। वाडी[21] ने रोग-ग्रसित भेड़ की मैंडिबल हड्डी का विश्लेषण करके नार्मल 415 भाग प्रति दशलक्ष की अपेक्षा 4200 तथा 2140 भाग प्रति दसलक्ष फ्लूरिन, तथा रोग ग्रसित ढोरों की पसली के विश्लेषण से उसमें नार्मल 114.2 भाग प्रति दशलक्ष की अपेक्षा 3220 भाग प्रति दशलक्ष फ्लूरिन पाई। ब्लैकमोर आदि [3] पृ० 271 के अनुसार "'अस्थि भस्म' में 0.05 से 0.10 प्रतिशत (500 से 1000 भाग प्रति दशलक्ष) फ्लूरिन की मात्रा नार्मल मानी जाती है, किन्तु फ्लूरिन-विषाक्तता का लाक्षणिक निदान हो पाने से पूर्व यह काफी बढ़ी हुई हो सकती है।"

संदर्भ

1. Roholm, K., Fluorine Intoxication, London, H. K., Lewis, 1937.
2. Hart, E. B., Phillips, Paul H., and Bohstedt, G., Relation of soil fertilization with superphosphates and rock phosphate to fluorine content of plants and drainage waters Am. J. of Pub. Health, 1934, 24, 936.
3. Blakemore, F., Bosworth, T. J., and Green, H. H., Industrial fluorosis of farm animals in England, J. Comp. Path. and Ther. 1948, 58, 267.
4. Larner, J., Toxicological and metabolic effects of fluorine containing compounds, Industrial Med. and Surgery, 1950, 19, 535.
5. Bond, A. M., and Murray, M. M., Kidney structure and function in chronic fluorosis, Brit. J. Exp. Path., 1952, 33, 168.
6. Taylor, G. E., Effect of fluorine in dairy cattle ration, Mich. Quar. Bll. 1929, 11, 101.

7 Reed, O E , and Huffman, C F , The Results of a Five Year Mineral Feeding Investigation with Dairy Cattle, Mich Tech Bull 105, 1930

8 Phillips, P , Hart, E B , and Bohstedt, G , Chronic Toxicosis of Dairy Cows Due to the Ingestion of Fluorine, Wis Res Bull 123, 1934

9 Houck, H M , Steenbock, H , and Parsons, H T , Is the effect of fluorine on teeth produced through the parathyroid glands, Am J Phys , 1933, 103, 480

10 Murray M M , and Wilson, D C , Fluorine hazards, Lancet, 1946, 2, 821

11 Hupka and Goetze, Deut Tierarztl Wchnschr , 1931, 39, 203

12 Agate, J N Et al , A Report of the Fluorosis Committee Industrial Fluorosis, London Med Res Council Memorandum No 22, 1949

13 Udall, D H , Practice of Vet Medicine, 1947

14 Fincher, M G (unpublished notes)

15 Lamb, A R , Phillips, P H , Hart, E B , and Bohstedt, G , Studies on fluorine in the nutrition of the rat I Its influence upon growth, A J Phys , 1933, 106, 350

16 Phillips, P H , Lamb, A R Hart, E B , and Bohstedt, G , Studies on fluorine in the nutrition of the rat II Its influence upon reproduction, Am. J Phys , 1933 106, 356

17 Iowa Agr Exp Sta Rpt , 1926, p 35

18 Schulz, J A and Lamb, A R , The effect of fluorine as sodium fluoride on the growth and reproduction of albino rats, Science, 1921, 61, 93

19 Hart, E B , Steenbock, H , and Morrison, F B , Wis Bull., 390, 1927

20 Udall D H , and Keller, K P , A report of fluorosis in cattle in the Columbia River Valley, Cornell Vet , 1952, 42, 159

21 Boddie, George F , Vet Record, 1947, 59, 301

22 Borei, H., Arkiv for Kemi, Mineralogi och Geologi, 1945, 20 Hft 2 3, pp 1 215

23 Summer, J B , and Somers, G F , Chemistry and Methods of Enzymes, ed 2, Academic Press, New York, 1947

24 Kick, C H., Bethke, R M , Edington, R H , et al , Fluorine in Animal Nutrition, Ohio Bull 558, 1935

25 Slagsvold, L , Norsk Vet-Tid , Nr 4, I 2, 1934 Eng abs in Roholm, p 41

26 Bosworth, J T , Green, H H , and Murray, M M , Bridge, J C , and Wilkie, J , Proc Roy, Soc Med , 1941, 34, 391

27. Proceedings of the United States Technical Conference on Air Pollution, McGraw-Hill, New York, 1952

फर्न-विपाक्तता

(Bracken Poisoning)

(फर्न)

कारण—यह गो-पशुओं में होने वाली उग्र अथवा कुछ कम उग्र विपाक्तता है जो फर्न (Pteris aquilina) नामक पौधों को खाने से उत्पन्न होती है। रोग का एकाएक प्रकोप होना, तेज बुखार तथा त्वचा एवं श्लेष्मल झिल्लियों से रक्तस्राव होना आदि लक्षणों से इसे पहचाना जाता है। एबोमेसम तथा अँतड़ी में अत्यधिक रक्तस्राव तथा यकृत में परिगलित फुन्सियाँ होना इसके रोगजनक परिवर्तन हैं। पहले-पहल इस बीमारी का 'गो पशुओं में शाक-विपाक्तता के रोगी' नामक शीर्षक के अन्तर्गत इँगलैंड में स्टोरर[1] द्वारा वर्णन किया गया जिसका कारण उन्होंने बढ़ी हुई फर्न के कोमल पत्तों का खाना बताया। इस बीमारी के विशिष्ट लक्षणों तथा क्षतस्थलों का सन् 1917 में स्टाकमैन[2] द्वारा वर्णन किया गया जिन्होने यह बताया कि इस बीमारी के लक्षण तथा क्षतस्थल ट्राइक्लोरेथीलीन से वसारहित किए गए सोयाबीन खाद्य-विपाक्तता के लक्षणों तथा क्षतस्थलों से मिलते-जुलते हैं। उन्होंने 2 माह की आयु वाले पशु को फर्न के तने खिलाकर फर्न-विपाक्तता उत्पन्न की। इस पशु ने कुल 260 पौण्ड पदार्थ खाया। इनके अनुसार इसमें उपस्थित विष सोयाबीन की भाँति होकर रीसिन, एब्रिन आदि प्रकार का होता है। हैडवेन[3] ने फ्रेज़र नदी की घाटी में रहने वाले घोड़ों में यह विपाक्तता देखी। वहाँ यह जनवरी तथा फरवरी के महीनों में विशेषकर फर्नयुक्त सूखी घास खिलाए गए घोड़ों में उत्पन्न हुई। वेस्टर[4] ने भी काफी मात्रा में फर्नयुक्त सूखी घास खिलाए गए घोड़ों में जाड़ों के महीनों में इस विपाक्तता का वर्णन किया। उनके अनुभव के अनुसार कुछ ही चरागाहों में विषैले फर्न होते हैं और शुष्क तथा गर्म मौसम के बाद यह प्रकिया अधिक तेज हो जाती है। अनिश्चित गति, संतुलन का ह्रास, तथा रोगी की गिरी हुई हालत इसके लक्षण हैं। रोगी की भलीभाँति देखभाल न करने पर घबराहट तथा पक्षाघात के लक्षण उत्पन्न होकर घोड़ा उठकर खड़े होने में असमर्थ हो जाता है। हैडवेन तथा वेटर द्वारा वर्णित घोड़ों की बीमारी, चरागाह पर चरने वाले ढोरों में होने वाली फर्न-विपाक्तता से बहुत ही कम मिलती-जुलती है किन्तु, यह एक्विसिटम (Horsetail) विपाक्तता के अनुरूप होती है। "फर्न से हटाने के दो या अधिक सप्ताह बाद पशुओं में इसके लक्षण उत्पन्न होते हैं।"[5]

न्यूयार्क स्टेट में यह बीमारी अगस्त तथा सितम्बर के महीनों में चरागाहों पर चरने वाले पशुओं में होते देखी जाती है। गर्मी के अधिक सूखे रहने पर इस बीमारी के प्रकोप करने की संभावना अधिक रहती है। पहला पाला पड़ने के बाद बीमारी एकाएक समाप्त हो जाती है। कुछ वर्षों में यह अधिक प्रकोप करती है। आमतौर पर यूथ के एक या दो पशु ही इसके शिकार होते हैं, किन्तु कभी-कभी इसके विपरीत भी होते देखा जाता है। वैसे तो एक वर्षीय तथा 2 वर्ष की आयु वाले पशुओं में ही अधिकतर इसका प्रकोप होता है, किन्तु मौसम के अति सूखे होने पर यह बीमारी प्रौढ़ गायों को भी होती देखी जाती है। इस प्रदेश में यह रोग सबसे पहले [illegible] तथा [illegible][7] द्वारा वर्णन किया गया। इसके

बाद वाले वर्षों में हैगन तथा जीसिग ने एक फर्न [(Pteridium latinusculum) पुराना नाम टेरिडिअम एक्विलाइना] खिलाकर पशुओं में प्रयोगात्मक रूप से इस रोग को उत्पन्न किया।

विकृत शरीर रचना—शव को तथा उसके निकट की तृणमय भूमि को देखने से यह अनुमान होता है कि मृत्यु के समय रोग-ग्रसित पशु अत्यधिक छटपटाया होगा। पशु के मलाशय से निकले हुए रक्त से निकट की भूमि भी सनी हुई मिलती है। उसके मुंह तथा नथुनों से झाग निकलती है तथा त्वचा पर रक्त के धब्बे मिलते हैं। लाश को चीर कर देखने पर लगभग सभी शारीरिक तन्तुओं में रक्तस्राव मिलता है। यह रक्तस्राव त्वचा, त्वचा के नीचे मांस-पेशियों, उदर झिल्ली, मूत्राशय, लसीका ग्रंथियों, गुर्दों तथा भ्रूण तक में मौजूद मिलता है।[6] एबोमेसम, विशेषकर ड्यूओडिनल द्वार पर, सूजा हुआ तथा रक्तस्रवित होता है। रक्तस्राव ताजा अथवा कई दिन पुराना हो सकता है और यह घाव के क्षेत्र पर स्थित रहता है। छोटी अँतड़ी में एबोमेसम की भांति ही क्षतस्थल होते हैं। प्राय सीकम तथा बड़ी अँतड़ी में काफी मात्रा में चमकीला लाल तथा जमा हुआ रक्त भरा मिलता है। यकृत पर फैले हुए परिगलित क्षेत्र मिलते हैं जो आकार में या तो माइक्रासकोपिक अथवा एक इंच व्यास के हो सकते हैं। वे ऐक्टिनोमाइसीज नेक्रोफोरस द्वारा उत्पादित परिगलित क्षेत्रों से निकटतम मिलते-जुलते हैं। कभी-कभी फेफड़ों में भी यकृत की भांति ही परिगलित क्षेत्र मिलते हैं। नाक तथा नासा मार्ग की श्लेष्मल झिल्ली में घाव हो सकते हैं। गुर्दों में रक्तस्रवित गुर्दाशोथ हो सकती है, किन्तु ऐसा होना अनिवार्य नहीं है। सीरस तथा श्लेष्मल झिल्लियाँ छोटे-छोटे दानों से आच्छादित हो सकती हैं। प्लीहा प्राय सामान्य रहती है।

लक्षण—106 से 109° फारेनहाइट तक तेज बुखार के साथ इसका आक्रमण एकाएक होता है। पशु के मुंह से लार गिरती है तथा नथुनों से रक्त-मिश्रित स्राव टपक सकता है। आँख से दिखाई देने वाली श्लेष्मल झिल्लियों में रक्तयुक्त छोटे छोटे दाने मिलते हैं। इन्हें योनि, नासा-मार्ग तथा होठों, विशेषकर सामने वाले दाँतों के नीचे निचले होठों, पर देखा जा सकता है।[7] नर पशु के वृषण कोष पर रक्तस्राव पाया जा सकता है। पशु को कभी-कभी साँस लेने में कठिनाई होती है तथा उसके मूत्र में खून मौजूद हो सकता है। रोग की उग्र अवस्था में प्राय एक से तीन दिन में रोगी की मृत्यु हो जाती है। कुछ कम उग्र तथा दीर्घकालिक अवस्था का कोर्स चार से दस दिन होता है। खान-पान में अरुचि, नाक से गाढ़ा स्राव बहना; जीभ की जड़, फेरिंक्स, नथुनों तथा श्वास-नली में परिगलन होना, तथा होठों, कँधों, मुतान, टखनों और थूथन की त्वचा में परिगलित क्षेत्र मिलना इसके विशिष्ट लक्षण हैं। ये ऐक्टिनोमाइसीज नेक्रोफारस द्वारा उत्पादित क्षतस्थलों से मिलते-जुलते हैं। पशु का लगातार पीलिया रहती है जो रोग के साथ बढ़ती जाती है। कुछ पशुओं में गोबर के साथ रक्त के बड़े-बड़े छीछड़े निकलते हैं। इसका कोर्स चार से दस दिन का होता है तथा कुछ ही पशु ठीक हो पाते हैं। रक्त में श्वेताणुह्रास के परिवर्तन पाए जाते हैं जिनमें बहुरूपकेन्द्रक-श्वेताणुओं एवं रक्त-बिम्बाणुओं (polymorphonuclear leucocytes and blood platelets) की विशेष कमी होती है।[5]

उग्र सामान्य संक्रमणों से मिलता-जुलता होने के कारण इसका निदान करना आवश्यक होता है। ऐंथ्राक्स, गलाघोटू तथा लँगड़ी रोग से इसकी सभ्रान्ति हो सकती है। अभी तक इसकी प्रभावकारी चिकित्सा का पता नहीं लग सका है।

संदर्भ

1. Storrar, D. M., Cases of vegetable poisoning in cattle, J. Comp. Path. and Ther., 1893, 6, 276.
2. Stockman, Sir Stewart, Bracken poisoning in cattle in Great Britain, J. Comp. Path. and Ther., 1917, 30, 311.
3. Hadwen, S., So-called staggers in horses caused by the ingestion of Pteris aquilina, the common bracken, J.A.V.M.A., 1916-17, 50, 702.
4. Wetter, C. H., Bracken poisoning in horses, J.A.V.M.A., 1926, 69, 227.
5. Sippel, Wm. L., Bracken fern poisoning, J.A.V.M.A., 1952, 121, 9.
6. Hagan, W. A., Bracken poisoning of cattle Cornell Vet., 1925, 15, 326.
7. Bosshart, J. K., and Hagan, W. A., A fatal unidentified cattle disease in New York State, Cornell Vet., 1920, 10. 102.

एक्विसिटम-विषाक्तता

(Equisetum Poisoning)

कारण—एक्विसिटम-विषाक्तता प्रमुख रूप से घोड़ों में प्रकोप करने वाला एक उग्र पक्षाघात है जो एक्विसिटम अवेंजों (horsetail fern, foxtail, scouring rush) नामक फर्न से संदूषित घास खाने से उत्पन्न होता है। यह फर्न सम्पूर्ण यूनाइटेड स्टेट्स तथा कनाडा में पाई जाती है।

फर्न में उपस्थित एक अज्ञात विषैला पदार्थ मेरु-रज्जु तथा अनुमस्तिष्क पर पक्षाघातीय प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है तथा फ्रोनर[1] ने लिखा है कि जलवायु तथा क्षेत्र के आधार पर यह पौधा विषैला अथवा अविषैला हो सकता है।

सन् 1902 में वर्मान्ट में रिच तथा जोंस[2] द्वारा इस रोग का वर्णन किया गया जहाँ प्रदेश के अनेक फार्मों पर थोड़ी बहुत एक्विसिटम उगकर घातक विषाक्तता का कारण बनती है। बर्लिंगटन के निकट दो वर्षों की अवधि में डा० रिच ने इसके 23 रोगी देखे। तराई वाले गीले तथा बिना जुते हुए रेतीले चरागाहों में जहाँ पानी भरा रहता है एक्विसिटम खूब पनपती है और वहाँ अक्सर यह बहुफली युक्त फर्न (onoclea sensibilis-sensitive fern) के साथ उगा करती है। भेड़ों के लिए यह विषैली तथा गायों के लिए अविषैली कही जाती है। इंगलैंड में थेन[3] ने एक तिहाई एक्विसिटम पैलस्ट्रे (Equisetum palustre) युक्त सूखी घास खिलाने से गायों में यह विषाक्तता होते बताई जबकि रिच ने एक ऐसे किसान की चर्चा की जिसकी गायें 25 प्रतिशत एक्विसिटम अर्वेंसी युक्त सूखी घास खाकर भली-भाँति जीवित रहीं। भेड़ों में इसकी विषाक्तता के बारे में लोगों के विभिन्न मत हैं।

लक्षण—रोग के प्रारम्भिक लक्षण अति उत्तेजना के रूप में होते हैं जैसा कि ध्वनि तथा गतियों के प्रति अति संवेदनशीलता से प्रकट होता है। पशु घबराया हुआ तथा अति चौकन्ना होकर भय, उत्तेजना अथवा बेचैनी सी प्रकट करता है। अतः डॉ० रिच ने विभिन्न रोगियों का वर्णन करते हुए यह कहा कि पशु घबराया हुआ था तथा थोड़ा सा शोर करने पर ही चौंक पड़ता था अथवा पास पहुँचने पर भय के कारण कांपने लगता था, अथवा साइकिलों तथा बिजली से चलने वाली कारों से अति घबराता था, अथवा घबराकर चलते-चलते चक्कर काटने लगता था, या पास पहुँचने अथवा छूने पर घबराकर भाग जाने का प्रयास करता था। रोग ग्रसित घोड़ा पहले कमजोर होकर दुबला हो जाता है तथा आयु एवं खिलाने के ढंग के अनुसार दो से पांच दिन में चलने पर लँगड़ाने लगता है। वह बैठना नहीं चाहता है तथा जब खड़ा रहने के योग्य नहीं रहता तो जमीन पर गिर जाता है और पुनः उठने के लिए तेजी से छटपटाता है। कुछ लोगों के अनुसार उसका लड़खड़ाना तथा चक्कर काटना शराब पिए हुए मनुष्य की भाँति अथवा फिसलने वाले बर्फ पर किसी पशु के चलने की भाँति होता है तथा जर्मनी में इसे "लुड़कना रोग" (tumbling disease) के नाम से जाना जाता है। जब तक पशु जमीन पर नहीं गिर जाता उसमें नार्मल से कम तापक्रम एवं धीमी नाड़ी-गति के अतिरिक्त निराशा; भूख न लगना; बढ़ी हुई नाड़ी, ताप तथा श्वसन जैसे सामान्य लक्षण नहीं मिलते। पशु को रक्ताल्पता अथवा पीलिया नहीं होती तथा उसकी श्लेष्मल झिल्लियाँ नार्मल रहती हैं। अत्यधिक कमजोरी तथा लड़खड़ाने की प्रवृत्ति के साथ पशु क्षुधातुर हो जाता है। डॉ० रिच ने लिखा है कि आंशिक पक्षाघात होने पर भी पशु की आँखें चमकीली रहती हैं। वह भली-भाँति खाता-पीता रहता तथा उछल कूद सकता है। गिरने के बाद उसके पैर थोड़े बहुत अकड़ जाते हैं। कभी-कभी शरीर की समस्त मांस पेशियों में अनैच्छिक उग्र-संकुचन होता है और इस अवस्था में रोगी दो सप्ताह तक जीवित रह सकता है। तत्पश्चात् थकावट के कारण उसकी मृत्यु हो जाती है। युवा पशुओं की अपेक्षा बड़ी आयु के पशुओं में यह रोग कम होता है। एक फार्म पर एक घोड़ी चार सप्ताह के बाद अधिक पीड़ित हुई जबकि उसके बछेड़े की दस दिन में ही इस बीमारी से मृत्यु हो गई। रोग-ग्रसित घोड़ा दाना छोड़कर बिछावन आदि खाने का प्रयत्न करता है। उसे प्रायः अपच रहती है। दाना खिलाए गए घोड़ों में इस बीमारी के प्रति अधिक सहनशक्ति पाई जाती है। इसका कोर्स कई दिन का होता है तथा फोनर[1] ने लिखा है कि कुछ ही घंटों में यह बीमारी प्राणघातक सिद्ध हो सकती है। जो युवा पशु इसको प्राणघातक से कम मात्रा खाते हैं उनमें रोग की दीर्घ-कालिक अवस्था होने वर्णन की गई है। ऐसे पशु कमजोर, चंचल, घबराए हुए तथा आसानी से चौंकने वाले प्रतीत होते हैं।

कारण तथा लक्षणों के आधार पर इसका निदान आसानी से किया जा सकता है। संभवतः इस विषाक्तता के अनेक रोगियों को "खाद्य-विषाक्तता", बोट्यूलिज्म, मस्तिष्क दाह तथा अज्ञात कारण से उत्पन्न पक्षाघात से संभ्रान्ति हो सकती है और ऐसा कहा गया है कि उत्तरी न्यूयार्क में संक्रामक न्यूमोनिया से इसकी बहुधा संभ्रान्ति हो जाया करती है।

शव-परीक्षण करने पर मांस-पेशियाँ पीली तथा मेरु-रज्जु एवं अनुमस्तिष्क की तानिकाएँ रक्तवर्ण दिखाई पड़ती हैं। रिच के अनुसार एक रोगी के अनुमस्तिष्क के चारों ओर पतला गंदला स्राव भरा हुआ था। इस बीमारी के रोग-विज्ञान पर अपेक्षाकृत अभी कम साहित्य उपलब्ध है।

चिकित्सा—रोगी के धराशायी होने से पूर्व यदि उसकी घास बदल दी जाती है तो उसके अच्छे होने की संभावना रहती है। पशु का करवट बदलते रहने तथा उसे रस्सी का सहारा देकर खड़ा रखने से कभी-कभी न उठ पाने वाले घोड़े भी ठीक हो जाते हैं। रिच ने एलोइन (aloin) तथा स्ट्रिकनीन सल्फेट जैसे मृदुरेचक पदार्थों के सेवन कराने की राय दी है तथा अन्य लोग घास के बदलने तथा रोगी की देख-भाल करने तक ही इसकी चिकित्सा को सीमित रखते हैं।

संदर्भ

1. Fröhner, Eugen, Lehrbuch der Toxikologie, p. 342, 1927.
2. Rich, F. A., Equisetum poisoning, Am. Vet. Rev., 1902-03, 26, 944; Rich. F. R., and Jones, L. R., Vet. Agr. Exp. Sta. Bull., 95, 1902.
3. Crane, John, Equisetum poisoning in a herd of cattle, Vet., J., 1931, 87, 247.

विविध-रोग
(MISCELLANEOUS)
संक्रामक स्वच्छपटलशोथ
(Infectious Keratitis)

(संक्रामक नेत्र-श्लेष्मलाशोथ; गुलाबी नेत्र; विशिष्ट नेत्राभिष्यन्द)

परिभाषा—यह एक संक्रामक तथा छूतदार उग्र नेत्रश्लेष्मला शोथ एवं स्वच्छपटल शोथ है जो एक जीवाणु हीमोफिलस बोविस (Moraxella) द्वारा उत्पन्न होती है।

कारण—सन् 1923 में जोंस तथा लिटिल[1] ने नेत्र-रोग का एक प्रकोप होते बताया जो न्यू जर्सी की डेरी यूथ में ओहायो से खरीदी गई गायों द्वारा प्रवेश पाया। देखे गए सभी

चित्र—116. संक्रामक स्वच्छपटलशोथ।

24 रोगियों में से एक विशिष्ट डिप्लोकोकस, हीमोफिलस बोविस नामक जीवाणु को प्राप्त किया गया तथा "इसके विशुद्ध संवर्धन की कुछ बूँदें जब स्वस्थ गो-पशु की आँख में डाली गई तो उनकी आँख में विशेष प्रकार की सूजन उत्पन्न हो गई।" सन् 1945 में रीड तथा ऐनिस्टोन[2] ने बताया कि "यह बीमारी गो-पशुओं के लिए अति संक्रामक है तथा आँख अथवा नासा स्राव के सम्पर्क द्वारा शीघ्र ही बछड़ों को लग सकती है·········संक्रामक केरेटिनीकृत नेत्र-श्लेष्मला शोथ के जीवाणुओं की विधिवत जाँच करने से यह पता चला कि साधारण मौसम में उगाए जाने वाले विभिन्न काक्कल जीवाणुओं के अतिरिक्त इसमें हीमोफिलिक तथा रुधिर-लयी बैसिलस भी मौजूद रहते हैं जिनकी वृद्धि के लिए रक्त

अथवा सीरम की आवश्यकता पड़ती है। ढोरों, भेड़ों तथा वकरियों में वैसिलस के ताजे संवर्धन द्वारा इस बीमारी को प्रयोगात्मक रूप से उत्पन्न किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त प्राकृतिक अथवा प्रयोगात्मक रूप से संक्रान्त होकर अच्छे हुए पशु के सीरम में इस जीवाणु के प्रति ऐग्लूटिनिन पाई गई। इससे यह निष्कर्ष निकाला गया कि यह रुधिर-संरागी डिप्लोवैसिलस गो-पशुओं में इस रोग का विशिष्ट कारण है। अपनी बनावट तथा संवर्धनीय एवं रोगोत्पादक गुणों में यह जीवाणु हीमोफिलस वोविस से मिलता-जुलता है।" वाल्डविन[3] ने 112 संदूषित नेत्रों में से 93 में हीमोफिलस वोविस जीवाणु पाया तथा जाँच किए गए 20 स्वस्थ पशुओं की आँख में यह जीवाणु न मिला। प्रत्यक्ष रूप से रोगी के ठीक दिखाई देने के बाद भी दो या अधिक महीनों तक संदूषण मौजूद रहा। फार्ले[4] के अनुसार रोग की दीर्घकालिक अवस्था में नेत्र-रोग का संदूषण जाड़ों भर मौजूद रहकर वसंत में वछड़ों पर पुनः आक्रमण करता है। यूनाइटेड स्टेट्स में संक्रामक स्वच्छपटलशोथ गो-पशुओं में खूब होती है, जहाँ यह थोड़ी बहुत वर्ष भर प्रकोप करती है तथा किसी भी समय रोग-ग्रसित पशुओं की संख्या इतनी कम हो सकती है कि इसके छुतैले प्रकार को मुश्किल से ही पहचाना जा सकता है। उत्तरी अमरीका के सभी भागों में यह बीमारी खूब होती है। अफ्रीका तथा इण्डियाना में भी इसे होते वताया गया है तथा यह संसार भर में प्रकोप करती मालूम देती है। पतझड़ के दिनों में पशुओं के चरागाह पर जाने के समय जब कोई रोग-ग्रसित पशु यूनाइटेड स्टेट्स के पूर्वी भाग के यूथ में प्रवेश पाता है, तो यह बीमारी पड़ोस के पूरे क्षेत्र में फैल जाती है। चरागाह के रोग के रूप में गर्मी के अन्त तथा पतझड़ के दिनों में यह बीमारी खूब फैलती है, किन्तु न्यूयार्क तथा ओहायो में पशुशाला में वँधे रहने वाले पशुओं में यह जाड़ों में भी प्रकोप करते देखी गई है। एक यूथ के 40 से 50 प्रतिशत पशुओं पर इसका आक्रमण हो सकता है और युवा पशुओं में यह अधिक तथा भीषण रूप में प्रकोप करती है। मक्खियों को इसकी छूत का वाहक समझा जाता है तथा फार्ले[4] ने देखा कि मक्खियों से सुरक्षित पशुशालाओं में एक साथ रहने तथा एक साथ खाने-पीने वाले ग्रहणशील वछड़ों में इसका प्रकोप नहीं होता। प्रयोगात्मक रूप से संदूषित एक आँख का संक्रमण दूसरी में नहीं लगता तथा रोग के प्रकोप के चार माह बाद तक नेत्र स्राव में रोग उत्पादन की शक्ति मौजूद रहती है।

लक्षण—प्रयोगात्मक पशुओं में रोग का उद्भवन काल दो से चार दिन का होता है। प्रकाश से भय; आँखों से आँसू बहना; तथा पलकों का सूजकर लाल हो जाना, उनका बंद रहना एवं छूने पर उनमें दर्द होना आदि लक्षणों के साथ इस बीमारी का एकाएक प्रकोप होता है। पलकों तथा चेहरे के बाल चटाई की भाँति चिपके हुए से दिखाई देते हैं तथा उनमें खुजली होकर रूसी सी छूटती देखी जाती है। दो या तीन दिन बाद यदि आँखों के पलकों को बलपूर्वक खोला जाता है तो कॉर्निआ की पूरी सतह पर पीला पदार्थ जमा मिलता है तथा एक ओर से देखने पर वह उभरी हुई सी प्रतीत होती है। ऐसा आँख पर दवाव पड़ने के कारण होता है। इस उभड़े हुए स्थान पर घाव बन सकता है। रोग के भीषण प्रकोप में कॉर्निआ में इसी स्थान पर छिद्र होकर संक्रमण आगे बढ़ता है और नेत्र-गोलक में पहुँचकर पशु को अँधा बना देता है। नियम के अनुसार किसी प्रकार आँख का धुंधलापन अंत में गायब

होकर पशु को पुन दिखाई देने लगता है। धूप, धूल, मक्खियो तथा हवा के सपर्क में अधिक आने वाले मैदानी पशुओं में इस रोग का भीषण प्रकोप होता है। सफेद चेहरे वाले गो पशुओं में यह बीमारी बहुत ही तेजी से प्रकोप करती कही जाती है। इसका कोर्स दो से चार सप्ताह का होता है तथा अधिकाश रोगी बिल्कुल ही ठीक हो जाते है। रोग के हल्के प्रकोप में आँखो से आँसू बहने के साथ कॉर्निआ में अल्पकालीन सफेद अथवा धूएँ की भांति धुंधलापन देखा जाता है। पशु में निराशा तथा कभी-कभी बुखार आदि लक्षण उत्पन्न होकर दुधारू गायो का दूध उत्पादन लगभग 50 प्रतिशत कम हो जाता है। डेरी यूथ में इसके भीषण प्रकोप से भारी क्षति पहुँचती है।

चिकित्सा—रोग के प्रकोप से बचाने के लिए यूथ के सभी पशुओ को हीमोफिलस बोविस युक्त जीवाणुगत पदार्थ का टीका देना चाहिए। टीके के लिए इसकी मात्रा 15 घ० सें० है। पश्चिमी-केन्टुकी में जहाँ के पशुओ में कैरेटिनीकृत नेत्र-श्लेष्मला शोथ खूब होती है रोज[5] ने 38 यूथो में "नव मिश्रित जीवाणुगत पदार्थ" (newer mixed bacterin) का प्रयोग किया। इनमें से 21 यूथ असक्रान्त रहे तथा 10 यूथो में 1 प्रतिशत से भी कम सक्रमण था। रोज ने बसत के प्रारम्भ में 5, 10 तथा 15 घ० सें० के तीन साप्ताहिक टीके दिए। टेक्सास की विवरणी में हियरफोर्ड नस्ल के 38 बछडो के प्रतिरक्षण का प्रयास किया गया, जिनमें से 12 में पूर्ण प्रतिरक्षा उत्पन्न हो गई, 12 में हल्की नेत्र श्लेष्मला शोथ हुई तथा 14 बछडो में प्रतिरक्षा का कोई प्रमाण न मिला। आँखो की स्थानीय चिकित्सा के लिए सल्फाथायाजोल अथवा पैनिसिलिन मरहम का प्रयोग गुणकारी है। वार्डेस[6] ने मरक्यूरोक्रोम के साथ मिश्रित जीवाणुगत पदार्थ का प्रयोग अधिक लाभप्रद बताया। जीवाणुगत पदार्थ की प्रारम्भिक मात्रा 10 घ० सें० से प्रारम्भ करके नित्य तब तक दी गई जब तक वह 20 घ० सें० पर नहीं पहुँच गई। उन्होने देखा कि डेरी पशुओ के लिए इसकी दो मात्राएँ पर्याप्त थी। रिले आदि[10] के अनुसार 200 मि० ग्रा० क्लारोमाइसिन को 3 8 ग्राम वैसलीन में मिलाकर तैयार किया गया क्लारोमाइसिन मरहम ढोरा तथा भेडो के गुलाबी नेत्र-रोग की चिकित्सा के लिए सर्वोत्तम है।

भेडा में सक्रामक चक्षुशोथ का कोल्स[7], जान्सन[8] तथा अन्य लागो[9] द्वारा वर्णन किया गया है। वर्णन के अनुसार इसके लक्षण गो-पशुओं से काफी मिलते-जुलते हैं। इसका रोगोत्पादक कारक रिकेट्सिआ कजक्टाइवी[11] (Rickettsia conjunctivae) कहा जाता है। जान्सन के अनुसार यह राहे की भाँति प्रतीत होता है।

सदर्भ

1 Jones, F S, and Little, R B, An infectious ophthalmia in cattle, J. Exp Med, 1923, 38, 139
2 Reid, J J, and Anigstein, L, Investigations on keratoconjunctivitis in cattle on the Gulf Coast of Texas, Tex. Rpts Biol and Med, 1945, 3, 187.
3 Baldwin, E M., Jr, A study of bovine infectious keratitis Am. J. Vet Res, 1945, 6, 180.

4. Farley, H., Keratitis; Vet. Student, Iowa, 1941, 3, 74; Rpt. Kansas Agr. Exp. Sta., 1936 to 1938, p. 113.
5. Rose, V. T., Field experiments on keratitis in cattle, J.A.V.M.A., 1942, 100, 234.
6. Bardens, G. W., Treatment of infectious keratitis with mercurochrome, J.A.V.M.A., 1938, 93, 35.
7. Coles, J. D. W. A., A Rickettsia-like organism in the conjunctiva of sheep, 17th Rep. Div. Vet. Serv. and Animal Ind., U.S. Africa, 1931, p. 175.
8. Johnson, L. V., A pannous-forming infection of sheep eyes, Proc. Soc. Exp. Biol., 1938, 38, 42.
9. Nanda, P. N., and Abdussalam, M., Observations on contagious keratitis of Indian sheep, Indian J. Vet. Sci. and Anim. Husb., 1943, 13, 228.
10. Riley, F. R., and Barner, R. D., Treatment of infectious keratitis, J.A.V.M.A. 1953, 123, 434.
11. Boughton, I. B., Some sheep diseases; infectious keratitis, N. Am. Vet., 1951, 32, 231.

गो-पशुओं में चतुर्थ आमाशय का विस्थापन

(Displacement of the Abomasum in Cattle)

सन् 1950 में वेग[1] द्वारा प्रस्तुत एक विवरणी में एबोमेसम के विस्थापन के तीन रोगियों का संक्षिप्त विवरण दिया गया है। इनमें से एक रोगी अभिघातज कष्ट के लक्षण प्रदर्शित करने वाली एक गाय थी जिसका पेट चीर कर देखा गया। रूमेन से काफी पदार्थ निकाल कर इसे यथास्थान रख दिया गया, किन्तु इस प्रकार उत्पन्न गड़बड़ी से पशु को दीर्घकालिक उदर-झिल्ली शोथ हुई और धीरे-धीरे उसकी हालत खराब होती गई। दो अन्य रोगियों में, भूख न लगना, कम मात्रा में गोबर करना तथा बाईं ओर अंतिम पसली के किनारे अफारा होने के लक्षण मिले। इनका भी वही निदान किया गया तथा दो दिन तक चारा न देने पर पशुओं की हालत सामान्य हो गई।

इसके बाद सन् 1952 में ब्रिस्टॉल विश्वविद्यालय, इंगलैंड के पशु शल्य-चिकित्सा विभाग के जोंस[2] द्वारा प्रस्तुत एक विवरणी में तीन रोगियों की चर्चा की गई। पहला विस्थापन एक अभिघातज रेटिकुलम शोथ (traumatic reticuli is) से पीड़ित गाय को आराम पहुँचाने के लिए उसके रूमेन का ऑपरेशन करते समय मिला और इसे बायीं कोख में चीरा लगाकर एबोमेसम को हाथ से हटाकर ठीक किया गया। एबोमेसम के विस्थापन का दूसरा रोगी एक तीन माह की आयु का जर्सी नस्ल का बछड़ा था जिसे दीर्घकालिक उदरीय अफारा के बाद आमाशय-नलिका घुसेड़कर अथवा कोख में छिद्र करके न ठीक हो पाने पर "पेट का ऑपरेशन करके" देखा गया। इसे हाथ द्वारा ठीक करने का प्रयास न किया गया। इसका तीसरा रोगी एक सात वर्षीय जर्सी गाय में उसके चौथे ब्यांत के चौदह दिन बाद देखा गया। चारे में अरुचि, पेट में शूल वेदना तथा कम गोबर करना, इसके आरम्भ से दिखाई देने वाले लक्षण थे। इसे पैराफिन पिलाने के बाद उसको

हालत में अस्थायी सुधार हुआ और बाद में कुछ ही दिनों बाद चारे में अरुचि, हालत का शीघ्र गिरना, दूध उत्पादन में कमी तथा रूमेन के सकुचन का अभाव आदि लक्षण प्रकट हुए। उसके मूत्र में एसीटोन निकलता था। ब्याने के बाद पाँचवें सप्ताह में उसका पेट चीरा गया। उदर-गुहा का निरीक्षण करने पर खाली रूमेन, थोड़ा पेरिटोनियल स्राव तथा 12 इंच लम्बा 8 इंच चौड़ा गैस एवं तरल पदार्थ से भरा हुआ एक अण्डाकार गोल अंग मिला जो रेटिकुलम तथा रूमेन के अगले भाग की बायी ओर की दीवाल के सहारे पड़ा हुआ था। इसे एबोमेसम समझा गया। ओमेसम की निचली सतह पर ऊपर की ओर धक्का देकर इस अवस्था को ठीक किया गया और इसके बाद रोग-ग्रसित पशु शीघ्र ही ठीक होने लगा।

पिछली दो विवरणी यह प्रदर्शित करती है कि बिना किसी पूर्वसूचक गड़बड़ी के एबोमेसम का अपनी जगह से हट जाने का पता पेट का ऑपरेशन करने पर ही लगता है। पशु को एसीटोन-रक्तता का स्थायी प्रकोप होकर वह बेकार हो जाता है। अभी हाल में ही मिशिगन स्टेट के पशुचिकित्सा विज्ञान महाविद्यालय के शल्य-चिकित्सा तथा आयुविज्ञान विभाग के मूर और उनके साथियों[3] ने एबोमेसम के अपने स्थान से हटने के तैंतीस रोगियों के अवलोकित आँकड़े प्रस्तुत किए जो डेरी गायों में रोग-नियंत्रण हेतु अति आवश्यक हैं। यह दिखाकर कि एबोमेसम के अपने स्थान से हटने के बाद कीटोमयता गौण रूप से हुआ करती है, प्रत्यक्षत. उन्होंने स्थायी रूप से होने वाली कीटोमयता के न ठीक होने वाले आक्रमणों की समस्या हल कर दी। यह तथ्य अत्यधिक महत्वपूर्ण है कि 33 में से 31 पशु या तो गर्भकाल के अन्तिम समय में रोग ग्रसित हुए अथवा ब्याने के बाद दो सप्ताह के अन्दर बीमार हुए तथा अन्य दो ब्याने के बाद उत्पन्न पक्षाघात के तत्काल बाद रोग-ग्रसित हुए। इनमें से कम से कम आधे रोगियों की एसीटोन-रक्तता के लिए चिकित्सा की गई, किन्तु उसमें कोई सफलता न मिली। जोंस[2] द्वारा प्रस्तुत एक पूर्ण विवरण में चौथी बार ब्याने के चौदह दिन बाद इसके स्पष्ट लक्षण प्रकट हुए। मूर आदि[3] द्वारा किए गए अवलोकन यह प्रदर्शित करते हैं कि यद्यपि रोग का कारण स्पष्ट नहीं है, फिर भी, पशु को आराम पहुँचाने के लिए उदर में किए गए ऑपरेशन से यह पता चला कि ग्यारह रोगियों में गाय का गर्भित गर्भाशय दायी ओर को खिसक जाने के अतिरिक्त रूमेन के नीचे आ गया था। इसके परिणामस्वरूप रूमेन ऊपर उठकर तथा एबोमेसम आगे को खिसक कर दोहरा सा हो गया। अपने शरीर-रचनात्मक संबंधों के कारण इसकी बड़ी मोड़ के साथ का बीच वाला भाग अपनी स्थिति में विभिन्न परिवर्तन उत्पन्न कर सकता है और इससे यह स्पष्ट हो गया कि यही भाग पहले रूमेन के नीचे खिसक कर बाद में बायें रूमेन तथा उदर की दीवालों के बीच ऊपर से मुड़ गया। सभी रोगियों में एबोमेसम का यह भाग इस प्रकार दब कर गैस तथा तरल खाद्य-पदार्थ से भर कर काफी तन जाता है। कुछ रोगियों में यह फूलकर रूमेन के बराबर हो जाता है तथा सभी रोग-ग्रसित पशुओं में यह आकार में कम से कम दो गुना बड़ा प्रतीत होता है।

उन्होंने लिखा कि हम लोग अब ऐसे रोगियों का काफी सही निदान कर सकते हैं। पशु की भूख एकाएक कम होकर शीघ्र ही रुक-रुक कर लगने वाली हो जाती है। इसका

सबसे स्थायी लक्षण मूत्र में कीटोन पदार्थों का निकलना है। पशु थोड़ी मात्रा में मुलायम तथा लसदार गोबर करता है। मलाशय में हाथ डालकर परीक्षण करने पर रूमेन बायीं ओर की अपेक्षा दायें उदर खण्ड के मध्य स्थित प्रतीत होता है। रोगी पशु सुस्त हो जाता है। उसकी हालत जल्दी-जल्दी गिरने लगती है तथा दुधारू पशुओं में दूध का उत्पादन काफी कम हो जाता है। पशु का तापक्रम सामान्य तथा विभेदी रुधिर गणना (differential blood count) नार्मल रहती है। प्राप्त अवलोकनों से पता चलता है कि रोग-ग्रसित पशु मरते नहीं हैं, किन्तु अन्त में जीर्ण-शीर्ण होकर बेकार समझकर नष्ट कर दिए जाते हैं।

समुचित चिकित्सा करने पर रोगी कुछ ठीक हो सकता है। बायीं कोख को चीरने पर एबोमेसम नलिकाकार दिखाई देता है। इसका व्यास 6 से 8 इंच या अधिक होकर यह अंतिम पसली के ठीक आगे ऊपर तथा आगे की ओर मुड़ा रहता है। मिशिगन स्टेट कालेज में इसकी चिकित्सा हेतु 12 नं० की सुई को एक रबर की बड़ी नलिका में लगाकर तथा एबोमेसम में घुसेड़ कर गैस को कम करके इसके आकार को छोटा किया जाता है। 18 इंच या अधिक लम्बाई वाले दो तांत के फीतों (umbilical tape sutures) को रूमेन की दीवाल में जहाँ तक संभव हो 7 इंच लम्बे चीरा से जितना दूर हो सके उतना नीचा बाँधकर, उसके दोनों सिरे बाहर निकाल लिए जाते हैं। यदि इन बंधे फीतों को थोड़ा सा खींचा जाता है तो रूमेन सीधी ओर अपनी नार्मल अवस्था से लगभग 45 अंश के चक्र में घूमता है। घुमाना प्रारम्भ करने से पूर्व प्रचालक रूमेन के नीचे एबोमेसम को जितना हो सके ढकेल कर इसे वहाँ इसी स्थिति में हाथ तथा अग्रबाहु की सहायता से पकड़े रहता है। साथ ही परिचारक फीते को ढीला कर देता है। जैसे ही रूमेन घूमकर पुनः अपनी सामान्य अवस्था में वापस आता है यह एबोमेसम को भी अपने साथ घसीट लाता है। स्थिति पर पूर्णरूपेण काबू पाने के लिए प्रायः कई बार इस क्रिया को दोहराने की आवश्यकता पड़ती ह।

संदर्भ

1. Begg, Hugh, Diseases of the stomach of the adult ruminant, displacement of the abomasum, Vet. Rec., 1950, 62, 797.
2. Jones, E. Wynn. Abomasum displacement in cattle, Cornell Vet., 1952, 42, 53.
3. Moore, C. R., Riley. W, F., Westcott, R. W., and Conner, G. H., Displacement of the bovine abomasum, Vet. Med., 1954,, 49, 19

*रक्त के नॉर्मल कोशीय अवयव

(Normal Ranges Blood)

प्रजाति	श्वेताणु x10³	सखंड न्यूट्रोफिल	बैंड न्यूट्रोफिल	इयोसिनोफिल	बैसोफिल	मानोसाइट	लिम्फोसाइट	लाल रक्त-कण x10⁶	हीमोग्लोबिन ग्राम/100 मि.लि.
गो-पशु	4.6-13	30% (10-40%)	0-4%	8% (1-15%)	0-1%	9% (3-15%)	52% (40-80%)	5.4-9	8-14.5
कार्य करने वाले घोड़े	5-11	56% (50-65%)	0-4%	4% (1-5%)	0.5(0-1%)	8% (2-12%)	30% (20-40%)	6.5-9.4	9-14
थारोब्रेड नस्ल के घोड़े	8-15	45-60%	0.4%	1-5%	0.5%	6% (1-8%)	46% (35-60%)	8-13	11-17
भेंड़	4-12	40% (20-50%)	0-4%	6% (0-15%)	0.2(0-2%)	4% (1-12%)	52% (40-70%)	8.5-13.5	9.14.5
बकरी	5-13	36%	0-4%	3.5%	0%	2%	58%	12.5-22	9-14
सुअर	8.6-20	39% (30-50%)	0-4%	4.5 (1-10%)	1% (0-4%)	3% (1-10%)	52% (40-60%)	5.9	9-16.8

उपर्युक्त तालिका में श्वेताणु हजारों तथा लाल रक्त-कण दशलक्ष की संख्या में प्रकट किए गए हैं।

कोष्ठकों के अन्दर के आँकड़े न्यूनतम से अधिकतम तक की संख्या प्रकट करते हैं तथा अन्य आँकड़े औसत अंक हैं।

* जॉन वेन्टिक स्मिथ द्वारा संकलित।

रक्त के नॉर्मल रासायनिक अवयव

(Normal Range of Chemical Constituents)

प्रजाति	मि०ग्रा०/100 मि०लि० रक्त ग्लूकोज	कुल प्रोटीन विहीन नाइट्रोजन	यूरिया नाइट्रोजन	कुल कीटोन पदार्थ	मि०ग्रा०/100 मि०लि०सीरम कैल्शियम	अकार्बनिक फास्फोरस	मैगनीशियम
गो-पशु	40–60	20–40	6–27	5 तक	9–12	2.3–9.6	1.8–3.1
घोड़ा	60–110	20–40	10–20		9–15	2.4–4	2–3
भेंड़	40–65	20–45	8–20	5 तक	9–12	2.5–9	2.6
बकरी	43–65	30–44	13–28		9–12	3–11	
सुअर	40–125	20–45	8–24		9–15	4–11	

स्रोत : काफिन, डी० एल०, "मैनुअल आफ वेटेनरी क्लीनिकल पैथालोजी," कामस्टाक तृतीय संस्करण, 1953।
हाडो, जी० यफ०, "डायगनोस्टिक मेथड्स इन वेटेनरी मेडिसिन," ओलीवर एण्ड व्वायड, तृतीय संस्करण।
आलक्रापट, डब्ल्यू०, एम०, एण्ड ग्रीन, यच० यच० "ब्लड कैल्शियम ऐण्ड मैगनीशियम आफ दि काऊ इन हेल्थ ऐण्ड डिसीज," वायोकेम० ज० 28, 2220, 1934।
डाई०, जे० ए० पर्सनल कम्युनिकेशन।

शब्दावली

(हिन्दी-अंग्रेजी)

अउजेस्की का रोग	aujeskey's disease
अग्र आमाशय	fore stomach
अग्र कक्ष	anterior chamber
अग्र पिट्युटरी सत्व	anterior pitiutary extract
अग्न्याशय	pancreas
अग्न्याशय वाहिनी	pancreatic duct
अण्डाणुनाल शोथ	salpingitis
अण्डपीत वैक्सीन	egg yolk vaccine
अण्ड्युलैंट ज्वर	undulant fever
अतानता	atony
अत्याहार	overeating
अतिकिरैटिनता	hyperkeratosis
अतिमैग्नीशियम रक्तता	hypermagnesaemia
अतिलालास्रावता	ptyalism
अतिप्रतिरक्षित	hyperimmune
अतिप्रतिरक्षित सीरम	hyperimmune serum
अतिरक्तता	hyperaemia
अतिवृद्धि	hypertrophy
अतिशर्करा रुधिरता	hyperglycaemia
अतिस्वेदन	hyperhydrosis
अतिसंवेदिता	hyperaesthesia
अतिसंवेदनशीलता	hypersensitiveness
अतिस्रावण	supersecretion
अधि अपकेन्द्री पदार्थ	supernatant centrifuged material
अधि दृढ़तानिक निश्चेतन	epidural anesthesia
अधिहृद स्तर	epicardium
अधर वक्ष	brisket
अधरवक्ष रोग	brisket disease
अधस्त्वक्	subcutaneous
अधस्त्वक् वातस्फीति	subcutaneous emphysema

अधोजिह्व	sublingual
अधोजालतानिक स्थान	subarachnoid space
अधोदृढ़तानिक	subdural
अधोपेरिटोनियल	subperitoneal
अन्तरा-कशेरुक स्थान	intervertebral space
अन्तर्घट्टन	impaction
अन्तर्मेरुनाल	intraspinal
अन्तस्था	medulla
अन्तःस्थ पिण्ड	inclusion bodies
अन्त्य	terminal
अन्यत्रानुभूत पीड़ा	referred pain
अनाग्रही मृतोपजीवी	facultative saprophyte
अनुदैर्घ्य बन्धनी	longitudinal band
अनुनाद	resonance
अनुप्रस्थ कोलन	transverse colon
अनुप्रस्थ तल	transverse plane
अनुमापनांक	titre
अनुमस्तिष्क	cerebellum
अनुमस्तिष्कीय	cerebellar
अपकर्षण	degeneration
अपकर्षित	degenerated
अपकेन्द्रण	centrifugalisation
अपकेन्द्री दुग्ध तलछट	centrifuged milk sediment
अपकेन्द्री पदार्थ	centrifugal sediment
अपसंवेदन	paresthesia
अपस्मार	epilepsy
अपरदन	erosion
अपरदनकारी	erosive
अपरदनकारी मुखार्ति	erosive stomatitis
अपवृक्कता	nephrosis
अपसन्यास	apoplexy
अपक्षयिक नासार्ति	atrophic rhinitis
अपूति दूषित	aseptic
अपूय	non suppurative
अफारा	tympanitis
अभिकर्मक	reagent

अभिघातज आमाशय शोथ	traumatic gastritis
अभिघातज जठरान्त्र शोथ	traumatic gastroenteritis
अभिमध्य शुक्तिकास्थि	medial turbinate
अभिरंजन	staining
अभिरंजक	stain
अभिलाग	adhesion
अभिलागी	adhesive
अभिलागी फाइब्रिनी फुप्फुसार्ति	adhesive fibrinous pleuritis
अभिवाही-तंत्रिका	afferent nerve
अभिष्यन्द	catarrh
अभिहृद् जठराकर्ष	cardiospasm
अमूत्रता	anuria
अम्ल-रक्तता	acetonemia
अम्लरागी	acidophilus
अयन	udder
अर्धघातक कारक	semilethal factors
अर्बुद	tumour
अरक्तपरिसंलायी	non-hemolytic
अलिंद	auricle
अलिंद-निलय कपाट	auriculoventricular valve
अल्प कैल्सियम रक्तता	hypocalcaemia
अल्प मैग्नीशियम रक्तता	hypomagnesaemia
अल्पतनी घोल	hypotonic solution
अल्पशर्करा रक्तता	hypoglycaemia
अवकलन गणना	differential count
अवमोटन आकर्ष	clonic spasms
अवरोधक यकृतीय पीलिया	obstructive hepatic jaundice
अवशोषण	resorption
अवसीरमी	subserous
अवक्षेपित	precipitated
अश्व रोग	horse sickness
अश्व चेचक	horse pox
अश्वेताणुरक्तक	aleukemic
अश्वीय मसूरिका	variola equina
अस्वेदन	anhidrosis
अस्थि-भंग	fracture

अस्थि तन्तु	bone tissue
अस्थि तन्तुमयता	osteofibrosis
अस्थि-मज्जा	bonemarrow
अस्थिमृदुता	osteomalacia
अस्थि-सुषिरता	osteoporosis
अस्थि सूत्रणरोग	osteofibrosis
अश्रु ग्रँथि	lachrymal gland
आंतर पालिका	interlobular
आंध विषमता	blind staggers
आंशिक पक्षाघात	paresis
आंत्रार्ति	intestinal catarrh
आंत्र-विषाक्तता	enterotoxemia
आंत्रिक अभिलाग	intestinal adhesions
ऑक्सीयूरिस रुग्णता	oxyuriasis
ऑक्सीयूरिस करवुला	oxyuris curvula
आखुरण	scrapie
आख्यान	legend
आतपघात	sunstroke
आधि	neurosis
आन्तरांग	viscera
आन्त्र अश्मरी	enterolith
आन्त्र पाश	intestinal loop
आन्त्र बन्धन	gut tie
आन्त्र शोथ	enteritis
आमाशय-कीट रोग	stomach-worm disease
आमाशय-नलिका	stomach tube
आमाशम विषमता	stomach staggers
आयोडीन विषाक्तता	iodine poisoning
आवेग	impulse
आवर्धन	magnification
आवर्तक कण्ठ तंत्रिका	recurrent laryngeal nerve
आवर्तक ज्वर	recurrent fever
आवर्तन तंत्रिका	recurrent nerve
आसंजक	adhesive
आसंजक फुप्फुस झिल्ली शोथ	adhesive pleuritis
आहारिक जठरान्त्र शोथ	dietetic gastroenteritis

इओसिनोफिल	eosinophil
इक्सोडस रिसिनस	ixodes ricinus
इनक्यूबेटर	incubator
इनफ्लूएंजा	influenza
इलिओसीकल वाल्व	ileocecal valve
ईस्ट्रस इक्वाइ	oestrus equi
ईस्ट्रस ओविस	oestrus ovis
उग्र	acute
उग्र आमाशयिक तनाव	acute gastric dilatation
उग्र अन्तर्हृद् शोथ	acute endocarditis
उग्र फुफ्फुसशोथ	acute pulmonary edema
उग्र श्लेष्मल ग्रसनी शोथ	acute catarrhal pharyngitis
उग्र श्लेष्मल कण्ठशोथ	acute catarrhal laryngitis
उग्र श्वासनली शोथ	acute bronchial catarrh
उग्र संवर्धन	virulent culture
उच्च रक्त अनुमापनांक	high blood titre
उत्तेजक	stimulant
उत्क्रामक प्रजातियां	aberrant strains
उद्भवन काल	period of incubation
उद्भावित	incubate
उदरीय श्वसन	abdominal respiration
उदर-गुहा	abdominal cavity
उपान्तरित	modified
उपापचयिक	metabolic
उपापचयन	metabolism
उपकलाभ	epithelioid
उपस्थिका	perineal
उपहनु	submaxillary
उपहनु लसीका ग्रंथियां	submaxillary lymph glands
उपचयिक	anabolic
उपरिस्थ लसीका ग्रंथियां	superficial lymph glands
उपशमन	convalescence
उर उपास्थि	xiphoid cartilage
उरोस्थि	sternum
उरोस्थि वक्र	sternal flexure
ऊतक विकृति परीक्षा	histopathological examinanoti

ऊति गलन	necrosis
ऊर्ध्व चूचक	supramammary
ऊष्मक जलपात	waterbath
ऊष्माघात	heat stroke
ऊष्मायत्रि	incubator
एक्जिमा	eczema
एक्थीमा	ecthyma
एकरूपकेन्द्रक	mononuclear
एकांगी लकवा	hemiplagia
एगेलेक्सिआसिस	agalactiosis
एथमाइड कोशिका	ethmoid cells
एनाप्लाज्मता	anaplasmosis
एनाप्लाज्मा मार्जिनेल	anaplasma marginale
एन्टीजन	antigen
एपिडिडिमिस	epididymis
एपिडर्मिस	epidermis
एपिलेप्सी	epilesy
एप्थस मुखार्ति	aphthous stomatitis
एप्थस ज्वर	aphthous fever
एप्सम लवण	epsom salt
एबोमेसम	abomasum
एरिटिनाइड कार्टिलेज	arytenoid cartilage
एशेरिकिया	escherichia
एसिड स्थायी	acid fast
एसीटोन मेह	acetonuria
ऐक्टिनोबैसिलोसिस	actinobacillosis
ऐक्टिनोबैसिलस लिग्नीरेसाइ	actinobacillus ligneresi
ऐक्टिनोमाइसीजता	actinomycosis
ऐक्टिनोमाइसीज नेक्रोफोरस	actinomyces necrophorus
ऐक्टिनोमाइसीज बोविस	actinomyces bovis
ऐग्रेसिन	aggressin
ऐंटि अश्वीय मस्तिष्क सुष्मना शोथ सीरम	anti equine encephalomyelitis serum
ऐंटिजनी	antigenic
ऐंटिबाडी	antibody
ऐंटिसीरम	antiserum

ऐटेक्सिया	ataxia
ऐंथ्रक्स	anthrax
ऐनाफिलैक्सिस	anaphylaxis
ऐस्केरिस-रुग्णता	ascariasis
ऐस्केरिस लम्ब्रीक्वायड्स	ascaris lumbricoides
ओमेण्टम	omentum
ओमेसम	omasum
ऑस्टर्टग योजना	ostertag plan
औद्योगिक उपजात	industrial byproducts
अंकुरक	papillae
अंकुरकार्बुद	papilloma
अंकुश कृमि	hook worm
अण्डशोथ	orchitis
अंडाशयी	ovarian
अंतः कपालीय	intracranial
अंतः कपालीय दाब	intracranial pressure
अंतः कलीय कोशिकाएँ	endothelial cells
अंतः कशेरुकीय	intravertebral
अंतः खण्ड	intralobar
अंतः खण्डकीय	intralobular
अंतः खण्डकीय संयोजी ऊतक	intralobular connective tissue
अंतः गर्भाशयी	intra uterine
अंतः त्वचा	intradermal
अंतः त्वचा पिचकारी	intradermic syringe
अंतः नासा	intranasal
अंतः मांसपेशी	intramuscular
अंतः मेरुरज्जीय	intraspinal
अंतः प्रमस्तिष्क	intracerebral
अंतः प्लूरल	intrapleural
अंतः श्वासनाल	intratracheal
अंतः भरण	infiltration
अंतरा कोशिका	intercellular
अंतरा कशेरुक गुच्छिका	intervertebral ganglia
अंतरालीय वृक्कशोथ	interstitial nephritis
अंतरालीय फुप्फुस वातस्फीति	interstitial pulmonary emphysema

अंतरालीय वातस्फीति	interstitial emphysema
अंतरा खण्ड	interlobar
अंतरा खण्डक	interlobular
अंतर्धमनी शोथ	endarteritis
अंतर्वेशन	invagination
अंतर्हृद शोथ	endocarditis
अंतर्हृद स्तर	endocardium
अंस अवस्था	pectoral focm
कण्डरापिधान शोथ	tendovaginitis
कण्टकाकीर्ण	spinose
कण्टकाकार शीर्ष वाले कीट	thorn headed worms
कणीकरण	granulation
कण्ठावरोध	choke
कंकाल पेशी	skeletal muscle
कंकालीय रोग	skeletal diseases
कंटिका	spicule
कंठदर्शी	laryngoscope
कंठद्वार	glottis
कंठनालीय ग्रसनीशोथ	laryngopharyngitis
कंठ-नलिका	probang
कंठनालीय स्नायु	laryngeal ligament
कंठार्ति	laryngeal catarrh
कंठश्वास-प्रणाल शोथ	laryngotracheitis
कच्छु	scabies
कटि-कशेरुका	lumber vertebrae
कटि पक्षाघात	lumber paralysis
कणमय तन्तु	granular tissue
कणिका गुल्म	granuloma
कणिकामय तन्तु	granulation tissue
कपाटिकी	*valvular*
कपाटिकी रोग	valvular disease
कपालीय तन्त्रिकाएँ	cranial nerves
कफनाशक	expectorant
कफ-प्याला	sputum cup
कफपाक कंठशोथ	croupous laryngitis
कफपाक न्युमोनिया	*croupous pneumonia*

कफपाक नासार्ति	croupous rhinitis
कशाभी कृमि	whip worm
कर्दम ज्वर	swamp fever
कलहंस	goose
क्लास्ट्रीडियम टिटैनाइ	clostridium tetani
क्लास्ट्रीडियम नोवाइ	clostridium novyi
क्लास्ट्रीडियम शौविआइ	clostridium chauvoei
क्लास्ट्रीडियम सेप्टिकम	clostridium septicum
क्लोराइड जाँच	chloride test
कवक	fungus
कवकीय	mycotic
कवकीय-मुखार्ति	mycotic stomatitis
कवकनाशी	fungicide
कशेरुका	vertebra
कक्ष	axilla
कक्षीय	axillary
कक्ष-स्थान	axillary space
काचाभ अपकर्ष	hyaline degeneration
कार्टेक्स	cortex
कार्डी टेंडिनी	chordae tendinae
कार्बोहाइड्रेट उपापचयन	carbohydrate metabolism
कालादस्त रोग	black scours
काला मूत्ररोग	azoturia
काष्ठ परक्षी	wood preservatives
किण्वन	fermentation
किण्वनरोधी	antifermentive
किट्ट	rusts
क्रिया विधि	procedure
किरण कवक	ray fungus
किरणित	irradiated
कीटोन पदार्थ	ketone bodies
कीटोनमयता	ketosis
कंकरी अन्तर्हृद् शोथ	verrucose endocarditis
कुक्कुट भ्रूण वैक्सीन	egg embryo vaccine
कुन्तिका	lancet
कुहनी संधि	elbow joint

कूट खुरपका-मुँहपका रोग	pseudo foot & mouth disease
कूट पागलपन	pseudorabies
कूट श्वेत-रक्तता, कूट रक्त श्वेताणुमयता	pseudoleukemia
कूट क्षय रोग	pseudo tuberculosis
कूट क्षयरोगीय न्युमोनिया	pseudotubercular pneumonia
कूपरिया आंकोफोरा	cooperia onchophora
कूपरिया कर्टिसी	cooperia curticae
केन्द्रीय तंत्रिका-तंत्र	central nervous system
केन्द्रीय वमन	central vomiting
केन्द्रीय विकीर्ण तन्तु	central radiating filaments
केन्द्रकीय अपरद	nuclear detritus
केरेटिनीकृत	keratinised
केशिका	capillary
केशिका प्रचुरोद्भवन	capillary proliferation
केशिका रक्तस्राव	capillary hemorrhage
केशिका श्वसनी शोथ	capillary bronchitis
केशिकास्तवक वृक्कशोथ	glomerulo nephritis
केसिएशन	caseation
कैन्युला	canula
कैल्सीकरण	calcification
कोइरोस्ट्रांगाइलस पुडेंडोडेक्टस	choerostrongylus pudendo dectus
कोचलिओमिया मैसीलैरिया	cochliomia macellaria
कोराइड जालिका	choroid Plexus
कोरिने बैक्टीरियम पायोजिनस	corynebacterium pyogenous
कोलि बैसिलस-रुग्णता	colibacillosis
कोलेस्टिएटोमा	cholesteatoma
कोशा गणना	cell count
कोशिकांतरंगक	cell inclusion
कोशिका आयतन	cell volume
कोशीय अंतः संचरण	cellular infiltration
कोष्ठिका पर्यस्थि शोथ	alveolar periostitis
कोष्ठिक भीत्ति	alveolar wall
कोष्ठिका वातस्फीति	alveolar emphysema
कोष्ठकी मर्मर	vesicular murmur
कृन्तक ऐंठन	clonic spasms

कृमिज	verminous
कृमिज न्यूमोनिया	verminous pneumonia
कृमिज श्वसनी शोथ	verminous bronchitis
कृमिज शूल वेदना	verminous colic
कृमिहारक	vermifuge
कृशता	emaciation
कृषि अनुसंधान केन्द्र	agricultural experiment station
कृत्रिम संचारण	artificial transmission
खण्ड	lobe
खण्डक	lobule
खण्डान्तर संयोजी ऊतक	interlobular connective tissue
खण्डकीय न्यूमोनिया	lobular pneumonia
खण्डीय न्यूमोनिया	lobar pneumonia
खाज	mange
खाद्य-मत्तता	food intoxication
खाद्य-विषाक्तता	food poisoning
खड्गाकार कार्टिलेज	ensiform cartilage
खुरपका-मुंहपका रोग	foot and mouth disease
खुरपका-मुंहपका रोग आयोग	Foot and Mouth Disease Commission
ग्लैंडर्स	glanders
ग्वार्नीरी पिंड	guarnieris body
गति-विभ्रम	ataxia
गर्भाशय	uterus
गर्भाशय शोथ	metritis
गर्भाशयी ग्रीवा	cervix
गर्भाशयी स्राव	uterine exudate
गर्भ रोग	pregnancy disease
गलार्ति	angina
गलगण्ड	goiter
गलथैली	gutural pouch
गल-शोथिक रोग	strangles
गलदाह	sore throat
मिरगी रोग	falling disease
गीला दुहन	wet milking
ग्रीष्म थनैला	summer mastitis

गुच्छिका कोशिकाएँ	ganglion cells
गुटिका गुहा	tonsillar crypt
गुर्दशोथ	nephritis
गुलिका	tubercle
गुलिका बन्दूक	balling gun
गैंग्रीन	gangrene
ग्रैनुलोमा	granuloma
गैसेरियन गुच्छिका	gasserian ganglia
ग्रैव कठरोधन	cervical choke
ग्रैव रज्जु	cervical cord
ग्रैव कशेरुका	cervical vertebra
ग्रैवीय	cervical
ग्रैवीय परीक्षण	cervical test
ग्रसनी शोथ	pharyngitis
ग्राम धनात्मक	gram positive
ग्राम ऋणात्मक	gram negative
ग्रासनली	oesophagus
ग्रासनली शोथ	oesophagitis
ग्रथियक्ष्मा	glandular tuberculosis
ग्रथि शोथ	adenitis
गोजातीय	bovine
गोणिकावृक्कशोथ	pyelonephritis
गोमसूरिका	cowpox
गोमसूरी	variola
गोलकृमि	round worm
गोलाणु	coccoids
गोशीतला	vaccinia
गौण	secondary
गौण जीवाणु संक्रमण	secondary bacterial infection
गौण संक्रमण	secondary infection
गृध्रसी तन्त्रिका	sciatic nerve
घनास्र	thrombus
घनास्रता	thrombosis
घर्मापात	sunstroke
घास विषमता	grass staggers
घ्राणकन्द	olfactory bulb

घ्राणपथ — olfactory tract
चक्कर की बीमारी — circling disease
चतुर्थ आमाशय — abomasum
चर्म विगलन — gangrene of the skin
चल-चिकित्सालय — ambulatory clinic
चर्वण — mastication
चर्वणी मांस-पेशियाँ — masseter muscles
चारा-विषाक्तता — forage poisoning
चिकित्सा — treatment
चिरकारी — chronic
चीचड़ी-ज्वर — tick fever
चूषण न्युमोनिया — aspiration pneumonia
चोकर का महेला — branmash
छनित — filtrate
छुरिका — lancet
छूत लगने का ढंग — mode of infection
जठरान्त्र क्षोभण — gastrointestinal irritation
जठरान्त्रिक — gastroenteric
जठरान्त्रार्ति — gastrointestinal catarrh
जठरान्त्र शोथ — gastroenteritis
जठर-निर्गम द्वार — pyloric orifice
जतूकास्थि — sphenoid
जननांगी अश्व शीतला — genital horsepox
जन-विक्रय केन्द्र — public sales establishments
जन स्वास्थ्य मानक अध्यादेश तथा संहिता — Public Health Standard Ordinance and Code
जरायु झिल्ली — chorio allantois
जल-कपाल — hydrocephalus
जलीय विश्लेषण — hydrolysis
जल-शोथ — dropsy
जल स्फोटी मुखपाक — vesicular stomatitis
जलसंत्रास — hydrophobia
जापानी आयोग — Japanese Commission
जाली-ऊतक — reticular tissue
जिह्वा-ओष्ठ-स्वरयंत्री पक्षाघात — glosso-labio-laryngeal paralysis

जिह्वा ऐंथ्राक्स	gloss anthrox
जिह्वा-ग्रसनी तन्त्रिका	glossopharyngeal nerve
जिह्वा-ग्रसनी पक्षाघात	glossopharyngeal paralysis
जिह्वा शोथ	glossitis
जीवाणु	bacteria
जीवाणु विज्ञान	bacteriology
जीवन-इतिहास	life history
जीवाणुगत पदार्थ	bacterin
जीव रसायन	biochemistry
जीव विष	toxin
जीव विषाभ	toxoid
जीव-विषहर	antitoxin
जूं-रुग्णता	pediculosis
जैविक उत्पाद	biologics
जैव-परीक्षण	biological test
जोनिन जाँच	Johnin test
जोने बैसिलस	Johne's bacillus
जोने रोग	Johne's disease
झर्झरिका	ethmoid
झर्झरिका विवर	ethmoid sinus
टनकना रोग	stringhalt
टहलना रोग	walking disease
ट्राइकोस्ट्रागाइलोसिस	trichostrongylosis
ट्राइकोफाइटानता	trichophytosis
ट्रिचिना-रुग्णता	trichinosis
ट्रिचिना स्पाइरेलिस	trichina spiralis
टिमोथी घास	timothy hay
टिक्चर	tincture
टिटैनी	titany
ट्रिपेनोसोम	trypanosomes
ट्रिपेनोसोमा इक्वाइनम	trypanosoma equinum
ट्रिपेनोसोमा इवांसाइ	trypanosoma evansi
ट्रिपेनोसोमा गैम्बीन्जी	trypanosoma gambienze
ट्रिपेनोसोमा एक्वीपरडम	tryposonoma equiperdum
ट्रिपेनोसोमा ब्रूसिआइ	trypanosoma brucei
ट्रिपेनोसोमा हिप्पिकम	trypanosoma hippicum

ट्रिपेनोसोमता	trypanosomiasis
टीनिया-रुग्णता	teaniasis
टीनिया सोलियम	taenia solium
टीनिया सैजिनेटा	taenia saginata
टेक्सास-ज्वर	texas fever
ड्यूरामेटर	duramater
डर्मासेंटर रेटिकुलेटस	dermacentor reticulatus
डिक्टियोकाउलस विवीपैरस	dictyocaulus viviparus
डिफ्थीरिया	diphtheria
डिम्ब-वाहिनी	oviduct
डूरिन रोग	dourine
तकनीकी पत्रिका	technical bulletin
तर्कु आकार	spindle shaped
तन्तुमय अभिलाग	fibrous adhesion
तडित आघात	lightning stroke
तनूकरण	dilution
तलछट	sediment
तल तनाव	surface tension
तन्त्रिका आवरण	nerve sheath
तन्त्रिकीय	nervous
तन्त्रिका तन्तु	nerve tissue
तन्त्रिका तन्त्र	nervous system
तन्त्रिका नाल	neural canal
तन्त्रिका पेशी अन्ताग	neuromuscular end organs
तन्त्रिका कोशाणु	nerve cell
तन्त्रिका केन्द्र	nerve centres
तन्त्रिका तन्तुमयता	neurofibromatosis
तन्तुकीय ऐंठन	fibrillary twitching
त्वचा शोथ	dermatitis
त्वचा ग्लैंडर्स	skin glanders
तृतीय आमाशय	omasum
तानिका	meninges
तानिका मस्तिष्क शोथ	meningo encephalitis
तानिका शोथ	meningitis
ताप-ज्वर	thermal fever
ताप-मसूरी	heat pox

तिकर्मी	reactor
तिवर्त	reflaxes
तिपतिया रोग	clover disease
तीव्र ग्राहिता	anaphylaxis
तीव्र परिगत उदर झिल्ली शोथ	acute circumscribed peritonitis
तीव्र विसरित उदर झिल्ली शोथ	acute diffuse peritonitis
तीव्र हृत निर्बलता	acute heart weakness
तोलक बाल्टी	weigh can
थन नली	teat canal
थन प्रसारक	teat dilator
थन रन्ध्र	teat meatus
थन वाहिनी	teat duct
थन साइफन	teat syphon
थनैली	mastitis
थ्रश	thrush
थ्राम्बस	thrombus
थ्राम्बोसिस	thrombosis
थीलेरिया पार्वा	theileria parva
दंत उपधान	dental pad
दंत कोटर पर्यस्थि शोथ	alveolar periostitis
दंत क्षरण	dental caries
दमा	heaves
दाद	ring worm
द्विकपर्दी कपाटिका	mitral valve
द्विध्रुवी	bipolar
द्वितीयक	secondary
दीर्घकालिक	chronic
दीर्घकालिक अभिलागी परिगत उदर झिल्ली शोथ	chronic adhesive circumscribed peritonitis
दीर्घकालिक अतहृत शोथ	chronic endocarditis
दीर्घकालिक उदर झिल्ली शोथ	chronic peritonitis
दीर्घकालिक उत्पादक अन्तरालीय यकृत शोथ	chronic productive interstitial hepatitis
दीर्घकालिक कठरोधक	chronic choker
दीर्घकालिक गुर्दाशोथ	chronic nephritis
दीर्घकालिक परपर्णशोथ	chronic pododermitis

दीर्घकालिक प्रगामी न्यूमोनिया	chronic progressive pneumonia
दुग्धकाल	lactation period
दुग्धकालीन टिटैनी	lactational tetany
दुग्ध-कुंड	udder cistern
दुग्ध-ज्वर	milk fever
दुर्दम्य रसोली	malignant tumour
दुर्दम्य शोथ	malignant edema
दुर्दम्य शीर्षार्ति	malignant head catarrh
द्रुतग्राही करण	sensitization
दैहिक चिकित्सा	systemic treatment
दोहन नलिका	milking tube
दृढ़ तानिका	duramater
धमनी काठिन्य	arteriosclerosis
धवल मास-पेशी रोग	white muscle disease
धवल मस्तिष्क शोथ	leukoencephalitis
धिराधान	blood transfusion
धीमी दोहक	slow milker
नटैलिया-रुग्णता	nuttalliosis
नाभिक धमनियाँ	umbilical arteries
नाभ्यान्तर पिंड	intranuclear bodies
नाभि-रोग	naval-ill
नाभि-शिरा शोथ	omphalophlebitis
नासा कैथीटर	nasal catheter
नासा गुहा	nasal cavity
नासा मार्ग	nasal passage
नासार्ति	rhinitis
नासिका ग्लैंडर्स	nasal glanders
न्युमोनिया	pneumonia
न्युमोनो आंत्रार्ति	pneumonoenteritis
न्युक्लियस कॉडेटस	nucleus caudatus
निक्टिटेटिंग झिल्ली	membrana nictitans
निकोचन	stricture
निगलन न्युमोनिया	deglutation pneumonia
नितम्ब संधि	hip joint
निदान	diagnosis

परिपुटीयुक्त	encysted
परिरक्षण	preservation
परिवहन	transport
परिवाहिक गोल कोशा अन्तर्गलन	perivascular round cell infiltration
परिवाहिक स्थान	perivascular spaces
परिवहन टिटैनी	transport tetany
परिवहन रोग	shipping sickness
पर्विका	nodule
पर्विल रोग	nodular disease
पर्विल ग्लैंडर्स	nodular glanders
पर्युदर्या	peritoneum
पर्युदर्या शोथ	peritonitis
परिश्वसनी	peribronchial
परिश्वसनी तन्तु	peribronchial tissue
परिसर पक्षाघात	peripheral paralysis
परिसर प्रेरक तन्त्रिका आन्ताग	peripheral motor nerve endings
परिसंचारी	circulatory
परिहृद थैली	pericardiac sac
परिश्रवण	auscultation
पर्शुकान्तर	intercostal
पर्शुकांतराल	intercostal space
पर्शुका मेहराब	costal arch
पशुपदिक	epizootic
पशुपदिक एफ्था	epizootic aphthae
पशुपदिक संयोजक ऊति शोथ	epizootic cellulitis
पशुपदिक लसीकायनी शोथ	epizootic lymphangitis
पशु स्थानिक	enzootic
पशु-उद्योग-ब्यूरो	Bureau of Animal Industry
पशुचिकित्सालय	veterinary hospital
पशु शल्य-चिकित्सक	veterinary surgeon
पश्च कपाल अस्थि	occipital bone
पश्च पिट्यूटरी सत्व	posterior pituitary extract
पश्च पक्षाघात	posterior paralysis
पक्षाघात	paralysis
पक्षाघातीय हीमोग्लोबिन रक्तता	haemoglobinemia paralytica

पक्षी जातीय	avian
प्रकाश संवेदन	light sensitization
प्रकाश सन्त्रास	photophobia
प्रकाश सुग्राहीकरण	photosensitization
प्रकृति वैशिष्टय	idiosyncrasy
प्रगंड तंत्रिका	brachial nerve
प्रगामी	progressive
प्रचालक	operator
प्रणाशी रक्ताल्पता	pernicious anemia
प्रतिजैविक पदार्थ	antibiotics
प्रतिजीवाणु पदार्थ	antibacterial agent
प्रतिजीवविष सीरम	antitoxic serum
प्रतिक्षेपण	regurgitation
प्रतिरक्षा	immunity
प्रतिरक्षण	immunization
प्रत्यग्रसनी लसीका ग्रंथि	retropharyngeal lymph gland
प्रत्यावहन	regurgitation
प्रतिदाहक	blister
प्रतिरोध	resistance
प्रथम आमाशय	rumen
प्रतिवर्ती वमन	reflex vomiting
प्रति हिस्टामिन	antihistamine
प्रति हिस्टामिनी	antihistaminic
प्रपट्टिका	trabecular
प्रफली	proliferative
प्रमस्तिष्क निलय	cerebral ventricle
प्रमस्तिष्क मेरु तानिका-शोथ	cerebrospinal meningitis
प्रमस्तिष्क मेरु द्रव	cerebrospinal fluid
प्रमस्तिष्कीय	cerebral
प्रमाणित यूथ योजना	accredited herd plan
प्रवाहिका	diarrhoea
प्रवेश्यता	permiability
प्रशीतक	refrigerator
प्रसव	parturition
प्रसव कक्ष	calving shed
प्रसवकालीन पक्षाघात	parturient paresis

प्रसवकालीन हीमोग्लोबिन रक्तता	parturient haemoglobenemia
प्रसव रोग	lambing sickness
प्रासूनिक	puerperal
प्रसवोत्तर पक्षाघात	palsy after calving
प्रसवोत्तर हीमोग्लोबिनमेह	parturient haemoglobinuria
प्रोद्भवन	proliferation
प्रोटोस्ट्रांगाइलस रुफ्यूसेंस	protostrongylus rufuscens
प्रेरक उत्तेजना	motor irritation
प्रेरक नाल	motor tract
प्लीहा	spleen
प्लीहा शोथ	splinitis
प्लीहा का बुखार	splenic fever
प्लेट गणना	plate count
प्लूरिसी	pleurisy
प्लूरा	pleura
पाइरोप्लाज्मता	piroplasmosis
पाइरोसोमा बाइजेमिना	pyrosoma bigemina
पाठ्यांक	reading
पायस	emulsion
पायामेटर	piameter
पारद-विषाक्तता	mercurial poisoning
पालिका युक्त	lobulated
पालि भवन	lobulation
पालीडेस्मस एक्साइटोसस	polydesmus excitosus
पार्श्विका	parietal
पार्श्व निलय	lateral ventricle
पास्चुरेल्ला	pasteurella
पास्चुरेल्ला ओवीसेप्टिका	pasteurella oviseptica
पास्चुरेल्ला बोवीसेप्टिका	pasteurella boviseptica
पास्चुरेल्ला बुबैलीसेप्टिका	pasteurella bubaliseptica
पास्चुरेल्ला मल्टोसिडा	pasteurella multocida
पास्चुरेल्लोसिस	pasteurellosis
पास्चुरेल्ला हीमोलिटिका	pasteurella hemolytica
पास्चुरीकरण	pasteurisation
पास्चुरित	pasterurised
पुटकीय खुजली	follicular mange

पुटकीय	follicular
पुटकीय नासार्ति	follicular rhinitis
पुटीय/पुटीमय	cystic
पिटिका	papular
पिटिकीय	populous
पित्ती	urticaria
पिलपिला गुर्दा रोग	pulpy kidney disease
पीलिया	jaundice
पुरः प्रवर्तक	predisposing
पुरःप्रवर्तक कारक	predisposing factors
पुरः स्कंध	prescapular
पूय रक्त पूतिता	pyosepticemia
पूयस्फोटिका	ecthyma
पूरक-स्थिरीकरण जाँच	compliment fixation test
पूर्व जंघिका	precrural
पूर्ण असंवेदनता	complete anaesthesia
पेयर्स पैच	payer's patch
पेरिटोनियल अभिलाग	peritoneal adhesions
पेरिटोनियम	peritonium
पैत्तिक ज्वर	billiary fever
पैपिलोमा	papilloma
पैलाग्रा	pellagra
प्रौढ़ रिकेट्स	adult rickets
पोषणिक रक्ताल्पता	nutritional anemia
फफोलेदार मुखार्ति	vecicular stomatitis
फफोलेदार स्फोटाभ	vesicular exanthema
फर्न-विषाक्तता	bracken poisoning
फलानुमान	prognosis
फलानुमानकी	prognostic
फाइब्रिनीसपूय नासार्ति	fibrinopurulant rhinitis
फास्फेट मिट्टी	rock phosphate
फास्फोरस स्वल्पता	aphosphorosis
फ्लेगमोनी मुखार्ति	phlegmonous stomatitis
फीता कृमि	tape worm
फूंकन श्वसन	blowing breathing
फुफ्फुस अभिलाग	pleuritic adhesions

फुफ्फुस झिल्ली शोथ	pleuritis
फुफ्फुसार्ति	pleurisy
फुफ्फुसोदर तन्त्रिका	pneumonogastric nerve
फुफ्फुस धमनी	pulmonary artery
फुफ्फुस प्लेग	lung plague
फुफ्फुस फोड़ा	pulmonary abscess
फुफ्फुस रक्तस्राव	pulmonary hemorrhage
फुफ्फुस वातस्फीति	pulmonary emphysema
फुफ्फुस संचरण	pulmonary circulation
फुफ्फुस संकुलन	pulumonary congestion
फुफ्फुस क्षय	pulumonary tuberculosis
फेफड़ा-कृमि	lung worm
फेफड़ा-कृमि रोग	lung worm disease
फैलोपी नली	oviduct
फैसियोला-रुग्णता	fascioliasis
ब्लायटन टिमु वैक्सीन	B.T.V.
ब्लास्टोमाइसीज	blastomyces
बटन घाव	button ulcers
बन्दीकरण	incarceration
बलकृत विस्थापन	mechanical displacement
बहिरायाम	opisthotonus
बहुरूप केन्द्रक गणना	polymorphonuclear count
बहुरूपी वातापेक्षी	polymorphic aerobe
बहुसन्धिशोथ	polyarthritis
बहुसंयोजक	polyvalent
बालमूल संक्रमण	hair-root infection
बाह्य जननांग	external genitals
बिन्दु रक्तस्राव	petechial hemorrhage
बिन्दु संक्रमण	droplet infection
ब्रिलिएण्ट ग्रीन	brilliant green
ब्रूसेल्ला एबार्टस	bracella abortus
ब्रूसेल्लोसिस	brucellosis
बैक्टीरियम कोलाइ	bacterium coli
बैबेसिया बाइजेमिना	babesia bigemina
बैबेसिआ-रुग्णता	babesiasis
बैसिलस	bacillus

बैसिलस ऐंथ्रासिस	bacillus anthracis
बैसिलस टिटेनाइ	bacillus tetani
ब्रोंकोन्युमोनिया	bronchopneumonia
ब्रोमोथाइमोल नील	bromothymol blue
भंगुर	fragile
भगोष्ठ	lips of vulva
भ्रमरी रोग	gid
भीम कोशिका	giant cell
भ्रमि रोग	vertigo
भाप विसंक्रमित	autoclaved
भित्तिक प्लूरा	parietal pleura
भू-पटल	earth crust
भूसा शूल	straw colic
भ्रूणीय जरायु	embryonal chorion
भ्रूणीय कुक्कुट-तन्तु-वैक्सीन	embryonic chick tissue vaccine
भ्रूण संचरण	foetal circulation
भेषज उद्योग	*pharmaceutical industry*
मई रोग	may disease
मक्खन-वसा परीक्षण	butter fat test
मज्जा	medulla
मज्जाजनित	myelogenous
मज्जाजनित रक्तश्वेताणुमयता	myelogenous leukemia
मज्जा शोथ	myelitis
मणिभ मूत्र रोग	crystallurea
मणिभ बैंगनी वैक्सीन	crystal violet vaccine
मध्यान्त्र	jejunum
मध्यच्छद खण्ड	diaphragmatic lobe
मध्यच्छद वंक	diaphragmatic flexure
मध्यस्थ-पोषक	intermediate host
मध्यस्थानिका	mediastinum
मध्यस्थानिका लसीका ग्रंथियाँ	mediastinal lymph glands
मरकत हरित	emrald green
मरोड़	torsion
मलाशय	rectum
मलाशयी-परीक्षण	rectal examination
मस्तुलुंग	encephalon

मस्तिष्क निलय	brain ventricle
मस्तिष्क शोथ	encephalitis
मस्तिष्क सुषुम्नाशोथ	encephalomyelitis
मस्तिष्कावरण शोथ	meningitis
मस्तिष्क तन्तु वैक्सीन	brain tissue vaccine
मस्तिष्क वृन्त	brainstem
मसूड़ा शोथ	gingivitis
महाधमनी	aorta
मृतजीवी	saprophyte
मृतोपजीवी	saprophytic
मृदुरेचक	laxative
मृदुतानिका	piameter
मृदुजाल तानिका शोथ	leptomeningitis
मृदूतक	parenchymatous
माइक्रोकाक्कस पायोजिनस	micrococcus pyogenes
माइट	mite
मायोग्लोबिनमेह	myoglobinuria
मार्जिनल पिंड	marginal bodies
मान्य औषधकोश	pharmacopeia
मास्ट कोशिका	mast cells
मिथ्या झिल्ली	pseudomembrane
मिरगी रोग	epilepsy
मुक्ता रोग	pearl disease
मुखदाह	soremouth
मुखार्ति	stomatitis
मुख खोलनी	mouth gag
मुख वीक्षण यंत्र	mouth speculum
मुख विवर	facial sinus
म्यान	sheath
मुद्गर	malleus, clubs
मुण्डचर्म	prepuce
मुड़ना रोग	turnsick
मुलेरियस कैपिलैरिस	mullerius capillaris
मूक जलसंत्रास	dumb rabies
मूर रोग	moor disease
मूत्र तंत्र	urinary system
मूत्राशय	urinary bladder

मूत्रस्राव	urinary secretion
मेघीय सूजन	clowdy swelling
मेटहीमोग्लोबिन रक्तता	methemoglobinemia
मेटा ब्रेवीवजाइनेटस	meta brevivaginatus
मेटास्ट्रांगाइलस इलांगेटस	metastrongylus elongatus
मेरुमज्जा शोथ	spinal myelitis
मेरु-रज्जु	spinal cord
मेरुरज्जीय तानिका शोथ	spinal meningitis
मेरुरज्जुनाल	spinal canal
मैलीन जांच	mallien test
मैलपीघियन पिंड	malpighian bodies
यकृत	liver
यकृत का कीड़िया रोग	hepatic distomiasis
यकृत की सड़न	liver rot
यकृत का सूत्रण रोग	cirrhosis of the liver
यकृत फ्लूक	liver fluke
यकृत शोथ	hepatitis
युग्मक पुटी	oocyst
युरीमिया	uraemia
यूरैकस	urachus
यूरोमाइसीज	uromyces
यूरोमाइसीज एपिकुलैटिस	uromyces epiculatis
योक कोष	yolk sac
रक्त कोशिका	blood capillary
रक्त-गुल्म	haematoma
रक्ताघात	apoplexy
रक्त निष्ठीवन	hemoptysis
रक्तपूतिता	septicemia
रक्तपूतित पीव विषाक्तता	septicopyemia
रक्तमूत्र रोग	red water
रक्त मेह	haematuria
रक्तांत्र-विषाक्तता	enterotoxemia
रक्त विश्लेषण	blood analysis
रक्त-विषाक्तता	toxemia
रक्त वाहिका अन्त:स्तर	intima
रक्त श्वेताणुमयता	leukemia

रक्त शर्करा	blood sugar
रक्तस्राव	haemorrhage
रक्तस्रावी	haemorrhagic
रक्तस्रावी रक्तचित्तिता	purpura hemorrhagica
रक्तस्रावी श्वासनली शोथ	hemorrhagic tracheitis
रक्तस्वेदन	hematidrosis
रक्त स्वल्पता	anemia
रक्तस्रोतरोधक	embolic
रक्तस्रोतरोधी	embolus
रक्तस्वल्पित	anemic
रंजकता	pigmentation
रसकपूर	calomel
रसांकुर	villus
रसायनी चिकित्सा	chemotherapy
रसौली	tumour
राइपीसिफेलस इवर्टसाइ	rhipicephalus evertsi
रासायनिक प्रतिकारक	chemical antidote
रॉस परीक्षण	ross test
रासायनिक क्षोभक	chemical irritants
रिकेट्स	rickets
रिकार्ड पिचकारी	record syringe
रुधिर बिम्बाणु	blood platelets
रुधिरोत्पादक केन्द्र	hematopoietic centres
रुधिरांक ज्वर	petechial fever
रुधिर संलयन	haemolysis
रूक्ष गर्जन	hoarse howl
रूमेन	rumen
रेक्टम	rectum
रेखित पेशी	striated muscle
रेटिकुलम	reticulum
रेतीली शूल वेदना	sand colic
रेलमार्ग अस्वस्थता	rail road sickness
रोगाणु नाशक	disinfectant
रोगाणुनाशन	disinfection
रोग जनक	pathological
रोग प्रतिकारक	antibody
रोग विज्ञान	pathology

रोगहर चिकित्सा	curative treatment
रोमकीट	hair worm
रोम फेफड़ा कृमि	hair lungworm
रोमाभ	cilia
लघुकोशक	sacculated
ललाट विवर	frontal sinus
लवण नांद	salt trough
लसीकाएँ	lymphatics
लसीका ग्रंथि	lymph gland
लसीका कोशिकार्बुद	lymphocytoma
लसीका केशिकाप्रसूअर्बुद	lymphoblastoma
लसीका जनित	lymphogenous
लसीका जनित रक्तश्वेताणुमयता	lymphogenous leukemia
लसीका तंत्र	lymphatic system
लसीका पर्व	lymphnode
लसीकाभ कोशिका	lymphoid cell
लसीकायनी शोथ	lymphangitis
लसीका वाहिकाएँ	lymphatic vessels
लक्षक कांच	objective
लक्षण	symptoms
लँगड़िया	black quarter
लँगड़ी रोग	black leg
लाल अस्थि-मज्जा	red bone marrow
लाल तिपतिया घास	red clover
लालास्रवण	salivation
लाक्षणिक निदान	clinical diagnosis
लिम्फोसाइटिक परिवाहिक अन्तःसरण	lymphocytic perivascular infi ltration
लुढ़कना रोग	tumbling disease
लेप	smear
लेप्टोस्पाइरा रुग्णता	leptospirosis
लेप्टोस्पाइरा पॉमोना	leptospira pomona
लैंगिक परिपक्वता	sexual maturity
लैंगिक विभाजन	sexual multiplication
लोलाणु	vibrio
लोहित ज्वर	scarlet fever

वमन	vomiting
वलय परीक्षण	ring test
वर्धी	vegatative
वसा अन्तर्निवेश	fatty infiltration
वसीय यकृत	fatty liver
वसीय अपकर्षण	fatty degeneration
व्रणीय	ulcerative
वृषणकोष	scrotum
वृषनासिका रोग	bull nose
वृहत् मेसेन्टरी	great mesentary
वंशानुक्रमण	inheritance
वंक्षण वन्धीकरण	inguinal incarceration
वंक्षण हर्निया	inguinal hernia
वंक्षण वलय	inguinal ring
वक्षीय कण्ठरोधन	thoracic choke
वक्षीय कशेरुका	thoracic vertebra
वक्षीय-गुहा	thoracic cavity
वात स्फीति	emphysema
वाद	theory
वायुकोष्ठिका	alveoli
वायु स्फोटिका	air vesicle
वाल्वुलस	volvulus
वाष्प-बेनली	steam cattles
वाहिका तनाव	vascular tension
वाहिका प्रेरक	vasomotor
वाहिका प्रेरक तंत्र	vasomoter system
विक्रय स्थायी परिस्थितियाँ	sales stable conditions
विकृत शरीर रचना	morbid anatomy
विहन चित्तिता	morbus maculosus
विकीर्ण	sporadic
विकिरित	miliary
विकिरित क्षय	miliary tuberculosis
विगलित	gangrenous
विगलित न्यूमोनिया	gangrenous pneumonia
विगलित मुखार्ति	gangrenous stomatitis
विन्टन रोग	winton disease

श्वासनली छेदन नलिका — tracheotomy tube
श्वासनलिका श्वसनीशोथ — tracheobronchitis
श्वासावरोध — inspiratory stertor
श्वेताणु — white blood corpuscles
श्वेताणु ह्रास — leukopenia
श्वेताणु वृद्धि — leucocytosis
श्वेतपटल — sclera
शामक — sedative
शरीर क्रिया विज्ञान — physiology
शल्य चिकित्सा — operation
शिगेला इक्वाइरलिस — shigella equirulis
शिरा — vein
शिरास्पंद — venous pulse
शिश्न मुण्ड — glans penis
शीत अतिसार — winter dysentery
शीर्षधर पश्चकपाल संधि — atlanto occipital joint
शुक्तिकास्थि — turbinate bone
शुक्रवाहिनी — vasdeferens
शुक्राशय — seminal vesicle
शुष्क पदार्थ — dry matter
शून्यक — vaccum
शोरा विषाक्तता — saltpeter poisoning
शोफपूर्ण कण्ठार्ति — edematous laryngitis
स्कन्ध शिखर — withers
स्कन्ध संधि — shoulder joint
स्क्लेरा — sclera
स्क्रूकीट — screwworm
स्टेथोस्कोप — stethoscope
स्ट्रोंगाइलस रुग्णता — strongylosis
स्ट्रिप कप — strip cup
स्ट्रिप कप परीक्षण — strip cup test
स्टैफिलोकोकाई — Staphylococci
स्ट्रेप्टोकोकाई — Streptococci
स्ट्रेप्टोकोकस — Streptococcus
स्ट्रेप्टोकोकस एग्लैक्टिआई — Str. agalactiae

स्ट्रेप्टोकोकस डिस्गैलेक्शिए	Str. dysgalactiae
स्तन शोथ	mammitis
स्तवक	rosette
स्थानीय	local
स्थानीय संवेदनहरण	local anesthcisa
स्थानिकमारी	enzootic
स्थानिक गति विभ्रम	enzootic ataxia
स्नायु	ligament
स्नेहक कला	synovial membrane
स्नेहक द्रव	synovial fluid
स्नेहक सतह	synovial surface
स्फोटाभ	exanthema
स्फोटिका	vesicle
स्फोटी त्वचाशोथ	pustular dermatitis
स्युडोमोनैस पायोसायानियस	pseudomonas pyocyancous
स्वजात	autogenous
स्वच्छ पटल शोथ	keratitis
स्वर रज्जु	vocal cards
स्वेद स्वल्पता	anhydrosis
सक्रिय	active
सक्रिय प्रतिरक्षा	active immunity
सड़ा-सूखा भ्रूण	mummified foetus
सपूय	suppurative
सपूय अन्तर्गलन	purulant infiltration
सपूय प्रतिश्याय	purulant coryza
सपूय रक्तपूतिता	pyosepticemia
सपूय नासार्ति	purulant rhinitis
समावयव	isomer
समाक्षारीय	monobasic
समाक्षेपण	flocculation
सम्पीडन	compression
संपीडन संकीर्णता	compression stenosis
सल्फोनल निश्चेतन	sulphonal anesthesia
सव्रण	ulcerative
सव्रण स्वच्छ पटल शोथ	ulcerative keratitis

सव्रण अंतर्हृत शोथ	endocarditis ulcerosa
सहचारी रोग	associated diseases
सक्रामक कद पक्षाघात	infectious bulbar disease
संक्रामक परिगलित आन्त्रशोथ	infectious necrotic enteritis
सक्रामक परिगलित यकृत शोथ	infectious necrotic hepatitis
संक्रामक रोग	infectious diseases
सकीर्णता	stenosis
सकुलित	congested
सकुलन	congestion
सगरोध	quarantine
संगठन	composition
सघनता	consistency
सधि शोथ	arthritis
सधि रोग	joint-ill
सधायक कार्टिलेज	articular cartilage
संदूषक	contaminants
संदूषण	contamination
सपिंडित	consolidated
संपिंडन	consolidation
संधायक संपुट	articular capsule
संवेदनाहारी	anesthetic
संवरणी	sphinctor
सवेदन वैशिष्ट्य	idiosyncrasy
सवहनीय भाग	vascular channels
संभोग संक्रमण	coital infection
संयुक्त राज्य खाद्य एवं औषध प्रशासन	U. S. Food and Drug Administration
संयुक्त राज्य पशु-उद्योग ब्यूरो	United States Beuro of Animal Industry
संयुक्त राज्य पशु-धन स्वास्थ्य संघ	U. S. Livestock Sanitary Association
सयोजी ऊतक	connective tissue
संयोजक ऊतिशोथ	cellulitis
संरक्षी स्राव	protective exudate
संश्लिष्ट	synthetic

संसेचन	fertilization
संक्षारक	corrosive
संक्षारण	corrosion
साल्मोनेल्ला कालरेसुइस	S. choleraesuis
साल्मोनेल्ला इन्टेरिटाइडिस	S. enteritidis
साल्मोनेल्ला एवार्टिवो इक्वाइनस	S. abortivo equinus
सालमोनेल्ला टायफीमूरियम	S. typhimurium
साल्मोनेल्ला-रुग्णता	salmonellosis
साइनस शोथ	sinusitis
सांख्यकीय सर्वेक्षण	statistical survey
सिथेटोकाउलस	synthetocaulus
सीरमी	serous
सीरमी निदान	sero diagnosis
सीरमीय	serological
सिस्टिक रक्त-मूत्रता	cystic hematuria
सीरम रक्तस्रावी	serohemorrhagic
सीरम फाइब्रिनी	serofibrinous
सीस-विषाक्तता	lead poisoning
सुअर सेनक	pigbrooder
सुग्राहीकरण	sens'tization
सुदम्य	benign
सुप्राआर्बिटल प्रोसेस	supra orbital process
सूकर कालरा	swine cholera
सूकर इन्फ्लूएंजा	swine influenza
सूकर एरिसिपेलस	swine erysipelas
सूकर फ्लू	swine flue
सूकर फेफड़ा कृमि	swine lungworm
सूखा रोग	rickets
सूतिकोन्माद	mania puerperalis
सूर्याभिताप	insolation
सूक्ष्मग्राहीकरण	sensitization
सूक्ष्मदर्शी फोटोग्राफ	photomicrograph
सूत्रण-रोग	cirrhosis
सूत्र कृमि	thread worm
सेत्सी मक्षिका	tselse fly
सेरेब्रल अतिरक्तता	cerebral hyperemia

सैकोमाइसीज फार्सीमिनोसस	sacchromyces farciminosus
हृत् खण्ड	cardiac lobe
हृतपेशी शोथ	myocarditis
हृत फोडा	cardiac abscess
हृदय	heart
हृदय का अवपात	pounding of heart
हृदय झिल्ली शोथ	pericarditis
हृदयावरण	pericardium
हृदयावरक थैली	pericardial sac
हल्के प्रतिदाहक	mild blisters
हॉटिस परीक्षण	hotis test
ह्यलोमा एजिप्टिकम	hyaloma aegypticum
हिपैटिक धमनी	hepatic artery
हिप्पोकैम्पस	hippocampus
हिमशीत	frozen
हिमशीत वाइरस	frozen virus
हिस्टामिनरोधी	antihistamine
हीमाकस कटार्टस	haemonchus contortus
हीमाकोसिस	heamonchosis
हीमैटोमा	haematoma
हीमोग्लोबिन	haemoglobin
हीमोग्लोबिन मेह	haemoglobinuria
हीमोलाइसिन	haemolysin
हीमोस्पोरीडिया	haemosporidia
हीरक चर्म रोग	diamond skin disease
क्षतस्थल	lesion
क्षयाक्षयता	necrobacillosis
क्षयग्रसित उदर-झिल्ली शोथ	tuberculous peritonitis
क्षारक रजत	lunar caustic
क्षीणन	attenuation
क्षेत्रीय पशुरोग अन्वेषणालय	regional animal disease research laboratory
क्षैतिज तल	horizontal plane
क्षोभक	irritant
क्षोभण	irritation

त्रिक कशेरुका	sacral vertebrae
त्रिक पक्षाघात	sacral paralysis
त्रिक स्नायु	sacral ligament
त्रिपत्ती रोग	clover disease
श्रोणि-गुहा	pelvic cavity
श्रोणि वंक	pelvic flexure
श्रोणि मेखला	pelvic girdle
श्रोणि स्नायु	pelvic ligament